अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
एवं
विश्व राजनीति

[INTERNATIONAL RELATION & WORLD POLITICS]

लेखक
प्रो० पी० आर० भाटिया
राजनीति विज्ञान विभाग, वाई० डी० कालेज
लखीमपुर खीरी (उ० प्र०)

1978

यूनिवर्सल बुक डिपो
आगरा • ग्वालियर • इन्दौर • रायपुर • जबलपुर
कानपुर • पटना • जयपुर

भूमिका

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें है और सभी एक से एक अच्छी है। ऐसी दशा में, क्या इस विषय पर एक और पुस्तक का लेखन एवं प्रकाशन उचित है ? इसका निर्णय करेंगे वे पाठक, जिनके समक्ष यह पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है।

क्योंकि पुस्तक की विशेषतायें बताने की रस्म चल पड़ी है, इसलिये मुझे भी ऐसा करना आवश्यक है। सार रूप में, यह विशेषतायें है—दैनिक प्रयोग की चलती हुई भाषा, स्पष्टता के लिए दुर्बोध हिन्दी शब्दों के साथ अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग, प्रमुख अनुवादित अवतरणों की मौलिक अंग्रेजी, उल्लिखित लेखको के विचार, विभिन्न विश्व विद्यालयो के पाठ्यक्रमों के अनुसार विषय सामग्री का सकलन तथा विश्वविद्यालयों में पूँछे गये प्रश्नों का संकलन है।

मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से छात्रों के लिए लाभदायक सिद्ध होगी। इसको और अधिक उपयोगी बनाने के लिये सभी प्रस्तावों का स्वागत किया जावेगा। कृपया अपने अमूल्य सुझाव प्रकाशक को भेजने का कष्ट करें।

लेखक

विषय-सूची

साधनों का प्रयोग, भारत का साम्राज्यवाद सम्मेलनों में प्रवेश, इम्पीरियल कान्फ्रेंस प्रथम विश्व युद्ध का प्रभाव, पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भारत को स्थान, राष्ट्र संघ का भारत एक सदस्य, विदेश नीति की परम्परा का विकास, भारत का अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेना, भारत का पृथक से विदेशों से कूटनीतिक सम्बन्ध, भारतीय कांग्रेस की स्वतन्त्रता से पूर्व विदेश नीति, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म, कांग्रेस के विकास में अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का सहयोग, कांग्रेस द्वारा अन्य पराधीन राष्ट्रों के स्वतन्त्रता आन्दोलन का समर्थन, गाँधीजी द्वारा दक्षिणी अफ्रीका में सत्याग्रह, प्रथम विश्व युद्ध और कांग्रेस, शान्ति सम्मेलन में कांग्रेस का रुख, अमेरिका सीनेट में भारत के आत्म निर्णय का प्रश्न, राष्ट्रसंघ में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व, कांग्रेस द्वारा खिलाफत आन्दोलन का समर्थन, कांग्रेस की विदेश नीति 1920 से 1927 तक, एशिया देशों के संगठन एवं स्वतन्त्रता आन्दोलनों का समर्थन, ब्रुसेल्स सम्मेलन, कांग्रेस की विदेश नीति 1927 से 1947 तक—भारत द्वारा विश्व सम्मेलन में भाग लेना, चीन का समर्थन मंचूरिया काण्ड में, पं० नेहरू की मिश्र और लन्का यात्रा, कांग्रेस द्वारा फासीवाद एव नाजीवाद की निन्दा, कांग्रेस का द्वितीय विश्व युद्ध के प्रति दृष्टिकोण, कांग्रेस की असहयोग नीति, भारत छोड़ो आन्दोलन, भारत का स्वतन्त्र होना; स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति का निर्माण एवं उसके तत्व, भौगोलिक स्थिति, सैनिक-तत्व, आर्थिक तत्व, ऐतिहासिक परम्परायें, दार्शनिक तत्व, राष्ट्रीय हित, वैयक्तिक तत्व, राजनीतिक तत्व, तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ, भारत की विदेश नीति की घोषणा और उसकी विशेषताएँ हैं, स्वतन्त्र भारत को असंलग्नता की नीति गुटबन्दी और भारत, असंलग्नता नीति क्यों और क्या, यह स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की नीति है, विश्व समस्याओं से उदासीनता नहीं, यह गुट निरपेक्ष नीति है, यह तीसरे गुट निर्माण की नीति नहीं, असंलग्नता की नीति का औचित्य, स्वाभिमान का तकाजा, विश्व शान्ति की आकांशा, नैतिकता की माँग, वैचारिक स्वतन्त्रता, आर्थिक कारण, व्यवहारिक कारण, ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित, राष्ट्र हित के अनुकूल, असंलग्न नीति का प्रयोग, 1947 से 1950, 1950 से 1957, 1957 से 1962, भारत चीन युद्ध, 1965 में पाक युद्ध, पं० नेहरू की मृत्यु से असंलग्नता की नीति पर प्रभाव, श्रीमती इन्दिरा गाँधी द्वारा असंलग्नता नीति का अन्त, भारत की शान्ति पूर्ण सह जीवन की नीति एवं विश्व शान्ति, साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध, स० रा० संघ में विश्वास; भारत की विदेश नीति स० रा० अमेरिका के साथ—स्वतन्त्रता के पश्चात अमेरिका से सम्बन्ध, (1) 1947 से 1952 तक (2) 1953 से 1960 तक (3) 1961 से 1964 तक (4) 1964 से 1968 तक (5) 1969 से 1972 तक तथा (6) 1973 से 1977 तक, भारत और सोवियत रूस के सम्बन्ध—स्टालिनयुग अथवा उदासीनता का युग, ख्रुश्चेव युग या मित्रता का युग, प्रगाढ़ मित्रता का युग अथवा ब्रिजनेव का युग, भारत की पाकिस्तान के प्रति विदेश नीति, पृष्ठ भूमि, पाकिस्तान का

●

1

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रकृति एवं विकास की नयी दशाएँ

(International Politics : Historical Background, Nature and New Dimensions of the Development)

"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अपने अध्ययन और विश्लेषण के लिए, जो सामग्री एकत्रित करती है, वह दूसरे शास्त्रों की सामग्री से स्पष्टतः भिन्न है। साथ ही इस सामग्री को समन्वित करने की उसकी पद्धति भी निराली है। अतः सामाजिक विज्ञानों में उसे एक स्वतन्त्र शास्त्र मानना उचित है।" —कालिन एम० कैपर जानसन

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
(International Politics)

प्रोफेसर मोर्गेन्थ्यू ने लिखा है कि राजनीति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को बीसवीं सदी के मध्य में ज्ञान को व्यवहार से अलग नहीं किया जा सकता है। बीसवीं सदी में दो विश्वयुद्ध हो चुके हैं। परमाणु शस्त्रों ने युद्ध की विभीषिका को और बढ़ा दिया है। अतः आज की मुख्य समस्या यह है कि शान्ति को कैसे कायम रखा जाय।[1]

राजनीति शब्द का अर्थ बताते हुए हंस जे० मार्गेन्थ्यू ने बताया है कि "राजनीति का *अर्थ शक्ति अर्जन के लिए संघर्ष है।*" दूसरे शब्दों में, "*जब कुछ समान स्वार्थ या हित रखने वाले* लोग एकत्र होकर अपने से भिन्न स्वार्थ वाले व्यक्तियों के वर्ग या गुट से टकराते है तब राजनीति का जन्म होता है।" समान स्वार्थ के लोग आपस में सहयोग करके ही दूसरे स्वार्थ वाले गुटों से टकरा सकते है। अतः राजनीति में "संघर्ष और सहयोग" दोनों ही पाये जाते हैं। वस्तुतः "राजनीति उस प्रक्रिया का अध्ययन है जिसमें शक्ति का अर्जन, रक्षण, प्रयोग एवं विस्तार किया जाता है।"

जब अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शक्ति गुटों का सहयोग एवं संघर्ष होता है तब वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आज प्रत्येक राष्ट्र अपनी सैनिक क्षमता बढ़ाने में लगा है। मशीनों के प्रयोग से हर चीज में उत्पादन की वृद्धि हो रही है। विकसित राष्ट्र

---

1 "No study of Politics, and certainly no study of International politics in the mid-twentieth century, can be disinterested in the sense that it is able to divorce knowledge from action.... In an age that has seen two World Wars and learnd how to wage total war with nuclear weapons, the preservation of peace has become the prime concern of all nations." —*Hans J. M...*

विकासशील राष्ट्रों को विकास के लिए आर्थिक एवं सैनिक सहायता दे रहे हैं और उनका शोषण कर रहे हैं। अणु बमों ने छोटे-छोटे राष्ट्रों को भयभीत कर दिया है और वे बड़े-बड़े राष्ट्रों से सहयोग और मित्रता के लिए लालायित हो रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वही राष्ट्र सफल होते दिखाई दे रहे हैं जो अपनी शक्ति, चालाकी एवं मक्कारी से अपने मित्रों या सहायकों की संख्या काफी बढ़ा चुके हैं। यान्त्रिक युग में भले ही राष्ट्रों ने प्रगति के नाम पर चन्द्रमा, मंगल आदि ग्रहों में अपने नागरिक उतार कर विश्व को आश्चर्य चकित कर दिया हो पर नैतिकता में लगातार ह्रास होता दिखायी देता है।

आज का युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। कोई भी राज्य आज अलग थलग रहने का साहस नहीं कर सकता है। उसे विश्व राजनीति में भाग लेना पड़ता है। उसे अपने ऐसे मित्र खोजने पड़ते हैं जो उसे संकट में सहायता दे सकें। राष्ट्रों की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी है। बड़े से बड़ा राष्ट्र भी आज पृथकता की नीति नहीं अपना सकता है उसे भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए कुछ मित्रों एवं सहायकों की आवश्यकता होती है। आज के युग में मित्रता या शत्रुता भी स्थायी नहीं रह गयी है। आये दिन विश्व राजनीति में परिवर्तन होते रहते हैं। कल के मित्र आज के शत्रु बन जाते हैं और कल के शत्रु मित्र बन गये हैं।

इस प्रकार आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन करना बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया है। राष्ट्रों की समस्त गति-विधियों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों की जानकारी इस विषय के अन्तर्गत आती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(Historical Background of International Politics)

सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग जेरेमी बेन्थम ने सम्प्रभु राज्यों के मध्य सरकारी सम्बन्धों के सन्दर्भ में 18वीं शताब्दी में किया था। कालान्तर में विज्ञान, यातायात, परिवहन, कृषि स्वास्थ्य शिक्षा आदि क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का विकास हुआ। 19वीं शताब्दी में यूरोप के राज्यों के मध्य सरकारी सम्बन्धों में विकास हुआ। नेपोलियन युद्धों ने राष्ट्रों को अपनी-अपनी रक्षा हित एक दूसरे से मिलाने में सहायता की। वियाना कांग्रेस में एक मंच पर यूरोपीय राष्ट्र नेता एकत्र हुए और भावी संकट को दूर करने के लिए उन्होंने परस्पर मैत्री पूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास किया। राजनीतिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में जो मान्यताएँ स्थापित की गयी थीं, वे 20वीं शताब्दी में बदल गयीं। आज के युग में कूटनीतिज्ञों, अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं आदि ने जो मान्यताएँ विकसित की हैं उनका सामान्यकरण ही आज प्रयोग में आ रहा है। इन मान्यताओं के विकास को व्यवहारिक दृष्टि से चार कालखण्डों में विभाजित कर उनका अध्ययन किया जायेगा।

(1) राजनीतिक और राजनयिक इतिहास (Political and Diplomatic History)—संयुक्त राज्य अमेरिका में पाल एम० राइन्श (Paul S. Reinsch) ने विश्व राजनीति पर एक पुस्तक 1900 में प्रकाशित की। अमेरिका में इस विषय का अध्ययन एवं अध्यापन विश्वविद्यालयों में होने लगा। परन्तु यह अध्ययन ऐतिहासिक होने के कारण एकांगी था। प्रथम विश्व युद्ध तक यह विषय इतिहास के अध्यापकों द्वारा पढ़ाया जाता था इसमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती थी। इतिहास के प्राध्यापक केवल विगत एवं आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की तथ्यात्मक जानकारी देते थे। इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पक्ष अधिक विकसित नहीं हो पाया था।

(2) तत्कालीन घटनाओं एवं आदर्शवाद से प्रभावित (Influenced by Contemporary Events and Idealism)—प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व दो या दो से अधिक देशों के परस्पर सम्बन्धों का प्रभाव अधिक व्यापक प्रभाव नहीं डालता था। पर 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में

ही यह बात प्रकट हो गयी कि दो देशों के परस्पर मित्रता पूर्वक अथवा शत्रुता पूर्वक सम्बन्धों का प्रभाव पड़ौसी राष्ट्रों पर भी पड़ने लगा। प्रथम विश्व युद्ध ने समस्त विश्व को प्रभावित किया। इस युद्ध के दौरान ही रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति का प्रभाव रूस तक ही सीमित न रहा बल्कि इसका प्रभाव अनेक देशों पर व्यापक रूप से पड़ा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक देश में कोई विशेष घटना यदि घटती है तो वह उसी देश तक सीमित नहीं रहती है। अन्य देश भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते हैं। अतः प्रत्येक देश के विषय में जानकारी प्राप्त करना और उसकी राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन करना बहुत आवश्यक हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्व अधिक हो गया है। 1919 में इंगलैण्ड में वेल्स विश्वविद्यालय (Wales University) में प्रथम बार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विभाग स्थापित किया गया। प्रथम विश्व युद्ध की भयंकरता ने राजनीतिज्ञों को इस बात के लिए विवश किया कि वे उन उपायों पर विचार करें जिनसे भावी युद्धों को रोका जा सके। इससे दो प्रवृत्तियों (Tendencies) का विकास हुआ।

प्रथम, यह कि समसामयिक विश्व में होने वाली घटनाओं की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। 1914 से पूर्व हम इतिहास में विगत घटनाओं को पढ़कर सन्तुष्ट हो जाते थे, पर अब विगत ऐतिहासिक घटनाओं का इतना महत्व नहीं रहा जितना कि समसामयिक घटनाओं का हो गया। परन्तु हमें भविष्यवाणी करने के लिए विगत एवं वर्तमान ऐतिहासिक घटनाओं का गहन अध्ययन करना आवश्यक है। दूसरे, प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (League of Nations) की स्थापना की गयी। उसका उद्देश्य यही था कि राष्ट्र संघ के सभी राष्ट्र सदस्य बन जायें और मिल-जुलकर आदर्श विश्व-व्यवस्था की स्थापना में सहयोग दें। राष्ट्र संघ के अतिरिक्त अन्य विश्वव्यापी संगठनों पर जोर दिया जाने लगा ताकि सभी राष्ट्र मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर परस्पर कटुता, भेद-भाव, वैमनस्यता आदि को दूर कर सकें और "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श की स्थापना कर सकें।

अन्तर्राष्ट्रीयवाद केआदर्श को लोगों ने माना तो पर व्यवहार मे उसे क्रियान्वित नहीं किया। संकुचित राष्ट्रवाद के सामने ज्वलन्त आशावाद (Burning optimism) पर पानी फिर गया। अनेक लेखकों ने भी राष्ट्रवाद को पनपने में ही सहायता दी। बर्डाल (Berdall) कोलग्रोव (*Colegrove*), *फेनविक (Fenwich)*; *गार्नर (Garner)*, *हाइड (Hyde)*, *पाटर (Patter)*, विल्सन (Wilson), हर्शे (Hershey), शाटवैल (Shotwell) तथा राइट (Wright) जैसे लेखकों ने यद्यपि राष्ट्रवाद के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रसार पर जोर दिया परन्तु कई राज्यों में घोर राष्ट्रवाद का प्रचार प्रारम्भ हो गया। इटली में फासीवाद पनपा।

(3) **अतियथार्थवाद** *(Extreme Realism)* **से प्रभावित**—राष्ट्र संघ (League of Nations) के प्रथम दस वर्ष तो सफलता से बीते जब तक छोटे-छोटे देशों के झगड़े सामने आये, राष्ट्र संघ ने उन्हें आसानी से सुलझा लिया पर 1930 में राष्ट्र संघ के बड़े एवं शक्तिशाली सदस्यों में परस्पर कटुता बढ़ने लगी। कर्मठ आदर्शवाद असफल होने लगा तथा प्रक्रियावादी कटु यथार्थवाद का विकास जोरों से होने लगा। युद्ध द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल हो सकता है वह भाव राष्ट्रों में पनपने लगा। जर्मनी, इटली, स्पेन एवं जापान मे राष्ट्रवाद ने उग्र रूप धारण किया और उसका परिणाम राष्ट्रसंघ का अन्त हुआ और द्वितीय विश्व युद्ध का जन्म हुआ। पशुता ने अपना ताण्डव नृत्य दिखलाया और लाखों लोग काल के गाल में समा गये।

(4) **आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण** (Idealism oriented Realistic view)
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात एक नया मोड़ आया। इसका कार
की तीन घटनाएँ थीं—(1) साम्यवाद का प्रबल एवं शक्तिशाली रूप में उदय होना

का दो शक्ति गुटों में विभाजित होना। (2) उपनिवेशों की समाप्ति के बाद नये सम्मुख राज्यों का विकास होना तथा (3) अणु आयुधो (Thermonuclear weapons) की भयानक संहारक शक्ति व अन्त महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों (Inter-Continental Ballistic missiles) की दूर मारक शक्ति मे अभूतपूर्व वृद्धि।

उपर्युक्त कारणो से अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास मे अभूतपूर्व विकास हुआ। युद्धों के लिए अब कोई शक्ति लालायित नही हो सकती है। अत शान्तिपूर्ण उपायों को अपनाने पर अधिक बल दिया जाने लगा। बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रीय विवाद भी शान्तिपूर्ण वार्ता एव समझौतो द्वारा हल किये जाने लगे। राष्ट्रो की नीति निर्धारण प्रक्रिया (Process of decision making) का सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ और विदेशी नीति मे प्रयुक्त किया जाने लगा। इन परिस्थितियों के कारण गत 30 वर्षों मे निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं—

(1) **इकाई परक दृष्टिकोण** (Entity oriented view)—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लोगों के विचारों मे बड़ा परिवर्तन आया। पहले लोगों का विश्वास सस्थापरक दृष्टिकोण (Institutional or system oriented approach) मे था। इसका अर्थ था कि एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन ऐसा होना चाहिए जिसमें अन्य राष्ट्र सगठन के अग माने जाये अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय संगठन प्रमुख हो और राष्ट्रीय राज्य गौण। अब इसके स्थान पर इकाई परक दृष्टिकोण अपनाये जाने पर बल दिया जाने लगा। इसका अर्थ था कि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन मे स्वतन्त्र राष्ट्र पृथक-पृथक स्वतन्त्र इकाइयाँ मानी जाये और उनका गठन, कार्य एव लक्ष्य आदि का अध्ययन किया जाय। इसमे राष्ट्रो के व्यक्तित्व को प्रमुखता दी जाय।

संस्थापक दृष्टिकोण मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून व सगठनों को अत्यधिक महत्व दिया जाता है उसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्रों के मध्य भिन्नता व उनकी नीतियो के निर्धारक तत्व उपेक्षित रह जाते हैं। राष्ट्र केवल कठपुतली मात्र बनकर रह जाते है। परन्तु अभी तक इतना शक्तिशाली कोई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन नही बना है क्योकि जो भी सगठन हैं उनके सदस्य सम्प्रभु राज्यो के ऐच्छिक सहयोग पर निर्भर रहते है।

इकाई परक दृष्टिकोण में राज्यों के आन्तरिक तत्वो व हितों को इतना अधिक महत्व दिया जाता है कि विश्व संगठन का स्वतन्त्र महत्व समाप्त हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कुछ शक्तिशाली राज्यो का खिलौना मात्र रह जाता है।

इन दोषों को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सघो को राष्ट्रों के कार्यों मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों मे कैसा व्यवहार करे यह उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर रहना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय संघों को इस बात का अध्ययन करना चाहिए कि विभिन्न राष्ट्र किन परिस्थितियो में कैसा व्यवहार करते है एवं उनके प्रेरक तत्व कौन से है आदि जिससे उनका सहयोग पूरी तरह मिल सके तथा उनकी समस्याओ की वास्तविकता को समझा जा सके। इस प्रकार आधुनिक युग मे इकाई परक दृष्टिकोण का विकास तेजी से हो रहा है।

(2) **व्यावहारिक दृष्टिकोण** (Behavioural approach)—यह दृष्टिकोण इकाई परक दृष्टिकोण का ही परिणाम है। इस दृष्टिकोण मे राज्यो के पारस्परिक व्यवहार तथा उनके प्रेरक तत्वों का अध्ययन किया जाता है। उनकी विदेश नीति के प्रेरक कारणों एवं नीति निर्धारक कारणो की समस्त प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। राजनीतिक विचारकों ने राष्ट्र व्यवहारों का अध्ययन व्यक्ति व्यवहार के समान्तर लिया है। जैसा कि व्यक्ति का व्यवहार चार तत्वों—व्यक्ति साध्य, साधन एवं परिस्थिति पर आधारित होता है उसी प्रकार राष्ट्र का व्यवहार भी इन चार तत्वों पर निर्भर रहता है। इन चार तत्वों का वर्णन राज्य के सन्दर्भ मे अग्र प्रकार या हो सकता है :

(i) व्यक्तित्व (Personality)—राज्य के व्यक्तित्व का अर्थ उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व से है जो राज्य की नीति निर्धारित करते हैं। ये उच्चाधिकारी राष्ट्र के विगत इतिहास व सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक देश की विदेश नीति पर उस देश के व्यक्तियों का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है। अतः परिस्थिति विशेष में अपनायी जाने वाली विदेश नीति का पूर्वानुमान शासक व्यक्तियों के चरित्र, मनोवृत्ति, बौद्धिक क्षमता, प्रेरक विचारधारा आदि से लगाया जा सकता है। इसलिए राष्ट्र व्यक्तित्व का मूल्यांकन उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर किया जाता है।

(ii) साध्य (Aims)—प्रत्येक राष्ट्र का कोई न कोई ध्येय होता है। वह एक आदर्श अपने सामने रखता है जिस पर पहुँचने के लिए वह प्रयत्न करता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करता है और इस प्रकार एक सैन्य शक्ति बनाना चाहता है। अपने ध्येय के अनुसार ही वह अपनी विदेश नीति का निर्माण करता है। अतः राष्ट्र की नीति की भावी दिशा का अनुमान लक्ष्य के आधार पर लगाया जाता है।

(iii) साधन (Means)—साधनों की सम्पन्नता व असम्पन्नता का प्रभाव राष्ट्रों की विदेश नीति पर पड़ना आवश्यक होता है। साधनों के अन्तर्गत किसी देश की जलवायु, भूमि की उर्वरता, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था तकनीकी और औद्योगिक क्षमता, जनसंख्या व जनता का मनोबल एवं उसका बौद्धिक चारित्रिक स्तर, राष्ट्र की सैनिक शक्ति आदि सम्मिलित है। कई बार साधन सम्पन्न राष्ट्र अपने साधनों का उपयोग दूसरे राष्ट्रों पर दबाव डालने के लिए करते हैं।

(iv) परिस्थितियाँ (Circumstances)—विदेश नीति के निर्धारण में देश की बाह्य और आन्तरिक स्थितियों को ध्यान में रखा जाता है। आन्तरिक स्थिति के अन्तर्गत देश का जनमत प्रशासनिक ढांचा आदि आते हैं। कभी-कभी एक देश की आन्तरिक स्थिति दूसरे देश के लिए बाह्य परिस्थितियाँ बन जाती हैं। जैसे भारतीय जनमत अमेरिकी सहायता के विरुद्ध हो जाय तो भारत सरकार को अपनी नीति जनमत के अनुकूल बदलनी पड़ेगी। इस प्रकार विदेश नीति के निर्धारण में देश की आन्तरिक एवं बाहरी परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं।

इस प्रकार देश की नीतियाँ उस देश के व्यक्तित्व, लक्ष्य, साधन और परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में क्विन्सी राइट (Quency Wright) के मतानुसार आठ बातों का ध्यान रखा जाता है—अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राजनय का इतिहास, सैन्य विज्ञान, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, औपनिवेशक शासन तथा विदेशी सम्बन्धों का संचालन। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन दृष्टिकोण अन्तर्शास्त्रीय (Inter-disciplinary) होता जाता है।

(3) आदर्शोन्मुख यथार्थवाद (Idealism oriented Realism)—आधुनिक प्रवृत्ति आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर बढ़ती जाती है। आदर्शवाद एवं यथार्थवाद दोनों का अनोखा मिश्रण आधुनिक जगत में पाया जाता है। जे० डब्ल्यू० बर्टन (J. W. Burton) आदि विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता को वैज्ञानिक के समान पूर्णतया तटस्थ दृष्टिकोण अपनाने पर बल देते है। परन्तु सामाजिक विज्ञानों में प्राकृतिक विज्ञानों की मानसिक स्थिति आवश्यक नहीं। संयुक्त राज्य अमेरिका में विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytical Approach) का रिवाज अधिक है। इसका दूसरा रूप समस्यामूलक अध्ययन (Problem Approach) है जिसमें प्रकरण विशेष का (Case study) किया जाता है। जैसे, पूँजीवादी और समाजवादी शक्तिगुटों में छिड़ा ... (Cold war) एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है और वियतनाम युद्ध एक सम्बन्ध प्र... अमेरिका में यह वृत्ति अधिक बढ़ी हुई है। पामर एवं पार्किन्स (Palmer an... मतानुसार "यूरोपीय विश्वविद्यालयों में अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का

कानूनी और संस्थापरक न्याय है जिसमें कानूनी मानदण्ड (Legal norms) तथा विधि शास्त्र (Jurisprudence) व इतिहास पर अधिक जोर दिया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सामाजिक विज्ञान के रूप में
(International Politics as a Social Science)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय बीसवीं शताब्दी में अत्यन्त महत्व का विषय माना जाता है। कुछ विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विकास एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में करने के पक्ष में हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान इसे स्वतन्त्र शास्त्र मानने को तैयार नहीं। पर दोनों प्रकार के विद्वान इसके अध्ययन पर बहुत बल देते हैं।

जो विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वतन्त्र विषय मानने को तैयार नही उनका तर्क है कि किसी विषय को स्वतन्त्र शास्त्र मानने के लिए उसमे तीन गुणों का होना आवश्यक है। ये गुण हैं—"निश्चित अध्ययन, योग्य सामग्री, स्पष्ट गवेषणापद्धति तथा एक सर्वमान्य सिद्धान्त निकाय।"[1] चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ये तीनों गुण नहीं हैं अतः यह एक स्वतन्त्र शास्त्र नहीं हो सकता है।

दूसरा तर्क वे यह देते है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का कार्य है राज्यों की नीतिनिर्धारण प्रक्रिया का पूर्ण अध्ययन। राज्यों की नीतियों के निर्धारण के लिए राजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र आदि की सहायता लेनी पड़ती है। इस शास्त्र में कोई नई बात नहीं जो इसका अलग अध्ययन किया जाय। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मनोविज्ञान के अन्तर्गत पढ़े जा सकते हैं। अतः इसे स्वतन्त्र शास्त्र स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

तीसरा तर्क वे यह देते है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राजशास्त्र का ही एक अंग है। इस बात को प्रमुख विचारक काप्लान, जार्ज केनन ने सिद्ध किया है। उन्होंने स्पष्ट बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के राजनीतिक सम्बन्धों, राजनय एवं युद्ध शक्ति के लिए संघर्ष से सम्बन्धित है।

उपर्युक्त तर्कों पर विचार कर लेना ठीक होगा ताकि यह देखा जा सके कि इनमें कहां तक सत्यता छिपी है।

प्रथम तर्क में तीन गुणों का वर्णन किया गया है जिनमें द्वितीय एवं तृतीय तो सामाजिक विज्ञानों पर लागू हो सकते हैं पर प्रथम नहीं। यदि प्रथम शर्त को ही कसौटी माना जाय तो कोई भी सामाजिक विज्ञान शास्त्र की श्रेणी में नहीं आ सकता है। लगभग सभी शास्त्र अपनी सामग्री एक ही क्षेत्र समाज से प्राप्त करते हैं अतः उनके क्षेत्र परस्पर काटते हैं। सभी सामाजिक विज्ञानों की सहायता से मानव चरित्र के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है और प्रत्येक शास्त्र एक दूसरे का पूरक है। अध्ययन की सुविधा के लिए प्रत्येक सामाजिक विज्ञान मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का भी एक विशेष क्षेत्र होता है। इसमें राज्यों के पारस्परिक व्यवहार एवं उनके प्रेरक तत्वों का अध्ययन किया जाता है। इस शास्त्र की पृथक विशेष पद्धति भी है जिसमे राज्यों के व्यक्तित्व, लक्ष्य, साधन, स्थिति आदि के ज्ञान, नीति निर्धारित प्रक्रिया की छानबीन द्वारा अध्ययन किया जाता है। इस शास्त्र का केवल एक अभाव है—सिद्धान्त निकायों (Theoretical postulate) का गठन। ऐसे सामान्य नियम जो राष्ट्रों के परस्पर व्यवहारों को समझने में सहायक हो सकें। भौगोलिक स्थिति, शासकों की महत्वाकांक्षा, जनमत का दबाव, विश्व

1 "A delimited body of subject-matter, a distinct method of investigation, and a settled set of theoretical postulates."

रंगमंच पर प्रभावशाली तत्वों का उद्देश्य आदि कारणों के आधार पर किसी राष्ट्र के व्यवहारों का पूर्वानुमान। यह सामान्य सिद्धान्त (General Theory) पूर्णतया गठित नहीं हुआ है, क्योंकि विद्वान इसे राजशास्त्र का ही एक अंग मानते रहे हैं। लेकिन राजशास्त्र का सम्बन्ध राज्य से है व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का राज्यों के पारम्परिक व्यवहार से है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् 1947 में हान्स जे० मार्गेन्थ्यू (Hans J. Morgenthau) ने अपनी पुस्तक "राष्ट्रों के मध्य राजनीति" (Politics Among Nations) में "यथार्थवाद का सिद्धान्त (The Realistic Theory) देकर व्यवस्थित सिद्धान्त निरूपण किया। इसके बाद अनेकों आंशिक सिद्धान्त बन चुके हैं। इस प्रकार प्रथम तर्क की दो शर्तें तो पूरी हैं ही, तीसरी शर्त भी निकट भविष्य में पूरी होने की सम्भावना है फिर इसे शास्त्र मानने में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

दूसरे तर्क में उसे स्वतन्त्र शास्त्र माना है परन्तु सिद्धान्त पक्ष को अर्द्ध विकसित अवस्था में लाया गया है। जहाँ तक इसका अन्य सामाजिक विषयों से सामग्री जुटाने का प्रश्न है, वह तो स्वाभाविक है क्योंकि समस्त विज्ञान एक ही विषय "मानव-प्रतिक्रिया" से सम्बन्ध रखते हैं एवं अपने अध्ययन के लिए तथा विषय की सर्वांगणता के लिए अन्य शास्त्रों से पूरी सहायता लेते हैं। विशेषज्ञों के अनुसन्धानों का पूरा उपयोग शास्त्र को पूर्णतया देने के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए मतदान एक राजनीतिक प्रक्रिया है परन्तु मतदान पर अपने वंश, जाति एवं धर्म, सामाजिक स्तर, आय आदि का प्रभाव पड़ता है जिनका अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है जो कि अन्य विषयों के अध्ययन क्षेत्र में आता है। इस प्रकार एक शास्त्र का दूसरे से सहायता लेना अति-अपेक्षित है।

आज तक विभिन्न विषयों के विद्वानों ने अपने विषय की विवेचना करते समय अन्त-र्राष्ट्रीय राजनीति का भी कहीं-कहीं विवेचन किया है। एक इतिहासकार राजनय के इतिहास का, अर्थशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एवं वित्त का, राजशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय कानून, संगठन व राज-नीति आदि का अपने विषयों के दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक, समाज-शास्त्री, भूगोलवेत्ता, मानव वैज्ञानिक एवं दार्शनिक आदि सभी विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना दृष्टिकोण प्रकट करते रहे हैं। पर यह अध्ययन कुछ पक्षों तक ही सीमित रहता है, पूर्ण या सर्वांगीण अध्ययन नहीं होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र अन्य शास्त्रों से केवल उतनी ही *सहायता लेता है जितनी कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिवेक्ष्य (International* Perspective) में उपयोगी हो तथा उसकी प्रक्रिया पर प्रकाश पड़े। अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण के आधार पर वह सामग्री को ग्रहण एवं त्याग करता है। इससे इसकी सामग्री को एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त होता है।

तीसरा तर्क उसे राजशास्त्र का अंग मानता है। उसका कारण है कि प्रारम्भ से यह उसका अंश रहा है। यह आधार भी ठोस नहीं, क्योंकि अनेक शास्त्र जो दर्शन, अर्थशास्त्र एवं इतिहास के अन्तर्गत पढ़े जाते थे जैसे—मनोविज्ञान, समाजशास्त्र मानव शास्त्र, राजशास्त्र, सांख्यिकी आदि अब अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र भी अपने महत्वानुसार अपना ठोस अस्तित्व बनाता है तो चौंकने की क्या आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त राजशास्त्र का विषय केवल राजनीतिक गतिविधियाँ (Political Activities) एवं राजसत्ता प्राप्ति तक ही सीमित रहता है। परन्तु राज्य का अस्तित्व केवल राजनीति ही नहीं अपितु भौगोलिक, सामाजिक एवं आर्थिक विकास के स्तर पर एक विशेष वैज्ञानिक बन्धनों में बँधे हुए होते हैं। उनके सम्बन्धों को शक्ति सिद्धान्त के आधार पर समझाया जा सकता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में किये गये राष्ट्रों के कार्यों को इस सिद्धान्त के आधार पर नहीं समझाया जा सकता है।

"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिशास्त्र आधुनिक काल में राष्ट्रों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया और उनके कारणों की खोज करते समय केवल राजशास्त्र, विगत इतिहास व अन्य स्रोतों पर ही निर्भर नहीं करता, वरन् वह अधिक व्यापक स्तर पर सभी विज्ञानों की सहायता लेते हुए अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से राष्ट्र की क्रिया प्रतिक्रिया की विवेचना करता है भविष्यवाणियाँ करता तथा राज्यों की शक्ति, जनसंख्या आर्थिक विकास आदि विविध तत्वों की सहायता से एक विशिष्ट स्तरीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जो पूर्णतया राजशास्त्रीय नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय होता है।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिशास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्र है। इस विषय में कुछ विद्वानों के मत दिये जाते है :—

कार्लिन एम कापर जानसन (Karlin M. Capper Johnson) भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को राजशास्त्र का अंग मानते हुए भी इसे एक स्वतन्त्र शास्त्र मानते हैं। उनका कहना है कि *"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिशास्त्र (अपने अध्ययन और विश्लेषण के लिए) जो सामग्री एकत्रित करता* है वह दूसरे शास्त्रों की सामग्री से स्पष्टत. भिन्न है। साथ ही इस सामग्री को समन्वित करने की उसकी पद्धति भी निराली है। अतः सामाजिक विज्ञानों में उसे एक स्वतन्त्र शास्त्र मानना उचित ही है।"[1]

बर्टन के शब्दों में "अन्तत. इसका एक अपना अन्तरशास्त्रीय ढांचा विकसित होगा जो राज्यों के पारस्परिक व्यवहार के विविध पक्षों के बारे में किये गये विशिष्ट अध्ययनों से गठित होगा और तब उसे अन्यान्य सामाजिक विज्ञानों से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिशास्त्र को एक पक्ष स्वतन्त्र शास्त्र मानता है तो दूसरा पक्ष नहीं। एक तीसरा पक्ष जो उपर्युक्त दोनों पक्षों के विवाद में नहीं पड़ता है उसका मत है कि यह शास्त्र महत्वपूर्ण है और इसका विकास होना आवश्यक है। अपनी परिपूर्णताः पर आने से इसका अस्तित्व स्वयं ही निर्धारित हो जायेगा।

चार्ल्स पी. शैलर (Charler P. Schleicher) का कहना है कि इस विषय की स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकास की आवश्यकता निम्नलिखित चार कारणों से पड़ी :—

(1) किसी देश विशेष के समाज (domestic society) की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय समाज, जिसमें राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की आवश्यकता पड़ती है। वह राजनीतिक, कानूनी और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से विकेन्द्रित और निर्धारित है। राज्यों में जिन राजनीतिक संस्थाओं और नीतियों के सहारे व्यवस्थित विकास और संचालन होता है, वे अन्तर्राष्ट्रीय समाज में विद्यमान नहीं।

(2) फलतः अन्तर्राष्ट्रीय समाज का अध्ययन करने के लिए देशीय समाज के अध्ययन की पद्धति से भिन्न पद्धति अपनाना आवश्यक है जिससे राष्ट्र के पारस्परिक व्यवहार एवं उसके प्रेरक तत्वों के विश्लेषण पर हो।

(3) इस समय विद्यमान अधिकाश शास्त्र अपने विषय को अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष पर न केवल बहुत कम ध्यान देते हैं, बल्कि उनके समस्त अध्ययन का आधार देशीय संगठन समाज होता है जो निर्धारित अन्तर्राष्ट्रीय समाज का सही प्रतिरूप नहीं बन सका। फलतः उसके द्वारा निकाले गये

---

1 "[illegible] from any [illegible] the emp- [illegible] *Johnson.*

2 "Ultimately it will evolve its owers interdispciplinary structure, comparising specialist studies of the behaviour of the states, and these may draw very little upon the existing specializations dealing with man and men in socie-" —*J. W. Burton.*

निष्कर्ष अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सन्दर्भ में भ्रामक सिद्ध होते है । अतः अन्तर्राष्ट्रीय समाज को आधार बनाकर ही अध्ययन किये जायें ।

(4) एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विकास होने पर विभिन्न शास्त्रों से सम्बद्ध सामग्री को व्यवस्थित एव समन्वित करके भविष्य मे अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सन्दर्भ में एक समय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सके ।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विज्ञान के रूप में
(International Politics as a Science)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतन्त्र विषय के रूप मे सिद्ध करने के बाद अब यह प्रश्न सामने आता है कि यह विषय विज्ञान है या कला । नार्थराप एवं क्विसी राइट (Narthrop and Quincy Wright) जैसे विद्वान इसे विज्ञान मानते हैं पर कैनेथ थाम्पसन (Kenneth Thompson) व स्टैनले हाफमेन (Stanley Haefman) जैसे विद्वान इसे विज्ञान मानने को तैयार नहीं।

विज्ञान का अर्थ है—"विशेष ज्ञान" । किसी भी विषय के स्वरूप को जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जान ले कि विज्ञान से हम क्या समझते है तथा शास्त्र से हमारा तात्पर्य क्या है । इसे जानने के लिए दो पद्धतियो का आश्रय लेना पडता है—आगमन पद्धति (Inductive Method) तथा निगमन पद्धति (Deductive Method) । विज्ञान मे सामान्यतः आगमन पद्धति (Inductive Method) को अपनाया जाता है जबकि तर्क शास्त्र मे निगमन पद्धति (Deductive Method) से कार्य लिया जाता है ।

निगमन पद्धति में किन्ही पूर्व निश्चित सिद्धान्तो के आधार पर घटनाओ एव तथ्यो की व्याख्या की जाती है जबकि आगमन पद्धति मे घटनाओ व तथ्यो के आधार पर सिद्धान्तो तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है । वैज्ञानिक अपना खुला दिमाग रखकर तथ्यों के आधार पर सामान्य नियम की खोज करते है । इस प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रिया मे तीन विकास क्रम है—(i) तथ्यो का संग्रह, (ii) उनका श्रेणी विभाग, तथा उनके कारणो की खोज आदि । "संकुचित अर्थ मे विज्ञान किसी विषय का वह ज्ञान-समूह है जो उसके बारे मे पर्यवेक्षण व प्रयोग द्वारा तथ्यों को इकट्ठा कर उनका विश्लेषण और वर्गीकरण करता है और उनसे निश्चित अथवा अटल निष्कर्ष निकालता है ।" इस प्रकार विज्ञान पूर्णतः तर्क संगत विचार पद्धति (Logical sequence of thought) है ।

विज्ञान की उपर्युक्त विशेषताओ को देखते हुए हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक विज्ञान कह सकते है । सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि सामाजिक विज्ञान व प्राकृतिक विज्ञान में एक मूलभूत अन्तर यह है कि प्राकृतिक विज्ञान सदैव स्थिर व सर्वकालिक रूप मे सत्य होते है, लेकिन सामाजिक विज्ञान का आधार चूंकि समाज और व्यक्ति होता है जो सदैव परिवर्तनशील अवस्था मे रहता है अतः सामाजिक विज्ञानो के सिद्धान्त निश्चित सीमाओ मे बचे रहते है । अतः यदि अपवाद रहित सिद्धान्तों को ही विज्ञान में माना जाये तो कोई भी सामाजिक शास्त्र विज्ञान नही कहला सकता ।

आधुनिक युग मे विज्ञान का अर्थ तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षण व विश्लेषण भी किया जाता है जिसे वैज्ञानिक प्रवृत्ति भी कहते है । सामाजिक विज्ञानो मे यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से पायी जाती है,जिसके कारण अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति आदि को विज्ञान की श्रेणी मे माना जाता है । इनमें भी विज्ञान की तरह पूर्ण धारणाओं से मुक्त होकर तटस्थता से राज्यो की नीति निर्देशक प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है । यह आगमन पद्धति पर ही आधारित होता है । इनमें राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार की सामान्य प्रवृत्तियों का ज्ञान हो जाता है ।

---

[1] Charles P. Schleicher : *International Relations, New Delhi*; Prentice Hall. 10 6 37. p. p. 6-7.

विज्ञान का लक्ष्य ज्ञान-वर्धन एवं उपयोगिता होता है केवल मनोरंजन नहीं, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का लक्ष्य भी मनोरंजन नहीं बल्कि ज्ञान-वर्धन एवं उपयोगिता है। अतः हम इसे मानविकी (Humanitics) तथा प्राकृतिक विज्ञान (Natural sciences) के मध्य की वस्तु समझते है जिसका अध्ययन विषय मनुष्य है परन्तु इसकी पद्धति वैज्ञानिक है।

अध्ययन दृष्टिकोण—आदर्शवादी या यथार्थवादी (Study Approach : Idealistic or Realistic)—एक वैज्ञानिक का दृष्टिकोण यथार्थवादी होता है। जे० डब्लू० बर्टन (J. W. Burton) का कहना है कि "शास्त्र के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे घटित घटनाओं के निरीक्षण एवं विश्लेषण द्वारा सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण है, जिससे कि वर्तमान मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रवृत्ति को समझा जा सके और भविष्य में उनकी सम्भावित दिशा का पूर्वानुमान लगाया जा सके।"[1]

बर्टन आगे लिखता है कि "वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कार्य केवल यह नहीं कि विश्व की शान्ति-सुरक्षा सम्बन्धी समस्याओं का हल खोजे। जैसा कि आज तक होता रहा है और इस अवैज्ञानिकता के कारण ही उनको असफलता मिलती रही है।"[2]

बर्टन आगे लिखता है कि "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के वैज्ञानिक अध्ययन का मुख्य उद्देश्य तो उसका सैद्धान्तिक विवेचन करना है। यह आवश्यक नही कि वह विशेष समस्याओं से ही सम्बन्धित हो और न ही उसका सम्बन्ध किसी विशेष लक्ष्य की ओर हो जैसे कि शान्ति या विश्व सरकार की खोज, बल्कि इसका सम्बन्ध है कि भिन्न-भिन्न राज्य किस प्रकार निर्णय लेते हैं और कैसा व्यवहार करते है।"[3]

क्विन्सी राइट (Quincy Wright) इसके विपरीत मत रखता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे विज्ञान का प्रवेश कठिन बताता है। उसके शब्द है कि "अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। इसके कारण कई है—प्रथम तो यह है कि ये घटनायें स्थिर नही है, बदलती रहती हैं। मानवीय क्रियायें होने के कारण यह अनुमान लगाना कठिन होता है कि विशेष परिस्थितियो मे उनका क्या परिणाम होगा तथा एक देश-विशेष की नीति पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा? राज्य, राष्ट्र व सरकारो के व्यवहार समझने के लिये वैज्ञानिक तरीका तभी अपनाया जा सकता है जबकि हम यह मानकर चलें कि ये मनुष्य उनके दृष्टिकोणों का संयोग है या एक विश्व-व्यवस्था का भाग है।"

मार्गेन्थ्यू (Morgenthau) कहता है कि "सभी दृष्टिकोणो में आंशिक सत्यता मौजूद है। यथार्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रिया एक ऐसी बौद्धिक व्यवस्था (Academic Discipline) है जो वर्तमान इतिहास तथा नवीन घटनाओं से भिन्न है, साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं राजनैतिक

---

1 International Relations as a science in concerned with observation and analysis, and with theorizing in order to explain and predict."

—J. W. Burton, *International Relations*, p. 5.

2 "Scientists in International relations cannot afford the unscientific luxury of problem solving or arbitrary goal-seeking which has upto the present been their pre-occupation and caused their defeat."

—J. W. Burton, *International Relations*, p. 68.

3 "Theoretical analysis is the main concern of the scientfic study of international relations. It is not required to deal with particular problems, not with particular goals such as peace or world government, but with the processes of decision making and behaviour pattern of states" —J. W. Burton, *ibid.*

सुधारों से भी भिन्न-भिन्न है। इसके तथ्य बड़ी शीघ्रता से बदलते रहते हैं तथा इसका विषय अनिश्चित (Ambiguous material) होता है इसलिये इस विषय में भविष्यवाणियाँ करना असम्भव होता है।"[1]

परन्तु मार्गेन्थ्यू की अपेक्षा क्विन्सी राइट का मत अधिक उदार है। क्विन्सी राइट का मत है कि "यद्यपि इसे पूर्णतया विज्ञान का दर्जा तो नहीं दे सकते पर इसमें वैज्ञानिक विधियों—निरीक्षण, परीक्षण, विश्लेषण, सारणीयन प्रयोग, निष्कर्ष आदि द्वारा अध्ययन कर सकते है। विज्ञान की अधिकांश विशेषतायें जैसे वस्तुगतता (Objectivity), निश्चितता (Accuracy), मात्रानुकरण (Quantification), तर्क (Logic) आदि का प्रयोग नागरिकों, नेताओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अन्य कार्यकर्ताओं के दृष्टिकोणों को प्रभावित करने में किया जा सकता है। आधुनिक युग में सभी व्यवस्थाओं को आवश्यक रूप से विज्ञान बन जाना है चाहे उनके मार्ग में कितनी ही बाधायें क्यों न आयें।"

आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय इतना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है कि कोई भी देश इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता है। दो विश्व युद्धों ने तथा वैज्ञानिक आविष्कारों ने हमें विवश कर दिया है कि हम विश्व शान्ति को बनाये रखने के तरीकों का ज्ञान अच्छी तरह प्राप्त करें।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अध्ययन की पद्धति यथार्थवादी होनी चाहिये पर लक्ष्य आदर्शवादी होना चाहिये तभी इस शास्त्र की सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिवर्तनशील तत्त्व एवं नयी दिशायें

(*Dynamic Elements of Contemporary World Politics and new Dimensions*)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुये स्वरूप को 'स्टुअर्ट' चेज (Stuart Chase) ने "काबू से बाहर होने वाले डाक गाड़ी" (An Express train out of Control) का नाम दिया है।

यह तीव्र परिवर्तन कुछ अनहोनी घटनाओं के घटने के कारण हुआ जिससे विश्व-राजनीति नियन्त्रण के बाहर होती दिखाई देती है। इन घटनाओं का वर्णन एवं विश्लेषण निम्न प्रकार का है :

(1) नये सम्पन्न राज्यों के उदय में वृद्धि (Increase in the Rise of New Sovereign States)—प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्धों के बाद विश्व में अनेक स्वतन्त्र राज्यों का उदय हुआ, विशेष कर द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त तो नये राज्यों के उदय में बड़ी तीव्र गति आई। आमतौर से द्वितीय विश्व युद्ध से विश्व राजनीति का अर्थ यूरोपीय राजनीति होता था क्योंकि विश्व अधिकांश यूरोपीय राज्यों के साम्राज्य के अन्तर्गत था। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 1945 में केवल 51 थी पर 1977 में (अब) 164 हो गई हैं। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में केवल यूरोप ही नहीं अमेरिका, एशिया एवं अफ्रीका का भी महत्त्वपूर्ण योग हो गया है। युद्धोपरान्त राजनीतिक घटना चक्र बड़ी तेजी से घूमने लगा है। अब अन्तर्राष्ट्रीय नीति का क्षेत्र पूरा विश्व हो गया है।

(2) जनसंख्या का और आर्थिक स्तर का विकास (Population and Economic Development)—नवोदित राष्ट्रों में जनसंख्या की वृद्धि इतनी तेजी से हो रही है कि उसे नियन्त्रण में रखना उनकी शक्ति के बाहर हो गया। विश्व के सामने एक महान् संकट उपस्थित हो गया है। आधुनिक काल में चिकित्सा क्षेत्र में महान उन्नति हो जाने के कारण मृत्यु दर बहुत घट गई पर जन्म-दर बढ़ जाने से जनता के भरण-पोषण की समस्या बड़ी विकट हो गई है। बेरोजगारी की समस्या रूस और चीन को छोड़कर शेष सभी राज्यों में जटिल होती जाती है। नये राज्यों

---

1 Margenthau, Hans J. *Politics Among Nations*, p. 18

जन्म लेते ही यूरोपीय राज्यों की आर्थिक समृद्धि देखकर उनसे ईर्ष्या एवं द्वेष करना प्रारम्भ कर दिया है। उनमे असन्तोष भी बढता जाता है। इससे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें बढ़ती और विषम होती जाती है। स्वतन्त्र देश होने के साथ-साथ नये देशों की जनसंख्या को भरण-पोषण के लिये अन्न, वस्त्र एव जीवन की अनेक सामग्री मिलनी चाहिये। यह कार्य तभी सम्भव है जब उनमें कृषि एवं उद्योग पनपे, उनके जीवन स्तर मे विकास हो एवं उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो पर ऐसा कहाँ हो सकता है। इन नये राष्ट्रों के आर्थिक विकास की गति अपने-अपने उपलब्ध साधनों की भिन्नता के कारण भिन्न है। यह गतिभिन्नता (Differential Changes) समस्याओं को और भी उलझा रही है। प्रत्येक नया राष्ट्र एकदम अमेरिका या इङ्गलैण्ड के समान समृद्धशाली बनना चाहता है, अतः उनमे उग्रराष्ट्रवाद पनप रहा है पर आर्थिक पिछड़ेपन ने विश्व के अन्य राष्ट्रों के समकक्ष वे समान स्तर पर ठहर नहीं पा रहे हैं। इससे भी विश्व राजनीति में अनेकों समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं।

(3) प्रशासनिक स्थिरता (Administrative Stability)—नये उदित राष्ट्र वर्षों की गुलामी के बाद स्वतन्त्र हुये है। पूर्ण शासन का भार अनुभव शून्य लोगों के कन्धे पर पड़ता है। इससे वहाँ राजनीतिक एव प्रशासनिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई है। प्रारम्भ में इन राष्ट्रों में लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना हुई पर अशिक्षा, निर्धनता, अनुभव शून्यता के कारण वहाँ आये दिन क्रान्ति होती रहती है। पाकिस्तान मे 25 वर्षों मे कई बार सैनिक क्रान्तियाँ हुई। बंगला देश मे 5 वर्षों के अन्दर तीन बार क्रान्ति हो चुकी है। अफ्रीका के अविकसित देशों मे तो दशा और भी खराब हो रही है। दक्षिणी रोडेशिया एवं दक्षिणी पश्चिमी एशिया की घटनायें, अस्थिर शासन की नयी समस्यायें है।

(4) रंग-भेद (Race-Prejudice)—रग-भेद ने भी विश्व मे घृणा, द्वेष, ईर्ष्या एवं शत्रुता के भेद उत्पन्न कर रखे है। सभ्य राष्ट्रों में यद्यपि रग-भेद करना कानूनी अपराध माना जाता है। लोकतन्त्रो मे समता का सिद्धान्त सभी विकसित देशों ने मान लिया है पर व्यवहार में आज भी अमेरिका एव यूरोप की गोरी जातियाँ काले-पीले रंग की जातियों से घृणा करती हैं। अफ्रीका मे यह रग-भेद अपनी चरमसीमा पर पहुँचा हुआ है। अल्प संख्यक गोरे बहुसंख्यक कालों पर जबरन शासन जमाये हुये है। रोडेशिया की स्वतन्त्रता का प्रश्न भयानक रूप धारण कर गया है। इन घटनाओं का प्रभाव विश्वव्यापी होता है।

(5) रक्षा व्यवस्था (Defence system)—नये राष्ट्रों के सामने एक विकट समस्या अपनी रक्षा की है। प्राकृतिक साधनों की कमी के कारण यह देश अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने में असमर्थ है। अत उन्हे अन्य विकसित राष्ट्रों मे अनुबन्ध करना पड़ता है। इस प्रकार किसी देश की सम्पन्नता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे महत्वपूर्ण स्थिति रखती है और वह अपनी विदेश नीति बनाने मे प्रेरक तत्व का कार्य करती है। किसी राष्ट्र की आर्थिक स्थिति ज्यों-ज्यों सुधरती जाती है, सैनिक क्षमता मे उसकी वृद्धि होती जाती है।

इस प्रकार नये सम्पन्न राष्ट्रो की तीन समस्यायें प्रमुख है—जनसंख्या में वृद्धि, आर्थिक दशा की गिरावट एवं सैन्य शक्ति की दुर्बलता। इन दशाओं का प्रभाव उनकी विदेश नीति पर पड़ता है।

(6) अणु शक्ति का विकास एवं प्रभाव (Development of Atomic power and its effect)—द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त अणु-शक्ति के प्रयोग ने विश्व राजनीति में एक नया मोड़ सा उपस्थित किया है। इससे पूर्व परम्परागत शस्त्रों से युद्ध होता था और कोई भी देश शस्त्रों एव सेना के बल पर युद्ध छेड़ देता था पर आज स्थिति बदल गई है। आज युद्ध छेड़ना कोई कार्य नहीं रहा है। आज जिन देशों ने अपनी अणु-शक्ति में विकास कर लिया है वे अपनी

अणु शक्ति की श्रेष्ठता के बल पर छोटे-छोटे राष्ट्रों को छीनते-झपटते रहते हैं। बड़े राष्ट्र जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और रूस आपस में टकराने से डरते रहते हैं। अतः वे कुछ ले-दे आपस में संधि कर लेते है। 1962 मे रूस को अपना सैनिक अड्डा क्यूबा से हटाना पड़ा क्योंकि उसका टकराव अमेरिका से सीधा होने वाला था और अणु-युद्ध का खतरा था। वियतनाम, कोरिया, अरब-इजराइल युद्ध हुए पर अणु-बमों का प्रयोग नही किया गया। भारत ने अणु का विस्फोट कर अपने को विश्व की छठी शक्ति मे ला खड़ा किया।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व साम्यवाद
(International Politics and Communism)

शीत युद्ध का आरम्भ (Beginning of Cold-war)—1917 मे रूस मे बोल्शेविक क्रान्ति हो गयी। रूस के साम्यवादी दो शताब्दी तक अपने घरेलू झगड़ो मे फँसे रहे। पश्चिमी देशो से उसका सम्पर्क टूट सा गया है। स्टालिन के कठोर नियन्त्रण ने रूस मे एकता उत्पन्न की, पूँजीवाद का अन्त हुआ, शासन का केन्द्रीयकरण हुआ। तानाशाही शासन मे सैन्य शक्ति का विशेष विकास हुआ। इटली और जर्मनी की सैन्य शक्ति के चरम विकास मे पश्चिमी देशो को रूस का ध्यान आया। 1934 में वह राष्ट्र संघ का सदस्य बना अवश्य पर अन्य राष्ट्र उससे बचे रहे कि कही साम्यवादी बीमारी उन्हे न लग जाये। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में धुरी राष्ट्रों के साथ रहा। पर बीच मे जर्मनी से संघर्ष होने पर वह जर्मनी से भिड़ गया। मित्र राष्ट्रों ने उसकी पर्याप्त सहायता की। वह मित्र राष्ट्रो मे मिल गया। उसने यूरोप मे बाहर न सेना भेजी और न किसी राष्ट्र को आर्थिक या सैनिक सहायता भेजी। वह अपनी रक्षा में लगा रहा और जब जर्मनी पर मित्र राष्ट्रों ने दबाव डाला तब उसकी सेना पीछे हटी। रूसी सेना ने जिन छोटे छोटे राज्यो को जर्मनी से मुक्त किया, उन्हे पूर्णतया साम्यवादी बना दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वे एक महान शक्ति के रूप मे प्रकट हुआ। उसने पूर्वी एशिया में बढना प्रारम्भ किया।

अमेरिका ने इंगलैण्ड की दशा खराब होने पर उसका उत्तराधिकार स्वीकार किया और विश्व राजनीति मे वह अपने को अद्वितीय मानने लगा। पर उसकी प्रत्येक योजना को रूस ने काटना प्रारम्भ किया। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस और अमेरिका में शीत युद्ध छिड़ गया। विश्व मे दो गुट बन गये—एक साम्यवादी गुट तथा दूसरा प्रजातन्त्रीय गुट। दोनों ही अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हुए। एक दूसरे पर आरोपप्रत्यारोप जारी हुआ। अमेरिका ने साम्यवाद का हउआ दिखाकर छोटे-मोटे राज्यो को अपनी ओर मिला लिया। संयुक्त राज्य संघ इन दो महाशक्तियो का अखाड़ा बन गया।

शीघ्र ही रूस ने चीन को भी अपने ही रग में रग लिया। अमेरिका को बड़ी चिन्ता हुई उसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (संयुक्त राष्ट्र संघ) के बाहर भी शक्ति गुट बनाने प्रारम्भ किये। नाटो (NATO), सीयटो (SEATO) राष्ट्रमण्डल (British Commonwealth), यूरोपीय कोयला व इस्पात-संगठन (European Coal and Steel Communi.y) ये सभी पश्चिमी देशों के क्षेत्रीय संगठन हैं। रूस ने पूर्वी यूरोप के देशों का एक क्षेत्रीय संगठन (Regional Organization) बनाया। पर इन गुटों मे परस्पर सन्देह, अविश्वास एवं घृणा बढ़ गयी कि शान्ति काल होने हुए भी इन्हें हर समय युद्ध के लिए तैयार रहना पडता है। आज विश्व राजनीति इस गुटबन्दी की राजनीति रह गयी है।

1960 के बाद इन गुटो में भी दरार पड़ गयी। फ्रांस एवं कुछ अन्य देश नाटो से पृथक होते जा रहे हैं। यदाकदा वे अमेरिका की नीति की आलोचना कर देते हैं। साम्यवादी गुट में भी काफी दरार पड़ चुकी है। यूगोस्लाविया, अल्बानिया, चीन आदि रूसी गुट से अधिक दूर हट गये हैं। चीन ने अपना पृथक गुट बना लिया है। अमेरिका ने 1970-71 में चीन से मित्रता कर

है। उसी समय रूस ने भी भारत से 20 वर्षीय सन्धि कर ली है। वामी पैक्ट के कई देश—पोलैण्ड, हंगरी एवं चैकोस्लोवाकिया विद्रोह कर चुके हैं पर रूस ने अन्य वामी पैक्ट के सदस्यों की सेना लेकर इन विद्रोहियों को कुचल कर रख दिया है।

गुट-निरपेक्षता का उदय—दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विश्व के राज्य दो गुटों में बँट गये थे। 1947 में जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो उसने गुटों से पृथक रहने की नीति अपनायी। इसमे एक नये गुट—असंलग्न राज्यों के गुट का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आरम्भ हुआ। भारत ने स्वतन्त्र होकर इन गुट निरपेक्ष देशों का संगठन बनाने एवं उनका नेतृत्व करने का प्रयत्न किया। उसने अपने को ही केवल शीत युद्ध से नही बचाया बल्कि नये सम्प्रभु राज्यों को जो एशिया और अफ्रीका में पनपे, उन्हें भी गुट निरपेक्ष बनाकर एक तीसरी दुनिया (III World) की रचना की है। शीत युद्ध के विरुद्ध यह नया मोर्चा है और इसकी शक्ति लगातर बढ़ रही है। वास्तव में विश्व शान्ति के लिए इस गुट निरपेक्षता का बढ़ना बहुत आवश्यक है।

इतना होते हुए भी नये राष्ट्र भले ही अपने को तटस्थ बताये पर अपनी आर्थिक दुर्बलता, सैन्य शक्ति की कमी तथा अपनी सुरक्षा के अभाव में, इन दो महान शक्तिशाली राज्यों की ओर झुकते जाते हैं। रूस ने इजराइल के विरुद्ध अरब देशों को तोड़ लिया था पर चौथे अरब इजराइल युद्ध ने अरबों मे फूट डाल दी है और मिस्र जो अरबों का नेता था, आर्थिक एवं सैनिक सहायता के लिए अमरीका की ओर झुक गया है। अमेरिका, पाकिस्तान और चीन के दुर्व्यवहार से भारत अमेरिका से हटकर रूस की ओ झुक गया है। इस प्रकार इस तरह से राष्ट्रों की नीतियाँ आवश्यकतानुसार बदलती रहती है किसी देश की विदेशी नीति स्थिर नही होती है। वह परिवर्तन-शील है।

जनतान्त्रिकता का तत्व
(Element of Democracy)

आधुनिक युग जनतन्त्रीय युग है। अनेक नये राष्ट्र इस आदर्श व्यवस्था से प्रभावित हुए और इसे अपनाया। परलोकतन्त्र की कुछ आवश्यक शर्ते है जो प्रत्येक देश में नहीं पायी जाती है। वहाँ पढ़ा लिखा प्रबुद्ध वर्ग शक्तिशाली है। वहीं यह व्यवस्था सफल होती है। आर्थिक दुर्बलता, अशिक्षा, स्वार्थपरता, नेताओं की धूर्तता जहाँ प्रबल होती है वहाँ साम्यवादी तानाशाही पनपती है। भारत में लोकतन्त्र के स्थान पर समाजवादी लोकतन्त्र की स्थापना पर जोर दिया जा रहा है। जनता के मौलिक अधिकारों के स्थान पर मौलिक कर्तव्यों का अध्याय जोड़ा जा रहा है।

लोकतन्त्र और तानाशाही व्यवस्था का संघर्ष जारी है। अमेरिका और ब्रिटेन मे वास्तविक लोकतन्त्र स्थापित है। शेष नकली हैं। फिर इतना कहा जा सकता है उक्त दोनों देशों को छोड़ शेष देश अभी स्थायी लोकतन्त्र या तानाशाही स्थापित नहीं कर पाये है। शासन पद्धति में बदल जनमत के प्रभाव से होता है। भारत में चीन से हारने की जिम्मेदारी श्री कृष्णामेनन पर डाली गयी। जनमत के सामने नेहरू जैसे शक्तिशाली शासक को भी झुकना पड़ा। चिली में साम्यवादी तानाशाही समाप्त हो गयी। वहाँ के तानाशाह को भून डाला गया। मुजीब जैसा त्यागी, निस्वार्थ देशभक्त जब तानाशाह बन बैठा तो बंगला देश मे विद्रोह हुआ और बेचारा मुजीब अपने समस्त परिवार के साथ गोली से भून डाला गया। चीन के सर्वमान्य नेता माऊत्सेतुंग की पत्नी आज जेल की हवा खा रही है। पाकिस्तान का तानाशाह अयूब खाँ अपमान सहित अपना स्थान छोड़ने को विवश हुआ और उसके उत्तराधिकारी श्री याह्या खाँ का भी हाल वैसा ही हुआ। वियतनाम से अमरीका को हटना पड़ा। भारत में आज श्रीमती गांधी के पुत्र संजय का लोग नाम भी नहीं लेना चाहते। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति गतिशील है और उसमें निरन्तर [illegible] होते रहते हैं।

राष्ट्रवादी विश्ववाद
(Nationalist Universalism)

आज के अणु युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्र हित का ध्यान रखते हुए विश्व हित के विषय मे बातचीत करते हैं और राष्ट्रहित और विश्व हित दोनों का समन्वय आवश्यक है अन्यथा राष्ट्र हितों का विनाश हो जायगा "संयुक्त राष्ट्र संघ मान्यता प्राप्त सभा है जो सभी जातियों, नस्लों, विश्वासों, विचारधाराओं का संयुक्त रंगमंच है। जहाँ राष्ट्र अपने-अपने विरोधी हितों का ज्ञान रखते हुए भी पश्चिमी संसदीय परम्परा द्वारा विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद में भाग लेते हैं जिसमें छोटे-बड़े राष्ट्र समानता के आधार पर स्वतन्त्रतापूर्वक मत व्यक्त करते है।"[1]

इस प्रकार विश्व-राजनीति का झुकाव एक विश्व-सरकार की स्थापना की ओर न होकर सम्प्रभु राष्ट्रों के सहयोग और सद्भावना प्राप्त करने की ओर है। विश्व की कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जिन पर सभी राष्ट्रों के सहयोग की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए यदि हम नि:शस्त्रीकरण समस्या को लें तो इस प्रश्न पर सभी राष्ट्र एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते है और पहल करने से घबड़ाते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि नि:शस्त्रीकरण करने से दूसरे राष्ट्र की सैनिक शक्ति उनसे बढ़ न जाये और अवसर पाकर वह उन्हें दबोच न ले। फिर भी विश्वव्यापी शान्ति आन्दोलन तेजी से विश्व को प्रभावित कर रहा है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की विवेचना कीजिये।
   Discuss the historical back-ground of International Politics.
2. किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञान है ? स्पष्ट कीजिये।
   To what extent is International Politics a unique subject in social science ? Explain.
3. किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विज्ञान है ? विवेचना कीजिये।
   To what extent is International Politics a science ? Discuss.
4. आधुनिक विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे आधुनिक महत्त्वपूर्ण विकासों का संक्षिप्त सर्वेक्षण कीजिये।
   Briefly survey the significant current development in international sphere in modern world

[1] 'The United Nations is the recognised meeting ground for all peoples, races, creedes, ideologies, which in full awareness of their many conflicting interests follow the Westen parliamentary tradition of discussing then and of trying to find compromise solution. They enter more and more in to an a open discourse in which the small nations are beaced on equal terms with the great powers." —*Leonard Freedman*

2

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : परिभाषा, स्वरूप एवं क्षेत्र
(International Politics : Definition, Pattern and Scope)

"राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिये संघर्ष तथा उसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।" —मार्गेन्थ्यू

"स्वतन्त्र राजनीतिक समुदायों (अर्थात् राज्यों) के अपने-अपने उद्देश्यों या हितों के आपसी विरोध या संघर्ष मे उत्पन्न उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया एवं सम्बन्धों का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।"

—हैराल्ड एवं मर्गरेट स्प्राउट

'International Politics is a process in which nations try to serve their national interests, which may be in conflict with those of other nations; by means of their policies and actions'. —Mahendra Kumar,

"International politics is the study of rivalry among nations and the conditions and intsiitutions which ameliorate or axece pa'e their relationships" —Kenneth W. Shampson.

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definitions of International Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ (Meaning of International Politics)—मार्गेन्थ्यू के शब्दो मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ "राष्ट्रों के मध्य सघर्ष और शक्ति का प्रयोग" है[1] दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है, "शक्ति के लिये सघर्ष (struggle for power)। यह सामान्य सिद्धान्त है कि "सामान्य हित के वर्ग गुट अपने से भिन्न वर्ग-गुटों से टकराते है तो एक विशेष व्यवहार का उदय होता है जिसे राजनीति का नाम दिया जाता है।" जब यह वर्ग-संघर्ष एक देश के अन्तर्गत रहता है तो इसे देशीय राजनीति का नाम दिया जाता है और जब यह वर्ग संघर्ष राष्ट्रों के मध्य होता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का नाम दिया जाता है। प्रत्येक वर्ग या राष्ट्र अपना पृथक हित रखता है और उसके अनुसार व्यवहार करता है। वह यह सिद्ध करना चाहता है कि उसका हित ही सर्वश्रेष्ठ है। कुछ राजनीतिज्ञ वर्गों के व्यवहारों का वर्गीकरण करते है। उनके राजनीतिक वर्गीकरण में तीन तत्वों का समावेश माना जाता है—"विविध वर्गों की स्थिति, गुटों में परस्पर संघर्ष या विरोध तथा अपने हित-साधन के लिये दूसरे गुट का नियन्त्रण का प्रयत्न।"

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रत्येक गुट यह चाहता है कि उसके गुट का हित-साधन अवश्य होना चाहिए चाहे फिर दूसरे गुटों के हित-साधन की पूर्ति हो या न हो। इस संघर्ष मे "शक्ति

[1] "The struggle for, and use of, power among nations." —*Morgenthau*

राजनीति" (Power-politics) का जन्म होता है। इस शक्ति-राजनीति का अर्थ यही है कि वह अन्य वर्गों की नीतियों को प्रभावित व नियन्त्रण करने की क्षमता रखे क्योंकि राजनीति से अभिप्राय यह है कि "शक्ति का अर्जन, रक्षण, प्रयोग एवं विस्तार किया जाय।" जोजेफ डनर के शब्दों में—शक्ति (power) का अर्थ है कि "शक्ति अथवा योग्यता द्वारा दूसरे पक्ष से अपना अभिप्रेत कार्य करा लेना।"[1] इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे "शक्ति-अर्जन, रक्षण, प्रयोग एवं विस्तार की प्रक्रिया का अध्ययन" किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषा (Definitions of International Politics)—अनेक विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषा विभिन्न शब्दों में की है पर सभी परिभाषाओं में एक ही बात का विस्तार किया गया है वह यह कि "राष्ट्रों के मध्य शक्ति एवं उसके प्रभाव को कैसे कार्यान्वित किया जाय।" यहाँ कुछ विद्वानों द्वारा की गई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषायें दी जाती है।

स्प्राउट (Sprout) के शब्द है—"स्वतन्त्र राजनीतिक समुदायों (राज्यों) के अपने-अपने उद्देश्यों या हितो के आपसी विरोध, प्रतिरोध या संघर्ष से उत्पन्न उनकी प्रतिक्रिया एवं सम्बन्धों का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।"[2]

थाम्पसन (Thompson) के मतानुसार "राष्ट्रों के मध्य छिड़ी स्पर्धा के साथ-साथ उनके आपसी सम्बन्धो को सुधारने या बिगाड़ने वाली परिस्थितियों एवं संस्थाओं का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।"[3]

हार्टमैन (Hartmann) के शब्दो में "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से आशय उन प्रक्रियाओं के अध्ययन से है जिनके द्वारा राज्य अपने राष्ट्रीय हितो का तालमेल दूसरे राज्यों के राष्ट्रीय हितो के साथ बैठाते है।"[4]

स्प्राउट के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रनीति के अन्तर्गत राष्ट्रों के केवल उन्हीं सम्बन्धो का अध्ययन होता है जिनमें किसी न किसी प्रकार का संघर्ष विद्यमान है, अन्य प्रकार के सम्बन्धो का नही। यह आवश्यक नही कि संघर्ष सशस्त्र हो। शस्त्रहीन संघर्ष भी इसी कोटि में आता है।"[5] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत एक ओर तो राजनेताओं और उनके गुटों के सुख तथा उनके द्वारा लिये गये निर्णयों का अध्ययन होता है, और दूसरी ओर उन निर्णयों के लागू किये जाने वाले परिणामों का।"[6]

---

1 "Force or ability to get another party to do one's will." —*Joseceph Dunner.*

2 "International politics means those aspects of the interactions and relations of independent political communities in which some elements of oppositions resistance or conflict of purpose or interest its present."
—Harold and Margaret Spouts (*Foundations of International Politics*)

3 "International politics is the study of rivalry among nations and the conditions and institutions which ameliorate or axacerpate these relations.
—*Kanneth W. Thompson*

4 "International relations as a field of study is focused upon the processes by which states adjust their national interest to those of other states."
—*F. H. Hartmann.*

5 "International politics include all transactions and relationships between or among organised independent national communities which exhibit some significant conflict of purpose or interest, regardless of whether military or non-military forms of actions are involved."

6 "In the study of international politics, one is concerned with both attitudes and decisions of statesment and their consituents, and also the outcomes of operational results of decision." —*Harold and Margaret Spout.*

लिंकन और पैडेलफोर्ड के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राजसत्ताओं के बदलते सन्दर्भ में राज्यों की नीतियों के पारस्परिक घात-प्रतिघात को कहते हैं।"[1]

क्विन्सी राइट के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक ऐसी कला है कि जिसके द्वारा कोई वर्गगुट अन्य बड़े गुटों को प्रभावित, छलयोजित या नियन्त्रित करके कोई वर्ग दूसरे वर्ग के विरोध के बावजूद अपना स्वार्थ सिद्ध करता है।"[2]

बर्टन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में अन्य बातों के अतिरिक्त सारी घटनायें और परिस्थितियां आती हैं जिनका प्रभाव एक से अधिक राज्यों पर पड़ता है।"[3] वॉनडायक के शब्दों में 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हमारा सम्बन्ध संप्रभुता सम्पन्न राज्यों की सरकारों के मध्य में शक्ति संघर्ष से होता है।"[4]

इस प्रकार अनेक लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को परिभाषित किया है। अन्त में हम श्री महेन्द्र कुमार द्वारा दी गई परिभाषा को रखते हैं—"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उस प्रक्रिया का नाम है जिसके माध्यम से विभिन्न राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से टकराने वाले अपने हितों को अपनी नीतियों एवं कार्यों द्वारा साधने का प्रयास करते हैं।"[5] इस तरह से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (1) विभिन्न गुटों के अस्तित्व, गुटों में पारस्परिक भेद व कुछ गुटों का अन्य गुटों को प्रभावित तथा नियोजित करने का प्रयत्न—के इर्द-गिर्द घूमती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल स्वरूप
(Fundamental Pattern of International Poltics)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर प्रो० के० सी० गुप्ता ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल स्वरूप निम्नलिखित मान्यताओं के आधार पर निश्चित किया है :

"(i) विश्व में अनेक स्वतन्त्र राज्य हैं, (ii) इन राज्यों का आधार राष्ट्रवाद एवं कानूनी प्रभुसत्ता है, (iii) इन सभी के अपने-अपने राष्ट्रहित हैं जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वतन्त्रता एवं प्रादेशिक अखण्डता है, (iv) जो राष्ट्रहित परस्पर विरोधी होते हैं, वहीं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को जन्म देते हैं, (v) अपने-अपने हितों की वृद्धि के लिए विभिन्न राष्ट्र शक्ति का प्रयोग करते हैं, और (vi) शक्ति का प्रयोग मुख्यतः राजनय और युद्ध के रूप में देखने को मिलता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न राज्यों के मध्य शक्ति के लिए संघर्ष होता है। युद्ध अथवा शान्ति स्वयं में कोई साध्य नहीं होतीं हैं वरन् शक्ति संघर्ष के उप-परिणाम (Bi-product) होते हैं। राष्ट्र एवं राष्ट्र-शक्ति ही समस्त राजनीतिक प्रक्रिया का केन्द्र होते हैं। यह राष्ट्र-शक्ति विभिन्न तत्वों से मिलकर निर्मित होती है—जैसे—सांस्कृतिक, भौतिक, आर्थिक, जन सांख्यिक,

---

1 "The interaction of state policies within the changing pattern of power relations. —*Norman J. Padelford and George A Lincoln,*

2 "International politics is the art of influencing, manipulating on controlling major groups so as to advance the purposes of some against the opposition of others. " —Quincy Wright. *The Study of International Relations.*

3 "International relations is concerned amongst other things, with all events and situations affecting more than one state."
—J. W. Burton, *International Relation.*

4 "In International politics, we are primarily interested in the power struggle among the government of the sovereign states."

5 "International politics is a process in which nations try to serve their national interests, which may be in conflict with those of other nations, by means of their policies and actions."
—Mahendra Kumar, *Theoritical Aspect of International Politics.*

सैनिक एवं प्राविधिक आदि तत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संचालक तत्व भी राष्ट्र-शक्ति ही है। प्राचीन भारतीय राजनीति के तत्व थे—साम (Persuasion), दाम (Reward), भेद (dissention) और दण्ड (Coercion)। इन चारों तत्वों का प्रयोग राजनय (Diplomacy) के माध्यम से तथा युद्ध, सैनिक एवं शास्त्रों के माध्यम से होता है। सैनिक आवश्यकता के कारण ही सैनिक गठबन्धन (Military alliances) को अपनाया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के सम्बन्धों में स्थिरता कभी नही आ पाती है। राष्ट्र-समाज की वृद्धि पर राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धो एवं राष्ट्रशक्ति पर नियन्त्रण का प्रयास किया जाता है। जब कोई राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को कानूनी व राजनीतिक दृष्टि से अपने से ऊपर नहीं स्वीकार करता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं संगठन आदि अधिक प्रभावशाली नही होते है और राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति पर ही निर्भर रहने लगते है। इस विषय में क्विन्सी राइट का कहना हैं कि "जब तक कि राज्यों को कानून के प्रभावी होने में विश्वास नहीं है और प्रत्येक राज्य अपनी सुरक्षा के लिए शक्ति बढ़ाने में प्रयत्नशील है, अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति दण्डनीति (Power Politics) पर ही चलती रहेगी।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अन्य गौण पर महत्वपूर्ण स्वरूप भी है। शान्तिपूर्ण जीवन, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व सह-आस्तित्व इस स्वरूप को पाने के लिए दो ढंग हैं—एक तो राष्ट्र अपने स्वार्थो को तिलांजलि दे तथा वर्तमान समाज की सांस्कृतिक आवश्यकता को अनुभव करे, वास्तव में यदि देखा जाय तो आज विश्व ने सहयोग की भावना के विकास का कारण युद्धों की विभीषिका है। गत दो महायुद्धों ने राष्ट्रों को विश्व समाज की स्थापना, विश्व संगठन, लोकतन्त्र, समाज कल्याण, मानव अधिकार जैसे विचारों के विकास में सहयोग दिया है। द्वितीय युद्ध को हुए 30 वर्ष बीत चुके है, लोगों पर उसका भय और आतंक कम हो गया है। आज के परिवर्तनशील युग मे कोई यह नहीं कह सकता कि शीत युद्ध कब गर्म युद्ध में परिवर्तित हो जाये। अतः इस दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए तथा इनमें निरन्तर संशोधन एवं परिवर्द्धन रखने की गुंजाइश रखनी चाहिये। राज्यों के सम्बन्धों में कटुता एवं विद्वेष की भावना के स्थान पर सद्भावना एवं सहयोग बढ़ता रहना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति तथा क्षेत्र
(Nature and Scope of International Relations)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र (Scope of International Relations)

20वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विकास बड़ी तेजी से हुआ। इन सम्बन्धों में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद और तीव्रता आयी। उसका कारण था साम्राज्यवाद के किले का ढहना और अनेक देशों का स्वतन्त्र होना। इसके अतिरिक्त रूस और अमेरिका के नेतृत्व में राष्ट्रों की गुटबन्दी। कुछ देश इस गुटबन्दी से दूर रहना चाहते थे अतः एक तीसरे गुट का निर्माण भारत के नेतृत्व में हुआ। तीसरा गुट "गुट निरपेक्षता" का था। कुछ प्रसिद्ध विचारकों—मि० ग्रेसन-किर्क (Grayson Kirk), क्लास-नोर (Klaus Knorr), ई० एल० वुडवार्ड (E. L. Woodward), एवं वाल्डेमर गुरिया आदि ने इस की प्रकृति तथा क्षेत्र पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

संसार के विभिन्न राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति के लिए स्पर्धा और संघर्ष करते हैं तथा इन्हें शक्ति का सहारा लेकर पूरा करते हैं। यह शक्ति सैनिक आर्थिक, राजनैतिक, मामलो—वैज्ञानिक किसी भी प्रकार की हो सकती है। 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वह प्रक्रिया बन जाती है जिसके

1 Power politics might continue......as long as states lack confidance in the effectiveness of law and each strives to improve its power position f r defence." —*Quincy Wright.*

माध्यम से कोई राष्ट्र समूह अपने आपसी सम्बन्धों को शक्ति के माध्यम से अपने पक्ष में रखने का प्रयत्न का प्रयास करता है।'[1]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन अत्यन्त अस्पष्ट है, क्योंकि इनकी सीमा बाँधना आसान नहीं। यहाँ हमें अनेक विद्वानों के मतों का सहारा लेना पड़ेगा पर इतना होने पर भी हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कोई क्षेत्र अन्तिम अथवा पूर्ण सत्य कहकर सिद्ध नहीं कर सकते हैं। यह विषय विकासशील है अतः इसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय रखे जा सकते हैं :

(1) **अन्य देशों से सम्बन्ध** (Relations Other Nations)—एक देश अपने सीमा क्षेत्र से बाहर अन्य देशों से अपने सम्बन्धों को जब स्थापित करता है तो उसे इस विषय जो कुछ ज्ञान अर्जित करना होता वह इस विषय के क्षेत्र परिधि में आता है।

(2) **नयी एवं पुरानी समस्याओं का सुलझाना** (Solves old and new problems)—इसमें किसी भी श्रोत से प्राप्त होने वाला वह ज्ञान होता है जो पुरानी एवं नई अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समझने में सहायक हो सके। इसमें राजनीतिक व्यक्तियों के या उनके समूहों के व्यवहार से सम्बन्धित सामान्य ज्ञान आता है, साथ-साथ नीति सम्बन्धी प्रश्नों या घटनाओं से सम्बन्धित विशेष सूचनायें होती है। सामान्य ज्ञान से प्रश्नों या घटनाओं से सम्बन्धित ज्ञान को समझने का तात्विक प्रयास होता है। जहाँ तक व्यवहार सम्बन्धी प्रश्नों का सम्बन्ध होता है, इसमें हम संलग्न प्रश्नों पर विचार करने के प्रयासों, मूल्य से सम्बन्धित लक्ष्यों के वर्गीकरण, प्राप्त कार्यों के सम्भावित परिणाम वह विकल्पों का उल्लेख करते हैं।

(3) **विश्व व्यवस्था में स्वायत्त राजनैतिक समूहों का सम्बन्ध** (Relations of self determined political groups in the world situations)—इसमें स्वायत्त राजनीतिक समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन ज्ञान की एक पृथक शाखा के रूप में किया जाता है : इस प्रकार की विश्व व्यवस्था में किसी भी एक स्थान पर शक्ति का केन्द्रीयकरण नहीं होता है।

(4) **शक्ति सम्बन्धों का अध्ययन** (Study of power pacts)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सम्बन्ध विशेष प्रकार के शक्ति सम्बन्धों से रहता है जिसका अस्तित्व एक केन्द्रीयकृत सत्ता विहीन समाज में होता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून वह कानून होता है जो स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्वेच्छाजनक स्वीकृति पर आधारित होता है।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विश्लेषण** (Analysis of International Relation) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने के लिए विश्लेषणकर्ता राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है, उन पर मनन करता है और तब किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करता है। वह विभिन्न राष्ट्रों की राष्ट्रीय नीतियों के संघर्ष, समायोजन व समझौतों में रुचि लेता है। साथ ही वह समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, जातिशास्त्र एव जनसंख्या आदि विषयों में भी रुचि दिखायेगा एवं अन्तर-राष्ट्रीय क़ानून का भी अध्ययन करेगा।

(6) **सामाजिक संघर्षों एवं उनका समायोजन** (Social struggle and adjustment)—इस विषय के क्षेत्राधिकार में सामाजिक संघर्षों का अध्ययन एवं उनके समायोजन का भी अध्ययन आ जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की मुख्य रुचि उस ज्ञान से रहती है जो सामाजिक दशाओं के एक विशेष समूह को सुधारने एवं नियन्त्रित करने के लिए उपयुक्त है। इस अर्थ

---

1 "International politics becomes a process of adjustment of relationship within and among nations in power, of a nation or group of nations by means of power."

मे यह नीति सम्बन्धी विज्ञान है जो राजनीति, अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा अन्य सामाजिक अनुशासनों से अधिक भिन्न नहीं है ।

(7) **युद्धों को दूर करने का उपाय** (Way to prevent wars)—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में युद्ध के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है । युद्धों के कारण एवं उनके दूर करने के उपायों के अध्ययन करने में रुचि लेना आवश्यक है । आजकल युद्ध अभिशाप बन गये है उन्हें रोकना बहुत आवश्यक है । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रारम्भिक विद्यार्थी उस सामाजिक व्यवस्था को आदर्श मानते है जिसमे युद्ध न हों । परन्तु आधुनिक युग में यह अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के जानने योग्य तथ्यों एवं उन शक्तियों व परिस्थितियों पर रहता है जो राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहारों को प्रभावित करते है ।

(8) **देशों की विदेश नीतियों का ज्ञान** (Knowledge of the foreign policies of different countries)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह मुख्य विषय है कि हम विभिन्न देशों को विदेश नीतियों का अच्छा ज्ञान रखें । किसी देश की आन्तरिक व्यवस्था भी जानना बहुत आवश्यक है क्योंकि वही देश की विदेश नीति को प्रभावित करती है । कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को भली प्रकार समझना तब तक बड़ा कठिन है जब तक हम उन स्थानीय तत्वों एवं प्रभावों का अध्ययन न करें जो राष्ट्रीय नीतियों को निर्मित करने में प्रभाव डालते है ।

(9) **मानवीय व्यवहारों का अध्ययन** (Study of human behaviour)—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में निर्णय लेने की प्रक्रिया का बड़ा महत्व होता है, क्योंकि ये निर्णय ऐसे व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों द्वारा लिये जाते है जो पहचाने जा सकें । अतः मानवीय व्यवहारों का अध्ययन, इस दिशा में महत्वपूर्ण है ।

(10) **सांस्कृतिक अध्ययन** (Cultural study)—आधुनिक विश्व राजनीति मे विद्यार्थियों को सास्कृतिक व्यवहारों का अध्ययन करना भी बहुत आवश्यक होता है क्योंकि इससे प्रभावपूर्ण विचार करने के तरीकों का ज्ञान होता है तथा अपने परिवेश के इस महत्वपूर्ण भाग को समझने योग्य होता है । प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में यह तत्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

(11) **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वर्गीकरण** (Classification of International Relations)—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विभाजन पाँच वर्गों में किया जा सकता है—(i) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (ii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (iii) अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र (iv) कूटनीतिज्ञ इतिहास तथा (v) राजनैतिक भूगोल । इनके अतिरिक्त सामाजिक मनोविज्ञान आदि का अध्ययन भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विद्यार्थी करता है जो उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभावशाली ढंग से सोचने में सक्षम बनाता है ।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में वह राजनीतिक सम्बन्ध आते है जिन्हे एक राज्य अपनी सीमाओं के बाहर दूसरे राज्यों से स्थापित करता है । यह सम्बन्ध राष्ट्रीय हितों के संघर्ष के कारण उत्पन्न होते है जिन्हे शक्ति द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है । साथ ही इसके अन्तर्गत हम इसके संचालन के यन्त्रों, राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन और नियन्त्रण की विधियों तथा इसके परिवर्तनशील तत्वों का अध्ययन करते है । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उस प्रक्रिया का नाम है जिसके माध्यम से विभिन्न राज्य अपने टकराने वाले राष्ट्रीय हितों को अपनी नीति और कार्यों द्वारा शक्ति का सहारा लेकर पूरा करने का प्रयत्न करते है ।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. आप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से क्या समझते हैं ? स्पष्ट कीजिए ।
   What do you undertand by the term International Politics ? Explain
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विभिन्न परिभाषायें दीजिए तथा उनकी विवेचना कीजिए ।
   Give the different definitions of International politics and discuss them.
3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की आधुनिक प्रकृति तथा क्षेत्र के अध्ययन की विवेचना कीजिये ।
   Discuss the present nature and scope of the study of International Relations.
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल स्वरूप किन आधारों पर निश्चित किया जाता है ? विवेचना कीजिए ।
   On what grounds is the pattern of International politics determined ? Discuss.

3

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति : अध्ययन के विविध दृष्टिकोण

(International Politics : Different Approaches to its Study)

"चूँकि यह सिद्धान्त मानव-प्रकृति को उसी रूप में देखता है जैसी कि वह है तथा ऐतिहासिक घटनाओं को उसी रूप में लेता है जिस रूप में वे घटित हुई हैं, इसलिए इस सिद्धान्त को यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है।"

—हान्स जे० मार्गेन्थ्यू

"A world full of happiness is not beyond human power to create, the obstacles imposed by inanimate nature are not insuperable. The real obstacles lie in the heart of man, and the cure for these is a firm hope informed and fortified by thought."

—Bertrand Russel.

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोण
(Different approaches to the Study of International Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों को अपनाया जाता है। इन दृष्टिकोणों में कौन उत्तम है और कौन निरर्थक, यह जानना आवश्यक है। इन दृष्टिकोणों का ज्ञान तथा उनकी विवेचना करना प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है :

विभिन्न दृष्टिकोणों का वर्गीकरण (Classification of different approaches)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए जो दृष्टिकोण अपनाये जाते हैं उनकी भिन्नता दो स्तरों पर आधारित है—प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की समस्त वस्तु-स्थिति के आधार पर तथा द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आन्तरिक वस्तु-स्थिति के आधार पर। प्रथम दृष्टिकोण अयथार्थवादी अथवा आदर्शवादी है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का समग्र व सही मूल्यांकन करने का दावा करता है। दूसरा दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को आंशिक रूप में समझने का दावा करता है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि इसे समग्र रूप से नहीं समझा जा सकता है। क्योंकि नीति-निर्धारण, शक्ति-सन्तुलन सौदेबाजी एवं खेल आदि आंशिक अध्ययन के ही परिणाम होते हैं। इस दृष्टिकोण-भिन्नता का कारण है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विविध पक्षों पर कम या अधिक जोर दिया जाना।

अध्ययन की दृष्टि से चार प्रमुख दृष्टिकोण अपनाये जाते हैं—

(1) ऐतिहासिक दृष्टिकोण (Historical Approach),
(2) दार्शनिक दृष्टिकोण (Philosophical Approach),
(3) निकायपरक दृष्टिकोण (System Approach), एवं
(4) नीति एवं निकायपरक दृष्टिकोण (Policy System or Science Approach)

इन चारों दृष्टिकोणों का पृथक-पृथक विवेचनात्मक अध्ययन किया जायगा ताकि यह समझा जा सके कि इनमें कौन सा दृष्टिकोण सर्वोत्तम है।

1. इतिहासपरक दृष्टिकोण (Historical Approach)

इतिहास परक दृष्टिकोण के अनुसार यह माना जाता है कि इतिहास आधुनिक राजनीतिक परिस्थितियों का विगत स्वरूप प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा हमें पता चलता है कि परम्पराओं एवं नीतियों का प्रभाव राजनीतिक जीवन पर कितना पड़ता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह भी माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रखती हैं, एवं इनका क्रमिक विकास भूतकाल के गर्भ में निहित रहता है। उसके आधार पर ही आधुनिक सम्बन्धों का परीक्षण एवं विश्लेषण किया जाना सरल एवं सुगम होता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध दो तत्वों से प्रभावित होते हैं—(i) विगत वर्षों के सम्बन्ध एवं संघर्ष, तथा (ii) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त इनमें पहला तत्त्व विगत सहयोग एवं संघर्ष का स्वरूप निर्धारित करता है एवं दूसरा तत्त्व वर्तमान में समायोजित करने का प्रयास करता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण मूल धारणा यह रखता है कि "नीतियों के सम्बन्ध में कोई निश्चित अथवा स्थायी दिशा-निर्देश सम्भव नहीं। यह राजनय (Diplomacy) कला पर अधिक बल देता है क्योंकि उसकी प्रवृत्ति देखकर ही कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें कुशल राजनय का व्यक्तित्व विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।"

ऐतिहासिक दृष्टिकोण, परम्परावादी दृष्टिकोणों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास क्रम प्रस्तुत करता है। साथ-साथ उनकी नीतियों, प्रतिक्रियाओं एवं कार्यक्रमों की विवेचना कर कार्य-कारण का सम्बन्ध दिखाता है। वर्तमान समय में प्रत्येक घटना का बीज भूतकाल में बोया गया बताता है तथा इन्हीं आधारों पर भविष्य में होने वाली घटनाओं की भविष्यवाणी करता है।

इस दृष्टिकोण के विकास में बाधाएँ (Obstacles in the development of the Approach)—पैडेलफोर्ड व लिंकन (Padelford and Lincoln) ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए लिखा है कि "वर्तमान युग में राजनयिक इतिहास का अध्ययन लाभप्रद होते हुए भी पर्याप्त नहीं। आज राजशास्त्र के अध्येता को भूतकालीन इतिहास से प्राप्त जानकारी की अपेक्षा वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में नीति निर्धारक-प्रक्रिया एवं राजनीतिक सौदेबाजी (Bargaining) की कला का ज्ञान कहीं अधिक आवश्यक है।"[1]

इस दृष्टिकोण का विकास ब्रिटेन में हुआ जहाँ पर अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन विद्वानों में निम्नलिखित विद्वान उल्लेखनीय हैं—

आरनोल्ड टायनबी (Arnold J. Toynbee) ई० एच० कार (E. H. Car), कैनेथ ई० बोल्डिंग (Keneth E. Boalding), जार्ज ए० लेनिल (George A. Lanyl), रेमों ओरो मैक विलियम्स (W. C. Williams), जेम्स शाटवेल (James Shotwell) तथा क्विन्सी राइट (Quincy Wright)।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण की अपनी सीमाएँ हैं जो निम्न हैं—

(1) ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोग करने पर तत्कालीन परिस्थितियों एवं भावनाओं का प्रभाव पड़ता है जिसके कारण निष्कर्ष अशुद्ध हो जाते हैं।

---

1 Norman J. Padelford and G. A. Lincoln : *The Dynamics of International Politics*, p. 31.

(2) इस पद्धति द्वारा तथ्यों का संकलन मात्र ही हो सकता है।

(3) सम्पूर्ण भूत का अध्ययन असम्भव है और भूत के अध्ययन से रूढ़िवादिता का जन्म होता है।

(4) घटनाओं की पुनरावृत्ति बिलकुल ज्यों की त्यों नहीं होती बल्कि परिस्थितियों के बदलने से उनका स्वरूप बदल जाता है।

इन्हीं कारणों से इतिहास परक दृष्टिकोणों की समीक्षा करते हुए पेडलफोर्ड और लिंकन कहते हैं कि "वर्तमान युग में केवल राजनयिक इतिहास अध्ययन लाभप्रद होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। हमारे लिए भूतकालीन इतिहास से प्राप्त जानकारी की अपेक्षा वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में नीति निर्धारण प्रक्रिया एवं राजनीतिक सौदेबाजी की कला का ज्ञान अधिक आवश्यक है।"

2. दार्शनिक दृष्टिकोण (Philosophical Approach)

दार्शनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत आगमन पद्धति (Inductive Method) द्वारा मानवीय स्वभाव का अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष में किया जाता है। दार्शनिक पद्धतियाँ दो प्रकार की होती है—(i) यथार्थवादी (Realistic) तथा (ii) अयथार्थवादी अथवा आदर्शवादी (Unrealistic or Idealistic)। कुछ साम्यवादी दोनों पद्धतियों का अध्ययन आवश्यक मानते है। *इनकी विवेचना पृथक-पृथक शीर्षकों में की जायेगी।*

(1) यथार्थ दृष्टिकोण (Realistic Approach)—यह दृष्टिकोण पूर्णतया यथार्थ तथ्यों अथवा वास्तविकताओं पर आधारित होता है। इसके अन्तर्गत अभूत एवं आदर्शवादी मान्यताओं को कोई स्थान नहीं दिया जाता है। इस दृष्टिकोण के प्रमुख विचारक मार्गेन्थ्यू (Margenthau) है जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विवेचन इसी आधार पर किया है। उन्होंने तर्क एवं अनुभव के आधार पर मनुष्य, समाज एवं राजनीति के विषय में अपनी मान्यताओं को तर्क तुला पर तोला है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार अवरोध एवं सन्तुलन (Checks and Balances) के सिद्धान्त का बहुलवादी समाज (Pluralistic Society) पर लागू कर उसमें संघर्ष को बहुत कम करने का दावा किया जाता है। यथार्थवादी यह मत प्रकट करते हैं कि ऐसी कोई अवस्था नहीं जहाँ संघर्ष नहीं अतएव विभिन्न स्वार्थों के मध्य सन्तुलन की स्थापना संघर्ष का अवरोध है। हान्स मार्गेन्थ्यू भी राजनीतिक यथार्थवाद मे ऐतिहासिक घटनाओं को आधार स्वीकार करता है। उसके इस विषय मे, शब्द है कि "चूंकि यह सिद्धान्त मानव प्रकृति को उसी रूप मे लेता है, जैसी कि वह है तथा ऐतिहासिक घटनाओं को उसी रूप मे लेता है जिस रूप में वे घटित हुई हैं इसलिए इस सिद्धान्त को यथार्थवादी सिद्धान्त की संज्ञा दी जाती है।"

मार्गेन्थ्यू के पूर्व भी यथार्थवादी दृष्टिकोण को कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने 18वीं एवं 19वीं शताब्दी मे अपनाया था। 19वीं शताब्दी के ट्राइटश्के (Treitschke), नीत्शे (Nietzshe), एरिच काफमान (Erich Kaufmann), डेविड ईस्टन (David Easton), ई० एच० कार (E. H. Cur), एवं क्विन्सी राइट (Quincy Wrighl) और बीसवी शताब्दी के येल विश्वविद्यालय के प्रो० निकोलस जे० स्पाइकमैन (Nicalos J. Spykman) जैसे विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में *यथार्थवादी विचार प्रकट किये है।*

परन्तु मार्गेन्थ्यू ने जो बल इस विचारधारा पर दिया है वह सर्वाधिक विस्तारपूर्वक एव महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त-शक्तिवादी सिद्धान्त है जो आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मे लागू किया जा सकता है। मार्गेन्थ्यू से पूर्व के यथार्थवादी विचारक आदर्शवाद के *विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तुत करते थे पर ये इतने शक्तिशाली नहीं थे जितने कि मार्गेन्थ्यू के तर्क है।* उसने तो स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी है कि अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का सैद्धान्तिक करके ही वैज्ञानिक अध्ययन किया जाना सम्भव है।

(2) **मार्गेन्थ्यू का यथार्थवादी सिद्धान्त** (Margenthau's Realistic Theory)—मार्गेन्थ्यू ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। अपने यथार्थवादी सिद्धान्त को उसने 6 उप सिद्धान्तों में बाँटा है।

( ) **यथार्थवादी नियमों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का नियन्त्रण** (Control of International Politics Through Objective Laws)—यथार्थवादी मत के अनुसार प्राकृतिक नियम शाश्वत एवं सत्य होते है जो मानव प्रकृति, समाज व उसके ही समान राजनीति का भी विनिमय करते हैं। इस राजनीति की जड़ें उस देश की भूगोल, इतिहास एवं मानव-मन में जमी होती है जो तत्कालीन राजनीतिक व्यवहारों को भी काफी अंश में प्रभावित करने वाली होती है। यदि घटनाओं के तथ्यों की तर्क परक व्याख्या अनुभव के आधार पर हो तो यथार्थवादी सिद्धान्तों का नियमन होता है उदाहरण के लिए किसी विदेश नीति को समझने के लिए वहाँ की राजनीतिक गतिविधियों, भौगोलिक स्थितियों व सांस्कृतिक परम्पराओं के आधार पर सम्भावित परिणामों का विश्लेषण व विवेचन करना आवश्यक होता है। अन्ततः कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(ii) **शक्ति द्वारा प्रसार** (Expansion by Power)—राजनीतिज्ञ सामान्य अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के हेतु शक्ति के प्रयोग के समर्थक होते हैं। वे सदैव इस बात पर अड़े रहते है कि उनके राष्ट्र के लिए क्या वांछनीय है और क्या अवांछनीय। उनकी विदेश नीति का ध्येय राष्ट्रीय हित की ही पूर्ति होता है। वे विशुद्ध राष्ट्रीय हित के लिए राजनीतिक सफलताओं को प्राप्त करने मे संलग्न रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे उनका दृष्टिकोण शक्ति को प्राथमिकता देता है। वे अभिप्राय (Motives) एवं विचार प्राथमिकता (Ideological Preference) को कोई स्थान नही देते है। इन तत्वों के आधार पर ही उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों का पूर्वाभास कर सकते हैं।

(iii) **राष्ट्रीय हित परिस्थितियों के सन्दर्भ में** (National Interest in relation to circumstances)—यथार्थवादी राष्ट्र हित के सामने नैतिक आदर्शों की कोई चिन्ता नहीं करते हैं। मार्गेन्थ्यू का मत है कि परिस्थितियाँ राष्ट्रीय हित को प्रभावित करती है और उसके अनुसार ही वे निर्णय लेते है। अतः परिवर्तनशील परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही शक्ति-संचय किया जाता है। यथार्थवादी दृष्टिकोण शक्ति पर आधारित राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानकर अन्य सिद्धान्तों से बँधे नहीं होते है।

(iv) **नैतिक आदर्शों में यथार्थ दृष्टि** (Realistic outlook in moral idealism)—यथार्थवादी अपने नैतिक आदर्शों को अमूर्त एवं सार्वभौमिक नियमों के आधार पर निर्मित नहीं करते, बल्कि वे अपने राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजनीति से प्रभावित नैतिक नियम बनाते है। देशकाल, परिस्थितियों आदि के अनुसार विवेकयुक्त व्यापार राजनीतिक गतिविधियों का यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

(v) **राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के भिन्न सामान्य नैतिक नियम** (Distinctive common moral causes of National and International Behaviour)—यथार्थवादी व्यक्तिगत एवं सामाजिक नैतिकता को भिन्न मानते है और इसी प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय नैतिक नियमों को भी भिन्न मानते है। राष्ट्रीय हित के लिए झूठ बोलना, विश्वासघात करना, छल कपट का प्रयोग करने मे संकोच नहीं करते। उनका सिद्धान्त यही है कि "अन्त-भला तो सब भला" (All is well that ends well)। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्र एक राजनैतिक इकाई होती जो शक्ति के माध्यम से अपना हित करती है।

(vi) **राजनीतिक मानदण्डों की प्रधानता** (Supremacy of Political norms)—राजनीतिक यथार्थवाद राजनीतिक क्षेत्र की स्वायत्तता को मान्यता प्रदान करता है। इसमें राजनैतिक

मानदण्डों को अधिक प्रधानता दी जाती है। परन्तु यथार्थवादी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कानूनी व नैतिक दृष्टिकोण अपनाने के विरुद्ध है, क्योंकि राज्य अपने क्षेत्र में स्वायत्त होता है।

मार्गेन्थ्यू के मतानुसार यथार्थवादी दृष्टिकोण मूलतः तीन धारणाओं पर आधारित होता है—(क) राजनीतिज्ञों द्वारा राष्ट्रीय हितों की सिद्धि एवं प्रसार, (ख) राजनीतिक, प्रादेशिक, सांस्कृतिक प्रभाव के प्रसार में राष्ट्रीय हित तथा, (ग) राष्ट्रों की नीति का शक्ति पर आधारित होना।

इस प्रकार मार्गेन्थ्यू शक्ति पर बहुत जोर देता है। उसके मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में *शक्ति और उसके प्रयोग (Power and its use) का विशेष महत्त्व होता है।* उसके विचार से राजनीतिक नियमों का स्रोत मानव प्रकृति होता है। वह यह विश्वास करता है कि यह जगत "विरोधी हितों के टकराव मे रत" रहता है। सत्ता एवं स्वार्थ सभी बुराइयों की जड़ है। राष्ट्रीय हितों की पूर्ति शक्ति के माध्यम से हो सकती अतः राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हितों की पूर्ति शक्ति के माध्यम से हो सकती अतः राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में शक्ति का ही महत्त्व है। उसकी दृष्टि में *राष्ट्रीय हित साध्य है और शक्ति उसका साधन उसके मत से विदेश* नीति मुख्य आधार दो ही है—(i) एक तो वे जो युक्ति संगत तथा आवश्यक है एवं (ii) जो परिवर्तनशील एवं परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं।

मार्गेन्थ्यू का मत यह भी है कि "प्रायः आवश्यक व स्थायी हितों द्वारा ही अस्थायी एवं परिवर्तनशील तत्व प्रभावित होते हैं तथा परस्पर सन्तुलित होने आवश्यक है। अस्थायी तत्वों को स्पष्टतया नहीं व्यक्त किया जा सकता है क्योंकि वे *व्यक्तियों, लोकमत, वर्गीय हित, दलीय* नीति आदि से प्रभावित होते है।"

मार्गेन्थ्यू राष्ट्रीय हितों की परिपूर्ति में संघर्ष का होना अनिवार्य मानता। इसे रोकने के उसने तीन मार्ग समझाये हैं :

(अ) नियन्त्रण द्वारा जैसे सामूहिक सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय सरकार, शान्तिपूर्ण समझौते आदि।

(ब) रूपान्तरण द्वारा जैसे विश्व समाज, विश्वराज्य आदि।

(स) समझौते द्वारा जैसे राजनय।

मार्गेन्थ्यू प्रथम दो (अ एवं ब) विकल्पों को अव्यवहारिक मानता है और शान्ति स्थापना के लिए अन्तिम को अर्थात् राजनय का समर्थन करता है। उसका यह भी कहना है कि केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसी उच्च आदर्श व्यवस्था में, अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के अभाव में (बाध्यकारी शक्ति के अभाव में) राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त को नहीं स्थापित किया जा सकता है।

मार्गेन्थ्यू यह तो अवश्य मानता है कि राष्ट्रीय हितों की पूर्ति मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संघर्ष होना आवश्यक है, अतः शक्ति संचय का सिद्धान्त सफलता के लिए परम आवश्यक है पर उसने परस्पर संघर्ष को एक पक्षीय माना है, पूर्ण सत्य नही। उसके विचार से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में परस्पर सहयोग ही एक वास्तविकता है जो सम्भव है।

(3) **मार्गेन्थ्यू के विचारों की आलोचना** (Criticism of Margenthau's ideas)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सम्बन्धी मार्गेन्थ्यू के यथार्थवादी दृष्टिकोण की अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। बैनोवासर मैन (Benno Wasserman), रावर्ट टकर (Robert Tucker), कनेथ वाल्ट्ज (Kenneth Waltz) आदि विद्वानों ने मार्गेन्थ्यू के यथार्थवाद को वैज्ञानि मानकर *"अनुमान पर आधारित" बताया है।*

मार्गेन्थ्यू के विचारों में विरोधाभास भरा हुआ है। एक ओर वह यथार्थवाद की ओर दौड़ लगाता है तो दूसरी ओर वह आदर्शवाद को भी छोड़ना पसन्द नहीं करता है। उनमें यथार्थ एवं आदर्श के समन्वय के साथ-साथ मूल्य परकता (Value Oriented) भी है।

मार्गेन्थ्यू राजनय को ही शान्ति स्थापना के लिए एकमात्र अस्त्र मानता है पर वह शायद यह भूल जाता है कि इस कुचक्र एवं शीत युद्ध की राजनीति में जो शक्ति संघर्ष पर आधारित है, किस प्रकार राजनैतिक शान्ति स्थापना के आदर्श को पालेगा।

यह भी कहा जाता है कि मार्गेन्थ्यू ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्तिवादी सिद्धान्त पर बहुत बल दिया है जिससे उसने राजनीतिज्ञों के उद्देश्यों व निजी दृष्टिकोणों की अपेक्षा की है। स्टैनले हालमैन (Stanlay Halmann) ने तो मार्गेन्थ्यू के विचारों को "शक्तिवाद अद्वैत" कहा है।

मार्गेन्थ्यू का "राष्ट्रीय हित" का सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है क्योंकि प्रथम तो यह मानव प्रकृति के समान ही परिवर्तनशील है, एवं अस्पष्ट है, उस पर राजनीतिज्ञों के व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, धारणाओं आदि का प्रभाव पड़ता है, इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय हितों को ही यदि सर्वोपरि माना जाय तो किसी भी कार्य को गलत नहीं माना जा सकता है। कुछ राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी भी कार्य को राष्ट्रीय हित के लिए विश्व में बवन्डर मचा दिया था। इस दृष्टिकोण के रखने के कारण मार्गेन्थ्यू के विचार अनैतिक हो जाते हैं एवं अन्य राष्ट्रों के लिए खतरनाक हो जाते हैं।

इतना होते हुए भी मार्गेन्थ्यू को विश्व राजनीति में प्रमुख स्थान प्राप्त है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का सैद्धान्तिक विश्लेषण करके व्यवस्थित अध्ययन करने की दिशा को निर्धारित किया है। थाम्पसन के शब्दों में "विगत कुछ वर्षों में प्रकाशित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सिद्धान्त-सम्बन्धी साहित्य सामान्यतः मार्गेन्थ्यू और उसके आलोचकों के मध्य विवाद मात्र है।

मार्गेन्थ्यू के पश्चात् भी अनेक लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिशास्त्र के विकास में सहयोग दिया एवं कुछ नई परम्पराओं को जन्म दिया। उन लेखकों में रिचर्ड स्नाइडर (Richard Snyder) का नीति-निर्धारण-परक दृष्टिकोण मार्टन कैपलान (Morton Kaplan) का निकाय-परक दृष्टिकोण (System Analysis), चार्ल्स मैक्ललैण्ड (Charles Maclelland) का सामान्य निकायपरक दृष्टिकोण (General system Approach) और जार्ज लिस्का (George Liska) का साम्यावस्थापरक दृष्टिकोण (Equilibrium school) आदि प्रसिद्ध है।

ये सभी दृष्टिकोण मार्गेन्थ्यू के यथार्थवादी दृष्टिकोण से बढ़कर है। परन्तु मार्गेन्थ्यू का योगदान सबसे महत्वपूर्ण, इसलिए है कि उसने आदर्शपरक व निकायपरक दृष्टिकोण के मध्य कड़ी का कार्य किया।

विश्व-राजनीति को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने की दृष्टि से भी मार्गेन्थ्यू महत्वपूर्ण है। कैनेथ वाल्ट्ज का मत है कि "मार्गेन्थ्यू ने किसी सिद्धान्त को प्रस्तुत करने की अपेक्षा उनके निर्माण के लिए सामग्री प्रस्तुत की है।"[1] कैनेथ थाम्पसन का कथन है कि "मार्गेन्थ्यू के विचार अभी विकास की अवस्था में है और सर्वाधिक विकास अभी होता है।"[2]

(4) **आदर्शवादी दृष्टिकोण** (Idealistic Approach)—आदर्शवादियों का विश्वास है कि आदर्शवादी समाज का विकास क्रमिक रूप से होता है। उनका यह भी मत है कि इतिहास

---

[1] Kenneth V. Waltz : *Review Dilemmas of Politics* p. 529.

[2] Kenneth W. Thompson : *Christian Ethics and Dilemmas of Foreign Policy*, p. 133

तथा दण्डनीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अस्थाई पक्ष मानना चाहिए। 1795 ई० में कान्डोर्स (Condorcet) ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया, उनका आदर्श स्वरूप "युद्ध, असमानता अत्याचार आदि से दूर तथा विवेक, शिक्षा, विज्ञान आदि से नियन्त्रित" था। आदर्शवादियों का यह भी कहना था कि भूतकाल के संघर्ष का कारण भी अन्य प्रभावी होना नहीं अपितु विरोधी आदर्शों व सिद्धान्तों में संघर्ष का होना रहा है।"

के० सी० गुप्त अपनी पुस्तक "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति" में विश्व को युद्धों से बचाने के लिए तीन मार्गों का सुझाव रखते हैं—(i) नैतिकता को बल देने वाले राष्ट्रों को विश्व में परम्परागत दण्डनीति के स्थान पर नैतिक सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए, (ii) लोकतन्त्र विरोधी सर्वाधिकारवादी शक्तियों का प्रभाव समाप्त होना चाहिए, तथा (iii) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना द्वारा दण्डनीति का ह्रास होना चाहिए।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता का समर्थन करने वाले तीन अन्य लेखक भी हैं—राइनहोल्ड नीबूर (Rainhold Niebur), हरबर्ट बटरफील्ड (Herbert Butterfield) तथा ई० एच० कार (E. H. Carr)। इनके तीन पक्ष है :

(i) राष्ट्रों का नैतिक मूल्यों के लिए प्रयास करना।

(ii) राष्ट्रीय हितों का आदान-प्रदान करना, एव

(iii) अत्याचार, संघर्ष अथवा युद्ध विरोधी नीति अपनाना।

आधुनिक युग में बर्टेण्ड रसेल (Bertrand Russell) ने तर्क व विवेक पर आधारित आदर्शवादी का पक्ष लिया है। वे लिखते हैं कि "वर्तमान अशान्तिमयी और असन्तोषजनक राजनीतिक स्थिति को सुधारने के लिए हमें अपने राजनीतिक आदर्श मे परिवर्तन करना होगा।"[2] रसेल अधिकार लिप्सा (Possessive Influence) के स्थान पर रचनात्मक प्रेरणाओं (creative or constructive Impulses) को पोषित करने के पक्ष मे थे। वे विश्व में शान्ति रखने के लिए नि:शस्त्रीकरण को आवश्यक मानते थे। उनका यह सुख स्वप्न था कि नि.शस्त्रीकरण हो जाने पर विश्व-सरकार का गठन होना आसान हो जायगा। वे लिखते है कि "एक दुनिया जो सुखों से भरी हो, उसका निर्माण मानवशक्ति से परे की बात नहीं, अचेतन प्रकृति द्वारा उत्पन्न बाधायें अजेय नहीं हैं। वास्तविक बाधायें तो मानव-मन में उपस्थित है, और इनका निवारण विचारों से युक्त दृढ़ आशा में है।"[3]

(5) **आदर्शवाद व यथार्थवाद : एक समीक्षा** (An Estimate of Idealism and Realism)—राष्ट्रीय हित तथा नैतिक दृष्टि में यह आवश्यक है कि आदर्शवाद एवं यथार्थवाद का समन्वय हो जाना चाहिए, क्योंकि कट्टर आदर्शवादिता संघर्ष एवं शक्तिलिप्सा की ओर ले जाने वाली होती है। इस विषय का समर्थन जान हर्ट्ज (John Hertz) ने यथार्थवादी उदारतावाद पर एक पुस्तक "राजनीतिक यथार्थवाद एवं राजनीतिक आदर्शवाद" (Political Realism and

---

1 K. C. Gupta : *International Politics*, p. 65.

2 "Men's political dealings with one another are based on wholly wrong ideals, and can only be saved by quite different ideals, from continuing to be a source of suffering, devastation and sin "—Bertrand Rassell : *Political Ideals*.

3 A world full of happiness is not beyond human power to create, the obstacles imposed by inanimate nature are not insuperable. The real ... in the heart of man, and the curefor these is a firm hope ... fortified by thought."—Bertrand Russell (*Roads to Freedom*)

Political Idealism) लिखकर किया है। इसमें यथार्थ की तथ्यात्मकता व राजनैतिक आदर्शवाद की नैतिकता व आदर्शवादिता का प्रतिपादन किया है। इसे "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" भी कहा गया है।

आधुनिक युग में दोनों वादों (आदर्शवाद एवं यथार्थवाद) का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि आज विश्व को सर्वांगीणों सिद्धान्त निकाय की आवश्यकता है जो केवल सन्तुलित दृष्टिकोण द्वारा ही सम्भव है अन्यथा युद्धों की विभीषिका विश्व के अस्तित्व को सदा ही आतंकित करती रहेगी।

(6) **समन्वयवादी दृष्टिकोण** (Eclectic Approach)—यह दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय (Sociological) पद्धति अपनाने पर बल देता है तथा बिना किसी पूर्व मान्यता के तटस्थ भाव से निरीक्षण, संग्रहण एवं विश्लेषण का सुझाव रखता है। विश्व घटनाओं के आधार पर विश्लेषण द्वारा किसी आधार पर पहुँचा है, परन्तु इसमें सभी पहलुओं के तथ्यों का समावेश होना चाहिए। इस दृष्टिकोण का समर्थन स्टैनले हाफमेन (Stainly Hoffmann) ने किया है परन्तु इसके प्रबल समर्थकों में पहले पेडेलफोर्ड (Padelford) तथा लिंकन (Lincoln) का नाम विशेष-तौर पर उल्लेखनीय है।

स्टैनले हॉफमेन (Stainlay Hoffman) ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चार विधायक तत्व माने हैं :

(i) किसी काल विशेष मे विश्व का राजनीतिक ढांचा।

(ii) उस राज्य के ढांचे को प्रभावित करने वाली आन्तरिक व बाह्य परिस्थितियाँ।

(iii) राज्य इकाइयों की घरेलू एवं वैदेशिक नीतियों का पारस्परिक सम्बन्ध, तथा

(iv) उपर्युक्त तीनों तथ्यों के सहयोग से अभिव्यक्त होने वाले राजनीतिक सम्बन्धों का स्वरूप।

हॉफमेन के मतानुसार, "किसी काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वरूप उपर्युक्त तीनों तत्वों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर रहता है, क्योंकि विश्व का राजनीतिक ढाँचा, राज्यों को प्रभावित करता है, राज्यों के आन्तरिक साधन जैसे भौतिक, सांस्कृतिक व ऐतिहासिक परम्परा, शैक्षिक-बौद्धिक नैतिक स्तर आदि तथा बाह्य परिस्थिति, उनकी घरेलू एवं वैदेशिक नीतियों को प्रभावित करती है; तथा इन सबका सम्मिलित प्रभाव विश्व राजनीति के ढांचे पर पड़ता है।"[1]

लिंकन व पैडेलफोर्ड (Lincoln and Padelford) ने भी लगभग हॉफमेन के अनुसार ही विचार व्यक्त किये हैं। उनका मत है कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, के अध्ययन का व्यवहारिक तरीका यही है कि राज्यों की आन्तरिक व बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करने वाले तथा उनके माध्यम से विश्व-राजनीति को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्वों को भली-भांति पहचानकर उसका सम्यक अध्ययन किया जाये।"[2]

इस प्रकार समन्वयवादी दृष्टिकोण, "विश्व के राजनीतिक स्वरूप के विचार से प्रारम्भ कर उसकी इकाई राज्यों तक आती है तथा इन इकाइयों के आन्तरिक साधन, बाह्य परिस्थिति,

---

[1] Stainlay Hoffmann : *International Relations* : 'The Long Road to Theory', World Politics, XI 3 April 1959, pp. 346-47.

[2] Norman J. Padelford and George Lincoln : *The Dynamics of International Politics*, p. 51.

घरेलू एवं विदेशी नीतियों आदि का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर दिखता है और अन्ततः प्रत्येक रूपान्तरित (Modified) स्वरूप का विवेचन करता है।

यथार्थवादियों को आदर्शवादियों का विवेक और आदर्शवादियों को यथार्थवादियों की बुद्धि ग्रहण करनी चाहिए। यह आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों को ऐसी नीति अपनाने को प्रेरित करेगा जो न यथार्थ के विपरीत हो और न नैतिक मूल्यों के पूर्ण प्रतिकूल।

3. निकायपरक दृष्टिकोण (System Approach)

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक चिन्तन मे "निकाय' (System) शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता है

(1) प्रथम अर्थ में, "विभिन्न राज्य मिलकर एक अन्तर्राष्ट्रीय निकाय का निर्माण करते है। राज्यों की क्रमिक स्थिति (Arrangement system) का प्रभाव उनकी गतिविधियों पर पड़ता है और उनकी गतिविधियाँ ही अन्तर्राष्ट्रीय ढांचे को एक विशेष स्वरूप प्रदान कर देती हैं। इस प्रकार विश्व व्यवस्था का ढांचा निष्क्रिय है परन्तु राष्ट्रों को गठित करने वाले तत्व सक्रिय होते हैं। सम्पूर्ण ढांचे की स्थिति को समझने के लिए उसे गठित करने वाले तत्वों का, उनके व्यवहारों का अध्ययन करना होगा, क्योंकि इनके अतिरिक्त ढांचे का कोई अस्तित्व ही नही है।"

(2) दूसरे अर्थ में, "ढांचा प्रधान है और वह अंगों (तत्वो) की गतिविधि का नियन्त्रण करता है, व अपने स्वरूप को निर्धारित रखता है। यह एक संविधान है जो अंगों, तत्वों की व्याख्या व निर्देशन करता है।"

(3) तीसरे अर्थ में, "निकाय का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन की विश्लेषण पद्धति विशेष से है। व्यवहारिक दृष्टिकोण से इनके अनुसार विश्व व्यवस्था को उत्तरोत्तर सुधारा जा सकता है, अधिकाधिक वैज्ञानिक व उपादेय बनाया जा सकता है।

पी० एस० गुड्मैन (P. S. Goodman) ने निकाय के निम्नलिखित तीन अर्थ बताये है—(1) वर्णन, (2) व्याख्या व (3) पद्धति।

इन तीनों बातों का समन्वय किया जाये तो गुडमैन के अनुसार निकाय की व्याख्या होगी—"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में मान्य वह व्यवस्था, जिसकी स्थिति को कुछ लोगों ने सम्भावित रूप से, तथा कुछ अन्य ने अध्ययन की सुविधा के लिए कल्पित रूप में माना है। इस व्यवस्था की व्यवहारिक उपयोगिता इस बात मे है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन और विश्लेषण के लिए सन्दर्भ के रूप मे उपयोगी सिद्ध हो सकने योग्य कुछ माडल हमारे सामने रख सकती है, तथा कुछ ऐसे नियमो की भी अवधारणा कर सकती है जिसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भावी दिशा के सम्बन्ध में पूर्वानुमान लगाया जा सके।"

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निकाय परक दृष्टिकोण का पांच रूपों मे अध्ययन किया जाता है :

(i) शक्ति-सन्तुलन-परक दृष्टिकोण (The Balance of Power Approach),

(ii) साम्यावस्था दृष्टिकोण (Equilibrium Theory),

(iii) द्विध्रुवीय दृष्टिकोण (Bi-Polar System),

(iv) विश्व निकायपरक दृष्टिकोण (Universal System Approach),

(v) कैपलान का षट् निकायपरक दृष्टिकोण (Morton Kaplan's six system Theory)।

(i) शक्ति-सन्तुलन-परक दृष्टिकोण (The Balance of Power Approach)—राष्ट्र अपनी हित-पूर्ति में तत्पर रहते हैं और उनमें परस्पर स्पर्धा प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष

रहता है। वे परस्पर एक दूसरे पर हावी होना चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विश्व में शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त का निर्माण होता है। संधियाँ व प्रतिसंधियाँ (counter alliances) शक्ति सन्तुलन के अन्य प्रकार हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कुछ राज्य सन्तुलन व स्थायित्व लाने में अधिक सहायक होते हैं। इस प्रकार यह "शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त" विश्व-राजनीति का सर्वमान्य सिद्धान्त है।

शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त 17वीं शताब्दी से आज तक राजनीति का आधार बना हुआ है। प्रथम विश्व से पूर्व इंगलैण्ड, फ्रांस एवं रूस ने एक ओर तो त्रिदलीय सन्धि तथा दूसरी ओर जर्मनी, इटली एवं आस्ट्रिया-हंगरी त्रिदलीय संधि शक्ति सन्तुलन बनाये हुये थी। पर टर्की ने जर्मनी का साथ दिया और अमेरिका ने इंगलैण्ड का साथ नहीं दिया, इससे शक्ति-सन्तुलन टूट गया। इसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्र (इंगलैण्ड, फ्रांस आदि) एक ओर थे और जर्मनी, इटली जापान दूसरी ओर थे। रूस ने मित्र राष्ट्र का साथ देने की बजाय जर्मनी का साथ दिया और शक्ति सन्तुलन भंग होते ही युद्ध छिड़ गया। प्रथम विश्व युद्ध में अमेरिका का मित्र राष्ट्र का साथ देना तथा दूसरी ओर में इटली का विश्वासघात करना जर्मनी की हार का कारण बना। द्वितीय महायुद्ध अमेरिका का पुनः मित्र राष्ट्रों का साथ देना तथा धुरी राष्ट्रों को रूस द्वारा विश्वासघात करना, जर्मनी की हार का कारण बना। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त ने शीत युद्ध का रूप ले लिया है। सैनिक सन्धियों, प्रतिसन्धियों के रूप में यह सन्तुलन आज भी बना है। एशिया, अफ्रीका के गुट निरपेक्ष (Non-aligned) राष्ट्र शक्ति-सन्तुलन में सन्तुलक (Balancer) की भूमिका निभा रहे हैं।

शक्ति सन्तुलन के तीन परिणाम प्रतीत होते है—(i) स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व (ii) बहुराज्य (Multi state) व्यवस्था के कारण किसी राज्य या राज्य-समूहों को किसी अन्य राज्य के अनावश्यक प्रभाव से बचाना, तथा (iii) युद्धों की पुनरावृत्ति को रोकना।

यदि राष्ट्र शक्ति सन्तुलन के नियमों को अपनाते रहे तो इसके लाभ निरन्तर प्राप्त होते रहेंगे। ये तीन नियम जो इन राष्ट्र-व्यवहारों में निहित हैं ये हैं—(i) राज्यों का आवश्यकतानुसार अन्य राज्यों से सम्बन्धों का परिवर्तन, वायदों तथा आस्थाओं का भी त्याग सम्भव, (ii) किसी राष्ट्र या गुट द्वारा अपने राष्ट्र-हित व शक्ति सन्तुलन को नष्ट होने से बचाने के लिये राष्ट्र की युद्ध तत्परता, एवं (iii) युद्ध में शत्रु राष्ट्रों को सदैव के लिये पूर्ण संहार से बचाना अन्यथा वहाँ विदेशी शक्ति रिक्तता को भरने के लिये आक्रामेंगी और हस्तक्षेप करेंगी। इस से युद्ध की सम्भावनायें जैसा कि द्वितीय महा युद्ध के बाद एशिया मे जापान की पराजय से साम्यवादी शक्ति ने रिक्त स्थान की पूर्ति कर दी।

शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त का समर्थन इतिहास भी करता है। जब-जब शक्ति-असन्तुलन हुआ है, तब-तब युद्धों का जन्म हुआ है। इस विषय में "पैडेल फोर्ड एवं लिन्कन" का कहना है कि "वैस्टफैलिया की संधि (1648), वियाना समझौता (1815), वार्साय की सन्धि (1919) तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना (1945) आदि सभी का आधार शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त ही था। नेपोलियन बोनापार्ट, कैसर विलियम हिटलर एवं मुसोलिन (और आज समाजवादी नेता) सन्तुलन के स्थान पर एक मात्र अपना ही प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे हैं।"[1]

परन्तु चार्ल्स राबर्टसन (Charles Robertson) शक्ति सन्तुलन के दृष्टिकोण बीते हुये समय की बात बताकर उसका बहिष्कार करता है। उसका कहना है कि "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में परम्परागत शक्ति-सन्तुलन की सार्थकता शेष नहीं प्रतीत होती है। आज विश्व में 130 से अधिक स्वतन्त्र राष्ट्र हैं जिनमें परस्पर सांस्कृतिक विभिन्नतायें होने के कारण अधिक राजनीतिक

[1] J. N. Padelford and G. A. Lincoln : *The Dynamics of International Politics* p. 298.

निकटता नहीं हो पाती। इसकी तुलना में यूरोप में शक्ति-सन्तुलन अधिक सांस्कृतिक निकटता पर आधारित था। इसके अतिरिक्त विदेश नीति निर्धारक आज नीति निर्धारण करने में उतने स्वतन्त्र नहीं हैं जितने विश्व युद्ध से पूर्व थे।"[1] आगे रावर्टसन यह भी कहता है कि, "शक्ति सन्तुलन युग के विपरीत आधुनिक शस्त्र, राज्यों को आसानी से नष्ट कर सकते हैं। छोटे-छोटे राज्य भी इस दिशा में कार्यवाही कर सकते हैं।"[2] तथापि शक्ति सन्तुलन ऐसा सार्वभौमिक नियम है जिसे सब मानते हैं और जिसके लिये सब प्रयत्न करते हैं। यह संसार में यथा स्थिति को कायम रखता है और इसके समाप्त होने से ही शान्ति भंग होती है।

साम्यावस्थापरक दृष्टिकोण (Equilibrium Approach)—साम्यावस्थापरक दृष्टिकोण भी शक्ति सन्तुलन का एक रूप ही है। इसके अनुसार विश्व की परस्पर विरोधी शक्तियाँ एक दूसरे को प्रभावहीन करते हुये एक विशेष रूप में रहती है। क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने साम्यावस्थापरक (Equilibrium) की परिभाषा देते हुये कहा है कि "यह एक इकाई अथवा इकाइयों के समूह पर प्रभाव डालने वाली शक्तियों का वह पारस्परिक सम्बन्ध है जिसके कारण व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार की स्थिरता बनी रहती है।"[3]

राबर्टसन के विपरीत जार्ज लिस्का (George Liska) कहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों मे शक्ति सन्तुलन की प्रवृत्ति पायी जाती है। उसका विश्वास है कि, "आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक समुदाय, व्यक्ति विशेष, राजनीति, सामरिक क्षमता आदि सभी तत्व विश्व राजनीति मे सन्तुलन लाने मे सहायक होते हैं।" लिस्का ने इसका नाम "बहुल साम्यवाद" (Plural Equilibrium) दिया है। लिस्का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन मे दो तत्त्वों का विशेष ध्यान रखने का सुझाव देता है। ये तत्त्व हैं—

(अ) राष्ट्रों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में विचार,

(ब) उनकी शक्तियाँ एवं परिस्थितियाँ।

लिस्का यह भी मत प्रकट करता है कि "अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों की प्रवृत्ति मात्र ही नहीं है, बल्कि उसे सचेत प्रयत्न द्वारा भी स्थापित किया जा सकता है।"

अन्य विद्वान साम्यावस्था के दो भेद बताते है :—

(क) सामान्य साम्यावस्था (General Equilibrium)

(ख) संरचनात्मक साम्यावस्था (Constitutional Equilibirum)

सामान्य साम्यावस्था का अर्थ बताते हुए क्विसी रॉयट ने कहा है—कि "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विभिन्न तत्त्वों मे सन्तुलन की सहज प्रवृत्ति होती है।" संरचनात्मक साम्यावस्था का आशय यह है कि "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विभिन्न तत्वों में या तो साम्यावस्था मौजूद होती है या उसे उसमें लाया जाता है।" मार्टन कैपलान (Morton Kaplan) ने संरचनात्मक सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विश्लेषण अथवा विवेचन का आधार बनाया है। लिस्का भी कहता है कि "संरचनात्मक सन्तुलन का तात्पर्य, बहुत सीमा तक एक उपयुक्त शक्ति-सन्तुलन है।"

दृष्टिकोण की समीक्षा (Criticism of the Approach)—साम्यावस्था दृष्टिकोण की विद्वानों ने आलोचना की है। "स्टेनले हाफमैन" ने लिखा है कि "साम्यावस्था सिद्धान्त उसी दशा

---

1 Charles J Robertson : *International Politics since World War II*, (New York—1966) p. 14,

2 Charles J. Robertson : *Ibid.*

3 "Equilibrium is a relationship among the forces operating upon or within an entity of groups or groups of entities so that the whole manifests in so degree some form of stability'—*Quincy Wright.*

से सार्थक हो सकता है जब मानव व्यवहार को किन्हीं सुनिश्चित व सुस्पष्ट नियमों द्वारा निर्धारित किया जा सके। वहाँ मानव स्वभाव अनिश्चित है, वहाँ इस प्रकार के सिद्धान्त अथवा दृष्टिकोण का कोई विशेष उपयोग नहीं। इस समय तो इसके समर्थन में इतना ही कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी व्यवस्था की ओर इशारा अवश्य करता है।"[1]

(iii) **द्वि-ध्रुवीय दृष्टिकोण** (Bi-Polar Approach)—द्वि-ध्रुवीय (Bi-Polar) व्यवस्था भी शक्ति-सन्तुलन का ही एक प्रकार है। इस सिद्धान्त का जन्म, 1942 में उस समय हुआ, जब द्वितीय विश्व युद्ध में धुरी राष्ट्र (Axis Powers) मित्र राष्ट्रों (Allied Powers) से लड़ रहे थे। विश्व युद्ध के बाद भी साम्यवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्था के रूप में द्वि-ध्रुवीय स्थिति बनी रही। कुछ राष्ट्र तटस्थ हैं जो अपना पक्ष परिवर्तित करते रहते हैं।

इस व्यवस्था की भी दो अवस्थायें होती हैं—दृढ़ अवस्था (Tight state) तथा शिथिल अवस्था (Loose state)।

प्रथम अवस्था में सभी राष्ट्र स्पष्टतः किसी न किसी गुट या ध्रुव के साथ बंध जाते हैं। संकटावस्था में अपने ध्रुव का पक्ष लेते हैं। दूसरी अवस्था अर्थात् शिथिल अवस्था (Loose state) विश्व की वस्तु स्थिति का विचार करती है। राष्ट्र गुटों में बँटे रहते हैं लेकिन विशेष स्थिति में वे किसी भी गुट के साथ सहयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिये हम भारत को ले सकते हैं जो किसी भी स्थिति में अपनी विशिष्ट नीति अपनायेगा।

द्वि-ध्रुवीय दृष्टिकोण में यह माना जाता है कि विभिन्न विचार धारायें तथा शक्ति लिप्सा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रेरक तत्व हैं। इन तत्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जटिलताएँ पैदा होती हैं। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक का दो शिथिल गुटों में बँटना और गुट निरपेक्ष राज्यों का पृथक वर्ग होना आदि इसी दृष्टिकोण का सूचक है।"

इस सिद्धान्त की भी कटु आलोचना की गई है। आलोचक कहते हैं कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिये द्वि-ध्रुवीय दृष्टिकोण उपयुक्त नहीं है क्योंकि आज की स्थिति में बहु-ध्रुवीय अवस्था (Multi-polar system) पायी जाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ, उत्तर एटलांटिक संधि संगठन, यूरोपीय साझा बाजार आदि का गठन इसका द्योतक है। आज स० रा० अमेरिका, सोवियत यूनियन, जनवादी चीन, जापान एवं भारत आदि देश स्वयं अपने आस-पास के राष्ट्रों का शक्ति केन्द्र (ध्रुव) बनते जा रहे हैं।"

(iv) **विश्व विवादपरक दृष्टिकोण** (Universal system Approach)—आधुनिक युग में आदर्शवाद या आशावाद में यह धारणा पायी जाती है कि विश्व एक समुदाय है। विश्व बन्धुत्व के साथ-साथ राष्ट्रोत्तरवाद (supernaturalism) भी समन्वित है। यह सिद्धान्त सम्पूर्ण मानव जाति की समस्याओं के अध्ययन पर बल देता है। राष्ट्रोत्तरवादी होने के कारण यह राज्यों की प्रभुसत्ता को समाप्त कर एक विश्व संघ बनाने का सुझाव देता है।

विश्व-निकाय-परक दृष्टिकोण में मानव को इकाई माना जाता है तथा विश्व समाज की स्थापना करना चाहता है। वह राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुतावाद को समाप्त करने के पक्ष में है। अपनी बात की पुष्टि में इस मत के मानने वाले इतिहास का मत प्रस्तुत करते हैं कि जब रोम साम्राज्य में विश्व बन्धुत्व की स्थिति मौजूद थी जिसके अन्तर्गत विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय जातियाँ एवं संस्कारो के लोग रहते थे। रोम साम्राज्य के पतन के बाद राष्ट्रवादी शक्तियों ने फिर सिर उठाया।

19वीं शताब्दी में उद्योगवाद और राष्ट्रवाद की भावना पुनः शिथिल पड़ने लगी। बाजारों की खोज और कच्चे माल के लिये क्षेत्रों की खोज ने उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद को

---

[1] Stainlay Hoffmann : *Contemporary Theory of International Relations* pp.50-51.

बढ़ावा दिया लेकिन साथ मे संघर्ष एवं युद्ध भी हुये । परन्तु आज युद्ध संयन्त्र इतना बढ़ गया है कि इसका अर्थ विश्व का सर्वनाश या भारी नुकसान होगा । सबके हित परस्पर जुड़ गये हैं । राष्ट्रीयता एवं प्रभुसत्ता की धारणाएँ पुरानी पड़ गयी हैं । यही विश्व निकायपरक दृष्टिकोण का सार है ।

समीक्षा—यह दृष्टिकोण ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित है । इसने अनेकों विश्व-संघों को जन्म दिया जैसे कि विश्व डाक संघ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, विश्व स्वास्थ्य संघ संयुक्त राष्ट्र संघ आदि । संयुक्त राष्ट्रसंघ ने द्वि-ध्रुवीयकरण को समाप्त कर विश्व बन्धुत्व की भावना को बढावा दिया है । युद्ध की भयानकता ने अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव व सहयोग को बढ़ावा दिया है ।

इस दृष्टिकोण की एक बड़ी दुर्बलता यह है कि यह मानव-मनोविज्ञान व समाज-शास्त्रीय तत्वों की अवहेलना कर आदर्शात्मक रूप प्रस्तुत करता है जो अधिक काल्पनिक है ।

(v) कैपलान का षट्निकायपरक दृष्टिकोण (Kaplans six system approac'h)—मार्टन कैपलान का मत है कि "विश्व राजनीति में एक क्रम व सम्बद्धता बने रहेगी जिसमें दो बातें अन्तर्हित हैं—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और राष्ट्र-राज्य व्यवस्था । राष्ट्रों की यह भूमिका परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है जिसकी व्याख्या के लिए कैप्लान ने छ: मत सुझाये हैं :

(अ) शक्ति सन्तुलन निकाय (The Balance of Power system)
(ब) शिथिल द्वि-ध्रुवीय निकाय (Loose Bi-polar system)
(स) दृढ़ द्वि-ध्रुवीय निकाय (Tight Bi-polar system)
(द) अन्तर्राष्ट्रीय संस्था निकाय (International actor system)
(य) श्रेणीबद्ध अन्तर्राष्ट्रीय निकाय (The Hierarchical International system)
(न) इकाई निषेधाधिकार निकाय (The unit veto system)

कैपलान का दावा है कि इस दृष्टिकोण के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के भूत, वर्तमान व भविष्य का सही विवेचन किया जा सकता है । इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम राष्ट्र-राज्य व्यवस्था के साथ ही आवश्यकतानुसार शक्ति सन्तुलन व्यवस्था स्थापित हुई । इसके बाद शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था के विघटित होने पर द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था स्थापित हुई जो अन्तर-राष्ट्रीय संघ और श्रेणीबद्ध निकाय व इकाई-निषेधाधिकार सस्था में बदल गयी ।

1648 से राष्ट्रीय राज्यों का गठन हुआ जो 19वीं शताब्दी तक चलता रहा । इसमे शक्ति सन्तुलन प्रक्रिया चलती रही । अधिकाशतः शक्ति सन्तुलन की स्थिति में राष्ट्रों का विभाजन दो क्षेत्रो के रूप मे रहा । शक्ति सन्तुलन की स्थिति में राष्ट्रों को कम से कम छः नियमों का पालन करना आवश्यक है ।

(क) राजनय के माध्यम से राष्ट्र-क्षमता में वृद्धि । (ख) राष्ट्रहित का विचार सर्वोपरि व रक्षा के लिए तत्पर । (ग) युद्ध होने पर शत्रु राज्य का सर्वनाश न करना । (घ) राष्ट्रों द्वारा किसी एक का शक्ति-आधिपत्य स्थापित न होने देना । (ङ) किसी भी राष्ट्र या राष्ट्रों को राष्ट्रोत्तर निकाय बनाने से रोकना तथा (च) हारे हुए राष्ट्रों को इस शक्ति निकाय में पुनः सम्मिलित करना आदि ।

यदि उपर्युक्त नियमों की उपेक्षा की गयी तो शक्ति सन्तुलन निकाय भंग हो जाने की सम्भावना रहती है । दृढ़ ध्रुवीकरण मे तो शक्तिगुट के अन्तर्गत मतभेद की गुंजाइश नही रहती परन्तु शिथिल ध्रुवीकरण मे यह सम्भावना बनी रहती है । यह शक्ति सन्तुलन के किसी अन्य स्थायी व्यवस्था में परिवर्तित होने के मध्य की अवस्था है । इस अवस्था में प्रत्येक शक्ति गुट का एक (राज्य) नेता होता है जो शक्ति सन्तुलन अवस्था मे नही होता । इसमें विभाजन स... विचारधारा के आधार पर होता है । इसके अतिरिक्त इसमें गुट परिवर्तन कठिनाई मे होता है

द्वि-ध्रुवीय अवस्था में तीसरे गुट तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनने की सम्भावना रहती है जबकि दृढ़ द्वि-ध्रुवीय संगठन में निरपेक्ष गुट-राष्ट्र भी किसी के साथ मिल जायेगा और केवल दो गुट रह जायेंगे।

यदि प्रमुख राष्ट्रों के व्यवहार के कारण द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप मे गठित होती है तो यह स्थिति विश्व-स्तर पर संघीय शासन की होगी जो सभी जिम्मेदारियों को निभायगी और यदि अन्तर्राष्ट्रीय सस्था-निकाय मे परिवर्तित होने के बाद यह छिन्न-भिन्न हो जाय तो वह आगे श्रेणीबद्ध निकाय का रूप ग्रहण कर लेती है। यह व्यवस्था निर्देशात्मक (Non-directive) हो सकती है। निदेशात्मक व्यवस्था का निर्माण विश्व-विजय द्वारा तथा अ-निदेशात्मक निकाय में एक राष्ट्र हावी होगा।

समीक्षा—कैपलान का षष्टनिकाय-परक सिद्धान्त उपर्युक्त छः निकायों का समन्वय है। अणुविकास व शक्ति-संघर्ष को देखते हुए मार्टन कैपलान ने श्रेणीबद्ध निकाय व इकाई निषेधाधिकार की धारणा व्यक्त की है। कैपलान का यह सिद्धान्त तीन मान्यताओं पर आधारित है—(i) राष्ट्रों की शक्ति लिप्सा (ii) अणु-शस्त्रों को पाने की तीव्र लालसा, एवं (iii) सामान्य सद्बुद्धि के आधार पर विश्व एकता की स्थापना।

इन मान्यताओं के आधार पर कैपलान (Kaplan) ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विकास की कल्पना की है जिसमें राष्ट्रीय हित की कल्पना एक गतिहीन (Static) धारणा के रूप में की है, जो कि एक त्रुटि है क्योंकि राष्ट्रीय हित की धारणा अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित हो सकती है।

4. **नीति विज्ञानपरक दृष्टिकोण** (Policy science Approch)

नीति विज्ञानपरक दृष्टिकोण का विकास संयुक्त राज्य अमरीका मे हुआ। अमेरिकन विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के गठन और वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में समाजशास्त्र, मानव विज्ञान, मनोविज्ञान आदि की प्रणालियों को समन्वित कर इस दृष्टिकोण को अपनाया। इस पद्धति का प्रयोग किसी देश की विदेश नीति को निर्धारित करने में किया जाता है जो उस देश के लोगों, उनके चरित्रों, उनकी आकांक्षाओं, नेतृत्व सामाजिक एवं शासकीय अवस्था आदि से प्रभावित होता है।

नीति विज्ञानपरक दृष्टिकोण मे निम्नलिखित चार पद्धतियों का विकास हुआ है—

(1) व्यवहार परक दृष्टिकोण (Behavioural approach)

(2) खेल पद्धति (Game Theory)

(3) सौदेबाजी का सिद्धान्त (Bargaining Theory)

(4) नीति निर्धारण व नीति नियोजन (Decision making and Policy Planning)।

(1) **व्यवहारपरक दृष्टिकोण**—इस पद्धति में किसी भी देश की विदेश नीति वहां के लोगों की मूल प्रवृत्तियों एवं वातावरण को प्रतिबन्धित करती है। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मानव शास्त्र आदि द्वारा समाज एवं मानव-मन का विशेष ज्ञान प्राप्त किया जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र की होने वाली घटनाओं का पूर्वानुमान करने में सहायक हो। सांस्कृतिक एवं भावनात्मक पक्षों आदि का देश के चरित्र और व्यवहार पर प्रभाव का भी अध्ययन किया जाता है।

इस विचार परम्परा में प्रो० न्यूमैन, प्रो० ई० कारबेट, हैराल्ड लास्वेल और रथ बैनेडिक्ट आदि विद्वानों ने विचारात्मक सहयोग दिया है। प्रो० सिगमण्ड का विचार है कि "जो भावनात्मक दृष्टिकोण मे अपने को समाज मे अलग-अलग मानते है, वे शान्ति और

अव्यवस्था फैलाने में जल्दी प्रवृत्त हो जाते हैं। हिटलर ने ऐसे ही लोगों को संगठित कर विश्वयुद्ध में झौंक दिया।"

इस पद्धति की उपयोगिता ने इसके अध्ययन की तीव्र गति से विकसित होने में बड़ी सहायता दी है। बड़े-बड़े राष्ट्र गुप्तचर व्यवस्था के माध्यम से भी राजनेताओं के व्यक्तित्वों का अध्ययन करते हैं और उनके नेतृत्व की नीतियों का पहले ही पता लगा लेते हैं।

(2) **खेल सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के प्रमुख विचारक मार्टिन शूबिक (Martin Shubek), कार्ल ड्वाइश (Karl W. Deutsch) आदि हैं। इसमें परस्पर विरोधी राज्यों को दो दलों के रूप में कल्पित करके एक-दूसरे की चालों का अनुमान लगाया जाता है। पक्ष के बल, कौशल, स्थिति आदि की पूर्ण जानकारी प्राप्त की जाती है तथा उसकी गति-विधि का अनुमान लगाकर विपक्ष की चालों को विफल किया जाता है।

इस खेल सिद्धान्त में कुछ प्रमुख धारणाएँ होती है जैसे परस्पर विरोधी गुटों का अस्तित्व, तर्कपूर्ण व्यवहार; रणनीति, उद्देश्य, गठबन्धन, सूचना, हल और मूल्यांकन।

इस खेल सिद्धान्त का सर्वाधिक उपयोग इस दृष्टि से है कि यह प्रतिपक्षी द्वारा चली जा सकने वाली चालों का अधिक तर्क संगत तरीके से अनुमान लगाने में सहायक रहता है। परन्तु यह वहीं तक सफल होता है जहाँ तक चालें तर्क संगत होती है। अतर्क संगत चालें होने पर पूर्वानुमान लगाना कठिन हो जाता है। इसी कमी के कारण राज्यों की नीति निर्धारण प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

कार्ल ड्वाइश (Karl W. Deutsch), मॉर्टिन शूबिक (Martin Shubek), ऑस्कर मार्गेन्सटर्न (Oscar Morgenstern) आदि विद्वानों ने सैन्य विज्ञान में इसका बहुत प्रयोग किया है। इसमें सैनिक प्रशिक्षण काल में विरोधी-संगठनों की भूमिका निभाते हुए आक्रामक व सुरक्षात्मक चालों-प्रतिचालों (Moves and Countermoves) को चलाते हैं।

टॉमस शेलिंग (Thomas Shelling) ने खेल सिद्धान्त की कमियों का उल्लेख किया है। उसके विचार से अचानक आक्रमण आणुविक धमकी, सीमित युद्ध, युद्ध निरोध (Deterrance) जैसी स्थितियों के विषय में अध्ययन नहीं किया गया है। इसलिए क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने कहा है कि "यदि खेल सिद्धान्त के आधार पर शीत युद्ध का विश्लेषण कर हम अपनी विदेश नीति निर्धारित करेंगे तो गतिरोध की स्थिति समाप्त न होकर हमें असफलता हाथ लगेगी। इससे हम सम्पूर्ण विश्व के विनाश के कगार पर खड़े होंगे, क्योंकि यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिल समस्याओं को सुलझाने में सफल नहीं हुआ है।"

(3) **सौदेबाजी का सिद्धान्त**—टॉमस शेलिंग ने खेल के सिद्धान्त की अपूर्णता बताते हुए सौदेबाजी की पद्धति सुझाई है। टामस अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख तत्व संघर्ष को मानता है। जब दो विरोधी गुट या राष्ट्र अपने-अपने दावे करते हैं जो परस्पर अमान्य होते हैं तो उन्हें हित पूर्ति के लिए संधि वार्ता का रुख अपनाना पड़ता है। साम, दाम, दण्ड एवं भेद आदि नीतियों का सहारा लेकर अपने पक्ष को बुरी से बुरी स्थिति में भी लाभान्वित कैसे किया जाये?

राजनीतिज्ञों ने बहुत से सुझाव इन वार्ताओं के विषय में प्रस्तुत किये हैं। उनका मत है कि वार्ता के समय अपने दावों को कम नहीं करना चाहिए। कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार अपनी स्थिति को दृढ़ एवं स्थिर रखते हुए दावों में कमी करने को तैयार रहना चाहिए। जोसेफ नोगी (Joseph Nogee) ने इसे अर्धसंधिवार्ता (Quasi-Negotiations) का नाम दिया है जिसमें वार्ता दोनों पक्षों में कोई समझौता न कर पाये, दोनों ऐसी शर्तें रखें जो एक दूसरे को अमान्य हों तो ऐसी शर्तें जोकर कहलाती है। अपने पक्ष को छोड़े बिना दोनों ही अपने को शान्तिवादी या वादी बताते हैं।

1930 के बाद से प्रायः सभी देशों ने वार्ताओं के सहारे से निर्णय लेना प्रारम्भ कर दिया था। यह सिद्धान्त राजनीतिक इतिहास वाली पद्धति का परिष्कृत स्वरूप है। इसका आधार संधि वार्ता है जो राजनय का ही अंग है। चतुर राजनेता सदैव ही अपने बड़े-बड़े दावे प्रस्तुत करते हैं और अन्य पक्षों से अपनी मांगे मनवाने का प्रयास करते रहते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अनेक विद्वानों ने किया है जिनमें प्रमुख टामस शेलिंग, आर्थर सी० वर्न्स, जोजेफ नोगी, फ्रेड इक्ले आदि विशेष हैं।

सौदेबाजी के सिद्धान्त में संघर्षों के अर्थ देने की कोशिश की गई है पर इस सीमित दृष्टिकोण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करना सम्भव नहीं।

(घ) नीति निर्धारण और नीति नियोजन दृष्टिकोण—यह दृष्टिकोण राज्यों के पारस्परिक व्यवहार की असंगतियों का हल सुझाता है। विदेश नीति की तह में जाता है तथा विश्लेषण करता है। विदेश नीति में निम्न तत्व होते हैं :

(1) उद्देश्य, (2) निर्धारक, (3) निर्धारण के सिद्धान्त, (4) निर्धारण प्रक्रिया, (5) सफलता के लिए आवश्यक साधन, (6) राष्ट्र की आन्तरिक (साधन, क्षमता आदि) तथा (7) बाह्य परिस्थितियों की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं आदि की पूर्ति में सहायक अथवा बाधक बनता है।

स्प्राउट के मतानुसार किसी देश की विदेश नीति को समझाने के लिए परिस्थितियों का विचार करना आवश्यक है।

बर्नार्ड कोहन (Bernard Cohen) इसके विपरीत मत रखते हैं उनका कहना है कि देश की आन्तरिक परिस्थितियाँ विदेश नीति की निर्धारक होती हैं जिनमें पाँच तत्वों का विशेष महत्व होता है :

(i) विधायिका से सम्बन्धित समिति,
(ii) कार्यपालिका से सम्बन्धित अधिकारी,
(iii) दबाव गुट (Pressure groups) और निहित स्वार्थ समुदाय (interest group),
(iv) जन-सम्पर्क के साधन, तथा
(v) लोकमत।

इस मत को अमेरिका की नीति-निर्धारण की प्रक्रिया पर आधारित किया जाता है।

हैराल्ड लासवेल (Herald D. Lasswell) नीति निर्धारण करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व का अध्ययन करने पर बल देते हैं। उनके मतानुसार नेपोलियन, हिटलर, स्टालिन आदि राज [illegible]। अतः
उस [illegible]।

समीक्षा—यह पद्धति अन्य पद्धतियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट व उपयोगी है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझाने के लिए कुञ्जी का कार्य करती है। ऐसी सामग्री व आँकड़े प्रस्तुत करती है कि जिससे नीतियों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। यह पद्धति मुख्यतः अमेरिका में प्रचलित है। स्नाइडर, ब्रुक एवं सेपिन, डेविड ट्रूमैन आदि विद्वानों ने प्रचुर साहित्य इस दिशा में संचित किया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए किन-किन दृष्टिकोणों का सहारा लिया जाता है। इनमें इतिहासपरक दृष्टिकोण तथा उसके विकास में बाधाओं का वर्णन कीजिए।
   Which are the study-approaches, used in the International politics ? Describe the Historical Approach and the obstacles in its development.

2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए दार्शनिक दृष्टिकोण का परीक्षण कीजिए। आपके विचार में यह कहाँ तक सन्तोषजनक है ?
   Examine the philosophical approach to the study of International politics. How far do you consider them satisfactory ?
3. आप यथार्थवादी दृष्टिकोण से क्या समझते हैं। इस सम्बन्ध से मार्गेन्थ्यू के षट्ट सिद्धान्तों का हवाला देते हुए उसके अन्तर्राष्ट्रीय यथार्थवाद का परीक्षण कीजिए।
   What do you mean by a Realistic Theory ? Examine in this context the six principles of Morgenthau, elucidating political realism.
4. आदर्शवादी दृष्टिकोण एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्या महत्व है ? स्पष्ट कीजिए।
   What is the importance of Idealistic Approach and Eclectic Approach to the study of International politics ? *Explain.*
5. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए निकायपरक दृष्टिकोण का परीक्षण कीजिए।
   Examine the system approach to the study of International Politics.
6. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए नीति-विज्ञान-परक दृष्टिकोण किस सीमा तक उपयोगी है ? विवेचना कीजिए।
   To what extent the Policy Science Approach is useful for the study of International Politics ? Discuss critically.

4

आधुनिक राज्यव्यवस्था : राष्ट्र-राज्य, राष्ट्रवाद व प्रभुसत्ता
(Modern State System : Nation-state, Nationalism and Sovereignty)

"वास्तव में, वर्तमान राज्य-व्यवस्था के सम्पूर्ण व्यवहार को राष्ट्रीय आशायें, राष्ट्रीय आकांक्षायें, राष्ट्रीय आशंकायें और राष्ट्रीय संघर्ष जैसे कुछ शब्दों के माध्यम से बहुत कुछ समझा जा सकता है।"

—वाल्टर आर. शार्प एवं ग्रेसन किर्क

"A nation is a group of people with a feeling of solidarity among themselves and a sense of distinctness from others."

—Charles P. Schleicher.

राष्ट्र-राज्य एवं उनका वर्गीकरण
(Nation States and their Classification)

राष्ट्र-राज्य (Nation States)—वर्तमान राष्ट्र राज्यों का स्वरूप अनेक शताब्दियों के विकास का परिणाम है। राष्ट्र राज्यों का उदय पुनर्जागरण एवं ईसाई धर्म-सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप हुआ। प्राचीन काल में रोमन साम्राज्य का उदय ईसा से तीन सौ ई० पूर्व हुआ था। ईसाई धर्म के उदय से रोमन सम्राटों ने चौथी शताब्दी में ईसाई-धर्म को स्वीकार कर लेने से रोमन साम्राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य में बदल गया पर रोमन साम्राज्य पर ट्यूटनों के आक्रमण से वह साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था। इतना होने पर भी रोमन सम्राटों का अस्तित्व बना रहा पर उसमें सामन्तों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। 10वीं शताब्दी बाद पोप की शक्ति और राजाओं का संघर्ष छिड़ा। 400 वर्षो तक यह संघर्ष चलता रहा और इस संघर्ष में पोप की सत्ता ही सर्वोपरि रही। अन्त मे धर्म-सुधार आन्दोलन चला और इस आन्दोलन में पोप की सत्ता को चारों ओरों से चुनौतिया दी जाने लगी। राजाओं ने अवसर देखकर पोप की सत्ता को समाप्त कर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। इस प्रकार आधुनिक यूरोपियन राज्य-व्यवस्था का जन्म हुआ। यूरोप में तीस वर्षीय युद्ध की समाप्ति पर, अराजकता का साम्राज्य फैला और इसी का लाभ उठाकर इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मन तथा अन्य छोटे-छोटे क्षेत्रों मे राष्ट्र-राज्यों की स्थापना हुई। इन्हें स्वतन्त्रता, क्षेत्रीय अखण्डता एवं सर्वाधिकार सम्पन्नता प्राप्त हुई। अपनी सुरक्षा, राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, युद्ध, वाणिज्य, सम्पन्नता और संस्कृति विकास आदि के लिये स्वयं ही उत्तरदायी थे। धीरे-धीरे राष्ट्र-राज्यों की व्यवस्था विश्व-व्यापी बन गई। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन का आधार वस्तुतः इन्ही राष्ट्र-राज्यों के आवरण हैं।

आधुनिक विश्व-राजनीति के ढांचे की मूल-भूत इकाई सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य ही है जो राष्ट्रीय हितों से प्रेरित होकर विभिन्न प्रकार का आचरण करता है। कानूनी दृष्टि से राष्ट्र-राज्य

पूर्ण प्रभुता सम्पन्न एवं स्वाधीन होता है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इन्ही सम्प्रभु राष्ट्रों द्वारा परस्पर अपनाई गई नीति से निर्धारित होती है।

राज्य-व्यवस्था को ही विद्वानों ने 'पाश्चात्य राज्य व्यवस्था' तथा 'राष्ट्र राज्य-व्यवस्था' का नाम दिया है। दूसरे शब्दों मे 'मानव के राजनीतिक जीवन का वह ढांचा जिसमें संगठित होकर विश्व के विभिन्न समुदाय परस्पर व्यवहार चलाते है, राज्य-व्यवस्था कहलाती है। पामर एवं पार्किन्स के मतानुसार "राज्यावस्था राजनीतिक जीवन का वह ढंग है जिसमें सम्प्रभु राज्यों में पृथक रूप से संगठित हो जाते है। यह राज्य संगठन अपनी प्रभुसत्ता, राष्ट्रीय सम्मान व आर्थिक हितो की रक्षा के लिए दूसरे राज्यों पर दवाव डाल सकने योग्य शक्ति का अर्जन करता है जिसे राष्ट्र शक्ति कहते हैं। शान्ति समझौतों के असफल होने पर सम्प्रभु राष्ट्रों को अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा व पूर्ति हेतु युद्ध व शान्ति बनाये रखने का पूर्ण अधिकार होता है। अतएव विश्व-राजनीति के विचारक को सही निर्णय लेने के लिए राज्य का स्वरूप, विविध राज्यो मे परस्पर अन्तर, शक्ति-मत्ता के आधार पर उनका वर्गीकरण तथा राज्य-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का अवश्य विचार करना चाहिये।"

राज्य की परिभाषा (Definition of States)—राज्य अंग्रेजी शब्द 'स्टेट' का हिन्दी रूपान्तर है। यह शब्द ट्यूटन जाति द्वारा प्रयुक्त शब्द स्टेट्स (status) से निकला है। स्टेट शब्द का प्रयोग व्यापक रूप मे 16वीं शताब्दी के उपरान्त हुआ। आजकल राज्य शब्द का प्रयोग वहुत व्यापक रूप से होता है वहुधा इसे राष्ट्र (Nation), समाज (Society), देश (Country) और शासन (Government) के पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त किया जाता है, यद्यपि इन शब्दों के अर्थो में वड़ी भिन्नता है। यहा हम राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से राज्य का अर्थ यह लगाते हैं कि "राज्य का अर्थ ऐसे समुदाय (Community) या समाज (Society) से है जो एक स्वतन्त्र शासन के अधीन किसी निश्चित भू-भाग में राजनीतिक रूप से संगठित है।"[1]

राज्य शब्द की परिभाषा अनेक विद्वानों ने भिन्न प्रकार से दी है, कुछ परिभाषाएँ यहाँ दी जाती है। अरस्तू के शब्दो मे "पूर्ण एवं स्वावलम्वी जीवन के लिए परिवारों और गांवों का संघ, राज्य है।"[2] ग्रोशियस के मतानुसार "राज्य उन स्वतन्त्र व्यक्तियों का पूर्ण समाज है जो औचित्य और सामान्य उपयोगिता के लाभों का उपभोग करने के लिए मिलकर रहते हैं।"[3] वोदा ने राज्य शब्द की परिभाषा इन शब्दों में की है कि "राज्य एक ऐसा संघ है जो परिवारों और उनके सामान्य धन-सम्पत्ति का संगठित रूप है और जो सर्वोच्च शक्ति और बुद्धि से शासित होता है।"[4]

इन परिभाषाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि राज्य जनता के उस निकाय को कहा जाता है जो एक निश्चित क्षेत्र में रहता है तथा एक सरकार के अधीन राजनीतिक रूप से संगठित है एवं जिसे सम्प्रभुता प्राप्त है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून सभी राज्यों की समता स्वीकार करता है। परन्तु यदि व्यवहार में देखा जाए तो यह समता दृष्टिगोचर नहीं होती है। [illegible]

---

1 "The word, 'State' means a community or society politically [illegible] under one independent government within a definite territory [illegible]

2 "The state is a union of families and villages having for its [illegible] and self-sufficing life."

3 "The state is a perfect society of free men united [illegible] ing the advantages of right and the common utility."

4 "The state is an association of families and [illegible] governed by a supreme power and by reason."

केवल अपने ही क्षेत्र में सर्वोपरिता प्राप्त है और "वह सम्प्रभु राजनीतिक इकाई" (Sovereign Political Entity) कहलाती है। इस इकाई को इच्छित निर्णय लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता, अस्तित्व बनाये रखने को समुचित भू-भाग, जनसंख्या व शासन हों तथा दूसरों के साथ समझौता करने का अधिकार व दायित्व निभाने की क्षमता होनी चाहिए। उसे दूसरे राष्ट्रों से मान्यता भी प्राप्त होनी चाहिये, उसका अपना पृथक राष्ट्रीय ध्वज, विशेष मुद्रा (Seal), राजकीय छापाखाना, सिक्कों की टकसाल आदि भी होनी चाहिए तभी वह शक्तिमान सम्पन्न इकाई का दर्जा प्राप्त कर सकता है।

क्षेत्रीय आधार पर संगठन (Organisation on the basis of regions)

राज्यों की भिन्नता का पहला आधार है उनका क्षेत्रीय आधार पर संगठन। यद्यपि कुछ राज्य जातीय, भाषाई आदि आधारों पर भी गठित होते हैं परन्तु उनकी पृथकता का आधार क्षेत्रीय ही होता है। राज्य की क्षेत्रीयता (Territoriality) एक ओर आर्थिक, तकनीकी और सैनिक सुविधाओं एवं समस्याओं का कारण होती है, दूसरी ओर जातीय, भाषिक अथवा धार्मिक समुदाय के कारण उसे असंदिग्ध वैधता (undoubted Legitimacy) की भी प्राप्ति होती है। वैधानिक दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में सभी छोटे-बड़े राज्य को समान स्थान प्राप्त है।

सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य सैद्धान्तिक दृष्टि से समान होते हुए भी जनसंख्या, क्षेत्र, सैनिक शक्ति के आधार पर छोटे या बड़े राज्य कहलाते हैं। रूस विश्व का छठा भू-भाग घेरे हुए है। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व वह बड़े राज्यों में नहीं माना जाता था। जापान का क्षेत्रफल भारत के क्षेत्रफल का 20वां भाग रखता था पर द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व वह एक बड़ा राज्य माना जाता था। *चीन जनसंख्या की दृष्टि से विश्व का सबसे बड़ा राज्य है पर क्षेत्रफल एवं शक्ति सम्पन्नता* की दृष्टि से वह अमेरिका, रूस एवं इंगलैण्ड के बाद आता है। इसी प्रकार भारत जनसंख्या की दृष्टि से चीन के बाद आता है पर विश्व की महान शक्तियों में उसका छठा स्थान है। लेबनान, सिंहापुर, ट्रिनिडाड जैसे राज्य क्षेत्रफल एव जनसख्या की दृष्टि से बहुत छोटे राज्य माने जाते हैं।

राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से भी राज्य छोटे-बड़े माने जाते हैं। इस दृष्टि से राज्यों के चार वर्ग बनाये जाते हैं जो निम्नलिखित है :

(1) *औद्योगिक दृष्टि से बहुत विकसित राज्य।* इनका राजनीतिक ढांचा भी अपेक्षाकृत अधिक स्थिर और सुदृढ़ होता है। इस वर्ग के राज्यो में साक्षरता का ऊँचा प्रतिशत प्रत्येक व्यक्ति की आय का ऊँचा अनुपात, जनता में उच्च प्रकार की राजनीतिक जागरूकता, समाज के विभिन्न वर्गों में सहयोग, नीची मृत्यु दर, यातायात एव संचार साधनों की अधिक सुविधा आदि प्रचुर मात्रा में होती है। इन राज्यों के उदाहरण हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, कनाडा आदि राज्य।

(2) कुछ राष्ट्र विकासशील अवस्था में हैं। वे राष्ट्र अपने को पश्चिमी देशों की स्थिति में ले जाने की तैयारी में लगे हैं। इन देशों के भी कुछ देश ऐसे हैं जो सत्तावादी व्यक्तियों (Authoritarian) से शासित है जिन्होंने शान्तिपूर्ण वैधानिक ढंग से राजनीतिक परिवर्तन लाने के सभी दरवाजे बन्द कर दिये हैं। इन देशों में पाकिस्तान, पुर्तगाल, स्पेन आदि आते हैं। कुछ राज्यों में सर्वहारा या श्रमिक वर्ग की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariate) के नाम पर मुट्ठी भर व्यक्तियों का शासन स्थापित है,—जैसे रूस, चीन, यूगोस्लाविया आदि। कुछ राज्यों में सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) राजनीतिक सत्तायें स्थापित हैं वहाँ जनता के मस्तिष्क में सत्तावादी अपनी विचारधारा ठूंस-ठूंस कर भर रहे हैं और कभी-कभी जनता के समर्थन का दावा करके अपने विचारों को नियन्त्रित करने में लगे हैं। ऐसे राष्ट्रों में जनता में अशिक्षा, अस्वास्थ्य, अत्यधिक जनसंख्या, कम उपज, राजनीतिक अस्थिरता जैसी समस्यायें हैं।

(3) कुछ राज्य अर्धविकसित या अविकसित अवस्था में हैं। इनमें विश्व की जनसंख्या का अधिकाश भाग रहता है। यद्यपि इनमें प्रशासनिक ढाँचा है परन्तु उसका लाभ तक नहीं पहुँचता है और ग्रामों में पुराने ढर्रे की ही व्यवस्था चल रही है। इन राज्यों में राजनीतिक स्थिरता जोर-जबरदस्ती पर टिकी है, कानूनी या संवैधानिक आधार पर नहीं है। इन राज्यों मे भ्रष्टाचार अथवा दमन नीति के कारण गृह युद्ध भी छिड़ जाता है। ऐसे अनेक राज्यों में सैनिक शासन है। अफ्रीका के नये उत्पन्न राज्यों मे इसी प्रकार की व्यवस्था है। इसी प्रकार इण्डोनेशिया, भारत, वियतनाम, सूडान, इराक, केनिया व नाइजीरिया आदि राष्ट्रों मे भाषायी, धार्मिक व जातीय अल्पमत है जो यहाँ की राजनीति को अस्थिर बनाये रखते हैं। इन राज्यों मे निरक्षरता, रद्दी संचार-व्यवस्था, निम्न कृषि उत्पादन, तेजी से बढ़ती जनसंख्या, अधिक दरिद्रता, सामाजिक सौमनस्य का अभाव जैसी समस्यायें हैं।

(4) कुछ राज्यों मे अभी तक मध्यकालीन यूरोप जैसी अवस्था है। वहाँ की राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक अवस्था सामन्तवादी है। कुछ राजवंश राज्य पर अपनी घरेलू सम्पत्ति के समान शासन करते है। अरब देशों में सऊदी अरब तथा कुछ देशों के अधीन रियासतें ऐसी ही दशा में है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी दो प्रकार के संगठन होते है—एक राष्ट्रीय (National) तथा दूसरे राष्ट्रोत्तर (Supranational) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय (International)। ये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन किन्हीं विशेष मामलों के समान नीति अपनाते है—जैसे यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market), संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन (United Nations Food and Agricultural Organization) आदि इस श्रेणी की संस्थायें है।

शक्ति के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण (Classification of States on the basis of Power)—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विचारक शक्ति के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण करते हैं। उदाहरण के लिए बड़ी शक्तियाँ (Great Powers), मध्यम शक्तियाँ (Middle Powers) तथा लघु शक्तियाँ (Small Powers) आदि का वर्गीकरण।

शक्ति के आधार पर किया गया वर्गीकरण अस्थिर होता है। शक्ति घटने-बढ़ने से राज्य जहाँ शक्ति से बड़ी शक्ति बन जाते है या बड़ी शक्ति से महा शक्ति बन जाते हैं। कभी स्पेन महा शक्ति थे पर कालक्रमानुसार स्पेन, हालैण्ड अब लघु शक्ति बन गये हैं और इगलैण्ड, फ्रांस बड़ी शक्ति रह गये है।

इस प्रकार आर्थिक या सैनिक आधार कोई निश्चित आधार नहीं। इनके अतिरिक्त बड़ी या महाशक्तियाँ बनने के कुछ अन्य आधार भी हैं। आधुनिक समय मे राष्ट्रों के महत्त्व का मापन परिस्थिति विशेष के संदर्भ मे होता है, प्रतिष्ठा, महत्त्व, आदि परिस्थिति निरपेक्ष तथ्य न होकर परिस्थिति विशेष मे किये गये आंकलन (Estimation) हैं।

गुस्तावो लागोस (Gustavo Lagos) ने राज्यों के सम्बन्ध मे धारणा बनाने के लिए तीन नीति निर्धारक तत्व बताये हैं :

(i) देश के तकनीकी विकास का स्तर,
(ii) सैनिक क्षमता, तथा
(iii) देश की ख्याति, प्रतिष्ठा, आदि।

(1) तकनीकी विकास (Technical Development)—19वीं शताब्दी से पूर्व राज्य की प्रतिष्ठा के प्राप्त करने मे वैभव, सैनिक शक्ति आदि ही पर्याप्त होती थी, अब इनके अतिरिक्त तकनीकी एवं आर्थिक विकास बहुत आवश्यक तत्व है। तकनीकी विकास आधुनिक राष्ट्रों के लिए प्रतिष्ठा का साधन बन गया है। इस विषय मे रूस और अमेरिका ने बड़ी प्रगति करली है।

(ii) सैनिक शक्ति (Military Power)—सैनिक शक्ति आज ही नहीं प्राची से प्रतिष्ठा का आधार बनी हुई है। वैज्ञानिक युग में अनेक अस्त्र-शस्त्र एवं बमों के

संहार किया जा सकता है। जिस देश पर यह संहारक अस्त्र-शस्त्र अधिक संख्या में हैं वही राज्य विश्व का सिरमौर बना हुआ है। रूस का विश्व युद्ध के बाद देशों में दूसरे नम्बर का स्थान उसकी चालीस लाख सेना, आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों सुसज्जित सदैव तैयार रहती है। यदि अमेरिका विश्व रंगमंच से हट जाता तो वह यूरोप और एशिया पर अब तक पूर्ण प्रभुत्व जमा लेता। उसकी थल और वायु सेना विश्व में सिवाय अमेरिका के शक्तिशाली सेना है। जल सेना में उसे वरीयता प्राप्त नहीं। वह इसकी भी लगातार तैयारी में लगा है। इसी प्रकार चीन व भारत ने अणु परीक्षण करके अपनी सैनिक स्थिति को प्रभावी बना लिया है।

इतना होने पर भी राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिए केवल तकनीकी विकास एवं सैनिक क्षमता ही पर्याप्त नहीं है बल्कि राष्ट्र का देश और विदेशों में होने वाला आचरण विशेष है।

(iii) **विदेश एवं गृहनीति** (Foreign and Home Policy)—आज का युग अन्तर-राष्ट्रीयता का युग है। कोई भी देश विदेश से सम्पर्क बनाये बिना नहीं रह सकता है। पर सम्पर्क भी मैत्रीपूर्ण होना चाहिए। आज गुटबन्दी का युग है। रूस और अमेरिका जैसे महान देश अपने-अपने गुट बनाये हुए हैं। इन गुटों में जो देश फँस गया वह कितना ही शक्तिशाली हो, रूस या अमेरिका का पिट्ठू कहलाता है। स्विट्जरलैण्ड एवं स्वेडन छोटे राष्ट्र है पर गुटनिरपेक्ष रहने के कारण वे जगत में प्रतिष्ठित राज्य माने जाते हैं। भारत ने आजाद होते ही गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाई। उसको देखादेखी अनेक नये जन्में राष्ट्रों ने गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाई। वे तकनीकी एवं सैनिक दृष्टि से दुर्बल अवश्य है पर प्रतिष्ठा में वे किसी देश से कम नहीं।

किसी देश की गृहनीति का आशय उसकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था होता है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में किसी देश का मान-सम्मान उस देश की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं एवं राजनीतिक नेतृत्व पर आधारित होता है। भारत का उदाहरण सामने है। उसने लोकतन्त्र की पद्धति अपनाई। उसके सामने अनेक जटिल एवं कठोर समस्यायें उत्पन्न हुई पर उसने अपना पथ नहीं त्यागा। देश को एक स्थायी सरकार देकर भारत विश्व के बड़े राज्यों में माना जाता है। बीसियों राष्ट्र भारत के नेतृत्व में आज फल-फूल रहे हैं।

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि राज्यों की दृष्टि में एक दूसरे के महत्व का आधार केवल अस्त्र-शस्त्र, तकनीकी प्रगति, राजनीतिक शिष्टाचार एवं घरेलू संस्थाएँ हैं। इतना होने पर भी प्रत्येक राष्ट्र का दृष्टिकोण पृथक-पृथक होता है। उनकी प्रतिष्ठा आकने के माप-दण्ड भी अलग-अलग होते हैं। भारत को पश्चिमी देश लोकतन्त्र होने के कारण सम्मान देते हैं साम्यवादी देश उसकी समाजवादी विचारधारा के कारण उसे प्रतिष्ठा देते हैं।

राष्ट्र-राज्यों की आलोचना
(Criticism of Nation States)

राष्ट्र-राज्य व्यवस्था को लेकर परस्पर विरोधी मत प्रकट किये जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि राष्ट्र-राज्यों के कारण ही आज पुराना अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा सुदृढ़ बना हुआ है। इसके विपरीत मत रखने वाले विद्वान कहते हैं कि आज के युग में पुराने राष्ट्र-राज्य का अन्तर-राष्ट्रीय ढाँचा प्रयोजनहीन हो गया है। इन मतों के प्रतिपादनकर्ता सी० ए० डब्ल्यू० मैनिंग (C.A.W. Manning), जान हर्ट्स (John Hertz) तथा केनेथ बोल्डिंग (Kenneth Boulding) आदि हैं।

मैनिंग के मतानुसार विश्व समाज (Social Cosmos) वैसा ही है जैसा कि पहले था। इस विश्व व्यवस्था के प्रमुख स्रोत उसके विचार से तीन हैं—(i) राज्यों की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के प्रति दृढ़ निष्ठा, (ii) राजस्व नियमों का व्यवस्थापन करना, एवं (iii) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का होना।

इस प्रकार मैनिंग राष्ट्र-राज्य की व्यवस्था में आस्था रखता है और उसका विश्वास है कि यह व्यवस्था आज भी सुदृढ़ है और आगे भी रहेगी।

जान हर्त्स एवं कैनेथ वोल्डिंग दोनों ने मैनिंग की बात का खण्डन करते हुए कहा है कि राष्ट्र-राज्य व्यवस्था विगत-काल की व्यवस्था हो गई है। आणविक युग में उसका महत्व नहीं रहा है। हर्त्स का कहना है कि "आधुनिक राज्य का गुण अभेद्यता (Impermeability) अथवा क्षेत्रीय अखण्डता (Territoriality) है। क्षेत्रीय अखण्डता का तात्पर्य उस राजनीतिक इकाई से है जो अपनी सीमाओं में रहने वाली जनता को सुरक्षा प्रदान करती है तथा दूसरे राज्यों द्वारा भी उसे स्वभावत: उस क्षेत्र की सर्वोच्चता के रूप में स्वीकार किया जाता है।" उसके मतानुसार राज्यों की अभेद्यता अथवा अखण्डता तीन शक्तियों पर निर्भर करती है—शक्ति, स्वतन्त्रता एवं प्रभुसत्ता। इनमें शक्ति सामरिक पक्ष का, स्वतन्त्रता राजनीतिक पक्ष का तथा प्रभुसत्ता कानूनी पक्ष का द्योतक है।

हर्त्स ने स्पष्ट किया है कि "आधुनिक राज्य-व्यवस्था मौलिक परिवर्तन के दौर से गुजर रही है, क्योंकि क्षेत्रीय अखण्डता एवं प्रभुसत्ता के सिद्धान्त व्यर्थ हो चुके हैं। वौल्डिग के मतानुसार विश्व के विभिन्न राष्ट्र जबकि पारस्परिक विनाश के कगार पर खड़े हैं, प्रत्येक राष्ट्र दूसरे की अनुमति से ही जीवित है।" इस स्थिति को वौल्डिग ने "सशर्त अस्तित्व" या "सशर्त जीवन धारण" का नाम दिया है जो निरंकुश प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर लगाये प्रतिबन्धों की ओर संकेत करता है। अत: अब राष्ट्रों को अपनी "वैध सीमायें" और संकटजनक सीमायें" में भेद कर सुरक्षा की व्यवस्था के उपाय करने पड़ते हैं।

इस प्रकार आज विश्व में दो प्रवृत्तियों का विकास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है—(1) क्षेत्रीय अखण्डता और प्रभुसत्ता पर आधारित राज्य-व्यवस्था को बनाये रखना तथा (2) इन बातों को कम महत्व देना। इस विकास से जहां एक ओर नई युद्ध प्रणालियों को जन्म दिया है तो दूसरी ओर उपनिवेशवाद की समाप्ति से नये सम्प्रभु राज्यों को जन्म दिया है।

नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का विकास (Development of new International System)—आज के युग में राज्यों की परस्परावलम्बिता ने क्षेत्रीय अखण्डता, स्वतन्त्रता व प्रभुसत्ता एवं सुरक्षा की धारणाओं को अनुपयोगी सिद्ध कर दिया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की ओर लोगों की प्रवृत्ति मोड़ दी है। 1919 में राष्ट्र संघ (The League of Nation) तथा 1945 में संयुक्त राष्ट्र-संघ (United Nations) की स्थापना हुई। तब से अब तक रूस एवं अमेरिका ने कई राष्ट्रोत्तर (Supernation) संस्थाओं की स्थापना की है। जैसे उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (NATO) आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (DECD), अमेरिका राज्य संगठन (Organisation of American State), अरब लीग, नार्डिक परिषद आदि। इन संगठनों की प्रवृत्ति मुख्यत: राजनीतिक, सैनिक एवं आर्थिक आधारों पर क्षेत्रीय संगठन करने की है।

इनके अतिरिक्त अनेकों गैर-राजनीतिक संगठन भी विश्व में गठित हुए है। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO), विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO), स० रा० शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति संगठन (UNESCO) आदि।

इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के कारण आज राजनीतिक, आर्थिक वैचारिक व सैनिक आदि किसी भी क्षेत्र में पूर्ण स्वाधीनता दिखाई नहीं देती है। गुटनिरपेक्ष राज्य भी परस्पर सहयोग से ही कार्य संचालन कर सकते हैं। अनेक राष्ट्र तो अपनी समान नीति के गुटों का गठन कर अपना व्यवहार चलाते हैं। कार्ल ड्वायट्स (Karl Dwaits) का तो यह मत है कि ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विचारों में समता आती जायगी त्यों-त्यो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की संख्या बढ़ती चली। अमिताई एल्जिओनी (Amitai Elzioni) व अर्न्स्ट बी० हास (Ernst B. Hass) ने भी इस

का मत व्यक्त किया है। अर्न्स्ट हास ने तो "छलकने के सिद्धान्त" का प्रतिपादन किया है। इसका अर्थ है 'एक क्षेत्र में हुए एकीकरण का प्रभाव दूसरे क्षेत्रों में भी फैल जाता है और इनमें भी एकीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

राष्ट्रवाद एवं उसका महत्व
(Nationalism and Its Importance)

राष्ट्रवाद का महत्व (Importance of Nationalism)—आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्य-व्यवस्था का आधार–राष्ट्रवाद एवं प्रभुसत्ता है। वाल्टर आर० शार्प (Walter R. Sharp) तथा ग्रेसन किर्क (Grayson Kirk) ने अपनी पुस्तक "समसामयिक विश्व राजनीति" में राष्ट्रवाद को बहुत महत्व दिया है। उनके शब्दों का हिन्दी रूपान्तर यहाँ उद्धृत किया जाता है—"किसी भवन के समस्त कमरों में प्रवेश के इच्छुक व्यक्ति के पास मास्टर कुञ्जी का होना जितना आवश्यक है, अन्तर्राष्ट्रीय विद्यार्थी के लिए राष्ट्रवाद का ज्ञान उससे कम आवश्यक नहीं। वस्तुतः वर्तमान राज्य-व्यवस्था के सम्पूर्ण व्यवहार को राष्ट्रीय आशायें, राष्ट्रीय आशंकायें, राष्ट्रीय महत्वाकांक्षायें और राष्ट्रीय संघर्ष जैसे कुछ शब्दों के माध्यम से बहुत कुछ समझा जा सकता है।" इस प्रकार राष्ट्रवाद आधुनिक राज्य-व्यवस्था की आधार-शिला है और उसके आचरण का नियामक तत्व है।

राष्ट्र का महत्व आज भी इतना अधिक माना जाता है कि राजनीतिज्ञ अपनी स्वार्थ लिप्सा के कारण देश भक्तों को जब अन्तर्राष्ट्रीय कह देते हैं तो नागरिक ऐसे व्यक्ति को देश का शत्रु समझ बैठते हैं। अराष्ट्रीयता आज के युग में बहुत बड़ा अपराध है। सरकार अपने विरोधियों को देशद्रोही कहकर दण्ड देती है। प्रत्येक नागरिक का यह परम कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं भक्ति रखे। लेखक ने व्यंग करते हुए लिखा है कि "राष्ट्र एक ऐसा समुदाय है जो अपना एक स्वतन्त्र विदेश-विभाग रखना चाहता है और भाव दिखाता है कि मानो सारा संसार उसी में केन्द्रित है।"

हान्स कोन (Hans Kohn) ने अपनी पुस्तक "राष्ट्रवाद की प्रकृति" (Nature of Nationalism) में राष्ट्रवाद की धारणा पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "वर्तमान युग जिसका प्रारम्भ फ्रांस की राज-क्रान्ति से हुआ है, इस दृष्टि से पिछले सभी युगों से विलक्षण है कि केवल इसी काल में आकर राष्ट्र मानव की सर्वोच्च भक्ति का लक्ष्य बना और वह भी कुछ इनेगिने व्यक्तियों या वर्गों की ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समाज की। अब तक संसार के राष्ट्र अपने-अपने रास्ते पर चलते थे, जो अक्सर एक-दूसरे से भिन्न होते थे, पर अब वे समान रूप से इस 'राष्ट्रवाद' नामक सर्वाधिक बलवान सामूहिक चेतना (Group consciousness) से अधिकाधिक आक्रान्त होते जा रहे हैं।"[1]

हान्स मार्गेन्थ्यू (Hans Morgenthau) का भी यही कहना है कि "राष्ट्र सम्प्रभु राज्य बनकर ही रहता है। एक राज्य-राष्ट्रवाद का तकाजा है, राष्ट्र-राज्य ही उसका अन्तिम लक्ष्य है।"[2]

लार्ड ब्राइस का मत है कि "राष्ट्र उस जाति को कहते हैं जिसने स्वयं को राजनीतिक रूप में संगठित कर लिया है और जो स्वतन्त्र हो अथवा स्वतन्त्र होने की कामना रखता हो।" हेज कहता है कि "जाति, एकता एवं सार्वभौमिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर राष्ट्र बन जाती है।"

---

1 Hans Kohn : *The Nature of Nationalism* (*American Political Science Review* p. 1009-10.

Hans J. Morgenthau : *Politics among Nations*

प्रो० जिमर्न का कहना है कि "राष्ट्रवाद धर्म की भाँति एक आन्तरिक भावना है, राज्यत्व का स्वरूप वाह्य है, राष्ट्रीयता मानसिक है, राज्यत्व कानून की दशा है, राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक वस्तु, है, राज्यत्व लागू किये जाने वाला कर्त्तव्य है। राष्ट्रीयता, अनुभव विचार व प्रेम का मार्ग है, राज्यत्व जीवन के समस्त सभ्य मार्गों से पृथक न होने वाली अवस्था है।"

इस प्रकार राष्ट्रवाद धर्म का रूप धारण करता जाता है। अन्तर इतना ही है कि यह लौकिक धर्म है, अलौकिक नहीं। प्रसिद्ध इतिहासकार आर्नल्ड टायनबी (Arnold Toynbee) ने लिखा है कि "यह निकट भविष्य में पाश्चात्य समाज का वास्तविक धर्म बनने वाला है, फिर चाहे इस बात को कोई खुल्लमखुल्ला स्वीकार करे या न करे।" आज के राष्ट्र तो अपने अनैतिक एवं जघन्य कार्यों को भी राष्ट्रवाद के नाम पर करने से नहीं चूकते हैं, जैसे इजरायल एवं पाकिस्तान आदि।

राष्ट्रवाद का स्वरूप एवं प्रकृति (Form and Nature of Nationalism)—राष्ट्र शब्द लैटिन भाषा के शब्द नतियो (Natio) से उत्पन्न हुआ है जिसका कि अर्थ 'जन्म' होता है। राष्ट्र की परिभाषा देते हुए चार्ल्स पी० श्लेचर (Charles P. Schleicher) ने लिखा है कि "राष्ट्र ऐसे मानव-समुदाय को कहते हैं जिसमे पारस्परिक एकता की गहरी अनुभूति के साथ-साथ अपने को अन्य समुदायों से पृथक समझने की प्रवृत्ति होती है।"[1]

राष्ट्रवाद एक पृथकता की भावना लिए होता है। प्रत्येक राष्ट्र में कुछ विशेष बातें होती है जो एक दूसरे को पृथक व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। प्रत्येक राष्ट्र की यह इच्छा या आकांक्षा होती है कि वह स्वतन्त्र एवं सभ्य राज्य बने। राष्ट्रवाद मे व्यक्ति अपने हित एवं भाग्य को राष्ट्र-हित में विलीन कर देता है। पर इसमें एक कमी होती है कि राष्ट्रवाद दूसरे राष्ट्रवादी को विदेशी मानकर अलगाव की भावना रखने लगता है यह भावना संकुचित एवं मानव विरोधी होती है।

क्रेन ब्रिन्टन (Crane Brinton) का भी यही कहना है कि "राष्ट्रवाद वस्तुतः किसी समुदाय विशेष से सम्बद्ध होने की भावना का ही एक महत्वपूर्ण रूप है। इन समुदायों में राष्ट्र समुदाय के प्रति उसकी निष्ठा सर्वोच्च एवं चरम मानी जाती है।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में "रायल इन्स्टीट्यूट" (Royal Institute) ने 1919 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें उन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है जो अधिकांशतः राष्ट्रों में निहित हैं :

(i) "राष्ट्र में एक सामान्य सरकार का भाव रहता है चाहे वह भविष्य की आकांक्षा के रूप में हो चाहे वर्तमान या अतीत की आवश्यकता के रूप में हो।

(ii) राष्ट्र का निर्माण वहाँ होता है जहाँ समस्त व्यक्तिगत सदस्यों के मध्य कुछ घनिष्टता रहती है।

(iii) यह ऐसे समूह का परिमापित प्रदेश होता है जिसमे उसे स्थापना का अधिकार मिल सकता है।

(iv) ऐसे समूह की भाषा, जाति, धर्म एवं राष्ट्रीय चरित्र आदि विशेषतायें भी राष्ट्रीयता के गठन में आवश्यक तत्व हैं।

---

1 "A nation is a group of people with a feeling of solidarity among themselves and a sense of distinctness from other.
—Charles P. Schleicher, *International Relations*. p. 49.

2 *Ibid*, p. 50.

(v) राष्ट्र के कुछ सामान्य हित होते हैं। राष्ट्र राज्य के साधनों द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता है।

(vi) राष्ट्र के सदस्यों के मस्तिष्क में राष्ट्रीय भावना की धारणा का होना।

जॉन मिल के अनुसार "एक राष्ट्र के सदस्यों के बीच सामान्य सद्भावना रहती है जिसके कारण वे परस्पर सहयोग के करने लिए स्वेच्छा से तैयार रहते हैं। वे एक सरकार की अधीनता में रहकर यह इच्छा करते हैं कि सरकार उनके द्वारा या उन्हीं के किसी भाग की होनी चाहिए।" जिमर्न (A. E. Zimmern) के अनुसार "धर्म की भाँति राष्ट्रीयता भी आत्मपरक (Subjective) है, मनोवैज्ञानिक है। यह मन की एक स्थिति है तथा एक आध्यात्मिक धारणा है। यह भावना है, विचार और जीवन की एक प्रणाली है।"

जे० एच० रोज (J. H. Rose) के मतानुसार "राष्ट्रीयता दिलों की एकता का नाम है जो एक बार बन जाती है तो कभी टूटती नहीं।"

स्नाइडर (Snyder) के शब्द हैं कि "राष्ट्रीयता की जड़ें अवचेतन दुनिया में रहती हैं तो तर्कहीन, बुद्धिहीन तथा हवाई किले समान स्वप्निल होती है। यह राष्ट्रवाद एक जनसमूह की आत्मचेतना (Consciousness) भाव तथा संवेगों का वर्तमान तत्व है जो एक व्यक्ति के भाग्य को प्राप्त या अप्राप्त राज्य के भाग्य के साथ मिलाने में सदैव प्रयत्नशील रहता है।"

प्रोफेसर स्नाइडर (Prof. Louis L. Snyder) के अनुसार "राष्ट्रवाद इतिहास के किसी काल विशेष में दीख पड़ने वाली राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक हलचल का परिणाम होता है। यह एक किसी निश्चित भौगोलिक भू-भाग में रहने वाले, समान भाषा बोलने वाले, राष्ट्र की आकांक्षाएँ, परम्पराओं व रीतिरिवाजों की अभिव्यक्ति करने वाले साहित्य से युक्त, जिसमें प्राचीन वीरों व महापुरुषों के प्रति सम्मान का भाव होता है तथा जो प्रायः आर्थिक दृष्टि से अभिन्न होता है।"

कभी-कभी एक राष्ट्र में भिन्न-भिन्न कई धर्म, कई संस्कृतियाँ, सम्प्रदाय एवं जातियाँ होती हैं, जैसे इंगलैण्ड, भारत एवं रूस में रहती हैं। ये जातियाँ जब अलग-अलग अपने प्रयासों में सफल हो जाती हैं तो राष्ट्र कहलाने लगती हैं। अफ्रीका में आज अनेक सम्प्रभु राष्ट्रों का उदय हो रहा है, जबकि वे एक राष्ट्र के अधीन थे। पाकिस्तान एवं बंगला देश एक ही राष्ट्र के अधीन थे पर अब वे दो राष्ट्र बन गये हैं।

राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति (Manifestations of the Nationalism)—राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र को सभी राष्ट्रों से उच्चतर मानकर चलते हैं। उनमें कभी-कभी धर्म प्रचारकों जैसा उत्साह होता है। राष्ट्रवादियों की विशेषताएँ तीन हैं—एकान्तिक (Exclusive), आत्म केन्द्रित एवं बाह्य समुदायों में उदासीन अथवा असहिष्णु होते हैं।

समाजशास्त्री फ्लोरियन जनानिकी (Florian Znanicchi) ने लिखा है कि "जातियों के मध्य संघर्ष का सूत्रपात उस समय होता है जब एक जाति जानबूझकर दूसरी को दबाकर आगे बढ़ाना चाहती है अथवा दो जातियाँ इस प्रकार बढ़ती हैं कि अन्त में एक का विकास दूसरे के मार्ग में बाधक बन जाता है।" उनके विचार से आक्रामक विस्तार चार दिशाओं में हो सकता है—भौगोलिक आर्थिक आत्मसात्करणात्मक, और विचारात्मक इसका संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

(i) भौगोलिक विस्तार में जब एक राष्ट्र के कुछ सदस्य दूसरे राष्ट्रों में जा मिलते हैं किन्तु अपने मूल समुदाय से अपने सम्बन्ध बनाये रखते हैं तो वह मूल राष्ट्र का भौगोलिक विस्तार कहा जाता है। जब वे प्रवासी वहाँ अधिवासित भू-भाग पर दावा करते हैं तो वहाँ के निवासियों [illegible] हो जाता है।

(ii) आर्थिक विस्तार का तात्पर्य है कि "किसी समुदाय के सदस्यों द्वारा उत्पादित कच्चे-माल तथा उनकी तकनीकी जानकारी का किसी अन्य राष्ट्र द्वारा अपने-अपने लाभ के लिए अधिकाधिक उपयोग" इसे आर्थिक साम्राज्यवाद भी कहा जाता है।

(iii) आत्मसात्करणात्मक विस्तार का आशय यह है कि जब कोई राष्ट्र भिन्न जाति के मानव समुदाय को सांस्कृतिक दृष्टि से आत्मसात करना चाहता है तो राष्ट्र के नागरिक इसका विरोध करते हैं और अन्ततः संघर्ष का जन्म होता है।

(iv) विचारात्मक विस्तार में जब किसी राष्ट्र के नेता अपनी समाज व्यवस्था एवं सांस्कृतिक प्रगति को ऊँचा समझकर उसे फैलाने का प्रयत्न करते हैं तो उसे विचारात्मक विस्तार कहा जाता है। जैसे रूस, जापान, जर्मनी, अमेरिका आदि देशों में किया जाता है।

राष्ट्रवाद के स्रोत (Sources of Nationalism)—राष्ट्रवाद की उत्पत्ति के स्रोतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(i) स्वाभाविक, (ii) प्रचारात्मक।

(i) स्वाभाविक स्रोत के अन्तर्गत मानव-स्वभाव, भूगोल, जाति, धर्म, भाषा, इतिहास और परम्परा, लोकतन्त्र, सामाजिक विघटन और असुरक्षा, समान राजनीतिक आकांक्षायें समान सरकार व अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष आदि सम्मिलित हैं जबकि, (ii) प्रचारात्मक स्रोतों में जन प्रचार के साधन—जैसे समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन, संगीत आदि हैं।

1. स्वाभाविक स्रोत

(क) मानव स्वभाव एवं उसकी आवश्यकताएँ (Human nature and his necessities)—मानव की आवश्यकताएँ उसे क्रियाशील बनाती हैं। वह प्राण रक्षा से ही केवल सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि वह सामाजिक जीवन में भी उत्कर्ष चाहता है। इसके लिए वह क्षेत्रीय समुदाय के प्रतिश्रद्धा रखता है। मानव की सामाजिकता, समुदाय निष्ठा, स्वदेश प्रेम आदि राष्ट्रवाद के ही अंग हैं। वस्तुतः मानव का स्वदेश प्रेम न तो जैविक आवश्यकता है और न ही मनोवैज्ञानिक, अपितु विशेष परिस्थितियों में ही राष्ट्रवाद की भावना पैदा होती है। यह मानव की सहज प्रवृत्ति है कि वह अपने रहने के स्थान एवं वस्तुओं से मोह रखता है। इसका व्यापक विकास राष्ट्रवाद के अन्दर होता है।

(ख) भूगोल (Geography)—भौगोलिक परिस्थितियाँ भी मानव को संगठित कर देती हैं। उदाहरण के लिए भारत के उत्तर में हिमालय ने उसे अन्य एशियायी देशों से पृथक कर दिया। उसका विकास इन्हीं परिस्थितियों में रहकर हुआ और यही उसकी राजनीतिक एकता का कारण भी बना। ये प्राकृतिक सीमा प्रतिरक्षा की दृष्टि से तो उपयोगी है ही, राजनीतिक सीमाओं के निर्धारण के दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण होती है।

परन्तु ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि जहाँ भौगोलिक परिस्थितियों का राष्ट्रीयता के विकास में कोई विशेष हाथ नहीं रहता है। उदाहरण के लिए राइन नदी से यूराल पर्वत तक फैले हुए विशाल मैदान में अनेक राष्ट्र हैं जिनकी भौगोलिक सीमाएँ नहीं। इसी प्रकार पश्चिमी एशिया एवं पूर्वी एशिया, अफ्रीका के अनेक राष्ट्र प्राकृतिक सीमाओं से न बँधकर साम्राज्यवादियों की इच्छा से बन्धे थे।

इतना होने पर भी भौगोलिक परिस्थितियाँ राष्ट्रवाद को विकसित अथवा ह्रास करने पर प्रभाव डालती हैं विशेषकर यातायात एवं संचार के माध्यम से। इन साधनों ने भौतिक बाधाओं का महत्त्व कम कर दिया है और विश्व एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया है। इस प्रकार राष्ट्रीयवाद के विकास होने पर भी राष्ट्रवादी भावनाएँ बढ़ती जाती हैं।

(ग) जाति—राष्ट्रवाद के विकास में जाति का बहुत बड़ा आधार होता है। वर्ण के लोग अपने को दूसरे वर्ण के लोगों से भिन्न मानते हैं। ये पृथक-पृथक

हो जाते हैं। कभी-कभी अपने वर्ण या जाति की श्रेष्ठता की घोषणा द्वारा राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ाया जाता है। रक्त सम्बन्धों की शुद्धता का प्रश्न भी ये जाति-समुदाय उठाया करते हैं। परन्तु आजकल मानवशास्त्री (Anthropologist) इस रक्त शुद्धता के दावे को नहीं मानते हैं। इसके कारण है—(अ) सभी जातियों में प्राचीन काल से ही सम्मिश्रण होता चला आया है। (आ) यह भी सही नहीं कि किसी विशेष जाति मे विशेष बौद्धिक क्षमता पायी जाती है।

अफ्रीका, अमेरिका, लैटिन अमेरिका और यूरोप में श्वेत-अश्वेत का संघर्ष चल रहा है। गोरे लोग अपने को कालों से कहीं अधिक सभ्य एवं उच्च मानते है। अफ्रीका में यह जातिवाद की समस्या भीषण रूप धारण कर गयी है। जातिवाद या राष्ट्रीयता की भावना में पृथकता की भावना पायी जाती है।

(घ) धर्म—धार्मिक एकता भी राष्ट्रवाद के विकास को बढ़ावा देता है। यदि एक देश में एक धर्म के लोग बसे होते है तो उसमें विभिन्न धर्मों के लोगो की अपेक्षा अधिक एकता पायी जाती है। आधुनिक युग में धर्म की एकता पर बल नही दिया जाना है फिर भी कुछ राष्ट्र आज भी धर्म के आधार पर संगठित होते हैं। पाकिस्तान, अरब देश, इजराइल आदि देशों में धर्म को राष्ट्रवाद का आधार माना जाता है।

(ङ) भाषा (Language)—राष्ट्रवाद के विकास में भाषा महत्त्वपूर्ण सहयोग देती है। रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) लिखते है कि "विभिन्न जातियो में एकता उत्पन्न करने के लिए समान भाषा से बढ़कर सशक्त साधन दूसरा नही। भाषा की एकता विचारों में एकता उत्पन्न करके राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन देती है।" कार्लटन (Karlton) के मतानुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में अंग्रेजी भाषा के प्रयोग ने अमेरिकी विचार और क्रिया-कलाप को इंगलैण्ड के साथ जोड़कर एक सर्वथा स्वतन्त्र अमेरिकी राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास मे बाधा पहुँचायी है। रूसी जारों ने रूसी राष्ट्रवाद को फैलाने के लिए अल्पसख्यक भाषाओं को दबाकर रूसी का प्रचार किया है।

(च) लोकतन्त्र (Democracy)—लोकतन्त्र भी राष्ट्रवाद के विकास में सहायक होता है। इटली के देशभक्त मैजिनी एवं अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन का यह मत था कि युद्ध का प्रमुख कारण लोगों को आत्मनिर्णय के अधिकार से वंचित रखना है। उनका तो यहाँ तक कहना था कि राष्ट्रवाद विश्व बन्धुत्व तक पहुँचने का एक मार्ग है। वे राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रवाद का विरोधी नहीं मानते थे। उदाहरण के लिए जैसे परिवार, समाज, प्रान्त का प्रेम राष्ट्र प्रेम मे कोई बाधा नही डालता था।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह माना जाता था कि राष्ट्रवाद लोकतन्त्र की स्थापना के लिए आवश्यक था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनेक नये स्वतन्त्र देशों में लोकतन्त्र की स्थापना हुई पर वह सफल नहीं हुए। वहाँ तानाशाही की स्थापना हुई। इतना होने पर भी पराधीन राष्ट्र लोकतन्त्र को स्वर्ग मानते हैं और राष्ट्रवाद को इसी कल्पना पर विकसित करते हैं।

(छ) ऐतिहासिक परम्पराएँ—जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) तथा हेज (Hases) ने राष्ट्रवाद के विकास के लिए ऐतिहासिक परम्पराओं का होना बहुत आवश्यक माना था। एक देश के महापुरुष, वीर नायक, सन्त आदि राष्ट्रीय एकता के प्रतीक होते हैं। भारत में राम, कृष्ण, प्रताप, शिवाजी, अर्जुन, भीम आदि महापुरुषों का नाम लेते ही प्रत्येक हिन्दू का सीना गौरव से तन जाता है।

(ज) सामाजिक विघटन व व्यक्तिगत असुरक्षा—कुछ विद्वान राष्ट्रवाद के उद्देश्य का मूल कारण सामाजिक मानदण्डों के विघटन व व्यक्तिगत असुरक्षा को मानते हैं। मार्गेन्थ्यू लिखते हैं कि 19वीं शताब्दी में यूरोपीयन्स सामान्यतः परम्परा के विशेषतः धर्म के बन्धनों से मुक्त हुए। वैयक्तिक जीवन में बुद्धिवादिता का प्रभाव बढ़ा और बार-बार आर्थिक [illegible] का दौर आया।

इन बातों से व्यक्तियों में असुरक्षा का भाव बढ़ा, जिसने मानसिक उत्तेजना को बल दिया जो अन्ततः राष्ट्रवाद के रूप में फूट पड़ी। जर्मनी में फासीवाद इस प्रकार के राष्ट्रवाद का उदाहरण है।

राष्ट्रवाद के नाम पर असन्तोष, असुरक्षा, दम्मित वासनाओं को भी जनता कभी-कभी व्यक्त करती है। राष्ट्रहित पर युद्ध, विप्लव व नर-संहार का सहारा लिया जाता है और पूरे देश को संगठित किया जाता है, नार्मन टामस (Normon Thomas) ने एक बार कहा था कि "वे अंग्रेज जिनके पास दफनाने को 2½ गज जमीन न थी, इस बात से रोमांचित हो उठते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य मे सूरज कभी नहीं डूबता है।"

(झ) समान राजनीतिक आकांक्षाएँ व अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष—राष्ट्रवाद के पनपने में समान राजनीतिक उद्देश्य, भाषा, धर्म आदि की विविधताओं के बावजूद एकता बनाने में सहायक होते हैं। गिलक्राइस्ट (Gillchrist) से मतानुसार, "किसी राष्ट्र के निर्माण के लिए एकता के जितने प्रकार आवश्यक हैं उनमें सबसे अधिक मूलभूत राजनीतिक एकता ही है। विभिन्न जनजातियाँ समान राजनीतिक उद्देश्यों द्वारा ही राष्ट्रत्व प्राप्त करने की आकाक्षा करती हैं।"

देश में **समान सरकार** होने से भी राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन मिलता है, क्योकि सभी वर्ग पारस्परिक सौहार्द व एकता मे बँधकर शत्रु के प्रति एक जुट हो जाते हैं। उनके समान अनुभव व सुख-दुख उनको स्वभावतः एक कर देते है।

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष भी राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन प्रदान करता है क्योंकि विपरीत धारणा वाले शत्रु का सामना करने को बहुत से देश संगठित हो जाते हैं और समग्र देश एक विचार से प्रेरित होकर राष्ट्र को सहायता करने योग्य सुदृढ़ बनाते हुए संघर्ष करते है। चीन के आक्रमण से बचने के लिए भारत, बर्मा, लंका, इण्डोनेशिया आदि देशों की गुटबन्दी राष्ट्रवाद बनाम अन्तर्राष्ट्रवाद का उदाहरण है।

(ञ) प्रचारात्मक स्रोत—राष्ट्रवाद के विकास व प्रचार के लिए राष्ट्र अनेक साधनों का प्रचार करते है। प्रचार के साधनो में शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण साधन है। नागरिकों के मन में राष्ट्रध्वज का सम्मान, राष्ट्रगान का प्रयोग, ध्वजों का फहराना, राष्ट्रीय आदेशों की पाठ्य-सामग्री छापना, प्राचीन इतिहास व संस्कृति का अध्ययन आदि राष्ट्रीय धारणाओ को पुष्ट करने के लिए ही किया जाता है। इससे विदेशी प्रचार रुकता है और राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बढ़ावा मिलता है।

समाचार पत्र, रेडियो, दूरबीन, संगीत, सिनेमा आदि जन प्रसार के साधन हैं। धर्म व गृहशिक्षा भी राष्ट्रीय भावनाओं को विकसित करने में सहायक तत्व है।

इस प्रकार प्रचारात्मक व स्वाभाविक साधनो द्वारा राष्ट्रवादी भावना दृढ़ होती है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष राष्ट्रवाद को दृढ़ बनाते हैं व उग्र राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष को जन्म देता है। उग्र राष्ट्रवाद राष्ट्र के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रवाद के लिए खतरनाक होता है। वह नर-संहार को बढ़ावा देता है और घृणा एवं द्वेष को बढावा देता है। राष्ट्रवाद वरदान भी है और अभिशाप भी है।

राष्ट्रवाद का उद्भव एवं विकास
(Growth and Development of Nationalism)

प्रो० कोन (Prof. Kohn) के मतानुसार "राष्ट्रवाद का उद्भव तो पश्चिमी यूरोप में 17वीं शताब्दी तथा 18वी शताब्दी मे हुआ परन्तु इसने एक सामान्य राजनीतिक आन्दोलन का रूप तो 19वी शताब्दी मे ही ग्रहण कर लिया था।" पहले संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कुछ दिनों बाद फ्रांस में राज-क्रान्तियाँ हुई। इन क्रान्तियों ने नव जागरण एवं बुद्धिवादी युग का यूरोप में बिगुल बजाया। इस बिगुल से इंगलैण्ड जो पहले ही जगा हुआ था, जागने वाले लोगों का अगुवा बना, फ्रांस, पोलैण्ड, हालैण्ड, स्वेडन, रूस, आयरलैण्ड, हंगरी, जर्मनी, इटली, अमेरिका आदि में

बुद्धिवाद की लहर यूरोप से निकलकर एशिया और अफ्रीका में भी पहुँची। 20वीं शताब्दी में तो राष्ट्रवाद जो बुद्धिवाद की ही उपज है, समस्त संसार में छाया है। आज जितने भी देश स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहे हैं, वे राष्ट्रवाद की भावना से ओत-प्रोत हैं।

कार्लटन हेज का कहना था कि यदि कालक्रम की दृष्टि से देखा जाय तो मानवतावादी राष्ट्रवाद 18वीं शदी में, जैकोबिन राष्ट्रवाद फ्रांस की राजक्रान्ति व नेपोलियन युग में, परम्परागत राष्ट्रवाद 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में और उदार राष्ट्रवाद 19वी शताब्दी के अन्त मे विकसित हुए। एकीकृत अथवा सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद 20वी शताब्दी की उपज है।

क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने काल क्रमानुसार राष्ट्रवाद के पाँचो रूपो का वर्णन किया है। यथा—

(1) मध्ययुगीन राष्ट्रवाद (Medieval Nationalism),
(2) राजतान्त्रिक राष्ट्रवाद (Monarchical Nationalism),
(3) क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद (Revolutionary Nationalism),
(4) उदार राष्ट्रवाद (Liberal Nationalism),
(5) सर्वाधिकारी राष्ट्रवाद (Totalitarian Nationalism)।

क्विन्सी राइट ने हैज के जैकोबिन राष्ट्रवाद को क्रान्तिकारी तथा एकीकृत राष्ट्रवाद को सर्वाधिकारी राष्ट्रवाद का नाम दिया है।

आधुनिक विद्वान राष्ट्रवाद के पांच प्रकार मानते हैं—

(1) उदार राष्ट्रवाद (Liberal Nationalism)
(2) सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद (Totalitarian Nationalism),
(3) साम्यवादी राष्ट्रवाद (Communist Nationalism),
(5) नवीन राष्ट्रवाद (New Nationalism)।

(1) **उदारवादी राष्ट्रवाद** (Liberal Nationalism)—जो राष्ट्रवाद 17वी तथा 18वीं शताब्दी में विकसित हुआ, वह सामन्तवादी व्यवस्था के विरुद्ध एक चुनौती थी। इस राष्ट्र-वाद के प्रचारकों में मान्टेस्क्यू, वाल्टेयर, लॉक, रूसो, जैफरसन जैसे दार्शनिक आते हैं। उन्होने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के आधार पर जनमत को विकसित किया और लोक सत्ता तथा संवैधानिक शासन का समर्थन किया। आगे चलकर यह विचारधारा उदार मानवतावादी विचार-धारा में मिल गयी और जो प्रजातन्त्रीय विचारधारा को पुष्ट करने वाली बनी। इसमें आत्म-निर्णय के अधिकार को भी मान्यता प्राप्त हुई।

इस विचारधारा को मानने वाला मध्य वर्ग था जो बुद्धिवादी भी था। मध्य वर्ग ने व्यापार के लिए एक संगठित व उद्योग प्रधान शासन व्यवस्था की स्थापना की। इन राष्ट्रवादियों ने वैचारिक व बौद्धिक समर्थन देकर राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था को अपने हाथों में लिया और सामन्तशाही के प्रभाव को क्षीण करते हुए, शासन का आधार राष्ट्रवाद रखा। इस प्रकार राष्ट्रवाद के कारण से यूरोपीय राज्य की तीन मुख्य विशेषताएँ थीं—(i) सुदृढ़ राज्य सरकार, (ii) समृद्ध और प्रभावशाली मध्यम वर्ग और (iii) निजी सम्पत्ति, मुक्त उद्यम (Free Enterprise) एवं राजनीतिक स्वतन्त्रताओं पर आधारित उदार आर्थिक ढाँचा।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में औद्योगिक क्रान्ति का वेग बढा और यूरोपीय राष्ट्रवाद उतना ही तेजी से बढा। साम्राज्यवाद का विकास हुआ पर साथ-साथ गुलाम देशों में पुरानी सामन्तशाही व साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध आन्दोलन छिड़ गये। राष्ट्रवादी आन्दोलन के कारण ही यूरोप का राजनीतिक ढाँचा बदल गया। बड़े-बड़े साम्राज्य लुप्त हो गये। पूर्वीय एवं मध्य यूरोप में आत्म-निर्णय के आधार पर राष्ट्र-राज्यों का निर्माण हुआ जो क्रान्तिकारी था परन्तु

व्यवहार में भी वह शान्तिमय उपायों को न अपना सका। क्रिमिया की लड़ाई, अमेरिकी गृह-युद्ध, फ्रास-प्रशा युद्ध इसी काल की प्रमुख घटनाये हैं। हैज (Hayes) लिखता है कि "अपने शान्तिवादी आधार को त्यागे बिना उदार राष्ट्रवाद राष्ट्रीयता के आधार पर यूरोप में राज्य व्यवस्था की स्थापना नही कर सका। परिणामस्वरूप सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को राजनीतिक राष्ट्रवाद में परिवर्तित करने के लिए संघर्ष और युद्ध व्यावहारिक साधन बन गये।"

इस प्रकार उदार राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, राजतन्त्र व सामन्तशाही का विनाशक और नये सम्प्रभु राष्ट्रों का जनक रहा। इससे सम्पूर्ण यूरोप, जापान, एशिया में नव जागरण का सूत्रपात हुआ और सभी सम्प्रभुता के लिए संघर्ष करने में रत हो गये।

(2) **सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद (Totalitarian Nationalism)**—19वी शताब्दी के अन्त होते-होते उदार राष्ट्रवाद उग्र राष्ट्रवाद में बदल गया। राष्ट्र के नाम पर राष्ट्रों के मध्य तनातनी चल पड़ी। राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के आधार पर राज्यो ने सत्तावादी रूप धारण कर लिया। बड़े राष्ट्रों मे व्यापार, उद्योग, सैनिक-शक्ति, उपनिवेशों की स्थापना में प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्धा तथा होड़ प्रारम्भ हुई। दूसरे निर्बल राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का अन्त होने लगा। उदार राष्ट्रवाद तो ऐसी स्वतन्त्र और संवैधानिक सरकारे चाहता था जो कि व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं मुक्त उद्यम की रक्षा कर सके। पर उग्र राष्ट्रवाद ने आपा-धापी चलाई और समस्त विश्व को कुछ राष्ट्रों में बांट लिया। जो राष्ट्र बच गये उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ाई और बड़े राष्ट्रों से ही छीना-झपटी में लग गये। सिडनी बी० फे (Sidney B. Fay) तथा हेज (Hayes) ने तो प्रथम विश्व युद्ध का मुख्य कारण राष्ट्रवाद ही बताया है।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद युद्ध से जर्जरित राष्ट्रों ने राष्ट्र-संघ का निर्माण किया जिसका उद्देश्य शान्ति और सुरक्षा की स्थापना था। वर्साई की संधि के बाद इटली की आर्थिक दशा खराब हो गई। साम्यवादियों ने बड़ी तोड़-फोड़, हड़ताल एवं जन जीवन को अस्त-व्यस्त करना प्रारम्भ किया। इस अराजकता को दूर करने के लिए मुसोलिनी ने राष्ट्रवाद का नारा लगाया। वास्तव मे साम्यवाद के मुकाबले में राष्ट्रवाद का नया रूप फासीवाद इटली मे आया। उसके बाद हिटलर ने राष्ट्रवाद का ही रूप नाजीवाद जर्मनी मे अपनाया। कुछ ही वर्षों में दोनो नेताओं ने अपने देश की काया-पलट कर दी। पर साथ-साथ उन्होंने युद्ध का नारा लगाया। राष्ट्र संघ को नष्ट-भ्रष्ट कर दोनों तानाशाओं ने विश्व को द्वितीय महायुद्ध की अग्नि में झोंक दिया।

(3) **साम्यवादी राष्ट्रवाद (Communist Nationalism)**—साम्यवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है। लेनिन के बाद स्टालिन ने साम्यवाद को नये प्रकार के राष्ट्रवाद में ढालना प्रारम्भ कर दिया था। स्टालिन के बाद भी यह मनोवृत्ति चालू रही। वास्तव में साम्यवादी आत्म निर्णय के अधिकार को स्वीकार करते हैं पर यह सिद्धान्त दूसरे के लिए है, साम्यवादियों के लिए नहीं। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जिन देशों को रूस ने गुलाम बनाया, वहाँ साम्यवाद की जबरन स्थापना की। किसी प्रकार योगोस्लाविया तो रूस के चंगुल से निकल भागा पर पोलैण्ड, हंगरी, चैकोस्लोवाकिया आदि देश अपनी पूर्णतया स्वतन्त्रता गंवा बैठे। इन तीनों देशों ने आत्मनिर्णय की मांग पर विद्रोह किया और इन्हें ऐसे कुचल दिया गया जैसे कोई राष्ट्र अपने घरेलू विद्रोह को कुचल देता है। दुनिया ने देख लिया कि "हाथी के दांत दिखाने के और खाने के और होते हैं।" उपनिवेशों में राष्ट्रवाद जगाकर रूस तथा चीन में पूंजीवादी साम्राज्यवादियों के छक्के छुड़ा दिये हैं। एशिया, लैटिन अमेरिका और अफ्रीका में राष्ट्रवाद का समर्थन कर साम्यवाद अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता है। आज साम्यवादी साम्राज्यवाद भी उतना ही भयानक हो गया है जितना पूंजीवादी साम्राज्य-वाद है।

इस प्रकार सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद और साम्यवादी राष्ट्रवाद दोनों ही मानवता में संघर्ष तथा मारकाट की ओर उसे धकेल रहे हैं और पशुता का प्रचार कर रहे हैं।

(4) **एकीकृत राष्ट्रवाद** (Integral Nationalism)—एकीकृत राष्ट्रवाद के प्रबल प्रचारकों में से कॉटे (Comte), तैन (Taine), बारेस (Barres) व चार्ल्स मोरेस (Charles Moris) आदि हैं।

मोरेस के इस विषय में शब्द इस प्रकार के है—"एकीकृत राष्ट्रवाद का तात्पर्य एकमात्र राष्ट्रीय नीतियों का प्रसार, राष्ट्रीय सुरक्षा की पूर्ण-व्यवस्था और राष्ट्रीय शक्ति का निरन्तर विकास है। क्योंकि सैनिक शक्ति कम होने पर राष्ट्र का पतन आरम्भ हो जाता है।"[1] एक अन्य लेखक का कहना है कि "एकीकृत राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता को बढाने, अपने सम्मान को बढाने, सैनिक शक्ति द्वारा राष्ट्रों को आतंकित करने आदि सभी स्वार्थों व विस्तारवादी धारणाओं का वाद है।" हेज (Hayes) का मत है कि "एकीकृत राष्ट्रवाद को केवल सर्वाधिकारवादी राज्यों ने ही नही अपितु यूरोप एवं अमेरिका के अन्य राष्ट्रों ने भी अपनाया है। वर्तमान समय मे चीन, पाकिस्तान, स्पेन आदि देशों ने यह व्यवस्था अपना रखी है।

आर्थिक आवश्यकताओं ने भी एकीकृत राष्ट्रवाद को अपनाने के लिए प्रेरणा दी हैं। ये सभी देश अपने हित की दृष्टि से ही कर-व्यवस्था व व्यापार के नियम बनाते है जो संकीर्ण होते हैं। इससे उनमे संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना पनपती है। मार्गेन्यू ने इसे "राष्ट्रीयवादी विश्ववाद" (Nationalistic Universalism) कहा है जिसके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र विश्व भर में अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करना चाहता है। पामर व पार्किन्स मार्गेन्थ्यू के उक्त कथन से सहमत नही है। उनका कहना है कि मार्गेन्थ्यू को "राष्ट्रवादी विश्ववाद" राष्ट्रवाद तो बिल्कुल है ही नहीं है, बल्कि वह तो बड़े राष्ट्रों द्वारा अपनी विदेशी नीति की एक अनोखी व्याख्या है।"[2]

(5) **नवीन राष्ट्रवाद** (New Nationalism)—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद लगभग सौ राज्य ऐसे थे जो सम्प्रभुता सम्पन्न थे। इनमे साम्राज्यवादी व्यवस्था का अन्त करके नवीन राष्ट्र व्यवस्था स्थापित हुई है। ये नवोदित राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता का अतिक्रमण होने पर तीव्र विरोधी प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं।

ये नवीन राष्ट्रवादी राज्य आन्तरिक क्षेत्र मे, कट्टर राष्ट्रीय भावनाओ से युक्त तथा बाह्य क्षेत्र मे उग्रराष्ट्रवादी है। इनकी प्रमुख विशेषताएँ हैं—आत्म सम्मान, राजनीतिक स्वाधीनता, स्वतन्त्र नीति निर्धारण के प्रति जागरूकता आदि। ये साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा रंग-भेद, धर्म-भेद नीतियों का घोर विरोध करते हैं। ये नवीन राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से अविकसित या अर्द्ध-विकसित है और यही कारण है कि इनमें राजनीतिक स्थिरता नहीं आ पा रही है।

अधिकांश नवोदित राष्ट्रो में राष्ट्रवादी (Authoritarian) शासन है जो राष्ट्र नेताओं के अधीन लोकतन्त्र के रूप में विकसित हो रहा है। देश को आर्थिक दृष्टि से उन्नत करने के लिए राष्ट्रीय नियोजन के अधीन आर्थिक साधनों का नियन्त्रण किया गया है। पाकिस्तान, अरब गणराज्य, अल्जीरिया, घाना, थाईलैण्ड, कोरिया आदि ऐसे ही राज्य है।

---

[1] The exclusive pursuit of national politics, the absolute maintenance of national integrity and steady increase of national power of a nation declines when it loses military might."

—Quoted in Hayes : *Historical Revolution* p 165.

[2] "Margenthau's nationalistic universalism is not nationalism at all, but a peculiar interpretation of the foreign policy objectives of the 'Super Powes'

आज के युग मे नये राष्ट्र उत्पन्न हो रहे है और जो अभी गोरी जातियों के अधीन है, उनमे भी स्वतन्त्रता के लिये जबरदस्त संघर्ष चल रहा है। 1976 तक सम्प्रभु राष्ट्रों की संख्या 162 तक जा पहुँची है। इनमें नवीन राष्ट्रों ने गुट-निरपेक्ष नीति रखने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है। बड़े राष्ट्र जहाँ अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, विश्ववाद आदि की बातें कर रहे हैं, वहाँ यह अविकसित या विकासशील राष्ट्र राष्ट्रवादिता एव तटस्थता की पुष्टि में साम्राज्यवादियों एवं विस्तारवादियों के एकाधिकार को चुनौती दे रहे हैं। अफ्रीका मे तो नीग्रो एवं हब्शियों ने राष्ट्रवाद को इतना प्रबल बना दिया है कि उनका आन्दोलन "काला राष्ट्रवाद" (Black Nationalism) कहलाने लगा है। भविष्य में इन भावनाओं से अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा कहाँ तक प्रभावित होगा यह भी विचारणीय विषय है।

राष्ट्रवाद की धारणा का मूल्यांकन
(An Estimate of the Conception of Nationalism)

राष्ट्रवाद आज के युग का एक विवादास्पद विषय है। इसे एक वरदान के रूप में भी अंगीकार किया जाता है और एक अभिशाप के रूप मे इसे प्रस्तुत किया जाता है।

राष्ट्रवाद से लाभ (Advantages of the Nationalism)—राज्यों की आधुनिक रूप-रेखा का आधार तथा लोकतन्त्रीय शासन की नींव राष्ट्रवाद ही है। स्वतन्त्रता, आत्म निर्णय समानता के आदर्श ही साम्राज्यवाद के किले को उखाड़ फेंकने मे समर्थ हुये। निरंकुश शासकों का अन्त कर राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र ने जनता को जनार्दन बना दिया। वस्तुतः राष्ट्रवाद 20वीं शताब्दी की महान क्रान्ति है जिसने सोते हुये एशिया, अफ्रीका, अमेरिका और रूस को झंझोड कर जगा दिया है। यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध जबरदस्त संघर्ष मे लगा दिया है।

राष्ट्रवाद ने व्यक्तियों मे सहयोग, सद्भावना, त्याग, सेवा आदि श्रेष्ठ सामाजिक भावों को उत्पन्न किया और आर्थिक-सांस्कृतिक प्रगति को गतिशीलता प्रदान की।

हान्स कोन (Hans Kohen) ने राष्ट्रवाद को समस्त सर्जनात्मक शक्ति एवं आर्थिक समृद्धि का स्रोत बताया है।"[1]

राष्ट्रीय शक्ति मे भौतिक साधनों का जहाँ महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है वहाँ भावात्मक साधनों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। यह भावात्मक पूर्ति राष्ट्रवाद द्वारा होती है। जापान, जर्मनी जैसी अद्वितीय शक्तियाँ राष्ट्रवाद के उज्ज्वल उदाहरण है। इन दोनों शक्तियों से भी आगे बढ़कर संसार को आश्चर्य मे डालने वाला छोटा-सा नवोदित राष्ट्र इजराइल है। राष्ट्रीय भावनाओं मे ओत-प्रोत यह देश महान शक्तिशाली राष्ट्र माना जाता है। चार्ल्स श्लेचर (Charles P. Schlleicher) ने राष्ट्रवाद का विशेष महत्त्व बताते हुये लिखा है कि "यदि आधुनिक राज्य-व्यवस्था में राष्ट्र शक्ति का विशेष महत्त्व है तो राष्ट्रवाद को राष्ट्रीय सम्पत्ति (National Assets) समझना चाहिये।"[2] आर्गेन्सी (Organski) भी राष्ट्रवाद को एकता उत्पन्न करने वाला तत्त्व बताता है। वह लिखता है कि "सभी नागरिकों को एक सामान्य उद्देश्य के लिये किसी कार्य मे प्रवृत्त करने मे राष्ट्रवाद की भावना विशेष प्रेरक सिद्ध होती है और ऐसे ही राष्ट्र आज की विश्व राजनीति की महत्त्वपूर्ण इकाई है।"[3]

राष्ट्रवाद से हानियाँ (Disadvantages of Nationalism)—हेज़ (Hayes) राष्ट्रवाद को आधुनिक युग का सबसे बडा अभिशाप बताता है क्योंकि दो महान विनाशकारी विश्व युद्धों

---

1 Hans Kohen : *Nationalism—Its Meaning and History.* p 10.
2 Charles P. Schlecher : *International Relations (New Delhi)* p. 65-66,
3 Organski : *World Politics (New Delhi 1974)* p. 38-39.

तथा आये दिन होने वाले संघर्षों को उत्पन्न करने वाला राष्ट्रवाद ही है। उसने राष्ट्रवाद को "मनुष्य का दूसरा धर्म" कहकर पुकारा है।

राष्ट्रवाद का भूत जिस देश पर सवार हो जाता है वह मानवता का विनाश करने मे अपना पूर्ण बल लगा देता है। वह अराजकता उत्पन्न करता है, और जान व माल को अपार क्षति पहुँचाता है। आर्नोल्ड टायनबी (Arnold Toynbee) का कहना है कि राष्ट्रवाद शान्ति एवं समृद्धि के मार्ग मे एक बड़ी बाधा के रूप मे खड़ा है। इसीलिये आणविक शस्त्रों के समान राष्ट्रवाद मानवता का प्रमुख शत्रु है।"[1] बड़े राष्ट्रवादी राज्य राजनीतिक दृष्टि से समस्त विश्व में अपना प्रभाव फैलाना चाहते हैं। उनके मुख्य शिकार एशिया अफ्रीका व दक्षिणी अमरीका के विकासशील राज्य हैं।

निष्कर्ष—अन्त मे इन परस्पर विरोधी धारणाओं पर विचार करके यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राष्ट्रवाद राजनीतिक जगत की वास्तविकता है। यह सोचना कि यह खतरनाक विचारधारा है और समस्त राष्ट्र समाप्त हो जायेंगे तो यह भी समाप्त हो जायगी, भूल है। जब तक विश्व है, राष्ट्रवाद समाप्त नही हो सकता है। बारबरा वॉर्ड (Barbara Ward) लिखती हैं कि 'राष्ट्रवाद आज भी सबसे बड़ी सुदृढ़ एवं प्रभावी शक्ति है।[2] बट्रेन्ड रसल (Bertrand Russell) ने राष्ट्रवाद पर लिखते हुये कहा है कि "हमे यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि राष्ट्रीयता की भावना एक वास्तविकता है। यदि इसकी अपेक्षा की जाती है तो यह और अधिक तीव्र बनकर अनेक झगड़ों को जन्म देती है। अतः जब तक यह संसार में लूटपाट और अराजकता नहीं फैलाता तब तक इसके व्यक्त होते रहने मे कोई हानि नही है। यही इसका उचित समाधान है।"[3]

एक यहूदी अमेरिकन लिखता है, मनुष्य अपनी राजनीति, अपनी पत्नियाँ, अपना धर्म तथा अपने दर्शन त्याग सकते है, परन्तु वे अपनी जन्म भूमि (राष्ट्र) को नही बदल सकते।"[4] अतः अन्तर्राष्ट्रीयता की बात करते समय हमें राष्ट्रीयता को त्यागने की आवश्यकता नही है, वरन् आवश्यकता इस बात की है कि हम सच्ची राष्ट्रीयता को अपनाये जो हमे अपने राष्ट्र से प्रेम करना सिखायें और अन्य राष्ट्रों से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने पर तैयार करे तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने पर भी सहयोग दे। यह तभी सम्भव होगा जब हम उदार शिक्षा ग्रहण करे, उदारवादी व शान्तिवादी बनें, भौतिकवाद के प्रति आकर्षित न हो और आध्यात्मवाद को अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य रखें। हेज कहता है कि "जब राष्ट्रवाद मे पवित्र देश भक्ति की भावनायें उत्पन्न हो जायेगी तो मानवता तथा विश्व के लिये यह एक वरदान सिद्ध होगी।

---

1 "Nationalism stands in the way of our making sure that we shall have peace and food. This is why nationalism, like the atomic weapons, is today an arch enemy of humanity."—*Arnorld Toynbee.*

2 "Barbara Ward : *Five Ideals that Chonged the World,*—(New York 1959) p. 27-28

3 "National sentiment is a fact and should be taken account of by institutions, when it is ignored, it is intensified and becomes a source of strife. It can only be rendered harmless by being given free play, so long as it is not predatory.'
—Bertrand Russell (*Political Ideals, (Cherwin Books London-1960). p. 76.*

4 "Men may change their politics, their wives, their religion, their philosophies, they cannot change their grandfather (Motharland)

सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीयता
(Sovereignty and Internationalism)

सम्प्रभुता का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definitions of Sovereignty)–राज्य समुदायों का समुदाय है और वह सर्वोच्च समुदाय है। उसकी सर्वोच्चता का अर्थ है कि वह अपने क्षेत्र में बसने वाले व्यक्तियों एवं उनके समस्त प्रकार के समूहों पर नियन्त्रण रखता है। राज्य इस सर्वोच्चता के कारण ही स्थिर और सुदृढ बनता है। राज्य की आज्ञा का पालन व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक नही करता बल्कि वह उसे बाध्य होकर पालन करता है। इस बाध्यकारी शक्ति को ही लोग राजसत्ता, प्रभुसत्ता, सम्प्रभुता आदि नामों से पुकारते है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे 'सम्प्रभुता' एक बहुत ही आवश्यक तत्व है। राज्य इस तत्व के कारण राष्ट्र-समाज का सदस्य माना जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति समझा जाता है। कोई प्रदेश जब तक इस तत्व को प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक वह न राज्य शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है, और न वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मच पर उतर कर अपनी भावनाओं को विश्व के सामने रख सकता है। राज्य के रूप मे अन्य राज्य उसे तभी मान्यता देते हैं जब वह सम्प्रभुता रखता हो।

सम्प्रभुता अंग्रेजी भाषा के शब्द 'सावरन्टी' (Sovereignty) का हिन्दी रूपान्तर है। यह शब्द अंग्रेजी भाषा मे लेटिन भाषा से लिया गया है। लेटिन भाषा मे 'सुपरेन्स' (superanus) शब्द के अर्थ हैं सर्वोच्च। इस शब्द का प्रथम बार प्रयोग 1556 में फ्रांसीसी विचारक जीन बोदां (Jean Bodin) ने किया था। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बोदां के बाद हाब्स, लॉक एव रूसो ने किया। आधुनिक व्याख्याकारों मे जेलीनेक, ड्यूवी, केल्सन, आस्टिन व लास्की का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों ने सम्प्रभुता की परिभाषायें नये परवेश के अनुसार की और उसे नये रूप दिये पर बहुलवादी एव साम्यवादी इस सिद्धान्त के अस्तित्व को मिटाने की कोशिश मे लगे हैं।

सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रथम प्रतिपादनकर्ता जीन बोदा (1530-1596) रहा है। अपनी पुस्तक "गणतन्त्र के विषय मे" वह सम्प्रभुता का आशय लिखता है कि "नागरिकों एवं प्रजाजनों पर राज्य का सर्वोच्च अधिकार, जो कानून से बाधित नही होता।"[1] एक स्थान पर वह लिखता है कि "प्रभुसत्ता, राज्य मे शासन करने की निरपेक्ष और स्थायी शक्ति है।"[2] सी० एफ० स्ट्रांग ने प्रभुसत्ता की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "राज्यों का वह विशेष अधिकार, जिसके बल पर वह कानून बनाने और उसे मनमाने ढग से लागू करने के लिए स्वतन्त्र है, प्रभुसत्ता कहलाता है।"[3]

बोदा यद्यपि कानून को सम्प्रभु का आदेश कहता था पर वह यह नहीं चाहता था कि राजा निरंकुश हो। उसकी इच्छा थी कि "प्रभुसत्ता जनता मे निवास करती है। वह कहता था कि जनता इसका कुछ अंश कुछ समय के लिए सरकार के उच्च अधिकारियों को सौंप देती है।"[4]

इस सिद्धान्त के दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले—(1) ऐसे राज्यो की स्थापना हुई जो पूर्ण तथा असीम थे एवं जिनकी सत्ता को कोई मानवीय शक्ति चुनौती नही दे सकती थी तथा

---

1 Sovereignty is the supreme power of the state-over citizens and subjects unrestrained by Law."--Bodin : *Republique*

2 "Sovereignty is the absolute and perpetual power of commanding in a state."—Bodin : *Ibid.*

3 C. F. Strong : *Modern Political constitutions*,

4 "I hold that sovereignty resides in the people."—*Coker.*

(ii) इसने पोप की सार्वभौमिकता पर प्रहार करे साम्राज्यशाही एवं एकता को विच्छिन्न करने वाली सामन्तवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया।

बोदां के बाद ग्रोशियस (1583-1645) ने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। *मैक्सी के मतानुसार "ग्रोशियस ने संसार को अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का दर्शन प्रदान किया एवं आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विचारधारा का शिलान्यास किया।"*[1] ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता की परिभाषा इस प्रकार दी है—"प्रभुसत्ता, सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है, जो ऐसे व्यक्ति में निहित होती है। जिसके कार्यों को कोई मानवीय इच्छा रद्द नहीं कर सकती है।"[2] ग्रोशियस जनता की प्रभुसत्ता का पक्षपाती न था। उसने निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया। गैटिल के मतानुसार "उस समय महाद्वीपीय यूरोप की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं कि ग्रोशियस का निरंकुश राजतन्त्र का सिद्धान्त बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।"[3] गैटिल आगे लिखता है कि "ग्रोशियस का राजत्व सिद्धान्त उस काल के राजाओं को बहुत पसन्द आया और वेस्टफेलिया के शान्ति सम्मेलन (Peace conference of Westphalia) पर, जो यूरोप का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था, इसका प्रभाव पड़ा।"[4] इस प्रकार प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दिलायी।

फ्रांसीसी विद्वान ड्यूवी ने प्रभुसत्ता की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "प्रभुसत्ता राज्य को आदेश देने वाली वह शक्ति है जिसके अनुसार वह अपने राज्य व प्रदेश में रहने वाले सभी *व्यक्तियों को बिना किसी शर्त के आदेश दे सकते हैं। सम्प्रभुता राष्ट्र की इच्छा है जो एक राज्य में संगठित होती है।"*[5] जैलीनेक के कथनानुसार "प्रभुसत्ता राज्य की वह विशेषता है जिसके कारण राज्य को उसकी निजी इच्छा के अलावा दूसरी किसी कानूनी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है।"[6]

बर्गेस के अनुसार, "प्रभुसत्ता राज्य के सब व्यक्तियों तथा व्यक्तिगत समुदायों के ऊपर मौलिक पूर्ण एवं असीमित शक्ति का नाम है।"[7] ब्लेक स्टोन के शब्दों में "प्रभुसत्ता सर्वोच्च, अविरोधनीय, पूर्ण अनियन्त्रित शक्ति है जो राज्य में केन्द्रित रहती है।"[8] पोलक के मतानुसार *"प्रभुसत्ता उस शक्ति का नाम है जो अस्थाई न हो, प्रदत्त न हो, तथा ऐसे नियमों के अधीन न हो* जिनको वह बदल न सके और पृथ्वी पर अन्य किसी शक्ति के सामने उत्तरदायी न हो।"[9]

---

1 'Grotius gave to the world a philosophy of international sovereignty, and *laid the basis of modern international law and international political* indeology." —*Moxey.*

2 Grotius defined sovereignty as supreme political power, vested in him whose acts cannot be rendered void by any other human will." —*Gettell.*

3 R. G. Gettell : *History of Political Thought* (1970) p. 193.

4 R. G. *Gettell : op, cit. p. 193*

5 "Sovereignty is the commanding power of the state, it is will of the people (nation) organised in the state, it is the right to give unconditional order to all individuals in the territory of the state" —*Duguit.*

6 [illegible] be bound except —*Jellinek.*

7 [illegible] over the individual —*Burgess.*

8 "Sovereignty is the supreme irresistible, absolute, uncontrollable authority *in which the jura summi Imperu reside."* —*Blackstone.*

9 Sovereignty is the power which is neither temporary, nor delegated, nor subject to particular rule which it connot alter, nor answerable to any other power on earth." —*Polock.*

प्रभुसत्ता का प्रबल समर्थन करने वाला विचारक जॉन आस्टिन (John Austin) है। उसके मतानुसार, "यदि किसी समाज के अधिकांश व्यक्ति किसी निश्चित उच्चतर व्यक्ति की आज्ञाओं का आदतन पालन करते हों और वह स्वयं ही अपने ही जैसे किसी दूसरे उच्चतर व्यक्ति की आज्ञा पालन को बाध्य न हो तो वह निश्चित उच्चतर व्यक्ति उस समाज का प्रभु है और उसके सहित वह समाज एक स्वतन्त्र और राजनीतिक समाज है। प्रभु के आदेश कानून होते हैं।"[1]

प्रभुसत्ता की विशेषताएँ

(Chief Characteristics of Sovereignty)

प्रभुसत्ता की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **पूर्णता अथवा निरंकुशता** (Absoluteness)—सम्प्रभुता की प्रथम विशेषता है उसी पूर्णता या निरंकुशता। इसका तात्पर्य यह है कि सम्प्रभु राज्य को सर्वोच्च सत्ता होती है। वह आन्तरिक व बाह्य क्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र होता है, किसी को अधिकार नहीं कि वह उसे वैधानिक रूप से सीमित या नियन्त्रित कर सके। वह सभी बन्धनों से मुक्त और निःसीम होती है। गैटिल के मतानुसार, "यदि प्रभुसत्ता पूर्ण नहीं है तो राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह सकता है।"

(2) **मौलिकता** (Originality)—दूसरी प्रमुख विशेषता जो सम्प्रभुता में पायी जाती है वह है मौलिकता। मौलिकता का तात्पर्य है कि प्रभुसत्ता स्वयं सिद्ध एवं स्व-अर्जित शक्ति है। उस शक्ति का कोई स्रोत नहीं है वह स्वभावतः है। वह किसी को नहीं दी जा सकती है। तथ्य यह है कि प्रभुता सर्वोच्च शक्ति का स्रोत स्वयं ही है।

(3) **अदेयता अथवा अविच्छिन्नता** (Inalienability)—जीव में जिस प्रकार शरीर और आत्मा दो तत्व रहते हैं और आत्मा-रहित जीव मिट्टी के समान है उसी प्रकार राज्य की आत्मा प्रभुसत्ता है और उसके बिना राज्य का अस्तित्व ही नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार राज्य से प्रभुसत्ता के तत्व पृथक करने का परिणाम राज्य का अस्तित्व मिटाना है। कोई भी राज्य प्रभुसत्ता को खोना अर्थात् आत्म हत्या करना पसन्द न करेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि राज्य से प्रभुसत्ता को पृथक या अविछिन्न नहीं किया जा सकता है।

(4) **अनन्यता** (Exclusiveness)—प्रभुसत्ता पूर्ण, निःसीम, मौलिक और अदेय होती है। इससे प्रभुसत्ता की एक अन्य विशेषता का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है कि राज्य में प्रभुसत्ता अनन्य है। अनन्य का तात्पर्य यह है कि सर्वोच्च सत्ता होने के नाते प्रभुसत्ता राज्य में एक ही हो सकती है। प्रभुसत्ता के ऊपर या उसके समकक्ष कोई शक्ति एक क्षेत्र में नहीं हो सकती है। राज्य सर्वोपरि है, उसके अधीन सभी है। उसे कोई शक्ति नियन्त्रित नहीं कर सकती है।

(5) **सर्व व्यापकता** (All Comprehensiveness or Universality)—राज्य में सम्प्रभुता सर्वव्यापक होती है। किसी भी क्षेत्र में उसका अधिकार अनायास ही अनुभव किया जा सकता है। राज्य के अन्तर्गत प्रदेश, पदार्थ, मनुष्य एवं मनुष्य निर्मित समुदाय पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। "सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य से कोई बाहर नहीं।" राज्य चाहे तो अपने क्षेत्र को अन्य किसी को दे सकता है पर ऐसा करने के लिए कोई उसे बाध्य नहीं कर सकता है।

---

[1] "If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society that deteminalte human superior is sovereign in that society, and the society (including that superior) is a society political and independent."

—John Austin : *Lectures on Jurispru[illegible]* [illegible] 229.

(6) एकता अथवा अविभाज्यता (Unity or Indivisibility)—राज्य की प्रभुसत्ता अविभाज्य होती है। उसके टुकड़े या खण्ड नहीं किये जा सकते हैं। प्रभुसत्ता के विभाजन का अर्थ राज्य का विनाश होगा। कालहोन के मतानुसार "सर्वोच्च सत्ता एक पूर्ण वस्तु है, उसको विभक्त करना, उसको नष्ट करना है। यह राज्य की सर्वोच्च शक्ति है।

(7) स्थायित्व (Permanence)—राज्य के स्थायित्व का अर्थ प्रभुसत्ता का स्थायित्व है। राज्य तभी तक जीवित रहता है जब तक उसमें प्रभुसत्ता वास करती है। एक का अन्त दूसरे के अन्त की घोषणा होती है। शासक की मृत्यु पर प्रभुसत्ता का अन्त नहीं होता है। प्रभुसत्ता के स्थायित्व को किसी भी आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है।

प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of the Concept of Sovereignty)

प्रभुसत्ता पर बहुलवादियों ने जबरदस्त प्रहार किया है। बीसवीं शताब्दी के दूसरे तथा तीसरे दशक में सम्प्रभुता के सिद्धान्त को चुनौती दी जाने लगी। आर्थिक तत्वों की बढ़ती हुई प्रधानता को देखते हुए सम्प्रभुता की धारणा खोखली और कृत्रिम दिखायी देने लगी। बहुलवादियों में डॉ. जे० एन० फिगिस, ए० डी० लिन्डसे तथा हैरोल्ड लास्की इंगलैण्ड के लियन गिड़े फ्रांस के तथा क्रैब हालैण्ड के प्रसिद्ध हैं। इन्होंने प्रभुसत्ता पर निम्नलिखित प्रहार किये हैं :

(1) ए० डी० लिन्डसे लिखते हैं कि "यदि इन तथ्यों को देखते हैं तो यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त भंग हो चुका है।"[1]

(2) बार्कर लिखते हैं कि "कोई भी राजनीतिक धारणा इतनी निष्फल नहीं हो गयी है जितनी कि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त।"[2]

(3) लास्की का मत है कि "सम्प्रभुता के कानूनी सिद्धान्त को राजनीतिक दर्शन के लिए मान्य बना देना असम्भव है।[3]

(4) क्रैब का तो यहाँ तक कहना है कि "सम्प्रभुता की धारणा को राजनीतिक दर्शन में से निकाल देना चाहिए।"[4]

इतना होने पर भी राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त को अभी तक कम महत्व नहीं दिया जाता है।

सम्प्रभुता के भेद
(Kinds of Sovereignty)

राजनीतिक विचारकों ने सम्प्रभुता के चार भेद बताये हैं :

(i) बाह्य तथा आन्तरिक प्रभुता (External and Internal Sovereignty),
(ii) ध्वजामात्र तथा वास्तविक प्रभुता (Titular and Actual Sovereignty),
(iii) वैध तथा तथ्यतः प्रभुता (Dejure and defacto Sovereignty),
(iv) कानूनी तथा राजनीतिक प्रभुता (Legal and Political Sovereignty),

---

1 "If we look at the facts, it is clear enough that the theory of sovereign state has broken down." —*A. D. Lindsay.*

2 "No political phenomenon has become more arid and unfruitful than the doctrine of the sovereign state. —*Barker.*

3 "It is impossible to make the legal theory of sovereignty valid for political philosophy. —*Laski*

4 "The notion of sovereignty must be expunged from political theory. —*Krabbe*

(i) **वाह्य तथा आन्तरिक प्रभुता** – प्रभुता के दो रूप होते है—आन्तरिक एवं वाह्य। आन्तरिक प्रभुता से तात्पर्य यह है कि राज्य के आन्तरिक क्षेत्र में प्रभुसत्ता सर्वोच्च शक्ति है। प्रभुता से ऊपर या उसके समकक्ष कोई भी शक्ति राज्य में नही होती है। प्रभुता के सर्वोच्च होने का अर्थ है कि राज्य में निवास करने वाले समस्त नागरिक अथवा व्यक्ति, व्यक्ति समूह तथा समुदाय आदि प्रभु के आदेशों का पालन करते हैं।

वाह्य प्रभुता का अभिप्राय यह है कि राज्य की सर्वोच्चता को कोई वाह्य शक्ति सीमित नहीं कर सकती है। राज्य प्रभुसत्ता के आधार पर ही परस्पर सम्बन्धों को स्थापित करते है। यदि किसी राज्य पर वाह्य तौर पर कोई प्रतिबन्ध लगा है तो राज्य की स्वतन्त्रता एवं उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों तथा राष्ट्र-संघ सदृश्य संस्थाओं के बन्धन को शिष्टाचार वश ही स्वीकार करते है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को पालन करने के लिए राज्य को वाध्य नहीं किया जा सकता है। यह भी राज्य शिष्टाचार वश ही मानता है। इसका अर्थ यह है कि कोई वाह्य शक्ति राज्य की सर्वोच्चता को सीमित नही कर सकती।

(ii) **ध्वजामात्र तथा वास्तविक प्रभुता**—कुछ राज्यों मे प्रभुता के ये दो रूप ही पाये जाते हैं। यह अन्तर प्रायः संसदात्मक शासन प्रणाली के अन्दर ही पाया जाता है। राज्य की वास्तविक शक्ति का केन्द्र तो जनता होती है जिसे जनता निर्वाचित प्रतिनिधियों को सौंप देती है। मन्त्रिमण्डल सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करता है। परन्तु राष्ट्र का अध्यक्ष राष्ट्रपति या राजा होता है जो नाममात्र का राज्याध्यक्ष होता है, उसके पास कोई जिम्मेदारी या शक्ति नही होती है। वह ध्वजमात्र प्रभु कहलाता है और मन्त्रिमण्डल वास्तविक प्रभु कहलाता है। उदाहरण के लिए इगलैण्ड में राजा और भारत में राष्ट्रपति ध्वजमात्र प्रभु हैं। इनकी समस्त शक्तियों का प्रयोग इनके मन्त्रिमण्डल करते हैं। मन्त्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है।

(iii) **वैध तथा तथ्यतः प्रभुता**—वैध अथवा न्याय तथा तथ्यतः प्रभुता मे अन्तर केवल इतना होता है कि एक के पास कानून द्वारा शक्ति प्राप्त होती है जबकि दूसरी को वास्तविक शक्ति प्राप्त होती है। जब एक राज्य मे गृहयुद्ध छिड़ जाय तब दो सत्तायें प्रभुता का दावा करने लगती है। शक्ति के बल पर कोई सेनापति अथवा कोई राष्ट्रनेता प्रभुता ग्रहण कर लेता है और सैनिक शक्ति के आधार पर जनता से अपनी आज्ञा का पालन कराने लगता है। इस प्रकार उसकी सत्ता का कोई वैधानिक आधार न होकर भी वास्तव मे वही सम्प्रभु होता है। तथ्यतः प्रभुता यदि अपनी प्रभुता का प्रयोग स्थायी रूप से करती रहती है तो वह ही कालान्तर मे वैध सत्ता बन जाती है। स्थायित्व का तत्व ही ऐसा तत्व है जो तथ्यतः प्रभुता को वैध प्रभुता मे बदल देता है।

(iv) **कानूनी तथा राजनीतिक प्रभुता**—प्रभुता एक कानूनी विचार है। वैधानिक दृष्टि से वह राज्य की सर्वोच्च सत्ता है। वह कानून का स्रोत है अर्थात कानून का निमाण कर सकती है। उसके बनाये कानून को कोर्ट चुनौती नही दे सकता है। न्यायालय उसके कानून को सर्वोच्च स्वीकार कर उन्हें प्रभावी बनाता है। इस प्रकार की वैधानिक प्रभुता को प्रयुक्त करने वाला व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह कानूनी प्रभु कहलाता है। ब्रिटेन मे राजायुक्त संसद ही कानूनी प्रभु है।

सिद्धान्त रूप से कानूनी प्रभुता ही राज्य की सर्वोच्च सत्ता होती है एवं कानून निर्माण करने का अन्तिम अधिकार उसी का होता है। परन्तु इस प्रकार की कानूनी प्रभुसत्ता का उपभोग बहुत ही कठिन बात है। इगलैण्ड राजायुक्त संसद कानूनी सम्प्रभु है पर उसे [illegible]
ध्यान रखना पड़ता। इसका अर्थ यह हुआ कि कानूनी प्रभु के पीछे एक वास्तवि[illegible]
होता है। यद्यपि इस प्रभु को न्यायालय स्वीकार नहीं करते पर कानूनी प्रभु [illegible]

कर सकता । इसे ही डायसी राजनीतिक प्रभु कहता है । गिलक्राइस्ट के शब्दों में "उन सब प्रभावों के योग को जो कानून की पीठ पर होता है राजनीतिक सर्वोच्च सत्ता कहते हैं ।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सम्प्रभुता का सिद्धान्त
(Concept of Sovereignty in International Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सम्प्रभुता के अर्थ को लेकर अनेक मत प्रकट किये गये हैं । कुछ राजनीतिक विद्वान सम्प्रभुता को "अबाधित सत्ता" मानते हैं । जैसे ओपन हाइम ने उसे सर्वोच्च सत्ता को जो किसी भी अन्य सांसारिक सत्ता से बाधित नहीं होती, सर्वोच्च सत्ता कहा है ।"[1] विलोबी ने इसे "राज्य की निरंकुश इच्छा" कहा है, लेकिन यदि यह सिद्धान्त व्यवहार में लाया जाय तो विश्व में अराजकता फैल जायगी और सभी राष्ट्र मनमानी से काम लेंगे । जंगल का कानून ही मान्य होगा और हाब्स द्वारा वर्णित 'आदिम अराजकता की स्थिति' State of Primitive Anarchy) आ जायेगी जिसमे 'सब का सब मे युद्ध' (The war of all aganist all) *आरम्भ हो जायगा ।*

बर्टेण्ड रसेल (Bertrand Russell) ने अपनी राय देते हुए लिखा है कि "वैदेशिक मामलों में राज्यों को अपनी प्रभुसत्ता छोड़कर उन मामलो का निर्णय किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के हाथों सौंप देना चाहिए । तभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो का निपटारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार होकर विश्व शान्ति कायम रह सकेगी, अन्यथा अराजकता फैल जायगी ।"[2] रसेल के समान ही हैरोल्ड लास्की (Harold J. Laski), सी० एफ० स्ट्रांग (C. F. Strong), सी० जे० फ्रेडरिक (C. J. Friederick) आदि विचारकों ने भी राज्यो को सम्प्रभुता का आग्रह छोड़कर एक विश्व-व्यवस्था स्थापित करने पर जोर दिया है ।

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण अतिवादी सिद्ध हुए है क्योंकि राज्य मे कोई भी संस्था राजसत्ता की बराबरी नही कर सकती, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी प्रभुसत्ता वही समाप्त हो जाती है जहाँ से दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता सीमा प्रारम्भ होती है । इसके अतिरिक्त राज्य की प्रभुसत्ता मानव प्रकृति मे भी सम्बन्धित है क्योंकि राज्य विश्व कल्याण के लिए अपने अधिकार नही छोड़ते हैं । *अतः प्रत्येक राज्य के लिए आवश्यक है कि वह अपनी प्रभुसत्ता का विश्वहित के साथ* तालमेल बैठाये ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून, एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप करने पर बदले की कार्यवाही का अधिकार देता है । यह प्रतिक्रियात्मक कार्यवाही आक्रमणकारी राष्ट्र की प्रभुसत्ता का वैसा ही हनन कर सकती है जैसा कि उसने किया है । इस प्रकार प्रत्येक देश को स्वशासन का अधिकार तथा अपने हित सम्पादन हेतु विदेश नीति का गठन व पालन अधिकार की प्रभुसत्ता है ।

प्रो० के० सी० गुप्ता ने प्रभुसत्ता के तीन आशय लिखे है—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित मर्यादा में स्वशासन कर सकता है ।

(ii) प्रभुसत्ता किसी राष्ट्र की प्रादेशिक अखण्डता का भावात्मक रूप है ।

(iii) सम्प्रभु राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में समान है चाहे उनमें जनसंख्या, भू-भाग सैनिक शक्ति आदि की कितनी भी असमानता हो ।

पामर और पार्किन्स कहते है कि सम्प्रभुसत्ता की पुरानी मान्यता को अब बदल देना चाहिए तभी विश्व में शान्ति-व्यवस्था कायम की जा सकती है ।

---

1 "Sovereignty is supreme authority, an authority which is independent of any earthey authority." —*Oppenheim.*

2 Bertrand Russell : *Political Ideals*, 81-82

सम्प्रभुता के कुछ रूप (Some Aspects of Sovereignty)—आधुनिक युग मे सम्प्रभुता के दो रूप माने जाते हैं—राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय (National and International) क्विन्सी राइट (Quincy Wright) का कहना है कि "म्यूनिसिपल् (राष्ट्रीय) कानून की दृष्टि से सम्प्रभुता एक ऐसी इकाई है जिसे सीमित अथवा विभाजित नहीं किया जा सकता, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि मे इसे विश्लेपित, विभाजित तथा सीमित किया जा सकता है।"

क्विन्सी राइट ने प्रभुसत्ता को 'आंशिक व पूर्ण' (Partial and Full) तथा "राजनीतिक व वैधानिक" (Political and Legal) रूपों मे वर्गीकृत किया है। वह प्रभुसत्ता पर तीन सीमाएँ लगाने का समर्थन करता है—(i) "अन्तर्राष्ट्रीय विवादों मे स्वय निर्णय देने की शक्ति, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सशस्त्र सैनिक शक्ति का निर्माण एवं प्रयोग की शक्ति तथा (iii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर इच्छानुसार प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति।"[1]

दूसरे विद्वान, क्लाइड ईगलटन (Clyde Eagleton) सम्प्रभुता को विभाजित करने के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि "सम्प्रभुता को पूर्ण (Absolute) अथवा निर्बाध (Unrestrained) मानना अथवा यह कहना कि सम्प्रभुता को छोड़ दिया जाय या मिला दिया जाय, ये दोनो ही कथन मूर्खता-पूर्ण हैं। आज सम्प्रभुता की मान्यता को नष्ट करने का समय नही है वरन् आवश्यकता है कि जो विषय अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के हैं उन पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाये तथा अन्य पर राष्ट्र स्वयं ही नियन्त्रण रखे।"

पर मार्गेन्थ्यू प्रभुसत्ता को अविभाजित मानता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दृष्टि से पूर्ण सम्प्रभुता को त्याग देना सैद्धान्तिक दृष्टि से अस्थिर तथा व्यवहारिक रूप से असम्भव है।"

कोहेन (E. H. Cohen) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परिपेक्ष्य मे सम्प्रभुता को तीन रूपों मे प्रस्तुत करता है—

(i) सम्मिलित सम्प्रभुता की मान्यता (Concept of Joint Sovereignty) जिसका प्रयोग सभी राष्ट्र मिलकर समान रूप से कर सकते हैं। (ii) विभाजित सम्प्रभुता (Divided Sovereignty) जिसमें सम्प्रभुता आन्तरिक एवं वाह्य दो रूपो मे बाँटी जाती है। (iii) अन्तर्राष्ट्रीय निगमों की सम्प्रभुता (Sovereignty of International Corporation), आन्तरिक क्षेत्रों में तीनों ही शक्तियों का उपयोग राष्ट्र कर सकते है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संघर्षों व युद्धों की सम्भावना को रोकने के लिए राष्ट्रों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है।"

यद्यपि बहुलवादियों और अन्तर्राष्ट्रवादियो ने सम्प्रभुता के सिद्धान्त को राजनीति के क्षेत्र से सदैव के लिए निकाल देने पर जोर दिया पर कोहेन (Cohen) ने इसे स्वीकार नही किया। उसका मत है कि "सम्प्रभुता शक्ति या शक्ति के स्तर को परिभाषित करने वाले पद (Term) के रूप में या वैधानिक व्यवस्था के किसी भाग के स्तर को या उस व्यवस्था की सर्वाधिकारिता को परिमापित करने वाले पद के रूप मे सदैव बनी रहेगी।" महात्मा गाधी ने भी रामराज्य सिद्धान्त में इसे स्वीकार करते हुए लिखा है कि "राज्य हिंसा तथा विध्वंसकारी शक्तियों पर आधारित है, यह मनुष्यो को मनुष्यों के रूप मे देखने में असमर्थ है किन्तु फिर भी स्थितियाँ अभी ऐसी नही हैं कि राज्य को नष्ट किया जा सके या उसकी सम्प्रभुता को कुचला जा सके।" 'पामर व पार्किन्स' के शब्दो में भी "जब तक अन्तर्राष्ट्रीय समाज में प्रभावशील रूप राष्ट्र-राज्य की व्यवस्था रहेगी तब तक सम्प्रभुता नही होगी।"

---

[1] (i) "The power of self-judgement in international controversies.
(ii) The power to prepare and use armed forces in international relation
(iii) The power to impose arbitrary barriers to international trade."
—Quincy W

सम्प्रभुता का साम्यवादी दृष्टिकोण—रूस में 1917 में बोल्शेविकों ने क्रान्ति की थी। उनकी शासन व्यवस्था मार्क्स और लेनिन के विचारानुसार की गयी। आज विश्व में सोवियत रूस की शासन व्यवस्था पश्चिमी देशों से भिन्न है अतः मार्क्सवादियों के विचार भी सम्प्रभुता पर अन्य विचारधारा के मानने वालों से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि रूस साम्यवाद का विस्तार विश्व भर में करना चाहता है और राज्यविहीन एवं वर्ग विहीन समाज की रचना का स्वप्न विश्व के सामने रखना चाहता है पर वह इस आदर्श समाज की स्थापना राज्य की सहायता से ही करना चाहता है। अतः वह राज्य की सम्प्रभुता का प्रबल समर्थक है। उसने सदैव ही सम्प्रभुता को समाप्त करने या उसे सीमित करने का विरोध किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ में जब-जब निषेधाधिकार (Veto Power) को सीमित करने का प्रस्ताव रखा गया रूस ने उसी पर विचार करने का भी कष्ट नहीं किया क्योंकि इससे उसकी सर्वोच्चता एवं सम्प्रभुता सीमित होती थी।

रूसी राजनीतिज्ञ इस विचार का समर्थन इसलिए भी करते थे कि पश्चिमी देशों ने रूस के चारों ओर सैनिक बन्धन कर उसे घेर रखा था ताकि साम्यवाद को रूस की सीमा तक ही कैद किया जा सके और उसे सीमा से बाहर फैलने का अवसर न दिया जा सके। साम्यवादी सम्प्रभुता को नाश करने की योजना को पूँजीवादियों की एक चाल समझते हैं जिससे साम्राज्यवादियों को अपनी प्रवृत्तियों की रक्षा का अवसर मिल सके। रूसी साम्यवादियों का कहना है कि साम्राज्यवाद का विनाश तभी होगा जब पराधीन राष्ट्रों को सम्प्रभुता का अधिकार मिलेगा सम्प्रभुता पराधीन राष्ट्रों को न केवल साम्राज्यवादियों के चंगुल से बचाती है बल्कि आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक आदि क्षेत्रों में अविकसित राष्ट्रों को स्वतन्त्र नीति अपनाने की सामर्थ्य प्रदान करती है।

प्रसिद्ध रूसी विद्वान ई० एफ० कोरोविन (E. A. Korovin) ने सम्प्रभुता के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि "जिस राज्य में प्रजातन्त्र वास्तविक रूप में स्थित है वह अपनी सम्प्रभुता को सीमित करने के लिए कभी राजी न होगा। अपनी इच्छा से की गयी सन्धियाँ, समझौते आदि सम्प्रभुता को सीमित नहीं करते, इनकी सीमाएँ तो एक पक्षीय रूप में ऊपर से थोपी जाती हैं।"

डा० पी० डी० शर्मा तथा एच० सी० शर्मा ने बताया है कि रूसी राजनीतिज्ञ सम्प्रभुता को सीमित करने के लिए दो कारणों से तैयार नहीं हैं—

(i) पूँजीवादी राष्ट्रों से घिरा रूस सम्प्रभुता की समाप्ति के नाम पर अपने आदर्शों के विरोधी राजनीतिक व आर्थिक तत्वों को बढ़ावा नहीं देना चाहता है क्योंकि ऐसा करने से समाजवादी क्रान्ति में विलम्ब हो जायगा तथा रूस के सम्भावित मित्रों की संख्या घट जायगी।

(ii) रूस की निगाहों में सम्प्रभुता का अर्थ यह नहीं कि राज्य मनमाने ढंग से निरंकुश शक्ति का प्रयोग करे। रूस सम्प्रभुता को घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में आत्म-निर्णय (Self-Determination) का सिद्धान्त मानता है। सम्प्रभुता एक प्रकार की वैधानिक दीवार है जो साम्राज्यवादियों के सैनिक और आर्थिक आक्रमणों से रक्षा करती है।"

पामर व पार्किन्स का भी कथन है कि "असीमित प्रभुसत्ता (Unlimited Sovereignty) रूसी अन्तर्राष्ट्रीयता की ऐसी विशेषता है जो उससे अलग नहीं हो सकती है।"

सम्प्रभुता के लोप का प्रश्न (Questoin of Elimination of Sovereignty)—किसी राज्य की सम्प्रभुता का लोप कैसे होता है। इस विषय में दो मत प्रचलित हैं—

(1) यदि एक राज्य दूसरे को सैनिक विजय द्वारा हस्तगत कर लेता है अथवा सन्धि द्वारा आत्मसात कर लेता है तथा अपने कानूनों को उस राज्य की भूमि व नागरिकों पर लागू करता है तो उक्त राष्ट्र की प्रभुसत्ता समाप्त हो जाती है।

(2) जब एक राष्ट्र दूसरे देश के विदेशी मामलों, सुरक्षा आदि की देखभाल करता है तो दूसरे राष्ट्र की सम्प्रभुता समाप्त हो जाती है।

प्रभुसत्ता का सीमितता का प्रश्न (Question of the limited Sovereignty)—सम्प्रभुता के सिद्धान्त के समर्थक यह कहते हैं कि प्रत्येक सम्प्रभु राज्य राष्ट्रों के किसी भी समुदाय से ऊपर है, पूर्णतया स्वतन्त्र है, तथा ऐसे किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जो उसकी सम्प्रभुता को सीमित करता है, पालन करने को बाध्य नहीं है। मार्गेन्थ्यू (Morgenthau) के शब्द भी हैं—वह "विभाजित प्रभुसत्ता को तर्कहीन, राजनीतिक दृष्टि से अव्यवहारिक तथा आधुनिक राज्य-व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच विद्यमान असंगति का परिचायक" बताता है।........ "शान्ति-स्थापना के लिए प्रभुसत्ता को कुछ अंश में त्यागने की सलाह देना वास्तविकता से आँखें मूंद लेना बताता है।"

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था कुछ इस प्रकार की है कि कोई भी राज्य अपनी प्रभुसत्ता को असीमित नहीं कह सकता है। घरेलू मामलों का जहाँ तक सम्बन्ध है, कोई भी राज्य यह दावा कर सकता है कि उसकी प्रभुसत्ता अविभाजित, अखण्ड एवं निरंकुश है पर बाह्य क्षेत्र में ऐसा दावा नहीं किया जा सकता है। बाह्य सत्ता सदैव सीमित रहती है। राज्य को संधियाँ, समझौते, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना होता है ताकि अन्य राज्यों से वह सहयोग एवं सहायता पा सके। जैसा कि क्विन्सी राइट का मत है कि "राष्ट्रीय कानूनी की दृष्टि से प्रभुसत्ता एक ऐसी इकाई है जिसे सीमित करना अथवा बांटना सम्भव नहीं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इसे विश्लेषित, विभाजित और सीमित किया जा सकता है।"[1]

मार्गेन्थ्यू के विरोध में मैकलवेन (McIlwain) तथा कोहेन (Cohen) ने विभाजित प्रभुसत्ता के विचार को वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत की आवश्यकताओं का परिणाम माना है। कोहेन के शब्द हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में संयुक्त प्रभुसत्ता, विभाजित प्रभुसत्ता और अन्तर्राष्ट्रीय निगमों की प्रभुसत्ता, जैसे विचारों का स्थान है।"[2]

क्विन्सी राइट तथा कोहेन की धारणाओं के विषय में कहा जा सकता है कि आदर्श राज्यों का यदि गठन करना हो तो क्विन्सी रायट द्वारा सुझाये गये क्षेत्रों में प्रभुसत्ता को सीमित कर दिया जाय तथा कोहेन द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय कानून व प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणाओं को व्यवहारिक रूप दिया जाय।

सम्प्रभुता का भविष्य
(Future of Sovereignty)

गैटिल (Gettell) के शब्दों में "समुदायवादी सिद्धान्त आस्टिन के सिद्धान्त के रूढ़िपुस्त वैधवाद का समयानुसार विरोध है। इसी सिद्धान्त से प्रकट होता है कि राज्य के अत्यधिक यशोगान पर तो रोक लगी ही है, इसके अतिरिक्त समाजान्तर्गत रहने वाले अन्य समुदायों और संस्थाओं को महत्व प्राप्त हुआ है। राज्य का अनुचित हस्तक्षेप भी रुका है। राज्य पर नियन्त्रण लगा है। समाज के भीतर के समूहों की उपयोगिता पर भी इस सिद्धान्त के द्वारा यह बलवती हुई है। इसी

---

1 "From the point of view of municipal law, sovereignty is a unity incapable of division or limitation, from the point of view of International law it is susceptible to analysis, dieision and limitation —Quincy Wright : *Quoted by Palmer and Parkins International Relations.*

2 "...International law finds room for the concept of joint sovereignty, divided sovereignty and sovereignty of International Corporation."—H. E. Cohen : *Recent Theories of Sovereignty* p. 85.

सिद्धान्त के कारण राज्यों का ध्यान समूहों की ओर गया है और अब संगठित समूहों की सहायता से राज्य अनेक समस्याओं को सुलझाने लगा है।"

अब प्रश्न यह उठता है कि सम्प्रभुसत्ता का भविष्य कैसा होगा? इस प्रश्न पर पामर और पारकिन्स लिखते हैं कि "यद्यपि प्रभुसत्ता का शाब्दिक अर्थ है सर्वोच्च सत्ता लेकिन फिर भी वर्तमान स्थिति में इसे सीमित होना चाहिए। यह निरपेक्ष और अविभाज्य है, फिर भी इसे सीमित और विभाजित होना चाहिए। इसका अन्तर्राष्ट्रीय कानून से विरोध है, फिर भी इसकी अन्तर्राष्ट्रीय कानून से संगति बैठती है। पर्याप्त कठोर और अनन्य सिद्धान्त होते हुए भी इसका (प्रभुसत्ता) प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकसित स्वरूप के अनुरूप होना चाहिए।"[1]

बहुलवादियों ने तो सम्प्रभुता सिद्धान्त को राजनीति से बहिष्कृत करने का सुझाव दिया है पर कोहेन ने कहा है कि सम्प्रभुता का सिद्धान्त कभी समाप्त न होगा, वह किसी न किसी रूप में बना ही रहेगा। "यदि शब्द प्रभुसत्ता का लोप हो जाता है तो उसका सार अवश्य बना रहेगा।"

फ्रीडमैन (Fredmann) का कथन है "कि आज के राष्ट्र राज्यों की आर्थिक, सैनिक आदि मजबूरियों और परस्पर आत्मनिर्भरता को देखते हुए वर्तमान समय में केवल तीन महाशक्तियाँ ही असली अर्थ में सम्पन्न राष्ट्र हैं, और ये तीन राष्ट्र हैं—अमेरिका, रूस और जनवादी चीन।" अतः वर्तमान राज्य-व्यवस्था जब तक कायम है, सम्प्रभुत्ता का अस्तित्व रहेगा पर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद ज्यों-ज्यों तीव्र गति धारण करेगा त्यों-त्यों सम्प्रभुता सीमित होती चली जायेगी।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राष्ट्र-राज्य व्यवस्था से आपका क्या तात्पर्य है? इसके आवश्यक लक्षण बताइए।
   What do you mean by the term 'Nation-state system? Mention its essential features.
2. राज्यों के अन्तर की परिगणना कीजिए और राज्यों का शक्ति के आधार पर वर्गीकरण कीजिए।
   Enumerate differences among states and classify states on the basis of power.
3. आधुनिक विश्व की पश्चिमी राज्य-व्यवस्था के उदय का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।
   Give a brief history of the rise of Western state-system in the modern World.
4. *आधुनिक युग में राष्ट्रवाद का क्या महत्व है? इसकी परिभाषा भी दीजिए।*
   What is the importance of Nationalism in modern World? Define Nationalism, also.
5. राष्ट्रवाद का मूल्यांकन कीजिए।
   Evaluate Nationalism.
6. राष्ट्रवाद के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
   Describe the different kinds of Nationalism.
7. राष्ट्रवाद के उदय और विकास का संक्षिप्त इतिहास लिखिए। क्या राष्ट्रवाद वर्तमान विश्व के लिए एक खतरा है?
   Give a short history of the birth and growth of Nationalism. Is Nationalism a danger to the Modern World?

---

1 [illegible], yet it must be [illegible]ble, yet it must be [illegible] law, yet it must [illegible]id and inflexible theory, yet it must be applied to an evolving pattern of Inter-state Relations.
—*Palmer and Parkins*

8. सम्प्रभुता से आप क्या समझते हैं ? क्या प्रभुसत्ता विभाजीय अथवा सीमित हो सकती है। सम्प्रभुता के स्रोत के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?
   What do you understand by sovereignty ? Can sovereignty be divided and limited ? *What are your views about the sources of sovereignty ?*
9. सम्प्रभुता पर सोवियत रूस के विचारों का वर्णन कीजिए। क्या सम्प्रभुता के विचार पृथक्-पृथक् होने चाहिए ?
   Explain the Soviet Russian view of sovereignty. Should the concept of sovereignty be discarded.
10. विभिन्न प्रकार की सम्प्रभुता का उल्लेख कीजिए तथा बताइए कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में इसका क्या महत्व है ?
    Describe the different kinds of sovereignty and also state its importance in the International World.

5

राष्ट्रशक्ति : परिभाषा, तत्व एवं साधन
(National Power : Definition, Elements and Means)

"राष्ट्रशक्ति कहने को तो समग्र जनता की सामूहिक शक्ति है पर वास्तव में वह रहती है उन कुछ अधिकारियों के हाथ में जो देश का शासन चलाते है। राष्ट्रशक्ति बढ़ने का अर्थ नागरिकों की व्यक्तिगत शक्ति बढ़ना नहीं अपितु सत्ताधारियों की शक्ति में वृद्धि से है।"

—मार्गेन्थ्यू

"Nationalism ordinarily indicates, a wider scope of loyalty than partriotism." —J. S. Brubacher

राष्ट्रशक्ति की परिभाषा एवं रूप
(Definition and Forms of National Power)

राज्य का आधार शक्ति है। वह शक्ति के बल पर टिका है और विकसित होता है। शक्ति के बल पर ही उसका मूल्यांकन होता है। राष्ट्रवाद की शक्ति एक भावात्मक शक्ति है जो किसी भी समाज या जाति विशेष का विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। कुछ विद्वानों ने राष्ट्रवाद के मुख्य तत्वों में नस्ल, इतिहास, परम्पराएँ, भूमि, भाषा, संस्कृति एवं राष्ट्रीय मान्यताएँ सम्मिलित करते है। वास्तव में ये तत्व तो सदैव प्रत्येक देश में विद्यमान रहते है पर राष्ट्रवाद की भावना सब देशों में समान नहीं होती।

राष्ट्रशक्ति की परिभाषा (Definition of National Power)—आधुनिक युग मे राष्ट्रशक्ति का महत्व बहुत बढ गया है। आधुनिक राज्य व्यवस्था का वह महत्वपूर्ण अंग बन गया है क्योंकि शान्ति, सुरक्षा, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा, न्याय आदि की अभिवृद्धि हेतु आवश्यक है। एक राजनीतिज्ञ ने 'शक्ति' की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "किसी राष्ट्र की वह क्षमता जिसके बल पर वह दूसरे राष्ट्रों को प्रभावित करे, राष्ट्रशक्ति कहलाती है।" उसके दो उद्देश्य है—एक तो आत्मरक्षा तथा दूसरे अपने प्रभाव का विस्तार।

प्रत्येक राष्ट्र का सर्व प्रमुख कर्तव्य राष्ट्र की रक्षा है। अतः प्रत्येक राष्ट्र आन्तरिक एवं बाहरी सुरक्षा के लिए सैनिक शक्ति का गठन करता है। सुरक्षित राष्ट्र अन्य राष्ट्रों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाना चाहते हैं यद्यपि राज्य परस्पर आर्थिक, सांस्कृतिक, मानवीय आदि अनेक धरातलों पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जिनका शक्ति से कोई सम्बन्ध नही होता। शक्ति से केवल वह विषय सम्बन्धित माने जाते है जिनका उद्देश्य अपने प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि करना है। अधिकांश राज्य अपने राष्ट्रहित एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनी शक्ति में वृद्धि करते रहते हैं, राष्ट्र भविष्य की सम्भावित आवश्यकता के लिए शक्ति का संचय करते हैं, पर कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जो शक्ति के लिए शक्ति में वृद्धि करते है। राष्ट्रीय शक्ति साधनों व मनोबल पर निर्भर

करती है। साधनों में धन, जनसंख्या, भौगोलिक स्थिति, तकनीकी विकास, सैनिक शक्ति आदि है। पर यह ध्यान देने की बात है कि विपुल साधन सम्पन्न होते हुए भी कोई राष्ट्र दूसरे पर अधिक प्रभावी और शक्तिशाली नहीं होता है।

जन साधारण की दृष्टि में राष्ट्रशक्ति का क्या अर्थ होता है ? मार्गेन्थ्यू के शब्दों में "राष्ट्रशक्ति कहने को तो समग्र जनता की सामूहिक शक्ति होती है पर वस्तुतः वह रहती है उन कुछ अधिकारियों के हाथों में जो देश का शासन चलाते हैं। राष्ट्रशक्ति बढ़ने का अर्थ, नागरिकों की व्यक्तिगत शक्ति बढ़ाना नहीं है, अपितु सत्ताधारी अधिकारियों की शक्ति में वृद्धि से है।" मार्गेन्थ्यू स्वयं आगे प्रश्न रखता है कि "जनता, राष्ट्रशक्ति में वृद्धि होते देख उसे अपनी शक्ति मानकर हर्षित क्यों होती है ?" मार्गेन्थ्यू इस प्रश्न का भी उत्तर देता है कि "नागरिक राष्ट्र सम्मान की अभिवृद्धि में समस्त देशवासियों के सम्मान की वृद्धि देखता है, इसलिए वह राष्ट्रशक्ति की भावना से प्रभावित होता है। यह भावना ही राष्ट्रवाद का आधार है, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति निजी लाभ-हानि की चिन्ता छोड़कर राष्ट्र के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने को तैयार रहता है। यह भावना अधिकांशतः मध्यम व निम्न वित्तीय स्थिति वालों में होती है।"

राष्ट्रीय भावना तो प्रत्येक देश में पायी जाती है। फिर एक राष्ट्र की शक्ति दूसरे से कम या अधिक क्यों होती है। राष्ट्रीय भावना की प्रबलता के कई कारण होते हैं। जापान, जर्मनी तथा इजराइल में जो राष्ट्रीयता की भावना पायी जाती है, शायद इतनी तीव्र भावना अन्य राष्ट्रों में नहीं पायी जाती है। राष्ट्रीय शक्ति के रूप व स्तर का निर्धारण सदैव ही तुलनात्मक रूप में किया जाता है। यह तुलना एक राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्व की दूसरे राष्ट्र के उसी तत्व से कर सकते हैं। इसकी दूसरी विशेषता के अनुसार राष्ट्रशक्ति का चरित्र स्थायी नहीं होता। उनके सभी तत्वों का रूप व स्तर बदलता रहता है। तीसरी विशेषता इसके सभी तत्वों का समान महत्व होना है क्योंकि राष्ट्र की विदेश नीति किसी भी तत्व पर आधारित हो सकती है। विश्व राजनीति में अधिकांशतः भूगोल-राजनीति (Geopolitics), राष्ट्रवाद (Nationalism) और सैनिकवाद पर अधिक बल दिया जाता है।

शक्ति का शान्तिपूर्ण ढंग भी प्रभावी हो सकता है। जैसे आज के युग में विश्व-जनमत विश्व राजनीति को प्रभावित करता है। देशों को अपनी विदेश नीति गठित करते समय विश्व जनमत का ध्यान रखना पड़ता है। देश विश्व में अपनी स्थिति के प्रचार द्वारा प्रगट करते हैं तथा विश्व जनमत को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं जिससे उन्हें अपनी योजनाओं को पूर्ण करने में उनका सहयोग मिल सके।

राष्ट्र शक्ति का आधार सम्प्रभुता की मान्यता को माना जाता है। राज्य पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ अपनायी गयी नीतियों पर बाह्य हस्तक्षेप नहीं पसंद करता है। सम्प्रभुता की मान्यता राज्य को अधिक से अधिक शक्ति संग्रह को प्रेरित करती है तथा उसके अभाव में राज्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। राष्ट्र शक्ति को इस मान्यता द्वारा कानूनी औचित्य दिया जाता है।

नैतिक दृष्टि से राष्ट्रशक्ति की तुलना किसी व्यक्ति अथवा संस्था से नहीं की जा सकती। राज्य की दमनकारी शक्ति की कोई मर्यादा नहीं तथा राज्य द्वारा किये गये सुरक्षा कार्यों पर किसी अन्य राज्य की शक्तियों की प्रभावहीनता रहती है। जब किसी राष्ट्र की सैनिक शक्ति घट जाती है तो अधिक सैनिक शक्ति के राष्ट्र उस पर अपना प्रभाव जमाने लगते हैं।

इस प्रकार राष्ट्रशक्ति के दो आधार-कानूनी एवं नैतिक बन जाते हैं। कानूनी आधार सम्प्रभुता को मान्यता देता है जबकि नैतिक आधार पर राज्य का यह उत्तरदायित्व है जो नागरिकों का अच्छा जीवन देने में सहायक होता है।

राष्ट्रशक्ति के प्रकार (Forms of National Power)—*विद्वानों ने राष्ट्र शक्ति के* कई प्रकार माने हैं। ई० एच० कार (E. H. Carr) ने इसकी तीन श्रेणियाँ बताई हैं— सैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति व जनमत की शक्ति। पामर एवं पाकिन्स ने एक चौथा प्रकार 'राजनय' का बताया है। शक्ति प्रदर्शन के इन रूपों में अतिरिक्त हत्या एवं आतंक आदि राजनीतिक कूट युद्धों का भी उल्लेख किया जा सकता है। कुछ विद्वान तो कूटनीति को ही राष्ट्रीय शक्ति का स्रोत मानते हैं।

सैनिक शक्ति राष्ट्रशक्ति का उग्रतम रूप है जो अन्तिम साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। जब सभी समझौते व वार्तायें असफल हो जाती हैं तो सैनिक शक्ति का ही प्रयोग होता है।

आर्थिक शक्ति ही मूल राष्ट्रशक्ति है। आर्थिक शक्ति को सैनिक शक्ति गठन के अतिरिक्त अन्य रूपों में प्रयोग किया जा सकता है। दूसरे देशों की मण्डियों, कच्चे माल, परिवहन व्यवस्था आदि पर नियन्त्रण आदि स्थापित किया जा सकता है। आर्थिक सहायता देकर आर्थिक साम्राज्य खड़ा किया जा सकता है।

जनमत शक्ति प्रचार पर निर्भर करती है। इसके दो रूप है—(i) देश के अन्दर, तथा (ii) विदेशों में। देश में प्रचार का उद्देश्य राष्ट्रीय भावना को उभारना तथा विदेश में देश की प्रतिष्ठा घटाना, वहाँ की जनता का मनोबल घटाना आदि आते है।

पामर तथा पार्किन्स (Palmer Parkins) ने राजनय को भी राष्ट्रशक्ति का एक रूप माना है। जबकि अन्य ने उसे राष्ट्रशक्ति का एक तत्व माना है। पामर पार्किन्स का कहना है कि कभी-कभी किसी राजनयिज्ञ की व्यक्तिगत कुशलता किसी राज्य को अप्रत्याशित लाभ दे सकती है। इस अर्थ में राजनय राष्ट्रशक्ति का रूप बन सकती है। पाकिस्तान इस मामले में आगे है। 1965 और 1971 में वह भारत से बुरी तरह पराजित हुआ पर वार्ता की मेज पर उसने हार को जीत में बदल दिया। अमेरिका का राजनयिज्ञ डा० किसिंगर कूटनीति में इतना कुशल है कि *उसने अमेरिका को कई बार प्रतिष्ठा दिलायी।*

राष्ट्रशक्ति के मूल तत्व
(Fundamental Elements of National Power)

मार्गेन्थ्यू ने राष्ट्रशक्ति के तत्वों को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया है—(i) स्थायी तत्व (Relatively Stable Elements), (ii) अस्थायी तत्व (Elements Subject to Constant Change) मार्गेन्थ्यू के मतानुसार इन तत्वों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है :

(1) भौगोलिक (Geographical),

(2) जन सांख्यिक (Demographical),

(3) प्राकृतिक साधन (Natural Resourses),

(4) औद्योगिक साधन (Industrial Capacity),

(5) सैनिक तैयारी (Military preparation),

(6) सांस्कृतिक (Cultural),

  (i) राष्ट्रीय चरित्र (National Character),

  (ii) राष्ट्रीय मोरेल (National Morale),

(7) राजनीतिक (Political),

(i) कूटनीति का गुण (Quality of Diplomacy),

(ii) सरकार का गुण (Quality of the Government)।

पामर तथा पार्किन्स ने राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को मानवीय व गैरमानवीय तत्वों में विभाजित किया है। मानवीय तत्वों में पाँच तत्व आते हैं—

(i) जनसंख्या (*Population*),

(ii) तकनीकी ज्ञान (Technology),

(iii) विचारधाराएँ (Ideology),

(iv) मोरेल (Morale)

(v) नेतृत्व (Leadership)

गैर मानवीय तत्वों में भूगोल व प्राकृतिक साधन आते है।

श्लाइचर (Schleicher) ने इन तत्वों के अतिरिक्त उत्पादन क्षमता (Productive Capacity) तथा आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं (Economic and Political Institutions) का भी उल्लेख किया है। इनमें कुछ तत्व अपेक्षाकृत अधिक स्थानीय होते हैं जैसे भौगोलिक आदि।

उपर्युक्त सभी तत्वों के समावेश से राष्ट्रशक्ति में तीन प्रकार के सामर्थ्यों का उदय होता है—

(1) भौतिक सामर्थ्य (Physical Capacity)

(2) आर्थिक सामर्थ्य (Economic Capacity)

(3) मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य (Psychological Capacity)

तत्वों का महत्व परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। पहले जनसंख्या को अधिक महत्व दिया जाता था अब आर्थिक सामर्थ्य को अधिक महत्व दिया जाता है। फिर भी अन्य तत्व अपनी सार्थकता इस बात पर निर्भर करते हैं कि उनके लिए शक्ति के अन्य तत्वों का कितना सहयोग प्राप्त है।

आर्गेन्सकी ने राष्ट्रीय मनोबल, प्राकृतिक साधन, भौगोलिक स्थिति को जनसंख्या, राजनीतिक ढाँचे तथा सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था की तुलना में कम महत्व दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर भौगोलिक प्रभाव—भौगोलिक तत्व राष्ट्रशक्ति के अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है। नेपोलियन बोनापार्ट का कहना था कि "एक देश की विदेश नीति, उसके भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।" प्रसिद्ध यूनानी विचारक अरस्तू के शब्दों में, 'राज्य की आवश्यकताओं का पता लगाने के लिए वातावरण एवं मानवीय चरित्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना चाहिए।"

पैडलफोर्ड एवं लिन्कन ने भूगोल का महत्व बताते हुए लिखा है कि "भौतिक भूगोल विश्व राजनीति को अधिक तथा निरन्तर रूप से प्रभावित करने वाला तत्व है। यह उन आवश्यकताओं, लक्ष्यों, नीतियों व शक्ति को प्रभावित करता है जो राज्य अपने हित की दृष्टि से ग्रहण करते हैं।" इतना महत्वपूर्ण होने के कारण भूगोल की मान्यताओं का अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर लागू करने की दृष्टि से उसका विश्लेषण करना अति आवश्यक है पर इसके अर्थ व प्रभाव को अन्य तत्वों के सन्दर्भ में ही देखना चाहिए। यहाँ भूगोल के अन्तर्गत किसी देश के विस्तार, स्थलाकृति, अवस्थिति और जलवायु पर विचार किया जायेगा।

विस्तार (Size)[1]—देश का क्षेत्रफल अथवा विस्तार उसकी राष्ट्रशक्ति को प्रभावित करता है। छोटे देश पर शत्रु का शीघ्र अधिकार हो सकता है जिससे वहाँ की जनता का मनोबल शीघ्र टूट जाता है। जैसे जापान व इंगलैण्ड लघु विस्तार के कारण खाद्यान्न के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहते है, इससे विदेश नीति बहुत प्रभावित होती है। बड़े विस्तार के देश जैसे रूस, चीन, अमेरिका आदि अत्यधिक शक्तिशाली देश बने हैं। द्वितीय विश्व युद्ध में जापान चीन जैसे विशाल देश के पूरे भू-भाग पर कब्जा न जमा सका और न पूरी तरह से परास्त कर सका, क्योंकि चीनी सेनाएँ पीछे चली गई। ऐसा ही रूस के साथ नेपोलियन एवं हिटलर के साथ युद्ध में हुआ। ये दोनों महान शक्तिशाली सेनानी एवं राजनीतिज्ञ बुरी तरह से रूस के कारण ही पराजित हुए। इस प्रकार बड़े विस्तार वाले देश, शत्रु सेनाओं को स्वयं पीछे हटाकर थका सकते है और औद्योगिक सयन्त्रों की सीमा से दूर सुरक्षित स्थानों में लगाया जा सकता है। बड़े देशों में कृषि योग्य भू-भाग अधिक होने से देश मे खाद्यान्न की कमी नहीं रहती है तथा निर्यात द्वारा राजनीतिक, आर्थिक लाभ उठा सकता है।

लम्बे-चौड़े देश में अनेक समस्यायें भी होती है जैसे संचार और परिवहन की सुव्यवस्था की समस्या, दूर प्रदेशों तक फैली जनता में एकता की भावना रहना आदि। कुछ ऐसे राष्ट्र भी हैं जिनका भू-विस्तार काफी है जैसे आस्ट्रेलिया, ब्राजील, कनाडा जिनमें क्रमशः रेगिस्तान, जंगल एवं बर्फ के कारण बहुत-सा भू-भाग अनुपयोगी रहता है। अतः राष्ट्र शक्ति सैनिक, आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टि से उपयोगी भू-भाग पर निर्भर रहती है।

स्थलाकृति (Topography)—विस्तार (size) जहाँ देश की राजनीति पर विशेष प्रभाव डालता है, वहाँ उस देश की स्थलाकृति और भी महत्वपूर्ण प्रभाव रखती है। राष्ट्र शक्ति को प्रभावित करने वाला यह तत्व भी महत्वपूर्ण होता है। देश की सामुद्रिक व पर्वतीय सीमायें लाभकारी अथवा अलाभकारी दोनों ही हो सकती हैं। जैसे वर्मा की पर्वतमालाओं ने विश्व के अन्य भागों से उसे पृथक कर दिया है। यूरोप की स्थलाकृति में प्राकृतिक, कृत्रिम बन्दरगाहों की प्रचुरता है। अफ्रीका की स्थलाकृति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधक है। स्विटजरलैण्ड की मनोरमता विश्व का आकर्षण है। इस प्रकार किसी देश की स्थलाकृति उसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने में सहायक हो सकती है अथवा अवरुद्ध हो सकती है।

जलवायु (Climate)—राष्ट्र शक्ति को विकसित या दुर्बल बनाने में उसकी जलवायु का भी विशेष हाथ रहता है। जैसे समशीतोष्ण कटिबन्ध में बसे देश औद्योगिक दृष्टि से अधिक उन्नति कर सकते हैं, खाद्यान्न में निर्भर हो सकते हैं। इसके विपरीत शीत कटिबंधीय अथवा उष्णकटिबन्धीय देश इन लाभों से वंचित होते हैं। इस प्रकार अनुकूल जलवायु राष्ट्र शक्ति के विकास में अपेक्षाकृत अधिक सहायता करती है।

---

[1] क्षेत्रफल की दृष्टि से दस सबसे बड़े देशों का क्रम

क्रम	राज्य	क्षेत्रफल (वर्ग मील में)	क्रम	राज्य	क्षेत्रफल (वर्ग मील में)
1.	सोवियत रूस	86,49,490	6.	आस्ट्रेलिया	29,67,909
2.	कनाडा	38,51,809	7.	भारत	21,61,813
3.	चीन	36,91,502	8.	आर्जेन्टाइना	10,72,067
4.	सं० रा० अमेरिका	36,15,211	9.	सूडान	9,67,491
5.	ब्राजील	32,86,470	10.	अल्जीरिया	9,19,591

Book of the year, 1968.

अवस्थिति (Location)—किसी देश की अवस्थिति का जलवायु, अर्थव्यवस्था आदि पर गहरा प्रभाव पड़ता है। समुद्र तटों पर बने देशों में मछली उद्योग, कपड़ा उद्योग खूब पनपता है तथा सामुद्रिक शक्ति के विकास करने का अच्छा अवसर मिलता है। जापान इंगलैण्ड और अमेरिका सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने में सफल सिद्ध हुए जबकि रूस, चीन एवं जर्मनी सामुद्रिक शक्ति बढ़ाने में असमर्थ रहे।

देश की अवस्थिति युद्ध कला व राजनय को भी विशेष रूप से प्रभावित करती है। इन दोनों का विदेश नीति से गहरा सम्बन्ध है। क्यूबा जैसे छोटे से देश की अवस्थिति इतनी अच्छी है कि अमेरिका और रूस उस पर अपना प्रभाव जमाने मे प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता में लगे हैं। तिब्बत यद्यपि ठण्डा पठारी प्रदेश है पर सामरिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है। चीन ने अवसर पाते ही उस पर अपना अधिकार जमाया। भारत की उत्तरीय सीमा सदैव से सुरक्षित मानी जाती है पर चीन ने 1962 में सफलता पूर्वक उसका अतिक्रमण किया और हजारों वर्ग मील पहाड़ी क्षेत्र पर अधिकार जमाने में सफल हुआ, उसका विशेष कारण उसका तिब्बत पर अधिकार था। ग्रीनलैण्ड व ओकीनावा भी सामरिक महत्त्व के कारण संघर्ष का केन्द्र बने हुए है।

इस प्रकार विदेश नीति भी स्थिति से प्रभावित होती है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया अपनी पृथक स्थिति के कारण बहुत समय तक तटस्थ नीति का पालन कर सके। जबकि भारत, यूरोप के देश, जर्मनी, फ्रांस, इटली, पोलैण्ड आदि देश चारों ओर अन्य देशों से घिरे रहने के कारण स्वतन्त्र तटस्थ नीति नहीं अपना सके। भारत को तटस्थ या गुट निरपेक्ष नीति अपनाने में जितनी कठिनाई पड़ी उसका अनुभव संयुक्त राज्य अमेरिका को कभी नहीं हुआ। इस प्रकार विदेश नीति, युद्धकला, राजनय अपनी स्थिति से प्रभावित होते है।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर भौगोलिक दृष्टिकोण
(The Geographical Approach Towards Internadtnal Affairs)

भौगोलिक राजनीति (Geo-Politics) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1916 में रुडाल्फ जैलिन (Rudolf Kjellen) ने अपनी पुस्तक 'राज्य-जीवन का एक रूप' (The State as a Form of Life) में किया था। उसने राज्य को एक भौगोलिक सावयव माना है। अन्य भूगोल-शास्त्री इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं कि प्रकृति मानवीय क्रियाओ को निर्धारित करती है परन्तु वे यह तो स्वीकार करते हैं कि भूगोल का व्यक्ति एवं राज्य के कार्यों, मूल्यों तथा प्राथमिकताओं पर प्रभाव पड़ता है।

भूगोल राजनीति (Geo-Politics) के कुछ विचारक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भूगोल की कुछ बातों से जोड़ते हैं। उदाहरण के लिए पैडलफोर्ड एवं लिन्कन के मतानुसार, "भूगोल, राजनीति, भूमि विज्ञान और राजनीति विज्ञान के मध्य स्थित क्षेत्र जोड़ने का प्रयास है। यह दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, राष्ट्रीय हित व राजनीति के रूप में भौगोलिक सम्बन्धों को मूल्यांकित करता है।"

भूगोल राजनीति (Geo-Politics) पर कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने अपने मत व्यक्त किये हैं और भूगोल की महत्ता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्ध की है। कुछ विद्वानों के विचार निम्नलिखित हैं :

(1) मैकाइन्डर के विचार (Mackinder's Vews)—हाल्फर्ड के आधुनिक विचार के प्रणेता माने जाते हैं। उन्होंने अपने विचारों को अपनी पुस्तक "प्रजातन्त्रात्मक आदर्श और यथार्थ" (Democratic Ideals and Realities) में 1904 में भू-राजनीति पर विचार प्रकट कि। उसका मत था कि अब 'प्रभावी समुद्र शक्ति का युग समाप्त होने वाला' है। मैकाइन्डर ने यूरोप और अफ्रीका को विश्व के प्रमुख द्वीपों मे वर्गीकृत किया है तथा एशिया को

(Heart Land) बताया है । जो पश्चिमी जर्मनी सोवियत यूरोप होता हुआ साइबेरिया तक फैला है । विश्व के अन्य भागों को "आन्तरिक क्रीसेन्ट" (Inner Cresent), रिमलैण्ड (Rimland) तथा बाहरी क्रीसेन्ट (Outer Cresent) आदि शीर्षकों में वर्गीकृत किया है ।

मैकाइन्डर का ऐसा विश्वास था कि जो जाति इस मुख्य भूमि पर शासन करेगी वह यहाँ के प्राकृतिक साधनों एवं मानव शक्ति के बल पर विश्व द्वीप पर शासन करने में समर्थ होगी । मैकाइन्डर ने संयुक्त राज्य अमेरिका की उपेक्षा की और उसने यूरोप को ही मुख्य भूमि मानकर उसकी प्रशंसा की । वास्तव में अमेरिका द्वितीय विश्व युद्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूदा और वह विश्व का एक महान देश माना जाने लगा । उत्तरी एटलांटिक मुख्य भूमि का विकास तभी से प्रारम्भ हुआ और सैनिक शक्ति पर विशेष जोर दिया जाने लगा ।

मैकाइन्डर के मुख्य-भूमि सम्बन्धी विश्लेषण के आधार पर ही ट्रूमैन-प्रशासन की संधि, नाटो, सिएटो और सैन्टो आदि संगठन बनाये गये जिससे रिमलैण्ड को मुख्य भूमि की शक्ति द्वारा प्रशासित होने से रोका जा सके । यदि रूस और चीन मिल कर कार्य कर रहे होते तो सम्भवतः मैकाइन्डर के अनुसार अब तक विश्व साम्राज्य की स्थापना (रूस के अन्तर्गत) हो गई होती ।

(2) मॉहन के विचार (Mahan's Ideas)—मैकाइन्डर के विचारों से भिन्न विचार माहन के हैं । माहन समुद्री शक्ति को बहुत महत्त्व देता है । उसका विचार है कि समुद्री शक्ति का महत्त्व घट नहीं रहा बल्कि बढ़ रहा है । उसने ब्रिटेन और अमेरिका की जल शक्ति को अद्वितीय माना है और दावा किया है कि यूरोप या एशिया का कोई भी देश इन देशों की नौशक्ति को चुनौती देने की सामर्थ्य नहीं रखता है । उसने विश्वास प्रकट किया है कि बड़े युद्ध का निर्णय करने में नौशक्ति का महत्त्वपूर्ण हाथ होगा । अतः किसी राष्ट्र शक्ति का महत्व तभी है जब वह स्थल युद्धों के अतिरिक्त दूर-दूर तक जल युद्ध भी लड़ सके । द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटेन, जर्मनी, अमेरिका जापान की नौ सैनिक शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी । काश जापान पर अणुबम का विस्फोट न किया जाता तो माहन का यह विचार गलत सिद्ध होता कि यूरोप या एशिया की कोई अन्य शक्ति ब्रिटेन और अमेरिका की नौ सैनिक शक्ति को चुनौती नहीं दे सकती । जापान ऐसी शक्ति है, जिसने द्वितीय विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों की संयुक्त जल शक्ति को भिन्न करके रख दिया था ।

वायु सेना, अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र, औद्योगीकरण, अणुशक्ति आदि ने मॉहन के समुद्र शक्ति वाले सिद्धान्त को सीमित एवं गौण बना दिया है ।

(3) स्पाईकमैन के विचार (Spykmen's Ideas)—अमेरिका को एक आदर्श राज्य मानकर स्पाईकमैन (Spykman—1893-1943) ने अपने विचार व्यक्त किये हैं । उसने बताया है कि विश्व के भौगोलिक एवं राजनीतिक तत्व का संयुक्त राज्य अमेरिका की राजनीति व विदेश नीति से क्या सम्बन्ध है । उसका मत है कि भूगोल विदेश नीति पर सबसे अधिक प्रभाव डालने वाला तत्व है । उसने यह बताया कि किसी देश की सापेक्षिक शक्ति केवल उसकी सैनिक सामर्थ्य पर ही निर्भर नहीं करती, अपितु अन्य तत्वों जैसे प्रदेश का आकार, सीमाओं की प्रकृति, जनसंख्या, कच्चा माल, आर्थिक व तकनीकी विकास, वित्तीय शक्ति, प्रभावशाली सामाजिक एकता, राजनीतिक स्थायित्व एवं राष्ट्रीय भावना आदि ।

स्पाईकमैन का ऐसा विश्वास था कि यदि संयुक्त राज्य अमेरिका और इंगलैण्ड संयुक्त रूप से अभियान करें तो रिमलैण्ड जीत सकते हैं, जिसे मैकाइण्डर ने आन्तरिक क्रेसेन्ट (Inner Crescent) परन्तु स्पाईकमैन का यह उद्देश्य न था कि ये दोनों देश मिलकर दुनिया पर शासन करें, अपितु विश्व में स्थायी शान्ति विश्व सरकार की स्थापना द्वारा हो सके और उसके लिए वे यूरेशिया को विश्व-शक्ति सन्तुलन के अन्तर्गत आवश्यक समझते थे । तभी से यह स्पष्ट हो गया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की शक्ति किसी भी शक्ति-सन्तुलन के लिए आवश्यक है ।

(4) हाशोफर के विचार (Haushofer's Views)—काल हाशोफर (Karl Haushofer) जर्मनी का भूगोल शास्त्री था। वह नाजी विचारों से बहुत प्रभावित था। उसकी धारणा थी कि राज्य अपने आप में एक महत्वपूर्ण वस्तु है तथा शक्ति राज्य का महत्वपूर्ण अंग है। हाशोफर ने नाजी जर्मनी के आक्रमण का समर्थन के लिए भूमि प्रसार की विचारधारा का पक्ष लिया तथा भौगोलिक राजनीतिक विचारों की अवहेलना की। जर्मनी की धारणा थी कि उसे रहने के लिए अधिक स्थान चाहिए। जो भौतिक स्तरों से भरपूर हो। उसकी दृष्टि यूरेशिया पर थी जिसकी प्राप्ति में ब्रिटेन की नौशक्ति और रूस की थल शक्ति बाधक थी। अतः जर्मनी के पास केवल एक मार्ग था—युद्ध। हाशोफर ने युद्ध का समर्थन किया। नाजी शक्ति की पराजय से हाशोफर की विचारधारा का भी अन्त हो गया।

(5) साम्यवादी विचार (Communist Ideas)—साम्यवादी भौगोलिक राजनीतिक विचारधारा के समर्थक नहीं हैं। वे तो मार्क्स के विश्वास के अनुसार इतिहास के विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में आस्था रखते हैं। साम्यवादी भूगोल को राजनीति की दृष्टि से देखता है और युद्ध को जीतने के लिए मजदूरों की योग्यता में विशवस करता है।

यह कहा जाता है कि साम्यवाद को पीकिंग से पेरिस पहुँचने के लिए रिमलैण्ड (Eurasian Rimland) से गुजरना होगा। लिन पियाओं ने 1945 में साम्यवादी विश्व विजय की योजना प्रस्तुत की थी। उसने कहा था कि हमने देहाती क्षेत्रों को शान्ति का आधार बनाया है और बाद में नगरों को रूपान्तरित किया जायगा। चीनी नेताओं ने कहा कि यदि हम विश्व पर दृष्टिपात करें तो उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी यूरोप को 'दुनिया के नगर' कहा जा सकता है तथा अफ्रीका, एशिया व लेटिन अमेरिका के देहाती क्षेत्र कहा जा सकता है। इस प्रकार साम्यवादी भौगोलिक राजनीति व प्रभाव विस्तार की दृष्टि से देखते है।"

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राष्ट्र शक्ति की परिभाषा दीजिए तथा उसके विभिन्न स्वरूपों की विवेचना कीजिए।
   Difine National Power and discuss the various forms of it.
2. "राजनीतिक संदर्भ में शक्ति का अर्थ है, मनुष्य की शक्ति जो दूसरे मनुष्यों के मस्तिष्क और कार्यों के ऊपर हो।" (मार्गेन्थ्यू) विवेचना कीजिए।
   Power in a political conteat means, the power of man over the minds and actions of other men (Morgenthau) Discuss.
3. राष्ट्र शक्ति के मुख्य तत्व क्या हैं ? क्या हाल के वर्षों में भूगोल का महत्व घट गया है ? समझाइये।
   Explain what are the principal elements of national power ? Has the importance of geography decline in recent years.
4. राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक कारणों का महत्त्व बताइये।
   Explain the importance of economic factors in the formulation of national polcy and in international politics.
5. राजनीतिक भूगोल की परिभाषा दीजिए एवं उसका महत्व बताइये।
   Define Poltical Geography and state its importance.

6

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मनोवैज्ञानिक तत्व : विचारधारा, मोरेल एवं नेतृत्व
(Psychological Elements in International Relations : Ideology, Morale and Leadership)

यदि सच कहा जाये तो यह ठीक लगता है कि युद्ध सेनाओं के मध्य नहीं होता बल्कि उसके बीज मानव मस्तिष्क में पैदा होते हैं। अतः स्थायी शान्ति के लिए मानव मस्तिष्कों में शान्ति फैलायी जाये।

"....the quality of Military leadership has always exerted decisive influence upon national power. —Marganthau

विचारधारा का महत्व
(Importance of Ideology)

राष्ट्रशक्ति के दो पहलू (Two sides of national power)—राष्ट्रशक्ति के दो पहलू माने जाते हैं—(1) भौतिक एवं वैचारिक (Ideological)। भौतिक तत्वों में देश की सीमायें, भूमि का रूप, राज्य का आकार, कच्चा माल, सीमाएँ व जनसंख्या आदि सम्मिलित हैं। इनका विवेचन गत अध्याय में किया जा चुका है। वैचारिक तत्व में विचारधारा चरित्र एवं नेतृत्व आता है। ये मानवीय तत्व कहलाते हैं और व्यक्ति के दृष्टिकोण, विश्वासों व सामाजिक परिवेश से प्रभावित होते हैं।

विचारधारा (Ideology)—पैडिलफोर्ड एवं लिंकन (Paddelford and Lincoln) का कहना है कि "विचारधारा आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक मूल्यों व लक्ष्यों से सम्बन्धित विचारों का निकाय है जो कि इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों की योजना तैयार करती है।" प्रत्येक विचारधारा व्यक्ति और प्रकृति से सम्बन्धित कुछ मान्यताओं पर आधारित हुआ करती है जिसका उपयोग समाज की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं के समाधान में किया जाता है। विचारधारा व्यक्ति समूह को एक सी ही मान्यताओं मे विश्वास करने के कारण संगठित करती है तथा लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में समान सहयोग मिलता है,

स्नाइडर एवं विलसन (Snyder and Wilson) ने विचारधारा (Ideology) की परिभाषा देते हुए लिखा है कि एक विचारधारा जीवन, समाज और सरकार से सम्बन्धित विचारों का वह समूह है जो प्रायः सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक नारों या युद्ध के नारों से उत्पन्न होती है तथा जिसका लगातार प्रयोग उसका एक विशेष समुदाय, दल या राष्ट्रीयता का प्रमुख विश्वास या सिद्धान्त बना देता है।"

श्लाइशर (Schliecher) के शब्दों में "विचारधारा व्यक्ति के अमूर्त विचारों की व्यवस्था है। ये विचार वास्तविकता को स्पष्ट करते है, मूल्यात्मक लक्ष्यों की अभिव्यक्ति करते हैं

तथा इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करने अथवा बनाये रखने का प्रयास करते हैं जिसमें उनके विश्वास के अनुसार लक्ष्यों को सर्वश्रेष्ठ रूप मे साकार किया जा सके।

विभिन्न राष्ट्र समान विश्वास, दृष्टिकोण व राजनीतिक जीवन में समान लक्ष्यों के कारण चुनौती मिलने पर संगठित हो जाया करते हैं। कुछ विचारकों के मतानुसार सत्तावादी समाजों में दल अथवा सरकार के पीछे जनता का सच्चा मन नहीं रहता है परन्तु यदि, केन्द्रीय स्तर नेतृत्व मजबूत हो, व्यापक प्रचार हो, कठोर आचार संहिता का पालन हो तो केन्द्रीय शासन शक्तिवान हो सकता है। प्रारम्भ मे विचारधाराएँ पूर्व कल्पनाओं व वास्तविकता की कुछ मान्यताओं पर आधारित होती हैं जिन्हें व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया जाता है। इन्हें व्यापक समर्थन मिलने पर इनकी प्रभावशीलता बढ़ जाती है और ये सैद्धान्तिक रूप ले लेते हैं।

यथार्थवादी सिद्धान्त के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ शक्ति के लिए संघर्ष को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और सिद्धान्त को उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं। राष्ट्रशक्ति प्राप्ति के लिए निर्धारित नीतियाँ नैतिक कानूनी या जीवशास्त्रीय अर्थों में अभिव्यक्त होती हैं। लेकिन नीतियों का वास्तविक रूप सैद्धान्तिक न्यायोचितता व बौद्धिकता के आवरण में निहित होता है। मार्गेन्थ्यू (Margenthau) कहते हैं कि "जो लोग शक्ति संघर्ष में जितने उलझे रहते हैं वे इस बात को उतना ही कम देख पाते हैं कि यह शक्ति संघर्ष किस लिए हो रहा है। इसलिए शक्ति संघर्ष से तटस्थ व्यक्ति अधिक सही रूप में राजनीतिक प्रकृति समझ सकता है। सामान्यतः राजनीतिज्ञ अपने कार्यों को शक्ति की शब्दावली में सन्दर्भित न करके नैतिक और कानूनी सिद्धान्त या जैविक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में करते हैं।" मार्गेन्थ्यू इस धारणा को पुष्ट करते हुए आगे लिखता है—"जब कि समस्त राजनीति आवश्यक रूप से शक्ति की खोज में है और विचारधारायें इस शक्ति संघर्ष को ऐसा रूप देती हैं जो अभिनेताओं और उनके श्रोताओं के लिए मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक रूप से स्वीकार हो।"

शक्ति की राजनीति में जो व्यक्ति दूसरों की शक्ति का विषय है वह दूसरों पर स्वयं भी शक्ति प्राप्त करना चाहता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत रूस ने जो नीति अपनाई, उसे वह राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकता बताता है, किन्तु अमेरिकी प्रसार की नीति को वह साम्राज्यवादी प्रयास कहता है। मार्गेन्थ्यू द्वारा उद्धृत जान एडम्स (John Adams) के शब्दों में शक्ति हमेशा यह सोचती है कि इसकी आत्मा महान है और इसके दृष्टिकोण व्यापक है तथा जिस समय यह ईश्वर के सारे कानून तोड़ रही है उस समय यह ईश्वर की सेवा कर रही है।"

इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों की विचारधाराओं को प्रभावित करती हैं तथा शक्ति संघर्ष में उन्हें शस्त्र बना देती हैं जैसे कि दो सरकारों का उदाहरण लें जिनमें से एक सरकार अपनी विदेश नीति को बौद्धिक मान्यताओं एवं नैतिक मूल्यांकनों के आधार पर अपनी जनता में प्रसारित करती है और दूसरी सरकार इन नीतियों पर नहीं चल पाती तो पहली सरकार अधिक लाभ में रहेगी। मार्गेन्थ्यू ने इस धारणा पर लिखा है कि "विचारधाराएँ समस्त विचार की भाँति ऐसे हथियार होते हैं जो राष्ट्रीय मोरेल को उठा सकते हैं और इसके साथ ही एक राष्ट्र की शक्ति को बढ़ा सकते हैं। इस व्यवहार से वे अपने विरोधी का मोरेल नीचा कर सकते हैं। प्रथम विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय का प्रमुख कारण उनका उच्च मोरेल था।"

इस प्रकार जब कोई राष्ट्र किसी विचारधारा विशेष को मान लेता है तो फिर वहाँ की शासन पद्धति चाहे वह राजतन्त्रीय, प्रजातन्त्रीय या तानाशाही हो। अथवा समाजवादी, पूँजीवादी या साम्यवादी हो तो भी उसकी सभी क्रियाओं में वह विचारधारा निहित रहती है। विचारधारा ही राज्य में जीवन स्तर का रूप गठित करती है और सभी वर्गों में सहयोग पैदा करती है। राज्य

की सामाजिक सांस्कृतिक तथा राजनैतिक संस्थायें राष्ट्रीय चरित्र बनाती हैं तथा उन्हें आदर्श के लिए बलिदान होना सिखाती हैं।

किसी-किसी राष्ट्र में एक से अधिक विचारधाराओं का प्रचार होता है, ऐसे राष्ट्र पर विदेशी विचारधारा का शीघ्र प्रभाव हो जाता है। वह राष्ट्र अधिक उन्नति नहीं कर पाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में फ्रांस के पराजित होने का यही कारण था। लेकिन इसके विपरीत कई विचारधाराओं वाला देश राष्ट्रीय भावनाओं की प्रबलता होने पर दूसरों से अप्रभावित रहकर उन्नति कर सकता है। जैसे कि ब्रिटेन में उदारवाद, अनुदारवाद तथा श्रमवाद आदि विभिन्न विचारधाराएँ परस्पर संघर्ष के बिना भी राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करती हैं। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका में भी दो दल रिपब्लिक तथा डेमोक्रेटिक दो विभिन्न विचारधाराएँ रखते हैं, लेकिन उनका आधार राष्ट्रीयता है जिसके कारण यहाँ कानून का शासन रहता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद की धारणा दलगत राजनीति से ऊपर है।

विचारधाराओं का प्रभाव (The effect of Ideologies)—विचारधारा (Ideologies शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग राजनीतिक विचारक जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham) तथा प्रसिद्ध सम्राट नेपोलियन (Nepolean) ने किया था। परन्तु आज के युग में विचारधारा विश्व राजनीति की प्रेरक शक्ति बन गई है। पामर व पार्किन्स (Palmer and Parkins) के मतानुसार भी "यद्यपि विचारधारा का तत्व अति प्राचीन काल से सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को प्रभावित करता रहा है पर यह तत्त्व 20वीं शती में जितना निर्णायक तत्व बन गया है, उतना इससे पूर्व न था।" जोजफ रोसक (Goseph Rossek) के मतानुसार तो 16वीं शताब्दी को छोड़कर विचार धारागत संघर्ष, कभी इतना प्रबल नहीं रहा है, जितना कि वह आधुनिक युग में है।"

श्लेदार (Schliecher) का मत है कि "जब राष्ट्रवाद अपना स्थान रिक्त करता है तो उसकी पूर्ति का प्रयास विभिन्न विचारधाराएँ करती हैं।" वे आगे लिखते हैं कि "राष्ट्रवाद तीन दृष्टियों से अपर्याप्त रहा है—(1) वह वास्तविकता का कोई पर्याप्त राष्ट्रीयकरण प्रदान नहीं करता है। (2) वह मूल्यों के सन्तोषजनक दर्शन के रूप में अपर्याप्त है, तथा (3) वह उन आवश्यक आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के विषय में कुछ नहीं कहता है जो जनता की बदलती हुई एवं बढ़ती हुई आकांक्षाओं को सन्तुष्ट कर सकें।"

विचारधाराओं के रूप (Types of Ideologies)—मार्गेन्थ्यू ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाली समस्त विचारधाराओं को तीन भागों में विभाजित किया है—

(i) विस्तारवादी विचारधाएँ जो साम्राज्यवादी विचारधाराएँ कहलाती हैं, तथा

(ii) अनेक कार्य एवं अस्पष्ट अर्थ रखने वाली विचारधाराएँ, जैसे राष्ट्रीय आत्म निर्णय का सिद्धान्त।

पामर व पार्किन्स तो प्रजातन्त्र, ईसाई धर्म तथा इस्लाम धर्म आदि को भी विचारधाराओं के अन्तर्गत ही रखते हैं। वस्तुतः सभी वाद (Ism) विचारधाराओं के अन्तर्गत ही आते हैं जैसे सर्वाधिकारवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद, नाजीवाद, फासीवाद, उदारवाद, समष्टिवाद, गांधीवाद आदि।

यहाँ मार्गेन्थ्यू (Morgenthau) द्वारा प्रतिपादित विचारधाराओं के वर्गीकरण पर अलग-अलग विचार किया जायगा।

(1) यथास्थिति की विचारधाराएँ (Status-quo Ideologies)—इस विचारधारा में विश्वास रखने वाला देश अपने व्यवहार को किसी विचार के आवरण में नहीं छिपाता है। वह तो उस शक्ति की रक्षा का प्रयास करता है जो वह प्राप्त कर चुका है। वस्तुस्थिति (Statusquo) ...में वास्तविकता होने के कारण नैतिक न्यायोचितता मिल जाती है। वह किसी को भी

अपना शत्रु या मित्र बनाने के लिए बाध्य नहीं होता है। केवल क्षेत्रीय अखण्डता को कोई कानूनी या नैतिक चुनौती देने पर ही वह अपनी विदेश नीति की तटस्थता समाप्त करता है। स्विटजरलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि देश यथास्थिति नीति का पालन करने वाले राष्ट्र हैं। ब्रिटेन, फ्रांस, यूगोस्लाविया एवं रूमानिया आदि देशों ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान यथास्थिति की नीति को ही अपनाये रखने का प्रयास किया था। इन देशों की यथास्थिति को जब चुनौती दी गयी तो उन्हें उसकी रक्षा हेतु आदर्शवादी सिद्धान्तों को अपनाना पड़ा तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं शान्ति के आदर्शों द्वारा वे यथास्थिति बनाये रखने में सफल हुए।

विस्तारवादी अथवा साम्राज्यवादी शक्तियाँ यथास्थिति की नीति का विरोध करती हैं, क्योंकि यथास्थिति की नीति का पालन करते हुए वे अपना साम्राज्य विस्तार नहीं कर सकती हैं। प्रथम विश्वयुद्ध तथा द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण वास्तव में यथास्थिति तथा विस्तारवादी विचारधाराओं में टकराव था। इंगलैण्ड और फ्रांस के पास काफी बड़ा साम्राज्य था वह उसे बनाये रखना चाहते थे जबकि जर्मनी एवं इटली जो सत्र के बाद स्वतन्त्र एवं संगठित हुए थे विश्व में अपना भाग (Share) चाहते थे। जापान भी विस्तारवादी नीति पालन करना चाहता था। इन तीनों शक्तियों ने यथास्थिति नीति को चुनौती दी, यथास्थिति वाले देशों को यह चुनौती स्वीकार करनी पड़ी अर्थात युद्ध का नियन्त्रण स्वीकार करना पड़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी यथास्थिति की नीति का समर्थन करने वाले होते है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य की सामाजिक शक्ति होता है जो शक्ति के वितरण को परिभाषित करता है तथा व्यावहारिक मापदण्ड प्रदान करता है। ये शान्तिवादी व्यवस्था के समर्थक यथास्थिति के पक्ष पोषण के लिए ही सामूहिक सुरक्षा का प्रश्न उठाते है तथा इसकी सहायता से साम्राज्यवादियो के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा करते हैं।

(2) साम्राज्यवादी विचारधाराएँ (Imperialistic Ideologies)—साम्राज्यवादी अथवा विस्तारवादी यथास्थिति नीति के कट्टर विरोधी होते हैं और यथास्थिति को समाप्त कर नई व्यवस्था की माँग करते हैं। वे अपने समर्थन में कहते है कि चूँकि अब नयी-नयी शक्तियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं अतः पुरानी व्यवस्था का अन्त होना चाहिए और नये सिर से वितरण नैतिकता एवं न्याय युक्त ढंग से होना चाहिए। नई व्यवस्था के लिए वह युद्ध की तैयारी करते हैं। वे अपने युद्ध का लक्ष्य, सुरक्षा, सम्मान, सुविधा, उत्साह आदि तत्वों में से किसी को भी बना सकते है।

साम्राज्यवादी अपने पक्ष के समर्थन में कानूनी मान्यताओं का हवाला देते हैं पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नहीं, क्योकि उसकी प्रकृति कठोर व अपरिवर्तनशील होती है तथा यथास्थिति की पक्ष पोषक होती है। चूँकि साम्राज्यवादी नीति गतिशील होती है, इसलिए इसके सैद्धान्तिक विवेचन के लिए प्राकृतिक कानून का उपयोग किया जाता है। जैसे कि नाजी जर्मनी के तानाशाह हिटलर ने वर्साय की सन्धि का विरोध किया क्योकि वह यथास्थिति के पक्ष में थी। हिटलर ने वर्साय सन्धि को समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध बताया तथा मानवीयता एवं नैतिकता की दुहाई देकर अपना क्षेत्र वापस लेने की माँग की।

साम्राज्यवादियों ने अपने विचारों के समर्थन में धर्म का सहारा भी लिया। यूरोप में ईसाइयों का साम्राज्य, मध्यकाल में मुस्लिम साम्राज्य, धर्म के नाम पर स्थापित हुए थे। आधुनिक युग में नेपोलियन का साम्राज्यवाद स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व के नाम पर फैला; रूसी साम्राज्यवाद विश्व क्रान्ति एवं पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध सुरक्षा के नाम पर तथा अमेरिकी साम्राज्यवाद साम्यवाद से सुरक्षा एवं स्वतन्त्र विश्व के हितों की रक्षा के नाम पर प्रसारित ह
है। इस प्रकार साम्राज्यवाद टट्टी की ओट लेकर शिकार कर रहा है।

साम्राज्यवादी शक्तियों ने डार्विन तथा स्पेन्सर (Darwin and Spencer) के सामाजिक दर्शन को अपने पक्ष में प्रस्तुत किया। डार्विन का सिद्धान्त "योग्यतम की विजय" (Survival of the Fittest) उनका नारा बना। इसी नारे को आधार मानकर साम्राज्यवादियों ने शक्ति पूजा एवं शक्ति विस्तार का लक्ष्य बनाया तथा जर्मनी, इटली, जापान आदि देशों ने अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ बनाकर विश्व पर शासन करने का अधिकार जताया। उनका कहना था कि उनकी जातियाँ घटिया किस्म की जातियों पर शासन करने को ही उत्पन्न हुई हैं। उनके मार्ग को, प्राकृतिक नियमों को भंग कर निम्न स्तर जातियाँ, अवरुद्ध कर रही हैं। इन्होंने अपने विरोधियों को पूँजीवादी, शोषक, साम्राज्यवादी की संज्ञा दी और विश्व कल्याण के लिए इनसे संघर्ष को उचित ठहराया। उपर्युक्त तीनों जातियाँ यह भी तर्क देती थीं कि चूँकि उनके पास बढ़ी हुई जनसंख्या को बसाने के लिए भूमि की कमी है। अतः उन्हें भूमि और साधन की आवश्यकता है।

साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपनी प्रसारवादी नीतियों को छिपाने के लिए आदर्शवादी विचारों का सहारा लिया तथा दूसरों पर आरोप लगाया कि वे शक्ति प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर अपनी नीतियों को संचालित कर रहे हैं। हुएलांग (Hueylong) के मतानुसार अमेरिका में 'फासीवाद' फासीवाद के विरोधी रूप मे तथा साम्राज्यवाद साम्राज्यवाद-विरोधी के रूप में आयेगा। द्वितीय महायुद्ध मे दो गुटो ने एक दूसरे को साम्राज्यवादी, विस्तारवादी बताया और एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दो साम्राज्यवादी शक्तियाँ रूस और अमेरिका एक दूसरे के विरुद्ध मोर्चा लगाये हैं, एक दूसरे को साम्राज्यवादी कहकर बदनाम करने पर तुली हैं।

(3) **अनेकार्थक एवं अस्पष्ट विचारधाराएँ** (Multimeaning and non-clear Idealogies)—साम्राज्यवाद के विरुद्ध मान्यताएँ अधिकांशतः अनेकार्थी व अस्पष्ट हैं जिनमें यथास्थिति व साम्राज्य दोनों को ही समन्वित किया गया है। उदाहरण के लिए 18वीं एवं 19वीं शताब्दी का शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त (*Principle of Balance of Power*) यथास्थिति के समर्थकों एवं साम्राज्यवादियों ने अपने समर्थन में सैद्धान्तिक हथियार के रूप में प्रयोग किया था। आजकल संयुक्त राष्ट्र संघ "राष्ट्रीय आत्मनिर्णय" (National Self-determination) के सिद्धान्त के आधार पर ही यथास्थिति के सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है।

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का आधार लेकर अफ्रीका एवं एशिया में उपनिवेशवाद का घोर विरोध किया जा रहा है। रूस इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थक है पर दूसरे के घर में आग लगाने के लिए यह ऐसा करता है पर जब पोलैण्ड, हंगरी एवं चैकोस्लोवाकिया ने यह नारा लगाया तो रूस ने साम्राज्यवादियों के समान ही उन्हें कुचल कर रख दिया। रूस अमेरिका को पक्का साम्राज्यवादी बताता है जबकि वह स्वयं किसी साम्राज्यवादी से कम नहीं। कुछ भी हो यूरोप में आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर रूसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध आवाज उठने लगी है।

'शान्ति समर्थक' भी यथास्थिति को कायम रखने के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का नारा लगा रहे हैं। युद्ध विभीषिका का भय दिखाकर साम्राज्यवादी 'शान्तिवादी विदेश नीति' का ढोल पीट रहे हैं तथा छोटे अशक्त राष्ट्रों का शोषण कर रहे हैं।

प्रजातन्त्रात्मक व साम्यवादी विचारधाराएँ
(Democratic and Communistic Ideologies)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रत्येक विचारधारा अपना प्रभाव डालती है। सर्वाधिक क्रान्तिकारी व उल्लेखनीय विचारधारा राष्ट्रवाद (Nationalism) है। राष्ट्रवाद को ही नाजीवादियों, फासीवादियों, साम्यवादियों एव प्रजातन्त्रवादियों ने अपने विचारों का आधार बनाया है। नाजीवाद का ही परिवर्तित रूप साम्यवाद है क्योंकि नाजीवाद मे जर्मन जाति का प्रभुत्व काम कर

रहा था और साम्यवाद मे रूसी जाति का प्रभुत्व काम कर रहा है। चीन तो रूस को संशोधनवादी कहकर पीछे धकेल रहा है और अपने को वास्तविक साम्यवादी देश बता रहा है। रूस और चीन के एजेन्ट देश-देश में घुस गये हैं और उनकी राष्ट्रीयता का अन्त कर उनको अपने प्रभाव क्षेत्र मे लाने का प्रयत्न कर रहे है। साम्यवादी विचारधारा की यह विशेषता है कि जहाँ एक बार इस विचारधारा का प्रवेश हो गया, फिर वहाँ से वह समाप्त नहीं होती है, उस पर लगातार दबाव बढ़ता ही जाता है। क्रान्ति ही इस विचारधारा का अन्त किसी देश से कर सकती है, जैसा कि चिली में हुआ।

साम्यवादी अपने को सच्चा प्रजातन्त्रवादी एवं उदारवादी कहते हैं। जबकि 19 वीं शताब्दी में वे उदारवादियों के शत्रु थे। साम्यवाद के विरोधी पूंजीवादी भी अपने को सच्चा उदारवादी और प्रजातन्त्रवादी कहते है तथा साम्यवादी व्यवस्था को धोखा, छल व प्रपंच आदि का नाम देते है। वास्तव मे दोनो ही विचारधाराएँ एक दूसरे की विरोधी विचारधाराएँ हैं और आधुनिक विश्व राजनीति मे अपना विशेष प्रभाव रखती है अतः इनका विवेचन पृथक शीर्षकों मे कुछ विस्तार से किया जाना उचित है।

(1) प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा (Democratic Ideology)—सवैधानिक प्रजातन्त्र को ही वास्तव में प्रजातन्त्र कहा जा सकता है। प्रजातन्त्र मे न्यायपालिका को सविधान की रक्षिका माना जाता है तथा उसके निर्णय सर्वमान्य होते हैं। प्रजातन्त्र अपनी पूर्णता पर एकदम नहीं आ जाता है, उसके लिए क्रमश- विकास आवश्यक है। प्रजातन्त्र समाज की सामान्य प्रकृति को प्रदर्शित करता है तथा समानता, स्वतन्त्रता एव बन्धुत्व की भावना को पुष्ट करता है। प्रजातन्त्र पर ब्रिटेन, फ्रांस एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के उदारवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है। वास्तव में उदारवादी राजतन्त्र ही प्रजातन्त्र का जन्मदाता होता है जिसे वाशिंगटन, जैफर्सन, लिन्कन और रूजवेल्ट आदि राजनीतिज्ञों ने विकसित किया है। इन विचारकों के अतिरिक्त सिद्धान्तों के अन्य स्रोत हैं—मैगनाकार्टा, अमेरिका का स्वतन्त्रता सम्बन्धी घोषणा पत्र, सघीय संविधान, नागरिक कानून तथा अधिकार विधेयक आदि।

प्रजातन्त्र मानव विकास के समान अवसरों मे विश्वास करता है इसमें प्रत्येक व्यक्ति का महत्त्व होता है। यह बुनियादी स्वतन्त्रताओं का उपभोग करता है। शासन जनता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना से प्रेरित रहता है। प्रजातन्त्र का शान्तिपूर्ण साधनों में विश्वास होता है। इनकी प्रतिक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी होती है।

प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा राष्ट्रीय सीमाओं से आगे समानता के सिद्धान्त को मान्यता देती है। अत. इस आदर्श का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रयोग किया जाता है। लेकिन कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती है। फ्लाइचर महोदय लिखते है कि "चाहे कारण कुछ भी हो किन्तु असमानता विरोधी प्रजातन्त्रात्मक आदर्श को प्रजातन्त्रीय सरकारों एवं लोगों को भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करने मे कठिनाई होती है।"

राष्ट्रवाद से भी प्रजातन्त्रात्मक आदर्शो को असगति है। प्रजातन्त्र व्यक्ति को सर्वोपरि मान्यता देता है जबकि राष्ट्रवाद राज्य को सर्वोच्च स्थान देता है। प्रजातन्त्र में व्यक्तिगत अधिकारों पर अधिक जोर दिया जाता है जबकि राष्ट्रवाद मे कर्त्तव्यों पर अधिक बल दिया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद व प्रजातन्त्र दो विचारधाराएँ एक साथ नहीं रह सकती हैं, यद्यपि दोनों विचारधाराओं को एक साथ रखने का सुझाव दिया जाता है ताकि मानवीय अधिकारों के विषय को राज्यों के क्षेत्राधिकार से निकालकर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का विषय बना दिया जाय।

साम्राज्यवादी विचारधारा का रुख प्रजातन्त्र के विरुद्ध है क्योंकि प्रजातन्त्र में त नागरिक को सरकार के हाथ बटाने का पूरा अवसर दिया जाता है जबकि साम्राज्यवाद

कुछ लोग अन्य सभी पर शासन करते हैं। साम्राज्यवाद को प्रजातन्त्र में बदला जा सकता है यदि निर्णय लेने की प्रक्रिया में सभी को अधिकार प्रदान कर दिया जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रजातन्त्रात्मक व्यवहार का अर्थ है—जातीय, आर्थिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर की ओर ध्यान दिये बिना सभी व्यक्तियों का कल्याण। किसी देश का हित दूसरे देश के विरुद्ध न हो।

प्रजातन्त्रात्मक व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव (Effect of Democratic behaviour on International Politics)—

(i) सभी नागरिकों को आर्थिक व सामाजिक समानता की उपलब्धि।

(ii) प्रत्येक आदर्श राज्य का लक्ष्य मानवीय कल्याण।

(iii) सम्प्रभु प्रजातन्त्रात्मक विचार तथा विश्वासों के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहिए तथा उसे मानवीय मूल्यों एवं अधिकारों की बाधा नहीं होना चाहिए।

(iv) प्रजातन्त्र शान्तिवादी संस्थाओं को प्रोत्साहन व सहयोग देगा, समान व्यक्तियों द्वारा असमान शक्तियों के प्रयोग को रोकेगा, प्रतिनिधि शासन के विकास में सहायता देगा तथा उपनिवेशवाद का प्रत्येक रूप में विरोध करेगा।

(v) प्रजातन्त्र बहुमत की इच्छानुसार शान्तिपूर्ण परिवर्तन लायेगा। प्रक्रियात्मक सुरक्षाओं द्वारा अधिक लोग के कल्याण की व्यवस्था करेगा।

(2) साम्यवादी विचारधारा (Communist Ideology)—यद्यपि साम्यवादी अपने को पूँजीवादियों की अपेक्षा अधिक सच्चे प्रजातन्त्रवादी बताते हैं पर वास्तव में साम्यवाद और प्रजातन्त्रवाद एक दूसरे के विपरीत विचारधाराएं हैं। साम्यवादियों की प्रकृति ही सत्तावादी होती है यह प्रजातन्त्र की अपेक्षा कम स्पष्ट है। साम्यवादी "दास कैपिटल" तथा "साम्यवाद का घोषणा पत्र" पर अपनी पूर्ण आस्था प्रकट करते हैं। इन्हीं के आधार पर लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव एवं माओत्सेतुंग ने प्रजातन्त्र की सत्तावादी व्याख्यायें प्रस्तुत की। साम्यवादी विचारधारा की मुख्य मान्यता है कि इतिहास एक निरन्तर संघर्ष की कहानी मात्र है। आदिकाल अब तक विभिन्न युगों से दो वर्गों में संघर्ष चलता आ रहा है। पूँजीवादी व्यवस्था में यह संघर्ष निर्णयात्मक होगा। साम्यवाद एक प्रगतिशील विचारधारा है और पूँजीवाद एक प्रतिक्रियात्मक विचारधारा है। साम्यवाद पूँजीवाद की जड़ तक खोद कर रख देगा।

साम्यवादी नेताओं ने अपने लेखों व वक्तव्यों में अनेक मान्यताएँ प्रस्तुत हैं, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :

(i) साम्यवाद की ऐतिहासिक व्याख्या जिसके अनुसार वर्ग संघर्ष अनन्तकाल से चला आ रहा है और पूँजीवाद का विरोधी रहा है। अन्ततः पूँजीवाद का अन्त होना निश्चित है और मजदूरों का शासन स्थापित होगा।

(ii) साम्यवाद और उदार संवैधानिक प्रजातन्त्र में मूलभूत संघर्ष है जिसे केवल साम्यवाद की विजय ही समाप्त कर सकती है।

(iii) साम्यवाद वर्गविहीन समाज का समर्थक है। इस वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए सर्वहारा-वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी जो राज्य की सहायता से उक्त समाज की स्थापना करेगी तथा राज्य फिर स्वतः मुरझा जायेगा।

(iv) साम्यवाद मजदूर वर्ग की तानाशाही का समर्थक है पर उसके पीछे साम्यवादी दल का पूर्ण प्रभुत्व रहेगा।

(v) साम्यवाद का लक्ष्य साधनों की दृष्टि से शक्ति एवं शक्ति-संघर्ष है। साम्यवादी विचारकों ने भी शक्ति प्राप्त करने एवं एकीकृत करने की रणनीति व तकनीकी का वर्णन किया है।

(vi) साम्यवाद अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में उचित या अनुचित सभी साधनों का प्रयोग करने में कोई हिचक नहीं मानता।

(vii) साम्यवाद धर्मवाद का भी शत्रु है तथा इसे पूँजीवादियों के दिमाग की उपज बताता है।

(viii) साम्यवाद भौतिकवाद है वह मानव की भौतिक उन्नति में विश्वास करता है। अध्यात्मवाद को वह कल्पनावाद कहकर धिक्कारता है।

आज साम्यवाद में भी फूट पड़ गयी है अतः उसके दो पक्ष हो गये है—एक रूसी साम्यवाद एवं दूसरा चीनी साम्यवाद। दोनों देशों के नेताओं ने मार्क्सवाद का अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार संशोधन कर लिया है। इतना होने पर भी स्टालिन के बाद रूसी नेतृत्व को चीनी साम्यवादी संशोधन वादी कहकर हंसी उड़ाते हैं। उन्हें वे पथभ्रष्ट कहते हैं।

आज विश्व में प्रजातन्त्र एवं साम्यवाद—दोनों महत्वपूर्ण विचारधारायें हैं। साम्यवादी देशों ने अपने देश में एक दलीय शासन की स्थापना कर रखी है और अन्य दलों का सफाया कर दिया है। इसके विपरीत प्रजातन्त्रवादी देशों ने अपने देश में प्रत्येक विचारधारा को पनपने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी है। श्लाइचर महोदय का कहना है कि "संक्षेप में साम्यवादी विचारधारा सच्चे रूप में अन्तर्राष्ट्रीय है जिसका आधार वर्गवाद है। राष्ट्रवाद के लिए यह जो भी छूट प्रदान करती है वह अस्थायी है तथा इसकी रणनीति है।

राष्ट्रीय मनोबल का अर्थ और महत्व
(Meaning and Importance of National Morale)

मनोबल का अर्थ (Meaning of Morale)—मनोबल अंग्रेजी शब्द मोरेल (Morale) का हिन्दी रूपान्तर है। जो मानसिक तथा नैतिक दशा को प्रकट करता है। मार्गेन्थ्यू (Morgenthau) का कहना है कि "राष्ट्रीय मनोबल निश्चय (Determination) का वह अनुपात (Degree) है जिसके द्वारा एक राष्ट्र युद्ध एव शान्ति के समय अपनी सरकार की विदेश नीति का समर्थन करता है। मनोबल में राष्ट्र की सम्पूर्ण औद्योगिक क्रियायें, कृषि उत्पादन तथा सैनिक तैयारियाँ और कूटनीतिक सेवायें, समाहित होती हैं।"

पामर एवं पार्किन्स ने लिखा है कि "मनोबल आत्मा का एक बीज होता है, जो स्वामी भक्ति, साहस तथा विश्वास से मिलकर बनता है। यह व्यक्तित्व एवं सम्मान की रक्षा की लालसा है, ज्ञात के प्रति भावना तथा अज्ञात के प्रति भय और अरुचि होती है। यह आत्म-स्वार्थ है।" आगे पामर और पार्किन्स लिखते हैं कि "राष्ट्रीय मनोबल कुछ निश्चित तथा अनेक अनिश्चित तत्वों का उलझनपूर्ण समन्वय है।"

मनोबल युद्ध की सफलता के लिए आवश्यक है। अत: यह कहा जाता है कि 'युद्ध सेनाओं द्वारा नहीं लड़े जाते बल्कि मनोबल द्वारा जीते जाते हैं।" युद्ध की संक्रियता, जोश व सफलता के लिए मनोबल आवश्यक तत्व है। इजराइल ने उच्च मनोबल के कारण ही अपने से बीस गुने शक्तिशाली संयुक्त अरब राज्यों को हराया था। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में मनोबल देश के राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित करता है जबकि राजतन्त्रीय देशों में पूर्णतया ऐसा नहीं होता। पामर तथा पार्किन्स का कहना है कि "....यह आत्म भाव इस अर्थ मे है कि एक देश का मनोबल उस देश के निवासियों में समत्व भाव की स्थापना करता है। उसके अस्तित्व में वह समाज, प्रेम, बलिदान, बन्धुत्व, दाम्पत्य सुख, वात्सल्य और भक्ति आदि के भाव ओत-प्रोत होते हैं।"

मनोबल बढ़ाने के साधन (Means for maintaining Morale)—मनो. प्राकृतिक मानसिक अवस्था है जो एक जाति में विद्यमान होती है। तथापि इसे विकसित

सकता है। कुछ विद्वानों ने राष्ट्रीय मनोबल को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित तत्व बताये हैं :

(1) **राष्ट्रीय चरित्र (National Character)**—प्रत्येक राष्ट्र का एक विशेष चरित्र होता है जिससे उसकी पहचान होती है। राष्ट्र चरित्र किसी राष्ट्र के उन मूल्यों एवं आदर्शों से संगठित होता है जिन्हें वह प्राथमिकता देता है। देश का रहन-सहन, विचार, इतिहास, संस्कृति, आदर्श, भाषा, साहित्य आदि तत्व राष्ट्रीय मनोबल को प्रभावित करते हैं। परन्तु पामर तथा पार्किन्स उक्त बात का खण्डन करते हैं, उनके मतानुसार, "किसी देश का राष्ट्रीय चरित्र उसके मनोबल को प्रभावित नहीं करता है। अपने मत के समर्थन में वे ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि एक ही समय में एक देश में दो विरोधी मनोबल जाग्रत हो सकते हैं।"

(2) **संस्कृति (Culture)**—संस्कृति मानसिक एवं बौद्धिक अंगों को प्रभावित करती है। संस्कृति अपने परिवर्तनशील स्वभाव के कारण सोचने एवं अनुसरण करने के अपने तरीकों को बदलती रहती है। देश के आदर्श, मान्यतायें एवं व्यवहार बदल जाते हैं और मनोबल को प्रभावित करते हैं। पर पामर एवं पार्किन्स ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इस मान्यता का भी खण्डन करते हैं तथा सांस्कृतिक अन्तर को देश के मनोबल को निश्चित करने वाला तत्व नहीं मानते हैं।

(3) **नेतृत्व (Leadership)** – विद्वानों का यह भी मत है कि अच्छा नेतृत्व राष्ट्र के मनोबल को ऊँचा उठाने में बड़ा सहायक होता है। नेता इच्छित दिशा में जनता को मोड़ सकता है। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस तथा पं० जवाहरलाल नेहरू ने गुलामी के समय भी भारतीय जनता के मनोबल को उठाने में और अजय कही जाने वाली ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करने के लिए तैयार करने में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया था। पामर और पार्किन्स भी यह बात स्वीकार करते हैं कि "यदि एक नेता जनता में लोकप्रियता प्राप्त कर लेता है तो उसके आचार और विचार का प्रभाव देश के मनोबल पर पड़े बिना नहीं रह सकता है।"

उपर्युक्त वर्णित तीन तत्व—राष्ट्रीय चरित्र, संस्कृति, नेतृत्व आदि का प्रभाव मनोबल पर अनिश्चित होता है परन्तु कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि कुछ ऐसे तत्व भी होते हैं जिनका प्रभाव मनोबल पर निश्चित रूप से पड़ता है। ये तत्व निम्न हैं—

(4) **अच्छी सरकार (Good Government)**—प्रजातन्त्रीय सरकार जो जनता द्वारा *चुने गये निःस्वार्थी, देश भक्त एवं योग्य प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित होती है, एक अच्छी और प्रभावी* सरकार होती है। प्रजातन्त्रीय सरकार जनता की महत्वाकांक्षाओं का ध्यान रखती है तथा सरकारी नीतियों में एकरूपता रखती है। इस प्रकार जिन देशों में सुशिक्षित एवं ईमानदार सरकार होती है वहाँ की जनता का मनोबल भी ऊँचा उठा होता है। मार्गेन्थ्यू (Morgenthau) के मतानुसार "राष्ट्रीय मनोबल को सुधारने का एकमात्र उपाय यह है कि सरकार के रूप को सुधार दिया जाय।"

(5) **परिस्थितियाँ (Circumstances)**—अनेक बार परिस्थितियाँ भी राष्ट्रीय मनोबल को बहुत प्रभावित करती हैं। युद्ध की घटना राष्ट्रीय मनोबल को उत्तेजित करती है। पाक और भारत के युद्धों के समय भारतीयों का मनोबल बहुत ऊँचा उठा था और विजय ने उनमें बड़ी उत्तेजना भर दी थी। मार्गेन्थ्यू कहता है कि "मनोबल का उत्थान, अवसर पर निर्भर होता है।" परिस्थितियाँ मनोबल गिरा भी सकती हैं। परमाणु बम के दो विस्फोटों ने 1945 में जापान के लोगों के मनोबल को बिलकुल गिरा दिया।

नेतृत्व
(Leadership)

नेतृत्व का महत्व (Importance of Leadership)—एक देश के उत्थान एवं पतन में उसके नेतृत्व का महत्वपूर्ण सहयोग होता है। नेतृत्व राष्ट्र शक्ति का एक महत्वपूर्ण अंग होता

है। राज्य का रूप कैसा ही हो—चाहे प्रजातान्त्रिक हो, या राजतन्त्रीय हो या कुलीन तन्त्रीय हो, पर नेतृत्व का महत्व प्रत्येक शासन व्यवस्था में एकसा ही है। राजतन्त्रीय युग मे कुछ देशों में ऐसे राजा हुए जिन्होंने राष्ट्र को उठाकर उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। भगवान राम, युधिष्ठिर, अशोक, अकबर आदि राजाओं को कौन भूल सकता है। प्रजातन्त्रों में भी वाशिगटन, रूजवेल्ट, लिन्कन, चर्चिल, नेहरू का नाम कौन विस्मरण कर सकता है। विश्व में ऐसा शायद कोई भी राष्ट्र नहीं जहाँ जनता का ही सरकारी नीतियों एवं कार्यों में तथा विदेश नीति के मामलों में पूर्ण नियन्त्रण हो। अतः किसी देश का भविष्य कुशल नेता अथवा प्रभावशाली नेतृत्व पर निर्भर करता है।

नेतृत्व के मुख्यतः दो कार्य हैं जिनसे राष्ट्र शक्ति में अभिवृद्धि होती है—

(i) नेतृत्व राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्वों मे समन्वय करता है।

(ii) अधिकाधिक राष्ट्रीय शक्ति पाने के लिए नेतृत्व की आवश्यकता।

मार्गेन्थ्यू के मतानुसार "सैनिक नेतृत्व के गुण का राष्ट्रीय शक्ति पर गहरा प्रभाव पड़ता है।" उदाहरण के लिए नेपोलियन, बिस्मार्क, हिटलर आदि के नेतृत्व में इतनी राष्ट्रीय शक्ति एकत्र हो गई कि विश्व आश्चर्यचकित हो गया।

नेतृत्व राष्ट्रीय शक्ति के सम्भावित कारणों को वास्तविक रूप देता है तथा भूगोल, प्राकृतिक स्रोत, जनसंख्या आदि का प्रयोग इस प्रकार करता है कि वे राष्ट्र को सर्वोपरि बना दें। नेतृत्व के अभाव में मनोबल भी महत्वहीन बन जाता है। मैकाइवर तथा पेज (McIvar and Page) ने नेतृत्व को एक व्यक्ति की ऐसी योग्यता माना था जो उसके पद से सम्बन्धित न होकर उसकी स्वयं व्यक्तिगत होती है और इस व्यक्तिगत योग्यता से ही वह जनता का निर्देशन करता है। गिब्स (Gibb) महोदय ने नेतृत्व को व्यक्तिगत गुण न मानकर सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम माना है, और इसलिए समय और स्थान के अनुसार नेतृत्व परिवर्तन होता रहता है। युद्ध कालीन नेतृत्व शान्ति कालीन नेतृत्व से भिन्न होता है।

नेतृत्व की विशेषतायें (Characteristics of Leadership)—नेतृत्व के निम्नलिखित गुण होते हैं :—

(i) नेतृत्व एक आन्तरिक व्यक्तिगत गुण होता है जो दूसरों को प्रेरित एव प्रभावित करने का कार्य करता है।

(ii) नेतृत्व राष्ट्र के प्रत्येक पहलू पर निर्देशन व मार्गदर्शन करता है जो अनेको व्यक्तियों द्वारा ही किया जाता है, क्योंकि एक व्यक्ति अपूर्ण व योग्यता मे सीमित होता है।

(iii) नेतृत्व की अपूर्णता दूर करने के लिए ऊँचे पदों पर राजनीतिज्ञों की सहायता के लिए विशेषज्ञ होते हैं।

पामर एवं पार्किन्स उपर्युक्त भावों को प्रकट करते हुए लिखते हैं कि "नेतृत्व एक लचीला पद है, इसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया जा सकता है किन्तु जिस अर्थ में यह राष्ट्रीय शक्ति का एक तत्व है, इसे इसके ऐसे व्यक्तियों को समाहित करना चाहिए जिनके नेतृत्व के गुणों पर सैनिक सम्भावनाओं का विकास निर्भर करता है।"

नेतृत्व का शान्तिकालीन उपयोग (Uses of Leadership in Peace time)—नेतृत्व का शान्तिकालीन उपयोग कूटनीति (Diplomacy) के माध्यम से दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों को बढ़ाने, अपने आत्म सम्मान की रक्षा करने तथा राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करने के लिए किया जाता है। साधारण जनता राष्ट्रीय समस्याओं एवं परिस्थितियों को न तो अच्छी तरह समझ सकती है और न इतनी योग्यता उसमें होती है कि कोई स्पष्ट निर्णय ले सके, इसलिए देश के नेताओं के निर्णय ही सर्वमान्य होते हैं।

नेतृत्व का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व यह होता है कि यह अन्य राष्ट्रों से आर्थिक, सैनिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित करे कि वे राष्ट्रीय शक्ति में अभिवृद्धि करे। इस अभिवृद्धि के लिए कूटनीतिक साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। कूटनीतिज्ञ उस देश के मस्तिष्क का कार्य करते हैं। मार्गेन्थ्यू महोदय कूटनीति का शान्तिकालीन उपयोग वर्णित करते हुए लिखते है कि "यह विदेश नीति के साध्य और साधनों को प्राप्त राष्ट्रीय शक्ति के स्रोतों के साथ एक रूप करती है। कूटनीति के माध्यम से राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाने के सभी मार्गों को खोजा जा सकता है जिसके लिए कुशल नेतृत्व आवश्यक है।"

नेतृत्व का युद्धकालीन प्रयोग (Use of Leadership in Wartime)—शान्तिकालीन शक्ति कूटनीति जब असफल हो जाती है तो युद्ध प्रारम्भ हो जाता है जो कि नेतृत्व की कुशलता की कमी का परिणाम माना जाता है। युद्धकालीन नेतृत्व का उत्तरदायित्व बहुत अधिक होता है। इसलिए गुणवान, अनुभवी नेता ही इसे सफलतापूर्वक चला सकता है।

प्राचीन काल में तो युद्ध सेनाओं द्वारा ही लड़ा जाता था और हार-जीत का निर्णय युद्ध-क्षेत्र में ही हो जाता था। पर आधुनिक युग में युद्ध व्यापक प्रकृति के होते हैं। अतः सारा राष्ट्र इससे प्रभावित होता है। ऐसे समय मे नेतृत्व का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह राष्ट्र के सभी साधनों को नियोजित व संगठित करे। पामर एवं पार्किन्स के मतानुसार भी "आज के युद्धों को सम्पूर्ण युद्ध (Total war) इसी कारण कहा जाता है, क्योंकि इसमें सम्पूर्ण स्रोतों की, सम्पूर्ण संगठन की तथा सम्पूर्ण प्रयत्नों की तथा कभी-कभी सरकार की सारी शक्ति की आवश्यकता पड़ जाती है। अतः राज्य के नेताओं का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि राज्य की सभी शक्तियों में सामंजस्य करे।"

राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन
(Evaluation of National Power)

राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने के लिए सभी तत्वों—भूगोल, प्राकृतिक स्रोत, जनसंख्या, तकनीकी, मनोबल व नेतृत्व आदि को सन्तुलित रूप मे समन्वय करना होगा। राष्ट्रीय शक्ति का स्तर मापने के लिए निम्न बातों को ध्यान में रखना होगा—

(1) समन्वयात्मकता (Co-ordination)—राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने में तभी सफलता मिल सकती है जब राष्ट्रीय शक्ति के सभी तत्वों को समन्वित किया जाय। तात्विक समन्वय के अभाव मे इनका महत्व कम हो जाता है। पामर और पार्किन्स ने इस विषय में लिखा है कि "शक्ति केवल वहीं रहती है जहाँ कि ये सभी तत्व वर्तमान हों। क्योंकि लोग बिना हथियार, नेतृत्व, मनोबल एवं क्षेत्र के भी लड़ सकते हैं; फिर भी यह सत्य है कि तत्वों के अभाव में कोई भी राष्ट्र उल्लेखनीय शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।"

(2) सापेक्षिकता (Relativity)—शक्ति एक सापेक्षिक विशेषण है जो अन्य शक्तियों से किसी राष्ट्र की तुलना करने पर दिया जाता है। पामर एवं पार्किन्स ने इस तथ्य को पुष्ट करने को एक उदाहरण दिया है कि 40 वर्ष का व्यक्ति 10 वर्ष के बालक की तुलना में बड़ा समझा जायगा लेकिन 80 वर्ष के व्यक्ति की तुलना में छोटा। इसी प्रकार राष्ट्रों की शक्ति भी अन्य राष्ट्रों की शक्ति की तुलना से आंकी जा सकती है।

(3) परिवर्तनशीलता (Changeability)—राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का महत्व समयानुसार बदलता रहता है। आज का सर्वशक्तिशाली राष्ट्र कल दुर्बल बन सकता है। कभी फ्रांस (नेपोलियन के काल में) यूरोप का सर्वशक्तिशाली देश माना जाता था। जर्मनी के उत्थान के बाद वह ऐसा गिरा कि अभी तक सम्भल नहीं पाया है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व, इंगलैण्ड विश्व का सर्वशक्तिशाली देश गिना जाता था पर इस युद्ध के बाद वह रूस और अमेरिका की तुलना में

दुर्बल बन गया है । इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति सदैव एक सी मात्रा में नहीं रहती है । अतः राष्ट्र की शक्ति स्थिति, परिस्थितियों एवं घटनाओं के क्रम पर निर्भर करती है । किसी भी देश का भविष्य विश्व के अन्य देशों की परिवर्तित शक्ति स्थिति पर अवलम्बित होता है क्योंकि शक्ति सापेक्षिक होती है ।

इस प्रकार राष्ट्र शक्ति की उपर्युक्त तीनों विशेषताओं को ध्यान में रखते हुये अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति सम्बन्धी निर्णय लेना चाहिए लेकिन रचनात्मक, कल्पना, ऐतिहासिक परिवर्तन तथा वर्तमान से भविष्य तक की योजनाओं व स्थिति के मध्य सम्बन्ध को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए ।

राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन में दोष
(Fallacy in the Evaluation of National Power)

राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन में अनेक दोष रह जाते हैं । प्रमुख दोष—"शक्ति की सभी विशेषताओं को ध्यान में न रखना, पक्षपाती रुख अपनाना, पूर्व घटनाएँ बनाकर चलना अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति यथार्थवादी रुख के बजाय आदर्शवादी रुख अपनाना, ऐतिहासिक घटनाओं से मनमाना अर्थ निकालना" आदि हो सकते हैं ।

मार्गेन्थ्यू (Morgenthau) ने राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन करने में निम्नलिखित दोषों के होने की सम्भावना बताई है—

(i) शक्ति को सापेक्षिक न मानना,

(ii) शक्ति को अपरिवर्तनशील मान लेना, तथा

(iii) शक्ति के सभी तत्वों को समन्वित रूप में न देखना आदि ।

मार्गेन्थ्यू के मतानुसार तीन ऐसी विचारधाराएँ हैं जो केवल एक ही तत्व को प्रधान मानकर चलती हैं—

(i) एक विचारधारा है—भूगोल राजनीति (Geopolitics), यह केवल भूगोल को प्रमुखता प्रदान करती है । इसके मुख्य प्रवक्ता मैकाइन्डर (Mackinder) हैं जिनके अनुसार "जो पूर्वी यूरोप पर शासन करता है वही विश्व द्वीप पर अधिकार रखेगा ।"

(i) दूसरी विचारधारा राष्ट्रवादी है जो राष्ट्र को प्रधान मानती है तथा उस देश को शक्तिशाली मानती है जो जातीय, रक्त, धर्म, भाषा आदि आधारों पर एक हो ।

(iii) तीसरी विचारधारा सैनिकवादी (Militarism) है जो शक्ति को जल-थल एवं वायु सेना के परिमाण में देखती है ।

उपर्युक्त तीनों विचारधाराएँ एक पक्षीय हैं, इसलिए इनसे प्राप्त निष्कर्ष भी आंशिक रूप से सत्य होंगे । सही एवं पूर्ण निष्कर्षों के लिए सभी तत्वों का समन्वय व सन्तुलन होना आवश्यक है ।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. विचारधारा से आप क्या समझते हैं ? उसका स्थान राजनीति में क्या है ? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वह क्या कार्य करती है ?
   What do you mean by Ideology ? What is its place in politics ? What part does it play in International Relations ?
2. विचारधाराओं के कितने प्रकार हैं ?
   What are the types of Ideology ?
3. यथास्थिति से आप क्या समझते हैं ? यथास्थिति की विचारधारा शान्ति की पोषक है । उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व क्या है ?
   What do you mean by status-quo ? Status-quo supports peace. What is the importance of status-quo in World Politics.

4. साम्यवादी तथा प्रजातन्त्रीय विचारधाराओं में क्या अन्तर है ? इन दोनों विचारधाराओं के आपस में टकराने से विश्व राजनीति में क्या प्रभाव पड़ता है ?
   What are the differences between Communist and Democratic Ideology? What is the effect of their collision on the world politics.
5. "राष्ट्रीय मनोबल कुछ निश्चित तथा अनिश्चित तत्वों का उलझनपूर्ण समन्वय है।" (पामर व पार्किन्स)। इस कथन के प्रकाश में राष्ट्रशक्ति के एक तत्व के रूप में मनोबल की विवेचना कीजिए।
   "National morale, we must conclude, is a complex of a few constants and many variables." (Palmer and Perkins). In the light of this statement discuss morale as an element of national power.
6. नेतृत्व की विशेषताओं का विवेचन करते हुए राष्ट्रीय शक्ति का सभी तत्वों के सापेक्ष में मूल्यांकन करिये।
   Define leadership and evaluate the National Power in relation to all the elements of it.
7. राष्ट्रशक्ति के मौलिक तत्वों की विवेचना कीजिए। विचारधाराओं, मनोबल तथा नेतृत्व का क्या महत्व है ?
   Discuss the basic elements of national power. What is the importance of ideologies, morale and Leadership ?

7

राजनय : अर्थ, प्रकार, महत्व, तथा राजनयिज्ञ के गुण एवं दोष
(Diplomacy : Meaning, Types, Importance and Merits & Demerits of Diplomats)

"कूटनीति, शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा राष्ट्र हितों का सम्वर्धन होती है।"
—मार्गेन्थ्यू

You must know that there are two methods of fighting, the one by law the other by force; the first method is that of men, the second of hearts; but as the first method is often insufficient one must have recourse to the second.
—Quoted from 'Prince'

राजनय का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Development of Diplomacy)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्वपूर्ण अंग राजनय अथवा कूटनीति है। कूटनीति द्वारा ही राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध स्थापित होते है। एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विदेश नीति का एक उपकरण मात्र है। कूटनीति द्वारा ही विश्व से अराजकता, असन्तोष, युद्ध तथा कलह का अन्त किया जा सकता है। युद्ध से पूर्व मे प्रचार द्वारा और राजनय द्वारा भी युद्ध लड़ा जा सकता है। जब कूटनीति असफल होती है तभी सशस्त्र युद्ध छिड़ते है। कूटनीति आज से नही हजारों वर्षों से राजनीति का हथियार रही है। राष्ट्रहित के लिए कूटनीति का प्रयोग आज के युग मे भी उतना ही महत्वपूर्ण माना जाता है जितना कि प्राचीन काल में था।

राजनय का अर्थ (Meaning of Diplomacy)—अंग्रेजी शब्द डिप्लोमेसी (Diplomacy) का उद्भव ग्रीक भाषा के शब्द डिप्लोर (Diplour) से हुआ जिसका अर्थ है मोड़ना अथवा दोहरा (Fold) करना। रोमन काल में पासपोर्ट और सड़कों पर चलने का अनुमतिपत्र दुहरे करके सिल दिये जाते थे। ये अनुमतिपत्र या पासपोर्ट धातु के पत्रों पर खुदे रहते थे और उन्हें डिप्लोमा (Diploma) कहा जाता था। धीरे-धीरे डिप्लोमा शब्द का प्रयोग सरकारी पत्रों के लिए किया जाने लगा। कालान्तर में दूसरे देशों से की जाने वाली सन्धियाँ भी डिप्लोमा शब्द से सम्बोधित की जाने लगी। जब सन्धियों और समझौतों की संख्या बढ़ने लगी तब उन्हें एक सुरक्षित स्थान पर रखा जाने लगा। आगे चलकर यह स्थान राजकीय अभिलेखागार (Archives) कहा गया। राज्याभिलेखागारों में डिप्लोमरों (Diploma's) की संख्या बहुत बढ़ गयी तो उनकी देखभाल के लिए कुशल कर्मचारियों की नियुक्ति हुई, जो विषयानुसार प्राचीन पारपत्रों को पढ़कर समझा करते थे। इन व्यक्तियों के कार्य को राजनयिक कार्य (Diplomatic Business) जाता था। कालान्तर मे डिप्लोमेसी शब्द उपर्युक्त पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त

लिए अभी तक अँग्रेजी में डिप्लोमेटिक (Diplomatic) शब्द चल रहा था। इस प्रकार डिप्लोमेसी शब्द का अँग्रेजी में प्रचलन लगभग 155 वर्ष पूर्व हुआ।

हिन्दी भाषा में राजनय शब्द का प्रयोग नया है। इसके पूर्व राजनय शब्द के लिए कूटनीति शब्द का प्रचलन था। कूटनीति का अर्थ—षड्यन्त्र, छल, कपट, प्रपंच तथा धोखा-धड़ी से काम लेना, लगाया जाता था। भारत में चाणक्य की कूटनीति प्रसिद्ध है। अपनी कूटनीति के कारण ही शायद चाणक्य को 'कौटिल्य' कहा जाने लगा था। यूरोप में भी डिप्लोमेसी शब्द का अर्थ कुछ इसी प्रकार का लगाया जाता था। मैक्यावली इटली का पक्का कूटनीतिज्ञ था। वह भी चाणक्य के समान छल, प्रपंच, षड्यन्त्र द्वारा राष्ट्र का हित साधन करने को ही डिप्लोमेसी कहता था। अतः डिप्लोमेसी या कूटनीति उस नीति को कहा जाता है जो राजदूत विदेशी सरकार को बहका-सिखाकर अपने राष्ट्र का हित साधन करता है। वास्तव में डिप्लोमेसी के अनेक अर्थ लगाये जाते हैं ? कभी तो इसका अर्थ विदेशी नीति से लगाया जाता है, कभी सन्धि वार्ता के लिए किया जाता है, कभी सन्धि के लिए किया जाता है और कभी रहस्यपूर्ण पेशे के लिए किया जाता है और कभी रहस्यपूर्ण पेशे के लिए किया जाता है अथवा विदेश नीति को क्रियान्वित करने के ढंग के लिए किया जाता है।

डिप्लोमेसी के शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक विद्वानों ने कठिनाई का अनुभव किया। विभिन्न लेखकों ने इस विषय में अपने विभिन्न मत प्रकट किये। आधुनिक काल में छल-प्रपंच आदि निम्न स्तर के शब्दों को राजनय के अर्थ से निकाल दिया गया। अरनेस्ट सेन्टों ने इसका अर्थ लगाते हुये लिखा है कि "राजनय स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक राजकीय सम्बन्धों को कार्यान्वित करने मे चातुर्य और बुद्धि का प्रयोग करने को कहते हैं।" आधुनिक युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है आज कोई भी राज्य अलग-थलक नहीं रह सकता है। उसे अपने सम्बन्ध दूसरों से बनाये रखना आवश्यक है अतः विश्व शान्ति के लिए राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों में छल-कपट, विद्रोह, षड्यन्त्र आदि व्यवहार नहीं रहना चाहिए, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए सहयोग सद्भावना तथा मैत्री पूर्ण व्यवहार होना चाहिए। अतः कूटनीति शब्द की जगह राजनय का शब्द प्रयोग किया जाने लगा है और उसका पुराना अर्थ भी छोड़ कर नया अर्थ लगाया जाने लगा है। अतः राजनय का अर्थ "व्यक्तिगत प्रतिनिधियों द्वारा राज्यों के बीच बातचीत के माध्यम से कानूनी एवं राजनीतिक सम्बन्ध बनाये रखना है।

राजनय शब्द की परिभाषायें (Definitions of Diplomacy)—अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए राष्ट्र जिस पद्धति का आश्रय लेते हैं उसे राजनय (Diplomacy) कहा जाता है। राजनय की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। कुछ विद्वानों के अभिमत यहाँ उद्धृत किये जाते है।

आक्सफोर्ड शब्दकोष में राजनय शब्द की परिभाषा इन शब्दों में दी गई है कि "राजनय सन्धिवार्ता द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का व्यवस्थापन है; यह वह विधि है जिसके द्वारा ये सम्बन्ध राजदूतों द्वारा अथवा दूतों द्वारा समायोजित एवं व्यवस्थापित किये जाते हैं, यह राजनयिज्ञ का व्यवसाय या कला है।"[1]

निकलसन ने लिखा है कि "इसका प्रयोग अपने सर्वोत्तम अर्थ मे, अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता को

---

1 "Diplomacy is the management of international relations by negotiation; the method by which these relations are adjusted and managed by ambassador and envoys; the business or art of the diplomatist."

—*Oxford English Dictionary*

बुद्धिमता पूर्ण चलाने में किया जाता है और अपने निकटतम अर्थ में इसका प्रयोग धोखे पूर्ण चातुर्य में किया जाता है।"[1]

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में, सर्वोत्तम रूप को स्वीकार करते हुए लिखा है कि राजनय अन्तर्राष्ट्रीय सन्धिवार्ताओ के संचालन की कला कहा है।"[2]

आर्गेन्स्की (Organski) ने राजनय को "दो या दो से अधिक देशों के प्रति-निधियों के बीच होने वाले समझौते की प्रक्रिया माना है।"

मैकलन, ओलसन एवं सोन्डरमैन के अनुसार "कूटनीति की एक सर्वाधिक मूल परिभाषा यह है "कि यह प्रत्येक राज्य के स्थायी प्रतिनिधित्व पर आधारित राष्ट्रों के मध्य स्थित सम्पर्क का एक रूप है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के समान ही वेस्टर्न न्यू इंगलिश डिक्शनरी में डिप्लोमेसी की परिभाषा दी है। सोशल साइन्स की इनसाइक्लोपीडिया में अत्यन्त संक्षिप्त परिभाषा दी है—"राजनय सरकारों के बीच संचार की विधि को कहते है।"[3]

विटमैन बी० पाटर की दी गयी परिभाषा भी उल्लेखनीय है—"राजनय यह सरल सा शब्द उन अंगों तथा रीतियों का संकेत देने के लिए आरक्षित रखना चाहिए, जिनके द्वारा राष्ट्र एक दूसरे के प्रति विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक तथा निजी प्रतिनिधियों के माध्यम से अपने राजनीतिक विषयों की व्यवस्था करते हैं।"

वैब्सटर (Webster) महोदय ने अन्तर्राष्ट्रीय शब्द-कोष मे इसकी परिभाषा पद्धति के रूप में की है, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समझौता वार्ता द्वारा संचालन और ऐसी पद्धति जिसके अन्तर्गत राजदूतों द्वारा इन सम्बन्धों में तालमेल बिठाया व संचालित किया जाता है।"

जानसन (Johnson) ने राजनय की परिभाषा कार्य के आधार पर की है। उसके मतानुसार "यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अधिकेन्द्रों (Epicentres) पर प्रभाव डालने वाली शक्तियों के मापने का एक जटिल और नाजुक उपरकण है जबकि भौतिक विज्ञानों के भूकम्प-लेखी राजनय के माध्यम से ऐसे विवादों, गलत फहमियों, मत विभिन्नताओं आदि जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं गम्भीर रूप धारण कर लेती है, को रोका, सुधारा व कम किया जा सकता है।"[4]

के० एम० पाणिक्कर के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रयुक्त राजनय अपने हितों को दूसरे देश से अग्रिम रखने की एक कला है।"

राजनय की मुख्य विशेषताएँ
(The Salient Features of Diplomacy)

राजनय की उपर्युक्त परिभाषाएँ पामर तथा पार्किन्स (Palmer and Parkins) के मत से मेल नही खाती है। उनका कहना है कि "यदि राज्यों के सम्बन्धों मे बुद्धि और चातुर्य न रहे तो

---

[1] In its best scence, it implies skill in the conduct of international negotiations, and in its worst scence implies the more guileful aspects of the tact."
—*Harold Nicolson.*

[2] Diplomacy is said to be an art of conducting international negoatiations."
—*Encyclopeadia Britannica*

[3] "Method of communications between Governments."
—*Enclylopeadia of Social Sciences*

[4] "......a complex and delicate instrument and measures forces working at the epi-centres of international relations....The subtle machinery of diplomacy can be used to arrest, ameliorate, or reduce the discord, misunderstandings and the disagreements which precipitate international crisis." —*E. A. Johnson*

राजनय ऐसी अवस्था में असम्भव बन जायगा ।" उन्होंने राजनय की निम्नलिखित विशेषताएँ बतायी हैं—

(i) राजनय एक बेजान मशीन के समान है । हमें इसे न नैतिक कह सकते है और न अनैतिक । इसका मूल्यांकन तो इसके प्रयोग करने वाले के "अभिप्रायों एवं योग्यताओं के अनुसार होता है ।

(ii) राजनय का प्रयोग विदेशी आफिसों, दूतावासों, दूतकर्मों (Legations), राजपुरुषों (Consulates) तथा विश्वव्यापी मिशनों के माध्यम से होता है ।

(iii) राजनय द्विपक्षीय होता है क्योंकि यह दो राष्ट्रों के मध्य प्रयुक्त होता है ।

(iv) वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, क्षेत्रीय प्रबन्ध एवं सामूहिक प्रयत्नों का महत्त्व बढ़ जाने के कारण कूटनीति के बहुपक्षीय (Multilateral) रूप का महत्त्व बढ़ गया है ।

(v) राजनय राष्ट्रों के मध्य साधारण मामलों से लेकर शान्ति और युद्ध जैसे बड़े-बड़े सभी मामलो पर विचार करता है । जब यह टूट जाता है तो युद्ध या कम से कम एक बड़े संकट का खतरा पैदा हो जाता है ।

वास्तव में राजनय दो या दो अधिक देशों मे शान्ति सहअस्तित्व एवं सहयोग की भावना भरता है । युद्धों के अवसरों को टालता है । विवादों को पारस्परिक वार्ता से शान्ति पूर्ण ढंग से सुलझाता है । दो देशों मे यदि युद्ध छिड़ जाता है तो वह राजनय की असफलता होती है और राजनयिज्ञों की दुर्बलता मानी जाती है ।

विदेश नीति एवं राजनय
(Foreign Policy and Diplomacy)

विदेश नीति के लिए भी कुछ लोग राजनय शब्द का प्रयोग करते है पर यह वास्तव मे उनकी लापरवाही का कारण है । वैसे विदेश नीति एवं राजनय का चोली-दामन का साथ है पर दोनों मे अर्थ भिन्नता है । विदेश नीति एक विधायी पहलू रखता है जबकि राजनय एक कार्यकारी पहलू रखता है । विदेश नीति एक व्यापक विचार है जिसका उपयोग अन्य राष्ट्रों से सम्बन्धित राष्ट्रीय आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के रक्षण एवं सम्वर्धन के लिए किया जाता है । इसमें राजनीति तथा आर्थिक आग्रह व बल-प्रयोग आदि साधनों की सहायता ली जाती है, जबकि राजनय विदेश नीति को निर्धारित करने और उसे क्रियान्वित रूप देने का साधन मात्र है । प्रत्येक राज्य एक पृथक विदेश नीति रखता है, प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति अपने राष्ट्र हितों की पूर्ति के लिए होती है अतः प्रत्येक राष्ट्र अपनी विदेश नीति को कार्यान्वित कराने के लिए विशेष ढंगों का प्रयोग करता है । यह कार्य राजनयिज्ञों से लिया जाता है ।

हैरोल्ड निकल्सन ने विदेश नीति एवं राजनय के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "विदेश नीति राष्ट्रीय आवश्यकताओं की सामान्य धारणाओं पर आधारित है (इस अर्थ में यह साध्य है) दूसरी ओर राजनय साध्य न होकर एक साधन है, लक्ष्य न होकर एक प्रणाली है । यह बातचीत, समझौता, हितो के आदान-प्रदान द्वारा सम्प्रभु राज्यों के मध्य उठते रहने वाले झगड़ों को रोकने का प्रयास है । यह एक ऐसी ऐजेन्सी है जिससे विदेश नीति युद्ध के स्थान पर समझौते द्वारा अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करती है ।"

निकल्सन ने आगे पुनः विदेश नीति और राजनय के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा "विदेश नीति (Foreign Policy), समझौता (Negotiation), समझौते की प्रक्रिया

(Negotiation Process) विदेश सेवा की एक शाखा (A branch of foreign service) आदि। कूटनीति अथवा राजनय को कपट पूर्ण कार्यों में प्रयुक्त करना उसका बुरा रूप है।"

आर्गेन्स्की (Organski) ने निकल्सन की कुछ बातों को स्वीकार किया है और लिखा है कि "कुशलता, चतुराई और कपट एक अच्छी कूटनीति के लक्षण भले ही हो सकते है, किन्तु इनको कूटनीति को परिभाषित करने वाली विशेषता नहीं कहा जा सकता है। इसे विदेश नीति के समकक्ष भी नहीं कहा जा सकता है। कूटनीति तो विदेश नीति का एक अंग है, जो विदेश नीति संचालन में प्रयुक्त होता है।"

राजनय की उत्पत्ति एवं विकास
(Birth and Development of Diplomacy)

राजनय का जन्म कब हुआ, क्यों हुआ और कैसे हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर देना एक जटिल कार्य है। राजनय की परिभाषा में कहा गया है कि "ये दो स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक राजकीय सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग करने का तरीका है।" इस परिभाषा से यह प्रकट होता है कि राजनय की उत्पत्ति राज्य के साथ-साथ ही हुई होगी। के० एम० पाणिक्कर इस बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि "जब से संगठित राज्य का अस्तित्व है तभी से राजनय तथा राजनयिज्ञों का अस्तित्व रहा होगा; क्योंकि राज्य एक दूसरे से सम्बन्ध रखे बिना नहीं रह सकते हैं।"

भारत विश्व का प्राचीनतम देश है और इसकी सभ्यता और संस्कृति में भी राज्य एवं राजनय का उल्लेख किया गया है। उत्तरवैदिक काल के दो महाकाव्यों में राजनय और राजनयिज्ञों उल्लेख आया है। राम रावण युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व भगवान राम ने बालि तनय अंगद को आपसी झगड़े को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाने के लिए अपना दूत बनाकर रावण के दरबार में भेजा था। इसी प्रकार महाभारत के युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व दोनों पक्षों ने राजदूतों का आदान-प्रदान कर कौरवों एवं पाण्डवों के झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाने का प्रयत्न किया था। कौरवों का दूत संजय था तथा पाण्डवों के दूत अपने समय के महान कूटनीतिज्ञ भगवान कृष्ण थे।

यूरोप में भी प्राचीन यूनानी एवं रोम के राज्यों में राजदूतों का उल्लेख आया है। यूनान के सम्राट सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात उसके पूर्वी साम्राज्य का स्वामी सैल्युकस हुआ। सैल्युकस और भारत सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के मध्य युद्ध हुआ फिर दोनों में शान्ति संधि हो गयी। सैल्युकस का राजदूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में स्थायी रूप से रहता था। उस काल में चाणक्य जिसे कौटिल्य भी कहा जाता था, अपने समय का महान कूटनीतिज्ञ था। चाणक्य की कूटनीति से ही भारत का मगध साम्राज्य शक्ति और समृद्धि में विश्व भर में प्रसिद्ध हुआ। मेगस्थनीज ने इस बात का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'इण्डिका' में किया है। इस प्रकार राजनय का इतिहास बहुत पुराना है। पर आधुनिक राजनय का विकास 15वीं शताब्दी में इटली से प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे इसका विकास हुआ और 19वी शताब्दी में समस्त विश्व में इसका व्यापक प्रसार हो चुका था। 20वीं शताब्दी में राजनय में नवीन परिवर्तन हुए और अपने नये परिवेश में वह आज लगातार विकास की ओर अग्रसर है।

राजनय के जन्म एवं विकास का कालक्रमानुसार वर्णन कर देना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी रहेगा।

राजनय का जन्म (Birth of Diplomacy)—अरस्तू ने मानव को एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी माना है। वास्तव में हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि मानव कभी समाज से पृथक रहा होगा समाज के बिना मानव का अस्तित्व असम्भव है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति के विषय में भी कहा जाता है कि वह मानव समाज के साथ ही उत्पन्न हुआ। राज्य भी राज्य

समाज से कभी पृथक न रहा होगा। राजनयिक सिद्धान्त का इतिहास गांधी के अनुसार "इतना ही पुराना है जितना कि कोई पर्वत।"

कुछ विद्वान यह मानते है कि राजनय का जन्म तो प्रागैतिहासिक काल के उस अन्धकार पूर्ण युग में हुआ जिसकी स्थिति का ज्ञान केवल कल्पना और अनुमान पर निर्भर है। 16वीं शताब्दी के सिद्धान्तवादी तो यह मानते थे कि सर्वप्रथम राजनयिज्ञ देवदूत (Angels) थे। ये देवलोक और भूलोक का सम्बन्ध स्थापित करते थे। भारत के पौराणिक ग्रन्थों मे उल्लेख आया है कि देवर्षि नारद प्रथम राजनयिज्ञ के रूप में उत्पन्न हुए। भारत मे नारद ही राजनयिज्ञों के पूर्वज माने जाते हैं।

वैज्ञानिक पौराणिक गाथाओं को काल्पनिक और असत्य मानते हैं उनकी दृष्टि में राजनय का जन्म तब हुआ होता जब मनुष्य ने अकेला भटकना छोड़कर समूहों अथवा गिरोहों में रहना प्रारम्भ कर दिया होगा। इन आदि मानव समूहों में यह भाव कभी पैदा हुआ होगा कि यदि वे अपने शिकार की सीमाओं के विषय में पड़ोसी समूहों से समझौता कर लें तो लाभप्रद रहेगा। इस प्रकार की सीमा सम्बन्धी परम्परा पशु संसार में भी पायी जाती है। छोटे पक्षी भी इस सिद्धान्त का अनुगमन करते हैं। इन आदि समूहों में कभी-कभी झगड़े भी उत्पन्न हुआ करते होंगे और उन्हें सुलझाने के लिए आपस में दूतों का आदान-प्रदान भी होता होगा। इन दूतों को विदेशी सीमा में सुरक्षा प्रदान अवश्य होती होगी, क्योंकि वे समझने लगे होंगे कि दूतों को मारना या अपमानित करना सन्धि वार्ता मे बाधा उत्पन्न कर देगा। इस प्रकार दूतों की उन्मुक्तियों का प्रारम्भ हुआ होगा। इस प्रकार की उन्मुक्तियों का उल्लेख मनु के उपदेशों में तथा हैमर की कविताओं में मिलता है। रावण जैसा दुरात्मा भी इन उन्मुक्तियों को मानता था, क्योंकि जब रामदूत हनुमान पर क्रोधित होकर रावण ने उन्हें बध कर देने की आज्ञा दी तो रावण के भाई विभीषण ने उसे याद दिलाई कि दूत को मारना नीति के विरुद्ध है। विभीषण की बात को रावण ने स्वीकार कर लिया।

एक मत यह भी है कि आदि समाज में यह भ्रम था कि राजदूत जादूगरी जानते हैं। इस जादूगरी के प्रभाव को नष्ट करने के लिए विदेशी दूतों को सीमा पर ही रोक कर अनेक प्रक्रियाओं द्वारा शुद्धिकरण किया जाता था। ये प्रक्रिया बड़ी विचित्र एवं कष्टदायक होती थी। जैसे विदेशी दूतों को अग्नि की लपटों के बीच होकर निकलना पडता था, वहाँ की जादूगरनियाँ दूत के चारों ओर *नाचती थी और उसके जादू-टोने के प्रभाव को नष्ट करती थी। शुद्धिकरण के झंझट से* बचने के लिए यूनानी देवता हरमेज (Hermes) के सामने विदेशी दूतों को लाया जाता था और उन्हें उसके संरक्षण मे छोड़ दिया जाता था। इस धार्मिक भावना से भी दूत का व्यक्तित्व रक्षणीय एवं अनतिक्रम्य बन गया था। ओपेनहीम ने इस विषय में कहा है कि "पुरातन काल में भी जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि जैसी किसी विधि का पता नही था, राजदूतों की विशेष रक्षा की जाती थी तथा उनको विशेषाधिकार प्राप्त थे। ये उन्हें किसी विधि के कारण नही वरन् धर्म के कारण प्राप्त थे और राजदूतों को अनतिक्रम्य माना जाता था।"[1] निकल्सन कहता है कि "दूतों को हरमेज देवता का संरक्षण दैत्यकर्म की प्रतिष्ठा के लिए दुर्भाग्यशाली सिद्ध हुआ। उसे छल से भरा समझा जाने लगा क्योंकि हरमेस देवता अपनी चालाकी और छल-छद्म के लिए प्रसिद्ध था।"

राजनयिक सिद्धान्त का विकास
(Development of Deplomatic Theory)

राजनय के दो अंग होते हैं—राजनयिक सिद्धान्त (Diplomatic Theory) तथा राजनयिक आचार (Diplomatic Practice)। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। नये

---
[1] Oppenheim : *International Law*, Vol. I, p. 687.

राजनयिक आचारों से राजनयिक सिद्धान्त का कलेवर वृद्धि को प्राप्त होता है और नये राजनयिक सिद्धान्तों से राजनयिकों के आचार को प्रेरणा और मार्गदर्शन मिलता है। इन दोनों अंगों का विकास का विवेचन अलग-अलग शीर्षकों में किया जायगा। पहले हम राजनयिक सिद्धान्त के क्रमिक विकास का अध्ययन करेंगे और तत्पश्चात आचार का।

राजनयिक सिद्धान्त के विकास के काल खण्ड (Periods of Development of Diplomatic Theory)—प्रो० मोवेट ने अपनी पुस्तक 'राजनय एवं शान्ति' (Diplomacy and Peace) में राजनयिक सिद्धान्त के विकास के काल को तीन खण्डों मे विभाजित किया है। ये तीन खण्ड निम्न प्रकार के हैं :—

(अ) 475 से 1475 तक—इस काल में राजनय पूर्णरूपेण असंगठित था।

(ब) 1476 से 1914 तक—इस काल में राजनयिक सिद्धान्त ने यूरोपीय राज्य-व्यवस्था की नीति का अनुसरण किया। इस समय का राजनय यूरोप तक ही सीमित था।

(स) 1914 से आज तक—विल्सन के 14 सूत्रों से प्रजातन्त्रीय राजनय का विकास प्रारम्भ होता है।

प्रो० मोवेट के उपर्युक्त काल विभाजन से हैरोल्ड निकल्सन सहमत नहीं। उसका कहना है कि राजनयिक सिद्धान्त का विकास लगातार होता रहा है। उसने यह बात अवश्य मानी है कि राजनयिक सिद्धान्त के विकास में अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने अवश्य बड़ा महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता हालैण्डवासी ह्यूगो ग्रोशियस था जिसने 1625 में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "युद्ध एवं शान्ति का कानून" (Law of War and Peace) को प्रकाशित कराकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्यक विवेचन किया। उसने इस विवेचन के अन्तर्गत उन सभी आचरणों को लिया जिनका पालन सभ्य राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में करते है। इस प्रकार राजनय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक अंग बन गया।

मध्यकाल युद्धों का काल था। इन युद्धों से मानव-समाज त्रस्त हो रहा था। जातिगत एवं गिरोहों की संकुचित भावना से समस्त मानव-जाति ग्रस्त थी। जातिगत स्वार्थ से अंधे लोग अन्य जातियों के हितों की उपेक्षा कर अपने हितों की पूर्ति में ही मस्त थे। कालान्तर में जातिगत संकीर्ण भावों में अन्तर आया और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उभयपक्षीय अधिकारों एवं हितों का ध्यान रखा जाने लगा। जातियों में पारस्परिक सुरक्षा की भावना ने उनकी विदेश नीति में भी परिवर्तन किया। इसीलिए प्रसिद्ध विद्वान निकलसन ने लिखा है कि "राजनयिक सिद्धान्त की प्रगति विधेयक, जातिगत या वर्गगत अधिकारों की संकुचित भावना से अभिव्यापक साधारण हितों की विषद भावना की ओर हुई है।"[1]

राजनयिक सिद्धान्त के विकास काल को निम्नलिखित भागों मे विभाजित कर वर्णन करना उपयुक्त रहेगा :—

(1) **यूनानी काल** (The Greek Period)—यूरोप में यूनान की सभ्यता प्राचीन काल में अति उन्नत अवस्था में थी। राजनयिक सिद्धान्त के विकास मे यूनान का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का बड़ा प्रचलन है। वास्तव में इनका प्रारम्भ प्राचीन नगर राज्यों में हो चुका था। नगर राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना इन्हीं सम्मेलनों द्वारा होती थी। वहीं अन्तर्राज्यीय समस्याओं का निदान खोजा जाता था। इन सम्मेलनों को उस काल में एम्फिकट्यानिक (Amphictyanic) अथवा क्षेत्रीय सम्मेलन या परिषद (Council) कहा जाता

---

1 "The progress of diplomatic theory has been from the narrow co exclusive tribal rights to the wider conception of exclusive common

थी। यूनानी नगर राज्यों के आपसी झगड़े इन्ही सम्मेलनो मे तय होते थे तथा उनमें मैत्री भावों का विकास होता था। इस घनिष्ठता के दो कारण बताये जाते है :—

(i) एक तो यह यूनानी अन्य जातियों की अपेक्षा अपने को सभ्य जाति मानते थे। अन्य जातियों को वे बारबेरम (Barbarys) कहते थे तथा अपने को हेलेनिक (Hellenic) कहते थे। उस काल मे यूनान की शिक्षा, भाषा एवं संस्कृति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी।

(ii) दूसरा कारण यह था कि यूनानी नगर राज्य एक दूसरे के निकट बसे थे अतः उनमें आपस में व्यापार खूब होता था। इस व्यापार द्वारा भी वे पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे।

यूनान मे इन सम्मेलनों का एक स्थायी सचिवालय भी होता था। यह सचिवालय दान से चलने वाली संस्थाओं एवं धार्मिक स्थानों की सुरक्षा की व्यवस्था करता था तथा यात्रियों के आवागमन की सुविधाओं का विशेष ध्यान रखता था। इतना ही नहीं यह सचिवालय नगर राज्यों की राजनयिक समस्याओं पर भी विचार करता था। निकलसन ने इन सम्मेलनों का महत्व बताते हुए लिखा है कि "यद्यपि इन सम्मेलनों का मुख्य उद्देश्य था मन्दिरों तथा खजानों की रक्षा करना एवं यात्रियों को आवागमन की सुविधा प्रदान करना, फिर भी वह सामान्य हेलेनिक हितों की जो राजनीतिक पहलू रखते थे, व्यवस्था करता था जैसे महत्वपूर्ण राजनयिक कार्य एवं राजनयिक नयी पद्धति का आविष्कार करना।"

यद्यपि ये सम्मेलन सफल न हुए पर आने वाली रूढ़ियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि का दरवाजा खोल दिया जिससे राजनयिक सिद्धान्त के विकास मे महत्वपूर्ण भाग अदा किया।

इन सम्मेलनो या परिषदों की असफलता के दो कारण विशेष थे जो निम्नलिखित हैं :—

(i) ये परिषदें कभी सर्वव्यापी न रही और अनेक महत्वपूर्ण राज्य उनसे बाहर ही रहे।

(ii) उनके पास इतनी शक्ति न थी कि वे अपने निर्णयों का पालन कराने में सफल हो सके।

इस प्रकार उनकी दशा राष्ट्र संघ (League of Nations) के समान थी जो शक्तिशाली राष्ट्रों को अपने नियन्त्रण में न रख सकी जिसका परिणाम भयानक युद्ध हुआ। परिषद भी असफल हुई और उसका परिणाम हुआ "सहयोग का स्थान पराधीनता ने ले लिया, स्वतन्त्रताओं का अन्त हो गया।"[1]

(2) **रोमन काल (The Roman Period)**—रोमन काल में स्वतन्त्र राज्यों का अन्त होने लगा। रोमनों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। राजनयिक सिद्धान्त के विकास में उन्होंने अच्छा मार्ग दर्शन दिया। निकलसन के मतानुसार उन लोगों ने छल प्रपंच के स्थान पर आज्ञापालन तथा संगठन पर विशेष बल दिया तथा अशान्ति के स्थान पर शान्ति को महत्व दिया। राजनयिक सिद्धान्त का विकास एकदम रुक सा गया। निकलसन महोदय का कहना है कि "रोमन साम्राज्य ने सैनिक बल के आधार पर व्यवस्था, अनुशासन, आज्ञापालन, संगठन एवं शान्ति की जो मनोवृत्ति को बढ़ावा दिया उससे राजनयिक सिद्धान्त को कोई लाभ नहीं हुआ।" रोमन काल में स्वतन्त्रता, समानता का अन्त हुआ और स्वतन्त्र राज्यों का पतन हुआ।

(3) **बाइजेण्टाइन साम्राज्य काल (The Byzantine Empire Period)**—यह साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया को केन्द्र मे रखकर स्थापित किया गया था। यह साम्राज्य चारों ओर से आक्रमणकारी जातियों से घिरा हुआ था। सैन्य शक्ति द्वारा उसकी सुरक्षा अपर्याप्त थी अतः उसने छल-कपट की नीति से कार्य लिया और उन जातियों में फूट डाली, प्रलोभन दिया तथा धर्म परिवर्तन करके उन्हे अपने पक्ष मे बनाया। निकलसन ने लिखा है कि "राजनय नैतिकता के स्थान पर लोभ तथा मूर्खता को प्रोत्साहन देने लगा। सहयोग के स्थान पर पृथकता, संगठन के स्थान पर फूट, तर्क के स्थान पर चातुर्य, नैतिकता के स्थान पर चालाकी का बोल बाला हुआ।"

[1] "Cooperation gave way to subordination, liberties were lost."

(4) **मध्य युग (The Middle Ages)**—मध्य युग में साम्राज्य बिखर गया था और यूरोप में अनेक सामन्तों ने अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये थे। सम्राट का महत्व बहुत कम रह गया था। प्रत्येक राज्य की जनता अपने सामन्त के प्रति ही वफादार थी। इस सामन्ती युग में लगातार युद्ध होते रहते थे। युद्ध से बचने के लिए यूरोपीय राज्य शक्ति के लिए तरसने लगे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रों के मध्य वाणिज्य-व्यापार का विकास हुआ जिसके कारण राज्यों में शान्ति एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की गयी।

इन राज्यों ने बाइजेंण्टाइन सिद्धान्त का इटली के माध्यम से प्राप्त किया। इटली का राजनयिक सिद्धान्त चूँकि बाइजेंण्टाइन से लिया गया था अतः उसका स्तर ऊँचा नहीं था। इसके कारण निम्नलिखित थे :—

(i) उस समय राजनयिक सिद्धान्त छल-कपट, फूट और विद्रोह से भरा था। राजनयिज्ञ दूसरे राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करते थे। विद्रोहियों को भड़काना तथा धन देकर उन्हें उकसाना, विरोधी दलों को प्रोत्साहन देना बुरा नहीं माना जाता था। राजदूत का स्थान अब एक सम्माननीय गुप्तचर (Honourable spy) ने लिया था। राजदूत उस समय झूठ बोलना एक कला मानते थे। अपने देश हित के लिए विदेशों को भुलावे में रखना कुशलता का एक चिह्न माना जाता था। इंगलैण्ड के सम्राट जेम्स प्रथम के राजदूत हेनरी वाटन ने तो राजदूत की मजाक बनाते हुए एक बार कहा था कि "राजदूत वह ईमानदार व्यक्ति है जो अपने देश की भलाई के लिए दूसरे देश में झूठ बोलने के लिए भेजा जाता है।"[1] यद्यपि इस मजाक के कारण हेनरी वाटन को सदैव के लिए राजदूत पद से हटा दिया गया फिर भी उस समय के राजदूतों की मनोवृत्ति का ही प्रकटीकरण हेनरी वाटन ने किया था।

(ii) मध्ययुग का राजनय एक कारण से और भी बदनाम हुआ। इटली का कौटिल्य निकोलो मैकियावली ने 1513 में दी प्रिन्स (The Prince 1513) प्रकाशित कराया। इस पुस्तक ने राजनय को दूषित करने में विशेष योगदान दिया। इस पुस्तक की शैली बड़ी रोचक है और वह राजकुमारों को कुछ उपदेश-निर्देश देता है। इस पुस्तक का राजाओं में बड़ा प्रचार हुआ और वह लोकप्रिय बन गयी। इस पुस्तक में नैतिकता और अनैतिकता में कोई अन्तर नहीं माना गया। बल्कि अनैतिकता को राजनय में बहुत बढ़ावा दिया गया। एक स्थान पर प्रिन्स में मैकियावली ने यह उपदेश दिया कि "जब किसी राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में हो, तो वहाँ न्याय या अन्याय, उदारता तथा निष्ठुरता, गौरवपूर्ण या लज्जास्पद क्या है, उसका विचार नहीं होना चाहिए, इसके विपरीत प्रत्येक चीज को उस साधन के लिए प्रयोग करना चाहिए जो देश के जीवन और स्वतन्त्रता को कायम रखे।"

मैकियावली के उपदेश तत्कालीन परिस्थितियों के तो अनुकूल थे, उन्हें सदैव के लिए अपनाना उचित न था। उस समय अराजकता, राजनीतिक अस्थिरता, लगातार संघर्ष, फूट आदि की विकट स्थिति में शक्ति का ही बड़ा महत्व था। उस समय उदारता, नैतिकता एवं ईमानदारी को दुर्बलता का चिह्न माना जाता था। छल, कपट, धोखेबाजी, झूठ एवं विश्वासघात को व्यावहारिक आवश्यकता समझा जाने लगा था। इससे राजनय दूषित हो गया था।

(5) **वर्तमान युग (The Modern Period)**—मध्य काल के अन्तिम दिनों में यूरोप राष्ट्रीय-राज्यों की स्थापना हुई। राष्ट्रीयता की भावना ने सामन्तवादी युग का अन्त कर दिया। यूरोप के राज्य अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के कारण नये प्रदेशों की खोज

[1] "An Ambassador is an honest man who is sent to speak lie abroad *for the* good of his country." —*Sir Henry Waton*

में लगे तथा वहाँ उपनिवेश बसाने लगे। इस काल में वाणिज्य-व्यापार का प्रसार हुआ और तदनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नये विकास हुए। निकलसन ने कहा है कि "व्यापार तथा वाणिज्य के द्वारा लोगों ने प्रथम बार यह अनुभव किया कि एक दूसरे के प्रति उन्हें बुद्धि से काम लेना चाहिए।"

इस प्रकार इस युग में राजनयिक सिद्धान्त की दो धाराएँ वह निकलीं—(1) दुकानदार सिद्धान्त या नैतिक सिद्धान्त (Shopkeeper or Moral Theory) तथा (2) योद्धा सिद्धान्त या राष्ट्रवादी सिद्धान्त (The Warrior or Heroic Theory)।

(क) दुकानदार या नैतिक सिद्धान्त (Shopkeeper or Moral Theory)—इस सिद्धान्त के समर्थक अधिक इंगलैण्ड में पाये जाते हैं। उनका कहना है कि मानव सामाजिक जीवन *बिताने में जिस प्रकार नैतिक बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी नैतिकता प्रभावशाली सिद्ध होती है।* निकलसन के मतानुसार *"नैतिक राजनय अन्ततः अधिक प्रभावशाली होता है और अनैतिक राजनय अपने उद्देश्य में पराजित होता है।"*[1] के० एम० पाणिक्कर का भी कहना है कि *"छल-कपटपूर्ण राजनय एक देश के लक्ष्य प्राप्त करने में कदाचित ही सहायता करता है।"*

नैतिक सिद्धान्त के मानने वाले अपने सिद्धान्त की सफलता के लिए निम्नलिखित 4 ढग अपनाते हैं :—

(i) तुष्टिकरण (Appeasement),
(ii) अनुनय (Conciliation),
(iii) समझौता (Compromise),
(iv) साख (Credit)।

इस सिद्धान्त के समर्थकों के *दो उद्देश्य मुख्य होते हैं—(i) राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि* अथवा कल्याण, (ii) व्यापार की वृद्धि। ये लोग यह मानकर चलते हैं कि जब दो प्रतिद्वन्द्वी एक-दूसरे के आमने-सामने हों तो उन्हें *चाहिए कि वे समझौता कर लें क्योंकि संघर्ष दोनों को नष्ट कर* देगा। दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के मध्य एक ऐसा बिन्दु होता है जहाँ पर दोनों का समझौता हो सकता है। उस *बिन्दु को खोज निकालने के लिए खुली वार्ता, सत्य व्यवहार तथा पारस्परिक आदान-प्रदान* के उपाय अपनाने चाहिए।

(ख) योद्धा सिद्धान्त या राष्ट्रवादी सिद्धान्त *(The Warrior or Heroic Theory)*—यूरोप के देशों में इस सिद्धान्त के मानने वाले विद्यमान हैं। इस सिद्धान्त के मानने वालों का विश्वास है कि *नैतिक सिद्धान्त का महत्व व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन में तो हो सकता है पर* अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में इसका कोई महत्व नहीं। प्रत्येक राष्ट्र को चाहिए कि वह अपने हितों की रक्षा करे फिर चाहे वह *नैतिक उपायों से हो या अनैतिक उपायों से हो। इस सिद्धान्त के पोषक* राष्ट्रभक्ति, आज्ञापालन तथा राष्ट्र के लिए सर्वस्व अर्पण की भावना जनता में फैलाते हैं। राष्ट्रीयता की *यह भावना शक्ति सिद्धान्त की ओर मुड़ जाती है। राष्ट्रीय सम्मान के लिए ये प्राणों का उत्सर्ग* करने को भी तैयार रहते हैं। इससे ये लोग युद्ध के लिए तैयार रहते हैं। ये लोग समझौते तथा *तुष्टिकरण की नीति को दुर्बलता का द्योतक समझते हैं। सैनिक अभियान द्वारा ही ये दूसरे राष्ट्रों* पर हावी हो जाना चाहते हैं। निकलसन ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि "इस

---

1 "Moral diplomacy is ultimately, the most effective and immoral diplomacy its defeats its own purpose." —*Harold Nicolson*

धारणा की मुख्य बात यह है कि वार्ता का उद्देश्य पूर्ण विजय हो और पूर्ण विजय का न होना अर्थ रखता है पराजय ।"[1]

इस नीति के मानने वाले संधि वार्ता को भी युद्ध का ही एक अंश मानते है, अतः उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित उपायों का सहारा लेते हैं :—

(i) आक्रमण करना ।
(ii) कपटपूर्ण पीछे हट जाता ।
(iii) दबाव डालना ।
(iv) धमकी देना ।
(v) बल प्रयोग करना, अथवा
(vi) नृशंसता अथवा निर्दयता दिखाना ।

निष्कर्ष – इस प्रकार राजनयिक सिद्धान्त के इतिहास के अध्ययन करने से पता चला कि राजनीति में छलकपट, धोखाबाजी का प्रयोग कूटनीति कहलाती थी । बाइजैण्टाइन साम्राज्य की इस कुटिल नीति को इटली ने विकसित किया और इटली ने यह कूटनीति (कुटिल नीति) समस्त यूरोप मे व्याप्त हो गई । लोग कूटनीति से घृणा करने लगे । कुटिल व्यवहार, झूठ और प्रपंच का भण्डा फूट जाने पर राष्ट्र बदनाम हो जाते थे । राष्ट्रों में परस्पर विश्वास की समाप्ति हुई । पर वर्तमान युग मे राजनय को पुन. प्रतिष्ठित करने के लिए उसमे ईमानदारी, नैतिकता तथा छल रहित व्यवहार का श्रीगणेश इगलैण्ड ने किया । व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवन में नैतिकता का जितना महत्व माना जाता है वह राष्ट्रों के मध्य व्यवहार में उतनी ही महत्वपूर्ण मानी जाने लगी । इतना होने पर भी राजनय को सभी राष्ट्रों ने नैतिक रूप में स्वीकार नही किया । आज भी राजनय में छल, कपट, धोखेबाजी और विश्वासघात का पुट पाया जाता है यद्यपि ये सकीर्ण दृष्टिकोण टिकाऊ नही होता ।

राजनय का सिद्धान्त प्राचीन काल से विकसित होता चला आ रहा है । कभी-कभी इस विकास में साम्राज्यवाद ने रोड़ा अटकाया पर वह क्षणिक था । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र, नैतिकता का प्रयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता ने, राजनयिक सिद्धान्त के विकास को उत्तोरतर आगे ही बढ़ाया । यद्यपि निकलसन ने यह बात स्वीकार की है कि राजनय के विकास में धर्म तथा वाणिज्य ने काफी सहयोग दिया है पर वह सामान्य ज्ञान को ही निर्णयकारी तत्व बताता है ।"

राजनयिक आचार का विकास
(Development of Diplomatic Practice)

राजनय तथा राजनयिज्ञों की उत्पत्ति तभी हुई होगी जब राज्य अपने संगठित रूप में प्रकट हुए होंगे । व्यक्ति का समाज से जैसे अटूट सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार राष्ट्र का राष्ट्र-समाज से सम्बन्ध भी अटूट होता है । राष्ट्रों में आपसी सम्बन्ध प्रारम्भ से ही स्थापित हो गये होंगे । इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्यों की उत्पत्ति के साथ ही राजनयिक आचार का इतिहास भी प्रारम्भ हो गया था । इस इतिहास का संक्षिप्त विवेचन करना उपयुक्त रहेगा ।

(1) प्राग्ऐतिहासिक काल (Prehistorical Period)—मनुष्य कब उत्पन्न हुआ, यह केवल कल्पना का विषय है पर इतना अवश्य माना जाता है कि मनुष्य की उत्पत्ति के साथ समाज

---

[1] "Fundamental to such a conception of diplomacy is the belief that the purpose of negotiation is victory and that the denial of complete victory means defeat.
—*Nicolson*

का भी जन्म हुआ होगा । मनुष्य चूंकि एक सामाजिक प्राणी है वह समाज के बिना जीवित नही रह सकता अत. हम यह कल्पना नही कर सकते कि मानव आदि अवस्था में भी समाज से पृथक रहा होगा या आदिकाल में कोई सामाजिक व्यवस्था न थी ।

प्राकृतिक अवस्था मे भी किसी न किसी रूप में समाज का अस्तित्व था । वैज्ञानिक भी यह स्वीकार करते है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था मे कबीलों मे रहा करता था । यह कबीले अपनी रोजी-रोटी की खोज में घूमा करते थे । इन कबीलों मे परस्पर संघर्ष भी होते थे । संघर्ष के बाद कुछ कबीलों में समझौता भी हो जाता था । समझौता करने वाले कुछ व्यक्ति ऐसे भी होंगे जो निर्भय होकर शत्रु क्षेत्र में घुस जाते होंगे और संकेतों से बताते होंगे कि वे शान्ति दूत है । जंगली अवस्था मे भी दूतों के कुछ विशेषाधिकार होते होंगे । कम से कम दूत के जीवन की रक्षा का प्रबन्ध अवश्य रहा होगा ।

आदिवासी अन्ध विश्वासी अधिक थे । उनमें बर्बरता एवं नृशंसता की भावना भी अधिक थी । पर वे जादू टोने में विश्वास अवश्य करते थे । विदेशी अथवा गैर कबीले के व्यक्ति का प्रवेश दूसरे कबीले के क्षेत्र में निषिद्ध था । कही यदि गैर कबीले का व्यक्ति मिल जाता था तो अवश्य उसे मार डाला जाता था । पर दूत का कोई ऐसा चिन्ह अवश्य होगा जिसके देखने पर लोग उसे अव य मानते होंगे । इतिहास मे उल्लेख आया है कि जस्टिन द्वितीय ने जब अपने दूतों को सेलजक तुर्कों से संधि वार्ता के लिए भेजा, तो तुर्कों ने इन दूतों को पकड़ लिया और उन पर जो जादुई प्रभाव, उनकी समझ में था, पहले दूर किया गया ताकि वे अनहानिकर हो जायें ।

दूतों को शुद्ध करने की विधि प्रत्येक कबीले मे भिन्न-भिन्न थी । आदिवासी अपने मे कुछ जादूगर एवं जादूगरनियाँ रखते थे । जब कोई विदेशी दूत कबीले के क्षेत्र में प्रवेश करता तो उसे सीमा पर ही रोक लिया जाता । जादूगरनियाँ बुलाई जातीं और वे विदेशी दूत को घेरे में लेकर उन्माद व आनन्द मे खूब नाचतीं । झांझ और ढोल खूब पीटे जाते । इस प्रकार दूत जादूगरनियों के जादू से शुद्ध हो जाता तब कही उसे अपने सरदार से संधि वार्ता के लिए ले जाया जाता । तातारियों में यह रिवाज था कि विदेशी दूतों को आग के पास गुजारा जाता था । शायद वे विश्वास रखते हो कि अग्नि दूतों में लगे कीटाणुओं को नष्ट कर देती है । शुद्धि के पश्चात राजदूतों से वार्ता चलती थी ।

प्राचीन काल के यूनानियों मे भी दूतो को शुद्ध करने का रिवाज था पर उनका तरीका बड़ा सरल था । वे दूत को अपने देवता हरमेस के संरक्षण में छोड़ देते थे । दूतों के शरीर को अनतिक्रमणीय (Sacrosanct) माना जाता था । निकलसन कहता है कि "इस प्रकार के दूतों या सन्देशवाहकों का शरीर आरम्भ से ही अनतिक्रमणीय माना जाता था और इस प्रकार से यह रिवाज पड़ा कि राजनयिज्ञों को अनेक अनुक्रिया एवं सुविधाओं से विभूषित किया जाने लगा ।"[1]

ओपेनहीम ने भी अपने ग्रन्थ 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' (International Law) मे यह स्वीकार किया है कि राजदूतों को प्रारम्भ से जान माल की सुरक्षा का अधिकार प्राप्त था परन्तु उनको हरमेज जैसे छली देवता के संरक्षण में रखा जाना दौत्यकर्म को बदनाम करने वाला बना ।

(2) भारतीय विचार (Indian views)—भारत की सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति लोगों का अभी कम आकर्षण है फिर भी अनेक विदेशी एव देशी विद्वानों ने यह बात स्वीकार करली है कि भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति प्राचीनतम है । हजारों वर्ष पूर्व भारत एक सुसभ्य देश

1 "The persons of such envoys or messangers, if properly accredited must from the first have been regarded as in some way sacrosanct and from this practice derive those special immunities and privileges by diplamatists today," —*Nicalson*

था और यहाँ राज्य, राजनय और राजदूतो का प्रचलन था। उत्तरकालीन वैदिक युग के दो महाकाव्य उस काल की सभ्यता एवं संस्कृति का परिचय देते हैं।

(i) **रामायणकाल** (Ramayana Period)—राम का चरित्र और उनके कार्यों का विवेचन रामायण महाकाव्य में किया गया है। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि राजदूतो का रिवाज तथा राजदूतों के शरीर को अनतिक्रमणीय उस काल मे भी माना जाता था। जब सीता को चुरा कर लंका का रावण भाग गया तब भगवान राम ने अपने दूत श्री हनुमान को सीता की खोज की जिम्मेदारी सौंपी। वे लंका मे जाकर सीता से मिलने में सफल हुए पर बाद मे उन्हें गिरफ्तार करने की योजना बनाई जिसमें हनुमान ने कई लोगों को मार गिराया पर अन्त मे उन्हें गिरफ्तार होना पड़ा। जब वे पकड़कर रावण के दरबार में लाये गये तो उन्हे मृत्यु दण्ड की आज्ञा मिली पर रावण के भाई विभीषण ने आपत्ति की और निवेदन किया कि *"राजदूत का वध नीति के विरुद्ध हैं। इसे अन्य कोई दण्ड दिया जाय।"* इस प्रकार हनुमान के प्राणों की रक्षा हुई। रामायण मे दूसरा वृतान्त यह आया कि राम-रावण युद्ध होने से पूर्व राम ने एक संधि प्रस्ताव के साथ अंगद को राजदूत के रूप में रावण के दरबार में भेजा। अंगद के प्रस्ताव के विपरीत रावण ने बड़ा कड़ा प्रस्ताव रखा जो मानने योग्य न था अतः संधि वार्ता भग हो गई और युद्ध की घोषणा हो गई।

(ii) **महाभारत काल** (Mahabharat Period)—महाभारत काल मे राजनयिक आचार का विकास पर्याप्त रूप मे हो चुका था। महाभारत काल मे कई कूटनीतिज्ञ थे जो अपनी कूटनीति के लिए विख्यात थे। विदुर तथा भगवान कृष्ण अपने समय के महान राजनयिज्ञ थे। विदुर कौरवों के दरबार मे रहते थे और कृष्ण पाण्डवों के परामर्शदाता थे। कृष्ण बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे उपदेशक, राजनीतिज्ञ, धर्म प्रवर्तक, योद्धा तथा सगीतज्ञ थे। एक बार महाराज युधिष्ठिर ने भगवान कृष्ण से कहा था कि "मुझे इस बात का गर्व है कि आप जैसा राजनीतिज्ञ न तो आज है और न आज तक ससार मे हुआ है, न ही भविष्य मे इतना महान राजनीतिज्ञ जन्म लेगा।" देवर्षि नारद भी इस काल के महान कूटनीतिज्ञ माने जाते थे। भगवान कृष्ण ने एकबार स्वय नारद जी से कहा था कि "हे! देवर्षि, अपने आने का कारण एवं सन्देश कहिए, जिससे मैं आपकी न्यूनाधिक उचित सेवा कर सकूँ।"

भगवान कृष्ण ने एक बार युधिष्ठिर को इस प्रकार का उपदेश दिया था कि "धर्मराज! क्षत्रिय का धर्म समर्थ होने पर यह है कि वह निर्बलों की सहायता करे तथा शत्रु का वध तथा क्रूरता एवं अनीति का दमन करे।" कृष्ण का मत था कि उदार व्यक्ति से उदारतापूर्वक व्यवहार करे पर शठ से शठता से ही पेश आये। कृष्ण के परामर्श पर चलने पर ही पाण्डवों ने कौरवों से सफलतापूर्वक सघर्ष किया।

(iii) **मौर्य काल** (Maurya Period)—भारत में कृष्ण के बाद कौटिल्य अथवा चाणक्य महान कूटनीतिज्ञ हुआ। उसका उल्लेख यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में किया है। कौटिल्य ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना में चन्द्रगुप्त मौर्य की बड़ी सहायता की। उसने 'अर्थशास्त्र' लिखकर राजनयिक सिद्धान्त एवं आचार का विस्तृत विवेचना किया है। उसके बताये हुए साम, दाम, दण्ड एवं भेद आज भी राजनय के आधार स्तम्भ माने जाते है। राजनय की सफलता या असफलता से उसका मूल्यांकन किया जाता है। उसने राज्य के छः अग बताये हैं—शान्ति, युद्ध, तटस्थता, युद्ध तत्परता, संधि तथा शत्रु में फूट। इसे राज्य की 'षटमुखी-नीति' भी बताया गया है। चाणक्य दुर्बल राज्यो के लिए शान्ति, तटस्थता अर्थात् राष्ट्रों के झगड़ों में न पड़ने की नीति एवं शक्तिशाली राष्ट्रों से मित्रता करने की नीति अपनाने की सलाह देता है।

भारत मे कामदक नीति शास्त्र, शुक्रनीति सार तथा कुछ अन्य रचनाएँ भी राजनयिक

आचार पर अपना मन्तव्य प्रकट करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय विचारकों ने तथा राजनीतिज्ञों ने राजनयिक आचार के क्षेत्र में प्राचीन काल में ही काफी विकास कर लिया था।

(3) यूनानी काल (Greek Period)—यूरोप में सर्व प्रथम सभ्यता एवं संस्कृति का विकास यूनान में हुआ। यूनान के अतिरिक्त सभी जातियाँ जो यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों में बसती थी वे असभ्य एवं अर्द्धसभ्य थी। यूनान के काल में रोम की सभ्यता भी पनप रही थी पर उसका विकास यूनान के पतन होने पर यूनान के सिद्धान्तों पर ही हुआ। यूनान में ईसा से 600 वर्ष पूर्व नगर राज्यों की व्यवस्था प्रचलित थी। इन नगर राज्यों में राजदूतों का आदान-प्रदान प्रचलित था। सधि वार्ता चलाने के लिए जब अग्रदूत भेजे जाते थे तो उनकी विदाई बडी धूम-धाम से होती थी। आमतौर पर यह अग्रदूत (Harold) उद्घोषक होते थे पर जब यूनानी सभ्यता अधिक विकसित हुई तो राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो मे अधिक जटिलता पैदा हो गई अतः यह अनुभव किया जाने लगा कि अग्रदूत को सिर्फ उद्घोषक ही नहीं होना चाहिए बल्कि उसे ओजस्वी वक्ता, प्रभावशाली व्यक्तित्व रखने वाला तथा तीव्र स्मरण शक्ति रखने वाला व्यक्ति होना चाहिए। इन्ही योग्यताओं को रखने वाला व्यक्ति ही राजदूत नियुक्त किया जाने लगे। दूतों का कार्य यह समझा जाने लगा कि वे अपने राज्य पर लगाये गये आरोपों का खण्डन करें, विदेशी जन सभाओं मे भाषण देकर तपने देश का पक्ष-पोषण करें, न कि जिस देश में वे जायें वहाँ सूचनाओं का संग्रह करे तथा लौटने पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। निकलसन का कहना है कि "राजदूत को जब विदेशों में भेजा जाता था तो उनसे यह आशा नही की जाती थी कि वे सूचना एकत्र करे या वापसी पर कोई रिपोर्ट लिखकर दें, बल्कि उनसे केवल यह आशा की जाती थी कि वे ओजस्वी भाषण द्वारा विदेशी जनता को प्रभावित करें।"[1]

यूनानी राजदूतों को बड़ा सम्मान मिलता था। उनके जानमाल की पूर्ण सुरक्षा का प्रबन्ध होता था तथा उन्हें अनेक प्रकार के विशेष अधिकार प्राप्त होते थे। दो नगर राज्यों मे युद्ध की स्थिति में भी शत्रु राज्य के प्रतिनिधि को सुरक्षित उसके देश में भेज दिया जाता था। इस प्रकार निकलसन के शब्दों में "........नगर राज्यों के सामान्य राजनयिक आचार आशातीत रूप से उन्नत थे।"[2]

(4) रोमन साम्राज्य काल (Period of Roman Empire)—रोमन साम्राज्य ने यूनानी नगर-राज्यों का सफाया कर दिया। पर विजितों ने विजेताओं को राजनयिक आचार का पाठ पढ़ाया। पर रोमन साम्राज्य के काल में राजनयिक आचार मे कोई विकास न हो सका। इसका कारण बताते हुए निकलसन ने लिखा है कि "वे क्रूर एव बर्बर थे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नृशन्स उपाय अपनाते थे। अच्छाई उनमें यह थी कि वे ऐसे सिद्धान्त अपनाते जिससे अपने पवके शत्रुओं को कुचलने तथा आधीनता मानने वालों को क्षमादान कर देते थे।"

वास्तव में रोमन लोगों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहयोग दिया। उनके कानूनों के तीन रूप प्रचलित थे—

(i) जस सिविली (Jus Civile)—ये वे कानून थे जो रोमवासियों के पारस्परिक सम्बन्धों को व्यक्त करते थे।

---

1 "They were not expected to acquire information regarding the countries which they visited or to write any reports on their return. All that was expected of them was that they should make a magnificent speech." —*Nicolson.*

2 ......The general diplomatic practice of city-state was unexpectedly advanced." —*Nicolson.*

(ii) **जस जैनटिअम** (Jus gentium)—ये वे कानून थे जो नागरिकों और विदेशियों के बीच लागू होते थे।

(iii) **जस नेचूरेल**—ये ऐसे कानून थे जो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सामान्य थे। इन कानूनों को यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो इनसे ऐसे सिद्धान्तों का आभास होता है जिन्हें कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

रोमन अपने वायदे के पक्के होते थे। एक पौराणिक कथा के अनुसार "एक रोमवासी ने कार्थेजियन लोगों से जो प्रतिज्ञा की थी उसको निभाने मे अपनी जान खो बैठा था।" निकलसन का मत है कि "रोमवासियों को यह शिक्षा मिली थी कि सन्धियों की व्याख्या केवल शब्दों पर न की जाकर बुद्धि तथा न्याय के आधार पर की जानी चाहिए।"[1]

रोमन पद्धति ने बाद में व्यवसायी प्रशिक्षित राजदूतो को उत्पन्न किया जो राजनयिक कार्य विधियो के विशेषज्ञ होते थे परन्तु रोमवासी जब किसी देश पर अधिकार जमा लेते थे तो उसके साथ उपनिवेशीय तथा प्रशासकीय दृष्टि से सम्बन्ध रखते थे न कि राजनयिक दृष्टि से।

(5) **बाइजैण्टाइन साम्राज्य** (The Byzantine Empire)—रोमन साम्राज्य पर जब ट्यूटनो के लगातार आक्रमण होने प्रारम्भ हुए तो रोमन सम्राट कुस्तुन्तुनिया चले गये और यहाँ एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। वह साम्राज्य ही बाइजैण्टाइन साम्राज्य कहलाया यह साम्राज्य असभ्य जातियो के आक्रमणों का सदैव शिकार रहता था। सैन्यशक्ति के अभाव मे बाइजैण्टाइन सम्राटो ने राजनयिक कौशल और बुद्धि चातुर्य से कार्य लिया और अपने साम्राज्य को बनाये रखा। इस क्षेत्र मे उन्होंने तीन प्रमुख अस्त्रों का प्रयोग किया—

(i) उन असभ्य जातियों के मध्य मतभेद उत्पन्न करना, जिससे वे सगठित होकर साम्राज्य पर आक्रमण न कर सकें।

(ii) जो जातियाँ साम्राज्य की सीमा पर बसी हुई थी उन्हें धन देकर अपने पक्ष में किये रहना जिससे वे आक्रमणकारियो का साथ न दे।

(iii) जो मूर्तिपूजक थे उनमें ईसाइयत का प्रचार किया और उन्हे ईसाई बनाकर अपने धर्म का अनुयायी बना लिया ताकि वे आक्रमणकारियो के विरुद्ध साम्राज्य का पक्ष ले सके।

अपने शत्रुओ में सदैव फूट बनाये रखने के लिए और उन्हें परस्पर संगठन न बनाने के लिए उनकी आन्तरिक परिस्थितियों, उनकी महत्वाकांक्षाओ एवं उनकी दुर्बलता का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था अत. ये कार्य राजदूत ही कर सकते थे। इस प्रकार राजनयिक आचार में एक नये तत्व का समावेश हुआ। वह था राजदूतों के कार्यो मे परिवर्तन। अब राजदूत का कार्य यह नही रहा कि वह विदेश मे जाकर केवल भाषण दे, बल्कि उसका महत्वपूर्ण कार्य यह था कि वह विदेश में जाकर वहाँ की आन्तरिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करे उनकी दुर्बलताओं का ज्ञान प्राप्त करे और समय-समय पर ऐसे प्रतिवेदन अपने शासकों को भेजता रहे जिससे उन सूचनाओं के आधार पर वे अपना कार्य एवं व्यवहार को सही रूप मे निर्धारित कर सकें। इसका परिणाम यह हुआ कि राजदूत में तीन गुणों का होना आवश्यक माना जाने लगा :

(i) गूढ अवलोकन की क्षमता (Power of Keen Observation)

(ii) दीर्घकालीन अनुभव (Long Experience)

(iii) स्वस्थ व निष्पक्ष निर्णय देने की क्षमता (Sound Judgment)।

इस प्रकार निकलसन के मतानुसार, "भाषण देने वाले राजदूत का स्थान विशेषज्ञ

---

1 "It taught that the interpretation of treaties must be based not upon the mere letter of bond, but upon the considarations of equity and reason."
—*Nicolson.*

राजदूत ने ले लिया तथा भाषण करता के स्थान को प्रशिक्षित अवलोकन कर्ता ने ले लिया।"[1] इस काल में राजदूतो की सख्या काफी हो गयी अतः उन्हें परामर्श देने एवं पथप्रदर्शन प्रदान करने के लिए एक विदेश विभाग की स्थापना की गयी। एक और विकास राजनयिक आचार में यह हुआ कि जब राजदूतो के माध्यम से विदेशी शासन कोई सन्धि करता था तो उस समय विशेष समारोह का आयोजन होता था जो राजनय मे शिष्टता का समावेश हो गया। के० एम० पाणिक्कर के शब्दों मे 'यह सुविदित है कि बाइजैण्टाइन के राजदरबार, में राजनय एक परिमार्जित कला बन गयी और विदेशों से आने वाले इन दूत मण्डलों के स्वागत के समय बड़ी धूम के साथ समारोह होता था।"[2]

(6) मध्य युग (The Middle Age) —मध्य युग के काल में राजनय के आचार के विकास में बाधा पडी। यह काल यूरोप के लिए अन्धकारपूर्ण युग था क्योकि इस काल में युद्ध की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी एवं राजनीतिक संस्थाओ का विकास रुक-सा गया। मुसलमानों एवं ईसाइयों मे घोर संघर्ष चल पड़ा, इससे यूरोप में ईसाई राज्यों की एकता को बल प्राप्त हुआ। राज्यों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो की स्थापना के लिए दूतों का आदान-प्रदान हुआ। इस कार्य को सर्वप्रथम इटली में प्रारम्भ किया गया। निकलसन का कहना है कि "इस प्रकार इटली में 13वीं एवं 14वीं शताब्दी के बीच राजनयिक विशेषज्ञ उत्पन्न हुए।"[3]

इटली में सर्वप्रथम दूतों की स्थापना प्रारम्भ हुई। इसके बाद यूरोप के अन्य देशों में भी स्थायी राजदूत नियुक्त होने लगे। 15वी शताब्दी में यह प्रथा अर्थात राजदूतों की स्थायी नियुक्तियाँ समस्त यूरोप मे प्रचलित हो गयीं। इससे पूर्व राजदूत समय-समय पर नियुक्त होते थे और कार्य निकल जाने के बाद वे लौट आते थे।

मध्य युग मे राजदूतो का कार्य था विदेशों में गड़बड़ी उत्पन्न करना, उनके आन्तरिक मामलो ने हस्तक्षेप करना, राजमहलो के षड्यन्त्रो मे भाग लेना एव विद्रोहों को भड़काना। ड्यूमा के उपन्यासों मे स्पेन के राजदूत का चित्रण करते हुए बताया गया है कि वह (i) विभिन्न दलो के नेताओं को रिश्वतें देता था (ii) राजद्रोहियो को परामर्श देता था तथा (iii) स्वयं राजपरिवार मे फूट डालता था।

(7) स्थायी राजदूतों का प्रचलन (Usage of Permanent Envoys)—वास्तव में आधुनिक संगठित एव व्यावसायिक राजनय का जन्मदाता इटली को माना जाता है। इटली मे अनेक छोटे-छोटे राज निकट-निकट स्थित थे। जिनेवा, वेनिस, फ्लोरेन्स, नेपिल्स तथा पेपसी बाकायदा दूतो का आदान-प्रदान करते थे। इन राज्यों मैं निकटता होने के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गये थे। वाणिज्य एव व्यापार ने भी राजदूतों का महत्त्व बढ़ा दिया था। छोटे-मोटे राज्य अपनी सुरक्षा के लिए एक-दूसरे से कपटपूर्ण संधि कर शक्ति सन्तुलन बनाये हुए थे।

इस मामले मे वेनिस (Venice) गणराज्य ने पहल की अतः उसे राजनयिक आचार की जन्म भूमि कहा जाता है। वेनिस राज्य में 13वीं शताब्दी मे ही राजदूतों के लिए आचार संहिता (Code of Conduct) तैयार हो गयी थी। आगे चलकर बाइजैण्टाइन साम्राज्य की नीति

---

1 "Even as the orator type replace the primitive herald type, so also the orator gave to the observor." —H. Nicolson

2 "At the Byzantine Court, diplomacy as is well known, had become a fine art and the reception of Foreign missions was attentended by ceremonies of great pomp." —K. M. Panikkar

"It was thus in Italy during the thirteenth and fourteenth centuries that the diplomatist statesmen arose." —Nicolson

का अनुसरण जब वेनिस ने किया तो योग्य राजदूतों की नियुक्ति का विकास हुआ। इन राजदूतों की नियुक्तियाँ इटली के अन्दर तथा बाहर भी होने लगीं। 1460 ई० में सेवाय ने रोम में अपना स्थाई दूत नियुक्त किया। 1496 ई० में वेनिस ने दो व्यापारियों को उपराजदूत बनाकर लन्दन भेजा। कुछ समय बाद इटली के अन्य राज्यों ने भी लन्दन एव पेरिस मे अपने राजदूत भेजे। दूतों के साथ-साथ स्थायी दूतावास भी बनने लगे। सर्वप्रथम दूतावास का निर्माण मिलान (Milan) के ड्यूक फ्रांसिस्को स्फोरजा ने 1455 मे जेनेवा मे किया। कुछ समय उपरान्त इटली के अन्य राज्यों ने अपने दूतावास लन्दन, पेरिस तथा अन्य यूरोपीय राज्यों की राजधानियों मे बनाये। 16वीं शताब्दी तक स्थायी दूतों एवं दूतावासों का प्रचलन समस्त यूरोप में हो गया। फ्लोरेन्स ने वेनिस के पश्चात अपने दूत विभिन्न राज्यों को भेजे। दान्ते (Dante), पैट्रार्क (Petrarch), बोकोशियो (Boccaccio), मैकियावली तथा गुशियारदीनी (Gguicciardini) आदि राजनयिज्ञों के उत्पन्न करने का श्रेय फ्लोरेन्स को प्राप्त है।

(8) फ्रांस का युग (French Period)—राजनयिक आचार का विकास जो इटली में हुआ था वह दूषित था। इस दूषित राजनय को शुद्ध तथा पवित्र बनाने का कार्य फ्रांस ने किया। सर्वप्रथम फ्रांसिस प्रथम ने राजनयिक सेवा की स्थापना की। उसने अनेक योग्य राजनयिज्ञ नियुक्त किये जैसे केम्बन्स (Combons), यूसरो (Jusserand), बरेरे (Barrere) तथा बथलो (Bearthlot) आदि। सुव्यवस्थित राजनयिक सेवा (Well organised Diplomatic Service) का श्रीगणेश फ्रांस मे हुआ जो आधुनिक राजनयिक सेवा का आधार बना।

फ्रास ने कपटपूर्ण आचार एवं धोखेबाजी की नीति का परित्याग किया और उत्तम आदर्शों एवं नैतिकता का निर्वाह किया। फ्रास के प्रसिद्ध राजनयिज्ञ डी कलेयरस (De Callieres) कहता था कि स्वस्थ्य राजनय विश्वास एवं निष्ठा उत्पन्न करने की क्रिया पर आधारित होता है जिसको सच्चाई एवं सद्‌भावना के द्वारा ही मूर्तरूप दिया जा सकता है।" उसने राजनय में बेईमानी, झूठ, प्रपंच एव कपटपूर्ण व्यवहार की कटु आलोचना की और उन्हें केवल क्षणिक सफलता दिलाने वाला बताया। जो राजनयिज्ञ विदेश में विरोध पक्ष में प्रतिरोध, अपमान और घृणा को प्रोत्साहन देता है उसकी कलई शीघ्र उतर जाती है और स्थायी सम्मान प्राप्त नहीं होता।

फ्रांस ने राजनयिक आचार की भाषा को भी सुधारा। 18वी शताब्दी से ही फ्रांसीसी भाषा को राजनयिक सम्वादो तथा अभिलेखो में प्रयोग किया जाने लगा था। 1815 में वियना कांग्रेस के अन्दर तथा 1856 मे पेरिस सम्मेलन मे समस्त कार्यवाही फ्रेन्च भाषा में ही हुई। यह रिवाज 1918-19 मे पेरिस सम्मेलन तक चला। इसके बाद अँग्रेजी भाषा का प्रभाव बढ़ा।

(9) वर्तमान युग (Present Age)—यद्यपि राजनय संगठित रूप से 15वीं शताब्दी मे निखरने लगा था पर वह आधुनिक रूप मे 1919 के पेरिस सम्मेलन में प्रकट हुआ। अमेरिका तथा यूरोप मे प्रथम विश्व युद्ध के बाद राजनयिक आचार अपने पूर्ण रूप में व्यवहारित होने लगा था पर मध्य यूरोप, मध्य एशिया एवं पूर्वी एशिया में सुसंगठित राजनयिक सेवा 1935 तक स्थापित न हो सकी। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् तो समस्त विश्व में सुव्यवस्थित राजनयिक सेवा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया। सं० रा० संघ में अब 150 से भी अधिक स्वतन्त्र राज्य सम्मिलित हैं और प्रत्येक राज्य अपना स्वतन्त्र राजदूतावास विदेशों में रखने लगा है।

(अ) राज्याभिलेखागर तथा राज्याभिलेखपाल (Archives and Archivists)—प्रत्येक देश के विदेश विभाग के अन्तर्गत एक राज्याभिलेखागार (Archive) होता है जिसमे ... विभाग से सम्बन्धित सभी कागजात रहते हैं। इन कागजातों अथवा अभिलेखों की सुरक्षा ... अभिलेखागार मे राज्याभिलेखपाल (Archivist) की नियुक्ति होती है इस प्रथा का ... इटली ही है।

(ब) राजदूत, अर्द्ध राजकीय अभिकर्तागण और अग्रत्व का नियम (Ambassadors, semi-official agents and rule of precedence)—पहले राजनयिक प्रतिनिधियों के कई नाम प्रचलित थे जो प्रत्येक देश मे अलग-अलग थे। पर धीरे-धीरे राजनयिक प्रतिनिधि दो वर्गों में विभक्त होने लगे। इस विषय मे ओपेनहीम (Oppenheim) का मत उल्लेखनीय है—"यह द्विवर्गीय विभेद 16वीं शताब्दी में प्रकट हुआ और 17वीं शताब्दी के मध्य तक जबकि स्थायी राजदूतावासों का सामान्य प्रचलन हो चुका था, राजनयिक दूतों के ये दो वर्ग सामान्यतः माने जाने लगे—असाधारण दूत, जिन्हें राजदूत (Amba-sador) कहा जाता था, साधारण दूत जिन्हें वासामात्य (Resident) कहते थे। राजदूतों को अधिक सम्मान दिया जाता था और अन्य दूतो से पहले अग्रत्व प्राप्त होता था।"

राजदूत अपने स्वामी का प्रतिनिधित्व करते थे। निकलसन का कहना है कि "वह अपने राजा का व्यक्तिगत प्रतिनिधि माना जाता था तथा उसके स्तर तथा शान को बनाये रखता था।"[1] इसी को लेकर अग्रत्व के सिद्धान्त का प्रचलन हुआ पर इससे अनेक कठिनाइयों की उत्पत्ति हुई क्योकि उस काल में एक विश्वव्यापी शक्ति के अभाव में कोई यह निर्णय नहीं कर सकता था कि किस राजदूत को अग्रत्व प्रदान किया जाय।

"अग्रत्व का अभिप्राय: उस प्रचलित नियम से है, जिसका ध्यान किसी देश के उच्च स्तरीय राजकीय सामाजिक समारोहो या राजनीतिक परिषदो आदि में उक्त देश स्थित विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों के स्थान-ग्रहण के क्रम मे रखना पड़ता था।" (राघवेन्द्र सिंह)

अग्रत्व के मामले मे दो कठिनाइयाँ थी—झगड़े की और तड़क-भड़क की। आमतौर से राजा सामान्य व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि नहीं बनाता था। यह पद गौरवपूर्ण एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों को दिया जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि राजदूत को उस देश की पूरी सूचना नही मिल पाती थी, फलस्वरूप अर्द्धराजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति प्रारम्भ हुई। इस विषय में निकलसन का कहना है कि "पूर्ण अधिकार युक्त राजदूतों के स्थान पर विदेशी राजधानियों मे अर्द्ध राजनयिक प्रतिनिधियों पर विश्वास करना अधिक प्रभावी तथा संस्थागत माना जाने लगा। ये लोग बहुधा झूठे तथा भ्रष्ट होते थे।"[2]

(स) राजदूतों के चार वर्ग (Four classes of Envoys)—उपर्युक्त झगड़ो की समाप्ति के लिए विभिन्न राज्यों,ने मिलकर एक अन्य स्तर के पूर्ण शक्तामात्य (Minister plenipotentiary) वर्ग की रचना की जो राजदूत एवं वासामात्य के मध्य का पद समझा गया। पर समस्या का समाधान इससे भी न हुआ। 1815 मे वियना सम्मेलन मे भाग लेने वाले राजनयिकों को तीन भागो में बांटा गया—

(अ) राजदूत (Ambassadors) तथा
(ब) पूर्ण शक्तामात्य (Minister plenipotentiary)।
असमान्य दूत (Envoys Extraordinary)।
(स) कार्य कार्य दूत (Chage D' Affairs)।

---

1 "He was supposed to represent in his own person the status and dignity of his sovereign." —*Nicolson.*

2 "It was found more effective and far cheaper not to mamsain full fledged ambessadors in foreign capitals but to rsely upon the services of semi official agents. These people were often untruthful and corrupt." —*Nicolson.*

इसके बाद 1818 मे एक्सला शयल कांग्रेस में उपर्युक्त तीन वर्गों के नीचे एक चतुर्थ-वर्गीय राजनयिक दूत को मान्यता मिली—जिसे

(द) वासामात्य (Minister Resident) कहा गया।

उपर्युक्त चारो वर्गों को लगभग सभी राज्यों ने मान्यता दी। रूस ने पहले तो इस वर्गीकरण को मान्यता नही दी पर बाद मे इसे स्वीकार कर लिया। अग्रत्व की समस्या को भी इन सम्मेलनों ने सुलझा दिया। उनकी श्रेणियाँ भी उपर्युक्त क्रम से स्थापित की गयी। आधुनिक समय में प्रत्येक देश अग्रत्व देने का नियम अपनी परम्परानुसार बनाता है। इतना होने पर भी वियना एवं एक्सला शयल के निश्चयों को सर्वमान्य कहा जा सकता है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों मे उक्त सिद्धान्त को मान्यता दी जाती है। 1815 के बाद राजनय आचार सुनिश्चित और नियमित हो चुका था और प्रत्येक देश की लोक सेवा में यह एक विशिष्ट शाखा (A distinct branch of the public service) मानी जाने लगी थी।

राजनय के प्रकार
(Types of Diplomacy)

यह बात सर्वमान्य है कि राज्य के जन्म के साथ ही राजनय की उत्पत्ति हुई पर राजनय का विकास काल गत 500 वर्षों का ही माना जाता है 1500 ई० से पूर्व उसका कोई निश्चित रूप जो सर्वमान्य हो निखर नही पाया था। इन 500 वर्षो मे राजनय मे अनेक परिवर्तन हुए अतः इस काल के दो खण्ड किये गये—(1) 1500 ई० से लेकर 1914 तक का काल, इसे पुराना राजनय कहा गया। (2) 1914 से आज तक का काल, इसे नया राजनय कहा गया। इन दोनों कालो में राजनय का क्या रूप रहा उनका वर्णन पृथक शीर्षकों मे किया जायगा।

पुराने तथा नये राजनय का अन्तर
(Distinction Between Old and New Diplomacy)

नये और पुराने राजनय में जो विभेद किया जाता है उस पर अनेक विद्वानो के अपने अभिमत प्रकट किये है पर कोई ऐसा मत नही जो सर्वमान्य हो। इस विषय में 3 विचारधाराएँ अधिक प्रचलित है। इनका ही यहाँ उल्लेख किया जायगा।

(1) प्रथम विचारधारा (First Ideology)—प्रथम विचारधारा के समर्थक एम० जूसेस (M. Juses), एक उच्च कोटि की बौद्धिक प्रतिभा रखने वाले एक व्यवसायी राजनयिज्ञ थे। उनका यह मत था कि "'नया तथा पुराना राजनय' की बात करना एक बिना बात का अन्तर बताना है।"[1] राजनय के नये और पुराने और भेद बताना वास्तव मे निरर्थक बात है। विश्व में जो राजनीतिक परिवर्तन हुए है और उनके फलस्वरूप उत्पन्न स्थिति में राजनय ने अपना सफल अभियोजन मात्र कर लिया है। ज्यूलस केम्बो ने बताया है कि पुराने तथा नये राजनय का तथा कथित अन्तर जनता का काल्पनिक विचार मात्र है।" नये और पुराने राजनय का जो अन्तर दिखायी देता है वह केवल 'बाह्य दिखावा मात्र' (Outward appearance) है। कहने का तात्पर्य यह है कि राजनय का ऊपरी रूप चाहे कितना बदलता रहे पर आन्तरिक रूप अथवा सारभूत तत्वो में कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसका कारण भी इस विचारधारा के समर्थकों ने तीन प्रकार का बताया है—(अ) पहली बात तो यह बतायी है कि मानव प्रकृति में कभी मौलिक परिवर्तन नही होता है" (Human nature never changes), (ब) दूसरा कारण यह बताया है कि "अन्तर्राष्ट्रीय

[1] "To talk about new and old diplomacy is to make distinction without a difference." —M

मतभेदों को शान्त करने का तरीका एक है"[1] तथा तीसरा (स) कारण है "किसी सरकार के समक्ष सबसे आकर्षक ढंग एक ईमानदार मनुष्य के शब्द है।"[2]

(2) **द्वितीय विचारधारा (Second Ideology)**—दूसरी विचारधारा के प्रवर्तक के० एम० पाणिक्कर हैं। उनका मत है कि पुराना राजनय तो 1914 में समाप्त हो गया। 1914 तक यूरोपीय राज पद्धति का अन्त हुआ पर 1918 में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों ने विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया।" *इस प्रकार नये और पुराने राजनय में स्पष्ट अन्तर बताया गया।*

(3) तीसरी विचारधारा के प्रमुख समर्थक हैरोल्ड निकलसन (Harold Nicolson) हैं। वह इतना तो स्वीकार करता है कि 17वीं एवं 18वी शताब्दी के राजनय और आज के *राजनय में अन्तर है पर यह अन्तर महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। उन्हीं के शब्द इस प्रकार के हैं कि* "इन अन्तरों की जाँच करना एक मूल मात्र है कि उनके अन्धकार और हमारे प्रकाश में विरोध है।"[3]

पुराना राजनय कब समाप्त हुआ और नया राजनय कब आरम्भ हुआ। इस विषय में कोई *समय विभाजक रेखा नहीं मानी जा सकती है। इसी प्रकार राजनय के सिद्धान्तों तथा तरीकों* में कोई स्पष्ट एवं मान्यता प्राप्त विभेद नहीं किये जा सकते हैं। पुराने तथा नये राजनय के बीच संक्रमणकाल में जो कुछ हुआ वह यह है कि सन्धिवार्ता की कला में क्रमशः बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के *अनुरूप सुधार या समायोजन हुआ। निकलसन* ने इस बात को मानते हुए लिखा है कि "वार्ता की कला ने धीरे-धीरे अपने को बदलती राजनीतिक दशा के अनुरूप समायोजित किया।"[4]

नये और पुराने राजनय के अन्तर को जानने से पूर्व हमें इस बात का ज्ञान प्राप्त होना चाहिए कि पुराने तथा नये राजनय के विकास का संक्रमण काल कैसा रहा।

(1) **निरंकुश राजनय (Absolute Diplomacy)**—पुराने राजनय में निरंकुश राजतन्त्र का शासन था। राजा को देवता और ईश्वर तक माना जाता था। उसका विरोध एक धार्मिक अपराध माना जाता था। राजा अपने राज्य को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानता था। लुई चौदहवां तो यहाँ तक कहता था कि "राज्य क्या है ? मैं ही तो राज्य हूँ।" इसी प्रकार केथरीन द्वितीय तथा फ्रेडरिक महान देश के सर्वेसर्वा माने जाते थे। उपर्युक्त तीनों शासक समस्त यूरोप में महान शासक माने जाते थे। वे अपनी आन्तरिक और वाह्य नीति स्वयं निर्धारित करते थे। उनके मन्त्री उनकी हाँ में हाँ ही मिला सकते थे। उन्हें रखना और हटाना सम्राटों की इच्छा पर आधारित था। वे नाममात्र के शासक न थे युद्ध एवं शान्ति की घोषणा वे स्वयं करते थे। उस समय राजनय स्वतन्त्र रूप से प्रकट नहीं हुआ था। वह नीति का ही एक अंग माना जाता था। प्रत्येक राजदूत राजा का विश्वास पात्र सेवक होता था। राजा की कृपा पाने के लिए और राजदूत बनने के लिए उम्मीदवार बड़ी-बड़ी धन राशि व्यय करते थे तथा दरबारियों अथवा जी हुजूरों को बड़ी-बड़ी *रिश्वतें देकर प्रसन्न करते थे। राजनयिज्ञ राजा के महत्त्वों के षड्यन्त्रों में भाग लेते थे* और राजा को हटाने तथा नये राजा को गद्दी पर बिठाने में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। अतः कुछ लोग उसे 'बुद्वा राजनय' (Boudoir Diplomacy) भी कहकर पुकारते थे।

---

1 "There is only one way of settling international differences."

2 The most persuasive method at the disposal of a goverment is the word of an honest man.

3 'It would be a mistake, however, to examine these differences as if they were sharp contrasts between their darkness and our light." —*Nicolson.*

4 "...art of negotiation has gradually adjusted itself to changes in political conditions." —*Nicolson*

बूद्वा (Boudoir) शब्द फ्रेन्च भाषा का है। इसका अर्थ है "सम्भ्रान्त महिला का निजी कक्ष।" उस समय राजनयिज्ञ तथा रानी एकान्त कक्ष में बैठकर षड्यन्त्र या संधि वार्ता करते थे। इस कक्ष में विशेष राजदूत ही प्रवेश पा सकते थे। अंग्रेजो में माम्सबरी और रूस की महारानी कैथरीन का अनोखा किस्सा प्रसिद्ध है। जब इंगलैण्ड और अमेरिका मे युद्ध छिड़ा था तब इंगलैण्ड को मित्रों की खोज थी। इंगलैण्ड रूस से मित्रता करना चाहता। माम्सबरी जो अपने व्यक्तित्व एवं प्रभाव के लिए यूरोप भर मे प्रसिद्ध था, रूस भेजा गया। उसने रूस की महारानी से प्रेम सम्बन्ध स्थापित किया, उसे बड़ी-बड़ी भेंट देकर प्रसन्न कर लिया। उसकी भेंट महारानी कैथरीन के शृंगार कक्ष में हुई जहाँ प्रेमदान जैसे घृणित कार्य से वह न चूका और रूस से संधि करने मे सफल हुआ।

(2) संवैधानिक राजनय (Constitutional Diplomacy)—राजाओ की निरंकुशता का अन्त धीरे-धीरे हुआ। निरंकुश राजाओं के काल के बाद संवैधानिक राजाओ का काल प्रारम्भ हुआ। इस राजनीतिक परिवर्तन से बूद्वा राजनय का भी अन्त हुआ। राजा अब मन्त्रियों से परामर्श लेता था और मन्त्रीगण अपना परामर्श खुले और निष्पक्ष रूप में देते थे, क्योंकि राजा राजनीति मे सक्रिय भाग नही लेते थे अत: अधिकांश का कार्य मन्त्रियो द्वारा ही सम्पन्न होता था। इतना होने पर भी राजनय मे 19वी शताब्दी तक राजा की इच्छा का ही प्रभाव अधिक था। जर्मनी के सम्राट कैसर विलियम ने विदेशी विभाग स्वय सम्भाल रखा था। वह स्वयं नियुक्तियाँ करता, आदेश देता था तथा पत्र-व्यवहार भी स्वय करता था।

इतना होने पर भी जन इच्छा की राजा खुले रूप मे अवहेलन नही कर पाते थे। 1905 का एक उदाहरण हमारे सामने है। रूस और जर्मनी की संधि की योजना कैसर विलियम द्वारा बनायी गयी। ब्जोर्के (Bjorke) नामक स्थान फिनलैण्ड मे चुना गया। विहार करने वाली नाव के एक कमरे में कैसर विलियम का चचेरा भाई और रूस के जार की मुलाकात हुई और दोनों ने गुप-चुप दोनों देशों के मध्य संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। पर इस गुप्त संधि का पता दोनों देशो के विदेश मन्त्रियों को चल गया और उन्होंने इस संधि को मानने से इन्कार कर दिया। ब्जोर्के की समस्त योजना निरर्थक सिद्ध हुई। निकलसन ने तभी कहा है कि "19वी शताब्दी के प्रारम्भ काल से व्यक्तिगत बाह्य, आकाक्षाएँ तथा प्रभाव अपने राज्यों की नीतियों को निर्णय करने में अनुचित समझा जाने लगा था।"

यद्यपि विदेश नीति और यहाँ तक कि राजनय 19वी शताब्दी और 20वी शताब्दी के 14 वर्षों तक राजाओं से प्रभावित रहा, परन्तु 1815 में शक्ति का वास्तविक केन्द्र राजा से मन्त्रि-मण्डल को हस्तान्तरित होने लगा था तथा इस परिवर्तन के कारण धीरे-धीरे राजनयिक तरीकों में भी परिवर्तन हो गया था पर यह परिवर्तन नाममात्र का था। जैसाकि निकल्सन ने कहा है कि "इस प्रकार जब 19वीं शताब्दी के दौरान राजनय के पुराने सिद्धान्त नयी शक्ल धारण कर रहे थे, तब भी वास्तव मे राजनयिज्ञ अपना हृदय परिवर्तन नहीं कर रहे थे, बल्कि परिवर्तन उन राज-नीतिक व्यवस्थाओं मे हो रहा था जिनका वे प्रतिनिधित्व कर रहे थे।"

(3) यूरोप में राजनीतिक दलों का प्रभाव (Effect of Political Parties in Europe)—इंगलैण्ड की राजनीति मे सर्वप्रथम राजनीतिक दलों का प्रभाव 17वीं शताब्दी में दृष्टिगोचर होने लगा। 1649 तथा 1688 में वहाँ दो क्रान्तियाँ हुई। एक में राजा मारा गया और दूसरी मे राजा गद्दी छोड़कर विदेश भाग गया। इस प्रकार राजा की सत्ता कम हो गयी और प्रधानमन्त्रियों के हाथ मे सत्ता आ गयी। प्रथम तीन जार्जों के काल मे राजाओं के हाथ में सत्ता नाममात्र को रह गयी। राजनीतिक दलों का महत्व बहुत बढ़ गया। राजसत्ता बहुमत दल के नेता अर्थात प्रधानमन्त्री के हाथ में आ गयी। इंगलैण्ड सर्वप्रथम संवैधानिकता की ओर बढ़ा, 17वीं शताब्दी में ही क्षीण हो गया पर यूरोप मे यह 19वी शताब्दी तक चलता

को हराने के बाद यूरोप के राजाओं एवं प्रधानमन्त्रियों ने वियना कांग्रेस में भाग लिया। इस प्रकार राजा के प्रतिनिधित्व की प्रणाली दूषित बनी रही। अधिकांश प्रतिनिधि जो यूरोप कन्सर्ट में थे वे राजाओं के ही प्रतिनिधि थे।

प्रजातन्त्रीय देशों में राजनीतिक दलों ने अपना इतना प्रभाव बढ़ाया कि जो दल सत्ता में आया उसने अपने दल के ही राजनयिज्ञ विदेशों में भेजे हैं एवं दूसरे दल के राजनयिज्ञों को वापस बुला लेते है। अमेरिका में इस सिद्धान्त पर अमल प्रारम्भ किया गया।

(4) नये राजनय का प्रारम्भ (Beginning of New Diplomacy)—

(अ) 19वीं शताब्दी तक (Upto 18th Century)—ज्यों-ज्यों राजनीतिक परिवर्तन होते रहे, राजनय भी अपना रूप बदलता रहा। धीरे-धीरे लोकतन्त्रीय पद्धति को अधिकांश राज्यों ने अपनाना प्रारम्भ किया, इससे सम्पूर्ण राजनय आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में बदल गया। इस प्रकार परिस्थितियों के अनुकूल ही राजनय में परिवर्तन होता रहा। 19वी शताब्दी में निम्नलिखित तत्वों ने राजनय को प्रभावित किया :—

(i) राष्ट्र समाज के विकास की भावना (Emotion of Development in State-society)—व्यक्ति के समान ही सकट मे राज्यों में भी एक सूत्र मे बँधने की भावना का विकास हुआ। पर्सिया की जब शक्ति बढ़ी तो यूनानी राज्यों को अपनी सुरक्षा की चिन्ता हुई और उन्होंने अपना एक संगठन बनाया। यूनानी राज्यों के संगठन ने पर्सिया को 480 ई० पू० "सलामिस के युद्ध" (Battle of Salamis) में हरा दिया। इस प्रकार जब यूरोप को नेपोलियन से खतरा उत्पन्न हुआ तो यूरोपीय राज्य एक सूत्र में बँधने लगे। वाटरलू के मैदान मे (In the field of Waterloo) यूरोपीय शक्तियों की सयुक्त सेनाओं ने नेपोलियन को हरा दिया। इससे उत्साहित होकर यूरोप शक्तियों ने एक स्थायी संगठन 'यूरोप कन्सर्ट' (Concert of Europe) बनाया। यह संगठन शीघ्र ही भंग हो गया। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राष्ट्र संघ ने जन्म लिया जो यूरोप कन्सर्ट की अपेक्षा अधिक प्रभावी एवं उपयोगी सिद्ध हुआ। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। यह राष्ट्र-समाज अब तक के बने राष्ट्र-समाजों से सबसे अधिक शक्तिशाली, प्रभावशाली तथा उपयोगी है।

(ii) जनता का बढ़ता प्रभाव (Growing Influence of Public)—हैरोल्ड निकलसन के शब्दों में "नये और पुराने राजनय के संक्रमण काल मे जनमत एक महत्वपूर्ण तत्व रहा है।"[1] प्रजातन्त्र की भावना के विकास मे जनता को गृह-शासन को अपनी इच्छानुसार चलाने का सामर्थ्य प्रदान किया। धीरे-धीरे बाह्य नीति पर भी जनमत का प्रभाव पड़ने लगा। यूरोप कन्सर्ट मे आस्ट्रिया का प्रधानमन्त्री मैटरनिख कभी यह न सोच सका कि विदेश नीति में भी जनता की इच्छा का ध्यान क्या कभी आकर्षित होगा। पर इंगलैण्ड के विदेशमन्त्री और बाद में प्रधानमन्त्री जनता की भावना की ओर ध्यान देने में समर्थ हुए। कैनिंग का कहना था कि "जनमत एक अधिक शक्तिशाली तथा महान तत्व था जो कभी इससे पूर्व मानव इतिहास में नही रहा। पामस्टर्न भी जनमत के महत्व को जानता था। उसने भी कहा है कि "जनमत सेना से भी अधिक शक्तिशाली होता है। यदि जनमत सत्य और न्याय मे आ जाता है तो अन्त में वह संगीनों एव गोलियों, तोपों और घुड़सवारों से भी अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है।"

जनमत विदेश नीति, सन्धि वार्ता और युद्धों में भी प्रभावी होने लगा। राजनयिज्ञ जनता की इच्छा का ध्यान इसलिए रखने थे कि यदि जनता की भावना की उपेक्षा करके वर्साय की सन्धि

[1] "Public opinion became an ever increasing factor in the transition between the old diplomacy and the new." —*Nicolson*

राजनीति में भाग लेने लगे है। 1976 में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या 160 हो चुकी है। इस प्रकार राजनय विश्व-व्यापी हो गया है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद विश्व राजनीति मे संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस का नई महान शक्तियों के रूप मे पदार्पण हुआ और शीत युद्ध तथा गुट-बन्दी ने राजनय को और भी जटिल बना दिया है।

नये और पुराने राजनय की विशेषतायें एवं अन्तर
(Salient Features of New and Old Diplomacy and Differences between them)

पुराना राजनय (The old Diplomacy)—अधिकांश विद्वान राजनय के इतिहास को 500 वर्षों का ही आकते हैं। इनमे 400 वर्षों का (1500-1914) राजनय पुराने राजनय में रखा जाता है शेष 1918 से अब तक का राजनय नये राजनय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पुराने राजनय में यूरोपीय देश अपने मित्र देशों की संख्या बढाते तथा शत्रु देशों के मित्रों को तोड़ते थे। इतना होने पर भी राज्यो के मध्य मैत्री पूर्ण एवं घनिष्ठता का व्यवहार चलता था। तत्कालीन राजतन्त्री एवं कुलीन तन्त्री व्यवस्थायें पश्चिमी यूरोपीय एकता की भावना को प्रभावित करती थी। के० एम० पाणिक्कर के मतानुसार "पुराना राजनय एक मित्रतापूर्ण, मानवीय तथा विनम्र कला था। यह पारस्परिक सहिष्णुता के आधार पर संचालित किया जाता था।"[1]

पुराने राजनय की प्रक्रिया सभ्य राज्यों के सम्बन्धों के संचालन के लिए श्रेष्ठ थी। *"यह सहृदयतापूर्ण एवं सम्मानजनक थी। यह निरन्तर और क्रमिक थी;* इसमें ज्ञान और अनुभव को महत्व दिया जाता था, इसमें सद्विश्वास, संक्षिप्तता एवं स्पष्टता को संधि वार्ता के आवश्यक गुण माना जाता था। पुराने राजनय की जो बुराइयां वर्णित की जाती है वे असल में गलत विदेश नीति की बुराइयां है। पुराने राजनय में संधिवार्ता की प्रणाली दोष पूर्ण न थी।" प्रो० निकलसन की मान्यता है कि "यह प्रणाली आधुनिक की अपेक्षा अधिक कार्य कुशल थी।"[2]

प्रो० महेन्द्र कुमार का कहना है "पुरातन राजनय अन्तर्राष्ट्रीय समझौता-वार्ता की कला का न था जिसे यूरोपीय राष्ट्रों के मजे हुए पेशेवर कूटनीतिज्ञ इस धारणा के साथ प्रयुक्त करते थे कि कूटनीति सदा गुप्त और निरन्तर चलती रहने वाली प्रक्रिया है और उसके माध्यम से शान्ति बनाये रखना उसका महान दायित्व है।"[3]

पुराने राजनय की विशेषतायें (Salient Features of old Diplomacy)

प्रो० निकलस ने पुराने राजनय की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है :—

(1) **यूरोप की प्रभुता**—पुराने राजनय में यूरोप के राज्यों को ही महत्व प्राप्त था। अफ्रीका, एशिया, लेटिन, अमेरिका आदि महाद्वीपो में इन यूरोपीय शक्तियों ने अपने उपनिवेशों तथा साम्राज्यों की स्थापना कर रखी थी। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका पृथकवादी नीति अपनाता था। उसे यूरोपीय मामलों में कोई दिलचस्पी न थी। उस काल मे कोई युद्ध तब तक बड़ा नही माना जाता था जब तक 5 यूरोपीय महाशक्तियों में कोई एक भाग न ले। यूरोप के राज्य ही विश्व शान्ति और युद्ध सम्बन्धी प्रश्नो पर अपना निर्णय देते थे।

(2) **महाशक्तियों और छोटी शक्तियों में भेद**—पुराने राजनय में छोटी और बड़ी शक्तियों मे भेद माना जाता था। बड़े राष्ट्र शक्ति सम्पन्न एवं आर्थिक दृष्टि से समृद्धशाली थे अतः

---

1 Hence old diplomacy was a friendly, humane, and polite art carried on with much finesse and a great deal of mutual toleration". —*K. M. Panikhar.*

2 Harold Nicolson : *The Evolution of Diplomacy Method* p. 73.

3 Mahendra Kumar : *Theoretical Aspect of International Politics*, p. 257.

उनका महत्व छोटे राज्यों की अपेक्षा अधिक था। छोटे राज्यों का महत्व उनके सैनिक साधनों, युद्ध स्थिति, बाजार सम्बन्धी मूल्यों और कच्चे माल के स्रोतों के आधार पर आका जाता था। छोटे और बड़े राज्यों मे कोई स्थायी अन्तर नहीं रहता था फिर भी छोटे राज्यो के निर्णय महाशक्तियो के निर्णयों मे कोई प्रभाव न डाल सकते थे।

(3) **महाशक्तियो का दायित्व**—महाशक्तियों के द्वारा छोटी शक्तियो के आचरण का निरीक्षण होता था। वे उनमे शान्ति स्थापित करने का कार्य करती थी। उनमें संघर्ष होने पर महाशक्तियाँ हस्तक्षेप कर सकती थीं। इतना होने पर भी इन सघर्षो को महाशक्तियों के संघर्ष बनने से रोका जाता था।

(4) **व्यावसायिक राजनयिक सेवा**—पुराने राजनय मे एक अन्य विशेषता यह थी कि प्रत्येक यूरोपीय देश मे बहुत कुछ एक जैसी व्यावसायिक राजनयिक सेवा स्थापित की गई। ये राजनयिक अधिकारी विदेशी राजधानियो में अपने देश का प्रतिनिधित्व करते थे। इनकी शिक्षा, अनुभव तथा लक्ष्यों में पर्याप्त समरूपता रहती थी। इनका एक विशेष वर्ग बन जाता था। उनकी सरकार का लक्ष्य चाहे कुछ भी हो किन्तु वे राजनय का उद्देश्य शान्ति की रक्षा मानते थे। संधि वार्ताओं में ये व्यावसायिक राजनयिज्ञ पर्याप्त लाभकारी सिद्ध हुए। इनके व्यावसायिक प्राचरण का एक जैसा माप-दण्ड होता था तथा आपसी संघर्ष को ये यथा सम्भव टालना चाहते थे।

(5) **निरन्तर एवं गोपनीय सधिवार्ता** पुरानी राजनीति के अनुरूप पुराना राजनय गोपनीय होता था अर्थात् सधिवार्ता को जनता तक नही पहुँचने दिया जाता था। सार्वजनिक राजनयिक सम्मेलनो का रिवाज न था। सधिकर्ता राजदूत स्वागतकर्ता राज्य की जनता के विषय मे पहले ही जानकारी रखता था। वह उसकी शक्ति एवं दुर्बलताओ का पूरा ज्ञान रखता था। उसे स्थानीय हितों, दुराग्रहो एव महत्वाकाक्षाओं के विषय में पूरी जानकारी रहती थी। उसका वार्तालाप गोपनीय होने के साथ-साथ बडी बुद्धिपूर्ण और सम्मानजनक संधियाँ होती थी। जनता यह जान ही नही पाती थी कि क्या सधिवार्ता हो रही है और किस उद्देश्य से हो रही है। यदि जनता जान पाती तो विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हो सकता था और प्रत्येक पक्ष को कुछ झुकना पड़ता। एम० केम्बन का मत है कि "जिस दिन गोपनीयता समाप्त हो जायेगी, उस दिन किसी भी प्रकार की संधिवार्ता असम्भव बन जायेगी।"

पुराने राजनय में राजदूत संधिवार्ता करते समय समय की कमी अनुभव नही करते थे। संधि वार्ता लम्बी चलती थी। इस दौरान दोनो पक्षो की सरकारों का मन्तव्य भी जान लिया जाता था और यदि सधि वार्ता में कोई गतिरोध उत्पन्न हो जाता था तो वार्ता कुछ समय के लिए रोक दी जाती थी। अन्त मे जो समझौते होते थे उनमें जल्दबाजी के अवगुण नहीं होते थे क्योंकि पर्याप्त सोच-विचार कर ही सधिकर्ता हस्ताक्षर करते थे। 1907 में आंग्ल-रूसी समझौता इसी प्रकार का उदाहरण है क्योंकि उसे करने मे 15 महीने का समय लगा था।

नये एवं पुराने राजनय की विशेषताओं की तुलना (Comparision of Salient Features of New and Old Diplomacy)

रिपोर्टर पत्र के सम्पादकीय लेख में पुराने से नया राजनयिक परिवर्तन तो हुआ उसके विषय में लिखा गया था कि "समझाने, बुझाने, समझौता करने एवं शान्तिपूर्ण विचार-विमर्श करने की पुरानी कूटनीति आज पूरी तरह समाप्त हो गई है, चाहे कूटनीतिज्ञ इसके विपरीत ही मत रखते हों। इस कूटनीति के समाप्ति का कारण यह है कि पूर्व और पश्चिम के बीच अन्तर गया है। राजनीतिक मान्यतायें, आर्थिक विकास एवं मानवीय अस्तित्व के रूप में ही पूरी है, यहां तक कि उनकी तुलना ही नही की जा सकती है। अब तो यह दो गुटों में

ही चल सकती है।" अध्ययन की दृष्टि से नये और पुराने राजनय की विशेषताओं तथा दोनो में भिन्नतायें निम्नलिखित है :—

(1) **पुराना राजनय सीमित लक्ष्य वाला था जबकि नये राजनय का लक्ष्य व्यापक है**— 1500 ई० से 1914 तक का काल पुराना राजनय का काल माना जाता है। इस काल मे राजनय का मुख्य उद्देश्य अपने मित्र बढ़ाना तथा दूसरे के मित्रो को कम करना था। नये राजनय में इतना कार्य तो करना है ही, साथ में इसका मूल उद्देश्य राज्य की प्रादेशिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अखण्डता की रक्षा भी करना है। आधुनिक राजनय मे यह मान्यता प्रचलित है कि राज्य की सुरक्षा के लिए केवल सैन्य बल ही आवश्यक नहीं, बल्कि अन्य राज्यों के आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश का न होना भी आवश्यक है। पड़ौसी राज्यों पर भी शत्रु देश का राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक प्रभाव से भी राज्य को खतरा पैदा हो सकता है।

नया राजनय सदैव सतर्क रहकर, दूसरे राज्यों की ऐसी नीतियों को असफल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है, जो राष्ट्रहित को हानि पहुंचाने वाली हो। राजनय के आर्थिक लक्ष्य से यह बातें आ जाती है, जैसे मण्डियों की खोज, शत्रु अथवा विरोधी राज्य का उस क्षेत्र मे पैर जमाना जहाँ अपने देश के हितों को हानि पहुँचती हो, उन हितों की रक्षा करना, आर्थिक जानकारी प्राप्त करना तथा ऐसी अन्य सभी वैध कार्यवाहियाँ, जिनसे अपने देश के हितो को प्रोत्साहन मिले।

(2) **पुराना राजनय शिष्ट है जबकि नया अशिष्ट है**—पुराना राजनय शिष्टाचार का बहुत ध्यान रखता था। पत्र-व्यवहार मे बड़ी ही शिष्ट एवं परिष्कृत भाषा का प्रयोग होता था। प्रत्येक देश अपने उद्देश्यों को इस ढंग से प्रस्तुत करता था जो देखने में भद्दे नही मालूम होते थे पर उनका आशय समझ लिया जाता था। कड़ी से कड़ी कार्यवाही की धमकी भी बड़ी सरल और मृदु शब्दों मे कही जाती थी। के० एम० पाणिक्कर ने लिखा है कि "पुराना राजनय एक मैत्रीपूर्ण, उदार तथा शिष्ट कला थी, जिसकी साधना बड़ी दक्षता के साथ की जाती थी और उसमें पारस्परिक सहिष्णुता बरती जाती थी।"[1]

हैरोल्ड निकलसन ने पुराने राजनय के कुछ वाक्यांश दिये है, जिनसे पता चलता है कि कठोर से कठोर रवैये को भी किस प्रकार शिष्ट भाषा में व्यक्त किया जाता था। जैसे "सम्राट की सरकार इस विषय पर चिन्ता व्यक्त करती है" इसका अर्थ होता था कि "सरकार कड़ी कार्यवाही का इरादा रखती है।" दूसरा वाक्य है कि "सरकार अपनी स्थिति पर पुनर्विचार करने को बाध्य होगी।" इसका आशय यह होता था कि "शीघ्र ही मित्रता शत्रुता में बदल जायगी।" जब कोई राजदूत अपना संकोच प्रकट करता तो उसका अर्थ यह होता कि उसकी सरकार सहमत नहीं है। यह भाषा थी जो पुराने राजनय को शिष्ट बनाये हुये थी।

अब आधुनिक या नये राजनय का नमूना देखिये। आजकल अपने विरोधियों से हम अपना प्रतिरोध चिल्ला-चिल्ला कर व्यक्त करते हैं। किसी बात पर यदि अड़ गये तो अड़े ही रहते हैं, इसके अतिरिक्त शब्द व्यापार में भी सामान्यता अशिष्ट भाषा का प्रयोग करने में नही हिचकते है। स० रा० संघ के मंच पर राजनयिज्ञों में गाली-गलौज होना मामूली बात है, कभी-कभी तो हाथापायी की नौबत आ जाती है।

यह देखने में बड़ा अरुचिकर लगता है पर इसका कारण यह नही कि राजनयिज्ञ असभ्य, अशिष्ट एवं अकुशल हो गये हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि पुराने राजनय की परिपाटी छिन्न-

---

[1] Old diplomacy was a friendly, humane and polite art, carried on with much fineness and a great deal of mutual toleration." —*K. M. Panikkar.*

भिन्न हो गई है। आज जनता का रवैया भी कुछ भिन्न हो गया है। वह विदेशी मामलों में भाग लेती है। वह शिष्ट भाषा के प्रयोग का अर्थ दब्बूपन समझती है तथा राजनयिज्ञ को ऐसा करने पर विश्वासघाती समझती है। आज दुनिया दो शिविरो मे बटी है और एक दूसरे को खरी-खोटी सुनाने में ही अपना बड़प्पन मानती है। पुरानी परम्पराओ के प्रति अच्छे भाव नही, पुरानी सीमाओं का उल्लंघन ही आज प्रगतिवाद का संकेत देता है पर राजनयिज्ञ इस बात को समझते हैं कि यह व्यवहार उचित नही है। दोनो शिविरो का रहना अवश्यम्भावी है अतः दोनों में सहयोग होना भी आवश्यक है।

(3) **पुराने राजनय का कार्य-क्षेत्र सीमित था, नये राजनय का कार्य-क्षेत्र विस्तृत है**—पुराना राजनय का केन्द्र-बिन्दु यूरोप था। अर्थात् उसका कार्य-क्षेत्र यूरोप, जापान या सं० रा० अमेरिका तक ही था। एशिया, अफ्रीका आदि तो साम्राज्यवाद के बढाने के क्षेत्र थे। इसके अतिरिक्त कुछ बड़े देशों की नकल ही छोटे देश करते थे क्योकि उनको बड़े देशो के सामने महत्व प्राप्त न था। आज राजनय का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। ऐशिया तथा अफ्रीका के अनेकों देश स्वतन्त्र होकर विश्व राजनीति मे भाग ले रहे है और छोटे बड़े राज्यों से सम्पर्क बढ़ा रहे हैं। आज छोटे से छोटे राज्य बडे से बड़े राज्य के समकक्ष अपने को समझता है। आज छोटे राज्यों का भी महत्व कम नही जैसा कि निकलसन लिखते है, "महत्वपूर्ण निर्णय इस लिए नही लिए जाते कि उनका समर्थन करने वाले राज्य अधिक शक्तिशाली है, बल्कि इसलिए लिये जाते है कि उनके पीछे कमजोरों की आवाज होती है।"[1]

(4) **रूढ़िगत राजनयिक पद्धतियों एवं तरीकों में परिवर्तन**—राजनय की पुरानी पद्धति एवं सिद्धान्त आज के युग मे बेकार से हो गये है। आज गुट बन्दी का राज्य है, प्रत्येक गुट अपने सिद्धान्त और तरीके पृथक रखना चाहता है। के० एम० पाणिक्कर का कहना है कि "पुराना राजनयिक सिद्धान्त आज की स्थिति मे तो प्रभावकारी नही रहे है और राज्यो के बीच व्यवहार के ढंग भी बदल गये हैं। आज के युग में राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में जो दो विरोधी दुनिया के बीच मे है, पुराने तरीके लागू नही हो सकते है।"[2] इसी प्रकार के विचार निकलसन ने भी व्यक्त करते हुए कहा है कि "पुराने सिक्के का प्रचलन अब समाप्त हो गया है, अब नवीन सिक्के का व्यवहार सभी कर रहे है।"[3]

(5) **पुराना राजनय गुप्त होता था, नया राजनय खुला होता है**—पुराने राजनय में यह विशेषता थी कि वह गुप्त हुआ करता था अर्थात विदेशो से सन्धि वार्ता एवं सन्धियाँ जनता को पता नही चल पाती थी। दूसरे देशो को भी दो देशों की गुप्त सन्धियों का पता नही चल पाता था। हो सकता था कि वे गुप्त सन्धियाँ किसी तीसरे देश के विरुद्ध हों। जब युद्ध होता था तब इन सन्धियो का परिणाम जनता को भोगना पड़ता था। 1917 में साम्यवादी क्रान्ति रूस में हो गयी और साम्यवादियों ने रूसी राज्यभिलेखागारों के गुप्त अभिलेख प्रकाशित कर दिये, इससे पुराने राज्य की जड़ें ही कट गयीं। अब गुप्त राजनय के स्थान पर खुला राजनय प्रकट हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ही अमेरिकन राष्ट्रपति वुड्रो विलसन (Woodrow Wilson. के 14 सूत्र

---

1. "Important decisions are taken not owing to the strength of those who support their decisions but according to the voices of the weak." —*Nicolson.*
2. "The old principles of diplomacy have no bearing on this situation. and the methods perfected in dealings between states within one social economic and political circle are no longer applicable between these two different worlds." —*K. M. Panikkar.*
3. "The old currency has been withdrawn from circulation. We are dealing in a new coinage." —*Nicolson.*

प्रकाशित हुए। उनमें पहला सूत्र था—"खुले ढंग से खुले करार" (Open covenants openly arrivedat)। इसका स्वागत सभी राष्ट्रों ने किया। सन्धि वार्ता अब खुले रूप में होने लगी। उसका प्रकाशन समाचार पत्रों में भी होने लगा है। राष्ट्र संघ व संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी सन्धियों के प्रकाशन की व्यवस्था की है।

(6) **पुराना राजनय सरकारों तक सीमित था, नया राजनय जनता तक व्यापक होता है**—पुराना राजनय जनता से कोई सम्पर्क न रखता था। राज्यों की सरकारों ही तक वह सीमित था। जनता स्वयं सन्धि वार्ता एवं सन्धियो मे कोई दिलचस्पी नहीं लेती थी। पर जमाना बदला और अब जनता देश विदेश की राजनीति में दिलचस्पी लेने लगी है। सरकार भी जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए समाचार पत्रों में एवं रेडियो पर अपने देश एवं गैर देशों की जनता को अपने पक्ष में करने के लिए प्रचार का सहारा लेती है। राज्य पारस्परिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए सांस्कृतिक शिष्ट मण्डल विदेशों में भेजते हैं। ये शिष्ट मण्डल विदेशों की जनता में अपने देश से गुण-गान गाता है और विदेशी जनता पर प्रभाव डालता है। प्रेस और सूचना विभाग भी प्रत्येक दूतावास से जुड़ा रहता है। कुछ दूतावासों में सांस्कृतिक सहचारी की विभिन्न उपाधियों से सुशोभित अनेक पदाधिकारी भी होते हैं।

(7) **पुराने राजनय में राजदूत व्यक्तिगत उत्तरदायित्व रखते थे नये राजनय में उत्तरदायित्व कम हो गया है**—पुराने युग में यातायात एवं संचार साधनों का अभाव था। उस समय राजदूत यदि वार्ता के बीच अपनी सरकार से कुछ परामर्श लेना चाहते तो ऐसा नहीं कर सकते थे। उन्हें अपने विवेक से कार्य लेना होता था। अत: पुराने राजदूत बड़े विश्वासपात्र तथा बड़ी सूझ-बूझ के व्यक्ति ही नियुक्त होते थे। सन्धि करने मे उनका विशेष उत्तरदायित्व रहता था। परन्तु *आज के युग में यातायात एवं संवादवाहन के बड़े द्रुतगामी साधन हैं जिनके द्वारा* राजदूत को आवश्यकता पर तुरन्त परामर्श मिल सकता है अत: आज के राजनयिज्ञ अधिक सूझ-बूझ के व्यक्ति हों या विशेषज्ञ हों आवश्यक नही। राजदूत अपनी सरकार के निर्देशन एवं पथप्रदर्शन पर ही अपना कार्य करते हैं। उन्हें अपने उत्तरदायित्व पर कम ही कार्य करना पड़ता है।

आधुनिक राजनय की विशेषताएं (Characteristics of New Diplomacy)

पाणिक्कर ने नये राजनय की निम्नलिखित 5 विशेषताएँ बतायी हैं—

(i) आज के राजनीयज्ञ विदेशी सरकार से अपील करने के बजाय उसकी जनता से अपील करते है।

(ii) आधुनिक कूटनीतिज्ञ दूसरे देश की सरकार को बदनाम करने में नही चूकते हैं। आज अपशब्द कहना, निन्दा करना तथा आरोप लगाना बुरा नही समझते है।

(iii) साम्यवादी देशों में विदेशी राजदूतों पर यह प्रतिबन्ध रहता है कि वे देशी जनता से सामाजिक सम्बन्ध न रखे। वे केवल सरकारी उत्सवों में ही भाग ले सकते है। प्रजातन्त्रीय देशों में भी साम्यवादी राजनयिज्ञों की बड़ी देखभाल रखी जाती है, क्योंकि साम्यवादी दूतावास षड्यन्त्र के अड्डे समझे जाते हैं।

(iv) अब सन्धि वार्ता परोक्ष रूप से न होकर प्रत्यक्ष रूप से होती है तथा वह गुप्त न होकर खुली होती है। राजनयिज्ञों की भाषा भी आक्रमणकारी होती है। झूठे आरोप लगाना उनका बायें हाथ का खेल होता है।

(v) अपने विपक्षी को हराने के लिए सैनिक प्रदर्शनों पर, परीक्षणों पर, भारी मात्रा में, शस्त्रों के खरीदने पर, भारी धनराशि व्यय की जाती है।

आधुनिक राजनय को प्रभावित करने वाले तत्व वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र, प्रचार के साधन, यातायात और संचार के साधन गुटबन्दी और जनमत आदि उल्लेखनीय है। साम्यवाद भी

विचारधारा ने पुनः राजनय में इटली के राजनय की नकल प्रारम्भ कर दी है। उसके राजनयिक आचार दूषित एवं अविश्वसनीय हैं।

सम्मेलनीय राजनय
(Diplomacy by Conferance)

सम्मेलनीय राजनय का अर्थ (Meaning of Diplomacy by Conference)—सम्मेलनीय राजनय का अर्थ निकलसन ने बताते हुए कहा है कि 1914 के बाद यह अनुभव किया जाने लगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक कार्य-पद्धति गोलमेज सभाओं द्वारा सम्पन्न की जाय।"[1] पर इसे नये राजनय में सम्मिलित करना एक भूल होगी क्योंकि राजनय का इतिहास बहुत पुराना है। यूनान काल में भी राजनयिक सम्मेलनों का रिवाज था। यदि हम इतनी दूर न जायें तो 19वी शताब्दी के प्रारम्भ में 1815 में वियना कांग्रेस का तो उल्लेख कर सकते हैं। वियना और पेरिस में, यूरोप की व्यवस्था जो नेपोलियन युद्धों से छिन्न-भिन्न हो गयी थी, उसे पुनः व्यवस्थित करने के लिए यूरोपीय राज्यों के राजनयिज्ञ एकत्र हुए थे। ये दोनों सम्मेलन राजनयिक सम्मेलन ही थे। वियना में ही यूरोप कन्सर्ट बना, जिसके अधिवेशन समय-समय पर होते रहते थे जिनमें यूरोपीय राज्यों के झगड़े शान्ति पूर्ण ढंग से निपटते थे।

"जब सन्धि वार्ता व्यक्तिगत रूप से न की जाकर, सामूहिक रूप से की जाती है, तो उसे सम्मेलनीय राजनय कहते हैं।" यूरोप की कन्सर्ट तो असफल हो गयी पर 19वी शताब्दी में सम्मेलनीय राजनय द्वारा समस्याओं का समाधान समय-समय पर होता ही रहा। 1856 में पेरिस सम्मेलन, 1878 में बर्लिन कांग्रेस, 1899 एवं 1907 में हेग सम्मेलन भी सम्मेलनीय राजनय के उदाहरण हैं।" लार्ड हैंके ने अपनी पुस्तक "सम्मेलनीय राजनय" (Diplomacy by Confercnc) में लिखा है कि "सम्प्रभु तथा सरकारों के मुखिया आमतौर से जब उत्सव में सम्मिलित होने के लिए जाते हैं तब उनके साथ विदेश मन्त्री भी जाते थे। इस सुअवसर पर महत्त्वपूर्ण राजनयिक वार्ता होती थी।" इस प्रकार 20वीं शताब्दी से पूर्व भी राजदूतों के सम्मेलन होते रहते थे।

बीसवीं शताब्दी में सम्मेलनीय राजनय का महत्त्व (Importance of Diplomacy by Conference in 20th Century)—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात सम्मेलनीय रा...
प्रयोग अधिक तेजी से होने लगा। राजनय में यद्यपि अनेक परिवर्तन 20वी...
"सम्मेलनीय राजनय" का पुनः प्रचलन एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण परि...
हैन्के ने इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है कि "यह 19...
शक्तियों के मन्त्रियों के बीच प्रत्यक्ष वार्ता की प...
बीच ही नहीं, बल्कि छोटे राष्ट्रों के बीच...
राजनय का रिवाज और बढ़ा।...
स्थापित हो गया था...
अधिकांश...

... उसके व्यक्तित्व पर

... would certainly crumble were it not united
... sentiment and by the fact, whereas the ...
... the several members seldom come into acute cor...
security and self presentation hold them together." N

रोकना असम्भव सा ही है । अतः यह आवश्यक माना गया कि "राज्यों के मुखिया अर्थात प्रधान मन्त्री एवं विशेषज्ञ एकत्र होकर गोलमेज सम्मेलनों द्वारा युद्ध कौशल (strategy) तथा नीति सम्बन्धी आवश्यक समस्याओं पर विचार करते रहे और यदि युद्ध सिर पर आ भी जाय तो सामूहिक ढंग से उसका संचालन कर सके ।" इसके अतिरिक्त तकनीकी अनेक समस्याएँ (Technical Problems) ऐसी भी थीं जिनका समाधान सामूहिक विचार-विमर्श से हो सकता था ।

अनेक छोटे-बड़े सम्मेलनों का प्रारम्भ (Beginning of Big and Small Conferences)—इन्हीं आवश्यकताओं के कारण मित्र राष्ट्रों में कई समितियों या स्थायी सम्मेलनों का निर्माण हुआ । इनमे से कुछ बड़ी थी तथा कुछ छोटी थी । बड़ी सम्मेलन जैसे "मौद्रिक क्रय और वित्त विषयक राष्ट्रीय परिषद आदि, तथा कुछ छोटी थी जैसे विशेषज्ञों की समितियाँ, जो पैट्रोल, कपास, कोयला तथा पोत की लकड़ी आदि की पूर्ति करती थी ।" सर आर्थर साल्टर ने अपनी पुस्तक "अलाइड शिपिंग कन्ट्रोल" (Allied Shipping Control) में लिखा है कि "कुछ ही समय बाद ये अन्तर्राष्ट्रीय समितियाँ केवल युद्धकालीन सहयोग के यन्त्र मात्र ही नहीं रही, बल्कि राजनय के क्षेत्र में प्रत्येक विषय में इनका महत्त्व अनुभव किया जाने लगा । अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत परिवर्तन था ।"

इन समितियों ने राष्ट्र स्वार्थ के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को अधिक महत्त्व दिया है । जब कुछ राष्ट्रों को एक ही खतरे का सामना करना होता है, तो ऐसे समय में विशिष्ट प्रश्नों पर वार्ता करने के लिए प्रत्येक देश के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कुशल व्यक्ति सम्मेलन में भाग लेते हैं, तब उनमें आपसी विश्वास एवं सहयोग की भावना अधिक रहती है, जो कि राजनीतिज्ञों के व्यक्तिगत तथा अलग-अलग प्रयासों द्वारा सम्भव नहीं ।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का एक अच्छा उदाहरण प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्र संघ (The League of Nations) की स्थापना था । निकलसन का कहना है कि "यह आशा की जाती है कि यदि विश्व अपनी शान्ति को पुनः प्राप्त करना चाहेगा तो वह इस प्रकार के संगठनों द्वारा प्राप्त होगी और यह बात भी अनुभव की जायगी कि संघर्ष के स्थान पर सहयोग अधिक अच्छी वस्तु है ।"

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होते ही राष्ट्रसंघ तो छिन्न-भिन्न हो गया पर युद्ध के दौरान तथा युद्ध के बाद सम्मेलनों की बाढ़ सी आ गयी । उदाहरण के लिए डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन, सानफ्रांसिस्को सम्मेलन आदि । इन सम्मेलनों ने पुनः राष्ट्रसंघ के समान ही दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था, संयुक्त राष्ट्रसंघ को जन्म दिया । इसके बाद कोलम्बो सम्मेलन, लन्दन सम्मेलन एवं जेनेवा सम्मेलन आदि अनेक सम्मेलन हुये । सं० रा० संघ के समान ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्था, राष्ट्र मण्डलीय सम्मेलन राजनय का अच्छा उदाहरण है । राष्ट्र मण्डल के सदस्य पहले ब्रिटिश साम्राज्य के अंग थे पर धीरे-धीरे उनमें अनेक प्रदेश स्वतन्त्र हो गये । इन स्वतन्त्र प्रदेशों ने इंगलैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया और उन्होने राष्ट्र मण्डल का निर्माण कर लिया । यह एक ढीला-ढाला संघ है, इसका कोई संविधान नहीं, इसकी सदस्यता ऐच्छिक तथा समानता के आधार पर है तथा राष्ट्र-हाकरल को सम्प्रभुता प्राप्त नहीं । इतना होने पर भी राष्ट्रमण्डल पारस्परिक सहयोग एवं मित्रता का

हाथ का खेल होता है ।

(v) अपने विपक्षी को हरान ... ढीला संघ निश्चित ही कब का टूट गया होता
खरीदने पर, भारी धनराशि व्यय की जाती है । ... और आकांक्षायें भिन्न-भिन्न
आधुनिक राजनय को प्रभावित करने वाले तत्व वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र,
और संचार के साधन गुटबन्दी और जनमत आदि उल्लेखनीय हैं । साम्यवाद का

सदस्यों की विरले ही संघर्ष में आती है उनकी सुरक्षा तथा बचाव की सामान्य आवश्यकता उन्हें एक दूसरे से बाँधे रहती है।"[1]

सम्मेलनीय राजनय के गुण (Merits of Diplomacy by Conference)—सम्मेलनीय राजनय के गुण (Merits) निम्नलिखित है—

(1) जब भी ये सम्मेलन आयोजित किये जाते है, इनमे भाग लेने के लिए प्रधान मन्त्री या मन्त्री निमन्त्रित किये जाते हैं अतः वे सन्धि वार्ता करने के तथा सन्धियों को क्रियान्वित करने मे समर्थ होते हैं।

(2) जिम्मेदार व्यक्तियों के होने पर सम्मेलन मे सन्धि वार्ता शीघ्र ही किसी निर्णय पर पहुँच जाती है।

(3) इन सम्मेलनों के कारण राज्यों के प्रधान मन्त्रियों के बार-बार मिलन होते है अतएव उनमें मैत्री भाव एवं परस्पर विश्वास की भावना बढ़ती है। अनेको बार प्रधानमन्त्रियों के मिलने से वे एक दूसरे को अच्छी प्रकार जान जाते है और उनमे एक दूसरे के प्रति विश्वास पैदा हो जाता है।

(4) सम्मेलनीय राजनय मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना का विकास होता है।

(5) सम्मेलनीय राजनय युद्ध के आधारभूत कारणों का अन्त करता है। लार्ड हैन्के ने लिखा है कि "विश्व के जनमत की यह माग, कि युद्ध की आपत्ति कभी न दोहराई जाय, इसका कोई उपाय नही है, सबसे अधिक आशा इसी मे है कि सम्मेलनीयराजनय का न्यायिक ढंग से विकास किया जाय।"

सम्मेलनीय राजनय के दोष (Demerits of the Diplomacy by Conference)—जहाँ सम्मेलनीय राजनय मे अनेक गुण है, वहाँ उसमें कुछ अवगुण भी पाये जाते है, जो निम्नलिखित है—

(1) सम्मेलनीय राजनय मे विभिन्न राष्ट्रो के प्रतिनिधियों के मिलने से जहाँ मित्रता एव विश्वास मे वृद्धि होती है, वहाँ कभी-कभी अविश्वास और वैमनस्यता तथा ईर्ष्या की भावना भी पैदा हो सकती है।

(2) यह भी खतरा रहता है कि विभिन्न राष्ट्रों के प्रधान मन्त्रियों या विशेषज्ञों मे बार-बार मिलने से उनमे मित्रता एवं सौहार्द इतना अधिक बढ जाय कि वे आवेश में आकर ऐसे निर्णय करले जिनका निर्वाह दुष्कर हो जाये और सन्धि असफल हो जाये।

(3) सम्मेलनीय राजनय में एक दोष यह भी है कि जो सन्धियाँ प्रधानमन्त्रियों द्वारा अपनी जिम्मेदारी पर कर ली जाती हैं, वे इतनी जल्दी मे की जाती है कि जनता की इच्छा क्या है, इसकी जानकारी नही हो पाती है। बाद मे यदि जनमत सन्धि के विपक्ष मे हो गया तो वे सन्धियाँ निरर्थक सिद्ध होती है और सम्मेलनीय राजनय बदनाम हो जाता है। इसके विपरीत जब सन्धिवार्ता व्यक्तिगत राजनयिज्ञों द्वारा होती है तो वह लम्बी होने के कारण जनमत का रुख जान लिया जाता है और उसी के अनुसार निर्णय लिए जाते है। इसमे सन्धि का क्रियान्वन आसान हो जाता है।

(4) सम्मेलनीय राजनय में प्रधानमन्त्री भाग लेते हैं जिनकी महत्वाकांक्षायें बड़ी होती हैं, वे व्यक्तिगतमान-सम्मान का बड़ा ध्यान रखते है, यदि विपक्ष की ओर से कोई बात ऐसी हो जाये कि दूसरे देश का प्रधान मन्त्री भ्रमवश यह समझ बैठे कि विपक्षी ने उसके व्यक्तित्व पर चोट

---

1 'So loose a confederation would certainly crumble were it not united by strong ties of sentiment and by the fact, whereas the interests and ambitions of the several members seldom come into acute conflict, their needs of security and self presentation hold them together." —*Nicolson*

की है तो वार्ता में संकुचित वृत्ति अपनाई जाने लगती है और वातावरण अच्छा होने के स्थान पर कटु हो जाता है एवं वार्ता भंग हो जाती है।

(5) चूँकि सम्मेलनीय राजनय खुला होता है अतः कभी-कभी ऐसी गुप्त बातें जिनका प्रकट होना समय से पूर्व हानिकार होता है, पहले ही प्रकट हो जाती है। इससे सन्धि के क्रियान्वयन में बाधायें खड़ी हो जाती है।

(6) चूँकि सम्मेलन में भाग लेने के लिए मन्त्री या प्रधानमन्त्री आते हैं जिन पर कार्य का अधिक बोझ होता है, वे जल्दी में होते हैं और शीघ्र स्वदेश पहुँचने के चक्कर में रहते हैं, अतः समस्याओं पर खुलकर, लम्बी वार्ता के लिए उन पर समय ही नहीं होता है अतः जल्दी में वे जो निर्णय लेते हैं, वे लाभ के स्थान पर हानि पहुँचाते हैं।

(7) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व राजनीति में दो गुट बन गये। इन दोनों के मध्य शीत युद्ध जारी है। दोनों ही गुट एक दूसरे को नीचा दिखाना चाहते हैं। इन दोनों गुटों के प्रतिनिधि जब सम्मेलन में पहुँच जाते हैं तो एक दूसरे के प्रस्ताव या सुझाव की काट प्रस्तुत कर देते हैं, उनमें भाषा का आदान-प्रदान भी दोषयुक्त होता है और समस्यायें सुलझने के स्थान पर और उलझ जाती हैं।

सम्मेलनीय राजनय की सफलता की शर्तें (Conditions of success of Diplomacy by Conference)—सम्मेलनीय राजनय की सफलता के लिए कुछ शर्तों का होना आवश्यक है जिनके अभाव में सम्मेलन अपने कार्य ठीक ढंग से सम्पादित नहीं कर पाते। इन शर्तों में से प्रमुख शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(1) **पूर्व तैयारी**—किसी भी सम्मेलन की सफलता के लिए उसकी पृष्ठभूमि या आधार पहले से ही तैयार करना आवश्यक है। कोई भी सम्मेलन उस समय तक नहीं बुलाना चाहिए जब तक उसके सिद्धान्त, योजनायें तथा वार्ता के विषय न निश्चित कर लिए जायें तथा उनके विषय में सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों से परामर्श न ले लिया जाय।

(2) **प्रतिनिधियों में मैत्री एवं विश्वास का होना**—दूसरी शर्त सफलता की यह है कि सम्मेलन में भाग लेने वालों में पारस्परिक मित्रता, आदरभाव एवं विश्वास की भावना होनी चाहिये। इसी बात को लार्ड हैन्के ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि "इन एकत्रीकरणों का जो मनोवैज्ञानिक पक्ष है, वह सामाजिक भावना है, उसका आनन्द पूरी तरह तभी उठाया जा सकता है जब उनमें मैत्री भाव हो।"[1]

(3) **प्रतिनिधियों की संख्या कम होना**—सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों की संख्या यदि बहुत होती है तो सम्मेलन में वाद-विवाद लम्बा और असम्बन्धित हो जाता है और असफलता की सम्भावना बनी रहती है। अतः सफलता के लिए प्रतिनिधियों की संख्या सीमित होना नितान्त आवश्यक है।

(4) **कुछ गोपनीयता का होना आवश्यक है**—यद्यपि आधुनिक समय में खुले राजनय का प्रचलन है, फिर भी कुछ न कुछ गोपनीयता का होना आवश्यक है। किसी भी बात का पूर्ण होने से पूर्व प्रकाशन होना उसकी सफलता को संदिग्ध बना देता है। लार्ड हैन्के का मत है कि "जो व्यक्ति संधिवार्ता सचालित करते हैं, उनमें इतनी गोपनीयता होना आवश्यक है, जितनी मन्त्रि-मण्डल में रहती है, बोर्ड आफ डायरेक्टरों में होती है या ट्रेड यूनियन की कार्यकारिणी में होती है।"

(5) **सम्मेलन में सचिव प्रथा का होना**—सम्मेलनीय राजनय के संचालन में सफलता की

[1] "The social side, which is so important in the psychology of these gatherings, could only enjoy full play on a better sense of friendship." —*Lord Henkey.*

एक शर्त यह भी है कि प्रत्येक सम्मेलन में सचिव का होना आवश्यक है, पर इस पर सभी प्रतिनिधि सहमत होने चाहिए।

(6) **प्रतिनिधियों द्वारा मातृ भाषा का प्रयोग**—सम्मेलनीय राजनय की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधि अपने देश की भाषा का प्रयोग करें, क्योंकि ऐसे बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो विदेशी भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व रखते हों। पर इसके लिए योग्य दुभाषियों (Interpreters) का होना भी आवश्यक है।

लार्ड हैन्के सम्मेलनीय राजनय की सफलताओं को संक्षिप्त रूप में रखते हुए लिखते हैं कि "मेरा निजी अनुभव यह है कि सबसे महत्वपूर्ण तत्व है प्रक्रिया का लचीलापन, कम संख्या, अनौपचारिकता, पारस्परिक जानकारी और यदि सम्भव हो व्यक्तिगत मित्रता प्रमुख व्यक्तियों में तथा उचित मात्रा में गोपनीयता परिणामों के प्रकाशन में विश्वसनीय सचिवों एवं दुभाषियों की उपस्थिति। जितना विषय गम्भीर होगा उतना इन शर्तों का रहना आवश्यक है।"

निष्कर्ष—प्रथम विश्व युद्ध के बाद 1920 तक सम्मेलनीय राजनय को इतनी ख्याति मिल चुकी थी कि लार्ड हैन्के ने "अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की शाही संस्था" (Royal Institute of International Affairs) में 2 नम्बवर 1920 में भाषण देते हुए कहा था कि "अब कठिनता से सन्देह किया जा सकता है कि सम्मेलनीय राजनय स्थायित्व प्राप्त कर चुका है।"[1]

ज्यों-ज्यों प्रथम विश्वयुद्ध को हुए समय बीतता रहा, त्यों-त्यों सम्मेलनीय राजनय के प्रति उपेक्षा बरती जाने लगी पर जब इटली में मुसोलिनी तथा जर्मनी में हिटलर की शक्ति में विकास हुआ तो सम्मेलनीय राजनय का महत्व पुनः अनुभव किया जाने लगा। 1940 के उपरान्त तो सम्मेलनीय राजनय की पद्धति में विश्वास बढ़ने लगा।

अब द्वितीय विश्व युद्ध को बीते हुए काफी समय बीत चुका है अतः सम्मेलनीय राजनय के प्रति पुनः उदासीनता बरती जाने लगी है। सामान्य शत्रु के अभाव में अथवा महायुद्ध के खतरे के अभाव में सम्मेलनीय राजनय का महत्व घट रहा है। राष्ट्र संघ की असफलता के कारणों में से एक कारण यह भी कि प्रथम विश्व युद्ध को हुए 12 वर्ष बीत चुके और निकट भविष्य में किसी महा-युद्ध का खतरा न रहा था अतः 1930 के बाद राष्ट्रसंघ का अस्तित्व महत्वहीन हो गया था। आज सं० रा० संघ की दशा भी ऐसी ही होती जाती है। गुट बन्दी ने विशेषकर सम्मेलनीय राजनय के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर दिया है। अब पुनः व्यक्तिगत सम्पर्क, आपसी चर्चा वाली पुरानी प्रणाली की ओर राज्यों का झुकाव होता दीखता है। वास्तव में लार्ड हैन्के का यह कहना कि सम्मेलनीय राजनय स्थायी हो चला है, सत्यता का कम अंश रखता है। प्रत्येक प्रकार के राजनय समय और परिस्थितियों के अनुसार कम या अधिक महत्व रखने लगते हैं।

प्रजातन्त्रीय राजनय
(Democratic Diplomacy)

प्रजातन्त्र का काल सं० रा० अमेरिका की स्थापना से प्रारम्भ होता है। यद्यपि इंगलैण्ड में प्रजातन्त्र की स्थापना सं० रा० अमेरिका के जन्म से 100 वर्ष पहले ही हो चुकी थी पर अन्य देशों में उसका प्रचलन न हुआ था। अमेरिका और फ्रांस की क्रान्ति ने लोकतन्त्रीय भावना को यूरोप के विभिन्न राज्यों तक पहुँचाया। ऐसा होने पर भी 20वीं शताब्दी के पूर्व लोकप्रिय न हो सका। राजनय में प्रजातन्त्रीय भावना तो प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक न आ सकी। पामर और पार्किन्स का तो यह विश्वास है कि राजनयिक कार्यों में आज भी उन्हीं लोगों का प्रभाव है जिनके

[1] "It can hardly be doubted that diplomacy by conference has come to
—Lor

हाथ मे शक्ति, प्रभाव तथा धन है। आम जनता का प्रभाव अभी तक राजनय में नहीं आ पाया है फिर भी यह माना जाता है कि 20वी शताब्दी प्रजातन्त्रीय राजनय का युग है।

प्रजातन्त्रीय राजनय का अर्थ (Meaning of Democratic Diplomacy)

राजनयिक सेवा सिविल सेवा का एक अंग है। यह माना जाता है कि राजनय में राजनीति नहीं आनी चाहिये। सिविल सेवक का यह कर्त्तव्य माना जाता है कि सरकार किसी भी राजनीतिक दल की हो, वह उसकी आज्ञा का पालन करेगा। सरकार बदलती रहती है एवं नीतियाँ भी परिवर्तित होती रहती है पर राजनीतिज्ञ वर्तमान सरकार के प्रति वफादार रहता है।

आज का युग प्रजातन्त्रीय युग है अतः प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है। सरकार अपने कार्यो के लिये चाहे वह देश में हो या विदेश में अप्रत्यक्ष रूप में जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। राजनयिक प्रतिनिधि विदेश मन्त्री के प्रति या सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है। इस प्रकार वह अप्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति ही उत्तरदायी माना जाता है।

प्रजातन्त्रीय राजनय का विकास (Development of Democratic Diplomacy)– यद्यपि प्रजातन्त्र का प्रारम्भ इङ्गलैण्ड में 17वी शताब्दी मे हो चुका था पर वह इङ्गलैण्ड तक ही सीमित था और वह भी अपने प्रारम्भिक रूप मे था। प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों को पालन करने की घोषणाएँ स० रा० अमेरिका एवं फ्रांस की क्रान्तियों में हुई। फ्रांस मे लगातार राजनीतिक परिवर्तन होते रहे अतः वहाँ प्रजातन्त्र का रूप पूर्णतया निखर न सका। प्रजातन्त्र की जननी इङ्गलैण्ड को ही माना जाता है। इङ्गलैण्ड के बाद स० रा० अमेरिका का नम्बर आता है। शेष राज्य तो 19वी शताब्दी के अन्त तक निरंकुश राजतन्त्रों के अन्तर्गत रहे। इस प्रकार राजनय में भी प्रजातन्त्रीय पद्धति का समावेश 19वीं शताब्दी तक न हो सका। राजदूत आमतौर से अपने सम्प्रभु राजा के निजी प्रतिनिधि होते थे अतः वे राजाओं की इच्छा या आकांक्षाओं का ही प्रतिनिधित्व करते थे। वे गुप्त सन्धियाँ करते थे जिनका पता राजा या कुछ राजा के कृपापात्रों को ही हो पाता था। जनता तो इन सन्धियो से बेखबर रहती थी।

1914 से पूर्व अनेक गुप्त सन्धियाँ हुई। इतना ही नही प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भी अनेक क्षेत्रो के बँटवारे को लेकर मित्र राष्ट्रो ने आपस मे गुप्त समझौते किये।

प्रथम विश्व युद्ध गुप्त सन्धियों का परिणाम था। 1971 में रूस मे क्रान्ति हो गई और साम्यवादी नेताओ ने जार के काल मे हुई गुप्त सन्धियों को प्रकाशित कर दिया इससे जनता को पता चला कि राजाओ द्वारा कैसी-कैसी सन्धियाँ की गई थीं। जनता में यह भावना फैली कि युद्ध को बन्द करने के लिये गुप्त सन्धियो का प्रचलन बन्द होना चाहिये। अतः जनता की यह मांग जोरों से होने लगी कि गुप्त सन्धियाँ एकदम समाप्त होनी चाहिये और उनके स्थान पर खुली संधि वार्ता एवं खुली संधि होनी चाहिये। अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने अपने 14 सूत्र प्रकाशित किये जिनमें एक सूत्र यह भी था कि संधि वार्ता के लिये खुले सम्मेलन हों और खुले रूप में संधि की जाये जिससे जनता को पूर्व से पता रहे कि उनके शासक उनके भाग्य का क्या फैसला कर रहे है। विलसन के उक्त सूत्र का प्रत्येक देश ने स्वागत किया।

यद्यपि विलसन का सूत्र लोकप्रिय बना पर उसे क्रियान्वित करना आसान न था। वास्तव मे नीति और संधि वार्ता में भेद जनता क्या स्वयं विलसन महोदय न कर सके। यद्यपि वर्साय की संधि खुली थी पर एक वर्ष बाद ही पता चला कि वर्साय की संधि को क्रियान्वित करना कितना कठिन है। वास्तव मे वर्साय की संधि भी गुप्त ही सिद्ध हुई। जर्मन प्रतिनिधियों को संधि वार्ता मे सम्मिलित नहीं किया तथा दूसरे छोटे-छोटे राज्यों को भी वर्साय संधि की पूर्ण जानकारी न थी। क्योंकि सन्धि सम्बन्धी आवश्यक सिद्धान्तो की पूर्ण विज्ञप्ति भी नहीं की गई। जापान और इटली ... तटस्थ रहे अतः उसके निर्माण में तीन राजनयिज्ञों का हाथ रहा। विलसन, लाइड जार्ज एवं

क्लीमेन्श। संधिवार्ता विलसन के भीतरी कक्ष में चलती थी और उस समय उसके निकटतम सहयोगी भी प्रवेश न पा पाते थे। अतः विलसन को यह बात माननी पड़ी कि 'खुली संधियों" (Open Treaties) तथा "खुले रूप में प्राप्त" (Openly arrived) की हुई सन्धियों में काफी अन्तर है और खुले रूप में सधियों की प्राप्ति असम्भव है।"

1919 मे वर्साय की सन्धि के अनुसार राष्ट्रसघ की स्थापना हुई और गुप्त संधियों को समाप्त करने तथा विदेश नीति पर जनता का नियन्त्रण स्थापित करने के विचार से निम्नलिखित कदम उठाये गये :—

(1) राष्ट्रसंघ के प्रसविदा की धारा 18 के अनुसार सभी राष्ट्र-सदस्यों को यह बात स्वीकार करनी पड़ी कि "राष्ट्र सघ के सदस्यों द्वारा भविष्य मे की गई कोई भी संधि शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्र संघ के सचिवालय मे पंजीकृत करवाई जायगी तथा यह चेष्टा की जायगी कि वह शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित हो सके। इस प्रक्रिया के सम्पादित किये बिना कोई भी संधि या अन्तर्राष्ट्रीय समझौता मान्यता न पा सकेगा।" बाद मे यही व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र संघ के चरित्र मे भी की गई।

(2) गुप्त सधियों को समाप्त करने का दूसरा उपाय यह किया गया कि राजदूतों अथवा राजनयिज्ञों द्वारा सम्पन्न सधियों के मसविदे को सम्प्रभु राज्यो की सरकारो को उनके अनुसमर्थन (Ratification) के लिये भेजा जाय। अनुसमर्थन हो जाने पर ही कोई संधि मान्य हो सकेगी। पुष्टिकरण करने का अधिकार प्राय. ससदों को प्राप्त हो गया इससे संधि को गुप्त रखना कठिन हो गया।

प्रजातान्त्रिक राजनय के गुण (Merits of Democratic Diplomacy)

प्रजातान्त्रिक राजनय मे निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं :—

(1) **संधियों का खुला रूप** (Open From of Treaties)—प्रजातन्त्रीय राजनय मे गुप्त सन्धियों को अच्छा नही माना जाता है। जनता को प्रत्येक सधि एवं सधि वार्ता का ज्ञान होना आवश्यक माना जाता है। अत. वार्ता भी लगातार रेडियो और समाचार पत्रों में प्रकाशित होती रहती है। दो देशों के मध्य चल रही वार्ता केवल सम्बन्धित देशों की जनता को ही अवगत नही होती, अन्य देशों की जनता एव सरकार को भी उसका पता चलता रहता है।

(2) **जनता को सरकार की विदेश नीति का ज्ञान रहता है** (Public knows the Foreign Policy of their Government)—प्रजातन्त्रीय शासन पद्धति मे सम्प्रभुता जनता को प्राप्त होती है। यद्यपि शासन का अधिकार बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल को प्राप्त होता है, फिर भी जनता अपने प्रतिनिधियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। सरकार जन विरोधी नीति नही अपना सकती है। वह विदेश नीति भी ऐसी नही बना सकती है जिसके विरुद्ध जनता है। विदेश नीति का निर्धारण संविधान द्वारा होता है और यदि सरकार कोई परिवर्तन करना चाहे तो संसद की स्वीकृति से ही ऐसा परिवर्तन हो सकता है। विदेशों से युद्ध अथवा सधियाँ भी संसद की स्वीकृति से होती है। संसद के अन्दर जनता के प्रतिनिधि होने वाली संधि के गुण दोषों का विवेचन कर सकते हैं। समाचार पत्रों द्वारा सामान्य जनता भी संसद की कार्यवाहियों से परिचित रहती है। वह प्लेटफार्म और प्रेस द्वारा विदेश नीति एवं संधि की आलोचना कर सकती है। इससे राजनीतिज्ञ एवं राजनयिज्ञ जनता की नब्ज का पता लगाते रहते हैं और जनता का रुख देखकर ही विदेश नीति, युद्ध अथवा सधि करने का प्रयत्न करते है। जब संधिया जन-इच्छानुसार होती हैं, तो उनके क्रियान्वयन मे सुविधा होती है।

प्रजातन्त्रीय राजनय के दोष (Demerits of Democratic Diplomacy)

(i) **सैद्धान्तिक दोष** (Demerits Regarding Principle)—राजनय पर

का नियन्त्रण रहता है। जनता का निर्णय कभी-कभी अपने देश को ही नही समस्त

हानि पहुँचा सकता है। उदाहरण के लिए विलसन द्वारा किये गये निर्णय का अमेरिका जनता द्वारा विरोध। अमेरिकन सीनेट ने न केवल वर्साय की संधि को अस्वीकृत किया, बल्कि राष्ट्र संघ की सदस्यता से भी अमेरिका को वंचित रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि इंगलैण्ड और फ्रांस की संकुचित नीति ने अनेक देशों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता छोड़ने के लिए विवश किया और द्वितीय विश्व युद्ध की भयंकरता को विश्व को भोगने के लिए बाध्य किया। काश सं० रा० अमेरिका राष्ट्र संघ का सदस्य होता तो सम्भव था कि विश्व द्वितीय महायुद्ध के अभिशाप से बच जाता।

इसी प्रकार खुला राजनय जनता की उत्तरदायित्वहीनता के कारण असफल हो जाता है। जनमत संधियों के सम्पन्न होने में अड़चन पैदा कर देता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बिगाड़ पैदा कर देता है। यहाँ पर कुछ प्रमुख दोषों का जो प्रजातन्त्रीय राजनय के सिद्धान्त में पाये जाते हैं, उनका विवेचन किया जायगा :—

(1) **जनसम्प्रभुता में उत्तरदायित्व का अभाव** (Irresponsibility of the soverign people)—यद्यपि आज प्रत्येक देश प्रजातन्त्र बनने का दावा करता है परन्तु वास्तव में सच्चा प्रजातन्त्र कहीं-कहीं ही पाया जाता है। प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था कायम होने से ही कोई देश प्रजातन्त्र नहीं बन जाता है जब तक जनता का शैक्षणिक स्तर प्रजातन्त्र के अनुकूल न हो। ऐसी व्यवस्था प्रत्येक देश में होना बड़ा कठिन है अतः सामान्य जनता में उस उत्तरदायित्व का अभाव है जोकि सम्प्रभुता प्राप्त जनता में होना आवश्यक है। ऐसी अवस्था में राजनय को जनता के हाथ का खिलौना बना देना उचित नहीं प्रतीत होता है।

जनतन्त्र में जनता अपने उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ रहती है और उसे निभाने में बड़ी उदासीनता बरतती है। निकलसन महोदय ने लिखा है कि "जनप्रभु अपनी सम्प्रभुता का पूरा ज्ञान नहीं रखता है अतः यह इस बात से अनभिज्ञ रहता है कि संधियाँ उन्हीं के कारण स्वीकृत हुई हैं।"[1]

प्रजातन्त्र में समाचार-पत्रों का बड़ा महत्व होता है। जनमत बनाने में समाचार-पत्र बड़े सहायक होते हैं। इन समाचार-पत्रों के सम्पादक जनता का पक्ष लेकर सरकार की वह आलोचना करते हैं कि सरकार तिलमिला जाती है। कुछ समाचार-पत्र तो इसी खोज में रहते हैं कि सरकार की एक-एक त्रुटि खोजी जाये और जनता में उसे अधिक से अधिक बदनाम किया जाये। जनता में अधिकांश लोग समाचार-पत्रों में बड़ी रुचि लेते हैं और सम्पादकीय लेखों से प्रभावित होकर अपना मत बना लेते हैं। यद्यपि सन्धियाँ संसद द्वारा स्वीकृत होती हैं और संसद में बहुमत का निर्णय ही मान्य होता है अर्थात् जनता का बहुमत संसद के पक्ष में होता है। पर कुछ समाचार पत्र ऐसे होते हैं जो बहुमत की चिन्ता किये बिना सरकार पर व्यंग बाण छोड़ते रहते हैं। एक और भी दोष जनमत में यह रहता है कि एकबार कोई दल बहुमत प्राप्त कर लेता है तो उसका नेता अपनी प्रत्येक बात को चाहे वह सही भी हो बहुमत प्राप्त सरकार उसे सुनने को तैयार नहीं होती है चाहे देश को कितनी ही हानि उठानी पड़े, वह अपनी जिद्द पर अड़ी रहती है।

(2) **जनता का विदेशी सम्बन्धों के विषय में अज्ञान** (Ignorance of the People about Foreign Relations)—जनता का अधिकांश भाग विदेशी मामलों के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं रखता है। कुछ जानकारी जो उसे होती है, वह सुनी सुनाई बातों से या समाचार-पत्रों द्वारा होती है जो अपर्याप्त ही होती है। अनेक शिक्षित मतदाता भी भुलक्कड़ स्वभाव के होते हैं। वे भूल जाते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों से उनका देश बंधा है। जनता यह भी भूल जाती है

---

1 "The sovereign people are not conscious of their sovereignt·· therefore unaware that it is they themselves who have cau· to be signed."

कि उसके द्वारा चुने प्रतिनिधियों द्वारा सन्धिवार्ता हो चुकी है, समाचार-पत्रों में उनके विषय में आलोचना-प्रति आलोचना हो चुकी है सन्धि पर राजनयिज्ञों के हस्ताक्षर हो चुके हैं। यह तो तब चेतती है जब सन्धि को क्रियान्वित करने का समय आता है और वह उसमें बाधा डालती है। इस प्रकार साधारण नागरिकों की अज्ञानता अपनी सरकार के लिए एक समस्या बन जाती है।

आम जनता मे यह धारणा बनी होती है कि विदेश नीति का निर्माण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि बजट या शिक्षा विधेयक सिर्फ अपने देश के हितों को ध्यान मे रखकर उत्तरदायी मन्त्री द्वारा निर्मित होते है और संसद को सौप दिये जाते है, संसद द्वारा स्वीकृत होने पर उन्हे सम्बन्धित विभाग को क्रियान्वयन के लिए सौप दिया जाता है। इसी भ्रम के कारण यह माना जाता है कि विदेश नीति भी एक विधेयक द्वारा संसद मे रखी जाती है। ससद उसे स्वीकार कर विदेश विभाग को सौंप देती है तथा राजदूत उसे सही रूप मे क्रियान्वित करते हैं। पर वास्तव में ऐसा नही होता है। विदेश नीति का निर्माण करते समय विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों के हितो का ध्यान रखना पड़ता है। वही विदेश नीति प्रभावकारी मानी जाती है, जो अपने देश के हितो के अतिरिक्त अन्य देशों के हितों को ध्यान में रखते हुए बनायी जाती है।

जनता में यह भी भ्रम फैला है कि जो व्यक्ति विदेशो में भ्रमण के लिए जाते है वे विदेशों के विषय मे अच्छी जानकारी रखते हैं और उनका अभिमत विदेश नीति के निर्माण मे सहायक होता है पर असलियत यह है कि भ्रमण करने वाले व्यक्ति वहाँ की बाहरी शान-शौकत देखकर अपना विचार बना लेते है और उसी के अनुसार उसकी निन्दा या प्रशसा करने लगते हैं। उनका यह ज्ञान सच्चा ज्ञान नही होता है। ऐसा अल्प ज्ञान भयानक वस्तु ही होता है। (A little Rnowledge is a dangerous thing) अत. जनता का विदेश नीति अथवा राजनय के मामलो मे दखल देना खतरे से खाली नही।

(3) **समझौते सम्बन्धी निर्णयों में विलम्ब** (Delay in the Decision regarding Treaties)—प्रजातान्त्रिक राजनय में एक दोष यह होता है कि समझौते के सम्बन्ध में सरकारें जल्दी निर्णय नही दे पाती है। जल्दी निर्णय तो निरंकुश शासक ही दे पाता हैं। सन्धि की स्वीकृति संसद ही करती है पर संसद के सदस्य जनता के अभिमत का ध्यान रखकर ही अपना निर्णय देते है। कभी-कभी ऐसी समस्यायें उपस्थित होती है कि उनका निर्णय तुरन्त किया जाये पर प्रजातन्त्रीय देश मे संसद का निर्णय बड़ी बहस के बाद हो पाता है अतः उसका निर्णय बडे विलम्ब से होता है। निकलसन का मत है कि "एक निरंकुश शासक या तानाशाह की नीति के बनाने मे और क्रियान्वित करने मे कुछ ही घण्टे लगते है पर एक प्रजातान्त्रिक सरकार को जनमत जानने में काफी विलम्ब अर्थात् इन्तजार करना पड़ता है।"[1]

(4) **अनिश्चितता** (Imprecision)—अस्पष्टता एवं परिवर्तनशीलता प्रजातान्त्रिक राजनय के विशेष अवगुण है। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्रीय सरकारें अनिश्चित रहती हैं, आये दिन वहाँ चुनाव होता रहता है तथा जनमत भी बदल जाता है। प्रजातन्त्रीय राजनय में राजनयिज्ञ भी भाषा ऐसी बोलते है जिसका अर्थ दोहरा लगाया जा सकता है। ऐसा पता चलता है कि प्रजातान्त्रिक सरकारें किसी बन्धन मे बँधना नही चाहती हैं। इसलिए विश्व जनमत को प्रभावित करने के लिए वे एक ओर तो यह दर्शाती हैं कि वे अपने वायदो अथवा शब्दों पर डटी है और दूसरी ओर अपनी नीति को स्वार्थवश बदलकर वे अपने वचनों की नई व्याख्या प्रस्तुत कर देती

---

1 "An absolute monarch or a dictator can frame and execute a policy within the space of a few hours. A democratic government has to wait until public opinion has digested its own conclusions." —*H. Nicolson*

है।"[1] निकलसन यह भी सुझाव देते हैं कि राजनीतिज्ञों को सन्धि वार्ता के लिये नहीं भेजा जाना चाहिए, इनके बदले यह कार्य राजनयिज्ञों द्वारा सम्पन्न होना चाहिए इसे जनता में न आशायें न जागेंगी और न वार्तालाप में भाव विभोर होकर राजनयिज्ञ वहकेंगे तथा न जल्दबाजी से कोई काम बिगड़ेगा। राजदूतों पर काफी समय होता है, वह वार्तालाप के दौरान अपनी सरकार को भी सूचना दे सकते तथा उससे परामर्श ले सकते हैं। वे भाव-विभोर होकर बहक भी नहीं सकते क्योंकि उनका इतना स्वागत सत्कार नहीं होता है।

सर्वाधिकारवादी राजनय
(Totalitarian Diplomacy)

20वी शताब्दी मे एक नये राजनय का जन्म हुआ जिसे सर्वाधिकारवादी अथवा तानाशाही राजनय कहा जाता है। यह राजनय प्रजातान्त्रिक राजनय मे भिन्न होता है। इस राजनय मे कुछ उच्चस्तरीय राजनीतिज्ञों का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। यह नेतागण प्रचार और प्रसार का सहारा लेते हैं और अपनी महत्वाकांक्षाओं को जनता से छिपाये रहते हैं। इस राजनय की विशेषतायें निम्नलिखित होती है :

(i) इस राजनय में विचारधारा को आधार बनाया जाता है तथा अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जातीय वड़प्पन, भौतिकवादी एवं सैनिकवाद आदि का सहारा लिया जाता है।

(ii) सर्वाधिकारवादी राजनय का उद्देश्य शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना नहीं होता, बल्कि अपनी विचारधारा का प्रसार करना होता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ये अपने एजेन्टों द्वारा विदेशों में विशेष दलों की स्थापना कराते हैं तथा उनका पोषण एवं समर्थन करते हैं।

(iii) सर्वाधिकारवादी राजनयिज्ञ राजनय के नियमों का उसी सीमा तक पालन करते हैं जहाँ तक उनके स्वार्थी स्वामियों की योजनाओं की पूर्ति होती है।

(iv) ये खुले रूप में घोषणा करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों एवं समझौतों को इच्छानुसार तोड़ा या अस्वीकृत किया जा सकता है।

(v) ये राजनयिज्ञो द्वारा प्रचार कराता है कि पूँजीवादी व्यवस्था एवं साम्यवादी व्यवस्था मे कभी न मिटने वाला संघर्ष जारी रहेगा।

(vi) ये सर्वाधिकारवादी देश मैत्रीपूर्ण व्यवहार या समन्वयवादी नीति को दुर्बलता का चिन्ह मानते है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सस्था को अपने प्रचार का केन्द्र बनाते है।

इस राजनय में शक्ति को महत्व दिया जाता है। सैनिक शक्ति के दवाव में यह अन्य राज्यों पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते है। इनकी भाषा आक्रमणकारी, असभ्य एवं झगडालू प्रकार की होती है। इनसे मैत्री करना अपने अस्तित्व को खोना है। स्वतन्त्रता, समानता तथा भाई चारे का प्रचार दूसरे देशों की जनता को भड़काने के लिए किया जाता है, अपने देश में इनका अस्तित्व नहीं रहता है।

राजनयिक आचार में नये परिवर्तन
(New Changes in Diplomatic Practice)

20वी शताब्दी में राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए है। प्रत्येक राज्य ने अपनी प्रथाओं एवं परम्पराओं के अनुसार अपने राजनयिक सिद्धान्तों एव आचारों में

---

[1] "......diplomacy is not the art of conversation, it is the art of negotiating agreements in precise and ratifiable form." —*H. Nicolson.*

है। इससे अपनी सरकारों का अनुगमन करता हुआ प्रजातान्त्रिक राजनय अनिश्चित एवं अस्पष्ट होता है तथा अपने उद्देश्य होता है तथा अपने उद्देश्य में सफल नही हो जाता है।

(ii) आचारिक दोष (Practical Defects)—प्रजातान्त्रिक राजनय में केवल सिद्धान्त दोष ही नहीं होते, वरन् आचारिक दोष भी होते है। ये दोष निम्नलिखित हैं—

(1) प्रकाशन का दुरुपयोग (Misuse of Publication)—प्रजातन्त्रीय राजनय का एक दोष प्रचार और प्रकाशन भी होता है। यद्यपि निरंकुश राजतन्त्र मे प्रकाशन का कार्य होता था परन्तु उसका एक मात्र उद्देश्य सरकार के कार्यों का, शासकों की इच्छानुसार प्रचार करना होता था। समाचार पत्रों पर सरकार का पूरा नियन्त्रण होता था। आजकल प्रजातन्त्र में प्रकाशन एवं प्रचार में काफी स्वतन्त्रता होती है। आमतौर से प्रजातन्त्र मे दो प्रकार के समाचार पत्र होते हैं। राज का कार्य सरकार एव उसके प्रशासकों की चापलूसी करना होता है तथा दूसरे का कार्य जनता को राजनीतिक शिक्षा देना होता है।

प्रजातन्त्र की सरकार प्रेस और प्लेट फार्म को खरीदने का कार्य करती है जिससे उसके कार्यों की कोई पोल न खोले और उनकी नीतियों का समर्थन करे। इसके लिए वे दो साधन अपनाती है जो निम्नलिखित होते हैं—

(i) जिन समाचार पत्रों का प्रकाशन अधिक संख्या मे होता है, उनको सरकार अपने पक्ष में करने के लिए अधिक सरकारी विज्ञापन देती है, कागज का अधिक कोटा देती है तथा महत्वपूर्ण समाचार आदि देने मे प्राथमिकता देती है।

(ii) विदेश मन्त्रालय द्वारा अपना स्वतन्त्र प्रेस अथवा शासन द्वारा एक पृथक विभाग खोलकर प्रचारतन्त्र को सरकारी पैसे से चलाती है।

प्रेस खरीदने या सम्वाददाताओं को अनुचित ढंग से प्रभावित करना प्रजातन्त्र को बदनाम करता है। समाचार पत्रों को तथा सम्वाददाताओं को जितनी अधिक स्वतन्त्रता मिलेगी, उतना ही वह देश अधिक प्रजातन्त्रीय माना जायगा।

(2) राजनीतिज्ञों का सन्धिवार्ता मे भाग लेना (Participation of Politicians in Negotiations)—प्रजातान्त्रिक राजनय का एक दोष यह भी है कि सन्धिवार्ता में भाग लेने के लिए प्रधान मन्त्री अथवा विदेश मन्त्री विदेश जाते है। ये मन्त्री यदि किसी विशेष उद्देश्य से विदेश यात्रा करें तो उचित भी है पर छोटे-छोटे मामलों के लिए मन्त्रियों का विदेश यात्रा पर लाखों-करोड़ों रुपया नष्ट करना प्रजातन्त्र के नाम पर धब्बा लगाना है।

प्रधानमन्त्री या अन्य मन्त्रियों की विदेश यात्रा मे देश का रुपया तो अकारण बहाया ही जाता है पर इससे देश को एक और हानि होने की सम्भावना होती है। आमतौर पर शासनाध्यक्ष का स्वागत समारोह बड़े ठाठ-बाट से किया जाता है और वह भाव-विभोर होकर ध्येय से विचलित हो जाते हैं। इस प्रकार देश के सच्चे प्रतिनिधि नहीं सिद्ध होते।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मन्त्री जब विदेश जाता है तो जनता यह समझ बैठती है कि वह उसकी इच्छाओं और आकाक्षाओं को पूरा करेगा पर भव्य स्वागत सत्कार एवं दावतों में वह भावना में बह जाता है और जनता की भावनाओं को भुला देता है। उसके स्वदेश लौटने पर जनता को उससे निराशा होती है और वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भाग लेना छोड़ देती है। इसके कारण जनता में राजनीतिज्ञों के प्रति भ्रांतियाँ (Mis-understanding) फैल जाती है और सरकार का पतन हो जाता है।

निकलसन इस पद्धति की आलोचना करते हुए लिखता है कि "राजनय बातचीत की कला नही, यह एक निश्चित रूप से एवं स्वीकृत रूप से वार्तालाप द्वारा समझौते की कला

है।"[1] निकलसन यह भी सुझाव देते है कि राजनीतिज्ञों को सन्धि वार्ता के लिये नही भेजा जाना चाहिए, इनके बदले यह कार्य राजनयिज्ञों द्वारा सम्पन्न होना चाहिए इसे जनता में न आशायें न जागेंगी और न वार्तालाप में भाव विभोर होकर राजनयिज्ञ बहकेंगे तथा न जल्दबाजी से कोई काम बिगड़ेगा। राजदूतों पर काफी समय होता है, वह वार्तालाप के दौरान अपनी सरकार को भी सूचना दे सकते तथा उससे परामर्श ले सकते है। वे भाव-विभोर होकर बहक भी नही सकते क्योंकि उनका इतना स्वागत सत्कार नही होता है।

सर्वाधिकारवादी राजनय
(Totalitarian Diplomacy)

20वी शताब्दी मे एक नये राजनय का जन्म हुआ जिसे सर्वाधिकारवादी अथवा तानाशाही राजनय कहा जाता है। यह राजनय प्रजातान्त्रिक राजनय से भिन्न होता है। इस राजनय मे कुछ उच्चस्तरीय राजनीतिज्ञों का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। यह नेतागण प्रचार और प्रसार का सहारा लेते हैं और अपनी महत्वाकांक्षाओं को जनता से छिपाये रहते हैं। इस राजनय की विशेषतायें निम्नलिखित होती हैं :

(i) इस राजनय में विचारधारा को आधार बनाया जाता है तथा अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जातीय बड़प्पन, भौतिकवादी एवं सैनिकवाद आदि का सहारा लिया जाता है।

(ii) सर्वाधिकारवादी राजनय का उद्देश्य शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना नहीं होता, बल्कि अपनी विचारधारा का प्रसार करना होता है। अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ये अपने एजेण्टो द्वारा विदेशों में विशेष दलों की स्थापना कराते है तथा उनका पोषण एवं समर्थन करते है।

(iii) सर्वाधिकारवादी राजनयिज्ञ राजनय के नियमो का उसी सीमा तक पालन करते हैं जहाँ तक उनके स्वार्थी स्वामियों की योजनाओ की पूर्ति होती है।

(iv) ये खुले रूप में घोषणा करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों एवं समझौनों को इच्छानुसार तोड़ा या अस्वीकृत किया जा सकता है।

(v) ये राजनयिज्ञों द्वारा प्रचार कराता है कि पूंजीवादी व्यवस्था एवं साम्यवादी व्यवस्था मे कभी न मिटने वाला संघर्ष जारी रहेगा।

(vi) ये सर्वाधिकारवादी देश मैत्रीपूर्ण व्यवहार या समन्वयवादी नीति को दुर्बलता का चिन्ह मानते है तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को अपने प्रचार का केन्द्र बनाते हैं।

इस राजनय मे शक्ति को महत्व दिया जाता है। सैनिक शक्ति के दबाव में यह अन्य राज्यों पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते है। इनकी भाषा आक्रमणकारी, असभ्य एवं झगड़ालू प्रकार की होती है। इनसे मैत्री करना अपने अस्तित्व को खोना है। स्वतन्त्रता, समानता तथा भाई चारे का प्रचार दूसरे देशो की जनता को भड़काने के लिए किया जाता है, अपने देश में इनका अस्तित्व नही रहता है।

राजनयिक आचार में नये परिवर्तन
(New Changes in Diplomatic Practice)

20वी शताब्दी मे राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए है। प्रत्येक राज्य ने अपनी प्रथाओं एवं परम्पराओ के अनुसार अपने राजनयिक सिद्धान्तों एव आचारो में

---

1 "......diplomacy is not the art of conversation, it is the art of negotiating agreements in precise and ratifiable form" —*H. Nicolson.*

है। इससे अपनी सरकारों का अनुगमन करता हुआ प्रजातान्त्रिक राजनय अनिश्चित एवं अस्पष्ट होता है तथा अपने उद्देश्य होता है तथा अपने उद्देश्य में सफल नही हो जाता है।

(ii) आचारिक दोष (Practical Defects)—प्रजातान्त्रिक राजनय में केवल सिद्धान्त दोष ही नहीं होते, वरन् आचारिक दोष भी होते है। ये दोष निम्नलिखित हैं—

(1) प्रकाशन का दुरुपयोग (Misuse of Publication)—प्रजातन्त्रीय राजनय का एक दोष प्रचार और प्रकाशन भी होता है। यद्यपि निरंकुश राजतन्त्र मे प्रकाशन का कार्य होता था परन्तु उसका एक मात्र उद्देश्य सरकार के कार्यों का, शासकों की इच्छानुसार प्रचार करना होता था। समाचार पत्रों पर सरकार का पूरा नियन्त्रण होता था। आजकल प्रजातन्त्र में प्रकाशन एवं प्रचार में काफी स्वतन्त्रता होती है। आमतौर से प्रजातन्त्र मे दो प्रकार के समाचार पत्र होते हैं। राज का कार्य सरकार एव उसके प्रशासकों की चापलूसी करना होता है तथा दूसरे का कार्य जनता को राजनीतिक शिक्षा देना होता है।

प्रजातन्त्र की सरकार प्रेस और प्लेट फार्म को खरीदने का कार्य करती है जिसमे उसके कार्यों की कोई पोल न खोले और उनकी नीतियो का समर्थन करे। इसके लिए वे दो साधन अपनाती है जो निम्नलिखित होते है—

(i) जिन समाचार पत्रों का प्रकाशन अधिक सख्या मे होता है, उनको सरकार अपने पक्ष में करने के लिए अधिक सरकारी विज्ञापन देती है, कागज का अधिक कोटा देती है तथा महत्वपूर्ण समाचार आदि देने मे प्राथमिकता देती है।

(ii) विदेश मन्त्रालय द्वारा अपना स्वतन्त्र प्रैस अथवा शासन द्वारा एक पृथक विभाग खोलकर प्रचारतन्त्र को सरकारी पैसे से चलाती है।

प्रैस खरीदने या सम्वाददाताओं को अनुचित ढग से प्रभावित करना प्रजातन्त्र को बदनाम करता है। समाचार पत्रों को तथा सम्वाददाताओं को जितनी अधिक स्वतन्त्रता मिलेगी, उतना ही वह देश अधिक प्रजातन्त्रीय माना जायगा।

(2) राजनीतिज्ञों का सन्धिवार्ता में भाग लेना (Participation of Politicians in Negotiations)—प्रजातान्त्रिक राजनय का एक दोष यह भी है कि सन्धिवार्ता मे भाग लेने के लिए प्रधान मन्त्री अथवा विदेश मन्त्री विदेश जाते है। ये मन्त्री यदि किसी विशेष उद्देश्य से विदेश यात्रा करें तो उचित भी है पर छोटे-छोटे मामलों के लिए मन्त्रियो का विदेश यात्रा पर लाखों-करोडों रुपया नष्ट करना प्रजातन्त्र के नाम पर धब्बा लगाना है।

प्रधानमन्त्री या अन्य मन्त्रियों की विदेश यात्रा मे देश का रुपया तो अकारण बहाया ही जाता है पर इससे देश को एक और हानि होने की सम्भावना होती है। आमतौर पर शासनाध्यक्ष का स्वागत समारोह बड़े ठाठ-बाट से किया जाता है और वह भाव-विभोर होकर ध्येय से विचलित हो जाते है। इस प्रकार देश के सच्चे प्रतिनिधि नही सिद्ध होते।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मन्त्री जब विदेश जाता है तो जनता यह समझ बैठती है कि वह उसकी इच्छाओं और आकाक्षाओ को पूरा करेगा पर भव्य स्वागत सत्कार एवं दावतो में वह भावना में वह जाता है और जनता की भावनाओं को भुला देता है। उसके स्वदेश लौटने पर जनता को उसमे निराशा होती है और वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे भाग लेना छोड़ देती है। इसके कारण जनता में राजनीतिज्ञो के प्रति भ्रांतियाँ (Mis-understanding) फैल जाती हैं और सरकार का पतन हो जाता है।

निकलसन इस पद्धति की आलोचना करते हुए लिखता है कि "राजनय बातचीत की नहीं, यह एक निश्चित रूप से एवं स्वीकृत रूप से वार्तालाप द्वारा समझौते की कला

है।"[1] निकलसन यह भी सुझाव देते है कि राजनीतिज्ञों को सन्धि वार्ता के लिये नही भेजा जाना चाहिए, इनके बदले यह कार्य राजनयिज्ञों द्वारा सम्पन्न होना चाहिए इसे जनता में न आशायें न जागेंगी और न वार्तालाप में भाव विभोर होकर राजनयिज्ञ बहकेंगे तथा न जल्दबाजी से कोई काम बिगड़ेगा। राजदूतो पर काफी समय होता है, वह वार्तालाप के दौरान अपनी सरकार को भी सूचना दे सकते तथा उससे परामर्श ले सकते है। वे भाव-विभोर होकर बहक भी नही सकते क्योंकि उनका इतना स्वागत सत्कार नहीं होता है।

सर्वाधिकारवादी राजनय
(Totalitarian Diplomacy)

20वी शताब्दी मे एक नये राजनय का जन्म हुआ जिसे सर्वाधिकारवादी अथवा तानाशाही राजनय कहा जाता है। यह राजनय प्रजातान्त्रिक राजनय मे भिन्न होता है। इस राजनय मे कुछ उच्चस्तरीय राजनीतिज्ञों का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। यह नेतागण प्रचार और प्रसार का सहारा लेते है और अपनी महत्वाकांक्षाओ को जनता से छिपाये रहते है। इस राजनय की विशेषतायें निम्नलिखित होती है :

(i) इस राजनय मे विचारधारा को आधार बनाया जाता है तथा अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जातीय बड़प्पन, भौतिकवादी एवं सैनिकवाद आदि का सहारा लिया जाता है।

(ii) सर्वाधिकारवादी राजनय का उद्देश्य शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना नहीं होता, बल्कि अपनी विचारधारा का प्रसार करना होता है। अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ये अपने एजेण्टो द्वारा विदेशों में विशेष दलो की स्थापना कराते है तथा उनका पोषण एवं समर्थन करते हैं।

(iii) सर्वाधिकारवादी राजनयिज्ञ राजनय के नियमों का उसी सीमा तक पालन करते हैं जहाँ तक उनके स्वार्थों स्वामियो की योजनाओं की पूर्ति होती है।

(iv) ये खुले रूप में घोषणा करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सधियो एवं समझौतो को इच्छानुसार तोड़ा या अस्वीकृत किया जा सकता है।

(v) ये राजनयिज्ञो द्वारा प्रचार कराता है कि पूंजीवादी व्यवस्था एवं साम्यवादी व्यवस्था मे कभी न मिटने वाला संघर्ष जारी रहेगा।

(vi) ये सर्वाधिकारवादी देश मैत्रीपूर्ण व्यवहार या समन्वयवादी नीति को दुर्बलता का चिन्ह मानते है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सस्था को अपने प्रचार का केन्द्र बनाते हैं।

इस राजनय में शक्ति को महत्व दिया जाता है। सैनिक शक्ति के दबाव में यह अन्य राज्यों पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। इनकी भाषा आक्रमणकारी, असभ्य एवं झगड़ालू प्रकार की होती है। इनसे मैत्री करना अपने अस्तित्व को खोना है। स्वतन्त्रता, समानता तथा भाई चारे का प्रचार दूसरे देशो की जनता को भड़काने के लिए किया जाता है, अपने देश में इनका अस्तित्व नही रहता है।

राजनयिक आचार में नये परिवर्तन
(New Changes In Diplomatic Practice)

20वीं शताब्दी मे राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए है। प्रत्येक राज्य ने अपनी प्रथाओं एवं परम्पराओ के अनुसार अपने राजनयिक सिद्धान्तों एव आचारों मे

---

[1] "......diplomacy is not the art of conversation, it is the art of negotiating agreements in precise and ratifiable form." —H. Nicolson.

संशोधन किये। पुराना राजनय विकसित होता हुआ नवीन प्रजातान्त्रिक राजनय का रूप लेता गया। विज्ञान ने भी राजनय को प्रभावित किया। यातायात की सुविधायें, संचार साधनों का विकास, नवीन विचारधारायें राजनय को नवीन रूप धारण करने में सहायता देने लगी। राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने राजनय पर प्रभाव डाला। शिक्षा का प्रचार, जनता में राजनीतिक जाग्रति तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में दिलचस्पी से राजनय बहुत प्रभावित हुआ। औद्योगिक क्रान्ति द्वारा विश्व व्यापार बढ़ा और आर्थिक दृष्टिकोण की ओर जनता का ध्यान अधिक आकर्षित हुआ। राजनयिज्ञों ने भी आर्थिक महत्व को समझा। वाणिज्य दूतों का महत्व बढ़ा। व्यापार के विकास से मुद्रा की समस्या, बढ़ी। इस समस्या को सुलझाने का कार्य भी राजनयिज्ञों को सौंपा गया। समाचार पत्रों एवं रेडियो ने भी प्रचार के साधनों में विकास किया। प्रचार का सहारा लेकर राजनयिज्ञ अपने राष्ट्र-हितों के लिए झूठ बोलने में हिचकिचायें। संवाददाताओं के सम्मेलनों में राजदूतों के सम्मिलित होने से पत्रकारों का महत्व बढ़ा। जनता को प्रभावित करने के प्रजातान्त्रिक सरकारों ने भी समाचार पत्रों एवं सम्वाददाओं को खरीद कर अपने कार्यों की प्रशंसा करना प्रारम्भ कर दिया। राजनीतिज्ञों का प्रभाव राजनय में बढ़ा। इस प्रकार अनेक प्रभाव से 19वीं शताब्दी का राजनय 20वीं शताब्दी में बिल्कुल बदल गया।

राजनय में परिवर्तन के कारण (Causes of Change in Diplomacy)

1914 तक पुराने राजनय का प्रभाव रहा पर प्रथम विश्व युद्ध मे विश्व की राजनीतिक एवं आर्थिक दशा में महान परिवर्तन हुआ। राज्यों मे प्रजातन्त्र की भावना ने जोर मारा। जनता का प्रभाव सरकारों पर अधिक पड़ने लगा। वह राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप करने लगी। आन्तरिक और बाह्य नीतियों के निर्माण मे उसका भाग लेना अनिवार्य हो गया। सरकार जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाने मे सजग हो गई। विज्ञान के आविष्कारों ने भी लोगों के मस्तिष्कों को प्रभावित किया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रभाव बढ़ा। इन परिवर्तनों ने राजनय के रूप को बदलने में महत्वपूर्ण योग दिया। अब हम एक-एक कारण को लेकर राजनयिक परिवर्तन की विवेचना करेंगे :

(1) **सम्मेलनीय राजनय (Diplomacy by Conference)**—इस समस्या के समाधान पर इसी आशय से गत पृष्ठों पर विचार किया जा चुका है।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का जन्म (Birth of International Organizations)**—बीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे महान परिवर्तन हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ही यह भावना अनेक देशों के राजनीतिज्ञों में उत्पन्न हुई कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापना के लिये राज्य-समाज की स्थापना होनी चाहिए। यदि राज्यों में कोई विवाद खड़ा हो तो उसका निपटारा पारस्परिक वार्ता अथवा मध्यस्थता से शान्तिपूर्ण ढंग से होना चाहिए। इस भावना को विकसित करने में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन का महत्वपूर्ण हाथ था। अतः मित्र राष्ट्रों ने युद्ध समाप्ति के बाद पेरिस शान्ति सम्मेलन में जहाँ पराजित राष्ट्रों से संधि की शर्तें तय की वही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का भी मसविदा तैयार कर लिया। वह मसविदा वर्साय संधि का एक अंग था। अतः जितने राज्यप्रतिनिधियों ने वर्साय संधि पर हस्ताक्षर किये, वे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (राष्ट्र संघ) के सदस्य माने गये। राष्ट्र संघ के जन्म से राजनय मे भी महान परिवर्तन हुआ। राष्ट्र संघ के निर्माण में कुछ त्रुटियां रह गई थी अतः वह असफल हुआ और द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ा। इस युद्ध ने पुनः अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का महत्व सिद्ध किया और युद्ध के दौरान मे नये राष्ट्र संघ की स्थापना का बीजारोपण किया गया। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ मे अनेक पराधीन राज्य जो अब स्वतन्त्र हो गये थे, सदस्य बने। एशिया एवं अफ्रीका के अनेक राज्यों के जन्म से संयुक्त राष्ट्र

संघ का महत्व बहुत बढ़ गया। ब्रिटेन ने अपने अनेक उपनिवेशों को स्वतन्त्र कर दिया और राष्ट्र-मण्डल की स्थापना की। इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने राष्ट्रों में मैत्री भाव, सहयोग और सद्भावना को उत्पन्न किया। इस राजनय का रूप ही बदल गया।

(3) प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण की बढ़ती हुई मांग (Increasing Demand of Democratic Control)—20वीं शताब्दी में प्रजातान्त्रिक भावना में अद्भुत विकास हुआ। प्रजातान्त्रिक देशों की जनता ने मांग की कि राज्य की गृहनीति के अतिरिक्त विदेश नीति पर भी जनता का नियन्त्रण होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का फल जनता को भोगना पड़ता है। पर जनता नीति और राजनय में कोई भेद न कर सकी। उसका विश्वास था कि जिस प्रकार विधान मडण्लों द्वारा गृहनीति का निर्माण होता है उसी प्रकार विदेश नीति विभाग पर भी जनता का नियन्त्रण होना चाहिए।

इस भूल के कारण ही प्रजातान्त्रिक राज्यों मे संसदो ने बहुमत दल के कुछ नेताओं एवं विरोधी दल के नेताओं को मिलाकर एक "विदेशी-सम्बन्ध-समिति" (Foreign-Affair-Commuttee) का निर्माण किया। इस समिति ने विदेश मन्त्री की बड़ी सहायता की। इस समिति के सदस्य विदेश नीति की आलोचना तथा विदेशी विभाग के कार्यों के प्रश्नों का उत्तर देने में विदेश मन्त्री के सहायक होते हैं। यह समिति विदेश मन्त्री को विदेश नीति के सम्बन्ध में परामर्श भी देती है।

यद्यपि विदेशी-सम्बन्ध-समिति ने विदेश मन्त्री के कार्यों को कई अर्थों में सरल कर दिया पर साथ-साथ कुछ हानियां भी पहुँचायी। ये हानियां निम्नलिखित हैं :

(i) यह समितियां विदेश नीति की साधारण समस्याओं को जटिल बना देती हैं।

(ii) इन समितियों के कारण विदेश मन्त्री पर अधिक भार आ पड़ा, जिससे उसे अनावश्यक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(iii) इन समितियों के कारण अनेक विवाद उठ खड़े हुए। दलगत राजनीति के पचड़े में पड़कर, निष्पक्ष निर्णय में बड़ी कठिनाइयां पड़ती हैं।

(iv) इन समितियों के कारण गुप्त निर्णय क्रियान्वित होने से पूर्व प्रकट हो जाते हैं जिससे देश को काफी हानि उठानी पड़ती है।

यह समितियां सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका में बनी। यदि ये समितियां संसद के बाहर बनती और इनमें सत्तारूढ़ दल के ही सदस्य होते तो इतनी कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता।

(4) वाणिज्य का बढ़ता हुआ महत्व (Increasing Importance of Commerce)—विज्ञान की प्रगति ने वाणिज्य एवं व्यापार को विकसित किया। लोगो के दृष्टिकोण बदले। अर्थ का महत्व बढ़ा। भौतिकता की भावना में वृद्धि हुई। इससे राजनय के दृष्टिकोणों में भी भारी परिवर्तन हुआ। यद्यपि यह परिवर्तन सर्वथा नया न था क्योंकि व्यापारिक हितों का कुछ-न-कुछ प्रभाव राजनय पर सदैव से पड़ता रहा है। विदेशी सम्बन्धों का प्रारम्भ व्यापार एवं वाणिज्य के कारण ही हुआ है, और जैसे-जैसे व्यापार की वृद्धि हुई अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी विस्तृत होते चले गये। प्रत्येक राज्य का राजनयिक विभाग अपने राष्ट्र के राजनीतिक हितों के साथ-साथ व्यापारिक हितों का संरक्षण करता रहा है।

यूरोपीय राजदूत जब एशिया में सर्व प्रथम आये तो उनका मुख्य ध्येय अपने राष्ट्र के व्यापारिक हितों की रक्षा एवं सम्वर्द्धन करना। पर धीरे-धीरे ये राजदूत विदेशों की राजनीति में भाग लेने लगे और अपने देश के राजनीतिक हितों की रक्षा में लग गये। भारत में अनेक यूरोपीय देशों के राजदूत केवल व्यापार करने की आज्ञा लेने के लिए ही आये थे पर कालान्तर में वे राजनीतिक कार्य भी करने लगे। भारत में जब अव्यवस्था फैली तो उन्होंने उपनिवेशों की यहाँ स्थापना

प्रारम्भ कर दी। पहले यूरोपीय शक्तियाँ आपस में व्यापारिक हितों के लिये लड़ती थीं पर बाद में वे राजनीतिक प्रभुत्व के लिए लड़ने लगीं और देखते-देखते व्यापारिक कम्पनियाँ विशाल साम्राज्यों की स्थापना के संलग्न हो गईं। इस प्रकार यूरोप राजदूत व्यापारिक एवं राजनीतिक हितों की रक्षा करने लगे।

जब जर्मनी संगठित हुआ तो उसने भी अन्य यूरोपीय शक्तियों के समान राजनीतिक एवं आर्थिक हितों के बीच सामन्जस्य उत्पन्न करने का प्रयास किया। संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान भी इसी नीति का अनुकरण करने लगा।

ब्रिटेन ने सर्वप्रथम 1866 में विदेश विभाग के कार्यालय में वाणिज्य विभाग की स्थापना की। 1867 में ब्रिटेन ने फ्रांस में वाणिज्य सहचारी (Commercial Attache) की नियुक्ति की। इस प्रकार नये राजनय में राजनीतिक समस्याओं के साथ व्यापारिक हितों को भी सन्तुलन में सम्मिलित कर लिया गया।

आज तो सभी देशों में वाणिज्य दूतीय सेवा (Consular Service) का संगठन पाया जाता है। अनेक राष्ट्रों ने दूसरे राष्ट्रों की राजधानियों तथा अन्य प्रमुख नगरों में वाणिज्य दलों को नियुक्त कर रखा है। इनका प्रमुख कर्तव्य अपने देश एवं देशवासियों के वाणिज्य-व्यवसाय की रक्षा करना ही नहीं बल्कि हर प्रकार से उनकी वृद्धि भी करना है।

पद के अनुसार वाणिज्य दूत चार प्रकार हैं :

(i) महावाणिज्य दूत (Consul-General)

(ii) वाणिज्य दूत (Consul)

(iii) उपवाणिज्य (Vice Consul)

(iv) वाणिज्यक अभिकर्ता (Consular-Agent)

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के वाणिज्य दूतों की नियुक्ति से राजनयिक आधार में एक नवीन परिवर्तन हुआ।

(5) मुद्रा एवं वित्त का बढ़ा हुआ महत्व (Increasing Importance of Currency and Finance)—वाणिज्य एवं व्यापार के बढ़ने पर कुछ अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न हुईं। इनमें मुद्रा की समस्या विशेष है। विदेशों में राजनयिज्ञों को कभी-कभी वित्त तथा मुद्रा की जटिल समस्या का सामना करना पड़ता है। वे चूंकि वित्त एवं मुद्रा सम्बन्धी मामलों के विशेषज्ञ नहीं होते अतः अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के समय उन्हें वार्ता चलाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वर्तमान समय में प्रायः सभी दूतावासों में वित्तीय अधिकारी होते हैं। इन पदों पर नियुक्त किये जाने वाले लोगों की यह विशेषता होती है कि वे अपने विषय में कार्यकुशल होते हैं। ऐसी व्यवस्था पहले नहीं होती थी।

(6) प्रेस की शक्ति एवं उसका प्रभाव (Power of the Press and its Influence)—प्रजातन्त्री राज्यों में प्रेस की शक्ति एवं प्रभाव बहुत बढ़ गया है। समाचार पत्रों द्वारा काफी प्रभावी होता है। समाचार पत्रों द्वारा सरकारें अपनी नीति एवं कार्यों की प्रशंसा में लेख छपवाती हैं। मन्त्री अपनी सरकार के गुणगान गाते हैं। जनमत अपने पक्ष में करने के लिए सरकार अखबारों को खरीद लेती है। स्वतन्त्र और निष्पक्ष समाचार पत्र सरकार के कार्यों की आलोचना कर सरकारी प्रचार का भण्डा फोड़ते हैं और जनता को वास्तविक स्थिति की जानकारी देते हैं। विरोधी दल के लोग भी समाचार-पत्रों द्वारा अपनी नीतियों का प्रचार करते हैं और सरकार की नीतियों का विरोध करते हैं। इस प्रकार समाचार-पत्रों द्वारा किसी देश की आन्तरिक स्थिति का पता लगाया जा सकता है। राजदूत जिस देश में भेजे जाते हैं, उनका यह कर्तव्य है वह उस देश के समाचार पत्रों का गहन अध्ययन करे और समय पर अपनी सरकारों को वहाँ के पत्रों की कटिंग

या समाचारों का सारांश भेजते रहें। इतना ही नहीं उनका यह भी कर्तव्य है कि अपने देश के प्रति फैली भ्रान्ति स्वागत कर्ता राज्य की जनता के मन से दूर करे एव उन्हें अपने देश का समर्थक बनाये। इस कार्य के लिए दूतावासों में एक सूचना विभाग भी रखा जाता है, जिसकी देखभाल के लिए एक पत्र-सहचारी (Press-attche) की नियुक्ति की जाती है।

पत्र-सहचारी उस देश की भाषा का विशेषज्ञ होता है जहाँ उसकी नियुक्ति होती है। वह प्रमुख समाचार पत्रों का अध्ययन करता है। वहाँ के पत्र प्रतिनिधियों से भेंट-वार्ता करता है, और उन्हें अपने देश के दृष्टिकोण से अवगत कराता है तथा अपने देश के लिए महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त करता है निकलसन ने पत्र-सहचारी के कार्य को बताते हुए लिखा है कि "उससे आशा की जाती है कि वह स्थानीय पत्रों के अग्र लेख पढ़े, उसे आत्मसात करे तथा उनका अनुवाद करे।"[1]

सामान्य तथा एक पत्र-सहचारी एक देश में वर्षों तक रहता है अतः उसे स्थानीय राजनीति के विषय में अच्छी जानकारी हो जाती है तथा वहाँ के प्रमुख लोगों के विषय में ठोस ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

(7) **प्रचार के अन्य साधनों का प्रयोग** (Use of other means of Propaganda)–निकलसन के मतानुसार प्राचीन राजनय में भले ही प्रचार का महत्त्व न हो पर आधुनिक राजनय में प्रचार को अत्यन्त महत्व दिया जाता है। यह प्रजातान्त्रिक साधनों का आवश्यक अंग माना जाता है। नवीन राजनयिक प्रचार में नये-नये प्रचार के साधन जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। प्रचार के महत्व का कारण विशेषतया विश्व का दो गुटों में बँट जाना है।

आधुनिक काल मे प्रचार के दो मुख्य उद्देश्य होते हैं :

(i) अपने किसी प्रश्न पर अनुकूल विचार प्राप्त करने के लिए पहले ही धुआँधार प्रचार *किया जाता है। इससे अनुकूल वातावरण तैयार कर अपने पक्ष में हल निकलने का प्रयास किया* जाता है।

(ii) सन्धि-वार्ता के समय दूसरे पक्ष के ऊपर दबाव डालने के लिए प्रकाशन और प्रचार का उपयोग किया जाता है। यह प्रचार झूंठा भी हो सकता है।

उदाहरणार्थ भारत व पाकिस्तान प्रचार साधनों द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध जनमत बनाने की कोशिश करते रहते हैं। इसी प्रकार रूस, चीन, अमरीका व अरब राज्य भी प्रचार का उपयोग भरपूर करते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा या सुरक्षा परिषद की बैठकों के समय इस प्रकार का प्रचार बहुत जोरों से होता है। लम्बे-चौड़े भाषण देने का उद्देश्य केवल प्रचार का साधन है।

प्रचार का माध्यम समाचार पत्र तो है ही, साथ में रेडियो का आजकल महत्व बहुत बढ़ गया है। रेडियो द्वारा अनर्गल प्रचार करना आज लगभग प्रत्येक सरकार का कार्य हो गया है। हिटलर प्रचार का विशेषज्ञ माना जाता था यद्यपि यह प्रचार उसने साम्यवादियों से सीखा था पर उसका झूठा प्रचार साम्यवादियों से भी 10 कदम आगे था। हिटलर ने अपनी पुस्तक मेन केम्फ (Main Kampf) में प्रचार के तन्त्रों के प्रयोग के निम्नलिखित महत्व बताये हैं।

(i) प्रचार का लक्ष्य सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति होना चाहिए। विद्वान या बुद्धिमान नहीं।

(ii) कोई बात प्रचार में ऐसी न कही जाय जो विरोधी का पक्ष-पोषण करने व

1 "He is expected to reap, object and translate the articles pu local journals.,,

(iii) प्रचार के केवल दो पक्ष हों—सच्चा तथा झूठा, उचित या अनुचित अथवा भला या बुरा। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके बीच का कोई मार्ग प्रचार के लिए उपयुक्त नहीं।

(iv) हिटलर का कहना था कि "प्रचार में साधारण झूठ का प्रयोग नहीं करना चाहिए। झूठ को व्यापक तथा विशाल होना चाहिए। प्रचार में झूठ इतनी बड़ी मात्रा में हो जिससे सुनने वाला उसे सन्देहात्मक न समझ सके।"[1]

पर झूठ : झूठ ही होता है, कभी न कभी उसका भण्डा फूट ही जाता है। झूठ एक बार बोला या हजार बार बोला जाय, वह कभी सत्य नहीं बन सकता है। जब भी उसका भेद खुलता है, प्रचार करने वाला बदनाम हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बिगाड़ उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि राजनयिक आचार में झूठ बोलना पाप नहीं समझा जाता है फिर भी इसे जहाँ तक हो दूर रखा जाय तो अच्छा है।

प्रचार को आजकल बहुत महत्व प्राप्त है। यह राजनयिक पतंगबाजी (Diplomatic Kite Flying) के नाम से पुकारा जाता है। आज साम्यवादी सरकारें इस कला में प्रवीण मानी जाती हैं। रूस और चीन के प्रचार तन्त्रों के आगे अमेरिका और पश्चिमी देशों के प्रचार तन्त्र फीके पड़ जाते हैं। पर इतना माना जाता है कि सम्यवादी प्रचार को अधिकांश लोग झूठ मानकर उस पर विश्वास नहीं करते हैं।

के० एम० पानिक्कर का कहना है कि "अटकलबाजी करना राजनय का एक वैध साधन है पर हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि यह प्रचार से भिन्न है। यद्यपि इसके लिए साधारणतया समाचार पत्रों का माध्यम प्रयोग किया जाता है और इसीलिए बहुधा इस पर प्रचार का भ्रम होता "परन्तु इस अटकलबाजी का उद्देश्य दूसरे के मत को प्रभावित करना नही वरन् उसे परखना होता है।" कभी-कभी ऐसा होता है कि राजनयिक अपने भाषण में कुछ का कुछ कह जाता है जिसका प्रभाव उल्टा पड़ जाता है पर वह अपने वचनों से मुकर जाता है और वक्तव्य निकाल कर अपनी गलती को सुधार लेता है और प्रेस पर वह आरोप लगा देता है कि उसके शब्दों को तोड़-मरोड़ पर प्रकाशित किया गया है।

सफल राजनयिक के गुण
(Qualities of Successful Diplomat)

राजदूत की परिभाषा (Definition of a Diplomatist)—राजनय के सिद्धान्तों एवं आचारों का मर्मज्ञ राजनीतिज्ञ कहलाता है। राजनयिज्ञ अपनी सरकार की ओर से अन्य देशों को भेजा जाने वाला वह व्यक्ति होता है जो अपनी योग्यता एवं कुशलता से अपने देश तथा अन्य देशों के सम्बन्धों को मधुर बना देता है। मध्यकाल में हेनरी वाटन ने राजदूत की परिभाषा व्यंगात्मक ढंग से इस प्रकार की है कि "राजदूत ऐसा ईमानदार व्यक्ति होता है जो विदेशों में अपने राष्ट्र के स्वार्थ के लिये झूठ बोलने के लिये भेजा जाता है।" रूस के पंचायती न्यायालय ने राजदूत की परिभाषा देते हुए कहा है कि "राजनयिक दूत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत स्थापित राज्यों के बीच आवागमन अथवा सम्बन्ध के साधन है।" संक्षेप में यह कहा जाता है कि "राजनयिक अभिकर्ता दूसरे राज्यों में स्थायी रूप से सम्बन्ध स्थापित रखने का कार्य करते हैं।"[2]

1 "The lies must be enormous, it is no use, in his opinion, telling little lies, a propagandas lie must be such gigantic that listeners wells never suspect that it could be suspected".

2 "Diplamatic Channals are the normal and regular means of communication between states in their relations governed by the International Law."
—*The Gourt of Russian Indemnity.*

राजनय दूतों के गुण (Qualities of Diplomatist)—उपर्युक्त परिभाषाओं से यह प्रकट होता है कि राजदूत अपने देश के हित साधन के लिये विदेश भेजा जाता है। मध्यकाल में भले ही एक राजदूत में यह गुण अच्छा समझा जाता है कि "वह राष्ट्रहित के लिए झठ बोले पर आधुनिक युग में 'झूठ बोलना' राजनयिज्ञ का गुण नहीं दोष माना जाता है।"

राजनयिक दूत यदि विदेश में रहता हुआ अपने देश का हित साधन करने के साथ-साथ स्वागत कर्ता राज्य से सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार भी बनाये रखता है तो उसे सफल राजनयिज्ञ कहा जा सकता है। आज विज्ञान का युग है और कोई भी देश अब आत्मनिर्भर नहीं रहा है अतः वह एकान्तवाद (Isolation) की नीति नहीं अपना सकता है। उसके लिये यह आवश्यक है कि अपने देश की उन्नति के लिये वह अन्य देशों से सहयोग ले तथा उन्हें अपना सहयोग दे। इसलिये प्रत्येक देश ने एक विदेशी विभाग खोल रखा है। इस विभाग के अन्तर्गत राजनयिक सेवा का गठन किया गया है, राजदूतों का राज्यों में आदान-प्रदान किया जाता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सुधारने या बिगाड़ने का उत्तरदायित्व इन राजदूतों के ऊपर निर्भर रहता है। अतः राजदूतों का महत्व आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत बढ़ गया है।

प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता है, प्रत्येक कार्य के लिये विशेष योग्यता होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। राजनयिक सेवा के लिये भी विशेष योग्यता रखने वाले व्यक्ति ही उपयुक्त होते हैं। आवश्यक गुण रखने वाला राजनयिक ही अपने कार्य सम्पादन में सफलता पा सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि एक सफल राजनयिज्ञ के लिये किन-किन गुणों की आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं।

मैर्गा महोदय ने 1956 मे राजनीतिज्ञ मे निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक बताया है :

"यह भाषाविज्ञ हो, धर्मशास्त्रों का ज्ञाता हो, प्लेटो एवं अरस्तू के दर्शन का माना हुआ विद्वान हो, गणित, संगीत, वास्तुकला, भौतिक शास्त्र एवं कानून का ज्ञाता हो। इसके अतिरिक्त उसे स्पैनिश, फ्रांस, जर्मन, लैटिन एवं ग्रीक भाषाओं तथा एंकिश भाषा का अच्छा ज्ञान रखना चाहिए। इतिहास, भूगोल तथा काव्य में उसका दखल होना चाहिए, इन गुणों के अतिरिक्त उसे धनवान, स्वस्थ, सुन्दर तथा उच्च परिवार का सदस्य होना चाहिये।"

श्री के० एम० पानिक्कर ने भी सफल राजनयिज्ञ के लिए आवश्यक गुण गिनाते हुए अग्रलिखित शब्द कहे हैं, "यह तो बात आमतौर पर सभी लोग मानते हैं कि प्रखर बुद्धि राजनयिज्ञ का प्रथम गुण है। राजनयिज्ञों पर सबसे अधिक दोष चातुर्य की कमी का लगाया जाता है। प्रखर बुद्धि के महत्व पर तो किसी को सन्देह नहीं, परन्तु इसके कारण हमें अन्य गुणों जैसे—धैर्य, मर्यादा, विवेक और गम्भीरता आदि को न भूलना चाहिए। राजनयिज्ञ के शास्त्रागार में ये सभी शास्त्र (गुण) होना आवश्यक है।"

श्री हेनरी एम० रिटसन ने अपनी पुस्तक "प्रजातन्त्र में राजनय" (Diplomacy in democracy) में राजनयिज्ञ के लिए आवश्यक गुणों को बताते हुए लिखा है कि "प्रथम गुण है ज्ञान जो गहराई तथा विस्तार में हो.......जितना ही अधिक राजनयिज्ञ इतिहास (नये एवं पुराने में अधिकार रखेगा, उतना ही कुशलता से वह वर्तमान संघर्षों को सुलझाने में सफल होगा। वह अर्थशास्त्र की भी उपेक्षा नही कर सकता है.......राजनीति वह माध्यम है जिसके द्वारा एक राजनयिज्ञ अपना समस्त कार्य करता है।....... राजनयिज्ञ को भाषाविज्ञ भी होना चाहिए....... वह जितनी ही यात्रा करेगा उतना ही उसे लाभ प्राप्त होगा.......उसमें देखने एवं समझने की

तुरन्तबुद्धि होना आवश्यक है तथा उसे विदेशी जीवन तथा रस्मों-रिवाज की अच्छी जानकारी होनी चाहिए ताकि उनके अनुसार वह मैत्रीपूर्ण व्यवहार कर सके।"

डॉ० कैलारिस ने 1916 में लिखा था कि "अच्छा समझौता करने वाला झूठे वादों और विश्वासघात के द्वारा सफलता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करेगा। यह सोचना एक भारी भूल होगी कि एक अच्छे राजनयिज्ञ को छल नीति में प्रवीण होना आवश्यक है। छल एवं निम्न कोटि की धोखेबाजी का संयोग प्रयोगकर्ता के तुच्छ मस्तिष्क का प्रदर्शन तो करता ही है, साथ ही यह भी दर्शा देता है कि वह व्यक्ति न्याय एवं तर्कसम्मत कार्य करने में कितना असमर्थ है। झूठ बोलकर अनेक राजदूतों ने सफलता पायी है; परन्तु झूठ सदैव विष की बूंद छोड जाता है। इस छल नीति पर आधारित राजनयिक सफलता सिकताकणों की नीति पर आधारित होती है। इससे पराजित पक्ष मे घृणा की भावना भी पनप उठती है और दोनों पक्षों के लिए एक संकट उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतएव राजनयिज्ञ को साम्यवादी, ईमानदार एवं निष्पक्ष होना चाहिए। ताकि भविष्य में भी लोग उसकी बातों का विश्वास कर सकें।"

उपर्युक्त विद्वानों के मतो का अध्ययन करने के बाद राजनयिज्ञ के गुणों को निम्नलिखित विभागों मे बाँटा जा सकता है:

(1) सच्चाई (Truthfulness)—राजनयिज्ञ का प्रथम गुण उसकी सच्चाई है। सच्चाई का तात्पर्य केवल झूठ बोलना नहीं, बल्कि ऐसे कथनों से बचना है जिनके द्वारा झूठ का ही समर्थन न होता हो बल्कि सच्चाई का भी हनन होता हो। राजनयिज्ञ का यह कर्तव्य है कि उसके सत्य बोलने से भी किसी को भ्रान्ति हो जाये तो तुरन्त उसका स्पष्टीकरण कर उक्त भ्रम को दूर कर दे। सत्य बोलने से विश्वास की वृद्धि होती है जो साख (Credit) बनाये रखने के लिए आवश्यक है। एक बार एक ब्रिटिश राजनयिज्ञ ने परामर्श देते हुए कहा था कि 'तुम दूसरों की धारणाओं को समझने में समय नष्ट न करो, बल्कि उन्हें साफ-साफ बता दो कि तुम्हारी धारणा क्या है।"

राजनयिक का यह कार्य नहीं कि वह जैसे को तैसा (Tit-for-tat) का सिद्धान्त अपनाये। उसे मैकियावली के इस सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करना चाहिए कि "दूसरे के बेईमान बनने पर वह भी बेईमान बन जाये।"[1] अतः कैसा भी अवसर आ पड़े, कोई कितना ही दबाव डाले, कितना ही प्रलोभन दे पर राजनयिज्ञ को कभी झूठ का आश्रय नहीं लेना चाहिए।

(2) स्पष्टता (Precision)—स्पष्टता का अर्थ केवल "बौद्धिक यथार्थता" (Intellectual Accuracy) नही बल्कि नैतिक यथार्थता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राजनयिज्ञ को मस्तिष्क एवं आत्मा दोनों में यथार्थ होना चाहिए। ऐसे राजनयिज्ञ, अपनी सरकारों को धोखे में न रखकर सही सूचनाएँ देते हैं। सन्धि वार्ता को लिखित रूप मे प्रमाण के तौर पर रखते हैं। नौसिखिये राजनयिज्ञ मौखिक वार्तालाप को ही पर्याप्त समझ बैठते हैं जिससे उन्हें अनेक असुविधाएँ एवं कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। इतिहास साक्षी है कि लिखित कार्यवाही के अभाव में अथवा अधूरे रूप में लिपिबद्ध होने पर सन्धियाँ अधूरी रह गयीं। इस विषय पर निकलसन महोदय लिखते हैं कि "इतिहास का महान उच्च मार्ग शान्ति के छोटे-छोटे मठों से भरा पड़ा है जो या तो अधूरे छोड़ दिये गये हैं या तो वे पूर्ण होते ही ढह गये हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनकी आधारशिलाएँ बालू पर बनी हुई थी एवं वह बालू थी मौखिक गलत फहमियों की। क्लोर्क यक्लन, थ्योरो स्ट्रेसा,

---

1 "Dishonesty of others justifies disonesty is one self." —*Machiavelli*

म्यूनिख आदि ऐसे मठों के खण्डर हैं जो भविष्य में नवीन वार्ता करने वालों को चेतावनी देने के लिए हैं।"[1]

इस प्रकार अनुभवी और प्रशिक्षित राजनयिक प्रतिनिधि सन्धि वार्ता को केवल लिपिबद्ध ही नहीं करता, बल्कि उस पर विपक्ष के प्रतिनिधि के हस्ताक्षर भी करा लेता है। एक बार 1848 मे ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य पारस्परिक वार्ता हुई, बाद में फ्रांस के प्रधानमन्त्री गिजा ने अपने वायदे मानने से इन्कार कर दिया। इससे ब्रिटिश राजदूत लार्ड नार्मेन्डी को बड़ी बदनामी उठानी पड़ी थी क्योंकि उसने सन्धि-वार्ता पर हस्ताक्षर नही कराये थे।

राजनयिज्ञ को अपनी सरकार को भी सही बातों से अवगत कराना चाहिए। उसे यह भी बताना चाहिए कि भविष्य में क्या होने की सम्भावना है। पर अपने इस अनुमान पर उसे जिद्द नहीं करना चाहिए क्योंकि अनुमान गलत निकल सकता है। कभी-कभी राजनयिज्ञ अपनी बदनामी या असफलता के कारण अपनी सरकार को गोलमोल शब्दों में उसकी सूचना देता है। इससे दोनों सरकारों में भ्रम पैदा हो जाता है और सम्बन्ध में बिगाड़ पैदा हो जाता है।

स्पष्टवादिता राजनयिज्ञ का आवश्यक गुण है अतः के० एम० पानिक्कर ने राजनयिज्ञों को अपनी साख जमाने के लिए दो निर्देश दिये हैं :—

(i) प्रत्येक राजनयिज्ञ को यह समझ लेना चाहिए कि उसके देश के कौनसे ऐसे हित है जिनसे वह तिलभर पीछे नही हट सकता है।

(ii) विदेश मन्त्रालय को जहाँ आप भेजे गये हैं, उन हितों को स्पष्ट रूप से बता देना चाहिए।

(3) शान्ति (Calm)—राजनयिज्ञ का तीसरा गुण शान्त रहना है अर्थात् उसमें शीघ्र उत्तेजित होने का अवगुण नहीं रहना चाहिए। हो सकता है कि विपक्षी झूठ बोले, बेईमानी से काम ले, असभ्यतापूर्ण व्यवहार करे पर इन बातों से उसे क्रोधित न होना चाहिए, न ही उसे खीजना चाहिए। मन में यदि क्रोध एवं वैमनस्य की भावना उत्पन्न भी हो और ईंट का जवाब पत्थर से देने की इच्छा उत्पन्न हो तो भी उसे दबा लेना चाहिए। साहस एवं मान-सम्मान का प्रदर्शन न कर शान्त एवं धैर्यवान बना बैठना चाहिए।

के० एम० पानिक्कर का कहना है कि "क्रोध राजनय के लिए एक भयानक अस्त्र है।" राजनयिज्ञ को मृदुभाषी एवं अच्छा व्यवहार प्रदर्शित करना चाहिए। दूसरे उसे आवश्यकता से अधिक शान्त रहना चाहिए। तेलरां ने शान्त रहने का गुण राजनयिज्ञ के लिए आवश्यक बताया है। उसके मतानुसार "राजनयिज्ञ को कार्य सम्पादन करते समय भी उत्तेजित नही होना चाहिए।"

के० एम० पानिक्कर के द्वारा राजनयिज्ञ के इस गुण की प्रशंसा इस प्रकार की गयी है कि "अमैत्रीपूर्ण शक्तियों के साथ बातचीत करते समय राजनयिज्ञ की मुद्रा ऐसी रहनी चाहिए कि उसकी आन्तरिक भावनाएँ प्रकट न हो सकें और उसकी भाषा समझौते की नरम भाषा होने के साथ ही सुस्पष्ट होनी चाहिए। उसे गम्भीर मुद्रा धारण करने और शिष्टाचार के सभी नियमों का पालन करते हुए नपे-तुले, आवेशरहित शब्दों में बोलने का अभ्यास होना चाहिए।

यद्यपि शान्त रहने का गुण राजनय में बड़ा कार्य करता है पर कुछ लोगों का कहना है कि अधिक शान्त एवं गम्भीर रहने से दूसरे व्यक्ति यह अनुमान लगा लेते हैं कि वह अभिमानी,

---

[1] "......Great high roads of history are strewn with little shrines of peace, which have either be left unfinished, or have collasped when [illegible] for the sole reason that their foundation were built on the sands of [illegible] misconception, Bjorke, Bucklan, Theoiry, Stresa, Munich [illegible] ramples should serve as warnings to all young negotiators."

शुष्क, सुस्त, एकान्तप्रिय एवं रुग्ण है, फिर भी राजनयिज्ञ को शान्त ही रहना चाहिए क्योंकि उत्तेजित होने वाले व्यक्ति से शान्त व्यक्ति अधिक प्रभाव डालता है।

(4) धैर्य एवं सतत् कार्यशीलता (Patience and Perseverance)—शान्त वही व्यक्ति रह सकता है जो धैर्यवान हो। कितनी कठिन और विरोधी परिस्थितियाँ सामने आयें पर धैर्य कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इतिहास साक्षी है कि सफलता उन्हीं लोगों को वरण करती है जो धैर्यवान होते है। पर धैर्य के अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति निराश होकर हाथ पर हाथ धर, भाग्यवादी होकर बैठ जाये। वह सतत कार्यशील एवं प्रयत्नशील बना रहे। धैर्य से अपने उद्देश्यों की पूर्ति में हमेशा सहायता मिलती है। आधुनिक सफल राजनयिज्ञों में कैम्बो बन्धुओं के नाम शीर्ष पर हैं। मि० पाल कैम्बन ने फ्रेंच राजदूत के रूप में ब्रिटेन मे रहकर 20 वर्ष गुजारे। वह ऐसे समय ब्रिटेन गया था जब दोनों देशों में बड़ी तनातनी चल रही थी परन्तु जब वह इंगलैंड से स्वदेश लौटा तो उस समय दोनों देशों के सम्बन्ध केवल सुधरे ही नहीं, बल्कि दोनों देश घनिष्ठ मित्र बन चुके थे। निकलसन महोदय ने पाल कैम्बन की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "सही अवसर को पकड़ने की उसकी असाधारण योग्यता, समय पर समझदारी से काम लेने वाली उसकी बुद्धि और उसके व्यवहार की शान आदि ने उसे 1914 का एक ऐसा व्यक्ति बना दिया जिसका विश्वास एवं आदर जगत में प्रसिद्ध है।"[1]

पाल कैम्बन का भाई ज्यूल्स कैम्बन भी एक प्रसिद्ध राजनयिज्ञ हो चुका है। वह धैर्य को बड़ा महत्त्व देता था। उसने अपनी पुस्तक 'डिप्लोमेट' (Diplomat) में लिखा है—"धैर्य सफल राजनयिज्ञ का अनिवार्य गुण है। जब धैर्यवान व्यक्ति को विपरीत वायु का सामना करना पड़े तो वह अपना कार्य-भार रूपी जलयान धैर्यरूपी लगर के सहारे बन्दरगाह मे ही पड़ा रहने दे।"[2]

(5) विनम्रता (Modesty)—एक राजनयिज्ञ को शीलवान और नम्र स्वभाव का होना चाहिए। अहंकार मानव का सबसे बड़ा शत्रु है, राजनयिज्ञ को इससे बचकर रहना चाहिए। अहंकार व्यक्ति को अन्धा, जिद्दी और विवेक शून्य बना देता है। विजेता विजय के घमण्ड मे आकर विजित के प्रति इतनी कठोरता बरतता है कि विजित उसे घृणा करने लगता तथा बदले का अवसर खोजता रहता है। कहावत है कि अभिमानी का सर सदैव नीचा होते देखा गया है।" कोई भयंकर गलती करके उस पर अड़े रहने का परिणाम अत्यन्त विनाशकारी होता है।

राजनयिज्ञ को अपने व्यवहार में सभ्य, शिष्ट एवं नम्र बने रहना चाहिए यदि विरोध करना ही आवश्यक हो, तो भी शिष्टता को न गँवा कर नम्र और मृदु भाषा में विरोध को प्रकट करना चाहिए। के० एम० पानिक्कर का कथन है कि "शान्त, धैर्य तथा सहानुभूति व्यवहार का तरीका अपनाने से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं। क्योंकि इस प्रकार के व्यवहार से प्रतिरोधी को आपकी ईमानदारी पर विश्वास हो जायगा।" आगे भी उन्होंने लिखा है कि "राजनयिज्ञ को अपने हृदय में घृणा की भावना नहीं रखनी चाहिए और जब उसे किसी बात का विरोध करना हो तो उसे नम्रतापूर्वक एवं नरमी से कहना चाहिए। शान्त स्वर में "नहीं" कहने का प्रभाव उतना ही पड़ता है, जितना सामने बैठे हुए व्यक्ति से चिल्ला कर 'नहीं' कहने का और इसमें दूसरा व्यक्ति बुरा भी नहीं मानता है।" घमण्ड, सन्धिवार्ता करने वाले के लिए महान खतरा उत्पन्न कर देता

---

1 "His extraordinary capacity for seizing the right moment, his delecate sense of occasion, the extreme dignity of his manner, rendered him by 1914 a man who was universally trusted and universally esteemed." —*Nicolson*

2 "Patience is an indispensable quality for the successful negotiator. The wind is bound to be contrary at times and then one has tack to get into part." —*G. Cambon*

है। सभी दोषों में, राजनयिज्ञ का अहंकार, उसका सबसे बड़ा दोष है। इसे सर्वव प्रयत्नपूर्वक दूर रखा जाना चाहिए।

(6) सामयिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन (Change According to Timely Circumstances)—व्यक्ति को हठी होना भी उसके चरित्र का एक दोष है। राजनयिज्ञ को भी हठी न होकर समयानुकूल अपने विचारों में परिवर्तन कर लेना चाहिए। कैलियो का मत है कि "राजनयिज्ञ को चाहिए कि अपने को वह उस परिस्थिति में रखकर विचार करे जिस परिस्थिति में दूसरे देश का शासक है। उसमें दूसरे की भावना को अपनाने की क्षमता होनी चाहिए। अपने को दूसरे की भावना के सन्दर्भ में रखकर उसे यह सोचना कि ऐसी परिस्थितियों में वह क्या करता।"

जो राजनयिज्ञ समय के अनुसार अपने को नहीं बदल पाता वह असफल सिद्ध होता है। के० एम० पानिक्कर ने लिखा है कि "दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अपने मूलभूत लक्षण को समझ लेना चाहिए और उसकी प्राप्ति के लिए अविचलित रूप से काम करना चाहिए, परन्तु परिस्थितियों, सामान्य वातावरण, प्रमुख व्यक्तियों तथा आन्तरिक घटनाओं की प्रगति आदि के अनुसार उनकी प्राप्ति के साधन बदलते रहने चाहिए।" राजनयिज्ञ को चाहिए कि वह समझौता करने वाले व्यक्ति के स्तर पर अपने आपको लाने का प्रयत्न करे।

(7) स्वामी भक्ति (Loyalty)—राजनयिज्ञ का एक अत्यन्त आवश्यक गुण यह होना चाहिए कि वफादार अथवा स्वामी भक्त होता है। राजनयिज्ञ अपनी सरकार तथा विदेश विभाग के प्रति उत्तरदायी होता है। उसे चाहिए कि वह अपनी सरकार का विश्वासपात्र बना रहे, इसके अतिरिक्त स्वागतकर्ता राज्य का विश्वास और सम्मान भी प्राप्त करे। क्योंकि इसके बिना उसे अपना उद्देश्य पूर्ण करना कठिन हो जायगा। ऐसा तभी सम्भव है जबकि उसकी नैतिकता पर परिग्राहक राज्य (Receiving State) को भरोसा हो। यदि वह इन दोनों में से किसी का भी विश्वास खो देता है तो इससे केवल उसे या उसके व्यवसाय को भी धक्का नहीं लगेगा, बल्कि उसकी सरकार को भी काफी आघात पहुँचेगा।

स्वामी-भक्ति का यह अर्थ नहीं कि राजनयिज्ञ अपनी सरकार को खुश करने के लिए उसका चाटुकार बन जाय तथा उसे ऐसी ही सूचना भेजे जो उसे प्रिय लगे। यह कार्य स्वामी-भक्ति नहीं बल्कि विश्वासघाती है। उसका कर्तव्य यह है कि वह जो प्रतिवेदन सरकार को भेजे, वह "यथार्थपूर्ण, तथ्यों पर आधारित तथा विवेकपूर्ण" हो। कभी-कभी राजनयिज्ञ को ऐसी सूचनाएँ भी सरकार को देनी पड़ती है जो अरुचिकर होती है। उसे सच्ची घटनाओं को छिपाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। राजनयिज्ञ का यह भी कर्तव्य है कि वह अपनी सरकार को बिना नमक-मिर्च लगाये ऐसी सामग्री दे जिसमें वह स्वयं निष्कर्ष निकाल सके। उसका प्रतिवेदन सुस्पष्ट, तर्कपूर्ण एवं दृढ़ शब्दों में हो तथा जो असम्बन्धित बातों और अफवाहों से रहित हो।

कभी कभी एक राजनयिज्ञ यह भी सोच बैठता है कि उसका मुख्य कार्य है—'विदेशों से अच्छे सम्बन्ध बनाना", पर वह शायद यह भूल जाता है कि 'अच्छे सम्बन्ध' स्वयं में कोई साध्य नहीं, अपने देश के हितों को बनाये रखने का साधन मात्र हैं। निकलसन ने लिखा है कि "वे इस सिद्धान्त से इतने प्रभावित होते हैं कि एक राजदूत का कार्य केवल विदेशी सरकार से अच्छे सम्बन्ध उत्पन्न करना मात्र है, पर वह यह बात भूल जाते हैं कि अच्छा सम्बन्ध स्वयं में साध्य न होकर अपने देश के हितों को बचाये रखने का साधन मात्र है।"[1] यह स्वामिभक्ति का ढंग उचित नहीं।

---

[1] "......They may have become so impressed by the doctrine that the *function* of an ambassador is to create good relations, with a foreign government, that they confuse the end with the means and see 'goodrelation' *not* as part of their functions but as the sole purpose of their activity." —*Nicolson*

(8) सामाजिक समारोहों का आयोजन (Planning of Ceremonial Functions)—राजनयिज्ञ जिस देश में जाता है, वहाँ उसे अपने सम्बन्ध विदेशी सरकार के उच्च अधिकारियों से अच्छे बनाने के लिए, वहाँ के सामाजिक समारोहों में भाग लेना पड़ता है, साथ में उसे स्वयं भी ऐसे सामाजिक समारोहों का आयोजन करना पड़ता है जिसमें वह विदेशी राजनीतिज्ञों को निमन्त्रित करता है। औपचारिक या अनौपचारिक दोनों प्रकार के सहभोजों में सम्मिलित होना राजनयिज्ञ के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। इन अवसरों पर राजदूत अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में विकास करता है। राजदूत का यह कर्तव्य है कि वह उन व्यक्तियों की आदतों, इच्छाओं एवं स्वभावों से भली प्रकार परिचित हो, जिनसे उसका कार्य पड़ता है। परिचय में उनके पिछले जीवन, योग्यता एवं ईमानदारी आदि के विषय में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। यह कार्य प्रीतिभोजों और समारोहों द्वारा ही अच्छी प्रकार सम्पन्न हो सकता है।

(9) अत्यन्त उत्साह—एक दोष (More Courage—A Defect)—राजनय में अधिक उत्साह, एक गुण नहीं दोष माना जाता है। राजनयिज्ञ को अत्यन्त उत्साही नहीं होना चाहिए। राजनय के सिद्धहस्त आचार्य तोलेरां के अपने एक युवक मित्र को परामर्श दिया था कि "सबसे पहली बात यह है कि अपने उत्साह को अपने वश में रखो।" यह बात राजदूत पर लागू होती है। यदि वह राष्ट्र-भक्ति के क्षणिक आवेशों से प्रभावित हो जाता है, तो वह निश्चित किसी वार्ता में सफल नहीं हो सकता है।

किसी एक वार्ता में सफल राजनयिज्ञ, अत्यन्त उत्साह प्रकट करता है, इससे दूसरे पक्ष वालों का असन्तोष बढ़ जाता है और परिणाम यह निकलता है कि दूसरे देश से रहे-सहे सम्बन्ध भी टूट जाते हैं।

(10) अवसर और उचित अनुपात का ज्ञान (Knowledge Opportunity and Due Proportion)—राजनयिज्ञ में यह भी गुण होना आवश्यक है कि उसे अवसर की पहचान हो। उचित अवसर की प्रतीक्षा में बैठा रहना समय नष्ट नहीं करना है, बल्कि उसका सदुपयोग करना है जैसा कि एक अँग्रेजी कहावत है कि "जब लोहा गर्म हो जाये तब उस पर चोट की जाये" (Beat the iron when it is hot)। मीराबो ने फ्रांसीसी संसद में भाषण देते हुए कहा था "इस समय कार्य-विधि शान्त रहने की होनी चाहिए; हमें सावधान रहना है कि हम इस समय कोई कदम न उठायें; हमे कुछ कर दिखाने की उतावली से बचकर रहना है।" देमेस्थनीज का कहना है कि "राजनयिज्ञों पर न तो युद्धपोत है, न तोपें, न किले; शब्द और अवसर ही उसके हथियार होते हैं। महत्त्वपूर्ण मामलों में देखते-देखते अवसर हाथ से निकल जाता है और एक बार अवसर निकल जाने पर दुबारा हाथ नहीं आता है।" हिन्दी में भी कहावत है "का वर्षा जब कृषि सुखाने" इस प्रकार वार्ता का भी समय होता है। उचित समय वार्ता करने में सफलता कदम चूमती है।"

राजनयिज्ञ को छोटे-बड़े मामलों में एक सी नीति नहीं अपनानी चाहिए। कम महत्त्व के मामलों में हठ नहीं करनी चाहिए, हाँ महत्त्वपूर्ण मामलों में उसे दृढ़ता से काम लेना चाहिए। जो राजनयिज्ञ छोटे-छोटे मामलों को मैत्रीपूर्ण व्यवहार से सुलझा ले जाता है उसकी साख विश्व में जम जाती है और वह बड़े मामले भी कुशलतापूर्वक सुलझा लेता है।

(11) कुशल वक्ता तथा लेखन-कला में प्रवीण (A Good Orator and an Expert Writer)—एक राजनयिज्ञ को विदेश से जाकर अपने देश की नीति का प्रचार करना पड़ता है, विदेशी जनमत को प्रभावित करना पड़ता है और सम्मेलनों में उसे भाषण देने पड़ते हैं, अतः उसमें कुशल वक्ता के गुण होने आवश्यक हैं। उसकी भाषा में लोच, तथ्यों को रखने में कुशलता, विस्तृत और विषय की पूर्ण जानकारी, वक्ता को आकर्षक बना देती है। वह रोतों को हँसा सकता है,

हँसतों को रुला सकता है; मित्रों को शत्रु और शत्रुओं को मित्र बना सकता है। वह बालू से भी तेल निकाल सकता है।

भाषण के साथ-साथ वह लेखन कला में भी प्रवीण होना चाहिए क्योंकि उसे नित्य प्रति सरकार को विभिन्न प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ, आवेदन एवं प्रतिवेदन आदि लिखने पड़ते हैं। उसे परिग्राहक राज्य को भी अनेक प्रकार के पत्र लिखने पड़ते हैं। इस प्रकार यह एक अच्छा लेखक न होगा तो सफलता प्राप्त न कर सकेगा।

(12) राजनयिज्ञों को माम्सबरी की सलाहें (Advices of Malmsbury of the Dimplomatists)—जो लोग राजनयिक सेवा के इच्छुक हैं उनको अर्ल माम्सबरी ने कुछ सलाहें दी हैं। ये सलाहें राजनयिज्ञ के गुणों की ओर संकेत करती हैं। उनकी कुछ प्रमुख सलाहें निम्नलिखित हैं :—

(i) राजनयिक को कम बोलना और अधिक सुनना चाहिए। अधिक बोलने वाला अनेक अनावश्यक बातें बोल जाता है और कभी अपने हृदय में छिपे भेदों को प्रकट कर देता है। अतः राजनयिज्ञ को उसी समय और उतना ही बोलना चाहिए जितना आवश्यक हो या जिससे दूसरों को बोलने का प्रोत्साहन मिले।

(ii) राजनयिज्ञ को विदेश में जाने पर ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिए जो राजनयिज्ञ के यहाँ प्रथम पदार्पण में ही अपना परिचय बढ़ाने के लिए बड़े उत्सुक दिखाई दें, और विदेश में रहते हुए उसे किसी के प्रति मोह (attachment) नहीं बढ़ाना चाहिए।

(iii) राजनयिज्ञ जिस देश में नियुक्त हो, वहाँ के आचार-विचार की मजाक न उड़ानी चाहिए, उल्टे उसे वहाँ की भाषा सीख कर—उसी ढंग से कार्य करना चाहिए।

(iv) राजनयिज्ञ को परिग्राहक राज्य में किसी वास्तविक या काल्पनिक सामान आदि से प्रभावित नहीं होना चाहिए। यह आवश्यक भी नहीं।

(v) उसे सूक्ष्मदर्शी, शिष्ट, दृढ़ होना चाहिए एवं उतावलेपन का कभी प्रदर्शन न करना चाहिए।

(13) के० एम० पनिक्कर के उपदेश (K. M. Panikkars Advices)—के० एम० पानिक्कर ने भी राजनयिज्ञों को निम्नलिखित उपदेश दिये हैं :—

(i) राजनयिज्ञ के रहने-सहने का ढंग अधिक विलासतापूर्ण न होना चाहिए। उसे अपव्ययी न होना चाहिए पर उसे कंजूस भी न होना चाहिए। उसे उचित मर्यादा का पालन करना चाहिए।

(ii) वह अपने देश का प्रतिनिधि होकर विदेश जाता है अतः उसे कोई ऐसी बातें न कहनी चाहिए या कार्य न करना चाहिए जिससे उसके देश के सम्मान या मर्यादा पर आँच आये।

(iii) राजनयिज्ञ विदेश में न अधिक खिंचकर रहें और न अधिक घुल-मिलकर रहें। इन दोनों अतियों से उसे दूर रहना चाहिए। उसे अपने पद की गरिमा को बनाये रखना चाहिए।

(iv) राजनयिज्ञ को न भावुक होना चाहिए और न कल्पना प्रधान होना चाहिए। उसे सदैव विवेक से काम लेना चाहिए।

(v) राजनयिक को व्यवहार कुशल होना चाहिए, उसे कोई ऐसी बात मुख से न निकालनी चाहिए जिससे दूसरे के हृदय को आघात लगे। उसे सदैव शिष्ट भाषा का प्रयोग करना चाहिए तथा समझौते करने वाली मनोवृत्ति रखनी चाहिए।

(vi) प्रत्येक समझौते में कुछ न कुछ देना पड़ता है, पर अच्छा राजनयिज्ञ वह है जो उचित मूल्य चुकाकर समझौता करता है। बहुत कड़ी सौदेबाजी करना या बहुत [illegible] देने मनोवृत्ति रखने वाला राजनयिज्ञ वार्ता में असफल हो जाता है, क्योंकि राजनय [illegible] सन्धि करने वाले दोनों पक्ष सन्तुष्ट रहें।

(vii) संयम एक राजनयिज्ञ का ध्येय होना चाहिए। थियें का परामर्श था "कभी किसी को बहुत अधिक सफलता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।"

(viii) समझौता वार्ता करते समय राजनयिज्ञ को अपने प्रतिद्वन्द्वी को कम बुद्धि वाला नहीं समझना चाहिए।

(ix) ऐसा देश जो अपने देश का पक्का विरोधी हो, उसमें रहकर राजदूत को बड़ा सावधान रहना चाहिए। उसे अपने आपको वचनबद्ध न करते हुए, अपने देश की नीति के अनुरूप सन्तोषजनक उत्तर देना चाहिए। यदि राजनयिज्ञ किसी प्रश्न के उत्तर के लिए तैयार नहीं तो उसे टाल देना चाहिए, वह राजनय की अच्छी युक्ति है।

(x) मैकियवाली आधुनिक राजनय का जन्मदाता माना जाता है उसका मत था कि *"जब भलाई करो तो थोड़ी-थोड़ी करके करो पर जब बुराई करना हो तो एकदम से।"* राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों मे यह सिद्धान्त अधिक महत्त्व रखता है। यदि किसी राज्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना हो तो एकदम बड़ा आपरेशन करना चाहिए इससे तकलीफ तो बहुत होगी पर एक बार ही समस्त झंझट दूर हो जायगा। इसी प्रकार यदि भलाई थोड़ी-थोड़ी की जायगी तो मित्रता अधिक समय तक बनी रहेगी।

(xi) यदि आप शत्रु के व्यवहार को अनुचित ठहराना चाहते हैं तो आप भी उस पर वही आरोप लगायें जो आपके हृदय में हो। यह तुर्गमेव का सिद्धान्त है। जब पाकिस्तान ने कश्मीर समस्या पर भारत पर अनेक आरोप लगाये तो भारत ने भी उस पर नर-संहार का आरोप लगाया।

(xii) कुछ विद्वानों ने मुसोलिनी के ढग को पसन्द किया। उसका यह सिद्धान्त था कि जब वह किसी समस्या का हल करना चाहता था तो पहले वह सम्बन्धित राज्य से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता था। अतः समस्या और विकट हो जाती थी तब बिना कुछ दिये अपनी इच्छानुसार उससे समझौता करने मे सफल हो जाता था। ट्यूनिस के मामले में उसने इसी सिद्धान्त को अपनाया उसने विद्यार्थियो के आन्दोलन द्वारा एव सैनिक प्रदर्शन कर "नाइस तथा कार्सिका" को वापस दिये जाने की माँगें दोहराईं। इसका परिणाम यह हुआ कि जब इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण किया तो फ्रांस ने इटली का विरोध करने की बजाय उसे गुप्त समर्थन एवं सहायता दी। इतना ही नहीं ट्यूनिस ने भी उसे अधिक सुविधायें दी।

(xiii) अपने स्वार्थ पूर्ति के लिये भी, राजनयिज्ञ को सर्वोपकार की भाषा ही बोलना चाहिये। जैसा रूसी राजनय में होता है।

(xiv) "मारो और हाय-हाय करो" की नीति भी कभी-कभी लाभदायक सिद्ध होती है। *पाकिस्तान की यही नीति भारत के प्रति चलती है। वह इसी नीति से विश्व के अनेक देशों से* युद्ध सामग्री पाता रहता है। वह सदैव पहले आक्रमण करता है और शोर मचाता है कि भारत ने उस पर आक्रमण कर दिया है।

राजनयिक प्रतिनिधियों का वर्गीकरण
(Classification of Diplamatic Representatives)

राजदूत प्रथा का जन्म (*Beginning of the tradition of Diplamatic Representatives*)—(1) राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने में राजदूतो का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। यह प्रथा अति प्राचीन काल से प्रचलित है। भारत में यह प्रथा वैदिक काल मे ही प्रारम्भ हो गई थी। उत्तर वैदिक काल मे इसका पर्याप्त विकास हो चुका था। रामायण एवं महाभारत काल में दूतों के आदान-प्रदान का रिवाज था। रामायण काल मे हनुमान एवं अंगद राजदूत के रूप में चित्रित किये गये हैं। इसी प्रकार महाभारत में संजय और भगवान कृष्ण ने राजदूतों का कार्य किया था।

भारत के अतिरिक्त प्राचीन यूनान में भी राजदूतों का प्रचलन था। चन्द्रगुप्त मौर्य (321 ई० पू० से 298 ई० पू०) के काल में यूनान का राजदूत मैगस्थनीज चन्द्रगुप्त मौर्य तथा उसके पुत्र बिन्दुसार के दरबार में था। चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु चाणक्य एक महान कूटनीतिज्ञ था। उसने तो राजदूतों की श्रेणियों का भी उल्लेख किया है। उस काल मे तीन प्रकार के राजदूत थे।

कामन्द ने भी कौटिल्य अथवा चाणक्य के मत को ग्रहण किया है। उसका कहना था कि "दूतों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे राजाओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित करें, दूसरे राज्यों में अपने देश के वैभव और शक्ति का प्रचार करें। दूसरे राज्यो की वास्तविक शक्ति और दुर्बलताओं से अपने राजा को अवगत करायें तथा दूसरे देश के शत्रुओं से सम्पर्क करके उन्हें अपने साथ मिलाने का प्रयत्न करें।"

विष्णुगुप्त ने हितोपदेश तथा यंत्र तन्त्र की कहानियों मे राजदूतों एवं राजनय के सिद्धान्तों को पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार यह पता चलता है कि राजदूत व्यवस्था नई नही अति प्राचीन है।

(2) मध्यकालीन युग में हिन्दू साम्राज्य क्षीण हो गया और ईसाइयों एवं मुसलमानों के साम्राज्य बढ़े। इनके राज्यों में भी राजदूतो का आदान-प्रदान होता था पर स्थायी राजदूतों का अस्तित्व नही दिखाई देता था। इस प्रथा को प्रारम्भ करने का श्रेय यूरोप को ही है, विशेषकर इटली एवं फ्रांस में यह व्यवस्था 14 वीं शताब्दी में स्थापित हो चुकी थी।

(3) 13 वीं शताब्दी तक अस्थायी दूतों की नियुक्तियाँ होती थी जो अपना कार्य समाप्त कर अपने देश लौट आते थे। फ्रांस का सम्राट पहला शासक था जिसने दूसरे राज्यों की राजधानियों में स्थायी रूप से रहने के लिये राजदूत भेजे। इतना ही नही 14 वीं और 15 वीं शताब्दियों में स्थायी दूतावासों का भी निर्माण प्रारम्भ हो गया था। 17 वी शताब्दी में यह प्रथा लगभग सभी राज्यों ने अपना ली थी।

इस विषय में फैनविक का कथन उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं कि 'वास्तव में, शताब्दियों से राज्यों की राजधानियों में राज्य अपने स्थायी राजनयिक प्रतिनिधि रखते थे। आज के युग मे कोई भी देश अपने आपको शेष विश्व से पृथक नहीं रख सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो वह राज्य समाज से बहिष्कृत माना जाता है।"[1]

राजनयिक प्रतिनिधियों की श्रेणियाँ (Classes of Diplomatic Representatives)—(अ) प्राचीनकाल मे कौटिल्य ने तीन प्रकार के राजदूत बताये थे—(i) निसृष्टार्थ-विस्तृत अधिकार रखने वाला राजदूत, (ii) परिमितार्थ—सीमित अधिकार रखने वाला राजदूत, तथा (iii) शासन हर—केवल सन्देश वाहक का कार्य करता था। कामन्दक ने भी कौटिल्य की इन श्रेणियों को मान्यता दी है।

(ब) मध्यकाल में यूरोप के अन्दर जब एक ही राजधानी में अनेक देशों के राजदूत जमा होने लगे तब प्रत्येक देश के राजदूत ने अपने को सर्वप्रथम स्थान ग्रहण करने का प्रयत्न किया। किसी भी राजदूत को यदि पीछे स्थान मिलता था तो वह अपना ही नही अपने राजा और राष्ट्र का अपमान समझता था और कभी-कभी अग्रत्व (Precedence) को लेकर बड़े झगड़े खड़े हो जाते थे।

---

[1] "As a matter of fact, for several centuries states have a regularly maitained permar... of froeign states. and no state cc... ınication with the rest of the wo... ommunity of nations."
—*Fenwick*

इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न सर्वप्रथम पोप ने किया। पोप चूंकि ईसाई जगत का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति माना जाता था अतः प्रथम स्थान उसने अपने पास रखा। इसके बाद रोम के सम्राट को अपने विशाल साम्राज्य के कारण दूसरा स्थान प्राप्त हुआ। रोम के सम्राट के उत्तराधिकारियों को तीसरा स्थान मिला। इसके बाद फ्रांस, एरागन एवं पुर्तगाल का स्थान आता था। इङ्गलैण्ड को उस समय अधिक महत्त्व होने के कारण, छटा स्थान प्रदान किया गया।

पोप के इस वर्गीकरण को अनेक राज्यों ने स्वीकार न किया अतः अग्रत्व के लिये झगड़े जारी रहे। प्रत्येक शासक अपने दूत को विदेश भेजते समय उसे उपदेश देता था कि वह अग्रता में अन्य दूतों से पीछे न रहे। स्पेन और फ्रांस में बड़ी प्रतिद्वन्द्विता थी। उनके राजदूत एक दूसरे से आगे रहने का प्रयत्न करते थे। अतः उनमें बहुधा "द्वन्द्व-युद्ध" होता रहता था। इस प्रकार दूतावास राजनयिक गतिविधियों का अखाड़ा न बन कर द्वन्द्व युद्धों का अखाड़ा बना रहता था।

निकलसन महोदय ने अपनी पुस्तक 'डिप्लोमेसी' (Diplomacy) में मध्यकालीन राजदूतों के विषय में अच्छा चित्र खींचा है। उसके मतानुसार "जब कभी किसी राजदूत की नियुक्ति विदेश में होती थी तो उसके आगमन पर उसका स्वागत करने के लिये विभिन्न राज्यों के राजदूत अपनी सजी सवारियाँ भेजते थे। इन सजी-सजाई सवारियों का एक अच्छा खासा जलूस बन जाता था। 1661 में स्वेडन का राजदूत लन्दन में आया। विभिन्न राजदूतों ने अपनी-अपनी सवारियाँ उसे लेने के लिये भेजी। इन में फ्रांस और स्पेन की भी गाड़ियाँ थीं। स्वेडन का राजदूत इङ्गलैण्ड की गाड़ी में बैठ गया और चल पड़ा। फ्रांसीसी राजदूत ने अपनी गाड़ी स्वेडन के राजदूत की गाड़ी के पीछे लगादी। स्पेन के राजदूत को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने इसमें अपने सम्राट का अपमान समझा। दोनों राजदूतों में संघर्ष छिड़ गया। प्रत्येक गाड़ी के साथ 150 सशस्त्र सैनिक चलते थे। स्पेनिस सैनिकों ने फ्रांस के राजदूत पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने फ्रांसीसी गाड़ी के कोचवान को नीचे खींच लिया एवं घोड़ों को अंगहीन कर दिया। इस संघर्ष में एक सैनिक भी मारा गया। जब इस घटना का पता फ्रांस के सम्राट को लगा तो वह क्रोधित हुआ। उसने स्पेन से अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लिये। इतना ही नहीं उसने स्पेन के सम्राट को धमकी दी कि यदि स्पेनिस दूत को दण्ड न दिया गया, इस उद्दण्डता के लिये क्षमा न मांगी गई तो वह स्पेन पर आक्रमण कर देगा। स्पेन के सम्राट ने बुद्धिमत्ता से काम लिया। उसने इस घटना के लिये फ्रांस से क्षमा मांगी तथा क्षतिपूर्ति करने का भी वचन दिया, तब कहीं जाकर यह मामला सुलझा।

(ख) आधुनिक काल के प्रारम्भ में राजदूतों का कोई ऐसा वर्गीकरण न था जिस पर सब राज्य सहमत होते।

1815 में कांग्रेस ऑफ वियना ने राजनयिकों की तीन श्रेणियाँ स्थापित कीं। 1818 में एक्स-ला-शैपल के सम्मेलन ने एक अन्य श्रेणी को भी जोड़ दिया। ये श्रेणियाँ निम्नलिखित थीं—

(1) राजदूत (Ambassadors)—राजनयिक प्रतिनिधियों में राजदूतों की श्रेणी सर्वोच्च है। वह राज्याध्यक्ष संप्रभु का प्रतिनिधि होता है। उसे इसी कारण विशेष सम्मान एवं विशेषाधिकार एवं सुविधायें प्रदान की जाती हैं। वे विदेशी शासक से सीधा सम्पर्क रख सकते हैं। उन्हे परम श्रेष्ठ (His Excellency) शब्द से सम्बोधित किया जाता है। यह शब्द प्राचीन सम्राटों के निजी प्रतिनिधियों के लिये भी प्रयुक्त होता था। प्रायः महा शक्तियाँ ही राजदूत भेजने की अधिकारी होती हैं।

(2) पूर्ण शक्तियुक्त मन्त्री तथा असाधारण राजदूत—राजदूतों से इन्हें निम्नतर स्तर

का माना जाता है। वे शासनाध्यक्ष के व्यक्तिगत प्रतिनिधि नहीं माने जाते हैं अतः इन्हें वह सम्मान, प्रतिष्ठा एवं विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते जो राजदूतों (Ambassadors) को प्राप्त होते हैं न ही इन्हें परम श्रेष्ठ (His Excellency) शब्द से सम्बोधित किया जाता है और न ही इन्हें विदेशी शासनाध्यक्ष से सीधा सम्पर्क रखने का अधिकार प्राप्त होता है। इतना होने पर भी इनको शिष्टावश सम्बोधन प्राप्त है।

(3) निवास मन्त्री (Minister Resident)—राजनयिक दूतों में तीसरे नम्बर पर निवास मन्त्री आते हैं। 1818 में एक्स ला शैपल के सम्मेलन में इस नवीन वर्ग का निर्माण किया गया था। यद्यपि स्वरूप और कार्य की दृष्टि से निवास मन्त्री एवं दूसरे वर्ग के दूतों में कोई भेद नहीं किया जाता है पर ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, फ्रांस आदि महाशक्तियो की यह धारणा है कि उनके दूतों और छोटे राज्यों के दूतों मे कुछ अन्तर अवश्य बना रहे। अतः लघु शक्तियाँ इन्हें नियुक्त करती हैं। इन्हें शिष्टावश भी परम श्रेष्ठ नही कहा जाता है। आज इस प्रकार के दूतों को नियुक्त करने की प्रणाली कम होती जा रही है।

(4) कार्य दूत (Charge D'Affairs)—उपर्युक्त तीनो वर्गों के दूतों से कार्यदूत का पद नीचा माना जाता है। उपर्युक्त तीनों वर्गों के दूतों की नियुक्ति शासनाध्यक्ष द्वारा होती है जबकि कार्य दूतों की नियुक्ति विदेश मन्त्रालय करता है। वह विदेश मन्त्रालय द्वारा भेजा जाता है। परिणाम यह होता है कि इन्हे अन्य दूतों के समान न तो सम्मान मिलता है और न विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ। उपर्युक्त तीनों दूतो को अपनी नियुक्ति के प्रमाण-पत्र विदेशी राज्य के अध्यक्ष को प्रस्तुत करने होते हैं, जबकि कार्य दूत अपना प्रमाण पत्र विदेशी मन्त्री के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

राजनयिज्ञों के विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ
(Preveleges and Immunities of Diplomats)

दूतों को अपने कार्य सम्पादन में कठिनाइयाँ न अनुभव हों, अतः उन्हें अन्य विदेशी नागरिकों की अपेक्षा अधिक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती है। विदेशी सरकार उन्हें शाही मेहमान मानकर उनके पद के अनुसार विशेष सुविधायें देती हैं। इन सुविधाओं एवं विशेषाधिकारों को निम्नलिखित वर्गों में बाँटकर उनकी विवेचना की जायगी—

(1) वैयक्तिक सुरक्षा (Personal safety)—राजदूतों को आधुनिक युग मे ही नहीं, प्राचीन युग में भी जान-माल की सुरक्षा का अधिकार प्राप्त था। यहाँ तक कि असभ्य कहलाने वाली जातियों में भी दूतों को शारीरिक कष्ट पहुँचाना अनुचित माना जाता था। रावण जैसा दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति भी दूतों को प्राण दण्ड देने से हिचकता था। महाभारत काल में भी भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को शान्ति पर्व में उपदेश देते हुये दूत की अवध्यता के सिद्धान्त को पालन करने को कहा था। उन्होंने बताया था कि दूतों को मारने वाला राजा नरकगामी और भ्रूण हत्या के पाप का भागी होता है। कौटिल्य के अनुसार दूत यदि चाण्डाल भी हो तो भी वह अवध्य है।

आधुनिक युग में इसी परम्परा के आधार पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का निर्माण किया गया है। आज के युग में राजनैतिक प्रतिनिधि राज्याध्यक्ष के समान ही सुरक्षित माना जाता है, उसके शरीर को विदेश में, वही आदर, सम्मान एव सुरक्षा प्राप्त होती है जो कि राज्याध्यक्ष (Head of the State) के शरीर को प्राप्त है। "रिपब्लिक एवं लाग-चैम्पस" के मामले मे न्यायालय ने निर्णय देते हुये कहा था कि "राजदूत का शरीर पवित्र एवं अवध्य होता है। इसके प्रति की गई किसी प्रकार हिंसा न केवल उस राजा या प्रभु का अपमान है, जिसका वह प्रतिनिधि है, अपितु इससे राष्ट्रों को सामान्य सुरक्षा और कल्याण को भी हानि पहुँचती है। इस प्रकार का कार्य करने वाला व्यक्ति सारी दुनिया के विरुद्ध अपराध करता है।"

इस प्रकार राजनयिक का शरीर अत्यन्त पवित्र माना जाता है। कोई भी सरकारी या गैर सरकारी व्यक्ति उसके शरीर पर आघात नहीं कर सकता है। कुछ उदाहरण इस विषय में दिये जाते हैं। 1654 में इग्लैंड मे फ्रांसीसी राजदूत ने क्रामवेल (शासनाध्यक्ष) की हत्या के षड्यन्त्र में भाग लिया था अतः उसे 24 घण्टे में इङ्गलैण्ड छोड़ देने का आदेश दिया गया। यदि कोई राजदूत विदेश मे ऐसे षड्यन्त्र में भाग लेता है, जिससे उस देश की शान्ति खतरे में पड़ सकती है तो उसे गिरफ्तार भी किया जा सकता है। 1717 में स्वेडन के राजदूत को गिरफ्तार किया गया था, क्योंकि उसने इङ्गलैण्ड के राजा जार्ज प्रथम के विरुद्ध षड्यन्त्र में भाग लिया था। फ्रांस मे स्पेन के राजदूत को 1718 मे जेल में बन्द किया गया था क्योंकि उसने फ्रांसीसी सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र में भाग लिया था। इस प्रकार किसी षड्यन्त्रकारी राजदूत को गिरफ्तारी के विरोध करने पर या बचने पर शारीरिक चोट आ जाय तो वह उसकी शिकायत नहीं कर सकता है। पर यदि प्रेषक राज्य और स्वागत कर्ता राज्य के मध्य युद्ध छिड़ जाय तो राजदूत के शरीर की पूर्ण रक्षा करना, जब तक वह अपने स्वदेश न लौट जाय, स्वागतकर्ता राज्य का पवित्र कर्त्तव्य होता है।

(2) राज्य क्षेत्र बाह्यता (Exterritoriality)—राजदूत को राज्य-क्षेत्र बाह्यता का विशेष अधिकार प्राप्त होता है। इस का तात्पर्य यह है कि राजदूत जिस देश में नियुक्त किया जाता है, उसकी सभी वस्तुएँ भौतिक रूप से उसी राज्य के क्षेत्र में स्थित होती हैं परन्तु उन वस्तुओं पर स्वागत कर्ता राज्य का क्षेत्राधिकार नहीं माना जाता है। प्रत्येक राज्य का दूतावास दूसरे राज्य के राज्य-क्षेत्र में बना होता है पर वह कानून एवं न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर माना जाता है। प्रत्येक दूतावास अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र होता है, वहाँ स्वदेश का कानून चलता है, स्वदेश का ध्वज फहराता है। विदेशी पुलिस राजदूत की अनुमति के बिना दूतावास क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकती है। प्राचीन काल में राजदूतावास तो राज्य क्षेत्र बाह्यता के अन्तर्गत आता ही था, परन्तु उसके राजदूतावास से लगा शहर का कुछ और भाग भी राजदूतावास की सीमा के अन्दर आता था और उस क्षेत्र की समस्यायें स्थानीय सरकार के समक्ष रखना दूत का कर्त्तव्य माना जाता था।

राजदूतों से यह आशा की जाती है कि वे राजदूतावास के क्षेत्र को अपराधियों एवं षड्यन्त्रकारियों का अड्डा न बनने दें एवं इनके विरुद्ध कार्यवाही करने मे स्थानीय सरकार की सहायता करें। किन्तु मध्यकाल में राजदूतों ने इस विशेषाधिकार का दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। राजदूतावास न केवल अपराध एवं कुकृत्यों के अड्डे बने, बल्कि अपराधियों एवं षड्यन्त्रकारियों के ठहरने की पूरी व्यवस्था करने लगे। इसके लिये उनसे ऊँची दरों पर किराया लिया जाने लगा। धीरे-धीरे यह बुराई कम होने लगी, क्योंकि इस प्रथा का रिवाज बढ़ा कि राजदूतावास क्षेत्र के अन्दर रहने वाले अपराधियों को पकड़ा जाये। 1826 में लन्दन स्थित अमेरिकन राजदूत गैलेटिन के कोचवान ने अमरिकी दूतावास के बाहर अपराध किया और आकर राजदूतावास की घुड़साल मे छिप गया परन्तु ब्रिटिश पुलिस ने वहाँ आ कर उसे गिरफ्तार कर लिया।

(3) फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्ति (Immumities from the Jurisdiction of criminal courts)—राजदूतों की तीसरी उन्मुक्ति यह है कि राजदूत स्थानीय फौजदारी न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र से बाहर समझे जाते हैं। पुलिस उन्हें पकड़ कर न्यायालय के सम्मुख उपस्थित नहीं कर सकती है। पर राजदूतों से यह आशा की जाती है कि वे स्वयं कोई अपराध न करें। यदि वे कोई अपराध करते हैं तो उनकी सरकार से उन्हें वापस बुलाने की प्रार्थना की जाती है एवं उन्हें अपने देश के कानून के अन्तर्गत दण्ड देने की माँग की जाती है। विमर्श के मतानुसार "एक दूत जिस देश में भेजा जाता है, वह उस देश के फौजदारी कानून और पुलिस के नियमों का पालन करना उसका कर्त्तव्य नहीं, किन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके विरुद्ध

केवल यही कार्यवाही की जा सकती है कि उसकी सरकार को राजनैतिक ढंग से उसकी शिकायत करे अथवा गम्भीर अपराध में उसको देश से निकाल बाहर करें।"

(4) दीवानी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार (Immunities from the jurisdiction of the Civil Courts)—राजदूतों को फौजदारी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से भी मुक्ति दी जाती है। यदि किसी राजनयिज्ञ को स्थानीय व्यक्ति द्वारा ऋण दिया गया है तो वह उसकी अदायगी के लिए स्थानीय दीवानी अदालत में कोई दावा उस पर नही कर सकता है। न्यायालय राजनयिज्ञ पर न मुकदमा चला सकता है और न उसे बन्दीगृह में डाल सकता है। इस विषय में *ग्रोशियस ने लिखा है कि "राजदूत की वैयक्तिक सम्पत्ति न तो किसी न्यायालय को और न* किसी प्रभुसत्ता सम्पन्न राजा के आदेशों से ऋणों की अदायगी या सुरक्षा के लिए जब्त की जा सकती है।"

नैतिकता के आधार पर यह आशा की जाती है कि राजदूतों को यह ध्यान रखना चाहिए कि वे जिससे ऋण लें, उसे अवश्य अदा कर दें। यदि वह ऐसा न करे तो स्थानीय सरकार उससे अथवा उसकी सरकार से ऋण अदायगी की प्रार्थना कर सकती है। प्रायः ऐसे मामले विदेश मन्त्रालय द्वारा हल किये जा सकते हैं।

(5) गवाही देने के कार्य से उन्मुक्ति (Immunities from giving Witness)—राजदूत को स्थानीय फौजदारी तथा दीवानी न्यायालयों में गवाही देने से मुक्त रखा जाता है। यदि राजदूत स्वयं अपनी इच्छा से गवाही देने को तैयार है तो वह ऐसा कर सकता है। वैसे कोई भी विदेशी सरकार गवाही देने के लिए विवश नहीं कर सकती है। 1881 में अमेरिकन राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या के सिलसिले में वेनेजुएला के राजदूत कोमोन्यो ने अपनी सरकार से अनुमति लेकर अपनी साक्षी दी थी।

(6) करों से मुक्ति (Exemption from taxes)—स्थानीय सरकारें विदेशी राजदूतों पर किसी प्रकार का कर लगाने की अधिकारी नहीं है पर राजदूत का यह कर्तव्य है कि वह बिजली, पानी, सफाई आदि का किराया या टैक्स स्वयं जमा कर दे। यदि वह ऐसा न करे तो स्थानीय सरकार उसे ऐसा करने के लिए विवश कर सकती है। राजदूतों में चुंगी एव तटकर आदि नही लिया जाता है।

(7) पत्र-व्यवहार की स्वतन्त्रता (Immunities for Correspondnce)—राजदूत अपने कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए अपनी सरकार से निरन्तर सम्पर्क रखता है। इस सम्पर्क को तोडने का अधिकार स्थानीय सरकार को नही। राजदूतों के पत्रों, तारों, राजनयिक थैलों (Deplomatic Eags) आदि का स्थानीय सरकार निरीक्षण नहीं कर सकती है।

(8) उपासना की स्वतन्त्रता (Right to Chapel)—प्रत्येक राजदूत चाहे वह स्थानीय लोगो के विश्वासो से भिन्न विश्वास को रखने के लिए स्वतन्त्र है। अपने विश्वास के अनुसार वह अपनी उपासना पद्धति रख सकता है। वह अपने दूतावास में मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर बनवा सकता है।

(9) राजनयिक प्रतिनिधियों से सम्बन्धित व्यक्तियों की उन्मुक्तियाँ (Immunities to the persons related to the Deplomats)—राजनयिक प्रतिनिधि से सम्बन्धित व्यक्तियों में (Retinue) निम्नलिखित पदाधिकारी आते हैं :

(i) दूतावास में काम करने वाले कर्मचारी, परामर्शदाता, सचिव तथा सहचारी (attache) आदि आते हैं।

(ii) राजनयिक प्रतिनिधि की पत्नी, बच्चे तथा परिवार से सम्बन्धित व्यक्ति जो उसके साथ रहते हैं।

(iii) राजनयिक प्रतिनिधि के निजी नौकर जो दूतावास में रहते हैं।

(iv) इनके अतिरिक्त सन्देशवाहक भी जो उसके पास आता जाता रहता है।

उपर्युक्त सभी व्यक्ति राजदूत के कार्य में हाथ बटाते हैं और उनके बिना उसके कार्य में असुविधा पैदा हो सकती है। अतः यह आवश्यक समझा जाता है कि राजदूत से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को भी वही सुविधायें मिलें जो राजदूत को मिली हैं। पर इन व्यक्तियों को उन्मुक्तियाँ अपने पदानुसार ही मिलती हैं। जैसे प्रथम (i) श्रेणी वालों को दीवानी एवं फौजदारी मामलों में न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाता है। (ii) द्वितीय श्रेणी के व्यक्तियों को यह सब सुविधायें प्राप्त होती हैं जो राजदूत को प्राप्त होती हैं। राजदूत चाहे तो अपने परिवार के किसी सदस्य पर से यह सुविधायें हटा लें। 1906 में रूस के राजदूत के सचिव को चिली के राजदूत के पुत्र ने बैल्जियम में हत्या कर दी। पहले तो बैल्जियम सरकार ने हत्यारे के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की पर जब चिली के राजदूत ने अपने पुत्र पर से विशेषाधिकार हटा लिए तब बैल्जियम की सरकार ने उस पर हत्या का मुकदमा चलाया।

(iii) तृतीय श्रेणी के व्यक्तियों को दीवानी न्यायालय के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति के अतिरिक्त कोई उन्मुक्ति प्राप्त नहीं। फौजदारी के मामले में वे गिरफ्तार किये जा सकते हैं और उन पर मुकदमा चलाया जा सकता है। चौथी (iv) श्रेणी के व्यक्ति का भी कार्य महत्वपूर्ण होता है अतः उसे भी फौजदारी एवं दीवानी मामलों में पूर्ण उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

राजनयिज्ञ के कार्य
(Functions of a Diplomat)

राजनयिज्ञों की नियुक्ति की प्रथा अति प्राचीन है। प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ एवं राजनीतिज्ञ आचार्य चाणक्य ने अपनी पुस्तक *अर्थशास्त्र* में राजनयिज्ञों के कार्यों की सूची निम्न प्रकार की दी है :

(1) अपने स्वामी का सन्देश दूसरे राजा के पास पहुँचाना और उसका उत्तर अपने स्वामी को देना।

(2) सन्धि की शर्तों का पालन करना।

(3) अपने स्वामी के प्रताप एवं शक्ति का प्रदर्शन कराना।

(4) अपने राष्ट्रों के मित्रों की संख्या बढ़ाना।

(5) शत्रु राज्यों के मध्य फूट डालना और शत्रु के मित्रों को तोड़ना।

(6) शत्रु की सेना एवं गुप्तचरों की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना।

(7) गुप्तचरों द्वारा प्राप्त संवादों को एकत्रित करना।

(8) शत्रु की कमजोरी देखकर पराक्रम प्रदर्शित करना।

(9) सन्धि के अनुसार अपने देश के बन्दियों को मुक्त कराना।

(10) यौगिक उपायों से शत्रु को नष्ट करना।[1]

उपर्युक्त सूची को देखकर पता चलता है कि प्राचीन काल में राजदूतों का कार्य राजनय का कम जासूसी का अधिक होता था। इसके अतिरिक्त राजनय में छल-कपट, भेद डालने एवं शत्रुओं में फूट डालने में जो व्यक्ति निपुण होता था, वही राजदूत बनाया जाता था। वह गुप्तचरों का मुखिया होता था। यौगिक क्रियाओं में सिद्धहस्त व्यक्ति होता था।

---

1 प्रेषण सन्धि पालत्वं प्रतापों मित्र संग्रहः।
उपजापः सुहृद्भेदो गूढ़ दण्डाति सारणम ॥
बन्धुरत्नापहरणं चारं ज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रयः ॥ —कौटिल्य अर्थशास्त्र

आधुनिक राजनयिज्ञों के कार्य (Functions of Modern Diplomats)

पुराना राजनय का ढंग आधुनिक युग में बदल गया है अतः राजनयिज्ञ के कार्यों में भी परिवर्तन हो गया है। अब राजनयिज्ञ सम्बन्धो का मूल-भूत उद्देश्य अपने देश के हितों की रक्षा करना है। इसके अतिरिक्त देश की सुरक्षा व्यापारिक एवं आर्थिक हितों का संरक्षण तथा विदेशों में अपने देशवासियों की रक्षा करना है। आज सैनिक शक्ति के द्वारा ही देश की रक्षा नहीं की जा सकती है। वरन् उसके लिए मित्र देशों की सख्या बढ़ाना, पड़ोसी राज्यों में अपने शत्रु देश का सैनिक तथा आर्थिक प्रभाव न जमने देना, अपने देश के प्रति विदेशों में फैली भ्रान्तियों को दूर करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अपने देश का सम्मान, प्रतिष्ठा एवं प्रभाव बढ़ाना।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक राजनयिज्ञ के कार्यों की विवेचना पृथक-पृथक शीर्षकों में की जायगी :

(1) अपने देश की नीति की व्याख्या करना (To interpret his Country's Policy)—राजनयिज्ञ दूसरे देश में जाकर अपने देश की नीति की व्याख्या करता है। वह वहाँ की सरकार तथा जनता को अपने देश की नीति से अवगत कराता है। अनेक राजनीतिज्ञ और राजनयिज्ञ अपने देश के विरुद्ध भ्रान्तियाँ फैलाते हैं तथा बदनाम करते हैं। इन भ्रमों एवं सन्देहों को दूर करने का कार्य भी राजनयिज्ञ करता है। वह वास्तव में अपनी गृह सरकार का मुख होता है। उसे विभिन्न क्षेत्रों आर्थिक, सामाजिक एवं आर्थिक—में प्रतिनिधित्व करना होता है। एम० पी० टण्डन के शब्दों में "उसका यह कर्तव्य है कि वह अपने देश का प्रतिनिधित्व विभिन्न क्षेत्रों में करे। उसकी सरकार राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं को किस प्रकार सुलझाती है, उसकी वह विस्तृत व्याख्या करे।"[1]

(2) स्वदेश एवं विदेश के मध्य सद्भावना स्थापित करना (To establish cordial relation between his country and foreign country)—कभी-कभी शत्रु देश द्वारा या अज्ञानतावश अपने द्वारा ही स्वदेश और विदेश के सम्बन्धों मे तनातनी उत्पन्न हो जाती है। राजनयिज्ञ का यह कर्तव्य है कि वह प्रेषक एवं परिग्राहक देशो के मध्य फैली भ्रान्तियों एवं भ्रमों को दूर करे तथा दोनो देशों में सद्भावना और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे।

(3) अपने देशवासियों की विदेश में हित साधना करना (To safeguard the interests of his country men in foreign land)—आज के युग में किसी देश के निवासियों के लिए एकान्तवास का युग नहीं। प्रत्येक देश के निवासी विदेशों मे शिक्षा पाने, व्यापार करने या पर्यटन के लिए जाते-आते रहते हैं। उन्हें विदेशों में ठहरना भी पड़ता है। राजनयिज्ञ विदेशों में इस उद्देश्य से भी भेजे जाते हैं कि वे अपने देशवासियों की विदेशों मे हित साधना करे। उनके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को विदेशी सरकार से मिलकर दूर करे एवं उन्हें अधिक सुविधाएँ दिलाये। किसी देशवासी का यदि अपमान होता हो या हानि होती हो अथवा किसी बात से अपने देश की प्रतिष्ठा को धक्का लगता है तो विदेशी अधिकारियों या वैदेशिक मन्त्रालय से सम्पर्क स्थापित कर उनके निवारणार्थ प्रयत्न करे।

(4) अपने देशवासियों की विदेशों में मृत्यु, जन्म या शादी का पंजीकरण करना (To register the death, birth and marriages of his country men in foreign country)—राजनयिज्ञ का यह भी कर्तव्य है कि जिस देश में उसकी नियुक्ति होती है, उस देश मे बसने वाले अपने देश के नागरिकों की मृत्यु, जन्म तथा शादियों का पंजीकरण करे। इस प्रकार

[1] It is his duty to represent his country in its multifarious phases and fa political approach social tradition, economic, activities and cultural h
—*M. P.*

प्रत्येक देशवासी का पूरा विवरण अपने पास रखे। यह व्यवस्था उन समझौतों के अनुसार होती है जो प्रेषक राज्य और परिग्राहक राज्य के मध्य नागरिकों के आवास एवं प्रवास के सम्बन्ध से होते हैं।

(5) **ओपेनहीम द्वारा बताये गये राजनयिज्ञ के कार्य** (Functions of a diplomate as *told* by Oppenheim)—ओपेनहीम ने राजनयिज्ञ के कार्यों को तीन भागों में बाँटा है जो निम्न प्रकार के हैं :

(i) संधिवार्ता (Negotiation)—राजनयिज्ञ अपने ग्रह राज्य एवं परिग्राहक राज्यों के मध्यस्थ का कार्य करता है।

(ii) पर्यवेक्षण (Obseration)—राजनयिज्ञ जिस देश में भेजा जाता है, वह वहाँ की प्रत्येक घटना का सतर्कता से पर्यवेक्षण करता है।

(iii) संरक्षण (Protection)—राजनयिज्ञ जिस देश को नियुक्त होता है, वहाँ पर बसे देशवासियों के शरीर एवं सम्पत्ति का सरक्षक माना जाता है।

(6) **परिग्राहक राज्य की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दशाओं का ज्ञान प्राप्त करना तथा उसकी सूचना गृह राज्य की सरकार को देना** (To collect information regarding Social, Economic, political and cultural conditions of the receiving state and send them to his Home Government)—यद्यपि राजदूत का मुख्य कर्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना करना है, फिर भी वह परिग्राहक राज्य की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशाओं का अध्ययन कर उनका पूर्ण विवरण अपने ग्रह-राज्य की सरकार को भेजता रहता है। पुराने राजनय में केवल दो राज्यों में राजनीतिक सम्बन्ध ही स्थापित होते थे पर आज के राजनय में राजनीतिक सम्बन्धों के अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित होते हैं। राजनयिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का गहन अध्ययन करता है तथा उसकी सूचना अपनी सरकार को देता है। वह विदेश सरकार के अधिकारियों एवं व्यापारियों को दखल देता है और उनसे औपचारिक सम्बन्ध स्थापित करता है।

राजनयिज्ञ दखलों के माध्यम से ही अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विदेशों में दृढ़ करता है अतः ये दखल चाहे वे औपचारिक हों या अनौपचारिक हों राजनयिज्ञ के जीवन का एक अंग बन जाते हैं। दावतों के समय ही वह विचारों के आदान-प्रदान से बहुत सा काम निकाल लेता है। इन दावतों में वह अपने देश की सांस्कृतिक श्रेष्ठता का प्रदर्शन कर विदेशियों को प्रभावित करता है।

राजनयिज्ञ आज के वैज्ञानिक युग में अपने विदेश मन्त्रालय पर अधिक निर्भर रहता है। उसे नित्यप्रति ग्रह राज्य की सरकार को सूचना, सन्देश एवं रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। सामान्य सूचनाएँ या सन्देश वह तार या टेलीफून द्वारा भेजता है पर विस्तृत रिपोर्ट उसे डाक द्वारा ही प्रस्तुत करनी पड़ती है। इनके अतिरिक्त उसे वार्ता के समय अपनी सरकार से परामर्श या आदेश भी प्राप्त करने पड़ते हैं। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। मानलो एक छोटा देश इंगलैण्ड की सरकार से कुछ सन्धियाँ समझौते कराना चाहता है। हो सकता है कि वह अपने देश को ऋण दिलाना चाहता हो, चुंगी दर में कमी करना चाहता हो अथवा वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इंगलैण्ड से समर्थन चाहता हो तो वह अपनी सरकार को अनेक प्रकार की सूचना भेजता है और उससे अनेक परामर्श या आदेश पाकर इगलैण्ड के मन्त्रियों से वार्ता करता है। उसकी सरकार किसी विषय में उससे सूचना चाहती है तो वह सूचना एकत्र करके अपनी सरकार को भेजता है। इस विषय मे निकलसन लिखता है कि "वास्तव में अनेक ऐसी घटनायें हो सकती हैं जिनसे उसकी सरकार लाभ प्राप्त कर सकती है। वहाँ की दशाओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त कर सकती है और उनके आधार पर वह अपनी नीति निर्धारित कर सकती है।"[1]

---

1 "It fact, of many development or event which would enlighten his government or condition and personalities in Great Britain so as to enable them to base their policies upon a sure knowledge of existing facts and of probale future tendencies." —*Nicolson*

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि राजनयिज्ञ के कार्यों की एक विस्तृत सूची होती है। यह कहना गलत न होगा कि उसे अनेक ऐसे कार्य करने पड़ते है जो अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के कहे जाते हैं और जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध उसके देश के हितों से होता है। पुराने काल में राजनयिज्ञ को एक अच्छा वक्ता होना आवश्यक था पर आज के समय में उसे बहुत सी बातों का ज्ञान होना आवश्यक माना जाता है। उसके कार्यों के अन्तर्गत राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक या सुरक्षा सम्बन्धी, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सभी प्रकार के कार्य आ जाते है।

राजनयिज्ञों की नियुक्तियाँ, मान्यता एवं स्थिति
(Appointment, approval and Position of Diplomats)

राजदूतों की नियुक्तियाँ प्रेषक राज्य द्वारा होती हैं। वही यह भी देखता है कि राजनयिज्ञ में किन-किन गुणों का होना आवश्यक है। 19वीं शताब्दी तक कुछ बड़े राज्य ही राजदूत (Ambassadors) की नियुक्ति करते थे। 1893 तक अमेरिका जैसा बड़ा देश भी राजदूत नियुक्त करने का अधिकार न रखता था।

20वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महान परिवर्तन आया। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण हुआ, राजनय के स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए अतः राजनयिक प्रतिनिधि भेजने की प्रथा में भी विकास हुआ। पहले महान राष्ट्रों को राजदूत भेजने का अधिकार था पर अब तो छोटे-छोटे राज्य भी अपने राजदूत विदेशों में भेजते हैं।

इन राजदूतों की नियुक्ति के विषय में निम्नलिखित बातें जानना आवश्यक है :

(1) राजदूत राज्याध्यक्ष का प्रतिनिधि होता है अतः उसका स्वागत प्रत्येक देश में होता है। आजकल प्रजातन्त्र का युग है अतः अधिकाश देशों में राज्याध्यक्ष एक औपचारिक पदासीन व्यक्ति होता है। वास्तव में सन्धि एवं विदेशी समस्याओं का समाधान मन्त्रिमण्डल या विदेश मन्त्री द्वारा होता है।

(2) राजदूत का पद सम्माननीय होता है। उसे परमश्रेष्ठ (His Excellency) शब्द से सम्बोधित किया जाता है। यह सम्बोधन प्रथम बार फ्रास के सम्राट हेनरी चतुर्थ ने राजनयिज्ञ के लिए किया था क्योंकि इस पद पर नैवर्स का ड्यूक लुई नियुक्त होकर फ्रांस आया था। वह राजघराने का व्यक्ति था। बाद में इस पदवी को पाने के लिए वेनिस तथा स्पेन के राजदूतों ने मांग की। मुन्सटर सम्मेलन ने यह प्रस्ताव पास किया कि यह पदवी प्रत्येक देश के राजदूत को प्राप्त होनी चाहिए।

(3) एक राज्य के समस्त राजनयिज्ञों को सम्मिलित रूप से राजनयिक निकाय (Diplomatic Corps) कहा जाता है। इस निकाय के प्रमुख को 'दुवरिएट' (Doyen) कहा जाता है। यद्यपि राजनयिक निकाय' कोई वैधानिक निकाय नहीं होता है और न उसके कार्य वैधानिक होते हैं, फिर भी इस निकाय का महत्त्व बहुत अधिक होता है। यह निकाय राजनयिज्ञों के अधिकारों की रक्षा करता है।

पूर्व स्वीकृति (Pre Approval)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने राजनयिज्ञ के पद के लिए कोई विशेष योग्यता का निर्धारण नहीं किया है पर चूँकि यह पद बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है अतः इस पद पर विशेष योग्यता का व्यक्ति ही नियुक्त होता है। यद्यपि राजनयिज्ञ की नियुक्ति प्रत्येक देश की गृह सरकार करती है पर यदि परिग्राहक राज्य उक्त दूत को स्वीकार न करे तो नियुक्ति रद्द हो जाती है। उदाहरण के लिए, स० रा० अमेरिका ने 1872 में मि० कीले Keiley) को राजदूत बनाकर आस्ट्रिया हंगरी में भेजा, चूँकि उसकी पत्नी एक यहूदी आस्ट्रिया-हंगरी की सरकार ने उसका स्वागत करने से इन्कार कर दिया। इसी प्रकार

राजदूत ब्लेयर को चीन की सरकार ने मान्यता न दी क्योंकि उसने सीनेटर के रूप में कुछ बातें चीन के विरुद्ध कहीं थीं।

इस समस्या को हल करने के लिए राज्यों से पत्र-व्यवहार किया गया। आस्ट्रिया और हंगरी की सरकार का यह सुझाव था कि राज्यों को अपने प्रतिनिधि भेजने से पूर्व उन राज्यों से पूर्व स्वीकृति ले लेना चाहिए जहाँ वे नियुक्त होकर जाने वाले हों। 1893 में सं० रा० अमेरिका ने राजदूत नियुक्त करने से पहले विदेशी सरकारों से पूछ लिया कि क्या प्रस्तावित व्यक्ति उन्हें स्वीकार होगा। तब से यह प्रथा चल पड़ी कि परिग्राहक राज्य से पूर्व स्वीकृति लेकर ही वहाँ कोई राजदूत नियुक्त किया जाय।

महिला राजदूत (Female Ambassador)—इतिहास में 1948 से पूर्व कहीं महिला राजदूत का उल्लेख नहीं मिलता है। आमतौर से महिला को विदेशों में राजदूत के रूप में भेजना उचित न समझा जाता था। यह प्रथा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रचलित हुई। सोवियत रूस, अमेरिका तथा भारत ने महिला राजदूतों की नियुक्तियाँ की। भारत की श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित पहले रूस में (1948-49), सं० रा० अमेरिका में (1950-51) तथा ग्रेट ब्रिटेन में (1954-62) राजदूत रहीं।

प्रत्यय-पत्र (Latter of Credence)—राज्य जब किसी व्यक्ति को राजदूत नियुक्त करता है तो उस नियुक्ति पत्र को प्रत्यय-पत्र (Letter of Credence) कहा जाता है। यह पत्र प्रेषक राज्याध्यक्ष की ओर से परिग्राहक राज्य के राज्याध्यक्ष को सम्बोधित करते हुए लिखा जाता है। इस पत्र में राजदूत का पूरा परिचय होता है, उसकी स्थिति, कार्यों का उद्देश्य आदि पूर्ण विवरण लिखा रहता है। जब किसी सन्धि विशेष के लिए राजदूत भेजा जाता है तो उसे पूर्ण शक्ति-पत्र (Full Power Letter) दिया जाता है। उसमें राजदूत के कार्य एवं अधिकारों का वर्णन होता है।

प्रत्यय पत्र के दो रूप होते हैं—(i) मूल प्रत्यय पत्र जो एक मोहरबन्द लिफाफे में रखा होता है और (ii) उसकी प्रतिलिपि जो खुली रहती है। इस प्रतिलिपि को विदेश पहुँचने पर राजदूत विदेश मन्त्रालय को अपने आगमन की सूचना के रूप में भेज देता है। विदेशमन्त्री उसके ठहरने आदि की व्यवस्था कर देता है। मूल प्रत्यय-पत्र राजदूत एक विधिवत समारोह में स्वागतकर्ता राज्य के अध्यक्ष को सौंपता है। कार्यदूत अपना प्रत्यय पत्र विदेशमन्त्री को सौंपता है, उस पर उसके देश के विदेशमन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं।

संयुक्त राजदूत (United Ambassador)—प्रत्येक राज्य अपने राजनयिक प्रतिनिधि को अलग-अलग देशों को भेजता है। परन्तु कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जबकि राजदूत को अन्य राज्यों में भी दूतकर्म करने का अधिकार दिया जाता है। उदाहरण के लिए भारत में स्थित अमेरिकन राजदूत भारत के साथ-साथ नेपाल में भी राजदूत का कर्तव्यपालन करता है। भारत का लन्दन स्थित राजदूत आयरलैंड और स्पेन में भी दूत कार्य सम्पादन करता है। इसी प्रकार भारतीय राजदूत जो रूस में स्थित है वह हंगरी एव पोलैण्ड में, स्वेडन का डेनमार्क और फिनलैंड में, मैक्सिको का पनामा मे और इटली का अल्बानिया में दूत कार्य करता है।

राजनयिज्ञों पर प्रतिबन्ध
(Restrictions on Diplomats)

राजनयिज्ञों को विदेशों में अनेक विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। इन विशेषाधिकारों का वे दुरुपयोग न करें इसके लिए उन पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये गये हैं। इन प्रतिबन्धों या सीमाओं के अन्तर्गत रहकर वे विशेषाधिकारों का प्रयोग कर सकती हैं। इन प्रतिबन्धों को लगाने का अर्थ यह रहता है वह इन सीमाओं का उल्लंघन न करे और दोनों देशों के

सम्बन्धों मे बिगाड़ न हो। यदि वह इन प्रतिबन्धों का उल्लंघन राजनयिज्ञ करता है तो वह पदच्युत किया जा सकता है।

ये प्रतिबन्ध निम्नलिखित हैं—

(1) आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना (Not to interfere in internal matters)—आज राजदूत गुप्तचर का कार्य नहीं कर सकता है। वह परिग्राहक राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। वह उक्त सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्रों में भाग नहीं ले सकता है और न ही वह विद्रोह अग्नि भड़का सकता है। उसका काम अपने राज्य और परिग्राहक राज्यों के सम्बन्धों को सुधारना है बिगाड़ना नही। यद्यपि कुछ राज्य अपने दूतों को विदेशों में गुप्तचरी करने के लिए भेजते हैं और देश के विद्रोहियों को शरण देने का परामर्श देते हैं पर वह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के विरुद्ध है। जो नियम विरुद्ध कार्य है उनके विरुद्ध करने पर राजदूत को या तो परिग्राहक राज्य अपने देश से निकाल देता है या प्रेषक राज्य से उन्हें वापस बुलाने की प्रार्थना करता है।

(2) प्रकाशन सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restriction on some publications)—राजदूत के साथ एक प्रेस अटेची (Press Attache) अवश्य रहता है। वह समाचार पत्रों में लेख निकाल सकता है। अपना साहित्य भी प्रकाशित कर सकता है। पर उसे ध्यान रखना चाहिये वह परिग्राहक राज्य की दलबन्दी से दूर रहे, विद्रोहियों से सम्पर्क न रखे और उस देश की विधियों, रस्म-रिवाजों एवं प्रथाओं की खिल्ली न उड़ाये। राजदूत पत्रकारों के मध्य बैठता है, पर उसे कोई वक्तव्य ऐसा न देना चाहिये जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध हो तथा उसे ऐसी संधि वार्ता न प्रकाशित करानी चाहिये जिसका अभी निर्णय न हुआ हो।

(३) भ्रामक प्रचार पर प्रतिबन्ध (Restriction on wrong Propaganda)—यदि राज्यों में संधि वार्ता भंग हो जाय या कोई संधि न हो पाये तो उसका यह अर्थ नहीं कि दूतावास परिग्राहक राज्य के विरुद्ध प्रचार का अड्डा बन जाये।

इस प्रकार राजनयिज्ञ को कोई ऐसा कार्य नही करना चाहिए जो दो राज्यों के मध्य संघर्ष का कारण बने। उसे अपनी भाषा पर नियन्त्रण रखना चाहिए। 1928 से 1940 तक अमेरिका के राज्याध्यक्षों ने निश्चय किया कि राजदूतों को परिग्राहक राज्य में आन्तरिक मामलों में नही पड़ना चाहिये।

राजनयिक मिशन की समाप्ति
(Termination of Diplomatic Mission)

ओपेनहीम के मतानुसार राजनयिक मिशन की समाप्ति निम्नलिखित कारणों से होती है—

(1) स्वदेश द्वारा वापस बुलाना (Recalling by Home Government)—जो राज्य राजनयिक मिशन को भेज सकता है, वह उसे वापस भी बुला सकता है। आमतौर से जब दो देशों में मन-मुटाव अधिक बढ़ जाता है तो राज्य एक-दूसरे से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद कर देते हैं। राज्याध्यक्ष द्वारा राजनयिज्ञों को वापस बुलाने के लिये 'एक वापस बुलाने वाला पत्र (Recall Letter) भेज दिया जाता है। इस प्रकार राजनयिक मिशन की समाप्ति हो जाती है। 1971 में भारत और पाकिस्तान के मध्य सम्बन्ध बिगड़ गये थे अतः दोनों के राजनयिक मिशन समाप्त हो गये थे।

(2) मिशन का उद्देश्य पूरा होने पर (After completing the object of the Mission)—राजनयिक मिशन जिस उद्देश्य से भेजा जाता है, उसके पूर्ण हो जाने पर उसकी समाप्ति हो जाती है। कभी-कभी दूत किसी समारोह में भाग लेने के उद्देश्य से विदेश भेजे जाते हैं,

जैसे शादी, दाह-संस्कार, राजतिलक, सम्मेलन या कांग्रेस में राज्य का प्रतिनिधित्व करने के उद्देश्य आदि। इन कार्यों के सम्पन्न हो जाने पर मिशन समाप्त हो जाता है।

(3) राज्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन (Revolutionary Change in the state)—यदि प्रेषक राज्य या स्वागतकर्ता राज्य में क्रान्तिकारी आन्दोलन के फलस्वरूप नयी सरकार बन जाती है तब भी राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है। परिवर्तन के पश्चात् फिर से प्रत्यय-पत्र प्राप्त करने के लिए राजनयिक मिशन वापस स्वदेश लौट जाता है। संवैधानिक परिवर्तन पर भी मिशन समाप्त हो जाता है। पर वरिष्ठता यथावत् बनी रहती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि क्रान्ति का परिणाम जानने के लिए न तो मिशन वापस आता है और न नये प्रत्यय-पत्र जारी किये जाते हैं तो ऐसी स्थिति में राजनयिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा के अनुसार राजनयिज्ञ सभी विशेषाधिकारों का प्रयोग करते रहते हैं।

(4) राजदूत की मृत्यु (Death of the Ambassador)—राजदूत की मृत्यु हो जाने पर ही राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है। ज्यों ही राजदूत की मृत्यु होती है, त्योंही उसके कागजातों पर मोहर लगा दी जाती है। यह कार्य स्वर्गीय राजदूत के दूतावास के ही सदस्य द्वारा किया जाता है। स्थानीय सरकार को इस मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये जब तक कि उससे राजदूत की सरकार द्वारा विशेष प्रार्थना न की जाय।

(5) राज्याध्यक्ष की मृत्यु अथवा त्याग-पत्र देना (At the Death or Resignation of the Head of the State)—राजनयिज्ञों को दिये जाने वाले प्रत्यय-पत्र पर राज्याध्यक्ष के हस्ताक्षर एवं उसकी मोहर होती है। उसकी मृत्यु होने पर या त्यागपत्र देने पर सब परिचय पत्र भी अर्थहीन हो जाते हैं। अतः राजनयिक मिशन वापस चले जाते हैं। नया राज्याध्यक्ष पुनः परिचय पत्र देकर नवीन मिशन की स्थापना करता है।

(6) प्रत्यय-पत्र की अवधि समाप्त होना (Expiration of time of letter of credence)—यदि राजनयिज्ञ सीमित काल के लिये प्रत्यय-पत्र प्राप्त करता है तो उसकी अवधि समाप्त होने पर मिशन की समाप्ति हो जाती है। उदाहरण के लिये जब राजदूत वापस बुलाया जाता है और दूसरा भेजा जाता है तो बीच के काल में जो अस्थायी व्यक्ति नियुक्त होता है उसका कार्यकाल सीमित होता है।

(7) युद्ध छिड़ने पर (At the Declaration of War)—यदि प्रेषक राज्य और परिग्राहक राज्य में युद्ध छिड़ जाय तो दोनों के मध्य राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते हैं और दोनों अपने-अपने राजनयिक मिशन वापस बुला लेते हैं।

(8) राजनयिज्ञ की पदोन्नति (Promotion of the Diplomat)—एक ही परिग्राहक राज्य में रहते हुये यदि किसी राजनयिज्ञ की पदोन्नति हो जाती है तो उसका पद समाप्त हो जाता है। उसे नये पद के लिये पुनः प्रत्यय-पत्र जारी किया जाता है।

(9) राजनयिज्ञ की पदच्युति (Removal of Diplomat)—यदि प्रेषक राज्य राजनयिज्ञ को किसी कारण वश पद से हटा देता है तो राजनयिक मिशन की समाप्ति हो जाती है। कभी-कभी राजनयिज्ञ के दुराचरण से प्रेषक राज्य और परिग्राहक राज्य के मध्य झगड़ा हो सकता है। राजनयिक सम्बन्ध टूट सकता है। ऐसी अवस्था में राजनयिज्ञ को परिग्राहक राज्य से निकाल दिया जाता है। उस समय दूतावास के लोग जब परिग्राहक राज्य की सीमा पार कर लेते हैं तो उनके विशेषाधिकार समाप्त हो जाते हैं। दूतावास की यदि सब वस्तुएँ हटाई नहीं जा सकती हैं तो राजनयिज्ञ द्वारा मोहर लगा कर उन्हें दूसरे किसी राज्य के दूतावास के संरक्षण में छोड़ दिया है। वही दूतावास विदेशों में बसे उक्त राज्य के नागरिकों की भी देखभाल करता है।

(10) पारपत्र की मांग (Demand of Partport)—कभी-कभी स्वागत कर्ता राज्य के दुर्व्यवहार से तंग आकर कोई राजदूत स्वयं पारपत्र की माग करता है। इससे भी राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है या नहीं टूटते हैं।

(11) राज्य की समाप्ति (End of the State)—यदि प्रेषक राज्य किसी कारण वश दूसरे राज्य में विलय हो जाता है तो उसका राजनयिक मिशन समाप्त हो जाता है। यदि विलय किसी परिग्राहक राज्य का होता है तो विलयकर्ता राज्य, राज्यों के सभी राजनयिकों को प्रदेश छोड़ने के लिये कह देता है। ये राजनयिक अपनी सभी सम्पत्ति ले जाते हैं। यदि विलय प्रेषक राज्य का होता है तो दूतावास की सम्पत्ति किसे सौंपी जाय यह प्रश्न उठता है। पर यह प्रश्न राज्यों के उत्तराधिकार से सम्बन्ध रखता है।

राजनयिक मिशन की समाप्ति के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Termination of Diplomatic Mission)

राजनयिक मिशन की समाप्ति के उपर्युक्त कारणों से राज्यों के मध्य बिगाड़ उत्पन्न हो जाता है या उनके राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(1) दक्षिणी अफ्रीकन संघ अपने राज्य में बसे भारतीयों के प्रति रंग-भेद की नीति का व्यवहार करता है। भारत ने इस विषय में शिकायत की पर वहाँ की सरकार ने भारत की शिकायत पर ध्यान न दिया तो 1946 मे वहाँ के उच्चायुक्त को भारत ने वापस बुला लिया और वहाँ का कार्य एक छोटे पदाधिकारी को सौंप दिया। पर वस्तु स्थिति बराबर उग्र होती गई तो भारत सरकार ने वहाँ का दूतावास ही बन्द कर दिया।

(2) भारत मे स्वतन्त्रता के बाद भी कुछ विदेशी बस्तियाँ रह गई थीं भारत ने पुर्तगाल से गोआ, डामन, ड्यू आदि बस्तियों की स्वतन्त्रता के लिये वार्ता चलाई पर दोनों सरकारों में कोई समझौता न हो सका अतः 1953 में लिस्बन स्थित भारतीय राजदूत को वापस बुला लिया गया।

(3) वाशिंगटन स्थित ब्रिटिश राजदूत मि० जैक्सन ने अमेरिका में कुछ आपत्तिजनक बातें कहीं। अमेरिका ने ब्रिटेन से प्रार्थना की कि वह अपना राजदूत वापस बुलाले ब्रिटन ने मि० जैक्सन को वापस बुला लिया। (1809)।

(4) अमेरिकन राजदूत जार्ज केनन ने जो मास्को मे स्थित था बर्लिन में पत्र-सम्वाद दाताओं के मध्य कुछ ऐसे वक्तव्य दिये जो सोवियत संघ के विरुद्ध थे अतः रूस की सरकार ने 1952 में अमेरिकन सरकार से अपने राजदूत को वापस बुलाने की माग की। अमेरिकन सरकार ने वापस बुलाने के कारण को पर्याप्त नहीं समझा, फिर भी उसने श्री केनन को वापस बुला लिया। नया राजदूत नहीं भेजा गया और दूतावास का परामर्शदाता ही वहाँ कार्य करता रहा।

(5) 27 जून 1963 को सोवियत संघ की सरकार ने चीन के दूतावास के तीन कर्मचारियों को वापस बुलाने की माँग पीकिंग सरकार से की। इन कर्मचारियों पर यह आरोप था कि उन्होंने चीनी साम्यवादी दल के उस पत्र को वितरित किया जिस पर रूस में प्रतिबन्ध लगा हुआ था। 30 जून को ये चीनी अपने देश लौट गये।

(6) अक्टूबर 1954 मे सोवियत संघ की गुप्त पुलिस ने कुछ अमेरिकन स्त्रियों को गिरफ्तार किया जो मास्को में गुण्डागर्दी कर रही थीं। अमेरिका ने इस गिरफ्तारी का विरोध किया पर सोवियत संघ ने माँग की कि अमेरिकन दूतावास के सहचारी की पत्नी श्रीमती सोमरलेट को वापस बुला लिया जाये। यह माँग मनोरंजक होने के कारण अभूतपूर्व थी।

(7) डोमिनिकन गणराज्य ने वेनेजुयेला के राष्ट्रपति की हत्या के प्रयास में (24 1960 में) सहयोग दिया था। अतः अमेरिकन राज्यों के संगठन की विदेश मन्त्रियों की बैठक

यह निर्णय दिया कि अमेरिका महाद्वीप के सभी राज्य उससे अपना राजनयिक सम्बन्ध तोड़ दें और उसका आर्थिक बहिष्कार करें। परिणाम स्वरूप सभी अमेरिकन राज्यों ने डोमिनिकन गणराज्य से अपने दौत्य सम्बन्ध तोड़ लिये।

(8) क्यूबा की कास्ट्रो सरकार ने अमेरिकी दूतावास को क्रान्ति विरोधियों के कार्य का अड्डा बताया। कास्ट्रो के कथनानुसार अमेरिका के दूतावास के 300 कर्मचारियों में से 80% गुप्तचर का कार्य करते हैं, ये वहाँ की स्थानीय सरकार के विरोधियों की सहायता करते हैं अतः यह मांग की गई कि इनकी संख्या घटाकर 11 कर दी जाय और शेष कर्मचारियों को 48 घन्टे के अन्दर वापस बुला लिया जाये। अमेरिका ने अनुभव किया कि इतने कम व्यक्तियों से दूतावास का कार्य नहीं चल सकता है अतः उसने क्यूबा से अपना राजनयिक सम्बन्ध ही तोड़ दिया।

(9) इन्डोनेशिया तथा फिलीपाइन दोनों राज्य मलेशिया संघ के निर्माण के विरुद्ध थे। इसलिये संघ की स्थापना होते ही उन्होंने इससे अपना दौत्य सम्बन्ध तोड़ लिया।

वाणिज्य दूत (Consuls)—राजनयिक प्रतिनिधियों के अतिरिक्त वाणिज्य दूतों की भी नियुक्तियाँ आधुनिक राज्यों में होना आवश्यक समझा जाता है। आज विश्व में व्यापार एवं वाणिज्य का विकास बहुत कुछ हो चुका है। अतः वाणिज्य दूतों का भी महत्व बढ़ गया है। वाणिज्य दूतों को सही अर्थों में राजनयिक दूत नहीं माना जाता है अतः उनको वे अधिकार एवं सुविधायें उपलब्ध नहीं जो राजनयिक प्रतिनिधियों को प्राप्त हैं। फिर भी इन्हें कुछ सुविधायें एवं विशेषाधिकार प्राप्त हैं जिनके आधार पर वे परिग्राहक राज्यों में अपने प्रेषक राज्य के आर्थिक हितो की रक्षा करते हैं।

वाणिज्य दूतों का उद्भव (Origin of Consuls)—वाणिज्य दूतों का अस्तित्व यूनानी नगर राज्यों में भी विद्यमान था। आगे रोमन काल में भी इनका अस्तित्व पाया जाता था। उस समय भी राज्य यह अनुभव करते थे कि विदेशों में व्यापार करने वाले अपने नागरिकों के हितों की रक्षा के लिये वाणिज्य दूतों का होना आवश्यक है। रोमन साम्राज्य में वाणिज्य दूतों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उस समय ये वाणिज्य दूत रोमन नागरिकों के व्यापारिक हितों की देखभाल के अतिरिक्त अधिराज्यों मे साम्राज्य के दूसरे हितों की भी रक्षा करते थे। आगे चलकर वाणिज्य दूतों की प्रथा में विकास हुआ। आज प्रायः सभी देश दूसरे देशों में अपने वाणिज्य दूत भेजते हैं।

वाणिज्य दूतावासों की स्थापना (Establishment of Business Consulates)—आज लगभग सभी राज्यों मे विशेषकर बड़े राज्यों में विदेशों के वाणिज्य दूतावासों की स्थापना हो चुकी है। दो राज्य वाणिज्यिक सम्बन्धों की स्थापना पारस्परिक सहमति से करते हैं। यदि दो राज्यों मे राजनयिक सम्बन्ध टूट जायें तो यह आवश्यक नहीं कि उनके वाणिज्यिक सम्बन्ध भी भंग हो जायें। यद्यपि यह व्यवस्था भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था है। फिर भी वाणिज्य दूतों के कार्य दो राज्यों की पारस्परिक सहमति से निश्चय होते हैं। परिग्राहक राज्य के प्रदेश में उनकी स्वीकृति से ही कोई राज्य अपना वाणिज्य दूत भेज सकता है। परिग्राहक राज्य की स्वीकृति लेकर ही कोई वाणिज्य दूत अपने जिले के बाहर भी कार्य कर सकते हैं। कभी-कभी एक ही वाणिज्य दूत दो-दो राज्यों में वाणिज्य दूत का कार्य कर सकता है। पर यह कार्य तभी सम्भव है जब सम्बन्धित राज्य इसके लिये अपनी सहमति दे दे।

वाणिज्य राजदूतों की नियुक्ति (The Appointment of Consuls)—वाणिज्य दूतों की नियुक्ति प्रेषक राज्य करता है और उसकी नियुक्ति की स्वीकृति परिग्राहक राज्य द्वारा होती है। यह नियुक्ति और स्वीकृति सम्बन्धित राज्यों के कानूनों, नियमों और परम्पराओं पर आधारित होती है। साधारणतया वाणिज्य दूत प्रेषक राज्य का राष्ट्रजन होता है। ऐसा न होने पर परिग्राहक राज्य-

की स्वीकृति लेना आवश्यक होता है। वाणिज्यिक अभिकर्ताओं (Consular Agents) तथा उप-वाणिज्य दूत की नियुक्तियाँ वाणिज्य दूत ही अपने राज्य की सहमति से स्वयं कर सकता है।

वाणिज्य दूतों की नियुक्ति के समय उनको एक अभिलेख दिया जाता है जिसमे उनका पूरा नाम, श्रेणी, वर्ग, वाणिज्यिक जिला आदि का उल्लेख होता है। वाणिज्य दूत के नियुक्ति पत्र को प्रेषक राज्य के राजनयिक प्रतिनिधि द्वारा परिग्राहक राज्य के विदेश सचिव को सौंपा जाता है जो अपने राज्य के राज्याधिपति तक पहुँचा देता है। इसके बाद परिग्राहक राज्य वाणिज्य दूत को विषयक स्वीकृति प्रदान करता है। इस स्वीकृति को कार्यानुमति कहा जाता है जिसके लिए राजनयिक जगत में एक्जीक्वेटर (Exequatur) शब्द का प्रयोग होता है। लैटिन भाषा मे इस शब्द का अर्थ—'वह कार्य सम्पादन कर सकता है।' इस कार्यानुमति पत्र को किसी समय भी वापस लिया जा सकता है। यदि कोई परिग्राहक राज्य कार्यानुमति नही दे तो उसके लिए कारण बताने की आवश्यकता नहीं है।

वाणिज्यिक स्टाफ की नियुक्ति (Appointment of Consular Staff)—वाणिज्य दूतावास ने पदाधिकारियो की सहायता के लिए आवश्यक स्टाफ होता है। इस स्टाफ के आकार का निश्चय परिग्राहक राज्य द्वारा किया जाता है। ऐसा करते समय वाणिज्यिक जिले की परिस्थितियों एवं दशाओं का ध्यान रखा जाता है। स्टाफ के सदस्यों की नियुक्ति प्रेषक राज्य द्वारा की जाती है। वह समस्त वाणिज्यिक अधिकारियों के नाम, श्रेणी, वर्ग निश्चित करके परिग्राहक राज्य को भेजा जाता है ताकि उसकी स्वीकृति ली जा सके। प्रेषक राज्य यदि आवश्यक समझे तो परिग्राहक राज्य से अनुमति पत्र मांग सकता है। यदि परिग्राहक राज्य को कोई कानूनी आपत्ति न हो तो वह अनुमति पत्र दे सकता है।

वाणिज्य पदों की श्रेणियां (The Classes of Consular Posts)—वाणिज्यिक प्रतिनिधियों की चार श्रेणियां होती हैं :—

(1) **महावाणिज्य दूत** (Consul General)—यह वाणिज्य दूतावास का अध्यक्ष होता है और परिग्राहक राज्य मे समस्त कार्यों का नियमन तथा नियन्त्रण करता है। महावाणिज्य दूत के अधीन अनेक वाणिज्यिक मण्डल और वाणिज्य दुत होते है।

(2) **वाणिज्य दूत** (Consul)—यह महावाणिज्य दूत के कार्यों में सहायता करता है या स्वतन्त्र रूप से वाणिज्य महादूत इसे कोई निर्धारित कार्य सौंप सकता है।

(3) **उपवाणिज्य दूत** (Vice Consuls)—वह वाणिज्य दूत की सहायता करता है।

(4) **वाणिज्यिक अभिकर्त्तागण** (Consular Agents)—इनका पद उक्त श्रेणियों की अपेक्षा निम्न स्तर का होता है, ये विशिष्ट स्थानों के लिए कुछ विशिष्ट कार्य सम्पादित करते हैं।

महावाणिज्य दूत और वाणिज्य दूत अपनी सरकार से सीधा पत्र-व्यवहार कर सकते हैं पर उपवाणिज्य दूत एवं वाणिज्यिक अभिकर्त्ता को यह अधिकार नहीं। वाणिज्य प्रतिनिधि परिग्राहक राज्य में स्थित अपने राजनयिक प्रतिनिधि के अधीन रहकर कार्य करते हैं, उसके प्रत्येक आदेश व परामर्श को मानने के लिए वे बाध्य हैं।

वाणिज्य दूतों के कार्य (Functions of Conculs)—वाणिज्य दूतों के कार्य निम्नलिखित हैं :—

(1) वाणिज्य दूत परिग्राहक राज्य में स्वदेश के वाणिज्य व्यवसाय की प्रगति के लिए निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह समस्त कानूनी तरीकों एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत कार्य कर सकता है।

(2) वह अपने प्रेषक और परिग्राहक राज्य के बीच व्यापारिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक और वैज्ञानिक सम्बन्धों की वृद्धि करे।

(3) वह दोनों सम्बन्धित राज्यों के आपसी सम्बन्धों के बारे में प्रेषक राज्य को अपना प्रतिवेदन देता है और अन्य लोगों को आवश्यक सूचनायें देता है। जब उसके राष्ट्रजन प्रेषक राज्य की यात्रा करना चाहते हैं तो उन्हें पासपोर्ट तथा यात्रा सम्बन्धी दूसरे कागजात सौंपता है।

(4) वह प्रेषक राज्य के नागरिको और समूहों के हितों की देखभाल परिग्राहक राज्य में करता है।

(5) वह कुछ प्रशासनिक प्रकृति के कार्य भी सम्पन्न करता है, यदि ऐसा करने पर परिग्राहक राज्य कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं लगाता है।

(6) वह अपने राज्य के नागरिकों को भुखमरी, बीमारी, न्यायालय सम्बन्धी कार्यालय में सहायता करता है। मृत्यु के बाद उनकी लावारिस सम्पत्ति की सुरक्षा के सम्बन्ध में या उनके परिवार के व्यक्तियों की सहायता करता है। उनकी सुरक्षा का ध्यान रखना वाणिज्य दूत का एक प्रमुख कर्त्तव्य है।

(7) वह अपने राष्ट्रजनो के अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिए न्यायाधिकरणों के सम्मुख प्रतिनिधित्व करता है और परिग्राहक राज्य के तरीकों के अनुसार उनके अधिकारों की रक्षा हेतु प्रयास करता है।

(8) वह परिग्राहक राज्य में स्थित स्वदेशी नागरिकों के प्रति कुछ कानूनी कार्य भी करता है। वे कार्य विशेषतया संधियों द्वारा सौंपे जाते हैं। उनमें मुख्य है—स्वदेशी नागरिकों के जन्म, मृत्यु, विवाह आदि को पंजीकृत और प्रमाणित करना, उनके वसीयतनामों को अपने अधिकार मे लेना और गोदनामों को वैधता प्रदान करना एवं साक्ष्य लेना आदि।

(9) वह अपने प्रेषक राज्य के कानूनों एवं नियमों के अनुसार अपने देश के जलपोतों एवं वायुयानों के आवागमन पर निरीक्षण एवं नियन्त्रण रखता है।

(10) वह अपने देश के जहाजो और वायुयानों का अपना सहयोग प्रस्तुत करता है। वह सम्बन्धित जहाजों के सभी कागज-पत्रों को जांच के बाद उनके विवादों को तय करने में सहायता देता है। यदि यात्रा के समय जहाज के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के बीच कोई झगड़ा हो जाये तो वाणिज्य दूत द्वारा विवाद को हल कराया जाता है।

(11) वाणिज्य दूत उक्त कार्यों के अतिरिक्त ऐसे अन्य कार्य भी सम्पन्न करता है जो उसके प्रेषक राज्यों द्वारा उसे सौंपे जायें तथा परिग्राहक राज्य द्वारा जिनके सम्बन्ध में कोई आपत्ति नही की जाये। दोनों सम्बन्धित राज्यों में आपसी समझौते से उत्पन्न कार्य भी वाणिज्य दूत द्वारा सम्पन्न होते हैं।

(12) कभी-कभी वाणिज्य दूत अपने देश के राजनयिक प्रतिनिधि का कार्य भी सम्पन्न करता है। यदि परिग्राहक राज्य में प्रेषक राज्य का कोई राजनयिक मिशन नहीं होता है तथा तीसरे राज्य द्वारा भी उसका प्रतिनिधित्व नहीं होता है तो वाणिज्य दूत ही राजनयिक प्रतिनिधि का कार्य करता है। पर उसे राजनयिक विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते हैं।

(13) परिग्राहक राज्य को सूचना देकर वाणिज्य दूत किसी अन्तर्सरकारी संगठन में अपने प्रेषक राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा करते समय उसे वे सभी विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त होंगी जो रिवाजी कानून द्वारा प्रतिनिधि को सौंपी जाती हैं। जिस समय वह वाणिज्य दूत के काय सम्पन्न करता है उस समय निर्धारित विशेषाधिकारों के अतिरिक्त वे नहीं सौंपे जाते।

(14) कभी-कभी एक व्यक्ति दो राज्यों द्वारा वाणिज्य दूत को अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए भेजा जाता है। ऐसा करते समय परिग्राहक राज्य की स्वीकृति लेना आवश्यक है।

(8) **संचार की स्वतन्त्रता**—वाणिज्य दूतावास के सभी कार्यालय सम्बन्धी सभी कार्यों के लिए संचार की पूरी सुविधाएँ प्राप्त करते हैं। ये पदाधिकारी अपने प्रेषक राज्य से सम्पर्क बनाये रख सकते हैं पर बेतार के तार या ट्रान्समीटर का उपयोग वे परिग्राहक राज्य की पूर्व अनुमति से ही कर सकते हैं।

वाणिज्यिक पदाधिकारी का कार्यालय पत्र-व्यवहार करने में भी स्वतन्त्र होता है। उसके पत्रों पर सेन्सर बिठाया या उनमें किसी पत्र को रोकना उचित नहीं माना जाता है। वाणिज्यिक पत्रों का थैला भी न तो खोला जा सकता है और न रोका जा सकता है। यदि परिग्राहक राज्य को सन्देह हो जाय कि इन थैलों में पत्रों के अतिरिक्त कुछ सन्देहात्मक वस्तु है तो वह प्रार्थना कर सकता है कि वह थैला का निरीक्षण करना चाहता है। यह कार्य प्रेषक राज्य के प्रतिनिधि की उपस्थिति में खोला जा सकता है। यदि प्रेषक राज्य उक्त प्रार्थना को अस्वीकार करता है तो थैला जहाँ से आया था वहीं लौटा दिया जाता है। वाणिज्य दूतावास के थैले पर एक विशेष चिन्ह होता है तथा इसमें केवल कार्यालय सम्बन्धी पत्र ही हो सकते हैं।

(9) **प्रेषक राज्य के राष्ट्रजनों से सम्पर्क एवं पत्र-व्यवहार**—वाणिज्य दूत अपने राष्ट्रजनों से सम्पर्क एवं पत्र-व्यवहार करता है। परिग्राहक राज्य में रहने वाले अपने राष्ट्रजन को वह पत्र लिख सकता है और उसका पत्र पा सकता है। यदि कोई राष्ट्रजन बन्दी बना लिया जाये या जेल की सजा दे दी जाय अथवा अन्य किसी न्यायिक कार्य में फँस जाय और वह स्वयं अपने देश के वाणिज्य दूत से सम्पर्क स्थापित करना चाहे तो परिग्राहक राज्य के सम्बन्धित अधिकारी को यथासम्भव शीघ्र वाणिज्य दूत को उसकी सूचना देनी पड़ती है। यदि ऐसा व्यक्ति वाणिज्य दूत से पत्र-व्यवहार करना चाहे तो उसे शीघ्र वह सुविधा दी जाती है। यदि व्यक्ति को यह पता न हो तो सम्बन्धित अधिकारी को इसकी सूचना उसे तुरन्त देनी चाहिए।

वाणिज्य दूत को यह अधिकार होता है कि वह अपने देशवासी बन्दी से पत्र-व्यवहार कर सकता है या जाकर उससे मिल सकता है। उसका कानूनी प्रतिनिधित्व कर सकता है या और कोई पग सम्बन्धित व्यक्ति की प्रार्थना पर उठा सकता है। यदि सम्बन्धित व्यक्ति विरोध करे जो वाणिज्य दूत उसके लिए कुछ नहीं कर सकता है। अपने राष्ट्रजनों से सम्पर्क एवं पत्र-व्यवहार करते समय वाणिज्य दूत को स्थानीय कानूनों एवं नियमों का सम्मान करना चाहिए।

(10) **मृत्यु या दुर्घटना आदि की सूचना**—यदि परिग्राहक राज्य में कोई विदेशी मर जाय तो परिग्राहक राज्य के अधिकारियों को यथाशीघ्र उसकी मृत्यु की सूचना उसके वाणिज्य दूत को देनी चाहिए। यदि किसी विदेशी अल्पवयस्क के संरक्षक की नियुक्ति की समस्या हो तो उसकी सूचना उसी देश के वाणिज्य दूत को देनी चाहिए। इस सम्बन्ध में परिग्राहक राज्य के कानून का कोई दुराग्रह नहीं स्वीकार किया जा सकता है। यदि वाणिज्य दूत के स्वदेश का कोई जलयान परिग्राहक राज्य के क्षेत्रीय सागर में टूट कर गिर जाय या प्रत्येक राज्य में पंजीकृत कोई वायुयान परिग्राहक राज्य के प्रदेश में दुर्घटनाग्रस्त हो जाये तो निकटवर्ती वाणिज्यिक पदाधिकारी को वस्तुस्थिति से सूचित किया जाना चाहिए।

(11) **परिग्राहक राज्य के अधिकारियों से पत्र-व्यवहार**—वाणिज्य दूतों को यह अधिकार होता है कि वे जिस क्षेत्र में कार्य कर रहे हों, वहाँ के पदाधिकारियों से पत्र-व्यवहार कर सकें। वे केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों से भी पत्र-व्यवहार कर सकते हैं यदि परिग्राहक राज्य की परम्परा अथवा कानून ऐसा करने की अनुमति दे।

(ख) **आजीवक अधिकारियों तथा अन्य सदस्यों सम्बन्धी (Relating to the Career Consular Officer and other Members)**—वाणिज्य दूतावास के व्यावसायिक अधिकारियों और दूसरे सदस्यों को कुछ विशेषाधिकार एवं सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिससे कि वे अपने दायित्वों निभा सकें।

इनमें प्रमुख (1) वैयक्तिक रक्षा, (2) क्षेत्राधिकार से मुक्ति, (3) गवाही देने का दायित्व, (4) पंजीकरण से मुक्ति, (5) करों से मुक्ति आदि हैं।

विशेषाधिकारों का प्रारम्भ एवं अन्त (Beginning and End of the Privileges)— वाणिज्य दूतों अथवा अधिकारियों के विशेषाधिकारों का प्रारम्भ उस तिथि से होता है जिस तिथि को वे परिग्राहक राज्य में आकर अपना कार-भार सम्भाल लेते हैं। उनके अधिकारों का अन्त उस समय हो जाता जब वह अपने पद से हटा दिया जाता है। उसके ही नहीं उसके परिवार एवं घरेलू कर्मचारियों के भी विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ भी समाप्त हो जाती हैं। अधिकारी जो कार्य अपने कार्य-काल में करते हैं, उन पर बाद में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है। यदि कोई अधिकारी अपने पद पर रहता हुआ मर जाता तो उसके परिवार के सदस्यों को स्वदेश तक लौटने तक निर्धारित अधिकार प्राप्त रहेंगे।

वाणिज्य दूत के पद की समाप्ति निम्नलिखित परिस्थितियों में हो जाती है—

(1) यदि प्रेषक राज्य परिग्राहक राज्य को यह सूचना दे कि वाणिज्य दूत का कार्य समाप्त हो गया है।

(2) यदि परिग्राहक राज्य अपने अनुमति पत्र को वापस ले ले।

(3) यदि परिग्राहक राज्य प्रेषक राज्य को यह सूचना दे कि वह अब उसे वाणिज्य दूतावास का सदस्य नहीं मानता है।

किसी भी कारणवश जब वाणिज्य दूत का कार्य समाप्त हो जाता है तो उसे स्वदेश लौटना पड़ता है। परिग्राहक राज्य उसे लौटने के लिए पर्याप्त समय एवं सुविधा देता है। यहाँ तक सशस्त्र संघर्ष के समय भी उसे सौजन्यतावश सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं। परिग्राहक राज्य उसके तथा उसकी सम्पत्ति के लिए आवागमन के साधन जुटाता है। जब तक वे अपने स्वदेश नहीं लौट जाता उसे सुविधाएँ एवं उन्मुक्तियाँ उपलब्ध रहती हैं।

जब दो राज्यों के मध्य वाणिज्यिक सम्बन्ध टूट जाते हैं या कटु हो जाते हैं तो भी वाणिज्य दूत के निवास की सीमाएँ एवं उसकी सम्पत्ति तथा ग्रन्थागार की रक्षा की जाती है। यहाँ सशस्त्र संघर्ष के समय भी उसका आदर किया जाता है। सम्बन्ध बिगड़ने पर प्रेषक राज्य वाणिज्य दूतावास की चाहरदीवारी, सम्पत्ति एवं ग्रन्थागार की रक्षा का भार परिग्राहक राज्य की स्वीकृति पर किसी तीसरे राज्य को दे सकता है। प्रेषक राज्य ऐसी व्यवस्था भी कर सकता है कि अपने तथा अपने राष्ट्रजनों के हितों की रक्षा का कार्य तीसरे ऐसे राज्य को सौंप दे जिसे परिग्राहक राज्य स्वीकार करे।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. आप राजनय शब्द का क्या अर्थ लगाते हैं ? उसकी परिभाषा क्या है ?
   What do you undeistand by the term diplomacy ? What are its definitions ?
2. राजनय की मुख्य विशेषताएँ क्या है ? विवेचना कीजिए।
   What are the salient feature of diplomacy ? Discuss.
3. "कूटनीति स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक राजकीय सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग करने को कहा जाता है।" (अर्नेस्ट स्ट्रा) उपर्युक्त कथन की विवेचना करते हुए राजनय के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
   "Diplomacy in the application of intelligence and tact to the conduct of official relations between the governments of independent states." (Ernest staw) Discuss the objectives of diplomacy in relation to the above definition.

4. राजनय की उत्पत्ति एवं विकास पर प्रकाश डालिए।
   Throw light on the 'Beginning and Development' of diplomacy.
5. राजनय के सिद्धान्त एवं आचार का विकास का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।
   Describe a short History of the development of diplomatic "Theory and Practice.'
6. नये और पुराने राजनय के अन्तरों की व्याख्या कीजिए। यह बताइये कि वे कौन-से साधन हैं जिनके द्वारा यह परिवर्तन हुआ ?
   Explain the difference between the 'Old' and 'New' diplomacy and describe the factors which brought about this phase of development.
7. आप सम्मेलनीय राजनय से क्या समझते हैं ? सम्मेलनीय राजनय के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।
   What do you understand by the term 'diplomacy by conference ? Discuss the merits and demerits of 'diplomacy by conference.'
8. राजनय के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए। प्रजातन्त्रीय राजनय का विशेष उल्लेख करते हुए उसके गुण दोषों की विवेचना कीजिए।
   Decribe the various type of diplomacy. Specially relating the democratic diplomacy describe the merits and demerits of democratic diplomacy.
9. उन परिस्थितियों तथा राजनीतिक समस्याओं का उल्लेख कीजिए जिन्होंने राजनय में परिवर्तन किए।
   Describe those circumstances and political problems which caused changes in diplomacy.
10. राजनयिज्ञ किसे कहते हैं ? सफल राजनयिज्ञ के अन्दर कौन-कौन से गुण होना आवश्यक है ?
    What is a diplomate ? What qualities should he posses.'
11. राजनयिज्ञ प्रतिनिधियों का वर्गीकरण का क्या आधार है ? उनके वर्गों का उल्लेख कीजिए।
    What is the base of the classification of diplomatic representatives'? Describe their classes also.
12. राजदूतों को विदेशों में कौन-कौन से विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं ?
    What privileges and immunities do the diplomates gets in foreign countries,
13. राजनयिक प्रतिनिधि के कार्यों का विवरण दीजिए तथा उनकी दिनचर्या का उल्लेख कीजिए।
    Give a discription of diplomatic representatives functions and also describe their daily routine.
14. राजनयिज्ञों की नियुक्तियाँ, मान्यता एवं स्थिति का उल्लेख कीजिए तथा उन पर लगे प्रतिबन्धों का वर्णन कीजिए।
    Describe the appointment, approval and position of diplomates also state the limitation imposed on them.
15. किन परिस्थितियों में राजनयिक मिशन की समाप्ति हो जाती है ? इस विषय में कुछ उदाहरण प्रस्तुत कीजिये।
    What are the circumstances in which the diplomatic Mission ends ? Give some examples in this connection.
16. वाणिज्य दूतों की स्थिति, नियुक्ति, उनके कार्य तथा उनको दिये जाने वाले विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियों का वर्णन कीजिये।
    Describe the position, appointment functions and the privileges and immunities given to commercial consuls.
17. वाणिज्य दूतों का वर्गीकरण दीजिए तथा यह भी बताइये कि उनकी पद समाप्ति कैसे होती है ?
    Give a classification of commercial consuls and also state the causes of their dismisal.

8

प्रचार एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
(Propaganda and International Politics)

"प्रचार का अर्थ एक बड़े समूह पर सुनियोजित एवं व्यवस्थित रूप में सुझावों का प्रयोग करना है ताकि उन लोगों के दृष्टिकोण पर नियन्त्रण किया जा सके और उनसे मनमाना व्यवहार कराया जा सके।"
—चार्ल्स बर्ड

"Propaganda means—organized efforts by government or members of government to induce either domestic groups or foreign states to accept policies favourable or at least not unfavourable to their own." —Palmer and Perkins.

प्रचार की परिभाषा व अर्थ
(Definition of Propaganda)

प्रचार का सामान्य अर्थ है सूचनाओं का प्रसारण। अपने विचार, अपनी नीति, अपने विश्वास एवं भावनाओं की जानकारी देकर दूसरे लोगों को अपने पक्ष में करने के लिये प्रचार का साधन अपनाया जाता है। बीसवीं शताब्दी में राजनय के शस्त्रागार का प्रमुख शस्त्र प्रचार है। इसका अर्थ "जोजेफ फ्रेंकेल" (Joseph Frankel) के शब्दों में इस प्रकार का है कि "प्रचार का अर्थ सामान्यतया: ऐसे किसी भी व्यवस्थित प्रयास से लिया जाता है जो एक विशेष सार्वजनिक उद्देश्य के लिये किसी प्रदत्त समूह के मस्तिष्क, भावनाओं एवं कार्यों को प्रभावित करने हेतु किया जाये।" प्रचार द्वारा लोगों के दिल एवं दिमाग को एक साथ बदलने का प्रयास किया जाता है।

पामर एवं पार्किन्स (Palmer and Perkins) का कहना है कि "प्रचार नैतिक रूप से निष्पक्ष होता है। वह अच्छे उद्देश्य से लोगों को फुसला सकता है, उसी प्रकार बुरे उद्देश्य के लिये भी। इसलिये नैतिक निर्णय 'प्रचार' पर न दिया जाय, बल्कि फुसलाने वाले के उद्देश्यों पर दिया जाय।" प्रचार एक प्रकार का ऐसा अस्त्र है जो आत्म सुरक्षा, दूसरे की हत्या या स्वयं आत्म हत्या के लिये प्रयुक्त हो सकता है। वास्तव में इसका अच्छा या बुरा होना प्रयोगकर्ता पर निर्भर करता है। चार्ल्स बर्ड (Charles Bird) के शब्दों में "प्रचार का अर्थ है एक बड़े जन समूह पर सुनियोजित एवं व्यवस्थित रूप में सुझावों का प्रयोग करना ताकि उन लोगों के दृष्टिकोण पर नियन्त्रण किया जा सके और उनसे मनमाना व्यवहार कराया जा सके।" प्रचार दूसरों को प्रभावित करने का एक साधन मात्र है।

प्रचार व्यक्तिगत भी हो सकता है और सामूहिक भी। दोनों ही अवस्था में यह संगठित एवं व्यवस्थित प्रयास होता है। अकोल्कर (Akolkar) ने "प्रचार को व्यक्ति अथवा एक समूह का संगठित एवं व्यवस्थित प्रयास" माना है जो "लोकमत एवं दृष्टिकोण के प्रभावित करने के लिये" किया जाता है।

इस प्रकार प्रचार के अर्थ में तीन तत्वों का होना माना जाता है—(i) यह व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह द्वारा किया जाता है, (ii) यह संगठित एवं व्यवस्थित रूप से किया जाता है, तथा (iii) यह जनमत के दृष्टिकोण अथवा कार्यों को प्रभावित करने के उद्देश्य से किया जाता है।

प्रचार और राजनय
(Propaganda and Diplomacy)

प्रचार केवल अपने देश की जनता को प्रभावित करने के लिए नहीं किया जाता है, बल्कि इसका प्रयोग राजनय में दूसरे देशों की सरकारों एवं जनता को प्रभावित करने के लिये भी किया जाता है। पामर और पार्किन्स के मतानुसार "सरकारों द्वारा दूसरे देशों की जनता अथवा सरकारों को अपने अनुकूल नीति अपनाने की नियत से किये गये संगठित प्रयत्नों को प्रचार कहा जाता है।" इस प्रकार प्रचार में तीन बातों का होना आवश्यक है—

(i) दूसरे पक्ष के विचारों एवं मतों को अपने अनुकूल बनाने की नीति।

(ii) साधन रूप मे प्रतीकों, चिन्हों, प्रसारणों और आवश्यकतानुसार शक्ति का प्रदर्शन, तथा

(iii) राष्ट्र हित का प्रचार।

आधुनिक राजनय में प्रचार का बड़ा ही महत्व हो गया है। एक बार रूजवेल्ट ने पत्रकार सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कहा था कि "प्रचार सामग्री को समाचार पत्रों में एक तथ्य के रूप में नहीं छापा जाना चाहिये। तथ्यों तथा प्रचार सामग्री मे अन्तर रहता है। प्रचार के लिये तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है। प्रचार का अर्थ है जान-बूझकर तथ्यों पर असत्य का लेप चढ़ाना। यह राजनय का महत्वपूर्ण साधन है। राष्ट्रीय हित के अनुसार एवं देश का राजनय जब अपने मित्रो और शत्रुओ का चयन करता है तो प्रचार यन्त्र उसका मुख्य सहायक बन जाता है। इसके माध्यम से मित्र राज्यों के प्रति सद्भावनायें व्यक्त करने और बढ़ाने तथा शत्रु राज्य के प्रति विष उगलने मे सुविधा होती है। प्रचार द्वारा अपने विरोधी पक्ष को विश्व के अन्य राज्यों में बदनाम किया जाता है। उसकी तस्वीर को काले रंग में रंग कर प्रस्तुत किया जाता है, उसके नेक कार्यों के लक्ष्यों की व्याख्या स्वार्थपूर्ण रूप मे की जाती है तथा उसके हितो को आघात पहुँचाने के लिए प्रत्येक अवसर का उपयोग किया जाता है। दूसरी ओर मित्र देश बनाने, बढ़ाने और बनाये रखने के लिए भी प्रचार साधन को अपनाया जाता है। दूसरे राज्यो से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने में प्रचार तन्त्र राजनयिज्ञ की कदम-कदम पर सहायता करता है। प्रचारकर्त्ता द्वारा मित्रों अथवा सम्भावित मित्रों के छोटे कार्यों को भी बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाता है और उसके गलत कार्यों की ओर आँख बन्द कर ली जाती है अथवा उनकी व्याख्या तोड़-मरोड़ कर की जाती है।"

इस प्रकार राजनय का कार्य प्रचार द्वारा सरल हो जाता है। प्रचार राजनयिज्ञ के हाथ मजबूत करता है। प्रचार के माध्यम से वह किसी देश से संधि करने के लिये उचित वातावरण तैयार करता है और संधि की शर्तों को अपनी इच्छानुसार स्वीकार कराता है तथा संधि को प्रभावी बनाने के लिये स्वदेश और विदेश में जनमत तैयार करता है।

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। आज के संचार साधनों ने देशों की दूरी को बहुत कम कर दिया है। रेडियो, टेलीविजन आदि ने विश्व की जनता को अति समीप लाकर खड़ा कर दिया है। विश्व जनमत को प्रभावित करने के लिये प्रचार एक विशेष साधन बन गया है।

जब हिटलर ने जर्मनी में सत्ता सम्भाली तो उसने 'गोबेल्स' को नाजी प्रचार मंत्र ... ।। लने वाले रेडियो स्टेशनों की संख्या

इतनी अधिक बढ़ा दी कि उसके प्रसारण केन्द्र का पता लगाना कठिन होता था। नाजी नेताओं ने प्रचार का ढंग साम्यवादियों से सीखा था पर 'गुरु गुड़ ही रह गये और चेले शक्कर बन गये।" वास्तव में सत्य को झूठ और झूठ को सत्य बनाने की कला में नाजी सभी देशों से आगे निकल गये।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सभी विचारक राजनय मे प्रचार के महत्त्व को एक मत से स्वीकार करते हैं। मार्गेन्थ्यू (Morgenthau) ने प्रचार को मनोवैज्ञानिक युद्ध की स्थिति माना है। उसका कथन है कि "विदेशी नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के दो साधन राजनय और सैनिक शक्ति हैं और तीसरा मुख्य साधन 'प्रचार' है। कभी-कभी प्रचार सैनिक शक्ति से भी अधिक कार्य करता है। वह शत्रु देश की जनता के मनोबल को गिराता है तथा अपने देश की जनता के मनोबल को ऊँचा उठाता है। युद्धों को जीतने का मुख्य साधन प्रचार है।

प्रचार के आधार
(Basis of Propagada)

मार्गेन्थ्यू के मतानुसार प्रचार के प्रभावी आधार निम्नलिखित हैं—

(1) **प्रचार की विषयवस्तु और उसका प्रभावशीलता से सम्बन्ध**—प्रचार की प्रभावोत्पादिता का सम्बन्ध प्रचार की विषयवस्तु की सत्यता से नही होता है। जैसे साम्यवाद ने साम्राज्य वादी और युद्ध सम्बन्धी आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त फैलाया जो कि पूर्ण सत्य पर आधारित न होते हुये भी लोगो की बौद्धिक, राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मे सहायक रहा और जनता उससे बहुत प्रभावित हुई।

(2) **प्रचार और उसके लक्ष्य**—प्रचार का सम्बन्ध व्यक्ति समूहों के अनुभवों और हितों से भी है। समय, स्थान और व्यक्ति के अनुसार प्रचार का पृथक्-पृथक् प्रभाव पड़ता है। जैसा कि एशियाई और अफ्रीकी देशों मे असमानता की व्याप्ति के कारण साम्यवाद का प्रचार शीघ्र हुआ जब कि पश्चिमी यूरोप मे लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता को मान्यता मिली।

(3) **प्रचार और विदेश नीति में सम्बन्ध**—विदेश नीति और प्रचार में गहरा सम्बन्ध होता है। प्रचार का प्रभाव विदेश नीति पर निर्भर होता है। विदेश नीति लोगों की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के अनुकूल होनी चाहिए और प्रचार व्यवस्था भी। दोनों का समन्वय प्रभाव पूर्ण होता है। जैसे पश्चिमी यूरोप के सभी देश रूसी प्रचार को रोकने मे सहमत हैं, इसलिये उनकी नीति और विचार मे तादात्म्य है, जबकि पूर्वी यूरोप में ऐसा नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सिद्धान्तों एवं सत्यता पर आधारित नीति ही पर्याप्त नही होती उसे व्यवहार में उतारना भी आवश्यक होता है और प्रचार से इसको बल मिलता है।

प्रचार की पद्धतियां
(Techniques of Propaganda)

प्रचार युद्ध और शान्ति काल दोनों ही स्थितियों में प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग सम्बन्धित पक्षो एवं व्यक्तियों की मान्यताओं, विचारों, भावनाओं, मनोवेगों आदि को ध्यान में रखकर किया जाता है। हार्टर व सूलीवान (Harter and Sulliwan) ने प्रचार के तरीकों की संख्या 12 बताई है, जिनको पामर तथा पार्किन्स ने 4 विभागों में बांटा है—(i) प्रस्तुतीकरण की पद्धति (Methods of Presentation), (ii) ध्यानाकर्षण की पद्धति (Method of gaining attention), (iii) प्रतिक्रिया प्राप्त करने की पद्धति (Method of gaining response) तथा (iv) स्वीकृति प्राप्त करने की पद्धति (Method of gaining acceptance)।

(i) **प्रस्तुतीकरण की पद्धति (Method of Presentation)**—प्रचार का यह ढंग किसी समस्या के सभी पहलुओं पर प्रकाश नहीं डालता है, वह तो केवल उस पहलू पर प्रकाश डालता है जो उसके हित से सम्बन्ध रखता है। इस प्रचार मे तथ्यो की सत्यता की ओर ध्यान

नहीं दिया जाता है। अपितु उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि जिससे अनुकूल वातावरण का निर्माण हो सके। सच्चाई और नैतिकता की धारणाओं की परवाह न करते हुये, केवल अपनी उद्देश्य पूर्ति ही इसका लक्ष्य होती है। जैसे लोकतान्त्रिक देश साम्यवाद की सच्चाई और अच्छाई पर ध्यान न देकर वह उसके विरुद्ध प्रचार करते है और उसे लोकतन्त्र विरोधी, स्वतन्त्रता विरोधी, मानव अधिकारों की अवहेलना करने वाला तथा हिंसा और मानव संहार में तत्पर बताते हैं। इसी प्रकार साम्यवादी देश प्रजातन्त्र को पूंजीवादी, शोषक, जन हित विरोधी बताकर उस पर आघात करते हैं।

इस प्रकार प्रचार के कई रूप होते हैं जो राज्यों द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपनाये जाते हैं। उदाहरण के लिये—

(i) भूतपूर्व किसी भी महत्वहीन तथ्य को तोड़-मरोड़ कर वर्तमान के हितों के अनुरूप परिणाम प्राप्त किये जा सकते है।

(ii) अन्य उद्देश्यों से सम्बन्धित तथ्यों को अपने पक्ष के समर्थन के लिये भी प्रयोग किया जाता है। जैसे कि हिटलर ने यहूदियों के विरुद्ध प्रचार किया कि वे समस्त विश्व पर राज्य करने की योजना बना रहे हैं। इस प्रकार से जर्मनी की जनता में यहूदियों के विरुद्ध आक्रोश फैल गया।

(iii) सर्वाधिकारवादी एवं प्रजातन्त्रवादी दोनों ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये झूठ व धोखे का मार्ग अपनाते हैं। सत्य तथ्यों को भी प्रचार का विषय बनाया जाता है।

(२) **ध्यानाकर्षण की पद्धति** (Method of gaining attention)—जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए उनकी रुचियों के अनुसार तथ्यो व विचारों को प्रस्तुत किया जाता है। सभी राष्ट्र अपनी उपलब्धियों को बढ़ा-चढ़ा कर और कभी-कभी हानियों को भी लाभ के रूप मे प्रचार कर अपनी कमर आप ठोकते हैं। वे उत्पादन को अल्पकाल में बढ़ा-चढाकर बताकर चमत्कार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे जनता सरकार के प्रति आकर्षित होती है। जैसे रूस और अमेरिका अपनी अन्तरिक्ष उपलब्धियों का खूब शोर-मचाकर प्रचार करते हैं। साम्यवादी चीन एवं रूस का अन्य देशों की उपलब्धियों की सूचना अपने देश की जनता तक नहीं पहुँचने देते हैं। अतः जनता ये समझती है कि अपना देश ही उन्नति कर रहा है, शेष मूर्ख बने उनके देश की उपलब्धियों को 'मुंहबाँये' देख रहे हैं।

प्रत्येक राष्ट्र-दूतावास प्रचार का साधन अपना कर विदेशों में अपने देश की संस्कृति की उच्चता सिद्ध करने के लिये प्रचार साहित्य, अन्तर्राष्ट्रीय युवक समारोह, विश्व-शान्ति परिषद, सांस्कृतिक शिष्ट मण्डल आदि सभी संस्थाएँ इसी उद्देश्य से आयोजित की जाती हैं। अमेरिका, रूस और भारत करोड़ों डालर इस प्रचार पर खर्च करते हैं। *रचनात्मक कार्य भी किसी देश की* धारणाओं के प्रचार के लिये समर्थ साधन होते हैं जैसा कि पामर व पार्किन्स (Palmer and Parkins) ने कहा है कि "एक रचनात्मक नीति द्वारा, प्रचार का अभिकरण कमजोर होने पर भी दूसरे देशों का ध्यान अपने पक्ष में आकर्षित किया जा सकता है।

(3) **प्रतिक्रिया प्राप्त करने की पद्धति** (Method of gaining response)—इस पद्धति द्वारा कोई प्रचारकर्ता राष्ट्र अपनी जनता को किसी विशेष कार्य करने के लिये प्रेरित करता है। देशभक्ति, आत्मरक्षा एवं न्यायप्रियता आदि भावनाओं को जगाकर अपनी इच्छानुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसके अतिरिक्त विश्व जनमत, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की भावना और बहिष्कार जैसे परिणामों का भय पैदा करके भी विशेष कार्यवाही के लिये बाध्य किया जाता है।

नारों का उपयोग भी किसी प्रचार को प्रसारित करने के लिये किया जाता है। नारे जनता में उत्तेजना उत्पन्न करते हैं, विश्व जनमत को प्रभावित करते हैं तथा नारे को जन्म देने वाले को नेता या विश्व नेता मान लेते हैं। जैसे फ्रांस की क्रान्ति ने नारा लगाया "स्वतन्त्रता, समानता एवं विश्व बन्धुत्व।" इससे फ्रांस क्रान्ति का जनक माना गया। कार्ल मार्क्स ने नारा लगाया "विश्व के मजदूरो एक हो जाओ।" और वह विश्व के मजदूर आन्दोलन का नेता हो गया।

नारों के अतिरिक्त प्रतीक भी प्रचार के अच्छे साधन हैं। इनमें झण्डा, राष्ट्रगीत, राष्ट्र-चिन्ह आदि जनमत की भावनाओं को जगा देते हैं। भारत ने "झण्डा गीत आन्दोलन के प्रचार में गाया "विजयी विश्व तिरंगा प्यारा-झण्डा ऊँचा रहे हमारा।" मित्र राष्ट्रों ने अंग्रेजी अक्षर 'वी' (v) का चिन्ह प्रत्येक मित्र देश-वासी को लगाने का प्रचार किया। 'वी' विक्ट्री (Victory) का प्रतीक था। इससे जनता में बड़ा उत्साह बढ़ा। पामर एव पाकिन्स का कहना है कि "प्रत्येक प्रचारक *स्थित दृष्टिकोण से लाभ उठाकर उन्हें ऐसी दिशा मे मोड़ देता है जिससे कि उसका हित* साधन हो।"

(4) **स्वीकृति प्राप्ति की पद्धति** (Method of gaining acceptance)—प्रचार की अन्तिम स्थिति अपने विचारों की स्वीकृति कराना है। इसके लिये सम्बन्धित राष्ट्रों व जनता की मनोवैज्ञानिक स्थिति व मान्यताओं का ज्ञान होना आवश्यक है। जैसे गान्धी जी ने लोकप्रिय बनने के लिये निधन-जन का प्रतिनिधित्व "लगोटी लगा" कर किया। पाश्चात्य वेश-भूषा का परित्याग कर वे एक सन्त के रूप में आ गये। भारतीय जनता ने उनके सामने सर झुका दिया। इतना ही नही गान्धी जी की आज्ञा पर हजारों युवक और युवतियाँ जीवन को भेंट चढ़ाने को तैयार हो गये।

धर्म और जाति को प्रभावित करना भी प्रचार का साधन है। जैसे पाकिस्तान सदैव जिहाद का नारा लगा कर मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध युद्ध करने के लिये सदैव तैयार रखता है। धर्म नाम पर मुस्लिम जनता भूख और प्यास छोड़ कर सरकार का समर्थन करती है। अपने देश को ही नही वह मुस्लिम देशों से इसी नारे के बल पर आर्थिक और सैनिक सहायता पाता है।

प्रचार में प्रतिद्वन्दिता बहुत होती है अतः प्रतिद्वन्दी के प्रचार का भी उत्तर देना होता है। इस प्रचार में भी ध्यान आकर्षित करना, उत्तर प्राप्त करना, तथा स्वीकृति प्राप्त करना होता है। पामर एवं पार्किन्स का कहना है कि 'यह एक आवश्यक तथ्य है कि प्रायः प्रत्येक प्रचार की प्रभावशालीनता को रोकने के लिये उसका प्रतियोगी रहता है।"

प्रचार का उद्देश्य
(The objectives of propaganda)

राजनयिक दृष्टि से प्रचार एक बहुउद्देश्य कार्य है। यह धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि लक्ष्यों की पूर्ति का साधन होता है। मूलतः सभी प्रकार के प्रचार राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। इस प्रकार शान्ति काल में प्रचार के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य होते हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय समझौते में अपनी इच्छानुसार शर्तें मनवाने के उद्देश्य से धुवां-धार प्रचार किया जाता है।

(2) यदि किसी समस्या पर सम्मेलन बुलाने की आवश्यकता होती है तो इस हेतु उपयुक्त वातावरण बनाने के लिये प्रचार किया जाता है।

(3) एक देश द्वारा अपनी विचारधारा दूसरे में फैलाने के उद्देश्य से प्रचार यन्त्र को तेज किया जाता है। विचार-धारा की एकरूपता होने से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और मैत्री की भावनायें विकसित होती हैं।

(4) एक देश अपनी आन्तरिक एवं वाह्य नीति पर स्वदेशी और विदेशी जनमत का समर्थन प्राप्त करने के लिये प्रचार करता है।

युद्ध काल में प्रचार के उद्देश्य से श्रोताओं की दृष्टि से प्रचार को तीन वर्गों मे वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) घरेलू मित्र और तटस्थ श्रोताओं ने लिये प्रचार के उद्देश्य—(1) यदि भविष्य में ऐसे राज्यों से सम्बन्ध बिगड़ जाने की सम्भावना हो तो ऐसा प्रचार किया जाता है ताकि उन्हें अचानक धक्का न लगे।

(2) सम्बन्ध बिगड़ने का उत्तरदायित्व एवं दोष दूसरे पक्ष का ही समझा जाये।

(3) जनता को इस प्रकार मोड़ा जाये ताकि वह अपनी इच्छा से कुछ मांगों को स्वीकार कर ले।

(4) भावी कार्यों को नैतिक औचित्य प्रदान करने के लिये आधारभूमि तैयार की जाती है।

(5) राज्य सरकार अपने दावों एव उपलब्धियों को बड़ा-चढ़ा कर वर्णित करती है ताकि वह अधिक सम्मान और शक्ति प्राप्त कर सके।

(6) जनता में प्रचार द्वारा स्वामी-भक्ति पैदा हो ताकि वह सरकार की प्रत्येक नीति का समर्थन करने लगे।

(ख) शत्रु श्रोताओं के लिये प्रचार का उद्देश्य—(1) प्रचार द्वारा शत्रु राज्य के नेताओं के प्रति जनता का विश्वास गिराया जाये और उनके द्वारा किये गये कार्यों की कुशलता को कम आंका जाये।

(2) शत्रु की शक्ति हीनता और विरोध की निरर्थकता को प्रकट किया जाता है।

(3) शत्रु देश की जनता में उसकी सरकार के विरुद्ध विद्रोह की भावना जगाने के लिये प्रचार किया जाता है।

(4) ऐसे कार्यों की सम्भावनाओ को कम किया जाता है जिससे शत्रु की शक्ति बढ़ सके और वह पुरे निश्चय के साथ आगे बढ़ सके।

(5) प्रचार से शत्रु देश की सरकार का तथा जनता का मनोबल गिराया जाता है ताकि वह निराशा और पराजय की शंका करने लगे।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय श्रोताओं के लिये प्रचार का उद्देश्य—(1) प्रचार के माध्यम से ही एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज में अपने प्रति सहानुभूति, सद्भावना तथा समथन के भाव फैलाता है।

(2) प्रचार द्वारा ही विश्व जनमत शत्रु के विरुद्ध किया जाता और अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे यह भाव जागता है कि युद्ध का पूरा दोष शत्रु देश का है।

(3) प्रचार द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रोताओं को यह समझाने का राज्य प्रयत्न करता है कि उसकी नीति का समर्थन करने से क्या-क्या लाभ मिल सकते हैं।

युद्ध काल मे प्रचार अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करता है। प्रचार द्वारा युद्धरत राज्य यह सिद्ध करता है कि उसका पक्ष न्याययुक्त है और शत्रु का पक्ष अन्याययुक्त है। वह यह भी सिद्ध करता है कि शत्रु पक्ष अशान्तिप्रिय है, अक्रान्ता तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला है तथा वह स्वयं शान्तिप्रिय, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर करने वाला तथा सन्धि शर्तों का मानने वाला है। उसने जो हथियार उठाये हैं वह आत्म रक्षा हेतु उठाये हैं। शूमैन के मत से युद्ध काल में प्रचार चार दिशाओं में निर्देशित होता है—"(i) हम न्याय संगत हैं और शत्रु पक्ष अन्यायी और पापी है (ii) हम मजबूत हैं और शत्रु कमजोर (iii) हम संगठित हैं और शत्रु विभाजित, तथा

(iv) हम जीतेंगे और शत्रु हारेगा। समग्र युद्ध (Total war) में प्रचार सैनिक शक्ति से भी अधिक प्रभावशाली होता है।

प्रचार के साधन
(Means of Propaganda)

अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार के साधनों में तीन प्रमुख साधन माने जाते हैं—

(1) मौखिक प्रचार (Verbal Propaganda)

(2) प्रतीकों द्वारा प्रचार (Propaganda by symbols)

(3) प्रदर्शनों द्वारा प्रचार (Propaganda by demonstrations)

(1) **मौखिक प्रचार** (Verbal Propaganda)—मौखिक प्रचार के लिए रेडियो, टेलीविजन आदि 9 तरीके अपनाये जाते हैं।[1]

(i) जब कोई देश हतोत्साह की अवस्था में होता है तो वह अपनी परेशानियों का कारण अपने विपक्षी को ठहराता है। जैसे गोपेबल्स कहा करता था कि "साम्यवाद को जड़ से उखाड़ना होगा क्योंकि यह यहूदियों के दिमाग की उपज है।" पाकिस्तान भी अपनी समस्त परेशानियों का कारण भारत के सिर थोपता है और भारत के विरुद्ध अनर्गल प्रचार में रत रहता है।

(ii) अपने सिद्धान्तों को प्रसारित करने के लिए तथा विपक्षी के सिद्धान्तो का विरोध करने के लिए नये-नये नारों का सहारा लेकर प्रचार किया जाता है जैसे कि साम्यवादी देश पाश्चात्य देशों को शोषण पर आधारित बताकर और समाजवादी एकता का नारा लगाता है। इसके विरोध में पाश्चात्य समाज अपने को लोकतन्त्रवादी बताता है और साम्यवाद को आतंक पर आधारित नरक-समाज बताता है।

(iii) मौखिक प्रचार का तीसरा साधन है किन्हीं सिद्धान्तों अथवा आदर्शों के आधार पर जनता में तादात्म्य स्थापित करता है। विश्व में साम्यवादी तथा जनतन्त्रवादी गुट का वर्गीकरण इसी आधार पर है। दोनों ही पक्ष अपनी विचारधारा के पक्ष-पोषण एवं सामान्य सकेत से बचने के लिए अपने गुटों को संगठित करते है। शीत युद्ध का आधार भी मौखिक पद्धति को ही बनाया गया है।

(iv) प्रचार नीति में एक पद्धति तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करना है। इसके लिए ऐतिहासिक तथ्यों का चुनाव कर राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरण के लिए साम्यवादी अमेरिकन शासन पद्धति के विरुद्ध साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा मजदूरों के शोषण का आरोप लगाता है जबकि पाश्चात्य देश रूस और चीन जैसे साम्यवादी देशों पर विस्तारवाद, तानाशाही, जनता के अधिकारों और स्वतन्त्रता के अपहरण का आरोप लगाते हैं।

(v) कई बार अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार हेतु किसी राष्ट्र, विचार या जाति की तुलना अन्य किसी घृणित विचार, जाति या राष्ट्र से करते हैं, जिससे उसकी प्रतिष्ठा विश्व जनता में कम हो जाये। जैसे नाजीवाद को अत्याचारी व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिससे नाजीवाद या फासिस्टवाद घृणित व्यवस्था का पर्याप्त बन गया है। इसी प्रकार साम्यवादी पाश्चात्य व्यवस्था को पूंजीवादी, मजदूर एवं निर्धन विरोधी कहकर बदनाम करते हैं और पाश्चात्य राज्य साम्यवाद को धर्म-विरोधी, नास्तिकवादी एवं स्वतन्त्रता विरोधी बताकर त्याज्य बताते हैं।

(vi) कभी-कभी शत्रु राज्य को ऐसे नामों से सम्बोधित किया जाता है जिससे वह उत्तेजित एवं क्रोधित होकर विवेकहीन व्यवहार कर बैठे और तब उसे बदनाम करने का अच्छा

---

1 [illegible] ...ustration [illegible] ...n (v) Transf... [illegible] (ix) Plain ...

अवसर प्राप्त हो जाये। उदाहरण के लिए अमेरिकन लाल चीन (Red China) को परदार लाल सांप" (Red Dragon), रूस को "रूसी भालू" कहकर पुकारते हैं और बदले में ये देश अमेरिका को "कागजी शेर" कहकर उत्तेजित करते हैं।

(vii) किसी महापुरुष, संस्था या आदर्श का सहारा लेकर भी प्रचार किया जाता है। महात्मा गांधी ने "राम-राज्य" की स्थापना के नाम पर भारतीय जनता को प्रभावित किया था। कांग्रेस सरकार गांधी जी के शान्तिवादी देश का नाम लेकर प्रचार करती तथा चीन या पाकिस्तानी के आक्रमण को "तानाशाही साम्राज्यवादियों "का षड्यन्त्र" कहकर पुकारती है। अमेरिका प्रत्येक स्थान पर "प्रजातन्त्र की रक्षा" का नाम लेकर युद्ध करता है।

(viii) भेद-प्रचार नीति द्वारा समाज या राष्ट्रों मे मतभेद भड़काया जाता है। रूस, अमेरिका के साथी देशों को डालर साम्राज्यवाद का गुलाम बताता है। इसी प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नाजियों ने मित्र राष्ट्रों में भेद डालने के लिए यह प्रचार किया कि अमेरिकन सैनिक अंग्रेजी महिलाओं से बलात्कार कर रहे हैं।

(ix) जनमत का इस युग में अत्यन्त महत्व है अतः प्रत्येक राष्ट्र अपने को जनता का हितैषी बता कर प्रचार करता है। साम्यवादी अपने को सर्वहारावर्ग का रक्षक, पीड़ितों का सहायक तथा शोषकों एवं अत्याचारियों का विरोधी कहकर एवं वर्ग-संघर्ष का नारा लगाकर सामान्य जनता में अपना स्थान बना लेते हैं।

(2) **प्रतीकों द्वारा प्रचार** (Propaganda by Symbols)—प्रतीक प्रचार के लिये चल-चित्र, *टेलीविजन, कार्टून, तस्वीरें आदि का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार का उद्देश्य* जनता के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ना होता है। इस प्रकार के प्रचार में सांस्कृतिक आदान-प्रदान (Cultural exchange) अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है जिसका कार्य मित्र राष्ट्रों, तटस्थ राष्ट्र को अपने गुट में मिलाना तथा विरोधी राष्ट्रों के विरुद्ध घृणित प्रचार करना होता है। इस बहुउद्देशीय कार्यक्रम में पुस्तकालयों की स्थापना, साहित्य का वितरण, विद्वानों के भाषण तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन विशेष है।

(3) **प्रदर्शनों द्वारा प्रचार** (Propaganda by Demonstrations)—अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार में प्रदर्शनों का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। जलूसों आदि द्वारा प्रदर्शन विरोधी राष्ट्रों की नीतियों का विरोध करने अथवा मित्र राष्ट्रों की नीतियों के समर्थन करने के लिये आयोजित किये जाते हैं। जैसे 1968 में साम्यवादियों द्वारा लन्दन में अमेरिका की वियतनाम नीति के विरोध में आन्दोलन व प्रदर्शन किया। शत्रु देशों के विरोध में राजधानियों में सैनिक प्रदर्शन, राजनयिक समारोह आदि का आयोजन किया जाता है। आणविक शस्त्रों के प्रदर्शन, अन्तरिक्ष उड़ानों की उपलब्धियो का प्रचार भी जनता पर मनोवैज्ञानिक दबाव डालती है और राष्ट्र की प्रतिष्ठा को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बढ़ाती है।

प्रभावशाली प्रचार की आवश्यकतायें
(Requisits for Effective Propaganda)

आधुनिक राज्यों के लिए प्रचार आवश्यक है। प्रचार के विरुद्ध प्रति प्रचार के अभाव में जनता में भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। विरोधी राष्ट्र जब झूठे आरोप लगाकर किसी राष्ट्र को बदनाम करने लगता है तो ऐसे समय में चुप रहना, उन आरोपों को स्वीकार करने का संकेत होता है अतः प्रति प्रचार कर उन आरोपों का खण्डन करना आवश्यक होता है। प्रचार को प्रभावशाली बनाने के लिये कुछ बातों का ध्यान रखना बहुत आवश्यक होता है जो निम्न हैं—

(1) प्रचार कार्य की वस्तुगतता—विभिन्न समाचारों एवं सूचनाओं को यथा सम्भव यथावत रूप में प्रकट किया जाना चाहिए और श्रोताओं को स्वयं ही निर्णय पर पहुँचने का अवसर

देना चाहिए। सीधी और बिना मिलावट की बातें अधिक प्रभावशाली होती है। जो समाचार भ्रमिकरण वास्तविक तथ्य प्रकट करता है वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो जाता है।

(2) बड़ा झूठ और उसका दोहराव—प्रचार को प्रभावी बनाने के लिए किसी बड़े झूठ को बोला जाता है और बार-बार दोहराया जाता है। सामान्य जनता ऐसी अवस्था में यही समझने लगती है कि सम्भवतया यही सत्य है। यहाँ समाचार के दूसरे स्रोतों पर नियन्त्रण रखना जरूरी ही होता है ताकि परस्पर विरोधी बातें न आने पायें।

(3) सरलता—सामान्य जनता के मस्तिष्क पर सरल नारों का प्रभाव जल्दी और अधिक पड़ता है। वह विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक विचार-धाराओं के सम्बन्ध मे तर्क-वितर्क सुनने की अपेक्षा सरल नारे सुनना अधिक पसन्द करती है। जैसे साम्यवादी प्रचार मे पूँजीवादियों के लिए 'प्रतिक्रियावादी', 'कठमुल्लावादी', 'साम्राज्यवादी' जैसे नारों का प्रयोग किया जाता है। प्रजातन्त्रवादी अपने लिए तथा अपने साथियों के लिए "स्वतन्त्र ससार" कहकर सम्बोधित करता है।

(4) रुचि एवं आकर्षण—प्रायः लोगों को वही बातें प्रभावित करती हैं जो उनको रुचिकर लगें। रुचिकर वही बातें होती हैं जो राष्ट्रीय हितो से सम्बन्धित होती हैं। उदाहरण के लिए एशियाई और अफ्रीकन देश अपने विकास की बातें सुनना अधिक पसन्द करते हैं। प्रचारकर्ता राज्य अपनी बातो के साथ-साथ श्रोता राज्यों की समस्याओ में अपनी रुचि प्रकट करता है।

(5) स्पष्टता एवं प्रमाणितकता—जब कोई बात श्रोताओं की समझ मे आसानी से आ जाती है, तो उसके सम्बन्ध मे उसे कोई भ्रम नही रहता है। अतः स्पष्ट बातें जनता को अधिक प्रभावित करती हैं। जटिल एवं उलझी बातों को जनता समझ नही पाती अतः उनका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है। बातें स्पष्ट तथा प्रमाणित हों तो जनता उनसे शीघ्र प्रभावित हो जाती है।

(6) स्थानीय अनुभव एवं दृष्टिकोण में समरूपता—प्रत्येक प्रचार का उद्देश्य केवल लोगों का ध्यान आकर्षित करना नही होता है वरन् उनकी वांछित प्रतिक्रिया प्राप्त करने के लिए किया जाता है। अतः स्थानीय रुचियो, अनुभवों और दृष्टिकोणो को ध्यान में रखना अनिवार्य होता है। सोवियत प्रचार विकासशील देशों में एकता समानता को लेकर बात करता है अतः वह सुनने में अधिक प्रभावी लगता है यही कारण है कि एशिया एवं अफ्रीका के देशों मे साम्यवादी प्रचार अधिक प्रभावशाली होता दीखता है। वहाँ पूँजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणाम जनता भोगे हुए है अतः पूँजीवादी, साम्राज्यवादियों की शोषण की नीतियों का विरोध उन्हें रुचिकर लगता है।

(7) स्थिरता प्रचार कार्य सदैव एक जैसा रहने की आवश्यकता नही है। फिर भी श्रोताओं के लिए एक सी समस्याओं पर विभिन्न विचार प्रकट करने में व्यवहार में अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। निरन्तरता और स्थिरता किसी प्रचार को प्रभावशाली बनाने में सहायक होता है।

महाशक्तियों के प्रचार यन्त्र
(Propaganda Machinery of Great Powers)

प्रचार सम्बन्धी उक्त सैद्धान्तिक विवेचन के साथ-साथ प्रमुख शक्तियों के प्रचार तन्त्रों का अध्ययन करना भी उपयोगी रहेगा। यहाँ पर दो महाशक्तियों—रूस और अमेरिका की प्रचार मशीनरी का उल्लेख करेंगे ताकि राजनय में प्रचार के वास्तविक महत्त्व की जानकारी की जा सके—

संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रचार यन्त्र (Propaganda Machinery of U S A.)—सं० रा० अमेरिका बहुत समय तक मुनरो सिद्धान्त को मानता रहा। वह यूरोपीय राज्यों की नीति से अप्रभावित रहा। अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखती थीं। वह

एकान्तवास में मग्न था। वह प्रचार के महत्व को नहीं मानता था। पर युद्धकाल की परिस्थितियों ने उसे प्रचार का महत्व बता दिया।

(1) द्वितीय विश्व युद्धकालीन प्रचार—द्वितीय विश्व युद्ध में अमेरिका को भाग लेना पड़ा। जर्मनी का प्रचार यन्त्र बहुत प्रभावी था। अतः उसका मुकाबला केवल सेना से ही नहीं प्रचार यन्त्रों से भी करना आवश्यक था। अतः सं० रा० अमेरिका ने युद्ध के समय विदेशों में मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक युद्ध छेड़ने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की। इनके द्वारा जर्मन चरित्र को गिराने का प्रयास किया गया। युद्ध काल में मित्र देशों के रेडियो स्टेशन प्रायः एक जैसे थे। इन्हें तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—(i) जो स्टेशन जर्मन नागरिकों के लिए समाचार और परामर्श प्रसारित करते थे उन्हें श्वेत स्टेशन (White station) कहा जाता था। (ii) दूसरे प्रकार के ऐसे स्टेशन थे जो मित्र राष्ट्रों में स्थित होते हुए भी अपने को जर्मन स्टेशन घोषित करते थे। ये शत्रु को भ्रम में डालना और सच बात की जानकारी के लिए तथा मित्र राष्ट्रों के प्रसारण सुनने के लिये प्रेरित करता था। इन्हें काले स्टेशन (*Black-station*) कहा जाता था। (iii) तीसरे प्रकार के स्टेशन भूरे (grey) स्टेशन कहलाते थे। ये न जर्मन होने का दावा करते थे और न मित्र राष्ट्रों का। युद्ध के अन्तिम दिनों में कुछ कमाण्डिग जनरलों ने अग्रिम टैंकों पर लाउडस्पीकर लगवा दिये थे ताकि शत्रु को आत्मसमर्पण के लिए फुसलाया जा सके।

युद्ध के दौरान सं० रा० अमेरिका का प्रचार एवं मनोवैज्ञानिक युद्ध का प्रयास सफल न हो सका। वास्तव में उसकी असफलता का कारण अनुभव हीनता थी। उसकी सभी नीतियों का शत्रु पहले ही पता लगा लेते थे। अमेरिका और मित्र राष्ट्रों की इस सफलता के दो कारण थे—

(i) प्रारम्भ में प्रचार के लिए जो उच्च स्तरीय योजनायें बनाई वे क्रियान्वित न की जा सकीं। यदि जापान के विरुद्ध प्रचार कर उसका मनोबल गिराया जाता तो उस पर एटम बम गिराने की आवश्यकता न पड़ती।

(ii) सं० रा० अमेरिका ने जर्मन जनता और उसकी सरकार को एक समझकर दोनों के विरुद्ध प्रचार किया। जर्मन की जनता ने यह समझा कि अमेरिका केवल नाजी सरकार के ही विरुद्ध नहीं बल्कि पूरी जर्मन जनता का शत्रु है। अतः उसने नाजी सरकार का पूरा समर्थन किया। *नाजी प्रचार यन्त्र के संचालक गोयेबल्स ने कहा था कि "यदि मैं शत्रु के पक्ष में होता तो प्रथम दिन से नाजीवाद के विरुद्ध लड़ने का नारा लगाता न कि जर्मन जनता के विरुद्ध।"*

(2) युद्ध के बाद अमेरिकन प्रचार—प्रथम विश्व युद्ध में अमेरिका ने युद्ध में भाग अवश्य लिया था पर युद्ध के बाद उसने पुनः पृथकता की नीति अपनाई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वह अन्तर्राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार उलझ गया कि उसको मुनरो सिद्धान्त को सदैव के लिए त्यागना पड़ा। युद्ध के बाद ही शीत युद्ध चल पड़ा। उसका प्रतिद्वन्दी विश्व पर छाने के लिए तैयार हो गया। अतः अमेरिका को अपना प्रचार यन्त्र अधिक सक्रिय करना पड़ा। 1948 में स्मिथमण्ड एक्ट के अनुसार *अमेरिका जनता और विश्व की जनता के बीच सद्‌भावना स्थापित करने का निर्णय* किया। 1951 में अमेरिका ने विदेश विभाग के अन्तर्गत एक पृथक अभिकरण अन्तर्राष्ट्रीय सूचना प्रसारण (II A) स्थापित किया। अगस्त 1953 में अमेरिकी राष्ट्रपति ने सं० रा० अमेरिकी सूचना अभिकरण (USIA) की स्वतन्त्र कार्यालय के रूप में स्थापना की। इसे समुद्र पार से सूचना कार्यक्रमों का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

सं० रा० सूचना अभिकरण (USIA) ने अनेक देशों में अपनी सूचना चौकियां स्थापित की। ये असाम्यवादी देशों के हजारों समाचार-पत्रों के लिए करोड़ों की संख्या में परचे, विशेष सामग्री, व्यंग चित्र, पोस्टर आदि भेजता है। वाइस आफ अमेरिका (*Voice of America*) भी

इसका एक महत्त्वपूर्ण भाग है। यह लगभग 48 भाषाओं में प्रतिदिन 24 घण्टे प्रसारण करता रहता है। इसके अधिकांश प्रसारण का लक्ष्य साम्यवादी देश होते है।

अमेरिकी प्रचार का अधिकांश भाग प्रतिक्रियात्मक होता है। इसके अतिरिक्त विदेश नीति के बारे में भी प्रचार किया जाता है। जैसे मार्शल योजना का प्रचार अत्यन्त प्रभावशाली रूप में किया गया। इतना होने पर भी अमेरिका साम्यवादी प्रचार के स्तर तक नहीं पहुंच पाया है। इसके दो कारण पामर एवं पार्किन्स के द्वारा बताये गये हैं—

(i) सोवियत सघ को प्रचार का अधिक अनुभव है, क्योंकि रूस मे प्रचार का प्रारम्भ बोल्शेविक क्रान्ति के पूर्व ही हो गया था। इसके बाद सत्ता में आकर साम्यवादी सरकार ने प्रचार यन्त्र को खूब व्यवस्थित किया।

(ii) अमेरिका में पूर्ण लोकतन्त्र है और प्रेस पर नियन्त्रण कम है अतः सरकार कम प्रभावशाली है।

सोवियत संघ का प्रचार यन्त्र (Propaganda Machinery in U. S. S. R.)

सोवियत संघ 1917 मे स्थापित हुआ। चूँकि यह क्रान्ति द्वारा बजट मे आया अतः इस क्रान्ति को सफल बनाने के लिए सोवियत सरकार एवं साम्यवादी दल के लाभ के लिए प्रचार यन्त्र को सगठित किया गया। इस प्रचार का मुख्य उद्देश्य न कि जनता को देश के कष्ट सहने, बलिदान करने तथा अपने को पूर्ण समर्पण के लिए तैयार करना था, तानाशाही की रक्षा, पूंजीवाद का विनाश एवं सर्वहारा वर्ग का हित तक ही प्रचार सीमित था।

(1) द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व सोवियत प्रचार—द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व साम्यवादी प्रचार की निम्नलिखित विशेषताएं थीं—

(i) यह प्रचार देश के सभी क्षेत्रों में सभी वर्गों को प्रभावित करता था।

(ii) साम्यवादी सरकार ने अपने प्रचार के लिए नवीन शब्दों का चयन किया। अपने पक्ष तथा विरोध के विरुद्ध अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग किया गया। बाद में यह शब्द साम्यवादी जगत में अत्यन्त ही लोकप्रिय बन गये।

(iii) साम्यवादियों ने अनेक नारों एवं प्रतीकों का उपयोग किया जैसे लाल सितारा, हंसिया एवं हथौड़ा आदि।

(iv) प्रचार कार्य में रूस के अन्दर केवल सरकारी प्रैस या रेडियो थे। जनता का या विरोधी लोगों का कोइ प्रैस न था। बाहरी समाचार-पत्र रूस में प्रवेश न कर पाते थे। एक तरफा प्रचार होने से जनता सरकार की बात सत्य मानती थी। प्रचार तन्त्र पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण था।

(1) बाद में रूसी सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन को महत्त्व दिया। इस कार्य के लिए कॉमिन्टर्न (Comintern) आदि सस्थाओं की स्थापना हुई। यह संस्था विदेशों में साम्यवादी दलों को निर्देशन देने तथा उन्हें सोवियत संघ के अनुकूल नीति अपनाने की प्रेरणा देती थी।

(2) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत प्रचार—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस विश्व की द्वितीय शक्ति के रूप में प्रकट हुआ। उसका प्रतिद्वन्द्वी केवल एक देश यानी अमेरिका रह गया। अब उसे समस्त विश्व पर छा जाने की आशा हुई। उसने अपने प्रचार यन्त्र को पुनः सगठित किया अब उसका प्रचार अन्तर्राष्ट्रीय अधिक बन गया तथा शीतयुद्ध से प्रेरित होने लगा। युद्धोत्तर काल में सोवियत प्रचार की उल्लेखनीय विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(i) सोवियत रूस ने अपनी प्रचार मशीनरी का मुख अविकसित और
देशों की ओर मोड़ दिया।

(ii) इस प्रचार में साम्यवादी जीवन के रंग-ढंग की खूब प्रशंसा की जाती है। अपनी उपलब्धियाँ बढ़ा-चढ़ाकर सुनायी जाती हैं तथा पूंजीवादी देशों के अत्याचारों, शोषण एवं बुराइयों का रक्त-रंजित चित्र खींचा जाता है।

(iii) विभिन्न देशों में साम्यवादी आन्दोलन को उकसाया जाता है या उनका जोरदार शब्दों में समर्थन किया जाता है।

(iv) प्रचार का मुख्य उद्देश्य अमेरिका को बदनाम करना होता है। अमेरिका की आर्थिक सहायता या सैनिक सहायता को वह साम्राज्यवादी नीति का प्रतीक मानता है। स्वयं यदि रूस सहायता देता है तो वह विस्तारवादी नहीं पर अमेरिका यदि सहायता देता है तो वह आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना करता है, देशों को गुलाम बनाता है।

(v) रूस अपने प्रचार का लक्ष्य विश्व जनमत की ओर रखता है। वह स्वयं शान्तिवादी देश बनने का दिखावा करता है। वह कई बार निःशस्त्रीकरण के प्रस्तावों को संयुक्त राष्ट्र संघ में रख यह दिखाना चाहता है कि वह निःशस्त्रीयकरण के लिए तैयार है पर अमेरिका शान्ति स्थापना नहीं करना चाहता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक राजनय मे प्रचार का बड़ा महत्त्व है। इसके माध्यम से न केवल अपने देश की जनता का दिल-दिमाग बदला जा सकता है। राष्ट्र हितों की पूर्ति में प्रचार यन्त्र बड़ी सहायता करता है। इसकी उपयोगिता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. प्रचार का अर्थ एवं परिभाषा बताते हुए इसके सामान्य आधारों पर प्रकाश डालिये।
   Define propaganda and throw light or its fundamentals.
2. प्रचार पद्धतियों का उल्लेख कीजिये तथा प्रचार और राजनय में सम्बन्ध बताइये।
   Describe the techniques of propaganda and state its relation with Diplomacy.
3. प्रचार के साधनों का उल्लेख कीजिये तथा उसके उद्देश्यों की विवेचना कीजिये।
   Describe the means of propaganda and also discuss its objectives.
4. आधुनिक युग में प्रचार की आवश्यकता एव महत्त्व पर प्रकाश डालिये।
   Throw light on the requisitive and importance of propaganda in the modern age.
5. सयुक्त राष्ट्र अमेरिका और सोवियत संघ के प्रचार यन्त्रों का वर्णन कीजिये तथा बताइये कि रूस का प्रचार क्यों प्रभावशाली है।
   Describe the propaganda machinery of U. S. A. and U. S. S. R. and also state causes of the influencial Soviet Union propaganda.

9

राष्ट्रीय नीति की अभिवृद्धि का आर्थिक साधन
(Economic Instrument For The Promotion Of National Power)

"क्योंकि प्रत्येक राज्य कम अथवा अधिक मात्रा में दूसरे देशों पर निर्भर करता है क्योंकि ये इनसे आयात अथवा निर्यात अथवा दोनों ही करता है। अतः ठीक उसी प्रकार कुछ सीमा तक दूसरे राष्ट्रों द्वारा डाले गये दबावों से प्रभावित होता है जिस प्रकार वह अन्य राष्ट्रों पर दबाव डालकर उन्हें प्रभावित करता है।" —पामर एवं पर्किन्स

"*Economics plays not only an influential but also an instrumental role. It is not only a determinant of foreign policy but also a tool of foreign policy.*" —Vernon Van Duke.

राष्ट्रीय नीति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक साधन
(Economic Instrument in National Policy or International Politics)

आज का युग अर्थ युग है। मानव का कोई भी कार्य अर्थ के बिना सम्पन्न नहीं होता। मानव जीवन में जिस प्रकार आर्थिक साधनों का महत्त्व है उसी प्रकार वह राष्ट्र-शक्ति को बढ़ाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को कायम रखने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कार्ल मार्क्स ने भी इतिहास की व्याख्या करते हुए धन एवं पूंजी का मानवीय कार्यों, लक्ष्यों एवं पारस्परिक सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ना, सिद्ध किया है। राज्यों का प्रत्येक व्यवहार स्पष्टतया अथवा अस्पष्टतया, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक कारणों से गतिशील होता है। इतना ही नहीं उनकी सम्प्रभुता भी केवल इसी तत्व पर अवलम्बित होती है।

आर्थिक साधन राष्ट्रीय उन्नति और विकास का साधन है। ये विदेश नीति का भी अंग हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपने आर्थिक साधनों का विकास करना अपना महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य मानता है। वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि कहीं इससे उसके राष्ट्रीय हितों के आर्थिक पहलू पर बुरा प्रभाव तो नहीं पड़ता है। यदि सम्बन्धित राष्ट्र से उसके मैत्री पूर्ण सम्बन्ध हैं तो आर्थिक साधनों का प्रयोग करते समय उसके हितों का ध्यान रखेगा। अन्यथा अपने साधनों का इस प्रकार प्रयोग करेगा कि शत्रु राष्ट्र के हितों को अत्यधिक हानि पहुंचे।

प्रत्येक राष्ट्र अपनी आर्थिक नीति का निर्माण, अपने राष्ट्रीय हित को ध्यान करता है। पामर एवं पर्किन्स के कथनानुसार "क्योंकि प्रत्येक राज्य कम अथवा अ[illegible] दूसरे देशों पर निर्भर करता है क्योंकि यह उनसे वस्तुओं का आयात अथवा निर्यात

ही करता है अतः ठीक उसी प्रकार यह कुछ सीमा तक दूसरे राष्ट्रों द्वारा डाले गये दबावों से प्रभावित होता है, जिस प्रकार यह राष्ट्रों पर दबाव डालकर उन्हें प्रभावित करता है।"[1]

दो देशों के मध्य सम्बन्धों के स्वरूप का निर्धारण करने वाला तत्व आर्थिक क्रिया है। वैसे आर्थिक क्रियाओ के अतिरिक्त भी अन्य प्रभावी तत्व होते हैं, पर प्रमुख यही है। इस विषय में पामर एवं पाकिन्स लिखते हैं कि "आर्थिक नियन्त्रण और स्वतन्त्रता वो ऐसी नीतियाँ हैं जो प्रत्येक राष्ट्र द्वारा उनके राष्ट्रीय हितों को ध्यान मे रखकर सचेतन रूप से अपनाई जाती हैं।"

आज विज्ञान का युग है, अतः प्रत्येक देश किसी न किसी रूप मे एक दूसरे पर निर्भर रहता है। इसका मुख्य कारण है कि उसे कुछ न कुछ वस्तुओं का आयात या निर्यात करना पड़ता है। "इस प्रकार आज विश्व में आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीयवाद ही प्रमुखतः युद्ध एवं शान्ति का जनक एवं प्रेरक है।"

आर्थिक साधनों का महत्व
(Importance of Economic Instoment)

प्रत्येक राष्ट्र की अभिवृद्धि मे मुख्य सहायक तत्व उसके आर्थिक साधन होते हैं। वह कितनी उन्नति करता है, यह बात राष्ट्र द्वारा अपने साधनो के उचित प्रयोग पर निर्भर होती है। शान्ति काल में आर्थिक साधनों का अधिकाधिक उपयोग आन्तरिक विकास में होता है जैसे देशवासियों का जीवन स्तर ऊँचा उठाना, निर्यात बढाना, बेरोजगारो दूर करना, तकनीकी विकास करना, देशवासियों को स्वस्थ रखना, प्राकृतिक साधनों की रक्षा करना आदि। युद्ध काल में इस दिशा में परिवर्तन हो जाता है। आर्थिक साधनो का प्रयोग फिर युद्ध की तैयारियो में, शत्रु के मार्ग मे गतिरोध उत्पन्न करने में तथा युद्ध-दृष्टि से आवश्यक-वस्तुओं के संग्रह मे लगाना होता है।

युद्ध केवल शस्त्रों से ही नही लड़ा जाता है। युद्ध की तैयारी के समय आर्थिक साधनों के प्रयोग का उद्देश्य कुछ वस्तुओ का बचाना तथा भण्डार बनाना, हथियारों का निर्माण तथा प्राप्ति पूरे वेग से युद्ध की तैयारी में बाधा डालना होता है। युद्ध के समय देश की अर्थ व्यवस्था को युद्ध की दृष्टि से सचालित करना होता है। इसीलिए कहा जाता है कि आधुनिक युद्ध आर्थिक युद्ध होता है। आर्थिक साधनों की प्रकृति अहिंसात्मक होती है जिन्हें सैनिक साधनों द्वारा नष्ट किया जाता है। ये युद्ध राष्ट्रीय हितों के प्रसार के लिए लड़े जाते हैं जो आर्थिक नीतियो का ही अंग होते हैं। इस विषय में पामर और पर्किन्स ने लिखा है कि "जब कभी राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आर्थिक नीतियाँ बनायी जाती हैं, चाहे वे दूसरे देशों का अहित करती हैं या नही, वे राष्ट्रीय नीतियो के आर्थिक साधन है।"

आर्थिक साधनों का अर्थ एवं उनका क्षेत्र
(Meaning and scope of Economic Instruments)

आर्थिक साधन देश की आय के साधन है। उससे राष्ट्र की आर्थिक क्षमता बढ़ती है और देश का आर्थिक उत्थान होता है। आधुनिक युग मे आर्थिक साधन शक्ति प्रयोग के मुख्य साधन है अतः ये विदेश नीति का अंग माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में पैंडलफोर्ड व लिंकन द्वारा दी गई आर्थिक साधनों की परिभाषा उल्लेखनीय है। उनके अनुसार "आर्थिक साधन से हमारा तात्पर्य ऐसी आर्थिक क्षमता, संस्था अथवा तकनीकी (Technique) से है जिसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे विदेश नीति में उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त किया गया हो। जिन उद्देश्यों

---

1 "Because every state is in some degree dependent on other states—because it must import or export or both it is to some extent responsible to pressures which other state may bring to bear on it just as it may bring pressures on other states"—Plmer and Perkins : *International Relations*, p. 100.

की प्राप्ति के लिए इसे प्रयुक्त किया जाता है वे आर्थिक (कच्चा माल प्राप्त करना अथवा निर्यात बढ़ाना) राजनीति (अविकसित राज्यों में व्यवस्थित रूप से परिवर्तन), सैनिक (सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अड्डे प्राप्त करना), अथवा मनोवैज्ञानिक (दूसरे राष्ट्र की विदेश नीति के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करना अथवा उसका समर्थन करना) हो सकते है।"[1]

आज के युग में आर्थिक साधनों एवं उनके लक्ष्यों का परस्पर समायोजन करना विश्व राजनीति की एक जटिल समस्या है। आर्थिक साधन स्वयं मे लक्ष्य नहीं होते है, बल्कि लक्ष्य प्राप्ति के साधन होते हैं। विश्व के स्वतन्त्र एवं प्रजातान्त्रिक देशों में आर्थिक क्रियाओं को सचालित करने वाला तत्व व्यक्तिगत पहलू होता है इसलिए वह सदैव मूल्यों एवं लाभों से प्रभावित होता है तथा उसकी नीति राष्ट्रीय सुरक्षा, कल्याण एव विकास के अनुरूप भी हो सकती है और नही भी हो सकती है। इस प्रकार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों मे आर्थिक साधन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

आज विश्व में राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सम्बन्धों मे काफी विरोधाभास पाया जाता है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र यह चाहता है कि उसके हितों की पूर्ति हो साथ के उसे अनिच्छापूर्वक ऐसे राष्ट्रो के साथ सहयोग करना पड़ता है जो उसके ग्राहक होत है और प्रबल प्रतिद्वन्द्वी भी। निबल राष्ट्रों अथवा निधन राष्ट्रों को समृद्धिशाली राष्ट्रो की नीतियो के अनुसार अपने को परिवर्तित करने को मजबूर होना पड़ता है। इससे विकसित राष्ट्रों को अपने इच्छित राजनीतिक हितों की पूर्ति का अवसर मिल जाता है। इस युग मे अन्य सम्बन्धों की अपेक्षा आर्थिक सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं।

किसी भी देश का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे प्रभावी होना अपने साधनो पर ही निर्भर होता है। बड़ी सैनिक शक्ति भी सुदृढ़ आर्थिक साधनो पर ही बनती है जैस अमेरिका आज की सर्वाधिक महाशक्ति बना हुआ है क्योंकि वह सैनिक साधनो आदि पर भारी धन राशि व्यय करने मे समर्थ है तथा आर्थिक क्षेत्र मे भी वह विश्व को नेतृत्व प्रदान कर रहा है। साम्यवादी गुट के विरुद्ध वह अनेक देशों को आर्थिक एव सैनिक सहायता देकर अपन गुट मे सम्मिलित कर रहा है और उनकी सहायता से अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति मे सफल हो रहा है। उसका प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र साम्यवादी रूस अपने आर्थिक साधनो या अपनी शक्ति बढ़ाने मे पूरी तरह सफल नहीं हो पा रहा है अन्य देशों की आर्थिक और सैनिक सहायता करना उसके लिए कठिन पड़ रहा है। चीन यद्यपि सैनिक दृष्टि से एक बड़ी शक्ति है पर वह भी अमेरिका की आर्थिक सहायता पाने के लिए उसका पिट्ठू बन गया है। इस प्रकार आर्थिक साधन एवं संस्थाएँ आदि राष्ट्रों को अपनी विदेश नीति निर्धारित करने मे महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन एवं आर्थिक नीति
(International Economic Life and Economic Policy)

प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र अथवा राष्ट्रों को अपनी आर्थिक एवं सैनिक स्थिति के अनुसार प्रभावित करता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का प्रयोग अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए करना चाहता है। इस हेतु वह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनो का निर्माण करने में सहायक बनता है तथा अपन प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों को कमजोर करने का प्रयास करता है। युद्ध की अवस्था मे इन विश्व संगठनों व आर्थिक नीतियो का उपयोग राष्ट्र विजय की इच्छा से करते है। इसलिए विद्वान इसे आर्थिक युद्ध कहते हैं।

---

1 "An economic instrument may be defined as an economic capa institution or technique explicity applied to foreign goals"
—Padelford and Lincoln, *The Dynamics of International Politics*, p

इस आर्थिक युद्ध (economic warfare) द्वारा ही आर्थिक राष्ट्रवादी (economic nationalism) का प्रादुर्भाव हुआ। आज के आर्थिक तनाव के कारण व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था 'आर्थिक समाजवाद' का रूप धारण करती जाती है। पामर एवं पर्किन्स (Palmer and Perkins) के मतानुसार, "एक राष्ट्र जब राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण लगाता है तो उसे, चाहे या अनचाहे रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी प्रतिबन्ध लगाना पड़ता है।"

आज स्पष्टत: दो गुटों का प्राधान्य है। साम्यवादी देश आर्थिक राष्ट्रवाद के समर्थक हैं तो पूँजीवादी देश अपेक्षाकृत स्वतन्त्र विश्व व्यापार के पक्षपाती हैं। आधुनिक अर्थव्यवस्था का इतिहास आर्थिक नीतियों के संघर्ष एवं विरोध का परिणाम है।

आर्थिक युद्ध
(Economic Warfare)

'आर्थिक युद्ध' का अर्थ है "दूसरे राष्ट्रों की शक्ति को आर्थिक साधनों द्वारा कमजोर बनाना।" क्लासविज (Classwitz) के मतानुसार "शान्ति काल में अपना शत्रु कूटनीति एवं व्यापार द्वारा नि:शस्त्र बना हो और उसे तुम युद्ध के मैदान में आसानी से जीत सकते हो।" इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में समझौता वार्ताओं से लेकर युद्ध तक की स्थितियाँ होती हैं जिनका उद्देश्य आर्थिक हितों की पूर्ति ही होता है। आर्थिक साधनों का प्रयोग जहाँ सहायता के लिए किया जाता है वहाँ विरोध के लिए भी किया जाता है। जैसे 'अन्तर्राष्ट्रीय मानेटरी फण्ड' राष्ट्रों की आर्थिक सहायता करता है, उनकी विनिमय की साख स्थापित करता है परन्तु यदि साख को रोक दिया जाय तो वह स्थिति उस देश के विरुद्ध दबाव का कार्य करती है। ये आर्थिक दबाव देश की स्थिति और सामर्थ्य को कमजोर करते हैं। इन व्यवहारों को विद्वानों ने आर्थिक युद्ध की संज्ञा दी है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व आर्थिक दबावों की राजनीति बहुत प्रचलित थी और आज भी उसमें कोई विशेष कमी नहीं पड़ी है पर आर्थिक दबाव का प्रभाव अल्पकालीन एवं सीमित ही होता है। आज व्यापारिक सन्तुलन को प्राथमिकता दी जाती है तथा दबावों की प्रभावशीलता को संदेहात्मक दृष्टि से देखा जाता है। पैडेलफोर्ड एवं लिंकन लिखते हैं कि "शान्तिकाल आर्थिक युद्ध की प्रकृति सम्बद्ध रहनी चाहिए, इसमें पर्याप्त कूटनीति एवं समायोजन की आवश्यकता है तथा यह देखना जरूरी है कि बढ़ते हुए मन-मुटावों का लाभ हो या नहीं।"

प्रमुख आर्थिक साधन

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए जो आर्थिक साधन अपनाये जाते है, वे अनेक प्रकारों के होते हैं। पामर एवं पार्किन्स ने इन साधनों को आर्थिक शस्त्रागार (economic asrenal) कहा है। इन आर्थिक साधनों का उपयोग आर्थिक उद्देश्यों की अपेक्षा राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अधिक किया जाता है। ये परस्पर इतने सम्बन्धित हैं कि एक के बाद दूसरा साधन अपनाना आवश्यक होता है। शान्तिकाल में अपनाये जाने वाले साधन युद्धकालीन साधनों की अपेक्षा भिन्न होते हैं।

शान्तिकालीन आर्थिक साधन (Economic Instruments in Peace)

(1) सीमा शुल्क लगाना (The Tariff)—सभी देश विदेश से लाये जाने माल पर चुंगी लगाते हैं। इससे देश की आय में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त विदेशी माल देश में स्वदेशी माल से प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाता। कुछ देश निर्यात पर भी कर लगा देते है पर ऐसा बहुत कम होता, क्योंकि ऐसा करने से विदेश मे उसकी माँग कम हो जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो आधार में निर्यात कर (export duty) लगाना मना है।

आयात या निर्यात कर लगाने के निम्नलिखित कारण होते हैं :

(i) राष्ट्रीय आय में वृद्धि हेतु,

(ii) स्वदेश उद्योगों के संरक्षण की दृष्टि। इस शुल्क को संरक्षण शुल्क (Protective Tariff) भी कहा जाता है।

(iii) अन्य राज्यों के मुकाबले में अपने राज्य के उत्पादन में वृद्धि हेतु। स्थानीय कारखानो के लाभ मे वृद्धि एवं मजदूरों आदि के वेतन में वृद्धि।

(iv) विलासता के साधनों को निरुत्साहित करने तथा आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए।

(v) आयात पर शुल्क लगाने से विदेशी मुद्रा की बचत तथा भुगतान में सुविधा।

(vi) किसी विपक्षी देश की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने हेतु बदले की भावना से लगाया गया शुल्क।

इस प्रकार सीमा शुल्क की वृद्धि का प्रभाव आयात में कमी करना होता है और इसके बदले में या प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरा राष्ट्र भी अधिक शुल्क लगाता है। पामर और पार्किन्स लिखते है कि "शुल्क एवं दूसरी विरोध युक्तियाँ, जिनका उद्देश्य दूसरे देश की कीमत पर अपने देश की अभिवृद्धि करना होता है, दूसरों को कष्ट पहुँचाने (Beggar my neighbour Policy) की नीति पर आधारित होता है।"[1]

इस प्रकार प्रत्येक देश शुल्क को आर्थिक हथियार के रूप में प्रयोग करता है क्योंकि युद्ध के बाद शान्ति की शर्तों में परिवर्तित शुल्क नीतियाँ ही दबाव का साधन होती हैं।"

(2) अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक संघों का प्रयोग (Use of the Cartels)—चार्ल्स आर व्हाइटले ने उत्पादक संघ की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "उत्पादक संघ स्वतन्त्र उद्योगों के उस संघ को कहा जा सकता है जो उत्पादन पर नियन्त्रण रखने के लिए बनाया जाता है।"[2] इस संघ के सदस्य-राष्ट्र राष्ट्रीय सीमाओं से परे व्यापार करते हैं इसलिए 'अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक संघ' नाम से पुकारे जाते हैं।

कार्टेल (Cartel) शब्द की उत्पत्ति चार्टा (Charta) शब्द से हुई है जिसका अर्थ है ठेका (Contract)। इसका उद्देश्य बाजार को नियन्त्रित रखना, एकाधिकार को समाप्त करना विक्रेताओं के हितो की रक्षा करना आदि होता है ऐसे संघ सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इनका संगठन तभी होता है जबकि विश्व-बाजार में परस्पर प्रतियोगी उद्योगों में अधिकांश इनके लिए सहमत होते है। ये संगठन केवल अनौपचारिक बात-चीत पर आधारित भी होते हैं तथा ठोस समझौतों पर आधारित शक्तिशाली संघ भी। ये संघ बाजार को प्रभावित करने हेतु तीन साधनों को अपनाते हैं।

(i) कीमतों को निश्चित करने वाले उत्पादक संघ।

(ii) उत्पादन को सीमित करने वाले उत्पादक संघ, तथा

(iii) विक्रय क्षेत्रों का विभाजन करने वाले उत्पादक संघ।

कार्टेल शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1870 ई० में जर्मनी में हुआ था। जर्मनी मे इसे

---

[1] "Tariffs and other restrictive devices that aim to further the prosperity of one country at the expence of another represent, what is known as a beggar-my-neighbour policy." —*Palmer and Parkins*

[2] "A Cartel may be defined as an association of independent enterprises in the same purpose of some control over competitions."
—Charles R. Whittlesey : *International.*

विकसित होने का पूर्ण अवसर मिला तथा सरकार ने इसे वैधानिक मान्यता दी। जर्मनी में इस प्रथा के विकसित होने के कारण थे—सरकार का व्यापार पर नियन्त्रण, जर्मनी की संगठित प्रवृत्ति तथा निगम उद्योग (Corporation undertakings) के प्रति उदासीनता आदि। जर्मनी के अतिरिक्त इटली, रूस, स्पेन, रूमानिया, एवं नार्वे आदि सर्वाधिकारवादी देशों में इस प्रथा को प्रोत्साहन दिया गया। यद्यपि 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में ऐसे संघों का निर्माण इंगलैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, आस्ट्रिया आदि देशों में इन पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

इन उत्पादक संघों का प्रयोग उन उद्योगों में किया जाता है जिनमें बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। कृषि उद्योगों आदि में इनका प्रयोग नहीं किया जाता है। ऐरविन हेक्सनर (Ervin Hexner) ने सौ कार्टेलों का अध्ययन कर उन्हें आठ वर्गों मे विभाजित किया है—

(i) खाद्य-सामग्री तथा अन्य सम्बन्धित वस्तुओं का।
(ii) इस्पात एवं लोह धातुओं के उत्पादन का।
(iii) धातुओं के अतिरिक्त अन्य अतिरिक्त खनिज पदार्थों का।
(iv) अ-लौह धातुओं के उत्पादन का।
(v) उपर्युक्त सीमाओं में न आने वाले कच्चे माल का।
(vi) रसायन व औषधियों के उत्पादन का।
(vii) अन्य तैयार उत्पादित वस्तुओं का तथा
(viii) अन्य सेवाओं से सम्बन्धित क्रियाओं का।

उत्पादन संघों की आलोचना (Criticism of Cartels)—संयुक्त राज्य अमेरिका का लोकमत इन संघों का विरोधी था। कुछ अमेरिकन अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि उत्पादन संघ (cartels) किसी देश की अर्थव्यवस्था के लिए घातक होते हैं। यद्यपि अमेरिका में रसायन तथा विद्युत उद्योगों में इस प्रकार के संघ स्थापित हैं फिर भी इनकी कटु आलोचना होती है। अमेरिकन विद्वान ह्विटलेसी (Whittlesey) इस व्यवस्था के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं—

(1) ये संघ राष्ट्र की निष्ठा व स्वामिभक्ति को विभाजित करते हैं, लाभ प्राप्ति की भावना को राष्ट्र-भक्ति की भावना से ऊपर रखकर युद्धों को प्रोत्साहन देते हैं।

(2) इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन व वितरण पर जो प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। उससे देश किसी बड़े युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री से वंचित रह जाता है।

(3) ये संघ गुप्तचरों (undercover agency) का कार्य भी करते हैं तथा देश की महत्वपूर्ण सूचनाओं को शत्रु राष्ट्र तक पहुँचाते हैं।

(4) राष्ट्रों में समझौतों द्वारा विदेशी पूंजी की ब्याज की दर निश्चित कर दी जाती है तथा कोई तीसरा देश उन देशों में चुंगी नहीं लगा सकते।

(5) ये संघ सर्वाधिकारवादी राज्यों के विशेष साधन (special tools) हैं, इसलिए इन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए।"[1]

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व नाजियों ने कार्टेलो का प्रयोग अमेरिका, फ्रान्स व इंगलैण्ड के गुप्त रहस्यों को जानने के लिए किया था। अतः आज भी ये संघ सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं। परन्तु ह्विटलेसी (Wittlesey) आगे लिखते हैं कि "कार्टेलो द्वारा वहाँ राष्ट्रवाद का पोषण होता है।……… ……… कार्टेलो का उपयोग अच्छे तथा बुरे दोनों ही उद्देश्यों के लिए किया जाता है। यह मानना अनुचित रहेगा कि कार्टेल द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा को कमजोर

---

1 Charles R. Whittlesey : *International Politics*.

बनाया जाता है। अतः राष्ट्रीय सुरक्षा के आधार पर कार्टेलो की आलोचना न्यायसंगत नहीं है।"[1]

(3) **कोटा तथा लाइसेन्स** (Quota and Licences)—कोटा तथा लाइसेन्स द्वारा किसी देश से आने वाले माल की सीमा निश्चित करदी जाती है ताकि देश के उत्पादन की रक्षा की जा सके तथा आयात पर सीधा नियन्त्रण रखा जा सके पर निर्यात पर कोरी व्यवस्था केवल युद्ध काल में लागू की जा सकती है। राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोटा व्यवस्था का प्रयोग किया जाता है। इस व्यवस्था द्वारा माल की मात्रा में कमी या वृद्धि करके निर्यात करने वाले देशों को अपने पक्ष में समर्थन के लिए विवश कर दिया जाता है।

लाइसेन्स का प्रयोग कर आयात पर और अधिक नियन्त्रण लगाने के लिए किया जाता है। इस व्यवस्था मे जब-जब कोई राष्ट्र निर्यात करना चाहेगा तो उसे इसके लिए लाइसेन्स लेना पड़ेगा एव यह लाइसेन्स एक देश की अपनी आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित किया जायेगा। इस प्रकार कोटा एवं लाइसेन्स प्रणाली द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नियन्त्रित किया जाता है। जैसे 1960 तक अमेरिका ने क्यूबा तथा अन्य चीनी उत्पादक देशों की चीनी आयात के लिए कोटा निर्धारित कर रखा था। ये अपने उत्पादन का बड़ा भाग अमेरिका को निर्धारित करते थे। अतः अमेरिका इनके कोटे की मात्रा में परिवर्तन करके इनकी अर्थव्यवस्था को हानि अथवा लाभ पहुंचा सकता था।

(4) **अन्तःसरकारी वस्तु समझौता** (Inter-government Commudity Agreements)—किसी देश-विदेश को विश्व बाजार में एक निश्चित भाग के लिए आश्वस्त करने की युक्ति, अन्तर-सरकारी वस्तु, समझौता कहलाता है। ये समझौते उत्पादकों के हितों की रक्षा के लिए किये जाते हैं जबकि किसी वस्तु का सामान्य से अधिक उत्पादन (over production) हुआ हो तथा उसे विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता से बचाना हो। ये समझौते सरकारों द्वारा किये जाते हैं यदि ये निजी उद्योगों द्वारा किये जायें तो कार्टेल कहलाते है। इन समझौतों के कार्य मुख्यतया दो होते है :

(i) अन्तरस्थ स्टाक ऐजेन्सी (Buffer Stock Agency) की स्थापना करना।

(ii) निर्यात व उत्पादन के कोटों को निश्चित करना।

जब एक वस्तु का उत्पादन कई देशो मे होता है तो उसकी कीमत किसी एक देश द्वारा निश्चित न होकर सभी देश मिलकर वस्तु समझौता करते हैं। ये समझौते प्रायः कृषि एवं खनिज उत्पादनों पर ही किये जाते है। औद्योगिक उत्पादन तो कुछ ही देशों द्वारा होता है उनमे समझौते व्यक्तिगत आधार पर कर लिये जाते हैं।

कार्टेल व्यवस्था के समान विद्वानों ने इस व्यवस्था की भी आलोचना की है। यह सामान्य धारणा है कि इनसे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि होती है और आकस्मिकता में बहुत उपयोगी होते हैं। परन्तु यदि ये समझौते स्थायी बन जाते है तो अकुशल उत्पादक अधिक लाभ उठाते हैं। इन समझौतों के सम्बन्ध मे एक अमेरिकन शोध-संस्थान ने चेतावनी देते हुए लिखा कि "इन वस्तु-समझौतों का उद्देश्य वस्तु-समझौतों की आवश्यकता समाप्त करना होता है।"[2] पामर व पार्किन्स अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि "यदि ये समझौते

---

1 "......Cartels, are merely instruments, usable for both good and bad purposes. National security is perhaps the weakest ground on which to attack Cartels" —*Whittlesey*

2 The aim of Commodity agreements should be to end the need for commodity agreements." —*Stocking and Watking*

अपने वैध उद्देश्यों के साथ समाप्त नहीं होते तो वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में अकारण बाधक बन जाते है क्योंकि इनका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में बाधा डालने के लिए भी किया जाता है, अतः ये राष्ट्रीय नीति के शक्तिशाली अभिकरण हैं।"[1]

(5) व्यय मूल्य पर निर्यात (Dumping policy)—इस नीति के अन्तर्गत अपने देश में उत्पादित किसी वस्तु को देश में मिलने वाले मूल्य से कम पर निर्यात करना जाता है। सर्व प्रथम 1890 मे जर्मनी कार्टेलो ने कम मूल्य पर निर्यात किया था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद सं० रा० अमेरिका के स्टील निगम (Steel Corporation), अन्तर्राष्ट्रीय हारवेस्टर कम्पनी (International Harvestor Company) तथा स्टेन्डर्ड तेल कम्पनी (Standard Oil Company) द्वारा इस डम्पिग व्यवस्था का प्रयोग किया गया था। फ्रांस, ब्रिटेन, कनाडा, एवं बेल्जियम आदि देशों ने इस व्यवस्था का प्रयोग किया।

इस व्यवस्था का उपयोग निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया :

(i) अत्यधिक उत्पादन को कम मूल्य पर निर्यात करने हेतु।

(ii) विश्व बाजार में कम मांग वाली वस्तु को निर्यात करके माँग बढ़ाने हेतु।

(iii) प्रतिद्वन्दी देश को कमजोर करने हेतु कम मूल्य पर निर्यात करना।

(iv) विदेशी मुद्रा अर्जित करने हेतु।

यदि इस डम्पिग व्यवस्था को दीर्घकाल के लिए प्रयोग करना होता है तो विदेशी माल के आयात पर शुल्क (Tariff) लगा दिया जाता है, जिससे देश के स्थानीय उद्योगों के निर्यातित माल की प्रतिद्वन्द्वता में पिछड़ जाने की सम्भावना खत्म हो जाती है। इसलिए निर्यात पारितोषक (Export boundaries) भी प्राप्त किया जाता है विनर (Viner) ने इस विषय में लिखा है कि "आज की प्रतियोगितापूर्ण परिस्थिति में बिना निर्यात पारितोषिक के एक दीर्घकालीन व्यवस्थित डम्पिग के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता है।"

(6) पूर्वक्रय (Pre-emptive Buying)—जब तटस्थ देश के सामान को कोई राष्ट्र इस दृष्टि से खरीद लेता है कि वह कहीं शत्रु के हाथ में न पड़ जाय तो वह 'पूर्वक्रय' कहलाता है। इसमें हानि-लाभ को ध्यान मे नहीं रखा जाता है अपितु राष्ट्रीय परिवहन को सर्वोपरिता दी जाती है युद्धकाल में ही इस प्रकार की खरीद की जाती है और राष्ट्रीय हितो को व्याहारिक हितों की अपेक्षा वरीयता दी जाती है।

पाल इन्जिग (Pal Einzing) ने लिखा है कि "ज्यो ही द्वितीय महायुद्ध छिड़ा तो जर्मनी ने ऐजेन्टों को आज्ञा दी कि बाल्टिक और बाल्कन क्षेत्रों मे से किसी भी कीमत पर वे अधिक से अधिक माल की खरीददारी कर डालें। दूसरी ओर ब्रिटेन ने इस सम्बन्ध में पैसे और परेशानी की ओर अधिक ध्यान दिया। फलतः वह असफल रहा"........."पूर्वक्रय करने का सिद्धान्त यह है कि दुश्मन के हाथों में खाद्य-सामग्री को न पड़ने दिया जाये। ऐसा करने में चाहे आर्थिक हानि ही क्यों न उठानी पड़े।"[2] इस प्रणाली से शत्रु राष्ट्र को बहुत हानि उठानी पड़ती है, इसलिए इसे "आर्थिक युद्ध" का एक साधन माना जाता है।

---

[1] "When they do not end with their legitimate purpose, they become unwarranted barrier to international trade. Because they can be used as barriers, unwarranted or otherwise they are potential instruments of national policy." — *Palmer and Parkins*

[2] "The whole substance of pre-emptive buying lies in the diversion of supplies from the enemy irrespective of Commercial Considerations." Paul Einzing : *Economic Warfare*, p. 49.

इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप जर्मनी द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व दिया गया है। इसके पश्चात तो अमेरिका एवं इंगलैंड ने स्वीडन, टर्की, लैटिन अमेरिकी आदि तटस्थ राष्ट्रों से सभी उपलब्ध माल खरीद लिया था। लेकिन तटस्थ राज्य भी पूर्वक्रय होते देखकर कीमतें बढ़ा देते हैं, इससे कई बार माल खरीदना कठिन हो जाता है। मुद्रा की कठिनाई, यातायात का अभाव आदि भी बाधक बन जाता है। इतना होते हुये भी 'पूर्वक्रय' युद्ध का महत्त्वपूर्ण साधन बन जाता है।

(7) व्यापार एवं भुगतान समझौते (Trade and Payments Agreements)—व्यापारिक लेन-देन के लिए सरकार परस्पर समझौते कर लेती है तथा किसी देश पर भुगतान का धन रह जाने पर दोनों देश उसके भुगतान के सम्बन्ध में समझौता कर लेते है, इस प्रकार के समझौतों में यह निश्चित कर लिया जाता है कि भुगतान किस रूप में होगा—स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्रा अथवा माल के रूप में। यह सारी बिक्री तथा समझौते राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर किये जाते है। इन समझौता नीतियों द्वारा अपने विपक्षी राष्ट्रों को उपेक्षित एवं पृथक सा कर दिया जाता है। इस रूप में राष्ट्रीय नीति के प्रभावशाली साधन बन जाते हैं।

(8) शत्रु सम्पत्ति पर नियन्त्रण (Control of enemy assets)—जब कोई राष्ट्र विदेशी राष्ट्रीयता वाले नागरिकों की सम्पत्ति अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से छीनकर अपने कब्जे में कर लेता है, तब यह व्यवहार दूसरे राष्ट्रों की सम्पत्ति पर नियन्त्रण करना माना जाता है। यह सम्पत्ति साख, कोषमय धन, बीमा पालिसी आदि के रूप में होती है। तेरहवीं शताब्दी तक सम्पत्ति अधिग्रहण की परम्परा मानी जाती थी लेकिन बाद में भिन्न राष्ट्रीयता वाले नागरिकों को सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त हो गया। जैसे कि द्वितीय विश्व युद्ध के समय डेनमार्क और नार्वे पर जर्मनी का आक्रमण होने पर स० रा० अमेरिका ने वहाँ के नागरिकों की सम्पत्ति का अधिग्रहण कर लिया ताकि निरापराध तटस्थ लोगों के हितो की रक्षा की जा सके।

(9) विनिमय नियन्त्रण (Exchangé Control)—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य आयात एवं निर्यात के मध्य सन्तुलन बनाये रखना होता है। इसका प्रयोग तब किया जाता है जब देश मे विदेशी विनिमय की पूर्ति माँग के अनुरूप न हो। यह तभी प्रभावी हो सकता है जबकि सरकार द्वारा मनोनीत संस्था का विदेशी विनिमय पर एकाधिकार हो। इस नीति से कीमतों को ऊँचा रखकर माँग की पूर्ति की जाती है तथा आयात-निर्यात मे सन्तुलन स्थापित किया जाता है। इससे वह अपनी मुद्रा की कीमत स्थिर करके राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को अलग करके घरेलू योजनाओं (Domestic Programmes, की सुरक्षा कर सकता है। क्रोसे (Krause) का कहना है कि "पृथक करने की व्यवस्था के कारण विनिमय नियन्त्रण उन देशों मे आर्थिक शस्त्रागार का प्रमुख हथियार रहा है जो योजनाबद्ध रूप से विकास करना चाहते है।"

(10) आर्थिक पुरस्कार एवं दण्ड (Subsidies and Punishment)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के लिए कई प्रकार के आर्थिक साधन अपनाये जाते हैं। विकसित व समृद्धिशाली राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं तथा उन्हें अपनी नीतियों के समर्थन के लिए विवश कर देते हैं तथा नकारात्मक रुख अपनाकर आर्थिक दण्ड देते हैं।

आर्थिक पुरस्कार के रूप में एक राज्य दूसरे राज्य को ऋण उपहार तथा अन्य आर्थिक सहायतायें देता है और इनकी सहायता से अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे विशेष स्थिति कायम कर आर्थिक क्षमता बढ़ाता है। आर्थिक सहायता निम्नलिखित उद्देश्य से की जाती है—

(i) मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की अभिवृद्धि करना।

(ii) अपने उद्योग-धन्धों की वृद्धि करना।

(iii) अन्य देशों की औद्योगिक एवं तकनीकी प्रगति को बढ़ाना।

(iv) सम्बन्धित देशों की राजनीतिक एवं आर्थिक नीति में इच्छानुसार परिवर्तन कराना आदि।

उदाहरण के लिए आज के युग में अपने गुटों की शक्ति बढ़ाने के लिए सं०रा० अमेरिका तथा सोवियत रूस अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक एवं तकनीकी सहायता देकर अपने घेरे में रखना चाहते हैं तथा दूसरे के प्रभाव को उनके यहाँ से हटाना चाहते हैं। डारी वन्य शुल्क (tariff) तथा आर्थिक सहायता का अन्तर बताते हुये लिखते हैं कि "आर्थिक युद्ध (Economic warfare) में शुल्क का प्रयोग केवल आत्म-रक्षा के लिये किया जाता है किन्तु आर्थिक सहायता का उपयोग आक्रमण करने के लिए भी किया जा सकता है।

(11) नाकाबन्दी (Blockade)—शत्रु को पराजित करके हथियार डालने के लिये विपक्षी राज्य को नाकाबन्दी कर विवश किया जाता है। नेपोलियन जैसे महाशक्तिशाली सम्राट को मित्र राष्ट्रों ने नाकाबन्दी करके परेशान कर दिया था। द्वितीय विश्वयुद्ध में भी जर्मनी को चारों ओर से घेरकर नाकाबन्दी की गई थी। नाकाबन्दी का उद्देश्य यह होता है कि शत्रु देश कहीं बाहर से आर्थिक अथवा सैनिक सामग्री न मंगा सके तथा उसके मित्र देश उस किसी प्रकार की सहायता न दे सकें। यदि कोई तटस्थ देश शत्रु देश को फिर भी सहायता देता रहता है तो उनकी भी नाकाबन्दी की जाती है। जैसे द्वितीय युद्ध में जर्मनी की नाकाबन्दी होने पर भी उसे स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, टर्की, पुर्तगाल एवं स्पेन आदि देश जर्मनी को कच्चा माल भेजते रहे तब अमेरिकी अधिकारियों ने इन राष्ट्रों की भी नाकाबन्दी की ताकि उन्हें अपनी नीति मनवाने के लिए विवश किया जा सके। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून वैध नाकेबन्दी की अनुमति देता है पर अमेरिका ने जर्मनी को हटाने के लिए असैनिक सामग्री ले जा रहे जहाजों की अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अवहेलना करते हुये नाकेबन्दी की थी।

(12) वर्ज्य सूची का प्रयोग (Use of Black lists)—द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मित्र देशों ने ऐसी सूचियाँ बनाई जिनसे उल्लिखित राष्ट्रों से व्यापार करने को बहिष्कृत किया गया इन सूचीबद्ध राष्ट्रों से मित्र देशों की कोई संस्था अथवा व्यक्ति व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता था। इन सूचीबद्ध राष्ट्रों की सम्पत्ति को भी मित्र राष्ट्रों ने अधिकृत कर लिया था। इतना ही नहीं इस वर्ज्य सूची के राष्ट्रों के राष्ट्रजनों को भी एवं व्यापारियों को भी शत्रु घोषित कर दिया गया था। इन्हें यूरोप के किसी मार्ग से जाने या सामान ले जाने की अनुमति नहीं दी गई थी। मित्र राष्ट्रों की इस दबाव नीति के कारण अनेक देशों को जर्मनी से बिल्कुल सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा। यही नीति इटली एवं जापान के साथ भी बरती गई।

उपरोक्त साधनों के अतिरिक्त मूल्य निर्धारण करना (Volarization) व्यापार प्रतिबन्ध (Embargo) विदेशी आर्थिक सहायता (Foreign Economic aid) आदि साधनों का भी प्रयोग किया जाता है। डालर तकनीकी विदेशी आर्थिक सहायता का ही एक रूप है।

उपर्युक्त सभी साधन राष्ट्रीय नीति की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं। आणविक प्रभाव से पैदा राष्ट्रों के मध्य खाई को आर्थिक साधनों के समुचित प्रयोग से पाटा जा सकता है और उन्हें निकट लाया जा सकता है। इन साधनों से अन्तराष्ट्रीय राजनीति में विशेष प्रभाव पैदा किया जा सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राष्ट्रीय नीति के आर्थिक शस्त्रों से आप क्या समझते हैं? आर्थिक शस्त्र और युद्ध के आर्थिक साधन में अन्तर कीजिये।

10

साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद
(Imperialism and Colonialism)

"उपनिवेशवाद उन आर्थिक राजनीतिक एवं सामाजिक नीतियों का नाम है जिन पर चलकर कोई साम्राज्यवादी शक्ति दूसरे क्षेत्रों अथवा लोगों पर अपना नियन्त्रण बनाये रखना अथवा उसका विस्तार करना चाहती है।"

—वेब्स्टर शब्दकोष

"The essential objective of neo—Colonialism is to maintain the flow of imperialist profits from fomer colonial territories, after the concession of political independence."

—Rajini Palme Dutta

साम्राज्यवाद का अर्थ तथा परिभाषायें
(Meaning and Definitions of Imperialism)

साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद प्राचीनकाल से ही राष्ट्रीय नीति के साधनों के रूप में प्रयोग किये जाते रहे हैं आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाली शक्तियों में साम्राज्यवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पामर तथा पार्किन्स ने कहा है कि साम्राज्यवाद पर विचार किया जाता है, उसकी निन्दा की जाती है, इसका समर्थन किया जाता है, इसके लिये मृत्यु का आलिंगन किया जाता है—लेकिन इसे सामान्य स्वीकृत शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता है।"

वेब्स्टर शब्द कोष में साम्राज्यवाद की परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि 'यह (साम्राज्यवाद) उस नीति, अभ्यास तथा प्रयास को कहते हैं जिसके द्वारा एक राष्ट्र अपना नियन्त्रण, राज्य साम्राज्य को बढ़ाने मे करता है।"[1]

वेब्स्टर ने "नयी तीसरी अन्तर्राष्ट्रीय शब्द कोष" मे साम्राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी है कि "साम्राज्यवाद ऐसी नीति के अनुगमन या समर्थन या उसकी मौन स्वीकृति को कहते हैं जिसका लक्ष्य किसी राष्ट्र के नियन्त्रण क्षेत्र अथवा साम्राज्य को उसकी प्राकृतिक सीमाओं से बाहर स्थित नये प्रदेशों अथवा अधीनस्त क्षेत्रों की प्राप्ति द्वारा विस्तृत करना अथवा उसके शासन को अन्य मानव जातियों तक फैलाना है।"[2] परन्तु इस परिभाषा मे साम्राज्यवादियों के उद्देश्य स्पष्ट नहीं हैं।

---

1 "It (Imperialism) is the policy, practice or advocacy of seeking to extend the control dominion or empire of a nation." —*Webster's Dictionery*

2 ... the exten- ... territories ... al bounda-

... *Dictionary*

प्रो० शूमा के शब्दों में "शक्ति और हिंसा के द्वारा अधीन जनता पर विदेशी शासन का लादा जाना ही साम्राज्यवाद है, फिर चाहे इस कथन के विपरीत कितनी नैतिकता बघारी जाये और बहाने बनाये जाये।"[1] प्रो० शूमा ने भी साम्राज्यवाद की बुराइयों का ही उल्लेख किया है परन्तु उसके मूल्य तत्वों का उल्लेख नही किया है।

साम्यवादी साम्राज्यवाद के कटु आलोचक है। लेनिन का कथन था कि "साम्राज्यवाद पूंजीवाद की सर्वोच्च अवस्था है।"[2] यह परिभाषा भी अधूरी है। सी० डी० बर्न्स के अनुसार 'साम्राज्यवाद विभिन्न प्रदेशों में कानून और शासन की एक ही व्यवस्था है तथा यह अन्तर्राष्ट्रीय और प्रान्तीय राष्ट्रवाद के मध्य का मार्ग है।' पार्कर मून के अनुसार 'साम्राज्यवाद का अर्थ है गौर योरोपियन जातियों पर उनसे सर्वथा भिन्न योरोपियन जातियों का शासन।'

साम्राज्यवाद का जन्म तथा विकास-
(Birth and Development of Imperialism)

साम्राज्यवादी भावना कोई आधुनिक काल की उपज नही यह भावना अनादि काल से चली आ रही है। भारत जैसे प्राचीन देशों में चक्रवर्ती सम्राटो का जन्म हुआ, जिन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये। आर्य समाजी विद्वानों का तो यहाँ तक कहना कि महाभारत काल में भारत का साम्राज्य समस्त विश्व में फैला हुआ था। महाभारत युद्ध के समय सभी देशों के राजा इस युद्ध में लड़ने आये थे। उनके विचार से महाभारत या अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध जैसा युद्ध तो अभी तक लड़ा ही नही गया है। 18 अक्षोणी सेनाओं की गिनती वे लाखों योद्धाओं एवं सैनिकों में नहीं लगाते, बल्कि करोड़ों और अरबो में लगाते हैं। परन्तु प्राचीन आर्यों का साम्राज्य नाम मात्र को होता था। केवल भेंट-पूजा वे लेते थे, राज्यो को अपने अधीन नही करते थे। ऐतिहासिक युग में भारत में मगध साम्राज्य का उल्लेख आता है। यह साम्राज्य नही कहा जाना चाहिये क्योंकि यह भारत देश के अन्दर ही स्थित था।

भारत के समान ईरान में सिकन्दर महान से पूर्व महान साम्राज्य था। ईरानियों ने यूनानियों को कई बार पराजित किया। सिकन्दर यूनान की हार का बदला लेने के लिये ही ईरान के सम्राट दारा पर आक्रमणकारी हुआ था। वह विश्व विजय करना चाहता था पर मगध सम्राट से भय खाकर लौट गया और रास्ते मे ही अल्पायु में मृत्यु को प्राप्त हुआ। पूर्वी साम्राज्य का स्वामी सिकन्दर का सेनापति सैल्यूकस हुआ जो चन्द्रगुप्त मौर्य से हारा। यूरोप के इतिहास में सिकन्दर का साम्राज्य पहला साम्राज्य था।

यूनान के नगर राज्यों को रोमनों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यूरोप का रोमन साम्राज्य दूसरा विशाल साम्राज्य था। यह साम्राज्य बहुत समय तक चला। रोमन साम्राज्यों पर जब ईसाइयों का प्रभुत्व हो गया तो वह पवित्र रोमन साम्राज्य बन गया। इस प्रकार मध्य काल मे यूरोप एवं एशिया मे अनेक साम्राज्य विद्यमान थे। पर नया साम्राज्यवाद जो 16वीं शताब्दी से फैला वह पुराने साम्राज्य से भिन्न था। इस साम्राज्यवाद को उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद के नाम से भी पुकारते हैं।

---

1 "Imperialism is the imposition by force and violence alien rule upon subject poeple, despite all misabazing and pretension of the country."
—E. Asirwatham : *Political Theory*

2 "Imperalism is the highest stage of Capitalism." —*V. I. Lenin*

3 Imperialism refers simply to the policy whereby ones state extends its political or economic power or both, over another region with or without consent of the inhabitants thereof."—Walter R. sharp and Graysonkrik : *Contemporary International Politics.* p. 309.

इस क्षेत्र में शोधों से पता चला कि साम्राज्यवाद के कई रूप रहे हैं जिनका विकास उद्देश्यों एवं परिस्थितियों की भिन्नता के कारण हुआ। साम्राज्य जब कभी आये और कितने ही रूप में आये उनका लक्ष्य एक ही होता है। वह लक्ष्य है अन्य जातियों पर आधिपत्य जमाना या उनके व्यवहार पर नियन्त्रण रखना। उपनिवेशवाद (Colonialism) या नव-उपनिवेशवाद (Neo-Colonialism) साम्राज्यवाद के नूतन रूप हैं। इनका अन्तर ऐतिहासिक कालक्रम और विकास के आधार पर बताया जा सकता है। वस्तुतः साम्राज्यवाद अपने स्वरूप में राजनीतिक व क्षेत्रीय विस्तार का परिचायक होता है तो उपनिवेशवाद आर्थिक विस्तार का। उपनिवेश का प्रारम्भ तो 17वीं शताब्दी में यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा आर्थिक हितों से प्रेरित होकर हुआ।

15वीं शताब्दी में जब से कोलम्बस और वास्कोडिगामा ने अमेरिका और भारत के जलमार्ग का पता लगाया तब यूरोप की विभिन्न जातियाँ केवल व्यापार के उद्देश्य से अपने घोंसलों से निकलीं। पर धीरे-धीरे व्यापारी अपने प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने लगे। यह प्रभाव क्षेत्र एशिया और अफ्रीका में कुछ उपनिवेशों या अधिराज्यों में प्रकट हुये। इन उपनिवेशों में या अधिराज्यों में इन यूरोपीय जातियों ने राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व वैचारिक प्रभाव डाले।

17वीं शताब्दी से जो साम्राज्य फैला वह इससे पूर्व के साम्राज्य से सर्वथा भिन्न था। ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन व हालैण्ड आदि ने नये देशों की खोज कर वहाँ पर अपने उपनिवेश बनाये। इन देशों से उद्योगों के लिये कच्चा माल व पक्का माल आदि के लिये बाजार आदि प्राप्त हुये। इन उपनिवेशों में शक्तिशाली देशों ने आर्थिक लूट की तथा राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित किया। वहाँ अपना शासन, सैनिक अड्डे, उद्योग-धन्धे खोले और आर्थिक एवं सैनिक नियन्त्रण भी स्थापित किया। धीरे-धीरे इन उपनिवेशों या अधिराज्यों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न हुई और स्वतन्त्रता एवं स्वशासन की मांग होने लगी। साम्राज्य गले में बँधे चक्की के पाट के समान लगने लगे। कुछ उपनिवेशों को स्वशासन प्रदान कर दिया गया।

19वीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड, फ्रांस के अलावा नई शक्तियों का जन्म हुआ और वे भी अपने साम्राज्य अथवा उपनिवेश स्थापित करने में संलग्न हुईं। इन शक्तियों में अमेरिका, जापान, जर्मनी एवं रूस थी। प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी और बीसवीं शताब्दी में उपनिवेशों के लिये सशस्त्र संघर्ष उत्पन्न हुये। वी० डी० महाजन के मतानुसार "आर्थिक साम्राज्यवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को मार्ग दिखलाया, इसलिये वह भी युद्ध के लिये उत्तरदायी था।"[1] दो भयानक महायुद्धों का कारण ही उपनिवेशवाद एवं आर्थिक साम्राज्य बना द्वितीय महायुद्ध के बाद तीसरे प्रकार का साम्राज्यवाद चला। इसमें यद्यपि अनेक देश स्वतन्त्र हुये पर पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियों ने इन स्वतन्त्र राज्यों को आर्थिक एवं सैनिक सहायता देकर इन्हें अपना गुलाम बनाने का प्रयत्न किया इसे ही नव-उपनिवेशवाद (*Neo-Colonialism*) कहा गया। आज विश्व के दो तिहाई राष्ट्र इस आर्थिक साम्राज्यवाद के आधीन आक्रान्त हैं और अपना राजनीतिक स्वप्न स्थापित करने में कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। अमेरिका और रूस नव-उपनिवेशवाद को प्राप्त करने लिए गुट-सापेक्ष नीति अपना रहे हैं।

साम्राज्यवाद के विभिन्न रूप
(Different forms of the Imperialism)

साम्राज्यवाद के ऐतिहासिक अध्ययन से हमें साम्राज्यवाद के चार प्रकार के रूप देखने को मिल रहे हैं—

---

1 "Economic Imperialism was also responsible for the war. Economic Imperialism leads to international rivalism." —*V. D. Mahajan*

(1) राजनीतिक साम्राज्यवाद (Political Imperialism)

(2) आर्थिक साम्राज्यवाद अथवा उपनिवेशवाद (Economic Imperialism or Colonialism)।

(3) नव-उपनिवेशवाद (Neo-colonialism)

(4) वैवाहिक साम्राज्यवाद (Cultural Imperialism)

इन का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार से किया जायेगा।

(1) **राजनीतिक साम्राज्यवाद** (Political Imperialism)—प्राचीनकाल में राजनीतिक साम्राज्यवाद का युग था। शक्तिशाली राज्य अपने सैनिक बल से अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करते थे। अपने पड़ोसी राज्यों को जीत कर अपने राज्य मे विलय करते थे। जैसे मौर्य साम्राज्य, चन्द्रगुप्त एवं अशोक के साम्राज्य, कनिष्ठ साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य भारत में, ईरान साम्राज्य, तुर्क साम्राज्य, मंगोल साम्राज्य एशिया में, सिकन्दर साम्राज्य, रोमन साम्राज्य एवं ईसाई साम्राज्य (Holy Roman Empire) यूरोप में।

भारतीय साम्राज्य की धारणा थी कि वे अपने देश में राजनीतिक एकता चाहते थे अतः वे छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर एक शक्तिशाली केन्द्र के आधीन उन्हें करना चाहते थे। उनका कभी विचार विदेशी देशों को जीतना या अन्य राज्यों को जीत कर उनका आर्थिक शोषण करना नहीं रहा। चाहे पाटलिपुत्र साम्राज्य का केन्द्र रहा या कनौज या पुरुषपुर समस्त जनता से एकसा ही व्यवहार किया जाता था।

एशिया के अन्य देशों द्वारा या यूरोपीय देशो द्वारा जो साम्राज्य स्थापित किये गये वे सत्ता की भूख से प्रेरित थे। एक राष्ट्र जो धन की लिप्सा से ओत-प्रोत होता था या विश्व में अपनी सैनिक सत्ता का प्रदर्शन करना चाहता वह सेना के बल से अपने राज्य का विस्तार करता। कुछ राज्य शत्रु के भय से प्रभावित होकर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये दूर-दूर तक के क्षेत्र पर अपना सैनिक साम्राज्य स्थापित कर लेते थे। वे राष्ट्र स्वभावतः हिन्सक, लड़ाकू या डाकू प्रकृति के होते थे जैसे सिकन्दर, चंगेजखां, महमूद गजनवी, मौहम्मद गौरी, तैमूरलंग आदि; यूरोप मे, रोमन शासक फ्रांस केलुर्ड, नेपोलियन, फ्रेड्रिक महान, रूस के जार, जर्मनी का विस्मार्क, कैसर विलियम द्वितीय, मुसोलिनी या हिटलर आदि। इतना होने पर भी इन साम्राज्यवादियों का लक्ष्य राजनीतिक प्रभुत्व ही था। प्रो० मार्गेन्थू (Morgenthau) ने इस प्रवृत्ति को "सैनिक साम्राज्यवाद" का नाम दिया है। आमतौर से 19 वीं शताब्दी तक इस प्रकार के साम्राज्यवाद का प्रभाव रहा है।

(2) **आर्थिक साम्राज्यवाद** (Economic Imperialism)—प्राचीन काल में भी यह प्रथा थी कि हारने वाला राज्य युद्ध का हर्जाना देता था। मध्य काल मे कुछ राजा या सुल्तान केवल आर्थिक लूट करने के लिये दूसरे देश पर आक्रमण करते थे। भारत इतिहास ऐसे तुर्क या मंगोल आक्रमण कारियों के कृत्यों से भरा पड़ा है। यह आर्थिक लूट हिंसा और अमानुषिकता भरी मानी गयी, अतः आधुनिक काल में दूसरे प्रकार की आर्थिक लूट का प्रचलन हुआ। यूरोप के पश्चिमी देशों ने यह तरीका अपनाया। स० रा० अमेरिका ने भी इसी ढंग का अनुसरण किया। यह तरीका औद्योगीकरण की उपज है। अपने देश की आर्थिक उन्नति करने के लिये तथा अपनी बढ़ती जनसंख्या को बसाने के लिए उपनिवेशों का बसाना प्रारम्भ किया। अविकसित राज्यों से पश्चिमी राष्ट्रों ने क्षेत्र छीने और वहाँ पर अपने उपनिवेश बसाये। अपने अधीनस्थ प्रदेश के लोगों का आर्थिक शोषण किया। वहाँ कच्चा माल सस्ते दामों पर खरीदा और वहाँ अपने पक्के माल को ऊँची कीमत पर बेचा। इस प्रकार आधीन देश के नागरिक गरीब एवं उद्योगहीन होकर साम्राज्यवादी शक्तियों के निरीह दास बनकर रह गये।

उपनिवेशवाद आधुनिक आर्थिक साम्राज्य का विकृत रूप है। साम्राज्यवादी शक्तियों ने पहले तो राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया तत्पश्चात् वहाँ के आर्थिक साधनों का शोषण प्रारम्भ किया। इस आर्थिक शोषण से शक्ति प्राप्त कर वहाँ बसना प्रारम्भ किया और इस प्रकार उपनिवेशीकरण (Colorijation) का रिवाज प्रारम्भ हुआ। कुछ विद्वानों ने उपनिवेशवाद और उपनिवेशीकरण मे भेद बताया है। फ्रांसीसी विद्वान रेमों आरो ने लिखा है कि "उपनिवेशीकरण से अभिप्राय एक राष्ट्र और दो जातियों से है, जैसे दक्षिणी अफ्रीका और रोडेशिया आदि में हुआ, जब कि उपनिवेश वाद से अभिप्राय: दो राष्ट्र और दो जातियों से है। उपनिवेशवाद में शासक देश के अल्पसंख्यक व्यक्ति साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतिनिधि रूप मे उपनिवेशों में शासन चलाते हैं।" उदाहरण के लिये, ब्रिटेन ने भारत में अपनी शासन सत्ता स्थापित की। अतः उपनिवेशवाद की परिभाषा वेब्स्टर महोदय ने इस प्रकार दी है कि "उपनिवेशवाद उन आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक नीतियों का नाम है जिन पर चल कर कोई साम्राज्यवादी शक्ति दूसरे क्षेत्रों अथवा लोगों पर अपना नियन्त्रण बनाये रखना अथवा उसका विस्तार करना चाहती है।"[1] द्वितीय विश्व युद्ध तक भारत भी इगलैंड का एक उपनिवेश मात्र था।

(3) नव-उपनिवेशवाद (Neo-colonialism)—यह कहा जाता है कि नव-उपनिवेशवाद का जन्म द्वितीय विश्व युद्ध के कारण हुआ। उपनिवेशों में राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न हुई और वहाँ की जनता ने प्रभुसत्ता पाने के लिये राजनीतिक आन्दोलन चलाया। ब्रिटेन और फ्रांस जो द्वितीय विश्व युद्ध मे कमजोर पड़ गये थे, उन्हें अपने उपनिवेशो में राजनीतिक सत्ता बनाये रखना कठिन प्रतीत हुआ अतः उन्हें एक-एक करके स्वतन्त्रता प्रदान की गई। एशिया एव अफ्रीका में ऐसे अनेक राज्य सम्प्रभु बने। 1945 मे स० रा० सघ की सदस्यता केवल 50 राज्यों को प्राप्त थी। 1968 तक यह सदस्यता बढ़कर 126 हो गई। आज तो इनकी सख्या (1976 तक) 160 से भी आगे हो गई है।

इस प्रकार वर्तमान समय मे अधिकांश राज्य स्वतन्त्र एवं संयुक्त बन गये हैं, पर केवल राजनीतिक दृष्टि से, आर्थिक दृष्टि से वे आत्म-निर्भर नहीं। औद्योगिक दृष्टि से वे अत्यन्त पिछड़े हुये हैं। अपनी आर्थिक दशा को सुधारने के लिये इन पिछड़े देशो को महाशक्तियों (रूस और अमेरिका) की ओर देखना पड़ा। इन शक्तियो ने अनेक स्वतन्त्र देशो को अपने "प्रभाव क्षेत्र" के अन्तर्गत ले लिया। राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुये भी ये देश आर्थिक दृष्टि से महाशक्तियों के उपनिवेश मात्र ही है। अतः इनकी स्वतन्त्रता एवं सम्प्रभुता केवल दिखावा मात्र है। इनकी नकेल रूस या अमेरिका के हाथ मे है। ये इन महाशक्तियो की मण्डी अथवा बाजार मात्र है।

इन नव-उपनिवेशों पर शक्तिशाली विदेशी शक्तियाँ अपने निर्णय जबरन थोपने का प्रयास करती है तथा इन्हे अधिक शिकजे मे कसा रखना चाहती हैं। इससे कोई-कोई ही विकासशील देश निकल पाता है। जैसे यूगोस्लाविया रूस के शिकन्जे से निकल भागा और भारत अमेरिका के शिकन्जे से निकलने में समर्थ हुआ। इतना होने पर भी ये देश अमेरिका या रूस की सहायता के बिना आगे बढ़ते दिखाई नही देते हैं और किसी न किसी प्रकार इनके प्रभाव क्षेत्र में रहते हैं।

मार्गेन्थ्यू (Morgenthau) लिखते है कि "लैटिन अमेरिका के राजनीतिक दृष्टि से सम्प्रभु होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया अमेरिका के निर्यात पर निर्भर होने के कारण बहुत समय तक ऐसी कोई स्वतन्त्र गृह अथवा विदेश नीति नही अपना सके, जिस पर अमेरिका को आपत्ति हो।"[2] इसी प्रकार पूर्वी यूरोप के देश रूस की आधीनता में ही गतिशील हो सकते हैं।

---

1 Webster's —*Dictionary*

2 Hans J. Morgenthau : *Politics Among Nations* pp. 59-60.

जब कोई देश इनके प्रभाव-क्षेत्र से निकलना चाहता है तो उसे सैनिक बल से दबा दिया जाता है, जैसे 1957 में हंगरी को एवं 1968 में चैकोस्लावाकिया को रूस ने दबा दिया था।

इस प्रकार नव-उपनिवेशवाद भी नया आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है। ये साम्राज्यवादी गुट निरपेक्ष राष्ट्रों को भी अपने दाँव पेच द्वारा नवीन आर्थिक साम्राज्य में लाने का प्रयत्न करते रहते हैं।

साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद में भेद

साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है। परन्तु दोनों में कुछ जाते हैं जो निम्न हैं—

(1) साम्राज्यवाद अधिक संगठित, अधिक सैनिक और अधिक जानबूझ कर की गई सैनिक आक्रामक कार्यवाही है लेकिन उपनिवेशवाद धीरे-धीरे अधिकार जमाने की नीति है।

(2) साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद की अपेक्षा अधिक प्राचीन है तथा युद्धों द्वारा विजय पर आधारित है। उपनिवेशवाद अपेक्षाकृत नयी विचारधारा है।

(3) साम्राज्यवाद का स्वरूप राजनीतिक अधिक होता है लेकिन उपनिवेशवाद का स्वरूप मूलतः आर्थिक होता है।

(4) उपनिवेशवाद में एक देश के नागरिक दूसरे देश में बसते हैं और अपनी सांस्कृतिक एवं राजनीतिक संस्थाओं की वहाँ स्थापना करते हैं। साम्राज्यवाद में यह भावना कम होती है।

(5) उपनिवेशवाद में मातृ देश का नियन्त्रण साम्राज्यवाद से अपेक्षाकृत ढीला होता है।

(6) उपनिवेश क्षेत्रों को विकास के अवसर मिल जाते हैं। साम्राज्य के अधीन प्रदेश पिछड़े रहते हैं।

परन्तु दोनों ही शासक द्वारा शासितों के शोषण पर आधारित है। साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद अपने हर स्वरूप मे बुराई है। साम्राज्यवाद की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है तथा उपनिवेशवाद भी साम्राज्यवाद की अभिव्यक्ति का एक रूप है।

(4) वैचारिक अथवा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (Idealistic or Cultural Imperialism)—कोई-कोई राष्ट्र अपनी विचारधारा अथवा सांस्कृतिक श्रेष्ठता का दवा कर छल-कपट द्वारा विस्तार करता है तो उसे वैचारिक अथवा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद कहा जाता है। इस प्रवृत्ति का जन्म अरब राष्ट्रों से हुआ। इस प्रवृत्ति का लक्ष्य दूसरे देशों की जनता को अपना विचार-पक्षी बनाकर लाभ उठाने का रहता है। सैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति, राजनयिक कूटनीति आदि साधनों का प्रयोग अपनी विचारधारा को श्रेष्ठतम सिद्ध करके तथा दूसरों की विचारधारा को निकृष्टतम सिद्ध करके करते है।

इस्लाम धर्म का उदय 7 वी शताब्दी में अरब में हुआ। इस्लाम धर्म के अनुयायियों में यह भावना भरी गई कि उनका धर्म श्रेष्ठतम है और उनका यह पवित्र कर्तव्य है कि जो लोग अन्य धर्मों को मानते हैं वे नास्तिक (काफिर) हैं अतः उन्हें इस्लाम का अनुयायी बनाया जाये। दूसरे धर्म के अनुयायियों को इस्लाम धर्म में दीक्षित कराना, चाहे फिर उसके लिए छल-कपट, हिंसा, लूट आदि का ही सहारा क्यों न लेना पड़े सवाब (पुण्य) का काम है और जन्नत को दिलाने में सहायक है। इसके लिए अरब वालो ने सैनिक शक्ति का संचय किया एवं शीघ्र ही उन्होने अफ्रीका एवं यूरोप में सैनिक एवं धार्मिक साम्राज्य फैलाया। समस्त मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया एवं दक्षिणी एशिया में इस्लाम धर्म का तलवार के बल से प्रचार एवं प्रसार हुआ। दक्षिण एशिया में भारत में इस विचारधारा की टक्कर हिन्दू धर्म से हुई। इसी प्रकार पूर्वी एवं दक्षिणी यूरोप में इस्लाम धर्म की टक्कर ईसाई धर्म से हुई।

यूरोप में ईसाइयों ने इस विचारधारा का मुकाबला 300 वर्षों तक किया। अन्ततः 1648 ई० में वेस्टफेलिया का सम्मेलन हुआ और इसमें पोप एवं खलीफा की सर्वोच्चता की मान्यता समाप्त कर राष्ट्रीय-राज्य व्यवस्था का विकास हुआ, जिसका आधार था शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त। इस सम्मेलन के बाद 17वीं से 19वीं शताब्दी में वैचारिक साम्राज्यवाद का सम्बन्ध उपनिवेशवाद से जोड़ दिया गया। प्रो० शूमा का मत है कि "जब तुर्कियों, हिन्दुओं, अरबों व अमेरिकनों ने यूरोपीय राज्यों के हस्तक्षेप का विरोध किया तो इन राज्यों ने उन पर ईसाइयत लादने, उनका धनापहरण एवं गोरों को वहाँ जमीन उपलब्ध कराने के लिए उन पर स्थलीय एवं समुद्री सेनाओं ने आक्रमण किये।"

1917 ई० में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद साम्यवाद भी इस्लाम धर्म के अनुसार एक कट्टर पन्थी विचारधारा सामने आयी। इस्लाम धर्मानुयायी तो ईश्वरवादी है पर साम्यवादी घोर अनेश्वरवादी है। 1917 से 1946 तक साम्यवादी नेता अपने देश में ही क्रान्ति को सफल बनाने का प्रयत्न करते रहे पर इसके बाद उन्होंने विश्व राजनीति में भाग लिया और यह देखा कि तत्कालीन परिस्थिति में अवसरवादी नीति अपनाई जाय। पहले तो वे जर्मनी से मिले गये और पोलैण्ड एव फिनलैण्ड पर कब्जा जमाने में सफल हुए पर बीच युद्ध में रूस और जर्मनी से ठन गई तो रूसी अपने कट्टर शत्रु पूँजीवादियों से मिल गये। युद्ध के दौरान जिन-जिन देशों पर रूसी सेनाओं ने कब्जा किया, वहाँ-वहाँ साम्यवाद भी फैलाया। पूर्वी यूरोप के समस्त राज्यों पर रूसी सेनाओं का अधिकार हो गया और वे वैचारिक साम्राज्यवाद के शिकार हो गये।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दो विचारधाराओं की जोरदार टक्कर होना प्रारम्भ हुई। एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर पूँजीवाद दोनों ने वैचारिक उपनिवेश स्थापित करने की होड़ लगा रखी है। सारा विश्व आज दो विचारधाराओं के कैम्पों में जमा होता जाता है। दोनों में शीतयुद्ध प्रारम्भ हो चुका है। इन दोनों विचारधाराओं के लगभग प्रत्येक देश मे पचमार्गी पैदा हो गये हैं। साम्यवाद भी दो कैम्पों में बँट गया है—(1) रूसी एव (2) चीनी। एक फ्रांसीसी लेखक ने साम्यवादियों की निष्ठा देखकर साम्यवाद को 20वीं शताब्दी का 'इस्लाम' कहा है।

प्रो० मार्गेन्थ्यू ने बताया है कि वैचारिक साम्राज्यवाद "शक्ति के लिए संघर्ष" की नीति का ही परिवर्तित रूप है। मार्गेन्थ्यू के अनुसार "समस्त राजनीति का चाहे वह राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय—यह एक प्रमुख लक्षण है कि वह अपने मूल उद्देश्य को छिपाकर अपने कार्यों को बौद्धिक, नैतिक, कानूनी अथवा जैव आधारों पर समझाने एवं न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास करती है।"

वैचारिक उपनिवेशवाद साम, दाम, दण्ड और भेद से लगातार अपनी शक्ति बढ़ा रहा है। अपने-अपने कुत्सित उद्देश्यों को बड़े-बड़े भाषणों एवं लेखों द्वारा प्रचार का सहारा लेकर वह मानव मस्तिष्कों को प्रभावित कर रहा है। ब्रिटिश इतिहासकार गिबन (Gibbon) का कथन है कि 'विजेताओं के विधि शास्त्र ने अपने द्वारा लड़े प्रत्येक युद्ध के लिए सुरक्षा अथवा प्रतिशोध, प्रतिष्ठा अथवा उत्साह, अधिकार अथवा सुविधा का कोई न कोई बहाना आसानी से मिल जाता है।"[1] यह बात पश्चिमी साम्राज्यवादियों पर पूरी तरह लागू होती है। ईसाई मत प्रचारकों ने तो घोषणा की कि दुनिया के असभ्य देशों को सभ्य बनाने का दायित्व श्वेत जातियों पर है और इसी नारे की आड़ में उन्होंने साम्राज्य विस्तार किया। मध्य युग में इस्लाम धर्म ने समानता, भाईचारा आदि शब्दों के सहारे ही अपने धार्मिक वैचारिक साम्राज्यवाद को फैलाया। आज का

1 "For every war a motive of safety or revenge, of honour or zeal, of right or convenience, may be readily found in the jurisprudence of Conquerors."
—*Gibbon*

पूँजीवाद भी लोकतन्त्र एवं व्यक्ति स्वातन्त्र्य के नारों की आड़ में अपना साम्राज्य विस्तार कर रहा है और दूसरी ओर साम्यवाद सर्वहारा वर्ग की समानता न्याय व सुख समृद्धि का स्वप्न दिखाकर मोहित कर रहा है। इस प्रकार सदैव से ही वैचारिक साम्राज्यवाद अपने छद्म रूप में निर्बल राष्ट्रों को ग्रसने की योजना बनाता रहता है।

साम्राज्यवाद के प्रयोजन
(Objectives of Imperialism)

समय, परिस्थितियों एवं मानव-प्रयोजनों की भिन्नता के कारण साम्राज्यवाद के विभिन्न रूपों का विकास हुआ। पामर एवं पार्किन्स व फ्रेड्रिक शूमैन आदि विद्वानों ने साम्राज्यवाद के प्रयोजन इस प्रकार बताये है—"अति जनसंख्या, मण्डियों की आवश्यकता, गोरों का सभ्यताभिमान, पूंजी की लागत, व्यापार विजय का अनुगामी (Trade follows the flag), अधीन राष्ट्रों का शोषण तथा पूंजीवादी एकाधिकार की व्यवस्था आदि।"[1]

साम्राज्यवादियों के प्रयोजनों को मुख्यतः तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(1) राजनीतिक शक्ति की तृष्णा,
(2) आर्थिक शक्ति की तृष्णा, तथा
(3) वैचारिक शक्ति की तृष्णा।

व्यक्ति या वर्ग विशेष शक्ति की लिप्सा से प्रेरित होकर उपर्युक्त तीन शक्तियों को प्राप्त करने की कामना करता है। एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) लिखते हैं कि "आधुनिक युग में लगभग सभी साम्राज्यवादी एक राष्ट्र को विश्व-व्यापी बनाने का चेतन प्रयास करते हैं।"[2] द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात ब्रिटेन के विश्वव्यापी प्रभाव का अन्त हो गया, उस रिक्त स्थान को भरने के लिए रूस और अमेरिका दोनों ही प्रयत्नशील है। दोनों देश अपना आर्थिक प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाकर सम्बन्धित देशों के आर्थिक व प्राकृतिक साधनों का अपने राष्ट्रहित में उपयोग करना चाहते हैं। आर्थिक लाभ के अतिरिक्त अन्य कारण भी इसमें निहित है, जो निम्न प्रकार के हैं—

(1) सामरिक अड्डों की स्थापना (Establishment of war-bases)—आज शक्तिशाली राष्ट्र सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण या केन्द्र स्थानों (key-posts) को अपने-अपने अधिकारों में रखने के लिए वहाँ पर अपने सैनिक अड्डे बनाना पसन्द करते हैं, जैसे ब्रिटेन ने अपनी नौसैनिक शक्ति को बनाने के लिए जिब्राल्टर, माल्टा, अदन, आशा अन्तरीप एवं सिंगापुर को अपने आधिपत्य में रखा है। इसी प्रकार रूस एवं अमेरीका विभिन्न देशों मे अपने सैनिक अड्डे बनाये हुए है और जो सैनिक साम्राज्यवाद का प्रमुख स्वरूप है।

(2) संकीर्ण राष्ट्रवादी धारणायें (Narrow National Prejudice)—साम्राज्यवादी टट्टी की ओट शिकार खेलते हैं। विश्व कल्याण की बात करते हुये वे तर्क रखते हैं कि वे पिछड़ी एवं अर्द्ध सभ्य जातियों को सभ्य बनाना चाहते हैं। रोड्स ने 1877 में लिखा था कि "मेरा मत है हम विश्व की प्रथम जाति हैं तथा विश्व के जितने अधिक भाग पर हम अपना आधिपत्य कर लेते हैं, उतना ही यह मानव जाति की भलाई में है।"[3]

---

[1] "The motives mentioned are—(1) Economic gain (2) National Prestige (3) The white man's Burden, (4) National defence, (5) Surplus population (6) Marxian and Leninist View."—*Fredrick L. Schuman & Palmer and Parkins.*

[2] "All our modern imperialisms are thus, the more or less conscious efforts of one nation states become world wide." —*H. G. Wells*

[3] "I contend that we are the first race in the world, and that the more of the world we inhabit the better for the human race." —*Rhodes.*

रस्किन (Ruskin) जैसे मानवतावादी विचारक ने भी ब्रिटेन के "साम्राज्यवादी मिशन का समर्थन किया। उनका कहना था कि उसे शीघ्रता शीघ्र उपनिवेशों की स्थापना कर वहाँ अपने योग्यतम व्यक्ति नियुक्त करने चाहिए तथा प्रत्येक ऐसे लाभकारी भूमि के टुकड़े पर अधिकार कर लेना चाहिए जो बेकार पड़ा हुआ है। उसे अपने उपनिवेशवादियों को यह शिक्षा देनी चाहिए कि वह अपने देश के प्रति निष्ठावान हो तथा उनका प्रथम लक्ष्य इङ्गलैण्ड की जल व थल शक्ति को बढ़ाना हो।"[1]

बर्नार्ड शॉ भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि "प्रत्येक अंग्रेज एक निश्चित अद्‌भुत शक्ति को जन्मजात् रूप में प्राप्त करता है जो इसे विश्व का स्वामी बनाती है।[2] इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि साम्राज्यवाद के मूल में राष्ट्रवादी शक्तियाँ क्रियाशील रहती है।

(3) आर्थिक आवश्यकतायें (Economic necessities)—साम्राज्यवाद को विकसित करने में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यूरोपीय जातियाँ पहले केवल विदेशी वस्तुओं को लेकर विभिन्न देशों में पहुँचाने का कार्य करती थीं। इस व्यापार से इन्हें बहुत लाभ हुआ। उनके मन में यह भावना जागी कि इन वस्तुओं का उत्पादन यदि अपने देश में होने लगे तो हमारा भी लाभ होगा और देश का भी आर्थिक विकास होगा। इस भावना से कुछ राष्ट्रों ने कुछ मशीनों का प्रयोग कर उत्पादन करने का परीक्षण किया। यह परीक्षण सफल हुआ और मनुष्य की अपेक्षा यन्त्रों द्वारा उत्पादन सरल और अधिक हो गया। इस अतिरिक्त माल को खपाने तथा कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र को बाजार और मण्डियों की तलाश हुई। अतः औद्योगिक क्रान्ति ने उपनिवेशवाद एवं आर्थिक साम्राज्य की भूख को तीव्रतर कर दिया। अपने अधीनस्थ राष्ट्रों से उनका उपरोक्त उद्देश्य पूरा होना था। लंकाशायर तथा मैनचेस्टर के कारखानों का पक्का माल बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा अधीनस्थ राष्ट्रों से प्राप्त करने लगा। इतना ही नहीं कच्चा माल भी सस्ते दामों पर खरीदने लगा। इस लाभ से उत्साहित होकर यूरोपीय राज्यों ने समुद्र पार अपने साम्राज्यों को बढ़ाया। चूंकि इङ्गलैण्ड को नौसैनिक शक्ति सब यूरोपीय देशों से बढ़ चढ़ी थी। अतः वह इतना बड़ा साम्राज्य बनाने में सफल हुआ जिसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता था। लेनिन ने इस पूंजीवादी साम्राज्यवाद का विरोध किया और मजदूरों की शासन व्यवस्था का प्रतिपादन किया जिसमें पूंजीवादी शोषण का अभाव था।

(4) जनसंख्या वृद्धि (Growth of Population)—जनसंख्या में अति वृद्धि भी साम्राज्यवाद का मुख्य कारण है। 19वीं शताब्दी में वैज्ञानिक आविष्कारों से औषधि-विज्ञान ने बड़ी उन्नति की जिससे मृत्यु दर घटने लगी और जनसंख्या बढ़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने के लिए भूमि एवं प्रदेशों की आवश्यकता पड़ने लगी। उपनिवेशों की स्थापना कर जनसंख्या का स्थानान्तरण किया जाने लगा। जैसे चीन ने सदैव दक्षिणी पूर्व एशिया में साम्राज्य विस्तार का प्रयास किया। इसे पीला साम्राज्यवाद (Yellow-Imperialism) कहा जाता है।

---

1 "This is what Englishman must either do or perish she must found her colonies as fast and as far as she is able formed of her most energetic and worthiest men, seizing every piece of fruitful waste ground she can set her foot on, and then teaching these her colonists that their chief virtue is to be fidal to their country, and that their first aim is to be to advance, the power of England by land and sea." —*Ruskin*

2 "Every Englishman is born with a certain miraculous power that makes him the master of the world." —*G. B. Shaw*

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. साम्राज्यवाद क्या है ? उसकी परिभाषा दीजिए।
   What is Imperialism ? Give its definitions.
2. साम्राज्यवाद और उपनिवेशावाद में क्या सम्बन्ध है। इसके पीछे कौन-सी भावनायें छिपी हैं ? स्पष्ट कीजिए।
   What is the relationship between Imperialism and Colonialism ? What are the motives hidden after it ? Explain.
3. साम्राज्यवाद का जन्म और विकास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए तथा उसके विभिन्न रूप बताइये।
   Describe a short history of origin and development of Imperialism. Give its various forms.

11

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता
(International Morality)

"मानवतावाद, उदारवाद, तथ्यात्मकता और सापेक्षवाद पर आधारित यह संस्कृति उन मापदण्डों को सुझाती है जिनके द्वारा संचार की स्वतन्त्रता और अन्य मानव अधिकार तथा राष्ट्रीय अधिकारों के औचित्य को ठहराया जा सके और उनकी व्याख्या की जा सके।"

—क्विन्सी राइट

"....*Rules of international morality apart, if universally accepted, can serve not only as a nationally convenient, but also internationally useful agency for peaceful change, as an instrumentality for the revision of the rules of law which could not be otherwise achieved except through violence.*

—Joseph Frankel.

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता का महत्त्व
(Importance of Morality in International Politics)

"शक्ति संघर्ष" यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आधार बन जाये तो विश्व की दशा हाब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था जैसी बन जायगी। कमजोर शक्तियाँ शक्तिशाली शक्तियों की क्रीत दास बन जायेगी तथा "मत्स्य न्याय" का साम्राज्य छा जायगा। इसी कारण प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक नैतिकता पर जोर दिया जाता रहा है तथा सामाजिक एव राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को सीमा में बांधने का प्रयत्न किया जाता रहा। निरकुश सत्ताधारियों की कटु-आलोचना की जाती रही है। इतना होने पर भी शक्ति के पुजारियो की कमी नहीं है। दो महायुद्ध इसके प्रमाण है कि विश्व में शक्ति समर्थकों का आज भी बाहुल्य है। पाश्चात्य देशों में शान्ति, नैतिकता, लोकतन्त्र एव सवैधानिकता को बढ़ावा दिया जा रहा है और निरंकुशता, महत्त्वाकाक्षा एवं अनैतिकता पर प्रतिबन्ध लगाने की कोशिश की जा रही है। मार्गेन्थ्यू के शब्दो में 'सम्पूर्ण समाज तथा उसके सदस्यों के हित मे शक्ति पर कुछ सीमाओ के रूप मे स्वय समाज के सदस्यो की इच्छा से उस शक्ति-संघर्ष यांत्रिकी को कम किया जा रहा है। ये सीमाएँ लोकाचार एवं नैतिक नियमो द्वारा लागू की जाती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और शक्ति संघर्ष (International Morality and Power Struggle)—यद्यपि आज भी विश्व मे "शक्ति संघर्ष" जारी है पर शक्ति प्राप्त करने के साधनों में अपनी आकांक्षाओं का नग्न रूप प्रखर नहीं किया जाता है। आज ये महत्त्वाकाक्षायें विवेक, नैतिकता एवं न्याय के पर्दे में छिपी रहती है। कोई भी राज्य यह घोषणा नही करता कि वह शक्ति का प्रयोग दुर्बलों को कुचलने में, अन्याय और अत्याचार द्वारा शोषण करने मे एवं मानवता का विनाश करने मे लगाया जायेगा। वह परोपकार, जनकल्याण एव मानवता की रक्षा करने में अपनी शक्ति

लगाने का वचन देता है। पर नैतिक व्यवस्था का उद्देश्य आज ही नहीं प्राचीन काल से शक्ति प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा पर प्रतिबन्ध लगाता रहा है। मैकियावली, स्टालिन, हिटलर जैसे शक्ति अन्ध भक्तों की कटु-आलोचना की जाती है। बड़े-बड़े दर्शकों ने न्याय की शक्ति को महान बताया है। न्याय, बिना नैतिकता के प्राप्त नही हो सकता।

प्राचीन काल से ही विश्व में दो पक्ष रहे हैं एक शक्ति को प्राप्त करने वालों का पक्ष तथा दूसरा शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने वालों का पक्ष। दूसरा पक्ष निर्बलों को शक्तिशालियों के *अत्याचारो से बचाना, समाज को विघटन से रोकना एवं मानवों को सुख एवं सुविधा पहुँचाना* रहा है। सभ्यता का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है शान्तिवाद का बाहुल्य होता जाता है अर्थात् नैतिकता का पक्ष प्रबल होता जाता है। लोकतन्त्र हो या समाजवादी तन्त्र दोनो ही तन्त्रों में नैतिकता, लोकाचार और कानून का प्रयोग सामाजिक गठन व मानवीय सुरक्षा के लिये किया जाता है। नैतिकता और लोकाचार के नियम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी प्रमुख स्थान रखते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अर्थ (Meaning of International Morality)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में नैतिकता विवादास्पद प्रश्न है। अधिकांश लोग इस मान्यता को मानते हैं कि "साधनों का औचित्य साध्य है।" 'End justifies the means' आदर्शवादी इस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। महात्मा गान्धी साधन और साध्य दोनों की ही शुचिता एवं शुद्धता में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि 'गीता का निष्काम सिद्धान्त (कार्य बिना लोप के)' हमे शिक्षा देता है एक अच्छा कार्य केवल एक अच्छा परिणाम उपलब्ध कराता है।"[1] नैतिकता के विषय में लिखते है कि •'जान रस्किन की पुस्तक अन्टु दि लास्ट (Unto the Last) में दावा किया गया है कि मनुष्य तभी सुखी हो सकते हैं जब वे नैतिक कानून का पालन करें। दुनिया के सभी धर्मों में सदाचार एक आवश्यक अग माना गया है परन्तु धर्मों के अलावा हमारी साधारण सभ्यता भी नैतिक नियमो के पालन की आवश्यकता बताती है। उनका पालन करके ही हम सुखी होने की आशा कर सकते हैं।" इस प्रकार अच्छे बीज के द्वारा उत्पन्न पौधा एवं उसमें लगने वाले फल उत्तम होगे।

परन्तु कुछ विद्वानों का कहना कि हम वैयक्तिक सम्बन्धों का आधार तो नैतिकता मान सकते हैं पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे नैतिकता का काई महत्व नही। प्रत्येक राष्ट्र के कुछ अपने हित होते हैं जिनकी उसे पूर्ति करनी होती है *अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यावहारिक रूप में* ये व्यक्तिगत आचरण के नियम (Personal code) ही है। कुछ अन्य विचारकों का कहना है कि 17 वी शताब्दी से 19 वी शताब्दी तक नैतिकता का महत्त्व अधिक था पर 20 वीं शताब्दी में उसका इतना महत्त्व नहीं रहा है। वे इसके दो कारण भी प्रस्तुत करते हैं—

(i) 19 वी शताब्दी तक तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मुख्यत: यूरोप में केन्द्रित था और वहाँ प्राकृतिक कानून 'सार्वभौमिक नैतिक मान्यताएँ (Universal moral norms) माना जाता था परन्तु 19वी शती के अन्त में वास्तविक कानून (Positive law) तथा 'नैतिक सापेक्षता' (Moral relativity) आदि सिद्धान्तों के विकास ने प्राकृतिक कानून में विचारकों को विश्वास कम हो गया।

(ii) 20 वीं शताब्दी में फासीवाद और साम्यवाद के उदय ने अनेक संस्कृतियों एवं विश्वासों को उत्पन्न किया जिससे सार्वग्राही तथा सार्व-भौमिक नैतिक संहिता का निर्माण करना

---

1 "The Gita doctrine of Nishkam Karma (action without attachment) also teaches us that a good deed produces only a good result.—Gandhiji : *Young India*, p. 714.

कठिन हो गया। आज विश्व में सभी राज्य "दोहरे नैतिक मानदण्डों (Double standards o
moral) को व्यवहार में लाते हैं।

जिस प्रकार आज यह माना जाता है कि "अदालत में सत्य बोलना महान मूर्खता है।
उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सत्य पर अड़ना मूर्खता है।" अपना काम जिस प्रकार बने
उसे बनाना ही राष्ट्रीय धर्म है।

व्यावहारिक रूप में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का दृष्टिकोण (The approach of Inter-
national Morality in applied form)—यह बात सत्य है कि आज शक्ति राजनीति का बोल-
बाला है और राष्ट्रों के सम्बन्धों का आधार अपने राष्ट्रीय हित है फिर भी कोई राष्ट्र, कुछ अन्त-
र्राष्ट्रीय नैतिकता के नियम हैं, जिनका उल्लंघन करने का साहस शक्तिशाली राष्ट्र भी नहीं करते
आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक नियम एक प्रकार से छोटे-बड़े राष्ट्रों के जीवन की रक्षा करते हैं।"

शान्तिकाल में नैतिकता (Morality in Peacetime)—शान्तिकाल में नैतिकता का
[...]व, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, समूहों एवं राष्ट्रों के जीवन की रक्षा करता है। बिस्मार्क तथा हिटलर
इस अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अपने-अपने दृष्टिकोणों अर्थात् राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से प्रयोग
करते थे। बिस्मार्क ने यद्यपि अनेक कूटनीतिक तरीकों से अनेक राष्ट्रों को पराजित किया, परन्तु
वह उस समय प्रचलित नैतिक मापदण्डों से हटकर नहीं था। पर हिटलर ने पड़ोसी देशों को नष्ट
करने का जो प्रयत्न किया वह नैतिक दृष्टि से उचित नहीं था भले ही वह हिटलर की दृष्टि से
उसका राजनीतिक या राष्ट्रीय हित हो। इस प्रकार हिटलर सभी प्रकार के नैतिक नियमों से
अछूता था। हिटलर के सामने स्टालिन भी नैतिक नियमों की परवाह न करता था। उसका
पोलैण्ड या फिनलैण्ड पर आक्रमण कोई नैतिक औचित्य नहीं रखता था।

अपने सही स्वरूप में प्रत्येक देश की विदेश नीति का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से
प्रेरित होता है जिनमें राष्ट्रीय लाभ को गौण स्थान दिया जाता है। मार्गेन्थ्यू (Morgenthau)
का विचार है कि इस प्रकार की विदेश नीति वास्तव में राष्ट्रीय हित का बलिदान करती है जहाँ
कि उसका सुसंगत उद्देश्य नैतिक सिद्धान्त के उल्लंघन को अनिवार्य बना देता है।"[1]

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् रूस के द्वारा जर्मनी के राजनीतिक बन्दियों को सामूहिक
प्राण दण्ड देने का विरोध करते हुये, ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने कहा था कि "ब्रिटिश संसद
सामूहिक प्राण दण्ड को सहन नहीं करेगी और यदि किसी प्रकार युद्ध के मावावेश में उन्हें इस
प्रकार की अनुमति दे दी जाती है तो देश में क्रान्ति फैल जायगी, जनता ब्रिटिश शासन के विर
हो जायगी। ....मैं जर्मन कैदियों को सामूहिक प्राणदण्ड देकर अपने देश के सम्मान प
कलंक लगाने के बजाय स्वयं इसी समय गोली द्वारा मारा जाना पसन्द करूँगा।" इस प्रकार इस
कथन द्वारा स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के नियम राष्ट्रों के मनमाने व्यवहार पर
प्रतिबन्ध लगाते है। मार्गेन्थ्यू के मतानुसार "दूसरी ओर, वास्तविकता यह है कि राष्ट्र निर्धारित
परिस्थितियों के अन्तर्गत मृत्युदण्ड देना अथवा अन्य इसी प्रकार की अमानवीय यातनाओं से बचाना
अपना नैतिक दायित्व समझते हैं फिर चाहे भले ही राष्ट्रीय हित की आड़ मे ऐसे किसी कार्य के
औचित्य को सिद्ध करने की सम्भावना हो।"[2]

---

[1] "A Foreign policy of this kind, therefore, actually sacrifices the national interest where its, conistent persuit would necesstate the evolution of a moral principle, such as the prohibition of mass killings in times of peace."
—*Margenthau*

[2] "On the contrary, the fact of the matter is that nations recognize a moral obligation to refrain from the inflication of death and suffering under certain conditions despite the possibility of justifying such conduct in the light of a higher purpose, such as the national interest."
—*Margenthau*

युद्धकाल में नैतिकता (Morality in Wartime)—16वीं शताब्दी तक युद्ध के नियम व परम्परायें ऐसी थी कि उनका कोई भी पक्ष उल्लंघन नहीं कर सकता था। परन्तु तीस वर्षीय युद्ध के बाद यह धारणा बदल गई क्योंकि युद्ध का विस्तार दो देशों से अनेक देशों तक फैल गया। 18वी शताब्दी तक भी युद्ध बन्दियों पर अमानुषिक अत्याचार किये जाते थे तथा उन्हें निष्कासित धन (Ransom) लेकर ही मुक्त किया जाता था। इस अमानवीयता को रोकने के लिये राष्ट्रों ने 1785 में मित्रता की संधि (Treaty of Friendship), 1899 तथा 1907 के हेग सम्मेलन तथा 1909 व 1929 के जेनेवा सम्मेलनों ने युद्ध-बन्दियों को समुचित प्रकार से रखने की योजनायें प्रस्तुत कीं। साथ ही नागरिक स्थानों पर युद्ध विस्तार को रोकने के नियम पास किये थे। 19वी एवं 20वी शताब्दी में हुई व्यापक जन हानि रोकने के लिये युद्ध का मानवीयकरण (Humanization) किया गया। यह सब अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का व्यावहारिक स्वरूप था।

युद्ध एक नैतिक बुराई (War a moral evil)—प्रारम्भ से ही मानवतावादी युद्ध की कटु आलोचना करते रहे हैं। युद्ध को वे केवल आत्म रक्षा के साधन तक सीमित रखने पर जोर देते रहे है। प्रारम्भिक चर्च नेताओं ने भी युद्ध को कम करने के लिये यह कहा कि एक ईसाई राज्य को केवल न्यायपूर्ण युद्ध लड़ना चाहिये। न्यायपूर्ण युद्ध वह होता है जो न्यायपूर्ण कारण एवं उद्देश्य से लड़ा जाय। राजनीतिज्ञों ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया और युद्ध को रोकने का प्रयास किया। जैसे 1899 एवं 1907 के हेग सम्मेलन, 1919 का राष्ट्र संघ, 1928 में कैलांग ब्रियां पैक्ट एवं द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बना संयुक्त राष्ट्र संघ आदि संघ गठित किये गये।

आधुनिक युग मे युद्ध का रूप पूर्णतया परिवर्तित हो गया है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के बन्धन ढीले पड़ गये। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व तक पश्चिमी राष्ट्रों का यह उद्देश्य रहा कि विदेश राजनीति व कूटनीति द्वारा हर कीमत पर युद्ध रोका जाये चाहे ऐसा करने मे उनके राष्ट्रीय हित की ही अवहेलना क्यों न हो। आज के आणविक युद्ध दो राज्यों तक सीमित न होकर विश्व-व्यापी बन जाते हैं तथा राजनीतिक युद्ध राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त किये जाने लगे हैं।

आधुनिक युद्धो में आक्रमण का उद्देश्य अत्यन्त विस्तृत हो गया है। इसका प्रमुख लक्ष्य शत्रु देशो के औद्योगिक संस्थानों को नष्ट करना होता है, ऐसा करने में नागरिक क्षेत्र भी लपेट मे आ जाते हैं। अतः युद्ध के इस व्यापक स्वरूप के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता नैतिकता पर विपरीत प्रभाव पड़ा है और इसके बन्धन उतने कठोर नहीं रहे जितने कि द्वितीय विश्व युद्ध से पहले थे। इससे स्पष्ट होता है कि नैतिकता के बन्धन शान्तिकालीन समय तक ही होते हैं, युद्धकाल में ये नियम स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं और युद्ध में दोनों पक्ष युद्ध में विजय की कामना लेकर भयानक खून-खराबी करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता (International Law and International Morality)—कुछ विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को पर्यायवाची शब्द मानते हैं। उनका मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राज्यों के मध्य सम्बन्धों का आधार अन्तर्राष्ट्रीय कानून है तथा युद्ध सम्बन्धी नियम तो पूर्णतया नैतिक दृष्टिकोण पर ही आधारित है तो देश और राजनीतिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून या बाध्यकारी शक्ति नहीं मानते हैं। वे भी इसके नैतिक स्वरूप को स्वीकार करते है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा होता है।

सं० रा० संघ एवं अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता (U. N. O and International Morality)—सं० रा० संघ ने 1948 में 10 दिसम्बर को 'मानव अधिकारों की घोषणा' आदेश पत्र पारित किया जिसमें राष्ट्रो के लिये कुछ सामान्य नैतिक मूल्य स्थापित किये है, संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर मे प्रमुख नैतिक उत्तरदायित्व-आक्रामक युद्धों की रोक-थाम, जबरदस्ती दूसरों के अधिकार क्षेत्र मे हस्तक्षेप की मनाही, मूल-भूत मानवीय अधिकारों का मान, स्वशासन व आर्थिक विकास की राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं की वैधता आदि है। शान्ति भंग करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विवादो का न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर सैद्धान्तिक विवेचन आदि का कार्य भार, इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य है। इसका एक अन्य उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानवतावादी विश्व समस्याओ के प्रति सम्मान पैदा करना तथा धर्म, जाति, भाषा, व लिङ्ग का विचार किये बिना सबको मौलिक स्वाधीनता प्राप्त कराना। आज इन नैतिक नियमों का आधार इतना ठोस व सुदृढ़ है कि कोई राष्ट्र इसे अमान्य नही करता तथा यथासम्भव इसका पालन करते है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अनुशक्तियाँ
(Sanctions of International Morality)

आमतौर से यह प्रश्न उठाया जाता है कि विभिन्न राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के नियमो का पालन क्यों करते है? विद्वानों ने इसके दो कारण बताते है—*(i)* आन्तरिक दबाव (Inner Pressure) तथा *(ii)* बाह्य दबाव (External Pressure)।

(i) **आन्तरिक दबाव (Inner Pressure)**—आन्तरिक दबाव के भी दो प्रकार हैं—(अ) आत्मकेन्द्रित नैतिकता (Egocentred Morality) एवं देश का जनमत (Nations Public Opinion)।

आत्मकेन्द्रित नैतिकता के अन्तर्गत राजनेताओं के नैतिक मूल्य व आस्थायें मूल्यांकित की जाती है। राजनेताओ का आन्तरिक व्यक्तित्व राष्ट्रो के आचरण को विशिष्ट नैतिक आधार प्रदान करता है जैसे भारत मे विदेश नीति के निर्धारण में या जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व का विशेष हाथ है। पचशील का सिद्धान्त उनकी निज की नैतिक मान्यता पर आधारित था जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भविष्य में भारत की विदेश नीति भी इस सिद्धान्त से अवश्य ही प्रभावित होगी।

आधुनिक युग में जनमत का बड़ा महत्त्व है। उसका दबाव भी बड़ा प्रभावकारी है। जनमत राष्ट्र पर दबाव डालकर उसे अनैतिक व्यवहार से रोक सकता है। जैसे स० रा० अमेरिका 20 वर्षों तक वियतनाम मे जन और धन का विनाश करता रहा। इससे अमेरिका मे जनमत सरकार की वियतनाम नीति का विरोधी बन गया। क्यूबा के मामले मे अमेरिकन जनमत सरकार के विरुद्ध था। जनमत ने सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मापदण्डों के अनुसार चलाने के लिये दबाव डाला। आज जनमत के प्रभाव के कारण ही प्रतिरक्षात्मक युद्ध लड़े जाते हैं। निरोधात्मक युद्ध नहीं।

(ii) **बाह्य दबाव (External Pressure)**—अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का विशेष प्रभाव रहता है। विश्व जनमत राष्ट्र या राष्ट्रों की नैतिकता को प्रभावित करता है। विश्व जनमत को अपने पक्ष में करने के लिये राष्ट्र अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करते है।

उदाहरणार्थ स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण पर फ्रास एवं इङ्गलैण्ड ने संयुक्त रूप से मिस्र पर आक्रमण कर दिया तो विश्व जनमत उनके विरुद्ध हो गया, परिणाम स्वरूप दोनों महान देशो को युद्ध रोकना पड़ा तथा अपनी सेनाओं को मिस्र से बुलाना पड़ा। 1962 में अचानक भारत पर आक्रमण करके चीन ने विश्व जनमत को अपने विरुद्ध बना लिया और अन्ततः उसे युद्ध रोकना

समर्थन प्राप्त होगा, अन्य को कुछ कम व्यापक और कुछ अन्यों को अपने मित्र-राष्ट्रों के गुट में ही।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के अस्तित्व व स्वरूप के विषय में राजनातिक विचारकों के मत भिन्न-भिन्न हैं। काण्ट एवं विल्सन (Kant and Wilson) आदि कल्पनावादी एवं आदर्शवादी दार्शनिक व्यक्तिगत नैतिक सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में आरोपित करना चाहते हैं।[2] मैकियावली व कौटिल्य आदि यथार्थवादी विचारक शासन एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में व्यवहारिक रूप से नैतिकता को कोई स्थान नही देना चाहते है। आधुनिक विचारकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का मूल्यांकन व प्रयोग परिस्थितियों के अनुसार किया जाना चाहिए। अन्त में हम जोजेफ फ्रेन्केल के विचार रखते हैं। उनके शब्द हैं कि "विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त होने पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के नियम, राष्ट्रीय नीति का आधार बनने के साथ-साथ, विश्व मे शान्तिपूर्ण परिवर्तन लाने का माध्यम बन सकते है। इनके कारण उन नियमों में संशोधन भी किये जा सकते हैं जिसके लिए अन्यथा हिंसा का सहारा लेना पड़ता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के भूतपूर्व महामंत्री दाग हेमरशल्ड ने कहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जब तक नैतिकता का समावेश नहीं होगा तब तक विश्व की समस्याओ का स्थाई हल नहीं खोजा जा सकेगा। राजनीति को नैतिकता से पृथक करना उसे अमानवीय बनाना होगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे नैतिकता का क्या महत्व है। युद्धकाल की नैतिकता और शान्ति काल की नैतिकता में अन्तर बताइये।
   What is the importance of Morality in International Politics ? Distinguish between morality in peace and morality in war time.
2. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अनुशक्तियों का क्या अर्थ है ? तथा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की स्थिति का मूल्यांकन कीजिए।
   What do you mean by sanctions of International Morality ? Evaluate the contemporary International Morality.
3. क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून ही अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता है ? स्पष्ट कीजिए।
   Is the Inernational law, international morality ? Explain.

---

1 "We are left with a legal system in which some norms will receive widespread support, others less extensive support and still other only within allied bloc." —Kaplon and Katzenback : *The Political Foundation of International Law*, p. 348.

2 "The same standards of conduct and of responsibility for wrong shall be observed among nations and their governments that are observed among the individual citizen of civilized state."

12

अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(International Law)

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून सार्वजनिक निर्देशों की वह संस्था है जो अधिकारों की व्याख्या करती है और राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रसंग में उनके कर्तव्यों का निर्धारण करती है।"

—केन्ट

"The grandest function for the law of nature was discharged in giving birth to modern International law.

—Henry Maine

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उद्‌गम
(Origin of the International Law)

आज के युग मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है। विज्ञान की उन्नति ने मानव में अनेक शक्तियों का भण्डार भर दिया है। उसने प्रकृति के अनेक भेदों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, पृथ्वी पर विजय पाने के बाद वह अन्तरिक्ष पर भी विजय पाने के लिए प्रयत्नशील है। चन्द्रमा की भूमि पर इसका पदार्पण हो गया है। मंगल और बुद्ध की अनेक रहस्यमय बातें उसे ज्ञात हो गई हैं। विज्ञान ने संचार एवं यातायात के साधनों से विश्व के महान देशों की दूरी को कम कर दिया है। कोई भी राष्ट्र आत्म-निर्भर या एकान्तवासी नहीं रहा है। राष्ट्रों में परस्पर सम्बन्धों का विकास होता जाता है। आर्थिक व्यापारिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक, प्राविधिक एवं राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण राष्ट्रों मे इतने गहरे सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं कि अब कोई राष्ट्र यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि 18वीं या 19वीं शताब्दी का जापान या अमेरिका जैसी शक्ति अलग-अलग नीति का प्रतिपादन करें। 20वीं शताब्दी के दो महायुद्धों ने मनुष्य की आँखें खोल दी हैं। वह समझने लगा है कि राष्ट्रीय कानून के समान अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी पालन सख्ती से होना चाहिए। जिस प्रकार एक देश मे अराजकता, अव्यवस्था और अत्याचार का अन्तर्राष्ट्रीय कानून से होता है उसी प्रकार राष्ट्र-समाज मे अराजकता का निराकरण अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा किया जा सकता है। बलवान राज्य दुर्बल राज्यों को भी जीने दे और विश्व शान्ति को बनाये रखने में सहयोग दे और कुछ परम्पराओं, नियमों और प्रथाओं का पालन करें, तभी मानव सुख और शान्ति से रह सकता है। अतः राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना बाध्य होता जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्म (Origin of International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय कानन का यद्यपि विकास आधुनिक युग की ही देन है पर प्राचीन काल मे भी इसके बीज पाये जाते थे। मानव समाज के आविर्भाव के समय से ही इसके एकीकरण और पृथक्करण की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर तो मनुष्य ने आत्म रक्षा और विकास के लिए नियमों और कानूनों के क्षेत्र को विस्तीर्ण करते हुए धीरे-धीरे परिवार, जनजाति (Tribe) नगर राज्य (City state),

राज्य और साम्राज्य का संगठन किया, दूसरी ओर ये परिवार, जनजातियाँ और राज्य एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करते रहे, इससे अनेक जातियों तथा राज्यों का उत्थान एवं पतन होता रहा। अतः इन प्रवृत्तियों के संघर्ष से अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मौलिक विचारों का उदय मानव समाज के उपाकाल में ही हो गया था। कावेट लिखते है कि "पुरातत्व और मानव विज्ञान ने हमें यह बताया कि मनुष्य कई हजार वर्ष पहले ही समूह बनाकर रहने लगा था, ये समूह अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था रखते थे और अन्य समूहों के साथ अपना सम्पर्क रखते थे, कुछ निश्चित नियमों का पालन करते थे। यूनान के नगर राज्यों द्वारा अपने संघ तथा मैत्रीसन्धियाँ करने तथा मध्यस्थों को विवाद सौंपने से बहुत पहले, राजा अपने कूटनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा राजनैतिक चर्चा करते सन्धियों का निर्माण करते थे, युद्धों की घोषणा करते तथा कुछ निश्चित नियमों के अनुसार लड़ाई किया करते थे।"

हालैण्ड ने भी लिखा है कि "प्राचीनकाल के राष्ट्र स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में प्रधान रूप से तीन प्रकार के नियम स्वीकार करते थे—(1) राजदूतों के विशेषाधिकार, (2) सन्धियाँ तथा (3) युद्ध की घोषणा तथा उसके संचालन के नियम।" इसका यह अर्थ है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्म प्राचीनकाल में हो चुका था।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास का इतिहास
(History of Development of International Law)

विकास के तीन युग (Three Period of Development)—लारेन्स अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ऐतिहासिक विकास को तीन युगों में बांटता है जो निम्न प्रकार से है—

(1) **प्रथम युग (First Period)**—यह युग मानव इतिहास के आदि काल से रोमन साम्राज्य की स्थापना तक निश्चित किया गया है इस युग में जातियों या नस्लों (Races) की एकता या समानता पर जोर दिया गया और यह विश्वास किया गया कि यदि राज्यों में समान जातियाँ बसती है तो उनके एक दूसरे के प्रति कुछ कर्तव्य हो सकते हैं अन्यथा नहीं। जैसे यूनानी अपने को सभ्य मानते थे और दूसरी जातियों को असभ्य मानते थे अतः उनसे कोई सम्बन्ध रखना पसन्द नहीं करते थे। अत. यूनानी दार्शनिक प्लाटो ने यूनानी नगर-राज्यों में परस्पर युद्ध होने की दशा में उनके संचालन के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाने पर इन नियमों का पालन करना वे यूनानी राज्यों के लिए आवश्यक समझते थे अन्य बर्बर जातियों के साथ युद्ध में इन नियमों का पालन करना वे आवश्यक नहीं मानते थे।

(2) **दूसरा युग (Second Period)**—इस युग को रोमन साम्राज्य की स्थापना से 16वीं शताब्दी तक अर्थात् धार्मिक सुधार आन्दोलन तक माना गया। रोमन साम्राज्य में अनेक जातियाँ एवं उपजातियाँ बसती थी अतः उसमें यह विश्वास प्रचलित था कि पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन सामान्य उच्च शक्ति (Common Superior) द्वारा होना चाहिए। मध्य युग में यूरोप के अन्दर दो ऐसी शक्तियाँ थीं—पवित्र रोमन साम्राज्य एवं पोप। आगे चलकर पोप की सत्ता को चुनौती दी जाने लगी और यह विश्वास शिथिल हो गया।

(3) **तीसरा युग (Thid Period)**—यह युग यूरोप में धार्मिक सुधार आन्दोलन से प्रारम्भ होकर वर्तमानकाल तक माना जाता है। इस युग में यह विश्वास किया जाने लगा कि विभिन्न राष्ट्र एक विशाल-राष्ट्र समुदाय (Community of Nations) के सदस्य हैं, इनमें एक दूसरे के प्रति कुछ अधिकार एवं उत्तरदायित्व है।

अब उपर्युक्त तीनों कालों (Periods) का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

प्रथम युग (क) भारत (First Period (A) India)—भारत विश्व का प्राचीनतम ... है। प्राचीनकाल में ही यहाँ पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पर्याप्त विकास हो चुका था। रामायण,

महाभारत, मनुस्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, काम-दकीय नीतिसार, नीतिवाक्यामृत तथा अन्य अनेक धार्मिक ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक नियमों का वर्णन मिलता है। इनमें दूतों की अवध्यता, युद्ध के नियम और वेदेशिक नीति के सम्बन्ध में मण्डल सिद्धान्त उल्लेखनीय है। वर्तमान काल की भांति उस समय दूत को अवध्य माना जाता था। महाभारत में एक स्थान पर लिखा है कि "दूतों को मारने वाला राजा अपने मन्त्रियों सहित नरकगामी होता है।" युद्ध छिड़ने पर भी दूत एवं उसके साथियों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाई जाती थी।

इसी प्रकार से युद्ध के नियम भी प्रचलित थे। इन नियमों का जिन युद्धों में पालन होता था वह धर्म युद्ध कहलाता था।

मनुस्मृति में लिखा है कि 'युद्ध मे शत्रुओं को धोखा देने वाले कूट हथियारों (लकड़ी के खोल में छिपे लोहे के हथियारों का प्रयोग न करें; लोहे के नुकीले (कर्णा), विष से बुझे हुए या जलती हुई आग वाले बाणों का प्रयोग न करे। रथ से उतर कर जमीन पर आये, नपुसक, हाथ जोड़ने वाले (प्राण दान मागने वाले) युद्ध से प्लायन करने वाले, खुले बालो वाले तथा 'मैं तेरा हूँ', ऐसा कहने वाले, सोये हुए, कवच खोले हुए, नग्न, निःशास्त्र, न लड़ने वाले, दर्शक, टूटे हथियार वाले, पुत्रादि शोक से पीड़ित, बहुत अधिक घायल, डरे हुए, स्त्रियां आदि का वध न किया जाय। महाभारत में भी उल्लेख आया है कि युद्ध मे बूढ़े, बच्चे, स्त्री तथा आत्म समर्पण करने वालो का मारना निषिध है।

प्राचीन भारत में 'मण्डल व्यवस्था' के प्रसिद्ध सिद्धान्त से हमे भारतीयों की वैदेशिक नीति का पता चलता है। उसमे साफ बताया गया है कि 'शत्रु का शत्रु' मित्र होता है। अतः विजय की लालसा रखने वाले (विजिगीषु) राजा को चाहिए कि वह पड़ौसी राज्य के पड़ोसी से मित्रता करें जैसा कि भारत ने आज अफगानिस्तान और रूस से मित्रता कर रखी है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सामुद्रिक युद्धों के कुछ नियमों का भी उल्लेख किया है। उसने नावाध्यक्ष के कार्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'वह चोर डाकुओं की नौकाओ को नष्ट कर दे, इसी प्रकार शत्रु देश को आने वाली, बाजार के तथा बन्दरगाह के नियमों का उल्लघन करने वाली नौकाओ का विध्वंश कर देना चाहिए।"

मध्यकाल मे भारत का सम्बन्ध यूरोपीय राज्यों से नही रहा और विदेशियो के निरन्तर आक्रमणों से त्रस्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में कोई सहयोग न दे सका।

(ख) प्राचीन मध्य पूर्व के राज्य (States of Middleeast in Ancient Time)—चौथी सहस्राब्दी ई० पूर्व से मध्य पूर्व के राज्यो मे अन्तरराष्ट्रीय व्यवहार और कानून के कुछ प्रमाण मिलते हैं। 3100 ई० पू० का एक शिलालेख मध्यपूर्व मे मिला है। उसमे लगश तथा उम्मा के मेसोपोटामियन नगर-राज्यो मे सीमा के सम्बन्ध मे हुई सधि का वर्णन है। इसमें पराजित उम्मा जाति ने पांच शक्तिशाली सुमेरियन देवी-देवताओ की शपथ लेते हुए दोनो की सीमावर्ती खाई और पत्थर को न लांघने की प्रतिज्ञा की थी। मैत्री स्थापित करना है। सबसे अधिक प्रसिद्ध सधि 1279 ई० पू० में राजा रेमसीज द्वितीय (Ramses II) और हिट्टाइट राजा हतुसिली के मध्य हुई थी, इसमें यह व्यवस्था की गई थी कि एक राज्य मे अपराध करने के बाद जो अपराधी दूसरे राज्य में भाग जाय, उन्हें पकड़कर पहले राज्य को लौटा दिया जाय। सम्भवतः यह प्रत्यपणों का यह प्राचीनतम उल्लेख है। इस संधि में दोनों राजाओं ने एक दूसरे को आन्तरिक शत्रु के विरुद्ध सहायता देने की प्रतिज्ञा की थी और उसके लिए अनेक मिश्री एवं हिट्टाइट देवताओं को साक्षी बनाया था।"[1]

---

[1] आर्थर नसबौम : ए कन्साइज हिस्ट्री ऑफ दि लॉ ऑफ नेशन्स, पृष्ठ 2-3.

यहूदियों के साहित्य में भी कुछ अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लेख पाया जाता है। पुराने अहदनामे (Old Testament) की एक पुस्तक में (डिव्रामन) युद्ध में स्त्रियों और बच्चों को मारने का निषेध है। इसमें धर्म की रक्षा के लिए पवित्र युद्ध करने का विधान है। विषम परिस्थियों में शत्रु से दिये गये वचन का पालन करने का भी उपदेश है।

(ग) यूनान (Greece)—प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० मे यूनान में एक उच्चकोटि की सभ्यता का विकास हुआ। वर्तमान टर्की एवं यूनान प्रदेश में उस समय अनेक नगर राज्यों की स्थापना हुई। इन सब राज्यो मे नस्ल, भाषा, धर्म और रीति-रिवाज एक जैसे थे। इनमें सामुद्रिक व्यापार के नियम बने। रोड्स टापू, उसका बड़ा केन्द्र था अतः ये नियम भी रोडियन नियम (Rhodian Laws) के नाम से जाने जाते हैं। लारेन्स के मतानुसार इन नियमों का प्रभाव आगे चलकर रोमन सम्राटो के सामुद्रिक एवं व्यापारिक नियमों पर पड़ा। यूनानी नगर राज्यों में अनेक सन्धियाँ भी होती थीं। उस समय विदेशियों की सत्ता कानूनी तौर पर स्वीकार कर ली जाती थी।

यूनानी धर्म को भी बड़ा सम्मान देते थे। किसी धर्म स्थान की रक्षा के लिए यूनानी राज्य आपस मे सन्धि कर लेते थे। इस प्रकार का एक संघ एम्फिक्टियनी (Amphictyony) था जो इन पवित्र स्थानो एवं यात्रियो की रक्षा करता था। एक संघ यूनान के पवित्रतम मन्दिर डेल्फी (Delphi) की रक्षा हित बना था। ये धार्मिक संघ राजनीतिक भी बन जाते थे। इन धर्म स्थानों पर शरण लेने वाले अपराधी को आश्रयाधिकार (Right of Asylum) प्राप्त होता था। सीमाओं, नदियों तथा स्रोतो के सम्बन्ध मे होने वाले विवादों का पच निर्णय द्वारा निपटारा होता था।

युद्ध के सम्बन्ध मे नियमो का उल्लेख सुकरात एवं प्लेटो की सूक्तियों से प्रकट होता है। इन नियमों का पालन यूनानी जाति के उस सम्बन्ध में होता था अन्य बर्बर जातियों के साथ नही। कुछ नियम इस प्रकार थे—धम स्थानों को कोई पक्ष हानि न पहुँचायेगा, पुजारी अवध्य माना जायगा। दोनो ओर के युद्ध मे मरे सैनिकों को विधिपूर्वक दफनाया जायगा, रणक्षेत्र में विजय की स्मृति को सुरक्षित रखा जायगा। काठ या पत्थर के स्मारक नही बनते थे केवल लकड़ी के स्मारक बन सकते थे। इतना होने पर भी नसबौम यह स्वीकार करता है कि "यूनान में मनुस्मृति के नियमों जैसी कोई व्यवस्था न थी।"[1]

इस प्रकार यूनानवासियो ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र मे कोई विशेष विकास नही किया। वास्तव उनके जितने भी नियम बने वे अन्तर्राज्यीय थे अन्तर्राष्ट्रीय नही।

द्वितीय युग-रोमन साम्राज्य का काल (Second Period-Time of Roman Empire)—प्राचीन काल मे रोमवासियों मे कानून सम्बन्धी विलक्षण प्रतिभा थी, इस विषय में उनका सर्वोत्तम उदाहरण बाइजेंटाइन सम्राट जस्टीनियन (527-565 ई०) द्वारा तैयार करवाया हुआ 'दीवानी नियमों का संग्रह' (Cropus Jusis Civilis) है। रोमन लोगो ने यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नही दिया फिर भी मध्यकाल में इसकी कानूनी पद्धति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विचारकों का प्रधान-स्रोत और आधारशिला थी।

यूनानियों के समान रोमन लोग भी धर्म को बड़ी मान्यता देते थे। यूनानियों के समान ही रोमन लोग के संधि-विग्रह के कार्य धार्मिक माने जाते थे। 590 ई० पूर्व० रोमन राजा युद्ध-छेड़ने, सन्धि करने, कूटनीतिक वार्ता करने के लिए एक संगठन बनाये हुए थे और इस सगठन को "फीशल समूह" (Callegium Feballium) कहा जाता था। युद्ध छिड़ने पर इनका कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण बन जाता था। उस समय युद्ध दो प्रकार के होते थे।

---

[1] नसबौम : पूर्वोक्त पुस्तक, 9.

(1) न्यायिक (Just) युद्ध—न्यायिक युद्धों के चार कारण बताये गये हैं—(i) रोमन प्रदेश का अतिक्रमण, (ii) दूतों के विशेषाधिकार का उल्लंघन, (iii) सन्धियों का भंग होना एवं (iv) अब तक मित्र बने किसी राज्य द्वारा युद्ध मे किसी शत्रु को सहायता देना। न्यायपूर्ण युद्ध करने से पूर्व फीशल पुरोहित, जटिल, धार्मिक विधान के बाद देवताओं को साक्षी बनाकर युद्ध के कारणों की सत्यता की घोषणा करे और चार फीशल सन्धि भंग करने वाले राज्य से इस विषय में कोई सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त करे। यदि शत्रु देश कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे तो युद्ध प्रारम्भ किया जाता था। सीनेट द्वारा युद्ध का निश्चय हो जाने पर आक्रमण करने से पूर्व तक फीशल रोमन सीमा से एक भाला दूसरे राज्य की सीमा में फेंकता था। यह विधि ही विधिपूर्वक युद्ध-घोषणा मानी जाती थी। ऐसा युद्ध केवल न्यायपूर्ण ही नहीं, वरन् पवित्र भी माना जाता था। न्याययुक्त युद्ध और उसे प्रारम्भ करने के लिए विधान से रोमन यह विश्वास करते थे कि देवता उनकी युद्ध मे सहायता करेंगे, इससे उनमें बड़ा उत्साह एवं उल्लास भर जाता था तथा उनका मनोबल ऊँचा हो जाता था। यद्यपि यह फीशल विषयक कानून (Jus fertiale) पूर्णतया देशी कानून था पर इसमें अन्तर्राष्ट्रीयता का भाव भरा था। फीशल सम्बन्धी विधान गणतन्त्रीय युग में समाप्त हो गये पर न्यायपूर्ण युद्ध के विचार ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। नसबौम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास में रोम का यह बड़ा योगदान (Contribution) माना है।

(2) न्यायिक युद्ध से विपरीत अन्याय युद्ध (unjust) होता था। जिसके लिए कोई नियम का पालन न होता था।

रोमन युद्ध की समाप्ति तीन प्रकार से होती थी—(i) शान्ति सन्धि द्वारा, (ii) शत्रु के समर्पण (iii) शत्रु के देश पर अधिकार या आवेशन (Occupation) द्वारा। उस समय सन्धियाँ तीन वर्गों मे बाँटी जाती थी—(अ) सौहार्द सन्धि (Treaty of Friendship) (ब) मैत्री सन्धि (Treaty of Alliance) (स) अतिथि सधि (Treaty of Hospitality। सन्धियाँ धार्मिक विधियों द्वारा सम्पन्न की जाती थी। इसमे देवताओं का आह्वान और अनेक प्रकार के यज्ञ होते थे। अतः उन्हें बड़ा पवित्र समझा जाता था।

रोमन लोगो को किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते को करने तथा सीनेट द्वारा उसकी औपचारिक स्वीकृति या अनुसमर्थन (Ratification) में सूक्ष्म अन्तर का पूरा ज्ञान था। यदि कभी रोम की ओर से सन्धि करने वाला प्रतिनिधि किसी दूसरे पक्ष के साथ शपथ ग्रहण करके कोई समझौता करता था और बाद मे यह समझौता सीनेट द्वारा अस्वीकृत हो जाता था तो ऐसे व्यक्ति को निर्वासित करके दूसरे पक्ष के पास भेज दिया जाता है। इसका उद्देश्य सन्धि कर्ता की दैवीय प्रकोप से रक्षा करना था।

रोम का साम्राज्य जब विशाल होता गया तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते की बहुत कम आवश्यकता पड़ी। लारेन्स का कथन है कि उस युग की विशेषता यह थी कि "राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन एक सामान्य उच्च शक्ति द्वारा होना चाहिए। आस्टिन लिखता है कि "ये रोमन साम्राज्य अनेक राष्ट्रो पर आधिपत्य जमाये था और उनके आपसी सम्बन्धों को विनियमित करता था। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार वास्तव में एक सम्प्रभुसत्ता की आज्ञायें ही हैं। उनके जारी किये हुए नियम समस्त अधीन राज्य स्वीकार करते हैं। वे अनुभव करते थे कि उनका एक सामान्य प्रभु है जो विश्व की प्राकृतिक व्यवस्था का अंग है।"

रोम साम्राज्य यूरोप तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों पर स्थापित था जहाँ सभ्य जनता थी। साम्राज्य का प्रभाव सम्राट के व्यक्तिगत प्रभाव पर आधारित था। जब तक साम्राज्य का

अस्तित्व रहा तब तक राष्ट्रों के कानून को कोई आवश्यकता अनुभव न रही। फिर भी रोम का बनाया हुआ दीवानी कानून (jus civile) और फौजदारी कानून (jus gentium) के कारण रोम साम्राज्य प्रसिद्ध हो गया।

रोम का प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परवर्ती विकास में काफी सहायक बना। तीसरी शताब्दी ईस्वी से पूर्व स्टोइक दर्शनशास्त्री सिसरो ने प्रथम शताब्दी ई० के प्राकृतिक कानून को काफी लोकप्रिय बना दिया था। इसका अर्थ यह हुआ कि यथार्थ तर्कबुद्धि (Right Reason) द्वारा ऐसे नियम बनाये जा सकते हैं जो सर्वत्र समान रूप से लागू किये जा सकते हैं। इस सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को दो प्रकार से प्रभावित किया—(1) प्राकृतिक नियम प्राय: जस जेन्शियम से दार्शनिक अर्थ से अभिन्न समझा जाता था। किसी नियम की सार्वभौमिकता उसके स्वाभाविक होने का परिणाम समझी जाती थी। उदाहरण के लिए, द्रव को अवश्य समझा जाता था, यह नियम सभी देशों में पाया जाता है। अत: इसे प्राकृतिक नियम भी माना जाता था। किन्तु कई बार जस जेन्शियम तथा प्राकृतिक (Jus Naturale) में विरोध भी हो जाता था। जैसे दासता की प्रथा सर्वत्र प्रचलित थी और वह जस जेन्शियम का अंग मानी जाती थी; किन्तु यह प्रकृति नियम का अंग नहीं थी क्योंकि सभी मानव स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र होते हैं। (2) प्राकृतिक नियम का दूसरा प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर यह पड़ा कि इस सिद्धान्त की अत्यधिक अस्पष्टता, प्राचीनता तथा सर्वमान्यता ने मध्यकाल के विद्वान तार्किकों (Sabalastier) को एक ऐसी जादू की छड़ी प्रदान की, जिसकी सहायता से वे अपने नवीन अन्तर्राष्ट्रीय विचारों और सिद्धान्तों को प्राकृति नियम की दुहाई देकर प्राचीन एवं सुप्रतिष्ठित सिद्ध कर सकते थे।"

मध्यकाल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायक तत्व—4वीं शताब्दी में बर्बर जर्मन जातियों ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। इससे रोम साम्राज्य का पश्चिमी भाग उससे पृथक हो गया। इसके बाद 5वी शताब्दी से 11वीं शताब्दी तक यूरोप में अंध युग (Dark age) एवं 11वी से 15वी शताब्दी तक मध्य युग (Middle Age) रहा। 1942 ई० में अमेरिका महाद्वीप की खोज के साथ आधुनिक युग का श्रीगणेश हुआ। 16वीं शताब्दी के धार्मिक सुधार आन्दोलन ने वर्तमान युग की प्रवृत्तियो को सुदृढ़ करने मे बड़ा भाग लिया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता का महत्व बढ़ गया। यहाँ मध्यकालीन के उन सहायक तत्वों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए जिन्होने आधुनिक युग के अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्रभावित किया।

मध्य युग मे रोमन साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। चूँकि रोमन सम्राट ने चौथी शताब्दी में ही ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था अत: रोमन साम्राज्य मे पोप का महत्व बढ़ने लगा। जर्मन बर्बर जातियों ने भी ईसाई धर्म को स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे रोमन साम्राज्य का स्थान पवित्र रोमन साम्राज्य ने ले लिया। पवित्र रोमन साम्राज्य मे पोप का महत्त्व सर्वोपरि हो गया। मध्य युग मे अनेक राष्ट्रीय राज्यों का उदय हो चुका था। कुछ समय बाद राष्ट्रों और पोप मे संघर्ष छिड़ गया। जर्मन सम्राट फार्डिनेण्ड तृतीय (1440-1493) के समय तक यह संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।

पोप की आज्ञाओ की अवहेलना जर्मन राजाओ द्वारा प्रारम्भ हुई। पोप की सर्वोच्चता को चुनौती दी जाने लगी। राष्ट्रीय राज्यो का जन्म हुआ। पुराने कैथोलिक धर्म के स्थान पर प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रारम्भ हुआ। अत: अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास द्रुतगति से हुआ। ओपेनहीम ने इस विकास मे निम्नलिखित सहायक तत्व बताये है—

(i) 15वी शताब्दी तक राजदूतो का आदान-प्रदान राज्यों मे होने लगा तथा स्थायी दूतावास बनने लगे। इन दूतों के तबादले के नियमो का सभी राज्य पालन करते थे।

(ii) राज्यों के चुंगी के नियम, जिनकी रक्षा के लिए राज्य युद्ध के समय स्थायी सेना रखते थे।

(iii) केवोनिसट के प्रभाव के कारण जो भविष्य के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण रखते थे। युद्ध के प्रश्न थे।

(iv) अनेक योजनायें जो यूटोपियन (utopian) द्वारा शान्ति स्थापना के लिए बनाई गयी थी।

(v) व्यापारिक नियम के अनेक सिद्धान्तों के समूह जिनमे फ्रांस के ओलटन के कानून (12वीं शदी) जो व्यापार के नियम निश्चित करते थे तथा 14वीं शताब्दी के कन्सोलेटो डेल मेयर (Consolato Del Merc) का नियम। स्पेन क बारसीलोना के व्यक्तिगत नियमों का संग्रह जो व्यापार तथा वाणिज्य को भूमध्य सागरीय क्षेत्र विभाजित करते थे।

(vi) पुनर्जागरण जिसके कारण विज्ञान तथा कला मे आशातीत उन्नति हुई थी तथा सुधार आन्दोलन जिसके कारण सभ्य समाज पर पोप का प्रभाव नष्ट हो गया था।

(vii) अनेक नगर-राज्यों के संघ जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा व्यक्तियों की रक्षा का प्रबन्ध करते थे तथा अनेक व्यापारिक झगड़ों का निपटारा करते थे।

आधुनिक युग (Modern Period)—1942 में नयी दुनिया की खोज, पुनर्जागरण तथा धार्मिक सुधार आन्दोलन ने आधुनिक युग का प्रारम्भ किया। लारेन्स के मतानुसार इस युग में हमें वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दर्शन होते हैं जिसका सिद्धान्त यह है कि राज्य एक बड़े राज्य-समाज से पृथक एवं स्वतन्त्र सदस्य है और एक दूसरे राज्यो से मित्रतापूर्वक सम्बन्ध रखते है। यद्यपि वे किसी सामान्य वरिष्ठ सत्ता द्वारा नियन्त्रित नही किये जाते तथापि वे स्वेच्छाचारी नहीं हैं, बल्कि आचरण के ऐसे नियमो से शासित हैं जो सब सदस्यों पर बाधित हैं।

विज्ञान के विकास ने प्रत्येक राष्ट्र को एक दूसरे के निकट कर दिया है। विज्ञान ने मानव मस्तिष्क मे भी क्रान्ति लादी है। रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास तथा सकीर्णता का अन्धकारमय वातावरण अब ज्ञान, उदारता, सहिष्णुता तथा भाई चारे के प्रकाश से आलोकित हो उठा है। आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र सार्वभौमिक तथा सर्वव्यापक बन गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को इस स्थिति मे लाने के लिए अनेक विद्वानों ने प्रशंसनीय प्रयास किया है। जिन लेखकों ने इस युग को लाने में सहायता की उनका सक्षिप्त उल्लेख यहां कर देना आवश्यक है—

(1) फ्रांसिस्को सुआरेज (Francisco Suarez)—फ्रांसिस्को सुआरेज (1548 से 1617) एक स्पेनिश जेसुइट था। उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ट्रक्टेटस डी लेजीबस एट डियोलेजिस्लेटोर' (Tractatus de legibus et eolegislatore) 1612 मे प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में जस जेन्सिमम एवं प्राकृतिक कानून की विशद् व्याख्या की गई है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून से उनके सम्बन्ध का उल्लेख किया गया। ग्रोशियस तथा दूसरे विचारकों पर उसकी रचना का काफी प्रभाव पड़ा। सुआरेज की एक देन विशेष यह है कि उसने विभिन्न राज्यो को राष्ट्रीय जीवन मे स्वतन्त्र मानते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे परस्पर निर्भर और एक कानून के अधीन माना है।

(2) अल्बेरिको जेन्टिलो (Albericues Jentiles)—अल्बेरिको (1552-1608) इटली वासी एक विद्वान था। वह ब्रिटेन मे आक्सफोर्ड विश्व विद्यालय मे कानून का प्राध्यापक हो गया। था। उसने 20 वर्ष की आयु मे डाक्टर की उपाधि पायी थी। अपनी विद्वता के कारण ब्रिटिश सरकार उसे सम्मान देती थी और 1584 म उससे ब्रिटिश सरकार ने स्पेन के राजदूत में दे. के विषय मे परामर्श लिया था। इस राजदूत ने इग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ की हत्या के प

में भाग लिया था। रानी को मरवाकर वह स्काटलैण्ड की मेरी को बन्धन मुक्त करके, इंग्लैण्ड की गद्दी देना चाहता था। अल्वैरिको ने अपनी राय यह दी कि चूंकि दोजा में एक राजदूत है अतः वह अवैध है और उस पर इंग्लैण्ड की अदालत में मुकद्दमा भी नहीं चलाया जा सकता है। ब्रिटिश सरकार ने इस परामर्श का आदर किया और दोजा को न्यायालय के सामने पेश न कर उसे देश निकल जाने की आज्ञा दी।

अल्वैरिको जैन्टिली कानून का विशेषज्ञ था उसने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पुस्तक "युद्ध के कानून पर" (On the Law of War) प्रसिद्ध है।

(3) बाल्थजार आयला (Balthazar Ayala)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पुस्तकें 'डी ओर एट आफिसिस बेलिसिस (De jure et officies Bellecis) 1582 में 'दोआई' में प्रकाशित की और इस मत का खण्डन किया कि "लड़ाई कोई नियम नहीं जानती' (war know no Law)। विचार कर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को धार्मिक क्षेत्र से सांसारिक क्षेत्र मे लाने वाला मुख्य विचारक था। यह उसने इंग्लैण्ड मे स्पेन की सेना द्वारा किये गये अत्याचारों को सही सिद्ध करने का प्रयास किया। उसका मत था कि शत्रु के साथ विश्वासघात नहीं करना चाहिये, किन्तु विद्रोहियों और न्यायपूर्ण युद्ध करने वालो के साथ इस नियम का पालन करना महत्वपूर्ण है।

(4) रिचार्ड जोके (Richard Jeuche)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में रिचार्ड जोके (1590-1660) का महत्वपूर्ण हाथ है। वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में दीवानी विधि का प्रोफेसर था तथा जल सैनिक न्यायालय (Admiralty Court) का जज था। कानून के विषय में इसने कई पुस्तकें लिखी हैं— 'जूरिस एट जुड़िसी फिसिपालिस, सिवि डूरिस इन्टर डेण्टिस" ग्रन्थ प्रसिद्ध है जो 1650 में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रथम परिपत्र कहा जाता है। इसमें प्राकृतिक कानून के आधार रूप में मानने से अस्वीकार नहीं किया गया है परन्तु राज्य के व्यवहारो की परम्पराओं से उत्पन्न कानून को प्राथमिकता दी गयी है, उसने शान्ति के कानून और युद्ध के कानून के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींची है और शान्ति के कानून को अधिक महत्त्व दिया है।

(5) ग्रोशियस (Grotious)—ग्रोशियस पहला व्यक्ति था जिसने राष्ट्र के कानून की सही व्याख्या की। उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्राकृतिक कानून के दायरे से अलग किया। इसी लिये राष्ट्रों के कानून का पिता या जनक (Father of the law of Nations) कहा जाता है।

ग्रोशियस का पुरा नाम ह्यूगवान् ग्रन्ट (Huigvan groot) था पर वह ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo grocious) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनका जन्म 10 अप्रैल 1583 ई० को हालैंड में डेल्फट (Delpht) नामक स्थान पर हुआ था। वह एक प्रतिभाशाली एवं कुशाग्र बुद्धि का स्वामी था। 7 वर्ष की आयु मे अपनी पप्पा की मृत्यु पर एक कविता लिखकर अपने पिता को सांत्वना दी थी। उसने 14 वर्ष की आयु में विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त की और गणित, दर्शन एवं कानून पर थीसेस (Thesis) लिखी। उसे इस चमत्कार के कारण ही हालैण्ड का चमत्कार (Wonder of I'olland) कहा जाता है। उसे 16 वर्ष की अवस्था में कानून के डाक्टर की उपाधि मिली थी।

इस अल्पायु में ही उसने हेग (Hague) में वकालत प्रारम्भ कर दी। शीघ्र ही वह यूरोप भर में अग्रणी वकीलों मे माना जाने लगा। 20 वर्ष की अवस्था में उसने हालैंड के डच गणतन्त्रता संग्राम का इतिहास लिखा। 30 वर्ष की आयु में वह राटरडम का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त हुआ। इस पद पर कार्य करते हुये वह एक राजनीतिक मामले में फंस गया। 1618 में उसे जेल में डाल दिया गया। उसकी समस्त सम्पत्ति पर सरकार ने कब्जा कर लिया। उसे आजीवन कारावास का दण्ड मिला। 1621 मे वह अपनी पत्नी की सहायता से कारावास से निकल भागा।

1925 में उसने फ्रांस में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "युद्ध और शान्ति का कानून" (The Law of War and Peace) लिखकर विश्व को आश्चर्य चकित कर दिया। फ्रांस की सरकार ने उसकी पेन्शन बांध दी पर वह अति अल्प थी अतः वह स्वेडन चला गया। वहाँ से वह 1645 में स्वेडन का राजदूत बनकर पेरिस आ गया। 10 वर्ष तक वह पुनः पेरिस में रहा। इसके बाद वह स्वेडन लौट गया। यहाँ उसने त्यागपत्र देकर जर्मन गणतन्त्र ल्यूवेक (Luback) नामक राज्य की ओर चल पड़ा पर रास्ते मे ही बीमार पड़ गया और 1645 में ही रोस्टाक (Rostock) नगर में ही मर गया।

ग्रोशियस की तीन पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जिन्होंने उसे विश्व विख्यात कर दिया—(1) लूट का कानून (*The Law of Prize or De jure Paradae*)—यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी कानून की पुस्तक है; (2) समुद्र की स्वतन्त्रता (The Freedom of the Sea or mare liberum), उसने इसमें लिखा कि समुद्रयात्राओं एवं व्यापार के लिए समुद्र पर किसी एक राज्य का अधिकार नहीं होना चाहिये। तीसरी पुस्तक उसकी युद्ध और शान्ति के लिए Dejure Belli ac pacis या Law of War and Peace है। इसमें उसने युद्ध के कारण उनके औचित्य और उन मर्यादाओं का वर्णन किया जिनको युद्धरत राज्यो को भंग नहीं करना चाहिए। यह पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रसिद्ध पुस्तक और इसी के कारण वह राष्ट्रों के कानून का पिता कहा जाता है।

सेवाइन के अनुसार "विधि शास्त्र के इतिहास में ग्रोशियस का महत्व प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों का नियमन करने वाली विधि की धारणा पर आधारित है।"[1]

मैक्सी ने लिखा है कि "ग्रोशियस ने संसार को अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का दर्शन प्रदान किया एवं आधुनिक राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक विचार का शिलान्यास किया।"[2]

स्वयं ग्रोशियस ने लिखा है कि 'राष्ट्रों का कानून-राष्ट्रों या राष्ट्रों के शासकों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करता है।'[3]

(6) अन्य सहायक सामग्री—राष्ट्रों के कानून बनाने में जहाँ उपर्युक्त लेखकों ने अपने ग्रन्थों द्वारा महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। वहाँ कुछ राष्ट्रों के मध्य संन्धियों ने भी उनकी पुष्टि की है। जैसे 1603 में यथुएल की सन्धि जो इगलैण्ड और पुर्तगाल मे हुई जिसमें आर्थिक सम्बन्धों को स्थिर किया गया तथा 1606 की फ्रैन्को इंग्लिश सन्धि जो व्यापार सुरक्षा के लिए हुई।

ग्रोशियस के परम्परागत या इच्छा पर आधारित कानून का अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण माना गया क्योंकि उसके अधिकांश लेख प्राकृतिक कानून से सम्बन्धित हैं। ग्रोशियस द्वारा किये गये इस विभाजन को बाद मे मि० ज़ोके (Zouche) द्वारा की गई व्याख्या ने 16वीं से 20वीं शताब्दी तक तीन सम्प्रदायों को जन्म दिया—प्रकृतिकवादी, अस्तिवादी तथा ग्रोशियसवादी।

19वीं तथा 20वीं शताब्दी का विकास—19वीं शताब्दी कई कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास बड़ी तेजी से हुआ। इनमें पहला कारण था यूरोप मे नये शक्तिशाली राज्यों का अभ्युदय, यूरोपीय देशों ने अपने-अपने विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया, यातायात साधनों का द्रुतगति से विकास हुआ, नवीन आविष्कारों और अधिक विध्वन्सकारी शस्त्रों का निर्माण हुआ

---

[1] "*Grotius importance in the history of Jurisprudence* rests upon his conception of a law regulating the relations between Sovereign states." —Sabine

[2] "Grotius gave to the world a philosopy of international sovereignty, and laid the basis for modrn international law and international political —V

[3] "The law of nations regulates the relations between peoples or rulers and the peoples"

दूसरा कारण था—ब्रिटेन तथा सं० रा० अमेरिका द्वारा युद्ध में पकड़े गये जहाजों एवं माल के सम्बन्ध में उनके न्यायालय द्वारा अनेक निर्णय किये गये और कई विधिशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में नये ग्रन्थ लिखे। ब्रिटेन में विलियम स्काट ने तथा सं० रा० अमेरिका में प्रधान न्यायाधीश मार्शल ने अधिग्रहण कानून (Prize law) के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय दिये। ब्रिटिश लेखकों मे फिलमोर, हाल, वाकर, लारेन्स, वेस्टलेक, ओपेनहीम के नाम उल्लेखनीय हैं सं० रा० अमेरिका मे हेनरी व्हीटन, थियोडोर वल्जी, फ्रांसिस लीवर रिचार्ड, डाना, मूर हाइड स्टोवेल, हैकवर्थ, जेसफटर नामक लेखक उल्लेखनीय हैं। यूरोप में क्लवर, हेफर, ब्लशली, जेलिनेक इहरिंग और कौफमेने आदि लेखक हुये। तीसरा कारण था अन्तर्राष्ट्रीय कानून निर्माण करने वाली अनेक संधियां एवं अनेक सम्मेलन हुये। इनमे प्रमुख थे—

(1) **वियाना सम्मेलन 1815**—नेपोलियन के युद्धों के बाद यूरोप का पुनर्निर्माण करने के लिए विजेताओं ने वियाना में एक महान सम्मेलन किया। यद्यपि यह सम्मेलन यूरोपीय देशों का था पर इतिहास में यह अपनी किस्म का पहला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था जिसमें राष्ट्रों ने यह वचन लिया कि वे अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के नौचालन सम्बन्धी कानून का पालन करेंगे। डैन्यूब जैसी अनेक देशों से गुजरने वाली नदी में नौचालन के नियमों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त राजदूतों की श्रेणियाँ निश्चित की गयी तथा अग्रत्व (Precedence) का सिद्धान्त बनाया गया। इसी समय रूस के जार एलेग्जेन्डर प्रथम की प्रेरणा से अन्तर्राष्ट्रीय विषयों मे ईसाइयत के सिद्धान्तों को लागू करने के लिए एक पवित्र संघ (Holy Alliance) बनाया गया पर इसने कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया।

(2) **चतुर्मुख मैत्री संघ (Quadruple Alliance)**—1815 मे ही चार राष्ट्रों-ब्रिटेन, आस्ट्रिया, प्रशिया, एवं रूस ने चतुर्मुख मैत्री संघ की स्थापना की जिसे यूरोप कन्सर्ट भी कहा जाता है तथा जो राष्ट्र संघ का पूर्वगामी अन्तर्राष्ट्रीय संघ कहा जाता है। इसका उद्देश्य था कि यूरोप की जनता की शान्ति एवं कल्याण के कार्यों पर तथा सामान्य हितों के प्रश्नों पर विचार करना तथा समय-समय चारों राष्ट्रों का सम्मेलन कर यूरोप की समस्याओं को सुलझाना। इस संघ में 1818 फ्रांस भी सम्मिलित किया गया। यूरोप कन्सर्ट (European concert) के चार सम्मेलन हुये जो 1818, 1820, 1821 तथा 1822 मे चार स्थानों पर सम्पन्न हुये। 1818 मे एक्स ला शैपल में सम्मेलन हुआ इसमें चतुर्थ श्रेणी राजदूतों की बनाई गई। 1820 मे ट्रोप्पो मे सम्मेलन हुआ जिसमें यह निर्णय किया गया कि यदि किसी राज्य में आन्तरिक विद्रोह हो जिससे दूसरे राज्य की सुरक्षा या सत्ता संकटग्रस्त हो तो यूरोप कन्सर्ट उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है। रूस और फ्रांस को प्रतिक्रियावादी नीति के कारण यूरोप कन्सर्ट भी असफल हुआ। 1822 के बाद इसका सम्मेलन नहीं हुआ।

(3) **पेरिस की घोषणा (Daclaration of Paris)**—क्रीमिया युद्ध के पश्चात पेरिस में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, आस्ट्रिया, प्रशिया एवं सार्डीनिया के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन ने समुद्री युद्धों के सम्बन्ध मे कुछ नियमो का निर्माण किया। यह "पेरिस घोषणा" के नाम से जानी जाती है। यह घोषणा 1856 मे हुई। इसमें चार मुख्य नियम बने जो निम्न प्रकार हैं :

(i) युद्ध सलग्न देशों द्वारा वैयक्तिक सशस्त्र जहाजो की सहायता से शत्रु पर आक्रमण करने की प्रथा (Privateering) का अन्त किया गया।

(ii) तटस्थ देशों के जहाजो में युद्ध मे विनिषिद्ध वस्तुओ (Contraband) के अतिरिक्त शत्रु का माल जा सकता है।

(iii) शत्रु देश के जहाजों मे यदि युद्ध में विनिषिद्ध वस्तुओं के अतिरिक्त तटस्थ देशों का अन्य कोई माल लदा हो तो उसे पकड़ा न जाये।

(iv) परिवेष्टन या तटरोध (Blockade) के प्रभावशाली होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके लिये शत्रु देश के तट पर पहरे के लिये इतने अधिक जहाज रखे जायें कि वह दुष्प्रवेश्य हो।

(4) 1864 की जेनेवा प्रतिज्ञा—1864 में राष्ट्रों का एक सम्मेलन जेनेवा में हुआ जिसमें भूमि युद्ध मे घायलों अथवा रुग्णों की दशा सुधारने की प्रतिज्ञा की गई। इसे जेनेवा प्रतिज्ञा के नाम से जाना जाता है।

(5) 1868 ई० की पीटर्सबर्ग की घोषणा—एक सम्मेलन पीटर्स वर्ग मे 1868 मे हुआ। इसमें तय किया गया कि युद्ध में विस्फोटक गोलियों का प्रयोग निषिद्ध किया जाये। इसे पीटर्सवर्ग घोषणा का नाम दिया गया।

(6) 1888 ई० की घोषणा—1888 ई० मे राष्ट्रों ने यह घोषणा की कि स्वेज नहर में सब देशों के निर्वाध नौचालन हो सकते हैं।

(7) हेग सम्मेलन 1899—रूस के जार की प्रेरणा पर हेग (हालैण्ड) में 26 राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष को कम करने के लिये महत्त्वपूर्ण निश्चय किये गये। पहला हेग सम्मेलन शस्त्रास्त्र निर्माण की सीमा निर्धारित करने मे सफल न हो सका, फिर भी इस ने स्थल युद्ध मे सब राष्ट्रों द्वारा पालन किये जाने वाले आचरण के कुछ नियमों का निर्माण किया। इसमें यह भी स्वीकार किया गया कि राष्ट्रों के आपसी विवाद को तय करने के लिये सबसे प्रभावशाली ढंग और न्यायपूर्ण साधन पंचायती निर्णय (Arbitration) है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हेग मे एक "पंचायती निर्णय का स्थायी न्यायालय" (Permanent Court of Arbitration) स्थापित किया गया। यद्यपि इस व्यवस्था को सभी राष्ट्रो ने स्वीकार नहीं किया फिर भी इसने स्थल युद्धों के अनेक नियमों का निर्माण किया।

(8) 1906 का जेनेवा सम्मेलन—1906 में जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमे 1864 की जेनेवा प्रतिज्ञा को दोहराया गया तथा स्थल युद्ध में घायलों एवं रुग्णों की रक्षा की व्यवस्था समुद्री युद्धों के लिये भी लागू की गई।

(9) 1907 का दूसरा हेग सम्मेलन—हेग में दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन 15 जून 1907 को प्रारम्भ हुआ। इसमें 44 राष्ट्रो के प्रतिनिधि इकट्ठे हुये। इन प्रतिनिधियों ने 13 अभिसमयों (Conventions) पर हस्ताक्षर किये। ये समझौते निम्न विषयों से सम्बन्धित थे—शान्तिपूर्ण निपटारा, युद्ध आरम्भ करने के नियम, स्थल युद्धों के नियम, तटस्थ राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्य, युद्ध छिड़ने पर शत्रु के व्यापारिक जहाजों की स्थिति, व्यापारिक जहाजों को सशस्त्र जहाजों में परिणत करना, समुद्री युद्ध के नियम, समुद्र में सुरंगे बिछाना युद्ध के समय जहाजों द्वारा गोलीबारी के नियम, अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय (International prize court), समुद्री युद्ध के समय तटस्थ देशों के अधिकार एव कर्त्तव्य, सैनिक अस्पताली जहाज़, युद्ध विराम सन्धि के झण्डे आदि। इसी वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय की स्थापना हुई।

(10) लीग आफ नेशन्स की स्थापना—हेग के सम्मेलनों द्वारा किये गये निर्णयों पर उनका पालन शक्तियों ने प्रथम विश्व युद्ध में नहीं किया। इसका कारण यह समझा गया कि जब तक कोई अन्तर्राष्ट्रीय सस्था स्थायी रूप से स्थापित न होगी तब इन अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन होना कठिन है। प्रथम विश्व युद्ध के वाद पेरिस में शान्ति सम्मेलन हुआ। इसमें मित्र राष्ट्रों ने जहाँ पराजित राष्ट्रों के लिये सन्धि का मसविदा तैयार किया वहाँ पर राष्ट्रों के एक संघ का मसविदा भी तैयार किया। दोनों मसविदो को जोड़कर वर्साय की सन्धि का नाम दिया गया। वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले सभी राष्ट्र संघ के प्रारम्भिक सदस्य माने गये। राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय

Permanent International court of Justice) की स्थापना भी हुई। दोनों संस्थाओं का विस्तृत अध्ययन यथास्थान किया जायगा।

(11) लोकार्नो की सन्धि (Treaty of Locarno 1925)—लीग का मुख्य उद्देश्य था युद्धों को रोकना अतः राष्ट्रों के विवादों को शान्ति पूर्ण ढग से निपटाने पर जोर दिया गया। लीग आफ नेशन्स के माध्यम से 1925 मे ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और बेल्जियम के मध्य एक सन्धि हुई। इस सधि का उद्देश्य था कि ये राष्ट्र आपसी मन-मुटाव को समाप्त करेंगे तथा अपनी सीमा सम्बन्धी झगड़े शान्ति पूर्ण वार्ता से हल करेंगे।

(12) 1928 का कैलाग ब्रिआं पैक्ट (Kellogg-Briand Pact)—1928 में अमेरिका के विदेश सचिव श्री फ्रेंक बी० कैलाग तथा फ्रांस के मन्त्री ब्रिआं के प्रयत्न से एक समझौता-कैलाग-ब्रिआं पेक्ट हुआ जिसके अनुसार लगभग सभी राष्ट्रों ने यह स्वीकार किया कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निर्णय के लिये युद्ध को साधन न बनायेंगे और उन्हें निपटाने के लिये शान्ति पूर्ण उपायों को ही साधन बनायेंगे।

(13) 1929 का जेनेवा सम्मेलन (The Geneva Convention of 1929)—पहली जुलाई 1929 में 47 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जेनेवा में एकत्र होकर युद्धबन्दियों, युद्ध में घायल एवं बीमार सैनिकों के प्रति प्रतिशोधात्मक एवं क्रूर व्यवहार को वर्जित ठहराया। घायल एवं बीमार युद्धबन्दियों की उचित चिकित्सा के लिये इच्छित व्यक्तियों को पूरा अवसर एवं सुविधायें देने की व्यवस्था की।

(14) अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण (Codification of International Law)—प्रथम युद्ध के बाद एवं राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण करने के सच्चे प्रयत्न किये गये। उसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

(15) द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद (After the Second World War)—1945 में द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुआ और उसके साथ ही स० रा० संघ की स्थापना हुई। 24 अक्टूबर 1945 को संघ का निर्माण हुआ तो उसके 50 सदस्य थे। 5 महाराष्ट्रों ने वीटो (Veto) की शक्ति के आधार पर इसे अपनी स्वीकृति दे दी। आज विश्वशान्ति के लिये ससार स० रा० संघ पर आँखें लगाये हैं। स० रा० संघ ने विश्व शान्ति की सुरक्षा एव मानव मात्र के कल्याण का दायित्व ले रखा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ यूरोप कन्सर्ट एवं राष्ट्र संघ के समान कमजोर नहीं है। उससे पास बाध्यकारी शक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना करना अब आसान नहीं है। सं० रा० संघ के साथ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का पुनर्गठन किया गया जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अपने निर्णय देता है।

(16) मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (Declaration of Universal Rights of man)—1948 में यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य एक समझौता (Convention) हुआ जिसने मानव के सार्वभौमिक अधिकारों की रक्षा की घोषणा की।

सं० रा० संघ ने जनबध (Genocide) तथा शरणार्थी समस्या पर विशेष ध्यान दिया। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संधिया एवं अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के नियमों की सुरक्षा की जिम्मेदारी सं० रा० संघ पर है। सं० रा० संघ, उसकी सुरक्षा परिषद तथा अन्य अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थायें अन्तर्राष्ट्रीय विधि को लागू कर उनके पालन कराने में प्रयत्नशील हैं। गत 30 वर्षों म स० रा० सघ ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण उपायो से किया है। यद्यपि अभी तक वह क्षेत्रीय युद्धों को रोकने में सफल नहीं हुआ है फिर भी वह युद्ध के क्षेत्र को सीमित कर देता है और दोनों पक्षों में संधि करा देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्प्रभु राज्यों के मध्य सम्बन्धों का नियमन और नियन्त्रण करता है। इसकी कुछ मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं—

ओपेनहीम, "राष्ट्रों की विधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन परम्परागत और आपसी समझौतों से बने हुए अभिसमयात्मक नियमों का संग्रह है जिन्हें सभ्य राज्य अपने पारस्परिक व्यवहार में पालन करने योग्य समझाते हैं।"[1]

लारेन्स के मतानुसार, "वे नियम जो सभ्य राज्यों के सामान्य और सामूहिक आचरण को उनके पारस्परिक व्यवहार में निर्धारित करते हैं, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार से पृथक युद्ध के सम्बन्ध के नियम सन्निहित हैं। यह राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में उनके आचरण को नियमित करती है चाहे शत्रु रूप में हो अथवा शान्ति की स्थिति में हो।"[2]

केण्ट ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए लिखा है कि "राष्ट्रों की विधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधि सार्वजनिक निर्देशों की वह संस्था है जो अधिकारों की व्याख्या करती है और राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रसंग में उनके कर्त्तव्यों का निर्धारण करती है।"[3]

ह्वीटन (Wheaton) जो अमेरिका का विधि वेत्ता है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि को इन शब्दों में परिभाषित करता है कि "सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की यह विशेषता बताई जा सकती है कि वह उन नियमों द्वारा निर्मित होता है जिनको स्वतन्त्र राष्ट्रों में विद्यमान समाज का स्वरूप देखकर तर्क बुद्धि द्वारा निश्चित किया गया है। इन सम्बन्धित देशों की सामान्य सहमति से समय-समय पर संशोधन भी किये जा सकते हैं।"[4]

स्टार्क महोदय (Mr. Starke) के मतानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि वह उन कानूनों का संग्रह है, जिसका अधिकांश भाग उन आचरणों के सिद्धान्त द्वारा निर्मित है जिसे राष्ट्र पारस्परिक सम्बन्धों में पालन करने के लिए स्वयं को बाध्य समझते हैं तथा सामान्य रूप से परस्पर इनका पालन करते हैं।"[5]

---

1. "The Law of Nations or International Law is the name for the body of customary and conventional rules which are considered binding by civilized states in their intercourse with each other." —*Oppenheim*
2. "Internati [illegible] conduct of the general b[illegible] consists of rules for regula[illegible] course during peace time. It regulates the conduct [illegible] mutual dealings, hostle as well as pacific." *Lawrence*
3. "International Law is that code of public instruction which defines the rights and prescribes the duties of nations in their intercourse with each other." —*Kent*
4. "International Law, as understood among civilized nations, may be defined as consisting of those rules of conduct, which reason deduces as consonant to justice, from the nature of the society existing among independent nations with such definitions and modifications as may be established by general consent." —*Wheaton*
5. "International Law may be defined as that body of Law which in composed for its greater part of the principles and rules of conduct which states feel themselves bound to observe in their relations with each other." —*Starke*

कालरिज के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय विधि व्यवहारों का समूह मात्र है जो सभ्य राष्ट्रों में आपसी व्यवहार में पालन करने योग्य बनाये जाते हैं।"[2]

फेनविक के कथानुसार, अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रों के सामान्य समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का वह निकाय है जिसके द्वारा राष्ट्रों के अधिकार परिमापित किये जायें और उन अधिकारों की रक्षा की प्रक्रिया परिमापित की जाय अथवा उनके उल्लंघन को रोका जा सके।"

सर हेनरी-मैन के मतानुसार, "राष्ट्रों की विधि भिन्न-भिन्न अंशों से रचित एक मिश्रित व्यवस्था है। इसमें नैसर्गिक प्रकार से राष्ट्रों के व्यक्तियों के आचरण के लिए तथा राष्ट्रों के सम्बन्ध और आचरण के लिये सामान्यतया उपयुक्त अधिकार तथा न्याय के सामान्य सिद्धान्त, प्रथाओं, लोक रीतियों और सम्पत्तियों का संग्रह, सभ्यता तथा व्यापार की वृद्धि और निश्चित अथवा पोजिटिव विधि (Positive Law) की संहिता सम्मिलित है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन सभी सिद्धान्तों और नियमों का योग है जो राष्ट्रों द्वारा मान्य है और पारस्परिक व्यवहार में लाये जाते हैं। जहाँ राष्ट्र मानव के पारस्परिक सम्बन्धों में ताल-मेल रखता है, वहाँ राष्ट्र का यह कर्त्तव्य है कि अन्य राष्ट्रों से भी वह सम्बन्ध बनाये रखे। सम्पूर्ण भूमण्डल पर शान्ति बनाये रखने और अराजकता से बचने के लिए इन नियमों और सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इसका आधारभूत तथा संसार के अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध बनाये रखना है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आवश्यक तत्त्व (Essentials of International Law)—उपर्युक्त परिभाषाओं की विवेचना एवं विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में मुख्यतया तीन तत्त्व होते हैं :—

(1) यह एक कानूनी पद्धति है। इसका निर्माण निम्नलिखित तत्त्वों से होता है—(i) विभिन्न राष्ट्रों के मध्य में पाये जाने वाले पारस्परिक व्यवहार या आचरण के नियम (Rules of conduct) (ii) रिवाज या परम्परायें (usages) तथा (iii) विभिन्न राष्ट्रों में किये जाने वाले समझौते या अभिसमय (Conventions)।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रतिपाद्य वस्तु (Contents) ऐसे नियम हैं जिन्हें सभी स्वतन्त्र तथा सभ्य राज्यों ने स्वीकार कर लिया है। अतः वे इनके पालन करने के लिए बाध्य हैं।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बाध्य रूप से पालन कराने वाली शक्ति (Sanctions) हाल के मतानुसार "मनुष्य की सत्-असत् का विवेक कराने वाली बुद्धि है, जो उन्हें अपने देश के कानूनों का पालन कराने के लिए बाध्य करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में दिये गये कुछ नियम ऐसे हैं जिनके भंग किये जाने पर संघ द्वारा या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा उन्हें पालन कराया जाता है।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून, कानून है ?
(In International Law, a Law ?)

कुछ विद्वानों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून, वास्तव में कोई कानून नहीं। इस मत के समर्थकों में हालैण्ड तथा आस्टिन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। हालैण्ड का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधि शास्त्र का लोप-बिन्दु है (International Law is the Uanishing point of jurisprudence) इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लेखक भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून मानने से साफ इन्कार करते हैं। इस विषय में उनके तर्क निम्नलिखित हैं—

---

[2] "International Law is that collection of usages which civilized states have agreed to observe in their dealings which each other."
—*Coleridge*

(1) जॉन ऑस्टिन का मत था कि कानून शब्द का प्रयोग केवल ऐसे नियमों के लिए किया जा सकता है जो किसी विधान निर्माण करने की शक्ति रखने वाली सत्ता द्वारा बनाये गये हों। इन नियमों का पालन कराने के लिए उस सत्ता पर भौतिक शक्ति का होना आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि कानून बाध्यकारी होता है। आस्टिन के शब्दों में "कानून सदैव एक *आज्ञा होती है। यह राजनीतिक दृष्टि से प्रभुसत्ता (Sovereignty) रखने वाली सत्ता की ओर से* अपने वंशवर्तियो को दी जाती है।" आस्टिन आगे लिखता है कि "यदि कानून की इस कसौटी पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कसा जाय तो वह खरा नहीं उतर सकता है, क्योंकि राष्ट्रों का कानून "भावात्मक कानून" (Positive Law) नही है। ऐसा कानून सदैव किसी प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति द्वारा अपने अधीनस्त व्यक्तियो को दिया जाने वाला आदेश होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही है, क्योंकि उसकी स्थापना एक सामान्य सम्मति (General opinion) द्वारा होती है। उसके पालन की बाध्यकर्त्री शक्ति (Sanction) नैतिक ही है, क्योंकि सामान्य रूप *से स्वीकृति और सम्मानित अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को तोड़ते हुए राज्यों को यह डर होता है कि इससे दूसरे देशो मे उसके प्रति शत्रुता का भाव उत्पन्न होगा, उन्हें इससे बड़ी क्षति उठानी पड़ेगी।"*

इस प्रकार आस्टिन अन्तर्राष्ट्रीय नियम को कानून की परिधि में नही रखता है। वह कानून जैसा अवश्य लगता है पर उसमें कानून जैसी विशेषतायें नही। उसे केवल "भावात्मक राष्ट्रीय नैतिकता (Positive morality) ही कहा जा सकता है।

(2) ग्रोशियस जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता कहा जाता है, उसने भी अपनी पुस्तक 'डि जूरे बैली एक पैसिस' (De jure Belli ac Pacis) अथवा "युद्ध और शान्ति का कानून" (Law of War and Peace) मे लिखा है कि '*अन्तर्राष्ट्रीय विधि यद्यपि प्राकृतिक नियम* से भिन्न है पर उसका आधार प्राकृतिक नियम ही है।" ग्रोशियस के काल में भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि अथवा राष्ट्रो के कानून को कानून नही माना जाता था।

(3) अँग्रेज विधिशास्त्री डा० हालैण्ड ने भी आस्टिन के मत का ही समर्थन किया है। उसका कथन है कि 'कानून जो राष्ट्रों के मध्य पाया जाता है, उन लोगों के ऊपर लागू होता है जो एक राज्य मे रहते है जिन पर सम्प्रभु की सत्ता रहती है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक कानून है ही नही यह तो नैतिक नियमो की संहिता मात्र है। आस्टिन केवल उसी नियमावली को कानून की मान्यता देता है जिसके पीछे कोई प्रभुसत्ता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे कोई प्रभुसत्ता नही होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे कोई सम्प्रभु नही होता है जो उसे मानने के लिए बाध्य कर सके।" आगे हालैण्ड कहता है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अंग है, उसमे राष्ट्रों के मध्य फैली अभिमत और भावना साधारणतः सम्मिलित होती है।" हालैण्ड का प्रसिद्ध वाक्य इस विषय में यह है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून विधि-शास्त्र का पतनोन्मुख बिन्दु है।"[1]

(4) ब्रिटेन की प्रिवी कौन्सिल के लार्ड चीफ जस्टिस कोलरिज ने फ्रेंकोनिया (Franconia) के मामले में *अपना निर्णय देते हुए कहा था कि "सच्ची बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय* कानून एक अयथार्थ शब्द (Inexact expression) है। यदि इसकी अयथार्थता को मन में न रखा जाय तो इससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। कानून से यह सूचित होता कि कोई कानून को बनाने वाला है तथा इसे लागू करने वाला है और इसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने वाला कोई न्यायालय है। किन्तु सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न राज्यों (Sovereign States) के लिए कोई विधि

[1] International Law is the vanishing point of jusisprudence. —H

निर्माता नहीं है और न ही किसी न्यायालय को यह अधिकार है कि वह उन्हे अपने आदेशो द्वारा इसके पालन के लिए बाधित कर सके और यदि राज्य इस कानून की अवहेलना करे तो उन्हें दण्ड दे सके। राष्ट्रों का कानून प्रथाओं का समूह मात्र है, जिसके सम्बन्ध में सभ्य राज्यों ने यह स्वीकार कर लिया है कि वे एक दूसरे के साथ व्यवहार मे इन प्रथाओं का पालन करेंगे। संधियां केवल राष्ट्रों के समझोतों का परिणाम हैं और कम से कम इङ्गलैण्ड में ये संधियाँ न्यायालय को बाधित नहीं कर सकतीं। न ही विधिशास्त्रियो का किसी विषय में एकमत्य न्यायालय को बाधित कर सकता है। यह केवल अन्तर्राष्ट्रीय विषयो में राष्ट्रों के समझोते का सुचक है और ऐसे विषयों पर ब्रिटिश न्यायालय जब कोई निर्णय देंगे तो वे उसे अंग्रेजी कानून मानकर ही देंगे।" सर जेम्स स्टीफेन ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कोई कानून नही, उसे तो सोजन्यवश (by courtesy) ही कानून कहा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दुर्बलता
(Weaknesses of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून न मानने का एक विशेष कारण है इसकी दुर्बलता। इस दुर्बलता का पता निम्नलिखित बातो से चलता है—

(1) ये किसी प्रभुता सम्पन्न शक्ति द्वारा निर्मित नही होते।

(2) इनके पालन कराने के लिए कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं।

(3) ये नैतिक नियमों के समान होते हैं जिनका पालन करना न करना सम्प्रभु राज्यो की इच्छा पर होता है। यदि वे इसे सोजन्यतावश मान लेते हैं तो इसका यह अर्थ कदापि नही कि वे कानून बन गये।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बनाने वाली विधायिका राज्य की विधायिक के समान न तो सुक्ष्म ही है और न ही योग्य है।

(5) शान्ति के समय भले ही इन अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन हो पर अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में इनका खूब उल्लंघन होता है। गत दोनों महायुद्धों मे दोनों पक्षों ने इनका खुला उल्लंघन किया।

(6) न्यूरेम्बर्ग तथा टोकियो के न्यायालय द्वारा जर्मनी एवं जापान के कुछ अधिकारियो को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को भंग करने के अपराध मे अवश्य दण्ड दिया गया था पर यह न्याय युक्त न था। वह तो आदिम अवस्था के समान मत्स्य राज्य का नियम था। शक्तिशाली द्वारा दुर्बलो पर किया गया अत्याचार था। न्याय तभी माना जाता जब एटम बम गिराने वाले मित्र राष्ट्र को भी वही दण्ड दिया जाता जो निर्बल और निस्सहाय पराजित राष्ट्रों को दिया गया।

(7) सं० रा० संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कोई सम्प्रभुसत्ता सम्पन्न संस्था नही। गत तीस वर्षों मे अनेक निर्णय इन सस्थाओ द्वारा किये गये पर वे राज्यो द्वारा अमान्य कर दिये गये। काश्मीर जैसा मामला आज तक हल नहीं हो पाया। शक्तिशाली राज्य दुर्बल राज्यों पर ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून थोपने का प्रयत्न करते हैं।

(8) जेथ्रो ब्राउन का मत है कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्वयं को पूर्ण करने का संघर्ष कर रही है, यह अभी निर्माण की प्रक्रिया में है। वह अन्तर्राष्ट्रीयता नैतिकता से भिन्नावस्था में आने के लिए संघर्ष कर रही है।"[1]

---

[1] International Law is the law in making. Law is struggling for existance. It is struggling to make itself good in contradiction from international morality.
—Jethro Brow

(9) लार्ड सेलिसबरी के मतानुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय विधि को कुछ सीमा तक भ्रामक कहा जा सकता है।"

(10) प्रसिद्ध वाद एस० एस० लोटस में लोडर ने अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून अधिकांशतः अलिखित है एवं उसमें बाध्यता का अभाव है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है
(International Law is a Law)

जिस प्रकार अनेक विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून मानने से इन्कार कर दिया है, उसी प्रकार कुछ विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को वास्तव में विधि सिद्ध करने के लिए अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं। इन विद्वानों में लार्ड रसेल, सर हेनरी मेन, बर्कले, प्रो० स्टॉक ब्रियेली एवं फ्रेडरिक पोलक आदि हैं। इनके मतों का विवेचन निम्नलिखित है—

(1) सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) का मत—सर हेनरी मेन ने आस्टिन के सिद्धान्त को एक शताब्दी पूर्व का मानकर, अमान्य ठहराया है। उसका कहना है कि "आस्टिन ने भाषा की काफी खींचतान करके यह प्रदर्शित किया है कि भावात्मक (Positive) कानून में चाहे वह दीवानी हो या फौजदारी, सर्वत्र अनुशक्ति अवश्य पायी जाती है। वास्तव में उसने यह बहुत बड़ा कार्य (Feat) किया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके कुछ शिष्य उसकी भाषा से यह परिणाम निकालते हैं कि मनुष्य सदैव दण्ड के भय से नियमों का पालन करते हैं। वस्तुतः यह बिल्कुल असत्य है। मनुष्य अधिकतम नियमो का पालन मन के स्वभाव मात्र से अचेतन रूप मे (Unconsiously) करते हैं। मनुष्य कई बार नियमों का उल्लंघन करने पर मिलने वाले दण्डों के भय से भी उनका पालन करते है, किन्तु प्रत्येक समुदाय में अचेतन रूप से नियमों का पालन करने वाले अधिकांश व्यक्तियों की तुलना में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है। यह वस्तुतः अपराध करने वाले वर्गों तक सीमित होती है। यदि एक व्यक्ति दण्ड के भय से चोरी या हत्या नहीं करता तो लाखों व्यक्ति ऐसे है जो किसी प्रकार का विचार किये बिना स्वाभाविक रूप से ऐसे कार्य नहीं करते।"[1]

सर हेनरी मेन ने दूसरा तर्क दिया है कि प्राचीन तथा अर्वाचीन कानून पद्धति के गहन अध्ययन से यह पता चलता है कि आस्टिन का सिद्धान्त सदैव सत्य नहीं होता है कि कानून सदैव प्रभुसत्ता रखने वाले प्रभु का आदेश होता है। प्रायः सभी समाजों में प्राचीनकाल से निरन्तर चलने वाले रीति-रिवाज, प्रथायें तथा रूढ़ियाँ ही कानून का आधार होती हैं। क्या ये किसी प्रभुसत्ता द्वारा निर्मित होती हैं? या किसी संस्था द्वारा बनाई जाती है? फिर भी इनका पालन समाज कानून के रूप में करता है। इंगलैण्ड का कामन ला (Common Law) तथा व्यापारिक कानून (Merchantile Law) इसी प्रकार विकसित हुआ है किसी प्रभुसत्ता द्वारा निर्मित नही हुआ है। ब्रिटिश पार्लियामेंट को कानून बनाने का पूर्ण अधिकार है, परन्तु यह अधिकार किसी प्रभुसत्ता ने प्रदान नही किया।

(2) प्रसिद्ध ब्रिटिश विद्वान लार्ड रसेल ने भी आस्टिन के सिद्धान्त का खण्डन किया है। उन्होने साराटोगा (न्यूयार्क) में भाषण देते हुए कहा था कि "यदि ऐतिहासिक रूप से कानून के विकास पर विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि कानून से पहले समाज की आरम्भिक दशा मे प्रथागत (Customary) कानून था,.......जिन समाजों में आस्टिन के मतानुसार कानून बनाने वाली संस्था नहीं, वहाँ भी ऐसी प्रथाओं और नियमों का विकास होता है जो वस्तुतः कानून हैं। इसका एक उदाहरण व्यापारिक कानून (Merchantile Law) है।" रसेल ने अपने भाषण में

[1] Sir Heury Maine : *International Law*, p. 50.

आगे कहा कि निरंकुश शक्ति के परवर्ती विकास मे कानून को आस्टिन के अर्थों में एक ऊँची सत्ता की ऐसी आज्ञा समझा जाता है, जिसे वांछित रूप से पालन कराने की शक्ति उनके पास है। किन्तु इसके बाद की अवस्था में जब सरकार स्पष्ट रूप से अधिक लोकतन्त्रीय बनती है, वह सार्वजनिक इच्छा पर आधारित होती है, तब कानून का, वांछित करने वाली शक्ति द्वारा थोपी जाने वाली आज्ञाओं का स्वरूप कम होता जाता है और उन्हें सहमति (Consent) पर आधारित परम्परागत कानून का स्वरूप अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त होने लगता है........मेरा यह दावा है कि राष्ट्रों ने एक दूसरे के प्रति व्यवहार में जिस नियम-समूह के अनुकूल आचरण करने का निश्चय कर लिया है उसे यथार्थ रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नाम दिया जाना चाहिए।"[1]

(3) बर्कले (Burkley) का मत—बर्कले का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व तभी हो सकता है जब सभी राष्ट्र उसको मान्यता दे। यह मान्यता लगभग ऐसी ही होनी चाहिए जैसी कि नागरिकों द्वारा राष्ट्रीय विधि को मिलती है। यदि कोई राष्ट्र इस विधि को भंग करे तो भी उसका अस्तित्व बना रहता है।

(4) ब्रियर्ली (Brierly) का मत—ब्रियर्ली भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि ही मानता है और आस्टिन के "आज्ञा सिद्धान्त" (Command Theory) का खण्डन करता है। उसका शब्द इस प्रकार है कि 'आधुनिक राज्य के कानून का आस्टिन द्वारा किया गया विश्लेषण भ्रामक और अपूर्ण है। यदि इसे सत्य माना जाय तो जब तक हम लक्षण में ठीक बिठाने के लिए तथ्यों की तोड़-मरोड़ नही करते, तब तक हम इगलैण्ड के "कामन ला" का अस्तित्व नही मान सकते। राज्यो के कानून को अन्तर्राष्ट्रीय कानून से पृथक करने वाली तथा उसके कानूनी स्वरूप मे सन्देह उत्पन्न करने वाली अधिकाश विशेषताएँ ऐसी है कि जो विभिन्न कानूनी पद्धतियो के आरम्भिक रूप में पायी जाती हैं। ये विशेषताएँ है—प्रथा पर आधारित होना, दोनों पक्षो को अपने मामले में न्यायालय का क्षेत्राधिकार मानने मे या उसे मामला सौंपने मे स्वतन्त्र होना, कानून को बनाने और लागू करने की नियमित प्रक्रियाओं का अभाव।"[2]

(5) सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Fredrick Pollock) का मत—अन्तर्राष्ट्रीय विधि को वास्तविक विधि मानते हुए श्री पोलक महोदय का कहना है कि "कानून की सत्ता के लिए आवश्यक शर्तें केवल यही है कि यह एक राजनीतिक समुदाय की सत्ता हो तथा इसके सदस्य यह समझते हों कि उन्हें कुछ निश्चित नियमों का आवश्यक रूप से पालन करना होगा।'[3] अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे ये दोनों शर्तें पायी जाती हैं।

(6) प्रो० स्टार्क (Prof Starke) का मत—प्रो० स्टार्क ने आस्टिन के कानून सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि भले ही आस्टिन के समय, उसका सिद्धान्त मान्य रहा है पर अब समय और परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। गत अर्द्ध-शताब्दी में अनेक सन्धियों एवं समझौतों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण हुआ है, जिन्हें अधिकांश राष्ट्रों ने मान्यता प्रदान की है। आज अन्तर्राष्ट्रीय विधि को संयुक्त राज्य संघ, राज्यों को मानने के लिए विवश कर सकता है।

(7) ओपेनहीम (Oppenheim) का मत—ओपेनहीम ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून माना है नियम नहीं। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नैतिक नियम मानते हैं, उनको जवाब देते हुए ओपेनहीम ने कहा है कि कानून और नैतिकता में महान अन्तर है। उनके मत में नैतिकता का

---

1. Lord Russel : *Law Quarterly Review*, (1896) p. 311.
2. Brierly : *The Law of Nations*, pp 70-71.
3. Polock : *The Oxford Lectures* (1890), p. 16.

सम्बन्ध अन्तःकरण से है, बाह्य शक्ति या भौतिक शक्ति से नहीं। व्यक्ति यदि नैतिक नियम को तोड़ने के लिए तैयार है तो इस कृत्य को रोकने में उसका अन्तःकरण ही सहायक हो सकता है। इसके विपरीत कानून का पालन बाह्य शक्ति द्वारा बलपूर्वक कराया जाता है। यदि कानून को कोई व्यक्ति भंग करता है तो राज्य की पुलिस द्वारा पकड़ा जा सकता है और न्यायालय द्वारा उसे दण्ड दिया जा सकता है। कानून का पालन राज्य की शक्ति और दण्ड के भय द्वारा किया जाता है।

दूसरी बात ओपेनहीम ने आस्टिन के मत को खण्डित करते हुए बताई है कि कानून की सत्ता के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह राज्य शक्ति द्वारा ही निर्मित हो या उसके भंग करने वाले को दण्ड देने के लिए न्यायालय हो। आदिम समाज में कानून के प्रश्न पर समस्त समाज निर्णय देता था, सभ्यता के विकास पर यह सम्भव नहीं रहा कि समस्त समाज एकत्र होकर ही कानून बनाये या दण्ड देने की व्यवस्था करे, अतः कानून अब समाज के प्रतिनिधियों द्वारा बनाया जाने लगा तथा उसे पालन कराने के लिए न्यायालय होने लगे हैं।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ओपेनहीम ने कानून की परिभाषा इन शब्दों में दी "कानून एक समुदाय मे मानवीय व्यवहार के ऐसे नियमों का समूह है जो इस समुदाय को सामान्य सहमति द्वारा बाह्य शक्ति द्वारा लागू किया जाता है।" यदि इस लक्षण को मान्यता दी जाये तो कानून की सत्ता के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं—समुदाय, इस समुदाय मे मानवीय व्यवहार के लिए माने जाने वाले नियमों का समूह तथा बाह्य शक्ति द्वारा इन कानूनों या नियमो का पालन कराया जाना। ओपेनहीम ने यह सिद्ध किया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में उपरोक्त सभी शर्तों की पूर्ति होती है।

(i) प्रथम शर्त के अनुसार कानून के लिए समुदाय होना आवश्यक है। यह बात तो सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मानने वाले प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य हैं पर उनको बाध्य करने वाली कोई अन्तर्राष्ट्रीय सरकार नहीं, फिर भी इन राज्यों के आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और मानवीय हित बहुत कुछ आपस में मिलते हैं। ये सामान्य हित उसमे एकता के भाव भरते हैं अतः पारस्परिक सहयोग के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का (International Community) का निर्माण किया गया तथा अनेकों अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ का निर्माण हुआ। राष्ट्र संघ तथा इनसे सम्बन्धित संस्थाएँ, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय आदि राष्ट्रीय कुटुम्ब (Family of Nations) की सत्ता के प्रमाण है।

(ii) दूसरी शर्त है नियमो की सत्ता अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का संग्रह अब तक बन चुका है। ये नियम दो प्रकार के है—(अ) परम्परागत, रिवाजी, अलिखित, जैसे राजदूतों के विशेषाधिकार आदि (ब) अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा सन्धियाँ जैसे 1856 का पेरिस का घोषणा-पत्र स्थल एवं समुद्री युद्धों के नियम, 1907 का हेग सम्मेलन द्वारा स्वीकृत अभिसमय एव सयुक्त राज्य संघ का चार्टर आदि।

(iii) तीसरी शर्त है कानून पालन करने वाली सत्ता अन्तर्राष्ट्रीय कानून में उसका अभाव नही। सबसे बड़ी बाध्य करने वाली शक्ति या अनुज्ञाप्ति (Sanction) तो विश्व का जनमत है। इसके सामने बड़े-बड़े शक्तिशाली राज्य नतमस्तक होते देखे गये हैं। उदाहरण के लिए स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण पर इंगलैण्ड फ्रांस और इजराइल का मिश्र पर 1956 का सामूहिक आक्रमण उस समय विश्व का जनमत इंगलैण्ड और फ्रांस के इतना अधिक विरुद्ध हो गया कि इन दोनों महाशक्तियों को युद्ध ही बन्द न करना पड़ा, बल्कि मिश्र से अपनी सेनायें भी हटानी पड़ीं। समाचार-पत्र, पुस्तकें, राजनीतिज्ञों के वैयक्तिक पत्र-व्यवहार इस लोकमत के निर्माण में बड़ी सहायता हैं। लोकमत के आगे अमेरिका राष्ट्रपति निक्सन को झुकना पड़ा और त्यागपत्र देना पड़ा।

आज के युग में आर्थिक निर्माण प्राप्त करना आसान नहीं। सभी छोटे-बड़े राज्य एक-दूसरे पर किसी न किसी रूप में आश्रित रहते हैं। अपने विकास के लिए दूसरे राज्यों से ऋण लेना, सैनिक सामग्री लेना, कारखानों के लिए कच्चा माल खरीदना। यदि कोई राज्य दूसरे राज्यों के लोकमत का आदर नहीं करता तो उसका आर्थिक बहिष्कार कर दिया जाता है। राष्ट्र संघ में भी आर्थिक प्रतिबन्धों की व्यवस्था थी।

राष्ट्र संघ की असफलता का मुख्य कारण, उसके पास बाध्यकारी शक्ति का अभाव था, इस कमी को सं० रा० संघ के चार्टर ने पूरा कर दिया है। इसका उदाहरण कोरिया का संघर्ष है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी राष्ट्रों के विवादों को हल करने के लिए बनाया गया है। इस प्रकार हर दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून, वास्तव में कानून है।

(8) अन्य लेखकों का मत—ब्रिटिश विधि शास्त्री हाल (Hall), सालमण्ड, लार्ड मैंसफील्ड, अलवारेज आदि ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क दिये हैं। एक लेखक का कहना है कि चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लघन बहुत होता है, यह कानून नहीं है। लेकिन इस तरह तो राज्य के आदेश भी कानून नहीं रहेंगे। क्योंकि उनका उल्लंघन कहीं अधिक होता है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राज्य के कानून की तरह से अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी कानून है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय
(Subjects of the International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय क्या हैं ? इस विषय में भी अनेक विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता ग्रोशियस का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो विषय है—युद्ध और शान्ति। ओपेनहीम ने भी ग्रोशियस के मत को ग्रहण किया है। उसका कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों में अधिकांश शान्ति के कानून हैं। डा० जेन्क्स (Jeynks) ने शान्ति नियमों को आठ वर्गों में बाँटा है—(i) अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के स्वरूप का तथा कानून निर्माण की प्रक्रियाओं का नियन्त्रण करने वाला कानून (ii) राज्यों के मध्य विभिन्न सम्बन्धों को अनुशासित करने वाला कानून—इस वर्ग में प्रदेश विषयक एवं समुद्रों की स्वतन्त्रता सम्बन्धी, आकाश की प्रभुता के क्षेत्राधिकार सम्बन्धी, राज्यों के उत्तरदायित्व के और राज्यों के पारस्परिक नियम (iii) अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टियों द्वारा सुरक्षित किये जाने वाले मानवीय अधिकार—इस वर्ग में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नागरिक (civil) सभी प्रकार के अधिकार आते हैं (iv) अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप रखने वाली सम्पत्ति तथा कापीराइट, पेन्टट आदि के अधिकार आते हैं, (v) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा बनाये गये हवाई, समुद्री यातायात के नियम। विभिन्न आर्थिक और प्राविधिक समझौते, (vi) वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्ध रखने वाले नियम, (vii) संधियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के सम्पन्न करने, वैध बनाने, इनके संशोधन, व्याख्या और समाप्ति करने वाले नियम, तथा (viii) अन्तर्राष्ट्रीय पंच निर्णय के नियम।

सं० रा० संघ के महामन्त्री द्वारा विधि आयोग (International Law Commission) को विचारणीय विषयों के सम्बन्ध में दिये एक आवेदन-पत्र में इनके 25 अंग बनाये गये हैं। ये इस प्रकार हैं—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय (Subject) अर्थात् राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत, राष्ट्रों के कानून के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्व, राज्यों के मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य, राज्यों और सरकारों की मान्यता, राज्यों का और सरकारों का उत्तराधिकार (succession), घरेलू क्षेत्राधिकार (Domestic Jurisdiction) विदेशी राज्यों की मान्यता, विदेशी राज्यों पर

क्षेत्राधिकार, प्रादेशिक क्षेत्राधिकार (Territorial jurisdiction) के दायित्व, राष्ट्रीय प्रदेश से बाहर किये गये अपराधों का क्षेत्राधिकार, राज्य का प्रादेशिक क्षेत्र (Dominion) महासमुद्रों तथा प्रादेशिक समुद्र पर प्रभुता, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण नियन्त्रण, राष्ट्रीयता और राज्यहीनता (statelessness), कूटनीतिक सम्पर्क (Diplomatic Intercourse) और विशेषाधिकार, व्यापारिक प्रतिनिधियों का सम्पर्क और विदेशियों (Alien) के साथ व्यवहार, प्रत्यर्पण (Extradiction), *शरणप्रदान (Asylum) का अधिकार, संधियों का कानून, मध्यस्थ निर्णय की प्रक्रिया, युद्ध के नियम* इस सूची में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लगभग सभी प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन आ जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राज्य
(International Law and the State)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मुख्य विषय राज्य है। कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व *तभी प्राप्त करता है जब वह पूर्ण स्वतन्त्रता एवं सम्प्रभुता प्राप्त कर लेता है एवं अन्य सम्प्रभु* राज्यों द्वारा उसे सम्प्रभु राज्य के रूप मे मान्यता मिल जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन्हीं राज्यों पर लागू होती है जो आन्तरिक एवं बाह्य रूप से किसी सत्ता के अधीन न हों। उसे राष्ट्र समाज की सदस्यता जब प्राप्त हो जाती है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा कुछ अधिकार एवं कर्त्तव्य प्राप्त कर लेता है। लारेन्स और ओपेनहीम जो व्यक्ति को नहीं, राज्य को ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय मानते हैं। इसी मत का समर्थन स्टार्क और केलसन ने भी किया है।

राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानने वालों का कहना है कि व्यक्ति का सीधा सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि से न होकर राज्य के माध्यम से होता है अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि केवल राज्य से ही सम्बन्ध रखती है। अपने मत के समर्थन मे यह विद्वान यह तक रखते है कि युद्ध राष्ट्र ही लड़ते हैं, व्यक्ति नहीं, राष्ट्र ही संधि करते हैं, व्यक्ति नही; अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में राष्ट्र ही भाग लेते हैं, व्यक्ति नहीं तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में राष्ट्र ही पार्टी के रूप मे आते हैं, व्यक्ति नहीं। परन्तु समुद्री डाकू उपर्युक्त तर्क की काट करते हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध सीधे अन्तर्राष्ट्रीय विधि से आता है। पर राष्ट्रों को ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय बनाने वाले विद्वान समुद्री *डाकुओं को सम्पूर्ण मानव समाज का शत्रु मानते है और उन्हें दण्ड देने के लिए राष्ट्रों के मध्य* संधि होती है अतः समुद्री डाकू भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिधि से बाहर आ जाते हैं। 1588 में स्पेन ने केवल समुद्री डाकुओं को नष्ट करने के लिए इंग्लैण्ड से अनुरोध किया था पर जब इंग्लैण्ड ने यह तर्क दिया था कि समुद्री डाकू किसी राष्ट्र के सदस्य नहीं होते, वे तो मानवता के शत्रु होते हैं अतः उन्हें हानि पहुँचाने पर कोई राष्ट्र उसकी क्षतिपूर्ति की माँग नहीं करता है। इस तर्क को अस्वीकार कर स्पेन ने इंग्लैण्ड पर आक्रमण कर दिया था। इस युद्ध का आधार समुद्री डाकू ही थे। बाद में जब अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास हो गया तो समुद्री डाकू भी जब उन्होंने खुले समुद्र में डाके डाले *तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन पर लागू होने लगी। पर अब भी समुद्री डाकुओं के* अधिकार और कर्त्तव्य वही हैं जो राज्यों के होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति केवल राष्ट्रीय विधि की परिधि में आता है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। व्यक्ति के सम्बन्ध के सभी मामले उसी राज्य द्वारा उठाये जाते हैं जिसका कि वह नागरिक होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मुख्य विषय व्यक्ति
(Man as a main Subject of International Law)

कुछ विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मुख्य विषय व्यक्ति को ही मानते हैं। इन विद्वानों में ऑस्टिन एवं केलसन उल्लेखनीय हैं। वेस्टलेक कहता है कि राज्य अमूर्त सत्ता है। वास्तव में

वह मानव का समूह मात्र है। इन विद्वानों ने कहा है कि राज्य अथवा राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि का केवल माध्यम है, असली विषय तो व्यक्ति ही है। पालिका का भी कहना है कि "राज्य एक विधि के व्यक्ति का स्वरूप मात्र रखते हैं तथा व्यक्ति जो कि समाज की प्राथमिक इकाई है एक समाज की रचना करता है तथा राज्य के अधिकार एवं कर्तव्य इन्हीं व्यक्तियों को सम्बोधित करते हैं। राज्य महत्वपूर्ण नहीं, व्यक्ति ही महत्वपूर्ण है।" इस विषय में फैनविक (Fenwick) के विचार उल्लेखनीय है। उसके मतानुसार 'संसार के राष्ट्र किसी घटनावश एवं ऐतिहासिक कारणों से बने हुये बनावटी समूह हैं। सभी राष्ट्र उनको प्राप्त अधिकारों के कारण पालिका की प्रकृति नहीं रखते है अपितु ये इच्छा को दर्शाते है कि विशेष व्यक्तियों का समूह अपने मूल अधिकारों एवं विपरीत अधिकारों की रक्षा हेतु तथा अपने पारस्परिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए एकत्र हुये हैं।"[1] *एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति कर्तव्य वास्तव में एक राष्ट्र के व्यक्तियों का दूसरे राष्ट्र के* व्यक्तियों के प्रति कर्तव्य है। इस सिद्धान्त का सत्यापन न्यूरेम्बर्ग तथा टोकियो वादों में देखने में आता है। जिनके अनुसार केवल व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन व्यक्ति ही करता है। राज्य तो एक भावात्मक संज्ञा है। विधि केवल राष्ट्रों को ही नहीं, अपितु व्यक्तियों को भी संचालित करती है तथा विधि का उल्लघन करने वाले अपराधियों को दण्ड देती है। व्यक्ति अपराध से इस बहाने से नहीं छूट सकते कि राष्ट्र ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं। सन् 1948 में सं० रा० संघ के सम्मेलन ने नरहत्या के अपराधियों पर राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में वाद चलाने का निर्णय किया था। इस प्रकार व्यक्ति को ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मुख्य विषय माना जाना चाहिये।

सं० रा० संघ के चार्टर में व्यक्ति के मूल अधिकारों को मान्यता प्रदान की गई है। व्यक्ति को इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि से सीधा जोड़ दिया गया। आधुनिक समय में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। अतः उसके अन्तगत राष्ट्र ही नहीं, व्यक्ति का भी समावेश किया गया है। व्यक्ति ही उन अधिकारों एवं कर्तव्यो का उपभोग करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा राज्यों को प्राप्त होते हैं। सं० रा० संघ के विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा विश्व श्रम संगठन आदि राष्ट्रो से नही अपितु व्यक्तियों से सम्बन्धित है। इस प्रकार व्यक्ति अब अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय बन गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत और आधार
(Sources and Basis of International Law)

ओपेनहीम के मतानुसार "कानून का स्रोत किसी समाज के ऐतिहासिक विकास के वे मूल तत्व हैं जिनसे इसका प्रादुर्भाव होता है और इसे कानूनी शक्ति प्राप्त होती है।" रास (Ross) का मत है कि कानून मे स्रोत विशुद्ध रूप से उन स्रोतो को घोषित करते हैं जिनसे निकली हुई व्यवस्थायें कानून की भाँति समझी जाती हैं।" उदाहरण के लिए इग्लैण्ड के न्यायाधीश पालियामेन्ट द्वारा पास किये गये कानूनों को वैध मानते हैं और उनके पालन के लिए बाध्य हैं क्योंकि इसका मूल स्रोत वहाँ विधान निर्माण करने वाली सर्वोच्च संस्था है इसी प्रकार कानूनों के

कुछ अन्य स्रोत भी माने जाते हैं। जिनका विशेष ध्यान न्यायाधीश अपना निर्णय देते हुये करते हैं। यही तत्त्व कानून के स्रोत कहलाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत का अभिप्राय है वे विभिन्न तत्त्व एवं कार्य जो कानून के विकास का आधार बनें। लारेन्स (Lawrence) का कथन है कि "यदि हम कानून के स्रोत का अर्थ यह समझते है कि यह इसे बाध्य बनाने की शक्ति (Binding Force) प्रदान करने वाली सत्ता के साथ जुड़ा हुआ इसका मूल तत्व है तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में कानून का केवल एक ही स्रोत हो सकता है और वह है राष्ट्रों की सहमति, (Consent of the Nations)।" यह सहमति अव्यक्त (tacit) और व्यक्त (Express) दोनों ही प्रकार की हो सकती है। रिवाज (Custom) पहले प्रकार का उदाहरण है। राज्य अपने पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट समझौता किये बिना प्राचीन काल से चले आने वाले आचरण सम्बन्धी कुछ नियमों का रिवाज के तौर पर स्वाभाविक रूप से पालन करते हैं। व्यक्त सहमति (Express Consent) के उदाहरण हैं—सन्धियां या अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते। इनमें दोनों पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे कुछ नियमों का पालन करने के लिए कुछ सधियाँ करते हैं। ओपेनहीम ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों के इस द्विविधि विभाग को स्वीकार किया है।

इस प्रारम्भिक विवेचन के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विभिन्न स्रोतों का विवेचन किया जायगा जिन पर अनेक विधिवेत्ताओ ने अपनी सहमति प्रदान की है। वे स्रोत निम्न, लिखित हैं—

(1) संधियाँ (Treaties)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ हैं। लेकिन केवल वे ही सन्धियां अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत होती हैं जो किसी पुराने कानून को रद्द करती हैं, नये की स्थापना करती हैं अथवा उनकी व्याख्या करती हैं।

यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय नियम का आधार तभी होती हैं जबकि वे एक समूह के रूप में राष्ट्रों द्वारा स्वीकार करली जाती हैं।"[1]

कानून निर्माण करने वाली सन्धियो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की स्थापना उन राज्यो के लिये करती हैं जो उनमे साझेदार होते हैं। लेकिन कभी-कभी समझौते अनेकों राज्यों द्वारा किये जाते है जिसमें विश्व के काफी राज्य शामिल होते है। ऐसा समझौता गैर-हस्ताक्षरकर्ता राज्यों पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिए सयुक्त राष्ट्र चार्टर 1949 की जेनेवा कन्वेंशन उन राज्यों पर भी लागू है जिन्होंने उन पर हस्ताक्षर किये थे।

क्षेत्रीय सधियाँ क्षेत्रीय अन्तर्राष्ट्रीय विधि की स्थापना करती है। अमरीकी कानून इसी प्रकार की सन्धियो और समझौतों की देन है।

(2) रूढ़ियाँ (Customs)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्राचीन स्रोत है—रूढ़ियाँ (Customs)। 19वीं शताब्दी में इनका महत्त्व 'कानून निर्माण सन्धियो' (Lawmaking treaties) के समक्ष घट गया। इतना होने पर भी इन सन्धियो की व्याख्या अन्तर्राष्ट्रीय रिवाजों के सदर्भ मे की जाती है। राज्य के प्रदेश, क्षेत्राधिकार (jurisdiction) और उत्तरदायित्व, दूतो के विशेषाधिकार तथा प्रदेश वाह्य (Extraterritorial) अधिकार रिवाज के आधार पर विकसित होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानून है।

रिवाज का अभिप्राय ऐसे नियमों से है जो एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया के बाद विकसित होते हैं और अन्ततोगत्वा विभिन्न राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा स्वीकृत होते हैं।

---

1 It must be noted, however, that treaties are sources of International Law only when adopted by the nations as a body." —*Fenwick*.

जब इन रिवाजों को पालन करना राज्य अनिवार्य समझता है तब ये 'कस्टम' का रूप ले लेते हैं। अतः जान वैस्टलेक (John Westlake) ने लिखा है कि "रिवाज या आचार आचरण की वह पद्धति है, जिसका अनिवार्य रूप से पालन करना समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है।"[1] उदाहरण के लिये जब राजदूतों के विशेषाधिकार विभिन्न सभ्य राज्यों ने मान लिया तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय रिवाज के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

फेनविक का मत है कि "इन नियमों में से' (जो रूढ़ियों से सम्बन्धित थे) जैसे कि युद्ध सम्बन्धी नियम, अनेक नियमों का उद्गम स्थान किसी एक राज्य की वे प्रथायें थीं जो तब तक काम करती थीं जब तक कि कोई कानून दूसरे राज्यों के द्वारा बिना विरोध के न माना जाये पिट कार्बेट (Pit Corbatt) रिवाज के विकास की तीन दशायें बताई हैं। पहली अवस्था में कुछ राज्य सामान्य सुविधा या सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर किसी व्यवहार को या प्रणाली को अपनाना प्रारम्भ करते हैं किन्तु इसका पालन करना पूर्ण रूप से अपनी इच्छा (Discretion) पर होता है। उदाहरण के लिये दूतों की अवध्यता को लिया जा सकता है। इस परिपाटी का श्रीगणेश सामान्य सुविधा और सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुये हुआ, यदि एक राज्य अपने यहाँ आये दूसरे राज्य के दूत को मारता है या विशेष सुविधायें नहीं प्रदान करता है तो दूसरा राज्य भी उसके दूत के साथ ऐसा ही व्यवहार करता है। अतः परस्पर व्यवहार की परम्परा बहुत समय से चलती चली आयी है।

दूसरी अवस्था में इन विभिन्न प्रणालियों में समय की आवश्यकता के अनुसार सब से अच्छी और उपयोगी प्रणाली को अपनाया जाता है। यूरोप में 15-16 वी शताब्दी में राजदूतों के विशेषाधिकारों के विषय में अनेक प्रकार की परिपाटियाँ थीं। राजदूत दूसरे देश में दीवानी या फौजदारी अपराध में पकड़े जाने या उनकी सम्पत्ति जब्त किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के कानून भिन्न देशों में प्रचलित थे। आमतौर से राजदूतों पर स्थानीय कानून लागू नहीं होते थे, अपराध करने पर उन्हें अपने देश भेज दिया जाता था।

तीसरी अवस्था में जब किसी व्यवहार को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया जाता है तो यह व्यवहार रिवाज बन जाता है। तब सभी सभ्य देश उसका पालन करना कर्त्तव्य समझने लगते हैं। आज सभी देश राजदूतों को विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्रदान करते हैं अतः यह अन्तर्राष्ट्रीय आचार या रिवाज बन जाता है।

कुछ विद्वान रूढ़ि (Custom) और प्रथा (usage) में कोई अन्तर नहीं समझते हैं पर वास्तव में दोनों में भेद होता है। प्रो० ब्रायर्ली के मतानुसार कानूनी दृष्टि से रिवाज का अर्थ आदत या प्रथा से कुछ अधिक है। यह एक ऐसी प्रथा है जिसका पालन करने वाले लोग इसे बाध्यकारी समझते है।" "रूढ़ि का प्रारम्भ वहीं पर होता है जहाँ पर प्रथा का अन्त होता।" अतः प्रथा रिवाज का पूर्व रूप है दूसरे शब्दों में रिवाज का प्रारम्भिक रूप ही प्रथा है।

ओपेनहीम ने दोनों शब्दों का अन्तर बताते हुये कहा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री उस समय रिवाज या आचार (Custom) का प्रयोग करते हैं, जब किन्हीं निश्चित कार्यों को सुस्पष्ट एवं निरन्तर रूप से करने की आदत का विकास इस विश्वास के साथ हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इन कार्यों का किया जाना अनिवार्य अथवा ठीक है। अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री प्रथा (usage) का प्रयोग तब करते है जब कुछ निश्चित कार्य करने की आदत बिना इस विश्वास के साथ विकसित हो कि ऐसे कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अनिवार्य या ठीक हैं।

1 Costom is that type of conduct which the society has consented to regard as obligatory.' —G. Westlake.

इस प्रकार विधिशास्त्रियों ने रिवाज को प्रथा की अपेक्षा संकुचित अर्थ में प्रयोग किया है। आचरण की कोई पद्धति प्रथा के रूप में सामान्य होने पर भी रिवाजी या आचरिक नहीं हो सकती।"

न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ियों को तभी मानता है जब कि सम्बन्धित पक्ष यह सिद्ध कर दे कि यह रूढ़ि इस प्रकार स्थापित हो चुकी है कि उसमें बाध्यता उत्पन्न हो गई है। इस बात की पुष्टि कोलम्बिया बनाम पीरु असायलम केस में की गई थी।

(3) कानून के सामान्य सिद्धान्त (The General Principles of Law)—कानून के सामान्य सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून का तीसरा स्रोत है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिये एक प्रकार की सुरक्षित निधि का काम देता है। ये सामान्य सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और रूढ़ियों को दृष्टि में रखकर बनाये जाते हैं।

सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्य कानून का अर्थ बहुत समय से विवाद का विषय बना हुआ है। इस विषय में दो बातें अथवा मत उल्लेखनीय हैं—

(i) एक मत के अनुसार इसका अर्थ घरेलू न्यायशास्त्र के उन सामान्य सिद्धान्तों से है जिनको अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर लागू किया जा सकता है। इन सिद्धान्तों में यह विचार निहित है कि किसी भी विवाद के समय दोनों पक्षों को सुना जाना चाहिये, सम्बन्धित पक्षों में से किसी को भी न्यायाधीश नहीं बनाया जाना चाहिये आदि।

(ii) दूसरा मत है कि यह न्याय के उस सामान्य सिद्धान्त का वर्णन करता है जो प्राकृतिक कानून के साथ जुड़ा हुआ है और जिसकी व्याख्या आधुनिक समय में की गई है।

आधुनिक लेखक कानून के सामान्य सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का गौण स्रोत मानते हैं। उनका मत है कि व्यवहार में इनका प्रयोग कदाचित ही किया जाता है और कुछ अवसरों पर ही ये उपयोगी बनते हैं। इसका कारण यह है कि अभिसमयात्मक और रिवाजी अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसके निर्णयों को आवश्यक आधार प्रदान करने के लिये पर्याप्त होते हैं। इतने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इसे कानून का आवश्यक स्रोत मानकर महत्त्व दिया है।

जर्मनी तथा पुर्तगाल के विवाद में मेजीना (Mazina) तथा नौलीला (Noulila) के मामले में विशेष पंचायती अदालत ने कानून के सामान्य सिद्धान्तों को लागू किया था। इसके निर्णय में कहा गया था कि "किसी विवादास्पद प्रश्न के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम न होने की दशा में न्यायाधीशों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस अभाव को निष्पक्षता (Equity) के नियम लगाकर पूरा करें और ऐसा करते हुये अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी भावना का ध्यान रखें।"

(4) न्यायिक निर्णय (Judicial Decision)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि विधान की धारा 38 में निर्देशित किया गया है कि विधि के नियमों को निर्धारित करने के लिये न्यायाधिकरणों के न्यायिक निर्णयों को सहायक के रूप में समझा जाय। वास्तव में ये निर्णय न्याय-वेत्ताओं द्वारा कानून के सम्बन्ध में दिये जाते हैं। उनका आधार तर्क और निर्णय होता है। एक राज्य के न्यायालय के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आधार दो राज्यों के मिश्रित न्यायाधिकरणों (Tribunals) के निर्णयों पर अधिक आधारित होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि 59 में कहा गया है कि न्यायालय के निर्णय पक्षकारों तथा उन विशिष्ट विषयों को छोड़कर अन्यत्र बाध्य नहीं हैं तथापि अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के प्रथम स्थायी न्यायालय तथा उसके उत्तराधिकारी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, दोनों में प्रसार की मुख्य विधायी प्रवृत्तियों का विस्तृत प्रदर्शन किया गया है तथा न्यायाधीशों की उच्च-कोटि की ख्याति एवं निष्पक्षता की दृष्टि से उनके निर्णयों को न्यायिक पूर्व दृष्टान्त के वास्तविक गुणों युक्त माना जाता है।

(क) राष्ट्रीय न्यायालय और उनके निर्णय (Decisions of Municipal Courts)—राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख स्रोत नहीं माने जाते हैं क्योंकि ये निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को ढालने में पूर्ण सफल नहीं हो पाते हैं। विभिन्न राष्ट्रों की सन्धियाँ इन न्यायालयों की स्वतन्त्रता में बाधा डालती हैं। वे तो केवल अपने देश के कानूनों का ही पालन कर सकते हैं, वे विदेशी कानून को मानने के लिये बाध्य नहीं, अतः उनके निर्णय भी अन्य राष्ट्रों के न्यायालयों के लिये बाध्य नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून कभी-कभी राष्ट्रीय कानून से मेल नहीं खाता है। स्वार्ज बर्गर का कहना है कि "यह सत्य है कि केवल निम्न स्तर पर ही देशी न्यायालयों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय नियम के प्रति राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रकट करता है।"

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय (Decisions of International Courts)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय प्रायः विवादास्पद प्रश्नों के विचार के समय दोनों पक्षों द्वारा पूर्वोदाहरणों या नजीरों के रूप में उपस्थित किये जाते हैं। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायक बनते हैं। इतना होने पर भी ये अन्तर्राष्ट्रीय कानून में बाधित रूप से पालन किये जाने वाले नियम नहीं हैं, न्यायालय स्वयमेव अपने पुराने निर्णयों को मानने के लिये बाधित नहीं है। उदाहरण के लिये 1951 का एंग्लो-नार्वेजियन मछली-गाहों का मामला लिया जा सकता है। फिर भी 1921 मे तथा 1946 मे स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्नो पर सबसे प्रामाणिक सम्मति मानी जाती है। इनमे निर्णयों से पहले दोनो पक्षों के विख्यात वकील सभी दृष्टियों से विवादाग्रस्त प्रश्न की मीमांसा करते है, इन्हे सुनने वाले न्यायाधीश विभिन्न देशों के विख्यात, विद्वान तथा अनुभवी विधि शास्त्री होते है। इनमे गम्भीर विचार के बा[illegible] दिये गये निर्णय बाध्य रूप से पालनीय न होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे असाधारण महत्त्व रखते है। स्टार्क के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के तथा विविध पंच न्यायाधिकरणों (Arbitration Tribunals) के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की निम्नलिखित शाखाओं के नियमों का विकास और राष्ट्रीयकरण हुआ है—प्रादेशिक प्रभुता, तटस्थता, राज्य का क्षेत्राधिकार, राज्य की परवत्तायें (State Servitudes) राज्य का उत्तरदायित्व आदि।

(ग) अधिग्रहण न्यायालयों के निर्णय (Decisions of Prize Courts)—इन अधिग्रहण न्यायालयो को नौजित-माल न्यायालय या समुद्री लूट-न्यायालय भी कहा जाता है। इन न्यायालयों की स्थापना युद्ध संलग्न देशो द्वारा होती है। उनका उद्देश्य अपने युद्ध पोतों द्वारा पकड़े गये जहाजों एवं माल के स्वत्व के बारे मे वैधता का निर्णय करना होता है। यह न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करते हैं और उसे क्रियात्मक रूप देते हैं। इस कानून का निर्माण किसी एक देश द्वारा नहीं किया जाता है वल्कि ऐसे कानून शताब्दियो द्वारा चली आयी प्रथाओ एवं रूढ़ियों पर आधारित होते है या स्पष्ट अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के द्वारा होते है। इसमे सन्देह नहीं है कि वे अपने देश की संसद के अधिनियमो से बाध्य होते है, फिर भी इनका काम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार निर्णय देना है। मारिया (Maria) के प्रसिद्ध मामले मे निर्णय देते हुये सर विलियम स्काट ने लिखा था कि "ब्रिटिश अधिग्रहण न्यायालय का यह कर्त्तव्य नही है कि वह राष्ट्रीय हितो के वर्तमान प्रयोजनो को पूरा करने वाली परिवर्तनशील सम्मितियाँ प्रदान करे, किन्तु उसका कर्त्तव्य बिना किसी भेद भाव के राष्ट्रो के कानून उस न्यायपद्धति को लागू करना है, जो तटस्थ और युद्धमान सभी स्वतन्त्र राज्यों के लिये समान रूप से लागू होता है।" रिकवरी (Recovery) के मामले में यह बात और अधिक स्पष्ट रूप से कही गई थी—"यह स्मरण रखना चाहिये कि भले ही इस न्यायालय की बैठकें ग्रेट ब्रिटेन के राजा की शासन सत्ता मे होती हैं, किन्तु यह राष्ट्रों के कानून का न्यायालय है इसका सम्बन्ध जितना हम से है, उतना ही दूसरे देशों से भी है। विदेशियों को इससे यह माँग करने का अधिकार है कि यह राष्ट्रों के कानून को लागू करे।"

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (International Comity)**—अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य को भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण विभिन्न राज्यों की सुविधा की सुविधाओं के लिये होता है अतः उसमें बाध्यकारी शक्ति की अपेक्षा सौजन्यता का पुट अधिक होता है। ओपेनहीन के मतानुसार *"अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्यता अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास पर प्रभाव डालती है।* सौजन्यता के आधार पर ही एक राज्य दूसरे राज्य के राजदूत पर चुंगी कर नहीं लगाते हैं। प्राचीन काल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे सौजन्यता निहित रहती थी।

(6) **विधिवेत्ताओं के ग्रन्थ (Writings of Publicists)**—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में विभिन्न देशो के विधिवेत्ताओं की रचनायें भी बड़ी सहायता करती हैं। यद्यपि इन रचनाओं को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का गौण सूत्र माना जाता है, फिर भी आज ये कानून विभिन्न व्यवस्थाओ के निर्धारण का महत्त्वपूर्ण साधन बन गई हैं। ओपेनहीन के मतानुसार 'लेखकों को ये कृत्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की वास्तविक वैज्ञानिक उन्नति में बहुत सयोग देती हैं। इसका पक्षपात रहित होना एवं इनका सूक्ष्म एव तर्कपूर्ण अभ्यासों से युक्त होना वैधानिक नियमों के निर्धारण में बहुत अधिक सहायता देता है।" ब्रियर्ली के शब्दों में "ये रचनायें राज्यों के आचरण को प्रभावित करने वाले जनमत के निर्माण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून में संशोधित करती है।" अयाला जैण्टिलिस, वैटल, ग्रोशियस आदि के ग्रन्थों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण मे बड़ा योगदान दिया है। बहुत से विद्वान इन ग्रन्थों को किसी प्रकार की बाध्यकारी शक्ति प्राप्त नही अतः इनका महत्व अधिक नही। पर सर हेनरी मेन ने कहा है कि "लेखकों के पास यद्यपि विचारों को पालन कराने की शक्ति (Sanction) का अभाव है, किन्तु फिर भी वे कानून के पालन के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार करते है। वे राजाओं में तथा विभिन्न समुदायों के शिक्षित वर्गो मे ऐसे भावों का प्रसार करते हैं, जिनके कारण उनमें राज्यों के सम्बन्ध में नियन्त्रित करने वाले कुछ निश्चित नियमों *की उपेक्षा या भंग करने के विरुद्ध प्रबल भावना उत्पन्न हो जाती है।"*

सं० रा० अमेरिका के न्यायाधीश ग्रे (Grey) ने पाक्वेट हवाना (The Pucquate Havana) के मामले मे निर्णय देते हुये लिखा है कि "जहाँ कोई सन्धि न हो, नियन्त्रण करने वाली *शासन सत्ता का आदेश, किसी विधान सभा का कानून या न्यायिक निर्णय न हो वहाँ सभ्य राष्ट्रों* के रिवाज और प्रथाओ का अवलम्बन लेना चाहिये, इनके प्रमाण के रूप में उन विधि शास्त्रियों और भाष्यकारो के ग्रन्थों का सहारा लिया जा सकता है, जिन्होंने वर्षों के परिश्रम, अनुसंधान और अनुभव द्वारा अपने को उन विषयों मे निष्पक्ष बना लिया है जिनका कि वे प्रतिपादन करते हैं। न्यायाधिकरण (Judicial Tribunals) इन ग्रन्थों का सहारा इसलिये नहीं लेते कि उनमें लेखकों ने यह विचार किया है कि कानून कैसा होना चाहिये। किन्तु वे इनका सहारा इसलिये लेते हैं कि ये ग्रन्थ वास्तविक कानून का स्वरूप प्रतिपादन करने वाली विश्वसनीय साक्षी हैं।"

(7) **तर्क शक्ति (Reason)**—प्रो० ब्रियर्ली का तर्क शक्ति पर बहुत बल का आशय सामान्य तर्क से नही बल्कि न्याय सम्बन्धी तर्क से है। वह कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे प्रायः ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होती रहती हैं जिन पर उस समय तक कोई [illegible] कानून का कोई सिद्धान्त लागू नही होता है, तब विधिवेत्ताओं द्वारा तर्क प्रणाली का सहारा [illegible] जाता है और इन प्रश्नो को सुलझाया जाता है। 1910 में सं० रा० अमेरिका एवं [illegible] मध्य एक विवाद उत्पन्न हो गया। इस विवाद का निर्णय देते हुये न्यायालय ने [illegible] यह मान लिया जाय कि इस मामले में कोई सन्धि या अन्तर्राष्ट्रीय कानून का [illegible] नही होता, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि इसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] नहीं है। यह सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कानून के निर्णय [illegible] वाले स्पष्ट नियम न हों, किन्तु विधि शास्त्र का यह कार्य है कि वह

न होने पर भी परस्पर विरोधी अधिकारों और हितों के संघर्ष के समाधान के लिये सामान्य सिद्धान्तो की तर्क पद्धति को लागू करे और समस्या का हल करे विधिशास्त्र की यही पद्धति है।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वर्गीकरण
(Classification of International Law)

(क) अन्तर्राष्ट्रीय विधि को दो भागों में बांटा जा सकता है—

(1) सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Public International Law)

(2) वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Private International Law)

(1) **सार्वजनिक अथवा सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून**—यह कानून दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य सम्बन्धों को स्थापित करता है। इसके अन्तर्गत ऐसे कानून आते हैं जो राष्ट्रों द्वारा मान्य नियम आपस में सम्बन्ध बनाये रखने के लिये प्रयुक्त होता है।

(2) **वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून**—वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय का सम्बन्ध ऐसे विषय से होता है, जो दो या अधिक राज्यों के क्षेत्राधिकार (jurisdiction) में आते हैं। अनेक राज्यों या राष्ट्रों के क्षेत्राधिकार में आने के कारण इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय कहा जाता है परन्तु इनका विशेष सम्बन्ध व्यक्तियों के साथ होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति इग्लैण्ड मे विवाह करने के बाद भारत में और दोनों पति-पत्नी में किसी बात पर झगड़ा हो जाता है या तलाक का प्रश्न आ खड़ा होता है तो भारत के न्यायालयों के सामने यह प्रश्न आ जाता है कि इस मामले में इग्लैण्ड का कानून लागू होना चाहिये या भारत का। इस प्रकार दो देशो के कानूनों के टकराने की समस्या पैदा हो जाती है। डायसी (Disy) ने इसे "कानूनों का संघर्ष" (Conflict of Laws), पिट काब्येट के मतानुसार "वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे नियमों का समूह है जो दीवानी मामलों में किसी देश के एक न्यायालय के सामने आप ऐसे प्रश्न और क्षेत्राधिकार को निश्चित करता है जिसमे एक विदेशी तत्व होता है। इनका सम्बन्ध विदेशी तथा व्यक्तियों से, वस्तुओं से तथा विदेशों में आंशिक अथवा सम्पूर्ण रूप से किये गये व्यापारों (Transaction) से होता है अथवा किसी विदेशी कानून पद्धति से होता है।" व्यक्तिगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि वास्तव में एक प्रकार की राष्ट्रीय विधि (Municipal Law) का अंश है।

वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य दो उद्देश्य होते हैं—

(1) **न्यायालय के अभियोग या वाद (Suit) सुनने का अधिकार रखने की योग्यता (Competency) का निर्णय करना**—वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन शर्तों का प्रतिपादन तथा निर्धारण करता है, जिसके अनुसार किसी मामले मे 'कानून का संघर्ष" उत्पन्न होने पर यह निर्णय किया जाता है कि प्रस्तुत मामला किस देश के न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आना चाहिए। कुछ वर्ष पहले समाचार पत्रों मे यह प्रकाशित हुआ था कि किसी भारतीय व्यक्ति (श्री रिजवी) ने स्विटजरलैण्ड की एक महिला से सं० रा० अमेरिका में विवाह किया, बाद में उस व्यक्ति ने उस महिला को तलाक दे दिया और उस विवाह से उत्पन्न एक लड़की को लेकर भारत चला आया। महिला ने आकर दिल्ली में एक न्यायालय में आवेदन पत्र देकर अपनी लड़की को लेना चाहा। इस मामले मे यह प्रश्न उठा कि इसे सुनने का अधिकार भारत को है, सं० रा० अमेरिका को है या स्विटजरलैण्ड को।

(2) इसका दूसरा उद्देश्य, इस बात का निर्णय देना है कि उक्त मामले मे किस देश का कानून लागू किया जाय। उपर्युक्त उदाहरण से यह भी समस्या उठी कि उक्त मामले में कौन सा प्रमाण माना जाय और यह कैसे निर्णय दिया जाय कि उक्त मामला किस कानून के अन्तर्गत आता है।

(3) इसका तीसरा उद्देश्य यह है ऐसे मामलों में विदेशी न्यायालयों के निर्णय की वैधता का निर्णय करना है। उदाहरण के लिये यदि रिजवी जैसे मामले सं० रा० अमेरिका या स्विटजरलैण्ड के न्यायालयो द्वारा निर्णित हुये हों तो भारतीय न्यायालय को यह पूरा अधिकार है कि वह यह निर्णय दे कि वे निर्णय कहाँ तक वैध है और लागू किये जा सकते हैं।

इन दोनों प्रकार के कानूनो का एक बड़ा भेद है जिसे सर रावर्ट फिलिमोर ने इन शब्दों मे व्यक्त किया है कि "सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से प्राप्त होने वाले अधिकार पूर्ण एव निरपेक्ष होते हैं, यदि इनका भग हो तो यह युद्ध का कारण (Cause) बन सकता है, इन्हें प्राप्त करने के लिये युद्ध छेड़ना उचित समझा जा सकता है किन्तु वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम विभिन्न राज्यों में सम्पर्क बढ़ाने के लिये तथा उन्हें सुविधा देने के लिये होते है अतः यह पूर्ण और निरपेक्ष नही होते। दोनों कानूनों का एक दूसरा भेद यह है कि सार्वजनिक व्यक्तिगत कानून विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय मे होता है अतः उनमे दोनों पक्ष दो राज्य होते हैं। वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे ऐसी स्थिति नही होती। इसमें एक देश के न्यायालय विदेशियों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ मामलों में लागू किये जाने वाले सिद्धान्तों और नियमों का निश्चय करते हैं। वास्तव में इस कानून को अन्तर्राष्ट्रीय कहना भ्रामक है।

(ख) वास्तविक और प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Substantive and Procedural International Law) — वर्गीकरण का दूसरा प्रकार है—वास्तविक (Substantive) तथा प्रक्रियात्मक (Procedural) अन्तर्राष्ट्रीय कानून। देश की स्वतन्त्रता से तथा किसी प्रदेश के स्वामित्व से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का कानून वास्तविक (substantive) कहलाता है। उन अधिकारो की रक्षा जो वास्तविक है, इस कानून द्वारा होती है। इन अधिकारों की रक्षा करने की विधियाँ तथा अधिकारो का हनन होने पर प्रतिकार के उपाय प्रक्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत आते हैं।

(ग) युद्ध और शान्ति के नियम (De jure Bell ac Pacis)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का तीसरा वर्गीकरण युद्ध और शान्ति के नियमों का है। ग्रोशियस जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्मदाता कहलाता है, अपनी पुस्तक "युद्ध और शान्ति" (De jure Belli ac Pacis) में, युद्ध और शान्ति के नियमों की विशद् व्याख्या की है। पहले युद्ध के नियमों पर बड़ा जोर दिया जाता था पर अब शान्ति के नियमों पर अधिक बल दिया जाता। इनका विशद् वर्णन अगले अध्याय मे किया जायगा।

(घ) विभिन्न नियम (विशेष, सामान्य एवं सार्वभौम) (Different laws–Particular, General and Universal)—यह चौथा वर्गीकरण कहलाता है जिसमे विशेष, सामान्य और सार्वभौम नियम आते हैं। 1817 में सं० रा० अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन में रश-बेगोट (Rush-Bagot) समझौता हुआ, इसके अनुसार दोनों देशों ने यह निश्चय किया कि वे महा झीलों (Great lakes) के प्रदेश में कोई सेना नहीं रखेंगे। यह विशेष अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Particular International Law) था। दो देशों में होने वाली सधियाँ इसी वर्ग में आती हैं। सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध ऐसी सधियों से सम्बन्धित है जो महाशक्तियो के मध्य होती हैं और जिन्हे अधिकाश देश स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरणार्थ 1928 ई० के कैलांग ब्रिया पैक्ट को 63 राज्यो ने स्वीकार कर लिया था सं० रा० संघ के चार्टर को 131 राष्ट्रो ने स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार के नियम सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत आते हैं। तीसरा वर्ग सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का है। ये कानून सभी राष्ट्रों द्वारा मान्य होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून जो परम्परागत (Customary) होते हैं वे सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून होते हैं। जैसे राजदूतों के विशेषाधिकार, तीन मील के

समुद्रों को तटवर्ती राज्य की सीमा में मानना, महासमुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of the High seas)।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संहिताकरण
(Codidication of International Law)

संहिताकरण के अर्थ (Meaning of codification)—किसी भी विषय के नियमों को "सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और सुस्पष्ट रूप से संग्रहित करने की क्रिया को" संहिताकरण कहा जाता है। एम० पी० टण्डन के शब्दों में "संहिता विधि की सविधि का एकीकरण है, अथवा एक विषय से सम्बन्धित समस्त विधियों का संग्रह मात्र है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है। जिसके द्वारा नैतिक नियम या न्यायालयों के निर्णय से उत्पन्न होने वाले नियम स्वतः अथवा अपरिवर्तनीय रूप से लेखबद्ध नियमों एवं प्रतिज्ञाओं में बदल जाते हैं।"

राजकीय, सामाजिक अथवा व्यक्तिगत प्रक्रियायें जब किसी वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा नियमबद्ध नहीं की जातीं तब तक वे केवल नियम रहते हैं। वैधानिक निर्णयों की शक्ति लेकर वे संहिता (Code) का रूप धारण कर लेते हैं। विशेष प्रकार के स्थिर नियमों का संकलन और एकत्रीकरण ही संहिताकरण है।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के एकीकरण अथवा संकलन में कोई विशेष अन्तर नहीं। एम० पी० टण्डन ने संहिताकरण की परिभाषा करते हुये कहा है कि "इसकी प्राप्ति सामान्य अभिसमय (Convention), न्यायाधीशों के निर्णयों एवं संधियों आदि से होती है। यह परस्पर विरोधी मतों के तालमेल बैठाने का प्रयत्न करते हैं तथा राज्यों के मध्य झगड़ों के उपायों को निकालने का प्रयत्न करते हैं।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के रूप (Forms of Codification of International Law)—बूलजे ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दो भाग बताये है—(1) "विधि की वैज्ञानिक निश्चयात्मकता (The scientific determination of Law), तथा (2) विधि की सार्वभौमिक स्वेच्छा की प्राप्ति" (The achievement of the universal acception of the Law)।

संहिताकरण के मुख्य रूप फेनविक (Fenwick) के अनुसार तीन हैं—

(1) "राज्यों को एक क्रमबद्ध रूप देने के लिये, राज्यों के मध्य कुछ वैधानिक नियमों की स्थापना।"

(2) "शान्तिपूर्ण नियमों का संग्रह।"

(3) "वर्तमान सम्पूर्ण नियमों का नवीन सिद्धान्तों के आधार पर पुनर्निर्माण एवं आचरण के कुछ आदर्श मापदण्डों का निर्धारण।"[1]

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून अनेक अंशों में बड़ा ही दोषपूर्ण है अतः इसका संहिताकरण करना बड़ा कठिन है। ऐसे नियम बनाना जो स्थिर रूप से बने रहे और भविष्य में राज्यों के सम्बन्धों में प्रयुक्त होते रहे, बड़ा कठिन है। न्यायाधीशों को नवीन परिस्थितियों के उपस्थित होने पर नये ढंग से उसकी व्याख्या करने से रोकना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में बाधा पहुँचाना है।

---

[1] According to Fenwick there are three *forms* of International Laws—
(1) "An attempt to state *in systematic form* the *rules* actually in force between the states.
(2) The compilation of the *rules in* force.
(3) The complete reconstruction of the whole system of existing law passed upon new principles and confirming to ideal standard of conduct."

संहिताकरण के लाभ (Advantages of Codification)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के निम्नलिखित लाभ है—

(1) सहिताकरण का लाभ यह है कि विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की जटिलता दूर करके उनमें एकरूपता एवं सरलता उत्पन्न करके उन्हें एक पुस्तक का रूप दे दिया जावेगा। विभिन्न राज्यों के पारस्परिक विरोधी विचारों का समाधान करके उन राज्यों की विधि के अधिकार क्षेत्र में ले लिया जायगा। राज्यो में प्रचलित विभिन्न नियमों की विषमताओं को कम करके उन्हें एक दूसरे के समीप ले आया जायगा।

(2) समस्त अन्तर्राष्ट्रीय नियमो के एकत्रीकरण से यह लाभ हो जायगा कि कोई भी व्यक्ति समस्त नियमों को एक स्थान पर पाकर उनका अध्ययन करने मे सुगमता पा जायगा और ज्ञान प्राप्त कर लेगा कि विशेष विषय मे कौन-सा अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू हो सकता है।

(3) सहिताकरण से न्यायाधीशो को भी लाभ होगा कि अपने निर्णयो पूर्व इन समस्त नियमो का अवलोकन आसानी से कर सकेंगे। संहिताकरण मे नियमों की व्याख्या भी होगी जिससे उनके गुण-दोषों का भी ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

(4) रूढ़ियों एव रीति-रिवाजों तथा सामाजिक प्रचलनों के रहते अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास की गति मन्द रहती है। सभ्यता का ज्यों-ज्यों विकास हो रहा है, त्यों-त्यों नवीन हितो मे वृद्धि होती जाती है। दिन-प्रतिदिन विज्ञान के आविष्कारों की भरमार होती है इन सबका निश्चित परिणाम यह हो रहा है कि वर्तमान समाज विघटन की ओर उन्मुख होता जा रहा है। सामाजिक वातावरण के परिवर्तन की गति तीव्रतर होती जाती है। परिणामस्वरूप प्रथाओं पर आधारित विधि *बदलते हुए वातावरण का साथ नहीं दे पाती है। सहिताकरण इन समस्याओ का समाधान करेगी* और विकास के मार्ग मे आने वाली बाधाओं को दूर करेगी।

(5) विधियों के सम्बन्ध मे उत्पन्न होने वाले मत-भेदों का अन्त स्वयं हो जायेगा यदि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का सहिताकरण हो जाता है।

(6) संहिताकरण अन्तर्राष्ट्रीय विधि की प्रामाणिकता, एकरूपता एवं स्पष्टता को बढ़ाता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय विधि की लोकप्रियता बढ़ती है और राज्यों में उसका सम्मान भी बढ़ता है।

संहिताकरण के दोष (Demerits of Codification)—यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहिताकरण से राज्य-समाज को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं, फिर भी संहिताकरण में दोषो की कमी नही है जिनके कारण अभी तक इसका सन्तोषजनक सहिताकरण नहीं हो पाया है। इस संहिताकरण के दोष निम्नलिखित हैं—

(1) प्रथम दोष इसका यह है कि इससे स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती है। संहिता के सुनिश्चित नियमों से अन्तर्राष्ट्रीय नियम जड़ होकर रह गये हैं। कार्डोजो के मतानुसार "यात्रा के अनुसार विधि को भी कल की यात्रा के लिए तत्पर रहना चाहिए। इसमें विकास का सिद्धान्त विद्यमान रहना चाहिए।" संहिताकरण से अन्तर्राष्ट्रीय नियमो के विकास में बाधा पड़ेगी, इसमें लचीलापन कम हो जायगा, समाज की परिवर्तनशीलता तथा प्रगतिशीलता के अनुसार, इनमें परिवर्तनशीलता नही रहेगी और न इसमें संशोधन की सुविधा रहेगी तथा इसे समयानुकूल बनाने की आवश्यकता में कमी रह जायगी।

(2) सहिताकरण का एक दोष यह भी है कि इससे अनेक कानूनी विचार उठ खड़े होते है। सहिताकरण से यह अर्थ लगाया जाता है कि इसे कठोर बनाया जाय एवं इसका पालन अनिवार्य कर दिया जाये। राष्ट्रों की सम्प्रभुता इस अनिवार्यता को सहन नहीं कर सकती है। 1930 मे राष्ट्र संघ ने यह प्रयत्न किया कि कुछ विषयों पर सर्वसम्मति से नियमों को संहिताबद्ध किया जाय

पर यह प्रयत्न असफल हो गया। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1960 में प्रादेशिक समुद्रों की सीमा के विषय में सुनिश्चित नियम बनाने चाहे और एक सम्मेलन में उनके लिए सभी राज्यों की सहमति माँगी पर सम्मेलन सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचाने से पहले ही भंग हो गया।

(3) चौथा दोष इसमें यह है कि राष्ट्र यह अनुमान लगाते हैं कि संहिताकरण होने पर उनकी सम्प्रभुता समाप्त हो जायगी। यह सत्य है कि राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से मिलकर सन्धियाँ करते हैं पर उन्हें संहिताबद्ध करके अपने हाथ कटाना नहीं चाहते हैं। राष्ट्र सन्धियों को मान्यता देते हैं पर वे ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं करते कि प्रत्येक दशा में वे इन सन्धियों की शर्तों को मानेंगे। इस प्रकार बदलती परिस्थितियों के लिए वे अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखना चाहते हैं। इस धारणा के बहते रहते हुए संहिताकरण का प्रयास सफल होने का सदैव खतरा बना रहेगा।

(4) एक दोष इस संहिताकरण में यह है कि आमतौर से जब नवीन सन्धि होती है तो पुरानी सन्धि स्वयं समाप्त हो जाती है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है।

संहिताकरण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Codification)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ विषय इतने अधिक विवादास्पद हैं कि उनके विषय से सर्वसम्मत निर्णय करना बड़ा कठिन होता है। अतः इनके संहिताकरण में निम्नलिखित कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं—

(1) सर्वप्रथम कठिनाई जो संहिताकरण में आती हैं वह यह है कि विभिन्न विरोधी धाराओं में सामंजस्य उत्पन्न करना बड़ा कठिन होता है। किसी विषय पर सर्वसम्मति प्राप्त होना बड़ा ही कठिन होता है।

(2) राज्यों की सम्प्रभुता भी संहिताकरण में बड़ी भारी बाधा है। प्रत्येक राज्य अपनी स्वार्थमय दृष्टि से ही विचार करता है और किसी नियम को स्थायी बनाने के मार्ग में विभिन्न राष्ट्रों के स्वार्थों में टकराव होना स्वाभाविक होता है। प्रत्येक राष्ट्र यही कहता है कि उसका मत सही है और उसे त्यागने के लिए वह तैयार नहीं होता है। यही कारण है कि अब तक अधिकांश प्रयत्न संहिताकरण असफल हो चुके हैं।

(3) सबसे अधिक कठिन प्रश्न संहिता के निर्माण का है। किसी भी सम्मेलन में राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का जमाव होता है। इन प्रतिनिधियों द्वारा किये गये निर्णय, सभी राज्य-सरकारों को मान्य हों, यह कहना असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य है। राष्ट्रसंघ एवं वर्साय सन्धि का उदाहरण हमारे सामने है। राष्ट्रपति विल्सन ने यद्यपि वर्साय सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये थे पर अमेरिकन सीनेट ने उसकी पुष्टि नहीं की अतः विल्सन का प्रयत्न असफल रहा।

(4) यदि सम्मेलन में राजनीति या राजनयिक प्रतिनिधियों के स्थान पर राज्यों के सर्वमान्य विधि शास्त्रियों को एकत्र किया जाय, तो भी यह आवश्यक नहीं कि राज्य सरकारें अपने राजनीतिक स्वार्थों को तिलांजलि देकर उनके निर्णयों को मान ही लें। विरोधी विचारधारा रखने वाले राष्ट्र किसी विषय पर सहमत नहीं दीखते उदाहरण के लिए निःशस्त्रीकरण पर रखे गये रूस के सुझावों को अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रों ने स्वीकार करने से इन्कार कर दिया इसी प्रकार अमेरिका द्वारा रखे प्रस्ताव रूस द्वारा अमान्य कर दिये गये।

इतना होते हुए भी संहिताकरण के लाभों का पलड़ा भारी ही रहता है, अतः कठिनाइयों के रहते हुए भी, विश्व का कल्याण चाहने वाले राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें लगातार इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

संहिताकरण का संक्षिप्त इतिहास (Short History of Codification)—संहिताकरण का संक्षिप्त इतिहास के काल क्रमानुसार 4 भागों में बाँटा जा सकता है जो इस प्रकार से हैं—

(1) हेग सम्मेलन से पूर्व (Before Hague Conferences)—18वी शताब्दी में संहिताकरण का पहला प्रयास ब्रिटिश विधिशास्त्री बेंथम ने किया। उसने अन्तर्राष्ट्रीय सद्‌भावना, शान्ति और भाई-चारा फैलाने के विचार से कानूनों को क्रमबद्ध रूप देना चाहा। इसके बाद फ्रेन्च क्रान्ति के बाद 1792 मे राष्ट्रीय सम्मेलन (National Convention) में राष्ट्रों के अधिकारों का घोषणा-पत्र तैयार करने का निश्चय किया गया। यह कार्य सम्मेलन में अबे ग्रिगोर (Abbe Gregore) को सौंपा गया। ग्रिगोर ने एक प्रारूप (Draft) जिसमें 21 धारायें थीं, तैयार किया। 1795 में राष्ट्रीय सम्मेलन ने इसे रद्द कर दिया। यह असफल होने पर भी संहिताकरण के इतिहास का प्रथम चरण था।

दूसरा प्रयत्न 1856 मे किया गया। पेरिस का घोषणा-पत्र (Declaration of Paris) संहिताकरण का सफल प्रयत्न था। इस घोषणा पत्र पर रूस, तुर्की, फ्रांस, एशिया, ब्रिटेन एवं सार्डीनिया के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये। इस घोषणा-पत्र में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के 4 सिद्धान्तों की घोषणा की गई जो निम्न प्रकार थे—

(1) युद्धरत राष्ट्र वैयक्तिक स्वामित्व रखने वाले निजी युद्ध पोतों को शत्रु पर आक्रमण करने के लिए प्रयोग मे लाते थे। इस प्रथा का अन्त कर दिया गया।

(2) तटस्थ देशों के जहाज निषिद्ध युद्ध सामग्री (Contraband War-Material) नही ढो सकेंगे। शत्रु को अन्य माल वे ढो सकते थे। उन जहाजों पर तटस्थ देश का ध्वज होना अनिवार्य था।

(3) शत्रु के जहाज अर्थात् जिन पर शत्रु देश का ध्वज लहराता हो वह तटस्थ देशों का विनिषिद सामग्री के अलावा सामान ले जा सकता है। इस जहाज को लूटा नही जा सकेगा।

(4) घेराबन्दी (Blockade) के वास्तविक होने के लिए उसका प्रभावशाली होना आवश्यक है।

19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के संहिताकरण के अनेक प्रयत्न हुए। इनमें अग्रलिखित उल्लेखनीय हैं—

(i) 1861 में आस्ट्रिया के आलफॉस वॉं दो मेन की रचना।
(ii) 1862 में अमरीकी विधि शास्त्री फ्रासिस लीवर का कोड।
(iii) 1572 में डेविड इटली का कोड।
(iv) 1864 की जेनेवा कन्वेंशन।
(v) 1873 मे घेंट में अन्तर्राष्ट्रीय विधि संस्थान की स्थापना।
(vi) 1890 में पेक्वेल फियोरी द्वारा प्रकाशित कोड।

(2) हेग सम्मेलन 1899 एवं 1907 (Hague Conferences 1899-1907)—रूस के जार निकोलस द्वितीय (Nicolos II) की प्रेरणा से हेग का पहला शान्ति सम्मेलन बुलाया गया। इसमे 26 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। इसमें जेनेवा के जल युद्धों के बनाये अभिसमय को मान लिया गया। इसके अतिरिक्त इस सम्मेलन में दो महत्त्वपूर्ण विषयों पर अभिसमय (Conventions) तैयार किये गये—(1) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए समितमय। (2) स्थल युद्धों के कानून और रिवाजों का अभिसमय। पहले अभिसमय के परिणामस्वरूप हेग में "पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना हुई। यह हेग सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के इतिहास में बड़ा महत्व रखता है।

हेग का दूसरा सम्मेलन 1907 मे हुआ इसने 13 प्रसिद्ध अभिसमय द्वारा नियम बनाये गये। ये विषय थे—युद्ध छेड़ना, युद्ध छेड़ने के समय व्यापारी जहाजों का युद्ध रणपोतों में बदलना

स्थलीय एवं समुद्री युद्ध में तटस्थता के नियम, युद्ध छेड़ने के समय शत्रु के व्यापारी जहाजों का दर्जा, नौसेनाओं की गोलाबारी, पनडुब्बियों के संसर्ग में आने से स्वयं विस्फोट करने। इसमें कुछ अभिसमय पिछले सम्मेलन के थे। 44 राज्यों ने इस सम्मेलन में भाग लिया था।

1909 में लन्दन में समुद्री युद्ध के नियम बनाने के सम्बन्ध में महाशक्तियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें विनिषिद्ध वस्तुओं की सूची तैयार करने का प्रयास किया गया। इसके निर्णय लन्दन घोषणा में प्रकाशित किये गये।

(3) राष्ट्रसंघ ने प्रयत्न (Efforts of League of Nations)—प्रथम विश्व युद्ध के बाद पेरिस में शान्ति सम्मेलन हुआ। वर्साय सन्धि के अनुसार 1920 में राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने अनेक विषयों के कानून बनाने के साथ-साथ विधि के संहिताकरण का भी प्रयास किया। 1924 मे राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा पारित प्रस्ताव के आधार पर संघ की परिषद ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संहिता बनाने के योग्य विषयो को चुनने के लिये विशेषज्ञों की एक समिति बनाई। इस समिति ने संहिताकरण के लिये उपयुक्त सात विषय चुने और 1927 मे अपनी रिपोर्ट संघ की परिषद के सामने प्रस्तुत कर दी। ये सात विषय थे—(1) राष्ट्रीयता, (2) प्रादेशिक समुद्र, (3) अपने देश में हुई विदेशियों की शारीरिक क्षति व सम्पत्ति की हानि के लिए राज्य का उत्तरदायित्व, (4) दूतों के विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ, (5) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन तथा सन्धियों के करने तथा उनका प्रारूप तैयार करने की विधियाँ, (6) समुद्री डकैती (Piracy) (7) समुद्री वस्तुओं का उपयोग (exploitation of the products of sea)।

राष्ट्र संघ की महासभा ने अपने 1927 के अधिवेशन में निश्चय किया कि विशेषज्ञों की समिति की रिपोर्ट मे दिये गये प्रथम तीन विषयों के संहिताकरण के लिए हेग सम्मेलन बुलाया जाय। उसके निर्णय के अनुसार 12 अप्रैल 1930 तक सम्मेलन चला। (एक माह तक) इस सम्मेलन ने तीन विषयों के लिए 3 समितियों का गठन किया। प्रथम समिति के तैयार किये समझौते इस सम्मेलन मे स्वीकार कर लिये। ये इस प्रकार थे—(क) राष्ट्रीयता-कानून के संघर्ष के सम्बन्ध में समझौता, (ख) दोहरी राष्ट्रीयता (Double Nationality) होने पर सैनिक दायित्वों के सम्बन्ध मे समझौता, (ग) राज्यहीनता (Statelessness) के सम्बन्ध में समझौता। इन समझौतो को कुछ राज्यो ने अनुसमर्थन किया। शेष दो विषयो—प्रादेशिक समुद्रों तथा विदेशियों की शारीरिक सम्पत्ति क्षति के सम्बन्ध मे राज्य उत्तरदायित्व के प्रश्न पर सम्मेलन में इतना मत-भेद था कि इन पर कोई भी समझौता न हो सका।

1930 के हेग सम्मेलन से बड़ी-बड़ी आशाएँ लगायी गयी थीं पर राज्यों में इतने उग्र मत-भेद खड़े हो गये कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं प्रतीत हुआ। राष्ट्रो के उग्र भेदो के कारण संहिताकरण के प्रयास में प्रगति के बजाय ह्रास होता दिखायी दिया। ऐसे भी अनेक विषय थे जिन पर पहले सर्वसम्मति मिल चुकी थी पर वाद-विवाद में उन पर भी मत-भेद हो गया। संहिताकरण का एक उद्देश्य था कि कानून में एक सम्यता लाना आवश्यक है, पर राज्यों के स्वार्थों ने यह सिद्ध कर दिया कि विभिन्न पद्धतियाँ उस उद्देश्य में बहुत बाधक हैं। मत-भेद रहित विषयों के कारण के लिए भी दीर्घकालीन तैयारी और विचार-विमर्श की आवश्यकता है।

राष्ट्र संघ के कार्यकाल में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कुछ महत्त्वपूर्ण नियमों का अवश्य निर्माण हुआ। 1919 की वर्साय संधि की 171 की धारा के अनुसार विषैली, दम घोंटने वाली गैसों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। 1921-22 के वाशिंगटन सम्मेलन में शस्त्रास्त्रों को मर्यादित करने के विषय मे एक समझौता हुआ। पनडुब्बियों की लड़ाई तथा विषैली गैसों को वर्जित करने के नियम बनाये गये। 1923 मे विधिशास्त्रियों के एक आयोग ने हवाई युद्ध के कुछ

नियम बनाये। 1925 में राष्ट्र संघ के द्वारा बुलाये एक सम्मेलन ने विषैली गैसों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाये। 1925 में युद्ध-क्षेत्र में आहतों और रोगियों के विषय तथा युद्ध बन्दियों के सम्बन्ध में पिछले समझौतो ने समयानुकूल संशोधन किये। 1924 में सं० रा० अमेरिका की संस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण का कार्य एक अमेरिकी सम्मेलन को सौंपा। 1928 तक इस सम्मेलन ने निम्न विषयों पर 7 अभिसमय स्वीकार किये—विदेशियों का दर्जा, गृह युद्ध के समय तटस्थ देशों के कर्तव्य, दूत कार्य करने वाले अधिकारी, वाणिज्य दूत, समुद्री तटस्थता शरण (Asylum) देने के नियम। 1939 में अन्तर अमेरिकी तटस्थता समिति को तटस्थता के नियमों की व्यापक और विस्तृत संहिता बनाने का कार्य सौंपा गया।

(4) **संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा संहिताकरण का कार्य** (U. N. O. and Codification)—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की 1942 में स्थापना हुई। सं० रा० संघ का एक चार्टर बना। उसकी 13वीं धारा में यह कहा गया कि "जनरल असेम्बली नीचे लिखी बातों के अध्ययन की व्यवस्था करेगी और उन पर अपनी सिफारिशें देगी—

राजनीतिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रगतिशील विकास तथा उसके संहिताकरण को प्रोत्साहन देना।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1947 मे जनरल असेम्बली में एक प्रस्ताव पारित हुआ तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग की स्थापना हुई। प्रारम्भ में इसके सदस्य 15 थे बाद में उनकी संख्या बढ़ाकर 21 कर दी गयी। इसने बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग और उसके कार्य
(International Commission and Its Work)

अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना—इसकी स्थापना 1947 ई० मे हुई। इसके सदस्य 21 होते है। ये सदस्य विभिन्न राज्यों के ख्याति प्राप्त विधिवेत्ता होते हैं। एक राज्य का एक से अधिक सदस्य इसमें नहीं रखा जा सकता है। प्रत्येक राज्य-सदस्य प्रतिनिधियों को सं० रा० संघ को भेज देता है, महासभा उनमे से ही एक-एक सदस्य चुन लेती है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक देश को आयोग में प्रतिनिधित्व मिले। यह सदस्य 3 वर्ष के लिए चुने जाते हैं। जब इस आयोग की समिति मे किसी विषय का संहिताकरण आवश्यक होता है तो यह इस विषय में अपनी सिफारिशें सामान्य सभा (General Assembly) में भेजता है। ये सिफारिशें धाराओं के रूप में भेजी जाती हैं और उनके साथ टीका के रूप में, इनको पुष्ट करने वाले पूर्वोदाहरणों, संधियों, न्यायाधीशों के निर्णयों का तथा इस विषय में विद्यमान सभी मत-भेदो तथा विभिन्नताओं का उल्लेख करता है। इसका एक कार्य यह भी है कि वह आचारिक (customary) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रतिपादन करने वाली सामग्री का संकलन और प्रकाशन करे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के उद्देश्य—1948 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का विधान बना। उसमें उसके उद्देश्यों का उल्लेख है। इसमे मुख्य उद्देश्य दो बताये गये हैं—अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास करना तथा उसका संहिताकरण करना—

(1) प्रथम उद्देश्य का यह अभिप्राय है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उन विषयों पर नियमों की प्रारम्भिक रूपरेखा और अभिसमय (Draft Convention) तैयार करे जिन विषयों का नियमन एवं नियन्त्रण अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा नहीं होता था जिनके सम्बन्ध मे अभी तक विभिन्न राज्य के व्यवहार में आने वाला कानून अच्छी तरह विकसित नहीं हुआ।"

(2) दूसरे उद्देश्य का तात्पर्य है कि ऐसे क्षेत्रो में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमो का अधिक शुद्धता के साथ निर्माण करना तथा व्यवस्था करना है जिन क्षेत्रों में राज्यों का विस्तृत

व्यवहार (Extensive State Practice), पूर्वोदाहरण (Precedent) और सिद्धान्त पहले से ही विद्यमान है।"

विधि आयोग का कार्य इन दोनों उद्देश्यों को पूर्ण करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय आयोग का कार्य—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। सन् 1949 से विधि आयोग ने 14 विषयों को संहिताकरण के लिए चुना। ये 14 विषय निम्न प्रकार के हैं—

(1) राज्यों की मान्यता (Recognition of State),

(2) राज्यों तथा सरकार का उत्तराधिकार (Succession of State and Government),

(3) राज्य तथा उनकी सम्पत्ति को क्षेत्राधिकार विषयक उन्मुक्तियाँ (Jurisdiction Immunities of States and their property),

(4) राष्ट्रीय प्रदेश से बाहर किये गये अपराधों का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction with Regard to crimes Committed outside national territory),

(5) महासमुद्रों का क्षेत्र (Regime of high seas),

(6) प्रादेशिक समुद्रों का क्षेत्र (Regime of territorial waters),

(7) राष्ट्रीयता (Nationality),

(8) विदेशियों के व्यवहार (Treatment of aliens),

(9) आश्रय का अधिकार (Right of asylum),

(10) संधियों की विधि (Law of treaties),

(11) राजनयिक सम्बन्ध और उन्मुक्तियाँ (Diplomatic relations and Immunities),

(12) राज्यों का उत्तरदायित्व (States Responsibilities),

(13) राजपुरुषों के सम्पर्क और उन्मुक्तियाँ (Consular Intercourse and Immunities),

(14) पंच निर्णय की विधि (Arbitral Procedure)।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने उपर्युक्त विषयों में से प्रथम संधियों के कानून, पंच निर्णय की प्रक्रिया, महासमुद्रों के क्षेत्रों को चुना पर सामान्य सभा ने इन विषयों में 2 विषयों—प्रादेशिक समुद्रों के क्षेत्र तथा राजनयिक सम्बन्ध एवं उन्मुक्तियों को और जोड़ने को कहा। इनके अतिरिक्त सामान्य सभा ने दो और विषयों—आश्रय के अधिकार के कानून बनाने की भी सिफारिश की। ब्रियर्ली का मत है कि अब तक आयोग उपर्युक्त 1 में से 9 विषयों पर कानून बन चुका है। संघ की महासभा ने उपर्युक्त 14 विषयों के अतिरिक्त राज्यों के अधिकार एवं कर्त्तव्यों से सम्बन्धित घोषणा, आक्रान्ता की परिभाषा, अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का क्षेत्राधिकार, मानवता की शान्ति तथा सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की संहिता (Code) को स्वरूप देना, न्यूरेम्बर्ग चार्टर के सिद्धान्तों की रचना आदि अनेक प्रमुख विषयों को सौंपा।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को महासमुद्रों एवं प्रादेशिक समुद्रों से सम्बन्धित नियमों की रचना में विशेष सफलता प्राप्त हुई। 1960 एवं 1962 के जेनेवा सम्मेलनों ने इन नियमों को मान्यता प्रदान की। 1961 के वियना सम्मेलन में एक प्रारूप अभिसमय, जो कूटनीतिक सम्बन्धों और उन्मुक्तियों से सम्बन्धित था, को स्वीकार किया गया।

प्रो० ब्रियर्ली के मतानुसार "विधि आयोग की कितनी ही आलोचना की जाय किन्तु निःसन्देह इस आयोग से आशा की जाती है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरोधी नियमों में

सामंजस्य स्थापित करेगा तथा अब तक विकसित हुये, नवीन अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिये आवश्यक विधि की सुदृढ़ नींव तैयार करेगा।"

इस प्रकार अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुये भी विधि आयोग ने अनेक प्रशंसनीय कार्य किये। आयोग द्वारा किये गये कार्यों में निम्नलिखित कार्य प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—

(अ) राज्यों के अधिकार एवं कर्त्तव्यों के प्रारूप की घोषणा—विधि आयोग ने राज्य के चार अधिकारों का विशेष रूप से उल्लेख किया है—स्वतन्त्रता का अधिकार, राज्य के प्रदेश पर क्षेत्राधिकार, समानता का अधिकार तथा सशस्त्र आक्रमण के विरोध के लिये व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से आत्म-रक्षा का अधिकार। उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त राज्य के कर्त्तव्यों का भी आयोग ने उल्लेख किया जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(i) अहस्तक्षेप (ii) दूसरे राज्य में गृहयुद्ध को प्रोत्साहन न देना। (iii) अपने राज्य में ऐसी स्थिति न उत्पन्न करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था को हानि पहुँचे (iv) युद्ध के मार्ग का अवलम्बन न करना (v) किसी दूसरे राज्य की प्रादेशिक अखण्डता या राजनैतिक स्वतन्त्रता को खतरे में डाला जाये (vi) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत नियमों का पालन (vii) विवादों का शान्तिपूर्ण उपायों से समाधान अपने क्षेत्राधिकार में विद्यमान सभी व्यक्तियों के साथ मानवीय अधिकार और मौलिक स्वतन्त्रतायें प्रदान करने वाला व्यवहार इसमें जाति धर्म, भाषा आदि का कोई भेद-भाव न रखते हुये सबके साथ समान बर्ताव होना चाहिये।

(ब) न्यूरेम्बर्ग सिद्धान्तों की रचना—द्वितीय विश्व युद्ध छेड़ने की जिम्मेदारी जर्मनी एवं जापान पर डाली गई, विशेषकर इन देशों के सेनापतियों एवं उच्च अधिकारियों पर। यह कार्य सर्वथा नया और अनोखा था। चूंकि मित्र राष्ट्र विजयी थे और शक्तिशाली थे अतः पराजित राष्ट्रों से बदला लेने के लिये उन्होंने ऐसा निर्णय किया। न्यूरेम्बर्ग मे जर्मनी के अधिकारियों पर 1947 में मुकदमा चलाया गया। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने जुलाई 1950 में न्यूरेम्बर्ग में चलाये गये अभियोगों तथा चार्टर में स्वीकार किये गये, युद्धापराधों के सिद्धान्त निश्चित किये गये। ये सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति फिर चाहे वह कोई भी हो, दण्ड से नहीं बच सकता है।

(ii) ऐसे व्यक्ति की रक्षा राष्ट्रीय कानून भी नही कर सकता। यदि कोई राष्ट्र किसी अन्तर्राष्ट्रीय अपराध के लिये दण्ड व्यवस्था नही करता है तो अन्तर्राष्ट्रीय अपराध करने वाला व्यक्ति इस बहाने अपनी रक्षा नही कर सकता कि उसके राष्ट्र कानून उसे निर्दोष बताते हैं। राज्यों एवं सरकारों के अध्यक्ष प्रायः सरकारी कार्यों की जिम्मेदारी से मुक्त होते हैं, वे न्यायालय के क्षेत्राधिकार से भी मुक्त होते हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अपराध करने वाले व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय यह समझकर मुक्त नहीं करता है कि वह किसी राज्य या शासन का अध्यक्ष है। (iv) कोई भी अधिकारी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करके दण्ड से नहीं बच सकता है चाहे वह यह बहाना बनाये कि उसने ऐसा कार्य राज्य के निर्देशानुसार किया है। (v) अन्तर्राष्ट्रीय कानून यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय अपराधी अपने आरोप के विरुद्ध किसी कानून एवं तथ्यों के आधार पर अपनी रक्षा कर सके। (vi) अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से जिस व्यक्ति पर आरोप लगाया जाता है, उसके विरुद्ध अग्रलिखित अपराध सिद्ध होने पर ही दण्डनीय कार्यवाही की जा सकती है—(क) शान्ति के विरुद्ध लगाया गया आरोप (ख) युद्धापराध (ग) मानवता के विरुद्ध अपराध, तथा (vii) उपर्युक्त अपराधों में सहयोग देना भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में अपराध ही है।

(ग) मानव जाति की शान्ति और सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की प्रारूप संहिता—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अपनी तीसरी बैठक में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को संकट में डालने वाले अपराधों का स्वरूप निर्धारण करने वाली संहिता का प्रारम्भिक रूप बनाया। इसमें निम्नलिखित अपराध आते हैं—

(i) आक्रमण (Aggression) का कोई कार्य। आक्रमण की परिभाषा यह है कि राष्ट्रीय या सामूहिक आत्म रक्षा के उद्देश्य के अतिरिक्त अथवा सं० रा० संघ के किसी अंग के आदेश के पालन करने के अभाव में दूसरे राज्य के विरुद्ध सेना का प्रयोग (ii) आक्रमण की धमकी देना (iii) आक्रमण के लिये सेना भेजने की तैयारी करना (iv) किसी दूसरे राज्य में गृह युद्ध को प्रोत्साहन देना, (v) जाति वध (Genocide) (vi) अवैध उपायों द्वारा दूसरे राज्य के प्रदेश को अपने राज्य का अंग बनाना।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय—1950 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी अपराधों के विचार के लिये एक न्यायालय की स्थापना पर विचार किया। इसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से उसे स्वतन्त्र रखने का सुझाव दिया। 1951 में महासभा ने इस न्यायालय की स्थापना के लिये एक समिति स्थापित की जिसने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशें कीं :

(i) इसे महासभा द्वारा नहीं वरन् समझौते द्वारा बनाया जाय (ii) यह किसी विशेष उद्देश्य के लिये 'एडहाक' (Adhoc) न रखकर स्थायी रूप देना चाहिये (iii) फौजदारी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिये 9 जज 9 वर्ष के लिये चुने जायें जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ हों और जिनकी नियुक्ति महासभा द्वारा हो। इस न्यायालय की स्थापना होनी थी। 1953 के संशोधन नियमों के अनुसार यह न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी अपराध करने वाले मुकदमों को सुन सकता है चाहे वे किसी राज्य के अध्यक्ष ही क्यों न हों।

(ध) अन्य कार्य—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग ने अन्य कई अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर भी नियम बनाये हैं। संधियों आदि के नियमों पर उसने बहुत ध्यान दिया है। संधियों की तैयारी, स्वीकृति, सन्तुष्टि आदि के अनेक कानूनों का निर्माण किया है। जहाजों की राष्ट्रीयता, समुद्र के जीवन की सुरक्षा, रणपोतों, समुद्री डकैती तथा दास व्यापार करने वाले जहाजों को पकड़ने के अधिकार आदि पर भी नियम बनाये। समुद्र के गर्भ में बिछाये जाने वाले तारों के विषय में भी नियम बनाये गये।

इन नियमों पर राज्यों की सम्मति आने पर आयोग ने अपनी पाँचवी बैठक में महाद्वीपीय समुद्रतल (Continental Shelf) महासमुद्रों में मछली पकड़ने एवं उनके संरक्षण, संस्पर्शी क्षेत्रों (Contiguous Zones) पर नियमों का अन्तिम प्रारूप (Final Draft) तैयार किया। सामान्य सभा ने आयोग को महा समुद्रों (High seas) तथा प्रादेशिक समुद्रों (Territorial Water) तथा इनसे सम्बद्ध सभी विषयों पर नियम बनाने का कार्य 1956 तक पूरा करने को कहा। 1958 तथा 1960 के जेनेवा सम्मेलनों द्वारा इन विषयों पर विधि आयोग द्वारा तैयार किये गये नियमों पर विचार हुआ तथा इस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौते किये गये। 1961 में वियना सम्मेलनों ने विधि आयोग द्वारा तैयार किये राजनयिक सम्बन्ध तथा उन्मुक्तियों के समझौते को स्वीकार किया।

विधि के अतिरिक्त सं० रा० संघ ने अनेक विषयों पर अनेक समझौते तथा नियमों का निर्माण किया। 1948 का मानवीय अधिकारों का सार्वभौम घोषणा-पत्र (Universal Declaration of Human Right) प्रकाशित किया। 6 अप्रैल 1950 को अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार

आयोग ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि प्रत्येक व्यक्ति से अधिकार कानून द्वारा सुरक्षित होने चाहिए।

संहिताकरण का भविष्य (Future of Codification)—उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि संहिताकरण का मामला राष्ट्रों के सहयोग पर आधारित है। अनेक राजनीतिक विषय होते हैं जिन पर राष्ट्र एकमत नहीं होते हैं। सं० रा० संघ की असफलता का कारण राष्ट्रों का बैर-भाव, मत-भेद तथा स्वार्थ ही थे। यद्यपि सं० रा० सघ राष्ट्र सघ की अपेक्षा अधिक सफल होता दीखता है पर वर्तमान समय की गुटबन्दी, विश्व पर प्रभुत्व जमाने की लालसा, अपनी विचार धारा को विश्वव्यापी बनाकर शोषण की मनुवृति, राष्ट्रों की सम्प्रभुता आदि ऐसे तत्व है जो संहिताकरण के मार्ग मे बाधा हैं और इसके भविष्य को धूमिल बनाते हैं। राजनीतिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सहिताकरण की प्रगति, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र की अपेक्षा बहुत मन्द रहेगी।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जन्म एवं विकास का सक्षिप्त इतिहास लिखो।
   Write a short history of the birth and development of the International Law.
2. ग्रोशियस के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्म और विकास का योगदान था? वर्णन कीजिए।
   What is the contribution of Grotius to the origin and development of the International Law
3. अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अर्थ, परिभाषा एवं उसके महत्व का वर्णन कीजिए।
   Describe the meaning and definition of International Law. Estimate its importance.
4. अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति एवं क्षेत्र की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।
   Discuss critically the nature and scope of the International Law.
5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून न्यायशास्त्र का पतनोन्मुख केन्द्र है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये तथा बताइये कि वह वास्तव में कानून है या नही।
   International Law is the vanishing point of Jurisprudence ? Explain this statement and state that whether it is reallya Law or not.
6. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोतो का वर्णन कीजिये तथा इसकी कमियो का उल्लेख कीजिए।
   Describe the sources of International Law and also throwh light on its weaknesses.
7. अन्तर्राष्ट्रीय कानून का वर्गीकरण कीजिए।
   Give the classification of International Law.
8. सहिताकरण का क्या अर्थ है? उसके विकास का सक्षिप्त इतिहास लिखिये।
   What is the meaning of codification ? Write a short history of the development of codification.

13

युद्ध और सन्धियाँ
(War and Treaties)

"युद्ध एक ऐसा तथ्य है, जिसको अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा मान्यता तो मिलती है परन्तु जिसकी वह स्थापना करता है सशस्त्र बलों द्वारा किया गया भयानक संघर्ष होता है। परन्तु यह संघर्ष राज्यों के मध्य ही होना चाहिए।"

—ओपेनहीम

A treaty is an agreement, where by two or more states establish or seek to establish a relationship under International law between themselves.

—Starke.

युद्ध का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of War)

युद्ध का अर्थ है दो राज्यों के मध्य सशस्त्र संघर्ष। यह केवल राज्यों के मध्य ही होता है, संस्थाओं या व्यक्तियों के मध्य नहीं। जब दो देशों के बीच मनमुटाव या झगड़े उत्पन्न हो जाते हैं और दोनों ही अपने पक्ष का ही समर्थन करते हैं तब उनके झगड़ों का निर्णय युद्ध द्वारा ही होता है। इस प्रकार युद्ध का अर्थ है—"दो देशों के मध्य शक्ति परीक्षण।" युद्ध आदिम काल से चले आते हैं। शक्तिशाली राज्य अपनी सीमा विस्तार की इच्छा से दुर्बल राज्यों पर युद्ध थोपते रहते हैं। प्राचीन काल में युद्ध को एक धार्मिक एवं पवित्र कृत्य माना जाता था। उसमें शौर्य का प्रदर्शन होता था। वीर जाति अथवा योद्धा संसार मे पूजे जाते थे। युद्ध में मृत्यु प्राप्त होना, मानव की सद्गति माना जाता था। युद्ध राष्ट्र के विकास का साधन माना जाता था। भारत में प्राचीन ग्रन्थों मे लिखा है कि "यह वसुन्धरा वीर पुरुषों के भोग के लिये है।" अंग्रेजी में कहावत है—"कायर अपनी मृत्यु से पहले ही बार-बार मर जाता पर वीर केवल एक बार मरता है।" प्राचीन काल एवं मध्य काल में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सिद्धान्त प्रचलित था। यूनान में तो स्पार्टा का राज्य वीरता के लिये प्रसिद्ध था। वहाँ दुर्बल बच्चों को जीने का अधिकार न था। वहाँ शिक्षा का आधार ही सैनिक शिक्षा था। यूनान का सिकन्दर युद्ध प्रिय होने के कारण महान की पदवी पा सका और उसे विश्व विजेता की उपाधि मिली। भारत में प्राचीन काल के अन्दर शक्ति परीक्षण के लिये युद्ध होते थे और युद्ध के लिए अनेक यज्ञों का विधान था। "अश्वमेध यज्ञ" सबसे बड़ा यज्ञ था जो सम्राट ही कर सकते थे और इस यज्ञ करने वाले को ही चक्रवर्ती सम्राट कहा जाता था। आधुनिक समय में राष्ट्रों के मध्य मनमुटाव को दूर करने के शान्ति पूर्ण उपायों पर जोर दिया जाता है पर युद्ध की विभीषिका अन्त नहीं हुआ है। नेपोलियन की वीरता जगत प्रसिद्ध है, नेपोलियन का पराजित करने वाला ड्यूक आफ वैलिंगटन भी नेपोलियन से बढ़कर वीर नहीं माना जाता था। जर्मनी का बिस्मार्क महान् विजेता था। हिटलर को भी महान् वीरों में गिना जाता है।

युद्ध की परिभाषा (Definiton of War)—युद्ध आदिम काल से आज के सभ्य समाज की स्थापना तक लगातार चले आ रहे हैं। यद्यपि इसे रोकने के हजारों प्रयत्न किये जा रहे हैं पर उनका अन्त नहीं हुआ है और शायद कभी अन्त न हो। गान्धी जी का अहिन्सात्मक समाज, रामराज्य एवं सर्वोदय, प्लाटो के आदर्श राज्य के समान कल्पना की वस्तु है। इसी प्रकार साम्यवादी समाज (वर्ग एवं राज्य विहीन समाज) कोरा स्वप्न है। युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी मान्यता देता है अतः इसका सम्पूर्णतया अन्त होना असम्भव ही है।

युद्ध विश्व राजनीति का मुख्य विषय है अतः उसके विषय में बहुत से विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की परिभाषायें दी हैं। कौटिल्य के शब्दों मे "युद्ध या विग्रह का अर्थ है शत्रु को हानि पहुँचाने वाले द्रोह या हिन्सापूर्ण कार्य करना।" शुक्राचार्य का मत है कि "शत्रु को पीड़ित और वशीभूत करने वाला कार्य युद्ध है।"

प्रो० वेंस्टलाक के मतानुसार "युद्ध सरकारों की उस दशा को कहते हैं जो वे आपस में हथियारों से बल पूर्वक लड़ती है।" ग्रोशियस ने भी वेंस्टलाक की परिभाषा का ही समर्थन करते हुए युद्ध को एक स्थिति (Condition) माना है।" हाल के शब्दों में, "जब दो राज्यों में मतभेद बढ़ कर इस स्थिति तक पहुँच जाते हैं कि दोनों पक्ष बल प्रयोग का सहारा लेते हैं या उनमे एक पक्ष ऐसे हिन्सात्मक कार्य करना प्रारम्भ कर देता है जिसे दूसरा पक्ष शान्ति भंग की कार्यवाही मानता है तो उनके बीच युद्ध का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे दोनों पक्ष एक दूसरे के विरुद्ध हिन्सात्मक कार्यवाही प्रारम्भ कर देते हैं और वह क्रिया तब तक जारी रहती है जब तक एक पक्ष अपने शत्रु की इच्छाओं को मानने के लिए विवश न कर दें।"[1]

ओपेनहीम का कहना है कि "युद्ध एक ऐसा तथ्य है, जिसको अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा मान्यता तो मिलती है परन्तु जिसकी वह स्थापना करता है वह सशस्त्र दलों द्वारा किया गया भयानक संघर्ष होता है। परन्तु यह संघर्ष राज्यों के बीच ही होना चाहिए।"[2]

हाफमैन के मतानुसार "युद्ध दो मानव समुदायों के बीच संगठित शक्ति का प्रयोग है। प्रत्येक पक्ष एक-दूसरे के प्रति विरोधी नीतियों का पालन करता है तथा प्रत्येक समुदाय अपनी नीति को दूसरे पक्ष पर लादने का प्रयत्न करता है।"[3] वास्तव में "युद्ध राजनीतिक व्यवहार का आवश्यक अंग है और इसलिए अपने आप में कोई अलग चीज नहीं है। युद्ध और कुछ नहीं केवल कुछ अन्य साधनों के साथ (राष्ट्रों के बीच) राजनीतिक व्यवहार है।"

मेलिनोव्सकी लिखता है कि "युद्ध दो स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयों के बीच सशस्त्र संघर्ष है जो राष्ट्रीय अथवा जातीय हितों की पूर्ति के लिये होता है।" रूसो ने युद्ध को संक्षिप्त

---

1 "When differences between states reach a point at which both parties resort to force or one of them does acts of vilence which the other chooses to look upon as a breach of the peace, the relations of war is set up in which the combatants may use regulated violence against each other, until one of the two has been brought to raspect such terms as his enemy is willing to grant." —*Hall*

2 "War is a fact recognised and with regard to many points regulated but not established by International law. It is a violent struggle through the application of armed forces. But to be a war, the contention must be between states." —*Oppenheim*

3 "War is the use of organised force between two human groups, pursuing contradictory policies, each group seeking to impose its policy upon the other." —*Haffman*

परिभाषा देते हुए लिखा है कि "दो राज्यों के मध्य शक्ति का परीक्षण ही युद्ध है।"[1] ओपेनहीम ने कहा है कि "युद्ध दो या अधिक राज्यों के बीच में अपनी सशस्त्र सेनाओं द्वारा इस उद्देश्य से किया जाने वाला संघर्ष है कि एक-दूसरे को पराजित करके तथा उस पर विजयी राज्य द्वारा शान्ति स्थापना के लिये मनमानी शर्तें थोपी जायें।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि युद्ध दो राज्यों या अधिक राज्यों के बीच सशस्त्र संघर्ष है या शक्ति परीक्षण का एक ढंग है। दूसरे शब्दों में युद्ध दो महत्वाकांक्षी राज्यों में एक-दूसरे पर अपनी नीति को जबरन थोपने का एक तरीका है।

युद्ध की वैधता का अन्त ?
(War Loses Its Legal Character ?)

20वीं शताब्दी में किसी देश को युद्ध छेड़ना अन्तर्राष्ट्रीय कानून अधिकार नहीं देता है। भले ही युद्ध ने अपनी वैधता का अन्त कर दिया है परन्तु राष्ट्र संघ ने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अपने संविधान में इस सिद्धान्त की घोषणा की कि "कोई भी लड़ाई या लड़ाई की धमकी राष्ट्र संघ के समस्त सदस्यों के लिए समान रूप से गहरी चिन्ता का विषय है तथा इस सम्बन्ध में विश्व में तथा विभिन्न राष्ट्रों में शान्ति बनाये रखने के लिए संघ को प्रभावशाली कार्यवाही करनी चाहिए।" इसका यह अर्थ था कि संघ के सदस्यों ने शान्ति बनाये रखने के लिए सामूहिक उत्तर-दायित्व (Collective Responsibility) के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया तथा विभिन्न राष्ट्रों द्वारा छेड़ी जाने वाली लड़ाइयों की पुरानी परम्परा का परित्याग कर दिया। संघ ने यह भी घोषणा की कि राष्ट्रों के मध्य सभी विवाद संघ के सामने लाये जायें। 1928 में पेरिस में कैलाग-ब्रियां पैक्ट पर हस्ताक्षरकर्ताओं ने राष्ट्रनीति के रूप में युद्ध के उपाय का परित्याग करने की घोषणा कर दी।

इतना होने पर भी युद्ध का अन्त नहीं हुआ हां उसके उद्देश्य में परिवर्तन हो गया। सामूहिक सुरक्षा एवं शान्ति की रक्षा के लिए राष्ट्र संघ ने युद्ध के सिद्धान्त को मान लिया। राज्यों का युद्ध करने का अधिकार न देकर राष्ट्र संघ ने उसे केवल अपने अधिकार में रखा। इस प्रकार पहले युद्ध में शान्ति का अन्त होता था और राष्ट्र संघ ने शान्ति स्थापना के लिए युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया। राष्ट्र संघ अपनी दुर्बलता के कारण अपने सिद्धान्तों का पालन न कर सका। अतः द्वितीय विश्वयुद्ध प्रथम विश्वयुद्ध से भी अधिक व्यापक, संहारक एवं भयंकर सिद्ध हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर ने भी राष्ट्रों के लिए युद्ध के उपाय का अवलम्बन लेना अवैध ठहराया। इसने भी युद्ध को सुरक्षा परिषद या साधारण सभा (General Assembly) के अधिकार क्षेत्र के अधिकार में रखा। कोरिया एवं कांगो के मामले में सं० रा० संघ ने शक्ति का प्रयोग किया। इतने पर भी चार्टर की 42वीं धारा युद्ध को रोकने के लिए युद्ध का प्रयोग सुरक्षा परिषद के लिए सुरक्षित रखा गया तथा 51वी धारा ने राज्यो को आत्म रक्षा हित शस्त्र उठाने का अधिकार दिया पर तब ही जब सुरक्षा परिषद शान्ति स्थापना के लिए कोई कदम न उठाये। इसका अर्थ यही है कि युद्ध राष्ट्र के लिए अवैध ठहराया गया।

1973 में महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा आक्रामक युद्ध की व्याख्या, की और उसे निषिद्ध कर दिया है। इस प्रकार वर्तमान समय मे राज्य केवल आत्म रक्षा के लिए ही शस्त्रों का प्रयोग कर सकते हैं।

---

[1] War is a contention by force between two states." —*Rousseau.*

[2] "A contention between two or more states though their armed forces for the purpose of overpowering each other and imposing such conditions of peace as the victor pleases." —*Oppenheim.*

युद्धों का वर्गीकरण
(Classification of War)

प्राचीनकाल से अर्वाचीन काल तक युद्ध होते आये हैं। उनके उद्देश्य विभिन्न रहे हैं। अपने उद्देश्यों के कारण युद्ध अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ इस प्रकार है—

(1) न्याययुक्त एवं अन्याययुक्त युद्ध (Just and unjust War)—प्राचीन और मध्यकाल में, भारत तथा यूरोप के अन्दर दो प्रकार के युद्ध होते थे—एक धर्म या न्याय युद्ध तथा दूसरा अधर्म या अन्याय युद्ध। मानव पर धर्म का प्रभाव अनादि काल से रहा है अतः धर्म की रक्षा के लिए युद्ध होते चले आये हैं। धर्म की रक्षा के लिए लड़ा गया युद्ध न्याययुक्त माना जाता था। इतना होने पर भी धार्मिक युद्ध के कुछ नियम थे। जो उनका पालन करता था वह पक्ष न्याय पक्ष था और जो उन नियमों का उल्लघन करता था वह अन्याय पक्ष कहलाता था। पाण्डवों ने जो युद्ध किया उसे धर्म युद्ध कहा गया और उन्होंने तत्कालीन युद्धों के नियमों का अधिकांश रूप से पालन किया अत. उनका पक्ष न्याय युद्ध था। कौरवों का पक्ष अन्याय पर तुला था और वह विजय पाने के लिए तत्कालीन युद्ध नियमों का उल्लंघन करने में न हिचकते थे। अतः उनका पक्ष अन्याय युक्त था।

आज यद्यपि धर्म का प्रभाव घट गया है फिर भी न्याय की लोग दुहाई देते है। आज न्याय युद्ध का अर्थ है, अपनी स्वतन्त्रता एवं प्रादेशिक अखण्डता के रक्षार्थ युद्ध करना, इसके विपरीत दूसरे की स्वतन्त्रता को हड़पने के लिए या अपनी नीतियों को दूसरे राज्यों पर जबरन थोपने के लिए जो युद्ध होता है वह अन्याय युद्ध होता है। द्वितीय युद्ध के पीछे जर्मनी, इटली एवं जापान अपने पड़ोसी देशों को हड़पना चाहते थे और राज्यों की सीमा का विस्तार चाहते थे अतः उनके द्वारा छेड़ा गया युद्ध अन्याययुक्त था। दक्षिण कोरिया पर उत्तरी कोरिया द्वारा लादा गया युद्ध अन्याययुक्त युद्ध था। दक्षिणी कोरिया की प्रादेशिक अखण्डता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सं० रा० संघ द्वारा छेड़ा गया युद्ध न्यायपूर्ण था।

(2) मिश्रित युद्ध (Mixed War)—जब एक राज्य के अन्दर विभिन्न वर्गों मे युद्ध छिड़ जाता है या सरकार का तख्ता उलटने के लिए विद्रोह हो जाता है तो इसे ग्रह युद्ध कहते है। ग्रोशियस ग्रह युद्ध को मिश्रित युद्ध कहता था। उसका कहना था कि इस मिश्रित युद्ध में एक ओर सरकार के समर्थक लोग रहते है और दूसरी ओर सरकार विरोधी वैयक्तिक लोग होते हैं, ये दोनों घुलमिल जाते है। आजकल इस युद्ध का महत्त्व घट गया है। प्रभुसत्ता सम्पन्न सरकार के विरुद्ध विद्रोह को अब राजद्रोह का नाम दिया गया है।

(3) सार्वजनिक युद्ध एवं व्यक्तिगत युद्ध (Public and Private War)—दो प्रभुत्ता सम्पन्न राज्यों के मध्य जब युद्ध होता है तो उसे सार्वजनिक युद्ध कहा जाता है और जब जमीदारों, सेनापतियों एवं सामन्तों के बीच युद्ध होता तो उसे व्यक्तिगत युद्ध कहा जाता है। आजकल राज्यों के मध्य युद्ध को ही युद्ध कहा जाता है। जमीदारों एवं सामन्तों के युद्ध अब होते ही नहीं। दो वर्ग यदि आपस में लड़ते हैं तो वह राजद्रोह ही माना जाता है। सरकार दोनों पक्षों को कुचल देती है।

(4) पूर्ण तथा अपूर्ण युद्ध (Perfect and Imperfect War)—पूर्ण युद्ध का अर्थ है पूर्ण प्रजा सरकार का साथ देती है और अपूर्ण युद्ध का अर्थ यह है कि राज्य का कुछ अश या कुछ क्षेत्र ही युद्ध मे भाग लेता है।

(5) औपचारिक तथा अनौपचारिक युद्ध (Formal and Informal War)—औपचारिक युद्ध का अर्थ है वह युद्ध जो युद्ध की घोषणा कर देने के बाद प्रारम्भ होता है और अनौपचारिक युद्ध में बिना घोषणा के ही युद्ध छेड़ दिया जाता है।

(6) **छापामार युद्ध (Guerrilla War)**—आजकल छापामार युद्ध का रिवाज बहुत बढ़ गया है। यह युद्ध खुले मैदान में नहीं होता है बल्कि अचानक ही सेना पर छापामार मारकाट या लूटमार कर सैनिक टुकड़ी भाग जाती है। इसमें सदैव धोखा देकर आक्रमण किया जाता है। ओपेनहीम ने इसका वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। उसका कहना है कि जो राज्य कमजोर होते हैं या उनके पास सेना एवं सैनिक सामग्री की कमी होती है वे यह नीति अपनाते हैं। छापामार युद्ध की शिक्षा विशेष केन्द्रों में दी जाती है और उन सैनिकों को दुश्मन के कमजोर ठिकाने पर अचानक आक्रमण कर और शत्रु को हानि पहुँचाकर एवं भाग खड़े होने के लिए भेजा जाता है। इसका अर्थ यह है कि शक्तिशाली शत्रु को खूब तंग किया जाये जिससे वह युद्ध बन्द कर दे। साम्यवादी राज्यों में छापामार प्रशिक्षण के अनेक केन्द्र खोले हुए हैं। यह पड़ोसी गैर साम्यवादी राज्यों को तंग करने तथा उन्हें अपने पक्ष में मिलाने का षड्यन्त्र होता है। वियतनाम ने 20 वर्ष तक उत्तरी कारिया में यही नीति अपनाई थी। छापामार सेना को वहाँ वियतकांगों के कारण भारी जन धन की हानि उठाकर अपनी सेना को वापस बुलाने के लिए विवश होना पड़ा और साम्यवादियों के रहमोकरम (दया) पर दक्षिण वियतनाम को छोड़कर युद्ध से हट गया। इतिहास में मराठों के छापामार युद्ध के बाद वियतनाम का छापामार युद्ध दूसरे नम्बर पर आता है।

19वीं शताब्दी के अन्त तक छापामार युद्ध को अवैध माना जाता था। पर 20वीं शताब्दी में दो महायुद्ध में इस ढंग के युद्ध का खूब प्रयोग हुआ पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 1949 के जेनेवा अभिसमय में ऐसे प्रतिरोध आन्दोलनों, मिलिशिया तथा स्वयं सेवकों को सशस्त्र संघर्ष करने वाले व्यक्तियों को चार शर्तों पर युद्ध बन्दियों के समान सुविधा एवं अधिकार मिल सकते हैं। ये शर्तें हैं—(i) इनका नेतृत्व करने वाला व्यक्ति इनके द्वारा किये गये कार्यों का जिम्मेदार हो, (ii) वे दूर से पहचाने जाने वाले चिह्नों का प्रयोग करें, (iii) वे खुले रूप से सशस्त्र रखें, (iv) वे युद्ध के नियमों के अनुसार सैनिक कार्यवाही करते हैं।

(6) **समग्र युद्ध (Total War)**—प्राचीनकाल मे सेनाओं के मध्य युद्ध हुआ करते थे और एक बार में हार जीत का निर्णय हो जाता था। हारने वाला राष्ट्र विजेता का गुलाम बन जाता था। मध्यकाल में हार जीत का फैसला भी एक युद्ध मे होता था और विजेता विजित देश की जनता को खूब लूटता था और उनका कत्लेआम करता था इसके बाद वह अपनी सेना वापस ले जाता था और कुछ सेना विजित देश को गुलाम रखने के लिए वहीं छोड़ जाता था। निरीह जनता युद्ध से दूर रहती थी और बार-बार लुटती-पिटती रहती थी। परन्तु आधुनिक युद्ध में कदम-कदम पर युद्ध होता है, एक-एक इंच भूमि के लिए संघर्ष होता है। सेना के साथ देश की सम्पूर्ण जनता भी युद्ध मे संलग्न हो जाती है। इस प्रकार आजकल युद्ध समग्र युद्ध कहलाते हैं। आज युद्ध का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार शत्रु को हराना होता है अतः नीति, नियम एवं विवेक का प्रयोग नही किया जाता है। शत्रु की जन-धन की हानि अधिक से अधिक करके उसे घुटने टेकने के लिए विवश किया जाता है। अणु बम, दूर मार वाले शस्त्र, गैसें, विस्फोटक सुरगें, तथा प्रक्षपणास्त्रो के प्रयोग से सैनिक और असैनिक जनता का भेदभाव उठ गया है।

समग्र युद्ध की स्थिति अनेक कारणों का परिणाम है। ओपेनहीम ने इन कारणों को पाँच भागों मे विभाजित किया है, वे इस प्रकार हैं—

(i) सैनिकों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि। अनेक राज्यों में अनिवार्य सैनिक शिक्षा का प्रचलन हो गया है अतएव देश के सभी बालिगों को शस्त्र धारण करने की शक्ति होती है।

(ii) आज युद्ध की प्रक्रिया अति जटिल हो गई है। सैनिक सामग्री की बहुत बड़ी मात्रा की आवश्यकता हो गई है। अनेक प्रकार के कारखाने और उद्योग-धन्धे पनपने लगे हैं और असैनिक जनता का बड़ा भाग इन युद्धोगों में लगा है।

(iii) वायुयानों के कारण वायु युद्धों का व्यापक क्षेत्र हो गया है। शत्रुओं को अधिक से अधिक हानि पहुँचाने के लिए सार्वजनिक स्थान जैसे पुल, सड़कें, रेलों तथा शस्त्रास्त्र बनाने के कारखाने, औद्योगिक केन्द्र बन्दरगाह बम वर्षा के लक्ष्य बन गये हैं।

(iv) आज युद्ध की स्थिति बदल गई है। अब युद्ध केवल सेना के सहारे नहीं लड़े जाते हैं। शत्रु को हराने के लिए अनेक प्रकार के दबाव डाले जाते हैं। इनमें आर्थिक दबाव सबसे महत्वपूर्ण है।

(v) सर्वाधिकारवादी एवं तानाशाही राज्यों से स्थापना से जनता पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण होता है और युद्धावस्था में समस्त जनता को युद्ध में भाग लेने को विवश किया जाता है। जनता के प्राण सम्पत्ति एवं अधिकार तानाशाह की मुट्ठी में होते हैं और इनका प्रयोग तानाशाह खुलकर कर सकते हैं।

इन्ही कारणों से आज का युद्ध समग्र युद्ध बन गया है।

युद्धेतर शत्रुता
(Non-war Hostility)

प्रथम विश्व युद्ध से पहले दो पक्षों के मध्य युद्ध होने पर ही शत्रुता उत्पन्न होती थी परन्तु अब कई बार बिना सशस्त्र युद्ध के ही शत्रुता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए मचूरिया (1931-32) और चीन (1937) पर जापान के आक्रमण से तथा 1938 में चन कूफेंग से रूस और जापान के संघर्ष में तथा 1939 में नोमोनहेन में बाह्य तथा आन्तरिक मंगोलिया का फौजों के आक्रमण में शत्रुता की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। 1950 में दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया ने आक्रमण कर दिया। यद्यपि दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना ने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया था पर स्टार्क के कथनानुसार इस संघर्ष को युद्ध की स्थिति (Status of War) का दर्जा नहीं दिया गया। कोरिया युद्ध के बाद स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण पर इज़राइल, फ्रांस तथा ब्रिटेन की सेनाओं ने मिस्र पर धावा बोल दिया। यह अवस्था भी शत्रुता की स्थिति थी। इस समय लार्ड प्रिवी सील ने 1 नवम्बर, 1956 को यह घोषणा की थी—"महारानी की सरकार वर्तमान कार्य को युद्ध नहीं समझती है। वहाँ कोई युद्धावस्था (State of War) नहीं है किन्तु संघर्ष की स्थिति (State of Conflict) है।"

युद्ध-स्थिति तथा संघर्ष-स्थिति के क्रियात्मक रूप से कोई भारी अन्तर नहीं होता है। पर कानून की दृष्टि में अवश्य भारी अन्तर माना जाता है। यदि नियमानुसार दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ होता है तो अन्य देश इस सघर्ष मे तटस्थ रहते है, उन्हें तटस्थ देशों के सब अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु यदि युद्ध की स्थिति नही मानी जाती है और केवल शत्रुता या संघर्ष की स्थिति मानी जाती है तो तटस्थता का कोई प्रश्न नहीं उठता है। स्टार्क महोदय कहते हैं कि "युद्धेतर शत्रुता (Non-war Hostitilies) के विकास के तीन प्रधान कारण होते हैं—(i) राज्य यह नहीं चाहते हैं कि 1928 के युद्ध का निषेध करने वाले कैलाग-ब्रियां पैक्ट पर हस्ताक्षर करके उन्होंने जो युद्ध न करने का वचन दिया था, उसका भंग युद्ध-घोषणा करके किया जाय। (ii) इसका दूसरा उद्देश्य यह भी है कि इस संघर्ष में भाग न लेने वाले राज्यों को तटस्थता की घोषणा करने से रोका जाय। (iii) तीसरा कारण यह इच्छा है कि संघर्ष को कुछ स्थानीय क्षेत्रों तक ही सीमित रखा जाय तथा इसे व्यापक और विस्तीर्ण युद्ध का रूप न दिया जाय।"[1]

---

[1] Starke : *An Introduction to International Law*, p. 349.

युद्ध का आरम्भ तथा युद्ध-घोषणा
(Commencement and Declaration of War)

प्राचीन काल में युद्ध छेड़ने के विस्तृत विधि विधान थे। 17वीं शताब्दी तक यूरोपियन राज्य युद्ध आरम्भ करने से पूर्व अग्रदूतों (Heralds) तथा अवहेलना पत्रों (Letters of Defiance) द्वारा दूसरे राज्यों को इसकी सूचना दे देते थे। इस सूचना को पाने के बाद तीन दिन का समय दिया जाता था फिर युद्ध प्रारम्भ कर दिया जाता था। इनका अन्तिम उदाहरण 1635 की ब्रसेल्स की युद्ध घोषणा था जिसमें फ्रांस ने स्पेन के विरुद्ध युद्धघोषणा की थी। इसमें युद्ध की सूचना देने वाले दूतों को बड़ी धूमधाम से विदाई दी गयी थी। 18वीं शताब्दी में यह प्रथा बन्द हो गयी, और राज्य बिना युद्ध-घोषणा के ही युद्ध आरम्भ करने लगे। 1700 से 1870 तक केवल 10 युद्धों में ही पूर्व घोषणा के बाद युद्ध हुआ था। 1070 लड़ाइयाँ ऐसी हुईं जिनमें कोई युद्ध घोषणा नहीं की गयी। ग्रोशियस का कहना था कि युद्ध छेड़ने के पूर्व युद्ध-घोषणा करना आवश्यक है परन्तु इस ओर 19वीं शताब्दी तक कम ध्यान दिया गया। 1904 में जापान ने बगैर किसी घोषणा के रूस पर आक्रमण कर दिया। 1907 में जब हेग सम्मेलन हुआ तब उसमें अभिसमय में यह नियम बनाया गया कि कोई भी शत्रुतापूर्ण कार्यवाही तब तक नहीं होनी चाहिए जब तक उसकी सूचना न जाय। इस सूचना के दो रूप होने चाहिए—(क) युद्ध छेड़ने के कारणों पर प्रकाश डालने वाली घोषणा तथा (ख) अल्टीमेटम अथवा अन्तिम चेतावनी—इसमें दूसरे पक्ष के सामने कुछ शर्तें पूरी न होने पर युद्ध आरम्भ करने की बात कही जाये। साथ-साथ यह व्यवस्था की गयी कि तटस्थ राज्यों को युद्ध की स्थिति की सूचना अविलम्ब देनी चाहिए।

इस नियम का पालन प्रथम विश्व युद्ध में किया गया। आस्ट्रिया ने सर्विया के विरुद्ध युद्ध छेड़ने से पूर्व उसे 23 जुलाई 1914 को अल्टीमेटम दिया। सर्विया को 48 घण्टे में शर्तें पूरी करने को कहा गया था। 2 अगस्त 1914 को जर्मनी ने रूस के विरुद्ध तथा 4 अगस्त को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जब 4 अगस्त को सेना ने फ्रांस के विरुद्ध बेल्जियम में से होकर आक्रमण कर दिया और बेल्जियम की तटस्थता को भंग कर दिया तो 4 अगस्त को इंगलैंड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 6 अप्रैल 1917 को संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध विधिपूर्वक युद्ध की घोषणा की।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद हेग अभिसमय के बनाये अभिसमयों की बारम्बार अवहेलना हुई। उदाहरण के लिए जापान ने 1931 में मंचूरिया पर तथा 1937 में चीन पर बिना युद्ध घोषणा के आक्रमण किया। इटली ने जापान का अनुकरण करते हुए 1935 में एबीसीनिया पर बिना युद्ध घोषणा के आक्रमण किया और द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी ने भी बिना युद्ध घोषणा के पोलैण्ड पर आक्रमण किया। रूस क्यों पीछे रहता। उसने भी बिना घोषणा के पोलैण्ड पर 17 सितम्बर 1932 को तथा 30 नवम्बर 1939 को फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। जर्मनी ने 9 अप्रैल 1940 को डेन्मार्क एवं नार्वे पर बिना चेतावनी के आक्रमण किये। जर्मनी ने रूस पर जून 1941 को बिना किसी चेतावनी के अचानक आक्रमण किया। द्वितीय विश्व युद्ध में जापान दो वर्ष तक सम्मिलित न हुआ पर 7 सितम्बर 1941 को उसने पर्लहार्बर पर सहसा बिना किसी युद्ध घोषणा के आक्रमण कर दिया। इस प्रकार ये सब आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीय कानून की खुली अवहेलना कर किये गये।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भी अनेक युद्धों में बिना चेतावनी या अल्टीमेटम के युद्ध छेड़े गये। उदाहरण के लिए पाकिस्तान ने बिना चेतावनी के 1947 में कश्मीर पर आक्रमण किया। उत्तरी कोरिया ने जून 1950 में दक्षिणी कोरिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ा, 20 अक्टूबर 1962 को चीन ने बिना युद्ध घोषणा के भारत पर आक्रमण किया, पाकिस्तान ने 1 सितम्बर 1965 को

भारतीय क्षेत्र 'छम्ब जोड़िया' पर भी ऐसा ही आक्रमण किया। 4 जून 1967 में अरब इजराइल युद्ध भी बिना किसी चेतावनी के आरम्भ हुआ। 1971 में पाकिस्तान ने अचानक भारत पर बिना पूर्व सूचना के आक्रमण किया तथा 1973 मे मिस्र ने अचानक इजराइल पर आक्रमण किया।

उपर्युक्त उदाहरणों से ऐसा पता चलता है कि युद्ध-घोषणा का रिवाज ही समाप्त हो गया है तथा हेग अभिसमय का कानून ताक पर उठाकर घर रख दिया गया है। इस नियम की अवहेलना का मुख्य कारण यह है कि अप्रत्याशित आक्रमण कर राष्ट्र अपने शत्रु की महान हानि कर उसकी कमर तोड़ना चाहते है और युद्ध के लाभों का अधिक अंश प्रथम आक्रमण में ही प्राप्त कर अपनी विजय की सम्भावना को अधिक बढ़ा लेते हैं। "बिना युद्ध घोषणा के युद्ध छेड़ने वाले राष्ट्र तत्काल ही लड़ाई का 60% लाभ प्राप्त कर लेते है।" युद्ध की पूर्व घोषणा न करने का वर्तमान समय में एक कारण यह भी है कि युद्ध करना अवैध है। कोई भी राज्य जो युद्ध की घोषणा करेगा आक्रामक तो होगा ही वह विश्व जनमत की सहानुभूति खो बैठेगा।

युद्ध के वास्तविक कारण
(Real Causes of War)

जब दो या दो से अधिक देशों के मध्य कोई युद्ध छिड़ता है तो उसके पीछे अनेक कारण होते है। प्रत्येक युद्ध के समान कारण होते हैं। इस विषय में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के कारणों की विवेचना की है। युद्ध के स्वरूप एवं उसके कारणों का विश्लेषण युद्ध पूर्व की तत्कालिक परिस्थितियों द्वारा ही सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त युद्ध के कोई स्थायी मापदण्ड नहीं अत: युद्ध होने के बाद ही उसका उत्तरदायित्व एवं उत्तरदायी परिस्थितियों को आंका जाता है। "संस्था के रूप में युद्ध" (War as an institution) के स्वरूप और उसके कारणों की व्यवस्था भी की जाती है।

युद्ध के वास्तविक कारणों में निम्नलिखित 6 कारणों को रखा जा सकता है :—

(1) मनोवैज्ञानिक कारण (Psychological Factors)—इस कारण के अन्तर्गत "दूसरों पर हावी होने की इच्छा" की विद्यमानता होना बताया गया है। विख्यात मनोवैज्ञानिक फ्राइड का कथन है कि "जब मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति (Destructive urge) अपनी चरम सीमा को पार कर जाती है तब उसे दूसरों को पीड़ा देने में आनन्द आने लगता है।" सम्भवतया युद्ध इसी मानसिक प्रवृत्ति का ही परिणाम हो। सत्ता और शक्ति के विस्तार की महत्त्वाकांक्षाओं ने अनेक राष्ट्र नेताओं को बार-बार आकर्षित किया और उन्होंने अपने देशों को युद्धाग्नि में झोंका। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए इन नेताओं ने राष्ट्रीय हित की ओट लेकर जनता की भावनाओं को भड़काया; जैसे मुसोलिनी, हिटलर, लेनिन एवं स्टालिन ने किया। आज रूसी और अमेरिकन नेता इसी रोग से ग्रसित हैं।

आज के मनोवैज्ञानिक इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि मानव स्वभाव से लड़ाकू, झगड़ालू, निर्दयी तथा हिंसक होता है अपितु वे यह मानते है कि मानव में सहयोग, सहानुभूति, दयालुता, प्रेम एवं सद्भावना के गुण जन्मजात होते है। इसका यह अर्थ हुआ कि युद्ध मानव को स्वभावत: अपनी ओर खींचता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि युद्ध को अनेक बार राष्ट्रीय नेताओं ने परिस्थितियों से विवश होकर स्वीकार किया है, वे वास्तव में जन्मजात युद्ध पिपासु न थे। जनता भी स्वभावतया युद्ध नहीं चाहती बल्कि उनमें युद्ध भावना प्रचार द्वारा भरी जाती है।

(2) आर्थिक कारण (Economic Factors)—मार्क्सवादी सभी स्थानों में पूंजी की बदबू सूंघने के आदी हैं। वे युद्ध के पीछे केवल अर्थ लिप्सा को देखते हैं। पूंजीवाद, पूंजीपति, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद सभी के शत्रु हैं। वह एकाधिकार पूंजीवाद (Monopolistic Capitalism) को युद्ध का विशेष कारण मानते हैं। इसके प्रमाण स्वरूप वह यह तर्क प्रस्तुत करते

हैं कि पूंजीवादी देश औद्योगीकरण के फलस्वरूप हुए अति उत्पादन को खपाने के लिए नये बाजार व उपनिवेश स्थापित करते हैं ताकि वह कच्चा माल ले सके तथा पक्का माल खपा सके। जब उपनिवेश की सम्भावना समाप्त हो जाती है तो ये पूंजीवादी देश आपस में लड़ने लगते हैं। लेनिन ने इसी आधार पर कहा था कि "युद्ध को समाप्त करना है तो पहले पूँजीवाद का अन्त करो, क्योंकि युद्ध की जड़ यही है।"

कुछ देश अपने देशवासियों की आर्थिक दशा सुधारना चाहते हैं, तथा उनका रहन-सहन का स्तर ऊपर उठाना चाहते है अतः वे युद्ध में सम्मिलित हो जाते हैं जैसा जर्मनी एव इटली ने प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध मे किया था कि "जर्मन राष्ट्रीय समाजवादी आर्थिक नियोजन का उद्देश्य अधिक भूमि तथा अतिरिक्त साधनो को प्राप्त करके एक आत्म-निर्भर वित्तीय व्यवस्था का निर्माण करना चाहता था।" पर आज के युग में भूमि विस्तार महत्त्वपूर्ण नहीं रहा अपेक्षाकृत औद्योगिक विस्तार व व्यापार-विस्तार के। अतः आर्थिक विकास के लिए युद्ध इतना आवश्यक नही है जितना कि शान्तिकालीन औद्योगिक विस्तार।

जनसख्या की अतिवृद्धि के कारण भी कुछ विस्तारवादी नीति अपनाते हैं जिसके कारण युद्ध होते हैं। चीन जैसा साम्यवादी देश आर्थिक कारणों के अतिरिक्त जनसख्या के कारणों से प्रभावित होकर विस्तारवादी नीति अपना रहा है। लेकिन जनसंख्या की यह अतिवृद्धि अन्य कृत्रिम साधनों से भी नियोजित की जा सकती है जैसे भारत मे नसबन्दी अभियान चला रखा है। इसका अर्थ यही है कि आर्थिक कारण ही केवल युद्ध का कारण (Factor) नही।

(3) सांस्कृतिक व वैचारिक कारण (Culture and Ideological Factors)—धर्म तथा संस्कृति सदियो तक युद्ध का कारण बना रहा। ईसाइयों और गैर-ईसाइयों के मध्य सघर्ष, मुसलमानों एवं गैर-मुस्लिमो के बीच संघर्ष—केवल धार्मिक एवं सांस्कृतिक कारणों से ही मध्यकाल तक चलते रहे। आधुनिक युग में यद्यपि धर्म और संस्कृति का महत्त्व घट गया है पर उसका स्थान अब वैचारिक संघर्ष ने ले लिया है; कुछ विद्वानों ने बताया है कि प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध में भी विचारधाराओ के मध्य संघर्ष था। प्रजातन्त्र एवं गैर-प्रजातन्त्र अथवा अधिनायकतन्त्र ही इन महान् युद्ध के कारण थे। भावी युद्ध यदि हुआ तो साम्यवादियों एवं गैर-साम्यवादियों के मध्य होगा। परन्तु विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष एकमात्र कारण नहीं हो सकता क्योंकि समान विचारधाराओं के मध्य भी संघर्ष होते देखे गये हैं। रूस और चीन मे तथा पाकिस्तान एव बंगला देश में संघर्ष का कारण विचारधाराओं या संस्कृतियों के बीच संघर्ष न था।

(4) राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु (To Fulfil the National Interests)—जब दो राष्ट्रों के मध्य राष्ट्रीय हित टकराते हैं तो युद्ध आवश्यक हो जाता है। बहुत से राष्ट्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए युद्ध का आश्रय नही लेते हैं, अपितु जब उन पर आक्रमण होता है तो आत्म रक्षा हित उन्हें युद्ध को स्वीकार करना पड़ता है। जब राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के मध्य सघर्ष मे कूदते हैं तो उनका उद्देश्य भी राष्ट्रीय स्वार्थ ही होता है। कभी-कभी किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय स्वार्थों की पूर्ति नहीं होती तो वह अपने साथ अन्य राष्ट्रों को भी घसीट लेता है और युद्ध में कूद पड़ता है। अधिकांश राज्य तो विवश होकर ही आत्म-रक्षात्मकार्थ युद्ध में भाग लेते हैं। विकम स्टीड (Wickam Steed) के मतानुसार, "कुछ ही राष्ट्र या राज्य युद्ध के लिए अगुआ बनते या पहल करते हैं। अधिकांश राज्य तो अपनी असुरक्षा के भय से युद्ध मे सम्मिलित होते हैं।" उन्होंने आगे कहा है कि "असुरक्षा की भावना और उनसे उत्पन्न भय आज के विश्व में निःसन्देह युद्ध के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण कारणों में है।"[1] इस प्रकार राष्ट्रीय हित ही युद्ध का अकेला कारण नहीं होता है।

[1] "The feeling of insecurity and the *fears it endangers* are undoubtedly the strongest, potential *causes* of wars in the world today." —*Wickam Steed*

(5) अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की असफलता के कारण (On the failure of International System)—युद्धों का एक कारण यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा निर्देशित व्यवस्था का क्रियान्वित न होना। बाध्यकारी सत्ता के अभाव के कारण सम्प्रभु राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून को भंग कर देते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय या क्षेत्रीय युद्ध छिड़ जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था द्वारा युद्ध तभी रोके जा सकते हैं जब सम्प्रभु राष्ट्र अपनी सम्प्रभुता इस व्यवस्था के अधीन कर दे। यद्यपि राष्ट्र संघ की अपेक्षा सं० रा० संघ अधिक शक्तिशाली संगठन है फिर भी उसकी सदस्यता ऐच्छिक है। सं० रा० संघ का कोई भी आदेश या निर्देश उस पर (राज्य पर) नहीं थोपा जा सकता है, क्योंकि महाशक्तियाँ इस शर्त पर उसमें सम्मिलित हुई थीं कि कोई संघ का आदेश उन पर थोपा न जायगा और इस आश्वासन के साथ उन्हें निषेध का (Veto) अधिकार दिया गया। अतः सं० रा० संघ एक सम्प्रभुता सम्पन्न संस्था नहीं। आर्नोल्ड ब्रेकेट (Arnold Breckt) ने कहा है कि "विश्व के प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों में युद्ध होने का सबसे बड़ा कारण है कि विश्व में प्रभुता सम्पन्न राज्य है तथा उनमे से कुछ बहुत बड़े हैं। इस प्रकार शक्तिशाली राष्ट्र अपने प्रभुत्व को सिद्ध करने और प्रसारित करने हेतु युद्धों को जन्म देते रहते हैं।"

(6) मानव प्रकृति (Human Nature)—कुछ राजनीतिज्ञों का ऐसा विश्वास है कि "युद्ध मानव प्रकृति में निहित है।" परन्तु पामर एव पार्किन्स (Palmer and Parkins) का कथन है कि "इतिहास मे हुए युद्धों से यह निष्कर्ष निकाल लेना कि मनुष्य स्वभावतः युद्धप्रिय है, उचित नही। ये युद्ध तो इस तथ्य की ओर सकेत करते है कि मनुष्य आज तक किसी ऐसी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को जन्म देने मे असफल रहा है, जिसमें युद्ध का कोई स्थान न हो।"

क्विन्सी राइट के शब्दों मे, "युद्ध वास्तव में एक ऐसी परिस्थिति का परिणाम है जो उन सारी चीजों से पैदा होता है, जो युद्ध प्रारम्भ होने तक मनुष्य जाति में हुई है।"[1]

शत्रु स्वभाव
(Enemy Character)

शत्रु स्वभाव का अर्थ (Meaning of Enemy Character)—सामान्यतया यह माना जाता है कि जब दो व्यक्ति, समूह या राज्य किसी स्वार्थ के कारण परस्पर वैमनस्यता रखने लगते हैं तो उनके स्वभाव में भी शत्रुता की भावना समा जाती है और वे सदैव इस बात की ताक में रहते हैं कि वे अपने शत्रु को किस प्रकार से अधिक से अधिक हानि पहुँचायें। उनके व्यवहारों मे भी अन्तर आ जाता है। यह वैमनस्यता कभी-कभी मित्रों के मध्य भी उपस्थित होकर दोनों को एक-दूसरे का शत्रु बना देती है। वे एक-दूसरे से ऐसा व्यवहार करने लगते है कि कभी वे एक-दूसरे से परिचित न रहे हों। शत्रुता की भावना विशेष प्रकार से तब प्रकट होती है जब दोनों मे युद्ध-स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक-दूसरे को एक दूसरे की अच्छी बातें भी काट खाने को दौड़ती हैं है और वे सदैव एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखते हैं, उनका कार्य भी सन्देहजनक मालूम होता है।

शत्रु की प्रकृति का निर्धारण करना (Determination of the Enemy Nature)—हमारा कौन मित्र है तथा कौन शत्रु यह जानना बड़ा कठिन होता है। अतः यह जानना बहुत आवश्यक है कि व्यक्तियों तथा वस्तुओं की शत्रुरूपता को निर्धारित कैसे किया जाय और फिर

[1] "A war, in reality, results from a total situation involving ultimately almost everything that has happened to the human race upto the time."
—*Quincy Wright*

उसके अनुसार ही शत्रु या मित्र से व्यवहार का निर्णय किया जाय। परन्तु यह प्रश्न अत्यन्त विवादपूर्ण एवं विवादास्पद है। इस सम्बन्ध में कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं जिससे दो राष्ट्रों के मध्य शत्रुरूपता का निश्चय किया जा सके। समय पर इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया गया पर सफलता न मिल सकी। किस व्यक्ति, समूह या राष्ट्र को शत्रु माना जाय और किस आधार पर, इसके सम्बन्ध में दो विचारधारायें मिलती हैं। एक विचार है कि शत्रु होने का आधार राष्ट्रीयता और दूसरा है निवास। इस प्रश्न को हल करने के लिए अनेक मापदण्डों का प्रयोग किया जाना चाहिए। विभिन्न व्यक्तियों, निगमों, जहाजों एवं वस्तुओं की शत्रु प्रकृति का निश्चय करने के लिए कुछ नियमों की विवेचना निम्नलिखित शीर्षकों में की जायेगी।

(1) व्यक्तियों का शत्रु चरित्र (Enemy Character of Individuals)—आज मानव विभिन्न राज्यों में बँट गया है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसी भी धर्म, जाति या लिङ्ग का हो अपने राज्य से वफादारी की शपथ खानी पड़ती है। नागरिक को नागरिकता मिलने की यह एक मुख्य शर्त है। जब दो राज्यों में युद्ध की स्थिति पैदा हो जाती है या युद्ध प्रारम्भ हो जाता है तो शत्रु चरित्र का निर्धारण व्यक्ति की राष्ट्रीयता या निवास द्वारा किया जाता है। दो शत्रु राज्यों की जनता भी आपस में शत्रुता रखने लगती है पर तटस्थ राज्यों की जनता ऐसा नहीं करती है। जब तटस्थ राज्य के व्यक्ति सेना में भर्ती हो जाते हैं तो वे भी एक राज्य के पक्ष में या दूसरे राज्य के विरोध में शत्रुतापूर्ण कार्य करने लगते हैं। अतः वे शत्रु की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं, शत्रुता का मुख्य आधार एक व्यक्ति की राज्यभक्ति होती है।

इस विषय में प्रो० लारेन्स ने व्यक्ति या वर्ग को जिसे शत्रुता का लक्षण रखने वाला समझा जाय, बड़े सुन्दर ढंग से वर्गीकरण किया है जो निम्न प्रकार का है :

(i) प्रथम वे व्यक्ति जो किसी राज्य की सेना में भर्ती हो जाते हैं, वे उसी की ओर से लड़ते हैं और उस राज्य के शत्रु को अपना शत्रु और मित्र समझते हैं। युद्ध जितना व्यापक होगा, शत्रुता भी उतनी व्यापक होगी।

(ii) दूसरे प्रकार के वे नाविक होते हैं जो शत्रु देश के जहाजों पर कार्य करते हैं। इनकी स्थिति सैनिक तथा असैनिक जनता के मध्य की होती है। युद्ध आरम्भ होने पर ऐसे नाविकों को बन्दी बना लिया जाता है। उनको इस शर्त पर छोड़ा या मुक्त किया जा सकता है जब वे लिखित रूप से यह घोषणा करें कि वे युद्धकाल में अपना कार्य नहीं करेंगे।

(iii) तीसरी श्रेणी के वे व्यक्ति होते हैं जो किसी न किसी रूप में शत्रु सेना की सहायता करते रहते हैं। जैसे सम्वाददाता, ठेकेदार, प्रेस रिपोर्टर एवं सेना को रसद पहुंचाने वाले व्यक्ति।

(iv) चौथी श्रेणी में वे व्यक्ति आते है जो शत्रु देश में निवास करते है, चाहे वे जातीयता से तटस्थ ही क्यों न हों, शत्रुता के लक्षण प्राप्त कर लेते हैं। शर्त यह है कि युद्ध प्रारम्भ होने पर भी वे शत्रु के देश से व्यापार करते रहते है और इसी प्रयोजन से वहाँ रहते हैं।

(v) उन क्षेत्रों के व्यक्ति जिन पर शत्रु ने आक्रमण कर दिया है, शत्रु ही माने जायेंगे, यह तब तक शत्रु समझे जायेंगे जब तक पूरे क्षेत्र पर शत्रु का अधिकार रहेगा। जहाँ शत्रु का अधिकार समाप्त हुआ वे शत्रु के घेरे से बाहर निकल आयेंगे।

(vi) साधारणतया यह नियम है कि युद्ध आरम्भ हो जाने पर शत्रु देश के नागरिकों को अपने स्वदेश जाने की चेतावनी दे दी जाती है। इसमें कुछ अवधि का भी उल्लेख होता है, इस अवधि के बीतने पर भी यदि वे देश नहीं छोड़ते तो वे शत्रु माने जाते हैं।

कुछ राज्य युद्ध प्रारम्भ होते ही उसमें सम्मिलित हो जाते हैं पर कुछ राज्य युद्ध में भाग नहीं लेते हैं। भाग न लेने वाले राज्यों को तटस्थ राज्य माना जाता है और उसके नागरिकों

को भी तटस्थ माना जाता है। 1939 के द्वितीय विश्व युद्ध के समय ग्रेट ब्रिटेन ने शत्रु के साथ व्यापार करने से सम्बन्धित एक कानून पास किया और उसमे शत्रु का यह लक्षण बताया कि केवल शत्रु देश का प्रजाजन होने के कारण ही कोई व्यक्ति शत्रु नहीं समझा जायगा, वरन् शत्रु के देश मे रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति शत्रु समझा जायगा। सं० रा० अमेरिका ने भी इस कानून को महत्व दिया। यूरोप के अन्य देशों मे से अधिकाश देशों ने अधिवास की अपेक्षा राष्ट्रीयता को अधिक महत्त्व दिया।

(2) तटस्थ देश के व्यक्तियों का शत्रु चरित्र—युद्ध प्रारम्भ होने पर जो युद्ध में सम्मिलित होना पसन्द नही करते, वे तुरन्त अपनी तटस्थता की घोषणा कर देते हैं। तटस्थता का अर्थ यही लिया जाता है कि दोनों पक्षों के मित्र और किसी पक्ष के शत्रु नहीं। जो देश ईमानदारी से अपनी निष्पक्षता निभाते हैं, तो युद्धरत राष्ट्र उनसे शत्रुता का व्यवहार नहीं करते हैं पर जब वे गुप्त रूप से किसी एक पक्ष की सहायता करते हैं तो उनकी तटस्थता समाप्त हो जाती है और वे शत्रु के मित्र समझकर शत्रु माने जाते हैं और उनसे वैसा व्यवहार ही किया जाता है जैसा शत्रु से किया जाता है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति जो तटस्थ देश का वासी है किसी युद्धरत राज्य की सेना में भर्ती हो जाय या अन्य किसी किसी प्रकार से शत्रु की सहायता करता पाया जाय तो वह भी शत्रु समझा जायगा।

(3) जहाजों की शत्रु प्रकृति (Enemy Character of Vessels)—व्यक्ति के समान जलपोतों की भी शत्रुता का निर्धारण कुछ चिन्हो के आधार पर किया जाता है। जिस देश की पताका, जहाज अपने ऊपर फहराता है वह उसी देश या राज्य का जहाज समझा जाता है। उस पताका से ही उसकी शत्रुता या तटस्थता का पता चल जाता है। 1909 मे लन्दन सम्मेलन द्वारा इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया। यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध मे फास और ब्रिटेन ने इस नियम का पालन किया परन्तु जापान ने इस नियम का दुरुपयोग किया। वैसे यह नियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अग बन चुका है।

पताका के अतिरिक्त कुछ अन्य चिह्न है जिनसे शत्रु जहाज तथा मित्र जहाजों में विभेद किया जा सकता है। ये चिह्न निम्नालिखित हैं :

(i) यदि जहाज के पास शत्रु देश का प्रमाणपत्र है जिसके आधार पर वह समुद्री यात्रा करता है तो उसे शत्रु माना जायगा।

(ii) जो देश प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में भाग ले रहा है, उसका प्रत्येक जहाज भी शत्रु माना जायगा।

(iii) जो देश खुलकर युद्ध कर रहा है यदि कोई जहाज उसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता करता है तो उसकी प्रकृति शत्रुता की मानी जायगी।

(iv) लारेन्स के मतानुसार वह जहाज भी शत्रु समझा जायगा जिसका कप्तान शत्रु देश का हो, फिर चाहे उस पर तटस्थ देश की पताका ही क्यों न फहरा रही हो।

प्रथम विश्वयुद्ध में अमेरिका मे जहाज मालिकों ने जर्मनी पूँजी से नये जहाज खरीदे और उन पर अमेरिका का झण्डा लगाकर जर्मनी को माल भेजा। चूँकि इन जहाजों पर तटस्थ देश का झण्डा लगा था अतः इन्हे पकड़ा न जा सका और न रोका जा सका। ब्रिटेन तथा फ्रांस को यह अनुभव हुआ कि 1909 का लन्दन सम्मेलन का बना नियम पालन करना आवश्यक नहीं। अतः ब्रिटेन ने 20 अक्टूबर 1915 को एक घोषणा कर उस व्यवस्था का परित्याग कर दिया। अतः अनेक परिस्थितियो में तटस्थ राज्य का झण्डा लगाने वाला जहाज भी शत्रु प्रकृति का माना जा सकता है। झण्डा एवं कागज पत्र ही जहाज की प्रकृति को निश्चित नहीं करते हैं।

के मतानुसार निम्नलिखित दशा में तटस्थ देश की पताका लगाने वाला जहाज भी निम्न आधारों पर शत्रु माना जायगा—

(i) यदि जहाज अपनी तलाशी देने से इन्कार कर दे, तो वह तटस्थता खो देगा।

(ii) यदि किसी जहाज के कुछ स्वामी विदेशी हैं और युद्धरत राज्य के शत्रु हैं तो जहाज की तटस्थता समाप्त हो जायगी।

(iii) यदि जहाज लड़ाई के कार्य में सीधा भाग ले रहे हैं, शत्रु देश की विभिन्न प्रकार से सेवा कर रहे हैं, शत्रुओं की सीमाओं में परिवहन कर रहे हैं या उन्हें सूचना देते हैं तो उनकी प्रकृति शत्रुतापूर्ण मान ली जायगी।

युद्धरत देशों के रणपोत शत्रु जहाजों के जहाज को पकड़ लेते हैं और उस पर लदे सामान को जब्त कर लेते हैं या उसे डुबा देते हैं।

(4) सामग्री का शत्रु लक्षण (Enemy Character of Cargo)—अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अभी तक जहाज पर लदे माल के प्रति क्या कार्यवाही हो, निश्चित नियम नहीं बना है। विद्वानों ने भी कोई सर्वसम्मत मत नहीं दिया है। सभी देशों के मत अलग-अलग हैं। ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, हालैण्ड यह मत रखते हैं कि तटस्थ देशों के जहाज पर लदी सामग्री को न पकड़ा जाय। उनका सिद्धान्त है, स्वतन्त्र माल (Free ship, Free goods) इस सिद्धान्त का प्रभाव यह पड़ा कि शत्रु के जहाज पर लदा सामान ही युद्धरत जहाज जब्त करते थे, तटस्थ देश के जहाज को कोई छूता न था। यह भी चिन्ता न की जाती थी कि सामग्री किसकी है। बाद में सं० रा० अमेरिका ने यह घोषणा की कि "एक मित्र के जहाज पर लदा हुआ शत्रु का माल जब्त किया जाना चाहिए तथा शत्रु के जहाज पर लदा माल लौटा दिया जाना चाहिए।"

ओपेनहीम का मत है कि "किसी माल की शत्रुता उसके स्वामी के चरित्र पर निर्भर करती है। यदि माल का स्वामी शत्रु है तो माल को शत्रु माना जाये और यदि माल का स्वामी शत्रु नहीं तो माल को भी शत्रु न माना जाना चाहिये। ब्रिटेन ने इस सिद्धान्त को मान लिया।" इस प्रकार माल की प्रकृति का तो निश्चित नियम बन गया पर स्वामी की प्रकृति का निश्चय अभी विवादास्पद है। माल की प्रकृति के निश्चय के दो आधार हैं—(i) अधिवास (Domicile) तथा राष्ट्रीयता (Nationality)।

(i) अधिवास (Domicile)—यूरोपियन देश आमतौर से यह मानते हैं कि शत्रु देश में अधिवास करने वाला व्यक्ति शत्रु ही माना जाना चाहिए एवं उसका माल भी शत्रु ही माना जाना चाहिए। जो लोग शत्रु देश में नहीं रहते उनका माल भी तटस्थ माना जाना चाहिए। तटस्थ राज्यों में रहने वाले शत्रुजनों का माल भी इसी दृष्टि से शत्रु माल नहीं समझा जाना चाहिए पर शत्रु देश में रहने वाला तटस्थ देश के व्यक्ति का माल तटस्थता खो देता है।

(ii) राष्ट्रीयता (Nationality)—फ्रांस तथा यूरोप के अन्य देश राष्ट्रीयता को अधिवास की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। माल की प्रकृति का निर्णय माल के स्वामी की राष्ट्रीयता के आधार पर होनी चाहिए। शत्रु राज्य के प्रजाजन शत्रु ही माने जायें वे कहीं रहें और उनके माल को भी शत्रु माल समझा जाये।

शत्रु सम्पत्ति (Enemy property)—विरोध के लक्षण रखने वाला शत्रु जो सम्पत्ति रखता है, वह शत्रु सम्पत्ति मानी जाती है। जैसे शस्त्रों से सुसज्जित जहाज, तोपें, बन्दूक, गोला-बारूद विधिपूर्वक ग्रहण की जा सकती है पर कला की कृतियाँ अथवा युद्ध से सम्बन्धित अन्य सम्पत्ति इसके अन्तर्गत नहीं आती है। शत्रु देश के स्थल या जल, युद्ध के लिए उपयोगी, शत्रु देश की वस्तुओं को जब्त किया जा सकता है। तटस्थ राज्य में युद्ध स्थिति की सम्पत्ति शत्रु राज्य द्वारा अभिग्रहण किये जाने से उन्मुक्त है क्योंकि वह पूर्ववर्ती द्वारा संरक्षित रहती।

(5) निगमों की शत्रु प्रकृति (Enemy Character of Corporations)—निगमों की प्रकृति के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अभी तक कोई निश्चित नियम नहीं बना है। डेयलर केस में ब्रिटिश न्यायालय ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि यदि किसी निगम का पंजीकरण शत्रु राज्य के अधीन हुआ है तो उसका शत्रु चरित्र होगा। 1939 में स्विट्जरलैण्ड की सरकार ने आदेश जारी किया कि अगर स्विट्जरलैण्ड के किसी क्षेत्र पर शत्रु का अधिकार हो जाय तो निगमों को अपना कार्यालय वहाँ से हटा लेना चाहिए अन्यथा उनका शत्रु चरित्र होगा। सामान्यतः इसके लिए दो मापदण्ड हैं—निगम का अधिवास और उसका नियन्त्रण जो निगम शत्रु देश में स्थापित होते हैं तथा अपना पंजीकरण करते हैं, उन्हें शत्रु प्रकृति का माना जाता है। यदि ये निगम किसी तटस्थ देश में स्थापित हों तो उसकी प्रकृति राष्ट्रीयता के आधार पर तय होती है अर्थात उस नियम का नियन्त्रण शत्रु राज्य द्वारा हो तो उसे वह शत्रु निगम माना जायगा।

नियन्त्रण वाले नियम का प्रतिपादन स्पष्ट रूप से डेमिलर कम्पनी लिमिटेड बनाम कान्टीनेण्टल टायर तथा रबर कम्पनी लिमिटेड (1919) का विवाद प्रसिद्ध है। इसमें शत्रु लक्षण नियम पूरी तरह समझाया गया है। लार्ड पार्कर द्वारा निर्धारित नियम निम्नलिखित हैं:—

"(i) कम्पनी का स्वरूप व्यक्तिगत हिस्सेदारों के स्वरूप से निर्धारित नहीं होता है। इसके लिए यह देखना होगा कि क्या कम्पनी का वास्तव में करने वाले व्यक्ति शत्रु के आदेश ले रहे हैं या उसके नियन्त्रण में काम कर रहे हैं।

(ii) लार्ड पार्कर का कथन है कि एक कम्पनी जो ब्रिटेन में बनी एवं पंजीकृत हुई, पर वह अपना काम किसी शत्रु देश में करती है, वह शत्रु प्रकृति रखने वाला निगम होगा।

(iii) एक कम्पनी एक ही देश में बनी और वहीं पंजीकृत हुई पर उसका संचालन तटस्थ देश द्वारा होता है, तो वह मित्र कम्पनी मानी जायगी और यदि उसका एजेण्ट किसी शत्रु देश में बसता है तो उसे शत्रु कम्पनी समझा जायगा।

(iv) ब्रिटेन में बनी या पंजीकृत होने पर भी यदि कोई कम्पनी किसी शत्रु देश से व्यापार करती है तो वह शत्रु कम्पनी ही मानी जायगी।

ओपेनहीम ने कहा है कि "लार्डसभा ने डमेलर के मामले को 1943 में पुनः स्वीकृति प्रदान की।"

युद्ध का प्रभाव
(Effect of War)

युद्ध दो या अधिक राज्यों के मध्य होता है। प्राचीन काल में युद्ध होते थे पर उस समय उनका क्षेत्र सीमित होता था और जनता उसमें कोई भाग नहीं लेती थी, केवल लड़ाकू वर्ग ही इसमें भाग लेता था। भारतीय समाज में वर्गों का विभाजन कार्यों के अनुसार हुआ था। ब्राह्मण का कार्य पूर्ण धार्मिक था। क्षत्रिय का काम शासन करना और देश की रक्षा करना था, वैश्य कृषि एवं व्यापार करता था और शूद्र का कार्य उपर्युक्त तीनों वर्गों की शारीरिक सेवा करना था। युद्ध के समय केवल क्षत्रिय ही सेना में भाग लेकर लड़ते थे शेष वर्ग अपने-अपने कार्य में लगे रहते थे। युद्ध होता था पर पड़ोस मे कृषक आराम और निश्चिन्त होकर अपने कार्य में लगा होता था, क्योंकि सैनिक-सैनिक के मध्य युद्ध होता था। असैनिक पर कोई आक्रमण नहीं होता था। मध्य काल में कुछ नवीन शस्त्रों के आविष्कार से युद्ध का क्षेत्र व्यापक हो गया क्योंकि उस समय युद्ध में हारने पर पराजित देश और उसके निवासी विजेता की दया पर निर्भर रहते थे। आमतौर पर विजेता विजित देश को खूब लूटते थे और इतनी बुरी तरह कुचलते थे कि वह कभी सामना करने का साहस न कर सके। पराजितों को घोर अपमानित होना पड़ता था। असैनिक भी इस युद्ध के परिणामों को भोगते थे। आधुनिक काल में तो शस्त्रास्त्र बड़े दूर मार वाले तथा भीषण संहार

करने वाले बने कि कुछ मिनटों में हजारों ही नहीं लाखों का सफाया कर देते हैं। एटम बमों से लाखों लोग मरे, उतने ही बाकी और बीमार पड़े। इतना ही नहीं दो नगर वीरान हो गये उनके आसपास की भूमि अनुपजाऊ बन गयी। इस प्रकार आधुनिक युद्ध भयानक एवं व्यापक हो गये। उनके प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों में भी भयानक एवं गम्भीर रूप से पड़ते हैं।

युद्ध के तत्कालीन प्रभाव (Immediate effects of War)—जब दो राज्यों में युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों राज्यों की जनता में उत्तेजना फैल जाती है। दोनों देशों के सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं जितने गाढ़े मित्र वे युद्ध से पूर्व थे उतने ही कट्टर शत्रु वे एक दूसरे के हो जाते हैं। श्री हाइड के शब्दों में "युद्ध परस्परविरोधी युद्धकारी देशों की ऐसे प्रत्येक सम्बन्ध को विच्छिन्न कर देती है, जिसका मूल कारण दोनो देशो की मित्रता की भावना होती है। शत्रुता आरम्भ होने पर न केवल दोनो देशो की सेनायें एक-दूसरे के विरुद्ध होकर सशस्त्र सघर्ष आरम्भ कर देती हैं, बल्कि कुछ अन्य प्रभाव भी होते हैं।" युद्ध दोनों पक्षों के राजनीतिक सम्बध ही भग करता बल्कि उनके आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों को भी समाप्त कर देता है। शत्रु की प्रत्येक अच्छाई, बुराई में बदल जाती है। एक दूसरे के विरुद्ध आरोप प्रति आरोप प्रारम्भ हो जाते हैं। प्रचार शस्त्र से वे एक दूसरे को बदनाम करना प्रारम्भ कर शत्रुओं के मित्रों में भी बिगाड़ करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार युद्धो का प्रभाव केवल युद्धरत देशों तक ही सीमित नहीं रहता, वरन् प्रभाव विश्व-व्यापी हो जाता है। मित्र राष्ट्रों के अतिरिक्त तटस्थ राज्यों को भी अपनी तटस्थता निभाना कठिन हो जाता है। युद्ध के विभिन्न प्रभाव निम्नलिखित होते हैं—

(1) राजनयिक सम्बन्धों का भंग होना (Termination of Diplomatic and Consular Relations)—युद्ध का प्रथम प्रभाव दोनों पक्षों के राजनयिक सम्बन्धों पर पड़ता है। युद्ध छिड़ते ही दोनो पक्षो के दौत्य सम्बन्ध (Diplomatic Relations) का अन्त हो जाता है। दोनों ओर के राजदूतों एव वाणिज्य-दूतों को पासपोर्ट दे दिये जाते हैं और उन्हें स्वदेश वापस जाने की अवधि दे दी जाती है। साधारणतया, दोनों पक्षों की यह विशेष जिम्मेदारी होती है कि वे एक दूसरे के राजदूतों एवं दूतों को सुरक्षा के साथ अपने देश तक पहुँच जाने की सुविधा दें।

(2) शत्रु देश की सम्पत्ति पर प्रभाव (Effect on Enemys' Property)—युद्ध छिड़ते ही, शत्रु देश की सम्पत्ति पर भी तुरन्त प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव सम्पत्ति की प्रकृति के अनुसार अलग-अलग प्रकार का होता है।

(क) शत्रु की सार्वजनिक सम्पत्ति (Public Property of the Enemy)—पहले यह रिवाज सा था कि युद्ध छिड़ते ही युद्धरत राज्य अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत शत्रु देश की समस्त सम्पत्ति चाहे वह सार्वजनिक हो या व्यक्तिगत हो जब्त कर लेता था। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के शनैः शनैः विकास से इस रिवाज मे परिवर्तन हुआ। पर यह व्यक्तिगत सम्पत्ति के विषय में था। सार्वजनिक सम्पत्ति पर आज भी युद्धरत राज्य युद्ध छिड़ते ही कब्जा कर लेते हैं। सार्वजनिक सम्पत्ति में निम्नलिखित चीज आती हैं—चल और अचल सभी प्रकार की सम्पत्ति चाहे वह देश के अन्दर हो या महासमुद्रों में स्थित हो। इसमें शत्रु के सार्वजनिक जहाज, रणपोत, टापू या अन्य कागज पत्र, सैनिक कार्यों में काम आने वाला सामान आदि। ऐसे जहाजों को छोड़ दिया जाता है जो परोपकारी कार्यों में लगे हैं। ऐसे स्थानों या संस्थाओ पर भी कब्जा नहीं किया जाता जो धर्म स्थान है या अस्पताल है भले ही वे शत्रु देश से सम्बन्धित हो पर उनका कार्य जनता की सेवा एवं सहायता करना माना जाता है।

(ख) शत्रु की व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property of the Enemy)—आज कल शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति को नष्ट नही किया जाता है। इस सम्बन्ध के 1793 मे शत्रु की व्यक्तिगत सम्पत्ति का 'राज्यसात्करण' (Confiscation) अन्तिम वार हुआ। उसके बाद 19वीं

शताब्दी तक कोई ऐसी घटना नहीं घटी। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश संसद ने 'शत्रु के साथ व्यापार' संशोधन अधिनियम पास किया जिसके अनुसार शत्रु की सम्पत्ति को एक संरक्षक (Custodian) के हाथ में सौंपा गया। यह कार्य था कि वह युद्ध काल में शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति से होने वाले लाभांशों को प्राप्त करना, इनका विनियोग करना तथा युद्ध के अन्त तक उन्हें सुरक्षित रखना। द्वितीय विश्व युद्ध के समय में भी ब्रिटेन ने 1939 में ऐसा ही कानून बनाया। 1920 से 1947 तक अनेक शान्ति सन्धियों मे शत्रु की वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये अनेक व्यवस्थायें की गयीं। इस प्रकार युद्ध काल में शत्रु अपनी सम्पत्ति के लाभांश को नहीं प्राप्त कर सकता है पर उसकी सम्पत्ति सुरक्षित रहती और शान्तिकाल मे उसे मय लाभांशों के लौटा दी जाती है, यदि कोई हानि व्यक्तिगत सम्पत्ति को युद्ध काल में उठानी पड़े तो उसका मुआवजा भी दे दिया जाता है।

(3) शत्रु देश के व्यक्तियों पर प्रभाव (Effection Persons of Enemy Country)— पहले दो देशों में जब युद्ध छिड़ता था तो तुरन्त शत्रु देश के नागरिकों को अपने-अपने देशों में बन्दी बना लिया जाता था, पर अब इस प्रथा का अन्त हो गया है। आजकल केवल उन्हीं व्यक्तियों को बन्दी बनाया जाता है जो सेना से सम्बन्धित हों या सेना में भर्ती होना चाहते हैं अथवा उन लोगों को बन्दी बनाया जाता है जिन्हें शत्रु को महत्वपूर्ण सूचना देने के लिये अंकित पाया जाता है। शेष सभी शत्रु देश के नागरिक स्वतन्त्र रूप से रह सकते हैं पर उन्हें एक निश्चित अवधि तथा देश छोड़ने की अनुमति दी जाती है। 1914 में जब प्रथम युद्ध छिड़ा तो इङ्गलैण्ड ने 10 अगस्त 1914 तक ब्रिटिश प्रदेश में विद्यमान सभी जर्मन प्रजाजनों को स्वदेश छोड़कर चले जाने को कहा। इसी प्रकार दूसरे विश्व युद्ध में जब ब्रिटेन ने 3 सितम्बर 1939 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तो समस्त इङ्गलैण्ड के साम्राज्य में बसे जर्मन नागरिकों को 9 सितम्बर तक अपने स्वदेश लौट जाने की आज्ञा दी। 1897 में टर्की ने समस्त यूनानियों को टर्की प्रदेश से 15 दिन के अन्दर निकल जाने की आज्ञा दी। बोअर युद्ध मे ट्रांसवाल के शासकों ने वहाँ रहने वाले सभी शत्रु जनों को जो बिना अनुमति पत्र प्राप्त किये जाते थे, अपने राज्य से निकल जाने को कहा।

इस विषय में हालैण्ड (Holland) का कहना है कि "युद्ध छिड़ने पर एक राज्य शत्रु के प्रजाजनों को अपने प्रदेश मे से निकालते समय दो नियमों से प्रभावित होता है। प्रथम यह कि शत्रु देश के प्रजाजन और उनकी सम्पत्ति शत्रु राज्य से भिन्न नहीं है। अतः उसको जब्त कर लिया जाय। दूसरे नियमो के अनुसार युद्ध राज्यों मे होता है और इसलिये किसी राज्य के प्रजाजनों अथवा उनकी सम्पत्ति पर उस समय तक प्रतिबन्ध न लगाया जाय जब तक कि उनके लिये उचित कारण न हो।" श्री वैटल के मतानुसार "उन्हें अपने देश लौट जाने की तिथि निश्चित कर दी जाय, यदि वे इस तिथि के बाद भी न जायें तो उनको पकड़ा जा सकता है।" अधिकांश विद्वान इसी मत के हैं कि शत्रु के प्रजाजनों को तब तक नजरबन्द न किया जाय जब तक उनके द्वारा कोई शत्रुता पूर्ण कार्य न किया जाये पर उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक अपने प्रदेश में घूमने की छूट न दी जाये। वैटेल एवं ब्लशली (Bluntschli) ने उपर्युक्त मत का समर्थन किया है।

प्रथम विश्व युद्ध मे युद्धकारी देशों ने शत्रु प्रजाजनों के नजर बन्द करने की नीति अपनाई थी। उनकी गतिविधियों पर कड़ी दृष्टि रखी गई क्योंकि उन्हें बड़ा खतरनाक समझा गया था। 1917 में जब जर्मनी ने लूसीटानिया जहाज को डुबा दिया तो ब्रिटिश जनो मे जर्मनों के विरुद्ध बड़ी उत्तेजना फैली और उनसे बदला लेने का भाव जगा। इससे इङ्गलैण्ड में जर्मन बन्दियों का जीवन खतरे में पड़ गया। प्रथम विश्व युद्ध मे जर्मनी, फ्रांस तथा इङ्गलै

प्रजाजनों को नजरबन्द कर लेने की नीति अपनाई पर सं० रा० अमेरिका ने ऐसा नहीं किया। द्वितीय विश्व युद्ध में भी सं० रा० अमेरिका ने कुछ जर्मनों को सैनिक कारणों से नजर बन्द रखा था।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद 1949 में जेनेवा अभिसमय में युद्ध काल में असैनिक व्यक्तियों की रक्षा का नियम बना। इसके अनुसार शत्रु प्रजाजनों को अपनी इच्छानुसार स्वदेश लौटने की सुविधा दी जाय बशर्ते उनका जाना राज्य के हितों के प्रतिकूल न हो। उन लोगों को घर लौटते समय आवश्यक धनराशि और व्यक्तिगत सामान अपने साथ ले जाने की अनुमति दी जाय। यदि शत्रु प्रजाजन घर न जाना चाहें तो उन्हें विदेशी लोगों को जो सुविधायें शान्ति काल में दी जाती हैं, दी जायें। यदि शत्रु प्रजाजन नजरबन्द किया जाये तो उसे यह सुविधा दी जाये कि वह अपने विषय में स्थानीय न्यायालय में पुनर्विचार का प्रार्थना पत्र दे सके। शत्रुजन युद्धकाल में उन शरणार्थियों की स्थिति से भिन्न स्थिति रखते जो सरकार का संरक्षण प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उन्हें धार्मिक विश्वासों एवं अपने पारिवारिक अधिकारों के संरक्षण पाने का अधिकार है। उनसे जबरन सूचना प्राप्त करने, या शारीरिक कष्ट देने या बल पूर्वक कोई कार्य करने आदि दुर्व्यवहार नहीं किया जाना चाहिये। उन्हें न डराया जाय, न धमकाया जाय और न मारा-पीटा जाये। बिना अपराध किये उन्हें कोई दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये। रेडक्रास संस्था को अपना कार्य स्वतन्त्रता पूर्वक करने की अनुमति दी जानी चाहिये। उन्हें नजरबन्दों की आवश्यक सहायता करने की सुविधा दी जानी चाहिये। नजरबन्दों के आश्रितों को राज्य की ओर से निर्वाह का उचित प्रबन्ध किया जाना चाहिये।

(4) व्यापारिक सम्बन्ध की समाप्ति (Dissolution of Commercial Relations)—युद्ध का प्रभाव व्यापारिक सम्बन्धों पर भी पड़ता है। आमतौर से दो राज्यों के मध्य जब युद्ध छिड़ता है तो राजनीतिक सम्बन्ध के साथ-साथ व्यापारिक सम्बन्ध या तो समाप्त हो जाते हैं या युद्ध काल तक स्थगित हो जाते हैं। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व ब्रिटिश एव अमेरिका के लेखकों का मत था कि युद्ध छिड़ने पर व्यापारिक सम्बन्ध स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं और इसे विशेष अनुमति प्राप्त करने पर ही जारी रखा जा सकता है। सामान्यतः दोनों देशों में सब ठेके और संविदायें समाप्त हो जाती हैं अथवा स्थगित हो जाती हैं, परन्तु फ्रांस, जर्मनी तथा इटालियन लेखकों का मत है कि युद्ध से सब सम्पर्क समाप्त नहीं होते हैं, युद्धकारी देशों को यह अधिकार है कि वे अपनी विशेष आज्ञाओं से शत्रु के साथ व्यापार बन्द कर दें। 1914 के प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटेन ने "शत्रु देश के साथ व्यापार का अधिनियम (Trading with Enemy Act") पास करके विशेष अनुमति के अतिरिक्त शत्रु देशों के प्रजाजनों के साथ समस्त व्यापारिक सम्बन्ध अवैध घोषित कर दिया था। फ्रांस ने भी 27 सितम्बर 1914 को एक राजकीय आदेश निकालकर ब्रिटेन का अनुकरण किया था। 30 सितम्बर 1914 को जर्मनी ने एक अध्यादेश जारी कर ब्रिटेन और उसके साम्राज्य में रहने वाले व्यक्तियों को धन की अदायगी वर्जित कर दी थी। सं० रा० अमेरिका ने 1917 में 'शत्रु के साथ व्यापार का अधिनियम' पास कर जर्मनी से समस्त व्यापारिक सम्बन्ध भंग कर दिये थे। द्वितीय विश्व युद्ध में भी सभी युद्धरत राज्यों ने विशेष कानून पास कर शत्रु देश से अपने व्यापारिक सम्बन्ध भंग कर दिये थे।

(5) संविदाओं पर प्रभाव (Effect on Contracts)—युद्ध प्रारम्भ होते ही शत्रु देशों में समस्त राजनीतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध भंग हो जाते हैं अतः इन सम्बन्धों पर आधारित दोनों देशों में व्यक्तियों एवं कम्पनियों में हुए व्यापारिक समझौते (Partnership Agreement) भी भंग हो जाते हैं। वाणिज्य दूत, (Consuls) अपने-अपने देशों को लौट जाते हैं। राज्य अपनी इच्छानुसार इन समझौतों को जारी, विलम्बित एवं भंग कर सकते हैं। ओपनहीम का कहना है कि

युद्ध के दौरान संविदाओं को पूरा करना असम्भव हो जाता है। अतः वे रद्द हो जाते है। लेकिन किरायेदारी के समझौते रद्द नहीं होते। वह केवल युद्धकाल में निलम्बित हो जाते है। ब्रिटिश कानून में व्यवस्था है कि युद्ध के समय शत्रु राज्य का नागरिक ब्रिटिश न्यायालय 485 में वादी नही बन सकता है।

(6) *ऋणों की अदायगी पर प्रभाव* (Effect on Payment of Debts)—दो देशों के मध्य युद्ध छिड़ते ही ऋणो को वसूल नही किया जा सकता है, उनकी अदायगी रोक दी जाती है। *युद्ध प्रारम्भ होने पर ऋणदाता घबराता नहीं है क्योंकि वह समझता है कि युद्ध उसके ऋणों को* समाप्त नहीं कर सकता है, हाँ उसकी अदायगी में विलम्ब हो सकता है। ऋण मारा नहीं जाता *क्योंकि ऋण जनता का ऋण दूसरे देश की सरकार पर होता है। तो सरकार उसे जब्त कर लेती है* और युद्ध के बाद भी उसकी अदायगी सम्भव नही होती है। 1854 में जबकि ब्रिटेन व रूस में युद्ध चल रहा था, *फ्रांस ने ब्रिटेन से अनुरोध किया कि वह रूस को ऋण की किश्त न दे।* परन्तु ब्रिटेन ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। *उसका कहना था कि असाधारण परिस्थितियों में अपने दायित्व को पूरा करना नैतिक दृष्टि से जरूरी है।*

(7) तटस्थ देशों की सम्पत्ति पर प्रभाव (Effect on property of Neutral Countries)—साधारण तथा तटस्थ देशों की सम्पत्ति पर युद्ध काल में कोई प्रभाव नहीं पड़ता है पर उसका दुरुपयोग हो सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी ने अन्य देशों की सम्पत्ति लूटकर उसे सुरक्षित रखने के लिए तटस्थ देशों मे जमाकर दी थी। मित्र राष्ट्रों ने इस सम्बन्ध में सम्बन्धित तटस्थ राज्यों को अनेक चेतावनी दी और हिटलर के पराजित हो जाने के बाद, उन्होंने जर्मनी द्वारा जमा की सम्पत्ति स्वीडन एवं स्विटजरलैण्ड में इकट्ठा कर ली। सं० रा० अमेरिका ने 1941 में युद्ध मे कूदने पर बल्कि उससे पूर्व ही जर्मनी तथा उसके अधिकृत तटस्थ देशों की सम्पत्ति का निश्चलन (Freezing of Assets) कर दिया था। इसके अनुसार इस सम्पत्ति का प्रयोग किसी व्यापारिक प्रयोजन से नही हो सकता था। इसी प्रकार [illegible], लिथुआनिया, लैटेविया, इस्टोनिया आदि की सं० रा० अमेरिका में [illegible] सम्पत्ति को निश्चलित कर दिया था।

(8) संधियों पर प्रभाव (Effect on Treaties)—अब तक स्पष्ट नहीं हो सका है कि युद्ध का प्रभाव सधियों पर क्या पड़ता है? न्यायाधीश कार्डोजो (Cardozo) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "युद्ध और छिड़ने युद्धकारी देशों की सन्धियों पर इसके प्रभाव का प्रश्न [illegible] कानून की ऐसी समस्या है, जिसका अभी तक कोई सन्तोषजनक [illegible] नहीं हुआ है।" पुराने [illegible] इस विषय मे यह मत रखते थे कि युद्ध छिड़ने से युद्धकारी देशों की सन्धियाँ समाप्त हो जाती है पर आधुनिक विधिशास्त्री इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं तथा [illegible] भी इसके अनुकूल नहीं। उनका मत है कि युद्ध छिड़ने से सन्धियाँ [illegible] (Annule) या रद्द होती है। कुछ सन्धियाँ बनी रहती है, तथा कुछ [illegible] जाती हैं।

अन्यथा यह सन्धि रद्द हो जायगी। दूसरी कसौटी है कर्मगत (Objective)। इसमें यह प्रश्न रहता है कि क्या इस सन्धि का पालन युद्ध संचालन के द्वारा संगत (Compatible) है? यदि संगत है तो सन्धि जारी रहेगी अन्यथा समाप्त हो जायगी।

इन कसौटियों को लागू करते हुए तथा राज्यों के वर्तमान व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए स्टार्क ने इस विषय में कानूनी स्थिति का प्रतिपादन निम्नलिखित रूप मे किया है—

(क) स्थायी व्यवस्था रखने वाली, हस्तांतर (cession) की तथा सीमाएँ निर्धारित करने वाली सन्धियाँ, युद्ध से अप्रभावित रहती हैं। दूसरे शब्दों में 'युद्ध छिड़ने के बाद भी वे यथापूर्व बनी रहती हैं।

(ख) युद्धकारी देशों के दोनों पक्षों में सामान्य राजनीतिक कार्यवाही तथा उत्तम सम्बन्ध बनाये रखने पर बल देने वाली सन्धियाँ (Treaties of Alliance) युद्ध आरम्भ के साथ समाप्त हो जाती हैं।

(ग) शत्रुतापूर्ण कार्यों (Hostilities) से युद्ध संचालन को तथा युद्ध के नियमों को निर्धारित करने वाले 1899 एवं 1907 के हेग अभिसमयों जैसी सन्धियाँ युद्ध छिड़ने पर भी पूर्ववत बनी रहती हैं।

(घ) स्वास्थ्य, मादक द्रव्यों, औद्योगिक सम्पत्ति आदि से सम्बन्ध रखने वाली सन्धियाँ अथवा बहुपक्षीय अभिसमय (Multilateral Convention) युद्ध से अप्रभावित रहते हैं। बस इतना होता कि युद्धकाल में यह स्थगित हो जाते हैं और युद्ध के बाद पुनः जीवित हो जाते हैं।

(ङ) कई बार सन्धियों में स्पष्ट रूप से उल्लिखित होता है कि युद्ध छिड़ने के बाद उनकी क्या स्थिति होगी। 1919 में हवाई यातायात अभिसमय के अनुच्छेद 38 में यह व्यवस्था की गयी थी कि युद्ध छिड़ने पर समझौता करने वाले देशों की स्वतन्त्रता पर युद्धकारी अथवा तटस्थ देशों के रूप में इसके कारण कोई प्रतिबन्ध नहीं लगेगा। इसका अर्थ यह है कि युद्धकाल में इस सन्धि का पालन करना आवश्यक न होगा।

स्थल युद्ध के नियम
(Laws of Land Warfare)

स्थल युद्ध के उद्देश्य (Aims of Land Warfare)—स्थल युद्ध के दो मुख्य उद्देश्य होते हैं—(i) शत्रु सेना को परास्त करना तथा (ii) शत्रु प्रदेश पर अधिकार जमाना एवं शासन करना।

स्थल युद्ध के साधन (Means of Land Warfare)—स्थल युद्ध के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये जो साधन प्रयुक्त होते हैं, उनमें मुख्य है हिंसा का उपयोग। अन्य साधनों में अग्रलिखित साधन आते हैं: शत्रु की सम्पत्ति का आत्मसातकरण (Appropriation), विध्वंस, घेराबन्दी, बमवर्षा, जासूसी, देशद्रोह में सहायता, छलोपाय (Ruses) आदि। प्रथम मुख्य साधन अर्थात् हिंसा का प्रयोग तत्सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया जायगा।

शत्रु के प्रति हिंसा के प्रयोग को मर्यादित करने वाले स्थलीय युद्ध नियम (The laws of Land warfare to limit the use of force against Enemy)—यद्यपि यह कहा जाता है कि "प्रेम तथा युद्ध में सभी कुछ उचित है।" (All is fair in love and war) पर हर चीज की मर्यादा होती है। सीमा से अधिक प्रेम भी मोह (Attachment) का रूप धारण कर लेता है और हिंसा का प्रयोग भी सीमा के पार करने पर विनाश का रूप धारण कर लेता है। आज के युग में असभ्य जातियों का यह सिद्धान्त नहीं माना जाता है कि शत्रु की सेनायें हिंसा की मर्यादा लांघ कर किसी जाति का पूर्णतया विनाश कर दें। युद्ध में विजय को मान्य करने वाले राष्ट्रों को

अपने विरोधियों के प्रति अमानुषिक व्यवहार की अनुमति नहीं दी जा सकती है। अतः युद्ध में हिंसा को मर्यादित करने के लिये सभ्य राष्ट्रों ने कुछ युद्ध के नियम भी बनाये हैं। वर्तमान समय में स्थल युद्ध के नियमों का निर्माण सर्व प्रथम "कोलम्बिया कालेज न्यूयार्क" के प्रो० फ्रांसिस लीबर (Prof. Francis Leiber) ने अमेरिकन गृह-युद्ध (1961-65) में किया। 24 अप्रैल 1863 को सं० रा० अमेरिका की सरकार ने उन्हें "युद्ध क्षेत्र में अमेरिकन सरकार की सेनाओं के लिये आदेश (Instruction for the Government Armies of the United States in the field) के रूप में प्रकाशित किया। उन्हीं नियमों को अन्य राज्यों ने भी 1899 एवं 1907 में कुछ संशोधनों के साथ हेग सम्मेलनों में स्वीकार कर लिया। इन्हें "हेग नियम" का नाम दिया गया।

इसमें सर्वप्रथम युद्धमानों (Belligerent) का लक्षण दिया गया है, ये ऐसे लड़ने वाले है जिन्हें वैध योद्धा (Lawful Combatants) कहा जाता है। इनमें मुख्य रूप से ऐसे देश हैं जिनकी नियमित सेवायें (Regular Armies) होती हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त युद्ध के नियमों का पालन करने वाले छापामार दस्तों (Guerilla Troops), स्वयं सेवक दल (Volunteer Corps) तथा नागरिक सेना (Militia) को भी वैध योद्धा माना जाता है। बशर्ते कि (i) इनका नेतृत्व उचित रीति से हो, (ii) ये दूर से पहचाने जा सकने वाले निश्चित विशेष चिन्ह धारण करें, (iii) खुले रूप में शस्त्र रखते हों, (iv) युद्ध के कानून एवं प्रथाओं के अनुसार लड़ाई करें। कई बार किसी देश की असैनिक जनता सामूहिक रूप से स्वयमेव शत्रु के विरुद्ध विद्रोह के लिये खड़ी होती है और शस्त्र धारण करती है, इनका परिभाषित नाम "Levies en Masse" है। कौटिल्य इन्हें "औत्साहिक बल" का नाम देते थे। यदि ये उपर्युक्त चारों शर्तें पूरा करतो है तो उन्हें भी वैध योद्धा का दर्जा दिया जा सकता है।

वैध योद्धा और योद्धाभिन्न असैनिक जनता के साथ युद्ध के समय हिंसा के प्रयोग में बड़ा भेद किया जाता है। युद्ध का उद्देश्य शत्रु को पराजित करना होता है, अतः शत्रु के सैनिको के प्रति उतनी ही हिंसा वैध है जो उपर्युक्त उद्देश्य को पूरा कर सके। इस मर्यादित हिंसा के तीन रूप हैं—उन्हें जान से मारना, घायल करना तथा बन्दी बनाना, युद्ध में सैनिक, अधिकारी तथा राजा तक को गोली से मारा जा सकता है। परन्तु ऐसा तभी किया जा सकता है जब वे लड़ने को तैयार हों या बन्दी बनने से इन्कार करे। अतः बीमार या घायल, हथियार डालने वाले, समर्पण करने वाले, बन्दी बनाये न जाने का विरोध न करने वाले सैनिकों का न बध किया जा सकता है और न उन्हें घायल किया जा सकता है। इन्हें दयादान (Quarter) दिया जाना चाहिये और इनकी प्राणों की रक्षा होनी चाहिये। हेग सम्मेलन (Convention) की धारा 23 में दिया गया है कि "(i) शत्रु की वर्दी का प्रयोग (ii) शान्ति ध्वज एवं सैनिक ध्वज का अनुचित प्रयोग (iii) धोखे से शत्रु नागरिक की हत्या अथवा घायल करना (iv) शत्रु द्वारा शस्त्र त्यागने पर मारना (v) युद्ध में निष्क्रय रहने वाले नागरिकों को मारना अथवा घायल करना आदि को वर्जित किया गया है।"

ये वर्तमान समय में सर्वमान्य नियम है। विभिन्न देशों के न्यायालय इन नियमों का उल्लंघन करने वाले को दण्ड देते हैं। 1945 के एक कनाडियन न्यायालय ने एक जर्मन रेजिमेण्ट के सेनापति को (Kurt Mayer) को इसलिये प्राणदण्ड दिया था क्योंकि उसने अपने सैनिकों को इस बात के लिये उकसाया था कि वे मित्र-राष्ट्रों के सैनिकों पर किसी प्रकार दयादान (Quarter) न करे। बाद में उसका दण्ड घटाकर आजीवन कारावास में बदल दिया। (Ruchleschell Case) में अभियुक्त पर यह आरोप लगाया गया कि वह एक ब्रिटिश व्यापारिक जहाज पर आत्म समर्पण करने के बाद भी गोली चलाता रहा। 1945 मे हालैण्ड ने एक ब्रिटिश सैनिक न्यायालय में आलमेलो (Almelo) के मामले में एक व्यक्ति को इसलिए दण्ड दिया कि उसने हवाई जहाज

पर आग लगने पर उससे कूदकर एक निजी मकान में छिपे हुये ब्रिटिश हवाबाज को गोली से मारा था। इस प्रकार की हिंसा अमानवीय, जघन्य और अवैध समझी जाती है।

यद्यपि युद्ध में योद्धाओं एवं सैनिकों को मारना वैध माना जाता है पर कुछ मारने के ढंगों को अवैध माना जाता है। तलवार, बन्दूक, मशीनगन आदि से मारना तो वैध है, परन्तु ऐसे साधनों से प्राण लेना अवैध एवं वर्जित है जिससे शत्रु को अत्यधिक कष्ट या पीड़ा हो। हेग सम्मेलन में विष या अनावश्यक हानि (Unnecessary injury) पहुँचना, जलता हुआ द्रव डालने वाले हथियार, अग्निवाणों तथा प्रक्षेपणास्त्रों (Projectiles) का प्रयोग निषिद्ध बताया जाता है। अतः शत्रु द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले पानी के जल स्रोतों, कुओं, पम्पों, नदियों को विषैला नहीं बनाना चाहिए, विषैले हथियारों का प्रयोग वर्जित है राइफल में काँच के टुकड़े, लोहे के नुकीले तथा तोपों में *Chain short, crossbar short* या अत्यन्त गर्म गोले नही भरे जा सकते हैं। धारा 23 के अनुसार शत्रु के सैनिकों को धोखे से मारा या घायल नही किया जा सकता है। वध के लिये हत्यारों को किराये पर नहीं रखा जा सकता है। 1899 के हेग अभिसमय में दमदम गोलियों एवं श्वासरोधी तथा हानिकारक गैसों के प्रयोग को वर्जित किया गया था। इनका निषेध 1919 की वर्साय सधि तथा 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन में भी किया गया था।

1925 में राष्ट्र संघ की परिषद द्वारा बुलाये गये एक सम्मेलन में विभिन्न राज्यों ने एक प्रोटोकल पर हस्ताक्षर किये, इसके अनुसार श्वासरोधी, विषैली तथा अन्य हानिकारक गैसों का प्रयोग वर्जित किया गया। बीमारी के कीटाणुओं के फैलाने का निषेध किया गया। 1949 में जेनेवा अभिसमय ने घायलों, अस्पतालों के डाक्टरों या अन्य कर्मचारियों, सैनिक अस्पतालों एवं पादरियों को युद्ध बन्दी नहीं बनाये जायें, ऐसे नियमों का सृजन किया।

असैनिक जनता (Civilian) के लिये युद्ध नियम—मध्यकाल मे पराजित राष्ट्र की सामान्य जनता के प्रति विजेता बड़ा क्रूर व्यवहार करता था। किले में रहने वाले सभी स्त्री-पुरुष सैनिक-असैनिक का भेद-भाव नही किया जाता था और विजेता सबको तलवार के घाट उतार देता था। भारत का मध्यकालीन इतिहास बर्बर जातियों के अत्याचारों, क्रूर कृत्यों से भरा पड़ा है भारत सरकार उस इतिहास को बदलना चाहती है ताकि हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्यता समाप्त हो जाये। *ऐसा तभी सम्भव होगा जब भारत में पूर्णतया साम्यवादी राज्य स्थापित हो जायगा।*

18वीं शताब्दी मे ' राष्ट्रों के कानून" का यह नियम सार्वभौम रूप से माना जाने लगा कि युद्ध में भाग न लेने वाले व्यक्तियों को आक्रमण के समय न मारा जाय। 1863 में सं० रा० अमेरिका मे गृह-युद्ध के समय एक सरकारी आदेश मे कहा गया कि "यह सिद्धान्त अधिकाधिक रूप मे स्वीकार किया जाने लगा है कि युद्ध की आवश्यकता जहाँ तक अनुमति दे, वहाँ तक शस्त्र हीन नागरिकों के शरीर, सम्पत्ति एवं समाज को कोई क्षति न पहुँचाई जाय।" आज यह नियम सभी देश मानते हैं कि असैनिक व्यक्तियों को अवध्य एवं अनाक्रमणीय माना जाय। इन्हें युद्ध बन्दी बनाना भी वर्जित है। विशेष अवस्था में इन्हें युद्ध भड़काने के अपराध पर बन्दी बनाया जा सकता है। यदि जनता सामूहिक रूप से विद्रोह करे तो इन्हें बन्दी बनाया जा सकता है अन्यथा आक्रान्ता को सैनिक सेवा योग्य व्यक्तियों को बन्दी नहीं बनाना चाहिए। बन्दी बनाने के अतिरिक्त शत्रु अधिकृत प्रदेश में शान्ति बनाने के लिए पुल नष्ट करने वालों, तोड़-फोड़ करने वालों एवं अराजकता फैलाने वालों को कारावास का दण्ड दिया जा सकता है। युद्ध में लड़ने के लिये या अपने देश के भेद बताने के लिये उन्हें विवश नहीं किया जा सकता है पर सैनिक कार्यों के लिये जैसे सड़कें बनवाना, पुल निर्माण या भवन निर्माण के लिये इन्हें मजदूरी देकर कार्य कराया जा सकता है। पर हिंसा के प्रयोग की सीमायें हेग अभिसमय के 46 वें अनुच्छेद में दी गई हैं। इसमें कहा गया है कि "इनके पारिवारिक सम्मान और अधिकारों का वैयक्तिक जीवन और वैयक्तिक सम्पत्ति

का, धार्मिक विचारो तथा धार्मिक स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाना चाहिए।" 1949 के जेनेवा अभिसमय मे भी इस सिद्धान्त को मान लिया गया है।

असैनिक जनता पर हवाई आक्रमण (Aerial Bombardment on Civil Population)—वर्तमान युद्धों में हवाई आक्रमण से असैनिक जनता को सबसे भयानक खतरा रहता है। 1907 के हेग अभिसमय के 25वें अनुच्छेद में आरक्षित कस्बे एवं गाँवों पर बमबारी का निषेध किया गया है पर इसका पालन न 1914 के विश्व युद्ध में हुआ और न 1959 के विश्व युद्ध में हुआ। आज भी युद्ध जब एक-दूसरे के विरुद्ध छिड़ता है तो सैनिक कम और असैनिक अधिक मारे जाते हैं तथा नागरिक सम्पत्ति का विनाश होता है। पाकिस्तान तो अस्पतालों, पुजा ग्रहों एवं खुले बाजारों पर भी सदैव बमबारी करता रहा है। इजराइल, जापान, चीन एव अमेरिका भी इस अपराध में सम्मिलित हैं। 1945 में जापान के दो शान्त नगर हिरोशिमा एवं नागासाकी को अमेरिकन एटम बमों से ध्वस्त कर दिया गया। युद्ध जीतने का यह सर्वथा अनुचित साधन था। 1949 में पुनः एक अभिसमय में असैनिकों की रक्षा के लिए नियम अवश्य बना है पर जनता के परित्राण के लिए वह पर्याप्त नहीं।

युद्धबन्दियों की स्थिति एवं उनके सम्बन्ध में नियम
(Position of War Prisoners and Laws Regarding Them)

जेनेवा सम्मेलन (Geneva Convention 1864)—भारत में प्राचीन काल मे इस विषय मे उदार नियम थे। महाभारत के शान्ति पर्व में उल्लेख आया है कि "युद्ध बन्दी को एक वर्ष तक दास रूप में रखकर, मुक्त कर दें और उसे अपना पुत्र समझें 96/41। पर मध्यकाल में या तो युद्ध बन्दियों को मार डाला जाता था या सदैव के लिये गुलाम बना लिया जाता था। मुस्लिम काल मे गुलामों को बेच दिया जाता था। तेमूरलंग ने भारत में आने पर 1 लाख व्यक्ति युद्धबन्दी के रूप में पकड़े और देहली के ऊपर चढ़ाई करने से पूर्व उन्हें गाजर-मूली की तरह काट डाला। कुछ जातियों मे युद्ध बन्दियों को देवता के आगे बलि चढ़ा दिया जाता था। कई बार युद्ध बन्दियों का परस्पर विनिमय हो जाता था। मध्य युग की समाप्ति पर इनका बध करना या दास बनाने की प्रथा ढीली पड़ गयी पर उनके साथ दुर्व्यवहार कम न हुआ। उन्हें अपराधी समझा जाता था और उन्हें पकड़ने वाले अधिक से अधिक मोचन धन (Ransom) लेकर छोड़ देते थे। मोचन धन की मात्रा बन्दियों के अनुसार तय होती थी। 17वो शताब्दी में युद्ध बन्दी पकड़ने वाले राज्य की सम्पत्ति माने जाने लगे। पर उनके साथ क्रूर व्यवहार का अन्त न हुआ। 18वीं शताब्दी में शनैः-शनैः युद्ध बन्दियों के प्रति भाव बदले और उन्हें इस उद्देश्य से बन्दी बनाये रखना आवश्यक समझा गया कि वे भागकर शत्रु सेना मे सम्मिलित न हों जायें। युद्ध बन्दियों को कारावास में पड़े अपराधियों से भिन्न रखा जाता था और उनसे व्यवहार भी भिन्न किया जाता था। ओपेनहीम के मतानुसार 1785 मे सं० रा० अमेरिका तथा प्रशिया में एक सन्धि हुई जिसमें सर्वप्रथम उनसे उचित व्यवहार की बात स्वीकार की गयी। उन्हें कैदियों के कारावास से भिन्न स्वास्थ्यप्रद स्थानों में रखा जाता था उनको बेड़ियाँ न पहनाकर, व्यायाम एवं अच्छे भोजन की सुविधा दी जाने लगी। 19वीं शताब्दी में लगभग सभी राज्यों ने युद्धबन्दियों को वही सुविधा देना प्रारम्भ कर दिया जो वे अपने युद्धबन्दियों को दिखाने की शत्रु देश से आशा करते थे। 1907 के अभिसमय (हेग) में युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में विशुद्ध नियम बनाये गये। प्रथम विश्व युद्ध के अनुभवों से लाभ उठाकर 47 राज्यों के प्रतिनिधियों ने युद्ध बन्दियों के साथ व्यवहार पर नया अभिसमय तैयार किया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पुनः युद्धबन्दी सम्बन्धी नियमों में सशोधन हुआ। 1949 के जेनेवा अभिसमय में नया अभिसमय बना।

1949 अभिसमय में युद्धबन्दियों की सूची (List of War Prisoners in 1949

Geneva Convention)—जेनेवा अभिसमय में चौथी धारा में निम्नलिखित सूची युद्धबन्दियों की बनी—

(1) युद्धरत राष्ट्र के नियमित सेवाओं के सदस्य, स्वयंसेवक दलों के सदस्य एवं नागरिक सेवाओं के सदस्य।

(2) शत्रु के विरुद्ध आन्दोलन में भाग लेने वाले सदस्य जिनका नेतृत्व कुशल सैनिक नेताओं द्वारा किया गया हो और जिन्होंने शस्त्रधारण कर रखे हों तथा सैनिक वर्दी धारण कर रक्खी हो।

(3) ऐसे ठेकेदार एवं संवाददाता जो सेनाओं को रसद एवं सूचनार्थ पहुंचाते हो।

(4) सैनिक सेवा करने वाले सेवक एवं श्रमिक।

(5) असैनिक अथवा व्यापारिक यानों के चालक अथवा कर्मचारीगण आदि।

(6) विभाजित राष्ट्र की सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी राज्य की सत्ता के प्रति निष्ठावान होने वाले व्यक्ति तथा

(7) ऐसे व्यक्ति जो शत्रु से सीधे रूप में नियन्त्रित न हों, फिर भी शत्रु के आने पर युद्ध के लिए तत्पर हों।

युद्ध बन्दियों के प्रति व्यवहार के नियम (Laws regarding treatment of Prisoners of War)—युद्धबन्दियों के साथ व्यवहार का मौलिक सिद्धान्त यह है कि उनके साथ सदैव मानवतापूर्ण व्यवहार होना चाहिए। अतः जेनेवा अभिसमय की चौथी धारा में यह व्यवस्था दी गयी कि युद्धबन्दियो के साथ सभी राज्यों को निम्न प्रकार का व्यवहार करना चाहिए—

(1) सभी युद्धबन्दियों में जाति, वर्ण, धर्म जन्म एव लिंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव न बरता जाना चाहिए।

(2) युद्धबन्दियो से बदला लेने की दृष्टि से, कोई अनुचित या अमानवीय व्यवहार नही होना चाहिए।

(3) उनका प्राणहरण, शारीरिक कष्ट, अंगकर्त्तन, अथवा यातना (Torture) देना, नही होना चाहिए।

(4) शरीर बन्धक (Hostage) बनाना, वैयक्तिक सम्मान को हानि पहुंचाना एवं अपमानजनक व्यवहार करना, अनुचित है।

(5) युद्धबन्दियो को शारीरिक यातना देना वर्जित है पर उसका नाम जन्म तिथि, सैनिक अंग आदि का पूछना वर्जित नहीं।

(6) युद्धबन्दियो से शस्त्र, सैनिक सामग्री तथा सेना से सम्बन्धित कागज छीने जा सकते हैं पर उनके निजी प्रयोग का सामान नही छीना जा सकता है। यदि उनका धन छीना जाये वो उन्हें रसीद अवश्य देनी चाहिए।

(8) युद्धबन्दियों को नागरिकों की अनुकम्पा पर नही छोड़ना चाहिए, उसकी सुरक्षा का उचित प्रबन्ध करना उनको बन्दी बनाने वाले राष्ट्र की विशेष जिम्मेदारी होनी चाहिए।

(9) युद्धबन्दियो के स्वास्थ्य एव उपचार की पूर्ण व्यवस्था का होना आवश्यक है।

(10) स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान पर बन्दियों को रखा जाना आवश्यक है।

(11) उनके साथ उनके सैनिक पद के अनुसार व्यवहार किया जाना चाहिए।

(12) युद्धबन्दियों को धार्मिक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

(13) युद्धबन्दियो से काम लेना वर्जित नहीं पर काम करने की मजदूरी या वेतन उन्हें मिलनी चाहिए।

(14) युद्धबन्दियों को जेनेवा अभिसमय की प्रतियाँ दी जानी चाहिए जिससे उन्हें अपने प्रति किये जाने वाले व्यवहार के नियमों की कसौटी पर जांच करने का अधिकार हो।

(15) युद्धबन्दियों को अपने मित्रों या सम्बन्धियों को पत्र-व्यवहार करने की सुविधा दी जानी चाहिए। उन्हे अपने घर से खाद्य-सामग्री, वस्त्र, औषधि एवं अन्य आवश्यक सामग्री मगाने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

(16) युद्धबन्दियों को नियमों के उल्लघन करने पर शारीरिक यातनाएँ देना वर्जित है। ऐसी अवस्था में दण्ड के रूप में उनकी सुविधाएँ कम की जा सकती हैं।

(17) युद्धबन्दियों को अपने नागरिक दर्जे के कारण प्राप्त अधिकारों के पूर्ण उपयोग का अधिकार मिलना चाहिए।

(18) युद्ध अपराधियों से गुप्त सैनिक भेद उन्हें कष्ट देकर पूछना वर्जित है।

(19) युद्धबन्दियों को उचित भोजन देना चाहिए, बौद्धिक विकास के लिए सामग्री एवं मनोरंजन के लिए सामग्री एवं खेल-कूद का सामान दिया जाना चाहिए।

(20) युद्धबन्दियों को अपनी सेना में भर्ती कर अपने ही देश के प्रति लड़ने पर विवश नहीं किया जा सकता है।

(21) स्त्रियों को पुरुषों से पृथक रखने की व्यवस्था की जानी चाहिए और उनसे जबरन काम नहीं लिया जाना चाहिए।

(22) युद्धबन्दियों से काम लेते समय उनकी शक्ति, स्वास्थ्य और रुचि का ध्यान रखना चाहिए। सैनिक कार्यों के अतिरिक्त उनसे खेती, कच्चे माल का उत्पादन, रासायनिक, धात्वीय एवं मशीनों के उद्योगो से भिन्न अन्य उद्योग में काम लिया जा सकता है पर कोई जोखम का काम उन्हें नहीं दिया जाना चाहिए। उन्हे दिन में विश्राम और सप्ताह में एक दिन का अवकाश अवश्य दिया जाना चाहिए। काम करते समय यदि उन्हें कोई चोट लग जाये तो उसका मुआवजा दिया जाना चाहिए।

कुछ विशेष असैनिक व्यक्तियों को बन्दी बनाया जाना (*Some special civilians can be made prisoners*)—यद्यपि युद्ध के बीच असैनिक नागरिकों को युद्धबन्दी नहीं बनाया जाता है पर कुछ विशेष नागरिकों को अवश्य शत्रु देश बन्दी बना सकते हैं चाहे युद्धस्थिति उपस्थित न हो। फिलमोर ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रकृति रखने वाले व्यक्तियों को बन्दी बनाये जाने की बात कही है—

(1) ऐसे व्यक्ति जो शत्रु देश में घुसकर लूटमार करते हों या अन्य ऐसे कार्य करते हो जो नियम विरुद्ध हो, उन्हे बन्दी बनाया जा सकता है।

(2) सेना से निकाले गये व्यक्तियों को भी बन्दी बनाया जा सकता है।

(3) शत्रु के जासूसों को जो शत्रु देश में घुसकर गुप्त सूचनाएँ अपने देश को पहुँचाते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय कानून में उनके लिए कठोर दण्ड व्यवस्था है। जासूस को अपने देश में घुसने पर गोली से मारकर हत्या की जा सकती है।

युद्धबन्दियों के बन्धन की समाप्ति
(End of Captivity of War Prisoners)

युद्धबन्दी बन्धन-मुक्त निम्नलिखित 5 प्रकारों से हो सकते हैं :—

(1) स्वदेश प्रत्यावर्तन (Repatriation)—प्रायः ऐसे युद्धबन्दियों को जो अपने बन्धन काल (State of Captivity) मे सख्त बीमार पड़ जायें या अत्यधिक घायल हो, युद्ध काल मे ही उन्हें स्वदेश पहुंचा दिया जाता है क्योंकि शत्रु पक्ष को ऐसे व्यक्तियों से शीघ्र ही युद्ध में भाग लेने की आशा नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त ऐसे लोगों को लौटा दिये जाने से उनकी चिकित्सा की

मारी जिम्मेदारी से बचा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति जो इतने बीमार हों या घायल हों जिनके ठीक होने की आशा एक वर्ष में हो अथवा ऐसे लोग जिनका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य स्थायी रूप से बिगड़ गया हो, उन्हें भी स्वदेश भेज देना चाहिए।

(2) **युद्धबन्दियों को तटस्थ देशों को भेजना (To Send War Prisoners to Neutral Countries)**—जिन युद्धबन्दियों की दशा एक वर्ष के अन्दर सुधरने की आशा हो या जिनके निरन्तर बन्धन में रहने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को गम्भीर आघात पहुँच रहा हो, उन्हें तटस्थ देशों को भेज दिया जाता है। युद्धमान राष्ट्रों एवं तटस्थ देशों में इस विषय पर पारस्परिक समझौता हो जाता है तभी उन्हें तटस्थ देशों में भेजा जा सकता है। तटस्थ देश में ऐसे युद्धबन्दी स्वस्थ होने पर वहीं रहें या शत्रु देश में लौटा दिये जायें, इस प्रश्न पर भी दोनों में समझौता हो जाता है।

(3) **पलायन (Fleeing)**—युद्धबन्दी अपने को मुक्त करने के लिए पलायन कर सकता है। भागते हुए युद्धबन्दी को गोली से मारा जा सकता है।

(4) **मृत्यु (Death)**—युद्धबन्दी की यदि मृत्यु हो जाय तो उसकी सूचना तुरन्त "युद्धबन्दी सूचना विभाग" को दी जानी चाहिए। इस सूचना में उसकी मृत्यु के कारण तथा उसके गाड़ने का पूरा विवरण होना चाहिए। उसके अन्तिम संस्कार की व्यवस्था उसके धार्मिक विश्वासों के अनुकूल होनी चाहिए या उसकी इच्छानुसार होनी चाहिए। यदि मृत्यु किसी सन्तरी या अन्य युद्धबन्दी द्वारा हुई हो तो बन्दी बनाने वाले राष्ट्र द्वारा इसकी सरकारी जाँच होनी चाहिए।

(5) **युद्ध समाप्ति पर बन्दियों की मुक्ति (Release of Prisoners after the end of War)**—1949 के अभिसमय में इस विषय में नवीन विस्तृत व्यवस्थाएँ की गयी हैं। इसमें क्रियाशील शत्रुता (Active Hostilities) की समाप्ति पर युद्धबन्दियों के स्वदेश लौटाने के विशेष नियम इसलिए बनाने की आवश्यकता पड़ी कि द्वितीय विश्व-युद्ध में वास्तविक बन्दी होने तथा शान्ति सन्धियाँ होने के बीच कई वर्षों का समय लगा था। इस समय युद्धबन्दियों के स्वदेश प्रत्यावर्तन का व्यय दोनों पक्षों पर डाला जाता है और बन्दियों को समस्त बहुमूल्य वस्तुएँ एवं धनराशि लौटा दी जाती है। वे अपने साथ अपना वैयक्तिक सामान ले सकते हैं। जेनेवा अभिसमय के 118-19 के अनुच्छेद में यह व्यवस्था है कि युद्धबन्दियों को उन्हीं राज्यों को लौटाना चाहिए जिनकी ओर से वे लड़ रहे थे।

कोरिया के युद्ध (1950-53) में युद्धबन्दियों के लौटाने में एक नवीन समस्या उत्पन्न हुई। वह यह थी कि कुछ युद्धबन्दी अपने मूल देश को लौटना नहीं चाहते थे। साम्यवादी देश इस बात पर अड़े थे कि जेनेवा अभिसमय की धारा 118-19 के अनुसार सभी युद्धबन्दी उन देशों को लौटाये जायें जिनकी ओर से वे लड़ रहे थे। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि का यह कहना था कि उत्तरी कोरिया की सरकार ने कुछ व्यक्तियों को जबरन सेना में भर्ती किया और उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें युद्ध करने को भेजा अतः सैनिकों की इच्छा पर ही उन्हें उस देश को भेजा जायगा जिसमें वे रहना चाहते हैं क्योंकि उन्हें उत्तरी कोरिया में जाने से यह भय है कि उनके साथ दुर्व्यवहार किया जायगा। अतः उन्हें उत्तरी कोरिया को जबरन सौंपना न्याय के विरुद्ध माना जायगा। उसका यह भी तर्क था कि जेनेवा अभिसमय बनाते समय ऐसी कोई समस्या न थी। अतएव उस अभिसमय का पालन किया जाना आवश्यक नहीं।

दोनों पक्षों में विरोधी दृष्टिकोण होने पर गतिरोध उत्पन्न हो गया। भारत ने सामान्य सभा की बैठक में नवम्बर 1952 में इस गतिरोध को दूर करने के लिए एक प्रस्ताव रखा। इसमें यह कहा गया कि सभी युद्धबन्दियों को जेनेवा अभिसमय के अनुसार मुक्त किया जाय पर बन्दियों के प्रत्यावर्तन को क्रियान्वित करने या रोकने के लिए शक्ति का प्रयोग न किया जाय। 27 जुलाई

1953 को युद्ध विराम समझौता करते हुए भारत के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। समझौते मे यह भी उल्लेख किया गया कि जो युद्धबन्दी मुक्त होने पर स्वदेश न लौटना चाहें उन्हें एक तटस्थ आयोग को सौंप दिया जाय। सयुक्त राष्ट्र सघ ने जो तटस्थ आयोग बनाया उसके अध्यक्ष भारत के जनरल थिमैया बने। इस आयोग ने पूछताछ के बाद स्वदेश लौटने की इच्छा वाले युद्ध-बन्दियों का ही प्रत्यावर्तन किया। उस समय यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए बन गया था कि जापान ने संयुक्त राष्ट्र सघ में अपनी यह शिकायत रखी थी कि रूस ने जापानी युद्धबन्दियों के साथ बड़ा ही क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार किया उन्हें साइबेरिया में रखा गया जहाँ की सर्दी वे सहन नहीं कर सकते हैं अतः उनमें से अधिकाश ठण्ड से ठिठुर कर मर गये। उसने यह दावा किया था कि जापान के युद्धबन्दियों की सख्या जो रूस के पास थे, उनमे से 3,40,000 से 3,70,000 तक का पता नहीं लग रहा है कि उनका क्या हुआ।

युद्ध में घायल एवं बीमारों के साथ व्यवहार
(Treatment of the Wounded and Sick in War)

कौटिल्य अर्थशास्त्र मे कहा गया है कि "चिकित्सकगण चिकित्सा के शस्त्र, यन्त्र, औषधि, तेल आदि स्नेह द्रव्य और घावों पर बन्धन के लिए पट्टियाँ लेकर सेना के कुछ भाग मे तैयार रहने चाहिए।" महाभारत में युद्ध के अन्दर घायल होने वाले सैनिकों के लिए इस प्रकार का विधान था कि 'अपने राज्य में या घर पर लाकर ऐसे शत्रु की चिकित्सा कराने का प्रबन्ध करे, जिसके हथियार टूट चुके हों, जो मुसीबत मे पड़ा हो, जिसके धनुष की डोरी टूट गयी हो या जिसका वाहन मर गया हो। ठीक हो जाने पर उसे मुक्त कर देना चाहिए।"

आधुनिक युग में 1864 से पूर्व इस सम्बन्ध में कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं प्रथा न थी। 1859 मे स्विज नागरिक हेनरी डूनैण्ट (Jeen Henry Dunant) ने आस्ट्रिया एवं इटली में हुए युद्ध (सोलफेरिनो के क्षेत्र में) में आहत सैनिकों की भीषण दुर्दशा का आँखों देखा दृश्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि "हजारों घायल व्यक्ति चिकित्सा के अभाव मे तड़पते हुए बुरी तरह से मर गये, जबकि उपयुक्त चिकित्सा द्वारा उनकी प्राण रक्षा हो सकती थी।" 1861 और 1863 में इस विषय में उसने दो पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं। सभ्य जगत इन पुस्तिकाओं को पढ़कर द्रवित हो गया और 1865 मे स्विट्जरलैण्ड की सरकार ने 12 राज्यो का एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जिसने घायलों की देखभाल के लिये कुछ नियम बनाये। 1864 मे घायलों की चिकित्सा के नियमों के बारे में एक अभिसमय तैयार किया जो जेनेवा अभिसमय कहलाया। 1899 मे हेग सम्मेलन ने स्विज सरकार से प्रार्थना की कि वह 1864 के जेनेवा अभिसमय में संशोधन के लिए एक और संशोधन आमन्त्रित करे। 6 जुलाई 1906 को पुनः जेनेवा में एकत्र होकर 32 राष्ट्रों ने एक संशोधित अभिसमय तैयार किया। 1914-18 के विश्व युद्ध के अनुभव से घायलों और बीमारों के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय नियमों में सुधार की आवश्यकता अनुभव हुई। 1 जुलाई 1929 में 47 राज्यों ने एक नये समझौते पर हस्ताक्षर किये और 33 राष्ट्रों ने उनकी पुष्टि की। द्वितीय विश्व युद्ध पहले से भी अधिक भयानक और विध्वसकारी हुआ अतः 12 अगस्त 1949 में पुनः जेनेवा सम्मेलन बुलाया गया। इसमें एक नया अभिसमय बना जो 1864, 1906 तथा 1929 के अभिसमयों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं विस्तृत था। इसकी मुख्य व्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं :—

(1) प्रदेश के विजेता को युद्ध की समाप्ति पर युद्धस्थल मे पाये जाने वाले बीमार एवं घायलों की शीघ्र उपचार की शीघ्र व्यवस्था करनी चाहिए। उनके साथ किसी भेद-भाव की बात न करनी चाहिए।

(2) सेना के मुख्य अधिकारी का कर्तव्य है कि शत्रु सेना के घायलों एवं बीमारों की गिनती करे तथा उनकी चिकित्सा की उचित व्यवस्था करे।

(3) शत्रु सेना पीछे हटते हुए जिन घायलों एवं बीमारों को छोड़ जाती, बढ़ती सेना उनके उपचार की व्यवस्था करे।

(4) युद्ध क्षेत्र में सैनिकों की चिकित्सा एवं देखभाल करने वाले डाक्टरों एवं नर्सों अथवा अन्य कर्मचारियों आदि की शत्रु सेना रक्षा करे और उन्हें कोई हानि न पहुँचाये। वे तटस्थ माने जाते हैं। वे युद्धबन्दी नहीं होते हैं।

(5) युद्धरत राज्यों की सेनाएँ युद्ध के बाद मृतकों की उनके धर्म परम्परा के अनुसार अन्त्येष्टि करें।

(6) असैनिक बीमारों तथा घायलों की रक्षा के लिए दोनों पक्षों को अपने प्रदेश में ऐसे सुरक्षा क्षेत्र बनाने चाहिए, जहाँ युद्ध के दुष्प्रभावों से रक्षा हो सके। इन क्षेत्रों में आहतों और बीमारों के साथ 15 वर्ष से कम आयु वाले बच्चे, बूढ़े, गर्भवती स्त्रियाँ तथा 7 वर्ष से कम उम्र वाले बच्चों की माताएँ रखी जायें। रण क्षेत्र में घायल और बीमार व्यक्तियों को सुरक्षित स्थान पर ले जाने वाले वाहनों पर आक्रमण नहीं किया जा सकता है और न ही घायलों की चिकित्सा के लिए भेजी जाने वाली सामग्री, पूजा का सामान, भोजन, वस्त्र, द्रव, शक्ति देने वाली दवाइयों के पार्सलों की ढुलाई निःशुल्क की जाती है।

समुद्री युद्ध के नियम
(Laws of Maritime Warfare)

समुद्री युद्ध के उद्देश्य (Objects of Maritime Warfare)—यद्यपि स्थल युद्ध और समुद्री युद्ध दोनों का प्रयोजन एक है अर्थात् शत्रु को परास्त करना परन्तु दोनों उद्देश्यों में कुछ अन्तर भी है। स्थल युद्ध का उद्देश्य शत्रु को हटाकर उसके प्रदेश पर अधिकार जमाना है पर समुद्री युद्ध का उद्देश्य न केवल शत्रु के युद्धपोतों एवं व्यावसायिक जहाजों को नष्ट करना है, अपितु शत्रु को समुद्र से कोई लाभ न उठाने देना भी है। ओपेनहीम के मतानुसार युद्ध के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—"शत्रु की नौसेना को परास्त करना, शत्रु के व्यापारिक बेड़े का विध्वंस, शत्रु की तटवर्ती किलेबन्दी एवं समुद्री तट की सामरिक बस्तियों का विनाश, शत्रु देश के तट के साथ लगे अन्य देशों का सम्पर्क समाप्त करना, शत्रु के लिए विनिषिद्ध रण सामग्री की ढुलाई को तथा तटस्थ सेवा को रोकना, स्थल पर की जाने वाली सैनिक कार्यवाहियों को समुद्र द्वारा सहायता पहुँचाना, अपने समुद्री तट तथा व्यापारी जहाजी बेड़े की रक्षा करना।"[1]

स्थल युद्ध में वैयक्तिक सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती परन्तु समुद्री युद्ध में शत्रु जहाजों पर लदी वैयक्तिक सामग्री तथा अतटस्थ सेवा में लगे तटस्थ जहाजों को जब्त किया जा सकता है। अतः स्थलीय युद्ध और समुद्री युद्ध के नियमों में अन्तर होता है। समुद्री युद्ध के 6 लक्ष्य होते हैं—(i) शत्रु के सार्वजनिक एवं वैयक्तिक जहाज, (ii) शत्रु देश के व्यक्ति, (iii) शत्रु देश के जहाजों द्वारा ले जाने वाला सामान, (iv) शत्रु का समुद्री तट, (v) परिवेष्टन तोड़ने का प्रयत्न करने वाले तटस्थ देशों के जलपोत तथा (vi) विनिषिद्ध पदार्थ ले जाने वाले अतटस्थ सेवा में लगे तटस्थ जलपोत।

समुद्री युद्ध के नियमों का विकास (Development of the Laws of Maritime Warfare)—समुद्री युद्ध प्राचीन काल में भी होते थे। भारत के महान कूटनीतिज्ञ यद्यपि चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में कुछ नियमों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार हिंसा कार्य में लगी समुद्री डाकुओं की नौकाओं को नष्ट कर देना चाहिए। शत्रु के देश को जाने वाली तथा बन्दरगाह के नियमों को भंग करने वाली नौकाओं का विश्वास करना, दिग्भ्रम अथवा तूफान से भटककर आई

---
[1] Oppenheim : *International Law*, Part II, p. 458.

नौकाओं की रक्षा, पिता के समान करना, नौकाओं के घाटों और बन्दरगाहों पर ऐसा प्रबन्ध करना कि उन पर किसी शत्रु देश की नौका न टिक सके।"[1] पराई स्त्री, कन्या या मित्र का अपहरण···अग्नि जैसे विस्फोटक पदार्थ, शस्त्र और विष ले जाने वाले··· लम्बी यात्री, बिना मुद्रा के नाव पर यात्रा करने वाले व्यक्ति को अपराधी के रूप में पकड़ लेना चाहिए।"

पश्चिमी जगत में युद्ध के समय समुद्र पर शत्रु की वैयक्तिक और सार्वजनिक दोनों प्रकार की सम्पत्ति जब्त एवं राज्यसात् की जा सकती थी। उस समय शत्रु देश के जहाजों पर लदा तटस्थ देश का माल या शत्रु का माल ढोने वाले तटस्थ देशों के जहाज शत्रु के जहाज माने जाते थे। 14वीं शताब्दी में कासोलेटो डेल मेयर (Consolato de mere) ने इस विषय में कुछ स्पष्ट और सुन्दर नियम बनाये थे। उसके अनुसार एक युद्धमान देश शत्रु के वैयक्तिक माल और जहाज को जब्त कर सकता था किन्तु तटस्थ देशों के माल एवं जहाज के सम्बन्ध में कुछ अपवाद माने जाते थे। शत्रु देश का जहाज जब्त किया जा सकता था पर उस पर लदा तटस्थ देश का माल जब्त न करके सम्बन्धित राज्य को लौटा दिया जाता था। इसी प्रकार तटस्थ देश के जहाज पर लदा शत्रु का माल जब्त कर जहाज को सम्बन्धित देश को लौटाना पड़ता था। इन नियमों को इङ्गलैण्ड ने तो स्वीकार कर लिया था पर फ्रांस, हालैण्ड और स्पेन इन नियमों की परवाह न करते थे। 19वीं शताब्दी में क्रिमिया युद्ध के बाद पेरिस की घोषणा में इन नियमों को स्वीकार किया गया। 1900 ई० में सं० रा० अमेरिका ने समुद्री युद्ध के नियमों की संहिता प्रकाशित की। 1907 के हेग सम्मेलन ने निम्नलिखित 5 विषयों पर अभिसमय तैयार किये।

(i) युद्ध छिड़ने पर शत्रु के व्यापारिक जहाजों की स्थिति (ii) वाणिज्यिक पोतों को युद्धपोतों में बदलने से सम्बन्धित अभिसमय (iii) स्वचालित अधः समुद्री सुरंगों (Automatic Submarine Contactmines) सम्बन्धी अभिसमय (iv) नौसेनाओं द्वारा बम वर्षा विषयक अभिसमय (v) समुद्री युद्ध में निग्रह (Capture) के अधिकार के प्रयोग पर प्रतिबन्ध-विषयक अभिसमय।

उपर्युक्त पाँच विषयों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय नियम निम्नलिखित हैं—

(1) शत्रु के जलपोतों पर आक्रमण और उनका अधिग्रहण (Attack on enemy-ship and seizure)—युद्ध प्रारम्भ होने पर युद्धमान देशों के रणपोत शत्रु जल सेना पर आक्रमण कर सकते हैं या उन्हें पकड़ सकते हैं साथ-साथ उस पर लदा माल तथा शत्रुजन भी आक्रान्ता के हाथ में पड़ जाते हैं। वह माल एवं जहाज को आत्मसात्करण (Appropriation) कर सकता और शत्रुजन को बन्दी बना सकता है। इस प्रकार शत्रु पर भारी आघात किया जाता है। ओपेनहीम के मतानुसार युद्ध प्रारम्भ होते ही युद्धमान देशों के जल पोत एक दूसरे देश के युद्ध पोतों पर आक्रमण कर सकते हैं। महा-समुद्रों में ही नहीं वे प्रादेशिक समुद्र में घुसकर समुद्री जहाजों एवं तटों पर आक्रमण कर सकते हैं। इस आक्रमण से प्रभावित होने वाले जहाज भी प्रत्याक्रमण कर सकते हैं। यदि वाणिज्यिक जलपोत उचित रीति से इस बात का संकेत करें कि वह वाणिज्यिक पोत है और तलाशी देने को तैयार है, तो उन पर आक्रमण नहीं किया जाता है। व्यापारिक जहाजों को यह अधिकार है कि वह तलाशी न दे और अपनी रक्षा करे परन्तु युद्ध के नियमों के अनुसार (1856 की पेरिस घोषणा) युद्धमान पक्ष का कोई वैयक्तिक पोत यदि शत्रु के सार्वजनिक या वैयक्तिक जहाज पर आक्रमण करता है तो उसे समुद्री डाकू (Pirate) समझा जाता है और उसके नाविकों को युद्धबन्दी नहीं, वरन् युद्धापराधी (War Criminals) माना जाता है। यदि शत्रु का

[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र, 2/28.

कोई भी जहाज वाणिज्यपोतों पर आक्रमण करता है तो आक्रमण की प्रतीक्षा किये बिना वे बिना चेतावनी के भी शत्रु जहाज पर आक्रमण कर सकते हैं। 1951 में जब जर्मन पनडुब्बियों ने मित्र राष्ट्रों के वाणिज्यपोतों को बिना चेतावनी के डुबाना प्रारम्भ कर दिया तब वाणिज्य पोतों को यह अधिकार दिया गया कि शत्रु पनडुब्बियों को वे टक्कर मारकर नष्ट कर दें। यद्यपि 1916 में ब्रसेल्स जहाज के कप्तान फ्रियट (Fryat) को जर्मन पनडुब्बी यू-33 को इस प्रकार टक्कर मारकर डुबाने पर मुकदमा चलाकर प्राणदण्ड दिया गया था, पर ओपेनहीन के मत से यह न्यायालय द्वारा की गई हत्या (Judicial Murder) के अतिरिक्त और कुछ न था।

युद्धमान देश नियम के अनुसार अपने रणपोतों द्वारा निम्नलिखित जहाजों पर आक्रमण नहीं कर सकते हैं—

(क) चिकित्सा पोत (Hospital)—1949 के हेग अधिनियमों के अनुसार चिकित्सा पोत जो मानव की निःस्वार्थ सेवा में लगे हैं, उन पर न आक्रमण किया जा सकता है और न उन्हें पकड़ा जा सकता है। ऐसे जहाजों पर रेडक्रास का चिन्ह होता है। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी के जहाजों ने अनेक रेडक्रास के जहाजों को डुबा दिया। इस पर बड़ा रोष फैला पर जर्मनी ने प्रतिवाद करते हुये कहा था कि चिकित्सालय-पोतों की पहिचान बड़ी कठिन है तथा इनका प्रयोग सैनिक प्रयोजनों के लिये होता है। द्वितीय विश्व युद्ध में जापान ने भी ऐसे अनेक पोत डुबा दिये थे। परन्तु ये कृत्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अवैध माने जाते हैं।

(ख) धार्मिक, वैज्ञानिक या परोपकारी कार्यों में लगे पोत—शत्रु के रणपोतों को यह अधिकार नहीं कि वे शत्रु के धार्मिक, वैज्ञानिक या परोपकारी कार्यों में लगे जहाजों को पकड़े या आक्रमण करे अथवा डुबा दे। परन्तु यदि ये शत्रुतापूर्ण कार्य करते हैं तो उनकी यह उन्मुक्ति (Immunity) समाप्त हो जाती है।

(ग) युद्धवन्दियों के विनिमय के कार्य में लगे जहाज—जो जहाज युद्ध बन्दियों के विनिमय (Cartel Ships) में लगे हैं, वे भी अनाक्रमणीय होते हैं।

(घ) मछली पकड़ने वाले जहाज—19वीं शताब्दी में समुद्री तट पर मछली पकड़ने वाले जहाजों को युद्ध काल में अनाक्रमणीय समझा जाता था। दूसरे हेग सम्मेलन के 11वें अभिसमय में यह व्यवस्था की गई कि समुद्र तट से लगे हुये प्रदेश में मछली पकड़ने वाले जहाज या स्थानीय व्यापार में लगी छोटी नौकायें अपने सामान और उपकरणों के साथ शत्रु द्वारा नहीं पकड़ी जा सकती हैं।

(ङ) शरण लेने वाले जहाज—शत्रु रणपोत ऐसे जहाजों को भी कोई हानि नहीं पहुंचा सकते हैं जो समुद्री तूफानों में भटक कर शरण लेने को वाध्य होते हैं। कई ऐसे उदाहरण है जब ऐसे जहाजों के साथ शत्रु देशों ने बड़ी उदारता का व्यवहार किया। 1746 ई० में स्पेन और ब्रिटेन में युद्ध जारी था तब ब्रिटिश जहाज एलिजावेथ समुद्री तूफान से बचने के लिये स्पेनिश बन्दरगाह हवाना में शरण लेने पर विवश हुआ। स्पेन ने इसे पकड़ने के स्थान पर मरम्मत की सुविधायें प्रदान कीं तथा वरमूदाज के टापु तक सुरक्षित रूप में जाने की अनुमति दी। इसी प्रकार 1799 में जब एशिया एवं फ्रांस में युद्ध चल रहा था तब एशिया का एक वाणिज्यपोत डायना (Diana) को फ्रेंच बन्दरगाह डनकर्क में शरण लेनी पड़ी। यद्यपि फ्रांस नौसेना ने उसे पकड़ लिया, किन्तु फ्रेंच अधिग्रहण न्यायालय ने उसे छोड़ देने का आदेश दिया। इन उदाहरणों से भी इस विषय में कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अभाव में शरण लेने वाले जहाजो को अनाक्रमणीय नही माना गया।

(च) 1907 का छठो अभिसमय—1907 के द्वितीय हेग सम्मेलन ने छठा अभिसमय स्वीकार किया जिसमें निम्न प्रकार के वाणिज्यपोतों को शत्रु के आक्रमण से मुक्त किया गया—

(i) युद्ध छिड़ने पर शत्रु के बन्दरगाहों में खड़े जहाज (ii) युद्ध छिड़ने पर ऐसे रणपोत जो पिछले बन्दरगाह से चल पड़े हों और उन्हे युद्ध की सूचना न मिली हो। क्रिमिया के युद्ध प्रारम्भ होने पर फ्रांस तथा ब्रिटेन ने रूस के ऐसे जहाजों को मुक्ति प्रदान की। 1870 में भी जर्मनी ने फ्रेन्च जहाजों को भी आक्रमण से मुक्ति प्रदान की। रूस ने 1877 में टर्की के जहाजों के साथ, 1898 में स० रा० अमेरिका ने स्पेन के साथ तथा 1904 मे रूस और जापान ने एक दूसरे के जहाजों के प्रति इसी नियम का पालन किया था। प्रथम विश्व युद्ध में इस नियम का पालन हुआ। 1925 में ब्रिटेन ने भी भविष्य के लिये इस अभिसमय को अमान्य घोषित किया। ओपेनहीम के मतानुसार इस विषय में कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियम नहीं है।

डाक ले जाने वाले जहाजों के विषय में भी कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियम न था। राज्य इस विषय में एक समझौता कर लेते थे कि युद्ध काल मे डाक ढोने वाले जहाजों को आक्रमण से मुक्ति मिलनी चाहिये। 11वें हेग अभिसमय के पहले अनुच्छेद के अनुसार तटस्थ अथवा युद्धमान देशों की सरकारी या गैर-सरकारी दो प्रकार की डाक अनतिक्रम्य (Inviolable) है चाहे यह तटस्थ देशों के जहाज पर लदी हो या शत्रु के जहाज पर। परिवेष्टित (Blockaded) बन्दरगाह की डाक के बारे में यह नियम लागू न था। प्रथम विश्वयुद्ध मे जर्मनी एवं उसके साथियों ने नियम को न माना और द्वितीय विश्व युद्ध मे भी इसे अमान्य रखा। मित्र राष्ट्रों ने भी डाक को जांचने के लिए कि इसमें कोई आपत्तिजनक सूचना तो नहीं जहाजों को रोकना और डाक को खोलकर पढ़ना प्रारम्भ किया। आपत्तिजनक डाक को निकाल लिया जाता था। पार्सल भी जब्त कर लिये जाते थे।

(2) शत्रु सेवा में लगे तटस्थ जलपोत (Neutral Merchantship in Enemy service)—1909 के लन्दन सम्मेलन में यह घोषणा की गई कि युद्धकाल मे तटस्थ जहाज निम्नलिखित अवस्था में पकड़े और दण्डित किये जा सकते हैं—

(क) यदि तटस्थ जहाज युद्धमान देश की ओर से युद्ध मे भाग लें, (ख) यदि शत्रु की सरकार के आदेश मे हो, (ग) यदि ये अनन्य रूप से शत्रु के कार्य मे लगे हों, (घ) यदि ये पूर्णरूप से शत्रु की सेना की ढुलाई में अथवा शत्रु को लाभ पहुंचाने वाली सूचना देने मे लगे हो।

(3) सांस्कृतिक सामग्री का जब्त न किया जाना (Non-seizure of Cultural goods)—14 मई 1954 को सम्पन्न हुये हेग अभिसमय के अनुसार शत्रु देश से सम्बन्ध रखने वाली सांस्कृतिक सामग्री-मूर्तियाँ चित्र, कलात्मक वस्तुयें, पाण्डुलिपियों तथा संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न पदार्थों तथा इनके परिवहन मे लगे जहाजो को न तो जब्त किया जा सकता है और न ही अधिग्रहीत (Prize) सामग्री के रूप से छीना जा सकता है। भारत-पाक संघर्ष मे विदेशों में भारतीय कला की प्रदर्शनी के लिये भेजी गई कलावस्तुओं और मूर्तियों को ले जाने वाले जहाज को पाकिस्तान ने रोकने की असफल चेष्टा की थी।

(4) तटीय नगरों पर बमवर्षा (Bombardment of Coastal Towns)—1907 के 11वें हेग अभिसमय के अनुच्छेद 1 में यह व्यवस्था की गई है कि असुरक्षित बन्दरगाहों, कस्बो, गाँवों, निवासग्रहों तथा भवनों पर नौसेना द्वारा गोलाबारी करना सभी परिस्थितियों मे वर्जित है। समुद्र मे सुरंगें बिछाने के बहाने पर भी आक्रमण नहीं किया जा सकता है। इसी अभिसमय के अनुच्छेद 2 में शत्रु द्वारा उपयोग मे लाये जा सकने वाले तथा रक्षा न किये जा सकने वाले सैनिक अथवा नौसैनिक स्थानो युद्ध-सामग्री के भण्डारों, कारखानों, बन्दरगाह मे खड़े रणपोतो पर गोला-बारी करने की अनुमति दी गई है, व शर्त कि इससे पूर्व स्थानीय अधिकारियों को इन्हें नष्ट करने की सूचना दे दी गई हो और उन्होने उसका पालन न किया हो। अनुच्छेद 5 प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त न होने वाली तथा विशेष चिन्हों से अंकित, सार्वजनिक

तथा चिकित्सा के कार्य करने वाली इमारतों पर गोलावारी करना वर्जित ठहराया गया। अनुच्छेद 6 में गोलावारी से पूर्व सूचना अवश्य देने का विधान है।

सुरंगें (Mines)—1907 के सातवें हेग अभिसमय में सुरंगो के विषय में विशद वर्णन किया गया है। इसमें स्वचालित, संस्पर्श से फटने वाली सुरंगों (Automatic Contact Mines) के बिछाने का निषेध किया गया है। लंगर वाली (Anchored) तथा इस अवधि में हानि रहित न होने वाली सुरगें नही बिछानी चहिये। इन्हें समुद्री व्यापार रोकने की दृष्टि से तटों के पास या बन्दरगाहों के पास बिछाना वर्जित है। बिछाने वाले राज्यों को चाहिये कि इन सुरंगों को कुछ समय बाद हानि रहित बना देना चाहिये। यदि वे उनके नियन्त्रण से बाहर हों तो इस खतरे की सूचना सम्बद्ध सरकारों को भेज देनी चाहिये।

पनडुब्बी (Submarine)—यह बात पनडुब्बियों के लिये वैध है कि वे युद्ध काल में शत्रु के व्यापारिक जहाजों का निरीक्षण और तलाशी लेने के बाद पकड़ लें तथा शत्रु के रणपोतो को बिना किसी सूचना के डुबा दें। पर इस अधिकार में एक कमी यह है कि ये जिस जहाज को डुबा देती है, उनके ऊपर सवार व्यक्तियों को बचाने की कोई व्यवस्था नहीं कर सकतीं। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन पनडुब्बियों ने मित्र राष्ट्रों को बहुत हानि पहुँचाई और द्वितीय विश्व युद्ध में यह हानि कई गुना बढ़ गई। 7 मई 1915 मे लूसिटानिया नामक जहाज को जर्मन पनडुब्बी ने तारपीडो मार कर डुबा दिया उस जहाज मे 2000 व्यक्ति थे जिनमें से 1200 की जान गई। जर्मनी ने अपने इस कार्य को युद्ध की आवश्यकता कहकर पुष्टि की तथा मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध प्रत्यवहार (Reprisal) के वैध उपाय कहकर न्यायानुकूल ठहराया। वास्तव में 1914 के पूर्व पनडुब्बियों की कोई कल्पना न की गई थी अतः हेग सम्मेलनों ने भी इस पर कोई नियम न बनाया गया था।

1922 में वाशिंगटन सम्मेलन में पनडुब्बियों द्वारा व्यापारिक जहाजों को डुबाना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध ठहराया गया। 1930 की लन्दन सधि में पनडुब्बियों के लिये समुद्रतल पर चलने वाले जहाजों के नियम लागू किये गये तथा व्यापारिक जहाजों पर आक्रमण करने से पूर्व उनके यात्रियों को बचाने की व्यवस्था होनी चाहिये। इस सधि को बाद मे प्रोटोकल के रूप में (1936 के लन्दन पनडुब्बी प्राटोकल) इन नियमो को ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी जापान एवं सं० रा० अमेरिका ने भी स्वीकार किया। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी ने प्रोटोकल की व्यवस्था का खुला उल्लघन किया। 1939 में ब्रिटिश जहाज एथीनिया बिना सूचना के डुबो दिया गया। प्रत्युत्तर के रूप मे ब्रिटन ने 1940 मे घोषणा की कि जर्मन जहाजों को उत्तरी समुद्र में देखते ही नष्ट कर दिया जायगा। 1941 में जर्मन पनडुब्बी ने चेतावनी देने के 30 मिनट बाद अमेरिकन जहाज दी राबिन मूर (The Robin Moor) को डुबा दिया। जहाज के यात्रियो की कोई व्यवस्था पूर्व से न की गई थी अतः अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इस कार्य की निन्दा करते हुये घोषणा की कि "इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा मानवीयता के आरम्भिक सिद्धान्तो की अवहेलना प्रदर्शित की गई है इस कारण राबिन मूर का डुबाना अन्तर्राष्ट्रीय आततायीपन (International Qullaury) का कार्य बन गया है।" राबिन मूर के समान ही यूनानी जहाज पेलियस (Paleus) भी दक्षिणी एटलांटिक सागर में बिना सूचना के डुबा दिया गया। इतना ही नहीं पनडुब्बी ने जहाज के यात्रियो पर गोलावारी भी की। परिणामस्वरूप 3 व्यक्तियों को छोड़कर जहाज के सभी यात्री मर गये।

जेनेवा अभिसमय मे समुद्री युद्ध के अनेक नियम बनाये गये तथा नौसैनिकों के आहत एवं बीमार होने पर उनको सुविधा देने की व्यवस्था की गई। स्थल युद्ध के समान ही समुद्री युद्ध

भी छलपूर्ण उपायों (Ruses) का प्रयोग वैध माना जाता है, जिसमें विश्वासघात न किया जाय। उदाहरण के लिए एक जर्मन क्रूजर जिसका नाम एमडन था। अपने ऊपर जापान का झण्डा लगाये था। इसके कारण यह मलाया राज्य पीनांग के बन्दरगाह तक सुरक्षित निकल गया। आगे चलकर उसे रूसी क्रूजर जमचुग (Zhemshug) मिला। इस पर उसने जापानी झण्डा उतार दिया और जर्मन झण्डा लगा लिया और रूसी क्रूजर पर आक्रमण कर दिया, उस पर गोलीबारी की तथा तारपीडो द्वारा नष्ट कर दिया। यह कार्य अवैध नहीं माना गया।

हवाई युद्ध के नियम
(Laws of Air Warfare)

यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध में वायुयानों का प्रयोग प्रथम बार हुआ था पर व्यापक रूप से नहीं। द्वितीय विश्व युद्ध में तो वायुयानों ने भयंकर संहार एवं सम्पत्ति के विनाश में बड़ा सहयोग दिया। एटम बमों के आविष्कार ने वायुयानों के प्रयोग को अति विध्वंसकारी सिद्ध कर दिया। उदाहरण के लिये जापान के दो नगर नागासाकी एवं हिरोशिमा पर अमेरिकन जहाजों ने दो एटम बम गिराये और लाखों की जानें एवं करोड़ों की सम्पत्ति स्वाहा कर दी। अतः आज वायु युद्ध के नियमों के विकास का अध्ययन करना आवश्यक है।

हवाई युद्ध के नियमों के मौलिक सिद्धान्त (Basic Principles of Air Warfare)—हवाई युद्धों के सिद्धान्त भी स्थल और समुद्री युद्धों के सिद्धान्तों के अनुरूप ही हैं। ओपेनहीम ने इन सिद्धान्तों को निम्नलिखित 3 भागों में विभाजित किया है—(क) मानवीयता के सिद्धान्त, आवश्यकता से अधिक क्रूरता और हिंसा प्रयोग न करना, (ख) युद्ध न करने वाली जनता पर सीधा आक्रमण करने का निषेध, (ग) तटस्थ देशों को किसी युद्धमान देश के विरुद्ध तैयारी अथवा लड़ाई का क्षेत्र न बनाना। इन सिद्धान्तों के आधार पर 1874 से हवाई युद्ध के सम्बन्ध में नियम बनाये जाते रहे हैं।

1874 का ब्रुसेल्स सम्मेलन (The Brussels Conference of 1874)—ब्रुसेल्स का सम्मेलन रूस के जार की प्रेरणा से बुलाया गया था। इस सम्मेलन ने यह नियम बनाया कि पुर्ने तथा अरक्षित (Undefended) कस्बों, गृहसमूहों या गाँवों पर हवाई बम वर्षा नहीं की जा सकती है। धर्म, कला और विज्ञान सम्बन्धी इमारतों को तथा चिकित्सालयों को बम वर्षा का लक्ष्य केवल तभी बनाया जावे, जब कि वे सैनिक प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त किये जाते हों।

हेग सम्मेलन 1907 (The Hague Conference of 1907)—1907 ... वायुयानों का निर्माण तेजी से होने लगा था तथा नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से हवाई युद्ध ... व परिस्थितियाँ बदल गई थीं। कुछ राज्य यह नहीं चाहते थे कि हवाई युद्धों में वायुयानों ... पर कोई पाबन्दी लगाई जाये, अतः जब 1907 में हवाई युद्धों में बम वर्षा के ... लगाई जाने का प्रस्ताव रखा गया तो उन्होंने इसका विरोध किया तथा उस ... पर शक्तिशाली राज्यों ने इस पर हस्ताक्षर ही नहीं किये। ऐसा होने पर ... निम्नलिखित नियम बनाये :

दूरवर्ती नगरों, कस्बों, इमारतों पर बम वर्षा वर्जित है। यदि कुछ सैनिक स्थान असैनिक जनता के निवास स्थानों से सम्बद्ध और घिरे हुये हों और दोनों को बमवर्षा की दृष्टि से अलग न किया जा सके तो ऐसे स्थानों पर भी बमबारी नहीं हो सकती है।

1911 में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की संस्था ने मेड्रिड में हवाई हमले की कानूनी स्थिति पर विचार किया और यह मौलिक सिद्धान्त स्वीकार किया कि हवाई लड़ाई में स्थलीय अथवा समुद्री लड़ाई की अपेक्षा अधिक मात्रा में शारीरिक तथा साम्पत्तिक क्षति नहीं पहुँचानी चाहिये। परन्तु इस संस्था द्वारा बनाया गया नियम अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण नहीं कर सकता था। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व बनाये गये उपर्युक्त नियमों में कई दोष थे। प्रथम दोष यह था कि इनमें रक्षा किये जाने वाले (Defended) तथा अरक्षित स्थान की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई थी। दूसरा दोष यह था कि गोलाबारूद और हथियार बनाने के अधिकांश कारखाने तथा सैनिक बस्तियाँ असैनिक जनता वाले कस्बों और शहरों में होती हैं। इनकी बम वर्षा में वैधता का प्रश्न बड़ा जटिल और सदिग्ध था। तीसरा दोष हवाई युद्ध के नवीन साधनों के आविष्कार और विलक्षण उन्नति के कारण उपर्युक्त नियमों का सर्वथा अपूर्ण तथा अपर्याप्त होना था। चौथा कारण समग्र युद्ध (Total War) का नवीन विचार इसमें युद्ध की आवश्यकता सर्वोपरि मानी जाती है शत्रु की समूची जनता के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने में कोई दोष नहीं माना जाता है।

प्रथम विश्व युद्ध (First World War)—वायुयानों का प्रयोग दोनों पक्षों में प्रथम विश्व युद्ध में बहुत बार किया। दोनों का यह कहना था कि उन्होंने अपने हवाबाजों को यह आदेश दे रखा है कि वे केवल सैनिक स्थानों पर अपना निशाना लगाये, असैनिक जनता पर कोई आक्रमण न करें पर इन आदेशों का पूर्णतया पालन इसलिये न हो सका कि ऊंचाई पर लक्ष्य लेना बड़ा कठिन कार्य होता है अतः शीघ्र गति वाले विमानों के फेंके गये बम असैनिक स्थानों पर भी पड़ गये होंगे। पर बहाना कुछ भी हो इस युद्ध में धन, जन एवं सम्पत्ति की नागरिकों को दोनों ओर से काफी क्षति उठानी पड़ी।

वाशिंगटन सम्मेलन (Washington Conference)—प्रथम विश्व युद्ध में राजनीतिज्ञों को यह अनुभव हुआ कि अब तक बनाये गये हवाई युद्ध के नियम नवीन परिस्थिति में उपयुक्त या पर्याप्त नहीं। इनका संशोधन और परिवर्द्धन करना आवश्यक है। 1922 में शस्त्रास्त्रों की कमी करने के विचार से वाशिंगटन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में बड़ी शक्तियों सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, इटली ने भाग लिया। इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव रखा गया। हवाई युद्ध की समस्याओं पर विचार करने के लिये प्रसिद्ध विधि शास्त्रियों की एक समिति बनाई जाय। इस समिति ने 1923 में हवाई युद्ध के नियमों की एक संहिता का निर्माण किया। इसके मुख्य नियम निम्न प्रकार के हैं—

(1) वैयक्तिक हवाई जहाजों को आत्म रक्षा की दृष्टि से भी सशस्त्र बनाना पूर्ण रूप से वर्जित है। (2) असैनिक जनता को डराने धमकाने या असैनिक सम्पत्ति को नष्ट करने या असैनिक जनता को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से की जाने वाली बम वर्षा नहीं होनी चाहिये, (3) शत्रु से जबर्दस्ती धनराशि या सामान वसूल करने के लिये बम वर्षा करना निषिद्ध है। (4) हवाई बम वर्षा को तभी वैध समझना चाहिये, जब ऐसे सैनिक अड्डों, संचार के साधनों, शस्त्रास्त्र बनाने के कारखानों को लक्ष्य बनाकर की जाय, जिनके विध्वंस से शत्रु की सैनिक हानि हो और वह निर्बल हो जाय। (5) असैनिक जनता का ध्यान न रखते हुये सैनिक लक्ष्यों पर भी की जाने वाली बमबारी करना अवैध है। (6) स्थलीय सेनाओं की कार्यवाहियों के अतिरिक्त सन्निकट स्थानों के अतिरिक्त अन्य शहरों, कस्बों और इमारतों पर बम वर्षा करना निषिद्ध है।

(7) सार्वजनिक पूजा, उपासना, कला, धर्म, विज्ञान तथा परोपकार का कार्य करने वाली इमारतों ऐतिहासिक स्मारकों, शरणार्थियों के लिये बने चिकित्सालयों को हवाई हमले का लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। (8) स्थलीय सेनाओं पर लागू होते वाले युद्ध एवं तटस्थता के नियम हवाई लड़ाई पर भी लागू होते रहते हैं। (9) किसी युद्धरत पक्ष की सेवाओं द्वारा उपर्युक्त नियमों के भंग होने पर उसे इससे होने वाली क्षति का मुआबजा देना पड़ेगा। यद्यपि इन नियमों का राज्यों ने अनुसमर्थन नहीं किया फिर भी ओपेनहीम के मत से "इनकी महत्ता इस दृष्टि से है कि इन्होंने युद्ध में वायुयानों के प्रयोग को मर्यादित कर दिया तथा भावी युद्ध वर्षा के नियम बताने का दरवाजा खोल दिया। 1925 में जेनेवा प्रोटोकोल द्वारा हवाई युद्ध में विषैली गैसों और जीवाणुओं का प्रयोग निषिद्ध कर दिया। जुलाई 1932 में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग (General Commission of the Disarmament Conference) में यह निश्चय किया कि असैनिक (Civil) जनता पर हवाई आक्रमण करना पूर्णरूप से निषिद्ध है।"

यद्यपि उपर्युक्त नियमों को अधिकांश राज्यों ने स्वीकार कर लिया पर उनका पालन सब राष्ट्रों ने युद्ध के समय नहीं किया। 1931 में मंचूरिया पर और 1937 में चीन पर आक्रमण करते समय जापान ने, 1937 में स्पेन गृह युद्ध में इन नियमों का उल्लंघन हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध (Second World War)—द्वितीय विश्व युद्ध अब तक हुये सभी युद्धों में अधिक भयानक, विस्तृत एवं व्यापक था। युद्ध नियमों का इस युद्ध मे दोनों पक्षों द्वारा खूब उल्लघन हुआ। इस समय तक भयानक अस्त्र-शस्त्र और तीव्रगामी वायुयानों का निर्माण हो चुका था। प्रारम्भ में सं० रा० अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवैल्ट के प्रयत्नो से फ्रास और इंग्लैण्ड ने 2 सितम्बर 1939 को यह घोषणा की कि वे असैनिक जनता पर बमवर्षा नही करेंगे, वे केवल सैनिक ठिकानों तक सीमित मात्रा में उसका प्रयोग करेंगे। 17 सितम्बर 1939 को जर्मनी ने भी पारस्परिकता के आधार पर इन नियमों का पालन करने की घोषणा की। पर छः दिन बाद ही जर्मनी ने अपने वायदों को भंग करते हुये पोलैण्ड की राजधानी पर अन्धाधुन्ध, अविवेकपूर्ण हवाई बम वर्षा की। इन नियमों को उसने नार्वे पर आक्रमण करते हुए पुनः भंग किया। 14 मई 1940 को डच बन्दरगाह राटरडम के अधिकांश भाग सैनिक स्थान न होने पर भी बम वर्षा से बुरी तरह ध्वस्त कर दिया। बदले की भावना से प्रेरित हो कर जर्मन ने यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड पर घनघोर बम वर्षा की क्योंकि वह जर्मनी का मित्र बनने को तैयार न हुआ था।

10 मई 1940 को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि यदि जर्मनी ने उसके तथा उसके मित्र देशों की असैनिक जनता पर बमवर्षा की तो वह भी अपनी 2 सितम्बर 1939 की घोषणा में संशोधन करने को विवश होगा। प्रारम्भ में ब्रिटेन ने रणनीतिक (Strategic) बम वर्षा की थी जर्मनी के समान व्यूहीय (Tactical) बम वर्षा नही की थी। व्यूहीय बम वर्षा का अर्थ है अपनी स्थल सेना या समुद्री जहाजों को आगे बढ़ने में सहायता देने की दृष्टि से शत्रु के प्रतिरोध को निष्फल बनाने के लिये उसके प्रदेश पर भारी बम वर्षा करना। इसमें सैनिक असैनिक लक्ष्यों का भेद नही किया जाता है पर रणनीतिक (Strategic) बम वर्षा केवल सैनिक ठिकानो तक ही सीमित होती है।

ब्रिटेन ने अपनी चेतावनी के अनुसार इंग्लैण्ड पर जब जर्मनी ने 1940-41 में बम वर्षा की तो इग्लैण्ड भी व्यूहीय बम वर्षा करने लगा। दोनों ओर से "लक्ष्य क्षेत्रीय बम वर्षा (Target area Bombing) प्रारम्भ हुई। इस बम वर्षा का अर्थ था सभी विस्तृत प्रदेशों का विध्वंस। इसका लक्ष्य था वे सभी स्थान या वस्तुओं को नष्ट करना जो सैनिक दृष्टि से आवश्यक माने जाते थे जैसे यातायात के साधन सड़कें, रेलवे स्टेशन, रेलें जिनके द्वारा सेना भेजी जाती कारखाने जहाँ अस्त्र बनाये जाते थे, पैट्रोल आदि के केन्द्र एवं बन्दरगाह, वायुयान-विरोधी ...

तथा सुरक्षा के अन्य साधनों के कारण सैनिक ठिकानों पर बम वर्षा करना कठिन था अतः क्षेत्रीय बम वर्षा द्वारा विस्तृत प्रदेशों का विध्वंश किया जाने लगा। इसी उद्देश्य से सं० रा० अमेरिका ने शान्त नगरों पर एटम बम गिराये।

एटम बमों ने 6 अगस्त एवं 9 अगस्त 1945 को जापान के दो सुन्दर नगरों हिरोशिमा तथा नागासाकी का विनाश कर दिया।

समस्त जगत ने इस कुकृत्य की भर्त्सना की। इसे मानवीयता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध घोर अपराध माना गया। यह आवश्यक हिंसा का प्रदर्शन था, निरापराध असैनिक जनता का खुला "कत्लेआम" था। यद्यपि समस्त मानव जाति ने इस कृत्य की घोर निन्दा की पर अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपनी सफाई देते हुये कहा कि "हमने इसका प्रयोग युद्ध की व्यथा को कम करने के लिये, हजारों तरुण अमेरिकनों के प्राण बचाने के लिये किया है।"

अणु बम प्रयोग के परिणाम इतने भयानक होने पर भी अभी तक युद्ध में इसका प्रयोग निषिद्ध नहीं हो पाया है। इसी प्रकार से नेपाम बम व अन्य व्यापक संहार के बम मानवता के लिये चुनौती बने हुए हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हवाई युद्ध के नियम तथा उसका पालन—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, शक्तिशाली राज्यों ने एटम बम द्वारा विनाश से कोई पाठ नहीं सीखा। उन्होंने अपने वैज्ञानिकों को विवश किया कि वे न केवल एटम बम के फार्मूले का पता लगायें, बल्कि एटम बम से भी अधिक शक्तिशाली बम बनायें ताकि एक ही बम से समस्त मानव जगत का अन्त हो जाये।

युद्ध की समाप्ति एवं पूर्वावस्था
(The Termination of War and Postliminiom)

युद्धावसान की रीतियाँ (Method of Termination of War)—युद्ध का प्रारम्भ जहाँ होता है, वहाँ उसका अन्त होना भी आवश्यक है। ओपेनहीम के विचार से इस युद्धावसान के तीन ढंग हैं—(i) दोनों पक्षों द्वारा शत्रुतापूर्ण कार्यों का बन्द कर देना। इसमें कोई शान्ति सन्धि करने के पूर्व दोनों पक्ष लड़ना बन्द कर देते हैं। (ii) जब शत्रु देश अपने विरोधी देश पर पूर्ण अधिकार कर ले। (iii) युद्धमान राष्ट्र शान्ति सन्धि कर युद्ध का अन्त कर दें। फिरमोर ने भी ओपेनहीम के विचारों का समर्थन करते हुए युद्ध विराम की तीन विधियाँ बताई हैं पर हाइड ने एक चौथी रीति बताई है। इसका एक पक्ष ही युद्ध की समाप्ति की घोषणा कर देता है। जैसे भारत-चीन युद्ध में चीन ने एक पक्षीय घोषणा (1962) में की थी, और भारत ने पाक-भारत युद्ध 1971 में की थी।

युद्ध समाप्त होने की मुख्य विधियाँ निम्न हैं :

(1) **शत्रुतापूर्ण कार्यों का रोकना** (Cessation of Hostile Acts)—पहला तरीका अथवा ढंग युद्ध बन्द कर देने का यह है कि बिना कोई औपचारिक सन्धि किये, दोनों युद्धकारी पक्ष एक-दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण कार्य बन्द कर देते हैं। स्पेन और चिली में चलने वाला 1865 से 1868 तक का युद्ध इसलिए बन्द हो गया कि स्पेन ने अपनी शर्तें पूर्ण कराने का प्रयत्न बन्द कर दिया। इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं 1716 में स्वेडन और पोलैण्ड का युद्ध, 1720 का फ्रांस एवं स्पेन के मध्य युद्ध और 1801 में रूस और ईरान के मध्य युद्ध का अन्त हुआ।

यह तरीका चूंकि कई कारणों से असुविधाजनक माना जाता है, अतः इसकी प्रथा का अन्त हो गया। इस रीति में एक दोष यह है कि इसमें युद्ध तो बन्द हो जाता है पर युद्धावस्था (State of War) का विधिपूर्वक अन्त नहीं होता है, इससे अनेक कानूनी पेचीदगियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

युद्ध समाप्ति में शत्रुतापूर्ण कार्यों का बन्द होना ही युद्धावस्था का अन्त नहीं माना जाता है, जब तक कि कोई शान्ति-सन्धि न हो। क्योंकि इससे प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि "दोनों पक्षों की स्थिति युद्ध से पहले 'यथापूर्व स्थिति' (Status quo anti bellum) मानी जाय या लड़ाई बन्द होने के बाद की स्थिति (Status quo post bellum) मानी जाय ?" पिछली स्थिति को 'जीत भोगाधिकार या जितस्वत्व (Utipossi ets) की स्थिति कहते हैं। अधिकांश विधिशास्त्रियों का यह मत है कि दूसरी स्थिति ठीक है, सादी रणनिवृत्ति (Simple Cessation of Hostilities) के बाद जिस पक्ष के पास जितना जीता प्रदेश, सम्पत्ति या अन्य वस्तुएँ होती हैं, उस पर उसका स्वत्व मूल भाव से मान लिया जाता है। इसका यह कारण है कि यदि शत्रु द्वारा सैनिक दृष्टि से अधिकृत प्रदेश को बिना सन्धि किये ही दूसरा पक्ष लड़ाई बन्द कर देता है तो यह मानना सर्वथा स्वाभाविक है कि इसने अपने प्रदेश पर अपना अधिकार स्वयमेव छोड़ दिया है जैसा कि भारत-चीन के युद्ध में हुआ है। भारत और चीन के बीच अभी तक कोई शान्ति सन्धि नहीं हुई है अत: 20-22 हजार वर्ग मील का भारतीय क्षेत्र अभी तक चीन के अधिकार में है।

(2) वशीकरण द्वारा युद्ध की समाप्ति (Termination of war by Subjugation)—वशीकरण (Subjugation) तथा विजय (Victory) में थोड़ा सा अन्तर है। यह बात तो सही है कि बिना विजय के वशीकरण नहीं होता है। विजय में सैनिक शक्ति द्वारा शत्रु को परास्त कर उसके प्रदेश पर अधिकार जमाना होता है। वशीकरण में शत्रु के प्रदेश पर पूर्णरूप से अधिकार कर लेना होता है, पर शत्रु का पूर्ण विनाश नहीं होता है, यह सम्भव है कि शत्रु पुन: शक्ति प्राप्त कर अपने प्रदेशों को वापस ले सकता है या विजेता उदारतावश विजित शत्रु से व्यवहार कर उसे उसका प्रदेश वापस कर सकता है, इसके साथ शान्ति सन्धि कर सकता है। वास्तव मे वशीकरण विजय के बाद की स्थिति होती है। जब शत्रु राज्य अपने प्रतिद्वन्द्वी राज्य को पूर्णतया पराजित करके उसे अपने राज्य का अंग बना लेता है तो यही वशीकरण होता है। इसमें शत्रु सेना का पूर्ण विध्वंश हो जाता और शत्रु की सत्ता का भी पूर्ण अन्त हो जाता है।

(3) बिना शर्त आत्मसमर्पण द्वारा (By unconditional Surrender)—युद्ध की समाप्ति शत्रु द्वारा बिना शर्त आत्मसमर्पण से भी हो जाती है। ग्रोशियस का मत था कि ऐसे आत्मसमर्पण से विजेता को कानूनी एवं वास्तविक (De facto and dé Jure) दोनों पूर्ण शक्तियाँ मिल जाती हैं। 194० के पूर्व बिना शर्त आत्मसमर्पण करने वाले राष्ट्र के साथ विजेता मनमानी करता था। 1918 मे जर्मनी के साथ ऐसा ही हुआ था। 1945 में जर्मनी ने बिना शर्त हथियार डाले थे पर रूस के सिवा अन्य मित्र राष्ट्रों ने उसके साथ उदारता का व्यवहार किया। 2 सितम्बर 1945 को जापान ने बिना शर्त हथियार डाले थे पर उसके साम्राज्य के अन्त के सिवा अमेरिका ने जापानियो के साथ ऐसा कठोर व्यवहार नहीं किया जैसा कि रूस ने पूर्वी जर्मनी के साथ किया है।

(4) सामान्य युद्धविराम (General Armistice)—शान्ति सन्धि से पूर्व सन्धिवार्ता चलाने के लिए एक व्यवहार या 'सामान्य युद्ध विराम" होता है। अंग्रेजी भाषा मे सामान्य युद्ध विराम के लिए आर्मिस्टस (Armistice) या ट्रूस (Truce) शब्द का प्रयोग होता है। युद्ध विराम युद्धमान राज्यों के बीच होता है। इसका अर्थ शत्रुतापूर्ण कार्यों का अस्थाई रूप से स्थगित होना होता है। युद्ध विराम में दोनों पक्ष सैनिक कार्यवाही बन्द कर देते हैं। यदि युद्ध विराम किसी रणक्षेत्र के लिए होता है तो उसे स्थानीय युद्ध विराम कहते हैं और यदि वह सम्पूर्ण युद्ध क्षेत्र के लिए होता है तो उसे सामान्य (General) युद्ध विराम का नाम दिया जाता है। इस शब्द का प्रयोग दीर्घकालीन युद्ध विराम के लिए प्रयुक्त होता है। युद्ध विराम में शस्त्रों से लड़ाई

है पर युद्ध स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता है। यदि कोई पक्ष युद्ध विराम की शर्तों का उल्लंघन करता है तो युद्ध पुनः चालू हो जाता है।

(5) शान्ति सन्धि (Treaty of Peace)—युद्ध समाप्ति की सर्वाधिक लोकप्रिय रीति शान्ति सन्धि है। युद्ध विराम अवस्था में दोनों पक्षों के प्रतिनिधि आपस में वार्ता चलाते हैं। यह वार्ता कभी लम्बी चलती है और कभी अल्पकाल तक चलती है। कभी-कभी शान्ति सन्धि की शर्तें दोनों पक्षों द्वारा नहीं तय हो पाती है अतः शान्ति सन्धि के लिए प्रारम्भिक शर्तें दोनों पक्ष मान लेते हैं, इसे आरम्भिक सन्धि (Preliminary Treaty) कहते हैं। इन प्रारम्भिक शर्तों पर आगे चलकर पूर्ण सन्धि (Definite Treaty) हो जाती है। उदाहरण के लिए आस्ट्रिया, फ्रांस और सार्डीनिया की लड़ाई के समय विल्लाफ्रांका (Villafranca) की प्रारम्भिक सन्धि 11 जुलाई 1859 को हुई और पूर्ण सन्धि 10 नवम्बर 1859 को ज्यूरिच में हुई। इस अवधि में युद्ध विराम चलता रहा। इसी प्रकार 1871 को जर्मन-फ्रैंको युद्ध 26 फरवरी 1871 को वर्साय की प्रारम्भिक वार्ता के बाद बन्द हुआ और पूर्ण शान्ति सन्धि 10 मई 1871 को फ्रैंकफोर्ट में हुई। प्रथम विश्व युद्ध का अन्त तो 11 नवम्बर 1918 को हो गया था पर पूर्ण शान्ति सन्धि जर्मनी से 18 जून 1919 को हुई, हंगरी से 4 जून 1920 को हुई और टर्की से 10 अगस्त 1920 को हुई।

द्वितीय विश्व युद्ध मे यद्यपि जर्मनी ने बिना शर्त हथियार 1945 में ही डाल दिये थे और युद्ध विराम हो गया था किन्तु जर्मनी से सन्धि के विषय में मित्रराष्ट्रों में मतभेद हो गया था। 1951 में सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस ने सन्धि की थी। 1955 में सोवियत रूस ने सन्धि कर उससे युद्धावस्था का अन्त किया। जापान ने 2 सितम्बर 1945 को आत्मसमर्पण कर दिया था परन्तु अमेरिका ने उससे 6 वर्ष बाद 1951 मे की।

शान्ति सन्धि का प्रभाव एवं परिणाम (Effects and results of Peace Treaty)—शान्ति सन्धि ही युद्ध बन्द करने की वास्तविक सन्धि होती है। इसके प्रभाव निम्नलिखित होते हैं :

(1) **शान्ति स्थापना** (Establishment of Peace)—शान्ति सन्धि हो जाने पर दोनों पक्षों मे शत्रुता समाप्त हो जाती है, युद्ध स्थिति का अन्त हो जाता है तथा युद्ध पूर्व के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। दोनों पक्षों को शान्तिकालीन अधिकार एवं कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं। युद्धकालीन अधिकारों का अन्त हो जाता है। आमतौर से शान्ति सन्धि के बाद युद्ध बन्दी छोड़ दिये जाते हैं, पकड़े जहाज मुक्त कर दिये जाते हैं, अधिकृत प्रदेश लौटा दिये जाते हैं। दोनों पक्षों में दौत्य सम्बन्ध पुनः स्थापित हो जाता है और वाणिज्य दूत को कार्य करने की अनुमति दे दी जाती है। इन बातों का उल्लेख शान्ति सन्धि में कर दिया जाता है।

(2) **जीत भोगाधिकार** (Uti Possidetes)—युद्ध काल मे युद्धमान राज्य एक-दूसरे के जीते प्रदेश, पकड़े जहाज, अधिकृत सम्पत्ति जैसे शस्त्रागार, हथियार, घोड़े, मुद्रा, यातायात के साधन आदि पर शत्रु का भोगाधिकार रहता है। सन्धि होने पर जितनी वस्तु और सम्पत्ति जिस पक्ष के पास होती है उसी के पास रहती है। इसे ही जीत भोगाधिकार कहते हैं। आजकल सन्धिकर्ता राज्य अपने प्रदेश को वापस लेने का प्रयत्न करते हैं कुछ राज्य उदारतापूर्वक जीते हुए प्रदेशों को लौटा देते है जैसे भारत ने 1965 और 1971 में पाकिस्तान के बिना मुआवजे के सभी प्रदेश लौटा दिये थे पाकिस्तान ने भी ऐसा ही किया था। कभी-कभी बिना सन्धि किये विजेता राज्य विजित प्रदेश को अपने राज्य का अंग बना लेते हैं। 1912 में इटली ने तुर्की पर आक्रमण इस उद्देश्य से किया कि उसका अधिकार ट्रिपोली एव सिरेनिका (Cyrenaica) पर हो जाये। इटली ने टर्की को परास्त किया। जब शान्ति सन्धि के लिए वार्ता चली तो इटली ने उन दोनों प्रदेशों को अपने पास रखने की शर्त रखी पर टर्की उन्हें न ही देना चाहता था। सन्धि वार्ता में

गतिरोध उत्पन्न हो गया। अन्त में टर्की को इटली की माँग स्वीकार करनी पड़ी अतः शान्ति सन्धि से पूर्व 15 अक्टूबर 1912 को एक प्रोटोकल समझौता द्वारा टर्की ने वचन दिया कि वह तीन दिन के अन्दर ट्रिपोली तथा साइरेनायिका को खाली करेगा। उन्हें उसने पूर्ण स्वायत्त शासन देकर अपनी सम्प्रभुता उस पर से त्याग दी। इस प्रकार 18 अक्टूबर 1912 को दोनों देशों के बीच सन्धि हो सकी। सन्धि होते ही उन क्षेत्रों को इटली ने अपने राज्य का अंग घोषित कर दिया ये सूचना दोनों स्वायत्त राज्यों को दे दी गई।

(3) सामान्य क्षमादान (General Amnesty)—शान्ति सन्धि का तीसरा प्रभाव सामान्य क्षमादान होता है। इसका अभिप्राय यह होता है कि युद्धकाल में दोनों पक्षों में शत्रुजनों के विरुद्ध किये गये अपकारपूर्ण कार्यों (wrongful deeds) एवं अन्य दण्डनीय कार्यों के लिए दण्ड व्यवस्था होती है पर सन्धि हो जाने पर उन्हे दण्ड से मुक्ति मिल जाती है। कई बार क्षमादान का उल्लेख सन्धि की धाराओं मे कर दिया जाता है। यह अपराध विदेशियों द्वारा किया जाता है। उनमें अपने देश के अपराधी नहीं होते हैं। यदि युद्धबन्दी बन्दी अवस्था में किसी का कत्ल कर दे तो उसे स्थानीय कानून के अनुसार दण्ड दिया जाता है।

युद्धबन्दियों को मुक्ति (Release of War Prisoners)—1929 में जेनेवा अभिसमय की 75वीं धारा मे यह व्यवस्था दी गई है कि शान्ति सन्धि होते ही युद्धबन्दियों को शीघ्रातिशीघ्र मुक्त कर दिया जाता था पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस विषय में संशोधन की आवश्यकता हुई। इटली, जर्मनी तथा जापान द्वारा आत्मसमर्पण के बाद भी युद्धबन्दियों को अधिक समय तक नजरबन्द रखना अनावश्यक समझा गया। अतः 1909 के जेनेवा अभिसमय मे धारा 118 के पूर्व नियम में संशोधन किया गया। उसमे स्पष्ट उल्लेख था कि "क्रियाशील शत्रुतापूर्ण कार्यों के अवसान (Cessation of active hostilities) के बाद अविलम्ब युद्धबन्दियों की मुक्ति तथा स्वदेश प्रत्यावर्तन होना चाहिए।" शत्रुतापूर्ण कार्यों का अवसान का अल्पकालीन पद विराम नही जिसकी समाप्ति शीघ्र हो सकती है, और पुनः छिड सकता है, पर शत्रु के पूर्ण आत्मसमर्पण के बाद सन्धि ऐसी विराम सन्धि है, जिसके बाद युद्ध छिड़ने की कोई सम्भावना नहीं रहती है ऐसी अवस्था मे युद्धबन्दियों को तुरन्त छोड़ देना चाहिए। अतः द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 1949 तक जर्मनी से कोई शान्ति सन्धि नहीं हुई थी अतएव मित्रराष्ट्रों ने समस्त जर्मनी के बन्दियों को मुक्त कर दिया।

(5) युद्धावस्था की समाप्ति (End of State of War)—शान्ति-सन्धि का प्रभाव युद्धावस्था पर भी पड़ता है। इस विषय मे यह जान लेना चाहिए कि युद्ध-विराम (Armistice) तथा शान्ति-सन्धि मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि युद्ध-विराम के बाद भी युद्ध-स्थिति बनी रहती है और दोनों पक्ष लड़ने को तैयार रहते हैं पर शान्ति सन्धि होने के बाद ऐसी स्थिति नहीं रहती, युद्ध स्थायी रूप से बन्द हो जाता है।

(6) युद्ध की पूर्व सन्धियों पर प्रभाव (Effect on Pre-war Treaties)—युद्ध की समाप्ति और शान्ति सन्धि के समाप्त हो जाने पर एक प्रश्न उठता है कि युद्ध से पूर्व की गयी सन्धियां प्रभावशाली बनी रह सकेगी या नही। कुछ सन्धियां तो युद्ध समाप्त होने पर भी प्रभावशील बनी रहती है जैसे युद्ध से पूर्व किये गये ऋण और संविदाएँ पुनर्जीवित हो जाती हैं पर शान्ति-सन्धि के बाद शत्रु प्रदेश से उसकी सामग्री का बलपूर्वक उपयोग या धन की जबरन वसूली नहीं हो सकती है। युद्धकाल के बीच छीनी गयी वैयक्तिक सम्पत्ति लौटा दी जाती है। इसी प्रकार युद्धबन्दियों से छीनी गयी बहुमूल्य वस्तुएं उन्हें लौटा दी जाती हैं। शान्ति सन्धि के बाद कौनसी पूर्व सन्धि पुनः चालू हो और कौनसी सन्धि स्थगित की जाय यह निर्णय दोनों पक्ष मिल कर करते हैं। द्वितीय

विश्व-युद्ध के बाद इटली से 1947 में शान्ति सन्धि हो गयी थी। इस सन्धि की 44वीं धारा में यह उल्लेख था कि सन्धि लागू होने की तिथि से 6 माह भीतर ही इटली को यह सूचित कर दिया जायगा कि दोनों देशों के बीच कौन-कौनसी सन्धियाँ पुनर्जीवित रहेंगी, शेष अन्य सभी रद्द समझी जायेंगी।

शान्ति सन्धियों का पालन (Performance of Peace Treaties)—सामान्य नियम यह है कि शान्ति-सन्धि को दोनों पक्ष ईमानदारी एवं पूर्ण निष्ठा से पालन करें, क्योंकि शान्ति सन्धियों का बड़ा महत्त्व होता है। सन्धि के अनुसार अधिकृत क्षेत्र लौटाये जायें, युद्ध हर्जाना दिया जाय तथा सीमान्त रेखाओं की रचना की जाये आदि। परन्तु सन्धि की शर्तों का सदैव पालन होता ही है, यह आवश्यक नहीं। जर्मनी में तानाशाह हिटलर ने सत्ता में आने के बाद वर्साय में की गयी सन्धियों को एक-एक करके भंग कर दिया।

पूर्वावस्था का अर्थ तथा उसके नियम
(Postliminium : Meaning and Rules)

पूर्वावस्था का अर्थ (Meaning of Postliminium)—पूर्वावस्था का अर्थ है "जब कोई प्रदेश, व्यक्ति या सम्पत्ति युद्ध काल में शत्रु के अधिकार में चली जाये और युद्ध के समय या उसकी समाप्ति पर पुनः अपने पहले स्वामी या प्रभु के अधिकार में आ जायें, तो इसे पूर्वावस्था का नाम दिया जाता है।" यह परिभाषा अन्तर्राष्ट्रीय कानून में रोमन कानून से ली गई है। पूर्वावस्था (Postliminium) को लैटिन भाषा के दो शब्दों—Post (पूर्व) Lemin (सीमा) को मिलाने पर बनाया गया है। रोमन कानून मे इस शब्द का प्रयोग उस समय किया जाता था, जब रोमन किसी ऐसे देश पर आक्रमण करते थे जिसके साथ उनकी मैत्री सधि नहीं होती थी वे ऐसे देश के व्यक्तियों को विजय के बाद रोमन अपना दास बना लेते थे और उनका सामान जब्त कर लेते थे। पूर्वावस्था का नियम यह था कि—"(i) यदि इस प्रकार दास बनाया गया रोमन नागरिक रोमन साम्राज्य की सीमा में लौट आता था तो वह स्वतः (Ipsofacto) रोमन नागरिक के इन सब अधिकारों को पा लेता था जो उसे बन्दी बनाये जाने से पूर्व प्राप्त थे। (ii) विदेशी राज्य मे प्रवेश के बाद जब्त की हुई सम्पत्ति यदि रोमन साम्राज्य की सीमा मे वापस लाई जाती थी तो इस पर इसके भूतपूर्व रोमन स्वामी का अधिकार हो जाता था।" इस सिद्धान्त का प्रयोग वर्तमान समय मे शत्रु द्वारा जीते प्रदेश को उसके मूल स्वामी के पास लौट जाने के सम्बन्ध में किया जाता है।

विजित प्रदेश अपने मूल स्वामी को कई प्रकार से पुनः प्राप्त हो सकता है। पहला प्रकार यह है कि अधिकृत प्रदेश से शत्रु स्वयं हट जाय और मूल स्वामी द्वारा फौरन उस पर अधिकार कर लिया जाय। इसे शत्रु से कोई वैध राजा भी जीत सकता है और जीतने के बाद मूलस्वामी को लौटाया जा सकता है। जनता के विद्रोह द्वारा भी यह प्रदेश उसके मूल स्वामी को मिल सकता है। शान्ति सधि मे भी इसे मूलस्वामी को लौटाने की व्यवस्था हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में पूर्वावस्था के निम्नलिखित तीन प्रभाव होते हैं—

(अ) वस्तुओं को पूर्वावस्था प्राप्त होना (Return to Original Condition)—यदि युद्ध काल में किसी प्रदेश पर शत्रु की सेनाओं का अधिकार हो जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार इस प्रदेश पर शत्रु राज्य की प्रभुसत्ता कायम नहीं होती है। यदि शत्रु वशीकरण द्वारा (By subjugation) अपनी प्रभुसत्ता स्थापित नहीं करता तो कानूनी स्वत्व भूतपूर्व शासक का ही माना जाता है; भले ही वह अपने स्वत्व का प्रयोग न कर सके। अब शत्रु के इस अधिकृत प्रदेश को स्वयमेव, जनता के सामूहिक विद्रोह द्वारा या मित्र देशों के सैनिक दबाव के कारण शत्रु सेना

उसे छोड़ दे तो स्वतः ही इस प्रदेश में पूर्वावस्था लौट आती है। यह प्रदेश और इसके व्यक्ति भूत पूर्व वैध प्रभु की सत्ता के अधीन समझे जाते हैं। इस प्रदेश में घटित होने वाली सब महत्वपूर्ण घटनाओं के लिए अन्य राज्य उसी शासक को उत्तरदायी समझने लगते हैं।

(ब) वैध कार्यों की वैधता (Legality of Lagal Act)—किसी प्रदेश में सैनिक अधिकार रखने वाली शक्ति से वैध कार्यों पर पूर्वावस्था का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। शत्रु सेना के लौट जाने पर पहले उसके द्वारा किये गये वैध कार्यों को अवैध नहीं बनाया जा सकता है। इस अधिकृत प्रदेश में यदि शत्रु राज्य द्वारा कुछ कर एकत्र किए हों, स्थावर सम्पत्ति की पैदावार बेची हो, युद्ध का नियम पालन करते हुये अपने अधिकार में आयी चल सम्पत्ति का विनियोग किया हो, तो युद्ध के बाद इस प्रदेश पर पुनः अधिकार प्राप्त करने वाला वैध शासक उपर्युक्त अवस्थाओं को बदल नहीं सकता है। इन कार्यों के किए जाने की आवश्यक शर्त यह है कि ये उसके अधिकार के समय में (During the Occupation) किये गये हों।

फ्रेंको-जर्मन युद्ध (1871) के एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। अक्टूबर 1870 में फ्रांस के दो जिलों—"म्यूज तथा म्यूरते" (Department of dele Meuse and Dela Meurthe) पर जर्मन सेनाओं का अधिकार था। इसी समय बर्लिन की एक फर्म ने जर्मन सरकार से इन जिलों में ओक (Oak) के 15000 पेड़ गिराने का ठेका लिया और उसके लिये 2250 पौण्ड की धनराशि अग्रिम रूप से जमा की। बर्लिन की उक्त फर्म ने वे सांविदिक अधिकार (Contractual right) एक दूसरी कम्पनी को बेच दिये। इसने मार्च 1871 को 9000 पेड़ काटने और बेचने के बाद शेष 6000 पेड़ काटने का ठेका तीसरी कम्पनी को दे दिया। उसने जर्मनी सेनाओं के रहते कुछ पेड़ काटे। इसी बीच फ्रांस और जर्मनी में फ्रैंकफोर्ट की संधि हो गई। जर्मन सेनायें उन दोनों जिलों को खाली कर स्वदेश लौट गईं। फ्रेंच सरकार का इन क्षेत्रों पर पुनः अधिकार हो गया, उसने ठेकेदार को शेष पेड़ काटने से रोक दिया और उसे हर्जाना भी नहीं दिया क्योंकि जर्मनी की सरकार को केवल अपने अधिकार काल में ही ठेका देने का अधिकार था, उसके बाद यह कार्य वैध नहीं रहा, अतः फ्रेंच सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया।

(स) अवैध कार्यों की अवैधता (Illegality of Illegal Act)—यदि शत्रु राज्य ने अपने अधिकृत काल में कुछ ऐसे कार्य किये हों जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से उसे नहीं करने चाहिये थे तो पूर्वावस्था इन्हें अवैध ही समझेगी। यदि उसने राज्य की कुछ अचल सम्पत्ति बेची है तो युद्ध के बाद इसे खरीदने वालों से बिना मुआवजे दिये प्राप्त की जा सकती है। यदि उसने अधिकार न होते हुए भी कुछ व्यक्तियों को पद दे दिये हों तो उन्हें पूर्वावस्था प्राप्त होने पर छीना जा सकता है।

पूर्वावस्था के नियम की मर्यादायें (Limitations of the Doctrine of Postliminium)—पूर्वावस्था का सिद्धान्त वहीं लागू किया जा सकता है जहाँ जीता प्रदेश युद्ध में या युद्ध की समाप्ति के बाद भूतपूर्व शासक को लौटा दिया जाता है। किन्तु जब कोई विजित प्रदेश को शान्ति संधि द्वारा कुछ समय के लिये शत्रु को दिया जाय, जीत लिया जाय, अंगीकृत द्वारा राज्य को मिला लिया जाय और बाद में मूलस्वामी को लौटा दिया जाय तो उस पर पूर्वावस्था का नियम लागू नहीं होता है। इसके लिये किसी मध्यवर्ती शासन (Inter regnum) का व्यवधान नहीं होना चाहिये। यह नियम केवल युद्धकाल में सैनिक अधिकार के सम्बन्ध में अधिकृत प्रदेशों पर ही लागू होता है। शान्तिकाल में चिरकाल तक दूसरे राज्यों के अधिकार में रहने वाले प्रदेश इस नियम का लाभ नहीं उठा सकते। इस विषय में हेसकैसल (Hesse Cassel) का उदाहरण दिया जा सकता है।

हैस कैसल तटस्थ प्रदेश पर नेपोलियन बोनापार्ट ने 1806 में फ्रैंको-प्रशिया युद्ध के समय अधिकार कर लिया। इसके शासक को इस आधार पर वहाँ से खदेड़ भगाया कि उसकी सशस्त्र तटस्थता से फ्रेंच सेना की सुरक्षा संकट ग्रस्त हो गई है। 1807 तक यह प्रदेश फ्रेंच सेनाओं के अधिकार में रहा। इसके बाद रूस से टिलसिट (Tilcit) की संधि होने पर नेपोलियन ने इसे वैस्टफेलिया नामक नये राज्य का अंग बना दिया और इसकी राज गद्दी पर अपने भाई जेरोम बोनापार्ट को बैठा दिया। इस राज्य का कुछ भाग फ्रांस में भी मिला दिया। दोनों भाईयों में इस बँटवारे के सम्बन्ध में 22 अप्रैल 1808 को एक समझौता भी हो गया। हैस कैसल के इलेक्टर को अपने प्रजाजनों से कुछ ऋण वसूलने थे। इस विषय में जेरोम का कहना था कि इन ऋणों की अदायगी नेपोलियन को होनी चाहिए क्योंकि वही इस प्रदेश का विजेता था अतः वही उसका वास्तविक स्वामी था। इस प्रकार उसने अपने अधिकार का दावा त्याग दिया। नेपोलियन ने यह घोषणा की कि इस प्रदेश के पूर्ण स्वामित्व और उपभोग के अधिकार के बदले में ऋणों की अदायगी जेरोम को सौंप दी है। 1813 में नेपोलियन की शक्ति क्षीण हो गई तब मित्र राष्ट्रों ने हैस कैसल को उसके पूर्व शासक (Elector) को सौंप दिया।

काउन्ट वान हान (Count Van Hahn) नामक एक बड़े जमींदार को हैस कैसल के इलेक्टर ने एक बड़ी धन राशि उधार दी थी। इस धन राशि का कुछ अंश काउन्ट वान हान ने नेपोलियन को लौटा दिया था। उसकी प्रेरणा से मैक्लेनवर्ग के ड्यूक ने 15 जून 1810 की आज्ञा द्वारा उसे पूरे ऋण की अदायगी से मुक्त कर दिया था। इलेक्टर ने कहा कि यह कार्य अवैध है क्योंकि यह लुटेरे का कार्य है, विजेता का नहीं उसे अपनी धन राशि पूरी मिलनी चाहिए किन्तु उस समय इस मामले की अपील सुनने वाले न्यायालय ने इस विषय में पूर्वावस्था का सिद्धान्त लागू नहीं किया क्योंकि विजय द्वारा हैस कैसल पर नेपोलियन का पूरा अधिकार स्थापित हो चुका था। 1813 में इलेक्टर का वापस आना वैस्टफेलिया के शासन के एक लम्बे व्यवधान के बाद हुआ, इसे पुराने शासन का जारी रखना नहीं माना जा सकता, इस बीच नेपोलियन द्वारा किये गये सभी कार्य वैध थे, भले ही काउन्ट वान हान (Count Van Hahn) ने ऋण की पूरी अदायगी न की हो, पर उस पर मैकलेनवर्ग के ड्यूक का प्रमाण पत्र तो था। इस प्रकार हैस कैसल के इलेक्टर का दावा न्यायालय ने स्वीकार कर लिया।

संधि का अर्थ तथा उनका वर्गीकरण
(Meaning of the Treaty and its Classification)

संधि का अर्थ और परिभाषा (Meaning of Treaty and its Classification)— संधिया अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रमुख स्रोत होती हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से ही संधिया विभिन्न राज्यों के मध्य पारस्परिक व्यवहारों को सचालित करने के लिये तथा उन्हें नियमन एवं नियन्त्रित करने के लिये की जाती रही हैं। संधियों का महत्त्व देखते हुए उन्हें पालन करने की आवश्यकता पर बल दिया जाता रहा है। इनमें राज्य द्वारा लागू विधि, निर्माण करने और लागू करने की पूरी व्यवस्था होती है। इतना होने पर भी इन संधियों को मानने या पालन कराने की क्षमता किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में नहीं है। इन संधियों में दी गई व्यवस्थायें राज्यों द्वारा नैतिक रूप से ही स्वीकार की जाती हैं, वे बाध्यकारी नहीं मानी जाती हैं, क्योंकि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को अभी तक सम्प्रभुता प्राप्त नहीं हुई है। आधुनिक समय में विज्ञान की उन्नति इतनी हो चुकी है कि कोई भी देश अब अलग-अलग रहने की नीति नहीं अपना सकता है अतः वह सौजन्यता वश इन संधियों को मान्यता देता है और उसका पालन करता है।

यहाँ संधि की परिभाषा दी जाती है जिससे पता चलता है कि इनका पालन करना क्यों आवश्यक हो जाता है। ओपेनहीम ने संधि की परिभाषा देते हुये बताया है कि—"अन्तर्राष्ट्रीय

संधियाँ ऐसे समझौते हैं जो संविदात्मक होते हैं, राज्य अथवा राज्यों के संगठनों के मध्य किये जाते हैं और जो कानूनी अधिकार और कर्त्तव्य करते हैं।"[1] स्टार्क महोदय का मत है कि "संधि वह करार है जिसमें दो या दो से अधिक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपने आप सम्बन्ध स्थापित करते हैं या स्थापित करने का प्रयत्न करते है।"[2] राष्ट्रीय कानून में एक व्यक्ति के पास कानूनी कार्य के अनेक साधन होते हैं जैसे संविदा (Contract), स्वत्वान्तर (Conveyance), पट्टा (Lease), अनुज्ञा (Licence) आदि, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे राज्यों के पास विविध प्रकार के कानूनी कार्य करने के लिए संधि ही एकमात्र साधन है। राज्य इसी से मौलिक संवैधानिक कानून बनाते हैं, जैसे सं० रा० संघ का चार्टर (Charter) 1945 में सैन फ्रांसिस्को में बनाया गया; इससे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण करते हैं। अपनी भूमि तथा अड्डे पट्टे पर देते हैं, सैनिक मैत्रियाँ (Alliance) कहते हैं। बेल्जियम जैसे राज्यों को 1931 में संधि द्वारा तटस्थ देश बनाया जाता है तथा विधायक (Law making) संधियों द्वारा कानून का निर्माण करते हैं।

सन्धिवाची कुछ अन्य शब्द (Terminology of Treaties)—सन्धि दो राष्ट्रों के मध्य किया जाने वाला एक करार (Contract) होता है। इस शब्द का प्रयोग मित्रता या देश के हस्तान्तर के समय किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों अथवा समझौते का अर्थ देने वाले और शब्द भी हैं जैसे—

(i) अभिसमय (Convention)—अभिसमय शब्द का प्रयोग अनेक राज्यों द्वारा स्वीकार किये जाने वाले एक औपचारिक आलेख (Formal Instrument) के लिए होता है। जैसे 1899 एवं 1907 में हेग सम्मेलन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण हल, स्थल युद्ध, तटस्थता आदि के अभिसमय, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन आदि। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में विभिन्न राज्यों द्वारा कुछ विषय पर अभिसमय तैयार कराये जिन्हें समझौतों के रूप में उन्होंने स्वीकार किया।

(ii) प्रोटोकोल (Protocol)—यह शब्द फ्रेंच भाषा का है जिसका मूल अर्थ "किसी पांडुलिपि के आरम्भ में गोंद से चिपकाया गया पहला पन्ना तथा मूल प्रति" है। राजनयिक शब्दावली मे सामान्य रूप से इसका आशय ऐसे हस्ताक्षरांकित लेखपत्र से होता है, जिसमें अन्तिम सन्धि होने से पूर्व दोनों पक्षों द्वारा सहमति प्राप्त बातों का उल्लेख हो, यह इस प्रकार सन्धि का पूर्ववृत होता है। स्टार्क ने कहा है कि "यह अभिसमय से कम औपचारिक (*Formal*) समझौता होता है और यह कभी दो राज्याध्यक्षों के बीच में नहीं होता है।" इसमे निम्न प्रकार के चार लेख (Instruments) सम्मिलित होते हैं—(i) किसी अभिसमय का सहायक एवं उसकी विशेष धाराओं का स्पष्टीकरण करने वाला लेख। इसके पृथक अनुसमर्थन (Ratification) की आवश्यकता नहीं होती। (ii) एक अभिसमय का सहायक (Auxilliary) किन्तु स्वतन्त्र प्रकार का लेख, इसके लिए पृथक अनुसमर्थन आवश्यक होता है, जैसे 1930 में राष्ट्रीयता कानून के संघर्ष के हेग अभिसमय (Hague Convention in the Conflict of Nationality) के साथ हस्ताक्षर किया गया राज्यहीनता (Statelessness) का हेग प्रोटोकोल। (iii) सर्वथा नवीन सन्धि, जैसे 1924 का जेनेवा प्रोटोकोल, इसे प्रोटोकोल का नाम देने का यह कारण था कि इसे किसी राजनयिक सम्मेलन ने स्वीकार नही किया था; किन्तु राष्ट्र संघ की सामान्य सभा ने पास किया था। (iv) कुछ स्वीकार की गयी बातों का लेख (Proce's-Verbal)

---

[1] International treaties are agreements of a contractual character, between states or organisations of states, creating legal rights and obligations between the parties. —*Oppenheim*.

[2] "A treaty is an agreement whereby two or more states establish or seek to establish a relationship within international law between themselves." —*Starke*

(iii) समझौता (Agreement)—यह सन्धि या अभिसमय से कम औपचारिक होता है, यह राज्यों के अध्यक्षों के बीच सम्पन्न नहीं होता है। उसका क्षेत्र बहुत सीमित होता है। इसे स्वीकार करने वाले राज्यों की संख्या अभिसमय से कम होती है। इस शब्द का प्रयोग प्राविधिक और प्रशासनिक स्वरूप रखने वाले ऐसे समझौतों के लिए भी होता है, जिन पर सरकारी विभागों के प्रतिनिधि हस्ताक्षर करते हैं और जिनके अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती है।

(iv) व्यवस्था (Arrangement)—यह शब्द प्रायः अस्थायी प्रकृति रखने वाले समझौतों के लिए होता है।

(v) प्रामाणिक विवरण (Proce's-Verbal)—इसका मूल अर्थ एक कूटनीतिक सम्मेलन में हुए निर्णय तथा कार्यवाही का सारांश था बाद में इसका प्रयोग दो पक्षों के समझौतों के लिए भी होने लगा। जैसे इटली और स्विटजरलैण्ड का 1892 में ज्युरिच में हुआ व्यापारिक समझौता। इसके लिए अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती।

(vi) परिनियम (Statute)—इस शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता है—(अ) किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के कार्य संचालन के लिए आवश्यक नियमों का संग्रह, जैसे 1945 का न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परिनियम (Statute)। (ब) अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की विद्यमान किसी सत्ता (Entity) के कार्य संचालन के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा बनाये गये नियमों का संग्रह, जैसे 1937 में एलेक्जेण्ड्रिया के संजक ने किया। (स) किसी अभिसमय का सहायक लेख जिसमें लागू किये जाने वाले नियमों का वर्णन हो, जैसे 1921 के बार्सिलोना के पारगमन की स्वतन्त्रता के अभिसमय के साथ जोड़े गये पारगमन स्वातन्त्र्य के परिनियम।

(vii) घोषणा (Declaration)—घोषणा के तीन अर्थ लगाये जाते हैं—(अ) सन्धि, जैसे 1856 में पेरिस की घोषणा। (ब) किसी सन्धि या अभिसमय के साथ जोड़ा गया उसकी व्याख्या करने वाला उसका अनौपचारिक लेख। (स) अल्प महत्त्व वाले मामले के बारे में किया गया अनौपचारिक समझौता। उनका अनुसमर्थन कई बार आवश्यक होता है।

(viii) अस्थायी प्रणाली (modus vivedi)—यह एक ऐसा लेख है, जिसमें अस्थायी प्रकृति वाले समझौते का वर्णन होता है बाद में इसके स्थान पर स्थायी समझौता होता है।

(ix) सम्पत्रों का विनिमय (Exchange of Notes)—इन पत्रों में राज्य उन दायित्व का निर्देश करते हैं जिनका पालन करना वे आवश्यक समझते हैं।

(x) चरम पत्र (Final Act)—इसमें एक अभिसमय बनाने के लिए बुलाये गये सम्मेलन की सारी अन्तिम कार्यवाही का संक्षिप्त उल्लेख रहता है, जैसे अगस्त 1963 में लन्दन में हुए गेहूँ निर्यात और आयात करने वाले सम्मेलन का चरम लेख।

(xi) सामान्य कानून (General Act)—यह वास्तव में सन्धि होती है। राष्ट्र संघ की असेम्बली ने 1928 में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे के पंच-निर्णय का 'अन्तिम कानून' (General Act) पास किया।

सन्धियों का वर्गीकरण
(Classification of Treaties)

विभिन्न विधिशास्त्रियों ने अनेक प्रकार की सन्धियों का वर्णन किया है। ओपेनहीम के मतानुसार सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं—प्रथम, विधि स्थापन करने वाली सन्धियाँ, दूसरी शेष विषयों के सम्बन्ध में सन्धियाँ। दूसरी प्रकार की सन्धि के उसने पुनः चार वर्ग बनाये हैं—(i) मित्रतापूर्ण सन्धियाँ, (ii) सुरक्षा सन्धियाँ, (iii) तटस्थता सम्बन्धी सन्धियाँ, एवं (iv) व्यापारिक सन्धियाँ।

वैटल ने सन्धियों को चार वर्गों में बाँटा है—(i) समान (Equal), (ii) असमान (Unequal), (iii) वास्तविक (Real) तथा व्यक्तिगत (Personal)।

कालवी ने सन्धियों के तीन प्रकार बताये हैं—(अ) स्वरूप, स्थायी एवं अस्थायी सन्धियाँ, (ब) स्वभाव, वास्तविक तथा व्यक्तिगत सन्धियाँ, (स) प्रभाव, समान, असमान, साधारण तथा आश्रित प्रभाव वाली सन्धियाँ।

सन्धियों के वर्गीकरण में अनेक मापदण्डों का प्रयोग किया गया है जैसे एकपक्षीय सन्धियाँ एवं द्विपक्षीय सन्धियाँ।

सन्धियों का सबसे उत्तम वर्गीकरण 1930 में मैकनायर ने 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि की इयर बुक में किया है :—

(1) यातायात सम्बन्धी सन्धियाँ, (2) संविदा स्वरूप सन्धियाँ, (3) विधि विधायक सन्धियाँ। विधि-विधायक सन्धियों का भी उपविभाजन उसने 3 प्रकार से किया है—(अ) संवैधानिक विधि को जन्म देने वाली सन्धियाँ, (ब) युद्ध विधि विधायक सन्धियाँ, (स) सम्मिलित करके अधिपत्र के समान प्रकृति की सन्धियाँ।

सन्धियों में सम्मिलित होने की शक्ति—कोई भी सत्ताधारी राष्ट्र जिसने अपनी प्रभुता का कोई अंग संघ में सम्मिलित होकर अथवा मित्रता की सन्धि द्वारा अलग न किया हो, सन्धि करने में पूर्ण स्वतन्त्रता रखता है। उस राष्ट्र की सन्धि करने की शक्ति सीमित होती है जिसकी प्रभुसत्ता प्रतिबन्धित होती है। प्रतिबन्ध की सीमा स्वतन्त्रता की प्रकृति पर आधारित रहती है। संघ की स्थिति में, संविधान सदस्य-राष्ट्र की अन्य पूर्ण सत्ताधारी राष्ट्रों के साथ सन्धि करने की शक्ति, उनके स्वामी को परिभाषित करते हैं। गुलाम अथवा संरक्षित राज्यों से सन्धि करने की शक्ति, उनके स्वामी राज्य द्वारा दी गयी स्वतन्त्रता पर आधारित है।

मार्ग-दर्शकवाद एस० एस० विम्बलडन (S. S. Wimbledon) का निर्णय देते हुए कहा गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रवेश करने की क्षमता एक सम्प्रभु राज्य की ही होती है।"[1]

स्वायत्त शासन प्राप्त प्रदेश की शक्ति—वे अधिराज्य जो कि कामनवैल्थ के भाग हैं, सन्धि कर सकते हैं। परन्तु यह क्षमता और अधिकार कुछ स्वयं अपने द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों से सीमित हो गया है। प्रथम तो प्राकृतिक ही है कि कोई भी सन्धि कामनवैल्थ की किसी भी सरकार द्वारा अन्य भागों पर तथा सम्पूर्ण कामनवैल्थ पर उसके प्रभाव को अवश्य जांचना पड़ेगा। सन् 1923, 1926 और 1940 की बैठकों में यह तय किया गया था कि कामनवैल्थ के सभी सदस्यों को सन्धि से पूर्व ही सूचित करना आवश्यक है कि जिससे किसी सरकार के हितों पर यदि प्रभाव पड़े तो वह सन्धि की वार्ता में अपने विचार प्रकट कर सके। 1948 के सम्मेलन में यह तय हुआ कि नीतियों के निर्धारण में भी एक दूसरे देश की सम्मति लेना अधिक सुविधाजनक रहेगा।

सन्धि निर्माण विधि
(Process of Making Treaty)

केवल सन्धि कर लेने मात्र से सन्धि का उद्देश्य पूरा नहीं होता है जब तक उस पर अमल न किया जाय। निम्नलिखित आधारों पर सन्धियों को क्रियान्वित किया जाता है :—

(1) सन्धि की कार्यवाही पूर्ण करने के लिए एक प्रतिनिधि का होना आवश्यक है।

(2) सन्धि करने वाले प्रतिनिधि की नियुक्ति के पश्चात सन्धि के महत्त्वपूर्ण अंग समझौते के आधारों को प्रतिनिधि तैयार करता है। समझौते के आधारों की तैयारी के पश्चात

---

1 "The capacity of entering into international engagement is an attribute of state sovereignty."

बैठक में वार्ता के तदनुपरान्त प्रस्ताव (Draft) तैयार किया जाता है। इस प्रकार तैयार प्रस्ताव पर दोनों अथवा सभी पक्षों के हस्ताक्षर आवश्यक रूप से सबसे कराये जाते हैं।

(3) जब प्रतिनिधियों द्वारा सन्धि पर हस्ताक्षर हो जाते हैं तब सन्धि का प्रारूप सम्बन्धित सरकारों को भेज दिया जाता है। सरकारों के अनुसमर्थन के बाद सर्वोच्च सत्ताधारी उसकी स्वीकृति देता है, तभी सन्धि मान्य होती है, अन्यथा नहीं। जब सर्वोच्च सत्ताधारी उसकी स्वीकृति की घोषणा करता है तभी पूरे तौर पर सन्धि स्वीकार मानी जाती है। विभिन्न देश में सन्धियों पर सर्वोच्च सत्ताधिकारी विभिन्न रूप से स्वीकृति प्रदान करते हैं। इंगलैण्ड में सरकार, भारत में संसद तथा अमेरिका में सीनेट द्वारा अनुसमर्थन होना आवश्यक होता है।

(4) सन्धि पर अनुसमर्थन के बाद उसका संयुक्त राष्ट्र संघ में पंजीकृत होना आवश्यक होता है। इसका प्रकाशन शीघ्रातिशीघ्र होना चाहिए। कोई भी सन्धि किसी राज्य पर उस समय तक लागू नहीं होगी जब तक उसका पंजीकरण न हुआ हो। अपंजीकृत सन्धियाँ अमान्य ठहरायी जायेंगी।

(5) सन्धि का अन्तिम चरण उसकी आवश्यकतानुसार समझौता करने वाले राज्यों की राष्ट्रीय विधि लेना होता है। इन राज्यों द्वारा ही सन्धि की शर्तों को क्रियान्वित किया जाता है। इन सन्धियों के प्रावधानों द्वारा राज्यों पर दायित्व आता है जो उसके विधि के सहारे ही पूरा किया जाता है।

(6) जब सन्धि में दिये गये उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है अथवा सामयिक सन्धि का साम्य हो जाता है तब सन्धिकर्ताओं को सन्धि की शर्तों का पूरी तरह पालन करना आवश्यक हो जाता है। सन्धि द्वारा राज्यों को कुछ अधिकार मिलते हैं तथा कुछ कर्तव्य सौंपे जाते हैं। यदि सन्धि के अनुसार कर्तव्य पालन करना अधिक मँहगा पड़ता है तो अनुबन्धित राष्ट्र को सोचना पड़ता है कि सन्धि की शर्तों में परिवर्तन कराया जाय या उसे पूर्णतया भंग कर दिया जाये।

आमतौर से शक्तिशाली राज्यों को उन सन्धियों में दिये कर्तव्यों को पालन करना अखरने लगता है। इसके अतिरिक्त शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्यों पर स्वार्थों की पूर्ति के लिए कुछ शर्तों को जबरन थोपने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि सन्धि की शर्तों की अवहेलना प्रारम्भ हो जाती है। अन्त में सन्धि टुकड़े-टुकड़े हो जाती है।

अवैध सन्धियाँ—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध जो सन्धि की जाती है, वह अवैध होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपेक्षा करके कोई सन्धि वैध नहीं ठहराई जा सकती है। जो सन्धियाँ सार्वजनिक रूप से अनैतिक होती है, वे अवैध ठहराई जाती हैं। कभी सन्धियाँ अव्यवहारिक हो जाती हैं ऐसी अवस्था में सन्धियों के पालन करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अनुचित दबाव डालकर, और धोखे से की गई सन्धियाँ किसी राष्ट्र को अनुबन्धित नहीं कर सकती।

सन्धि सम्पादन के आठ अंग

(Right Steps in Conclusion of Treaties)

सन्धि करने की कोई सुनिश्चित प्रक्रिया नहीं है, फिर भी सन्धि के नियमों के बाध्य रूप से पालन के लिए प्रत्येक सन्धि के सम्पादन में *क्रमशः निम्नलिखित आठ अंग अनिवार्य माने जाते हैं :*

(1) **प्रतिनिधियों की नियुक्ति (Accrediting of Negotiators)**—प्रथम अंग, सन्धिवार्ता के लिए विभिन्न देशों के मन्त्रालयों द्वारा प्रतिनिधियों की नियुक्तियाँ होती हैं। इन प्रतिनिधियों को विदेशमन्त्री इस कार्य के लिए अधिकार वाला 'पूर्णाधिकार (Full Powers, plains Powers) नामक प्रमाण-पत्र देता है। जब इस अधिकार-पत्र पर राजा या शासनाध्यक्ष के हस्ताक्षर हों तो उसे विशेष पूर्ण अधिकार' (Special Full Powers) पत्र कहा जाता है। इस अधिकार-पत्र में प्रतिनिधि की क्षमताओं का उल्लेख किया जाता है।

(2) सन्धिवार्ता (Negotiations)—सन्धि का दूसरा अंग सन्धिवार्ता का होता है। इस स्तर पर विभिन्न देशों अथवा सम्बन्धित देशों के प्रतिनिधियों द्वारा बात-चीत होती है तथा सन्धि का मसविदा तैयार होता है।

(3) सन्धि पर हस्ताक्षर (Signature on the Treaty)—सन्धि का तीसरा पग हस्ताक्षर का होता है। सन्धि का मसविदा जब पूर्ण रूप से तैयार हो जाता है तो प्रतिनिधि उस पर अपनी-अपनी स्वीकृति स्वरूप हस्ताक्षर करते हैं। यह कार्य पूर्ण औपचारिकता के साथ किया जाता है।

(4) अनुसमर्थन (Ratification)—सन्धि का चौथा स्तर उसका अनुसमर्थन होता है। सन्धि पर जब प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हो जाते है तो उसकी प्रतिलिपि प्रत्येक प्रतिनिधि अपनी-सरकारों को भेजता है ताकि संसद या सरकार का सर्वोच्च अधिकारी उस पर पुनर्विचार कर अपने हस्ताक्षर कर उसका अनुसमर्थन करे। यह कार्य कई कारणों से उचित माना जाता है—(क) राज्यों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे सन्धि की बाध्यतायें और कर्तव्य स्वीकार करने से पहले अपने प्रतिनिधियों द्वारा मानी गई शर्तों पर पूरी तरह पुनर्विचार कर लें, (ख) राज्य की प्रभुसत्ता उसे किसी सन्धि को अस्वीकार करने का अधिकार प्रदान करती है। (ग) प्रायः सन्धियों द्वारा राष्ट्रीय कानून में संशोधन करना आवश्यक होते हैं। हस्ताक्षर के बाद अनुसमर्थन के समय तक राज्यों को इसकी संसद से आवश्यक स्वीकृति लेने का अवसर मिल जाता है। (घ) लोकतन्त्र के सिद्धान्त के अनुसार सरकार को सन्धि की बाध्यता ग्रहण करने से पहले लोकमत का संसद द्वारा समर्थन प्राप्त करना आवश्यक होता है।

(अ) अनुसमर्थन का महत्त्व (Importance of Ratification)—पहले अनुसमर्थन सन्धियों के सम्बन्ध में एक आवश्यक अंग समझा जाता था। किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों में अनुसमर्थन का पहला सा महत्त्व नहीं रहा। उदाहरण के लिए लार्ड स्टोवेल ने 'एलासाएन' (Elisa Ann) के वाद मे 1813 में निर्णय देते हुए कहा था कि "यह एक अत्यन्त औपचारिकता है। अनुसमर्थन न होने पर सन्धि संवैधानिक दृष्टि से अपूर्ण रहेगी।" पर अब प्रत्येक सन्धि का अनुसमर्थन करना आवश्यक नहीं रहा। उसे अस्वीकार भी किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में ब्रियर्ली का मत है कि "राज्य के लिए कोई ऐसा कानूनी या नैतिक कर्तव्य नहीं समझा जाता है कि वह अपने पूर्णाधिकारी द्वारा हस्ताक्षर की गई सन्धि का अनुसमर्थन करे। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यह बहुत गम्भीर कदम होता है और उसे हल्केपन से नहीं उठाना चाहिए।"

(ब) सन्धि का अस्वीकार किया जाना (Rejection of the Treaty)—राज्य कई कारणों से सन्धि को अस्वीकार कर सकता है। ये कारण निम्नलिखित हैं :

(i) यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रतिनिधि को धोखे में रखता है और उसे कुछ महत्वपूर्ण बातों का ज्ञान नहीं होने देता है, कुछ बातें गुप्त रखता है, तो प्रतिनिधि के हस्ताक्षर होने के बाद भी सन्धि रद्द की जा सकती है।

(ii) प्रतिनिधि यदि अपने अधिकार से बाहर कुछ शर्तें मान लेता है जो राष्ट्रहित के विरुद्ध हो तो राज्य उक्त सन्धि को स्वीकार करने से इन्कार कर देता है।

(iii) यदि सन्धि की कुछ शर्तें अव्यावहारिक हों या जिन पर अमल न हो सकता हो, उस सन्धि को अनुसमर्थन नहीं दिया जाता है।

(iv) सन्धि के मसविदे में तय की गई शर्तों के अतिरिक्त कोई शर्त बढ़ा दी जाये तो वह राज्यों द्वारा अस्वीकृत की जा सकती है।

(5) सहमिलन एवं अभिलग्नता (Accession and Adhesions)—कुछ राज्य जो सन्धिवार्ता में सम्मिलित नहीं होते हैं पर बाद में वे सन्धि के पक्षधर बन सकते हैं। यदि वे सन्धि की समस्त शर्तों को स्वीकार कर लेते हैं तो यह सहमिलन (Accession) कहा जाता है और यदि वे थोड़ी ही शर्तों को स्वीकार करते हैं तो उन्हें उन शर्तों के साथ जुड़ना या अभिलग्नता (Adhesion) कहा जाता है। *ब्रिटिश परम्परा के अनुसार किसी सन्धि में बाद में सम्मिलित होने* वाला राज्य सन्धि करने वाले अन्य राज्यों के समान ही संविदा करने वाला पक्ष (Contracting Party) माना जाता है।

ओपेनहीम सहमिलन एवं अभिलग्नता के अन्तर को व्यावहारिक नहीं मानता है। सहमिलन द्वारा सन्धि का पक्षधर बनने के लिए यह आवश्यक होता है कि सन्धिकर्ता राज्य उसके लिए अपनी सहमति दे दे। सहमिलन की कोई विशेष विधि प्रचलित नहीं है।

(6) सन्धि का लागू होना (Inforcement of Treaty)—संधि का लागू होना सन्धि की शर्तों के अनुसार होता है। कभी-कभी सन्धि प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होते ही लागू हो जाती है पर कुछ सन्धियाँ अनुसमर्थन के बाद ही लागू होती है। अनुसमर्थन करते समय राज्य काफी समय ले लेते हैं। कुछ राज्य उसे अल्प समय में समर्थन दे देते हैं और कुछ लम्बे समय के बाद देते हैं और कुछ अनुसमर्थन देते ही नहीं। कुछ अभिसमय ऐसे होते हैं जिनके लागू होने के लिए कुछ निश्चित संख्या (6 या 10) में राज्यों का अनुसमर्थन प्राप्त होना आवश्यक होता है। जैसे 1930 के राष्ट्रीयता कानून के संघर्ष-विषयक हेग सम्मेलन में हुआ। इस अभिसमय को निश्चित संख्या के राज्यों द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त होने पर लागू कर दिया गया। कुछ सन्धियों में लागू होने की शर्त रखी जाती है और उस शर्त को पूरा होने पर ही उन्हें लागू किया जा सकता है, जैसे 1925 की लोकार्नो सन्धि में यह शर्त थी कि जर्मनी के प्रवेश के बाद ही उसे लागू किया जा सकेगा।

(7) पंजीकरण और प्रकाशन—द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् सं० रा० संघ की स्थापना हुई। उसके चार्टर की धारा 102 मे लिखा है कि "सदस्यों द्वारा की गई सभी सन्धियाँ *और अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का "यथासम्भव शीघ्र ही" संघ के सचिवालय में पंजीकरण तथा* उसका संघ द्वारा प्रकाशन आवश्यक है। कोई भी राज्य संघ के न्यायालय या सुरक्षा परिषद में अपने विवाद को रखते समय ऐसी सन्धि का प्रमाण नही दे सकता जिसका पंजीकरण सं० रा० संघ के सचिवालय में न हुआ हो। इस व्यवस्था का उद्देश्य केवल यह था कि राज्यों के मध्य गुप्त सन्धियों की प्रथा का अन्त किया जाय।

(8) सन्धियों का क्रियान्वय (Application of Treaties)—सन्धि निर्माण की अन्तिस्थिति या यश तब आता है जब उसको क्रियान्वित करने के लिए राज्य अपने राष्ट्रीय कानूनों का आवश्यक निर्माण या संशोधन करते हैं। उदाहरणार्थ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O) की बैठकों में श्रमिकों की दशा उन्नत करने के लिए अनेक अभिसमय होते है। किन्तु जब तक राज्य उनका सिद्धान्त लागू करने वाले कानून अपने देश में पास नही करता, तब तक उनका क्रियान्वयन सम्भव नहीं।

सन्धियों की बनावट (Structure of a Treaty)—आधुनिक सन्धियों के मुख्य भाग अग्रलिखित होते हैं—(क) अवतरणिका या भूमिका (Preamble) इसमें सन्धि करने वाले राज्यों के अध्यक्षों या सरकारो के नामों का, सन्धि के प्रयोजनों और दोनो पक्षों द्वारा सन्धि करने के संकल्प का वर्णन होता है। (ख) सन्धि की मुख्य धाराओं या व्यवस्थाओं (Substantive clauses) का उल्लेख होता है, (ग) अन्तिम धारायें (Clauses Protoclalires of Final) का उल्लेख होता है इसमे सन्धि के लागू होने, उनके हस्ताक्षर या अनुसमर्थन, द्वारा

स्वीकृति, उसकी अवधि, उसकी भाषा, संशोधन रजिस्ट्री आदि औपचारिक विषयों का वर्णन होता है एवं अन्त में (घ) सन्धि पर पूर्णाधिकारियों (Plenipotentiary) के हस्ताक्षर, हस्ताक्षर करने की तिथि तथा स्थान का उल्लेख होता है।

अवैध सन्धियाँ
(Invalid Treaties)

सन्धियों के वैध या अवैध और व्याख्या करने का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को प्राप्त होता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार निम्नलिखित आधारों पर किसी सन्धि को अवैध घोषित कर सकता है :

(1) जो सन्धियाँ सार्वजनिक नैतिकता विरोधी होती हैं वे स्वयं ही अवैध हो जाती हैं।

(2) यदि कोई सन्धि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मान्य नियमों और सिद्धान्तों के विरुद्ध कर ली जाती है तो वह अवैध होती है।

(3) यदि सन्धि के पक्षकार देशों में से किसी एक पर अनुचित दबाव डालकर किसी पक्ष को भयभीत करने या बलपूर्वक सन्धि स्वीकार कराया जाता है तो ऐसी सन्धियों को वैध नहीं माना जा सकता है।

(4) कभी-कभी भ्रम में रहकर जिन सन्धियों में त्रुटियाँ रह जाती हैं तो वे अवैध हो जाती हैं।

(5) यदि सन्धि के पक्षकार किसी देश ने अन्य देशों को धोखे में रखकर सन्धि की हो अथवा तथ्यों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया हो तो इस प्रकार की सन्धियाँ अवैध होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में ऐसी सन्धियाँ कोई स्थान नहीं रखती हैं जोकि दूसरे पक्ष के साथ धोखे अथवा विश्वासघात के कारण की गई हों।

(6) ऐसी सन्धियों को क्रियान्वित किया जाना सम्भव नहीं जो अवैध होती हैं।

(7) यदि कोई ऐसा राज्य सन्धि कर लेता है जिसको विधि के अनुसार सन्धि करने का अधिकार नहीं, तो वह सन्धि भी निराधार मान ली जाती है।

सन्धियों के सिद्धान्त
(Principles of Treaties)

सन्धियों की प्रकृति के सन्दर्भ में सिद्धान्तों का नाम लिया जाता है। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

(1) सन्धियों की पवित्रता (Pacta Sunt Servenda)—अत्यन्त प्राचीन काल से राज्यों के मध्य सन्धियाँ अत्यन्त पवित्र मानी जाती हैं। रोमन कानून इन्हें अत्यन्त पवित्र (Pacta Sunt Servanda) मानता था। सन्धि एक प्रकार का करार (Contract) होता है। इसमें दोनों पक्ष कुछ शर्तों को मानने का वचन देते हैं। इन वचनों का पालन करना राज्यों का कर्तव्य है। भारत में वैयक्तिक क्षेत्र में यह सिद्धान्त माना जाता है कि "प्राण जाय अरु वचन न जाई।" राज्यों का भी यह नैतिक कर्तव्य है कि वे अपने वचनों का पालन करें। यदि सन्धियों का पालन न किया जाय तो विश्व में अराजकता की स्थिति कायम हो जाये। फेनविक का कहना है कि "दार्शनिकों धर्मशास्त्रियों ने सर्व सम्मति से यह सिद्धान्त स्वीकार किया है कि यदि राज्य द्वारा दिये गये वचन पर भरोसा करना सम्भव न हो, तो समूचे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सम्बन्ध संकट में पड़ जायेंगे और कानून की सत्ता लुप्त हो जायगी।" 1914 में जब जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता की सन्धि को कागज का टुकड़ा बताते हुए उसका उल्लंघन किया तो समूचे सभ्य संसार ने उसके कार्य की घोर निन्दा की।

(2) स्थिति की अपरिवर्तनशीलता (Rebus sic Stantibus)—सन्धि यद्यपि पवित्र होती है और उनका पालन करना प्रत्येक पक्ष का नैतिक कर्तव्य माना जाता है पर कई बार सन्धि सम्बन्धी परिस्थितियों में परिवर्तन आ जाने पर, इनमें संशोधन, इसकी उपेक्षा या भंग करना अनुचित नहीं माना जाता है। इसका समर्थन रोमन कानून के एक दूसरे सिद्धान्त—"स्थिति की अपरिवर्तनशीलता" के आधार पर किया जाता है। रोमन कानून के अनुसार दोनों पक्ष इसकी शर्तों का पालन करने के लिए उसी समय तक बाध्य हैं, जब तक इस सन्धि के किये जाने के समय की वस्तुओं की स्थिति अपरिवर्तशील बनी रहती है। यही सिद्धान्त 'स्थिति की अपरिवर्तनशीलता (Rebus sic Stantibus) का सिद्धान्त कहलाता है। यदि सविदा करने के बाद स्थिति में मौलिक परिवर्तन आ जाये तो उसका पालन करना आवश्यक नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त संकटकाल में भी सन्धि की अवहेलना की जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने की शान्तिपूर्ण विधियाँ
(Amicable Methods of settling International Disputes)

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने को विधियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(1) विवादों को हल करने का शान्तिपूर्ण साधन तथा (2) विवादों को हल करने के बाध्यकारी साधन। इन दोनों की विवेचना पृथक-पृथक शीर्षकों में की जायगी।

(1) शान्तिपूर्ण (Amicable means)—आधुनिक युग में विज्ञान की उन्नति के कारण युद्ध की भयानकता दुसह्य हो गई है। आज युद्ध एक तो समग्र युद्ध होते हैं, उनका क्षेत्र असीमित होता है। दो राज्यों के मध्य ही युद्ध सीमित नहीं रहता, दोनों पक्षों के मित्र राज्य भी उसमें सम्मिलित हो जाते हैं। अतः आज सभी राज्य युद्धों को रोकने के लिए प्रयत्नशील हैं। आपसी विवादों के एकमात्र हल अर्थात् युद्ध के पक्ष में अधिकांश राज्य अब नहीं रहे। अब तो दोनों पक्षों में, अपने विवादों को दूर करने का साधन, शान्तिपूर्ण वार्ता का समर्थन किया जाने लगा है।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निवटारे की प्रमुख पद्धतियाँ (Main methods of peaceful settlement of International Diputes)

(अ) समझौता वार्ता (Negotiations)—राज्यों के मध्य उठने वाले विवादों के समाधान का एक महत्त्वपूर्ण तरीका "पारस्परिक समझौता वार्ता" है। वह समझौता वार्ता राजनयिज्ञों के माध्यम से होती है। यदि इस प्रयत्न द्वारा सधिवार्ता सफल न हो तो उच्चस्तरीय वार्ता की जाती है। राज्य के प्रतिनिधियों के रूप मे प्रधान मन्त्रियों की पारस्परिक वार्ता द्वारा समस्या का हल निकाला जाता है। पारस्परिक वार्ता की विधि आजकल अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो चुकी है।

(ब) समझौता (Conciliation)—जब दो राज्यों की पारस्परिक वार्ता असफल हो जाये या दोनों पक्षों की वार्ता मे कोई अड़चन हो तो तीसरा पक्ष संघर्ष रत राष्ट्रों के बीच में पड़ कर शान्तिपूर्ण समाधान करा देता है। ओपेनहीम का मत है कि "वह झगड़े के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें यह काम कुछ व्यक्तियों के आयोग को दे दिया जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों के आरोप सुनता है तथा झगड़े को हल करने के तात्पर्य हेतु तथ्यों के ऊपर अपना प्रतिवेदन देता है। इसमे विवाद के समाधान के लिये कुछ प्रस्ताव रखे जाते हैं, यह प्रस्ताव किसी पचायत अथवा न्यायालय के निर्णय की भाँति अनिवार्य रूप से माननीय नही होते हैं।" समझौते की प्रक्रिया में तीन आवश्यक अंग पाये जाते हैं—तथ्यों की जाँच, मध्यस्थता तथा विवाद सुलझाने के लिये प्रस्ताव रखना।

समझौता (Conciliation) पंच निर्णय से भिन्न होता है। समझौते की विधि में यह आवश्यक नहीं है कि प्रस्तावों को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया जाय पर पंच निर्णय को दोनों

पक्षों को मानना अनिवार्य होता है। महत्त्व की दृष्टि से समझौता आयोग विशेष स्थान रखता है। विभिन्न अवस्थाओं में समझौता द्वारा युद्ध की स्थिति को टाल दिया जाता है।

समझौता और मध्यस्थता में भी अन्तर होता है। समझौते की प्रक्रिया में सम्बन्धित राष्ट्र अपने विवाद को तथ्यों की निष्पक्ष जांच के पश्चात् समाधान के प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिये, दूसरे व्यक्तियों को सौंप देते हैं परन्तु मध्यस्थता की विधि में तीसरा राष्ट्र समस्या को हल कराने का प्रयास करता है। इसमें एक तृतीय राष्ट्र के प्रयत्नों से संघर्षशील राष्ट्रों के मध्य सम्पर्क स्थापित करके समाधान का रास्ता खोजा जाता है।

(3) सत्सेवा (Good office)—जब आपस में संघर्षरत राष्ट्रों के बीच में विवाद के सम्बन्ध में कोई वार्ता नहीं हो पाती है, तब इस वार्ता को कराने के लिये तीसरा पक्ष तैयार हो जाता है। तीसरा राज्य अपनी सेवायें प्रस्तुत करता है जिससे संघर्ष से बचा जा सके। सत्सेवा द्वारा दोनों पक्षों में बिना शर्त के वार्ता कराई जाती है या बिना वार्ता किये अपने-अपने सुझाव देकर दोनों पक्ष तीसरे राज्य से संघर्ष के हल का कोई उसका सुझाव मांगते हैं। वह सुझाव जो देता है। तो बिना किसी उत्तरदायित्व के सत्सेवा के सुझाव अस्वीकार कर दिये जाते हैं।

सत्सेवा का अर्थ संघर्षरत राज्यों को एकत्र करके बिना वार्ता में भाग लिये निबटारे की विधि के सुझावों के आदान-प्रदान से है। ये सुझाव बाध्यकारी नहीं होते हैं। उदाहरण के लिये भारत और पाकिस्तान के मतभेदों को दूर करने की सत्सेवा आस्ट्रेलिया ने अपने जिम्मे ली। पर पं० नेहरू ने सत्सेवा को लेने से इन्कार कर दिया। सत्सेवा और मध्यस्थता में अन्तर यह है कि "सत्सेवा में तृतीय पक्ष वार्ता में स्वयं भाग नहीं लेता है, वह दोनों पक्षों को वार्ता के लिए तैयार करता है पर मध्यस्थता में तीसरा पक्ष वार्ता में सक्रिय रूप से भाग लेता है।"

(4) पंच निर्णय (Arbitration)—अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल का एक महत्त्वपूर्ण ढंग पंच निर्णय का सिद्धान्त है। ओपेनहीम के मतानुसार "पंचनिर्णय का अभिप्राय: राज्यों के मतभेद का समाधान विधि के निर्णयों द्वारा किया जाता है, यह निर्णय दोनों पक्षों के द्वारा नियुक्त किये हुए पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होता है तथा यह न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न होता है।"

लारेन्स के मत से पंच निर्णय में दोनों पक्ष विवाद को पंचों को सौंप देते है, वह न्यायाधीशों के समान दोनों पक्षों का विवाद सुनता है और अपना निर्णय देता है, उस निर्णय को दोनों पक्ष मान लेते हैं। यह निर्णय न्यायालय के समान ही होता है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय जांच आयोग (International Enquiry Commission)—अन्तर्राष्ट्रीय जांच आयोग विवादों के सम्बन्ध में जांच-पड़ताल करता है। जांच के दौरान शत्रुतापूर्ण कार्य बन्द रहते है। 1899 में हेग सम्मेलन ने प्रस्ताव रखा था कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों की जांच-पड़ताल के लिए एक आयोग की रचना होनी चाहिए। इस आयोग की रचना का अभिप्राय तथ्यों को सामने लाना, पारस्परिक विभ्रमों को दूर करना जिससे शत्रुता दूर हो सके, न कि राष्ट्रों के मान-सम्मान एवं हितों की रक्षा न हो सके। आयोग का निर्माण अभिसमय के अनुच्छेद 24 के अनुसार करने की व्यवस्था हो गयी है।

(6) अधिनिर्णय (Adjudication)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक संस्थानों द्वारा दिये निर्णय अधिनिर्णय कहलाते हैं। 1899 में हेग सम्मेलन ने एक न्यायाधिकरण नियुक्त किया था परन्तु यह कुछ अधिक उपयोगी सिद्ध न हुआ अतः इसके स्थान पर "न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय" की स्थापना की गयी। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर पहले न्यायालय को संशोधन कर दूसरे "न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय" में बदल दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय ही अधिनिर्णय कहलाते हैं । अधिनिर्णय और पंच निर्णय में काफी समानता पायी जाती है, परन्तु कुछ असमानता भी पायी जाती है । पंच निर्णय के पंच विवाद के उठ खड़े होने पर तुरन्त चुन लिये जाते हैं पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति स्थायी रूप से होती है ।

(7) संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.)—कभी-कभी संयुक्त राष्ट्र संघ भी न्यायिक संस्था के रूप में कार्य करता है । संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंग सामान्य सभा तथा सुरक्षा परिषद हैं। वह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने की क्षमता रखती है । संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णय बाध्यकारी भी हो सकते हैं ।

(ब) बाध्यकारी साधन (Coercive Methods)—जब अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने मे मैत्रीपूर्ण साधन विफल होते हैं तो बाध्यकारी साधनों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। युद्ध के बिना भी दबाव डालने अथवा बल प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है । बाध्यकारी साधनों में युद्ध की गिनती नहीं की जाती है । ओपेनहीम के मतानुसार "मतभेदों के समाधान के बाध्यकारी साधन वे होते हैं, जिनमें बाध्यता का कुछ अंश होता है । उनका प्रयोग एक राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध इस उद्देश्य से करता है कि वह पहले राज्य द्वारा अनिवार्य रूप से मतभेद के समाधान को मान ले" यदि युद्ध के बिना ही बाध्यकारी साधनों से आपसी मामले तय हो जायें तो यह भी अच्छा ही है ।

बाध्यकारी साधनों का प्रयोग शक्तिशाली राज्यों द्वारा दुर्बल राज्यों के प्रति होता है, अन्य राज्य इसमें सम्मिलित नहीं होते । बेचारे दुर्बल राज्य को घुटने टेकने पड़ते है । संयुक्त राष्ट्र संघ ने बताया है कि वे बाध्यकारी साधन जिनके अपनाने पर युद्ध अनिवार्य हो जाये, मान्य नहीं। बाध्यकारी कार्यों को अपनाने से पूर्व राष्ट्रों के राजनयिक सम्बन्ध टूट जाते हैं, यह बाध्यकारी साधन की चेतावनी मात्र है । इसके बाद ही बाध्यकारी साधन अमल में लाये जाते हैं ।

प्रमुख बाध्यकारी साधन निम्न प्रकार के होते हैं :—

(i) प्रतिकर्म (Retorsion)—प्रतिकर्म का अर्थ है उदला अथवा प्रत्युत्तर कार्यवाही। दो देशों मे शत्रुता जब हो जाती है तो दोनों एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं। वस्तुतः अशिष्ट एवं शत्रुतापूर्ण कार्य के प्रति जो प्रतिकर्म किये जाते है, वह युद्ध भड़काने के लिए नही बल्कि उसे रोकने की दृष्टि से किये जाते हैं अतः वे वैध माने जाते हैं । इसमे "जैसे को तैसा" का सिद्धान्त पाला जाता है । इस प्रकार के उदाहरण इतिहास में कई पाये जाते हैं । जब चीनी सरकार ने दूसरे देशों के प्रतिनिधियों के साथ अशिष्ट व्यवहार करना प्रारम्भ किया तो बदले मे चीनियो के साथ भी सम्बन्धित देशों में बदले की भावना से अशिष्ट व्यवहार किया गया । विवश होकर चीन को अपना व्यवहार बदलना पड़ा ।

(2) प्रत्ययहार (Reprisals)—प्रत्ययहार भी बदला लेने के लिए किया गया कार्य होता है । स्टार्क ने बताया है कि प्रत्ययहार में ऐसे काम आते हैं, जिनमें कुछ राज्य दूसरों के विरुद्ध प्रतिकारात्मक कार्यवाही करते है एवं जिनका अभिप्रायः क्षति निवारण होता है ।" इसमे एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को पहुँचायी गयी क्षति को दूसरा राज्य क्षतिपूर्ति का कार्य करता है । अपमान, अभद्र और अशिष्ट कार्य का बदला, बल प्रयोग से किया जाता है । प्रत्ययहार के अनेक रूप हो सकते हैं । इनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(अ) सकारात्मक अथवा प्रत्ययहार के अन्तर्गत समान प्रतिशोध आता है अर्थात् "सर के बदले सर और आंख के बदले आंख" का सिद्धान्त आता है ।

(आ) निषेधात्मक प्रत्ययहार में अशिष्टता के बदले में अशिष्टता, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार के बदले मे अमैत्रीपूर्ण व्यवहार आता है ।

Describe the different causes of War. How can the failure of International Organisation cause the War' Explain.

4. आप शत्रु चरित्र से क्या अर्थ लगाते हैं ? व्यक्ति, माल निगमों के शत्रु चरित्र को निर्धारित करने वाली वृत्ति की विवेचना कीजिए।
What do you understand by Enemy Character ? Discuss the tests for determining enemy characters of a person, goods and corporation.

5. आप स्थलीय युद्ध के नियमों का क्या अर्थ समझते हैं ? उनके पीछे क्या अनुशास्तियाँ हैं ?
What do you understand by 'Laws of Land warfare ? What are the sanctions behind the Laws of War.

6. युद्ध बन्दियों की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय कानून में क्या है। इस विषय में जेनेवा सम्मेलनों की व्यवस्थाओं का उल्लेख कीजिये।
What is the position of War prisoners in International Law Also describe the provisions of Geneva Conferences in this regared.

7. समुद्री युद्धों एवं वायु युद्धों के विषय ने अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की विवेचना कीजिए।
Discuss the International Laws of sea and Air Warfare.

8. विभिन्न क्षेत्रो मे लड़े जाने वाले युद्ध-प्रभावों का उल्लेख कीजिये।
Briefly explain the effects of war in different aspects.

9. "युद्ध वैधानिक नहीं पर युद्ध के नियम वैधानिक हैं।" विवेचना कीजिए।
"War is no more legal, but the rules of warfare are still valid" Explain.

10. शत्रु प्रदेश के आवेशन प्राप्त शक्ति अधिकार एवं कर्त्तव्यों की संक्षेप में विवेचना कीजिये। इस संदर्भ में 1949 के जेनेवा सम्मेलन ने कौन-कौन से परिवर्तन किये।
Discuss briefly the rights and duties of a power in occupation of enemy territory. What changes have been made by the Geneva Convention of 1949 in this connection.

11. युद्ध की समाप्ति की विधियों का संक्षिप्त वर्णन दीजिये। शान्ति संधि के क्या परिणाम होते हैं ? बताइये।
Give a brief description of methods of termination of War. What are the consequences of a peace treaty "Discuss."

12. युद्ध के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निबटारे के शान्तिपूर्ण साधन कौन-कौन से हैं ? उल्लेख कीजिये।
What are various amicable methods; short of war, available for peaceful settlement of international disputes.' Describe.

13. संधियों से आप क्या समझते हैं ? संधियों का वर्गीकरण का उल्लेख कीजिये।
What do you mean by the term Treaty ? Describe the classification of Treaties.

14. संधि के विभिन्न अंगों का वर्णन कीजिये ? वे किस प्रकार लागू होती हैं ? बताइये।
Describe the various phases of a treaty ? How are they enforced.

14

शीत युद्ध
(Cold War)

"दो भीमकाय देशों के मध्य संघर्ष समकालीन विश्व राजनीति की बड़ी विशेषता है।" —अज्ञात

"बारूद के गोले-गोलियों से लड़े जाने वाले सशस्त्र सैनिक संघर्ष के न होते हुए भी, कागज के गोलों एवं अखबारों से लड़ा जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार के संग्राम को ही शीत युद्ध कहा जाता है।"

—अज्ञात

"The causes of the Cold War should be sought not in the alleged desire of the Soviet Union to impose a new order of things upon other countries but in the real desire of some western powers to impose the old arder upon peoples who did not want them. The cold war was caused by the reckless plans of the most aggresive circles of imperialism which overestimating their own strength seriously sought to turn the march of history." —G. Dactyants

शीत युद्ध का अर्थ तथा उसका प्रारम्भ
(Meaning and origin of Cold War)

शीत युद्ध का अर्थ (Meaning of Cold War)—युद्ध के सदैव दो पक्ष होते हैं चाहे वह गर्म युद्ध हो और चाहे वह शीत युद्ध हो। अन्तर दोनों में यह है कि गर्म युद्ध में सेना शस्त्र एवं गोला बारूद द्वारा शत्रु पक्ष पर आक्रमण किया जाता है पर शीत युद्ध में शत्रु पर प्रहार समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन आदि अस्त्रों से किया जाता है। आमने-सामने होने पर जब दो प्रतिद्वन्द्वियों में वाक् युद्ध छिड़ता है, तो वह भी शीत युद्ध का एक अंश होता है। शीत युद्ध के द्वारा शत्रु के विरुद्ध घोर प्रचार कर उसे बदनाम किया जाता है, उसका मनोबल गिराया जाता है। एक-दूसरे पर आरोप प्रति आरोप लगाये जाते हैं, आलोचना करते हैं, यहाँ तक कभी-कभी एक-दूसरे के प्रति अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करते हैं, निन्दा व्यंग वानों से शत्रु का हृदय छलनी कर देते हैं। शीत युद्ध 20वीं शताब्दी की उपज है। गर्म युद्ध छेड़ने से पूर्व शीत युद्ध प्रारम्भ होता है।

शीत युद्ध का प्रारम्भ (Origin of Cold War)—वैसे तो शीत युद्ध तभी से आरम्भ हो गया था जबकि 1917 में रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई। लेकिन आधुनिक अर्थ में शीत युद्ध द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने के शीघ्र बाद शुरू हुआ। 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध हो गया। युद्ध के समाप्त होते ही लूट के माल के बँटवारे पर मित्र राष्ट्रों में फूट पड़ गई।

चाहता था कि वह जर्मनी का तथा जापान के साम्राज्य का अधिक से अधिक अंश प्राप्त करे और अमेरिका की भी इच्छा यही थी। इङ्गलैण्ड, फ्रांस यद्यपि अन्त में विजयी हुये थे पर युद्ध में उन दोनों की कमर टूट गई थी अतः युद्ध के बाद दो ही विश्वव्यापी शक्तियाँ रह गईं। दोनों में ही शत्रु क्षेत्रों पर कब्जा करने की होड़ लग गई। पूर्वी जर्मनी में रूसी सेना ने अधिकार किया तो पश्चिमी जर्मनी पर इंगलैण्ड, फ्रांस एवं अमेरिका की सेना ने कब्जा जमाया। मध्य यूरोप में रूस ने कब्जा जमाया तो पूरे जापान पर अमेरिका ने कब्जा जमाया इसी प्रकार कोरिया और वियतनाम भी इन दोनों महाशक्तियों में आधा-आधा बँट गये। यद्यपि बँटवारे में इन दोनों शक्तियों ने सशस्त्र सामना किया पर व्यवहार मे दोनों शक्तियों में गहरा मन मुटाव हो गया। 1946 में यह मन का गुब्बार एक-दूसरे पर आरोप प्रति आरोप के रूप में फूट पड़ा। ज्यों-ज्यों समय बीता शीत युद्ध तेज होता गया। अमेरिका के पक्ष में पूँजीवादी देश हैं और रूस के पक्ष में साम्यवादी राज्य हैं। इस प्रकार दुनिया के अधिकांश राज्य दो गुटों में बँट गये हैं। जो राज्य किसी गुट में नहीं हैं वे भी कम या अधिक रूस अथवा अमेरिका में से किसी एक की ओर अधिक झुकाव रखते हैं। दोनों गुटों में गाली-गलौज, तू तू-मैं मैं, निन्दा और अपशब्दों की बौछार होती रहती। युद्ध तो दोनों पक्षों में नहीं होता है पर शीत युद्ध से ही दोनों अपने मन की भड़ास निकालते रहते हैं और एक-दूसरे को नीचा दिखाने की योजना बनाते रहते हैं।

शीत युद्ध के कारण
(Causes of Cold War)

शीत युद्ध अस्त्रशस्त्रों द्वारा नहीं लड़ा जाता है।[1] आज के युग में गत दो महायुद्धों ने सिद्ध कर दिया है कि युद्ध कितना विनाशकारी होता है और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तो ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हो गया है जो विजेता और विजित दोनों का ही विनाश करने का संकेत देते हैं अतः प्रत्येक महाशक्ति युद्ध से बचने का प्रयत्न करती रहती है। सं० रा० संघ के निर्माण से यह आशा की जाती थी कि अब युद्धों का अन्त हो जायगा और राष्ट्र-समाज शान्तिपूर्वक सहयोग सद्भावना से रहने का प्रयत्न करेगा परन्तु व्यक्ति एवं राष्ट्र कभी अपना स्वार्थ नहीं त्याग सकते हैं। स्वार्थ ही लड़ाई-झगड़े का कारण होता है। आज भी राष्ट्र के मध्य स्वार्थ-साधना का संकल्प त्यागा नहीं गया है अतः राष्ट्रों में शत्रुता, मन-मुटाव एवं घृणा-ईर्ष्या वैमनस्यता का बोलबाला है और वे अपने स्वार्थों के लिए गर्म युद्ध न सही शीत युद्ध में ही प्रवृत्त हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शीत युद्ध में तेजी आयी है। इस उग्रता और तीव्रता के कुछ कारण विशेष हैं। इनका अध्ययन करना आवश्यक है।

शीत युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :

(1) पुरानी व्यवस्था के लिए प्रयास (Try for the old order)—रूस में 1917 में साम्यवादियों द्वारा खूनी क्रान्ति हुई। उसने रूस में पुरानी जारशाही व्यवस्था का अन्त कर दिया। यह नयी साम्यवादी व्यवस्था पश्चिमी पूँजीवादी राज्यों के लिए गम्भीर खतरा थी। उन्हें यह भय था कि कहीं उनके यहाँ भी इसी प्रकार की सशस्त्र क्रान्तियाँ न हो जायें। इसीलिए पुरानी व्यवस्था को लागू करने के लिए उन्होंने रूस पर आक्रमण भी किया। दूसरी ओर साम्यवाद का उद्देश्य भी प्रसार करना था। पश्चिमी देशों ने रूस का बहिष्कार कर दिया। 16 वर्षों तक रूस को राष्ट्रसंघ (League of Nations) का सदस्य नहीं बनने दिया गया। उसके विरुद्ध पश्चिमी शक्तियों ने घोर प्रचार करना प्रारम्भ किया। इस प्रचार में अपनी आवाज मिलाकर फासिस्टों ने

---

[1] महाशक्तियाँ यदा-कदा अपनी शक्ति का अजमाइश सीधे न कर परोक्ष रूप में करते हैं। यह कोरिया, वियतनाम, अरब इजरायल संघर्ष में किया गया।

इस मोर्चे का विरोध किया और उधर से सेना न बढ़ाने की चेतावनी दी। इस प्रकार युद्ध समाप्ति के पूर्व ही दोनों महाशक्तियों में गहरा मतभेद हो गया। युद्ध समाप्ति के बाद जब पूर्वी यूरोप पर रूसी साम्राज्य छा गया तो चर्चिल एव रूजवेल्ट दूसरे मोर्चे को समय पर न खोलने के लिए बहुत पछताये। इस प्रकार शीत युद्ध के कारणों मे द्वितीय मोर्चे का प्रश्न मी बड़ा महत्त्वपूर्ण था।

(3) लैण्डलीज सहायता की समाप्ति (End of the land Lease help)—स० रा० अमेरिका और सोवियत यूनियन के मध्य मनमुटाव का एक और मी कारण था जिसके कारण युद्ध के बाद दोनों देशों के मध्य तीव्र शीत-युद्ध चला। यह कारण था "लैण्डलीज सहायता" का बन्द होना। पश्चिमी शक्तियाँ पहले से ही रूस से घृणा करती थीं, वे अल्पकाल के लिये सामान्य शत्रु के साथ लड़ने के लिये मित्र बन गये। दोनों पक्षों मे दिलों की सफाई न हुई थी। युद्ध के दौरान यद्यपि अमेरिका ने रूस को अन्धाधुन्ध सैनिक सामग्री प्रदान की थी पर वह लैण्डलीज के अधिनियम के अन्तर्गत की गई थी और अमेरिका उसे पुनः वसूल करना चाहता था। रूस उस सहायता के बदले धन देना नहीं चाहता था। उसने आरोप लगाया कि अमेरिका द्वारा दी गई सहायता अति अल्प थी। पहले तो अमेरिका चुप रहा पर ज्यों ही उसे विजय की पूर्ण आशा हुई तो उसने लैण्डलीज सहायता बन्द कर दी। इससे रूस बोखला गया। उसने युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए बड़ी भारी माँगें प्रस्तुत की पर पश्चिमी गुट ने उन्हें ठुकरा दिया अतः उसने पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध अनर्गल प्रचार प्रारम्भ कर दिया आरोप-प्रति-आरोप द्वारा शीत युद्ध प्रारम्भ कर दिया गया।

(4) चीन में साम्यवाद (Communism in China)—1920 से ही चीन में साम्यवादी सक्रिय हो चुके थे। युद्ध के दौरान साम्यवादियों व च्यांग में थोड़ी भिन्नता बनी रही। लेकिन जापान की पराजय के बाद चीनी साम्यवादियों ने च्यांग सरकार को अपदस्थ करने के लिए पुनः संघर्ष आरम्भ कर दिया। जापान के हथियार डालने पर चीन पुनः चांग काई शेक को वापस दे दिया गया। रूस साम्यवादियों की हर प्रकार से मदद कर रहा था और अमेरिका ने राष्ट्रवादियों की सहायता प्रारम्भ की। गृह युद्ध में साम्यवादियों को सफलता मिली चीन की भूमि पर लाल चीनी सेनाओं का कब्जा 1949 में हो गया। चांग काई शेक माग कर फार्मूसा पहुँचा और अमेरिकी सातवें बेड़े की संरक्षता में शासन करने लगा।

यद्यपि चीन पर पूरी तरह साम्यवादियों का कब्जा था अतः लाल चीन ने सं० रा० संघ के सदस्य बनने की प्रार्थना की। रूस ने उसका समर्थन किया भारत ने भी समर्थन किया पर अमेरिका के विरोध के कारण लाल चीन सं० रा० सघ का सदस्य न बन सका। उसकी सदस्यता राष्ट्रवादी चीन के हाथ में रही। चीन की गिनती महाशक्तियों में थी जिन्हे वीटो का अधिकार मिला है। लाल चीन ने सुरक्षा परिषद में अपना अधिकार मांगा पर पश्चिमी शक्तियो द्वारा उसकी मांग रद्द कर दी गई। इस प्रकार रूस के साथ-साथ चीन मी अमेरिका और उसके साथियो के प्रति जहर उगलने लगा। शीत युद्ध और तेज हुआ। एक बात और ध्यान रखने की है कि 1970 मे चीन और अमेरिका में सन्धि हो गयी। चीन इसके बाद सं० रा० संघ का सदस्य भी बना और सं० रा० संघ की सुरक्षा परिषद का भी स्थायी सदस्य बन गया। राष्ट्र चीन का प्रतिनिधि अपने देश वापस चला गया। इस प्रकार चीन अमेरिका का पिट्ठू बन गया और रूस के विरुद्ध जहर उगलने लगा।

(5) बर्लिन का घेरा (The Berlin Blockade)—शीत युद्ध के विकास में बर्लिन का घेरा भी एक महत्त्वपूर्ण कारण बना हुआ है। बर्लिन सयुक्त जर्मनी की राजधानी थी। जर्मनी के हथियार डालने पर मित्र राष्ट्रों ने पूर्ण जर्मनी पर सैनिक अधिकार जमा लिया। महाशक्तियों में एक अस्थाई सन्धि हुई और उसके अनुसार जर्मनी का पूरा क्षेत्र चारों-शक्ति में बँट गया। पूर्वी जर्मनी रूस को मिला जिस पर उसका सैनिक अधिकार था शेष जर्मनी फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका

के हाथ आया। ये तीनों भाग संयुक्त रूप से पश्चिमी जर्मनी कहलाया। जर्मनी के साथ-साथ बर्लिन नगर का बँटवारा हुआ। चूँकि बर्लिन पूर्वी जर्मनी के क्षेत्र मे आता था अतः उक्त सन्धि में यह तय हुआ था कि रूस मित्र देशों का आवागमन बर्लिन से नहीं छोड़ेगा। पहले तो रूस ने इस समझौते को मान लिया पर जब शीत युद्ध चला तो रूस ने बर्लिन के चारों ओर 1948 के प्रारम्भ में घेरा डाल दिया जो एक वर्ष तक चला। वह बर्लिन पर कब्जा करना चाहता था अतः मित्र राष्ट्रों का उसने बर्लिन से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। पश्चिमी शक्तियों ने इसका घोर विरोध किया और इस चुनौती का मुकाबला किया। एक ओर उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वे किसी भी हालत में बर्लिन में अपने अधिकार नहीं छोड़ेंगे। वायुयानों की सहायता से मित्र देशों ने बर्लिन में आवश्यक सामग्री पहुंचाई। यद्यपि बाद में यह घेराबन्दी मई 1949 में समाप्त हो गई और दोनों पक्षों में समझौता हो गया पर इस बीच में जो कटुता आयी थी वह बनी रही। इस कारण नाटो (NATO) का जन्म हुआ।

(6) प्रादेशिक संगठन (Regional Organisation)—अमेरिका और उसके साथी रूस की तीनो ओर से घेराबन्दी करना चाहते थे अतः उन्होंने क्षेत्रीय सैनिक संगठन बनाना प्रारम्भ किये नाटो, सीटो तथा सेन्टो नामक सगठनों द्वारा रूस के विरुद्ध एक रक्षा शक्ति पूर्व से लेकर दक्षिण और पश्चिम तीनों ओर तक बना दी गई। रूस ने भी इसके जवाब में वार्सा पेक्ट कर अपने सभी साम्यवादी दोस्तों (अधीनस्थो) को एक सगठन मे जोड़ दिया। एक-दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप चलते रहे, कटुता बढ़ती ही रही।

(7) रूस द्वारा वीटो का प्रयोग (Use of Veto Power by Russia)—सं० रा० संघ के निर्माण में वीटो शक्ति के अधिकार पर महाशक्तियों में गतिरोध उत्पन्न हो गया था। इसी अधिकार को पाकर ही महाशक्तियों ने इस सघ में प्रवेश किया था। सुरक्षा परिषद में रूस अकेला था। *शेष चार महाशक्तियां उसके विरुद्ध थीं। रूस और अमेरिका मे शीत युद्ध जारी था।* सुरक्षा परिषद में अनेक ऐसे प्रश्न उठे जो रूस या साम्यवाद के विरुद्ध थे। रूस ने इन प्रश्नों को *अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से रद्द कर दिया। इस पर सुरक्षा परिषद और महासभा में दोनों* गुटों मे खूब बहस हुई और शीत युद्ध और तेज हुआ। पश्चिमी शक्तियों और रूस मे वाक्‌युद्ध खूब चलता था और शेष अस्थायी सदस्य मुंह देखते रहते थे।

(8) यू-2 और आर० बी० 47 हवा काण्ड (U-2 and R B. 47 Air Case)—अमेरिका के यू-2 और आर० वी० 47 हवाई जहाज रूस की जासूसी में लगे थे। सं० रा० संघ में इन जहाजों को लेकर रूस और अमेरिका में भारी वाद-विवाद चला। दोनो देशों के प्रतिनिधियों ने एक-दूसरे पर आरोप लगाये। शीत युद्ध का अखाड़ा स० रा० सघ बन गया।

(9) रूस और अमेरिका द्वारा सं० रा० संघ में एक-दूसरे के विरोधी प्रस्ताव (Opposite Proposals of Russia and America in U. N. O.)—शीत युद्ध के कारण रूसी गुट और अमेरिकन गुट एक-दूसरे का विरोध प्रत्येक स्थान पर करने लगे, कोई भी प्रस्ताव जो स० रा० संघ में रखा जाता, यदि उसका समर्थन रूस करता तो रूस उसका विरोध करता। यदि पश्चिमी गुट के किसी देश की सेना किन्हीं स्थानों पर होती तो रूस सं० रा० संघ से शिकायत करता कि उन स्थानों पर से पश्चिमी गुट की सेनायें हटाई जायें। इसी प्रकार पश्चिमी गुट भी किसी रूसी सेना-टुकड़ी की उपस्थिति कहीं देखता तो वह भी रूस की सेना को हटाने की आवाज उठाता। वियतनाम, कोरिया और अरब-इजराइल युद्धों में दोनों पक्षों ने हस्तक्षेप किया जैसे उत्तरी कोरिया, उत्तरी वियतनाम और अरबों की तरफदारी यदि रूस करता तो दक्षिणी वियतनाम दक्षिणी कोरिया और इजराइल का समर्थन अमेरिका करता। इस प्रकार

शीत युद्ध ने एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ाया तो दूसरी ओर विवादों को शान्ति से हल करना कठिन कर दिया।

शीत युद्ध की प्रगति
(Progress in Cold War)

उपर्युक्त कारणों से बीसवीं शताब्दी मे शीत युद्ध का जन्म हुआ लोग आशा करते थे कि द्वितीय विश्व युद्ध के अन्दर पूर्व और पश्चिम का सहयोग हो गया है। ब्रिटेन, रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधियों मे भावी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के निर्माण में बड़े सहयोग और मित्रता का परिचय दिया था। धुरी शक्तियों की पराजय तथा सयुक्त राष्ट्र के निर्माण से यह आशा और वलवती हो गयी थी। पर कुछ ही समय वाद अर्थात् 1946 से ही शीत युद्ध बड़े जोरों से प्रारम्भ हो गया। चर्चिल ने अपने प्रसिद्ध फुल्कन भाषण में अमरीका को चेतावनी दी कि यदि वह योरोप से हट गया तो पश्चिमी लोकतन्त्र को गम्भीर खतरा पैदा हो जायेगा। प्रत्येक स्थान पर युद्ध के बाद पश्चिमी शक्तियों ने यह शोर मचाना प्रारम्भ कर दिया कि "साम्यवाद का विस्तार ईसाई सभ्यता के लिए महान खतरा है।"

रूस ने भी पश्चिमी शक्तियो के विरुद्ध मोर्चा लगाया और यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि 'पश्चिमी गुट लुटेरों का गुट है।" पश्चिमी शक्तियों ने भी साम्यवादी गुट को "गुराड़ो का नीच गिरोह" (Worst Scoundrals) कहना प्रारम्भ कर दिया। साम्यवादी जहाँ-जहाँ थे वहाँ-वहाँ उन्होने अपना प्रचार पश्चिमी शक्तियो के विरुद्ध जोरों से प्रारम्भ कर दिया। दोनों गुटों ने सुरक्षा परिषद को शीत युद्ध का अखाड़ा बनाया। वीटो का खुला प्रयोग दोनों गुट करने लगे। चर्चिल तो चाहता था कि समस्त ईसाई जगत सगठित होकर साम्यवाद के विरुद्ध जुट जाये। उसने साम्यवाद के विरुद्ध आग्ल-अमेरिकन गठबन्धन की माँग की। अमेरिका ने हेनरी एन वैलेस (वाणिज्य सचिव) को इस कारण पद से हटा दिया कि उसने यह सुझाव रखा था कि रूस और अमेरिका मे सन्धि हो जाय। 6 जून 1947 को साम्यवादी प्रचार को रोकने के लिए मार्शल योजना प्रारम्भ हुई। इन योजना का उद्देश्य था कि साम्यवादो विरोधी राज्यों को ही सहायता दो जाय। रूस ने इसके विरोध मे 9 साम्यवादी देशों का कोमिनफार्म संगठित किया। इस प्रकार दोनों पक्षों के मोर्चे लग गये और दोनो एक दूसरे की काट पर कटिबद्ध हो गये।

दोनों गुट जहाँ कहीं कोई मामूली सघर्प होता कूद पड़ते। दोनों गुट एक-दूसरे को नीचा दिखाने और वदनाम करने का प्रयत्न करते। कोरिया और वियतनाम का मामूली झगड़ा इन दोनों गुटों ने लम्बा बना दिया। कश्मीर का मामूली झगड़ा आज तक निवट नहीं पाया। पश्चिमी एशिया का झगड़ा भी इन्ही दोनों ने बढ़ाया। गुटबन्दी ने विश्व मे अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। जर्मनी, कोरिया और वियतनाम का एकीकरण उन दोनों गुटो के कारण न हो सका। जापान से अमेरिका ने जो सन्धि 1951 मे की उसकी कटु आलोचना रूस ने की।

1953 से 1958 तक शीत युद्ध (Cold War from 1953 to 1958)—1949 में चीन पर साम्यवादियों का पूर्ण अधिकार हो गया और उसमें रूस का साथ पश्चिमी गुट के विरुद्ध देना प्रारम्भ किया। अमेरिका ने उसे सयुक्त राष्ट्र सघ में न घुसने दिया। चीन ने अमेरिका को 'कागजी शेर' (Paper Tiger) कहकर उसकी मजाक उड़ानी प्रारम्भ की और कोरिया के युद्ध में खुली सहायता साम्यवादियो को दी इस प्रकार दक्षिणी पूर्वी एशिया में उसने अमेरिकन सेनाओ की उपस्थिति के विरुद्ध शोर मचाना प्रारम्भ किया। 1953 में यद्यपि कोरिया का युद्ध समाप्त हो गया पर शीतयुद्ध चलता ही रहा।

शीत युद्ध मे नया मोड़ 1953 में आया। शीत युद्ध के संचालक रूस के तानाशाह स्टालिन और अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन थे। 1953 में स्टालिन का स्वर्गवास हो गया और

अमेरिका में नये राष्ट्रपति आइजनहावर चुने गये। रूस में स्टालिन का स्थान ख़ुश्चेव ने लिया; दोनों राष्ट्राध्यक्ष समझौतावादी थे। इन दोनों नेताओं के प्रयत्न से शीत युद्ध मे कुछ कमी आयी। परन्तु यह कमी अल्पकालीन थी। इसी दौरान अमेरिका ने रूस की सैनिक घेराबन्दी करने की दृष्टि से नाटो, सियाटो, बगदाद पेक्ट आदि किये। जबाव में रूस ने वारसा सन्धि सगठन की व्यवस्था की। फिर भी 1954-55 में शीत युद्ध मे थोड़ी कमी आयी जबकि हिन्द चीन की समस्या हल की गयी और चार बड़े राज्यों का शिखर सम्मेलन हुआ।

इस प्रकार 1955 से 1958 तक शीत युद्ध काफी तीव्रतर हो गया। इस काल मे पश्चिमी एशिया का प्रश्न, तेल राजनीति, स्वेज नहर का प्रश्न, लेबनान में अमेरिका सेना, ईराक की क्रान्ति आदि पर दोनों पक्षों ने एक दूसरे पर प्रहार प्रति प्रहार किये।

1958 से 1964 तक शीत युद्ध (Cold War from 1958 to 64)—*ख़ुश्चेव*, स्टालिन की अपेक्षा नम्र था और राष्ट्रपति आइजनहावर भी यह चाहता था कि रूस और अमेरिका सामान्य सम्बन्ध स्थापित करें। 3 अगस्त 1959 को "बीसवीं शताब्दी का सबसे बड़ा राजनीतिक चमत्कार हुआ "जब वाशिंगटन एवं मास्को से यह घोषणा हुई कि "ख़ुश्चेव पहले और हाइजनहावर बाद में एक दूसरे के देश की यात्रा करेंगे। इन घोषणाओं का शीत-युद्ध पर गहरा प्रभाव पड़ा अर्थात् दोनों देशों के मध्य शीत युद्ध शिथिल पड़ गया। इस यात्रा का यह परिणाम निकला कि 1960 में पेरिस में एक शिखर सम्मेलन होना निश्चित हुआ। शिखर सम्मेलन के बाद आइजनहावर की रूस यात्रा की भी बात तय हुई। सरकारी तौर पर रूस द्वारा अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर को रूस आने का निमन्त्रण पत्र भी भेज दिया।

(1) यू-2 विमान काण्ड—दोनों देशो के सम्बन्ध सुधर रहे थे पर इसी बीच एक ऐसी घटना घट गयी कि शिथिल शीत-युद्ध पुनः तीव्र हो गया। घटना इस प्रकार की थी कि अमेरिकन वायुयान यू-2 1 मई 1960 को रूस की जासूसी करता हुआ रूस द्वारा मार गिरा दिया गया। इस घटना को लेकर सुरक्षा परिषद में अमेरिकन प्रतिनिधि हेनरी केवट लॉज तथा रूसी प्रतिनिधि ग्रोमिको में गरमा-गर्म वाद-विवाद छिड़ गया। शीत युद्ध भी तेज हो गया। पहले तो अमेरिका ने जासूसी के आरोप का खण्डन किया पर रूस ने यू-2 विमान के चालक पावर्स को जो सौभाग्य से बच गया था पकड़ लिया और उसने जासूसी की सब बातें स्वीकार कर ली। उसके पास से रूस के विभिन्न स्थानो के फोटो भी पाये गये। यह पता जब आइजनहावर को चला तो उसने रूस के आरोप को सही मान लिया। ख़ुश्चेव ने अमेरिका को चेतावनी दी कि इन क्रियाओं के कारण यदि युद्ध छिड़ा तो उसके जिम्मेदारी अमेरिका की होगी।

(2) पेरिस का शिखर सम्मेलन—सोवियत रूस ने पावर्स पर मुकदमा चलाया और उसे 10 वर्ष की कठोर जेल-यात्रा का दण्ड दिया। इस प्रकार दोनों गुटों में तनातनी बहुत बढ़ गयी। इतना होने पर भी 16 मई 1960 को पेरिस मे शिखर सम्मेलन हुआ। इसमें सयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन के शासनाध्यक्ष सम्मिलित हुए। ख़ुश्चेव ने ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री मैकमिलन तथा फ्रांस के दिगाल से तो हाथ मिलाया पर राष्ट्रपति आइजनहावर से हाथ नहीं मिलाया। इतना ही नहीं उसने आइजनहावर के रूसी निमन्त्रण को भी वापस ले लिया। सम्मेलन का उद्देश्य था बर्लिन, जर्मनी निःशस्त्रीकरण आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना तथा उनके समाधान के लिए हल निकालना।

यू-2 घटना का प्रभाव पेरिस शिखर सम्मेलन पर पड़ा। ख़ुश्चेव ने सम्मेलन में अमेरिका व विशेषतः राष्ट्रपति आइजनहावर को खरी खोटी सुनाई। अमेरिका राष्ट्रपति का ख़ुश्चेव अपमान किया, इससे आइजनहावर क्षुब्ध हुए। उन्होने वचन दिया कि भविष्य में यू-2 जैसी नहीं होगी पर ख़ुश्चेव इस आश्वासन से सन्तुष्ट नहीं हुआ और अपनी मांगों पर डटा रहा।

दोनों पक्षों ने अपनी-अपनी डींग हांकी, हमें चक्कर में नहीं पड़ना है। हमें तो इस घटना से यही पाठ मिला कि दो महाशक्तियों के टकराने से जो विश्व का भयानक विनाश होता, वह टल गया। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की ही विजय हुई। दोनों पक्षों ने समझदारी से काम लिया और इससे शीत युद्ध में भी शिथिलता आयी। ख्रुश्चेव एवं कैनेडी दोनों ही विश्व शान्ति के कार्य में सहयोग देने लगे। काश ये दोनों महापुरुष सत्ता में कुछ दिनों और रहते तो शायद शीत युद्ध का अन्त हो जाता पर 23 नवम्बर 1963 को राष्ट्रपति की अमेरिका में हत्या कर दी गई और 15 अक्टूबर 1964 को ख्रुश्चेव को सत्ता से हटा दिया गया।

शीत युद्ध की नयी दिशाएँ
(New Dimensions of Cold War)

क्यूबा मामला सुलझ जाने के बाद रूस और अमेरिका काफी निकट आ गये। दोनों देशों में शीत युद्ध शिथिल पड़ गया। दोनों में सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिये टेलीफून की लाइन (Hot line) स्थापित की गई जिससे अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय दोनों देशों के शासनाध्यक्ष प्रत्यक्ष वार्ता कर सकें। 25 जुलाई 1963 को अमेरिका ब्रिटेन तथा रूस में वायु मण्डल के बाह्य अन्तरिक्ष तथा समुद्र मे अणु परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने वाली एक संधि सम्पन्न हुई। 1965 में आस्ट्रिया की शान्ति संधि ने पूर्व एवं पश्चिम में मन मुटाव को बहुत कम कर दिया। शान्ति की स्थापना के लिये यह सन्धि एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

सोवियत संघ और चीन में वैचारिक युद्ध और शीत युद्ध—क्यूबा के मामले के सुलझ जाने पर जहाँ रूस और अमेरिका के बीच शीत-युद्ध शिथिल पड़ा, वहाँ दूसरी ओर शीत युद्ध का एक नया मोर्चा और खुल गया। चीन जो कि रूस की सहायता से साम्यवादी व्यवस्था अपने यहाँ स्थापित करने में सफल हुआ था, क्यूबा संकट के टल जाने से रूस से नाराज हो गया वह नहीं चाहता था कि रूस और अमेरिका में मधुर सम्बन्ध स्थापित हो। उसने रूस पर अनेक आरोप लगाने प्रारम्भ किये। चीन के नेताओं का कहना था कि पूँजीवाद और समाजवाद का मेल एक बेतुकी बात है। देवता और दानव का साथ-साथ बैठना उचित नहीं। पूँजीवादी दानव का विनाश करना प्रत्येक साम्यवादी का सर्वोच्च कर्त्तव्य है। शान्तिपूर्ण सहजीवन की बात करना मार्क्सवाद का लक्षण नहीं। उसने रूस को संशोधन वादी कहकर मार्क्सवाद की परम्परा से हटना माना। इस प्रकार रूस और चीन की शान्ति सन्धि भंग हो गई।

जब रूस पर चीन ने कटु आलोचना का प्रहार करना प्रारम्भ किया तो रूस ने भी चीन पर आरोप लगाने प्रारम्भ कर दिये। दोनों देशों में वैचारिक मतभेद (Ideological differences) उत्पन्न हो गया। साम्यवादी दल में भी मत-भेद पैदा हो गया। स्टालिनवादी ख्रुश्चेव की नीति के पहले ही विरोधी थे, क्यूबा के मामले से वे और भी नाराज हो गये क्रेमलिन मे स्टालिन वादियों और ख्रुश्चेव वादियों में निरन्तर संघर्ष चल रहा था। अब वे ख्रुश्चेव के नेतृत्व को बदलने के लिये कटिबद्ध हो गये। संयुक्त राज्य अमेरिका यह नहीं चाहता था कि ख्रुश्चेव का पतन हो अतः उसने यह प्रयत्न किया कि कोई ऐसा कार्य न हो जो ख्रुश्चेव को बदनाम करे और स्टालिन वादियों की शक्ति बढ़े। चीन की उग्रवादी नीति से संयुक्त राज्य अमेरिका भी भावी चीन-अमेरिका संघर्ष का खतरा देखता था और चाहता था कि उसके विरुद्ध यदि रूस-अमेरिका संयुक्त मोर्चा लग जाये तो अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है। पर रूस मे ख्रुश्चेव के विरुद्ध वातावरण बन चुका था। 1964 मे ख्रुश्चेव का पतन हो गया। उसके बाद साम्यवादी पार्टी का नेतृत्व ब्रिजनेव के हाथ आया पर इस नेतृत्व के परिवर्तन से भी रूसी-चीनी सम्बन्धों में कोई सुधार न आया। पर इससे कुछ समय के लिये चीन और रूस के मध्य शीत युद्ध ठण्डा अवश्य पड़ गया।

जानसन प्रशासन और शीत युद्ध—23 नवम्बर 1963 को कैनेडी की हत्या कर दी गई और उपराष्ट्रपति लिंडन जानसन ने अमेरिकन राष्ट्रपति पद को ग्रहण किया। पद को संभालते ही जानसन ने घोषणा की कि वे भूतपूर्व राष्ट्रपति की शान्ति मयी नीति अपनायेंगे और शान्ति-युद्ध को बढ़ाने की चेष्टा नहीं करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जानसन ने अपने शासन के प्रारम्भिक दिनों में अपने वचनों को निभाया।

रूस मे खु्श्चेव के बाद साम्यवादी दल का नेतृत्व दो व्यक्तियों कोसिजिन और ब्रेजनेव के हाथ में आया। लोगों को यह शका हुई कि खु्श्चेव के पतन का अर्थ है स्टालिन वाद का पुनः उदय होना और शान्ति के स्थान पर सघर्ष का पुनः बढना, परन्तु शीघ्र उनकी शंका निर्मूल सिद्ध हुई। नये रूसी नेताओं ने घोषणा कर दी कि रूस की नीति और भूतपूव प्रधानमन्त्री खु्श्चेव की नीति में कोई मौलिक अन्तर न होगा। सोवियत सघ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त मे विश्वास रखता है और वह अपना प्रयत्न निःशस्त्रीकरण के लिये जारी रखेगा।

यद्यपि कुछ समय तक कैनेडी और खु्श्चेव के उत्तराधिकारियों ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति अपनाई पर यह अस्थायी सिद्ध हुई। कुछ मामलों मे पुनः दोनों शक्तियो मे मन मुटाव बढ़ने लगा और शिथिल शीत युद्ध पुनः उग्र होने लगा। ये मामले निम्नलिखित थे—

(1) **वियतनाम का युद्ध**—वियतनाम का युद्ध 1954 से चल रहा था उत्तरी कोरिया साम्यवादी था और रूस-चीन के प्रभाव मे था। दूसरी ओर दक्षिण वियतनाम राष्ट्रवादी था और अमेरिका के प्रभाव में था। अमेरिका दक्षिण वियतनाम को सैनिक सामग्री ही सप्लाई नही करता था, बल्कि अपने सैनिकों द्वारा भी उसकी सहायता कर रहा था। जानसन ने पद सम्भालने के कुछ दिनों बाद अपनी वियतनाम नीति को उग्र बनाया और अमेरिकन सेनाओं की सप्लाई वियतनाम के लिये बढ़ा दी। उत्तरी वियतनाम पर घोर बमबारी प्रारम्भ कर दी। सोवियत रूस ने इस भीषण प्रहार की घोर निन्दा की और शीत युद्ध को बढ़ा दिया।

(2) **कांगो की घटना**—शीत युद्ध के बढ़ने की दूसरी घटना कांगो की घटना थी। 1964 में रूस ने घोषणा की कि संयुक्त राष्ट्र सघ मे कागो की घटना से खर्चा बहुत बढ़ गया है अतः वह सयुक्त राष्ट्र संघ के शाति स्थापना के कार्यों मे व्यय होने वाले धन मे अपना अश भाग न अदा करेगा। इसके उत्तर मे अमेरिका ने माग की कि संयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के अनुसार अपना अंश अदा न करने पर उसे साधारण सभा में मत देने के अधिकार से वंचित होना पड़ेगा। यह वाद भी शीत युद्ध को भयकर रूप देने वाला बना। सयुक्त राष्ट्र संघ के भग होने की आशका की जाने लगी। बड़े प्रयत्न से रूस अपना अशदान देने को तैयार हुआ और सकट टल गया।

(3) **अरब-इजराइल युद्ध**—1948 में इजराइल देश की स्थापना से समस्त अरब जगत में विरोधाग्नि फैल गइ थी। 1967 मे इजराइल और अरबों में पुनः युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी। रूस ने अरबो को भडकाया, मिश्र को भारी सैनिक सामग्री दी और उसे समझाया कि इजराइल को वह समाप्त कर दे, यदि अमेरिका आगे बढ़ा तो वह भी युद्ध में कूद पड़ेगा। उधर इजराइल की कमर पर अमेरिका हाथ रखे था और कठिन परिस्थिति मे उसकी हर प्रकार से सहायता करने की प्रतिज्ञा कर रहा था। इन दोनों शक्तियों ने अन्त मे पश्चिमी एशिया मे युद्ध छिड़वा ही दिया। इस युद्ध के लिये रूस ने अमेरिका को उत्तरदायी ठहराया। दोनो देशों मे घोर वाक् युद्ध छिड़ा, एक दूसरे को चेतावनी दी गई। सुरक्षा परिषद मे भी खूब नोक झोंक चली।

अरब-इजराइल युद्ध का परिणाम रूस की इच्छा के विरुद्ध हुआ। अरब बुरी तरह से पिटे। मिस्र का राष्ट्रपति नासिर इससे रूस का विरोधी बन गया और उसे धोखेबाज कहने लगा। रूस के प्रधानमन्त्री कोसीजिन ने अरबो के आसू पोंछने के लिये अरब-इजराइल के मामल संयुक्त राष्ट्र सघ की महासभा में रखने का प्रस्ताव किया। पहले तो अमेरिका राजी न हु

18 जून 1967 को यह मामला महासभा न रखा गया। दोनों देशों ने एक दूसरे पर आरोप-प्रति आरोप लगाये।

(4) **जर्मनी के एकीकरण का मामला**—जर्मनी के तीन खण्ड जो अमेरिका फ्रांस और ब्रिटेन के हाथ में थे, वे पश्चिमी जर्मनी के रूप में स्वतन्त्र बन गये थे पर रूस पूर्वी जमनी को पश्चिमी जर्मनी में मिलाना नहीं चाहता था। यह प्रश्न भी शीत युद्ध को तेज करने वाला था। मार्च 1969 में फेडरल जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिमी बर्लिन में कराया गया। इससे पूर्वी जर्मनी में विरोध फैला क्योंकि इससे यह सिद्ध होता था कि बर्लिन का पश्चिमी भाग पश्चिमी जर्मनी का एक अंग है। रूस ने यद्यपि पश्चिमी जर्मनी के स्थलीय यातायात को बन्द कर दिया पर वायु मार्ग को बन्द न कर सका। यहाँ भी पश्चिमी शक्तियाँ युद्ध के लिये तैयार थीं। रूस ढीला पड़ गया। पश्चिमी जर्मनी के चुनाव सफलता पूर्वक सम्पन्न हुये। बाद में पश्चिमी जर्मनी और रूस में 10 अगस्त 1970 को एक सन्धि सम्पन्न हुई और शीत युद्ध समाप्त हुआ। अगस्त 1971 में पश्चिमी बर्लिन के बारे में चार शक्तियों—रूस, फ्रांस, ब्रिटन और अमेरिका का समझौता हो गया। पूर्वी बर्लिन और पश्चिमी बर्लिन में आने जाने पर रोक न रही। इतना ही नहीं जर्मनी के एकीकरण का प्रश्न जो गत 27 वर्षों से चला आ रहा था उसे भी 8 नवम्बर 1972 को पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौते से समाप्त कर दिया गया। दोनो जर्मनियों ने एक-दूसरे के अस्तित्व को मान्यता दी।

(5) **चीन और अमेरिका की सन्धि**—चीन साम्यवादी था और माओत्सेतुंग ने अमेरिका की सेनाओं को हराकर चीन को लाल बनाया था। अमेरिका के विरोध करने पर चीन सं० रा० सघ का सदस्य न हो सका था, अतः दोनों देशों में शीतयुद्ध जारी था। रूस ने चीन का समर्थन पाकर अपने अमेरिकन विरोधी प्रचार को बढ़ा दिया था। क्यूबा के मामले में जब रूस और अमेरिका की सन्धि हो गई तो चीन ने अमेरिका के साथ रूस पर भी प्रहार करने प्रारम्भ किये। पाकिस्तान चूंकि चीन का मित्र था, अमेरिका ने उसी के माध्यम से चीन के मित्रता का प्रस्ताव रखा। चीन तैयार हो गया। 1970 में चीन और अमेरिका की सन्धि हो गई। चीन और अमेरिका का शीत युद्ध समाप्त हो गया। अमेरिका सेना वियतनाम छोड़कर चली आयी। चीन सं० रा० संघ का सदस्य बन गया। इतना ही नहीं मित्र राष्ट्रों ने चीन को सुरक्षा परिषद की भी स्थायी सदस्यता प्राप्त करने में सहायता की।

(6) **अरब-इजराइल चौथा युद्ध**—1967 में इजराइल ने सिनाई का पूरा क्षेत्र जीत लिया था। अरब राज्य स्थायी शान्ति के लिए सिनाई क्षेत्र छोड़ने के लिए इजराइल पर दबाव डाल रहे थे। इजराइल कुछ शर्तों पर सिनाई क्षेत्र छोडने को तैयार था। इन शर्तों को अरब मानने के लिए तैयार न थे। रूस ने मिस्र को सहमत कर लिया और आर्थिक व सैनिक सहायता इनको अधिक मात्रा मे दी कि मिस्र रूस के विश्वासघात (1967 में) की बात भूल गया। अन्य अरब राज्यों को भी उसने सहायता की। अरबों ने रूस की शह पाकर पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध घोर शीत युद्ध छेड़ा। अन्त में 1973 में इजराइल और अरबों में संघर्ष छिड़ गया। मिस्र ने अचानक आक्रमण कर प्रारम्भिक सफलता प्राप्त करली पर अन्त में पुनः अरब हार गये। यद्यपि युद्ध विराम हो गया है पर अरबों और इजराइल मे स्थायी सन्धि नही हुई है।

पिछले 15 वर्षों में शीत युद्ध मे उत्तरोत्तर कमी आ रही है। इसका एक कारण तो यह है कि रूस व अमरीका दोनों ही युद्ध के परिणाम जानते हैं। परमाणु युद्ध का अर्थ दोनों का विनाश होगा। अतः दोनों यह चेष्टा कर रहे हैं कि किसी भी मामले पर सीधे न टकरायें। 1973 में राष्ट्रपति निक्सन की मास्को यात्रा के दौरान इस आशय का निश्चय किया गया।

दोनों महाशक्तियाँ शस्त्रों के फलाव से चिन्तित हैं। शस्त्रों की होड़ उन्हें बड़ी मँहगी पड़ रही है। 1969 से ही दोनों देशों के बीच सामरिक शस्त्रों को कम एवं उनके नियमन करने की बातचीत चल रही है। Salt I व Salt II के अन्तर्गत कुछ समझौते भी हो गये हैं।

पश्चिमी योरोपीय राज्य अब यह अनुमान करने लगे हैं कि उन्हें रूस के आक्रमण का कोई भय नहीं है। इस कारण अब उनकी अमरीका पर निर्भरता की भावना समाप्त हो रही है। फ्रांस ने अपने यहाँ से नाटो के मुख्यालय को हटवा दिया। उसने दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन को भी छोड़ दिया। अनेक राज्य यह भी अनुभव करने लगे हैं कि सैनिक सन्धियाँ उनके राष्ट्रीय हितों की रक्षा नहीं करती हैं। पुर्तगाल ने 1961 में भारत के गोवा आक्रमण के समय नाटो से सहायता चाही। इसी तरह पाकिस्तान की भारत-पाक युद्धों के दौरान नाटो से सहायता की अपेक्षा करता था। लेकिन सहायता न मिलने से इन राज्यों को बड़ी निराशा हुई। फिर शस्त्रो को छोड़ अमरीका पर निर्भरता भी इन राज्यों को अखरती रही है।

स्वयं अमरीका भी बदलती स्थिति से समझौता करना चाहता है। उसने वियतनाम को छोड़ दिया और चीन से साम्राज्य सम्बन्ध बनाये।

पश्चिमी राज्यों की तरह से रूसी क्षेत्र में भी एकता नहीं है। चीन उसका विरोधी है। युगोस्लाविया स्वतन्त्र नीति पर चलता है। पोलैण्ड व जेकोस्लोवाकिया की घटनाओं से उसे सबक मिल गया है।

लेकिन यह सोचना कि शीत युद्ध या रूस-अमरीका स्पर्द्धा समाप्त हो गई है, भूल होगी। जब तक दोनो देशों की व्यापक महत्वाकांक्षाएँ हैं, शीत युद्ध कम या अधिक जारी रहेगा।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. शीत युद्ध का अर्थ बताइये तथा शीत युद्ध की उत्पत्ति की विवेचना कीजिए।
   Describe the meaning of Cold War. Discuss the origin of Cold War.
2. शीतयुद्ध के कारणों पर प्रकाश डालिये तथा इसके विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
   Throw light on the causes of Cold war and also write a note on its growth.
3. शीत युद्ध की उत्पत्ति और उसके स्वभाव का वर्णन करिये। इस पर चीन-रूस के विवाद का कहाँ तक प्रभाव पड़ा?
   Discuss the origin and nature of the Cold War. How far has it been influenced by Sino-Soviet differences?
4. "समकालीन विश्व राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता है दो भीमकाय दैत्यों (रूस एव अमेरिका) के बीच शक्ति-संघर्ष।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
   The conflict between two monolithic giants (U. S. A. & U. S. S. R) is the dominant reality of the contemporary World Politics. Explain.
5. रूस और अमेरिका के मध्य द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से 1964 तक शीत युद्ध की क्या अवस्था रही।
   Trace the origin and growth of the conflict betwee Russia and America after Second World War till 1964.
6. शीत युद्ध की नई दिशाओं पर आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
   Discuss critically the new dimensions of Cold War.

15

शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त
(Doctrine of the Balance of Powers)

"शक्ति सन्तुलन राष्ट्रों के बीच शक्ति का ऐसा उचित वितरण है जो कि उनमें से किसी एक को भी इतना शक्तिशाली नहीं होने देगा, जिससे कि वह अपनी बात को दूसरों पर जबर्दस्ती थोप सके।"

—सिडनी बी० के०

"Balance of Power is an indispensable condition to the very existence of International Law. Also as there was no central authority above the sovereign states that could enforce rules of law of nations, a balance of power must prevent any member of the family of nations from becoming omnipotent."

—L. Oppenheim

शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का अर्थ
(Meaning of the Doctrine of Balance of Power)

शान्ति और सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है। कुछ विद्वान तो "इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार मानते हैं।"[1] आदर्शवादी विचारक शक्ति सन्तुलन को दण्डनीति के साथ जोड़ते हैं और उसे त्याज्य समझते हैं। यथार्थवादी दण्डनीति को ही इसकी प्रबलता का आधार मानते हैं तथा इसकी प्रशंसा करते हैं। यह बड़ी शक्तियों द्वारा काम में लाया जाता है। मार्गेन्थ्यू इसे "सामान्य सामाजिक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति"[2] कहते हैं और मार्टिन वाइट ने इसे "राजनीतिक नियम का मूलभूत कानून माना है।"[3]

इस सिद्धान्त के अन्दर किसी राष्ट्र की शक्ति को इतना नहीं बढ़ने दिया जाता कि वह अपार शक्ति संग्रह कर किसी भी अन्य राष्ट्र से मनमानी शर्तें मनमाने को स्वतन्त्र हो जाय। इस सिद्धान्त का प्रयोग लगभग 100 वर्षों तक इंगलैंड यूरोप के साथ बरतता रहा। किसी भी यूरोपीय शक्ति को उसने अकेली या समूह द्वारा इतनी शक्ति सञ्चय नहीं करने दी कि वह इंगलैंड पर हावी हो सके। इस नीति से इंगलैंड मालामाल हो गया अतः अन्य राष्ट्रों ने उसकी इस नीति का विरोध किया। 18वीं और 19वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त का बोलबाला रहा पर 20वीं

1 "A basic principle of international relations." —*Palmer and Parkins*

2 "A Manifestation of general social principle." —*Morgenthau*

3 "As nearly a fundamental law of politics as it is possible to find." —*Marten Wright*

शताब्दी में इसकी मान्यता कम हो गयी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इसका पुनः महत्त्व आंका जाने लगा। अमेरिका के संविधान निर्माता इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते थे। विलियम ग्राहम लिखते हैं कि "नागरिकों के जीवन और खुशहाली की कीमत पर आगे से किसी उच्चस्तरीय कूटनीति""किसी शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की आवश्यकता न होगी।"[1]

शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की व्याख्या (Explanation of the principle of Balance of Power)—शक्ति सन्तुलन का अभिप्राय: है दो देशों की "शक्ति मे समानता।" जब दो राष्ट्र शक्ति में एक दूसरे के समान होंगे वे शान्तिपूर्वक रहेंगे, जहाँ एक की शक्ति बढ़ी वह दूसरे पर हावी होने का प्रयत्न करेगा। शक्ति की समानता अथवा सन्तुलन अवस्था दो प्रकार से दिखाई देती है—(1) सामान्य (Simple) तथा (2) बहुल या जटिल (Multiple or Complex)।

सामान्य सन्तुलन का अभिप्राय: है कि दो परस्पर विरोधी राज्यों मे शक्ति की समानता। जैसे आज रूस और अमेरिका हैं। श्लेशर के अनुसार 'शक्ति सन्तुलन व्यक्तियों तथा समुदायों को सापेक्षिक शक्ति की ओर इंगित करता है।' जटिल सन्तुलन का अर्थ है 'अनेक राष्ट्रों का समूह दूसरे राष्ट्रों के समूह को सन्तुलित रखता है। इन सन्तुलनों में अनेक उपसन्तुलन बन जाते हैं। आज गुट निरपेक्ष राज्यों का समूह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग अदा कर रहा है और रूसी एव अमेरिकन गुट को युद्ध से दूर रख रहा है। यदि इन गुट निरपेक्ष राज्यों से कुछ दूर कर किसी भी पक्ष मे मिल जाय तभी उस गुट का पलड़ा भारी हो जायगा और युद्ध में दो दल समूह समान सन्तुलन मे थे—एक ओर इटली, जापान और जर्मनी थे और दूसरी ओर रूस, फ्रास और इगलैंड थे। 1939 में रूस जर्मनी से मिल गया अतः शक्ति सन्तुलन बिगड़ गया और युद्ध छिड़ गया। 1941 में मित्र राष्ट्रों का पलड़ा भारी हो गया। रूस जर्मनी से टूट कर मित्र राष्ट्रों में मिल गया और उधर सं० रा० अमेरिका भी मित्र राष्ट्रों में मिल गया। धुरी राष्ट्रों की हार हो गयी।

शक्ति सन्तुलन के नमूने
(Patterns of Power equilibrium)

मार्गेन्थ्यू ने शक्ति सन्तुलन के दो नमूने बताये हैं :

(i) प्रत्यक्ष विरोध (Direct Opposition),

(ii) प्रतिद्वन्द्विता (Competition)।

(i) प्रत्यक्ष विरोध का नमूना (Pattern of Direct Opposition)—इस सन्तुलन मे परस्पर विरोधी दो राज्य होते हैं, उनमे सीधा विरोध होता है और दूसरा पहले का विरोध करता है। दोनों अपने सन्तुलन में लगातार वृद्धि करते रहते हैं। अन्त मे या तो दोनों प्रसारवादी नीति छोड़ देते हैं या फिर युद्ध द्वारा निर्णय करते हैं।

सन्तुलन प्रक्रिया के दो परिणाम निकलते हैं—(i) सन्तुलन की स्थिति का स्थायित्व बहुत ही नाजुक और गतिशील होता है, (ii) शक्ति सन्तुलन द्वारा राष्ट्रों की स्वतन्त्रता अनिश्चित ही रहती है।

(ii) प्रतिद्वन्द्विता का नमूना (Pattern of Competition)—जब दो राष्ट्रों में प्रतिद्वन्द्विता चलती है और इस प्रतिद्वन्द्विता का कारण कोई तीसरा राष्ट्र होता है तो दोनों अपने प्रभाव विस्तार में प्रयत्नशील होते हैं। उदाहरण के लिए इंगलैण्ड और रूस में गत 100 वर्षों तक ईरान पर प्रभाव बढ़ाने की प्रतियोगितापूर्ण प्रयास रहा।

---

1 "There was to be no grand diplomacy-no balance of power-to cost the life and happiness of citizens." —*W. Gral*

मार्गेन्थ्यू का मत है कि छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता बनी रहने के लिए निम्नलिखित कारण हैं :

(क) शक्ति सन्तुलन द्वितीय विश्व युद्ध तक बेल्जियम व बाल्कन देश था।

(ख) संरक्षक राज्य की शक्ति प्रधानता मध्य व दक्षिणी अमेरिका के छोटे देश थे, अथवा

(ग) साम्राज्यवादी राष्ट्रों के लिए विशेष आकर्षण का न होना (स्विट्जरलैण्ड और स्पेन)।

बड़े राज्यों के बीच छोटे-छोटे राष्ट्र के बीच ही सन्तुलन बनाये रखने के कारण अन्तःस्थ राज्य बन जाते हैं।

सन्तुलन शब्द का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयोग
(Use of Word Equilbrium in International Politics)

सन्तुलन का प्रयोग (Use of Equilibrium)—सन्तुलन शब्द का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निम्नलिखित अर्थों में प्रयोग किया जाता है :

(1) शक्ति सन्तुलन का परम्परागत एवं शास्त्रीय अर्थ सिडनी बी० के० के अनुसार इस प्रकार है कि "शक्ति सन्तुलन राष्ट्रों के बीच शक्ति का ऐसा उचित वितरण है जो कि उनमें से किसी एक को भी इतना शक्तिशाली नहीं होने देगा जिससे कि वह अपनी बात को दूसरों पर जबर्दस्ती थोक सके।"[1]

(2) जार्जश्वार्जेनबेर्गर ने "सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक प्रकार का स्थायित्व बताया है जो कि अनुकूल परिस्थितियों में राज्यों के आपसी गठबन्धनों अथवा अन्य युक्तियों द्वारा उत्पन्न होता है।"

(3) किसी राष्ट्र की प्रधानता (Preponderance or hegemony) से उत्पन्न सन्तुलन का तात्पर्य—राष्ट्रों के मध्य शक्ति के समान वितरण से न होकर किसी एक राष्ट्र के औरों से अधिक शक्तिशाली होने से है। आधुनिक समय में सं० रा० अमेरिका विश्व शान्ति के लिए शक्ति के आधार पर अपनी प्रधानता बनाये रखना चाहता है और यदि ऐसा नहीं किया गया तो सोवियत सघ और साम्यवाद का प्रसार होगा। इसलिए अमेरिकन केवटलाज का कहना है कि "मैं एक शक्तिशाली शक्ति सन्तुलन का समर्थक हूँ" यह अमेरिकी शक्ति-प्रधानता की ओर संकेत हैं।

(4) शक्ति सन्तुलन को नीति के लिए भी प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ है—असन्तुलित शक्ति अव्यवहार और असुरक्षा को जन्म देती है अतः मनमानी गतिविधियों को रोकने के लिए टक्कर की शक्ति का निर्माण होना चाहिए। चर्चिल, केनेथ थाम्पसन व मार्गेन्थ्यू ने शक्ति सन्तुलन के नीति सम्बन्धी प्रयोग को मान्यता दी है।"[2]

(5) टेलर, मार्टिन वाइट और चार्ल्स लर्श आदि ने शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रणाली (system) के रूप में माना है जिससे तात्पर्य बहुराज्य व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक विशेष प्रकार की व्यवस्था से लिया जाता है।

---

1 "......such a just equlibrium in power among the members of the nations as will prevent any one of them from becoming sufficiently strong to enforce its will upon the others." —*Sidney B. Foy*

2 "They opine that the balance of power consists in the attempton the part of the power of another nation by increasing its strength to a point where it is at least equal, if not superior to the other nations strength." Vide Kenneth W. Thmopson and Hans. —*Morgenthau*

(6) अनेक लेखकों ने शक्ति-सन्तुलन को "यथार्थवाद के प्रतीक" के रूप में प्रयोग किया है। इस धारणा के अनुसार शक्ति-सन्तुलन अन्ततः राष्ट्रहित व दण्डनीति का ही स्वाभाविक प्रकटीकरण है। वुड्रो विल्सन ने यथार्थवादी दृष्टिकोण की आलोचना की है।

इस प्रकार शक्ति-सन्तुलन शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह "अस्पष्ट विचार" है। वस्तुतः इसकी व्याख्या सभी राष्ट्र अपने-अपने राष्ट्रीय हित के सापेक्ष मे करते हैं।

शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त में अन्तर्निहित मान्यतायें
(Implied Conceptions in Balance of Power)

शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त में कुछ अन्तर्निहित मान्यताएँ हैं। प्रो० क्विन्सी राइट (Quincy Wright) के मतानुसार इस सिद्धान्त में निम्नलिखित 5 मुख्य मान्यताएँ छिपी हैं—

"(i) प्रत्येक राष्ट्र की राष्ट्रीय नीति का मुख्य आधार राष्ट्रीय हितों की रक्षा होता है। इसके लिए वह युद्ध भी कर सकता है।

(ii) राज्यों के मध्य संघर्ष उपर्युक्त हितो के संकट उत्पन्न होने पर ही होते हैं।

(iii) राज्यों की शक्ति का ठीक-ठीक तुलनात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है तथा भविष्य के लिए अनुमान लगाया जा सकता है।

(iv) सन्तुलन की अवस्था आक्रमण को रोकती है।

(v) राज्य शक्ति की स्थिति के अनुसार विदेश नीति का निर्धारण करते हैं।"

क्विन्सी राइट की उपर्युक्त मान्यताओं मे से चार का समर्थन वर्नन वान डाइक (Vernon Von Dyke) ने भी किया है पर अन्तिम मान्यता को वह स्वीकार नहीं करता है। उसका कहना है कि "पाँचवीं मान्यता ने अनेक ऐसी गम्भीर आपत्तियों को जन्म दिया है जो कि शक्ति-सन्तुलन के नीति सम्बन्धी आधार को ही झकझोर देती हैं।"

वर्नन वान डाइक ने मुख्य आपत्तियां इस विषय मे 5 बताई हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

(i) प्रथम तो राष्ट्रीय हितों से सम्बन्धी नीति निर्धारण करने वालों के विचारों मे एकता नही होती है। जैसे अमेरिका द्वारा वियतनाम मे लड़ना और भारत द्वारा कच्छ समझौता मानना आदि के विषय मे।

(ii) दूसरी आपत्ति यह है कि अपने राष्ट्र की शक्ति अर्जन की सीमा हेतु दूसरे राष्ट्रों की शक्ति एवं क्षमता का अनुमान गलत हो सकता है, जैसे अरबों का इजराइल के प्रति अनुमान गलत निकला।

(iii) तीसरे उपर्युक्त सिद्धान्त मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून, नैतिकता और न्याय का कोई विचार नही किया गया है जबकि सन्तुलन में उनकी उपेक्षा नही की जा सकती है।

(iv) चौथे, सन्तुलन के लिए अनुकूल, आन्तरिक परिस्थितियों और जनता से उचित दृष्टिकोण प्राप्त होने की समस्या बनी रहती है।

(v) पाँचवें, कई बार राजनीतिज्ञो को उद्देश्य प्राप्ति के लिए साधन चुनने मे गलतिया हो जाती है। एक विशेष सिद्धान्त से बंधे रहने के कारण भी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। जैसे अमेरिका द्वारा अपनायी गयी अलगाव (Isolation) की नीति, भारत द्वारा ताशकन्द की सन्धि की शर्तें पूरी करने की जिद् एवं पाकिस्तान को प्रसन्न करने के लिए कच्छ समझौते की मान्यता।

उपर्युक्त आपत्तियों के रहते हुए भी राष्ट्र अपनी विदेश नीति को निर्धारित करते समय शक्ति-सन्तुलन को ध्यान में रखते हैं।

सन्तुलन स्थापित करने के साधन
(Means of Establishing Equilibrium)

भले ही शक्ति-सन्तुलन सिद्धान्त की अनेक राष्ट्र आलोचना करते हैं और उसमें अनेक कमियाँ निकालते है पर व्यवहार में प्रायः सभी राष्ट्र अपनी आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास करते हैं।

शक्ति-सन्तुलन की स्थापना के निम्नलिखित साधन हैं :—

(1) शक्ति संचय—शक्ति-सन्तुलन स्थापित करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र विरोधी पक्ष के अनुपात मे अधिक शक्ति का संचय करता है। शक्ति का अर्थ केवल सैनिक शक्ति ही नही है, बल्कि आर्थिक, प्राविधिक, औद्योगिक, राजनीतिक एवं नैतिक शक्ति भी है। इन सभी शक्तियों को बढ़ाना ही शक्ति सचय करना होता है। वहाँ दो राष्ट्रों की शक्ति सम्पन्नता में बहुत अन्तर होता है तो दुर्बल राष्ट्र को शक्ति-सन्तुलन स्थापित करना असम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ भारत और चीन के मध्य शक्ति-सन्तुलन की बात करना तो सोचा जा सकता है पर थाईलैण्ड और चीन के मध्य शक्ति-सन्तुलन की बात करना एक कल्पना ही हो सकती है।

(2) सन्धियाँ—जो राष्ट्र अपने प्रतिद्वन्द्वी के मुकाबले में दुर्बल होते हैं, वे अन्य शक्तिशाली राष्ट्रों से सैनिक सन्धियाँ करके शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान समय में नाटो, सीण्टो, सैन्टो तथा वार्सा-पैक्ट आदि बहुपक्षीय व द्विपक्षीय सन्धियाँ इस प्रकार की सन्धियाँ हैं। इस प्रकार से सभी राष्ट्र अपनी आक्रामक महत्त्वाकांक्षाओं को सुरक्षात्मक आवश्यकताओं का आवरण देते हैं।

(3) भेद नीति—भेद नीति भी शक्ति सन्तुलन बनाने का एक साधन है। कमजोर शक्ति रखने वाले राष्ट्र अपने शत्रु पक्षीय राष्ट्रों में फूट डालकर शत्रु की शक्ति को कम करके शक्ति-सन्तुलन बना सकते है। रूस वर्तमान समय मे अमेरिकन गुट में फूट डालने का प्रयत्न करता रहता है। वह प्रचार द्वारा इंगलैण्ड, फ्रांस आदि देशों को स्वतन्त्र नीति अपनाने एवं अमेरिकन प्रभाव से मुक्त होने के लिए भड़काता रहता हैं। चीन और रूस एवं उनके साथियों मे फूट डालने की अमेरिका भी कोशिश करता रहता है। भारत-रूस सन्धि (1973) का एक कारण अमेरिका व चीन के बीच बढ़ती मित्रता भी था जिसके कारण रूस का पलड़ा हल्का हो रहा था।

(4) हस्तक्षेप—अपनी शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने के लिए कुछ राष्ट्र अपने पक्ष के राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप भी करते है। रूस ने पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रों को वार्सा पैक्ट में बाँध रखा है। वह नही चाहता कि उनमें से कोई राष्ट्र स्वतन्त्र नीति अपनाये। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, रूसी प्रभाव से जब पोलेण्ड, हंगरी और चैकोस्लोवाकिया ने निकलना चाहा तो रूस ने सैनिक हस्तक्षेप से उन्हे कुचल दिया। भारत 1971 में बीस वर्षीय सन्धि कर रूस के अधिक निकट आ गया है। अमेरिका ने भारत के प्रति कठोर नीति अपना रखी है और उसे सैनिक एवं आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया है। भारत आर्थिक दृष्टि से कमजोर है, रूस उसकी अधिक सहायता नहीं कर सकता है अतः भारत, अमेरिका से सहायता चाहने के लिए व्याकुल है, उसने भारत को तानाशाही प्रवृत्ति को त्यागने के लिए उस पर दबाव डाला है। कुछ विद्वान यह कहते हैं कि 1977 मे जो चुनाव हुए हैं वे अमेरिकन दबाव के कारण हुए हैं।

(5) अन्तस्थ या तटस्थ राज्य और क्षेत्रों की स्थापना—सन्तुलन स्थापित करने के लिए शक्तिशाली शत्रु राज्यों के मध्य अन्तःस्थ राज्य या क्षेत्र का निर्माण किया जाता है। ये अन्तःस्थ राष्ट्र शक्ति में दुर्बल होते है पर शक्तिशाली शत्रु राज्यों के मध्य स्थित होने के कारण सघर्ष की सम्भावनाओं को कम करते हैं। जैसे फ्रांस और जर्मनी के बीच बेल्जियम व हालैण्ड, ब्रिटिश काल में भारत और रूस के मध्य अफगानिस्तान। इतना होने पर भी इन मध्यस्थित-राज्यों की स्थिति

सदैव कमजोर और खतरे में रहती है। कभी-कभी सम्बन्धित विपक्षी राज्य ऐसे प्रदेशों को आपस में बाँट लेते हैं। जर्मनी, एशिया एवं हिन्द चीन का बँटवारा, इसका उदाहरण है।

(6) प्रदेशों पर अधिकार—सन्तुलन की स्थापना के लिए कभी-कभी कोई राष्ट्र प्रदेश विशेष को जीत लेता है जो सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है। जैसे इजराइल ने सिनाई का क्षेत्र जीत कर अपने कब्जे मे कर लिया। कभी कभी हर्जाना या मुआवजे के तौर पर प्रदेशों का विभाजन कर लिया जाता है पर इससे सन्तुलन नहीं युद्ध की सम्भावना बढ़ती है।

(7) शक्ति-सन्तुलन में सन्तुलन—शक्ति-सन्तुलन की प्रक्रिया में सन्तुलन राष्ट्र की स्थिति महत्त्वपूर्ण हो जाती है। *कार्ल फ्रेडरिख ने इसे 'हँसती हुई तृतीय शक्ति"* (The Laughing Third Party) का नाम दिया है। शक्ति-सन्तुलन प्रक्रिया टूटने पर सन्तुलन की आवश्यकता होती है जिसका कार्य वास्तविक संघर्ष से अलग रहते हुए सम्बन्धित पक्षों को अपनी ओर आकर्षित बनाये रखना है ताकि आवश्यकतानुसार अपने प्रभुत्व और शक्ति द्वारा अपनी निर्णायक स्थिति बनी रहे। इसमें सन्तुलक को पर्याप्त शक्तिशाली तथा संघर्ष क्षेत्र से कुछ दूर स्थित होना आवश्यक है। आज गुट निरपेक्ष राज्य दो गुटों में शक्ति-सन्तुलन बनाये हुए है पर सक्रिय सैनिक शक्ति संघर्ष में सन्तुलक के रूप में इनका कोई स्थान नहीं है।

शक्ति-सन्तुलन की मूलभूत धारणाएँ
(Fundamental Conceptions in Balance of Power)

(1) शक्ति-सन्तुलन एक शक्ति-वितरण की आदर्श व्यवस्था—कुछ विद्वान शक्ति-सन्तुलन को एक शक्ति वितरण की आदर्श व्यवस्था मानते है पर यह केवल सिद्धान्ततः है, व्यवहारिक नही। इसका अर्थ यह होगा कि हम यथास्थिति को स्थायी रूप से मान्यता दे दे और शीत युद्ध को स्वभावतः स्वीकार कर लें, यह स्थिति अच्छी नही है। हम इसे आवश्यक बुराई के रूप मे तो स्वीकार कर सकते हैं। इंगलैण्ड की नीति यह रही है कि सदैव यथास्थिति बनी रहे, इसका अर्थ यह है कि यह सदैव अन्य राज्यों को उल्लू बनाये रखे। शक्ति सन्तुलन की आदर्श व्यवस्था की सदैव ही निन्दा की जाती रही है। इस शक्ति सन्तुलन का उत्तर शक्ति ही है। सद्भावना और सहयोग को इसमें विशेष मान्यता नहीं मिलती है।

(2) शक्ति-सन्तुलन का आधार स्वचालन (Automation)—शक्ति सन्तुलन का निर्माण स्वयं ही होता है, इच्छानुसार नहीं। आर्नोल्ड टायनबी (Arnold Toynbee) के मतानुसार "शक्ति-सन्तुलन राजनीतिक शक्तिशालता का ऐसी व्यवस्था है जो एक समाज में परस्पर स्थानीय राज्यों के रूप में कभी स्थापित होने पर दिखाई देती है।"[1] हरबर्ट बटरफील्ड ने शक्ति-सन्तुलन को *"यन्त्रवत, स्वसमंजक और स्वसंशोधक"*[2] *की तरह परिस्थितियों के अनुकूल ढलने वाला* बताया है।

मार्टन काप्लान के मतानुसार "प्रत्येक राष्ट्र के हित में है कि वह किसी भी राष्ट्र को अपने से शक्तिशाली बनने से रोके।" परन्तु व्यवहार में बड़े राष्ट्रों की क्रियाएँ तो इच्छित होती हैं पर छोटे राष्ट्रों की क्रियाएँ अर्ध-स्वचालित होती हैं। इसीलिए आइनिस क्लाइड ने भी उसे अर्ध-स्वचालित बताया है। *इस प्रकार शक्ति-सन्तुलन अर्ध-स्वचालित अवस्था है।* परन्तु *विश्व के बाद* अमेरिका का शक्तिशाली होना, युगोस्लाविया का रूसी गुट से बाहर आना, शक्ति-सन्तुलन की स्वचालित प्रक्रिया को प्रकट करता है। इसलिए आधुनिक विचारक शक्ति-सन्तुलन को स्वचालित

1 "......a system of political dynamics that comes into play when ever a society articulates itself into a number of mutually independent local states."
—*Arnold Toynbee*

2 "Mechanistically self-adjusting and self-rectifying." —*Herbert Butterfield*

न मानकर सचेतन क्रिया और नीति का उद्देश्य प्रेरक मानते हैं। लेकिन शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करना एक राजनयिक युक्ति है।

(3) **अणु-शक्ति और शक्ति-सन्तुलन**—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अणु-शक्ति और प्रक्षेपशास्त्रों के विकास ने पुराने युद्ध की धारणाओं को बहुत कुछ बदल दिया है। अणु-आयुधों की दृष्टि से छोटे राष्ट्रों की भूमिका तो नगण्य हो जाती है। अस्सटेंहास व अप्पा देसाई के अनुसार यह आधुनिक युद्धों के परिणामस्वरूप है। आज शान्ति काल से भी आतंक का सन्तुलन (Balance of Terror) बना हुआ है। क्षेत्रीय सन्तुलन भी अपने स्थानों पर बनाना पड़ा है। जैसे—इजराइल, अरब, भारत, पाक आदि संघर्ष इस सन्तुलन के बिगड़ने के परिणाम है।

शक्ति-सन्तुलन का उद्देश्य एवं उसकी उपयोगिता
(Aims of Balance of Power and Its Utility)

वर्नन वान डाइक के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के रूप में इसका उद्देश्य शान्ति-सुरक्षा कायम रखना है।" इस दृष्टि से "शक्ति सन्तुलन का मुख्य उद्देश्य सुरक्षा और शान्ति है।"[1] यह राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा और विश्व-शान्ति की स्थापना में सहयोग देता है।

शक्ति सन्तुलन स्वतन्त्र राज्यों में ऐसा शक्ति वितरण है जिससे एक राष्ट्र इतना शक्तिशाली न बन जाय कि वह दूसरे पर हावी हो जाय। बर्ट्रेण्ट रसेल का कहना है कि "यूरोप में शक्ति सन्तुलन का तात्पर्य है अनेक राज्यों की स्वतन्त्रता किसी भी राज्य की शक्ति-प्रधानता इस स्वतन्त्रता को संकट उत्पन्न करती है तथा उसे समाप्त करती है।"[2] वैटल (Vattel) का मत कि "यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें कोई भी शक्ति दूसरे पर हावी न हो सके।"[3] क्विन्सी राइट ने लिखा है कि "इसके द्वारा आक्रमणकारी शक्ति को जताना होता है कि आक्रमण का सख्ती से मुकाबला किया जायगा।"[4] इस प्रकार शक्ति सन्तुलन का अर्थ इसके द्वारा शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाना है।

शक्ति सन्तुलन तब तक बना रहता है जब तक कि युद्ध का खतरा टला रहता है और जहाँ शक्ति सन्तुलन बिगड़ा, युद्ध सिर पर आ जाता है। परन्तु हमें एक बात का यह भी ध्यान रखना है कि अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए कभी-कभी युद्ध लड़ना आवश्यक हो जाता है। शक्ति सन्तुलन वास्तव में विदेश नीति से सम्बन्धित होता है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण भी शान्ति स्थापना का उत्तरदायी कारण होता है।

इनके अतिरिक्त शक्ति सन्तुलन का एक उद्देश्य भी होता है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रक्षा' (Maintenance of International Law) हो। ओपेनहीम के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व के लिए शक्ति सन्तुलन एक अनिवार्य अवस्था है……… चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू कराने वाली कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं है, अतः शक्ति-सन्तुलन द्वारा ही किसी भी राष्ट्र को सर्वशक्तिमान होने से रोका जा सकता है।"

---

1 "Security and peace are the main purposes of the balance of power." —*Vernon Von Dyke*

2 "The balance of power in Europe in effect means the independence of its several states. The preponderence of any power threatens and destroys this independence." —*Bertrand Russel*

3 "Such a disposition of things as no power is able absolutely to predominate or to prescribe laws to others." —*Vattel*

4 "A System designed to maintain a continuous conviction in every state that if it attempted aggression, it would encounter an invincible combination of others." —*Quincy Wright*

आधुनिक काल में विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित शक्ति सन्तुलन के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, अन्तर्राष्ट्रीय यातायातों, विश्व लोकमत, सामूहिक सुरक्षा व अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता आदि व्यवस्थाओं पर अधिक विश्वास रखते हैं। व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन सभी राष्ट्रों द्वारा अपने हितों व विश्व जनमत के प्रभाव में आकर किया जाता है, स्वभाव से नही।

शक्ति सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा
(Balance of Power and Collective Security)

सामूहिक सुरक्षा के अन्तर्गत सभी राष्ट्र सगठित होकर एव सामूहिक रूप से आक्रान्ता के विरुद्ध हो जाते हैं। शूमा का कहना था कि "शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त राज्यो की स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है।" "कारगर राष्ट्रोत्तर संस्थाओं के अभाव मे सम्प्रभु राज्यों की दुनिया मे शक्ति सन्तुलन ऐसी व्यवस्था बनाये रखने की गारण्टी करता है जिसमे कोई एक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों का समूह अधिक शक्तिशाली होकर अन्य राष्ट्रो की सुरक्षा के खतरे का कारण न बन जाय। यह अस्थायी सन्धियों तथा बराबर के विरोधी दबावों के निर्माण द्वारा किया जाता है। इसमे बार-बार की शक्ति निर्माण द्वारा सन्तुलन बनाये रखने पर बल है। यहाँ कुछ का कुछ से विरोध अन्तर्गत सन्तुलन का विचार है।"[1]

सामूहिक सुरक्षा का उद्देश्य भी शक्ति सन्तुलन की स्थापना होता है। छोटे राज्य एक दूसरे से गठबन्धन करके शक्तिशाली राज्य का सामना करने की क्षमता उत्पन्न करते हैं।

परन्तु 'पूर्ण सफलता के लिए सामूहिक सुरक्षा को प्रतिरोधात्मक शक्ति सन्तुलन को साथ लेकर चलना होगा।" क्विन्सी राइट कहता है कि "शक्ति सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा के बीच सम्बन्ध एक ही साथ एक दूसरे के पूरक और विरोधी रहे हैं।

शक्ति सन्तुलन एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(Balance of Power and International Law)

कुछ विद्वानों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून शक्ति सन्तुलन पर निर्भर करता है। ओपेनहीम भी इस कथन का समर्थन करते हैं। क्विन्सी राइट का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को एक सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में परिवर्तित करने की ओर प्रवृत्ति है।"[2] एक बात स्मरणीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व दण्डनीति पर आधारित व्यवस्थाओं के आधारों में अन्तर है। क्विन्सी राइट के मत मे "अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत व्यवस्था का आधार सन्तुलन है जबकि दण्डनीति पर आधारित विश्व का आधार साधारण सन्तुलन है।"[3]

---

1 "Applied to a world of sovereign states, uncontrolled by effective supra-national agencies, the concept of the balance of power assumes that through shifting alliances and countervailing pressures no one power or combination of powers will be allowed to grow so storgy as to threaten the security of the rest." —*Palmer and Parkins*

2 "International law......tends to convert the system of balance of power (i. e. of the complex balance) into a system of collective security-"—*Quincy Wright*

3 "The difference between world regime of law and a world regime power politics is......that the latterests on a simple balance and the former on a complex balance." —*Quincy Wrig*

शक्ति सन्तुलन के परिणाम
(Effects of the Balance of Power)

सामान्यतया शक्ति सन्तुलन के तीन परिणाम माने जाते हैं—

(i) इससे शक्ति के मनमाने प्रयोग एवं युद्ध पर रोक लगती है।

(ii) राज्यों का निजी व्यक्तित्व व उनकी स्वतन्त्रता बनी रहती है, तथा

(iii) बहु राज्यीय-व्यवस्था बनी रहती है।

यह कहना कि शक्ति सन्तुलन युद्ध को रोके रहता है, सत्य का अधिक अंश नहीं रखता है, पर इतना अवश्य है कि सन्तुलन में एक राष्ट्र को तभी युद्ध छेड़ना होता है जब उसे विजय की पूर्ण आशा हो। कभी-कभी अनुमान गलत भी निकलते हैं। इस प्रकार शक्ति-राजनीतिक युद्ध होते ही रहते है जो आंशिक रूप से सन्तुलन बिगड़ने पर ही प्रारम्भ होते हैं। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि शक्ति सन्तुलन युद्ध को रोके ही रखता है यह आवश्यक नहीं। नाजी जर्मनी ने तो सन्तुलन की स्थिति में पहुँचते ही युद्ध छेड़ दिया था। इसीलिए अब लोग सामूहिक सुरक्षा पर अधिक विश्वास करने लगे है क्योंकि शक्ति-सन्तुलन शान्ति व्यवस्था का कोई ठोस आधार नहीं रहा है। अतः अब यह कहा जाने लगा है कि शक्ति-सन्तुलन की स्थिति युद्ध को जन्म देती है अतः इस सिद्धान्त का भरोसा छोड़कर संगठित शक्ति की प्रधानता द्वारा शान्ति बनाये रखी जा सकती है।

शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का मूल्यांकन
(Estimate of the Balance of Power)

18वीं और 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन की विदेश नीति का मुख्य आधार शक्ति सन्तुलन था। यूरोप की शक्तियों को इंगलैण्ड कभी अपने से अधिक शक्ति अर्जित नहीं करने देता था। यदि कभी कोई शक्ति यूरोप में उभरी तो इंगलैण्ड स्वयं किसी एक या दो शक्तियों से सन्धि कर लेता था। नेपोलियन को हराने में वह इन्हीं सन्धियों के माध्यम से सफल हुआ। पर 20वीं शताब्दी में शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त पुराना पड़ गया है। मार्गेन्थ्यू का मत है कि "इस सिद्धान्त मे तो कोई बुरी बात नहीं पर आज की बदलती परिस्थितियां उसको प्रभावी ढंग से कार्य करने से रोकती हैं।" आर्गेन्सकी महोदय ने तो शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए बताया है कि "सन्तुलन युद्ध को और असन्तुलन शान्ति को जन्म देता है।"

इस प्रकार शक्ति-सन्तुलन के पक्ष और विपक्ष में अनेक विद्वानों ने अपनी राय दी है। पक्ष मे लुईहाले, आर्नोल्ड, बाल्फर्स, डेविट पूले आदि विद्वान हैं जो वर्तमान काल में भी इसकी उपयोगिता को सिद्ध करते हैं और विपक्ष में अर्न्स्ट हास, मार्गेन्थ्यू, आर्गेन्सकी एव गुलित आदि राजनीतिज्ञ हैं जो इसे अनुपयोगी एवं अनिश्चित मानते हैं। रोजर मास्टर्स जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के बहुगुटीय आदर्श (Multiple Block Model) के प्रतिपादक हैं, शक्ति सन्तुलन की अपेक्षा बहुध्रुवीय व्यवस्था को श्रेयस्कर बताते हैं। फिर भी जैसा कि पामर व पर्किंस ने कहा है "जब तक अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे राष्ट्र राज्य व्यवस्था कायम है शक्ति सन्तुलन का व्यवहार मे प्रयोग होता रहेगा चाहे उसकी कितनी भी निन्दा की जाय।"

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. शक्ति सन्तुलन से आप क्या अर्थ लगाते हैं ? उसके प्रकार एवं नमूनों का विवरण दीजिये।
   What do you mean by balance of Power ? Also discuss its forms and patterns.

2. सन्तुलन शब्द का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयोग किन अर्थों में होता है। स्पष्ट कीजिये।
In what meaning the word Equilibrium is used in International Politics? Explain.
3. शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त में अन्तर्निहित कौन-कौन सी मान्यतायें हैं? सन्तुलन स्थापित करने के विभिन्न साधनों का आलोचनात्मक उल्लेख कीजिए।
What are the concealed conceptions in Balance of Power? Also state critically the means to establish Balance of Power.
4. शक्ति सन्तुलन का उद्देश्य, उसकी उपयोगिता, आलोचना का उल्लेख करते हुए उसका मूल्यांकन कीजिये
Evaluate Balance of Power, describing its aims, utility and criticism.
5. शक्ति सन्तुलन और सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्धो की विवेचना कीजिये।
Discuss the relations hip between collective security and balance of power.

16

प्रथम विश्व युद्ध और शान्ति समझौता
(First World War and Paris Peace Conference)

"यद्यपि मैं प्रथम विश्व युद्ध नहीं देखूंगा, परन्तु वह होगा अवश्य और उसे तुम देखोगे।" —बिस्मार्क

"युद्ध का आधारभूत कारण जर्मनी लोगों में प्रशियन भावना का उदय होना और उनकी राजनीति में छा जाने की महत्वाकांक्षा है।" —मेरियर

"As a result of this treatv (Paris Peace Treaty) Europe was balkanised and Europe became a path-work of several nations of dirverse nationalities. This unholy division of Europe naturally paved the way for further conflicts." —S. Clement.

प्रथम विश्व युद्ध के कारण
(Causes of First World War)

प्रथम विश्व युद्ध 1914 में प्रारम्भ हुआ और 1918 मे समाप्त हुआ। यह युद्ध $4\frac{1}{2}$ वर्ष तक चला। मानव इतिहास में 1914 के पूर्व इतना बड़ा और व्यापक युद्ध नहीं हुआ जिसमें लाखों लोगों की जानें गईं और अरबों की सम्पत्ति स्वाहा हुई। पर उसका होना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की यह भयानक घटना थी। इसके कारणों का जानना विश्व राजनीति के विद्यार्थी के लिये आवश्यक है। इस युद्ध के निम्नलिखित कारण थे :

(1) जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय की महत्वाकांक्षा (Ambition of William II—the Emperor of Germany)—1870 में जर्मनी का एकीकरण हुआ इस एकीकरण के लिये उसे फ्रास से लड़ना पड़ा। फ्रास को पराजित कर जर्मनी ने एलाजस लारेन पर अधिकार कर लिया। 1870 के बाद जर्मनी ने फ्रांस की शक्ति को बढ़ने से रोकने का हर समय प्रयास किया। इससे स्वाभावतः दोनों मे कटुता पैदा हो गई। बिस्मार्क ने सैनिक शक्ति में ही जर्मनी को अद्वितीय नही बनाया, बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी उसे समृद्धिशाली बना दिया। 1878 में बर्लिन कांग्रेस में जर्मनी यूरोप का नेता बन गया था। 1888 में विलियम प्रथम की मृत्यु हो गई और उसका 23 वर्षीय पुत्र जर्मनी का नया शासक बना। नया सम्राट और बिस्मार्क में मतभेद हो गये। 1890 मे बिस्मार्क ने त्याग पत्र दे दिया। विलियम द्वितीय जब जर्मनी का निरंकुश शासक बन गया। गृह क्षेत्र में सुदृढ़ता देखकर उसने विश्व राजनीत मे पग उठाया। औपनिवेषवाद की नीति से उसके फ्रास और इगलैण्ड से सम्बन्ध बिगड़ गये। उसने रूस की भी अवहेलना की और उससे की गई सधि को पुनर्जीवित न किया। जर्मनी की बढ़ती शक्ति देखकर रूस हो क्या समस्त यूरोप जर्मनी से भय खाने लगा। अतः सब अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने लगे।

जर्मनी और इंग्लैण्ड की शत्रुता (Enmity between Germany and Englaud)—जर्मनी में जब सूर्य ने अपना स्थान मांगना प्रारम्भ किया तो इगलैण्ड को अपना प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी के रूप में मिला। कैसर विलियम द्वितीय यद्यपि महारानी विक्टोरिया का नवासा था पर वह एड्वर्ड को जो 1901 में इग्लैण्ड का सम्राट बना, बुड्ढा तोता कहकर पुकारने लगा। अपने सम्राट का अपमान इंग्लैण्ड की जनता न सह सकी और वह जर्मनी से घृणा करने लगी।

(3) यूरोप का दो गुटों में विभाजन (Division of Europe into two Camps)—बिस्मार्क ने फ्रांस को अकेला कर रखा था। यूरोप में उसका कोई मित्र न रहा था। वह मित्र की खोज में था क्योंकि जर्मनी की शक्ति लगातार बढ़ रही थी। उसे पुनः अपमानित होने का भय था। इधर इगलैण्ड भी जर्मनी के सैनिकवाद से घबड़ा रहा था। 1856 से उसने यूरोप के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं ली थी पर जर्मनी की गतिविधियों से वह चौकन्ना बना 1902 मे उसने जापान से संधि करली। जर्मनी के उत्थान से यूरोप ने शक्ति सन्तुलन बिगड़ गया था। फ्रांस भी यरोप मे किसी शक्ति से संधि करना चाहता था। बर्लिन काग्रेस मे बिस्मार्क द्वारा रूस को अपमान सहना पड़ा था। वह भी दोस्त की खोज मे था। 1891 में फ्रांस और रूस में संधि हो गई थी।

जर्मनी ने चूंकि बर्लिन काग्रेस ने आस्ट्रिया का पक्ष लिया था अतः 1881 में ट्यूनिस के मामले में फ्रांस और इटली का मन-मुटाव हो गया था अतः अवसर देखकर जर्मनी ने 1882 मे इटली से संधि कर ली। इस प्रकार बिस्मार्क के काल में ही जर्मनी त्रिपक्षी (Triple Alliance)—एक शक्तिशाली गुट बना था।

बिस्मार्क के पद त्यागने के बाद फ्रांस और रूस की संधि हो चुकी थी। यद्यपि रूस और इङ्गलैण्ड में वर्षों से शत्रुता चल रही थी। पर फ्रांस के दबाव से उसमे कुछ कमी आ गई थी। इङ्गलैण्ड को फ्रांस और जर्मनी में से कोई एक मित्र चुनना था। 1898 में चेम्बरलेन में जर्मनी से संधि करने का प्रस्ताव रखा था पर जर्मन सम्राट ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। बोयर युद्ध में जर्मनी के रवैये से ब्रिटिश सरकार बहुत नाराज थी क्योंकि जर्मनों ने बोयरो से सहानुभुति दिखाई थी। जर्मनी ने टर्की से संधि कर बर्लिन से बगदाद तक रेलवे लाइन बिछाने का ठेका ले लिया था अतः जर्मनी से उसे अपने पूर्वी साम्राज्य को खतरा पैदा हो गया था। एड्वर्ड सप्तम के प्रयास से फ्रांस और इंगलैण्ड मे 1904 में संधि हो गई और 1907 में रूस और इंगलैण्ड की संधि हो गई। यह त्रिपक्षी मित्रता (Triple Entente) कहलाई।

इस प्रकार अपने स्वार्थों के कारण यूरोप की बड़ी शक्तियां दो केम्पों मे बंट गईं। ये सैनिक केम्प युद्ध को भड़काने मे सहायक हुये।

(4) जर्मनी की घेराबन्दी (Encirclement of Germany)—इंगलैण्ड, फ्रास एव रूस की त्रिमैत्री से जर्मनी ने यह समझा कि उसकी घेराबन्दी की जा रही है। उसने यह भी समझा कि विश्व की तीन महाशक्तियों ने जिन्होने विश्व के अधिकांश भाग को आपस मे बांट रखा है, वे जर्मनी की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को कुचलना चाहते हैं। उसने इगलैंड पर आरोप लगाना प्रारम्भ कर दिया कि वह उसकी घेराबन्दी कर रहा है और जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस और रूस को उसके शत्रु हैं मिलाकर उसके विकास में रोड़ा अटका रहा है। उसके पास अब और कोई उपाय नहीं सिवाय सैनिक तैयारी के जिससे शत्रु देशों से वह रक्षा कर सकें।

(5) जल सेना में जर्मनी और इंगलैण्ड की प्रतिद्वन्दिता (Rivalry between Germany and England in sea power)—इगलैण्ड के पास विश्व मे सबसे बड़ा साम्राज्य था और यह उसकी जल शक्ति पर आधारित थी। वह विश्व की अद्वितीय जलशक्ति उसके करे। जर्मनी भी इस बात को समझता था कि बिना जल शक्ति बढ़ाये वह इंगलैंड का कर सकता था कि बिना जल शक्ति बढ़ाये वह इगलैंड का सामना नहीं कर सकता

अन्धाधुन्ध जल पोतों का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। इगलैंड दो जल पोत समुद्र में उतार देता। यह प्रतिद्वन्द्विता भी प्रथम विश्व युद्ध का कारण बनी।

(7) आर्थिक साम्राज्यवाद (Economic Imperialism)—यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति से साम्राज्यवाद के विस्तार का विकास बड़ी तेजी से हुआ। उद्योगों के लिए कच्चे माल की खपत तथा अन्य प्रकार के आर्थिक लाभ के लिए यूरोप की शक्तियों ने उपनिवेश बसाये, एशिया और अफ्रीका के अविकसित क्षेत्रों पर अधिकार जमाया। इटली और जर्मनी का एकीकरण बहुत समय बीतने पर हुआ, इस समय तक अन्य यूरोपीय शक्तियो ने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित कर लिये थे। इगलैण्ड और फ्रास के अतिरिक्त यूरोप के छोटे-छोटे राज्य। बेल्जियम, हालैण्ड, पुर्तगाल आदि भी अपने राज्य से कई गुना बड़ा साम्राज्य रखे थे। उनकी आर्थिक उन्नति काफी हो चुकी थी। देर से जागने पर इटली और जर्मनी साम्राज्यवादी दौड़ मे सबसे पीछे रह गये थे। बिस्मार्क ने जर्मनी के उद्योग-धन्धों को बहुत विकसित कर दिया था। उसे भी कच्चे माल के लिए बाजार और मण्डियों की आवश्यकता थी। वह भी साम्राज्यवाद के अर्जन मे लगा और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में तीव्रता आयी। उसे कही फ्रास से टकराना पड़ा तो कहीं इंगलैण्ड से। इगलैण्ड ने सदैव फ्रांस का साथ दिया। श्री वी० डी० महाजन ने कहा है कि "आर्थिक साम्राज्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा को मार्ग दिखाता है, अतः इस कारण यह भी युद्ध के लिए उत्तरदायी था।"[1]

(7) बाल्कन क्षेत्र में स्वार्थ (Self interests in Balkan sphere)—टर्की की दुर्बलता से उसका यूरोपीय साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। रूस एवं आस्ट्रिया बाल्कन क्षेत्र को हथियाना चाहते थे। दोनों में बड़ी प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। 1912 मे प्रथम बाल्कन युद्ध छिड़ा था। इस क्षेत्र मे ईसाई बसते थे पर इस पर टर्की का साम्राज्य था। ईसाई शक्तियाँ इस क्षेत्र को टर्की से स्वतन्त्र कराना चाहते थे एवं उसे आपस में बाँटना चाहते हैं। चार बाल्कन राज्य—सर्बिया, बल्गेरिया, यूनान और मान्टीनीग्रो अपने पुराने विरोध भूलकर एक हो गये और मेसीडोनियो को स्वतन्त्र कराने में लग गये। इगलैण्ड नही चाहता था कि टर्की के साम्राज्य को अधिक क्षति पहुँचे। पर बाल्कन राज्यो ने टर्की पर आक्रमण कर दिया। टर्की बार-बार हारा। 1913 में लन्दन की सन्धि युद्ध समाप्त हुआ। पर युद्ध के माल का बँटवारा कैसे हो इस पर बाल्कन राज्यों में पुनः झगड़ा छिड़ गया। बल्गेरिया और सर्बिया मे पुन. युद्ध चल पड़ा। इसमें बल्गेरिया विजयी हुआ। पर सर्बिया का समर्थन यूनान, रूमानिया और टर्की ने किया और बल्गेरिया पर चारों ओर से आक्रमण हुआ और अन्त में बुखारेस्ट (Bucharest) की सन्धि हुई (1913)। इसमे बल्गेरिया का बहुत-सा भाग सर्बिया, टर्की एव रूमानियाँ में बँट गया।

इस सन्धि से आस्ट्रिया के बिस्तार का मार्ग रुक ही नहीं गया बल्कि जो सर्व उसके क्षेत्र में बसते थे, वे सर्बिया की ओर अपनी स्वतन्त्रता के लिए देखने लगे। इससे आस्ट्रिया और सर्बिया में शत्रुता बढ़ गयी। आस्ट्रिया और जर्मनी की मित्रता थी अतः आस्ट्रिया की पीठ पर जर्मनी था। जर्मनी और रूस में 1878 की बर्लिन की कांग्रेस के बाद शत्रुता चल पड़ी थी। फ्रांस भी जर्मनी से 1870-71 की हार का बदला लेना चाहता था। इस प्रकार समस्त यूरोप ने फूस का ढेर लगा लिया था, बस चिंगारी की कसर थी।

(8) राष्ट्रवाद (Nationlism)—19वी शताब्दी में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना मे बड़ा सहयोग दिया था। 20वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही यूरोपीय देशा म राष्ट्रीयता की भावना

---

1 Economic Imperialism was also responsible for the war. Economic imperialism leads to international rivalrism." —*V. D. Mahajan*

सर्वप्रिय बन चुकी थी। जर्मनी इसका गढ़ था। अन्य राष्ट्र भी राष्ट्रीय स्वार्थों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अन्य राष्ट्रों के हितों की अवहेलना में सघर्षरत थे। सर्बिया, रूस अथा आस्ट्रिया में में सर्व लोग बसे थे। रूस इन सर्वों का पक्ष लेकर आस्ट्रिया में बसे सर्वों (Serbs) को भड़का कर अपना उल्लू सीधा करना चाहता था। जर्मनी और आस्ट्रिया दो जर्मन राज्य थे अतः उनमें राष्ट्रवाद की गहरी जड़ें जमी थीं। राष्ट्रवाद ने भी प्रथम विश्व युद्ध को छेड़ने में पर्याप्त सहयोग दिया।

(9) तत्कालीन कारण—आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या (Immediate Cause-Murder of Austria's Prince)—यूरोप के राज्य बारूद के ढेर पर बैठे थे बस चिंगारी की कसर थी, इस कमी को आस्ट्रिया के युवराज्य, आर्क ड्यूक फर्डीनण्ड की हत्या ने पूरी कर दी। आस्ट्रिया और सर्बिया में शत्रुता चल रही थी। बोसीनिया (Bosnia) मे सर्वों का गुप्त संगठन था। आस्ट्रिया का राजकुमार दौरे पर गया हुआ था। वह बोसीनिया की राजधानी सराजेओ मे अपनी पत्नी के साथ जब पहुँचा तो एक सर्व द्वारा अपनी पत्नी सहित मार डाला गया। यह घटना 28 जून 1914 को घटी। यद्यपि इस घटना के पीछे सर्बिया की सरकार का कोई हाथ न था पर चूंकि वह हत्यारा एक सर्व था, अतः आस्ट्रिया ने समस्त सर्व जाति घोषित किया। हत्यारा आस्ट्रिया का नागरिक था पर सर्वजाति का होने के कारण आस्ट्रिया मे सर्वजाति के विरुद्ध तूफान उठ खड़ा हुआ और समस्त सर्वजाति को विनाश करने की बात कही जाने लगी। एक महीना बाद अर्थात 28 जुलाई 1914 को आस्ट्रिया सरकार ने सर्बिया को कठोर शर्तें रखकर उन्हें 48 घण्टे में मानने का अल्टीमेटम दिया। इगलैण्ड, फ्रांस और रूस ने आस्ट्रिया से आग्रह किया कि वह अवधि कुछ बढ़ा दे पर आस्ट्रिया अपनी जिद् पर अड़ा रहा। सर्बिया की सरकार ने यद्यपि आस्ट्रिया द्वारा रखी अनेक शर्तों को मान लिया पर कुछ शर्तें ऐसी थीं जो उसकी सम्प्रभुता का अन्त करती थीं अतः रूस के भड़काने पर उन्हें मानने से इन्कार कर दिया उसने यह भी आश्वासन दिया कि यदि आस्ट्रिया राजी हो तो इन शर्तों को हेग में महाशक्तियों के सामने वह निर्णय के लिए रख दें। आस्ट्रिया ने सर्बिया के उत्तर से असन्तुष्टता प्रकट की और युद्ध की तैयारी मे लग गया। रूस सर्बिया को रक्षा के लिए कटिबद्ध था उसने घोषणा कर दी कि यह मामला बाल्कन प्रश्न है और अब तक इसका निर्णय महाशक्तियों द्वारा होता रहा है, अतः इसे भी वहीं तय करेंगी। रूस की घोषणा से जर्मनी भी आगे बढ आया। उसने घोषणा की कि "यह मामला सर्बिया और आस्ट्रिया का निजी मामला है अतः तीसरी शक्ति को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं।" जर्मनी और आस्ट्रिया दोनों के मत को रूस ने स्वीकार किया और उसने सैनिक तैयारी प्रारम्भ कर दी। रूस की सेनायें आगे बढ़ी, उधर आस्ट्रिया की सेनाओं ने सर्बिया पर आक्रमण कर दिया क्योंकि उसे जर्मनी का आश्वासन प्राप्त था। युद्ध छिड़ गया। जर्मनी ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अभी इंगलैण्ड चुप था पर फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए जब जर्मनी ने वेल्जियम की तटस्थता भंग कर दी तो इगलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया।

उपसंहार (Conclusion)—प्रथम विश्व युद्ध का उत्तरदायित्व किस राष्ट्र पर डाला जाय ? यह कहना बड़ा कठिन है। प्रत्येक राज्य इसकी जिम्मेदारी एक दूसरे पर डाल रहा था। इंगलैण्ड का दोषारोपण जर्मनी एवं उसके साथियों पर था और जर्मनी इगलैण्ड को ही उसके लिए मुख्य दोषी ठहरा रहा था। चूंकि इंगलैण्ड के पास उस समय संचार की सारी सुविधायें थी अतः उसने ससार में जर्मनी को ही उसके लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार ठहराया परन्तु युद्ध के जो सामग्री प्रकाश में आयी उससे पता चलता है कि यह जिम्मेदारी किसी एक राष्ट्र पर जा सकती है।

प्रथम विश्व युद्ध के मुख्य परिणाम
(Chief Results of the First World War)

प्रथम विश्व युद्ध साढ़े चार वर्ष चला। मित्र राष्ट्रों को अन्त में सफलता मिली और जर्मनी एवं उसके साथी राष्ट्र बुरी तरह हारे। जन धन की अपार हानि हुई। जर्मनी का राजतन्त्र समाप्त हुआ और वहाँ गणतन्त्र की स्थापना हुई। यूरोप का ढांचा ही बदल गया। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक राजनीतिक परिणाम भी निकले। यहाँ मुख्य परिणाम दिये जाते हैं—

(1) जर्मनी तथा अनेक मित्रों की पराजय (Defeat of Germany and her allies)—जर्मनी ने जो सफलता विस्मार्क काल में प्राप्त की थी वह सब धूल में मिल गयी। एकीकरण के समय जो सैनिक सफलतायें प्रशिया को मिली थीं। संयुक्त जर्मनी ने उसी को आदर्श बनाकर समस्त यूरोप को विजय करने की आकांक्षा की, इतना ही नहीं उसने विश्व में सर्वोच्च स्थान पाने का प्रयत्न किया। कैसर विलियम बढ़कर बातें किया करता था। पर प्रथम विश्व युद्ध ने उसके घमण्ड को चूर कर दिया, उसे जान बचाकर भागना पड़ा। उसने अपने राजतन्त्र का तो अन्त किया ही, साथ में जर्मनी को भी 40 वर्ष पीछे खदेड़ दिया।

इटली ने युद्ध के बीच जर्मनी को धोखा दिया और मित्र राष्ट्रों से मिल गया। आस्ट्रिया और टर्की के बड़े बड़े साम्राज्य छोटे कर दिये गये टर्की में खिलाफत का अन्त हो गया।

(2) जन धन की हानि (Loss of Wealth and Human power)—प्रथम विश्व युद्ध में 36 राज्य मित्र राष्ट्रों के पक्ष में थे। जर्मनी की ओर से लगभग दो करोड़ और मित्र राष्ट्रों की ओर से लगभग 4 करोड़ सैनिकों ने युद्ध में भाग लिया। युद्ध में 1 करोड़ 30 लाख सैनिक मारे गये। 17 लाख घायल अपग हो गये, करोड़ों सैनिक एवं असैनिक भी घायल हुए। इस युद्ध में धन की अपार हानि हुई। दोनों पक्षों की ओर से 4 वर्षों में 1 अरब 6 करोड़ डालर की राशि व्यय की गयी। सब प्रकार की हानि 2 अरब 70 लाख डालर के लगभग थी। अनेक राज्य तो दिवालिये हो गये तथा अरबों की धन राशि उनको कर्ज लेनी पड़ी। उद्योग-धन्धे ठप्प हो गये। मजदूरों में बेकारी फैली। मानव की क्रय शक्ति घट गयी। मजदूरी बढ़ गयी और मुद्रा का अवमूल्यन हो गया। इसका प्रभाव व्यापार पर पड़ा और यूरोप का आर्थिक ढांचा बिगड़ गया। इस युद्ध में भारत को भी अपार जन-धन की हानि उठानी पड़ी।

(3) राजनीतिक परिणाम (Political Results)—कुछ विद्वानों का कहना था कि 1914-18 का युद्ध केवल एक युद्ध न था बल्कि एक क्रान्ति थी। राज्यों की शासन पद्धतियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। युद्ध ने प्रथम राजतन्त्रों पर प्रहार किया। अनेक देशों से राजतन्त्र व्यवस्था का लोप हो गया। प्रजातन्त्र पहले दो चार राज्यों में ही था पर अब अनेक राज्यों ने प्रजातन्त्र व्यवस्था को अपनाया। जर्मनी, रूस, तुर्की, आस्ट्रिया हंगरी में राजतन्त्रों का अन्त हुआ। उनके साम्राज्य में कमी हुई, निरंकुश शासकों के अधिकार छीन लिए गये। गणतन्त्रों की स्थापना हुई और जनता के हाथ में प्रभुसत्ता आयी थी। जो अपने प्रतिनिधियों द्वारा उसका उपयोग करने लगी।

यद्यपि युद्ध को जन्म देने में राष्ट्रीयता ने जबरदस्त भाग लिया था पर युद्ध के बाद वह घटने के स्थान पर वह यूरोप की परिधि को पार कर विश्वव्यापी हो गयी। इसी राष्ट्रीयता के आधार पर यूरोप में ही अनेक छोटे-बड़े राज्यों की स्थापना हुई। राष्ट्रीयता ने पराधीन देशों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न की और वे स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन चलाने लगे।

युद्ध का परिणाम यह भी हुआ कि कुछ राज्यों में तानाशाही की स्थापना हुई। जर्मनी, इटली, रूस आदि में तानाशाही शासन स्थापित हुए। राजाओं से भी यह तानाशाह अधिक निरंकुश

एवं अत्याचारी थे। इनमें प्रजातन्त्र का विनाश हुआ, व्यक्ति का महत्त्व घटा और समाज या राज्य को ही साध्य माना जाने लगा।

अधिनायकवाद ने पुनः सैनिकवाद को बढ़ाया। जर्मनी, इटली, रूस में सैनिक प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी। विज्ञान की उन्नति से अनेक संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ। राष्ट्रों में पुनः कटुता फैली।

(4) आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन (Economic and Social Changes)—महायुद्ध का प्रभाव आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों पर भी पड़ा। युद्ध में अरबों डालरों को व्यय करके यूरोप की शक्तियाँ आर्थिक दृष्टि से बहुत कमजोर हो गयीं, करों का भार जनता पर पड़ने लगा। महगाई, बेरोजगारी और मुद्रा स्फीति से लोगों का जीवन-स्तर नीचा होने लगा, लोगों की क्रय शक्ति घट गयी। सामाजिक और धार्मिक जीवन पर भी असर पड़ा। धर्म के प्रति आस्था भी कम हो गयी और अनैतिकता ने समाज मे भ्रष्टाचार एवं दुराचार का बोलबाला कर दिया। स्त्रियों ने भी अपने अधिकार माँगने प्रारम्भ कर दिये।

(5) नवीन विचारधाराओं का जन्म (Birth of New Ideologies)—यद्यपि मार्क्स एवं उसका लिखा ग्रन्थ 19वीं शताब्दी की बात थी पर 20वीं शताब्दी में मार्क्सवाद जोरों से फैला। 1917 मे युद्ध के दौरान ही रूस में साम्यवादी क्रान्ति हो गयी। यह विचारधारा पूँजीवाद, धर्मवाद, प्रजातन्त्रवाद तथा राष्ट्रवाद की विरोधी थी। गरीबों और मजदूरों के पक्ष में पूँजीपतियों का विनाश चाहती थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद प्रत्येक देश में साम्यवादी राजनीतिक दल उत्पन्न हुए जो देश में क्रान्ति द्वारा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए पुरानी शासन व्यवस्था को उलटना चाहते थे। इन राष्ट्र विरोधी कार्यों से कुछ नेताओं ने अपना लाभ उठाना चाहा। उन्होंने उग्र राष्ट्रवाद का नारा लगाया। इन नवीन विचारधाराओं का नाम फासीवाद और नाजीवाद था जो इटली और जर्मनी मे फैली।

(6) द्वितीय विश्व युद्ध की सम्भावना (Possibility of Second World War)—प्रथम विश्व युद्ध मे जर्मनी के साथ घोर अत्याचार किया गया। उसे वर्साय की अपमानजनक सन्धि को सैनिक शक्ति के दबाव से मानने को विवश किया गया। जर्मनी के ऊपर भारी युद्ध हर्जाना थोपा गया और साथ साथ उसके खनिज पदार्थों एवं उत्पादन क्षेत्रों पर भी मित्र राष्ट्रों ने कब्जा कर लिया। 10 वर्ष तक जर्मनी घोर कष्ट सहता रहा। अन्त मे घोर निराशा में उसे हिटलर जैसा नेता मिला जिसने जर्मनी में उत्साह भरा, बदला लेने की भावना भरी, राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए कष्ट सहने के लिए लोगों को तैयार किया। इटली भी मित्र राष्ट्रों से निराश था। इस असन्तोष से मुसोलिनी ने भी लाभ उठाया और उग्र राष्ट्रवाद और सैनिकवाद फैलाया, इटली, जर्मनी और जापान तीनों ने सन्धि कर पुनः द्वितीय विश्व युद्ध को आमन्त्रित किया।

(7) अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास (Growth of Internationalism)—जर्मनी, आस्ट्रिया और टर्की को हराने के लिए 32 राष्ट्रों ने सहयोग दिया था। संयुक्त राज्य अमेरिका भी प्रथम बार यूरोपीय राजनीति में आया। उसके राष्ट्रपति विल्सन ने 14 सूत्रों का प्रकाशन किया। उसमे एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का भी सूत्र था जो भावी युद्ध को रोकने का प्रयास करेगा। युद्ध की समाप्ति पर विल्सन भी पेरिस शान्ति सम्मेलन में सम्मिलित हुआ और वर्साय की सन्धि का मसविदा बनाते समय, उसमें राष्ट्र संघ का मसविदा भी जोड़ दिया। इस प्रकार राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना हुई। इसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रों के मध्य मित्रता, सहयोग एवं सद्भावना उत्पन्न करना था। युद्ध को रोकने के लिए राज्यों को आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए शान्ति वार्ता, मध्यस्थता, समझौते के साधनों पर जोर देना था। नेपोलियन युद्धों के बाद यूरोपीय मामलों को सुलझाने के लिए जैसे यूरोप कन्सर्ट बना था वैसा ही यह राष्ट्र संघ था जो वास्तव में अन्तर्रा

संगठन था। पर यूरोपीय राज्यों के राष्ट्रीय स्वार्थ, सम्प्रभुता के सिद्धान्त, सैनिकवाद, निरंकुशवाद एवं अधिनायकवाद ने इसे सफल न होने दिया।

मित्र राष्ट्रों में गुप्त सन्धियाँ
(Secret Treaties among Allied Nations)

इंगलैण्ड ने यूरोप में शक्ति-सन्तुलन के कायम करने के लिए अनेक सन्धियाँ की थीं पर युद्ध को टाला न जा सका। युद्ध जब प्रारम्भ हो गया तब मित्र राष्ट्रों ने उसे जीतने का प्रयास किया। जर्मनी तथा उसके साथियों ने युद्ध में भयानक संहार किया। मित्र राष्ट्रों ने अपने को बचाने के लिए विरोधियों का सफाया करना प्रारम्भ किया और भावी खतरे को बचाने के लिए उन्हें पूर्ण रूप से पराजित करने का संकल्प लिया। अन्य सैनिक साधनों के अलावा मित्र राष्ट्र ने आपस में अनेक गुप्त सन्धियाँ भी कीं। इन सन्धियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :

(1) **1915 की लन्दन सन्धि** (London Pact of 1915)—1915 में 26 अप्रैल को लन्दन में एक सन्धि की गयी जिसमें ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली एवं रूस सम्मिलित हुए। इस सन्धि का मुख्य उद्देश्य था इटली को शत्रु पक्ष से तोड़कर अपनी ओर मिलाना। इटली से वायदा किया गया कि युद्ध की विजय के बाद उसे ट्रीस्टे, डालमेशिया, गोरिजिया, इस्ट्रियन प्रायद्वीप एवं दक्षिणी टिरोल इत्यादि दे दिया जायगा और पोप से झगड़ा होने पर इटली को सहायता की जायगी। इन प्रलोभनों में आकर इटली ने जर्मनी का साथ छोड़ दिया और मित्र राष्ट्रों से मिल गया। युद्ध के पश्चात राष्ट्रपति विलसन ने इस गुप्त सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया।

(2) **टर्की से सम्बन्धित सन्धि** (Pact about Turkey)—इंगलैण्ड ने इटली को बचाने के लिए रूस आदि देशों से झगड़ा मोल लिया, यहाँ तक उसने रूस द्वारा रखे गये टर्की विभाजन के प्रस्ताव को भी स्वीकार न किया। इतना होने पर भी टर्की ने इंगलैण्ड का साथ छोड़ जर्मनी का पक्ष लिया। इंगलैण्ड इस कारण टर्की से चिढ़ गया। इंगलैण्ड को अब टर्की की अखण्डता में रुचि न रही। इंगलैण्ड का रुख देखकर मित्र राष्ट्रों ने टर्की के विभाजन की योजना बनायी। मार्च 1915 को फ्रांस, रूस और इंगलैण्ड ने इस योजना पर हस्ताक्षर कर दिये। इस योजना के अन्तर्गत फ्रांस को सीरिया; इंगलैण्ड को फिलिस्तीन, ईराक तथा इफरात की घाटी तथा रूस को कुस्तुन्तुनिया का नगर तथा टर्किस्ट स्टेट इस शर्त पर दिया जाना था कि वह नगर तथा स्टेट को स्वतन्त्र व्यापार को खुला रखेगा।

(3) **रुमानिया के साथ सन्धि** (Treaty with Rumania)—प्रथम विश्व युद्ध में रुमानिया दो वर्षों तक तटस्थ रहा। मित्र राष्ट्र उसे अपनी ओर मिलाना चाहते थे। रुमानिया ने कुछ शर्तों को मित्र राष्ट्रों के सामने रखा। अगस्त 1916 को मित्र राष्ट्रों और रुमानिया में एक सन्धि हो गयी जिसके अनुसार बुकोविना तथा ट्रांसिल्वेनिया युद्ध के बाद रुमानिया को मिलना था। इस सन्धि के बाद रुमानिया मित्र राष्ट्रों की ओर से लड़ने लगा।

(4) **साइक्स-पीको समझौता** (Sykes-Picot Pact)—16 मई 1916 को सर मार्क साइक्स ने ब्रिटेन की ओर से तथा जार्जेट पीको ने फ्रांस की ओर से एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। बाद में रूसी सरकार द्वारा भी इस समझौते का अनुमोदन कर दिया गया। इस समझौते के अनुसार फ्रांस और इंगलैण्ड ने टर्की को आपस में बाँट लिया, अरब को दोनों सरकारों ने स्वतन्त्र घोषित किया, परन्तु अरब देशों में दोनों सरकारों को विशेष अधिकार मिलने चाहिए थे। इसके अतिरिक्त समझौते में फ्रांस को सीरिया का सम्पूर्ण प्रदेश, लेबनान, मोसल, एशिया माइनर, सेलिश्या प्रदेश प्राप्त होने थे तथा ब्रिटेन को शेष ईराक राज्य का भाग तथा फिलिस्तीन का एक जिला और ट्रांस जोर्डन का आधुनिक राज्य प्राप्त होना था। इस प्रकार टर्की के विभाजन की पूर्ण योजना बन गयी थी।

(5) सेण्ट जीनडे मारों की सन्धि (Treaty of St Jeande Maurienn)—इटली को किसी प्रकार साइक्स-पीको की सन्धि का पता चला तो उसने भी टर्की का कुछ भाग माँगा। इटली को सन्तुष्ट करने के लिए 17 अप्रैल 1917 को सेण्ट जीनडे मारों की सन्धि की गयी। इटली को युद्ध के बाद टर्की का समर्ना (Symerna) का जिला मिलना था। यह सन्धि भी बेकार रही क्योंकि 'समर्ना' युद्ध के बाद यूनान को दिया गया।

(6) ब्रिटेन एवं जापान की सन्धि (Treaty between Britain and Japan)—फरवरी 1917 को ब्रिटेन और जापान के मध्य एक सन्धि हुई जिसमे जापान द्वारा सहायता करने पर उसे प्रशान्त महासागर में शान्टुंग तथा भूमध्य रेखा के उत्तर में जर्मनी के अन्य भाग भी मिलने थे। जापान ने युद्ध में भाग न लिया पर इन जर्मन प्रदेशों पर कब्जा अवश्य कर लिया।

(7) फ्रांस एवं रूस में समझौता (Pact between France and Russia)—मार्च 1917 में फ्रांस और रूस में एक गुप्त समझौता हुआ जिसमें रूस ने फ्रांस का अधिकार अलसास और लारेन्स पर मान लिया तथा सार की घाटी और राइन लैण्ड के प्रदेशों को प्राप्त करने के लिए फ्रांस की सहायता करने का वचन दिया। फ्रांस ने बदले मे जर्मनी एवं आॅस्ट्रिया के कुछ प्रदेशों पर रूस के अधिकार को मान्यता देने का बचन दिया।

इस प्रकार मित्र राष्ट्रों ने युद्ध जीतने के लिए अनेक गुप्त सन्धियाँ कर अपने गठबन्धन को मजबूत कर लिया और युद्ध जीतने से पहले ही से शत्रु प्रदेश को बाँट लिया था। युद्ध की समाप्ति पर जब पेरिस का शान्ति सम्मेलन हुआ तो इन गुप्त सन्धियों की पुष्टि ही करनी शेष थी विल्सन की इच्छानुसार सन्धि न हो सकी।

पामर तथा प्राकिन्स के मतानुसार, "पेरिस में राजनीतिज्ञ अपने-अपने एक दूसरे से किये गये वायदो से परिचित थे जिनके बिना कोई विजय न मिलती। वे अपने युद्ध के उद्देश्यों के प्रति दिये गये वक्तव्यों को जानते थे, उन्होंने अपनी राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन करने वाले भाषणो का, रूसी क्रान्ति के द्वारा फैली हुई अशान्ति तथा अनेक प्रकार की बाधाओ का जो कि उनके प्रभाव को कम करने वाली थी, सब बातों का ध्यान रखा। पेरिस शान्ति के पीछे कठिन परिस्थितियों में किये गये समझौतों का अधिक हाथ था।"

पेरिस का शान्ति-सम्मेलन
(Paris Peace Conference)

शान्ति की समस्या (Problems of Peace)—जर्मनी ने 1918 मे मित्र राष्ट्रों के आगे आत्मसमर्पण कर दिया। अब मुख्य समस्या शान्ति की स्थापना की थी। इस पर विचार करने के लिए जनवरी 1919 मे पेरिस में शान्ति सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन के सामने अनेक समस्याएँ थीं। ये समस्याएँ अनेक प्रकार की थीं—राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जो इतना जटिल थी कि इससे पूर्व कभी संसार के सामने नही उपस्थित हुई थीं। सबसे बड़ी और जटिल समस्या स्थायी शान्ति की व्यवस्था करने की थी। समस्त संसार में वातावरण अभी तक घृणा एव कटुता से भरा हुआ था अतः शान्ति स्थापना का कार्य बड़ा उलझाने वाला था। युद्ध संचालन की अपेक्षा यह कार्य अधिक कठिन था। विध्वंश करना आसान होता है पर शान्ति स्थापना का कार्य बड़ा गम्भीर और अधिक समय लेने वाला होता है। इसके अलावा शान्ति सम्मेलन बुलाने मे कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पहली कठिनाई यह थी कि दूर-दूर से प्रतिनिधियों के आने की व्यवस्था कैसे हो क्योकि युद्ध के कारण आवागमन के साधन क्षत-विक्षत हो गये थे। दूसरा कारण यह था कि दो महाशक्तियों के प्रतिनिधि सम्मेलन में शीघ्र नहीं आ सकते थे अतः पेरिस मे सम्मेलन प्रारम्भ करने में बड़ा विलम्ब होना सम्भव था। अमेरिका राष्ट्रपति विल्सन का आना आवश्यक था और वे मध्य दिसम्बर से पूर्व नहीं आ सकते थे। द.

के प्रधानमन्त्री लाइड जार्ज चाहते थे कि आम चुनाव शान्ति सम्मेलन से पूर्व ही सम्पन्न हो जायें। उन्होंने 14 दिसम्बर 1918 को आम चुनाव की घोषणा कर दी। इसके बाद भी मन्त्रिमण्डल गठन करने में कुछ समय लगना था। इन सब कठिनाइयों के कारण शान्ति सम्मेलन की प्रथम बैठक रखने में युद्धविराम की तिथि से 2 महीने का समय बीत गया। इसके अतिरिक्त शान्ति सन्धियों में समय भी बहुत अधिक लगा। युद्ध तो केवल 5 वर्ष 15 सप्ताह चला पर शान्ति सन्धियों के करने में लगभग 5 वर्ष का समय लगा।

एक समस्या यह भी थी कि मित्र राष्ट्र जर्मनी के साथ युद्ध करने में 1913 तक अपनी तैयारियाँ करते रहे थे, उन्हें यह आशा नहीं थी कि जर्मनी इतनी जल्दी हथियार डाल देगा। 11 नवम्बर 1918 को जब विराम सन्धि हुई तो तुरन्त युद्ध-स्थिति से शान्ति-स्थिति में आना बड़ा कठिन था क्योंकि एकदम मस्तिष्कों को जो घृणा, वैमनस्यता एव ईर्ष्या से गर्म थे, उन्हें ठण्डा करना सम्भव न था।

शान्ति सम्मेलन की तैयारी (Preparation of Peace Conference)—युद्ध के पश्चात् ही प्रत्येक युद्धरत राष्ट्र ने शान्ति सम्मेलन में भाग लेने की तैयारी प्रारम्भ कर दी। विभिन्न देशों के विदेश मन्त्रालयों ने तरह तरह के तथ्य एवं आँकड़े एकत्र करने प्रारम्भ कर दिये। इस कार्य के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन ने अनेक विशेषज्ञ नियुक्त किये। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक राष्ट्रों ने सम्मेलन में प्रस्तुत करने के लिए अनेक तथ्यों और आँकड़ों को एकत्र करने मे काफी धन, समय और परिश्रम लगाया था पर शान्ति सम्मेलन में इन तथ्यों और आँकडों का समुचित रूप से उपयोग न हो सका। इसका कारण यह था कि सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधि अत्यन्त असामान्य परिस्थितियों में एकत्रित हुए थे और उनके सामने इतनी समस्याएँ थीं कि वे उन तथ्यों और आँकड़ों का उचित प्रयोग न कर सके। सम्मेलन मे विजेता राष्ट्रों का ही प्रतिनिधित्व था जो बदले की भावना से सम्मेलन में आये थे, उनमें घृणा और उत्तेजना भरी थी अतः शान्ति करते समय उन्होंने विल्सन के निर्देशों की चिन्ता न की। शान्ति-सम्मेलन का स्थान भी पेरिस चुना गया जो फ्रांस की राजधानी थी जिस पर युद्ध का घातक प्रभाव पड़ा था अतः फ्रांस के प्रतिनिधि शत्रु देशों को बिल्कुल नष्ट करने पर तुले थे।

पेरिस को सम्मेलन का स्थान क्यों बनाया गया? (Why Paris was Selected for the Conference)—एक प्रश्न यह भी उठता है कि शान्ति सम्मेलन के लिए पेरिस का स्थान ही क्यों चुना गया? इसका प्रथम कारण था कि युद्धविराम सन्धि की घोषणा पेरिस में ही की गयी थी। सर्वोच्च युद्ध परिषद के कार्यालय पेरिस में ही स्थित थे। दूसरा कारण यह भी था कि पेरिस मे ही पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया आदि देशों की "निर्वासित सरकारें" थीं। एक अन्य कारण यह भी था कि फ्रांस 1870 की हार का बदला लेने के लिए जर्मनी को पेरिस मे ही अपमानित करना चाहता था। इससे उसका विचार था कि उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। परन्तु यह वास्तव में एक भूल थी। पेरिस मे सम्मेलन होने के कारण जर्मनी के साथ न्यायपूर्ण सन्धि नहीं हो सकी। यह बात अन्य राज्यों के लिए सही भले न हो परन्तु जर्मनी के साथ जो कुछ भी हुआ उससे इस बात की सत्यता प्रकट होती है।

पेरिस में प्रतिनिधियों का एकत्र होना (Assemblage of Representatives in Paris)—1919 के प्रारम्भिक दिनों में पेरिस में शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों ने आना आरम्भ कर दिया। विजेता देशों के कुल 32 प्रतिनिधि दल पेरिस में उपस्थित हुए। इनकी संख्या सैकड़ों में पहुँच गयी थी। इनमें प्रधानमन्त्री, मन्त्री, राजनयिज्ञ, राजनेता, कानून विशारद, आर्थिक विशेषज्ञ, सैनिक, पूँजीपति, मजदूर नेता संसद सदस्य एवं प्रमुख नागरिक थे। इन प्रतिनिधियों के अतिरिक्त ससार के कोने-कोने के पत्र-प्रतिनिधि एव संवाददाता

भी पेरिस पहुँच गये थे। पेरिस की रौनक देखने योग्य थी। सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन, 11 देशों के प्रधानमन्त्री, 12 देशों के विदेशमन्त्री आदि पेरिस आये थे। इस विशिष्ट जनसमूह में कुछ व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं—ब्रिटेन के लाइड जार्ज, बिलफोर और बोनरलॉ, अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, लांसिंग और कर्नल हाउस; फ्रांस के क्लिमेंशो, पिशो, टारडियू एवं कैम्बो; इटली के आरलैंडो और सोनिनो; बेल्जियम के ह्यूंइमन्स; पोलैण्ड के डिमोस्की; यूगोस्लाविया के पाशिच; चैकोस्लोवाकिया के बेनेस; यूनान के वेनिजेलोस तथा दक्षिणी अफ्रीका के जनरल स्मट्स और बेथा आदि।

इन प्रतिनिधियों में पराजित देशों का कोई प्रतिनिधि न था और रूस का भी कोई प्रतिनिधि न था। चूँकि रूस में क्रान्ति हो गयी थी (1917) और वहाँ नयी शासन व्यवस्था स्थापित हो गयी थी। मित्र राष्ट्रों ने साम्यवादी रूस को सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाय या नहीं, यह विषय कई दिन तक वाद-विवाद का विषय बना रहा। राष्ट्रपति विल्सन का मत था कि रूस को आमन्त्रित करना आवश्यक है, क्योंकि उसके प्रतिनिधित्व के बिना कोई भी यूरोपीय व्यवस्था स्थायित्व न पा सकेगी पर फ्रांस के क्लिमेंशो रूस को आमन्त्रित करने के लिए बिल्कुल तैयार न थे। ब्रिटेन ने विल्सन का समर्थन किया अतः यह निश्चय हुआ कि शान्ति सम्मेलन प्रारम्भ करने के पूर्व रूस के प्रतिनिधियों को एक पृथक सम्मेलन में बुलाया जाय और उनसे वार्ता करने के बाद किसी निश्चय पर पहुँचा जाय। जब रूस के सामने यह प्रस्ताव रखा गया तो उसने उसे ठुकरा दिया अतः रूस का प्रतिनिधि शान्ति सम्मेलन में सम्मिलित नहीं हुआ।

पराजित राज्यों के प्रतिनिधियों को इसलिए नहीं बुलाया गया कि 1815 के वियना सम्मेलन का कटु अनुभव प्रतिनिधियों के सामने था। फ्रांसीसी प्रतिनिधि तेलरां ने वियना कांग्रेस में विजेताओं में फूट डाल दी थी। पर यह निर्णय भी न्याय युक्त न था। यदि जर्मन प्रतिनिधियों को सम्मेलन में बुला लिया जाता तो सम्भव था कि वर्साय की सन्धि इतनी कठोर, दोषपूर्ण एवं अस्थायी न होती।

शान्ति-सन्धि के मुख्य कर्णधारों का परिचय
(Introduction of Main Makers of Peace Settlement)

1919 में जो शान्ति सन्धियों के मसविदे बनाये गये उनमें 4 महाशक्तियों के प्रमुखों का हाथ था। अतएव उनका यहाँ संक्षिप्त परिचय दे देना उचित रहेगा। इन चार व्यक्तियों में अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री लाइड जार्ज, फ्रांस के प्रधानमन्त्री क्लीमेंशो तथा इटली के प्रधानमन्त्री आरलैंडो थे।

(1) वुडरो विल्सन (Woodraw Wilson)—प्रथम विश्व युद्ध के प्रमुख विजेताओं में संयुक्त राज्य अमेरिका को स्थान दिया जाता है। अमेरिका के बिना मित्र राष्ट्रों को विजय प्राप्त होना बहुत ही कठिन होता है। इसके बाद पेरिस शान्ति सम्मेलन में भी अमेरिका का प्रतिनिधि विल्सन अपनी योग्यता एवं प्रतिभा के कारण पूर्णतया छाया रहा। वह एक आदर्शवादी व्यक्ति था और मानव जाति के प्रति उसके हृदय में दया का भण्डार भरा हुआ था। उसे हम शान्ति का अग्रदूत कह सकते हैं।

राष्ट्रपति विल्सन ने प्रथम युद्ध में नारा लगाया था कि "प्रथम विश्व युद्ध प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा था" (First World War was fought to save democracy)। वह प्रथम विश्व युद्ध को "युद्धान्त युद्ध" (War to end war) मानता था। उसने यह भी घोषणा की थी कि युद्ध के पश्चात शान्ति सन्धि की शर्तों में सभी राष्ट्रों के साथ समानता का व्यवहार किया जायगा। इस घोषणा से सभी राष्ट्र प्रभावित हुए थे। उसने पराजित राष्ट्रों के घोषणा की थी कि उनके साथ न्याय का व्यवहार किया जायगा। आत्मनिर्णय के लिए

अमल किया जायगा, किसी भी राष्ट्र को उसकी इच्छा के विरुद्ध दूसरे राष्ट्र के साथ नहीं मिलाया जायगा, न उससे युद्ध हर्जाने के तौर पर कोई धनराशि मांगी जायगी। विल्सन ने युद्ध के पश्चात एक सुन्दर संसार की रचना की योजना बनायी थी। यह योजना राष्ट्र संघ की स्थापना के रूप में प्रकट हुई। जर्मनी इतनी जल्दी हथियार न डालता यदि विल्सन इतने वायदे न करता। वास्तव में विल्सन के वायदे के पीछे धोखे या छल की बात न थी, वह पराजितों के प्रति सहानुभूति रखता था और ऐसी सन्धि करना चाहता था, जिससे विजेता और विजितों में कोई असन्तोष न रह पाये क्योंकि स्थायी शान्ति के लिए यह आवश्यक था।

डा० दीनानाथ वर्मा के मतानुसार "इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर वह युद्धोत्तर विश्व का निर्माण करना चाहता था। अतएव युद्ध के बाद शान्ति-सन्धि के सम्बन्ध में उसकी अपनी एक आदर्शवादी धारणा थी जिसकी व्याख्या उसने 8 जनवरी 1918 को अमेरिकन कांग्रेस में भाषण देते समय की थी। इस भाषण में उसने अपने प्रसिद्ध 14 सूत्रों का प्रतिपादन किया था।"

विल्सन के 14 सूत्र निम्नलिखित थे :—

(i) खुले ढंग से खुली शान्ति की जाये। शान्ति की सन्धि में गोपनीयता नहीं हो।

(ii) युद्ध के दौरान तथा शान्ति वार्ता के काल में सामुद्रिक आवागमन में पूर्ण स्वतन्त्रता हो।

(iii) यथासम्भव समस्त आर्थिक अवरोध हटाये जायें अर्थात् राष्ट्रों के मध्य में अ दीवार न खड़ी की जाय।

(iv) अस्त्र-शस्त्रों को निम्नतम सीमा तक घटा दिया जाय जिससे राष्ट्रों के ब हथियारों की होड़ बन्द हो।

(v) जनता की इच्छा और हितों पर पूरा ध्यान रखते हुए उपनिवेश सम्बन्धी समस्याओं का उचित और निष्पक्ष फैसला हो।

(vi) रूस के प्रदेशों को खाली कर दिया जाय और अपने राजनीतिक विकास और राष्ट्रीय नीति के निर्धारण की उसकी स्वाधीनता को मान्यता दी जाय।

(vii) बेल्जियम को खाली कर दिया जाय, उसकी तटस्थता को मान्यता दी जाय तथा उसकी प्रभुसत्ता को सीमित करने का प्रयास न किया जाय।

(viii) सम्पूर्ण फ्रांसीसी प्रदेशों को मुक्त कर दिया जाय, उसके वे प्रदेश जिन पर विदेशियों का अधिकार हो लौटा दिये जाये। 1871 में उसके प्रदेश-एलसस-लारेन लेकर उसके साथ जो अन्याय हुआ था, उसको समाप्त किया जाय।

(ix) राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को लेकर इटली की सीमाओं का पुनर्निर्धारण किया जाय।

(x) आस्ट्रिया के साम्राज्य के विविध जातियों के राष्ट्रीय विकास का समुचित प्रबन्ध किया जाय।

(xi) रूमानिया, सर्बिया और मान्टीनीग्रो को खाली कर दिया जाय। उनके जन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया है, उन्हें लौटा दिया जाय, सर्बिया को समुद्र तट तक पहुँचने की सुविधा दी जाय। ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर बाल्कन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित किया जाय।

(xii) तुर्की साम्राज्य को अपने वास्तविक भूभाग पर बने रहने दिया जाय, परन्तु तुर्की के शासन में रहने वाली अन्य जातियों के स्वतन्त्र विकास का समुचित प्रबन्ध किया जाय, डार्डनेल्स को स्थायी रूप से सभी राष्ट्रों के लिए खोल दिया जाय जिससे सभी देशों को जहाजों एवं व्यापार के लिए यातायात का खुला मार्ग प्राप्त हो सके।

(xiii) एक ऐसे स्वतन्त्र पोल राज्य की स्थापना की जाय जिसमें पोल जाति के सभी लोग यथासम्भव सम्मिलित हो सकें। उन्हें समुद्र तट तक पहुँचाने के लिए स्वतन्त्र और सुरक्षित मार्ग प्राप्त हो सके और एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता कर पोलैण्ड की स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता की गारण्टी दी जाय।

(xiv) राष्ट्रों का एक आम संघ कायम किया जाय जिसके द्वारा बड़े और छोटे राज्यों को समान रूप से राजनीतिक स्वाधीनता और प्रादेशिक अखण्डता का पारस्परिक आश्वासन प्राप्त हो।

इन चौदह सूत्रों से भी विल्सन को सन्तोष न था। उसने 11 जनवरी 1918 को पुनः कांग्रेस के सामने अपने 'चार सिद्धान्तों" का प्रतिपादन किया। इसके बाद 4 जुलाई 1918 को माउण्ट वर्नो में भाषण देते हुए "चार लक्ष्यों" को घोषित किया और 27 सितम्बर, 1918 को न्यूयार्क में भाषण देते हुए उसने "पाँच व्याख्याओं" (Five Interpretations) की स्थापना की। विल्सन की उन सभी घोषणाओं का उद्देश्य केवल यही था कि वह शान्ति व्यवस्था करते हुए लोकतन्त्र, राष्ट्रवाद, आत्मनिर्णय और राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों का पालन करेगा। वह स्थायी शान्ति-व्यवस्था के लिए इन्हीं सिद्धान्तों को पालन करने पर जोर देता था।

हैरोल्ड निकल्सन (Harold Nicolson) के शब्दों में "इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर वह युद्धोत्तर विश्व को नया रूप देने का विचार रखता था। वह अपने को मानव जाति की नयी व्यवस्था देने वाला पैगम्बर मानता था। इन धारणाओं और मान्यताओं को लेकर शान्ति का यह मसीहा और प्लाटो की कल्पना का "दार्शनिक राजा" (Philosopher King) अपने देश की वैधानिक परम्परा को तोड़कर असीम जिम्मेदारी लेकर शान्ति-सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिका से यूरोप चला था। समस्त संसार में यही ऐसा व्यक्ति था जिस पर सभी लोगों की निगाहें टिकी हुई थीं। विजित और विजेता सभी उससे आशा रखते थे।

लार्ड जार्ज ने पेरिस में विल्सन के स्वागत का जो चित्र खींचा है वह बहुत ही सुन्दर है। उसने लिखा है कि "जब प्रथम दर्शन उसके पेरिस में हुए तो लाखों की जनता ने उसका भव्य स्वागत किया। गलियों में और प्रेस में उसका स्वागत उन्मादक था। सड़कों का नाम उनके ऊपर रखा गया, सीनेट चेम्बर ऑफ डिप्युटीज ने उसका सरकारी तौर पर स्वागत किया, उसकी इच्छा पर उसके रहने की व्यवस्था की गई, फ्रांस की सेवाओं ने उसकी रक्षा व्यवस्था की और फ्रांस के उत्तम वेण्ड ने उसको नगर की मुख्य सड़कों पर धूमधाम से घुमाया। ऐसा कोई भी सम्मान, विश्वास का चिन्ह और श्रद्धा नहीं थी जो उसके चरणों पर न चढ़ाई गई हो।"[1]

डा० दीनानाथ वर्मा का कहना है कि "वास्तव में, प्राचीन रोमन साम्राज्य की समाप्ति के बाद यूरोप के विल्सन जैसा शानदार स्वागत किसी दूसरे राज नेता को अभी तक प्राप्त न हुआ था।"

विल्सन को यूरोपीय कूटनीति का अनुभव न था। वह राजनीति के कटु सत्य से दूर रहने वाला व्यक्ति था। यूरोप का उसे इतना ज्ञान न था जो लाइडजार्ज, क्लिमेन्शो या आरलैण्डो को प्राप्त था। ये तीनों राजनेता उतने आदर्शवादी भी न थे जितना कि विल्सन था। विल्सन राष्ट्र

---

[1] "He was received in Paris on his first appearance with an organised adulation of applause in the streets and in the Press which was intoxicating. Streets were named after him, Senate and Chamber of Deputies gave him official *welcome, a palace was placed at his disposal, the picked regiment of France* provided him escorts and their best band played him through most impressive avenues of the city. There was not an honour, not a mark of trust and devotion which was not laid at his feet."

—Dr. Lloyd George : *Truth About Peace Treaties.*

संघ पर बहुत जोर देता था और विश्व समस्याओं का एक मात्र हल राष्ट्र संघ की स्थापना को मानता था। परन्तु उसके साथी अपने स्वार्थों को पहले पूर्ण करना चाहते थे। एक बार आरलैंडो से पूछा गया कि 'राष्ट्र संघ के बारे में आपका क्या मत है तो वह बोला, "हम निस्सदेह राष्ट्र संघ का स्वागत करेंगे, किन्तु फ्यूम का प्रश्न पहले निर्णय होना चाहिए।

दुर्भाग्य का विषय है कि विलसन के प्रभाव, बुद्धिमता एवं प्रतिभा का लाभ सम्मेलन के अन्य प्रमुख राजनीतिज्ञों ने उठाया। विलसन तो राष्ट्र सघ के निर्माण के लिये अपने 14 सूत्रों के भी त्यागने के लिये तैयार था। इससे अन्य देशों के राजनेताओं ने लाभ उठाया। वर्डसल लिखता है कि "क्षति पूर्ति की समस्या के अतिरिक्त अन्य सभी प्रश्नों पर ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान विलसन से राष्ट्र सघ के नाम पर प्रायः अपनी अधिकांश बातें मनवाने में सफल हुये।" इतना होने पर सम्मेलन में जो थोड़ी बहुत सहानुभूति पराजितों के प्रति दिखाई दी वह सब विलसन के कारण थी। यदि विलसन न होता तो क्लिमेन्शो क्या से क्या न कर देता।

कुछ लोगों का मत है कि विलसन को स्वयं शान्ति सम्मेलन में नही आना चाहिये था, बल्कि अपना प्रतिनिधि भेजना चाहिये था। कोई भी आता पर यूरोपीय राज्य अपनी गुप्त संधियों के संदर्भ में ही शान्ति करते।

(2) लाइड जार्ज (Lloyed George)—लाइड जार्ज इंग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री था, वह उदार दलीय नेता तथा अपने समय का सर्वश्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ था। युद्ध के बाद उसने इंग्लैण्ड में आम चुनाव कराये थे। इसमें उदार दल ने जर्मनी से प्रतिशोध लेने के नारे लगाये थे। कुछ नारे इस प्रकार के थे—"कैसर को फासी पर लटकाया जाय, जर्मनी से हर्जाना लिया जाय, शिलिंग के बदले शिलिंग और टन के बदले टन वसूला जाये," आदि इन नारों के बल से उसने चुनाव जीता था। इतना होने पर भी लाइड जार्ज एक दूरदर्शी एवं व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था। डा० दीनानाथ वर्मा लिखते हैं कि "उसकी तीव्र बुद्धि, चातुर्य पूर्ण कूटनीति, अनथक कार्य शक्ति और बिजली की तेजी से निर्णय करने और बदलने की क्षमता ने उसे शान्ति सम्मेलन में एक महान कूटनीतिज्ञ सिद्ध किया।"

लाइड जार्ज न तो विलसन के समान दयालु, उदार एवं मानववादी था और न क्लिमेंशो के समान अनुभवी, प्रतिशोध की अग्नि में झुलसने वाला, न्याय-अन्याय का चिन्तन करने वाला था। वह जर्मनी को पूर्ण कुचलना इंग्लैण्ड के हित में नहीं मानता था। जर्मनी इंग्लैण्ड का पक्का ग्राहक था अतः उसका पतन होना इंग्लैण्ड की आर्थिक नीति को बिगाड़ना था। वह चाहता था कि जर्मनी का उत्थान शनैः शनैः हो। उसके सामने राष्ट्र संघ और आत्म-निर्णय का सिद्धान्त इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना कि साम्राज्य का हित। शान्ति सम्मेलन के लाइड जार्ज के तीन मुख्य उद्देश्य थे—प्रथम, वह जर्मन की नाविक शक्ति पूर्णतया नष्ट कर देना चाहता था कि जिससे कोई शक्ति उसके मुकाबले में न रहे। द्वितीय, वह चाहता था कि फ्रांस को यूरोप में मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र न छोड़ दिया जाय ताकि का शक्ति सन्तुलन बिगड़ जाये, तीसरे उसकी इच्छा थी कि लूट के माल में उसका भाग अधिक से अधिक हो।

लाइड जार्ज अपने मन के भेदों को जानने नहीं देता था पर दूसरे के मन भावों को ताड़ लेता था। जेड्लिलोन का मत है कि "उसके समीप के अनुयायी भी उसकी अगली योजनाओं का अनुमान लगाने में असफल रहते थे।" वह विनोद प्रिय व्यक्ति था और दूसरे की कमजोरियों को जल्दी परख लेता था। उसने इन गुणों के कारण अपने तीनों उद्देश्यों को सफल बनाया, विलसन को भी प्रसन्न रखा और क्लिमेन्शो को भी सन्तुष्ट रखा।

(3) क्लिमेन्शो (Clemenceau)—क्लिमेन्शो फ्रांस का प्रधान मन्त्री था। वह कूटनीति और अनुभव के आधार पर अपने साथियों में सबसे आगे था। उसकी आयु 78 वर्ष की थी और

उसने अपनी आंखों से 1870 में फ्रांस का अपमानजनक पराभाव देखा था। उसने इरादा किया था कि वह जर्मनी से इन दोनों लड़ाइयों का बदला लेगा। वह जर्मनी को इतना अधिक कुचलना चाहता था कि वह पुनः कभी उभर न सके। वह विल्सन के समान न आदर्शवादी था और न उदारता में लाइड जार्ज के समान था। वह नैतिकता और न्याय की चिन्ता न करता था। विल्सन चाहता था कि संधि में न केवल विजयी राष्ट्रों का हित देखा जाय बल्कि पराजितों की इच्छाओं का भी ध्यान रखा जाय। वह एक आदर्शमयी दुनिया का सृजन करना चाहता था पर लाइड जार्ज और क्लिमेन्शो के सामने वह असमर्थ था। लाइड जार्ज तो अच्छी सलाह को मान भी जाता था पर क्लिमेन्शो अपने स्वार्थ के सामने कोई अच्छी सलाह भी मानने को तैयार न था। वह फ्रांस का शेर (Tiger) कहलाता था। रायनलैण्ड पर उसकी निगाह लगी हुई थी तथा उस पर वह स्थायी अधिकार प्राप्त करना चाहता था। वह 1870 और 1914 का बदला लेना चाहता था। कर्नल हाउस (विल्सन का सलाहकार) ने उसके विषय में कहा था कि "........उसका प्रमुख उद्देश्य जर्मनी को इतना दबा देना था कि वह फ्रांस के विरुद्ध फिर कभी उठने का साहस न कर सके।"

लाइड जार्ज ने भी कहा था कि "क्लिमेन्शो जर्मनी के साथ विष के समान घृणा करता था यदि उसके काबू की बात होती तो वह जर्मनी को समाप्त करके फेंक देता।" क्लिमेन्शो विल्सन की आदर्शवादिता की मजाक उड़ाया करता था। एक बार उसने व्यंग करते हुये कहा था कि "ईसा मसीह केवल 10 आज्ञाओं से सन्तुष्ट था, परन्तु विल्सन 14 आज्ञाओं (सूत्र) पर बल देता था।"[1] उसने लाइड जार्ज को भी न छोड़ा। उसने कहा कि "लाइड जार्ज अपने को नेपोलियन समझता है पर विल्सन अपने को ईसा मसीह समझता है।"

क्लिमेन्शो शान्ति सम्मेलन का अध्यक्ष था। उसने अपने भाषण, अपनी कूटनीति और दृढ़ता से अपने उद्देश्य को काफी हद तक पूरा कर लिया। उसका विश्वास विल्सन के सिद्धान्तों में न था, वह पक्का फासिस्टवादी था। एक लेखक ने लिखा है कि "वह नियन्त्रण हीन एवं नियन्त्रित खुमारी से भरा तथा झगड़ालू था, वह नींद की लम्बी खुमारी से तभी जागता था जबकि फ्रांस के हित को खतरा होता या जब कभी किसी छोटे राज्य की कीमत पर अपने देश को मजबूत बनाने का अवसर देखता था।" वास्तव में क्लिमेन्शो की जिद् के कारण ही वर्साय संधि इतनी कठोर बनी और उसके कारण ही हिटलर का जन्म हुआ और द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ा।

(4) ओरलैण्डो (Orlando)—इटली का प्रधान मन्त्री ओरलैण्डो था। वह भी चार बड़ों में गिना जाता था। वह कानून का विशेषज्ञ, चतुर राजनेता और प्रभावशाली वक्ता था। वह 1915 के लन्दन पैक्ट को मनवाना चाहता था उसका उद्देश्य इटली को कुछ लूट का माल दिलाना था। वह फ्यूम नगर प्राप्त करना चाहता था। उसमें एक कमी थी कि वह अंग्रेजी भाषा न जानता था जबकि सम्मेलन की समस्त कार्यवाही अंग्रेजी में हुई थी अतः उसका प्रभाव सम्मेलन में न पड़ सका। वह पहले जर्मनी का मित्र था पर झूठे वायदों पर विश्वास करके वह मित्र देशों के साथ हो गया था। अतः उसे अधिक लाभ न मिल सका और वह असन्तुष्ट होकर स्वदेश लौटा था।

सर्वोच्च शान्ति परिषद
(Supreme Peace Conference)

पेरिस के शान्ति सम्मेलन का अध्यक्ष फ्रांस का प्रधान मंत्री क्लिमेन्शो चुना गया। 18 जनवरी 1919 को फ्रांस के विदेश मन्त्रालय में फ्रांसीसी राष्ट्रपति पोअन्कोर ने प्रारम्भिक

---

1 "Even God was satisfied with ten commandments but Wilson believes and insists on Fourteen."

2 Lloyd george believes himself to be Napolean but Wilson believes himself to be christ." —*Clemenceau.*

अधिवेशन का उद्घाटन किया। सम्मेलन के सामने अनेकों समस्यायें थीं जो इतने बड़े सम्मेलन द्वारा हल की जानी व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव थीं, अतः सम्मेलन की कार्यवाही को चलाने के लिये दस व्यक्तियों की एक "सर्वोच्च शान्ति परिषद" गठित की गई। इन 10 में 5 महाशक्तियाँ ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान और सं० रा० अमेरिका के प्रतिनिधि थे। प्रत्येक राष्ट्र के दो-दो प्रतिनिधि लिये गये थे। इन सदस्यों को अधिकार दिया गया कि वे जो चाहे सो कर सकते थे। आमतौर पर परिषद साधारण अधिवेशन में रखे जाने वाले विषयों का चुनाव वही कर सकते थे। आमतौर पर परिषद द्वारा किये गये निर्णयों को सम्मेलन निर्विरोध स्वीकार कर लिया करता था। यह पद्धति विल्सन के "चौदह सूत्रों" की खुली अवहेलना थी। इन "चौदह सूत्रों" में साफ सकेत था कि शान्ति सधियाँ गुप्त रूप से न होकर खुले रूप हों पर परिषद ने इस सिद्धान्त की चिन्ता न की। हैरोल्ड निकलसन ने लिखा है कि "हमारी शान्ति की शर्तों का निर्णय खुलेआम नहीं हुआ। जितनी गुप्तता इस सम्मेलन मे वरती गई उतनी कदाचित किसी दूसरे सम्मेलन में नहीं वरती गई थी।" परिषद की कार्य पद्धति यद्यपि बड़ी सरल हो गई थी पर समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि इससे बड़े नाराज थे। उन्हें कुछ अवसरो को छोड़कर सम्मेलन में प्रवेश की आज्ञा नहीं दी जाती थी। इससे पत्रकारों ने काफी हो-हल्ला-मचाया।

इतना होने पर भी पूर्ण गोपनीयता नहीं रह सकती थी अतः यह विचार किया गया कि परिषद के 10 सदस्य बहुत अधिक हैं। अतएव मार्च 1919 में घोषणा की गई कि भविष्य में 'सधि सम्बन्धी कार्य केवल "चार व्यक्तियो की परिषद" ही किया करेंगी। यह व्यक्ति थे— अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री लाइड जार्ज, फ्रांस के प्रधान मन्त्री क्लिमेन्शो और इटली के प्रधान मन्त्री आरेलैण्डो। विल्सन के गुप्त कक्ष में इन्हीं चार व्यक्तियों का प्रवेश होता था। चूंकि ओरलैण्डो अंग्रेजी भाषा नहीं जानता था अतः वह गुप्त बैठकों में उदासीन रहता था और तीन महा पुरुष ही संसार के भाग्य का निर्णय करते थे। इन तीन में से भी दो—लाइड जार्ज और क्लिमेन्शो एक मत के थे अतः विल्सन भी अपने विचारों को इनसे नहीं मनवा पाता था।

आयोग और समितियाँ (Commission and Committees)—इन 'चार बड़ों (Four Bigs) की परिषद के अतिरिक्त सम्मेलन में 48 के लगभग छोटे बड़े आयोग और उप-समितियाँ थी। इनका कार्य यह था कि वे विविध समस्याओं जैसे—राष्ट्रसघ का सगठन, हर्जाने की धन राशि, अल्पसंख्यक जातियो की समस्या आदि पर विचार करें और अपनी रिपोर्ट पर अन्तिम निर्णय का अधिकार "चार बड़ों की सर्वोच्च शान्ति परिषद" को ही था शान्ति सम्मेलन का सिर्फ यह कार्य था कि शान्ति परिषद के निर्णयो पर स्वीकृति की मोहर लगा दें।

गुप्त संधियाँ और सम्मेलन की कठिनाइयाँ (Secret Treaties and the Difficulties of the Conference)—शान्ति सम्मेलन प्रारम्भ हो गया था पर उसके सामने अनेक कठिनाइयाँ थीं। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह थी कि विल्सन के 14 सिद्धान्तों पर शेष तीन बड़े राष्ट्र एकमत न थे। अतः प्रयत्न यह किया गया कि इन चौदह सूत्रों और तीन बड़े राष्ट्रों के स्वार्थों में किसी प्रकार सामंजस्य पैदा किया जाय। मित्र राष्ट्रों की, युद्धकाल में की गई गुप्त संधियों ने भी काफी कठिनाई पैदा की। इन संधियों के द्वारा विभिन्न राष्ट्रों को यह आश्वासन दिया गया था कि अन्तिम समझौते के समय वे एक दूसरे की साम्राज्य लिप्सा को तृप्त करने में सहायता प्रदान करेंगे। प्रथम विश्व युद्ध में अनेक घोषणायें की गई थीं जिनका सार था कि युद्ध का उद्देश्य उदार सिद्धान्तों को कार्यान्वित करना है। स्वतन्त्रता, समानता और लोकतन्त्र की स्थापना करना है। पर विजय के उन्माद में चूर होकर मित्र राष्ट्र पूर्व घोषणाओं को भूल गये थे, अब तो वे यही चाह रहे थे कि पराजित शत्रु के छिन्न-भिन्न साम्राज्यों के अधिकांश भाग को बांटें और शत्रु पर अधिकाधिक युद्ध

का हर्जाना लाद कर आर्थिक लाभ प्राप्त करें। विल्सन के आदर्श सूत्र और गुप्त संधियाँ एक-दूसरे के विरुद्ध थे। ब्रिटेन और फ्रांस अपने दिये गये आश्वासनों को पूरा करना चाहते थे और विल्सन के सिद्धान्तों को ताक में रख देना चाहते थे।

तीनों बड़े राष्ट्र गुप्त संधियों के अनुसार लूट के माल को हथियाना चाहते थे और प्रत्येक राष्ट्र उसमें से अधिक से अधिक भाग पाना चाहता था अतः गुप्त संधियों को क्रियान्वित करना भी आसान नहीं था। 1917 में बोल्शेविक क्रान्ति कर रूस में साम्यवादी शासन स्थापित हो गया था। साम्यवादियों ने इन गुप्त संधियों को प्रकाशित कर दिया था। इससे साम्राज्यवादियों की कलई खुल गई थी। इस प्रकाशन से मित्र राष्ट्रों की परेशानियाँ और बढ़ गई थी। इसके अतिरिक्त एक परेशानी यह भी थी कि इन संधियों में सं० रा० अमेरिका सम्मिलित न था। अतः इन गुप्त संधियों के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता था। युद्ध जीतने में अमेरिका का बड़ा हाथ था अतः अमेरिका की उपेक्षा करना भी आसान न था। विल्सन ने साफ घोषणा की थी कि वह गुप्त संधियों के विरुद्ध है। एक समस्या यह भी थी कि सोवियत रूस ने अपने को इन संधियों से स्वेच्छापूर्वक अलग कर लिया था। अतः रूस के अंश का क्या किया जाये यह भी प्रश्न विचारणीय था।

इन सब कठिनाइयों के होते हुये भी मित्र राष्ट्र चूँकि अपनी स्वार्थपूर्ति में इतने अंधे हो गये थे कि उन्होंने विल्सन के राष्ट्रवाद, आत्म-निर्णय, समानता एवं स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की तो अवहेलना की ही साथ में भविष्य में होने वाले परिणामों की ओर से भी आँख मीच ली। गुप्त संधियों को ही इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटली ने महत्त्व दिया और शान्ति संधियाँ उनके अनुरूप ही हुईं। लूट के माल में सबसे बड़ा अंश इंग्लैण्ड को प्राप्त हुआ। शेष में से थोड़ा सा अंश इटली को देकर फ्रांस ने हड़प लिया। इससे इटली और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका नाराज हो गये। रूस तो पहले ही नाराज था।

वर्साय की संधि का प्रारूप
(Draft of the Treaty of Versailles)

पराजित राष्ट्रों के भू-भागों, इटली और पोलैण्ड दोनों में जर्मनी से क्षतिपूर्ति इत्यादि के प्रश्नों पर गुप्त एवं खुली वार्ता चलती रही। अन्त में 4 माह बाद 6 मई 1919 को अन्तिम रूप से मसविदा तैयार हो गया। यह 230 पृष्ठों में था, 15 भागों में विभाजित था, 439 धारायें इसमें थी और शब्दों की संख्या 80,000 थी। इस प्रारूप में जर्मनी के साथ की गई व्यवस्थाओं के साथ-साथ राष्ट्र संघ सम्बन्धी विधान भी था।

सन्धि पर हस्ताक्षर (Signatures on the Treaty)—यद्यपि शान्ति सम्मेलन में अनेक सन्धियों एवं समझौतों के प्रारूप तैयार किये थे पर इनमें सर्वथा महत्त्वपूर्ण सन्धि वर्साय की ही थी। जब वर्साय की सन्धि का प्रारूप तैयार हो रहा था। उसी दौरान 30 अप्रैल 1919 को जर्मनी का प्रतिनिधिमण्डल जर्मनी के विदेशमन्त्री (गणतन्त्रीय सरकार) वान बीक डोर्फ रान्टाजु के नेतृत्व में वर्साय पहुँच गया था। इस प्रतिनिधिमण्डल को ट्रायमन पेलेस होटल में कैदियों के रूप में ठहराया गया था। होटल को चारों ओर कांटेदार तारों से घेर दिया गया था। उन पर मित्र राज्यों के अफसरों और सैनिकों का पहरा लगा दिया गया था। जर्मन प्रतिनिधियों को चेतावनी दे दी गयी थी कि वे मित्र राष्ट्रों के किसी भी प्रतिनिधि से तथा पत्रकारों से कोई सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करेंगे। फ्रांस की जनता उनका खुला अपमान कर रही थी और बेचारे प्रतिनिधि विवश होकर सब कुछ सह रहे थे।

6 मई 1919 को जब वर्साय सन्धि का प्रारूप तैयार हो गया तब अगले दिन अर्थात् 7 मई को फ्रांस के प्रधानमन्त्री क्लिमेन्शो ने बड़े गर्व के साथ अन्य प्रतिनिधियों के समक्ष ट्रायमन

होटल में जर्मन प्रतिनिधि मण्डल के सामने सन्धि का प्रारूप प्रस्तुत किया। इस प्रारूप पर विचार-विमर्श करने का उन्हें दो सप्ताह का समय दिया गया। जब यह मसविदा जर्मन प्रतिनिधियों के सामने रखा जा रहा था, उस समय होटल के कटु और अपमानजनक वातावरण को देखकर ब्रोकडोर्फ रान्टाजु को महान ग्लानि हुई वे चुप न रह सके और बोले कि "यद्यपि जर्मनी एक पराजित देश है और सैनिक दृष्टि से वह पस्त हो चुका है, तो भी युद्ध की सारी जिम्मेदारी उस पर लादना न्याय संगत नही है।" पर उनके विरोध की परवाह न की गयी।

जर्मनी प्रतिनिधि मण्डल को सन्धि के मसविदे को पढ़कर घोर निराशा हुई। जर्मन जनता को जब उस अपमानजनक सन्धि की शर्तों का पता चला तो यह क्रोध से भर गयी। जर्मन राष्ट्रपति ने इस सन्धि को अनुचित ठहराया और उसे मानने से इन्कार किया। जर्मन समाचार-पत्रों ने भी सन्धि को न मानने का परामर्श दिया।

जर्मनी की प्रतिक्रिया पर इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री बड़े क्रोधित हुए उन्होंने गरजते हुए कहा कि "जर्मन लोग कहते हैं कि वे सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मन समाचार पत्र कहते हैं कि वे सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मनी के राजनीतिज्ञ भी यही बात कहते हैं। लेकिन हम लोग कहते हैं कि "महानुभावो" आपको इस पर हस्ताक्षर करना है। अगर आप वर्साय में ऐसा नही करेंगे तो आपको बर्लिन मे ऐसा करना पड़ेगा।" इस धमकी का यही अर्थ था "सन्धि स्वीकार करो मृत्यु को अंगीकार करो" यह सन्धि स्वेच्छापूर्वक सन्धि नही थी आरोपित सन्धि (Dictated Peace) थी।

लाइड जार्ज की दी गयी धमकी का यह प्रभाव पड़ा कि जर्मनी भय खा गया फिर भी उसने 60 हजार शब्दो का एक विरोध पत्र तैयार किया। इसमें उसने यह शिकायत की कि वर्साय की सन्धि उन वायदो के विरुद्ध है जो मित्र राष्ट्रों ने हमसे हथियार डालने के पहले किये थे और जिन पर विश्वास करके हमने आत्म-समर्पण किया था आज हमारे साथ विश्वासघात किया जा रहा है। यह सन्धि युद्ध-विराम सन्धि के बिल्कुल विरुद्ध है। एक बड़े राष्ट्र को कुचलकर एवं उसे गुलाम बनाकर स्थायी शान्ति की कल्पना करना बालू की दीवारों पर महल बनाना है।

जर्मनी के विरोध पत्र पर मित्र राष्ट्रों ने विचार किया। कुछ छोटे-मोटे संशोधन किये और जर्मनी को पुनः मसविदा इस शर्त के साथ भेज दिया कि यदि जर्मन सरकार के इन 5 दिन में हस्ताक्षर न होंगे तो जर्मनी पर आक्रमण कर दिया जायगा। तत्कालीन जर्मन सरकार बड़ी शशपच में पड़ी—वह देश की जनता की बात माने या विजेताओं की बात स्वीकार करे। अन्त मे शिडेमान सरकार ने सन्धि पर हस्ताक्षर न करके, त्यागपत्र दे दिया। जर्मनी की नई सरकार गठित हुई। इसका प्रधानमन्त्री गुस्टावजोर था और विदेशमन्त्री मूलर था, इसने सन्धि को मानने का वचन दे दिया। उसी शीशमहल मे जहाँ 1871 में फ्रास के प्रतिनिधियों को जर्मन की आरोपित सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े थे, वही पर उसी प्रकार का नाटक फांस की सरकार ने भी खेला। 28 जून, 1919 को (ठीक 5 वर्ष बाद जब आस्ट्रिया के युवराज की हत्या की गयी थी) जर्मन प्रतिनिधि-मण्डल पहुँचा और सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके बाद चीन के प्रतिनिधि को छोड़कर शेष सभी राष्ट्रो के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिया।

जर्मनी प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर करने के बाद कहा था कि "हमारे प्रति फैलायी गयी उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित हैं। मेरा देश दबाव के कारण आत्म-समर्पण कर रहा है, किन्तु जर्मनी यह कभी नही भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण सन्धि है।" शीशमहल के बाहर खड़ी फांसीसी जनता जर्मनो से इतनी घृणा करती थी कि जर्मन प्रतिनिधि हस्ताक्षर करने के बाद जब शीशमहल से निकला तो पेरिस की भीड़ ने उसका स्वागत ईंट-पत्थरों से किया। इस अपमान का

जर्मनी की जनता और समाचार-पत्रों ने घोर विरोध किया और भविष्य में बदला लेने की भी घोषणा कर दी।

एस० क्लिमेण्ट ने इस सन्धि को "मृत्यु का वारण्ट कहा जिस पर जर्मनी को हस्ताक्षर करने पड़े।"

वर्साय सन्धि की प्रमुख व्यवस्थायें
(Main Provisions of Treaty of the Versailles)

वर्साय की सन्धि की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :—

(1) प्रादेशिक व्यवस्थायें (Territorial Provisions)—जर्मनी पराजित हुआ अतः उसके साम्राज्य के टुकड़े करके वर्साय सन्धि द्वारा बड़े राष्ट्रों ने आपस में बाँट लिये। किस राष्ट्र को जर्मनी का कौन-सा भाग मिला, उसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

(i) फ्रांस को जर्मनी द्वारा अलसास और लारेन्स प्रदेश दिये गये।

(ii) वेल्जियम तथा लक्समबर्ग की तटस्थता की समाप्ति हुई।

(iii) मार्सनेट, यूपेन, मालमेड़ी प्रदेश बेल्जियम को दिये गये।

(iv) उत्तर श्लेसविग में जनमत सग्रह कराया गया और उसके बाद उसे डेन्मार्क को दे दिया गया। दक्षिण श्लेसविग जर्मनी के पास रहा।

(v) सार के औद्योगिक प्रदेश यद्यपि जर्मनी के पास रहने थे, परन्तु उसका प्रबन्ध राष्ट्र संघ की ओर से होना था।

(vi) सार प्रदेश की खानों पर 15 वर्ष हेतु फ्रांस का प्रभुत्व रहना था क्योंकि जर्मनी ने जानबूझकर फ्रांस को कोयले की खानें नष्ट कर दी थीं। 15 वर्ष बाद वहाँ जनमत सग्रह होना था।

(vii) डेंजिग का नगर भी राष्ट्र संघ की निगरानी में रखा गया। इस नगर के विदेशी मामले पोलैण्ड को सौंपे गये।

(viii) पश्चिमी प्रशिया के एलेस्टाइन, मेरियन वर्डर तथा साइलेशिया में जनमत संग्रह होना था। पूर्व के दो प्रदेश तो जर्मनी को जनमत संग्रह से मिल गये पर साइलेशिया का मामला राष्ट्र संघ को दिया गया।

(ix) फ्रांस को जर्मनी से भय बना रहा अतः वह चाहता था कि राइन नदी की पश्चिमी सीमा निश्चित कराने के साथ ही एलसास और लारेन्स एवं हालैण्ड के बीच एक स्वतन्त्र तटस्थ राज्य की स्थापना हो जाय पर यह शर्त इंगलैण्ड ने नहीं मानी हाँ उसने 15 वर्षों तक इस प्रदेश पर मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का अधिकार मान लिया। राइन नदी की दोनों ओर की भूमि का निःशस्त्रीकरण कर दिया गया।

(x) जर्मनी के उपनिवेश मित्र राष्ट्रों के पास मैण्डेट के रूप में रहे।

(xi) यह भी निश्चय हुआ कि जर्मनी राष्ट्र संघ की परिषद् की स्वीकृति के बिना आस्ट्रिया के साथ कोई संघ की स्थापना न करेगा।

(2) आर्थिक व्यवस्थायें (Economic Provisions)—जर्मनी को अपनी मूल भूमि का कुछ अंश एवं साम्राज्य मित्र राष्ट्रों को देना पड़ा। 'चौबेजी छब्बे होने चले थे पर दुबेजी ही रह गये।" इतना ही नहीं जर्मनी को आर्थिक रूप से दिवालिया भी बना दिया गया। इङ्गलैण्ड और फ्रांस जर्मनी से क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त युद्ध का हर्जाना भी लेना चाहते थे परन्तु राष्ट्रपति विल्सन के हस्तक्षेप से केवल क्षतिपूर्ति लेने तक ही बात तय हुई। सन्धि की धारा 231 में प्रमुख आर्थिक व्यवस्था निम्न प्रकार की थी :

(i) क्षतिपूर्ति की अन्तिम राशि को निश्चित करने के लिए एक क्षतिपूर्ति आयोग की स्थापना करना था। आयोग द्वारा कुल राशि की मात्रा एवं उसे वसूल करने का ढंग निश्चित होना

था तथा उसकी किश्तें तय करना था । इस आयोग में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका एवं इटली स्थ
सदस्य के रूप मे सम्मिलित हुए । अन्य देशों को भी जो युद्ध में लड़े थे अस्थायी प्रतिनिधि
देना था ।

(ii) क्षतिपूर्ति आयोग की सिफारिश से पूर्व जर्मनी को माल तथा धन के रूप में 5 अरब डालर की राशि मित्र राष्ट्रों को देनी थी ।

(iii) जर्मनी से कहा गया कि वह 5% के रूप में मित्र राष्ट्रों को दिये गये धन में से जो बेल्जियम ने युद्ध काल मे मित्र राष्ट्रो ने दिया था, लौटा दें ।

(iv) पनडुब्बी तथा बेतार के तार (Telegraph Cables) जर्मनी द्वारा मित्र राष्ट्रों को देना होगा ।

(v) एलबु, ओडर, नीमन, डैन्यूब इत्यादि नदियाँ अन्तर्राष्ट्रीय घोषित हुईं । कील नहर भी अन्तर्राष्ट्रीय घोषित हुई, वह व्यापार हेतु समस्त देशों के लाभार्थ खोल दी गई ।

(vi) यह भी निश्चित किया गया कि सन्धि होने के बाद जर्मनी फ्रांस तथा बेल्जियम को उपयोगी पशु प्रदान करेगा । क्षतिग्रस्त क्षेत्र के पुनर्निर्माण हेतु मशीनें एवं अन्य सामग्री जर्मनी से मित्र राष्ट्र प्राप्त करेंगे ।

(vii) मोरक्को, चीन तथा मिस्र में जर्मनी के विशेष व्यापारिक अधिकार समाप्त किये गये । 5 वर्ष तक आयात तथा निर्यात के मामले मे जर्मनी को अनेक सुविधायें मित्र राष्ट्रों को प्रदान करनी थीं ।

(viii) मित्र राष्ट्रों के व्यापारिक जहाजों की युद्धकाल मे क्षति की पूर्ति जर्मनी को करनी होगी ।

(ix) यह भी तय हुआ कि 20 वर्षों तक जर्मनी फ्रांस को, 70 लाख टन, बेल्जियम को 80 लाख टन तथा लक्समबर्ग को 77 लाख टन कोयला प्रतिवर्ष प्रदान करेगा ।

इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से जर्मनी को पंगु बना दिया गया ।

(3) राजनीतिक व्यवस्थायें (Political provisions)—सन्धि मे राजनीतिक व्यवस्थायें निम्न प्रकार की गई हैं :

(i) राष्ट्र संघ सम्बन्धी मसविदा तय हुआ ।

(ii) युद्ध के मध्य रूस, जर्मनी द्वारा की गई ब्रेस्ट लिटोवस्ट की सन्धि को अमान्य घोषित किया गया ।

(iii) वे समस्त सन्धियाँ अमान्य घोषित हुईं जो जर्मनी ने युद्ध से पूर्व की थीं ।

(iv) जर्मनी को आदेश हुआ कि वह अपनी नई निश्चित की गई सीमाओं मे अपने सैनिकों को वापस बुलाये ।

(v) यह भी तय हुआ कि रायन नदी के पश्चिमी जर्मनी में तथा अन्य प्रमुख स्थानों में मित्र राष्ट्रों की सेनायें रहेंगी और यदि जर्मनी ने सच्चाई से सन्धि का पालन किया तो 15 वर्ष बाद ये विदेशी सेनायें वापस बुला ली जायेंगी । बाद मे ये सेनायें अवधि समाप्त होने से पूर्व ही बुला ली गई थीं ।

(v) बेल्जियम, पोलैण्ड, युगोस्लाविया तथा चैकोस्लावाकिया सन्धि द्वारा स्वतन्त्र घोषित हुए । साथ ही सन्धि के अन्तर्गत राष्ट्र संघ की स्थापना भी की गई थी ।

(4) कानूनी व्यवस्थायें (Legal Provisions)—(i) सन्धि की धारा 231 के द्वारा जर्मनी को युद्ध करने हेतु जिम्मेदार ठहराया गया ।

(ii) जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय को सन्धि की पवित्रता को भंग करने वाला तथा शान्ति भंग करने वाला अपराधी घोषित किया गया ।

(iii) जर्मन युद्ध अपराधियों पर सैनिक अदालत में मुकदमा चलाया गया।

(5) सैनिक व्यवस्थायें (Military Provisions)—जर्मनी के सभी सैनिक अंगों पर कठोरतापूर्वक निम्न अंकुश लगाये गये :

(i) गोला बारूद इत्यादि के निर्माण को सीमित कर दिया गया।

(ii) वायु सेना से सम्बन्धित सामग्री समाप्त करने का निश्चय हुआ।

(iii) जर्मनी की नौ सेना भी सीमित कर दी गई। जर्मनी में अब 10,000 टन के 6 युद्धपोत, 6 क्रूजर 12 तारपीडो नौकायें ही रहनी थीं। समस्त पनडुब्बियों को समाप्त करने अथवा मित्र राष्ट्रों को देने को कहा गया। केवल 15 हजार व्यक्ति ही अब जल सेना मे रहने थे।

(iv) जर्मनी की अनिवार्य सैनिक सेवा समाप्त कर दी गई। 12 वर्ष तक 1 लाख से अधिक सेना न रहनी थी, अफसरों का 25 वर्ष तक और सैनिक 12 वर्ष सेना मे रहना आवश्यक था। इसका अर्थ था कि अधिक व्यक्ति सैनिक शिक्षा न प्राप्त कर सके।

(6) अन्य शर्तें (Miscellaneous Provisions)—1870 में जर्मनी ने जो वस्तुयें फ्रांस से छीनी थी, उन्हे लौटाना था। पूर्वी अफ्रीका के सुल्तान मकरवा की खोपड़ी भी ब्रिटेन को लौटाने को कहा गया।

सन्धि की आलोचना
(Criticism of the Treaty)

वर्साय सन्धि की आलोचना सभी निष्पक्ष देशों मे हुई, यहाँ तक अमेरिका में भी वर्साय की सन्धि की आलोचना हुई और सीनेट ने तो उसका अनुसमर्थन ही नही किया। युद्ध आलोचना के मुख्य संकेत दिये जाते हैं—

(1) भविष्य के संघर्ष के लिए मार्ग (Way for further Conflicts)—कुछ विद्वानों का कहना है कि वर्साय की सन्धि विल्सन के 14 सूत्रो पर आधारित थे परन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि वर्साय की सन्धि मे इन सूत्रो की खुली अवहेलना हुई। श्री हैरोल्ड निकलसन जो प्रतिनिधि मण्डल मे ब्रिटेन की ओर से शान्ति सम्मेलन में सम्मिलित हुये थे कहते हैं कि 'सधि में एक भी शर्त की पूर्ति नहीं हुई। पराजितों के प्रति कोई सहानुभूति नही दिखाई गई। विल्सन का उद्देश्य पूरा नही हुआ। स्थायी शान्ति के स्थान पर सम्मेलन में ही *अशान्ति के बीज बो दिये गये थे*।" एस० क्लिमेन्ट का मत है कि "इस सन्धि के परिणाम स्वरूप यूरोप में दरार पड़ गई और विभिन्न राष्ट्रों को *राष्ट्रीयता के आधार पर विभाजित करके भविष्य के लिये संघर्ष का मार्ग* निश्चित हुआ जहाँ सन्धि की आलोचना की गई वहाँ कुछ ने उसकी प्रशंसा भी की। गेथोर्न हार्डी का कहना है कि इससे अधिक आदर्श सन्धि कभी नही हुई। यदि यह मान भी लिया जाय कि सन्धि कठोर थी तो यह ध्यान रखना होगा कि कठोर शर्तों को गम्भीरता से कभी लागू नही किया गया।

(2) कठोर सन्धि (Unjust and Cruel Treaty)—लाइड जार्ज ने उन लोगो को यह उत्तर दिया, जो वर्साय की सन्धि को कठोर कह रहे थे, कि यदि जर्मन जीत जाता तो यह इससे भी अधिक कठोर नीति अपनाता। परन्तु आलोचकों का कहना है कि यह सन्धि उतनी ही कठोर थी जितनी कि कार्थिज को जीत कर, रोम ने की थी। पर यह बात नहीं मानी जा सकती है, मित्र राष्ट्र ने वास्तव में इतनी कठोरता नही बरती, फिर भी सन्धि की शर्तें अपेक्षाकृत कठोर थीं। यह स्वाभाविक ही था क्योकि जर्मनी द्वारा मित्र राष्ट्रो को अपार क्षति उठानी पड़ी थी। वे चाहते थे कि भविष्य मे जर्मनी ही क्या कोई राज्य युद्ध का खतरा उठाने से पूर्व इस युद्ध का परिणाम अवश्य देखेगा और चुपचाप बैठ जायगा। यह भी सही है कि जर्मनी यदि जीतता तो वह भी इतनी ही कठोरता बरतता जैसा कि उसने युद्ध के दौरान रूस से सन्धि करते समय बरती थी।

था तथा उसकी किश्तें तय करना था। इस आयोग में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका एव इटली स्थायी सदस्य के रूप में सम्मिलित हुए। अन्य देशो को भी जो युद्ध में लड़े थे अस्थायी प्रतिनिधित्व देना था।

(ii) क्षतिपूर्ति आयोग की सिफारिश से पूर्व जर्मनी को माल तथा धन के रूप में 5 अरब डालर की राशि मित्र राष्ट्रों को देनी थी।

(iii) जर्मनी से कहा गया कि वह 5% के रूप में मित्र राष्ट्रों को दिये गये धन में से जो वेल्जियम ने युद्ध काल में मित्र राष्ट्रो ने दिया था, लौटा दें।

(iv) पनडुब्बी तथा वेतार के तार (Telegraph Cables) जर्मनी द्वारा मित्र राष्ट्रों को देना होगा।

(v) एलबु, ओडर, नीमन, डैन्यूब इत्यादि नदियाँ अन्तर्राष्ट्रीय घोषित हुईं। कील नहर भी अन्तर्राष्ट्रीय घोषित हुई, वह व्यापार हेतु समस्त देशों के लाभार्थ खोल दी गई।

(vi) यह भी निश्चित किया गया कि सन्धि होने के बाद जर्मनी फ्रांस तथा वेल्जियम को उपयोगी पशु प्रदान करेगा। क्षतिग्रस्त क्षेत्र के पुनर्निर्माण हेतु मशीनें एवं अन्य सामग्री जर्मनी से मित्र राष्ट्र प्राप्त करेंगे।

(vii) मोरक्को, चीन तथा मिस्र में जर्मनी के विशेष व्यापारिक अधिकार समाप्त किये गये। 5 वर्ष तक आयात तथा निर्यात के मामले मे जर्मनी को अनेक सुविधायें मित्र राष्ट्रों को प्रदान करनी थीं।

(viii) मित्र राष्ट्रों के व्यापारिक जहाजों की युद्धकाल मे क्षति की पूर्ति जर्मनी को करनी होगी।

(ix) यह भी तय हुआ कि 20 वर्षों तक जर्मनी फ्रांस को, 70 लाख टन, वेल्जियम को 80 लाख टन तथा लक्समबर्ग को 77 लाख टन कोयला प्रतिवर्ष प्रदान करेगा।

इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से जर्मनी को पगु बना दिया गया।

(3) राजनीतिक व्यवस्थायें (Political provisions)—सन्धि में राजनीतिक व्यवस्थायें निम्न प्रकार की गई हैं :

(i) राष्ट्र सघ सम्बन्धी मसविदा तय हुआ।

(ii) युद्ध के मध्य रूस, जर्मनी द्वारा की गई वेस्ट लिटोवस्ट की सन्धि को अमान्य घोषित किया गया।

(iii) वे समस्त सन्धियाँ अमान्य घोषित हुईं जो जर्मनी ने युद्ध से पूर्व की थी।

(iv) जर्मनी को आदेश हुआ कि वह अपनी नई निश्चित की गई सीमाओं में अपने सैनिकों को वापस बुलाये।

(v) यह भी तय हुआ कि रायन नदी के पश्चिमी जर्मनी में तथा अन्य प्रमुख स्थानों मे मित्र राष्ट्रों की सेनायें रहेंगी और यदि जर्मनी ने सच्चाई से सन्धि का पालन किया तो 15 वर्ष बाद ये विदेशी सेनायें वापस बुला ली जायेंगी। बाद में ये सेनायें अवधि समाप्त होने से पूर्व ही बुला ली गई थीं।

(v) वेल्जियम, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया तथा चैकोस्लावाकिया सन्धि द्वारा स्वतन्त्र घोषित हुए। साथ ही सन्धि के अन्तर्गत राष्ट्र संघ की स्थापना भी की गई थी।

(4) कानूनी व्यवस्थायें (Legal Provisions)—(i) सन्धि की धारा 231 के द्वारा जर्मनी को युद्ध करने हेतु जिम्मेदार ठहराया गया।

(ii) जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय को सन्धि की पवित्रता को भंग करने वाला तथा शान्ति भग करने वाला अपराधी घोषित किया गया।

(iii) जर्मन युद्ध अपराधियों पर सैनिक अदालत में मुकदमा चलाया गया।

(5) सैनिक व्यवस्थायें (Military Provisions)—जर्मनी के सभी सैनिक अंगों पर कठोरतापूर्वक निम्न अंकुश लगाये गये :

(i) गोला बारूद इत्यादि के निर्माण को सीमित कर दिया गया।

(ii) वायु सेना से सम्बन्धित सामग्री समाप्त करने का निश्चय हुआ।

(iii) जर्मनी की नौ सेना भी सीमित कर दी गई। जर्मनी में अब 10,000 टन के 6 युद्धपोत, 6 क्रूजर 12 तारपीडो नौकायें ही रहनी थीं। समस्त पनडुब्बियों को समाप्त करने अथवा मित्र राष्ट्रों को देने को कहा गया। केवल 15 हजार व्यक्ति ही अब जल सेना मे रहने थे।

(iv) जर्मनी की अनिवार्य सैनिक सेवा समाप्त कर दी गई। 12 वर्ष तक 1 लाख से अधिक सेना न रहनी थी, अफसरों का 25 वर्ष तक और सैनिक 12 वर्ष सेना में रहना आवश्यक था। इसका अर्थ था कि अधिक व्यक्ति सैनिक शिक्षा न प्राप्त कर सके।

(6) अन्य शर्तें (Miscellaneous Provisions)—1870 में जर्मनी ने जो वस्तुयें फ्रांस से छीनी थीं, उन्हे लौटाना था। पूर्वी अफ्रीका के सुल्तान मकरवा की खोपड़ी भी ब्रिटेन को लौटाने को कहा गया।

सन्धि की आलोचना
(Criticism of the Treaty)

वर्साय सन्धि की आलोचना सभी निष्पक्ष देशो में हुई, यहाँ तक अमेरिका में भी वर्साय की सन्धि की आलोचना हुई और सीनेट ने तो उसका अनुसमर्थन ही नहीं किया। युद्ध आलोचना के मुख्य संकेत दिये जाते हैं—

(1) भविष्य के संघर्ष के लिए मार्ग (*Way for further Conflicts*)—कुछ विद्वानो का कहना है कि वर्साय की सन्धि विल्सन के 14 सूत्रों पर आधारित थे परन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि वर्साय की सन्धि में इन सूत्रो की खुली अवहेलना हुई। श्री हैरोल्ड निकलसन जो प्रतिनिधि मण्डल में ब्रिटेन की ओर से शान्ति सम्मेलन में सम्मिलित हुये थे कहते हैं कि 'संधि में एक भी शर्त की पूर्ति नहीं हुई। पराजितो के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाई गई। विल्सन का उद्देश्य पूरा नही हुआ। स्थायी शान्ति के स्थान पर सम्मेलन में ही अशान्ति के बीज बो दिये गये थे।" एस० विलमेन्ट का मत है कि "इस सन्धि के परिणाम स्वरूप यूरोप मे दरार पड़ गई और विभिन्न राष्ट्रों को राष्ट्रीयता के आधार पर विभाजित करके भविष्य के लिये संघर्ष का मार्ग निश्चित हुआ जहाँ सन्धि की आलोचना की गई वहाँ कुछ ने उसकी प्रशंसा भी की। गेयोर्न हार्डी का कहना है कि इससे अधिक आदर्श सन्धि कभी नहीं हुई। यदि यह मान भी लिया जाय कि सन्धि कठोर थी तो यह ध्यान रखना होगा कि कठोर शर्तों को गम्भीरता से कभी लागू नहीं किया गया।

(2) कठोर सन्धि (Unjust and Cruel Treaty)—लाइड जार्ज ने उन लोगों को यह उत्तर दिया, जो वर्साय की सन्धि को कठोर कह रहे थे, कि यदि जर्मन जीत जाता तो यह इससे भी अधिक कठोर नीति अपनाता। परन्तु आलोचकों का कहना है कि यह सन्धि उतनी ही कठोर थी जितनी कि कार्थेज को जीत कर, रोम ने की थी। पर यह बात नही मानी जा सकती है, मित्र राष्ट्र ने वास्तव में इतनी कठोरता नहीं बरती, फिर भी सन्धि की शर्तें अपेक्षाकृत कठोर थी। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि जर्मनी द्वारा मित्र राष्ट्रो को अपार क्षति उठानी पड़ी थी। वे चाहते थे कि भविष्य मे जर्मनी ही क्या कोई राज्य युद्ध का खतरा उठाने से पूर्व इस युद्ध का परिणाम अवश्य देखेगा और चुपचाप बैठ जायगा। यह भी सही है कि जर्मनी यदि जीतता तो यह भी इतनी ही कठोरता बरतता जैसा कि उसने युद्ध के दौरान रूस से सन्धि करते समय बरती

था तथा उसकी किश्तें तय करना था । इस आयोग में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका एव इटली स्थायी सदस्य के रूप में सम्मिलित हुए । अन्य देशों को भी जो युद्ध में लड़े थे अस्थायी प्रतिनिधित्व देना था ।

(ii) क्षतिपूर्ति आयोग की सिफारिश से पूर्व जर्मनी को माल तथा धन के रूप में 5 अरब डालर की राशि मित्र राष्ट्रों को देनी थी ।

(iii) जर्मनी से कहा गया कि वह 5% के रूप में मित्र राष्ट्रों को दिये गये धन मे से जो बेल्जियम ने युद्ध काल मे मित्र राष्ट्रो ने दिया था, लौटा दें ।

(iv) पनडुब्बी तथा वेतार के तार (Telegraph Cables) जर्मनी द्वारा मित्र राष्ट्रों को देना होगा ।

(v) एलबु, ओडर, नीमन, डैन्यूब इत्यादि नदियाँ अन्तर्राष्ट्रीय घोषित हुईं । कील नहर भी अन्तर्राष्ट्रीय घोषित हुई, वह व्यापार हेतु समस्त देशों के लाभार्थ खोल दी गई ।

(vi) यह भी निश्चित किया गया कि सन्धि होने के बाद जर्मनी फ्रांस तथा बेल्जियम को उपयोगी पशु प्रदान करेगा । क्षतिग्रस्त क्षेत्र के पुनर्निर्माण हेतु मशीनें एवं अन्य सामग्री जर्मनी से मित्र राष्ट्र प्राप्त करेंगे ।

(vii) मोरक्को, चीन तथा मिस्र में जर्मनी के विशेष व्यापारिक अधिकार समाप्त किये गये । 5 वर्ष तक आयात तथा निर्यात के मामले मे जर्मनी को अनेक सुविधायें मित्र राष्ट्रो को प्रदान करनी थीं ।

(viii) मित्र राष्ट्रों के व्यापारिक जहाजो की युद्धकाल में क्षति की पूर्ति जर्मनी को करनी होगी ।

(ix) यह भी तय हुआ कि 20 वर्षों तक जर्मनी फ्रांस को, 70 लाख टन, बेल्जियम को 80 लाख टन तथा लक्समबर्ग को 77 लाख टन कोयला प्रतिवर्ष प्रदान करेगा ।

इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से जर्मनी को पगु बना दिया गया ।

(3) राजनीतिक व्यवस्थायें (Political provisions)—सन्धि में राजनीतिक व्यवस्थायें निम्न प्रकार की गई हैं :

(i) राष्ट्र संघ सम्बन्धी मसविदा तय हुआ ।

(ii) युद्ध के मध्य रूस, जर्मनी द्वारा की गई ब्रेस्ट लिटोवस्ट की सन्धि को अमान्य घोषित किया गया ।

(iii) वे समस्त सन्धियाँ अमान्य घोषित हुईं जो जर्मनी ने युद्ध से पूर्व की थीं ।

(iv) जर्मनी को आदेश हुआ कि वह अपनी नई निश्चित की गई सीमाओं में अपने सैनिकों को वापस बुलाये ।

(v) यह भी तय हुआ कि रायन नदी के पश्चिमी जर्मनी में तथा अन्य प्रमुख स्थानो मे मित्र राष्ट्रों की सेनायें रहेंगी और यदि जर्मनी ने सच्चाई से सन्धि का पालन किया तो 15 वर्ष बाद ये विदेशी सेनायें वापस बुला ली जायेंगी । बाद में ये सेनाये अवधि समाप्त होने से पूर्व ही बुला ली गई थी ।

(v) बेल्जियम, पोलैण्ड, युगोस्लाविया तथा चैकोस्लावाकिया सन्धि द्वारा स्वतन्त्र घोषित हुए । साथ ही सन्धि के अन्तर्गत राष्ट्र संघ की स्थापना भी की गई थी ।

(4) कानूनी व्यवस्थायें (Legal Provisions)—(i) सन्धि की धारा 231 के द्वारा जर्मनी को युद्ध करने हेतु जिम्मेदार ठहराया गया ।

(ii) जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय को सन्धि की पवित्रता को भंग करने वाला तथा शान्ति भंग करने वाला अपराधी घोषित किया गया ।

(iii) जर्मन युद्ध अपराधियों पर सैनिक अदालत में मुकदमा चलाया गया।

(5) सैनिक व्यवस्थायें (Military Provisions)—जर्मनी के सभी सैनिक अंगों पर कठोरतापूर्वक निम्न अंकुश लगाये गये :

(i) गोला बारूद इत्यादि के निर्माण को सीमित कर दिया गया।

(ii) वायु सेना से सम्बन्धित सामग्री समाप्त करने का निश्चय हुआ।

(iii) जर्मनी की नौ सेना भी सीमित कर दी गई। जर्मनी में अब 10,000 टन के 6 युद्धपोत, 6 क्रूजर 12 तारपीडो नौकायें ही रहनी थीं। समस्त पनडुब्बियो को समाप्त करने अथवा मित्र राष्ट्रों को देने को कहा गया। केवल 15 हजार व्यक्ति ही अब जल सेना मे रहने थे।

(iv) जर्मनी की अनिवार्य सैनिक सेवा समाप्त कर दी गई। 12 वर्ष तक 1 लाख से अधिक सेना न रहनी थी, अफसरों का 25 वर्ष तक और सैनिक 12 वर्ष सेना में रहना आवश्यक था। इसका अर्थ था कि अधिक व्यक्ति सैनिक शिक्षा न प्राप्त कर सके।

(6) अन्य शर्तें (Miscellaneous Provisions)—1870 में जर्मनी ने जो वस्तुयें फ्रांस से छीनी थीं, उन्हे लौटाना था। पूर्वी अफ्रीका के सुल्तान मकरवा की खोपड़ी भी ब्रिटेन को लौटाने को कहा गया।

सन्धि की आलोचना
(Criticism of the Treaty)

वर्साय सन्धि की आलोचना सभी निष्पक्ष देशों मे हुई, यहाँ तक अमेरिका में भी वर्साय की सन्धि की आलोचना हुई और सीनेट ने तो उसका अनुसमर्थन ही नही किया। युद्ध आलोचना के मुख्य संकेत दिये जाते हैं—

(1) भविष्य के संघर्ष के लिए मार्ग (Way for further Conflicts)—कुछ विद्वानों का कहना है कि वर्साय की सन्धि विल्सन के 14 सूत्रों पर आधारित थे परन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि वर्साय की सन्धि में इन सूत्रो की खुली अवहेलना हुई। श्री हैरोल्ड निकलसन जो प्रतिनिधि मण्डल मे ब्रिटेन की ओर से शान्ति सम्मेलन में सम्मिलित हुये थे कहते हैं कि 'सधि में एक भी शर्त की पूर्ति नही हुई। पराजितों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाई गई। विल्सन का उद्देश्य पूरा नही हुआ। स्थायी शान्ति के स्थान पर सम्मेलन में ही अशान्ति के बीज बो दिये गये थे।" एस० क्लिमेन्ट का मत है कि "इस सन्धि के परिणाम स्वरूप यूरोप में दरार पड़ गई और विभिन्न राष्ट्रों को राष्ट्रीयता के आधार पर विभाजित करके भविष्य के लिये संघर्ष का मार्ग निश्चित हुआ जहाँ सधि की आलोचना की गई वहाँ कुछ ने उसकी प्रशंसा भी की। गेथोर्न हार्डी का कहना है कि इससे अधिक आदर्श सन्धि कभी नहीं हुई। यदि यह मान भी लिया जाय कि सन्धि कठोर थी तो यह ध्यान रखना होगा कि कठोर शर्तों को गम्भीरता से कभी लागू नहीं किया गया।

(2) कठोर सन्धि (Unjust and Cruel Treaty)—लाइड जार्ज ने उन लोगो को यह उत्तर दिया, जो वर्साय की सन्धि को कठोर कह रहे थे, कि यदि जर्मन जीत जाता तो वह इससे भी अधिक कठोर नीति अपनाता। परन्तु आलोचकों का कहना है कि यह सन्धि उतनी ही कठोर थी जितनी कि कार्थेज को जीत कर, रोम ने की थी। पर यह बात नहीं मानी जा सकती है, मित्र राष्ट्र ने वास्तव में इतनी कठोरता नही बरती, फिर भी सन्धि की शर्तें अपेक्षाकृत कठोर थीं। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि जर्मनी द्वारा मित्र राष्ट्रों को अपार क्षति उठानी पड़ी थी। वे चाहते थे कि भविष्य मे जर्मनी ही क्या कोई राज्य युद्ध का खतरा उठाने से पूर्व इस युद्ध का परिणाम अवश्य देखेगा और चुपचाप बैठ जायगा। यह भी सही है कि जर्मनी यदि जीतता तो वह भी इतनी ही कठोरता बरतता जैसा कि उसने युद्ध के दौरान रूस से सन्धि करते समय बरती थी।

(3) अपमानजनक सन्धि (Humiliating Treaty)—जर्मनी ने 1871 में जैसा व्यवहार फ्रांस के साथ किया था, वैसा ही अपमानजनक व्यवहार फ्रांस ने जर्मन प्रतिनिधियों के साथ किया। जर्मन प्रतिनिधियों द्वारा गोलियों, ईंट और पत्थरों की बौछार के बीच में उसी शीश महल में सन्धि के ऊपर हस्ताक्षर कराये गये जहाँ 1871 में फ्रांस के प्रतिनिधियों से कराये गये थे। जर्मन प्रतिनिधियों ने उसी समय बता दिया था कि वे "आज के अपमान जनक व्यवहार को कभी भूल न सकेंगे।" इस प्रकार वर्साय की सन्धि ने घृणा, द्वेष एवं प्रतिशोध को जन्म दिया था। इतना ही नहीं फ्रांस का रवैया लगातार अपमान जनक रहा था। क्षतिपूर्ति करते समय फ्रांस ने जर्मनी का कस निकाला था। एक-एक जर्मन बच्चा फ्रांस से घृणा करने लगा था। जर्मन मजदूरों को दोहरी ड्यूटी देनी पड़ी थी। समय बीतने के साथ-साथ उनमें बदले की भावना बढ़ती थी। इस घृणा और अपमान ने ही हिटलर को पैदा किया था। काश जर्मनी के साथ इतनी कठोरता न वरती जाती तो जर्मन जनता हिटलर का इतना समर्थन न करती।

(4) एक पक्षीय व्यवस्थायें (One sided Provisions)—कुछ आलोचकों का मत है कि वर्साय की सन्धि एक पक्षीय थी, वह विजेताओं का निर्णय था जो हर अवस्था में मानना अनिवार्य था, वह बन्दूक के बल पर मनवाया गया था, उसे सन्धि कहना अर्थ का अनर्थ करना है। पेरिस में समस्त व्यवस्था एकपक्षीय थी। उसमे पराजितो को कोई स्थान न दिया गया था। उसमें समता का व्यवहार नही किया गया था। सन्धि की शर्तें अधिकांश रूप मे पराजित पक्ष के लिये थी। युद्ध का खतरा दूर करने के लिये केवल जर्मनी का ही निःशस्त्रीकरण किया गया था। युद्ध अपराधी केवल जर्मनी माना गया था, उसके ही अधिकारियों पर मुकदमा चलाया गया था। मित्र राष्ट्रों ने घोर पक्षपात से कार्य लिया था।

(5) आरोपित सन्धि (Dictated Peace)—वर्साय सन्धि की आलोचना करते समय ई० एच० कार (E. H Carr) ने कहा था कि यह सन्धि जबरन थोपी गई सन्धि है। यह शान्ति न होकर आरोपित शान्ति है। जर्मनी ने जब इस अपमान जनक सन्धि को मानने से इन्कार किया तब ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री लाइड जार्ज एक रिंग मास्टर की तरह कोड़ा फटकाने लगा, उसने धमकी दी कि वर्साय मे सन्धि नही मानी तो बर्लिन में चलकर हमें उनसे सन्धि मनवानी पड़ेगी। यह धमकी एक तानाशाह के रूप मे दी गई थी।

(6) तानाशाही की ओर ले जाने वाली सन्धि (Way to adopt Dictatorship)—जर्मनी इस सन्धि से इतनी बुरी तरह से कुचला गया कि उसे विवश होकर अपनी जनतन्त्रशाही को तानाशाही मे बदलना पड़ा। हिटलर की तानाशाही को जन्म देने वाली यह शान्ति सन्धि ही थी। जर्मनी अपने ऊपर थोपे गये जनतन्त्र को सहन न कर सका। डा० मथुरालाल शर्मा का कहना है कि "जर्मनी राजतन्त्र का अभ्यस्थ था........अतः शीघ्र ही जर्मनी मे राजतन्त्र हिटलरशाही के रूप में पुनर्जीवित हो उठा।"

(7) छोटे-छोटे अशक्त राज्यों की उत्पत्ति (Small and Weak states established) यूरोप के पुनर्निर्माण में भी सन्धि कर्ताओ ने सूझ-बूझ से काम लिया। जर्मनी और रूस के बीच मे अनेक छोटे राज्य स्थापित किये जिनमें एक दूसरे की विरोधी जातियाँ ठूस कर भरी गई थी जो आत्म रक्षा करने मे सर्वथा असमर्थ थी। चैकोस्लोवाकिया, लिथुनियाँ, स्टोपिया इत्यादि ऐसे ही अशक्त राज्य थे।

(8) द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म देने वाली सन्धि (The treaty was responsible for the II World War)—"मरता क्या न करता" यह कहावत जर्मनी के लिये उचित उतरती है। अनेक इतिहासकारो का मत है कि वर्साय की सन्धि द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म देने वाली थी। जिस प्रकार पाण्डवों के हार (जुए मे) जाने पर कौरवो ने उन्हें अपमानित करने में कोई कसर न

छोड़ी, जिसके कारण ही महाभारत की लड़ाई हुई। इसी प्रकार फ्रांस और इङ्गलैण्ड ने जर्मनी को इतना अपमानित किया कि उसे विवश हो कर युद्ध का मार्ग अपनाना पड़ा। अन्त में यही कहा जा सकता है कि वर्साय की सन्धि से कोई प्रसन्न नहीं था। इटली, फ्रांस, अमेरिका व ब्रिटेन भी यह समझते थे कि वे एक पूर्ण सन्धि नहीं कर सके हैं। जर्मनी के सन्तुष्ट होने का तो प्रश्न ही नहीं।

शान्ति सम्मेलन द्वारा अन्य संधियों के मसविदे
(Drafts of Other Treaties Perpared by Peace Conference)

वर्साय की सन्धि के अतिरिक्त पेरिस शान्ति सम्मेलन ने कुछ अन्य शान्ति सन्धियों के प्रारूप तैयार किये जो आस्ट्रिया हंगरी, बल्गेरिया एवं टर्की से सम्बन्धित थे। इन पर भी पराजित देशों से जबरन हस्ताक्षर कराये गये। ये सन्धियाँ निम्नलिखित थीं—

(1) आस्ट्रिया के साथ सेन्टजर्मेन की सन्धि (St. Germain Treaty wieth Austria)— जर्मन का साथी आस्ट्रिया-हंगरी का साम्राज्य भी था। मित्र-राष्ट्रों ने आस्ट्रिया-हंगरी का साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न कर दिया। पोलैण्ड, योगास्लाविया एव इटली को आस्ट्रिया साम्राज्य के कुछ खण्ड देकर सन्तुष्ट किया गया। हंगरी को भी आस्ट्रिया से पृथक कर दिया गया। इटली को ट्रीस्टे, इस्ट्रिया मिले, पोलैण्ड को हेमेन का जिला मिला, इसी जिले का कुछ भाग चैकोस्लोवाकिया को दिया गया। आस्ट्रिया के पास 3 करोड़ वाला प्रदेश रह गया उसे 30 हजार सेना रखने की अनुमति मिली। यह सन्धि 10 सितम्बर 1919 को सेन्ट जर्मेन के स्थान पर हुई।

(2) बल्गेरिया के साथ न्यूली की सन्धि (Treaty of Neuilly with Bulgaria)— पहले तो बल्गेरिया पर दोषारोपण मित्र राष्ट्र नहीं लगाना चाहते थे क्योंकि बल्गेरिया का शासक 1918 में गद्दी छोड़ चुका था, पर बाद में मित्र राष्ट्रों ने बल्गेरिया को भी युद्ध का उत्तरदायी ठहराया। पेरिस में इससे सन्धि न कर फ्रांस को एक नगर न्यूली (Neuilly) में बल्गेरिया के प्रतिनिधियों से 27 नवम्बर 1919 में सन्धि पर हस्ताक्षर कराये इस सन्धि के अनुसार बल्गेरिया के पश्चिमी भाग का कुछ अंश यूगोस्लाविया को दिया गया तथा कुछ अंश यूनान को दिया गया। उसकी सेना घटाकर 20 हजार कर दी गई एव क्षतिपूर्ति के लिये 45 करोड़ डालर लेने का उससे निश्चय किया गया।

(3) हंगरी के साथ त्रियनन की संधि (Trianon Treaty with Hungary) —हंगरी का राज्य आस्ट्रिया से पृथक कर दिया गया और उससे पृथक एक संधि की गई। फ्रांस के त्रियनन राज भवन में हंगरी के प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर किये। इस सधि के अनुसार फ्यूमें नाम के बन्दरगाह को जिस पर इटली का दावा था, पर विल्सन उसे यूगोस्लाविया को देना चाहता था, गुप्त सन्धि के अनुसार इटली को ही मिला और इसका उपनगर सूशाक यूगोस्लाविया को दे दिया गया। यह सन्धि 4 जून 1920 को हुई थी।

(4) तुर्की के साथ सेव्र की संधि (Sevres Treaty with Turkey)—टर्की में खलीफा शासन करता था। वह पहले मित्र राष्ट्रों के साथ रहा था पर उसने जर्मनी का पक्ष लेकर युद्ध किया। मुसलमानों को खतरा था कि अंग्रेज उससे अवश्य बदला लेंगे पर युद्ध के दौरान मुसलमानों को पक्ष में रखने के लिये अंग्रेजों ने वायदा किया था कि ब्रिटेन खलीफा को गद्दी से उतारेगा। एक ओर यह बाहरी वायदा था पर मित्र राष्ट्रों ने युद्ध के दौरान [illegible] साम्राज्य को आपस में बाँटने के लिये गुप्त सन्धियाँ कर लीं। युद्ध के बाद खलीफा को गद्दी से उतार दिया, इस पर खिलाफत आन्दोलन चला, आन्दोलन की [illegible] (Sevres) की सन्धि कर ली पर यह सन्धि लागू न हो सकी क्योंकि [illegible] तन्त्र घोषित कर दिया। अतः पिछली सन्धि में कुछ संशोधन कर [illegible]

की सन्धि की गई। इस सन्धि में न उसकी सेना में कमी की गई और न क्षति पूर्ति की माँग की गई पर शेष बातें जो 1915 की गुप्त संधि में थीं वे सब टर्की पर लागू की गईं अर्थात् उसका साम्राज्य उससे छीन लिया गया।

इस प्रकार मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को ही नहीं कुचला, बल्कि अन्य राष्ट्रों को भी कुचला जिन्होंने जर्मनी को युद्ध में सहायता की थी। इंग्लैण्ड और फ्रांस ने लूट का खूब बँटवारा किया।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. प्रथम विश्व युद्ध के प्रमुख कारणों पर प्रकाश डालिये और बताइये कि जर्मनी इसके लिये कहाँ तक जिम्मेदार था।
   Write the causes of First World War and state how for Germany was responsible for it.
2. प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी और इंग्लैण्ड की जिम्मेदारी यहाँ तक थी? क्या इंग्लैण्ड उसे रोक सकता था।
   How for England and Germany were responsible for the First World War? Could England prevent it?
3. प्रथम विश्व युद्ध मे रूस और फ्रांस की जर्मनी से शत्रुता ही मुख्य कारण था। इस कथन को स्पष्ट कीजिये।
   "The main cause of First Great War was the enmity of France and Russia with Germany." Explain the statement.
4. क्या प्रथम विश्व युद्ध टाला जा सकता था? स्पष्ट कीजिए।
   Was the First World War inevitable? Explain.
5. प्रथम विश्व युद्ध के क्या परिणाम थे? विवेचना कीजिए।
   What were the results of World War I? Discuss.
6. मित्र राष्ट्रों के मध्य हुई विभिन्न गुप्त सन्धियों का उल्लेख करते हुए बताइये कि इन गुप्त सन्धियों द्वारा युद्ध विजय में किस सीमा तक सफलता मिली।
   Describe the secret treaties among the different Allied Nations and also state what part they played in winning the First World War.
7. 1919 का शान्ति सम्मेलन पेरिस में क्यों हुआ? इस शान्ति सम्मेलन की विशेषताएँ क्या थी?
   Why was the Peace Conference of 1919 held in Paris? What are the main features of this Peace Conference.
8. शान्ति सन्धि के मुख्य कर्णधारों का संक्षिप्त परिचय दीजिए? यह भी बताइये की विल्सन के 14 सूत्र पर अमल क्यों न हो सका?
   Give a short introduction of the four treaty makers, Why Wilson's 14 points were note introduced in the peace treaties?
9. वर्साय की सन्धि के सविदा की आलोचना कीजिए तथा उसकी व्यवस्थाओं को लिखिए।
   Criticize the draft and provisions of the Treaty of Versailles.
10. 1919 में विश्व ने स्थिर शान्ति स्थापित करने का एक महान 'अवसर खो दिया। इस कथन को ध्यान में रखते हुए, वर्साय की सन्धि की आलोचना कीजिए।
    "A great opportunity for lasting peace was missed in 1919". In the light of this statement discuss the chief defects of the treaty of Versailles.
11. द्वितीय विश्व युद्ध के बीज 1919 की शान्ति व्यवस्था मे पाये जाते थे। विवेचना कीजिए।
    The seeds of Secnd World War were found in the Peace settlement of 1919. Discuss.

17
राष्ट्र संघ
(The League of Nations)

"राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन की एक नवीन प्रणाली थी। यह शक्ति पर आधारित राजनीति को उत्तरदायित्वपूर्ण राजनीति में परिवर्तन करने का एक प्रयास था।" —एम० लोर्नोडे

"The Covenant of the League of Nations did not out law war as such. The members of the league were not allowed to go to war under certain conditions. By the same token, they were allowed to go to war in the absence of those conditions."

—Morgenthau

राष्ट्र संघ की उत्पत्ति
(The Birth of League of Nations)

राष्ट्र संघ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Backrground of the League of Nations)—राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सघ का विचार सर्वप्रथम राष्ट्रपति विलसन के मस्तिष्क मे आया, यह कहना उचित नही क्योकि ऐसे विचार शताब्दियों पूर्व से चले आ रहे थे। यूरोप मे ही मध्य काल से यह विचार लोगों के दिमाग में घूम रहा था कि स्थायी शान्ति की व्यवस्था एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन द्वारा होनी चाहिए। पर यह विचार केवल दार्शनिकों तक ही सीमित था। राजनीतिज्ञों अथवा शासकों ने इस ओर ध्यान नही दिया था। राजनीतिक दार्शनिको द्वारा बनाई गई कुछ प्रमुख योजनायें निम्नलिखित थीं :

(1) पियरे डुबोइस (Pierre Dabois) ने युद्ध की विभीपिका से बचाने के लिए एक सुझाव 1306 में रखा था। वह चाहता था कि "फ्रास के नेतृत्व मे यूरोपीय राज्यों का संघ बनना चाहिए।"

(2) इटली के प्रसिद्ध कवि दान्ते (Dante) ने भी 14वीं शताब्दी में एक सुझाव रखा था कि "सभी शासकों को एक सार्वभौम साम्राज्य के आधीन रखा जाये।"

(3) 16वीं शताब्दी मे सल्ली (Sully) नामक विद्वान ने यह सुझाव रखा था कि "यूरोप को इस प्रकार 1) राज्यों में विभाजित किया जाय ताकि आवश्यकता पड़ने पर एक साधारण सभा के संरक्षण में सामूहिक कार्यवाही की जा सके।"

(4) 17वी शताब्दी में ऐमरिक क्रूस (Emeric Cruce) तथा विलियम पैन (William Penn) आदि ने भी "शान्ति स्थापना की योजनायें प्रस्तुत की थी।"

(5) 18वी शताब्दी में सेन्ट पियरे (Saint Pierre) तथा जर्मन दार्शनिक काण्ट (Kant) ने भी युद्ध की रोकथाम की योजनायें बनाई थी।

उपर्युक्त दार्शनिकों के उपदेशों को उस काल में व्यावहारिक नहीं माना जाता था। राष्ट्रों के मध्य विवाद का हल केवल युद्ध ही माना जाता था। युद्ध होते रहते थे। युद्ध के बाद शान्ति संधि हो जाती थी और फिर युद्ध चल पड़ते थे। यूरोप में सर्वप्रथम शासकों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विचार 19वीं शताब्दी मे नेपोलियन युद्धो की विनाश लीला देखकर पैदा हुआ।

नेपोलियन की पराजय के बाद 1814-15 मे वियाना शान्ति सम्मेलन हुआ। इसी सम्मेलन मे जहाँ यूरोप के पुनर्निर्माण का कार्य सम्पन्न हुआ वहाँ पर भावी युद्धों को रोकने एव यूरोप की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा के लिए 4 बड़े राष्ट्रों—ब्रिटेन, आस्ट्रिया, प्रशिया एवं रूस ने एक "चार पक्षीय समझौता" (Quadruple Alliance) किया। 1818 में फ्रांस को भी इस समझौते में सम्मिलित कर लिया गया। यह 'यूरोप का सविधा' (The Concert of Europe) कहलाया। इस संगठन की समय-समय पर बैठक होती थी पर इसके निर्णय के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति न थी अतः इसका अन्त 1822 के बाद हो गया।

राष्ट्रसंघ का जन्म (Birth of the League of Nations)—प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होते ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इङ्गलैण्ड ने सर्वप्रथम 1915 में लीग आफ नैशन्स सोसाइटी (League of Nations Society) की स्थापना की। इसके बाद जून 1915 में अमेरिका में 'शान्ति की स्थापना के लिए संघ (League to Enforce Peace) नामक संगठन की स्थापना की गई। यह कार्य भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति टैफ्ट (Taft) के नेतृत्व में हुआ। इसी वर्ष जून मास मे फिलाडेल्फिया के "इण्डिपेण्डन्स हाल" (Indepedence Hall) में इस सघ की बैठक हुई। इसमे चार सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। ये चार सूत्र निम्नलिखित थे—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निबटाने के लिये मध्यस्थता का सहारा लिया जाये।

(ii) शान्तिपूर्ण हल को अस्वीकृत करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध आर्थिक एव सैनिक कार्यवाही की जाये।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय विधि को लिपिबद्ध किया जाये।

(iv) एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यपालिका की स्थापना की जाये।

8 जनवरी 1918 को राष्ट्रपति विलसन ने अपने सुप्रसिद्ध चौदह सूत्रों का प्रकाशन किया। इनका अन्तिम सूत्र राष्ट्रसंघ के निर्माण से सम्बन्धित था। इसमे साफ घोषित किया गया था कि "बड़े और छोटे राज्यो को समान रूप से राजनीतिक स्वाधीनता और प्रादेशिक अखण्डता का पारस्परिक आश्वासन देने के लिए निश्चित प्रसंविदाओं के अन्तर्गत राष्ट्रों का एक सामान्य सघ बनाया जाना चाहिये।"[1]

प्रथम विश्वयुद्ध, 11 नवम्बर 1918 में युद्ध-विराम होने के तुरन्त बाद बन्द हो गया। 18 जनवरी 1919 से पेरिस मे शान्ति सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। विलसन ने मित्र राष्ट्रों से विचार-विमर्श कर राष्ट्र संघ की स्थापना का प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ। 25 जनवरी 1919 को राष्ट्रसघ की रूपरेखा तैयार करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की गयी। इस आयोग के 15 सदस्य थे। कालान्तर में सदस्यों की संख्या 19 कर दी गई। राष्ट्रपति विलसन इस आयोग के अध्यक्ष चुने गये। वास्तव में राष्ट्रसघ के धर्मपिता के रूप मे विलसन को माना जाता है।

---

[1] "A general association of nations must be formed under specific covenants for the purpose of affording mutual guarantees of political independence and territorial integrity to great and small states alike."
—Woodrow Wilson

आयोग की प्रथम बैठक 3 फरवरी 1919 को हुई । 14 फरवरी 1919 तक इसकी 10 बैठकें हुई । इन बैठकों मे राष्ट्र संघ के सम्बन्ध मे विभिन्न योजनायें प्रस्तुत हुईं । आयोग का दूसरा अधिवेशन 22 से 26 मार्च एवं 10 से 12 अप्रैल तक हुआ । 14 अप्रैल 1919 को राष्ट्र संघ का संविधान तैयार हो गया, उसे 28 अप्रैल 1919 को कुछ संशोधनों द्वारा स्वीकार कर लिया गया । 28 जून 1919 को राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र (Covenant) या राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये । अन्ततः 10 जनवरी 1920 को औपचारिक रूप से राष्ट्र संघ की स्थापना हो गई । इस प्रकार विलसन का स्वप्न साकार हुआ । पर यह दुर्भाग्य का विषय था कि सं० रा० अमेरिका की सीनेट ने न तो वर्साय की सन्धि को स्वीकृति दी और न ही सं० रा० अमेरिका को राष्ट्र संघ का सदस्य बनने की अनुमति दी ।

राष्ट्र संघ की प्रकृति
(Nature of the League of Nations)

1919 के पेरिस सम्मेलन में चार बड़े राष्ट्रों—ब्रिटेन, फ्रांस अमेरिका एवं इटली का प्रभाव था । इन्होंने ही वर्साय सन्धि का निर्माण किया और उसमें ही राष्ट्र संघ को जोड़ दिया । चूंकि इटली का प्रधानमन्त्री अंग्रेजी नही जानता था अतः वह निष्क्रिय रहा । वर्साय की सन्धि पर जिन राष्ट्रों ने स्वीकृति रूप हस्ताक्षर किये व सभी राष्ट्र संघ प्रारम्भिक सदस्य बने । बाद में अन्य राष्ट्रों ने भी राष्ट्र सघ की सदस्यता स्वीकार कर ली । पर अनेकों राष्ट्रों ने संघ से दूर रहना ही उचित समझा ।

राष्ट्र सघ का उद्देश्य तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाये रखना था, पर वास्तविकता यह थी कि शान्ति सम्मेलन मे जो व्यवस्था "तीन बड़ो" ने बनायी थी, उसकी स्थापना बनी रहे यही उसका लक्ष्य था । अतः कुछ राष्ट्रों ने साफ कहा है कि "राष्ट्र संघ वर्साय सन्धि को कार्यान्वित करने का एक साधनमात्र था" पर यह बात पूर्णतया सत्य न थी क्योंकि अनेक राष्ट्रों ने राष्ट्र सघ की सदस्यता त्याग दी यद्यपि उन्होने वर्साय सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे, इसी प्रकार अनेक राष्ट्रों ने राष्ट्र की सदस्यता स्वीकार की यद्यपि उन्होंने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये थे ।

राष्ट्र संघ की प्रकृति की व्याख्या करते हुए आर्गेन्सकी (Organski) ने लिखा है कि "यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि राष्ट्रसघ अन्तर्राष्ट्रीय सरकार नही थी, वह सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यों का एक ऐसा ऐच्छिक सघ था जिसके सदस्यों ने प्रतिज्ञा-पत्र मे उल्लिखित कुछ नैतिक तथा आर्थिक दायित्वों को स्वीकार कर लिया था परन्तु इससे अधिक कुछ नही ।"

पर इतना होते हुए भी राष्ट्र संघ अपनी पूर्वगामी संस्थाओं से भिन्न था, क्योंकि उसका अपना विधान था, अपने अंग थे तथा अभिकरण थे । इसीलिए मार्गेन्थ्यू ने लिखा है कि 'पवित्र समैत्री के विपरीत राष्ट्र सघ एक वास्तविक संगठन था जिसका वैधिक व्यक्तित्व था, और जिसके अपने अभिकर्ता और अभिकरण थे ।"[1]

राष्ट्र संघ कोई अधिराज्य (Super state) नही था क्योकि उसके पास भूमि, जनसंख्या, सम्प्रभुता एवं सरकार न थी। उसे राज्यमण्डल (Confederation) भी नही कहा जा सकता, क्योंकि उसमे सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यो का एक ऐसा सघ होता है जो अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का सचालन स्वयं करता है । राष्ट्र संघ यद्यपि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यों का संघ था पर उसके सदस्य स्वयं अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का संचालन करते थे । तब यह प्रश्न उठता है कि राष्ट्र सघ कैसा संगठन है ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वह परामर्शदात्री संस्था के समान था ।

---

1 "The League of Nations, in contrast to the Holy Alliance, was a real organisation with a legal personality, with agents and agencies of its own." —Margenthau : *Politics Among Nations* p. 465.

वह राज्यों का एक ढीलाढाला संगठन था, उसे सहयोग मण्डल कहा जा सकता है। उसके सदस्य इच्छानुसार उसमें सम्मिलित हो सकते थे और इच्छानुसार उसे त्याग सकते थे। "वह सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का एक साधन मात्र था। वह गुप्त कूटनीति के स्थान पर खुली कूटनीति रखता था ताकि गुप्त राजनय के दोषों से बचा जा सके।

राष्ट्र-संघ अपने नाम के विपरीत राज्यों का संघ था, राष्ट्रों का नहीं। उसकी स्थापना राज्यों के आपसी झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से निबटाने के उद्देश्य से हुई थी। वह किसी राज्य को अपना सदस्य बनाने या बनाये रखने को बाध्य नहीं कर सकता था। उसकी शक्तियाँ सीमित थी। इस संगठन पर इङ्गलैण्ड और फ्रांस का प्रभाव रहा। अतः इसके निर्णय अधिकांश में पक्षपात पूर्ण एवं स्वार्थ से लिप्त रहे। इसको सदैव शक्तिशाली राज्यों ने कठपुतली बनाया। दुर्बल राज्यों को सदैव दबाया और शक्तिशाली राज्यों के सामने घुटने टेक दिये।

इतना होने पर भी राष्ट्र संघ एक अनोखा संगठन था जिसने अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास किया, विवादों को शान्तिपूर्ण साधनों से निपटाने पर बल दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए मार्ग दिखलाया। गैथोर्न हार्डी (Gathorne Hardy) ने कहा था कि "राष्ट्रसंघ शान्ति सम्मेलन का एक महान रचनात्मक कार्य था। इसकी आत्मा, पूर्णतया अन्तर्राष्ट्रीय थी, और उन सदस्यों के हाथो में, जो निःस्वार्थ भाव से इसका उपयोग करना चाहते थे, शान्ति का एक अद्वितीय उपकरण बन सकता था।" पोलक (Pollock) के शब्दों में "स्वतन्त्र राज्यों का एक मेल अथवा भ्रातृत्व मण्डल (A concert of independent powers) के रूप में राष्ट्र संघ था।"

राष्ट्र संघ के उद्देश्य
(Objects of League of Nations)

राष्ट्र संघ का उद्देश्य विश्व स्थायी शान्ति की स्थापना और युद्ध को रोकना था। इसकी भूमिका (Preamble) में उसके उद्देश्यों का वर्णन किया गया है। भूमिका के अतिरिक्त इसकी प्रसविदा में दसवें परिच्छेद (Para) वाली 26 धारायें हैं जिनमें कुल 4,000 शब्द हैं। इस प्रकार सं० रा० संघ की अपेक्षा राष्ट्र संघ एक छोटा प्रतिज्ञा पत्र रखता है।

प्रतिज्ञा पत्र की भूमिका के अनुसार राष्ट्र संघ के तीन मुख्य उद्देश्य थे—

"(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना अर्थात् न्याय एवं सम्मान के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करके भावी युद्धों को रोकना।"

(2) संसार के राष्ट्रों के बीच सहयोग को बढ़ाना ताकि मानव जीवन अधिक सुखी और आनन्दमयी बने। तथा

(3) पेरिस के शान्ति-सम्मेलन द्वारा स्थापित कुछ व्यवस्थाओं को लागू करने के लिए कार्यवाही करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त भी अन्य सामान्य उद्देश्य राष्ट्र-संघ के थे। जैसे, संरक्षण पद्धति को चलाना, अल्पसंख्यक नीतियों की देखभाल करना, अन्य सार्वजनिक हित के कार्य करना, महामारियों को रोकना, स्वास्थ्य की दशा को उन्नत करना, दास प्रथा का अन्त करना, स्त्रियों के क्रय-विक्रय को रोकना, आर्थिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में सहयोग करना आदि। शान्ति स्थापना के लिए राष्ट्रों में सहयोग, निःशस्त्रीकरण तथा शान्तिमय उपायों से राष्ट्रों के झगड़ों को निबटाना।

राष्ट्र-संघ की सदस्यता
(Membership of the League of Nations)

राष्ट्र-संघ के सदस्य दो प्रकार के थे—प्रारम्भिक एवं प्रविष्ट राष्ट्र-संघ के प्रतिज्ञा-पत्र की प्रथम धारा के अनुसार, इसके प्रारम्भिक सदस्य वे राष्ट्र थे जिन्होंने वर्साय एवं अन्य शान्ति-

पर हस्ताक्षर किये थे या जो राष्ट्र-संघ के सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किये गये थे। प्रविष्ट सदस्य वे थे जिन्होंने राष्ट्र-संघ मे प्रवेश के लिए प्रार्थना पत्र दिया था और जिन्हें राष्ट्र-संघ की सामान्य सभा ने 2/5 के बहुमत से स्वीकार कर लिया था। राष्ट्र-संघ सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों के लिए खुला था और कोई भी राष्ट्र जो राष्ट्र-संघ के संविदा में आस्था रखते थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानने को तैयार थे। इसके सदस्य हो सकते थे।

प्रारम्भिक और प्रविष्ट सदस्यों में व्यवहारतः कोई अन्तर न था। वे वाद-विवाद में भाग ले सकते थे और मतदान कर सकते थे।

प्रारम्भ में 30 सदस्य राष्ट्र तो वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर करने वाले थे और 13 राज्यों को सदस्य बनने को आमन्त्रित किया गया। चीन ने वर्साय की संधि पर तो हस्ताक्षर नही किये थे पर 1920 में उसको सदस्य बना लिया गया था क्योंकि उसने सेण्टजर्मेन की संधि पर हस्ताक्षर कर दिये थे। राष्ट्र-संघ की सदस्यता बढ़ती जाती थी। 1927 में वह 56 हो गई और 1935 मे 62 हो गई। बीच बीच में सदस्यों का आवागमन चलता रहा जापान ने 1933 में, इटली ने 1937 मे, जर्मनी ने भी 1933 मे इसकी सदस्यता त्याग दी थी। कोई भी सदस्य दो वर्ष का नोटिस देकर सदस्यता से पृथक हो सकता था। राष्ट्र-संघ में यह भी व्यवस्था थी कि वह राष्ट्र-संघ के नियमों की अवहेलना करने वाले को निष्कासित कर दे। 1940 में रूस को इसी अपराध में निकाल दिया गया था। 1937 के बाद संघ की सदस्यता घटती गई। 1946 मे जब राष्ट्र-संघ की अन्तिम बैठक हुई थी तब उसके 43 सदस्य रह गये थे और उनमें से भी 34 राज्यो के प्रतिनिधियों ने उसमे भाग लिया था।

दुर्भाग्य का विषय था कि राष्ट्र संघ का जन्मदाता संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की, रूस को 1933 तक सदस्य नही बनाया गया। जर्मनी को 1926 मे सदस्य बनाया गया था पर उसने 1933 मे ही राष्ट्र संघ को त्यागने का नोटिस दे दिया था। जापान ने भी पहले ही नोटिस दे दिया था। राष्ट्र संघ मे इगलैण्ड और फ्रास के अलावा कोई बड़ी शक्ति न रही थी। इसके कारण इन दोनों के ऊपर नियन्त्रण लगाने वाली कोई शक्ति न थी।

राष्ट्र संघ के अंग तथा उनके कार्य

(Organs of the League of Nations and their Functions)

राष्ट्र संघ के अंग (Organs of the League of Nations)—राष्ट्र संघ के तीन प्रमुख अंग थे—

(1) सभा (Assembly)।

(2) परिषद् (Counc.l)।

(3) सचिवालय (Secretariat)।

इनके अतिरिक्त दो स्वायत्त (Autonomous) अंग थे—

(4) अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice)।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (International Labour Organisation I. L. O.)

इन अंगो का संक्षिप्त परिचय पृथक-पृथक दिया जायगा।

(1) सभा (Assembly)—संघ के चार्टर के अनुसार राष्ट्र संघ की प्रतिनिधि सभा ही "साधारण सभा" थी। इसमे प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। प्रत्येक राष्ट्र-सदस्य के एक समय मे अधिक से अधिक 3 प्रतिनिधि रह सकते थे पर इन तीनो का मत एक ही हो सकता था। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने प्रतिनिधि को चुनने का, उसे बुलाने या बदलने का पूर्ण अधिकार होता था। आमतौर से ये प्रतिनिधि देश के योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति होते थे।

साधारण सभा का वर्ष में एक बार अधिवेशन होता था। आवश्यकता पड़ने पर विशेष अधिवेशन भी हो सकता था। आमतौर से सभा का अधिवेशन सितम्बर के महीने में जेनेवा में होता था तथा तीन सप्ताह तक चलता था। सभा का प्रथम अधिवेशन 15 नवम्बर 1920 को आरम्भ हुआ था तथा अन्तिम अधिवेशन 6 से 18 अप्रैल 1946 तक चला था। इस अन्तिम अधिवेशन में राष्ट्र संघ को समाप्त करने का निर्णय किया गया था। इसके समस्त अधिकार एवं कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ को हस्तान्तरित कर दिये गये थे।

राष्ट्र संघ अपना अध्यक्ष और आठ उपाध्यक्ष प्रतिवर्ष चुनती थी। उसकी एक समिति (सामान्य) और 6 स्थायी तथा कुछ विशेष समितियाँ होती थी। स्थायी समितियाँ अग्रलिखित थीं—(1) वैधानिक तथा कानूनी प्रश्न से सम्बन्धित (2) प्राविधिक तथा तकनीकी विषय से सम्बन्धित (3) निःशस्त्रीकरण (4) बजट व आन्तरिक शासन (5) सामाजिक प्रश्न से सम्बन्धित एवं (6) राजनीतिक प्रश्न से सम्बन्धित। इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार सभा अन्य समितियों का गठन कर सकती थी। सभा अपने कार्य सम्बन्धी नियम स्वयं बना सकती थी।

सामान्य सभा के अधिकाश निर्णय सर्व सम्मति से होते थे। इस विषय में अपवाद केवल प्रक्रिया सम्बन्धी विषयो के बारे मे था अर्थात् राष्ट्र सघ में मतैक्य का नियम (Principle of Unanimity) अपनाया गया था : हेरिस (Harris) का मत था कि "सदस्य-राज्य अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को बचाने के लिए इतने सतर्क थे कि वे ऐसी किसी संस्था के सदस्य बनने के इच्छुक न थे जिसमें उन पर किसी निर्णय को लादे जाने का भय हो।"

साधारण सभा के निर्णय चार प्रकार से होते थे। कुछ विषय सर्व-सम्मति से, कुछ दो तिहाई मतों से, कुछ पूर्ण बहुमत से तथा कुछ साधारण बहुमत से निर्णित होते थे। सभा का कार्य अंग्रेजी या फ्रेन्च भाषा मे ही हो सकता था। इन भाषाओं के दुभाषिये सदैव वहाँ उपस्थित रहते थे।

सभा के कार्य (Function of Assembly)—विधान की धारा तीन के अनुसार सभा के कार्य थे—"साधारण सभा अपनी बैठक मे राष्ट्र संघ के कार्य-क्षेत्र मे आने वाले किसी भी विषय पर अथवा विश्व-शान्ति पर प्रभाव डालने वाले किसी भी विषय पर विचार कर सकती थी।"

सुविधा के लिए हम साधारण सभा के कार्यों को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—(i) निर्वाचन सम्बन्धी (Electoral) (ii) विचार सम्बन्धी (Deliberative) (iii) संवैधानिक (Constituent) इनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है :

(i) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य—इस वर्ग में—(अ) दो तिहाई मतों से राष्ट्र संघ के नवीन सदस्यों को प्रवेश की अनुमति प्रदान करना, (ब) प्रति वर्ष परिषद् के लिये 9 अस्थायी में से एक तिहाई सदस्यो को साधारण बहुमत से चुनना (स) प्रति 9 वर्ष के लिये परिषद की समिति से अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के लिये 15 न्यायाधीशों का निर्वाचन करना; तथा (द) परिषद् द्वारा चुने गये महासचिव (Scretary General) की नियुक्ति की स्वीकृति प्रदान करना।

(ii) विचार सम्बन्धी कार्य—साधारण सभा का सबसे महत्त्वपूर्ण था—उन सभी स्थितियो पर विचार करना जिनसे विश्व शान्ति को खतरा पहुँचने का भय था। यह अधिकार उसे संघ के चार्टर की धारा 3 के अनुसार मिला था। संघ का कोई भी सदस्य किसी भी ऐसी समस्या को सभा में रख सकता था परन्तु धारा 15 के अनुसार सभा को ऐसे मामले पर विचार करने का अधिकार न था जो किसी राज्य के घरेलू क्षेत्राधिकार (Domestic Jurisdiction) में आता था।

विचारात्मक संस्था के रूप में सभा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के राजनीतिक, आर्थिक तथा प्राविधिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श कर सकती थी। धारा 19 के अन्तर्गत सभा राष्ट्र संघ के सदस्यों को ऐसी सन्धियों पर पुनर्विचार करने की सलाह दे सकती थी जो अब अपरिवर्तनशील हो गयी हों।

साधारण सभा परिषद् के कार्यों का निरीक्षण करती थी, वह संघ का वार्षिक बजट तैयार करती थी लगभग 60 लाख डालर का होता था यह तकनीकी आयोगो की जांच-पड़ताल करती थी।

(iii) संवैधानिक कार्य—संविधान में संशोधन करने का अधिकार साधारण सभा को था परन्तु इन संशोधनों पर परिषद् की सहमति आवश्यक थी एवं सम्बन्धित सदस्यो द्वारा उसकी पुष्टि आवश्यक थी।

साधारण सभा का मूल्यांकन—साधारण सभा परिषद् की अपेक्षा कम अधिकार रखती थी। विधान निर्माता कार्यकारिणी ने सभा के अधिकार जान बूझ कर कम रखे थे, उसका कारण था उसके सदस्यों की संख्या बहुत अधिक होना, वर्ष में अल्प काल के लिये उसकी बैठक होना, आदि।

सामान्य सभा केवल निर्णय करने वाली संस्था थी, उन निर्णयों को कार्यान्वित करने वाली संस्था परिषद थी। उसमें छोटे-बड़े सभी प्रकार के राष्ट्र होते थे और उन्हें समता का दर्जा प्राप्त था। अतः उसकी स्थिति परिषद् के समक्ष गौण थी। संघ के विधान निर्माता जनरल स्मट्स तथा सेलिस का विचार था कि संघ का वास्तविक कार्य परिषद द्वारा होना चाहिये पर उनके विचार से विपरीत कालान्तर में सभा की प्रतिष्ठा एवं महत्त्व बढ़ाने लगा। इसके कुछ कारण थे। इसमें प्रथम कारण था छोटे राज्यों का सभा में बहुमत, दूसरे इसमे व्यक्त किये गये विचार विश्व की आवाज माने जाते थे। सभा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विभिन्न राष्ट्रों के विचारों की अभिव्यक्ति का रंगमंच बन गयी थी। तीसरे सभा के अधिवेशन खुले रूप में होते थे। दर्शक के रूप में जनता इसमें सम्मिलित हो सकती थी। चौथे, सभा के वाद-विवाद की स्वतन्त्रता होती थी। इनमें उन सभी विचारों को रखा जा सकता था जो पूर्व में परराष्ट्र मन्त्रालयों मे गुप्त रखे जाते थे। पोटर (Potter) महोदय का यह कहना गलत सिद्ध हुआ कि "सभा एक वाद-विवाद करने वाली संस्था" (debating society) है। मोवट (Mowett) ने कहा था कि "सभा राष्ट्र संघ का एक प्रभावशाली अंग है।" यद्यपि यह बात सही थी कि सभा परिषद् के समान शीघ्रतापूर्ण कार्य नहीं कर सकती थी पर अपने उत्तरदायित्वों के कारण सभा राष्ट्र संघ का सर्वोच्च अग बन गई थी।

(2) परिषद् (Council)—राष्ट्र संघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अग परिषद् को बनाया गया था। यह राष्ट्र संघ की कार्यकारिणी थी।

(i) संगठन (Organisation)—विधान निर्माताओं ने राष्ट्रसघ की कार्यकारिणी के रूप में परिषद् का निर्माण किया था। उसे सभा की अपेक्षा अधिक अधिकार देकर शक्तिशाली बनाया गया था। सभा की अपेक्षा परिषद् की सदस्य संख्या बहुत कम रखी गई थी। इसमें सभी राष्ट्रों को प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। इसके अतिरिक्त परिषद् में सदस्यों का समता का अधिकार भी नहीं दिया गया था। महाशक्तियों का महत्त्व एव उच्चता के सिद्धान्त पर इसका संगठन किया गया था।

परिषद् में दो प्रकार के सदस्य थे—एक स्थायी एवं दूसरे अस्थाई विधान-निर्माण के समय महाशक्तियों ने यह प्रयत्न किया था कि कौंसिल की सदस्यता केवल उन तक ही सीमित रहे परन्तु छोटी शक्तियों ने इस विचार का घोर विरोध किया था। अन्त में यह निर्णय हुआ था कि 5 महाशक्तियो को इसका स्थायी सदस्य बनाया जाय और इसके 4 सदस्य अस्थायी हों और उनका चुनाव लघु शक्तियां करें। 1920 में जब प्रथम बार परिषद् का गठन हुआ तो परिषद् के 5 राष्ट्र अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान-स्थायी सदस्य थे और बेल्जियम, ब्राजील, यूनान और स्पेन को अस्थाई सदस्यता प्रदान की गई थी।

परिषद् के सदस्यों की संख्या घटती और बढ़ती रही। स्थायी सदस्यों का एक स्थान तो प्रारम्भ में ही रिक्त हो गया क्योंकि अमेरिका संघ का सदस्य नहीं बना। 1922 तक

और अस्थायी सदस्यों की संख्या बराबर-बराबर रही। 1922 में अस्थायी सदस्यों की संख्या 6 हो गई। ये नये स्थान पोलैण्ड एवं यूगोस्लाविया को मिले। इस प्रकार लघुशक्तियों का प्रतिनिधित्व बहुमत में हो गया। 1925 में जर्मनी को संघ का सदस्य बनने के लिये आमन्त्रित किया गया पर उसने एक शर्त पर संघ का सदस्य बनने की इच्छा प्रकट की। शर्त यह थी कि उसे बड़ी शक्तियों के समान सम्मान पूर्वक आमन्त्रित किया जाय तथा परिषद् में स्थायी सदस्यता दी जाये।

संघ के संविधान में साधारण सदस्य के लिये सभा में दो-तिहाई मत की आवश्यकता होती थी एवं परिषद् के सदस्य बनने के लिये सर्व-सम्मति आवश्यक थी। अतः जर्मनी की शर्तों से उलझन का पैदा होना आवश्यक था। इस उलझन को दूर करने के लिये 18 मार्च 1926 को एक विशेष समिति नियुक्त हुई। समिति ने सुझाव दिया कि एक नयी श्रेणी-अर्द्ध-स्थायी सदस्य की बनायी जाये और जर्मनी को इसके अनुसार सदस्य बनाया जाये। जर्मनी राजी हो गया और वह 1926 से सभा और परिषद् दोनों का सदस्य बन गया। 1934 में रूस भी जर्मनी के समान दोनों अंगों का सदस्य बन गया। इस प्रकार परिषद् की सदस्य संख्या 11 हो गई। पर जापान ने 1933, जर्मनी ने 1945 तथा इटली ने 1937 में राष्ट्र संघ से त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार 1937 में परिषद के स्थायी सदस्यों की संख्या 3 ही रह गई। 1940 में रूस को फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर दिया गया, फलतः परिषद में केवल फ्रांस और ब्रिटेन केवल दो ही सदस्य रह गये। अन्तिम परिषद (1939) में परिषद के 11 सदस्य (अस्थायी) इस प्रकार थे—बेल्जियम, चीन, बोलिविया, डोमिनिकन गणराज्य, मिस्र, फिनलैण्ड, ईरान, यूनान, पेरू, यूगोस्लाविया एवं दक्षिणी अफ्रीका संघ।

(ii) कार्य विधि (Procedure)—परिषद का अध्यक्ष पद फ्रेंच वर्णानुक्रम अनुसार विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों को एक-एक अधिवेश के लिए बारी-बारी से दिया जाता था। वह एक वर्ष के लिए चुना जाता था। 1929 के बाद परिषद् के वर्ष में तीन अधिवेशन-जनवरी, मई तथा सितम्बर में होते थे। आवश्यतानुसार विशेष अधिवेशन बाकी नहीं थे। परिषद का पहला अधिवेशन 16 जनवरी 1920 को प्रारम्भ हुआ और अन्तिम (107वां) अधिवेशन 14 दिसम्बर 1939 को हुआ।

परिषद में एक देश का एक ही प्रतिनिधि होता था और उसे एक ही मत देने का अधिकार होता था। परिषद के निर्णय अधिकांश रूप में सर्व सम्मति से होते थे परन्तु प्रक्रिया सम्बन्धी विषय (Procedural Matters) पर बहुमत का निर्णय मान लिया जाता था। शान्ति संधियों में, अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित धाराओं में, संशोधन सम्बन्धी सिफारिशें तथा न्यायाधीशों के निर्वाचन भी बहुमत से किये जाते थे।

परिषद के अधिवेशन खुले होते थे पर आवश्यकता पड़ने पर वे गोपनीय भी हो सकते थे। परिषद की कार्यवाही के संक्षिप्त विवरण (Minutes) प्रकाशित होते थे।

परिषद की बैठकों में असदस्य राष्ट्रों को भी भाग लेने का अवसर दिया जा सकता था। जब किसी राज्य से सम्बन्धित मामला परिषद में रखा जाता था, तब यदि उस राज्य का प्रतिनिधि परिषद का सदस्य न हो तो उसे उक्त बैठक में अपना प्रतिनिधि भेजने का अवसर दिया जाता था। एक बात विशेष उल्लेखनीय यह है कि आज कल की सुरक्षा परिषद के समान राष्ट्र संघ की परिषद में स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार (Veto) नहीं प्राप्त था।

(iii) परिषद के कार्य (Functions of the Council)—परिषद का कार्य-क्षेत्र अति-व्यापक था। राष्ट्र संघ के क्षेत्र में आने वाले सभी विषयों पर परिषद विचार कर सकती थी। विश्व शान्ति के सभी मामलों में वह विचार करने का अधिकार रखती थी। सामान्यतया उसके कार्य अग्रलिखित थे :

(क) साधारण सभा के निर्णयों को क्रियान्वित करना।
(ख) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निबटारा करना।
(ग) शान्ति सधियों द्वारा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करना।
(घ) निःशस्त्रीकरण के लिए योजना बनाना।
(ञ) राष्ट्र संघ की ओर से कुछ विशिष्ट प्रदेशों, जैसे कि डेन्जिग, सार प्रदेश आदि के प्रशासन की व्यवस्था करना।
(च) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने के लिए सैनिक कार्यवाही का निश्चय करना।
(छ) महासचिव को मनोनीत करना।
(ज) सचिवालय ने महासचिव द्वारा की गई नियुक्तियों का अनुमोदन करना।
(झ) सचिवालय को निर्देश देना, तथा
(ञ) शासनादेश (Mandates) का निरीक्षण करना, आदि।

इस प्रकार परिषद अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करती थी। वह राष्ट्रों पर नियन्त्रण रखने के लिए सैनिक कार्यवाही, आर्थिक बहिष्कार एवं निष्कासन करने का अधिकार रखती थी। युद्ध की सभी सम्भावनाओं को दूर करने का प्रयत्न करती थी, सहयोग और सद्भावनाओं को दूर करने का प्रयत्न करती थी, सहयोग और सद्भावना के लिए वह अनेक प्रयत्न करती थी, युद्धों को, पारस्परिक झगड़ों का एकमात्र हल का वह विरोध कर शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाने का प्रयत्न करती।

(iv) परिषद तथा सभा का सम्बन्ध (Relation between the Council and the Assembly)—राष्ट्र संघ के दो प्रमुख अग के रूप में सभा और परिषद के निर्माण की व्यवस्था का आयोजन सविधान में किया गया था। उनके अधिकार और कर्तव्यो का भी उसमे विवेचन किया गया था पर उन दोनों अगो के सम्बन्धों के विषय मे कोई चर्चा नहीं की गई थी। कुछ लोगों का यह मत था कि इन दोनों अगों का वही सम्बन्ध था जो ससदात्मक शासन में ससद और उसकी कार्यकारणी परिषद मे होता है। कुछ अन्य लोग यह कहते थे कि इनका सम्बन्ध व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के बीच के सम्बन्ध जैसा था। परन्तु इन दोनों अगों के अध्ययन से ऐसा कोई सम्बन्ध दिखाई नही पड़ता था। वास्तव मे इन दोनो मे एक मशीन के पुर्जों के समान सहयोग रहता था। कोई एक दूसरे के अधीन न था जैसा कि आधुनिक समय में संसद पद्धति की सरकार मे होता है। मानो परिषद लोक सभा के प्रति उत्तरदायी रहती है और द्वितीय सदन प्रथम का अक्षरशः समर्थन करता है। असैम्बली परिषद को समाप्त नही कर सकती थी और न परिषद असैम्बली को भंग कर सकती थी। एक बार परिषद जब गठित हो जाती तो वह असैम्बली से पूर्ण स्वतन्त्र हो जाती। अतः इन दोनों अगों मे न व्यवस्थापिका के दोनों सदनों जैसा सम्बन्ध था और न व्यवस्थापिका एवं मन्त्रि परिषद जैसा सम्बन्ध था।

(v) परिषद का मूल्यांकन (Evaluation of the Council)—राष्ट्र संघ की परिषद वास्तव मे दुहरा कार्य करती थी। वह एक उच्च सदन का कार्य भी करती थी तथा मन्त्रि-परिषद का कार्य भी करती थी। परिषद के सदस्य मामूली प्रतिनिधि नही होते, वे अपने राज्य के प्रधानमन्त्री या विदेश मन्त्री होते थे। उसे विश्व राजनीति को प्रभावित करने के अनेक अवसर मिलते थे। उसका निर्णय अधिक ठोस होता था। विश्व शान्ति की स्थापना के लिए परिषद अधिक जिम्मेदार थी। परिषद में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा शान्तिपूर्ण ढंग से हो जाता था। विश्व शान्ति स्थापना मे उसका वह कार्य अधिक सराहनीय था। इसीलिए हावर्ड इलियस (Haward Ellis) ने लिखा है कि "अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को विचार-विमर्श द्वारा एवं शान्तिपूर्ण

विशेषाधिकार प्राप्त न था पर उसका महत्त्व किसी अंश से कम न था। सैद्धान्तिक एवं संवैधानिक दृष्टि से भले ही उसका स्थान गौण हो पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके कार्यों का बड़ा महत्त्व था। अन्य अंगों की महत्ता का श्रेय यदि किसी को प्राप्त है तो वह सचिवालय को है। राष्ट्र संघ की कार्यवाही से सफल संचालन में सचिवालय का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता था भले ही राष्ट्र संघ के अन्य अंगों में स्वार्थता, रंग भेद, जाति भेद एवं पक्षपात का बोलबाला हो पर सचिवालय में यह रोग न फैला। मूरे (Murray) का कहना था कि "सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का सर्वोत्कृष्ट नमूना था, और अगर राष्ट्र संघ का उद्देश्य इस सहयोग को बढाना था, तो निश्चय ही सचिवालय काफी हद तक इस उद्देश्य की पूर्ति करता था।"

राष्ट्र संघ के अन्य अंग
(Other Organs of the League of Nations)

प्रमुख अंगों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद, उसके अन्य अंगो का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा :—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (International Labour Organisation)—प्रथम विश्व युद्ध के दौरान रूस में साम्यवादी क्रान्ति 1917 में हो चुकी थी। यद्यपि रूस मे तानाशाही स्थापित हो चुकी, पर उसे श्रमिक तानाशाही कहकर साम्यवादियो ने श्रमिकों में लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। संसार भर के मजदूर साम्यवादी क्रान्ति की ओर आकर्षित हो गये थे। इस खतरे का अनुभव पश्चिमी राष्ट्रों ने भी किया अतः अन्य गम्भीर समस्याओं के साथ पेरिस शान्ति सम्मेलन ने मजदूर समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया। ये साम्यवादी बीमारी अपने देशों मे फैलने देना नही चाहते थे। इसका इलाज एक ही था कि मजदूरों की दशा सुधारी जाय। उनका असन्तोष दूर किया जाए। अतः एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की व्यवस्था राष्ट्र संघ के अन्तर्गत की गयी।

इस संघ के सदस्य होने के लिए राष्ट्र संघ का सदस्य होना आवश्यक न था ब्राज़ील, जर्मनी, अमेरिका जैसे देश जो राष्ट्र संघ के सदस्य न थे, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सदस्य बन गये। राष्ट्र संघ का अन्त हो गया पर श्रमिक संघ अभी तक जीवित है।

राष्ट्र संघ के संविधान की धारा 13 मे यह बताया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का उद्देश्य "श्रमिको की दशा सुधारना है।" इसका कार्यालय जेनेवा में स्थापित हुआ। राष्ट्र संघ ही इसकी आर्थिक व्यवस्था करता है। एक आयोग इस संगठन का विधान बनाने को नियुक्त हुआ। आयोग ने चार सिद्धान्त अपने सामने रखे—(i) श्रम कोई व्यापारिक वस्तु नही है। (ii) श्रमिक वर्गों को वैध उद्देश्यों के लिए संघ बनाने का अधिकार दिया जाय। (iii) श्रमिकों को अपने जीवन-स्तर को उठाने के लिए समुचित वेतन पाने का अधिकार होना। (iii) श्रमिक के साथ आर्थिक समानता का व्यवहार होना चाहिए।

29 अप्रैल 1919 को आयोग के सुझावों को स्वीकार करते हुए पेरिस सम्मेलन ने 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का विधान पास किया और उसे राष्ट्र संघ के अन्दर जोड़ दिया। राष्ट्र संघ का अंग होते हुए भी यह संघ एक स्वायत्त अंग के रूप मे कार्य करता है। इसके मुख्य अंग 3 है—(i) सामान्य सम्मेलन (General Conference), (ii) शासक सभा (Governing Body), तथा (iii) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office)। इन तीनों अंगों का संगठन राष्ट्र संघ के मुख्य अंगो (सभा, परिषद एवं सचिवालय) के समान है।

सामान्य सम्मेलन मे प्रत्येक राष्ट्र 4 प्रतिनिधि भेज सकता है—इनमें से 1 जो मजदूरों का प्रतिनिधि हो, 1 मिल मालिको का प्रतिनिधि हो और 3 सरकार के प्रतिनिधि हों। यह संस्था मजदूर सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करती है तथा दो-तिहाई मतों से यह समझौ

उपायों से सुलझाने से परिषद ने यह स्पष्ट कर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निवटारा युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायो द्वारा भी किया जा सकता है।"[1]

(3) सचिवालय (Secretariat)—(i) राष्ट्र संघ का प्रमुख अंग सचिवालय था। यह जेनेवा मे स्थित था और सघ का स्थायी कार्यालय था। इसे राष्ट्र संघ का "सर्वाधिक उपयोगी और निःसन्देह से कम विवादास्पद अग" कहा जाता है। सचिवालय का प्रधान महासचिव (Secretary General) कहलाता था। यह पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। वह राष्ट्र सघ का सम्पूर्ण कार्य देखता था। सघ के प्रशासन का भार उसी पर था। उसकी सहायता के लिए दो उप-महासचिव तथा अवर-सचिव होते थे। इनके अतिरिक्त सचिवालय में 750 के लगभग अन्य कर्मचारी थे। इनमे तकनीकी विशेषज्ञ, उच्च पदाधिकारी एव निम्न कर्मचारी होते थे। महासचिव की नियुक्ति परिषद साधारण सभा की सहमति से करती थी और महासचिव अपने अधीन कर्मचारियो की नियुक्ति करता था। इनका चयन करते समय यह ध्यान रखा जाता था कि इनकी संख्या विभिन्न राज्यो मे से न्यायोचित अनुपात मे हो। इन्हें कार्य भार ग्रहण करते समय यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वे राष्ट्र सघ के प्रति वफादार रहेगे। इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक सेवा (International Civil Service) के सदस्य माना जाता था।

राष्ट्र सघ के प्रथम महासचिव ब्रिटेन के सर जेम्स एरिक ड्रमण्ड (Sir James Eric Drummond) थे। इन्होंने बडी योग्यता, निष्पक्षता, अथक परिश्रम एवं कुशलता से राष्ट्र संघ की सेवा 13 वर्षों (1920 से 1933 तक) तक की। इनके बाद फ्रांस के जोजेफ एवनोल (Joseph Avenol) ने इस पद को सुशोभित किया उन्होंने 7 वर्ष अर्थात् 1983 से 1940 तक कार्य किया। अन्तिम महासचिव का पद आयरलैण्ड के सिपेन लैस्टर (C. Lester) को मिला जो 1946 तक इस पद पर रहे।

सचिवालय का कार्य (Functions of Secretariate)—सचिवालय का कार्य राष्ट्र सघ के विभिन्न अगों की देखभाल करना था और उनकी सेवा करना था। सचिवालय सभा एवं परिषद दोनों की सहायता करता था। वह विभिन्न प्रकार के आँकड़े सग्रह करता था जो राष्ट्र सघ के कार्य मे आते थे। सभा और परिषद की बैठको का वह कार्यक्रम (Agenda) तैयार करता था बैठकों की कार्यवाही का विवरण रखता था। वह विभिन्न प्रकार के प्रशासकीय कार्य करता, मसविदे बनाता, हर प्रकार के अभिलेख (Records) रखता था। अनुसन्धानकर्ता, संघ मे दिये गये भाषणों का फ्रांसीसी भाषा और अंग्रेजी भाषा मे अनुवाद करता तथा ऐसे ही अनेक कार्य करता था। इस प्रकार संघ के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित सामग्री उसमें रहती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों का सचिवालय मे पंजीकरण होना अनिवार्य था, बिना पंजीकरण के कोई भी सन्धि लागू नही की जा सकती थी। इन सन्धियों का सचिवालय केवल पंजीकरण ही नहीं करता था, वरन् इन सन्धियों का अनुवाद करना एवं प्रकाशन कार्य भी उसे करना होता था। 1920 से 1941 तक सचिवालय में 4733 सन्धियाँ पंजीकृत हुईं।

सचिवालय का मूल्यांकन (Evaluation of Secretariat)—सचिवालय एक स्थायी कार्यालय था। राज्य सरकारों के सचिवालय जैसा ही इसका गठन हुआ है। अतः पोटर कहता है कि "यह सचिवालय कोई अनोखी चीज न थी" पर प्रो॰ हैरिस (Haris) पोटर की बात नहीं मानता है वह कहता है कि इस जैसी संस्था को स्थापना 1920 के पूर्व कहीं दृष्टि में नही आती थी। यह विश्व के लिए एक अनूठी चीज थी। यद्यपि राष्ट्र संघ के विधान में सचिवालय को कोई

---

[1] Haward Ellis : '*The Origin, Structure and Working of the League of Nations.*' p. 157.

विशेषाधिकार प्राप्त न था पर उसका महत्त्व किसी अंश से कम न था। सैद्धान्तिक एवं संवैधानिक दृष्टि से भले ही उसका स्थान गौण हो पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके कार्यों का बड़ा महत्त्व था। अन्य अंगों की महत्ता का श्रेय यदि किसी को प्राप्त है तो वह सचिवालय को है। राष्ट्र संघ की कार्यवाही से सफल संचालन में सचिवालय का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता था भले ही राष्ट्र संघ के अन्य अंगों में स्वार्थता, रंग भेद, जाति भेद एवं पक्षपात का बोलबाला हो पर सचिवालय में यह रोग न फैला। मूरे (Murray) का कहना था कि "सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का सर्वोत्कृष्ट नमूना था, और अगर राष्ट्र संघ का उद्देश्य इस सहयोग को बढ़ाना था, तो निश्चय ही सचिवालय काफी हद तक इस उद्देश्य की पूर्ति करता था।"

राष्ट्र संघ के अन्य अंग
(Other Organs of the League of Nations)

प्रमुख अंगों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद, उसके अन्य अंगों का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा :—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (International Labour Organisation)—प्रथम विश्व युद्ध के दौरान रूस में साम्यवादी क्रान्ति 1917 में हो चुकी थी। यद्यपि रूस में तानाशाही स्थापित हो चुकी, पर उसे श्रमिक तानाशाही कहकर साम्यवादियों ने श्रमिकों में लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। संसार भर के मजदूर साम्यवादी क्रान्ति की ओर आकर्षित हो गये थे। इस खतरे का अनुभव पश्चिमी राष्ट्रों ने भी किया अतः अन्य गम्भीर समस्याओं के साथ पेरिस शान्ति सम्मेलन ने मजदूर समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया। ये साम्यवादी बीमारी अपने देशों में फैलने देना नहीं चाहते थे। इसका इलाज एक ही था कि मजदूरों की दशा सुधारी जाय। उनका असन्तोष दूर किया जाए। अतः एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की व्यवस्था राष्ट्र संघ के अन्तर्गत की गयी।

इस संघ के सदस्य होने के लिए राष्ट्र संघ का सदस्य होना आवश्यक न था ब्राजील, जर्मनी, अमेरिका जैसे देश जो राष्ट्र संघ के सदस्य न थे, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सदस्य बन गये। राष्ट्र संघ का अन्त हो गया पर श्रमिक संघ अभी तक जीवित है।

राष्ट्र संघ के संविधान की धारा 13 में यह बताया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का उद्देश्य "श्रमिकों की दशा सुधारना है।" इसका कार्यालय जेनेवा में स्थापित हुआ। राष्ट्र संघ ही इसकी आर्थिक व्यवस्था करता है। एक आयोग इस संगठन का विधान बनाने को नियुक्त हुआ। आयोग ने चार सिद्धान्त अपने सामने रखे—(i) श्रम कोई व्यापारिक वस्तु नहीं है। (ii) श्रमिक वर्गों को वैध उद्देश्यों के लिए संघ बनाने का अधिकार दिया जाय। (iii) श्रमिकों को अपने जीवन-स्तर को उठाने के लिए समुचित वेतन पाने का अधिकार होगा। (iii) श्रमिक के साथ आर्थिक समानता का व्यवहार होना चाहिए।

29 अप्रैल 1919 को आयोग के सुझावों को स्वीकार करते हुए पेरिस सम्मेलन ने 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का विधान पास किया और उसे राष्ट्र संघ के अन्दर जोड़ दिया। राष्ट्र संघ का अंग होते हुए भी यह संघ एक स्वायत्त अंग के रूप में कार्य करता है। इसके मुख्य भाग 3 हैं—(i) सामान्य सम्मेलन (General Conference), (ii) शासक सभा (Governing Body), तथा (iii) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office)। इन तीनों अंगों का संगठन राष्ट्र संघ के मुख्य अंगों (सभा, परिषद एवं सचिवालय) के समान है।

सामान्य सम्मेलन में प्रत्येक राष्ट्र 4 प्रतिनिधि भेज सकता है—इनमें से 1 तो मजदूरों का प्रतिनिधि हो, 1 मिल मालिकों का प्रतिनिधि हो और 3 सरकार के प्रतिनिधि हों। यह संस्था मजदूर सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करती है तथा दो-तिहाई मतों से यह समझौते

न्यायालय को उन सभी मामलों पर विचार करने का अधिकार था, जो सम्बद्ध पक्षों द्वारा निर्णय के लिए इसे सौंपे जायें। धारा 37 के अनुसार यह ऐसी सन्धियों के सम्बन्ध में होने वाले विवादों को सुन सकता था, जिनमें ऐसे विवादों के निर्णय करने का अधिकार दिया गया था। इनके अतिरिक्त परिनियम में एक वैकल्पिक धारा (Optional Clause) भी थी। इसके अनुसार उसे निम्न प्रकार के विवादों को सुनने या विचार करने का अधिकार था :—

(i) सन्धियों की व्याख्या, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय विधि से सम्बन्धित प्रश्न, (iii) अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन करने वाले तथ्य और (iv) किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लघन करने पर उसके लिए दिये जाने वाली क्षतिपूर्ति का स्वरूप व मात्रा। इस वैकल्पिक धारा पर 30 राज्यों ने हस्ताक्षर किये थे।

न्यायालय का क्षेत्राधिक दो प्रकार का था—(i) ऐच्छिक एवं (ii) अनिवार्य। जब दो राज्य या अधिक राज्य अपना विवाद निर्णय के लिए न्यायालय के सम्मुख रखे तो यह ऐच्छिक क्षेत्राधिकार कहलाता था। जब दो या दो से अधिक राज्य जिन्होंने वैकल्पिक धारा पर हस्ताक्षर किये अथवा अपना विवाद लाते तो वह अनिवार्य क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आता था। 1927 में ऐसे सदस्यों की संख्या 20 थी और 1939 में 39 हो गयी थी। ऐसे राज्यों की यह इच्छा पर था कि वह अपने मामले न्यायालय के सामने रखें या न रखें। धारा 14 के अनुसार किसी भी राज्य को न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था।

इसके क्षेत्राधिकार में परामर्श देने का अधिकार आता था। पर यह आवश्यक न था कि वह परामर्श माना ही जाये। राष्ट्र संघ की धारा 14 में लिखा है कि न्यायालय परिषद या सभा द्वारा इसे सौंपे गये किसी भी प्रश्न पर परामर्श दे सकता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ, उसने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय किया और वे मान्य हुए।

राष्ट्र संघ की सफलतायें

(Successes of the League of Nations)

राष्ट्र संघ 20 वर्ष तक जीवित रहा। इस काल में उसने अनेक कार्य सम्पन्न किये इसमें कुछ वर्षों में उसे सफलता मिली और कुछ में असफलता। यहाँ उन कार्यों का उल्लेख किया जायगा जिनमें उसे सफलताएं प्राप्त हुईं। प्रमुख कार्य निम्नलिखित है :—

(1) आलैण्ड द्वीपों का विवाद (Alland Islands Controversy)—आलैण्ड द्वीप समूह फिलैण्ड और स्वेडन के मध्य विवाद के कारण बने। ये द्वीप लगभग 300 की संख्या में थे तथा इनमें बसे लोगों की जनसंख्या 27 हजार थी। पहले इन पर स्वेडन का अधिकार था पर नेपोलियन युद्धों के समय 1809 में ये फिनलैण्ड में मिलकर रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत आ गये थे। 1917 रूस में क्रान्ति हुई, वह क्रान्ति इन द्वीपों में भी फैली। इन द्वीपों के निवासी स्वीडिश थे अतः उन्होंने स्वेडन से मिलना चाहा। 1918 में स्वीडिश सेना इन द्वीपों में पहुंची पर जर्मनी की सेनाओं ने स्वीडिश सेनाओं को मार भगाया और स्वयं इन द्वीपों पर कब्जा कर लिया। नवम्बर 1918 में जर्मन सेना ने हथियार डाल दिये और इन टापुओं से जर्मन सेनाएं हट गयी तो स्वेडन और फिनलैण्ड ने इन द्वीपों पर अपना-अपना अधिकार जताया। स्वेडन के साथ मिलने के लिए इन द्वीपों में घोर आन्दोलन चला फिनलैण्ड ने सेना भेज उन्हें दबा दिया, यह बात स्वेडन निवासियों को बुरी लगी अतः वहाँ युद्ध की तैयारी प्रारम्भ हो गयी फिनलैण्ड भी युद्ध के लिए तैयार था। फिनलैण्ड उस समय राष्ट्र संघ का सदस्य न था। ब्रिटेन ने यह मामला जुलाई 1920 में राष्ट्र संघ में रखा। दोनों पक्षों के प्रतिनिधि संघ की कौंसिल में उपस्थित हुए और अपने-अपने दावों को रखा। कौंसिल ने कानून विशेषज्ञों से परामर्श लिया, फिर एक समिति की नियुक्ति हुई, उसने

विवादग्रस्त क्षेत्र का भ्रमण किया और तत्पश्चात अपनी रिपोर्ट कौंसिल में प्रस्तुत की उसी के आधार पर कौंसिल ने निम्नलिखित निर्णय दिये :—

(i) आलैण्ड के द्वीप समूह पर फिनलैण्ड की प्रभुसत्ता रहे।

(ii) आलैण्ड को स्वायत्तता प्रदान की जाय तथा उनके राजनीतिक अधिकारों की रक्षा की गारण्टी दी जाये।

(iii) उन्हें निजी सम्पत्ति तथा स्वीडिश भाषा का प्रयोग करने का अधिकार दिया जाय, तथा

(iv) आलैण्ड की तटस्थीकरण और असैनिकीकरण कर दिया जाय।

आलैण्ड में यह निर्णय 6 अप्रैल 1922 को लागू कर दिया गया। इस प्रकार बाल्टिक सागर में शान्ति स्थापित करने में राष्ट्र संघ को सफलता प्राप्त हुई।

(2) अपर साइलेशिया का विवाद (Upper Silesia Controversy)—पूर्वी यूरोप का एक प्रदेश साइलेशिया कहलाता है। यह प्रदेश जर्मनी, पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया में बँटा था। वर्साय की सन्धि के अनुसार साइलेशिया का ऊपरी भाग जिसका क्षेत्रफल 122 वर्ग मील था, तथा जिसकी आबादी 48,446 थी, चैकोस्लोवाकिया को सौंपा गया। शेष साइलेशिया क्षेत्र में 20 मार्च 1921 को *जनमत संग्रह (Plebaiscite) कराया गया जिसमें उस क्षेत्र को जर्मनी या* पोलैण्ड में देना था। जनमत का निर्णय जर्मनी के पक्ष में आया। पोलैण्ड इस निर्णय के पक्ष में न था पोलिस निवासियों के क्षेत्र पर अपना अधिकार चाहता था, उसकी पीठ फ्रांस थपथपा रहा था। जर्मनी यह बँटवारा नहीं चाहता था। अतः मसला राष्ट्र संघ की परिषद में रखा गया। अनुशासन के लिए ब्रिटिश सेना उस क्षेत्र में पहुँच गयी। परिषद ने इस क्षेत्र का बँटवारा पोलैण्ड तथा जर्मनी में कर दिया। पोलैण्ड के हाथ में 1241 वर्ग मील का क्षेत्र आया जिसमें 75% खनिज पदार्थ थे शेष भाग जर्मनी को सौंप दिया गया। 15 मई 1922 को दोनों देशों ने इसे मान लिया।

(3) ग्रीस तथा बल्गेरिया का विवाद (Greece and Bulgaria Controversy)—ग्रीस तथा बल्गेरिया में सीमा विवाद चला। इसी झगड़े में बल्गेरिया के सैनिकों ने ग्रीस की सीमा-सेना के सेनापति तथा उसके साथियों को मार डाला। ग्रीस ने बदला लेना चाहा और 22 अक्टूबर 1925 को बल्गेरिया पर आक्रमण कर दिया। बल्गेरिया ने संघ की धारा 10 तथा 11 के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ से अपील की। राष्ट्र संघ की परिषद ने प्रथम युद्ध विराम का आदेश दिया और दोनों देशों को अपनी-अपनी सेना वापस अपनी सीमा से हटाने को कहा। उसने फ्रांस, इङ्गलैण्ड तथा इटली को आज्ञा दी कि वे अपने सैनिक अधिकारी निरीक्षण हेतु घटना-स्थल पर भेजे। जब युद्धरत सेनायें वापस लौट गई तो 5 व्यक्तियों का एक आयोग सर होरेस एवोल्ड के सभापतित्व में जांच के लिये घटना स्थल पर भेजा गया। आयोग ने निरीक्षण के बाद यह निर्णय दिया कि यूनान ने बल्गेरिया की सीमा उल्लंघन करने का अपराध किया है अतः उसे निश्चित धन राशि क्षति पूर्ति के लिये बल्गेरिया को देनी चाहिये। ग्रीस को राष्ट्र संघ की बात माननी पड़ी।

(4) लेटेशिया का विवाद (Letecia Controversy)—लेटेसिया नगर अमेरिका में कोलम्बिया और पीरु राज्यों की सीमा पर स्थित था। दोनों राज्यों का दावा था कि लेटेसिया उनकी सीमा के अन्तर्गत है। 1922 में एक सन्धि के अनुसार पीरु ने इस नगर को कोलम्बिया को सौंप दिया था। 1934 में पीरु ने अपनी सेना भेजकर इस नगर पर कब्जा कर लिया। कोलम्बिया अपनी शिकायत लेकर राष्ट्र संघ के पास गया। संघ की परिषद ने जाँच आयोग बिठाया। आयोग ने पीरु को दोषी पाया अतः पीरु ने क्षमा याचना की और लेटेसिया नगर को कोलम्बिया को लौटा दिया झगड़ा समाप्त हुआ।

(5) **मोसुल का विवाद** (Mosul Controversy)—यह विवाद ब्रिटेन और टर्की के बीच उठा था। ईराक के सब से उत्तर में मूसल एक जिला था। ईराक मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रिटेन के संरक्षण मे था। लोसेन (Laussance) की सन्धि के अनुसार यह तय किया गया था कि ईराक और टर्की की सीमा, ब्रिटेन और टर्की की सरकारें 9 महीने में निश्चित कर लेंगी। चूंकि मूसल का क्षेत्र पेट्रोलियम के लिये प्रसिद्ध क्षेत्र था, अतः दोनों देश इस पर अपना-अपना अधिकार चाहते थे। इस विवाद के कारण टर्की और ब्रिटेन 9 महीने बाद भी सीमा का निर्धारण न कर पाये। यह विवाद 6 अगस्त 1924 को राष्ट्र संघ की कौंसिल में रखा गया। राष्ट्र संघ की कौंसिल को इस विवाद पर विचार करने का अधिकार है या नही इसका निर्णय करने के लिये यह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपा गया। न्यायालय ने इसका निर्णय कौंसिल के पक्ष में दिया, अतः कौंसिल ने एक जांच आयोग बैठाया। एक पृथक से निरीक्षक की नियुक्ति भी कौंसिल ने की। आयोग ने "ब्रूसेल्स रेखा" को ईराक और टर्की के मध्य सीमा रेखा निश्चित किया। इसके अनुसार 13 जनवरी 1926 को कौंसिल ने अपना निर्णय दे दिया। परन्तु टर्की ने इस निर्णय को स्वीकार न किया पर 5 जून 1926 मे "अंगोरा" की संधि में ईराक, ब्रिटेन एवं टर्की ने कुछ सन्शोधन के साथ कौंसिल के निर्णय को स्वीकार कर लिया। संशोधन यह था कि टर्की को तेल की रायल्टी पर 25 वर्षों के लिये अधिकार दे दिया गया, मगर ईराक के अधिकार में आ गया।

(6) **मेमेल का विवाद** (Memal Controversy)—जर्मनी के पूर्व-उत्तरी किनारे पर मेमेल का क्षेत्र है। वर्साय की सन्धि के अनुसार मेमेल का क्षेत्र मय बन्दरगाह के जर्मनी से पृथक कर दिया गया था। इस क्षेत्र को मित्र देशों ने राजदूतों के सम्मेलन (Conference of Ambassadors) के अधीन कर दिया गया था। लिथूनिया (Lithunia) को इस प्रकार समुद्र तक पहुँचने का मार्ग मिल गया था। 1923 में लिथूनिया ने इस पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रश्न को सुलझाने के लिये राष्ट्र सघ की कौंसिल में रखा गया। कौंसिल ने एक जांच आयोग बैठाया जिसके अध्यक्ष नार्मन एच० डेविस नियुक्त किये गये। आयोग ने 1924 में अपनी रिपोर्ट कौंसिल में प्रस्तुत कर दी। उसके अनुसार मेमेल का क्षेत्र लिथूनिया को मिल गया पर उसे लिथूनिया एक स्वतन्त्र क्षेत्र (Autonomous Area) बनाये, यह शर्त थी साथ में मेमेल के बन्दरगाह पर अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह आयोग (International Harbour Board) का नियन्त्रण रहा। इस बोर्ड मे पोलैण्ड, मेमेल तथा लिथूनिया के प्रतिनिधि रहते थे।

(7) **सार प्रदेश का प्रशासन** (Administration of Saarland)—वर्साय की सन्धि के अनुसार सार प्रदेश का प्रशासन राष्ट्र संघ को 15 वर्ष के लिये दे दिया गया था और यह तय किया गया था कि 15 वर्ष बाद वहाँ जनमत संग्रह होगा। राष्ट्र संघ ने इसके प्रशासन को एक आयोग को सौप दिया। इस आयोग के 5 सदस्य थे—(i) फ्रांसीसी (ii) सार निवासी (iii)·3 सदस्य फ्रास एवं जर्मनी से भिन्न देशों के थे। 1920 मे इन 5 सदस्यों के नामों की घोषणा कर दी गई। फ्रांस का विक्टर रौल्ट (Victor Rault) इस आयोग का अध्यक्ष बनाया गया। फ्रांस का इस आयोग मे पक्ष प्रबल था। शीघ्र ही सारवासी इस प्रशासन से तंग आ गये। इसमें 1922 तक कोई जर्मन प्रतिनिधि नियुक्त न किया गया। फ्रांस ने जर्मन बच्चों को पढ़ने के लिये फ्रांसीसी स्कूलों में भेजना अनिवार्य कर दिया। फ्रास ने पुलिस के स्थान पर फ्रांसीसी सेना इस क्षेत्र मे रखी। 1923 में रूर (Ruhr) के जर्मन खनिजों की सहानुभूति में सार वासियों ने हड़ताल कर दी, इस पर आयोग ने सारवासियों पर घोर अत्याचार किया। राष्ट्र सघ के विरुद्ध आवाज उठाना अपराध माना गया। फ्रास के विक्टर रौल्ट के जब अत्याचार बहुत बढ़ गये तो राष्ट्र संघ ने उसे 1926 मे हटा दिया। फ्रांसीसी सेना के स्थान पर स्थानीय सेना रखने का प्रबन्ध किया। 1930 से जयफी जीनाक्स के प्रशासन से सारवासियों को कुछ राहत मिली।

1935 में वहाँ जनमत संग्रह होने वाला था, जनता को यह तय करना था कि वे फ्रांस के अन्तर्गत रहेंगे, या जर्मनी के साथ मिलना चाहेंगे जनमत संग्रह बड़ी ईमानदारी से कराया गया। सार वासियों में से 98% जनता ने मतदान किया। इसमे 90% वोट जर्मनी के पक्ष में थे। जनमत के निर्णय के अनुसार सार प्रदेश 1 मार्च 1935 को जर्मनी को सौंप दिया गया। जर्मनी को 90 करोड़ फ्रांक फ्रांस को देने पड़े। इस प्रकार यह मामला भी बड़ी शान्ति पूर्ण ढंग से सुलझ गया।

(9) अल्वानिया सीमा विवाद (Albania Boundry Dispute)—अल्वानिया की सीमा का विवाद वास्तव में यूनान और बल्गेरिया के मध्य था। राष्ट्र संघ ने इसे "राजदूतों के सम्मेलन" को सौंप दिया जिसने 1925-26 मे इसे शान्ति पूर्ण ढंग से हल कर दिया।

(10) ट्यूनिश-मोरक्को विवाद (Tunish Moraocco Dispute)—यह विवाद ब्रिटेन और फ्राँस के बीच 1922 में उठ खड़ा हुआ था जो राष्ट्र संघ द्वारा शान्ति पूर्वक सुलझा दिया गया।

(11) हंगरी का विवाद (Hungarian Optant Dispute)—पेरिस की शान्ति सम्मेलन ने हंगरी का ट्रांसलीविया एवं बनाना रूमानिया को दे दिया गया था। इस प्रदेश मे हंगरी निवासियो की काफी सम्पति चली गई थी। यह प्रदेश हंगरी में मिलना चाहता था अतः हंगरी और रूमानिया मे तनातनी चल पड़ी थी। 1923 से 1930 तक यह विवाद चला। अन्त मे राष्ट्र संघ द्वारा यह विवाद भी शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझा दिया गया।

(12) गावोजनो विवाद (Gaworzno Dispute)—यह विवाद पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया का सीमा विवाद था। 1923 मे राष्ट्र संघ द्वारा एक जाँच आयोग को यह मामला सौंप दिया गया। आयोग ने दोनों देशों की सीमा रेखा को निश्चित कर दिया जिसे दोनों देशो ने मान लिया।

इस प्रकार अनेक मामलों मे राष्ट्र संघ को पर्याप्त सफलतायें मिली।

राष्ट्र संघ की असफलतायें
(Failures of the League of Nations)

यह कहा जाता है कि राष्ट्र संघ अपने 20 वर्ष के जीवन काल मे 10 वर्ष तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाये रखने में सफल रहा। इसका कारण यह था कि अधिकाश विवाद छोटे राज्यों से सम्बन्धित थे जो विवश होकर राष्ट्रसंघ के निर्णय को मान लेते थे पर जब संघर्ष बड़ी-बड़ी शक्तियो मे होने लगे तब राष्ट्रसंघ अशक्त और असफल सिद्ध हो गया। इस प्रकार 1930 के बाद राष्ट्रसंघ का जो पतन प्रारम्भ हुआ वह लगातार होता ही रहा। बड़े राष्ट्रों के पारस्परिक स्वार्थों के टकराने से राष्ट्रसंघ की बातो की अवहेलना होने लगी। जिसका परिणाम द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रारम्भ होना और राष्ट्रसंघ का विघटन होना था। जिन मामलों में राष्ट्रसंघ को असफलतायें प्राप्त हुई, वे निम्नलिखित थे—

(1) विलना विवाद (Vilna Controversy)—विलना नगर पोलैण्ड और लिथुनिया के मध्य स्थित था। इस पर लिथुनिया का अधिकार 1323 से चला आ रहा था पर 1795 ई० मे रूस ने इस पर अधिकार कर लिया था। इसमें अधिकाश लोग लिथुनियन थे। प्रथम विश्व युद्ध के समय जर्मन सेनाओं ने इस पर अधिकार कर लिया था। 1918 में यह लिथुनिया को दे दिया गया था। वर्साय की सन्धि में भी लिथुनिया का अधिकार इस नगर पर मान लिया गया था। लिथुनिया एक स्वतन्त्र एवं प्रभुत्व सम्पन्न राज्य बन गया। 1920 मे रूसी साम्यवादियों ने विलना पर अधिकार कर लिया था पर लिथुनिया और रूस की सन्धि मे विलना को लिथुनिया को दे दिया था। 1920 में इस नगर पर पोलैण्ड ने अधिकार जमा लिया अतः लिथुनिया और पोलैण्ड में युद्ध छड़ पड़ा, यह झगड़ा राष्ट्र संघ की परिषद मे आया। परिषद ने एक जाँच आयोग बैठाया

आयोग ने दोनों देशों में आपसी वार्ता कराकर इस विवाद को सुलझाना चाहा। दो वर्षों तक यह प्रयास चलता रहा। 7 अक्टूबर 1920 को युद्ध विराम हो गया। 9 अक्टूबर को पोलैण्ड की सेना ने बिलना पर अधिकार कर लिया था। पोलैण्ड ने जनमत संग्रह कराकर उसे अपने राज्य का अंग बताया। लिथुनिया ने इसी बीच मेमेल पर अधिकार जमा लिया पर राष्ट्र संघ ने बिना जाँच पड़ताल के बिलना पर पोलैण्ड का अधिकार मान लिया। लिथुवानियों ने जब अपना विरोध प्रकट किया तो उसकी कोई सुनवाई नहीं की गई।

(2) **कोर्फू विवाद (Corfu Controversy)**—1923 में यूनान तथा इटली में जो विवाद छिड़ा उसे कोर्फू विवाद का नाम दिया गया। इसका मुख्य कारण था कि जब इटालियन प्रतिनिधि यूनान और अल्वानियों ने सीमा सम्बन्धी कार्य कर रहे थे तब उनकी हत्या कर दी गई। इटली ने यूनान से माँग की कि वह 5 दिन के अन्दर क्षमायाचना करे तथा क्षतिपूर्ति के रूप में 5 करोड़ डालर दें। यूनान ने राष्ट्र सघ का दरवाजा खटखटाया, इसी बीच इटली ने प्रत्यक्ष कार्यवाही कर कोर्फू पर बमबारी की और उस पर अधिकार जमा लिया। राष्ट्र संघ ने धारा 12 एव 13 के अनुसार दोनो देशो के मध्य झगड़ा निबटाने का प्रयत्न किया। इटली के प्रतिनिधि ने परिषद में कहा कि यह मामला उसका घरेलू मामला है और राष्ट्र सघ को इसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही। पेरिस मे राजदूतों का जब सम्मेलन हुआ तो उसमें कोर्फू का मामला भी उठाया गया। सम्मेलन ने यूनान को दोषी ठहराया, उसको क्षतिपूर्ति देने के लिए कहा और इटली को आदेश दिया कि क्षतिपूर्ति हो जाने के बाद वह कोर्फू खाली कर दे। इस प्रकार यूनान को इटली की बात माननी पड़ी और राष्ट्र संघ ने उसकी प्रार्थना पर ध्यान न दिया।

(3) **ग्रेन चाको विवाद (Gran Chaco Controversy)**—यह झगड़ा दक्षिणी अमेरिका के दो राज्यो, पैराग्वे तथा वोलीविया के मध्य एक छोटे प्रदेश के पीछे बहुत समय (86 वर्ष) से चला आ रहा था। 1928 मे इसने भीषण रूप धारण कर लिया। दोनों देश, ग्रेन चाको पर जो 2800 मील लम्बा दलदली प्रदेश था पर उसमें अनेक तेल के कुऐं 1500 वर्ग मील में फैले हुए थे, कब्जा जमाना चाहते थे। पैराग्वे ने 1922 में इस क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। अतः दोनों देशों मे युद्ध चल पड़ा। अन्तर अमेरिकन संघ (Inter American System) ने दोनों देशो मे झगड़ा निबटाने का प्रयत्न किया पर वह असफल रहा। इसके बाद यह झगड़ा राष्ट्र सघ मे आया। 1933 मे राष्ट्र सघ को जांच आयोग घटना स्थल पर भेजना पड़ा पर वह भी दोनों देशों मे सन्धि न करा सका। 1934 मे राष्ट्र सघ की कौन्सिल ने दोनों देशों को शस्त्र भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यह मसला कौंसिल से साधारण सभा में आया। सभा में शान्ति परिषद को पैराग्वे ने मानने से इन्कार कर दिया पर बोलेविया ने उसे स्वीकार कर लिया। इस पर बोलेविया पर से सघ ने शस्त्र भेजने वाली पाबन्दी हटाली। पैराग्वे पर प्रतिबन्ध जारी रहा अतः उसने राष्ट्र संघ से त्याग पत्र दे दिया। अन्त मे अमेरिका राज्यों के हस्तक्षेप से 1939 में दोनो पक्षों मे सन्धि हो गई पर राष्ट्र संघ को इस मामले मे असफलता मिली। चाको का प्रदेश दोनो देशो मे बाँट दिया गया।

(4) **मंचूरिया पर जापान का आक्रमण (Attack on Munchuria by Japan)**—18 सितम्बर 1931 से जापान ने मचूरिया पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया तथा वहाँ से चीनियो को भगाना प्रारम्भ कर दिया। जापान ने 1932 में अपनी कठपुतली सरकार की मचूरिया मे स्थापना कर दी। यह सरकार मानचूको (Manchukuo) की सरकार कहलाई। दिखावे के तौर पर जापान ने 1923 मे मानचूको की सरकार को मान्यता दे दी और उससे एक रक्षा सन्धि (Defensive Pact) कर लिया।

चीन ने जापान की शिकायत राष्ट्र संघ से की। राष्ट्र संघ ने चीन और जापान दोनों को मंचूरिया से अपनी-अपनी सेनायें हटाने का आदेश दिया। जापान ने राष्ट्र संघ के आदेश की चिन्ता न की। इस पर राष्ट्र संघ ने अमेरिका से जांच आयोग की सहायता करने को कहा पर अमेरिका ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। 24 अक्टूबर 1931 को पुनः राष्ट्र संघ की कौंसिल ने जापान को आदेश दिया कि वह तीन सप्ताह के अन्दर-अन्दर अपनी सेनायें मचूरिया से हटाले। 10 दिसम्बर 1931 में लार्ड लिटिन की अध्यक्षता में 5 सदस्यों का आयोग बनाया गया। इस आयोग ने स्थिति का अध्ययन किया।

जापान ने राष्ट्र संघ को त्याग पत्र देने का नोटिस दे दिया और अपना प्रसार जारी रखा। 1932 में उसने शंघाई के एक भाग पर कब्जा कर लिया। 1933 में जापान की सेनायें और आगे बढ़ीं। चीन ने पुनः राष्ट्र संघ से अपील की। राष्ट्र सघ में लिटिन कमीशन (Lytton Commission) की रिपोर्ट भी रखी गई। इस रिपोर्ट ने चीनियो के उत्तेजनात्मक व्यवहार को तो स्वीकार किया था पर जापान के इस दावे को मानने से इन्कार कर दिया था कि उसने मचूरिया पर आक्रमण जापानियों की रक्षा एवं उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए किया है। रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि मानचूको सरकार जापान की कठपुतली सरकार है तथा मंचूरिया पर चीन का ही अधिकार है। रिपोर्ट के पक्ष में 44 में से 42 राष्ट्र थे। राष्ट्र सघ की सभा ने लिटिन रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया तथा जापान के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव पास किया। जापान 27 मार्च 1933 को राष्ट्र संघ से पृथक हो गया। राष्ट्र संघ जापान का कुछ न बिगाड़ सका। राष्ट्र संघ की यह भारी असफलता थी।

(5) **इटली का एबीसीनिया पर अधिकार** (Occupation of Italy on Ethopia)—जापान के मंचूरिया काण्ड से इटली को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उसने राष्ट्र सघ को एक निष्क्रिय संस्था माना। 1922 मे ही इटली में मुसोलिनी की तानाशाही स्थापित हो चुकी थी।

1934 में इथोपिया व इटली के सैनिकों में वालवल (Walwal) पर संघर्ष हो गया। इस संघर्ष मे इटली के 30 व्यक्ति मारे गये। दूसरा संघर्ष एबीसीनिया के क्षेत्र मे हुआ और इसमे इटली के 60 व्यक्ति मरे तथा एबीसीनिया के 200 व्यक्ति काम आये। अब इटली के पास एबीसीनिया पर आक्रमण करने का अच्छा बहाना था। उसने पहले तो एबीसीनिया से माँग की कि वह क्षमा याचना करे व हर्जाना अदा करे। इथोपिया ने राष्ट्र संघ से प्रार्थना की कि इस समस्या को सुलझाया जाय। पर तत्कालीन परिस्थितियो मे राष्ट्र संघ कोई ठोस कार्यवाही न कर सका।

इटली ने अपनी सेना का जमाव बढ़ाना शुरू कर दिया और एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। एबीसीनिया ने पुनः राष्ट्र संघ से अपील की। इस बार राष्ट्र सघ की परिषद के 6 सदस्यों ने 7 अक्टूबर 1935 को इटली को दोषी ठहराया और उस पर आर्थिक प्रबन्ध लगा दिये। 11 अक्टूबर 1935 को साधारण सभा ने भी इटली को दोषी माना और उस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव पास कर दिया। 18 नवम्बर 1835 को प्रथम बार राष्ट्र संघ ने इस अधिकार का प्रयोग किया।

फ्रांस आदि कुछ राज्यों ने इटली को समझा बुझाकर उसे युद्ध से विरक्त कराने का प्रयत्न किया और उसे बिना लड़े ही अनेक सुविधा एबीसीनिया में दिलाने का वचन दिया। कुछ प्रदेश भी दिलाने का आश्वासन दिया। तानाशाह मुसोलिनी ने अपने सलाहकारों एव मित्रों की भी बात न मानी उसने अकड़ कर कहा कि "मैं रेगिस्तानों को इकट्ठा करने वाला नहीं।" इतना ही नहीं उसने घोषणा की कि "यदि सारा एबीसीनिया भी उसे चाँदी की तश्तरी मे रखकर भेंट किया जाय तो भी वह उसे स्वीकार न करेगा, वह उसे अपनी शक्ति से ही जीतेगा।"

इटली पर आर्थिक प्रतिबन्ध अवश्य लगाये गये पर फ्रांस एवं इंगलैण्ड के मन्त्रियों ने लावेल एवं सेमुअल होर ने यह गुप्त समझौता कर लिया कि वे ऊपर से तो इटली का विरोध करेंगे पर न वे स्वेज नहर बन्द करने देंगे एवं न संघ को कोई सैनिक कार्यवाही करने देंगे। इसके अतिरिक्त दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने गुप्त समझौता कर एबीसीनिया को इसके लिए तैयार करने का प्रयत्न किया कि वह इटली को टिगरे तथा अडोवा का प्रदेश दे दे। दक्षिण में इटली के आर्थिक हित सुरक्षित रखे। इटली इनके बदले में अस्सब का बन्दरगाह दे देगा। यह गुप्त बातें समाचार पत्रों में प्रकाशित हो गयी। ब्रिटेन में सैमुअल होर के विरुद्ध जनता में आन्दोलन हो उठा अन्त में श्री होर को त्यागपत्र देना पड़ा।

इटली की सेनाएँ लगातार आगे बढ़ रही थी। 1 मई 1936 को इटली की सेनाओं ने एबीसीनिया की राजधानी अदीस अबाबा (Addis Abbaba) पर अधिकार कर लिया। इटली ने 9 मई 1936 को एक घोषणा द्वारा इटली के राजा को एबीसीनिया का राजा बना दिया। 30 जून 1936 को एबीसीनिया के राजा हेली सिलासी ने राष्ट्र संघ की सभा में स्वयं पहुँचकर अपनी करुण गाथा सुनाई। पर राष्ट्र संघ ने इटली के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। उसने 15 जुलाई 1936 को इटली पर से आर्थिक प्रतिबन्ध भी उठा लिये। फ्रांस एवं इंगलैण्ड ने इटली का अधिकार 1938 में एबीसीनिया पर मान लिया। इस प्रकार महाशक्तियों ने षड्यन्त्र रचकर एक दुर्बल राज्य का सफाया कर दिया।

(6) स्पेन का गृह-युद्ध (Spanish Civil War)—1936 में एक विद्रोही जनरल फ्रांको ने स्पेन की वैधानिक सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह छेड़ दिया। फ्रांको फासिस्ट था अतः इटली और जर्मनी से उसे गुप्त सहायता मिलती थी। फ्रांको का विद्रोह शीघ्र ही गृह युद्ध में बदल गया। स्पेन की सरकार ने राष्ट्र संघ से सहायता की अपील की। फ्रांस तथा ब्रिटेन ने एक अहस्तक्षेप समिति (Non-Intervention Committee) बनाकर स्पेन के दोनो पक्षों पर शस्त्र भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इससे स्पेन का गणराज्य लड़खड़ाने लगा क्योंकि इटली और जर्मनी फ्रांको को शस्त्र भेजते ही रहे। अन्य शक्तियों में से रूस ने ही स्पेन की सरकार की सहायता की। इसका परिणाम यह हुआ कि 1939 मे फ्रांको स्पेन का तानाशाह बन गया। ब्रिटेन ने उसे मान्यता दे दी इटली और जर्मनी तो पहले ही से उसके समर्थक थे अतः उन्होने भी फ्रांको की सरकार को मान्यता दे दी। इस मामले मे भी राष्ट्रसंघ बुरी तरह असफल रहा।

(7) चीन-जापान युद्ध (Japan and China War)—मंचूरिया के मामले में जापान 27 मार्च 1923 को राष्ट्र संघ की सदस्यता त्याग चुका था। यद्यपि रूस जापान का शत्रु था पर ब्रिटेन भी रूस का शत्रु था। अतः जापान के विरुद्ध कोई संयुक्त कार्य न हो सका। मंचूरिया में सफलता पाकर जापान ने 1937 में बिना युद्ध घोषणा के चीन पर आक्रमण कर दिया। चीन के प्रतिनिधि ने राष्ट्र संघ से प्रार्थना की कि वह जापान पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये पर राष्ट्र संघ ने यह कहकर उस प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया कि जापान पर 'प्रतिबन्ध लगाना उसके क्षेत्राधिकार से बाहर है। चीन ने राष्ट्र संघ को एक ममी (Mummy) की संज्ञा दी।

यह युद्ध चलता रहा और द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त होने पर ही अन्त हुआ।

(8) डेन्जिग नगर का मामला (The Case of Danzig City)—पेरिस शान्ति समझौते के अनुसार डेन्जिग नगर को स्वतन्त्र घोषित किया गया था। डेन्जिग का प्रशासन तो राष्ट्र संघ को सौंपा गया था पर उसकी आर्थिक व्यवस्था पोलैण्ड के अधिकार में दी गयी थी। डेन्जिग नगर के लिए एक लोकसभा और एक सीनेट की व्यवस्था की गयी। राष्ट्र संघ ने नगर के लिए एक आयुक्त की नियुक्ति की थी। पोलैण्ड डेन्जिग पर अधिकार चाहता था पर राष्ट्र संघ ने उसे उसका प्रशासन न सौंपा। 5 वर्ष बाद पोलैण्ड ने एक नया बन्दरगाह गदिनिया (*Gadynia*)

का निर्माण कर दिया। कुछ समय बाद गदिनिया का व्यापार डैन्जिग से बढ़ गया। जर्मनी मे नाजी शासन की स्थापना से डैन्जिग से जर्मन बहुत प्रसन्न हुए। यद्यपि 1933 में पोलैण्ड का व्यापार 45% डैन्जिग में होता था और 55% व्यापार गदिनिया से होता था, फिर भी वह डैन्जिग को छोड़ना पसन्द न करता था। वह डैन्जिग नगर तक एक गलियारे (Corridor) चाहता था। इस गलियारे का अर्थ था जर्मनी का दो भागों मे विभाजन। जर्मनी इससे बहुत असन्तुष्ट था। प्रसिद्ध इतिहासकार एच० जी० वेल्स ने 1933 में ही यह घोषणा की थी कि द्वितीय विश्व युद्ध यदि छिड़ा तो उसका मुख्य कारण यह गलियारा होगा। उसकी भविष्यवाणी सही सिद्ध हुई। 1739 में जर्मनी और पोलैण्ड में गलियारे के विषय में संघर्ष छिड़ गया। राष्ट्र संघ इस संघर्ष को न रोक सका और बिखर गया।

(9) रूस-फिनिश युद्ध (Russia-Finish War)—रूस और जर्मनी ने एक सन्धि 1939 मे की थी। अतः पूर्वी सीमा को सुरक्षित कर 1 सितम्बर 1939 को पोलैण्ड पर हमला बोल दिया। कुछ समय बाद रूस ने भी पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। पोलैण्ड हार गया और दोनों शक्तियों ने उसे आपस मे बांट लिया। इसके बाद 30 नवम्बर 1939 को रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड ने संघ की 11वीं एवं 12वी धारा के अनुसार राष्ट्र संघ से शिकायत की। इस बार राष्ट्र संघ ने बड़ी तत्परता दिखलायी। अर्जेन्टाइना के प्रतिनिधि ने एक प्रस्ताव रखा कि रूस को राष्ट्र संघ से निष्कासित कर दिया जाये, यह प्रस्ताव पास हो गया। 14 दिसम्बर 1939 को यह घोषणा हो गयी।

राष्ट्र संघ की असफलता के कारण
(Causes of the Failure of the League of Nations)

राष्ट्र संघ की स्थापना के समय उससे बड़ी-बड़ी आशा लगाई गयी थी। परन्तु आगे के बीस वर्षों ने इन आशाओं पर पानी फेर दिया। राष्ट्र संघ की असफलता के लिए कोई एक कारण दोषी नही ठहराया जा सकता। वस्तुतः इसकी असफलता अनेक कारणो की परिणाम थी।

(1) बदनाम माता की बदनाम बेटी (Dishonourable daughter of disreputed mother)—नार्मन वेन्टविच का कहना था कि "राष्ट्र संघ बदनाम माता की बदनाम सन्तान थी।"[1] इस वाक्य का अर्थ यह था कि वर्साय की सन्धि जो कि संसार मे बुरी तरह बदनाम है, उसकी ही यह सन्तान था। अतः मां के कारण ही यह बदनाम हो गया। काश राष्ट्र संघ का निर्माण तनावपूर्ण वातावरण मे न होता, यह वह वर्साय की सन्धि को पालन कराने का साधन न होता तो सम्भव था इसका पतन इतनी शीघ्रता से न होता।

वर्साय सन्धि अन्यायपूर्ण, पक्षपात पूर्ण, घृणा पर आधारित तथा प्रतिशोध की भावना से ओतप्रोत थी। हथियार डलवाने से पूर्व जो वायदे जर्मनी से किये गये थे, वे सन्धि की शर्तें तय करते हुये भुला दिये गये थे सन्धि की शर्तें देखकर जर्मन के राजनीतिज्ञों ने साफ कहा था कि "हमसे विश्वास घात किया गया है, काश हमें यह पहले विदित हो तो हम मर जाना पसन्द करते पर हथियार न डालते।"

(2) केन्द्रीय शक्तियों का संघ में अविश्वास (No faith of Central powers in League)—मित्र राष्ट्रों ने शान्ति सन्धि करते समय पराजितों से कोई परामर्श नही लिया था। इस प्रकार केन्द्रीय शक्तियाँ वर्साय या अन्य सन्धियों को पक्षपातपूर्ण समझती थीं। वे उन पर जबरन लादी गई थीं अतः वे उन्हे तोड़ने को उत्सुक थी। जापान का उदाहरण सामने रखकर जब उन्होंने

1 "The Leaque of Nations was a dishonour a able daughters of disreputed mother. —*Normen Wentwich.*

सन्धि की शर्तों को तोड़ना प्रारम्भ किया तो संघ ने उन पर प्रतिबन्ध लगाना चाहा अतः उन्होंने सघ का ही त्यागन कर दिया। संघ असफल हो गया।

(3) संघ में साम्यवादी विरोधी गुट (Anti-Communist group in the League)—रूस में 1617 मे साम्यवादी क्रान्ति हो गई। यह क्रान्ति कहीं संसार में व्याप्त न हो जाय, अतः बड़ी शक्तियों ने रूस का बहिष्कार किया। उसे संघ में प्रवेश की अनुमति न मिली। 1933 तक रूस को संघ का सदस्य बनाया गया। फासिस्ट वादियों का जब जोर बढ़ा तो 1933 मे रूस को सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किया गया। संघ मे प्रवेश के बाद भी महाशक्तियाँ रूस से कटी-कटी रहती थीं। रूस ने स्वयं अनुभव किया कि मित्र राष्ट्र इसे जर्मनी से भिड़ाकर स्वय तमाशा देखना चाहते है अतः उसने केन्द्रीय शक्तियों से समझौता कर लिया। मित्र राष्ट्रों का जब स्वार्थ सिद्ध न हुआ तब वे रूस से बहुत नाराज हुई और फिनलैंड के मामले मे इसे संघ से निष्कासित कर दिया। यह दण्ड जर्मनी, इटली तथा जापान को नही दिया गया। प्रो० शूमैन का कहना था कि "राष्ट्र संघ में रूस ही केवल ऐसा देश था जो संघ की आज्ञाओं का पालन करता था। जब ऐसे सदस्य को सघ से निकाला गया तो क्या संघ जीवित रह सकता था ? कदापि नही।"

(4) सं० रा० अमेरिका का असहयोग (Non-Cooperation of U. S. A.)—वास्तव मे राष्ट्र सघ का जन्मदाता सं० रा० अमेरिका था। विलसन के घोर प्रयत्न से युद्ध का अन्त हुआ और भावी युद्धो के अन्त करने के लिए राष्ट्र संघ को जन्म देकर उसने बड़ा उपकार किया था पर सीनेट ने न वर्साय की सन्धि का अनुमोदन किया और न राष्ट्र सघ की सदस्यता को स्वीकार किया। विलसन अनाथ बच्चे को विमाताओं के हाथों मे देकर स्वदेश लौट गया। इन विमाताओ ने अनाथ बच्चे की परवाह न की, उनकी उपेक्षा संघ के लिए घातक सिद्ध हुई। हार्डी के शब्दो मे "संघ रूपी अमेरिकन बालक को उसके उत्पन्न होते ही उसकी जननी ने यूरोप मे लावारिस के समान छोड़ दिया।"

इस प्रकार 'अमेरिका का संघ को त्यागना लीग की शक्ति एव प्रतिष्ठा के लिए घातक सिद्ध हुआ।" यदि अमेरिका संघ मे बना रहता तो वह एक ओर तो फ्रास और इंग्लैण्ड की मनमानी को रोकता और दूसरी ओर अतिक्रमकारी शक्तियों को आर्थिक प्रतिबन्धों से नियन्त्रित रखता। आर्थिक प्रतिबन्ध जिन शक्तियो पर लगाये गये थे वे दिखावा मात्र थे तथा अमेरिका से माल मँगाने मे उन्हे कोई रोक न सकता था। एक बात और भी थी कि अमेरिका के संघ मे न रहने के कारण फ्रान्स को अपनी सुरक्षा की चिन्ता अधिक हो गई और अपनी रक्षा के लिए जो अत्याचार उसने जर्मनी पर किये थे सघ की मृत्यु को समीप लाने वाले बने।

(5) आर्थिक मन्दी (Economic Depression)—1930 मे विश्व मे आर्थिक मन्दी फैली। इससे राष्ट्र संघ की असफलता मे वृद्धि हुई। इस मन्दी से बचने के लिए सघ के सदस्यों ने कुछ ऐसे कार्य किये जो सघ के लिए घातक सिद्ध हुये। उदाहरण के लिए राज्यों ने आर्थिक प्रतिबन्ध, संरक्षण सीमाकर और तट कर लगाये, अन्य राष्ट्रों से पृथक होकर अपनी उन्नति और उग्र राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र अपने स्वार्थों के आगे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की उपेक्षा करने लगे। रूस ने आरोप लगाया कि आर्थिक मन्दी का प्रमुख कारण पश्चिमी देशों की अर्थ-व्यवस्था है। अतः इससे रूस के प्रति घृणा की भावना बढ़ी और जिन देशों ने रूस के प्रति वैर-भाव प्रकट किया उन्हें पश्चिमी शक्तियों ने पूर्ण सहयोग दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सामूहिक सुरक्षा और सामूहिक प्रतिरोध के सभी साधन शिथिल हो गये और द्वितीय विश्व युद्ध की सम्भावनायें बढ़ने लगी। इंग्लैंड ने अपनी आर्थिक मन्दी का कारण जर्मनी की आर्थिक दुरावस्था बताया और उसके उत्थान में सहयोग देना प्रारम्भ किया। विश्व शान्ति को भंग करने वाली शक्ति

को प्रोत्साहन मिला और वह पुनः बदला लेने की स्थिति में आ गई। संघ का पालन प्रारम्भ हो गया।

(6) उग्र राष्ट्रीयता (Extreme Nationality)—यूरोप के राष्ट्रों ने अपने राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा प्रारम्भ कर दी। उस समय राजनीतिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक न थे। वे अपनी सम्प्रभुता में कमी करना अपमान सूचक मानते थे। सं० रा० अमेरिका अपनी शक्ति को सर्वोपरि रखना चाहता था और अन्तर्राष्ट्रीय सेना का विरोध करता था। जर्मनी और इटली में भयानक रूप से राष्ट्रवाद जागा। इन शक्तियों ने विस्तारवाद को राष्ट्र का गौरव समझा अतः संघर्ष प्रारम्भ हो गया जो संघ के लिए संकट की घोषणा थी। इन शक्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीयवाद को राष्ट्रवाद के लिये घातक बताना प्रारम्भ किया। शूमैन ने लिखा है कि "संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य राष्ट्रों में इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, बुद्धिमानी तथा साहस उत्पन्न हुआ होता, परन्तु राष्ट्रों ने इस भावना का अभाव था।"

(7) अधिनायकवाद का विकास (Growth of Dictatorship)—प्रथम विश्व युद्ध के बाद अधिनायकवाद का विकास जोरों से प्रारम्भ हुआ। अधिनायकवाद ने संघ को भयानक हानि पहुँचायी। राष्ट्र संघ का मुख्य सिद्धान्त सदस्यों का शान्ति प्रेमी, प्रजातन्त्र प्रेमी एवं वाद-विवाद द्वारा समस्याओं को सुलझाने में था, परन्तु मुसोलिनी, हिटलर तथा स्टालिन जैसे अधिनायक शान्ति में विश्वास नहीं करते थे। वे युद्ध प्रेमी थे। वे समझते थे कि राष्ट्र संघ यथास्थिति रखना चाहता है और उनके विकास को रोकना चाहता है। उन्होंने पश्चिमी शक्तियों के प्रभाव को सहन नहीं किया। संघ की नीतियों में अविश्वास का अर्थ था उसका विघटन होना।

(8) शक्तियों के परस्पर झगड़े (Conflicts among Powers)—युद्ध का भय अल्पकालीन सिद्ध हुआ। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया लोग युद्ध की विभीषिका को भूलते गये। शक्तियों के स्वार्थ बढ़ते गये। छोटी-छोटी बातों में झगड़े होने प्रारम्भ हो गये। "ये झगड़े जब तक छोटी-छोटी शक्ति के मध्य हुये, राष्ट्रसंघ किसी न किसी प्रकार उन्हें सुलझाता रहा। जब यह झगड़े महाशक्तियों के मध्य प्रारम्भ हुये तब राष्ट्रसंघ के आदेशों की अवहेलना प्रारम्भ हुई। लीग खण्डित हो गया क्योंकि हिन्सा और अन्याय का वजन वह सहन कर सका।"

(9) सम्प्रभुता का सिद्धान्त (Principle of sovereignty)—राष्ट्र संघ सम्प्रभु राज्यों एक ढीला-ढाला संगठन था। राष्ट्र संघ के हाथ में अपनी कोई शक्ति न थी। राष्ट्र संघ के आदेशों को मानने के लिए बाध्य नहीं किये जा सकते थे। राष्ट्रों की सम्प्रभुता का सिद्धान्त जो कई शताब्दियों से राज्यों में जड़ जमाये हुए था वह अन्तर्राष्ट्रीयता के विरोध में था। कोई भी राष्ट्र अपने आन्तरिक मामलों में अन्य किसी शक्ति का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता था। सिमण्ड और एमनी ने ठीक ही कहा है कि "कोई महान राष्ट्र अपनी प्रभुता के छोटे से भाग को भी त्यागना पसन्द न करता था।"

(10) संघ का दोषपूर्ण संविधान (Defective Constitution of the League)—संघ की असफलता का मुख्य कारण उसका दोषपूर्ण संविधान था। वह अन्तर्राष्ट्रीय सेना नहीं रख सकता था। अतः उसके पास कोई ऐसी शक्ति न थी जो राष्ट्रों से अपनी आज्ञायें मनवा सकती थी। उसकी आज्ञाओं के पीछे केवल नैतिक बल था जिसका आधुनिक भौतिक प्रधान जगत में अधिक महत्त्व न था। एक कमी और भी थी कि महत्वपूर्ण मामलों में निर्णय सर्वसम्मति से होते थे। सर्वसम्मति होना बड़ा कठिन था। उसके द्वारा नियुक्त कमीशन भी ढीले-ढाले होते थे। "अन्त में लीग का सबसे बड़ा दोष यह था कि उसमें छोटे और बड़े का ईर्ष्या उत्पन्न करने वाला, भेद-भाव था।"[1]

1 "Finally, the League was based on the invidious distinctions of 'Great' and 'Small' among the Nations."

(11) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की दुर्बलता (Weakness of the International Court of Justice)—संघ की असफलता का एक कारण अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की दुर्बलता भी थी। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय भी मानना न मानना राष्ट्रों की इच्छा पर था। इठी शक्तियों से वह अपने निर्णय मनवाने के लिए कोई शक्ति नहीं रखता था। राष्ट्र अपने विरुद्ध नियमों को मानने के लिए तैयार न थे।

(12) इंगलैण्ड की जिम्मेदारी (Responsibility of England)—राष्ट्र संघ की असफलता में इंगलैण्ड की जिम्मेदारी भी कुछ कम न थी। उसने जो नीति राष्ट्र संघ में अपनायी वह राष्ट्र संघ के लिए घातक बनी :—

(i) शक्ति सन्तुलन की नीति (Policy of Balance of Power)—इंगलैण्ड ने 100 वर्ष पुरानी नीति आधुनिक काल में भी नहीं छोड़ी। यह नीति थी शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power)। इंगलैण्ड चाहता था कि यूरोप का शक्ति सन्तुलन बना रहे। वह किसी भी यूरोपीयन राज्य को अधिक शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहता था क्योंकि इससे उसकी सुरक्षा को खतरा पैदा हो सकता था। जर्मनी की पराजय का अर्थ वह यह नहीं मानता था कि फ्रांस अधिक शक्तिशाली होकर उसके लिए खतरा बन जाये अतः जर्मनी को वह बिल्कुल समाप्त करना नहीं चाहता था। उसने जब देखा कि फ्रांस और रूस में समझौता हो गया जो यूरोप के शक्ति सन्तुलन को बिगाड़ सकता है अतः उसने 1935 में जर्मनी से एक गुप्त सन्धि कर ली। इस समझौते के अनुसार जर्मनी थल और नभ सेना में इच्छानुसार वृद्धि कर सकता था केवल जल शक्ति में उस पर यह रोक थी जर्मनी की जल सेना उसकी सेना का 35% रहे। इस प्रकार जर्मनी का शस्त्रीकरण कर इंगलैण्ड ने राष्ट्र संघ को आघात पहुँचाया।

(ii) आर्थिक लाभ के लिए जर्मनी को प्रोत्साहन (Instigation for Economic Gain)—इंगलैण्ड का माल युद्ध के पूर्व जर्मनी में बहुत बिकता था। वह उसका सबसे बड़ा ग्राहक था। युद्ध में जर्मनी हार गया और उसका दिवाला निकल गया। इंगलैण्ड का माल जाना बन्द हुआ। आर्थिक मन्दी आ गयी। इस मन्दी को दूर करने के लिए इंगलैण्ड ने जर्मनी को कर्ज दिलवाने में बड़ी मदद की। अपने आर्थिक लाभ के लिए जर्मनी का उत्थान होना आवश्यक समझा। इंगलैण्ड का यह रुख देख फ्रांस को अपनी सुरक्षा का भय हुआ। उधर हिटलर ने इंगलैण्ड की नीति से पूरा लाभ उठाया।

(iii) ब्रिटिश तुष्टिकरण नीति (British Policy of Appeasement)—जर्मनी की शक्ति जब बढ़ गयी तो यूरोप में अशान्ति का खतरा बढ़ गया। इंगलैण्ड का यह विचार था कि यदि जर्मनी को सन्तुष्ट रखा जायगा तो वह युद्ध से दूर रहेगा। हिटलर ने इस नीति से लाभ उठाया। आस्ट्रिया के मामले में उसने इंगलैण्ड को विश्वास दिलाया कि आस्ट्रिया और जर्मनी के एकीकरण के बाद उसकी कोई माँग न होगी। अतः जर्मनी की तुष्टि के लिए यह बात इंगलैण्ड ने मान ली। सुडेटनलैण्ड का मामला जब उठा तो पुनः जर्मनी ने विश्वास दिलाया कि यह उसकी आखरी माँग है। इंगलैण्ड ने उसे भी स्वीकार कर लिया। जर्मनी को इच्छानुसार [illegible] देकर उसने अपने लिए ही नहीं विश्व के लिए संकट पैदा कर लिया [illegible] होना असम्भव थी। अन्त में जब पोलैण्ड का मामला आया तो इंगलैण्ड [illegible] उसकी शक्ति से बाहर हो चुका था।

(13) फ्रांस की जिम्मेदारी (Responsibility of France)—[illegible] राष्ट्र संघ के अन्त की जिम्मेदारी [illegible] जाती है। [illegible] था। द्वितीय विश्व युद्ध फ्रांस की जर्मन विरोधी नीति के कारण [illegible] सन्धि के समय फ्रांस ने जर्मनी के प्रतिनिधियों का घोर अपमान [illegible] सन्धि पर हस्ताक्षर करने पर [illegible], उधर पूर्व शक्तियों की [illegible]

में प्रतिशोध की अग्नि सुलगा दी। फ्रांस यह जानता था कि यदि कभी जर्मनी उभरा तो फ्रांस को कुचल कर रख देगा अतः वह इंगलैण्ड पर सदैव यही दवाव डालता रहा कि वह जर्मनी को उठने न दे। जर्मनी की अति शोचनीय दशा से इंगलैण्ड में उसके प्रति सहानुभूति जागी। उसने फ्रांस की हाँ में हाँ मिलानी छोड़ दी। जर्मनी के उत्थान में उसने सहयोग दिया। फ्रांस ने अपना रुख इटली की ओर मोडा। उसने इटली को हर प्रकार की सहायता दी। इटली एबीसीनिया पर अधिकार जमाने मे सफल हुआ। जब राष्ट्र संघ इटली पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा रहा था तब हिटलर ने मुसोलिनी का समर्थन किया। जर्मनी और इटली की शत्रुता समाप्त हुई। फ्रांस की गलत नीति से शत्रु 1 और 1 मिलकर 11 हो गये। इन दोनों फासिस्टों ने राष्ट्र संघ के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

(14) राष्ट्र संघ के सदस्यों की जिम्मेदारी (Responsibility of the Members of the League)—विल्सन के सिवा राष्ट्र संघ के प्रति किसी अन्य राष्ट्र की दिलचस्पी न थी। विल्सन के जोर देने पर वे जबरन राष्ट्र संघ के सदस्य बन गये थे पर ऊपरी मन से। राष्ट्रों को अपने स्वार्थ के आगे संघ के सिद्धान्तों में आस्था न थी। रूस ने 1919 में कहा था कि "यह जनता की क्रान्ति दबाने के लिए एक बुर्जुआ वर्ग का पवित्र संघ है।" 1928 में रूस ने कहा था कि "संघ पिछली शताब्दी की सबसे निर्लज्ज और चोरों की बनाई हुई वर्साय सन्धि की उपज है।" राष्ट्र संघ के सभी सदस्य अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे थे। जर्मनी ने कहा था कि "संघ सन्तुष्टों की संस्था है।" कुछ लोगों का कहना था कि संघ का कोई सिद्धान्त ऐसा न था जिस पर सब राष्ट्र सहमत होते। "अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग" वाली कहावत इस पर लागू होती है।

उपर्युक्त कारणों से राष्ट्र संघ असफल हुआ। इस विषय में पोटर ने राष्ट्र संघ की असफलता के बारे में निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं :—

"जहां तक असफलता हुई, राष्ट्र संघ की नहीं, वल्कि संघ के राष्ट्रों की असफलता हुई। संगठन के वैधानिक दायित्व अथवा वैधानिक सिद्धान्त शायद इस पक्ष में दोषपूर्ण थे, किन्तु इसने सदस्यों से इच्छित परिणाम से परे सुरक्षा व कल्याण की वृद्धि के लिए उनमें अनेक कार्यों का निवारण नहीं किया। यह लगभग सत्य है कि वे मुख्य रूप से अपने दायित्वों के प्रति सचेत थे किन्तु वे नियम के आदर्शों, सिद्धान्तों अथवा स्पष्ट इकरार के प्रति चेतनता रखने में असफल रहे। कौन्सिल और बहुत-सी सभाओं और मन्त्रालय की भी युक्तियां अत्यधिक कूटनीतिज्ञ थी, किन्तु यह सब कुछ मुख्यतया सदस्य राज्यों की सरकारों के अपनाये हुए दृष्टिकोण के कारण था। निश्चय ही लीग अपने सामान्य ढांचे के मुख्य दोषों के अथवा इसके व्यक्तिगत अवयवों की रचना के दोषों के कारण भी असफल नहीं हुई। निःसन्देह निर्णयात्मक रूप से यह कहा जाता है कि लीग विशेष रूप से शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में असफल रही, क्योंकि इसके मुख्य सदस्य—फ्रांस व ब्रिटेन उसे मंचूरिया व इथोपिया के मामले में पर्याप्त शक्ति के साथ सहायता देने में असमर्थ रहे।"

संरक्षण प्रणाली
(Mandates System)

संरक्षण व्यवस्था (Mandate System)—1818 में जर्मनी और उसके साथी राष्ट्र हार गये। पराजित राष्ट्रों को कमजोर बनाने के लिए उनसे क्षति पूर्ति के लिए धन या माल लिया गया तथा उनके उपनिवेश छीन लिये गये। इन उपनिवेशों का प्रशासन राष्ट्र संघ को सौंपा गया। यह संरक्षण प्रथा या अधिदेश प्रथा ही 'मैण्डेट व्यवस्था" कहलाती है। कहने को यह प्रथा बड़ी उदार, जन कल्याणकारी एवं मानवता के आधार पर बनी थी पर वास्तव में यह विजय में लूट के माल का एक अनोखे ढंग से बँटवारा था। युद्ध काल में जिन प्रदेशों पर मित्र राष्ट्रों ने सैनिक कब्जा कर लिया था उन्हें विजेता के राज्यों में नहीं जोड़ा गया। इनके लिए एक पृथक संस्था का

निर्माण किया गया। यह संस्था ही मैण्डेट व्यवस्था के नाम से जानी गयी। इस व्यवस्था का सुझाव दक्षिणी अफ्रीका संघ के प्रधानमन्त्री स्मट्स ने दिया था। इन अधि देशों को कुछ राज्यों में बांट दिया गया था और इनके विकास के लिए उन सरक्षकों को आदेश दे दिया गया था। राष्ट्र संघ के संविधान की धारा 22 में उल्लेख किया गया है कि "उन उपनिवेशों तथा प्रदेशो पर ......यह सिद्धान्त लागू किया जायगा कि उनकी जनता का कल्याण तथा विकास सभ्य देशो का पवित्र कर्तव्य है......ये समुन्नत राष्ट्र इस अधिकार को राष्ट्र सघ की ओर से प्रयुक्त करेंगे।"

जिन उन्नत देशों को संरक्षण का कार्य सौंपा गया है, उन्हे 'सरक्षक राज्य" (Mandatory State) का नाम दिया गया है। ये राज्य उन्हे सौंपे गये क्षेत्रो की व्यवस्था, समझौते के अनुसार करते थे और अपने कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्र संघ की परिषद में प्रस्तुत करते थे। अधिदेश प्रथा का निरीक्षण एक स्थायी अधिदेश आयोग (Permanent Mandate Commission) द्वारा किया जाता था। शासक (संरक्षक) राज्य इन प्रदेशों को अपने राज्य मे नही मिला सकते थे और न राष्ट्र संघ की अनुमति बिना उनकी शासन व्यवस्था का परित्याग कर सकते थे।

संरक्षण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रदेशों का विभाजन (Distribution of Mandate Area in the Mandate System)—मैण्डेट व्यवस्था विल्सन के आदर्शवाद और मित्र राष्ट्रों के साम्राज्यवाद का अनोखा समन्वय था। शूमैन ने कहा है कि "यह प्रथा साम्राज्यवाद की दोहरी समस्या—एक ओर तो निवासियों के हितों की रक्षा करना तथा दूसरी ओर साम्राज्य निर्माताओं को शान्त रखना—के दृढ़तापूर्वक समाधान के सर्वाधिक दिलचस्प अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों में से एक थी।"

मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत विजित प्रदेश एक जैसे न थे। इनमें कुछ तो विकसित देश थे, कुछ अविकसित प्रदेश थे तथा कुछ ऐसे टापू थे जो जनसख्या की दृष्टि से छोटे और सभ्यता के केन्द्रों से दूर स्थित थे। इन तीनों प्रकार के प्रदेशों की व्यवस्था निम्नलिखित प्रकार से की गयी :

(1) **प्रथम श्रेणी के देश (विकसित क्षेत्र)**—इस भाग मे टर्की के विकसित देश थे जो स्वतन्त्र किये जा सकते थे, पर साम्राज्यवादियों की लिप्सा शान्त करने के लिए तथा टर्की को दण्डित करने के लिए उन्हें मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत रखा गया। इन देशो की आर्थिक दशा खराब थी यह आत्मनिर्भर न थे। इनकी आर्थिक दशा सुधारना और उन्हे आत्मनिर्भर बनाकर स्वतन्त्र कर देना इस व्यवस्था का उद्देश्य था अतः इन्हें इगलैण्ड और फ्रास जैसे समृद्धशाली देशों को सौंपा गया। इन प्रदेशों का बँटवारा निम्न प्रकार हुआ :—

नियन्त्रित प्रदेश	संरक्षक राज्य
सीरिया	फ्रांस
लेबनान	फ्रास
पैलेस्टाइन	ब्रिटेन
ट्रांस जोर्डन	ब्रिटेन
ईराक	ब्रिटेन

(2) **द्वितीय श्रेणी के प्रदेश (अविकसित प्रदेश)**—इस श्रेणी मे जर्मन अधिकृत अविकसित प्रदेश थे। इन प्रदेशों को निश्चित देखभाल की आवश्यकता थी। इनकी स्थिति को सुधारना और स्वायत्त बनने के योग्य बनाना था। इन प्रदेशों में अफ्रीकी जर्मन उपनिवेश आते थे। इन प्रदेशों का बँटवारा निम्न प्रकार से किया गया :—

कैमेरून ($\frac{1}{6}$ भाग)	ब्रिटेन
पूर्वी अफ्रीका (टागनीका)	ब्रिटेन
टोगोलैण्ड ($\frac{1}{3}$ भाग)	ब्रिटेन
कैमेरून ($\frac{5}{6}$ भाग)	फ्रांस

टोगोलैण्ड (2/3 भाग) — फ्रांस
रुआंडा-उरुण्डी — बेल्जियम

(3) तृतीय श्रेणी (जर्मन टापू)—इस श्रेणी में अनेक टापू थे जिन पर जर्मनी ने अधिकार कर रखा था। इनमें जनसंख्या भी कम थी और ये सभ्यता के केन्द्रों से भी दूर थे। इन्हें एकत्र करना और एक ही शक्ति को सौंपना कठिन था अतः यह तय किया गया कि इन टापुओं को उन देशों को सौंप दिया जाय जो उनके निकट हों। इन प्रदेशों में कुछ अफ्रीकन प्रदेश थे तथा कुछ द्वीप। इनका बँटवारा निम्न प्रकार हुआ :—

दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका	दक्षिणी अफ्रीका संघ
पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैण्ड
नोरु	ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड
भूमध्य रेखा के दक्षिण में भूतपूर्व जर्मनी के प्रशान्तसागरीय टापू	आस्ट्रेलिया
भूमध्य रेखा के उत्तर में भूतपूर्व जर्मनी के प्रशान्तसागरीय टापू (मार्शल, कैरोलीन तथा मरियानाज)	जापान

ब्रिटेन और फ्रांस को इन प्रदेशों से सर्वाधिक लाभ पहुँचा।

संरक्षण व्यवस्था की कार्य-प्रणाली—22वीं धारा (अनुच्छेद 9) में यह उल्लेख है कि एक स्थायी आयोग की नियुक्ति की जायगी। इस धारा के अनुसार 1 दिसम्बर 1920 को "स्थायी मैण्डेट आयोग" (Permanent Mandates Commission) की स्थापना हुई। राष्ट्र संघ ने विजित प्रदेशों पर मैण्डेट व्यवस्था को तो मान लिया पर उसके संविधान में इन प्रदेशों के विभाजन का कोई उल्लेख न था। इस विभाजन का तो चार बड़ों (Four Bigs) ने सभा कर निश्चय किया।

स्थायी संरक्षण आयोग में 11 सदस्य थे। जो रिपोर्ट 'संरक्षक देश' प्रतिवर्ष राष्ट्र संघ मे रखते थे आयोग उसकी जाँच करता था। आयोग का कार्य एक परामर्शदात्री सभा के समान था। 1927 मे आयोग के 12 सदस्य हो गये थे। यह जर्मन सदस्य बढ़ने से हुये। इस आयोग का मुख्यालय जेनेवा था। आयोग के कार्य निम्नलिखित थे :

सरक्षित राज्यों के निवासियों की शिकायत सुन सकता था संरक्षण व्यवस्था पर राष्ट्र संघ का परामर्श देता था, सरक्षक देशों की रिपोर्ट पर अपने सुझाव राष्ट्र संघ में दे सकता था मैण्डेट प्रदेश मे जाकर वहाँ के निवासियो की दशा का निरीक्षण कर सकता था पर वह प्रशासन में कोई दखल नहीं दे सकता था। लार्ड बाल्फोर ने लिखा है कि "जनता राष्ट्र संघ तथा उसकी परिषद की शक्तियो का गलत अन्दाजा लगा सकती थी। मैण्डेट का निर्माण राष्ट्र संघ द्वारा नही हुआ था और राष्ट्र संघ उसमे कोई परिवर्तन नहीं कर सकता था। उसका तो केवल यह कर्त्तव्य था कि वह यह देखे कि मैण्डेट की शर्तें उन निर्णयों के अनुसार है या नहीं जो मित्र राष्ट्रों ने अन्य शक्तियों से मिलकर किये है।........तथा मैण्डेट व्यवस्था को चलाते समय मैण्डेट पर शासन प्राप्त शक्तियाँ राष्ट्र संघ की देखभाल के अन्तर्गत है न कि उनके नियन्त्रण में। मैण्डेट स्वनिर्मित सीमा में बधा है जो विजेताओं में उस प्रभुसत्ता पर लगाई है जिनके द्वारा विजित प्रदेशों पर शासन किया जाता है। मानव के सामान्य कल्याण के लिये मित्र तथा सम्बन्धित शक्तियों ने इन सीमाओं को अपने ऊपर लगाया है और राष्ट्र सघ से प्रार्थना की है कि वह उनकी सहायता करे तथा देखे कि सामान्य नीति का पालन होता है या नही, परन्तु सघ मैण्डेट व्यवस्था का निर्माता नहीं। राष्ट्र संघ का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह यह देखे कि समझौते के सिद्धान्तों का मैण्डेट में पालन होता है या नहीं, दूसरा कार्य यह है कि वे यह देखे कि मैण्डेट की शर्तें का पालन मैण्डेट प्राप्त राष्ट्र अपने क्षेत्रों मे करते हैं या नहीं।"

मैण्डेट आयोग ने 1931 में कुछ शर्तों को निमित किया जिनके आधार पर मैण्डेट प्रदेशों को स्वायत्त शासन प्रदान किया जा सकता था। वे शर्तें निम्नलिखित थीं—

(1) यदि मैण्डेट प्रदेश निश्चित तथा स्थायी सरकार की स्थापना करे।

(2) यदि मैण्डेट प्रदेशों में इतनी शक्ति प्राप्त हो सके कि वह अपनी प्रादेशिक अखण्डता तथा राजनीति स्वतन्त्रता को स्थायी बना सके।

(3) यदि मैण्डेट प्रदेश आन्तरिक व्यवस्था तथा शान्ति को स्थापित करने की शक्ति रखते हों।

(4) यदि उसके पास आय के साधन पर्याप्त हों।

(5) यदि उनमें इतनी शक्ति हो कि वे अल्पसंख्यक वर्ग की पूर्ण रक्षा कर सकें।

यह मैण्डेट व्यवस्था 1919 से 1946 ई० तक चली। इसके बाद सं० रा० संघ ने इनका प्रबन्ध एक ट्रस्टी के रूप में अपने हाथ में ले लिया। राष्ट्र संघ की यह मैण्डेट व्यवस्था वास्तव में बड़ी महत्त्व पूर्ण थी। प्रो० लियोनार्ड ने इस पद्धति की प्रशंसा करते हुये कहा है "इस पद्धति में अनेक दोषों में विद्यमान रहते हुये भी इसने उपनिवेशिक नीति तथा शासन प्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण उन्नति की।"[1]

मैण्डेट व्यवस्था का दोष—मैण्डेट व्यवस्था में कुछ दोष भी थे। मैण्डेट प्रदेशों का प्रशासन जनता के कल्याण से इतना सम्बन्धित न था जितना कि वह "संरक्षक राज्यों" के हितों की पूर्ति से था। जो राष्ट्र पहले ही बड़े-बड़े साम्राज्य रखते थे, उनको और उपनिवेश दे देना कोई औचित्य नहीं रखता था और मैण्डेट प्रदेशों की जनता के कल्याण की आशा को बलवती नहीं करता था। राष्ट्र संघ सम्प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों को केवल परामर्श दे सकता था, उनके प्रशासन के दोषों को बलपूर्वक दूर नहीं कर सकता था। राष्ट्र संघ की दुर्बलता के कारण मैण्डेट व्यवस्था दोषों से भर गई थी। कुछ मुख्य दोष निम्नलिखित थे—

(1) राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों की उपेक्षा—राष्ट्र संघ के सिद्धान्त मानववादी एवं कल्याणकारी थे। राष्ट्र संघ चाहता था कि इन संरक्षित प्रदेशों की जनता को शासन में स्थान धीरे-धीरे दिया जाय ताकि वह राजनीतिक रूप से शिक्षित हो जाय और आत्म-निर्भरता की ओर अग्रसर हो। उन्हें स्वतन्त्रता पाने के योग्य बनाया जाये ताकि वह शीघ्र स्वतन्त्र होकर अपने देश का शासन चलाने योग्य हो जाये। पर संरक्षक राज्यों ने इस सिद्धान्त की अवहेलना की और अपने स्वार्थों की पूर्ति की।

(2) आयोग को दी गई रिपोर्ट का दोषयुक्त होना—संरक्षक राज्य इन प्रदेशों के शासन की वार्षिक रिपोर्ट "स्थायी मैण्डेट आयोग" को प्रस्तुत करते थे। यह रिपोर्ट बहुधा दोषयुक्त होती थी। आयोग ने सिफारिश की थी कि यह रिपोर्ट प्रश्न-पत्र (Questionnaire) के रूप में होनी चाहिये पर संरक्षित प्रदेशों के शासक राज्य इस सिफारिश पर अधिक ध्यान न देते थे।

(3) आयोग के सीमित अधिकार—स्थायी मैण्डेट आयोग एक परामर्शदात्री संस्था थी उसे इन प्रदेशों की वास्तविक स्थिति जानने के लिये उनके निरीक्षण की अनुमति न थी। उसे केवल संरक्षक राज्यों द्वारा सही या गलत रिपोर्ट पर ही सन्तोष करना पड़ता था। यदि संरक्षित प्रदेशों की जनता अपने दुःख दर्द की कहानी सुनाते तो आयोग उन पर विचार करने की शक्ति न रखता था और वह संरक्षक राज्यों से वहाँ के शासन में सुधार न करा सकता था।

---

[1] "Despite the acknowledged shortcoming of the League's mandate sys represented a distinct improvement in colonial policy and administrati
Prof.

(4) संरक्षित राज्यों की जनता के हितों की उपेक्षा—संरक्षक राज्यों ने संरक्षित राज्यों के पूर्व के शासन में परिवर्तन अवश्य कर दिया था परन्तु इस परिवर्तन से जनता की दशा में सुधार न हुआ था। नवीन शासक और भूतपूर्व शासको में केवल नाम का अन्तर था। सांपनाथ और नागनाथ के स्वभाव मे कोई अन्तर न था। नये शासकों ने भी जनता को कोई विशेषाधिकार न देना चाहते थे। वहां की जनता अपने नये शासकों के व्यवहार से असन्तुष्ट थी। उसकी उन्नति एव विकास के प्रति शासकों को कोई दिलचस्पी न थी।

आलोचना—राष्ट्र संघ की मैण्डेट व्यवस्था की अनेक विद्वानों ने आलोचना की थी क्योंकि उसके सिद्धान्त और व्यवहार मे आकाश-पाताल का अन्तर था। जिन शासकों को यह व्यवस्था सौंपी गई थी वे महान स्वार्थी और शोषक थे। उन्होने अपने स्वार्थ को पूरा करने में ही सारा समय व्यतीत किया जनहित की कभी परवाह न की। प्रो० शूमेन के मतानुसार—"इन कमियों के रहते हुये भी मैण्डेट प्रथा ने एक शानदार कार्य करने का साहस किया। इस व्यवस्था के लागू होने से यह विचार फैला कि शासक वर्ग भी इन प्रदेशो के शासन के लिये सभ्य ससार के प्रति उत्तरदायी है; यह भावना एक सफल क्रिया मे परिणत हुई, जो भविष्य के लिये उपयोगी सिद्ध हुई।" इस व्यवस्था ने उपनिवेशवाद का अन्त किया, शोषण मे कमी की और जनता को अपने अधिकारों के प्रति सजग कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में यह परीक्षण सफल रहा।

राष्ट्र संघ के सामाजिक एवं मानवीय कार्य
(Social and Humanitarian Services of the League)

राष्ट्र संघ को राजनीतिक कार्यों मे असफलता मिली पर उसके गैर राजनीतिक कार्य बड़े ही महत्वपूर्ण थे। उसने मानवीय, सामाजिक एवं आर्थिक कार्यों के क्षेत्र मे अभूतपूर्व समस्यायें प्राप्त की। उसके द्वारा स्थापित संस्थायें आज भी बड़ी सफलतापूर्वक चल रही है। राष्ट्र सघ के संविधान की भूमिका में, उसके उद्देश्य मुख्य दो बताये गये हैं—"अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाना और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखना।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद संसार के सामने अनेक कठिन समस्यायें उपस्थित हो गई थीं जैसे "वित्त, स्वास्थ्य, यातायात एवं सचार व्यवस्था, शरणार्थियों का पुनर्वास. सामाजिक पुनरुत्थान और नैतिक उत्थान की समस्यायें।" पेरिस के शान्ति सम्मेलन ने इन उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने का दायित्व राष्ट्र संघ को सौंप दिया था। इस दायित्व को राष्ट्र संघ ने बड़ी कुशलता पूर्वक निभाया। उस ससार मे राष्ट्रों के मध्य सहयोग को बढ़ाकर मानव जीवन को अधिक सुखी और आनन्द मय बनाया। यहाँ राष्ट्र सघ के मानवीय कार्यों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation)—राष्ट्र सघ का सबसे महत्वपूर्ण कार्य श्रमिकों का कल्याण था। औद्योगिक क्रान्ति ने सामाजिक क्षेत्र मे महान उथल-पुथल मचा दी थी। मशीनो के निर्माण ने छोटे-छोटे उद्योगों का अन्त कर दिया था और उनके स्थान पर बड़े-बड़े कल कारखाने स्थापित हो गये थे। यातायात में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ था जिसने व्यापार की सुविधाओं को बढ़ा दिया था, कच्चे माल की उपयोगिता बढ़ गई थी, व्यापार का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो गया था। अनेक सुख-सुविधाओं की वस्तुओं का निर्माण बड़े पैमाने पर होने लगा था और निर्धन जनता भी इन वस्तुओं को सस्ते दामों मे पा सकती थी। इस मानव कल्याण के कारण औद्योगिक क्रान्ति बड़ी लोकप्रिय बन गई थी पर इसने आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र मे अनेक समस्याओं को जन्म दिया था। इन समस्याओं में श्रमिकों की समस्या सबसे बड़ी समस्या थी।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण दो वर्ग उत्पन्न हो गये थे—(1) पूँजीपति वर्ग तथा दूसरा श्रमिक वर्ग। पूँजीपति वर्ग लाभ का अधिकाधिक अर्जन करना चाहता था अतः वह श्रमिकों का

शोषण बड़े पैमाने पर करता था। श्रमिकों की दशा शोचनीय थी। यह समस्या सभी देशों में थी विशेषतौर पर औद्योगिक राज्यों में। प्रत्येक उद्योग में बड़ी संख्या में मजदूर कार्य करते थे अतः उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागृति उत्पन्न हुई और वे अपनी दशा सुधारने के लिए आन्दोलन करने लगे। चूंकि उनका मुकाबला धनपतियों से था और सरकार भी धनपतियों का साथ देती थी अतः श्रमिकों की दिशा इस संघर्ष से और भी शोचनीय हो गई थी। मानवता के पुजारियों एवं दार्शनिकों ने श्रमिकों की दशा का अपने लेखों एवं पुस्तकों में उल्लेख किया और जनता में उनके प्रति दया की भावना पैदा की।

पेरिस शान्ति सम्मेलन में श्रमिकों के हितों पर भी विचार हुआ था। वर्साय की सन्धि की 13वीं धारा में एक श्रमिक संघ का भी उल्लेख किया गया था। यह संगठन मजदूरी करने वाले पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों के लिए उचित मानवीय परिस्थितियों को उत्पन्न करने के उद्देश्य से बनाया गया था। राष्ट्र संघ का श्रमिक संगठन एक अंग था। राष्ट्र संघ के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्र भी इस संगठन के सदस्य थे, जैसे जर्मनी आदि। अमेरिका ने भी राष्ट्र संघ की सदस्यता यद्यपि स्वीकार नहीं की थी पर 1934 में वह भी श्रमिक संघ का सदस्य हो गया था। ब्राजील ने यद्यपि राष्ट्र संघ की सदस्यता त्याग दी थी पर वह भी श्रमिक संघ का सदस्य बना रहा था। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ के 32 सदस्य थे जिनमें 16 सदस्य सरकारी, 8 श्रमिक तथा 8 पूंजीपतियों के प्रतिनिधि थे। भारत यद्यपि स्वतन्त्र नहीं था पर 1922 में उसे भी श्रमिक संघ का सदस्य बनाया गया था। रूस भी इसका सदस्य बन गया था। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का स्थायी कार्यालय जेनेवा में बनाया गया था। यह 32 सदस्यों की समिति, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की कार्यकारिणी (Governing Body) कहलाती थी। सामान्य सभा में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के 4-4 प्रतिनिधि होते थे, जिनमें 2 सरकार के, 1 श्रमिकों का तथा 1 मालिकों का प्रतिनिधि होता था।

श्रमिक संघ में मजदूरों की दशा को सुधारने के निर्णय होते थे, उनका वेतन, कार्य के घण्टे तथा उनको अन्य सुविधाओं के प्रस्ताव पास होते थे जिनके अनुसार राज्य सरकारें अपने नियम बनाती थीं और मजदूरों की दशा सुधारने का उत्तरदायित्व सम्भालती थीं। 1939 तक इस प्रकार के 133 समझौते अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ द्वारा हुये थे।

1939 तक जेनेवा में ही श्रमिक संघ का कार्यालय रहा। चूंकि 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया तो यह कार्यालय जेनेवा के स्थान पर कनाडा के नगर मांट्रियल (Montreal) में स्थानान्तरित कर दिया गया था जहाँ वह 1940 से 1948 तक स्थित रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ ने श्रमिकों के कल्याण के लिए निम्नलिखित कार्य किये—

(i) पूंजीपतियों तथा मजदूरों का अपने-अपने संगठन बनाने का अधिकार स्वीकार किया गया।

(ii) मजदूरों को व्यापारिक वस्तु न मानने का आदेश दिया।

(iii) मजदूरों को सप्ताह में 24 घण्टे का अवकाश दिये जाने का प्रस्ताव पास

(iv) मजदूरों से सप्ताह के अन्दर 46 घण्टे से अधिक कार्य न लिया जाय

(v) मजदूरों को इतनी मजदूरी अवश्य दी जाय जिससे वे आराम बिता सकें।

(vi) समान कार्य के लिए समान वेतन का सिद्धान्त ... भी यदि पुरुषों का काम लिया जाये तो दोनों की मजदूरी बराबर हो।

(vii) बच्चों को काम में न लगाया जाय और बच्चों ... जिससे उनके शरीर तथा शिक्षा के विकास में बाधा न पड़े।

(viii) समस्त देशों में मजदूरों का स्तर एक जैसा होना चाहिए।

(ix) प्रत्येक राज्य सरकार एक निरीक्षण विभाग (Inspecting staff) खोले जिसका कार्य हो कि ये यह देखे कि पूंजीपतियों का व्यवहार मजदूरों के प्रति उचित है या नहीं।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ ने मजदूरों की दशा में काफी सुधार किया। राज्य सरकारों ने इस संगठन को पूरा सहयोग दिया। पूंजीपतियों का शोषण कम हुआ। मजदूरों का आर्थिक स्तर काफी ऊंचा हुआ।

(2) आर्थिक पुनर्निर्माण (Economic Reconstruction)—प्रथम विश्व युद्ध में अनेक देशों का आर्थिक ढांचा बिगड़ गया था। राष्ट्र संघ ने इन राज्यों का आर्थिक पुनर्निर्माण करने का प्रयास किया। उसने आस्ट्रिया के लिए खाद्य पदार्थ उधार दिलाने की व्यवस्था की। फ्रांस, ब्रिटेन तथा इटली ने आस्ट्रिया को 4 करोड़ 80 लाख डालर का ऋण दिया। सं० रा० अमेरिका ने भी आस्ट्रिया को आर्थिक सहायता दी।

(अ) ब्रुसेल्स का आर्थिक सम्मेलन (Economic Conference of Brussels)—राष्ट्र संघ ने 1920 में एक आर्थिक सम्मेलन बुलाया। 13 फरवरी, 1920 में पहले लन्दन में अपने तृतीय सभा में राष्ट्र संघ की परिषद ने निर्णय किया था कि यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सितम्बर-अक्टूबर 1920 में ब्रुसेल्स में सम्मेलन आयोजित हो। उसके अनुसार आर्थिक सम्मेलन हुआ इस सम्मेलन में 39 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यद्यपि ब्रुसेल्स के सम्मेलन में सदस्यों के मध्य बड़ा भेद-भाव रहा, फिर भी उसने अनेक लाभदायक योजनायें बनाईं। सम्मेलन ने कुछ प्रश्नों पर महत्वपूर्ण निर्णय लिये—बजट को सन्तुलित करना, मुद्रा-स्फीति को रोकना, अनावश्यक व्यय को बचाना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर से प्रतिबन्ध हटाना आदि। सम्मेलन ने एक स्थायी आर्थिक एवं वित्तीय समिति की नियुक्ति की भी सिफारिश की।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन जेनेवा 1927 (International Economic Conference at Geneva 1927)—ब्रुसेल्स के सम्मेलन के बाद राष्ट्र संघ ने 1927 में जेनेवा के अन्दर दूसरा विश्व आर्थिक सम्मेलन आयोजित किया। इसमें 50 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया, इन प्रतिनिधियों में अर्थशास्त्री, व्यावसायिक संघों के नेता, व्यापारी एवं सरकारी प्रतिनिधि थे। इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की जांच की। संसार की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात् सम्मेलन ने निम्नलिखित सिफारिशें की—

(i) आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए समस्त देशों में श्रम, पूंजी तथा सामान का स्वतन्त्रापूर्वक आदान-प्रदान होना चाहिए। समस्त आर्थिक प्रतिबन्ध हटा देना चाहिए।

(ii) उद्योगों में राज्यों के मध्य सहयोग की नीति अपनायी जानी चाहिए और प्रतिस्पर्धा को कम किया जाना चाहिए।

(iii) आयात-कर त्याग दिया जाय अथवा कम से कम कर दिया जाय जिससे कुछ स्थिरता (Stability) आ जाय।

(iv) विश्व का उद्योगीकरण हो चुका है अतः राज्यों के मध्य ऐसे समझौते हों जिनका उद्देश्य नियन्त्रित हो, जिससे आर्थिक विषमता का अन्त हो।

(v) कृषि तथा औद्योगिक [illegible] समान विकास होना चाहिए।

(vi) उ[illegible] राष्ट्रीय [illegible] जिससे उत्पादन व्यय में कमी होगी।

जेनेवा [illegible] यह सम्मेलन ने एक महत्वपूर्ण कार्य किय[illegible] में सभी देशों [illegible] प्रतिनिधि थे, जो [illegible] सहायता सम[illegible]

ने अनेक बार संकटग्रस्त देशों की सहायता की थी। 1934 में भूचाल आने पर इस संघ ने भारत सरकार की सहायता की थी।

1933 मे लन्दन मे एक अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ था। इसमे भी विभिन्न देशो की आर्थिक दशा सुधारने पर विचार हुआ था। इस सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावनापूर्ण रूप से दिखाई देती थी। राष्ट्र संघ की आर्थिक गतिविधियों पर टिप्पणी करते हुए प्रो० लियोनार्ड (Prof. Leonard) ने लिखा था कि 'केवल दो शताब्दियो के अन्दर ही सरकारों ने अपेक्षाकृत पृथकतावादी नीति से अपनी सामान्य, आर्थिक तथा राजस्व सम्बन्धी समस्याओ पर अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के द्वारा गम्भीर सहकारिता की ओर कदम बढ़ाया। इतिहास ने प्रथम बार अन्तर्राष्ट्रीय बैठकों की कार्य सूची चुंगी, आर्थिक बन्दी, कच्चे मालों की पहुँच, आयात-कर-नियमावली, नकली मुद्रा, आर्थिक पुनर्निर्माण जैसे आर्थिक विषयों से भरी हुई थी। इसका अर्थ यह नहीं था कि इन सभी क्षेत्रों में कार्यक्रम तय किये गये अथवा ठोस नीतियाँ बनाई गईं फिर भी यह महत्त्व की बात थी कि इन प्रश्नों पर सरकारें एवं उनके द्वारा स्थापित अवयव संयुक्त रूप से वाद-विवाद और अध्ययन कर रहे थे। यह अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की दशा में एक दूरगामी कदम था।"

राष्ट्र सघ ने यद्यपि आर्थिक समस्या को सुलझाने का बहुत प्रयत्न किया पर आर्थिक समस्या सुलझाने की बजाय और उलझ गई। 1929-30 मे ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रेम्जे मैक्डानल्ड ने जून 1933 में लन्दन में एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन किया पर वह असफल रहा।

(3) *वित्तीय सहायता (Financial Help)*—राष्ट्र संघ ने राष्ट्रों को जो आर्थिक संकट से ग्रस्त थे वित्तीय सहायता देकर उन्हें सकट से उबारा। उसने आस्ट्रिया, हगरी यूनान, बल्गेरिया आदि देशो को बहुमूल्य वित्तीय सहायता दी। 1918 से 1920 तक यूरोप ने निर्धनता, भुखमरी, आर्थिक मन्दी आदि का साम्राज्य छा गया। ब्रिटेन, अमेरिका फ्रांस, इटली, चैकोस्लावाकिया ने आस्ट्रिया को करोड़ो डालरों की सहायता देकर उसका पुनर्निर्माण किया। 1922 मे डा० जिमरमान को वियना मे उच्चायुक्त नियुक्त किया। इसने 1926 तक आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य किया 30 जून 1926 को इस उच्चायुक्त का कार्यकाल समाप्त कर दिया गया। हगरी की राष्ट्र सघ ने बड़ी आर्थिक सहायता की। 14 मार्च 1924 में दो समझौते (Protocols) पर राष्ट्रो ने हस्ताक्षर कर हगरी को सहायता दी। जरमिया स्मिथ (Jeremiah Smith) जो हगरी मे राष्ट्र सघ का उच्चायुक्त नियुक्त किया गया था, उसने हगरी में बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की। 12 वर्षों में ही उसके प्रयत्न से हगरी की आर्थिक दशा सुधर गयी। 1926 में राष्ट्र संघ ने अपना उच्चायुक्त हटा लिया। 1931 मे हंगरी की प्रार्थना पर राष्ट्र संघ ने हगरी की वित्त व्यवस्था की एक बार फिर जाँच की।

इसी प्रकार यूनान और बल्गेरिया को आर्थिक एव वित्तीय सहायता दी गई। सार घाटी एवं डैन्जिग नगर के पुनर्निर्माण में राष्ट्र संघ ने सराहनीय कार्य किया। राष्ट्र सघ की वित्तीय समिति के निर्देशानुसार डैन्जिग के लिए एक विशेष मुद्रा (Special Currency) की व्यवस्था की गई तथा एक केन्द्रीय बेंक खोला गया। इसके अतिरिक्त जन-हित कार्यों के लिए धन प्राप्त करने के निमित 1925 में एक नगरपालिका ऋण तथा 1927 मे एक मुद्रा ऋण प्रचलित किया गया।

(4) शरणार्थी सहायता (Help to Refugees)—प्रथम विश्व युद्ध के दौरान लाखों रूसी, तुर्क, यूनानी तथा आर्मेनियन बेघरबार हो गये थे और यूरोप मे गम्भीर शरणार्थी समस्या उपस्थित हो गई थी। राष्ट्र संघ ने इस समस्या को सुलझाने के लिए डा० एफ नानसेन (Dr. Nansen) को अपना उच्चायुक्त नियुक्त किया। इसने बड़ी कार्य-कुशलता के साथ अपना उत्तरदायित्व निभाया। 1930 तक लाखों शरणार्थियों को पुनः बसाया, उनके रहने के लिए घरो की व्यवस्था की, उनकी शिक्षा के लिए स्कूल खुलवाये आदि। यूनान-तुर्की-शत्रुता के कारण 1922 मे

10 लाख यूनानी जब अपने देश शरणार्थियों के रूप में लौटे तो यूनान की आर्थिक दशा बिगड़ गई। राष्ट्र संघ की सहायता से एक यूनानी शरणार्थी मण्डल की स्थापना हुई। इसने यूनान को 1924 तथा 1928 में दो ऋण दिये।

शरणार्थी समस्या बल्गेरिया में भी गम्भीर थी, राष्ट्र संघ ने 1921 में उसकी मुद्रा स्थिर करने के लिए भी सहायता की। फरवरी 1932 और अप्रैल 1935 में वित्त समिति ने बल्गेरिया की आर्थिक तथा वित्तीय स्थिति की जांच के लिए एक प्रतिनिधि भेजा गया।

1930 में डा० एफ० नानसेन (Dr. F. Nansen) की मृत्यु हो गई। राष्ट्र संघ का साधारण सभा ने नानसेन के नाम पर शरणार्थियों के लिये एक "अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय" की स्थापना की। इस कार्यालय ने रूसी, आर्मेनियन, तुर्क आदि शरणार्थियों को पुनर्वास कार्य में पर्याप्त सहायता दी। चीन सरकार की प्रार्थना पर राष्ट्र संघ ने 1931 में उस देश के आर्थिक पुनर्निर्माण में भी हाथ बटाया।

(5) **परिवहन तथा संचार** (Transport and Communication)—राष्ट्र ने एक परिवहन समिति (Transport Committee) की स्थापना की। इस समिति ने भी अपने क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। यह समिति शान्ति-सम्मेलन द्वारा बन्दरगाहों, जलमार्गों और रेलों के सम्बन्ध में नियुक्त की गयी थी। वर्साय सन्धि के 12वें भाग में इसका उल्लेख किया गया था। यह समिति राष्ट्र संघ के अन्तर्गत एक स्वायत्त संस्था थी और ऐसे राज्य भी इसके सदस्य हो सकते थे जो राष्ट्र संघ के सदस्य न थे। यह समिति यातायात एव संचार के सम्बन्ध के लिए प्रति 4 वर्ष में सम्मेलन बुलाती थी। इसका पहला सम्मेलन 1921 में हुआ था। इस समिति ने मुख्य कार्य ये किये—रेलवे की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था करना, पारपत्रों (Passports) के कार्य को सरल बनाना, वाणिज्य और पर्यटक (Touring), मोटरकारों सम्बन्धी नियम बनाना, जल शक्ति और विद्युत-शक्ति के उचित वितरण सम्बन्धी नियम बनाना आदि।

(6) **स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य** (Work Regarding Health)—राष्ट्र संघ की संविदा की धारा 23 (6) में यह उल्लेख किया गया था कि "संघ के सदस्य बीमारियों को रोकने तथा उन्हें नियन्त्रित करने के लिए.........आवश्यक कदम उठाने की चेष्टा करेंगे।" इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही राष्ट्र संघ ने 1923 में एक '*स्थायी स्वास्थ्य संगठन*' (Permanent Health Organization) की स्थापना की थी। इस संगठन का उद्देश्य "अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा जन-स्वास्थ्य की सुरक्षा को बढ़ाना" था। यह संगठन विभिन्न देशों के आन्तरिक कार्यों में, जब तक इसे विशेष रूप से न कहा जाये, हस्तक्षेप नहीं करता था। स्थायी स्वास्थ्य संगठन के प्रमुख अंग—स्वास्थ्य समिति, परामर्शदात्री परिषद और स्वास्थ्य विभाग थे।

इस संगठन के उल्लेखनीय कार्य थे—संक्रामक रोगों का निवारण, अफ्रीका के निद्रा रोग (Sleeping sickness) को रोकना, यूनान और चीन जैसे देशों की जनस्वास्थ्य सेवाओं का पुनर्गठन इत्यादि। स्वास्थ्य संगठन के तत्वाधान में संक्रामक रोगों को रोकने के लिए सिंगापुर में एक 'ईस्टर्न ब्यूरो (Eastern Bureau) स्थापित किया गया। इसे प्रति सप्ताह 112 बन्दरगाहों से तार द्वारा जनस्वास्थ्य सम्बन्धी सूचनाएँ प्राप्त होती थी। 1923 में एक मलेरिया आयोग स्थापित किया गया। इसमें अनेक देशों के विशेषज्ञ थे। यह आयोग विभिन्न देशों की सेवा करता था। क्षय, कैंसर, सिफिलस और बाल रोगों के प्रसार को रोकने के लिए भी ऐसा ही प्रयत्न किया गया। आयोग ने अल्बानिया, बोलीविया, स्याम, चीन, यूनान, चैकोस्लावाकिया, चिली आदि कई देशों की सरकारों को अपनी विशिष्ट सेवाएँ प्रदान कीं और उन देशों की जनता की स्वास्थ्य रक्षा को बढ़ावा दिया।

स्वास्थ्य संगठन के प्रयास से नगरों में तो रोगों की रोकथाम का काफी कार्य किया गया

पर देहाती क्षेत्रों में कोई अन्तर न पड़ा। 1921 में स्वास्थ्य पर एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें 23 देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का निर्माण किया गया। इस संगठन की आर्थिक दशा खराब थी फिर भी इसने अपना कार्य ठोस रूप से किया। 1945 में इसकी सदस्य संख्या 12 से बढ़ाकर 20 कर दी। राष्ट्र संघ के समाप्त होने पर इस संगठन को 'विश्व स्वास्थ्य सगठन' (World Health Organization) के नाम से संयुक्त राष्ट्र संघ का अग बना दिया गया।

(7) **नारी-कल्याण तथा बाल-कल्याण** (Woman Welfare and Child Welfare)—राष्ट्र संघ के संविदा की धारा 23 (3) में उल्लेख किया गया था कि "संघ के सदस्य ·····स्त्रियों एवं बालकों·······के व्यापार के सम्बन्ध में समझौतों के सामान्य पर्यवेक्षण का कार्य संघ को सौंप देंगे।" इसी आधार पर संघ ने अनेक परामर्शदात्री समितियों की स्थापना। ऐसी एक समिति 1922 में गठित की गयी थी जिसका उद्देश्य स्त्रियों और बालकों के व्यापार को रोकना था तथा स्त्रियों एवं बालकों के कल्याण को बढ़ावा देना था। इस समिति ने अनैतिक उद्देश्यों के लिए होने वाले स्त्रियों के व्यापार को रोकने के लिए कुछ नियमों का निर्माण किया। इसी वर्ष संघ की साधारण सभा ने एक अभिसमय (Convention) स्वीकार किया जिसके द्वारा विवाह के लिए सम्मति की आयु (Age of Consent) बढ़ा दी गयी और वयस्क स्त्रियों के व्यभिचार के उद्देश्य के लिए किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर रोक लगा दी गयी। इससे पूर्व अल्प-वयस्क स्त्रियों के व्यापार पर रोक लगायी जा चुकी थी। 19.4 में बच्चों के संरक्षण और कल्याण के लिए एक परामर्शदात्री आयोग (Advisory Commission) की नियुक्ति की गयी (1927 मे राष्ट्र सघ के तत्वाधान मे एक विशेषज्ञ समिति ने इस समस्या पर विचार कर अपनी शोध-रिपोर्ट प्रस्तुत की। 1929 में सघ के तत्वाधान मे ही सुदूरपूर्व में बच्चों और स्त्रियों की जांच की गयी।

राष्ट्र संघ ने अश्लील प्रकाशनों को रोकने और वेश्यावृत्ति का अन्त करने के लिए भी काफी प्रयत्न किये। बाल हितकारी समिति ने विभिन्न देशों के विवाह के आयु से सम्बद्ध कानूनों का अध्ययन किया और गैर कानूनी बच्चो की समस्या पर भी विचार किया। राष्ट्र सघ के प्रयासों से अनेक देशों ने अपने यहाँ विवाह की आयु बढ़ाने के लिए कानूनों के लिए कानूनो मे संशोधन किया।

(8) **मादक द्रव्यों पर रोक** (Checking of Intoxicants)—राष्ट्र सघ ने अफीम आदि मानव द्रव्यों पर नियन्त्रण लगाने का प्रयास किया। उसने इन द्रव्यों को इसलिए नियन्त्रित किया क्योंकि इनके द्वारा मानव का शारीरिक एव मानसिक विकास रुक जाता है। 1920 मे राष्ट्र संघ की महासभा ने अपने प्रथम अधिवेशन मे अफीम तथा अन्य हानिकारक औषधियों के व्यापार के सम्बन्ध मे एक परामर्शदात्री समिति का गठन किया। इस समिति का उद्देश्य था कि नशीले पदार्थों का प्रयोग केवल औषधियों एवं वैज्ञानिक प्रयोगों तक ही सीमित करना था। इस समिति ने बहुत से पहलुओं का अध्ययन किया। 1925 तथा 1931 में मादक पदार्थों के सम्बन्ध मे जेनेवा अभिसमय (Geneva Convention) स्वीकार किये गये। मादक द्रव्यों का उत्पादन केवल औषधियों एवं वैज्ञानिक तथा चिकित्सा सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए ही सीमित करने के उद्देश्य से दो नई संस्थाओं का जन्म हुआ—स्थायी केन्द्रीय मण्डल (Permanent Central Board) तथा निरीक्षक मण्डल (Supervisory Body)।

(9) ***दासता तथा बेगार की समस्या***—*राष्ट्र संघ ने दासता एवं बेगार की समस्या पर* भी ध्यान दिया। उसने 1924 ई० में इस सम्बन्ध में एक विशेष समिति की नियुक्ति की। इस समिति के प्रतिनिधि के आधार पर राष्ट्र संघ की सभा ने 1926 में दासता के उन्मूलन के उद्देश्य से एक अभिसमय स्वीकार किया। इसे "दासता के दमन का अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय कहा गया।

सभा ने परिषद का आदेश दिया कि वह इस समस्या पर प्रतिवर्ष एक रिपोर्ट तैयार करे तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ को इस समस्या का अध्ययन करने का प्रोत्साहन करे।

(10) अन्य कार्य—राष्ट्र संघ ने युद्धबन्दियों को स्वदेश लौटाने पर भी विचार किया प्रथम विश्व युद्ध के बाद भी लाखों युद्धबन्दी नरक तुल्य जीवन बिता रहे थे। राष्ट्र संघ के प्रयत्न से लगभग सभी युद्धबन्दी छोड़ दिये गये।

राष्ट्र संघ ने बौद्धिक सहयोग के लिए एक "बौद्धिक सहयोग समिति" (Committee on Intellectual Cooperation) का निर्माण किया। प्रारम्भ में इसके सदस्य 12 थे बाद में यह सख्या 17 कर दी गयी। इस समिति में विश्व भर के सर्वाधिक बुद्धिमान तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति थे जैसे अल्बर्ट आइन्सटीन, मैडम क्यूरी, गिल्बर्ट, मरे, हेनरी बर्गसन, लारेन्ज एवं सिलिकन आदि। समिति का उद्देश्य साहित्य एवं विज्ञान के क्षेत्र में राष्ट्रों के मध्य अधिकतम सम्पर्क स्थापित कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि करना था। इसके मुख्य कार्य अग्रलिखित थे—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन, राष्ट्र संघ के उद्देश्यों का प्रचार करना, शिक्षा सम्बन्धी सूचनाएँ एकत्र करना, विभिन्न देशों के संगीत कविता, थियेटरों आदि में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से एकता स्थापित करना, ऐतिहासिक स्मारकों तथा अन्य कलाकृतियों की सुरक्षा की व्यवस्था करना आदि।

सारांश—उपर्युक्त विवरण से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि राष्ट्र संघ ने गैर-राजनीतिक क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया। उसने आर्थिक, सामाजिक, मानवतावादी तथा बौद्धिक क्षेत्रों में आशातीत सफलता प्राप्त की उसने समस्त ससार में सहयोग, सद्भावना, एकता, प्रेम और मैत्रीभाव उत्पन्न किया। इसके इन कार्यों से करोड़ो लोगों को राहत मिली। पामर एवं पार्किन्स के शब्दो में "(अराजनैतिक क्षेत्र में) कार्यक्रम आश्चर्यजनक रूप से विस्तृत था और उसमें प्राप्त सफलता इतनी शानदार थी कि सभी राष्ट्रों द्वारा यह सघ की अद्वितीय उपलब्धि मानी जाती है। अमेरिकी राज्य सचिव कार्डेल हुल (Cordel Hull) ने 1939 में लिखा था कि "राष्ट्र सघ ने मानवतावादी एवं वैज्ञानिक क्षेत्रो में आज तक के इतिहास में अन्य किसी संस्था की अपेक्षा अधिक प्रयास किया है।"[1]

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. राष्ट्र सघ की उत्पत्ति, उसकी प्रकृति एवं उद्देश्यो का वर्णन कीजिए।
   Describe the orgin, its nature and the objects of the League of Nations.
2. राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों की रचना एवं उसके कार्यों का उल्लेख कीजिए।
   Describe the composition, organization and the functions of the various organs of the League of Nations.
3. राष्ट्र सघ के महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख कीजिए। कार के इस कथन की कि "सन् 1924 से 1930 तक का समय राष्ट्र सघ का महानतम अधिकार और प्रतिष्ठा का था" आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
   Comment on
   e the period of
4. राष्ट्र सघ को किन-किन मामलों में असफलताएँ प्राप्त हुईं। विवेचना कीजिए।
   In which cases the League was unsuccessful. Discuss.

[1] "The League of Nations has been responsible for more humanitarian and scientific endeavour than any other organization in history."
—Cordel Hull : *Quoted by Morgenthau.*

5. आलोचनात्मक ढंग से बताइये कि राष्ट्र संघ की असफलता के क्या कारण थे ? इस असफलता में ब्रिटेन और फ्रांस कहाँ तक जिम्मेदार थे ?
   Examine critically the reason which bed to the failure of the Leauge of Nations. How far were England and France responsible for the failure ?
6. मैण्डेट व्यवस्था की कार्य प्रणाली की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। इस व्यवस्था के दोषों पर भी प्रकाश डालिए।
   Discuss the working system of the Mandates System. What were the defects of this system.
7. राष्ट्र संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों अथवा उसके सामाजिक, आर्थिक एवं मानवतावादी कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।
   Prepare a brief estimate of the League's non-political or social, Economic and humanitarian functions.
8. राष्ट्र संघ के अंगों—अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
   Discuss critically the League's Organs-Internation Labour Organization and Permanent Court of International Justice.

18
राष्ट्र संघ और निःशस्त्रीकरण
(The League of Nations and Disarmament)

"संघर्ष की आशंका शस्त्रीकरण की होड़ को जन्म देती है। युद्ध और युद्ध की सम्भावना से शस्त्र निकलते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि शस्त्रों के कारण युद्ध होते हैं वे गाड़ी को घोड़े के आगे खड़े करने का प्रयत्न करते हैं।"
—प्रो० शूमेन

"Actually, the most important economic aspect of disarmament is that disarmament would present a number of problems of adjustment. In one word, it will be a problem of converting the armament economy into disamament economy."
—Mahendra Kumar

निःशस्त्रीकरण का अर्थ तथा प्रकार
(Disarmament : Meaning and Types)

मानव इतिहास मे प्रारम्भ से ही युद्धों का रिवाज रहा है। युद्धों ने लाखों मनुष्यों की जाने ली है। मानव कल्याण चाहने वालो ने सदैव ही युद्धों का विरोध किया है और निःशस्त्रीकरण की आवाज उठाई है। विज्ञान के विकास ने नये शस्त्रों का बड़ी मात्रा मे आविष्कार किया है, प्रथम विश्व युद्ध में इन शस्त्रो ने मानव जाति का भयानक संहार किया। अपनी शक्ति बढ़ाने का राष्ट्रों ने एकमात्र साधन शस्त्रो का भारी मात्रा में भण्डार जमा करना ही लक्ष्य बनाया है। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने जहाँ शान्ति स्थापना के लिए अनेक प्रयत्न किये, वहाँ शान्ति की स्थिरता को बनाये रखने के लिए राष्ट्रों से अपील की कि वे शस्त्रों में कमी करे। 1919 के शान्ति सम्मेलन में शस्त्रो की कमी करने के लिए अनेक प्रस्ताव रखे गये। पराजित राष्ट्रों को निःशस्त्र करने में पहल की। भविष्य मे शस्त्रों के निर्माण में कमी करने का वचन अनेक राष्ट्रों ने दिया।

राष्ट्र संघ का जन्म युद्धों को समाप्त करने तथा विश्व मे शान्ति बनाये रखने के लिए किया गया था। राष्ट्र संघ ने निःशस्त्रीकरण करने के अनेक प्रयत्न भी किये। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्र संघ मे सम्मिलित न हुआ फिर भी वह विश्व शान्ति की स्थापना एवं निःशस्त्रीकरण के लिए बराबर प्रयत्नशील रहा। परन्तु निःशस्त्रीकरण की योजनाएँ कभी सफल न हो सकती और हम देखते हैं कि प्रथम युद्ध की अपेक्षा द्वितीय विश्व युद्ध में और भी भयानक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ।

प्रो० फ्रीडमैन ने लिखा है कि "सामूहिक सुरक्षा की एक सफल व्यवस्था के लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता या राष्ट्रीय व्यक्तित्व का सम्पूर्ण अन्त करना अनिवार्य नही होता है, तथापि उसके लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रों की निजी इच्छाओं को सामूहिक निश्चय के सामने आत्म-समर्पण करना

चाहिए। सामूहिक सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि सैनिक शक्तियों तथा महत्त्वपूर्ण शस्त्रों पर राष्ट्रीय नियन्त्रण लगाया जाये। परन्तु यह तभी सम्भव है, जब राष्ट्रीय सम्प्रभुता पर कठोर नियन्त्रण हो।"

प्रो० जार्ज स्वीट्जेन वर्गर के शब्दों में, "आज राष्ट्रों के सम्बन्ध परस्पर अविश्वास और दूसरे राष्ट्रों के इरादों के बारे में निरन्तर भय से आच्छादित हैं। इसलिए इस भय और अविश्वास के वातावरण को समाप्त करने हेतु शस्त्रों पर नियन्त्रण रखने की योजना रखी गयी है। विगत 150 वर्षों से युद्ध के खतरों को रोकने के लिए प्रयत्न जारी है परन्तु फिर भी शस्त्रों की होड़ विश्व में जारी है।"

निःशस्त्रीकरण का अर्थ (Meaning of Disarmament)—निशस्त्रीकरण का शाब्दिक अर्थ शस्त्रीकरण का अन्त करना है। परन्तु व्यवहार में इसका अर्थ शस्त्रों के निर्माण में कमी करना तथा सेनाओं की संख्याओं को घटाना है। प्रो० मार्गेन्थ्यू ने नि.शस्त्रीकरण का अर्थ बताते हुए कहा है कि "निशस्त्रीकरण से तात्पर्य शस्त्रों की होड़ को समाप्त करने के लिए कुछ या सभी शस्त्रों को कम या समाप्त कर देने से है।"[1]

निःशस्त्रीकरण के प्रकार (Types of Disarmament)—नि.शस्त्रीकरण के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं, जो निम्न प्रकार के हैं :—

(1) मात्रात्मक व गुणात्मक निःशस्त्रीकरण (Quantitive and Qualitative)—मात्रात्मक निःशस्त्रीकरण का अभिप्राय सभी अस्त्रों-शस्त्रों की मात्रा घटाने से है जबकि गुणात्मक निःशस्त्रीकरण से तात्पर्य किन्हीं विशेष प्रकार के शस्त्रों पर नियन्त्रण लगाने से है।

(2) सामान्य एवं स्थानीय निःशस्त्रीकरण (General and Local Disarmament)—सामान्य नि.शस्त्रीकरण (General Disarmament) में समस्त राष्ट्र सम्मिलित होते है जैसा कि 1932 में हुआ विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन। स्थानीय निःशस्त्रीकरण (Local Disarmament) से तात्पर्य है केवल कुछ राष्ट्र अथवा क्षेत्रों का निःशस्त्रीकरण। उदाहरण के लिए 1810 का अमेरिका और कनाडा का 'रश बागोट समझौता' (Rush Bagot Agreement)।

(3) पूर्ण निःशस्त्रीकरण (Total Disarmament)—इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने की योजना रखी जाती है।

(4) निःशस्त्रीकरण एवं शस्त्र-नियन्त्रण (Disarmament and the Control on Arms)—नि.शस्त्रीकरण का अर्थ है वर्तमान में प्राप्त सभी शस्त्रों का पूर्ण-नियन्त्रण जबकि शस्त्र-नियन्त्रण से तात्पर्य है भविष्य में बनने वाले शस्त्रों के उत्पादन पर नियन्त्रण।

इस प्रकार निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियन्त्रण दोनों ही भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-योजनाएँ हैं तथा ये परस्पर पूरक हैं।

निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता
(Need for Disarmament)

शान्ति स्थापना के लिए—निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता शान्ति स्थापना के उद्देश्य से अनुभव की जाती है। आइनिक क्लाड के मतानुसार "शस्त्र-सज्जा राजमर्मज्ञों को युद्ध लड़ने के लिए लालायित कर देती है। इसलिए शस्त्रों की होड़ रोकने के लिए समझौते अत्यन्त आवश्यक हैं।" कोहन ने भी लिखा है कि "शस्त्रीकरण राष्ट्रों के बीच भय और मनमुटावों की स्थिति पैदा करता

[1] "*Disarmament is the reduction or elimination of certain or all armaments, for the purpose of ending the armament race.*" —*Hans J. Morgei*

है कि निःशस्त्रीकरण द्वारा भय और मन-मुटावों को कम करके शान्तिपूर्ण समझौते की प्रक्रिया को सुविधापूर्ण एवं शक्तिशाली बनाया जा सकता है ।"[1]

हैडले बुल (Hedley Bull) के मतानुसार "युद्ध का कारण शस्त्रीकरण नहीं है। उन्होंने युद्ध के कारण के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता एवं तनावपूर्ण स्थिति को बताया है। अतः शस्त्रीकरण की होड़ तभी होती है जब दो राष्ट्रों में मनमुटाव बढ़ जाते हैं। इन मनमुटावों के कारण ही सशस्त्र संघर्ष छिड़ता है जो युद्ध में बदल जाता है अर्थात् "शस्त्रीकरण की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षपूर्ण तनाव व युद्ध के मध्य की है ।" प्रो० शूमैन (Prof. Schuman) का कथन है कि 'संघर्ष की आशंका शस्त्रीकरण की होड़ को जन्म देती है। युद्ध और युद्ध की सम्भावना से शस्त्र निकलते है। जो लोग यह मानते है कि शस्त्रो के कारण युद्ध होते हैं, वे गाड़ी को घोड़े के आगे खड़े करने का प्रयत्न करते हैं ।"[2]

आर्थिक कारण (Economic Reason)—निःशस्त्रीकरण का सिद्धान्त लागू करना, आर्थिक लाभों के उद्देश्य से भी आवश्यक माना जाता है। शस्त्रीकरण मे राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग व्यय हो जाता है। यह सब धनराशि का जनकल्याण अथवा मानवों के जीवन स्तर को उठाने में लगायी जाती तो राष्ट्र का आर्थिक विकास होता है। सेमूर मैलमेन (Seymour Malman) का कहना है कि "शस्त्रों की बजाय साधनों का प्रयोग विश्व के औद्योगीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए किया जाना चाहिए ।"[3]

इस तर्क को कुछ लोग स्वीकार नहीं करते हैं। उनका मत है कि निःशस्त्रीकरण से आर्थिक मन्दी (Depression) आ जायगी तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास में बाधा पड़ जायेगी। श्री महेन्द्र कुमार लिखते हैं कि "निःशस्त्रीकरण होने पर मुख्य समस्या तो शस्त्रीकृत अर्थव्यवस्था मे परिवर्तन करने की होगी ।" निःशस्त्रीकरण से आर्थिक व्यय कम न होगा क्योंकि निःशस्त्रीकरण के 'निरीक्षण" की व्यवस्था में काफी धन व्यय होगा। शीलिंग व हाल्पेरिन का मत है कि "कम से कम निःशस्त्रीकरण के प्रारम्भ के कुछ वर्षों में तो सुरक्षा के व्यय मे वृद्धि होगी ।"[4] परन्तु आर्नोल्ड टवायनवी लिखते हैं कि "निशस्त्रीकरण होने और शान्तिपूर्ण सामाजिक परिवर्तन के लिए साधनों के जुटाने से मानव समाज के विकास के कोई बाधा नही पड़ेगी ।"[5]

नैतिक कारण (Moral Reasons)—कुछ विद्वानो ने नैतिक आधार पर भी निःशस्त्री- का समर्थन किया है। शस्त्रीकरण युद्धों को जन्म देता है इसलिए ये दोनों ही अनैतिक साधन हैं। इसलिए इस मत के विचारक लिखते हैं कि इकतरफा (Unilateral) निःशस्त्रीकरण आक्रमण के विरुद्ध गारण्टी है और एकतरफा निःशस्त्रीकरण करने वाले राष्ट्र कभी भी पराजित नहीं हो सकते हैं।

---

1 "Armaments aggravate tension and fears among the nations. By releasing tension and fears disarmament should facilitate and strengthen the process of peaceful settlement." —*Benjamin V. Cohen*

2 "The expectation of conflict lead to competition in armaments spring from war and from the anticipation of war. Yet men have long sought to put the cart before the horse." —*Fredrich L. Schuman*

3 Seymour Malman : "*The Peace Race*".

4 "Arms control will not cut defence cost." —*Thomas C. Schelling and Morton H. Halparin*

5 Arnold J. Toynbee : *Change in a Disarmed World.*

आणविक कारण (Atomic Reasons)—द्वितीय महायुद्ध में अणु बमों के प्रयोग ने युद्ध की समस्या को और भी जटिल बना दिया है। आज 6 राष्ट्र ऐसे हैं जो अणु बमों का भण्डार रखते हैं। अणु बमों के अतिरिक्त हाइड्रोजन बमों एवं प्रक्षेपणशास्त्रों ने युद्ध की कल्पना को भी विनाशकारी बना दिया है। यदि तीसरा महायुद्ध होता है तो संसार में विजेता और विजित दोनों का ही विनाश हो जायगा। इस कल्पना ने भी मानवों को विवश किया है कि शस्त्रों के निर्माण एवं प्रसार के विरुद्ध आवाज उठायें।

कुछ विद्वान इस मत के विरोधी हैं, उनका मत है कि आणविक हथियार ही विश्व शान्ति बनाये हुए हैं, इसे ही आज के समय में "आतंक का सन्तुलन" (Balance of Terror) कहा जाता है। यह तर्क महत्त्वपूर्ण है परन्तु इससे युद्ध की सम्भावना समाप्त नहीं होती है एवं निःशस्त्रीकरण की उपयोगिता बनी रहती है।

राष्ट्रीय अस्तित्व (National Existence)—राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए भी निःशस्त्रीकरण की माँग जोर पकड़ रही है। आणविक युद्ध की सम्भावना से छोटे-मोटे राज्य काँप उठते हैं क्योंकि वे यह जानते हैं कि अब यदि युद्ध होता है तो उनका अस्तित्व मिट जायगा। इस प्रकार आज छोटे-बड़े राष्ट्र सभी निःशस्त्रीकरण के पक्ष में हैं।

निःशस्त्रीकरण की समस्या
(Problem of Disarmament)

निःशस्त्रीकरण की समस्या अत्यन्त जटिल रही है। प्रत्येक युद्ध के बाद इस विषय में बहुत समय से विचार किया जाता रहा है पर यह ऐसी उलझनपूर्ण समस्या रही है कि कभी सुलझाने में नहीं आयी। सर्वप्रथम 1648 में वैस्ट फेलिया की सन्धि (Treaty of Westphalia) में विद्वानों का ध्यान इस ओर गया था। इस सन्धि के अनुसार सधिकर्ताओं ने इस बात को जोड़ दिया था कि पुराने किले तोड़ दिये जाने चाहिए तथा नये किलों का निर्माण नहीं होना चाहिए। पर राष्ट्रों ने अपने दिये हुए वचनों का पालन नहीं किया और युद्ध बराबर चलते रहे। 19वीं शताब्दी में रूस के जार ने निःशस्त्रीकरण का प्रयास किया था। उसकी प्रेरणा से 1899 में हेग सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखा गया था और एक समिति विशेषज्ञों की बनाई गयी थी पर यह समिति किसी निर्णय तक न पहुंच पायी अत: निःशस्त्रीकरण की योजना असफल हो गई। 1907 में हेग सम्मेलन पुनः हुआ पर इस सम्मेलन में भी निःशस्त्रीकरण पर सब राष्ट्र एक मत न हो सके।

प्रथम विश्वयुद्ध में भयानक शस्त्रों का प्रयोग (Use of Dangerous Weapons in I World War)—प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व निःशस्त्रीकरण की सभी योजनायें असफल हुईं जिसका परिणाम विश्व को प्रथम विश्व युद्ध में भोगना पड़ा। विज्ञान का विकास इस समय तक पर्याप्त रूप से हो चुका था अतः वैज्ञानिकों ने युद्ध पिपासु राष्ट्रों की इच्छापूर्ति के लिए भयानक शस्त्रों का निर्माण किया जिन्होंने युद्धकाल में भयानक मानव संहार किया। युद्ध के दौरान ही संसार के राजनीतिज्ञों ने युद्ध के कारणों पर विचार किया और उनमें एक कारण शस्त्रीकरण को भी बताया। उन्होंने यह निश्चय किया कि शान्ति स्थापना के लिए निःशस्त्रीकरण बहुत आवश्यक है।

विल्सन के 14 सूत्र (Wilson's Fourteen Points)—प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी के प्रहार से मित्र राष्ट्र तिलमिला गये। उनकी दशा सोचनीय देखकर अमेरिका को प्रथम विश्व युद्ध में कूदना पड़ा। युद्ध के दौरान उन्होंने शान्ति स्थापना की दृष्टि से प्रसिद्ध 14 सूत्र प्रकाशित इन सूत्रों में एक निःशस्त्रीकरण का भी सूत्र था। उसमें कहा गया था कि "समस्त राष्ट्रों

को इस सीमा तक घटाने की एक-दूसरे को गारण्टी दी जाय कि ये शस्त्र केवल घरेलू रक्षा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त हों।"[1]

शान्ति सम्मेलन और निःशस्त्रीकरण
(Peace Conference and Disarmament)

प्रथम विश्व युद्ध नवम्बर 1918 में समाप्त हो गया। 1919 के प्रारम्भिक महीनों में पेरिस में शान्ति सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। क्योंकि प्रथम विश्व युद्ध को जीतने में मित्र राष्ट्रों को सं० रा० अमेरिका से महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला था अतः वे सभी राष्ट्रपति विल्सन के आभारी थे। शान्ति सम्मेलन में विल्सन के 14 सूत्र लोकप्रिय थे और शान्ति सन्धियों में उनका प्रयोग करने का निश्चय सभी राष्ट्रों ने किया। विल्सन का विचार था कि शांति सम्मेलन में प्रमुख विचार निःशस्त्री-पर किया जाय। 28 जून 1919 को विभिन्न देशों ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर किये। सन्धि 5वें भाग के अनुसार भविष्य में शस्त्रों की सख्या में सामान्य रूप से कमी करने की व्यवस्था की गई थी। पराजित जर्मनी के निःशस्त्रीकरण से भावी युद्धों को समाप्त करने की समस्या हल नहीं हो सकती थी अतः मित्र राष्ट्रों का भी निःशस्त्रीकरण होना आवश्यक था। अतः उनके लिए भी आयोगों की नियुक्ति की गई जो जल, थल एवं वायु सेना में कमी करने की योजनायें बनायें। सार क्षेत्र में भी निःशस्त्रीकरण करने की व्यवस्था थी।

राष्ट्र संघ का मसविदा (Draft of League's Constitution)—शान्ति सम्मेलन के समय निःशस्त्रीकरण के लिए सर्वाधिक सुलभ वातावरण उपस्थित था। राष्ट्र संघ की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे एक नवीन युग का सूत्र पात्र हुआ। इस पृष्ठाधार में शस्त्रास्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने का सबसे अच्छा अवसर उपलब्ध था। ऐसी स्थिति में इगलैण्ड के प्रधानमन्त्री लाइड जार्ज ने एक प्रस्ताव रखा कि "राष्ट्र संघ विधान पर हस्ताक्षर हो जाने के पूर्व प्रमुख शक्तियों के बीच उनके शस्त्रास्त्रो की मात्रा सीमित करने के बारे में एक समझौता हो जाना चाहिए। राष्ट्र संघ की सफलता की पहली शर्त यह है कि बड़े राष्ट्रों के बीच एक पक्का समझौता हो जाय कि वे सैनिक क्षेत्रों में एक-दूसरे से होड़ नही करेंगे। यदि राष्ट्र संघ विधान पर हस्ताक्षर होने के पूर्व वह समझौता न हुआ तो राष्ट्रसंघ एक विडम्बना मात्र होगा। इससे यह प्रमाणित हो जायगा कि राष्ट्र सघ के प्रमुख प्रवर्तकों को उसके प्रभाव में कोई विश्वास नहीं है, पर यदि राष्ट्र सघ के प्रमुख सदस्य अपने शस्त्रास्त्रो पर पाबन्दी लगादें तो यूरोप के सभी छोटे-बड़े राज्य भी अपनी सैनिक शक्ति को सीमित रखेंगे।" पर इस अनुकूल अवसर का लाभ नहीं उठाया जा सका और बड़े राष्ट्रो ने इस स्वर्ण अवसर को खो दिया। राष्ट्र के मसविदे को तैयार करने से पूर्व कोई समझौता ऐसा न हुआ जो बड़े राष्ट्रों के मध्य नि.शस्त्रीकरण की शर्तं को स्वीकार किया जाता।

राष्ट्र संघ द्वारा निःशस्त्रीकरण का प्रयास
(Disarmament efforts by the League of Nations)

राष्ट्र संघ की स्थापना (Establishment of the League of Nations)—वर्साय सन्धि का ही एक राष्ट्र सघ था। निःशस्त्रीकरण के प्रश्न को राष्ट्र संघ ने अपने हाथ में ले लिया। राष्ट्र संघ के विधान के अनुच्छेद 8 में कहा गया था कि राष्ट्र संघ निःशस्त्रीकरण पर विचार को बढ़ायेगा और राज्यो के पास केवल अपनी सुरक्षा को दृष्टि में रखकर ही शस्त्र होने चाहिए। इस बात को देखेगा। यह कार्य राष्ट्र सघ की तीसरी सभा को सौंपा गया। मई 1920 को इस

---

1 "Adequate guarantees given and taken that national armaments will be reduced to the lowest points consistant with domestic safety."
—*4th article of Wilsons 14 points.*

सभा ने एक स्थायी परामर्शदात्री आयोग (Permanent Advisory Commission) की नियुक्ति की। अगस्त 1920 में पहले ही सघ में सैनिक, हवाई उप-आयोगों की स्थापना की गई। निःशस्त्रीकरण की समस्या को सुलझाने के लिए राष्ट्र संघ ने निम्नलिखित प्रयास किये :

(1) **शस्त्रों के व्यापार को कम करने की योजना (Plan to lessen the Trade of Arms)**—एक सम्मेलन 10 सितम्बर 1919 को सेन्ट जर्मेन-इन-लेय (St. Germaine-in-laye) के स्थान पर हुआ। इस सम्मेलन मे शस्त्रो के व्यापार को कम करने पर विचार किया गया। इस सम्मेलन ने सेनाओं की परिभाषा की तथा गोलाबारूद तथा युद्ध के शस्त्रों के व्यापार को नियन्त्रित करने एव भूमि और समुद्र पर उनके निरीक्षण करने की व्यवस्था की। यह सम्मेलन राष्ट्र संघ के अनुसार ही निःशस्त्रीकरण करना चाहता था पर इसके द्वारा निश्चित की गई विधियाँ क्रियान्वित न हो सकीं। फिर भी यह सम्मेलन अन्य समझौतों का आधार बना। 17 जून 1925 में जो जेनेवा सम्मेलन में शस्त्र-व्यापार सम्बन्धी समझौता हुआ उसमे परोक्ष रूप से इस सम्मेलन ने बड़ी सहायता की।

(2) **सेंट जर्मन-इन लेय की सन्धि (Treaty of St Germaine in-laye)**—मित्र राष्ट्रों तथा सम्बन्धित राष्ट्रों ने एक ओर तथा आस्ट्रिया ने दूसरी ओर से 10 सितम्बर 1919 को सेन्ट-जर्मन-इन लेय के स्थान पर सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया का भी जर्मनी के समान निःशस्त्रीकरण किया गया। उसकी सेना तथा शस्त्रों की सख्या सीमित कर दी गई। उसे शस्त्र बनाने तथा मंगाने की आज्ञा न रही। आग फेंकने वाले शस्त्र तथा जहरीली गैसों पर पूर्णतया प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

(3) **फिनलैण्ड तथा रूस सन्धि (Treaty between Finland and Russia)**—रूस और फिनलैण्ड के मध्य सीमाओं का झगड़ा था। दोनों देशों के मध्य 14 अक्टूबर 1920 को एक सन्धि हो गई। इस सन्धि मे दोनों देशों ने यह स्वीकार किया कि सीमा के कुछ क्षेत्रों में वे किलाबन्दी तोड़ देंगे। फिनलैण्ड ने यह भी वचन दिया कि वह अपने शस्त्रों को भी सीमित कर देगा।

(4) **अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary mixed Commission)**—राष्ट्र संघ ने मई 1920 म एक स्थायी परामर्शदात्री आयोग की स्थापना की तथा नवम्बर 1920 में राष्ट्र की कौंसिल ने एक अस्थाई मिश्रित आयोग की नियुक्ति की जो स्थायी परामर्शदात्री आयोग की सहायता करने के लिए स्थापित किया गया था। यह आयोग सैनिक तथा असैनिक व्यक्तियों को मिलाकर बनाया गया था। दोनों आयोगों की सहायता से सैनिक सहायता की सन्धि का मसविदा (Draft Treaty Military Assistance) तैयार किया गया। इस सन्धि का उद्देश्य था कि "आपसी सुरक्षा" के लिए निःशस्त्रीकरण की योजना को अपनाया जाय।

(5) **वाशिंगटन सम्मेलन (Washington Conference)**—यद्यपि स० रा० अमेरिका राष्ट्र संघ का सदस्य न था, फिर वह निःशस्त्रीकरण के लिए अति उत्सुक था। वह भी निःशस्त्रीकरण के प्रयास मे लगा था। उस समय अमेरिका के राष्ट्रपति हार्डिंग (Harding) थे। उन्होंने वाशिंगटन मे निःशस्त्रीकरण के उद्देश्य से एक ऐतिहासिक सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, पुर्तगाल, बेल्जियम, हालैण्ड, जापान तथा चीन के प्रतिनिधि आमन्त्रित किये गये थे। इस सम्मेलन की बैठक 12 नवम्बर 1921 को प्रारम्भ हुई। इस सम्मेलन का उद्देश्य था कि व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता को रोका जाय तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए जलीय शक्ति (Naval Power) पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। अमेरिका "चार्ल्स इवान ह्यूगेस" (Charles Evan, Huges) ने घोषणा की कि

ब्रिटेन अपनी-अपनी नौसेना में कमी करने को तैयार है तो अमेरिका भी ऐसा समझौता करने को तैयार है, वह जंगी जहाजों के निर्माण को रोक देगा। इस घोषणा का सम्मेलन पर अच्छा प्रभाव पड़ा। 12 नवम्बर 1921 से 6 फरवरी 1922 ई० तक इस सम्मेलन ने नौ सैनिक होड़ को कम करने के लिए 7 सन्धियाँ कीं।

सात सन्धियों में सबसे महत्त्वपूर्ण सन्धि पहली सन्धि थी। यह पाँच बड़ी शक्तियों के बीच में सम्पन्न हुई। सन्धि के अनुसार पाँचों देशों ने युद्ध-पोतों (Capital ships) तथा वायुयान वाहक (Aircraft Carries) पोतों के कुल टनों की मात्रा निश्चित की। युद्ध पोतों का अर्थ था वे पोत जो 8 इंच तोपें रखते थे तथा जिनका वजन 10 हजार टन था। पाँचों शक्तियाँ अमेरिका, ब्रिटेन, जापान 31,500 टन के जहाज रखने का अधिकारी था और फ्रांस एवं इटली को 17·500 टन के जहाज रखने की अनुमति थी। इसी अनुपात में पाँचों शक्ति "वायुयान वाहक पोतों" को रख सकती थी अर्थात् ब्रिटेन एवं अमेरिका के वायुयान वाहक पोतों का वजन 1,35,000 टन हो सकता था, जापान 81,000 टन के एवं इटली और फ्रांस 60,000 टन के वायुयानवाहक पोत रख सकते थे।

वाशिंगटन सम्मेलन में केवल वजन का अनुपात तय हुआ था। रणपोतों या वायुयान वाहक पोतों की संख्या तय न हुई थी। स्थल और वायु सेना के सम्बन्ध में कोई बात तय न हो सकी। अतः यह सम्मेलन असफल हुआ।

उपर्युक्त अनुपात में अपने जहाजों को रखने के लिए महाशक्तियों को अपने जहाज़ी बेड़े का 40% अंश नष्ट करना पड़ा था तथा यह भी वचन देना पड़ा था कि भविष्य में 10 वर्षों तक वे नौ सैनिक निर्माण को बन्द रखेंगे। यह भी तय हुआ था कि कोई राष्ट्र 30,000 टन से अधिक रणपोत, 27,000 टन से अधिक वजनी कोई वायुयान वाहक पोत एवं 8 इंच मुहाने से बड़ी तोप कोई देश न बना सकेगा। यह भी तय हुआ कि समुद्री छुट्टियाँ मनाने की कैसी व्यवस्था हो। प्रशान्त महासागर (Pacific Ocean) के नौ-सैनिक अड्डों के सम्बन्ध में यह हुआ कि जापान, ब्रिटेन तथा सं० रा० अमेरिका सन्धि में उल्लिखित अड्डों के अतिरिक्त कोई अड्डा न बनायेंगे। एक अन्य समझौते मे यह निश्चित किया गया कि विषैली गैसों का प्रयोग वर्जित होगा तथा पनडुब्बियो का प्रयोग भी मर्यादित रहेगा।

राष्ट्रपति कुलिज (President Coolidge) ने पाँचों जल शक्तियों को 30 जून 1927 को पुनः सम्मेलन मे उपस्थित होने को आमन्त्रित किया। इटली ने आगे अपनी सेना घटाने से साफ इन्कार कर दिया और इसी प्रकार फ्रांस ने भी उसमें भाग नहीं लिया। केवल तीन महाशक्तियाँ उसमें सम्मिलित हुईं।

(6) जेनेवा सम्मेलन (Geneva Conference)—20 फरवरी 1927 को तीन शक्तियों अमेरिका, ब्रिटेन एवं जापान ने जेनेवा में नौसेना सम्मेलन किया इनमें तीनों देशो के वही प्रतिनिधि आये जो वाशिंगटन सम्मेलन में उपस्थित हुए थे। पर इस सम्मेलन मे उन्हीं प्रतिनिधियों की प्रमुखता थी जो नौ सेना के अधिकारी थे। स्वभावतः ये सैनिक अफसर ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहते थे जो उनके पेशे का अन्त कर दे।

सम्मेलन की कार्यवाही [illegible] पता [illegible] वहाँ जो भी प्रतिनिधि आये थे, वे निःशस्त्रीकरण की योजना को [illegible] के इच्छुक [illegible] । सम्मेलन बुलाने [illegible] पूर्व राजनयिक तैयारी नहीं की गई [illegible] सम्मेलन में बड़े-बड़े युद्ध पोतों [illegible] था [illegible] और अमेरिका में 4 लाख टन [illegible] इस बात के लिए [illegible] न [illegible]

70 से कम जहाजों से काम न चलेगा। उसे बड़े जहाजों की बजाय छोटे जहाजों की अधिक आवश्यकता है। इस प्रकार अमेरिका और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों में वड़ी नोंक-झोंक चली और अन्त में सम्मेलन हो गया। 4 अगस्त 1927 को यह सम्मेलन समाप्त हो गया।

इस सम्मेलन की असफलता का एक कारण विशेष यह था कि ब्रिटेन मे यह भावना प्रवल हो उठी थी कि अमेरिका उसे दवाना चाहता है। गणितीय समता का सिद्धान्त मान लेना ब्रिटेन के लिए अपमानजनक सा लगा। वह अमेरिका की प्रभुता को मानने के लिए तैयार न था। ब्रिटेन के समाचार पत्रों ने कुछ वातें प्रकाशित की जिससे पता चलता था कि सम्मेलन को असफल बनाने के लिए अमेरिका का पूंजीपति वर्ग षड्यन्त्र रच रहा है। दो वर्ष बाद पता चला कि अग्रेजी पत्रों की बात सही थी। अमेरिकन पूंजीपतियो ने जेनेवा मे 'विलियम सियरा" नामक एक व्यक्ति को उसी उद्देश्य मे रख रखा था कि जिससे सम्मेलन असफलन हो जाय।

जेनेवा सम्मेलन की असफलता का बुरा प्रभाव राष्ट्र सघ पर ही नही पड़ा, वलिक इससे ब्रिटेन और अमेरिका मे मनमुटाव हो गया। ब्रिटेन ने चाहा कि आग्ल-जापानी सन्धि को पुन: दोहराया जाय। इधर अमेरिकन राजनीतिज्ञ मी यह सोचने लगे कि अपनी नौशक्ति को कम करने पर विवश हो। यह विचार कर 1929 म अमेरिका ने अपनी जल-शक्ति की वृद्धि करनी प्रारम्भ कर दी।

(7) लन्दन सम्मेलन (London Conference)—जेनेवा मे नौसेना सम्मेलन असफल हुआ अतः ब्रिटेन और अमेरिका के सम्बन्ध बिगड़ गये। इससे कनाडा को बड़ी परेशानी हुई। वह कभी यह नहीं चाहता था कि ब्रिटेन अमेरिका से विगाड़ करे अतः उसने दोनों देशों के सम्बन्ध सुधारने का प्रयास किया। 1929 में दोनो देशों में कुछ राजनीतिक परिवर्तन हुए, इससे दोनों देशों के सम्बन्ध सुधरने की आशा हुई। 1929 में हर्वट हुवर अमेरिका के नये राष्ट्रपति चुने गये। ब्रिटेन मे मी 3 महीने वाद ब्रिटेन में मजदूर दलीय सरकार वनी जिसके प्रधानमन्त्री मेक्डानल्ड थे। उसी समय पेरिस पैक्ट मी हो चुका था। इसके अतिरिक्त इस समय समस्त विश्व मे आर्थिक मन्दी छा गयी थी। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री शीत ऋतु में अमेरिका की यात्रा पर गये। इस यात्रा से दोनों देशों के मनमुटाव कम हुए। यह तय हुआ कि नौसेना सम्मेलन पुनः लन्दन में बुलाया जाय। इसमें वाशिगटन शक्तियाँ सम्मिलित हों। फ्रास और इटली ने मी लन्दन सम्मेलन मे सम्मिलित होने की स्वीकृति दे दी।

जनवरी 1930 मे लन्दन सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इस समय निःशस्त्रीकरण के लिए अनुकूल वातावरण था। कैलौग-ब्रियाँ पैक्ट स्वीकार होने के बाद संसार के राजनीतिक सम्बन्धों मे काफी सुधार हो गया था। ब्रिटेन ने क्रूजरों की अपनी आवश्यकता घटाकर 70 से 50 कर दी थी पर फ्रांस ने अपना रुख बदल दिया था। वह प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन से लाभ उठाना चाहता था। यहाँ मी उसने अपना सुरक्षा का प्रश्न उठाया। जब तक उसे अपनी सुरक्षा की पूरी गारण्टी नहीं मिलती वह निःशस्त्रीकरण की ओर कोई कदम उठाना पसन्द नही करता था। उसने सम्मेलन में साफ कहा कि उसे अपने उपनिवेशो की सुरक्षा के लिए एक वड़ा समुद्री वेड़ा रखने की आवश्यकता है। उसने वाशिंगटन सम्मेलन के अनुपात का अन्य जहाजों पर लागू करने तथा इटली के इस दावे को मानने से इन्कार कर दिया कि उसको फ्रास के बराबर माना जाय। जापान ने मी पहली बार दावा किया कि उसे भी ब्रिटेन और अमेरिका के बराबर माना जाय। इटली फ्रांस की बरावरी का दावा कर रहा था। ऐसी परिस्थिति मे सम्मेलन किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पा रहा था। 3 महीने तक लगातार बहस चलती रही। अन्त मे पाँचों शक्तियों मे एक सन्धि हो गयी पर फ्रास बाद में अलग हो गया अतः सन्धि मे तीन राष्ट्र ही रहे—ब्रिटेन, अमेरिका और

जापान। सम्मेलन ने वाशिंगटन सम्मेलन की अवधि 1937 तक बढ़ा दी तथा ब्रिटेन, अमरीका व जापान का पुराना अनुपात कायम रखा।

सन्धि में एक शर्त यह भी थी कि राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे में पड़ने पर उक्त राष्ट्र अपने जहाजों की संख्या बढ़ा सकता है पर उसे इसके पूर्व यह सूचना सन्धिकर्ताओं को देनी चाहिए। 1 जनवरी 1931 से यह सन्धि लागू कर दी गयी।

लन्दन सम्मेलन के निर्णयों से जापान काफी असन्तुष्ट था। यद्यपि लन्दन सम्मेलन की सभी जगह आलोचना हुई पर जापान में जितनी आलोचना हुई उतनी कहीं अन्य देशों में न हुई। जापान प्रधान नौ सैनिक कार्यालय के एक अफसर ने लन्दन संधि के विरोध में आत्म हत्या करली और नौ सेना मन्त्री के सामने, जिसने सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे, लौटने पर उसे एक कटार भेंट की गई। इसका संकेत यही था कि वह भी यही मार्ग अपनाये। जापान, अमेरिका और ब्रिटेन के बराबर नौ सैनिक शक्ति रखना चाहता है पर अन्य राज्यों ने उसकी बात नहीं मानी, उसे प्रसन्न रखने के लिये बस इतनी शर्त लगादी कि यदि कोई राज्य अपनी नौ सेना में वृद्धि करना चाहे तो उसकी सूचना अन्य राष्ट्रों को दे दे। इसका अर्थ यह था कि राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर नौ-सेना में वृद्धि कर सकता है। जापान इस सुविधा से प्रसन्न न हुआ। अन्त में 1934 में जापान ने अमेरिका को सूचित कर दिया कि या तो उसे अमेरिका और ब्रिटेन की तुलना में समान नौ-सेना रखने की सुविधा दी जाये, अन्यथा वह अपने को इस सम्बन्ध में किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अधीन नहीं रहेगा। इंगलैण्ड और अमेरिका जापान की इस हठ के आगे नहीं झुके और इसका परिणाम यह हुआ कि 1937 मे जापान ने लन्दन समझौते से स्वतन्त्रता ग्रहण करली।

18 जून 1935 मे ब्रिटेन ने जर्मनी से एक नौ-सैनिक सन्धि करली। इस सन्धि के अनुसार जर्मनी अपनी नौ सेना, ब्रिटिश नौ सेना के 35% के बराबर रख सकता है। इसका अर्थ था कि वर्साय सन्धि द्वारा लगाया प्रबन्ध टूट गया। 25 मार्च 1936 को फ्रांस, ब्रिटेन एवं अमेरिका ने एक और नौ-सैनिक सन्धि करली। यद्यपि इस सन्धि का कोई महत्व न था पर इसका परिणाम यह हुआ कि सभी राष्ट्र अपनी-अपनी नौ-सैनिक शक्ति बढ़ाने में लग गये और एक प्रतिस्पर्धा बढ़ गई। जर्मनी और रूस भी नाविक प्रतियोगिता मे कूद पड़े। नौ-सेना पर राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा अंश व्यय होने लगा। नौ-सेना पर लगे सभी प्रतिबन्ध टूट गये।

(8) राष्ट्र संघ की महा सभा का प्रस्ताव—वाशिंगटन-सम्मेलन, जेनेवा सम्मेलन तथा लन्दन सम्मेलन आदि कार्य राष्ट्र संघ से बाहर चल रहे थे और इनमे केवल नौसेना के सम्बन्ध मे निर्णय हुये थे, स्थल सेना या वायु सेना के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं थी।

27 सितम्बर सन् 1922 को राष्ट्र संघ की सभा मे शस्त्रों को कम करने के लिये निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये—

(i) निःशस्त्रीकरण निश्चित रूप से सामान्य होना चाहिये।

(ii) निःशस्त्रीकरण का आधार सुरक्षा की सन्तोषजनक गारण्टी होनी चाहिये।

(iii) यह सुरक्षा की गारण्टी सम्भवतया पारस्परिक सहायता की सन्धि द्वारा होनी चाहिये जिससे आक्रमण के समय पड़ोसी देश तुरन्त सहायता की व्यवस्था कर सकें।

(iv) सुरक्षा की सन्धियों की प्रथम शर्त शस्त्रों की कमी करना होना चाहिये। पर सुरक्षा सन्धि सामान्य अथवा आंशिक द्वारा होनी चाहिये।

(9) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन—रूस की प्रेरणा से 2 अक्टूबर सन् 1922 ई० को एक निःशस्त्रीकरण सम्मेलन मास्को मे हुआ जिसमे पोलैण्ड, लैटविया, लिथुनिया तथा फिनलैण्ड के प्रतिनिधि आये। इस सम्मेलन का उद्देश्य रूस और उसके पड़ोसी देशों मे शस्त्रों की कमी करना था, परन्तु यह सम्मेलन किसी निश्चय पर न पहुँच सका।

(10) **मध्य अमेरिका के राज्यों में सीमित शस्त्र रखने की संधि**—मध्य अमेरिका के राज्यों में सीमित शस्त्र रखने के लिये एक सन्धि 7 फरवरी 1923 को हुई। इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर्ता देश थे—कोस्टारिका, गोटेमाला, हौन्डुरस, निकारागुआ तथा एल सालवाडर। सन्धि मे तय हुआ कि हस्ताक्षर कर्ता देश 5 वर्षों तक सीमित शस्त्र रखेंगे तथा उनमे वृद्धि न करेंगे। वायुयानों एव समुद्री जहाजों को भी सीमित मात्रा में रखने की बात भी तय हुई। जहरीली गैसों एवं भयानक शस्त्रों पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया था। सन्धि में यह भी तय हुआ था कि निःशस्त्रीकरण की योजना को क्रियान्वित करने के जो उपाय सम्बन्धित देश काम में लायेंगे, उनकी सूचना वे एक-दूसरे देश को दे देंगे।

(11) **पारस्परिक सहायता संधि का मसविदा**—राष्ट्र संघ की चौथी सभा में पारस्परिक सहायता सन्धि का मसविदा रखा गया। इसका उद्देश्य था कि आक्रमण के समय आक्रान्त की सहायता जल्दी से जल्दी करना। पर राष्ट्रो के आपसी विरोध के कारण यह योजना असफल हुई। 1925 में छटी सभा ने कौंसिल से प्रार्थना की कि शस्त्रों को मर्यादित करने के लिये एक और सम्मेलन के आह्वान की योजना पर विचार करे।

(12) **काले सागर सम्बन्धी समझौता**—24 जुलाई 1925 को लूसेन (Lausanne) से स्थान पर एक सन्धि हुई। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र थे—बल्गेरिया, फ्रास, ग्रेट ब्रिटेन, इटली, जापान, रूमानिया, रूस, टर्की तथा युगोस्लाविया। इस सन्धि के अनुसार टर्की के आस-पास के क्षेत्र को विशेषकर डार्डेनल्ड तथा बासफोरस से मिलने वाली यूरोपीय सीमा क्षेत्र का विसैन्यीकरण कर दिया गया।

(13) **राष्ट्र संघ के मिश्रित आयोग का अन्त**—राष्ट्र सघ का अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) चूंकि निःशस्त्रीकरण की समस्या को हल न कर सका अतः उसका अन्त कर दिया गया और उसके स्थान पर एक कोआर्डिनेशन आयोग (Coordination Commission) की स्थापना 3 अक्टूबर 1924 को की गई। यह आयोग भी अपने उद्देश्य में असफल रहा अतः उसका भी अन्त कर दिया गया। 22 दिसम्बर 1925 को राष्ट्र सघ की असेम्बली ने कौंसिल से अनुरोध किया कि—'नि शस्त्रीकरण सम्मेलन के लिये सज्जीकरण आयोग" (Preparatory Commission for the Disarmament Conference) का निर्माण करे। कौंसिल ने एक आयोग निर्मित किया इसमे कौंसिल सदस्यों के अतिरिक्त भी अन्य देशों को सम्मिलित किया, कुछ राष्ट्र जो संघ के सदस्य नही थे उनको भी प्रतिनिधित्व दिया गया। इस प्रकार जर्मनी, रूस एवं सं० रा० अमेरिका के प्रतिनिधियो को भी बुलाया गया।

सज्जीकरण आयोग के सामने मुख्य कठिनाइयाँ निम्नलिखित थी—

(i) प्रथम कठिनाई स्थल सेना सम्बन्धी थी। स्थल सेना का पता लगाना तो आसान था पर इन सेनाओं के अतिरिक्त राज्यों के पास जो सम्भावित सेनायें होती हैं, उनका पता लगाना बड़ा कठिन था। अनेक देशो में सैनिक शिक्षा और सैनिक सेवा अनिवार्य थी। इसके अतिरिक्त साधारण चीजों को आसानी से युद्धोपयोगी सामग्रियों मे बदला.जा सकता था, सवारी ले जाने वाले वायुयानों को आसानी से युद्ध सामग्री ढोने या जंगी कार्यों मे प्रयुक्त किया जा सकता या सकता था। कुछ देशों में सैनिक शिक्षा अनिवार्य और कुछ मे नही। इसी प्रकार कुछ कारखाने ऐसे होते हैं जो सुगमता से अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण कर सक्ते हैं।

(ii) दूसरी कठिनाई नौ-सेना सम्बन्धी थी। ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिका नौ-सेना के सम्बन्ध मे दो विभिन्न राय रखते थे। एक शर्त यह थी कि प्रत्येक देश मे कुल जहाजों की टन संख्या निश्चित की जाय। दूसरी राय यह थी कि प्रत्येक प्रकार के जहाजों—युद्धपोतों,

विध्वंसक, वायुयान वाहक तथा पनडुब्बी की पृथक-पृथक टन संख्या निश्चित की जाय। फ्रांस और इटली पहले प्रकार के नियन्त्रण के लिये तो तैयार थे पर दूसरे के लिये नही।

(iii) तीसरी कठिनाई यह थी कि फ्रांस तथा इटली यह चाहते थे कि एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली की व्यवस्था हो जो दृढ़तापूर्वक शस्त्रों को मर्यादित करने की व्यवस्था का पालन करा सके। स० रा० अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन केवल नौ-सैनिक आश्वासनों पर ही जोर देते थे। किसी मामले मे वे किसी राष्ट्र को विवश करना न चाहते थे।

पाँच वर्ष बाद सज्जीकरण आयोग भी अपने उद्देश्य में असफल हो गया। 30 नवम्बर 1927 को रूस के प्रतिनिधि लिटविनोव (Litvinov) ने एक प्रस्ताव रखा कि "एक वर्ष के अन्दर-अन्दर सम्पूर्ण सैनिक सेवा, सैनिक अधिकारी तथा युद्ध-मन्त्रालय को समाप्त कर दिया जाय।" इस प्रस्ताव का विरोध सघ के सभी सदस्यो ने किया। 9 नवम्बर 1930 मे सज्जीकरण आयोग की अन्तिम बैठक हुई। इस बैठक में नि:शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित थी :—

(i) स्थल युद्ध की रण-सामग्री को नियन्त्रित करने के लिये बजट में कमी की जाये।

(ii) सैनिको की संख्या का नियन्त्रण करते समय सुरक्षित सैनिक (Trained Reserved Soldiers) की सख्या का भी ध्यान रखा जाये।

(iii) हवाई अस्त्रों को अश्व-शक्ति (Horse power) के आधार पर नियन्त्रित किया जाये।

(iv) अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि घटा दी जाये।

(v) नौ-सेना के जहाजों का नियन्त्रण करते समय वाशिंगटन सम्मेलन 1922 तथा लन्दन सम्मेलन 1930 की व्यवस्थाओं का ध्यान रखा जाये।

(vi) रासायनिक तथा जीवाणु फैलाने वाले (Bacteriogical) युद्धों को प्रतिबन्धित किया जाये।

(vii) एक "स्थाई नि:शस्त्रीकरण आयोग" की नियुक्ति की जाये।

यह प्रस्ताव पास कर सज्जीकरण आयोग भंग हो गया।

(14) समुद्री शस्त्रों को सीमित करने का सन्धियाँ—संयुक्त राज्य अमेरिका जब अपने नि:शस्त्रीकरण के प्रयास में असफल रहा तो उसने भी अन्य देशों के समान युद्धपोतों एव क्रूजर बनाने की योजना बनायी। अमेरिकन कांग्रेस न राष्ट्रपति को 31 फरवरी 1929 को यह अधिकार प्रदान कर दिया कि वह 10,000 टन के क्रूजर तथा एक वायुयान वाहक जहाज बनाये। इस कार्य के लिए 2 अरब 74 करोड़ डालर की राशि स्वीकृत की। इसी समय पेरिस सन्धि (Paris Pact) द्वारा यूरोप की शक्तियो मे सौहार्द्र की भावना फैल रही थी। यह समय नि:शस्त्रीकरण योजना को सफल बनाने का था। 22 अप्रैल 1929 को अमेरिका ने एक घोषणा की कि वह अपने युद्ध पोतों, क्रूजर, वायुयानवाहक जहाजों एवं पनडुब्बियों के टनों की संख्या सीमित करने को तैयार है। इस घोषणा का अच्छा असर पड़ा।

(15) दूसरा लन्दन नौसेना सम्मेलन— [illegible] यूरोप मे जहाँ आर्थिक संकट फैला हुआ था वहाँ जर्मनी और इटली के [illegible] ने [illegible] था। इटली और फ्रास मे भूमध्य सागर में बड़ी प्रतिस्पर्धा चल [illegible] मंचू [illegible] था और चीन से भी सघर्ष कर रहा था। उसने घोषण [illegible] कि [illegible] वाशिंग [illegible] भी अमान्य ठहरा देगा। जापान [illegible] और [illegible] ने एक सन्धि का 35 प्रतिशत [illegible] सन्धि का सदस्य बनाना चाहती

9 दिसम्बर 1935 को अशान्त वातावरण में लन्दन में दूसरा नौसेना सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। जापान, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका को बराबर नौसेना रखने का प्रस्ताव सम्मेलन में रखा गया। यह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। इस पर 15 जनवरी 1936 को सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये पर इटली ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किये। इस सन्धि में कोई विशेष बात तय नहीं हुई थी बस इतना तय हुआ था कि शस्त्रों के बढ़ाने की सूचना तक राज्य दूसरों को दे दें।

(16) *जेनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन—सज्जीकरण आयोग* (Preparatory Commission) की योजनानुसार 2 फरवरी 1932 को एक निःशस्त्रीकरण सम्मेलन (Disarmament Conference) बुलाया गया। इस सम्मेलन मे 61 राज्यों ने भाग लिया। इन राज्यों में 5 ऐसे राज्य भी थे जो राष्ट्र सघ के सदस्य भी न थे। सोवियत रूस और सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि भी सम्मेलन में उपस्थित थे। इंगलैण्ड के प्रतिनिधि 'आर्थर हण्डरसन" इस सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। पर दुर्भाग्य स इंगलैण्ड की सरकार उपचुनाव हार गई अर्थात् हण्डरसन संसद सदस्य नहीं चुना जा सका पर गैर सरकारी सदस्य के रूप में उसे सम्मेलन की अध्यक्षता करनी पड़ी। फ्रांस ने इस सम्मेलन मे अपना प्रतिनिधि नहीं भेजा। इधर जर्मनी में ब्रुनिंग की सरकार का पतन हो गया और पापेन की उग्र सरकार बनी। इन अपशकुनों से सम्मेलन प्रारम्भ हुआ।

सम्मेलन ने कुछ समितियों की स्थापना की। 232 प्रतिनिधियों ने 337 प्रस्ताव रखे जिनमें अधिकांश व्यर्थ और सारहीन थे। यह प्रस्ताव एक दूसरे के विरोधी थे। अतः इस दिशा में कोई कार्य न हो सका।

फ्रांस ने यह प्रस्ताव रखा कि सेना और हथियारों मे तभी कमी की जा सकती है जब राष्ट्र सघ एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना और पुलिस का संगठन करे और उसे ही युद्धपोत, क्रूजर, पनडुब्बियों, बमवर्षक वायुयान आदि का प्रबन्ध सौंप दिया जाय। फ्रास को केवल अपनी सुरक्षा की चिन्ता थी। वह चाहता था कि अन्तर्राष्ट्रीय सेना एक विरोधात्मक एवं दण्डात्मक सेना होगी। वह यह भी चाहता था कि आपसी विवादों को निबटाने के लिए मध्यस्थता का सिद्धान्त अपनाया जाय। जर्मनी इन बात पर बहुत नाराज था कि उसका निःशस्त्रीकरण करते समय उसे आश्वासन दिया था कि अन्य राष्ट्रों का भी निःशस्त्रीकरण होगा पर ऐसा नहीं किया गया था। यह चाहता था कि उसे फ्रांस के बराबर शस्त्र रखने की अनुमति मिल जानी चाहिए। फ्रांस जर्मनी के बराबरी के दावे को कैसे स्वीकार कर सकता था। वह तो जर्मनी को पूर्ण निरस्त रखना चाहता था।

अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर तथा रूजवेल्ट एव मजदूर दल के (ब्रिटिश) नेता रेम्जे मैक्डानल्ड ने सम्मेलन को सफल बनाने का काफी प्रयत्न किया। सम्मेलन 2 वर्ष तक चलता रहा पर जर्मनी और फ्रांस अपनी-अपनी जिद् पर अड़े रहे। 23 सितम्बर 1932 को जर्मनी ने सम्मेलन त्याग देने की धमकी दी। इस पर 5 महाशक्तियों ने—फ्रांस, जर्मनी, इटली, ब्रिटेन एवं अमेरिका ने दिसम्बर 1932 को एक सम्मेलन पृथक से किया। जर्मनी की बराबरी का दावा अन्य राष्ट्रों की सुरक्षा की शर्त पर मान लिया गया। इससे जर्मनी ने सम्मेलन तो नहीं त्यागा पर वह एक समस्या बना रहा।

1933 मे जर्मनी का चान्सलर हिटलर बन गया। फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित था। इटली तथा जर्मनी ने पूर्णतया निःशस्त्रीकरण की माँग की। 19 मई 1933 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने "आक्रमणात्मक शस्त्रों" (Offensive Weapons) पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने की माँग की। इस माँग पर भी जर्मनी तथा फ्रांस के मतभेद कम न हुए। 14 अक्टूबर 1933 को ब्रिटिश मन्त्री साइमन ने यह प्रस्ताव रखा कि जर्मनी अगले 4 वर्षों तक वर्तमान अवस्था मे रहे और बीच अन्य राष्ट्र भी अपने शस्त्रों को घटा दें। हिटलर ने इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार किया। 19 अक्टूबर 1933 को हिटलर ने सम्मेलन का बहिष्कार कर दिया।

अब सम्मेलन पूर्णतया निरर्थक हो गया। सम्मेलन की बैठक अन्तिम बार 29 मई 1934 को हुई। जर्मनी को दुबारा आने के लिए उसे सैनिक वायुयान तथा तोपखाने को रखने की अनुमति देने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का फ्रांस ने कड़ा विरोध किया। जर्मनी ने वर्साय की सन्धि के विरुद्ध 16 मई 1935 को अनिवार्य सैनिक सेवा प्रारम्भ कर दी। 7 मार्च 1936 को उसने वर्साय सन्धि की 42-43 धाराएँ भंग कर दी और अपनी सेनाएँ राइन प्रदेश में भेज दी। यह निःशस्त्रीकरण योजना का उपहास था।

शूमैन ने लिखा है कि "16 वर्ष के बाद पराजय का घेरा बन्द कर दिया गया। राष्ट्र संघ के द्वारा संसार के निःशस्त्रीकरण के प्रयत्नों का आरम्भ जर्मनी के एक पक्षीय निःशस्त्रीकरण से हुआ था। जर्मनी के एकपक्षीय पुनर्शस्त्रीकरण ने इसका अन्त कर दिया, यूरोप की सामूहिक बुद्धि, सुरक्षा की प्राप्ति में असफल हो जाने के उपरान्त, आत्मघात की तैयारी में लग गयी।.........निःशस्त्रीकरण एक याद बन कर रह गयी। ......वर्साय के उपरान्त दो दशाब्दियों में परम्परागत *निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के ऊपर बड़े अक्षरों में अंकित असफलता के अक्षर पश्चिमी संसार के* आगामी विनाश के अक्षर हो गये।"

निःशस्त्रीकरण की असफलता के कारण

(Causes of the Failure of the Disarmament Conference)

निःशस्त्रीकरण सम्मेलन एवं निःशस्त्रीकरण के प्रयासों की असफलता के निम्न कारण थे—

(1) **विभिन्न राष्ट्रों में मतभेद**—निःशस्त्रीकरण की असफलता का प्रथम कारण यह था कि बड़े राष्ट्रों में गहरा मतभेद था। फ्रांस जानता था कि जर्मनी कभी न कभी उससे बदला लेगा। अतएव उसे सदा अपनी सुरक्षा की चिन्ता बनी रहती थी। वह अपनी सुरक्षा की गारण्टी चाहता था। उसका प्रस्ताव था कि राष्ट्र संघ के तत्वाधान में एक बड़ी सेना रहे ताकि वह जर्मन आक्रमण से सुरक्षित रह सके। ऐसा हो जाये तभी वह अपने शस्त्रों में कमी कर सकता था। इसके विपरीत इंगलैण्ड चाहता था कि शस्त्रों की होड़ एकदम बन्द होनी चाहिए। शस्त्रों की होड़ राष्ट्रों में असुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है। शस्त्रों में कमी हो जाने पर आक्रमण की आशंका स्वयं समाप्त हो जायगी। अमेरिका भी इंगलैण्ड के मत का था। वे अन्तर्राष्ट्रीय सेना के संगठन की बात को अक्रियात्मक मानते थे। जर्मनी और फ्रांस के मतों में समन्वय स्थापित करना असम्भव था।

(2) **निःशस्त्रीकरण के प्रति उदासीनता**—राष्ट्र संघ के सदस्य निःशस्त्रीकरण के प्रति उदासीन थे। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रति किसी राष्ट्र को रुचि न थी। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए राष्ट्रों ने निःशस्त्रीकरण का एक स्वांग रचा था। वे एक-दूसरे को धोखे में रखना चाहते थे। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का बहाना मात्र था। कोई राष्ट्र अपने शस्त्रों में कमी नहीं करना चाहता था। अतः इस दिखावे का परिणाम जो होना था हुआ।

(3) **निःशस्त्रीकरण के प्रति अविश्वास**—पश्चिमी राज्य पक्के साम्राज्यवादी थे। वे एक दूसरे राष्ट्र पर विश्वास नहीं करते थे। शस्त्रों की कमी का अर्थ वे अन्य देशों के आक्रमण को निमन्त्रण देने का संकेत मानते थे। मित्र राष्ट्र विजेता होने के कारण केवल अपने शत्रुओं के निःशस्त्रीकरण से सन्तुष्ट थे। जर्मनी को धोखे में डालने के लिए उन्होंने जर्मनी से वायदा कर लिया था कि वे भी शस्त्रों में कमी कर देंगे। पर इस वायदे को कोई राष्ट्र निभाना पसन्द न करता था। वास्तव में किसी राष्ट्र को निःशस्त्रीकरण में विश्वास न था।

(4) **एक तरफा निःशस्त्रीकरण**—निःशस्त्रीकरण की योजना प्रारम्भ से ही एकपक्षीय थी। मित्र राष्ट्र का उद्देश्य जर्मनी एवं उसके साथियों का निःशस्त्रीकरण करना था जिससे वह कभी पुनः शक्ति प्रारम्भ न कर सके। राष्ट्र संघ का उद्देश्य यही था कि वर्साय की सन्धि की शर्तों को विजितों से मनवाये। उसके अधिकांश सदस्य यथास्थिति बनाये रखना चाहते थे। यदि

विजेता चाहते तो जर्मनी के निःशस्त्रीकरण के साथ-साथ अपना भी निःशस्त्रीकरण कर लेते। जर्मनी कब तक इस अन्याय को सहता। जब उसने सैन्यीकरण प्रारम्भ किया तो निःशस्त्रीकरण की योजना धूल में मिल गई।

(5) राष्ट्रों के दृष्टिकोण में अन्तर—सं० रा० अमेरिका अपने को सर्व-शक्तिशाली रखना चाहता था। ब्रिटेन भी अपने को सर्वोच्च रखना चाहता था। जापान भी इन देशों की बराबरी चाहता था। ब्रिटेन और अमेरिका किसी देश को अपने से आगे नहीं बढ़ने देना चाहते थे। जल सेना मे जो अनुपात रखने का सुझाव था, वह भी सर्वमान्य न था। इटली और फ्रांस में बराबरी का दावा था। सभी राष्ट्र युद्ध को समाप्त करना नहीं चाहते थे। जर्मनी और इटली तो अपना-अपना उत्थान युद्ध द्वारा ही करना चाहते थे। जापान की आकांक्षायें बहुत बढ़ गई थीं वह तो शस्त्रों की कमी नहीं वृद्धि चाहता था। इस प्रकार राष्ट्रों के दृष्टिकोणों में अन्तर होने के कारण निःशस्त्रीकरण योजना सफल न हुई।

हूप तथा पोसनी (Hupe and Possony) ने लिखा है कि "आक्रमणकारी तथा रक्षात्मक शब्द यथार्थवाची है। किसी एक अर्थ मे इसका प्रयोग करना कोई अर्थ नहीं रखता है। किसी शत्रु के प्रति प्रयोग करने पर एक अस्त्र आक्रमणकारी हो सकता है तथा अपनी रक्षा के लिये उसका प्रयोग करने पर वह रक्षात्मक हो सकता है। इटली तथा स्पेन के युद्धों में फ्रांस ने 1939 मे अपनी सेनाओं का प्रयोग आक्रमणकारी ढग से किया जबकि जर्मनी के विरुद्ध उसने जो सेना का प्रयोग किया वह रक्षात्मक गुण रखता है।"[1] अतः शस्त्रों का प्रयोग दोनों ही कार्यों मे किया जा सकता है। उनका वर्गीकरण करना आसान बात नहीं।

(6) विजित और विजेताओं में विद्वेष—निःशस्त्रीकरण जर्मनी पर जबरन लादा गया था। जर्मनी के प्रतिनिधियों का वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय घोर अपमान किया गया था। फ्रांस को विल्सन ने रोका भी था कि वह जर्मनी के प्रति घृणा की भावना का प्रदर्शन कर भावी युद्ध के बीज बो रहा है पर फ्रांस बदले की भावना से इतना ओत-प्रोत हो गया था कि वह भविष्य की बात सोच ही नहीं सकता था। जर्मनी के भय के कारण शस्त्रों में कमी नहीं करना चाहता था और जर्मनी भी बहाना खोजना चाहता था और उसे अवसर मिल गया। इन दोनों देशों की शत्रुता ने निःशस्त्रीकरण की योजना फेल कर दी।

(7) शस्त्रों का व्यापार—निःशस्त्रीकरण योजना के असफल होने का एक कारण और भी था जो राष्ट्र हथियारों को बेचकर लाखों डालर कमाते थे वे यह नहीं चाहते थे कि शस्त्रों का व्यापार ठप हो जाय। शीयरर तीन अमेरिकन कम्पनियों की ओर से जेनेवा भेजा गया था। उसने जेनेवा के प्रतिनिधियों को रिश्वत देकर उन्हें निःशस्त्रीकरण का विरोधी बनाया। तीनों कम्पनियों शीयरर से वादा किया था कि यदि वह निःशस्त्रीकरण योजना को असफल करने मे सफल हो गया तो उसे दो लाख पचपन हजार छः सौ पचपन डालर मिलेंगे। जेनेवा सम्मेलन जब फेल हो गया तो कम्पनियों ने उसे केवल बावन हजार दो सौ तीस डालर दिये। शीयरर नाराज हो गया और उसने शेष धनराशि के लिए न्यायालय में दावा किया। इससे शस्त्रों के व्यापार को बनाये रखने के लिए कम्पनियों का षड्यन्त्र का भेद खुला।

---

[1] "Defensive and offensive are selective terms which have no meaning if used in an absolute sense. The same weapon can have opponent and defensive value if used against another. In a war against. Itlay and spain, army of 1939 would have offensive character. The same army, on its war against Germany proved to be no less than a defensive
—*Strauty*

निःशस्त्रीकरण की असफलता का प्रभाव
(Effects of the Failure of Disarmament)

विद्वानों का मत है कि काश निःशस्त्रीकरण सम्मेलन न हुए होते तो अधिक अच्छा था। इन सम्मेलनों ने राष्ट्रों के मध्य मनमुटाव एव सघर्ष को पैदा किया। 1919 में जिस कुचक्र से मनुष्य बचना चाहता था, वह एक बार पुनः पूरे वेग से चल पड़ा। सभी राष्ट्रों ने एक बार पुनः आत्महत्या की तैयारी प्रारम्भ कर दी। जेनेवा सम्मेलन की असफलता ने शान्ति की समस्त भावनाओं का अन्त कर दिया। शस्त्रों के निर्माण का कार्य पुनः तेजी से चल पड़ा। विज्ञान के पुनः नर संहार के लिए नवीन-शस्त्रों का आविष्कार करने में सहायता देनी प्रारम्भ कर दी। 1937 मे यूरोप में वही अशान्ति भबड़ाहट, गठबन्धन पुनः दिखायी देने लगा जो 1913-14 मे व्याप्त था। लाइन "सीग फिडलाइन" कहलाती थी। इस प्रकार से 1937 से एक बार फिर योरोप में शस्त्रों की होड़ आरम्भ हो गयी।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. निःशस्त्रीकरण का अर्थ तथा उसके प्रकारों का वर्णन करते हुए उसकी आवश्यकताओं पर प्रकाश डालिए।
   Describe the meaning, types of disarmament Throw light on the necessity of it.
2. निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र मे सं० रा० अमेरिका ने संघ से बाहर क्या-क्या प्रयास किये और वह कहाँ तक सफल रहा ? वाशिंगटन और लदन सम्मेलन का भी उल्लेख कीजिए।
   What efforts had been made by U. S. A. in the field of disarmanent out side the League and how far she was successful. Also describe the Washington and London Conferences
3. 1920 से 1930 तक राष्ट्र संघ द्वारा नि शस्त्रीकरण के लिए किये गये प्रयासों पर प्रकाश डालिए। उसे किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।
   "Throw light on the efforts made by the League of Nations in the field of Disarmament from 1920 to 1939. What were the difficulties in its way ?
4. निःशस्त्रीकरण सम्मेलन 1930-33 पर प्रकाश डालिये। वह क्यों असफल हुआ ?
   Throw light on the Disarmament Conference of 1930-32. Why was it failed.
5. निःशस्त्रीकरण योजना की असफलता के कारणो पर प्रकाश डालिये एवं उसका परिणाम बताइये।
   Account for the failure of disarmament scheme and state its results.

19

संयुक्त राष्ट्र संघ
(United Nations Organization)

"हम शीघ्र ही एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का अनुभव करते हैं। समस्त शान्ति प्रेमी राष्ट्रों की समान प्रभुता इसका आधार होगा। छोटे तथा बड़े राष्ट्र इसके सदस्य हो सकेंगे तथा इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना होगा।"

—मास्को सम्मेलन

"It (Veto) in our defence against what I venture to believe would be bitterly condemned in many quarters as our involutary servitude of our veto power did not exist. It is the complete answer to any rational fears that we may be subordinating our destiny to alien commands. It guarantees our perpetuate independence of international dictation."

—Senator Wandenburg

संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म
(Birth of United Nations Organisation)

संयुक्त राष्ट्र संघ की आवश्यकता (Need of U. N. O.)—यद्यपि राष्ट्र संघ अपने उद्देश्य में पूर्णतया असफल हुआ और 1939 में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग हो गयी तथा द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया। राष्ट्र संघ के स्वार्थी सदस्यों को अपनी हठ तथा कुकर्मों का फल मिला। ठोकर खाकर सबको अक्ल आयी। युद्ध से पूर्व शान्ति की बात करने से राष्ट्र चिढ़ते थे पर जब युद्ध की भयंकरता उनके सामने आयी तो उन्हें शान्ति की याद आना स्वाभाविक था। प्यास लगने पर सभी को कुएँ की याद आती है, उसके पूर्व इसका ध्यान कौन करता है। युद्ध के समय सभी राष्ट्र यह कल्पना करते हैं और युद्ध की रोक-थाम के लिए मस्तिष्कों में योजनायें आने लगती हैं। युद्ध के बाद स्थायी शान्ति की बातें होने लगती हैं पर धीरे-धीरे शान्ति की योजनाओं के प्रति लोगों की रुचि कम होने लगती है। युद्ध रोकने के प्रयत्नों में ढिलाई आने लगती है अतः पुनः युद्ध से तंग आकर शान्ति की योजनायें बनती हैं। यह क्रम युगों से चला आता है। युद्ध होते हैं और उसके बाद शान्ति सन्धियाँ होती हैं। युद्ध हुए हैं, और होते रहेंगे। स्थायी शान्ति न कभी हुई है और न कभी होगी। बुद्धि स्थिर नहीं रहती है। प्रकृति में लगातार परिवर्तन होते रहते हैं। मानव मस्तिष्क भी प्रकृति की उपज है अतः उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं।

प्रथम विश्व युद्ध के समय यह विचार राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में आया था कि रोकने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता है। अतः युद्ध समाप्त

संघ की स्थापना हुई। द्वितीय विश्व युद्ध में भी प्रारम्भ से एक नवीन शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की योजना बनना प्रारम्भ हो गयी थी। मित्र राष्ट्रों ने उसकी आवश्यकता जोरों से अनुभव की थी। अतः युद्ध के दौरान ही अनेक सन्धियाँ कर भावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की रूपरेखा बना ली गयी थी। युद्ध के बाद उसे क्रियान्वित करना शेष था।

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना से पूर्व योजनायें (Plans before the Establishment of the U. N O)—संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना एक दिन के प्रयत्न या किसी एक राष्ट्र का फल नहीं। इसके निर्माण का कार्य वर्षों पहले प्रारम्भ हो गया था तथा अनेक राष्ट्रों ने इसके निर्माण में सहयोग दिया था। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने तथा ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल ने इसके निर्माण की पहल की। संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण के लिए निम्नलिखित प्रयत्न उल्लेखनीय हैं—

(1) लन्दन घोषणा 1941 (London Declaration 1941)—प्रथम युद्ध के दौरान लंदन में मित्र राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इसमे ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका, बेल्जियम, चेकोस्लावाकिया, यूनान, फ्रांस, लक्समबर्ग, हालैण्ड, नार्वे, पोलैण्ड एवं युगोस्लोवाकिया के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। काफी विचार-विमर्श के बाद 12 जून 1941 को को सभी प्रतिनिधियों के संयुक्त हस्ताक्षरों से लंदन घोषणा हुई। इस घोषणा में प्रमुख दो बातें उल्लेखनीय हैं—

(अ) स्थायी शान्ति का सही आधार है विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों में ऐच्छिक सहयोग—एक ऐसे विश्व में जो संघर्षों से रहित हो, जहाँ सभी आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा का उपयोग कर सके।

(ब) हमारी यह धारणा है कि हम आपस में तथा अन्य स्वतन्त्र लोगों के साथ युद्ध तथा शान्ति दोनों में मिलकर कार्य करें।

यद्यपि इस घोषणा में सं० रा० संघ का उल्लेख कहीं नहीं था पर इसमे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का उल्लेख था। यही सं० रा० संघ का बीज था।

(2) एटलांटिक चार्टर 1941 (Atlantic Charter 1941)—द्वितीय विश्व युद्ध तेजी से चल रहा था। अमेरिका यद्यपि युद्ध में नहीं कूदा था पर उसे दीख रहा था कि उसे इंगलैंड की सक्रिय सहायता करनी पड़ेगी क्योंकि इंगलैंड उसकी रक्षा-दीवार था यदि वह दीवार टूट जाती तो संयुक्त राष्ट्र संघ अमेरिका के अस्तित्व को खतरा हो जाता। राष्ट्रपति रूजवेल्ट और प्रधान मन्त्री चर्चिल में वार्ता चल रही थी। दोनों शासनाध्यक्षों में प्रत्यक्ष वार्ता करने के लिए एटलांटिक सागर में एक स्थान चुना गया। एक जहाज में दोनों नायक 19 अगस्त, 1941 को आपस में मिले। दोनों ने परस्पर वार्ता की और एक चार्टर का वहीं निर्माण किया, जिस पर दोनों नायकों ने हस्ताक्षर किये। इस चार्टर में भावी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की रूपरेखा अथवा पृष्ठभूमि तैयार की गयी थी। एटलांटिक सागर में चार्टर बनने के कारण इसे एटलांटिक चार्टर के नाम से जाना जाता है। इस चार्टर में 8 सूत्र थे जो निम्नलिखित थे—

(i) हम किसी अन्य देश के क्षेत्र को हड़पना नहीं चाहते हैं।

(ii) हम संसार में ऐसे क्षेत्रीय परिवर्तन के पक्षपाती नहीं, जो वहाँ की जनता की इच्छा के विरुद्ध हो।

(iii) हम मनुष्य मात्र के इस अधिकार को स्वीकार करते हैं कि उनकी सरकार किस प्रकार की हो, इसका निर्णय वे स्वयं करें। जिन देशों की स्वतन्त्रता छीन ली गयी है, उन्हें हम वापिस दिलाना चाहते है।

(iv) हम संसार के सब देशों में आर्थिक सहयोग बढ़ाना चाहते हैं। जिसके द्वारा श्रमिक स्तर, आर्थिक विकास और सामाजिक सुरक्षा रहे।

(6) डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन (Dumbarton Oaks Conference)—यह सम्मेलन 21 अगस्त 1944 से 7 अक्टूबर 1944 तक चला। यह सम्मेलन अमेरिका के वाशिंगटन नगर के डम्बार्टन ओक्स भवन में हुआ। इस सम्मेलन में सं० रा० अमेरिका, ब्रिटेन, रूस तथा चीन के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में जो सुझाव अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के लिए रखे गये, उन्हें 9 अक्टूबर 1944 को प्रकाशित कर दिया गया। डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन में जो सुझाव रखे गये थे उन्हें 12 अध्याय में व्यवस्थित किया गया, जिनमें संगठन का ध्येय, सिद्धान्त सदस्यता तथा विभिन्न अंगों का उल्लेख था। यह सं० रा० संघ की सविदा (Draft) था जिस पर राष्ट्रों को विचार कर अपनी अनुमति देनी थी।

(7) याल्टा सम्मेलन (Yalta Conference)—डम्बार्टन ओक्स सम्मेलन के सुझावों को 24 अक्टूबर 1944 तक 51 राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया था। इसके बाद रूस के क्रिमिया प्रदेश के एक नगर याल्टा में बड़ी शक्तियों का सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन 4 फरवरी 1945 तक चला। इस सम्मेलन में रूस, ब्रिटेन एवं सं० रा० अमेरिका के शासनाध्यक्ष सम्मिलित हुए थे और उन्होंने सुरक्षा परिषद की मतदान पद्धति पर विचार-विमर्श किया था। तीनों अध्यक्षों ने एक मत होकर इस पद्धति को स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त राष्ट्र संघ की "मैण्डेट पद्धति" पर भी विचार किया और उसे "न्यास पद्धति" में बदलने का निश्चय किया। सं० रा० संघ के प्रथम सदस्यों के सम्बन्ध में भी निर्णय लिया गया। अन्त में इस सम्मेलन ने यह निश्चय किया कि सं० रा० संघ के सविदा के मसविदे को पूर्णता प्रदान करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन अप्रैल 25 सन 1905 को सानफ्रांसिस्को (San Fransisco) में बुलाया जाय।

(8) सान फ्रांसिस्को सम्मेलन (San Fransisco Confernece)—25 अप्रैल 1945 में अमेरिका के प्रसिद्ध नगर सान फ्रांसिस्को में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। यह ऐतिहासिक रूप से सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कहा कि "विश्व इतिहास में इतना महत्त्वपूर्ण सम्मेलन कभी नहीं हुआ। भविष्य की शान्ति का भार इस सम्मेलन के सदस्यों के ऊपर है।" सम्मेलन में 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की संख्या 282 थी तथा 15,00 से भी अधिक उनके सलाहकार थे जो सं० रा० संघ के चार्टर पर 2 माह तक विचार करते रहे। *25 जून 1945 को चार्टर पूर्ण हो गया और सर्व सम्मति से* स्वीकार कर लिया गया 26 जून को 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिया। 24 अक्टूबर 1945 को इस चार्टर को लागू करने की घोषणा कर दी गई।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर एवं उसके उद्देश्य
(Charter of U. N. O. and its Aims and Objects)

संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रथम अधिवेशन (Ist Session of U. N. O)—यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म 24 अक्टूबर 1945 को हो चुका था पर इसका प्रथम अधिवेशन 10 फरवरी 1936 को लन्दन के प्रसिद्ध वेस्टमिन्स्टर हाल में सम्पन्न हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा (General Assembly) की यह प्रथम बैठक थी। इस बैठक में विभिन्न प्रकार के चुनाव सम्पन्न हुए। सामान्य सभा के स्थायी सभापतियों के सदस्य आर्थिक और सामाजिक परिषद के अस्थायी सदस्य, सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्य, महासचिव की नियुक्ति इत्यादि महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर 15 फरवरी 1946 को सभा ने अपने प्रथम अधिवेशन को स्थगित कर दिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर (Charter of U.N.O.)—संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान को चार्टर का नाम दिया गया। इसमें 111 धारायें हैं जबकि राष्ट्र संघ के विधान में केवल 26 धारायें थी। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में संयुक्त राष्ट्र संघ के गठन, उसके उद्देश्य, उसके विभिन्न अंगों का गठन, उनकी कार्य विधि, उनकी शक्तियाँ आदि का विशद् वर्णन दिया गया है।

प्रस्तावना (Preamble)—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का सारतत्व उसकी 'प्रस्तावना' में दे दिया गया है। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य, एवं सिद्धान्तों का उल्लेख कर दिया गया है। प्रस्तावना में लिखा है कि "हम संयुक्त राष्ट्र के लोग, यह दृढ़ निश्चय करते हैं कि हम भावी पीढ़ियों को युद्ध की भयंकरता से, जिसने हमारे समय में दो बार समस्त मानव समाज को अत्यधिक पीड़ा पहुँचाई है, बचाने का प्रयत्न करेंगे। हम मानव के मौलिक अधिकारों, मानव व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा तथा मूल्य में, स्त्री तथा पुरुषों के समान अधिकारों में तथा छोटे एवं बड़े राष्ट्रों की समानता में विश्वास प्रकट करते हैं। अतएव ऐसी परिस्थितियों को स्थापित करने के उद्देश्य से जिनमें न्याय, सन्धियाँ और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य साधनों के प्रति सम्मान की भावनाओं को स्थायी रूप प्रदान किया जा सके। सामाजिक प्रगति तथा अच्छे जीवन स्तर को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य के तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सहिष्णुता और शान्तिपूर्ण जीवन को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए तथा अपनी शक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए प्रयुक्त करने के लिए, यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम एक-दूसरे के साथ उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमेशा सहयोग प्रदान करेंगे।

"इसलिए हमारी सरकारों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के इस घोषणा पत्र को स्वीकार किया है और हम एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करते हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघ के नाम से ज्ञात होगा।"[1]

यह घोषणा अथवा प्रस्तावना उस घोषणा का आशय प्रकट करती है जो मास्को सम्मेलन में 30 अक्टूबर को की गई थी।

प्रस्तावना के प्रारम्भिक शब्दों "हम संयुक्त राष्ट्र के लोग" से ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्था विश्व के लोगों द्वारा अपनी भलाई के लिए बनाई गई है। इन शब्दों में प्रजातान्त्रिक भावना प्रकट होती है परन्तु यथार्थ बात यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर सदस्य-राज्यों की सरकारों के प्रतिनिधियों द्वारा बनाया गया दस्तावेज है, न कि विश्व जनता द्वारा निर्मित।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य (Aims of the U. N. O.)—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा नं० 1 में संघ के उद्देश्यों का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व के उन राष्ट्रों का एक संगठन है जिन्होंने आज्ञा-पत्र (Charter) पर हस्ताक्षर किये हैं और यह शपथ ली है कि वे राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक योजनाओं के द्वारा विश्व-शान्ति की स्थापना करेंगे। इस आज्ञापत्र में इस संस्था को किसी भी राज्य के *आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप* करने का अधिकार प्रदान नहीं किया गया है।"

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

(i) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखना,

(ii) भावी पीढ़ी को भयंकर युद्धों की विभीषिका से *मुक्त रखना।*

(iii) समान अधिकार तथा आत्म निर्णय (Self-determination) के आधार पर राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों और सहयोग को बढ़ावा देना।

---

[1] "We, the people of the United Nations, determined to save succeeding generations from the scourage of war......and to reaffirm faith in fundamental human rights, in the dignity and worth of human person, in the equal rights of men and women of nations large and small .....have resolved to combine our efforts to accomplish these aims.

Accordingly, our respective governments......have agreed to the present charter of the United Nations and do hereby establish an international organization to be known as the United Nations"—*Preamble of U. N. O. Charter.*

सं० रा० संघ को यह भी अधिकार है कि वह चार्टर की अवहेलना करने वाले राष्ट्र को संघ की सदस्यता से निष्कासित कर दे। जो सदस्य राष्ट्र संघ के सदस्य न रहना चाहें, वे नोटिस देकर संघ त्याग सकते हैं पर इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि संघ से बाहर रहने वाले राज्य को मनमानी करने का अधिकार होगा। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को भंग करने पर उसे भी चार्टर के अनुसार दण्ड दिया जा सकता है।

चार्टर ने संघ के बाहर रहने वाले राज्यों को कुछ सुविधायें भी दी हैं जैसे—वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिये उन्हें सुरक्षा परिषद में रख सकते हैं। विशेष परिस्थितियों में वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य बन सकते है। वे स० रा० संघ के कुछ अंगों में सम्मिलित हो सकते हैं।

सं० रा० संघ के प्रमुख अंग
(Chief Organs of the United Nations)

सं० रा० संघ के प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं—

(1) सामान्य सभा (General Assembly)
(2) सुरक्षा परिषद (Security Council)
(3) आर्थिक और सामाजिक परिषद (Economic and Social Council)
(4) न्यास परिषद (Trusteeship Council)
(5) न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
(6) सचिवालय (Secretariate)

साधारण सभा
(General Assembly)

साधारण सभा की रचना—सं० रा० संघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग साधारण सभा है। यह सं० रा० संघ की व्यावस्थापिका कहलाती है। सीनेटर वैंडेनवर्ग के मतानुसार यह "संसार की नगर सभा" (Town Meeting of the World) है। इस सभा मे सं० रा० संघ में सम्मिलित होने वाले सभी राष्ट्र सदस्य होते है। प्रारम्भ में इस सभा के केवल 50 सदस्य थे। धीरे-धीरे इसके सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। आजकल इनके सदस्यों की संख्या 150 से भी ऊपर है। महासभा की व्यवस्था नियमावली का 21वाँ नियम इस प्रकार है कि "प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने प्रतिनिधि मण्डल में अधिक से अधिक 5 प्रतिनिधि, 5 वैकल्पिक प्रतिनिधि तथा आवश्यकतानुसार सलाहकारों, प्राविधिक विशेषज्ञ तथा उसी प्रकार के अन्य व्यक्ति भेज सकता है। "प्रत्येक राज्य को एक मत देने का अधिकार है। इस प्रकार स० रा० संघ ने समता के सिद्धान्त पर एक राज्य, एक वोट" को मान्यता दी है।

अधिवेशन (Sessions)—महा सभा की वर्ष मे एक बैठक होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त महासभा के बहुमत के आग्रह पर अथवा सुरक्षा परिषद की प्रार्थना पर 15 दिन का नोटिस देकर विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। सामान्यतया इसका प्रतिवर्ष अधिवेशन सितम्बर के महीने में न्यूयार्क (अमेरिका) में होता है। यह अधिवेशन अन्य स्थानों पर भी हो सकता है। इसके अधिवेशन पेरिस मे भी हो चुके हैं। शान्ति भंग की स्थिति मे यदि सुरक्षा परिषद स्थाई सदस्यों की एक राय न होने के कारण असफल हों तो सुरक्षा परिषद् के किन्हीं 7 सदस्यों अथवा सं० रा० संघ के अधिकाश सदस्यों की प्रार्थना पर 24 घण्टे के अन्दर इसका संकटकालीन विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है।

सामान्य सभा के पदाधिकारी (Officers of the General Assembly)—सामान्य सभा का एक अध्यक्ष अथवा सभापति एवं 7 उपसभापति होते हैं। इनका चुनाव सभा स्वयं प्रतिवर्ष

(iv) विश्व के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्य मानवतावादी समस्याओं का समाधान करना।

(v) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को शान्तिपूर्ण वाद-विवादों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून और न्याय के आधार पर सुलझाना।

(vi) इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को केन्द्र बनाना।

संयुक्त राष्ट्र संघ के मौलिक सिद्धान्त (Fundametal Principles of U. N O.)–संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 2 के अनुसार संघ के मौलिक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(1) सभी सदस्य-राष्ट्र चाहे वे छोटे हो या बड़े सम्प्रभुता सम्पन्न हैं अतः सभी समान स्तर रखते हैं।

(2) सभी सदस्य-राष्ट्र चार्टर के अनुसार अपने दायित्वों को निभाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं।

(3) सभी सदस्य-राष्ट्र पारस्परिक विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा हल करने को वचनबद्ध हैं ताकि विश्व शान्ति भंग न हो।

(3) सभी सदस्य-राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में किसी राज्य की प्रादेशिक अखण्डता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध न तो धमकी देंगे और न बल प्रयोग करेंगे।

(5) सभी सदस्य राष्ट्र चार्टर के अनुसार कार्य करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध यदि संघ कोई कार्यवाही करेगा तो सभी राष्ट्र संघ को सहायता देने के लिए वचनबद्ध होंगे एवं विरोधी राष्ट्र को कोई सहायता न देंगे।

(6) शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए जहाँ तक आवश्यक होगा संघ व्यवस्था करेगा, जो देश संघ के सदस्य नहीं हैं वे भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करेंगे।

(7) संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी देश के ऐसे विषय मे हस्तक्षेप न करेगा जिसका सम्बन्ध उस देश के घरेलू मामलों से हो। लेकिन चार्टर के सातवें अध्याय में अमल कराने के लिए जो कार्यवाहियाँ शान्ति को खतरे में डालने वाली, शान्ति भंग और अग्रधर्षण की चेष्टाओं के बारे में कार्यवाही वर्णित है, उनके लागू किये जाने पर सिद्धान्त का कोई असर न पड़ेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता (Membership of the U. N. O)—संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य दो प्रकार के हैं—प्रारम्भिक सदस्य जिन्होंने चार्टर पर हस्ताक्षर किये हैं तथा दूसरे प्रकार के वे सदस्य जो बाद में सदस्य बने। नये सदस्य बनने के लिए संघ के चार्टर को मानना आवश्यक होगा। नये सदस्य बनाने का अधिकार संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद को प्राप्त होगा। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार होगी नया सदस्य बनने की इच्छा रखने वाले को सुरक्षा परिषद में अपना प्रार्थना पत्र भेजना होगा। इस पर 5 स्थायी राष्ट्र यदि सर्व सम्मति से उसे स्वीकृति देंगे तो इन पाँचों सहित सुरक्षा परिषद के बहुमत ($\frac{2}{3}$) से वह संघ का सदस्य बन सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई एक स्थायी सदस्य भी नये सदस्य के विरुद्ध मत देगा तो वह सं० रा० संघ का सदस्य न बन सकेगा। सुरक्षा परिषद के बाद साधारण सभा भी उसे विशेष बहुमत ($\frac{2}{3}$) से स्वीकार कर ले, यह आवश्यक है।

साम्यवादी चीन को सं० रा० संघ का 21 वर्षों तक सदस्य नहीं बनाया जा सका क्योंकि राष्ट्र संघ के सदस्य उस पर विश्वास नहीं करते थे कि वह चार्टर के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करेगा। अन्त में 1970 में उसे न केवल साधारण सभा का सदस्य बनाया गया बल्कि उसे सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता भी प्राप्त हो गई।

स० रा० संघ को यह भी अधिकार है कि वह चार्टर की अवहेलना करने वाले राष्ट्र को संघ की सदस्यता से निष्कासित कर दे। जो सदस्य राष्ट्र संघ के सदस्य न रहना चाहे, वे नोटिस देकर संघ त्याग सकते हैं पर इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि संघ से बाहर रहने वाले राज्य को मनमानी करने का अधिकार होगा। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को भंग करने पर उसे भी चार्टर के अनुसार दण्ड दिया जा सकता है।

चार्टर ने संघ के बाहर रहने वाले राज्यों को कुछ सुविधायें भी दी हैं जैसे—वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिये उन्हें सुरक्षा परिषद मे रख सकते हैं। विशेष परिस्थितियों में वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य बन सकते हैं। वे स० रा० संघ के कुछ अंगों में सम्मिलित हो सकते हैं।

सं० रा० संघ के प्रमुख अग
(*Chief Organs of the United Nations*)

सं० रा० संघ के प्रमुख अंग निम्नलिखित है—

(1) सामान्य सभा (General Assembly)
(2) सुरक्षा परिषद (Security Council)
(3) आर्थिक और सामाजिक परिषद (Economic and Social Council)
(4) न्यास परिषद (Trusteeship Council)
(5) न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
(6) सचिवालय (Secretariate)

साधारण सभा
(General Assembly)

साधारण सभा की रचना—सं० रा० सघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग साधारण सभा है। यह सं० रा० सघ की व्यावस्थापिका कहलाती है। सीनेटर वैंडेनवर्ग के मतानुसार यह "संसार की नगर सभा" (Town Meeting of the World) है। इस सभा में सं० रा० संघ में सम्मिलित होने वाले सभी राष्ट्र सदस्य होते है। प्रारम्भ में इस सभा के केवल 50 सदस्य थे। धीरे-धीरे इसके सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। आजकल इनके सदस्यों की संख्या 150 से भी ऊपर है। महासभा की व्यवस्था नियमावली का 21वाँ नियम इस प्रकार है कि "प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने प्रतिनिधि मण्डल में अधिक से अधिक 5 प्रतिनिधि, 5 वैकल्पिक प्रतिनिधि तथा आवश्यकतानुसार सलाहकारों, प्रावैधिक विशेषज्ञ तथा उसी प्रकार के अन्य व्यक्ति भेज सकता है। "प्रत्येक राज्य को एक मत देने का अधिकार है। इस प्रकार स० रा० सघ ने समता के सिद्धान्त पर एक राज्य, एक वोट" को मान्यता दी है।

अधिवेशन (Sessions)—महा सभा की वर्ष में एक बैठक होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त महासभा के बहुमत के आग्रह पर अथवा सुरक्षा परिषद की प्रार्थना पर 15 दिन का नोटिस देकर विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। सामान्यतया इसका प्रतिवर्ष अधिवेशन सितम्बर के महीने में न्यूयार्क (अमेरिका) मे होता है। यह अधिवेशन अन्य स्थानों पर भी हो सकता है। इसके अधिवेशन पेरिस में भी हो चुके है। शान्ति भंग की स्थिति में यदि सुरक्षा परिषद स्थाई सदस्यों की एक राय न होने के कारण असफल हों तो सुरक्षा परिषद् के किन्हीं 7 सदस्यों अथवा सं० रा० संघ के अधिकांश सदस्यों की प्रार्थना पर 24 घण्टे के अन्दर इसका संकटकालीन विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है।

सामान्य सभा के पदाधिकारी (Officers of the General Assembly)—सामान्य सभा का एक अध्यक्ष अथवा सभापति एवं 7 उपसभापति होते हैं। इनका चुनाव सभा स्वयं प्रतिवर्ष

सभी सामाजिक, मानवीय, शिक्षा सम्बन्धी व स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्या, इन क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा; मानव-अधिकारों एवं मूल स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में सहायता देना आदि।

(iv) न्यास समिति (Trusteeship Committee)—यह समिति महासभा के ऐसे :: पर विचार करती है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति और पराधीन प्रदेशों (Non-Self-...verning Territonies) से सम्बन्ध रखते हैं।

(v) प्रशासनात्मक तथा बजट समिति (Administrative, Budgetary Committee)–...मिति के लिए विषय इस प्रकार के होते हैं—बजट सदस्यों के मध्य का विभाजन (Appor-... of Expenses), विशिष्ट अभिकरणों की आर्थिक समस्याएँ आदि।

(vi) कानूनी समिति (Legal Committee)—यह समिति प्रश्नों के कानूनी एवं ...निक पहलुओं, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से सम्बन्धित समस्याओं, अन्य समितियों द्वारा भेजे गये ... प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास तथा संहिताकरण से सम्बन्धित विषयों पर ... करती है।

(2) प्रक्रियात्मक समितियाँ (Procedural Committees)—ये समितियाँ कार्य ... सम्बन्धी मामलों पर विचार करती है। ये समितियाँ दो होती हैं —

(i) सामान्य समिति (General Committee)—इस समिति के 14 सदस्य होते है ... का सभापति, 7 उपसभापति तथा 6 प्रमुख समितियों के अध्यक्ष। यह समिति को कार्य संचालन में सहायता देती है और सभी समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय करती हैं।

(ii) प्रमाणपत्र समिति (Testimonial Committee)—यह समिति सदस्य-राज्यों ... के प्रमाणपत्रों की जाँच करती है तथा तत्सम्बन्धी रिपोर्ट महासभा को देती है।

(3) स्थायी समितियाँ (Standing Committee)—स्थायी समितियाँ अविरल ... कार्यों से सम्बन्धित होती हैं। न कार्य महासभा के अधिवेशन के दौरान तो चलते उसके बाद भी मध्यावकाश (Intervals) में भी चलते रहते हैं। प्रारम्भ मे इसकी दो ...:—

... प्रशासकीय व बजट सम्बन्धी प्रश्नों पर परामर्शदायी समिति (Advisory ... Administrative and Budgetary Questions)—इसमें नौ सदस्य होते हैं विशेषज्ञ होते हैं। सदस्यगण 3 वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते है। यह समिति के बजट की विशेष जाँच करती है, और प्रशासनात्मक तथा बजट सम्बन्धी समिति

...

... समिति (Committee on Contributions)—इस समिति मे 7 सदस्य ... अवधि के लिए चुने जाते हैं। यह समिति व्यय मे विभाजन तथा इसी प्रकार ...ार करती है। आजकल 8 स्थायी समितियाँ है।

...मितियाँ (Ad Hoc Committee)—ये समितियाँ महासभा अथवा उसकी ...द्वारा विशेष कार्यों के लिए गठित होती हैं। महासभा के प्रथम नियमित ... बनायी गयी थी जिनमे कुछ निम्नलिखित थीं :—

...ालय समिति।

...क मण्डल तथा संयुक्त राज्य से वार्ता करने की समिति।

... अधिवेशन के दौरान निर्मित 'फेलेस्टाइन पर विशेष समिति' एक अन्य

एक वर्ष के लिये करती है। इसके प्रथम अधिवेशन का सभापति पद श्री पॉल हेनरी ने सम्भाला था। आठवें अधिवेशन का सभापति पद भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू की बहन श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित को सौंपा गया था। इस महान पद में विराजमान होने वाली वह पहली ही महिला थीं।

मतदान पद्धति (Method of Voting)—सामान्य सभा का प्रत्येक सदस्य एक ही मत रखता है चाहे वह छोटा राज्य हो या बड़ा। राष्ट्र संघ में निर्णय अधिकांश "सर्वसम्मति के नियम" (Rule of Unanimity) से होते थे पर इस नियम को सं० रा० संघ ने नहीं अपनाया। उसके निर्णय महत्वपूर्ण विषयों पर दो तिहाई बहुमत से होते हैं। सामान्य विषयों पर निर्णय सामान्य बहुमत से होते हैं। यदि कोई विषय सामान्य से महत्त्वपूर्ण बनाना हो तो उसका निर्णय भी सामान्य बहुमत से होता है। महत्वपूर्ण विषय निम्नलिखित हैं—

(i) शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी सिफारिशें,
(ii) विभिन्न अंगो के लिए सदस्यों का चुनाव,
(iii) नये सदस्यो का प्रवेश,
(iv) सदस्यों का निलम्बन तथा निष्कासन,
(v) न्यास सम्बन्धी प्रश्न, तथा
(vi) बजट सम्बन्धी मामले।

समितियाँ (Committees)—सामान्य सभा अपना काम समितियों द्वारा संचालित करती है। इनका उल्लेख कर देना अति आवश्यक है। यह समितियाँ मुख्यतया चार प्रकार की हैं—

(1) मुख्य समितियाँ (Main Committees)
(2) प्रतिक्रियात्मक समितियाँ (Procedural Committees),
(3) स्थायी समितियाँ (Standing Committees), तथा
(4) तदर्थ समितियाँ (Ad Hoc Committees),

इनका सक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है—

(1) मुख्य समितियाँ (Main Committees)—मुख्य समितियाँ मूल (Substanative) विषयो पर विचार करती हैं। प्रत्येक सूत्र मे उनकी नियुक्तियाँ होती है। वे समितियाँ महासभा द्वारा सौंपे गये विषयों पर विचार करती है। ये विषयो के आधार पर गठित होती हैं। ये छः होती हैं :—

(i) राजनीतिक तथा सुरक्षा समिति (Political and Security Committees)—इस समिति द्वारा अग्रलिखित विषयो पर विचार होता—सदस्यों का प्रवेश, निलम्बन व निष्कासन राजनीतिक एवं सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धान्त, शस्त्रों के नियमन को निर्धारित करने वाले सिद्धान्त, राजनीतिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना और ऐसी स्थिति को शान्ति पूर्ण ढंग से सुलझाना जो राष्ट्रों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में बाधक हो सकती हैं।

(ii) आर्थिक एवं वित्तीय समिति (Economic and Financial Cammittee)—यह समिति आर्थिक एवं वित्तीय सम्बन्धी विषयों पर विचार करती हैं। ये विषय इस प्रकार के होते है—आर्थिक व सामाजिक परिषद तथा अन्य विशिष्ट अभिकरणों की आर्थिक गतिविधियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना, आर्थिक प्रगति की शर्तें, जीवन के उच्च स्तर के प्रश्न एवं रोजगार आदि।

(iii) सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति (Social, Humanitarian and Cultural Committee)—इस समिति के क्षेत्राधिकार के विषय हैं—चार्टर के अन्तर्गत आने वाली

सभी सामाजिक, मानवीय, शिक्षा सम्बन्धी व स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्या, इन क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा; मानव-अधिकारों एव मूल स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में सहायता देना आदि।

(iv) न्यास समिति (Trusteeship Committee)—यह समिति महासभा के ऐसे कार्यों पर विचार करती है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति और पराधीन प्रदेशों (Non-Self-Govering Territonies) से सम्बन्ध रखते हैं।

(v) प्रशासनात्मक तथा बजट समिति (Administrative, Budgetary Committee)-इस समिति के लिए विषय इस प्रकार के होते हैं—बजट सदस्यों के मध्य का विभाजन (Apportionment of Expenses), विशिष्ट अभिकरणों की आर्थिक समस्याएँ आदि।

(vi) कानूनी समिति (Legal Committee)—यह समिति प्रश्नों के कानूनी एवं संवैधानिक पहलुओं, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से सम्बन्धित समस्याओं, अन्य समितियों द्वारा भेजे गये कानूनी प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास तथा संहिताकरण से सम्बन्धित विषयों पर विचार करती है।

(2) प्रक्रियात्मक समितियां (Procedural Committees)—ये समितियां कार्य संचालन सम्बन्धी मामलों पर विचार करती है। ये समितियां दो होती हैं —

(i) सामान्य समिति (General Committee)—इस समिति के 14 सदस्य होते है जिनमें महासभा का सभापति, 7 उपसभापति तथा 6 प्रमुख समितियों के अध्यक्ष। यह समिति सभापति को कार्य संचालन में सहायता देती है और सभी समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करती हैं।

(ii) प्रमाणपत्र समिति (Testimonial Committee)—यह समिति सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों के प्रमाणपत्रों की जाँच करती है तथा तत्सम्बन्धी रिपार्ट महासभा को देती है।

(3) स्थायी समितियां (Standing Committee)—स्थायी समितियां अविरल (Continuing) कार्यों से सम्बन्धित होती हैं। ये कार्य महासभा के अधिवेशन के दौरान तो चलते ही रहते हैं उसके बाद भी मध्यावकाश (Intervals) में भी चलते रहते हैं। प्रारम्भ मे इसकी दो समितियां थीं :—

(i) प्रशासकीय व बजट सम्बन्धी प्रश्नों पर परामर्शदायी समिति (Advisory Committee on Administrative and Budgetary Questions)—इसमे नौ सदस्य होते हैं जिनमें 2 वित्तीय विशेषज्ञ होते हैं। सदस्यगण 3 वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। यह समिति संयुक्त राष्ट्र संघ के बजट की विशेष जाँच करती है, और प्रशासनात्मक तथा बजट सम्बन्धी समिति को परामर्श देती है।

(ii) चन्दा समिति (Committee on Contributions)—इस समिति में 7 सदस्य होते हैं जो 4 वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। यह समिति व्यय में विभाजन तथा इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों पर विचार करती है। आजकल 8 स्थायी समितियां हैं।

(4) तदर्थ समितियां (Ad Hoc Committee)—ये समितियां महासभा अथवा उनकी समितियों में से किसी के द्वारा विशेष कार्यों के लिए गठित होती हैं। महासभा के प्रथम नियमित अधिवेशन में 13 समितियाँ बनायी गयी थीं जिनमें कुछ निम्नलिखित थीं :—

(i) स्थायी मुख्यालय समिति।

(ii) लेखा-परीक्षक मण्डल तथा संयुक्त राज्य से वार्ता करने की समिति।

(iii) प्रथम विशेष अधिवेशन के दौरान निर्मित 'फिलिस्तीन पर विशेष समिति' एक अन्य उदाहरण है।

एक वर्ष के लिये करती है। इसके प्रथम अधिवेशन का सभापति पद श्री पॉल हेनरी ने सम्भाला था। आठवें अधिवेशन का सभापति पद भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू की बहन श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित को सौंपा गया था। इस महान पद में विराजमान होने वाली वह पहली ही महिला थी।

मतदान पद्धति (Method of Voting)—सामान्य सभा का प्रत्येक सदस्य एक ही मत रखता है चाहे वह छोटा राज्य हो या बड़ा। राष्ट्र संघ में निर्णय अधिकांश "सर्वसम्मति के नियम" (Rule of Unanimity) से होते थे पर इस नियम को सं० रा० संघ ने नहीं अपनाया। उसके निर्णय महत्वपूर्ण विषयों पर दो तिहाई बहुमत से होते हैं। सामान्य विषयों पर निर्णय सामान्य बहुमत से होते हैं। यदि कोई विषय सामान्य से महत्वपूर्ण बनाना हो तो उसका निर्णय भी सामान्य बहुमत से होता है। महत्वपूर्ण विषय निम्नलिखित हैं—

(i) शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी सिफारिशें,
(ii) विभिन्न अंगों के लिए सदस्यों का चुनाव,
(iii) नये सदस्यों का प्रवेश,
(iv) सदस्यों का निलम्बन तथा निष्कासन,
(v) न्यास सम्बन्धी प्रश्न, तथा
(vi) बजट सम्बन्धी मामले।

समितियाँ (Committees)—सामान्य सभा अपना काम समितियों द्वारा संचालित करती है। इनका उल्लेख कर देना अति आवश्यक है। यह समितियाँ मुख्यतया चार प्रकार की हैं—

(1) मुख्य समितियाँ (Main Committees)
(2) प्रतिक्रियात्मक समितियाँ (Procedural Committees),
(3) स्थायी समितियाँ (Standing Committees), तथा
(4) तदर्थ समितियाँ (Ad Hoc Committees),

इनका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है—

(1) मुख्य समितियाँ (Main Committees)—मुख्य समितियाँ मूल (Substanative) *विषयों पर विचार करती हैं। प्रत्येक सत्र में उनकी नियुक्तियाँ होती हैं।* वे समितियाँ महा सभा द्वारा सौंपे गये विषयों पर विचार करती है। ये विषयों के आधार पर गठित होती हैं। ये छः होती हैं :—

(i) राजनीतिक तथा सुरक्षा समिति (Political and Security Committees)—इस समिति द्वारा अग्रलिखित विषयो पर विचार होता—सदस्यों का प्रवेश, निलम्बन व निष्कासन राजनीतिक एवं सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धांत, शस्त्रों के नियमन को निर्धारित करने वाले सिद्धान्त, राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना और ऐसी स्थिति को शान्ति पूर्ण ढंग से सुलझाना जो राष्ट्रों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में बाधक हो सकती हैं।

(ii) आर्थिक एवं वित्तीय समिति (Economic and Financial Cammittee)—यह समिति आर्थिक एवं वित्तीय सम्बन्धी विषयों पर विचार करती हैं। ये विषय इस प्रकार के होते हैं—आर्थिक व सामाजिक परिषद तथा अन्य विशिष्ट अभिकरणों की आर्थिक गतिविधियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना, आर्थिक प्रगति की शर्तें, जीवन के उच्च स्तर के प्रश्न एवं रोजगार आदि।

(iii) सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति (Social, Humanitarian and Cultural Committee)—इस समिति के क्षेत्राधिकार के विषय हैं—चार्टर के अन्तर्गत आने वाली

सभी सामाजिक, मानवीय, शिक्षा सम्बन्धी व स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्या, इन क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा; मानव-अधिकारों एव मूल स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में सहायता देना आदि।

(iv) न्यास समिति (Trusteeship Committee)—यह समिति महासभा के ऐसे कार्यों पर विचार करती है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति और पराधीन प्रदेशों (Non-Self-Govering Territonies) से सम्बन्ध रखते हैं।

(v) प्रशासनात्मक तथा बजट समिति (Administrative, Budgetary Committee)-इस समिति के लिए विषय इस प्रकार के होते हैं—बजट सदस्यों के मध्य का विभाजन (Apportionment of Expenses), विशिष्ट अभिकरणों की आर्थिक समस्याएँ आदि।

(vi) कानूनी समिति (Legal Committee)—यह समिति प्रश्नों के कानूनी एवं संवैधानिक पहलुओं, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से सम्बन्धित समस्याओं, अन्य समितियों द्वारा भेजे गये कानूनी प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास तथा संहिताकरण से सम्बन्धित विषयों पर विचार करती है।

(2) प्रक्रियात्मक समितियाँ (Procedural Committees)—ये समितियाँ कार्य संचालन सम्बन्धी मामलों पर विचार करती है। ये समितियाँ दो होती हैं —

(i) सामान्य समिति (General Committee)—इस समिति के 14 सदस्य होते है जिनमें महासभा का सभापति, 7 उपसभापति तथा 6 प्रमुख समितियों के अध्यक्ष। यह समिति सभापति को कार्य संचालन में सहायता देती है और सभी समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करती है।

(ii) प्रमाणपत्र समिति (Testimonial Committee)—यह समिति सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों के प्रमाणपत्रों की जाँच करती है तथा तत्सम्बन्धी रिपार्ट महासभा को देती है।

(3) स्थायी समितियाँ (Standing Committee)—स्थायी समितियाँ अविरल (Continuing) कार्यों से सम्बन्धित होती हैं। ये कार्य महासभा के अधिवेशन के दौरान तो चलते ही रहते हैं उसके बाद भी मध्यावकाश (Intervals) में भी चलते रहते हैं। प्रारम्भ में इसकी दो समितियाँ थी :—

(i) प्रशासकीय व बजट सम्बन्धी प्रश्नों पर परामर्शदायी समिति (Advisory Committee on Administrative and Budgetary Questions)—इसमें नौ सदस्य होते हैं जिनमें 2 वित्तीय विशेषज्ञ होते हैं। सदस्यगण 3 वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। यह समिति संयुक्त राष्ट्र संघ के बजट की विशेष जाँच करती है, और प्रशासनात्मक तथा बजट सम्बन्धी समिति को परामर्श देती है।

(ii) चन्दा समिति (Committee on Contributions)—इस समिति में 7 सदस्य होते हैं जो 4 वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। यह समिति व्यय में विभाजन तथा इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों पर विचार करती है। आजकल 8 स्थायी समितियाँ हैं।

(4) तदर्थ समितियाँ (Ad Hoc Committee)—ये समितियाँ महासभा अथवा उसकी समितियों में से किसी के द्वारा विशेष कार्यों के लिए गठित होती हैं। महासभा के प्रथम नियमित अधिवेशन में 13 समितियाँ बनायी गयी थीं जिनमें कुछ निम्नलिखित थीं :—

(i) स्थायी मुख्यालय समिति।

(ii) लेखा-परीक्षक मण्डल तथा संयुक्त राज्य से वार्ता करने की समिति।

(iii) प्रथम विशेष अधिवेशन के दौरान निर्मित 'फिलिस्तीन पर विशेष समिति' एक अन्य उदाहरण है।

(iv) बालकन्स पर विशेष समिति।
(v) कोरिया आयोग
(vi) संयुक्त राष्ट्र संघीय वैज्ञानिक समिति।
(vii) सयुक्त राष्ट्र सघीय राहत समिति।
(viii) सामूहिक कार्यवाही समिति।
(ix) युद्धबन्दियो के लिए एतदर्थ समिति।
(x) हगरी के लिए विशेष समिति।
(xi) संयुक्त राष्ट्र संघीय सकटकालीन सेना के लिए परामर्श समिति।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि महासभा के लिए ये समितियाँ अपरिहार्य है। इनके बिना उसका काम करना असम्भव सा है। इसीलिए वेण्डनबोश तथा होगन ने कहा है कि "समिति प्रणाली महासभा के लिए एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाग है।"[1]

महासभा की शक्तियाँ (Powers of General Assembly)—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 10 से लेकर 17 तक मे महासभा की शक्तियों का उल्लेख किया गया है। ये शक्तियाँ निम्न प्रकार की हैं :—

(1) वह संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक विषय पर विचार-विमर्श करने का अधिकार रखती है।

(2) वह सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के सदस्यों एवं न्यास परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन करती हैं।

(3) वह सुरक्षा परिषद की सिफारिश से सघ के महासचिव की नियुक्ति करती है।

(4) वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिए न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है।

(5) वह उन प्रतिवेदनो पर विचार करती है जो महासचिव, सुरक्षा परिषद तथा अन्य समितियाँ, उसके सम्मुख प्रस्तुत करती है।

(6) वह सुरक्षा परिषद के सुझावो पर गैर सदस्य-राष्ट्रों को भी वादी के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे उपस्थित होने की शर्तें निर्धारित करती हैं।

(7) वह किसी भी वैधानिक प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श ले सकती हैं।

(8) वह अन्य समितियों को भी 'परामर्शपूर्ण सुझाव" लेने के अधिकार प्रदान कर सकती हैं।

(9) वह अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति समिति के प्रतिवेदन पर विचार कर सकती हैं।

(10) यद्यपि महासभा के निर्णय, सुझावों के रूप मे होते हैं, अर्थात् उसके पीछे बाध्यकारी शक्ति नही होती है, तथापि इन निर्णयो के पीछे विश्व जनमत की नैतिक शक्ति होती है।

(11) आर्थिक एवं सामाजिक परिषद किन्ही विशिष्ट संस्थाओं को सयुक्त राष्ट्र सघ से सम्बद्ध करने के लिए जिन शर्तों को निर्धारित करती है, महासभा उन्हें स्वीकृति प्रदान करती है।

महासभा के कार्य (Functions of the General Assembly)—सयुक्त राष्ट्र सघ की महासभा के कार्य अत्यन्त व्यापक एव विविध प्रकार के हैं। वास्तव में महासभा का स्थान "अन्तर्राष्ट्रीय विधान सभा" के समान है। ई० पी० चेज (E. P. Chase) ने तो इसे "संयुक्त राष्ट्र की ससद" की उपाधि दी है। किन्तु 'राष्ट्रीय विधान सभा' और 'महासभा' में एक अन्तर विशेष यह है कि राष्ट्रीय विधान सभा के द्वारा जो विधियाँ निर्मित होती हैं वे बाध्यकारी होती हैं। पर

---

1 "A very important par[t of] the organisation of the General Assembly is the committee system." —*Vahdenbosh and Hogan*

महासभा द्वारा जो सिफारिशें की जाती हैं उनके पीछे केवल नैतिक शक्ति होती है। चूंकि महासभा के सदस्य सम्प्रभु राष्ट्र होते हैं, उनके लिए महासभा के निर्णय ऐच्छिक होते हैं अनिवार्य नहीं। इसी कारण अमेरिकन सीनेटर वेण्डेनबर्ग ने इसे 'संसार की नगर-सभा" कहा है।

महासभा का कार्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एव विस्तृत होता है। वह संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अधिकार-क्षेत्र में आने वाले सभी विषयों पर विचार कर सकती है। सुविधा की दृष्टि से हम महासभा के कार्यों को निम्नलिखित शीर्षकों में वर्णित कर सकते है :—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का कार्य (Functions of International Peace and Security)—यद्यपि विश्व शान्ति एव सुरक्षा का दायित्व सुरक्षा परिषद को सौंपा गया है तथापि महासभा विश्व-शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों और समस्याओं पर विचार कर सकती है और अपने सुझाव अथवा सिफारिशें सदस्य राज्यों तथा सुरक्षा परिषद को भेज सकती है जो सुरक्षा परिषद के विचाराधीन है। महासचिव का यह कर्तव्य है कि वह महासभा को सूचित करे कि सुरक्षा परिषद मे किन विषयों पर विचार चल रहा है और किन विषयों पर वाद-विवाद समाप्त हो चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्न महासभा के समक्ष सुरक्षा परिषद द्वारा या किसी सदस्य राष्ट्र द्वारा रखे जा सकते हैं। इसके साथ ही गैर-सदस्य राष्ट्र भी अशान्ति एवं असुरक्षा सम्बन्धी मामले महासभा में रख सकते हैं पर शर्त यह है कि ये "झगड़ा के शान्तिपूर्ण निबटाने" मे विश्वास रखते हों। महासभा निःशस्त्रीकरण एव शस्त्रों के नियमन सम्बन्धी मामलो पर विचार कर सकती है। ऐसे मामले भी महासभा में रखे जा सकते हैं जिन्हें सुरक्षा परिषद हल करने में असमर्थ रही हो। ऐसा एक प्रस्ताव महासभा ने 3 नवम्बर 1950 मे "शान्ति के लिए एकता" के नाम से पारित किया था।

(2) संघ के विभिन्न अंगों की देखभाल करना (To look after the work of various organs of the U.N.O.)—महा सभा संयुक्त राष्ट्र के विशिष्ट अंगों के कार्यों की देख-भाल करती है। प्रत्येक अंग अपने कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट महा सभा को प्रस्तुत करता है। महा सभा चाहे तो किसी भी अंग से विशेष प्रतिवेदन की मांग कर सकती है। इन प्रतिवेदनों पर महा सभा में आलोचना हो सकती है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय सरक्षण (International Protection)—सं० रा० संघ के चार्टर में उन क्षेत्रों के विषय मे जो स्वाशासित नही है, उन पर शासन करने वाले राष्ट्रों पर उन क्षेत्रों के विकास का उत्तरदायित्व सौपा गया है। इन उत्तरदायित्वों को क्रियान्वित कराने की जिम्मेदारी महा सभा को सौंपी गयी है। महा सभा ने इसके लिये एक सरक्षण परिषद का निर्माण किया है। यह संरक्षण-परिषद संरक्षण सम्बन्धी समझौतो की शर्तों को महा सभा द्वारा स्वीकृत करती है। इन समझौतों में संशोधन एवं परिवर्तन करने की स्वीकृति महा सभा द्वारा होना आवश्यक है।

महा सचिव एवं संरक्षक-राष्ट्र उन क्षेत्रों के स्वशासन सम्बन्धी विकास पर प्रतिवर्ष महा सभा में प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं। इस कार्य में सहायता देने को महासभा एक समिति भी निर्मित कर सकती है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग (International Economic and Social Cooperation)—महा सभा का एक प्रमुख कार्य यह भी है कि वह अपने सदस्य राष्ट्रों मे आर्थिक तथा सामाजिक सहयोग के लिए प्रयत्न करती रहे। इस कार्य के लिए आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् का निर्माण हुआ है जो महा सभा द्वारा प्रदत्त अधिकारों के आधार पर कार्य करती है, यह परिषद् आर्थिक, सामाजिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरणों को राष्ट्र संघ से सम्बद्ध करने के लिए जो समझौते करती है, उनकी स्वीकृति उसे महा सभा से लेनी पड़ती है।

(5) वित्तीय कार्य (Financial Function)—महासभा सं० रा० संघ की वित्त व्यवस्था का संचालन करती है कि किस देश को संयुक्त राष्ट्र के व्यय का कितना भाग वहन करना चाहिये। चार्टर की धारा 17 (1) में यह उल्लेख आया है कि "महा सभा संगठन के बजट पर विचार करेगी और उसका अनुमोदन करेगी।" यह प्रावधान अति महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा महा सभा संघ के अन्य अंगों पर नियन्त्रण करने की शक्ति रखती है।

महा सभा विशिष्ट अभिकरणों के बजटों की जाँच-पड़ताल कर उन्हें सुझाव दे सकती है। इस प्रकार उसकी यह शक्ति बड़ी महत्वपूर्ण है।

(6) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य (Elective Function)—महा सभा के कुछ निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी होते हैं। सुरक्षा परिषद के 10 अस्थायी सदस्यों को वह उपस्थित सदस्यों के ⅔ बहुमत से चुनती है, आर्थिक और सामाजिक परिषद के 18 सदस्यों तथा न्यास परिषद के सदस्य का भी वह निर्वाचन करती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के चुनाव में भी भाग लेती है तथा सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर वह महासचिव को नियुक्त करती है। इसी प्रकार सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर संघ के अन्दर प्रवेश पाने वाले सदस्यों को प्रवेश की अनुमति देती है।

(7) संवैधानिक कार्य (Constitutional Function)—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में संशोधन करने के लिये महासभा की अनुमति लेनी आवश्यक है। इसके ⅔ बहुमत से पारित होने पर संशोधन सुरक्षा परिषद के विचारार्थ भेजा जाता है। सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों सहित ⅔ बहुमत से प्रस्ताव पास होने पर ही संशोधन पारित माना जाता है।

(8) लघु सभा (Little Assembly)—सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यों को विशेषाधिकार प्राप्त हैं। कोई भी निर्णय सुरक्षा परिषद इन स्थायी सदस्यों के सर्वसम्मति के बिना नहीं ले सकती है। रूस ने कई बार अपने इस अधिकार का प्रयोग कर शान्ति पूर्ण कार्यों में बाधा डाली है। सं० रा० अमेरिका ने भी अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर रूस के ऐसे प्रस्तावों को रद्द किया है। इस प्रकार इन स्थायी सदस्यो के आपसी मत-भेद से सं० राष्ट्र संघ के भंग होने की आशंका उत्पन्न हुई अतः इस खतरे को टालने के लिये 17 सितम्बर 1947 को सं० रा० अमेरिका के शिष्ट मण्डल द्वारा प्रस्तावित किया कि महासभा के समस्त सदस्यो की एक स्थायी समिति नियुक्त की जाय जो महासभा के नियमित व विशेष अधिवेशनो के बीच काम करके महा सभा को सहायता पहुँचाये। रूस ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसके तर्क थे—(i) चार्टर में इस प्रकार के किसी निकाय की स्थापना का प्रावधान नहीं है, (ii) सहायक अभिकरणो की स्थापना, महा सभा के अधिकार क्षेत्र से बाहर है, (iii) इसकी सहायता से सुरक्षा परिषद की सत्ता एवं शक्ति क्षीण हो जायगी। परन्तु लम्बे वाद-विवाद के बाद दिसम्बर 1947 ने ऐसी समिति अस्थायी रूप से नियुक्त करने का प्रस्ताव बहुमत से पारित हो गया। इसे आन्तरिक समिति (Interim Committee) अथवा 'लघु सभा' (Little Assembly) कहा गया।

लघु सभा मे सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते है। महासभा का जब अधिवेशन नही होता है तब यह लघु सभा कार्य करती है। 1949 मे इसका पुनर्गठन हुआ, 1972 से इस समिति की बैठक नही हुई है। वास्तव मे साम्यवादी गुट के देशों—पोलैण्ड, यूक्रेन, बायलोरशिया, चैकोस्लोवाकिया और रूस ने इस समिति की वैधानिकता को कभी नहीं माना है।

महा सभा का महत्व (Importance of the General Assembly)—सं० रा० संघ कोई संयुक्त संस्था नही है। अतः उसे विश्व राज्य की संज्ञा नही दी जा सकती है। सं० रा० संघ का विशेष अंग सुरक्षा परिषद् है और विश्व की शान्ति एवं सुरक्षा की जिम्मेदारी उसी पर है पर-

वीटो (Veto) के विशेषाधिकार से वह सफलतापूर्वक अपने कार्य सम्पन्न नहीं कर पाती है। महा सभा को 'एकता प्रस्ताव' से महान शक्ति प्राप्त हो गयी है और वह सुरक्षा परिषद् के अधूरे कार्य पूर्ण कर सकती है। एम० जी० गुप्ता ने लिखा है कि "इसने सामान्य सभा को इस योग्य बना दिया है कि वह सुरक्षा परिषद् के महत्त्व को शान्ति एवं सुरक्षा के क्षेत्र मे महत्त्वहीन बना दे तथा अन्य मामलों में भी। इसने सयुक्त राष्ट्र संघ को सुरक्षा परिषद केन्द्रित संस्था के बजाय महासभा को केन्द्रित सस्था बना दिया है।" 1949 के पश्चात महासभा राजनीतिक विचारों के निर्णय करने वाली संस्था बन गयी है और वह लगातार सुरक्षा परिषद् से अधिक सुदृढ़ता प्राप्त करती जा रही है।"

आलोचना (Criticism)—यद्यपि यह बात तो सही है कि सं० रा० संघ की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई है पर स्थायी शान्ति की स्थापना अभी स्थापित नहीं हुई है। आज के युग मे गुटबन्दी का साम्राज्य है। ये दोनों गुट साम्यवादी और पूँजीवादी सदैव एक-दूसरे पर आवाजें कसा करते हैं। इन्हें अपने हित विश्व हित की अपेक्षा अधिक प्रिय हैं। संघ की महा सभा इन गुटों का संघर्ष स्थल है। पाक युद्ध इतना भीषण हो उठता है कि छोटे राज्य भयभीत हो जाते है। यह अवश्य है कि सं० रा० सघ का कार्यालय राष्ट्र संघ से लम्बा हो गया है पर यह नहीं कहा जा सकता है कि अब कभी युद्ध न होगा। सं० रा० सघ यद्यपि राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है पर उसके निर्णय अभी बाध्यकारी नही। यहाँ शक्तियों पर सं० रा० सघ का कोई नियन्त्रण नही विनाशकारी भयानक अस्त्राशस्त्र का भय ही उन्हें युद्धों में कूदने से रोके हुए है। सं० रा० सघ भी राष्ट्र सघ के मार्ग पर जा रहा है। अभी कोहिमा, वियतनाम, अरब-इजराइल एवं पाक-भारत के ही छोटे-मोटे झगड़े हुए हैं। जिस दिन रूस और अमेरिका में ठन गयी उस समय संयुक्त राष्ट्र संघ कुछ न कर पायेगा। विश्व के सिर पर हमेशा "डेमोक्लीज की तलवार" लटकती रहती है।

सुरक्षा परिषद
(Security Council)

सुरक्षा परिषद सं० रा० सघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा" की जिम्मेदारी इस संस्था पर है। पामर एवं पार्किन्स (Palmer and Parkins) ने इसे "सं० रा० सघ का केन्द्रीय अंग" (The Key-Organ of the U. N. O.) कहा है। सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन के अमेरिकी प्रतिनिधि मण्डल के प्रधान ने कहा था कि "सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे लाजबाव है।" निकोलसन ने कहा था कि "वास्तव में यह एक पुलिसमेन के समान है जो सशस्त्र है और जरा इशारे पर तलवार खींच सकता है और इसका सम्बन्ध अधिकतर शान्ति और व्यवस्था से है न कि अच्छाई और बुराई से जो कि अधिकांश रूप से समकालीन विचारकों ने इसमे देखे।"[1]

1945 में जब सं० रा० संघ की स्थापना हुई तो सभी की निगाहें विश्व शान्ति के लिए सुरक्षा परिषद पर लग गईं। यह परिषद से कही अधिक शक्तिशाली थी और लोगों को विश्वास हो चला था कि अब युद्ध की विभीषिका को सहना न पड़ेगा।

सुरक्षा परिषद का गठन (Organisation of the Security Council)—सं० रा० संघ के चार्टर के 5वें अध्याय की 23 से 39वीं धारा तक सुरक्षा परिषद के सगठन, कार्य,

1 "It was indeed as an armed policeman quick on the draw and concerned more with peace and order than with right and wrong niceties that most contemporary opinion envisaged it." —Nicolos

अधिकार तथा मतदान प्रणाली का उल्लेख किया है। सुरक्षा परिषद के दो प्रकार के सदस्य होते— स्थायी तथा अस्थायी। स्थायी सदस्यता 5 महा शक्तियों—इंगलैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, रूस तथा चीन—को प्राप्त है। प्रारम्भ में अस्थायी सदस्यों की संख्या 6 थी जो महासभा द्वारा चुने जाते थे। चार्टर में संशोधन के बाद अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़कर 10 कर दी गयी है। अस्थायी सदस्य 2 वर्ष के लिए चुने जाते हैं और इन्हें लगातार नहीं चुना जाता है। भारत चार बार अस्थायी सदस्य चुना जा चुका है।

1963 के अधिवेशन में महासभा ने एक नियम बनाया जिसके अनुसार 10 स्थायी सदस्यों में से 5 एशिया एवं अफ्रीकी देशों से, 2 लैटिन अमेरिका से, 2 पश्चिमी यूरोप से तथा 1 पूर्वी यूरोप के राज्यों में से चुना जाता है। यह नियम इसलिये बनाया गया है कि संसार के प्रत्येक क्षेत्र का प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद में रहे। आजकल ये सदस्य—भारत, युगोस्लावाकिया, गिनी, पनामा, सूडान, पेरू, इण्डोनेशिया, आस्ट्रिया, आस्ट्रेलिया एवं केन्या हैं। यद्यपि सुरक्षा परिषद का अस्थायी सदस्य—दुबारा चुन जाने की प्रथा नहीं पर यदि महा सभा चाहे तो अपने 2/3 बहुमत से किसी सदस्य को दुबारा चुन सकती है। यदि कोई मामला किसी राष्ट्र से सम्बन्धित सुरक्षा परिषद का सदस्य न हो तो उसे सुरक्षा परिषद की बैठक में भाग लेने का अधिकार होता है जैसे 1957-58 में कश्मीर का प्रश्न जब सुरक्षा परिषद में रखा गया तो भारत और पाकिस्तान ने भी सुरक्षा परिषद की कार्यवाही में भाग लिया।

सुरक्षा परिषद में चीन को भी स्थायी सदस्यता प्राप्त है। 1949 से पूर्व चीन पर राष्ट्रवादियों का अधिकार था पर 1949 में चीन में साम्यवादी सरकार स्थापित हो गयी थी और उसने स० रा० संघ की महासभा और सुरक्षा परिषद की सदस्यता को दावा किया था पर महा सभा और परिषद में पश्चिमी शक्तियों का बहुमत था। अतः साम्यवादी चीन को 1970 तक राष्ट्र संघ में प्रवेश न मिला। 1970 में चीन और अमेरिका की संधि हो जाने पर 1971 से साम्यवादी चीन को न केवल सामान्य सभा का सदस्य बनाया गया, बल्कि वह सुरक्षा परिषद का भी स्थायी सदस्य बन गया। राष्ट्रवादी चीन जिसका अस्तित्व अब फार्मूसा तक सीमित है राष्ट्र संघ से निष्कासित कर दिया गया।

परिषद के अधिवेशन (Session of Security Council)—सुरक्षा परिषद के अधिवेशन निरन्तर होते रहते हैं। वह हमेशा क्रियाशील रहती है। उसकी दो बैठकों के मध्य अधिक से अधिक 14 दिन का अन्तर पड़ सकता है। आवश्यकता पड़ने पर इसकी बैठक बुलायी जा सकती है। बैठक बुलाने का प्रस्ताव महासचिव, महासभा अथवा स्वयं परिषद के सदस्य कर सकते हैं। सुरक्षा परिषद की बैठकें आम तौर से न्यूयार्क में होती हैं पर यह यदि उचित समझे तो उसकी बैठक अन्य स्थान पर भी हो सकती है। उदाहरण के लिए सुरक्षा परिषद की एक बैठक 28 जनवरी से 4 फरवरी तक (1972) इथोपिया की राजधानी आदिस अबाबा में हुई थी।

सभापति (President)—सुरक्षा परिषद का सभापति एक महीने के लिए चुना जाता है। प्रति मास अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि इसका सभापतित्व सम्भालते रहते हैं।

मतदान व्यवस्था (System of Voting)—सुरक्षा परिषद में दो प्रकार के सदस्य होते हैं अतः दोनों को मत देने के भिन्न-भिन्न अधिकार होते हैं। सुरक्षा परिषद दो प्रकार के निर्णय लेती है—एक प्रक्रिया सम्बन्धी दूसरे अन्य विषयों सम्बन्धी। प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों में 11 में से 7 या 15 में से 9 का बहुमत आवश्यक होता है पर महत्वपूर्ण मामलों में स्थायी सदस्यों का एक मत होना आवश्यक होता है। यदि एक भी स्थायी सदस्य उस प्रस्ताव के पक्ष में न हो चाहे 14-14 सदस्य उसके पक्ष में हों, तो वह प्रस्ताव रद्द माना जायेगा इसके अतिरिक्त कोई भी सदस्य

जिसका मामला सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत हो वह वाद-विवाद में तो भाग ले सकेगा पर उसे उसमें मत देने का अधिकार न होगा। यदि सैनिक या आर्थिक प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है तो पक्ष 5 स्थायी सदस्य और 4 अस्थायी सदस्यों का होना आवश्यक है। इस विषय में इस बात का ध्यान नहीं रखा जायगा कि इस मामले में परिषद का कोई सदस्य है या नहीं पर स्थायी सदस्यों को यह अधिकार है कि वे अपने विरुद्ध, चाहे वे आक्रमणकारी क्यों न हों, रखे गये प्रस्ताव को निषेधाधिकार (Veto Power) से रद्द कर दें।

समितियां (Committee)—आम तौर से सुरक्षा परिषद को समितियां बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्योंकि उसके सदस्यों की संख्या कम होती है। अधिकांश निर्णय सम्पूर्ण सदस्यों की बैठक में ही होते हैं। पर परिषद यदि आवश्यकता अनुभव करे तो वह समितियां या आयोग नियुक्त कर सकती है। उसकी कुछ समितियां निम्नलिखित हैं—

(1) सैनिक स्टाफ समिति (Military Staff Committee)—यह समिति सुरक्षा परिषद का सहायक अंग है। चार्टर की 47वीं धारा में कहा गया है कि यह समिति अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने के लिए, सुरक्षा परिषद को अग्रलिखित प्रश्नों पर परामर्श और सहायता देगी—परिषद की सैनिक आवश्यकताएँ, उपलब्ध किये गये सैन्य बल का प्रयोग एवं निर्देशन, शस्त्रास्त्रों का नियम तथा सम्भावित निःशस्त्रीकरण। इस समिति में 5 स्थायी सदस्यों चीफ ऑफ मिलिट्री अथवा इनके प्रतिनिधि होते हैं। रूस के असहयोग के कारण यह समिति निष्क्रिय है।

(2) विशेषज्ञ समिति (Committee of Experts)—सुरक्षा परिषद ने एक विशेषज्ञ समिति की स्थापना की है। इसमें सदस्य देशों के कानूनी विशेषज्ञ होते हैं। यह समिति कार्य-विधि के नियम (Rules of procedure), चार्टर का निर्वचन (Interprtation of the Charter) जैसे प्रश्नों पर विचार करती है। इस समिति में परिषद के सभी सदस्यों का प्रतिनिधित्व होता है।

(3) नये सदस्यों के प्रवेश के लिए समिति (Committee on the Admission of New Members)—यह एक स्थायी समिति है। इसमें सुरक्षा परिषद के सभी सदस्यों के प्रतिनिधि रहते हैं। यह समिति संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता के लिए दिये गये आवेदनों के सम्बन्ध में परिषद को मन्त्रणा देती है।

(4) आयोग (Commissions)—सुरक्षा परिषद के दो महत्त्वपूर्ण आयोग भी हैं। प्रथम है—परम्परागत शस्त्रों पर आयोग (Commission on Conventional Armaments) तथा दूसरा अणु-शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission)। प्रथम आयोग की स्थापना सुरक्षा परिषद ने स्वयं की है। यह आयोग अणु-शक्ति से सम्बन्ध न रखने वाले आयुधों के नियमन की समस्या पर विचार करता है। अणु-शक्ति आयोग महासभा के एक प्रस्ताव द्वारा स्थापित किया गया था, किन्तु उसे सुरक्षा परिषद के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया है। इन दोनों आयोगों का विवादों के निबटारे से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

(5) तदर्थ निकाय (Ad hoc Bodies)—इनके अतिरिक्त परिषद समय-समय पर तदर्थ या विशेष निकाय स्थापित करती रहती है। उदाहरण के लिए इण्डोनेशिया प्रश्न पर सत्प्रयास समिति (Committee of Good Offices), भारत तथा पाकिस्तान पर संयुक्त राष्ट्रीय आयोग, पेलेस्टाइन के लिए विराम सन्धि आयोग (Truce Commission) आदि। ये विशेष निकाय (Special Bodies) परिषद को विवादों के शान्तिपूर्ण निबटारे में सहायता पहुँचाने के लिए स्थापित किये जाते हैं।

सुरक्षा परिषद की शक्तियां एवं कार्य (Powers and Functions of Security Council)—चार्टर की धारा 24 में लिखा है कि "संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों ने शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने की मुख्य जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद को दी है, और वे इस बात पर सहमत हैं कि इस

जिम्मेदारी के अन्तर्गत अपने कर्तव्यों को पूरा करने में सुरक्षा परिषद उनकी ओर से कार्य करती है।" इस प्रकार सुरक्षा परिषद का मुख्य उत्तरदायित्व विश्व में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना है। विश्व की कोई घटना एवं विवाद जिनसे विश्वशान्ति को भंग होने का भय हो, सुरक्षा परिषद के विचार करने के क्षेत्र में आता है। वह किसी भी ऐसी घटना की जाँच-पड़ताल कर सकती है, जो विश्व-शान्ति को भंग कर देने की सम्भावना रखती है।

धारा 25 में कहा गया है कि 'संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य मानते हैं कि वे वर्तमान चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद के निर्णयों को मानेंगे और उन पर अमल करेंगे।" इस प्रकार सुरक्षा परिषद के निर्णयों को मानने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य वचनबद्ध हैं।

चार्टर के अध्याय 6, 7, 8 और 12 में सुरक्षा परिषद के कार्य एवं शक्तियाँ वर्णित हैं। अध्याय 7 विवादों के शान्तिपूर्ण हल के सम्बन्ध में परिषद के अधिकार दिये गये हैं। इसके अन्तर्गत 33 से 38 तक धाराएँ आती हैं। अध्याय 7 की 39 से 51 तक की धाराएँ सुरक्षा परिषद को यह अधिकार देती हैं कि वह विश्व-शान्ति को खतरे में डालने वाली, शान्ति भंग और आक्रमण की स्थितियों को पैदा करने वाली घटनाओं के नियन्त्रण के लिए जल, थल और नभ सेना का प्रयोग कर सकती है। धारा 43 में उल्लेख आया है कि संघ का प्रत्येक राष्ट्र, वचनबद्ध है कि आवश्यकता पड़ने पर वह सुरक्षा परिषद की पूरी सहायता करेगा और अपनी जल, थल एवं नभ सेना उसको समर्पित करेगा। 37वीं धारा के अनुसार यह सुरक्षा परिषद की सैनिक स्टाफ समिति उसे निम्न विषयों पर परामर्श देगी—"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने की सैनिक आवश्यकताएँ, इस समिति के अधीन सेनाओं का प्रयोग तथा कमान, शस्त्रों का नियन्त्रण, सम्भावित निःशस्त्रीकरण आदि। 50वीं धारा के अनुसार समस्त राष्ट्र सामूहिक रूप से सुरक्षा परिषद की कार्यवाही में सहयोग देंगे।

अध्याय 8 प्रादेशिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत 52 से 54 तक धाराएँ आती हैं। 52वीं धारा में सदस्य राष्ट्रों को प्रादेशिक व्यवस्थाएँ, संगठन तथा समझौते करने का अधिकार प्रदान किया गया है पर शर्त यह है कि ये संगठन तथा समझौते संघ के सिद्धान्तों से मेल खाते हों और केवल विश्व शान्ति और सुरक्षा के लिए हों। अध्याय 12 अन्तर्राष्ट्रीय न्यास परिषद से सम्बन्ध रखता है और इसमें 75 से 85 तक की धाराएँ आती

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों के अ[illegible] रिप[illegible] यें निम्नलिखित हैं :—

(i) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य (Elective Functions) सदस्यों की सर्व सम्मति एवं परिषद का 2/3 [illegible] नये सदस्[illegible] आवश्यक होता है। यदि एक भी स्थायी [illegible] तो [illegible] सकता है।

(ii) नियुक्तियाँ (Appointme[illegible] महासचिव की नियुक्त करती है। अन्तर्राष्ट्री[illegible] परिषद महासभा से मिलकर करती है।

(iii) विचार-विमर्श (Deliberatio[illegible] सम्मिलित हैं।

(iv) बाध्यकारी कार्यवाही (Enforcem[illegible] नहीं है। यह चार्टर के विरुद्ध कार्य करने वाले रा[illegible] है और उसे चार्टर के सम्मान करने के लिए बाध्य [illegible] है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए कौन

बहुधा "संयुक्त राष्ट्र का बाध्यकारी भुजा" (Enforcement Arm of the U. N. O.) कहा जाता है।

(v) **चार्टर में संशोधन** (Amendment in the Charter)—चार्टर में संशोधन का प्रस्ताव महासभा द्वारा अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ सदस्यों के सामान्य सम्मेलन द्वारा पास किया जाता है। संशोधन के पक्ष में महासभा के कुल सदस्यों का 2 तिहाई बहुमत का होना आवश्यक है जिसमें सुरक्षा परिषद के पाँचों स्थायी सदस्य भी सम्मिलित हों।

निषेधाधिकार की समस्या
(Problem of Veto Power)

चार्टर की धारा 27 में सुरक्षा परिषद के मतदान प्रणाली का उल्लेख किया गया है। सुरक्षा परिषद प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों में—जैसे परिषद की बैठक का स्थान, समय आदि का निर्णय, इसके सहायक अंगों की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम तथा सदस्यों को बैठक में सम्मिलित होने के लिए *निमन्त्रित करना आदि—सामान्य बहुमत (7/11 अथवा 9/12) से निर्णय कर सकती* है। परन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों में बहुमत में पाचों स्थायी सदस्यों का सम्मिलित होना अनिवार्य है। इन पाँचों स्थायी सदस्यों में से कोई भी सदस्य यदि बहुमत के निर्णय के विरुद्ध अपना मत देता है तो यह विषय अस्वीकृत समझा जायगा। यही निषेधाधिकार (Veto) कहलाता है।

लियोनार्ड (Leonard) के मतानुसार "संयुक्त राष्ट्र के किसी भी प्रश्न ने इतना व्यापक ध्यान आकर्षित नहीं किया है जितना कि सुरक्षा परिषद की मतदान व्यवस्था ने, जिसे चालू भाषा में निषेधाधिकार कहा जाता है।"

निषेधाधिकार का अर्थ (Meaning of Veto Power)—सुरक्षा परिषद के पांच *स्थायी सदस्य हैं—इंगलैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, चीन एवं रूस। ये पाँचो सदस्य निषेधाधिकार का* प्रयोग करने के अधिकारी हैं। निषेधाधिकार का अर्थ है कि इन पाँचों में से कोई सदस्य यदि किसी प्रस्ताव के विरुद्ध है तो अपने निषेधाधिकार से सुरक्षा परिषद के बहुमत के निर्णय को रद्द करने का अधिकार *रखता है। यह विशेषाधिकार ही "वीटो शक्ति" (Veto Power) कहलाती है।*

निषेधाधिकार की आवश्यकता (Need of Veto Power)—निषेधाधिकार की समस्या एक अत्यन्त विवादास्पद, क्लिष्ट एवं अनोखी समस्या है। गुडरिच एवं हैम्ब्रो ने इसे सबसे अधिक 'विवादास्पद समस्या" बताया है। वेण्डनबोस तथा होगन ने लिखा है कि "सुरक्षा परिषद में मतदान-प्रक्रिया के प्रश्न ने इतनी गम्भीर महत्ता प्राप्त करली है कि इस समस्या और उसके प्रभावों *पर सावधानी के साथ ध्यान देना आवश्यक है।"*

ई० पी० चेज का कहना है कि "सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की स्थिति अनोखी है। इससे इस परिषद की राजनीतिक समस्याओं की महत्ता का पता चलता है। सुरक्षा परिषद की मतदान व्यवस्था इसका सबसे बड़ा अद्भुत लक्षण है। निषेधाधिकार की समस्या सबसे कठिन प्रश्न है।"

*प्रश्न यह उठता है कि अन्ततः संयुक्त राष्ट्र संघ ने 5 महाशक्तियों को यह निषेधा*धिकार क्यों प्रदान किया जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन समानता के आधार पर किया गया था। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि राष्ट्र संघ बिना महाशक्तियों के असफल हो चुका था और पाँचों शक्तियाँ प्रारम्भ से अपनी विशिष्टता बनाये रखने का प्रयत्न कर रही थी। यदि यह अधिकार न दिया जाता तो शायद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ही न होती जैसाकि न्यूजीलैण्ड के *प्रतिनिधि ने इस समस्या का वर्णन करते हुए लिखा है कि "पाँच महाशक्तियों ने सैनफ्रांसिस्को में* निषेधाधिकार पर जोर दिया"......"अन्य शक्तियों को विवश होकर उसे स्वीकार करना पड़ा। फिलिप्पाइन के प्रतिनिधि ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि "हमारे सामने एक ही विकल्प था—या

जिम्मेदारी के अन्तर्गत अपने कर्तव्यों को पूरा करने में सुरक्षा परिषद उनकी ओर से कार्य करती है।" इस प्रकार सुरक्षा परिषद का मुख्य उत्तरदायित्व विश्व में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना है। विश्व की कोई घटना एवं विवाद जिससे विश्वशान्ति को भंग होने का भय हो, सुरक्षा परिषद के विचार करने के क्षेत्र में आता है। वह किसी भी ऐसी घटना की जाँच-पड़ताल कर सकती है, जो विश्व-शान्ति को भंग कर देने की सम्भावना रखती है।

धारा 25 में कहा गया है कि 'संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य मानते हैं कि वे वर्तमान चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद के निर्णयों को मानेंगे और उन पर अमल करेंगे।" इस प्रकार सुरक्षा परिषद के निर्णयों को मानने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य वचनबद्ध हैं।

चार्टर के अध्याय 6, 7, 8 और 12 में सुरक्षा परिषद के कार्य एवं शक्तियाँ वर्णित हैं। अध्याय 7 विवादों के शान्तिपूर्ण हल के सम्बन्ध में परिषद के अधिकार दिये गये हैं। इसके अन्तर्गत 33 से 38 तक धाराएं आती हैं। अध्याय 7 की 39 से 51 तक की धाराएं सुरक्षा परिषद को यह अधिकार देती हैं कि वह विश्व-शान्ति को खतरे में डालने वाली, शान्ति भंग और आक्रमण की स्थितियों को पैदा करने वाली घटनाओं के नियन्त्रण के लिए जल, थल और नभ सेना का प्रयोग कर सकती है। धारा 43 में उल्लेख आया है कि संघ का प्रत्येक राष्ट्र, वचनबद्ध है कि आवश्यकता पड़ने पर वह सुरक्षा परिषद की पूरी सहायता करेगा और अपनी जल, थल एवं नभ सेना उसको समर्पित करेगा। 37वीं धारा के अनुसार यह सुरक्षा परिषद की सैनिक स्टाफ समिति उसे निम्न विषयों पर परामर्श देगी—"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने की सैनिक आवश्यकताएँ, इस समिति के अधीन सेनाओं का प्रयोग तथा कमान, शस्त्रों का नियन्त्रण, सम्भावित निःशस्त्रीकरण आदि। 50वीं धारा के अनुसार समस्त राष्ट्र सामूहिक रूप से सुरक्षा परिषद की कार्यवाही में सहयोग देंगे।

अध्याय 8 प्रादेशिक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत 52 से 54 तक धाराएँ आती हैं। 52वीं धारा में सदस्य राष्ट्रों को प्रादेशिक व्यवस्थाएँ, संगठन तथा समझौते करने का अधिकार प्रदान किया गया है पर शर्त यह है कि ये संगठन तथा समझौते संघ के सिद्धान्तों से मेल खाते हों और केवल विश्व शान्ति और सुरक्षा के लिए हों। अध्याय 12 अन्तर्राष्ट्रीय न्यास परिषद से सम्बन्ध रखता है और इसमें 75 से 85 तक की धाराएँ आती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त सुरक्षा परिषद के अन्य कार्य निम्नलिखित हैं :—

(i) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य (Elective Functions)—सुरक्षा परिषद के पाँचों स्थायी सदस्यों की सर्व सम्मति एवं परिषद का 2/3 का बहुमत नये सदस्य को संघ में प्रवेश देने के लिए आवश्यक होता है। यदि एक भी स्थायी सदस्य के विरुद्ध है तो कोई भी नया सदस्य नहीं बन सकता है।

(ii) नियुक्तियाँ (Appointments)—सुरक्षा परिषद की सिफारिश से महासभा महासचिव को नियुक्त करती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी सुरक्षा परिषद महासभा से मिलकर करती है।

(iii) विचार-विमर्श (Deliberation)—इसमें वाद-विवाद, अन्वेषण तथा सिफारिशें सम्मिलित हैं।

(iv) बाध्यकारी कार्यवाही (Enforcement)—संयुक्त राष्ट्र संघ के समान दुर्बल संस्था नहीं है। यह चार्टर के विरुद्ध कार्य करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रयोग कर सकता है और उसे चार्टर के सम्मान करने के लिए बाध्य कर सकती है। परिषद यह निश्चित कर लेती है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए कौनसे उपाय अपनाये। इसी कारण परिषद की

बहुधा "संयुक्त राष्ट्र का बाध्यकारी भुजा" (Enforcement Arm of the U. N. O.) कहा जाता है।

(v) **चार्टर में संशोधन** (Amendment in the Charter)—चार्टर में संशोधन का प्रस्ताव महासभा द्वारा अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ सदस्यों के सामान्य सम्मेलन द्वारा पास किया जाता है। संशोधन के पक्ष में महासभा के कुल सदस्यों का 2 तिहाई बहुमत का होना आवश्यक है जिसमे सुरक्षा परिषद के पाँचों स्थायी सदस्य भी सम्मिलित हों।

निषेधाधिकार की समस्या
(Problem of Veto Power)

चार्टर की धारा 27 में सुरक्षा परिषद के मतदान प्रणाली का उल्लेख किया गया है। सुरक्षा परिषद प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों में—जैसे परिषद की बैठक का स्थान, समय आदि का निर्णय, इसके सहायक अंगों की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम तथा सदस्यों को बैठक मे सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित करना आदि—सामान्य बहुमत (7/11 अथवा 9/12) से निर्णय कर सकती है। परन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों में बहुमत में पांचों स्थायी सदस्यों का सम्मिलित होना अनिवार्य है। इन पाँचों स्थायी सदस्यों में से कोई भी सदस्य यदि बहुमत के निर्णय के विरुद्ध अपना मत देता है तो यह विषय अस्वीकृत समझा जायगा। यही निषेधाधिकार (Veto) कहलाता है।

लियोनार्ड (Leonard) के मतानुसार "संयुक्त राष्ट्र के किसी भी प्रश्न ने इतना व्यापक ध्यान आकर्षित नहीं किया है जितना कि सुरक्षा परिषद की मतदान व्यवस्था ने, जिसे चालू भाषा मे निषेधाधिकार कहा जाता है।"

निषेधाधिकार का अर्थ (Meaning of Veto Power)—सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सदस्य हैं—इंगलैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, चीन एवं रूस। ये पाँचों सदस्य निषेधाधिकार का प्रयोग करने के अधिकारी हैं। निषेधाधिकार का अर्थ है कि इन पाँचों में से कोई सदस्य यदि किसी प्रस्ताव के विरुद्ध है तो अपने निषेधाधिकार से सुरक्षा परिषद के बहुमत के निर्णय को रद्द करने का अधिकार रखता है। यह विशेषाधिकार ही "वीटो शक्ति" (Veto Power) कहलाती है।

निषेधाधिकार की आवश्यकता (Need of Veto Power)—निषेधाधिकार की समस्या एक अत्यन्त विवादास्पद, क्लिष्ट एवं अनोखी समस्या है। गुडरिच एवं हैम्ब्रो ने इसे सबसे अधिक 'विवादास्पद समस्या" बताया है। वेण्डनबोस तथा होगन ने लिखा है कि "सुरक्षा परिषद मे मतदान-प्रक्रिया के प्रश्न ने इतनी गम्भीर महत्ता प्राप्त करली है कि इस समस्या और उसके प्रभावों पर सावधानी के साथ ध्यान देना आवश्यक है।"

ई० पी० चेज का कहना है कि "सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की स्थिति अनोखी है। इससे इस परिषद की राजनीतिक समस्याओं की महत्ता का पता चलता है। सुरक्षा परिषद की मतदान व्यवस्था इसका सबसे बड़ा अद्भुत लक्षण है। निषेधाधिकार की समस्या सबसे कठिन प्रश्न है।"

प्रश्न यह उठता है कि अन्ततः संयुक्त राष्ट्र संघ ने 5 महाशक्तियों को यह निषेधाधिकार क्यों प्रदान किया जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन समानता के आधार पर किया गया था। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि राष्ट्र संघ बिना महाशक्तियों के असफल हो चुका था और पाँचों शक्तियाँ प्रारम्भ से अपनी विशिष्टता बनाये रखने का प्रयत्न कर रही थी। यदि यह अधिकार न दिया जाता तो शायद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ही न होती जैसाकि न्यूजीलैण्ड के प्रतिनिधि ने इस समस्या का वर्णन करते हुए लिखा है कि "पाँच महाशक्तियों ने सैनफ्रांसिस्को में निषेधाधिकार पर जोर दिया""""अन्य शक्तियों को विवश होकर उसे स्वीकार करना पड़ा। फिलिप्पाइन के प्रतिनिधि ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि "हमारे सामने एक ही विकल्प था—या

हम चार्टर को निपेधाधिकार सहित स्वीकार करें या फिर चार्टर ही न स्वीकार किया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि हमें निपेधाधिकार सहित ही चार्टर को स्वीकार करना पड़ा।"

5 महान राष्ट्रों की जिद् को छोटे राष्ट्रों को मानना पड़ा। यदि वे इस अधिकार को न मानते तो संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी शान्ति एवं सुरक्षा की संरक्षक संस्था न बनती। वास्तव में निपेधाधिकार छोटे राज्यों पर जबरन थोपा गया।

निपेधाधिकार के पक्ष में तर्क—संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण की प्रक्रिया तो द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही प्रारम्भ हो गई थी। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर तीन महान शक्तियों—इगलैण्ड, अमेरिका एव रूस द्वारा युद्ध समाप्त होने से पूर्व ही बन चुका था। संयुक्त राष्ट्र सघ मे सम्मिलित होने के लिए रूस और अमेरिका इसी बात पर सहमत हुए थे कि उनके सघ मे विशेषाधिकार प्राप्त हो। निपेधाधिकार सम्बन्धी उपबन्धों का प्रस्ताव जाल्टा सम्मेलन (4 से 11 फरवरी 1945) मे अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने रखा था। रूस के प्रधानमन्त्री स्टालिन एव इगलैण्ड के प्रधानमंत्री चर्चिल ने इसका जोरदार समर्थन किया था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट का कहना था कि सयुक्त राष्ट्र सघ को तभी सफलता मिल सकती है जब उसे बड़ी शक्तियों का सहयोग मिले। उन्होने कहा था कि अमेरिका किसी ऐसे विश्व संगठन में सम्मिलित नहीं हो सकता जिसमें अन्य राष्ट्र केवल बहुमत से बड़ी शक्तियों को अपने किये गये निर्णय को मानने के लिए बाध्य कर दें। रूस भी यही चाहता था कि उस पर सयुक्त राष्ट्र सघ का बाध्यकारी दबाव न रहे। अत. दोनों ने निश्चय कर लिया था कि वे सयुक्त राष्ट्र सघ मे तभी रहेंगे जब उन्हे निपेधाधिकार प्राप्त होगा। यह बात 50 राष्ट्रों के सम्मेलन में भी रखी गई। अन्य राष्ट्रों ने यह शर्त मान ली, क्योंकि इन महाशक्तियों के बिना सयुक्त राष्ट्र सघ के सफल होने की कोई आशा न थी।

संयुक्त राज्य अमेरिका यद्यपि निपेधाधिकार का प्रस्तावक था पर वह इसके प्रयोग को सीमित रखना चाहता था। उसका कहना था कि केवल नये सदस्यों के प्रवेश के प्रश्न पर तथा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो के निपटाने के प्रश्न पर ही इसका प्रयोग किया जाय परन्तु रूस इसके लिए तैयार न था। वह तो निपेधाधिकार के प्रयोग को असीमित रखना चाहता था। उसका विश्वास था कि तत्कालीन मित्रता केवल जर्मनी जैसी महाशक्तियो को हराने के लिए की गई है, वह कभी स्थायी न होगी क्योकि उसका पश्चिमी शक्तियों से सैद्धान्तिक मतभेद इतना अधिक है कि दोनों के मध्य समन्वय होना असम्भव है।

उपर्युक्त विवेचन के बाद हम निपेधाधिकार के पक्ष में कुछ तर्क रखते हैं :

(1) निपेधाधिकार अनिवार्य था। सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था उसके बिना सम्भव न थी क्योकि उसके बिना महाशक्तियाँ कभी सहयोग न देतीं और संयुक्त राष्ट्र सघ का वही हाल होता जो राष्ट्र संघ का हुआ। विशिन्सकी (Vysobinsky) ने ठीक ही लिखा है कि "निपेधाधिकार की शक्ति समाप्त करने का अर्थ है सयुक्त राष्ट्र सघ का अन्त, क्योंकि किसी भी महाशक्ति के विरुद्ध बल प्रयोग का अर्थ है, युद्ध का निश्चित निमन्त्रण।"

(2) यह कहना कि निपेधाधिकार से सुरक्षा परिपद के कार्यों मे गतिरोध उत्पन्न हो जाता है पर वास्तविकता यह है कि निपेधाधिकार के प्रयोग से दुष्परिणाम होता है तो तिल का ताड़ बनाकर दिखाया जाता है। निपेधाधिकार के कुछ कार्यों मे विलम्ब अवश्य हुआ पर उससे विश्वशान्ति को कोई खतरा नही बढ़ा। श्लीचर (Scheliecher) का मत है कि प्रथम 6 वर्षों मे जितनी बार निपेधाधिकार का प्रयोग हुआ उनमें आधे मामले तो सदस्यता सम्बन्धी थे, शेप शान्ति-पूर्ण निबटारे से सम्बन्ध रखते थे।

(2) निपेधाधिकार प्रणाली दोषपूर्ण है पर क्या सुरक्षा परिपद में राष्ट्र संघ की सर्व

सम्मति की प्रणाली होती ? राष्ट्र संघ में तो सभी सदस्यों को निषेधाधिकार शक्ति प्राप्त थी जब कि सुरक्षा परिषद में केवल 5 ही राष्ट्रों को यह शक्ति प्रदान की गयी है।

(4) श्लेशर (Scheliecher) लिखते हैं कि निषेधाधिकार महाशक्तियों के आपसी मतभेद *का कारण नहीं, परिणाम है। अतः यदि निषेधाधिकार को समाप्त भी कर दिया जाये तो* राष्ट्र के मध्य मतभेद दूर न हो सकेंगे। इतना ही नहीं विश्व मे अराजकता फैलने का खतरा पैदा हो जायगा।

निषेधाधिकार के विपक्ष में तर्क—निषेधाधिकार की विद्वानों ने कड़ी आलोचना की है। केल्सन (Kelson) का कहना है कि "निषेधाधिकार के सयुक्त राष्ट्र संघ मे पाँच स्थायी सदस्यों को विशेषाधिकार प्राप्त हो गये हैं और इस प्रकार अन्य सदस्यो पर उनकी कानूनी प्रभुता की समानता के मूल सिद्धान्त को विरोधी है। इससे स० रा० सघ में गतिरोध उत्पन्न हुआ है। अतः इसका अन्त कर देना चाहिए।" पामर और पार्किन्स (Palmer and Parkins) के मतानुसार, "किसी भी बात ने संयुक्त राष्ट्र में लोक-विश्वास को कम करने में उतना योग नहीं दिया है, जितना कि सुरक्षा परिषद मे निषेधाधिकार के बार-बार उपयोग एवं दुरुपयोग ने।"[1] गुडरिच और हैम्ब्रो के शब्दों मे 'निषेधाधिकार सम्बन्धी विवादों ने शान्ति-सन्धियों के कार्य को विलम्बित किया है और विश्व के युद्ध-ध्वस्त क्षेत्रों के पुनर्निर्माण कार्य को रोक दिया है।" 1946 मे फिलिपाइन्स के प्रतिनिधि ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "निषेधाधिकार एक फ्रेन्कन्सटीन है ... यह सयुक्त राष्ट्र संघ मे सभी व्यावहारिक कार्यवाहियों को रोक देता है.........अतः यह समस्त मानव जाति के भाग को खतरे में डालता है।"[2]

निषेधाधिकार के विरुद्ध 4 तर्क मुख्य रूप से प्रस्तुत किये जाते हैं :

(1) यह कहा जाता है कि निषेधाधिकार के कारण ही सुरक्षा परिषद शान्ति एव सुरक्षा की व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो गई है। सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवाद शान्तिपूर्वक हल नहीं किये जा सकते, कभी-कभी बल-प्रयोग आवश्यक हो जाता है पर निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद ऐसा नहीं कर पाती।" त्रिग्वे ली (Trygve Lie) के मतानुसार, "सयुक्त राष्ट्र निषेधाधिकार के कारण नपुंसक है। यह महाशक्तियों के संघर्ष द्वारा पक्षपातग्रस्त कर दिया गया है।"

(2) निषेधाधिकार राष्ट्रों के कानूनी समानता के मौलिक सिद्धान्त का उल्लंघन करता है। इस सम्बन्ध में केल्सन के विचार ऊपर दिये जा चुके हैं।

(3) निषेधाधिकार राष्ट्रों में सघर्ष एवं गुटबन्दी की भावना पैदा करता है। छोटे राष्ट्र महाशक्तियों की कृपा पाने के लिये उनके पिछलग्गू बन गये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रूस और अमेरिका दो गुट सफल हो गए है।

(3) निषेधाधिकार सुरक्षा परिषद में गतिरोध उत्पन्न करता है। फलतः राज्यों का सयुक्त राष्ट्र मे विश्वास डगमगा गया है। उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए अपने क्षेत्रीय सगठन बना लिए है। उदाहरण के लिए, सीटो (SEATO), नाटो (NATO), वार्सापैक्ट (Warsaw Pact) आदि।

---

1 "Nothing has done more to lessor public confidence in the United Nations than a frequent use or disabuse of the veto in the Security Council."
—*Palmer and Parkins*

2 "The Veto is a Frakenstein......It prevents all practical results in the United Nations......it, therefore, endangers the fate of all mankind."
—*General Assembly Journal Nov. 6*

शान्ति भंग तथा आक्रमण की रोकथाम के लिए तथा सैनिक कार्यवाही के लिए निषेधाधिकार की व्यवस्था आवश्यक है। अन्य मामलो में भले ही इसका प्रयोग प्रतिबन्धित कर दिया जाय। 1947 में संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि ने ठीक ही कहा था कि "अन्ततोगत्वा स्थायी सदस्यों द्वारा सर्व सम्मति से स्वीकृत महत्त्वपूर्ण निर्णयों से उन निर्णयों की अपेक्षा अधिक अच्छे परिणाम निकलने की सम्भावना रहती है जिनके सम्बन्ध में स्थायी सदस्य विभाजित हों।" जैसप (Dr. Jessup) के मतानुसार "यह वह सुरक्षा वाल्व है जो संयुक्त राष्ट्र को राजनैतिक क्षेत्र में ऐसे उत्तरदायित्वों को लेने से रोकता है जिन्हें पूरा करने की शक्ति उसके पास नहीं है।[1] जान मैक्लाविन (John MacIlawin) का कथन है कि "यह सत्य है कि निषेधाधिकार के प्रत्येक प्रयोग का अर्थ सं० रा० की असफलता है, परन्तु दोष संयुक्त राष्ट्र की मशीनरी का नहीं है और न ही निषेधाधिकार समाप्त कर देने से ही कठिनाई का हल हो जायगा।"

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद
(Social and Economic Council)

विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के लिए आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से मानवमात्र की भलाई का लक्ष्य भी बहुत आवश्यक है। स० रा० संघ के चार्टर में यह स्वीकार किया गया कि संसार को शान्ति बनाये रखने के साथ-साथ संयुक्त राष्ट्र संघ का यह भी उत्तरदायित्व है कि वह मनुष्य-मात्र की सामाजिक व आर्थिक भलाई के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने महासभा के अधिकार में आर्थिक तथा सामाजिक परिषद की स्थापना की है।

फैनविक का कहना है कि "महासभा के अधीनस्थ एवं उसके कुछ कार्यों को उसके प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने वाली संस्था आर्थिक परिषद एवं सामाजिक परिषद ही है।" इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग यह "आर्थिक एवं सामाजिक परिषद ही है।" सं० रा० संघ के दसवें अध्याय में 61 से 72 तक की धाराओं में इस परिषद की व्यवस्था दी गई है।

संगठन (Organisation)—सर्व प्रथम सामाजिक एवं आर्थिक परिषद के सदस्यों के चुनाव महासभा द्वारा 10 जनवरी 1946 को सम्पन्न हुए। उस समय उसके 18 सदस्य थे। इन को तीन वर्ष के लिए चुना जाता है पर इन सदस्यों के $\frac{1}{3}$ सदस्य प्रतिवर्ष अवकाश लेते है और नके स्थान पर दूसरे सदस्य चुने जाते हैं। महासभा के 18वें अधिवेशन (1963) में एक संशोधन र इस परिषद के सदस्यों की संख्या 18 से बढ़ाकर 27 कर दी गई। इस संशोधन को 1966 लागू किया गया। चुनाव पद्धति वही रही अर्थात् पहले 6 सदस्य प्रतिवर्ष चुने जाते थे, 1966 म 9 सदस्य चुने जाने लगे। इन सदस्यों को पुनः चुना जा सकता था। किसी प्रकार का किसी राज्य को सुरक्षित स्थान न मिला और न ही किसी को निषेधाधिकार। पर कुछ ऐसी परम्परा सी पड़ गई है कि 5 महाशक्तियाँ इसकी स्थायी सदस्य होती है। उल्लिखित परम्परा की कुछ विद्वानों ने कड़ी आलोचना की है। इस परम्परा के इस परिषद का रूप अधिस्थायी बन गया है।

1966 से इस परिषद के सदस्यो का विभाजन भौगोलिक आधार पर होने लगा। एशिया, अफ्रीका के देशो से—12, दक्षिणी अमेरिका से—5, पश्चिमी यूरोप से—4, पूर्वी यूरोप से—2, चीन के अतिरिक्त स्थायी सदस्य—4।

मतदान, कार्य विधि एवं अधिवेशन (Voting, Procedure and Session)—प्रत्येक सदस्य अपने राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है। प्रत्येक को एक मत देने का अधिकार

[1] "It is the safety valve that prevents the U. N. from undertaking commitments in the political field which it presently lacks the power to fulfil.
—*Dr. Jessup*

होता है। अधिकांशतः से निर्णय परिषद स्पष्ट बहुमत से करती है। परिषद किसी भी राष्ट्र के प्रतिनिधि को जो परिषद का सदस्य नहीं, किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रतिनिधि को, परामर्श देने के लिए आमन्त्रित कर सकती है। पर आमन्त्रित प्रतिनिधि को मत देने का अधिकार नही होता है। सामाजिक एवं आर्थिक परिषद के अधिवेशन वर्ष मे कम से कम दो बार होते हैं जो प्रायः अप्रैल और जुलाई में क्रमशः न्यूयार्क एव जेनेवा में हाते हैं। बहुमत से सदस्यगण परिषद का विशेष अधिवेशन भी बुला सकते है।

परिषद का स्वरूप और उद्देश्य (Nature and Objects of the Council)—संयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर मे आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के कार्यों के सम्बन्ध मे जो चर्चा की गयी है, "वह अस्पष्ट पुनरावृत्तिपूर्ण एव विशेष महत्त्वपूर्ण नही।" निकोलस ने इसीलिए लिखा है कि "आर्थिक और सामाजिक परिषद की धारणा आरम्भ से ही कुछ मलिन रही है।"[1] जिन उद्देश्यों को ध्यान मे रखकर इस परिषद का निर्माण हुआ, उन्हें पूर्ण करने के लिए कुछ विशिष्ट अभिकरण (Specialised Agencies) पहले ही से विद्यमान थीं। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद को इन विशिष्ट अभिकरणों के द्वारा उन सभी विषयों का पूरा करना असम्भव था, जो सघ के दायरे में आते थे। वास्तव मे इस परिषद को वही कार्य सौंपे गये, जो इन अभिकरणों से बचे थे साथ ही कुछ राजनीतिक कार्य भी इसे सौंपे गये। उदाहरणों के लिए 'मानवीय अधिकारों को प्रोत्साहन" (Promotion of the Human Rights)। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के इस स्वरूप का वर्णन करते हुए डा० लवडे ने लिखा है कि "इस प्रकार इसे दोनों ही प्रकार से आघात लगा कि यह सहयोगी भी और सहयोग का एक अश भी है।"[2]

निकोलस ने लिखा है कि "आर्थिक तथा सामाजिक परिषद की यह दोहरी प्रकृति—'विशिष्ट अभिकरण' के अंश की तथा 'उच्चतर अभिकरण' के अश की है इसे इसके और महासभा के मध्य सन्तोषजनक सम्बन्ध की स्थापना मे कठिनाई अनुभव करनी पड़ी है।"[3]

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद का मुख्य उद्देश्य है—"विश्व को अभाव से मुक्ति दिलाना।" जिस प्रकार सुरक्षा परिषद का मौलिक उद्देश्य है "विश्व को युद्ध की विभीषिका से मुक्त करना, उसी प्रकार आर्थिक तथा सामाजिक परिषद का प्रधान लक्ष्य है विश्व को दरिद्रता तथा अभाव के दानवों से बचाना।" चार्टर की 55वीं धारा में परिषद के निम्नलिखित उद्देश्य बताये गये हैं :—

(i) रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना है, सबको काम दिलाना, आर्थिक और सामाजिक उन्नति तथा विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य तथा तत्सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना तथा संस्कृति एवं शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मे वृद्धि करना।

(iii) जाति, लिंग, भाषा, धर्म का भेदभाव किये बिना सबके लिए मानव अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सर्वत्र सम्मान पैदा करना और उनका पालन कराना।"

---

1 "Thus from the beginnig the Economic and *Social Council* was blurred in conception." —*Nicolos*

2 "Thus it suffered from having to be both coordinator and part of the coordinated." —*Dr. Loveday*

3 "This dual nature of ECOSOC, part 'Specialist Agency', part 'Super Agency', has made it much more difficult to establish a satisfactory relationship between it and the General Assembly."

आर्थिक व सामाजिक परिषद के अंग
(Organs of Economic and Social Council)

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद अपने कार्य सम्पादन के लिए विभिन्न प्रकार के आयोगों एवं समितियों का निर्माण करती है। परिषद के दो प्रकार के आयोग स्थापित किये हैं—कार्यात्मक एव क्षेत्रीय।

(अ) कार्यात्मक आयोग (Functional Commission)—इस समय सामाजिक एवं आर्थिक परिषद के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यात्मक आयोग काम कर रहे हैं :—

(1) सांख्यिकी आयोग (Statistical Commission)—आयोग राष्ट्रीय आंकड़ों के विकास तथा वृद्धि करने में परिषद को सहायता देता है। इसके सदस्यों की संख्या 15 है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आयोग (Commission on International Community Trade)—यह विश्व की सभी प्रमुख वस्तुओं का अध्ययन करता है और विकसित देशों को निर्यात के द्वारा जो अधिक लाभ होता है उसे कम करने के सम्भव तरीके खोजता है। इसके 18 सदस्य होते हैं।

(3) जनसंख्या आयोग (The Population Commission)—प्रत्येक राष्ट्र जनसंख्या के सम्बन्ध में किस प्रकार के राष्ट्रीय निर्णय ले, इसके लिए यह आयोग उन्हें आधार प्रदान करता है। इसके सदस्यों की संख्या 15 होती है।

(4) सामाजिक आयोग (The Social Commission)—यह आयोग सामाजिक नीतियों से सम्बन्धित होता है। इसका उद्देश्य सामाजिक प्रगति को प्रोत्साहन देना तथा सामाजिक क्षेत्र में ऐसे मानदण्डों की सिफारिश करना है, जिनकी अत्यधिक आवश्यकता है। इसके सदस्य 15 होते हैं।

(५) मानव अधिकार आयोग (The Commission on Human Rights)—इसका उद्देश्य मानव अधिकारों के प्रति अत्यधिक आदर की भावना उत्पन्न करना है, जिससे वह विभिन्न देशों की अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करता है। वह नागरिक स्वतन्त्राएँ, अल्पसंख्यकों का संरक्षण, जाति, लिंग, भाषा, धर्म आदि के आधार पर किये जाने वाले भेद-भावों को दूर करने का प्रयास करता है इसके सदस्यों की संख्या 18 होती है।

(6) स्त्रियों के लिए सामाजिक स्तर आयोग (The Commission on the Social Status of Women)—यह आयोग स्त्रियों को पुरुषों के समान राजनीति, आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार दिलाने में परिषद की सहायता करता है। इसके सदस्यों की संख्या 18 होती है।

(7) नशीले द्रव्य सम्बन्धी आयोग (The Commission on Narcotic Drugs)—इस आयोग का उद्देश्य सदस्य-राष्ट्रों की सरकारों को इस बात के लिए सिफारिशें प्रस्तुत करना है कि वे नशीली वस्तुओं से दवा इत्यादि के निर्माण पर रोक लगावें। इसके सदस्यों की संख्या 15 होती है।

(8) यातायात तथा संचार आयोग (The Commission on Transport and Communication)—इस आयोग का उद्देश्य राष्ट्रों के यातायात एवं संचार साधनों का विकास करना होता है। इसकी सदस्य संख्या 15 होती है।

(ब) क्षेत्रीय आयोग (Regional Commissions)—ये आयोग विभिन्न देशों की आर्थिक समस्याओं के समाधान मे सहायता पहुँचाते है। ये आयोग अपने-अपने क्षेत्र की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते हैं और सरकारों से सम्बन्धित विषयों में कार्य करने के लिए सिफारिशें प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए—विद्युत शक्ति, आन्तरिक यातायात, व्यापारिक, वृद्धि, कोयला, खनिज पदार्थ तथा जल-स्रोतों का सदुपयोग। क्षेत्रीय आयोग अग्रलिखित हैं :—

(1) यूरोप के लिये आर्थिक आयोग (Economic Commission for Europe—ECE)—इसकी स्थापना 1947 में हुई। इसका कार्यालय जेनेवा में है और सदस्य संख्या 18 है।

(2) एशिया तथा सुदूर पूर्व के लिए आर्थिक आयोग (Economic Commission for Asia and Far East—ECAFE)—इसकी स्थापना 1947 में हुई, इसका कार्यालय बेंकाक (Bangkok) में है और सदस्य संख्या 14 एवं 11 साथी सदस्य हैं।

(3) लेटिन अमेरिका के लिए आर्थिक आयोग (Economic Commission for Latin America)—इस आयोग की स्थापना 1948 में हुई थी। इसका कार्यालय सेन्टियागो (Santiyago)। इसमें 24 सदस्य और 4 तदर्थ (Ad hoc) समितियाँ हैं।

(4) अफ्रीका के लिए आर्थिक आयोग (Economic Commission for Africa)—यह आयोग 1948 में स्थापित हुआ, इसके सदस्य 15 एवं सहायक सदस्य 8 हैं।

इन आयोग के द्वारा सिफारिशें प्रस्तुत की जाती हैं। सम्बन्धित क्षेत्रों के राष्ट्र इसके सदस्य होते हैं। यदि वे संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं होते तो उनका चुनाव साथी सदस्यों (Associate Members) के रूप मे किया जाता है। प्रादेशिक आयोग अपनी क्षेत्रीय सरकारों से सीधे पत्र-व्यवहार कर सकते और उन्हें अपनी सिफारिशें भेज सकते हैं। ये आयोग नियम से मिलते हैं। इनके स्थायी सचिव होते है। वे आयोग अपनी रिपोर्ट आर्थिक एव सामाजिक परिषद के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। इनके विषय मे निकोलस लिखता है कि "उनकी समस्याएँ मुख्य रूप से वास्तविक होती है, प्रचारात्मक नहीं; उनका अध्ययन एव सिफारिशें क्षेत्र की आवश्यकता के अनुसार होती है।"[1]

परिषद की स्थायी समितियाँ (Special Standing Committees of the Council)—उपयुक्त आयोगों के अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक परिषद की कुछ विशिष्ट स्थायी समितियाँ भी होती हैं जो निम्नलिखित हैं :—

(i) प्राविधिक सहायक समिति (Technical Assistance Committee)—इसके 22 सदस्य होते हैं।

(ii) अन्तःशासकीय अभिकरण वार्ता समिति (Interim Governmental Agency Negotiation Committee)—इसके 12 सदस्य होते हैं।

(iii) अशासकीय संगठन समिति (Committee on Non-governments Organisations)—इसके 7 सदस्य होते हैं।

(iv) अन्तरिम समिति (Interim Committee)—इसके 5 सदस्य होते है।

(v) अन्तरिम समिति सम्मेलन के कार्यक्रम पर (*Interim Committee on Programme of Conferences*)।

(vi) औद्योगिक विकास के लिए समिति (Committee for Industrial Development)।

(vii) मकान, भवन तथा योजना समिति (Committee for Housing, Building and Planning)।

(viii) विज्ञान एवं तकनीकी एवं विकास पर सलाहकार समिति (Advisory Committee on Application of Science and *Technology* and *Development*)।

(ix) तदर्थ समितियाँ (Ad hoc Committee)—यह समितियाँ आवश्यकतानुसार जटिल होती रहती है।

---

[1] "Their problems have in the main been real, not propogandistic, their studies and recommendation rooted in the need of their area." —*Nicolos*

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद के कार्य
(Functions of Economic and Social Council)

ई० पी० चेज (E. P. Chase) ने अपनी पुस्तक "संयुक्त राष्ट्र क्रिया में" (The United Nations in Action) में लिखा है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों की सफलता का अनुमान इस बात से लगाया जायगा कि स्वास्थ्य और पोषणाहार के स्तर को बढ़ाने में, समुद्रों की यात्रा के लिए सुरक्षित बनाने में, मनुष्यों को हानिप्रद औषधियों से बचने में अनुभवी सहायता और सूचना के देने में एव एक स्वतन्त्र खुशहाल शिक्षित तथा अधिक एकीकृत विश्व के लिए योजना बनाने मे कहाँ तक सफल हुआ है इन सब सामाजिक और आर्थिक कार्यों का उत्तरदायित्व महासभा पर है, परन्तु यह सब कार्य आर्थिक एवं सामाजिक परिषद द्वारा किये जाते हैं।" आर्थिक एवं सामाजिक परिषद अपने कार्यों के लिए महासभा के प्रति उत्तरदायी है। वह प्रतिवर्ष अपनी रिपोर्ट महासभा में रखती है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद के कार्यों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(अ) सामान्य कार्य तथा (ब) विशिष्ट कार्य।

(अ) सामान्य कार्य (Ordinary Functions)—परिषद के सामान्य कार्यों में निम्नलिखित कार्य आते हैं :—

(i) विश्व का अधिकांश क्षेत्र अविकसित या पिछड़ा है। उसमें न कृषि कार्य ठीक प्रकार से हो जाता है और न औद्योगिक विकास ही पाया जाता है। वहाँ निर्धनता, भुखमरी, बेकारी का ताण्डव नृत्य जारी है। यह दशा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए घातक है। अतः यह आवश्यकता अनुभव की जाती है कि इन अर्द्धविकसित देशों की आर्थिक उन्नति के लिए पर्याप्त सहायता की जाय, जिससे इन देशों के लोग घोर दरिद्रता एवं भुखमरी से मुक्ति पा सकें। यह सहायता उन्हें मशीनों के रूप में दी जाय तथा अन्य उपकरणों के रूप में दी जाय जिससे कि वे वैज्ञानिक साधनों का उपयोग कर सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की ओर से एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों में विशेषज्ञ भेजे जाते हैं जो उनकी दशा का भली-भाँति अनुशीलन कर यह सिफारिश करते हैं कि उन्हें किस रूप में सहायता की आवश्यकता है।

(ii) परिषद, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन कर उनका समाधान खोजने का प्रयत्न करती है। शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य एवं वैज्ञानिक दृष्टि से पिछड़े देशों को विकसित देशों से सहायता दिलाने का प्रयत्न करती है। आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा फैलाने का समुचित प्रयत्न करती है। संक्रामक रोगों को दूर करने का प्रयत्न करती है।

(iii) विश्व के समस्त मानवों में लिंग, जाति, रंग, भाषा एवं धर्म के भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न करती है। समस्त मानवों को मानव अधिकार मौलिक स्वतन्त्रता एवं समानता प्राप्त कराने का प्रयत्न करती है।

(ब) विशिष्ट कार्य (Specialized Function)—सामाजिक एवं आर्थिक परिषद के विशिष्ट कार्य निम्नलिखित हैं :—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य आदि विषयों का अध्ययन करना तथा महासभा सदस्य राष्ट्रों एवं समितियों को परामर्श देती है।

(ii) उपयुक्त विषयों के मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाती है।

(iii) सुरक्षा परिषद की प्रार्थना पर उसे सम्बन्धित विषयों में सहायता प्रदान करती है।

(iv) न्यास क्षेत्रों के विकास में सहयोग देती है।

(v) अपने अधिकार क्षेत्रों के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर प्रतिवेदन तैयार कर महासभा के सामने प्रस्तुत करती है।

(vi) महासभा की स्वीकृति से सदस्य-राष्ट्रों के अनुरोध पर उन्हें अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करती है।

(vii) अपने कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले विषयों के समझौते का प्रारूप तैयार कर महासभा के सामने प्रस्तुत करती है।

(viii) आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों की उन्नति के लिए आयोग नियुक्त कर मानव अधिकारों को प्रोत्साहन प्रदान करती है।

डा० आशीर्वादम के शब्दों में 'यदि सुरक्षा परिषद का लक्ष्य संसार को भय से मुक्त करना तो आर्थिक एवं सामाजिक परिषद का लक्ष्य विश्व को अभावों से मुक्त करना है।"

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की सहायक संस्थाएँ
(Helping Organisations of Economic and Social Council)

अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए आर्थिक और सामाजिक परिषद ने अनेकों सहायक संस्थाएं निर्मित की हैं। इनमें कुछ सस्थाएँ निम्नलिखित हैं :—

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय बाल कल्याण निधि—संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा बाल कल्याण निधि की स्थापना 11 दिसम्बर 1946 में की गयी। यह संस्था बालकों के कल्याण हेतु विशेषकर उनके स्वास्थ्य के लिए सहायता प्रदान करती है। इस संस्था द्वारा 113 देशों में बाल-कल्याण का कार्य सफलतापूर्वक चल रहा है। इस सस्था के अन्तर्गत सेविकाओं तथा "स्वास्थ्य निरीक्षकाओं" के प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये हैं और इन्हें पिछड़े क्षेत्रों में भेजकर मानव समाज की सेवा में लगाया जाता है। इस सस्था द्वारा बच्चों को निःशुल्क दूध वितरित होता है तथा प्राकृतिक प्रकोप के समय राहत कार्य भी किया जाता है।

इस संस्था के सदस्यों की संख्या 13 है। संस्था का कार्य व्यक्तिगत तथा शासकीय स्वैच्छिक अनुदान द्वारा चलता है। इस संस्था ने अनेक देशों में सूचना समितियाँ स्थापित कर रखी हैं जो पिछड़े क्षेत्रों मे सस्था द्वारा होने वाले कार्यों की सूचना आम जनता को देती रहती है। सस्था ने बालकों की आवश्यकताओं को जानने के लिए सर्वेक्षण की भी योजना बनायी है।

(ब) प्राविधिक सहायता—आर्थिक एवं सामाजिक परिषद अविकसित देशों को [illegible] सहायता देने का कार्य भी करती है। वास्तव में उसका लक्ष्य मानव जाति को [illegible] पिछड़ेपन से मुक्ति दिलाना है। डा० जाकिर हुसैन के शब्दों में "विश्व की अधिकांश [illegible] से ग्रसित है, उसे पर्याप्त भोजन का अभाव है, वे अनेक बीमारियों के शिकार हैं। [illegible] संगठन तथा व्यवस्था आदिम पद्धति पर आधारित है। उनकी दरिद्रता [illegible] अतः समृद्ध देशों के लिए यह एक समस्या है। वस्तुतः इतिहास मे प्रथम बार [illegible] को दूर करने के लिए मानव को ज्ञान और दक्षता प्राप्त हुई है। इसलिए [illegible] औद्योगिक प्रगति के लाभों द्वारा अविकसित क्षेत्रों को प्रगतिशील बनाने की [illegible] को कार्यान्वित योजना करना चाहिए।"

"आर्थिक और सामाजिक परिषद पिछड़े देशों को [illegible] उपकरणों, यन्त्रों एवं भवनों, यातायात के साधनों, [illegible] देती है। सहायता देने के पूर्व परिषद अपने विशेषज्ञ [illegible] परामर्श के देशों को सहायता देती है। इस कार्य के लिए एक 'प्राविधिक सहायता बोर्ड' की [illegible] है। यह बोर्ड परिषद की स्थायी समिति को प्रतिवेदन देती है।"

इस बोर्ड के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव द्वारा नियुक्त एक अधिशासी सभापति तथा इस कार्य में सहायता देने वाले संगठनों, संस्थाओं या अभिकरणों के प्रमुख प्रतिनिधि होते है। किसी संस्था को आर्थिक सहायता देने के लिए पूर्व स्वीकृति की आवश्यक्ता होती है।"

(स) क्षेत्रीय आर्थिक आयोग - विश्व के अनेक पिछड़े देश आर्थिक सहायता प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं। आर्थिक और सामाजिक परिषद ने पिछड़े देशों की सहायता के लिए निम्नलिखित 4 आयोग निर्मित किये हैं :—

(i) यूरोपीय आर्थिक आयोग
(ii) एशियाई एवं सुदूर पूर्वी आर्थिक आयोग
(iii) लैटिन अमेरिकन आर्थिक आयोग
(iv) अफ्रीकन आर्थिक आयोग

(द) अन्तर्राष्ट्रीय अशासकीय संगठन — संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय अशासकीय संगठनों तथा अन्तःशासकीय सगठनों को अपने-अपने क्षेत्रों की समस्याओं का अच्छा अनुभव होता है। आर्थिक तथा सामाजिक परिषद इन संगठनों से अनुभव से लाभ उठाती है।

इन संगठनों को भी दो वर्गों मे बाँटा जाता है—(i) प्रथम प्रकार के संगठन ऐसे होते हैं जो आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के लगभग सभी कार्यों में सहयोग देते है तथा अपने क्षेत्र के आर्थिक एव सामाजिक जीवन से निकट का सम्बन्ध रखते हैं।

इनके अतिरिक्त परामर्श के लिए कुछ अन्य संगठन भी बनाये गये हैं। ये संगठन अपने प्रेक्षक परिषद की बैठकों एवं आयोगो में भेजते हैं जो मौखिक या लिखित सुझाव रखने का अधिकार रखते हैं।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय अन्तःशासकीय अभिकरण—सामाजिक एवं आर्थिक परिषद के कार्यों में सहायता देने के लिए निम्नलिखित अभिकरण होते हैं :—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति अभिकरण।
(ii) खाद्य एव कृषि सगठन।
(iii) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन।
(vi) संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन।
(v) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन।
(vi) पुनर्निर्माण एवं विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक।
(vii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष।
(viii) अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ।
(ix) विश्व स्वास्थ्य सघ।

उपर्युक्त अभिकरण मे सामंजस्य स्थापित करना आर्थिक तथा सामाजिक परिषद का काम है।

(य) मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा – आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की यह जिम्मेदारी सौंपी गयी थी कि वह मानव अधिकारों की भी रक्षा करे। आर्थिक तथा सामाजिक परिषद ने मानव अधिकारों के अध्ययन के लिए कई आयोग निर्मित किये। इन आयोगों में दासता, बेगार व्यापारिक संगठनों के अधिकारो के अध्ययन के लिए तथा भूमिहीन, राज्यहीन शरणार्थी समस्याओं का मनन किया। परिषद ने जाति-नाश को अवैध घोषित किया और इस विषय मे एक प्रस्ताव पास किया। प्रेस एवं सूचना की स्वतन्त्रता के लिए भी परिषद ने एक आयोग गठित किया।

सं० रा० संघ का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मानव अधिकारों की घोषणा है। यह घोषणा सामाजिक एवं आर्थिक परिषद द्वारा गठित आयोग की सिफारिशों पर 10 सितम्बर 1948 को की गयी थी। इस घोषणा में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक दीवानी आदि अधिकारों की विस्तृत व्याख्या दी गयी है। इन अधिकारों में अन्त.करण, धर्म, सम्पत्ति रखने, मत देने, लोकतन्त्रीय प्रतिनिधित्व प्राप्त करने, एवं दूसरे देशों के शरण का, जीविकोपार्जन का साधन पाने, सामाजिक सुरक्षा, व्यापारिक संगठन में सम्मिलित होने, शिक्षा पाने तथा विश्राम लेने आदि सम्मिलित हैं। 10 सितम्बर को "मानवीय अधिकार दिवस" मनाने का आयोजन सं० रा० संघ ने किया है।

(र) संयुक्त राष्ट्रीय विशेष विधि—सं० रा० संघ को आर्थिक काम चलाने के लिए निधि की आवश्यकता होती है, अतः एक "संयुक्त-राष्ट्र सघ" की स्थापना की। आर्थिक तथा सामाजिक परिषद से परामर्श से स० रा० संघ पिछड़े देशों को आर्थिक सहायता देता है। अब 162 योजनाएँ उसके द्वारा बनायी गयी हैं। जिन्हें 65 देशों ने क्रियान्वित करने का वादा किया है। 1961 तक 34 को 42 योजनाओं के द्वारा 41342300 डालर की राशि स्वीकृत की गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन
(International Labour Organisations)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन सं० रा० सघ का सबसे पुराना अभिकरण है। यह सभी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की अपेक्षा अधिक विशाल है। इनकी स्थापना तो 1919 मे राष्ट्र सघ की धारा 13 के अनुसार हुई थी। राष्ट्र संघ को तो असफलता प्राप्त हुई पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन सफल संगठन माना गया। आज भी यह अपना कार्य सुचारु रूप से चला रहा है। निकोलसन के शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का महत्त्व—"अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन 19.9 में स्थापित हुआ था राष्ट्र संघ के सदस्य ही उसके सदस्य थे। राष्ट्र संघ समाप्त हो गया पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आज भी पनप रहा है। राष्ट्र संघ का यह पहला संगठन था जिसमें सं० रा० अमेरिका भी सम्मिलित हुआ था। उसका प्रथम संचालक अल्बर्ट थामस था जिसके नेतृत्व में उस विश्व में श्रमिक-स्तर ऊँचा उठाया था। इसने द्वितीय विश्व युद्ध का आघात सहकर भी अपने जीवन को धारण कर रखा तथा अपने ढाँचे में मजबूत बनाये रखा।"[1]

1944 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सम्मेलन मे फिलाडेल्फिया घोषणा के अनुसार "........बिला जाति, लिग, वर्ण, के भेदभाव कि समस्त मानवों को अधिकार है कि वे अपना भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों का विकास स्वतन्त्रता, सम्मान, आर्थिक सुरक्षा तथा समान अवसर—सभी देशों में करें।"[2]

सिद्धान्त एवं उद्देश्य—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का प्रमुख उद्देश्य है—"श्रमिक का हित साधन करना।" फिलाडेल्फिया की घोषणा के अनुसार इस संगठन के निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित किये गये थे—

(1) श्रम को कोई वस्तु नहीं माना जा सकता है।

---

[1] "Established in 1919 with the same membership as the League, I. L. O. flourished as the League declined It was the only League organisation which U. S. A. would *join*. *It was given exceptional leadership by it first-director* Albert Thomas. It obtained much success in raising labour standards all over the World War Second with its structure still intact" —*Nicolos*

[2] ".....all human being irrespective of *race*, *creed or sex have the right to* pursue both their material well being and their spiritual development in all conditions of freedom and dignity of economic security and equal opportunity."

(2) दरिद्रता कहीं भी हो। वह सभी स्थानों की वृद्धि के लिए भयावह होती है।

(3) निरन्तर प्रगति के लिए संगठन की स्वतन्त्रता तथा भावना को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र अवसर नितान्त आवश्यक है।

(4) दरिद्रता तथा अभाव के विरुद्ध प्रत्येक देश में साहस तथा लगन से आन्दोलन किया जाना चाहिए।

इसी फिलाडेल्फिया घोषणा के अनुसार संगठन के उद्देश्य भी निश्चित किये गये निम्नलिखित हैं—

(1) पूर्ण व्यवसाय एव जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी।

(2) सामाजिक सुरक्षा के कार्यों का विस्तार।

(2) पर्याप्त भोजन तथा निवास गृहों की व्यवस्था।

(4) सामूहिक रूप से अपने हितों की रक्षा करने तथा सामूहिक समझौता करने का अधिकार।

(5) अवसर की समानता प्रदान करना, तथा

(6) स्वास्थ्य तथा सुरक्षा सम्बन्धी पूर्ण व्यवस्था करने का प्रयत्न।

उपर्युक्त घोषणा से स्पष्ट होता है कि संगठन का मुख्य उद्देश्य था कि "अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा श्रमिकों की दशा को उन्नत करना। उनकी आर्थिक स्थिति को स्थिरता प्रदान करना तथा सामाजिक क्षेत्र मे उनके स्तर को उन्नत करना।

सं० रा० संघ ने 1916 में इस संगठन को अपने संरक्षण में ले लिया। इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा में है।

सगठन—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के तीन मुख्य अंग हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन—यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन का नीति निर्माता अंग है। इसके अधिवेशन वर्ष मे एक बार होते है। इसके सदस्यो में सरकारी, श्रमिक एव मिल मालिकों के सदस्यों का अनुपात 2 : 1 : 1 का रखा गया है। प्रत्येक प्रतिनिधि को एक मत देने का अधिकार होता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन का मुख्य कार्य सुझावों, प्रस्तावों तथा नियमों के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक मानदण्डों की स्थापना करना है।

(2) शासक संस्था—यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन की कार्य कारिणी का कार्य करती है। इसके सदस्यों की संख्या 48 है। इनका अनुपात भी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के अनुसार 4 : 2 : 2 का ही है अर्थात 24 सदस्य तो सरकारी है तथा 12-12 सदस्य श्रमिकों एवं रोजगार देने वालों के प्रतिनिधि हैं। शासक संस्था श्रम कार्यालय का डायरेक्टर जनरल (Director General) की नियुक्ति करती है। परम्परा के अनुसार 10 राष्ट्र इसके स्थायी सदस्यों में से है जिनका नाम है—कनाडा, ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका, सोवियत संघ, चीन, भारत, जापान, इटली, फ्रांस। शासक संस्था (Governing Body) का मुख्य कार्य है अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के विभिन्न अंगों एव आयोगों तथा समितियों का निरीक्षण करना। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के लिए कार्यक्रम तैयार करना एवं विशिष्ट कार्यों के लिए समितियाँ नियुक्त करना भी इस संस्था का ही कार्य है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का तीसरा मुख्य अग है अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय जो स्थायी रूप से जेनेवा मे स्थित है। यह सामाजिक, आर्थिक व श्रम सम्बन्धी प्रश्नों का अनुसन्धान करता है, सरकारों को इस विषय पर परामर्श देता है। श्रमिक सम्मेलनों तथा सभाओं का कार्यक्रम तथा सामग्री तैयार करना। कार्यालय का प्रमुख महा निर्देशक (Director-General) होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का कार्य—अपनी स्थापना के समय से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने विश्व भर में मानव-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने की कोशिश की है। इसका लक्ष्य विश्व भर के मजदूरों की आर्थिक स्थिति को ऊँचा करना है और मानवोचित अधिकार दिलाना है। उसके कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय समझौते (Conventions)**—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का मुख्य ध्येय "अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समझौतों व सिफारिशों के रूप में विविध प्रकार की श्रम व श्रमिकों सम्बन्धी दशाओं के अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों का निर्माण" करना है। इसका तात्पर्य यह है कि समस्त विश्व में श्रमिकों को श्रम का मूल्य व महत्त्व समान हो तथा सामाजिक जीवन में उनके स्तर को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो। समझौतों और सिफारिशों में जो सिद्धान्त निहित होते हैं वे सभी सदस्य राष्ट्रों को मानने पड़ते हैं। इसके संविधान के अनुसार सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों का यह कर्तव्य है कि ये प्रत्येक समझौते को अपनी सरकार के सामने प्रस्तुत करे, यदि उसकी सरकार किसी समझौते का अनुसमर्थन करती है तो उसका यह कर्त्तव्य है कि प्रत्येक वर्ष संस्था को यह बताये कि उसने समझौते को क्रियान्वित करने के लिए कौन-कौन से पग उठाये हैं। सिफारिशों के अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु जिन समझौतों का अनुसमर्थन हो जाता है, उनकी सूचना अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालयों को कर देना आवश्यक होता है। 1967 के अन्त तक 128 समझौते स्वीकार किये जा चुके हैं, इनके अतिरिक्त 120 सिफारिशें भी की गयी हैं।

सब समझौतों और सिफारिशों को मिलाकर श्रम-संहिता (Labour Code) कहा जाता है। यह संहिता निम्नलिखित प्रश्नों से सम्बन्धित है—वेकारी एवं नौकरी की साधारण शर्तें (वेतन, काम करने का समय, सप्ताह में आराम करने का समय, वार्षिक छुट्टियाँ आदि), बच्चों और नवयुवकों की नौकरी की शर्तें, महिलाओं की नौकरी, संगठन की स्वतन्त्रता, सामाजिक सुरक्षा, पूर्ण रोजगार तथा आर्थिक नियोजन आदि।

इस सम्बन्ध में निकोलस ने लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की क्रियायें जबकि परम्परागत रिवाजों से शासित होती हैं, उनका सम्बन्ध घण्टे, वेतन और श्रम की शर्तों से होता है, युद्ध के बाद से इनका विकास हुआ है और इनमे ऐसे उद्देश्य सम्मिलित हैं जैसे सामाजिक सुरक्षा, पूर्ण रोजगार तथा आर्थिक योजना। इसके कारण इस संस्था का अधिक स्वतन्त्र एवं गहरा सम्बन्ध अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं—दोनों संयुक्त राष्ट्र संघ तथा दूसरी विशिष्ट एजेन्सियों से हो गया है।"[1]

(2) **तकनीकी सहायता (Technical Assistance)**—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का दूसरा कार्य है विभिन्न सरकारों को तकनीकी सहायता प्रदान करना। दोनों विश्व युद्धों के कारण बिगड़ी हुई व्यवस्था के सुधार तथा पुनर्निर्माण हेतु आई० एल० ओ० ने बहुत से देशों को सहायता प्रदान की है। अतः इस संगठन का कार्य बड़ा ही विस्तृत हो गया है। इसके द्वारा विशेष सलाहें दी गयी हैं। शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गयी है, प्राविधिक सूचनायें प्रदान की गयी हैं। छात्रवृत्ति दी गयी है तथा परामर्श-गोष्ठियाँ संगठित की गयी हैं। आई० एल० ओ० ने व्यावसायिक शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना में बड़ी रुचि प्रदर्शित की है। ऐसी संस्थाओं की पिछड़े देशों में अत्यन्त आवश्यकता है। विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बर्मा, चीन, इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड, पाकिस्तान, मिस्र, भारत, टर्की, यूगोस्लोवाकिया आदि देशों में प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इसने

---

[1] The field of I. L. O. activity while still dominated by the traditional concern for hours, wages and conditions of labour, has broadened scince war to include such objectives as social security, full employment and economic planning This has brought it into a more frequent and intimate relationship with other international organisations, both the U. N. and other specialised agencies."

सामाजिक सुरक्षा, सहकारिता, श्रम दशाओं आदि के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण योजनाएँ तैयार की हैं तथा पिछड़े देशों को बहुत लाभ पहुँचाया है।

(3) क्षेत्रीय एवं अन्य कार्य (Regional and Other Activities)—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एक उपयोगी संगठन है। इसने निर्धनों की दशा सुधारने के लिए अनेक प्रकार के अनुसन्धान एवं प्रयोग किये हैं। यह आँकड़े एकत्रित करता है तथा रिपोर्टें प्रकाशित करता है। इसका मुख्य कार्यालय जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड) में स्थित है। इसके अतिरिक्त उसने अनेक क्षेत्रीय कार्यालयों (Field Offices) की स्थापना भी की है। एशिया में—बंगलौर (भारत) में, दक्षिण अमेरिका में, लीमा (पीरु) में। मध्य अमेरिका में मैक्सिको नगर में, मध्य पूर्व के लिए इस्तम्बूल में ये क्षेत्रीय कार्यालय खुले हैं। आमतौर पर इसने बैठकें अमेरिका, एशिया एवं यूरोप में भी की हैं। उदाहरण के लिए इसकी प्रथम क्षेत्रीय बैठक 1947 में दिल्ली में हुई। दूसरी बैठक 1950 में कोलम्बो (लंका) में हुई। 1953 में तीसरी बैठक जापान में की गयी। विश्व के आठ प्रमुख व्यवस्थाओं के लिए त्रिपक्षीय (सरकार, मजदूर एवं मिल-मालिक) बैठकें इसी प्रकार होती रहती हैं। उसने अनेक विषयों पर समितियाँ भी गठित की हैं। इनमें से मुख्य विषय हैं—रोपस्थली, कृषि, सहकारिता, सामाजिक सुरक्षा, अकशास्त्र, महिलाओं की नौकरी आदि। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O) ने सदस्य राज्यों की प्रार्थना पर जाँच आयोग भी संगठित किये हैं। इसके कारण संसार में श्रमिक समस्याओं के सम्बन्ध में जागृति उत्पन्न हो गयी है तथा श्रमिकों की दशा में काफी सुधार हुआ है। अनेक राज्यों ने श्रमिकों की भलाई के लिए कानूनों का निर्माण किया है।

एन० एन० कोल के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के स्थापित होने के कारण सामाजिक न्याय में अनिश्चितता और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति नहीं रही है। इस संस्था ने विश्व चेतना को जाग्रत कर दिया है। यह संस्था मानव जाति के जीवन और कार्यों की अवस्थाओं का निरीक्षण करने का स्थान बन गई है। इस संस्था के कार्य के फलस्वरूप श्रमिक समस्याओं के बारे में सरकारों का दृष्टिकोण ही बदल गया है। इस संस्था के संविधान में उन शक्तियों को प्रोत्साहन दिया है, जो श्रमिक वर्ग की अवस्था को सुधारने में लगी हुई है। इसके कार्य से विरोधी आवाजें बन्द हो गयी हैं।"

आलोचना (Criticism)—यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की लोकप्रियता बढ़ती जाती है प्रारम्भ में इसके सदस्य केवल 29 राष्ट्र थे जो बढ़कर 100 हो गये हैं, राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने इसे "विश्व की श्रम पार्लियामेण्ट" (World Parliament of Labour) कहा था, तथापि इसका ध्यान केवल यूरोप और अमेरिका पर केन्द्रित है। एशिया एवं अफ्रीका के देशों के प्रति इसने उपेक्षा बरती है। इसका एक और दोष यह है कि यह समझौते और सिफारिशें तैयार करती है और इसकी संख्या इतनी अधिक है कि इन पर अमल करना सम्भव नहीं है।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (India and I L O.)—भारत प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का स्थायी सदस्य बना हुआ है। भारत इसके कार्यों में लगातार भाग लेता रहा है। इसके द्वारा स्थापित 9 व्यावसायिक समितियों में से भारत पेट्रोलियम समिति के अलावा सभी समितियों का सदस्य है। भारत ने 1955 तक इसके 23 समझौतों का समर्थन किया है। भारत सरकार का यह मत है कि इसके द्वारा किये गये अन्य समझौते, भारत पर लागू होने के उपयुक्त नहीं हैं। ऐसे समझौते पश्चिमी देशों के विकसित औद्योगिक राज्यों के लिए ही उपयुक्त हैं। इतना होने पर भी भारत को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन से पर्याप्त लाभ हुआ है। भारत के मजदूरों की दशा में काफी सुधार हुआ है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य विशिष्ट अभिकरण
(Other Specialized Agencies of U. N. O.)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अतिरिक्त सं० रा० संघ के अन्य विशिष्ट अभिकरण निम्नलिखित हैं :

(1) खाद्य एवं कृषि सगठन (Food and Agriculture Organisation—FAO)।

(2) संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक एव सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) (The United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation—UNESCO)।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund—I M.F.)।

(5) विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organisation—W.H.O)।

(6) विश्व डाक संघ (Universal Postal Union—U. P. U)।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation–I F.C.)।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन सघ (Internatioal Civil Aviation Organization—I.C.A.O)।

(9) अन्तर्राष्ट्रीय दूर सचार सघ (International Telecommunication Union–IT.U.)।

(10) विश्व ऋतु-विज्ञान संघ (World Mateorological Organisation—W.M O)।

(11) अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति अभिकरण (International Atomic Energy Agency—I.A.F.A)।

(12) अन्तर्राष्ट्रीय सामुद्रिक परामर्श संगठन (International Maritime Consultative Organisation—I.M C.O.)।

इन अभिकरणों मे यूनेस्को अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सं० रा० सघ की न्यास परिषद
(Trusteeship Council of U.N.O.)

न्यास परिषद का निर्माण (Establishment of Council)—सं०रा०संघ का महत्त्वपूर्ण अंग है। राष्ट्र सघ में जो अधिदेश पद्धति (Mandate System) थी। वही सं० रा० संघ के अन्तर्गत "न्यास पद्धति" (Trusteeship System) बन गई। पर "न्यास पद्धति" "अधिदेश पद्धति" की अपेक्षा विकसित एवं उच्चतर स्थिति रखती है परन्तु आलोचक इन दोनो ही पद्धतियों को "श्वेत जातियो के भार" (White Men's Burden) कहकर पुकारते हैं। इस पद्धति में साम्राज्यवाद की गन्ध आती है। न्यास परिषद वास्तव में साम्राज्यवादी सिद्धान्त तथा आत्म-निर्णय के मध्य की व्यवस्था स्थापित करती है।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही न्यास पद्धति के सम्बन्ध में विचार किया गया था। 1941 का एटलांटिक चार्टर इस पद्धति की ओर सकेत करता है। सं० रा० संघ के निर्माता चाहते थे कि विश्व मे सभी पराधीन देशों को आत्म निर्णय का अधिकार दिया जाय अर्थात मेण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत सभी प्रदेशों को स्वतन्त्र होने का अवसर दिया जाय। सानफ्रांसिस्को के सम्मेलन मे भी इस समस्या पर विचार किया गया था। कुछ राष्ट्र आत्म निर्णय के अधिकार को

सर्वव्यापक बनाने के विचार के विरुद्ध थे। फ्रांस, हालैण्ड और दक्षिण अफ्रीका संघ तो मैंडेट प्रदेशों को भी उपनिवेश मानकर उन्हें छोड़ने को तैयार न थे।

अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट की 'नवीन व्यवस्था' (New Deal) तथा कार्डल हल के न्यास पद्धति सम्बन्धी विचारों का विरोध किया गया। रूजवेल्ट तो इस आत्म निर्णय के सिद्धान्त को भारत में लागू करने के लिए तैयार थे पर प्रक्रियावादी ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चिल इस सोने की चिड़िया को पिजड़े से छोड़ने के लिए तैयार न थे। अमेरिका स्वयं साम्राज्यवाद का अन्दर से विरोधी नहीं था, वह भी प्रशान्त महासागर में कुछ द्वीपों पर अधिकार चाहता था अतः वह ऊपरी मन से साम्राज्यवाद का विरोध कर रहा था। न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, मध्यपूर्व और दक्षिणी अमेरिका के देशों ने साम्राज्य का घोर विरोध किया। इन दोनों विचारधाराओं का समन्वय खोजा गया अतः विचार-विमर्श के बाद "न्यास पद्धति" (Trusteeship System) पर समझौता हो गया। इस पद्धति का उल्लेख संघ के चार्टर की धारा 11, 12 एवं 13 अध्यायों में 76 से 91 तक में दिया गया है। इस व्यवस्था की देखभाल के लिए न्यास परिषद का निर्माण हुआ।

न्याय व्यवस्था का मूल सिद्धान्त—1945 में लगभग 70 करोड़ मानव गुलामी का जीवन बिता रहे थे अर्थात् 33% व्यक्ति स्वतन्त्रता के उपयोग से वंचित थे। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस स्थिति में काफी परिवर्तन आया और केवल 1% लोग ही परतन्त्र रह गये।

न्यास पद्धति का मूल सिद्धान्त यह था कि विश्व में कुछ अल्प विकसित देशों के निवासी इस योग्य नहीं कि वे अपना शासन स्वयं सम्भाल सकें और अपनी प्रगति स्वयं कर सकें। अतः सभ्य और उन्नत देशों का यह कर्त्तव्य है कि वह इन पिछड़े देशों की उन्नति एवं विकास में पूर्ण सहायता दें, जब तक वे अपने शासन सम्भालने में पूर्ण सशक्त न हो जायें तब तक उनकी देखभाल करें। इन प्रदेशों पर वह इस प्रकार का शासन करे कि इन्हें अमानत समझ कर ख्यानत से दूर रहे हैं अर्थात् शासन उनके हित मे ही शासकों की स्वार्थ पूर्ति या शोषण से उसका सम्बन्ध न हो।

न्यास के स्वरूप तथा न्यास प्राप्त करने वाले देशों के कर्त्तव्यों का ब्योरा सं० रा० संघ के चार्टर की धारा 73 में इस प्रकार दिया गया है कि "सं० रा० के सदस्य, जिन्हें पिछड़े हुए प्रदेशों के प्रशासन का उत्तरदायित्व सौंपा गया है, यह सिद्धान्त स्वीकार करते हैं कि उन प्रदेशों के निवासियों के हित सर्वोपरि हैं और वे एक पवित्र न्यास के रूप में अपना दायित्व मानते हैं कि चार्टर द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा प्रणाली के अधीन, उन्हें उन देशों के निवासियों की अधिकतम सम्भव भलाई करनी है।"

संरक्षक राज्यों के कार्य—उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार संरक्षक राज्यों के कर्त्तव्य निम्नलिखित बताये गये—

(1) इन लोगों की संस्कृति का पूरा ध्यान रखते हुये, उनकी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक उन्नति करनी होगी। उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार और उन्हें अत्याचारों से बचाने का पूरा प्रबन्ध करना होगा।

(2) प्रत्येक प्रदेश की ओर उनके निवासियों के विकास की व्यवस्था के अनुसार उनमें स्वशासन को प्रोत्साहन देना होगा, उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं का उचित ध्यान रखने का एवं उनकी स्वतन्त्रता राजनैतिक संस्थाओं के विकास में अधिकाधिक सहायता का पूरा प्रबन्ध करना होगा।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की अभिवृद्धि करनी होगी।

(4) इन धाराओं में बताये गये उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विकास के राजनीतिक कार्यों को बढ़ावा देना होगा; शोध-कार्यों को प्रोत्साहन देना होगा और आवश्यकतानुसार अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सहयोग करना होगा।

(5) सुरक्षा और वैधानिक बातों को ध्यान में रखते हुये महासचिव को इन प्रदेशो की आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक परिस्थितियो सम्बन्धी आकड़े और अन्य प्राविधिक सूचनायें देनी होंगी।

चार्टर की धारा 75 मे इन प्रदेशों के बारे में कहा गया है कि "सं० रा० अपने प्राधिकार के अधीन ऐसे प्रदेशों के प्रशासन और संरक्षण के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति स्थापित करेगा, जो बाद में व्यक्तिगत समझौतों द्वारा उनके अधीन रखे जायें। इन प्रदेशों को न्यास प्रदेश कहा जायगा।"

मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत पराजित देशो के उपनिवेश या अधिराज्य थे पर सं० रा० संघ की न्यास पद्धति के अन्तर्गत विश्व के ऐसे सभी प्रदेश थे जो साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद द्वारा पराधीन बना दिये गये थे।

न्यास पद्धति के उद्देश्य—सं० रा० सघ के चार्टर की धारा 76 मे न्यास व्यवस्था के *निम्नलिखित 4 उद्देश्य दिये गए हैं :—*

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की वृद्धि करना,

(2) मानव को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों में उन्नति करने में सहायता देना तथा स्वशासन एवं क्रमिक विकास मे योग देना।

(3) मानव मे जाति, लिंग, भाषा, रंग तथा धर्म सम्बन्धी भेद-भाव किये बिना सबके लिये मानव के अधिकारों एवं मूल स्वतन्त्रताओ के प्रति आस्था बढ़ाना और उनमें यह भावना भरना कि ससार के सब लोग एक-दूसरे पर निर्भर है।

(4) सामाजिक, आर्थिक तथा वाणिज्य सम्बन्धी मामलो मे संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्यों और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना।

न्यास व्यवस्था के अन्तर्गत प्रदेश—न्यास परिषद का क्षेत्र अति व्यापक है। न्यास व्यवस्था के अन्तर्गत दो प्रकार के प्रदेश हैं :—

(i) अ-स्वशासित प्रदेश (Non-Self-governing Territories)

(ii) न्यास या संरक्षित प्रदेश (Trust Territories)।

(i) अ-स्वशासित प्रदेश—ये प्रदेश इंगलैण्ड, फ्रांस तथा हालैण्ड आदि देशों के वंशवर्ती प्रदेश हैं। इनमे स्वशासन नही पाया जाता है। इन्हे न्यास प्रदेश तो नही कहा जाता है और न इनका उल्लेख चार्टर मे किया गया। स० रा० सघ का इन प्रदेशों पर नाममात्र का अधिकार है। इन पर शासन करने वाले राज्य समय-समय पर सघ को सूचनायें देते रहते हैं।

(ii) न्यास या संरक्षित प्रदेश—ये प्रदेश तीन प्रकार के हैं (अ) वे प्रदेश जो पहले मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत थे (Territories under the mandates system), (ब) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शत्रु देशों से छीने गये प्रदेश। (स) अपनी इच्छा द्वारा सं० रा० सघ को सौंपे गये प्रदेश। अभी तक इस श्रेणी में कोई प्रदेश नहीं आया है।

मैण्डेट के कुछ प्रदेश दक्षिणी अफ्रीका मे रह गये है। उसने इन्हे न्यास परिषद को देने से इन्कार कर दिया है और उन्हें अपने उपनिवेश के समान रखता है। दक्षिण अफ्रीका सघ सं० रा० संघ को उनकी कोई वार्षिक रिपोर्ट नहीं भेजता है। सं० रा० सघ यहा अशक्त दिखाई देता है।

न्यास परिषद का गठन—न्यास परिषद का गठन तीन प्रकार के सदस्यों से हुआ है—

(1) सुरक्षा परिषद के सब सदस्य।

(2) न्यास प्रदेशों पर शासन करने वाले सदस्य।

(3) 3 वर्ष के लिये चुने गए (सामान्य सभा द्वारा) सदस्य।

आजकल इसके 14 सदस्य हैं और प्रत्येक को एक वोट देने का अधिकार है। परिषद के निर्णय बहुमत के आधार पर होते हैं। वर्ष में एकबार उसकी बैठक अवश्य होती है। सदस्यों द्वारा ही इसका प्रत्येक वर्ष अध्यक्ष चुना जाता है।

यह परिषद न्यास प्रदेशों के शासन की देखभाल निम्नलिखित तीन प्रकार से करती है :—

(1) सुरक्षा परिषद द्वारा तैयार की गयी प्रश्नावली के आधार पर प्रशासन करने वाले देशों से, विभिन्न प्रकार की प्रगति सम्बन्धी रिपोर्ट माँग कर।

(2) न्यास प्रदेशों के नागरिकों के मौलिक तथा लिखित प्रार्थना-पत्रों पर विचार करके।

(3) परिषद प्रतिवर्ष अपना निरीक्षण मण्डल (Visiting Mission) विभिन्न प्रदेशों में भेजती रहती है। 3 वर्षों में कम से कम एक बार यह निरीक्षक मण्डल प्रत्येक न्यास प्रदेश का निरीक्षण करता है। यह मण्डल अपनी निष्पक्ष रिपोर्ट परिषद को देता है।

न्यास प्रदेशों की तालिका

क्रम संख्या	न्यास प्रदेश	प्रशासकीय प्रदेश	जनसंख्या	क्षेत्रफल (वर्गमील)
1.	न्यूगिनी	आस्ट्रेलिया	1,00,010	93,000
2.	रुआण्डा उरुण्डी	बेल्जियम	37,18,696	20,916
3.	फ्रेंच केमरून	फ्रांस	27 02 500	1,66 797
4.	फ्रेंच टोगोलैण्ड	फ्रास	9,44,446	21,236
5.	पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैण्ड	72,936	1,113
6.	टोगानिकया	ब्रिटेन	70,79,556	3,62,688
7.	ब्रिटिश केमरून	ब्रिटेन	9,91,100	34,081
8.	नौरू	आस्ट्रेलिया	3,162	82
9.	प्रशान्त महासागर के न्यास प्रदेश	संयुक्त राज्य अमेरिका	60,000	387
10.	ब्रिटेन टोगालैण्ड	ब्रिटेन	3,82,200	13,040
11.	सोमालीलैण्ड	इटली	9,15,000	1,94,000
	योग	7	1,74,75,647	9,07,660

इन प्रदेशों में से 1968 तक निम्नलिखित प्रदेश स्वतन्त्र हो चुके हैं :—

ब्रिटिश टोगोलैण्ड के नये राष्ट्र को घाना से जोड़ दिया गया है। उसे 6 मार्च 1957 को स्वतन्त्रता मिल गयी है। फ्रेंच केमरून 1 जनवरी 1960, फ्रेंच टोगोलैण्ड 27 अप्रैल 1960 तथा इटालियन सोमालीलैण्ड 1 जुलाई 1960 को स्वतन्त्र हो गये हैं। ब्रिटिश केमरून्स का उत्तरी भाग नाइजीरिया और दक्षिणी भाग केमरून गणराज्य के साथ मिलकर 1961 में स्वाधीन हो गया है। टाँगानियया 9 दिसम्बर 1961 को, पश्चिमी समोआ 1 जनवरी 1962 को और नौरू 31 जनवरी 1968 को स्वतन्त्र हो चुके हैं। इसके बाद न्यूगिनी और प्रशान्त द्वीप ही न्यास व्यवस्था मे रह गये हैं।

मैण्डेट व्यवस्था एवं न्यास परिषद में तुलना—राष्ट्र संघ का विकसित रूप ही संयुक्त राष्ट्र संघ है, उसी प्रकार मैण्डेट व्यवस्था का विकसित रूप न्यास व्यवस्था है। इनकी तुलना निम्न आधार पर की जा सकती है :—

(1) मैण्डेट व्यवस्था के अन्दर जर्मनी एवं टर्की के छीने प्रदेश थे पर न्यास व्यवस्था में मैण्डेट प्रदेशों के अतिरिक्त द्वितीय विश्व युद्ध में छीने शत्रु प्रदेश भी हैं। इनके अतिरिक्त मित्र राष्ट्रों के स्वशासन अप्राप्त देश हैं। मार्शल स्मट्स का कथन है कि "यह योजना क्षेत्र की दृष्टि से

राष्ट्र संघ की पुरानी योजना से बहुत भिन्न है। अब यह सिद्धान्त सामान्य रूप से लागू किया गया है कि यह सब पराधीन देशों में लागू होगा। इस सिद्धान्त को दिया गया यह विस्तार बड़ा दूरगामी तथा महत्त्वपूर्ण है।"

(2) मैण्डेट व्यवस्था में 'स्थायी मैण्डेट कमीशन (Permanent Mandate Commission) को ऐसा अधिकार प्रदान न किया गया था जो आज न्यास परिषद (Trusteeship Council) को प्राप्त है। मैण्डेट आयोग न तो मैण्डेट प्रदेशों में निरीक्षण को जा सकता था और न उसे मैण्डेट व्यवस्था के विरुद्ध प्रार्थना-पत्रों पर विचार करने का अधिकार था। परन्तु न्यास परिषद न्यास प्रदेशों में अपना निरीक्षण आयोग भेज सकता है, शासित लोगों की शिकायत भी यह आयोग सुन सकता है। इस प्रकार न्यास व्यवस्था अपेक्षाकृत प्रभावशाली एवं शक्तिशाली व्यवस्था है।

(3) मैण्डेट व्यवस्था साम्राज्यवाद का अप्रत्यक्ष रूप था परन्तु न्यास पद्धति निष्पक्ष रूप से शासित जनता का कल्याण करती है और उसे स्वशासन के योग्य बनाने में सहायता देती है। वह साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का उन्मूलन चाहती है।

(4) मैण्डेट व्यवस्था राष्ट्र संघ से सीधा सम्पर्क न रख स्थायी मैण्डेट कमीशन से सम्पर्क रखती थी जबकि न्यास परिषद के अतिरिक्त न्यास व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा से भी सीधा सम्पर्क रखती है। संयुक्त राष्ट्र संघ में छोटे राज्यों की संख्या बहुत अधिक है जो साम्राज्यवादी व्यवस्था की आलोचना करने में समर्थ हैं एवं पिछड़े देशों से उसे हटाना चाहते हैं।

(5) कार्य की दृष्टि से भी न्यास व्यवस्था मैण्डेट व्यवस्था से कहीं उत्तम है।

(6) न्यास पद्धति के प्रधान अंग, न्यास परिषद की रचना का आधार भी मैण्डेट कमीशन की रचना की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र तथा सुसंगठित है। न्यास परिषद में प्रशासक देशों के अतिरिक्त अन्य देशों से भी प्रतिनिधि लिये गये हैं, जबकि मैण्डेट में केवल विशेषज्ञ ही होते थे।

डा० राल्फ बुचे के मतानुसार "यह नई व्यवस्था केवल मैण्डेट व्यवस्था का चालू रूप नहीं है। यह अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत तथा अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की व्यापक संस्था है। संक्षिप्त रूप से यह न्यास प्रदेशों के विकास के लिए तथा वहाँ की जनता को स्वशासन एवं स्वतन्त्र तन्त्र दिलाने के लिए प्रभावशाली संस्था है।"[1]

प्रो० शूमैन का मत भी बुचे (Bunche) से मिलता-जुलता है। न्यास पद्धति द्वारा छोटे एवं पिछड़े राष्ट्रों को स्वतन्त्रता के योग्य बनाने का प्रयास प्रशंसनीय है। इस पद्धति द्वारा अनेक राज्यों को आत्म निर्णय का अधिकार दिया गया है एवं वे स्वतन्त्र हो गये हैं। शूमैन का यह भी कहना है कि यद्यपि मैण्डेट व्यवस्था स्वार्थ, शोषण एवं साम्राज्यवादी भावना से ओतप्रोत थी फिर भी उसमें ऐसे बीज अवश्य थे, जो भविष्य में स्वतन्त्रता के अधिकार को समान रूप से मानने के लिए पृष्ठभूमि तैयार करते थे। न्यास व्यवस्था की आधारशिला मैण्डेट व्यवस्था ही थी।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(International Court of Justice)

संयुक्त राष्ट्र संघ का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय एक पुरानी संस्था है और महत्त्वपूर्ण अंग है। वास्तव में हेग के 1899 के अधिवेशन में एक पंचनिर्णय के स्थायी न्यायालय की स्थापना का निर्णय किया गया और उसके अनुसार 1900 में हालैण्ड की राजधानी हेग में इसकी स्थापना हो

1 "This new system is no more continuation of the mandate system. It is considerably broader in scope and involves a more extensive international supervision. Potentially, it holdes forth great promise for the advancement of the peoples of trust territories towards self-government or independence."
—*Dr. Ralph J. Burche*

गयी। यह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए स्थापित किया गया था।" इसका नाम तो न्यायालय था पर वास्तव में यह कोई न्यायालय न था। यह तो जजों के नाम की सूची थी जिसमें कुछ विवाद करने वाले राज्य से अपने विवादों के पंचायती निर्णय के लिए चुन लेते थे। यद्यपि कोई न्यायालय न था पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विकास में पहला कदम था।

हेग का दूसरा सम्मेलन 1907 में हुआ इसमें पंच निर्णय के सम्बन्ध में एक विस्तृत अभिसमय बनाया गया। इसकी रूपरेखा प्रथम हेग सम्मेलन के सुझावों का विकसित एवं संशोधित रूप थी। 1907 में न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय की स्थापना का भी प्रयत्न हुआ पर छोटे राज्यों की ईर्ष्या के कारण वह योजना सफल न हो सकी। इससे कुछ लोगों को बड़ी निराशा हुई।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद शान्ति सम्मेलन हुआ। वर्साय की सन्धि का मसविदा बन जिसमें राष्ट्र संघ का विधान भी सम्मिलित था। राष्ट्र संघ के विधान की 14वीं धारा में उल्लेख था कि "परिषद एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना के लिए योजनाएँ एवं राष्ट्र संघ के सदस्य देशों को उनकी स्वीकृति के लिए भेजेगी।"[1]

इसके फरवरी 1920 विधिवेत्ताओं का एक आयोग बना जिसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का संविधान (Statute) बनाया जो 13 दिसम्बर 1920 को कुछ संशोधनों के साथ महासभा ने उसे स्वीकार कर लिया। 12 फरवरी 1922 को न्यायालय विधिवत स्थापित हो गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। उसकी धारा 92 के अनुसार न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का संगठन—संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्यों की राय में मतभेद था। कुछ लोगों का कहना था कि संयुक्त राष्ट्र संघ को पुराने न्यायालय की निष्पक्षता और कार्यक्षमता के देखते हुए उसे बनाये रखना ही उचित होगा। दूसरा मत था कि संयुक्त राष्ट्र संघ का एक नया न्यायालय ही होना चाहिए। रूस और अमेरिका इसी मत का समर्थन करते थे, अतः यह दूसरा मत ही स्वीकार किया गया। इतना होने पर भी नया न्यायालय पुराने न्यायालय से सर्वथा नया न था। जैसा कि वैण्डवोश तथा होगन ने कहा है कि "वर्तमान न्यायालय की संविधि पुराने न्यायालय की संविधि पर ही निश्चित रूप से आधारित है। दोनों अभिकरण मूलतः एक समान हैं, केवल शब्दावली में आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं।"[2] इसी प्रकार ईटलगन का कहना था कि "व्यावहारिक दृष्टि से, यह पहले वाला न्यायालय ही है। केवल उसे नया नाम दे दिया गया है, और प्राचीन संविधि को ही संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुरूप थोड़ा परिवर्तन करके, धाराओं के उसी संख्याक्रम सहित, चार्टर का अभिन्न अंग बना दिया है।"[3] हैन्स केल्सन का भी यही कहना है कि "अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अधिनियम अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के अधिनियम की

---

1 "The council to formulate and submit to the members of the League for adoption, plans for the establishment of a Permanent Court of International Justice." —*Article of the Covenant*

2 "The statute of the present court is specially based upon that of the former one. The two instruments are substantially identical, with only necessary changes to terminology." —*Vandenbosch and Hogan*

3 "Practically speaking, however, it is the same court with a new, and the order statute, very slightly modified to fit into the United Nations and with the same numerations of articles as an 'integral part' of the charter." —*Eagleton*

लगभग शब्दश: प्रतिलिपि है। पर जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय वैधानिक रूप से राष्ट्र संघ का अंग नहीं था, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का एक प्रधान अंग है।"

रचना—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में 15 न्यायाधीश होते हैं जो महासभा एवं सुरक्षा परिषद द्वारा पृथक मतदान से चुने जाते हैं। इनका चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वे उच्च नैतिक चरित्र, अपने देश के उच्च न्यायिक पद पर आसीन रहे हों तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता प्राप्त योग्यता रखते हैं। कुछ अस्थायी न्यायाधीश भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय रखता।

न्यायाधीशों का कार्यकाल 9 वर्ष का होता है। उनमे एक तिहाई प्रति तीन वर्ष के बाद अवकाश लेते रहते हैं तथा उनके स्थान नये न्यायाधीशों से भरे जाते हैं। इससे यह लाभ होता है कि न्यायालय में ⅔ न्यायाधीश सदैव ऐसे बने रहते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की कार्यविधि से और विचाराधीन मामलों से परिचित रहते है। यद्यपि न्यायाधीशो को पुनः निर्वाचित होने का अधिकार होता है पर एक समय में एक देश के दो न्यायाधीश नहीं रह सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान में यह भी प्राविधान है कि यदि किसी देश का कोई मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे उपस्थिति हो और उस देश का कोई न्यायाधीश न्यायालय में न हो तो सम्बन्धित देश को यह अधिकार दिया जाता है कि वह अस्थाई रूप से अपना कानूनी विशेषज्ञ न्यायालय में भेज सकता है। ऐसे न्यायाधीश को अपनी राय देने का तो अधिकार होता है पर वह मतदान नहीं कर सकता है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि ऐसे अस्थायी न्यायाधीश केवल उसी समय तक न्यायालय मे बैठ सकते है जब तक उनके देश का मुकद्दमा सुना जाता है, इसके बाद वे पद छोड़ देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशो के निर्वाचन की विधि भी बड़ी जटिल है। प्रारम्भ में न्यायाधीश अपने देशों की सरकारों द्वारा चुने जाते थे और वे अपनी सरकारों के आदेशानुसार कार्य करते थे। वे अपने देशों के दृष्टिकोण व नीतियो का प्रतिनिधित्व करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि निष्पक्ष न्यायाधीशों की घोर उपेक्षा होती थी। इस कमी को बाद मे दूर किया गया। वैण्डनबोश तथा होगन का कथन हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिए न्यायाधीशों के चुनाव की विधि एक विश्व न्यायालय की आवश्यकतानुसार एवं राष्ट्रीयता की माँगों के मध्य बुद्धिमतापूर्ण व जटिल समझौते पर आधारित है।"[1]

आधुनिक व्यवस्था न्यायाधीशों के चुनाव की इस प्रकार है—कोई भी राष्ट्र चार से अधिक व्यक्तियों को मनोनीत नहीं कर सकता है। इन चार में से उसकी अपनी राष्ट्रीयता के दो से अधिक सदस्य नहीं होते हैं। उम्मीदवारों की विधिवत नामजदगी हो जाने के बाद संयुक्त-राष्ट्र का महासचिव वर्णमाला के क्रमानुसार व्यक्तियों की सूची तैयार करता है। तब महा सभा और सुरक्षा परिषद अलग-अलग (Independently of one another) न्यायालय की सदस्यता के लिये इन उम्मीदवारों में से 15 को चुनती हैं। जिन उम्मीदवारों को मतदान प्रणाली से पूर्ण बहुमत प्राप्त होता है, वही व्यक्ति चुने हुए माने जाते हैं। पूर्ण बहुमत (Absolute majority) का यहाँ अर्थ भी कुछ भिन्न सा है जो अन्य मामलों मे लागू नहीं होता है। आमतौर से महत्वपूर्ण मामलों को सभा उपस्थिति एवं मतदान देने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से निश्चित करती है पर न्यायाधीशों के मामले में महासभा का निर्णय कुल सदस्यो के 50% से अधिक बहुमत से

[1] 'The Method of selecting Judges for the International Court of Justice is based upon an ingenious and complicated compromise between the prerequisities of a world court and the demands of nationalism'

—*Vandenbosch and Hogen,*

होता है। इसी प्रकार सुरक्षा परिषद में पूर्ण बहुमत का अर्थ आठ सदस्यों का होना है जबकि अन्य मामलों में 9 स्वीकारात्मक मतों की आवश्यकता पड़ती है। न्यायाधीशों के मामले में स्थायी और अस्थायी सदस्यों के बीच भी कोई भेद नहीं माना जाता है अर्थात् निषेधाधिकार का प्रयोग इस चुनाव में नहीं हो सकता है।

यद्यपि न्यायाधीशों के चुनाव में यह ध्यान रखा जाता है कि एक राष्ट्र से एक से अधिक न्यायाधीश न चुना जाय पर यह न्यायाधीश अपनी सरकार या राष्ट्र के प्रतिनिधि नहीं माने जाते हैं। वे पूर्ण निष्पक्षता एवं ईमानदारी से अपना निर्णय देते हैं। वे सम्पूर्ण विश्व की सभ्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्हें वेतन एवं अन्य सुविधायें दी जाती हैं। अपने सेवा काल में वे न तो किसी राजनीति में भाग लेते है और न कोई अन्य व्यवसाय कर सकते हैं। प्रत्येक न्यायाधीश को कार्यभार सम्भालने से पूर्व एक शपथ लेनी पड़ती है कि वे अपना कार्य निष्पक्ष भाव से करेंगे तथा अपने दायित्वों को ईमानदारी से निभायेंगे।

न्यायाधीशों की उपस्थिति में कोरम 9 का रखा गया है पर सामान्यतः सभी न्यायाधीश एक स्वायत्त संस्था (Autonomous Body) है। वह अपने सभापति, उपसभापति एवं रजिस्ट्रार नियुक्त करता है और आवश्यकतानुसार अन्य कर्मचारी नियुक्त करता है। इसका मुख्यालय हालैण्ड की राजधानी हेग (Hague) है पर आवश्यकता पड़ने पर उसकी बैठकें अन्यत्र भी हो सकती है। छुट्टियों को छोड़कर वह सदा खुला रहता है।

न्यायालय की क्षमता—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय करना है पर वह उन्हीं मामलों का निर्णय करता है जो उसके सामने प्रस्तुत होते हैं। इसके सामने केवल राज्य ही वादी एवं प्रतिवादी के रूप में उपस्थित होते हैं, व्यक्ति नहीं। किसी राष्ट्र को बाध्य नहीं किया जा सकता है कि वह अपने झगड़े उसके सामने प्रस्तुत करे। विभिन्न पक्षों द्वारा 3 प्रकार के विवाद उसके सम्मुख रखे जाते हैं—

(1) यदि दोनों पक्ष न्यायालय के सम्मुख अपने विवाद रखना चाहें।

(2) यदि दोनों पक्षों ने न्यायालय के कार्य-क्षेत्र को स्वीकार कर लिया हो तो एक पक्ष भी न्यायालय के सामने अपना विवाद प्रस्तुत कर सकता है।

(3) यदि दोनों पक्षों ने किसी ऐसी सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये हों, जिसमें न्यायालय द्वारा मध्यावस्था, यदि सन्धि के क्रियान्वित होने में कठिनाई हो, स्वीकार किया गया हो।

न्यायालय का क्षेत्राधिकार—न्यायालय का क्षेत्राधिकार 3 भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) ऐच्छिक (Voluntary)
(2) अनिवार्य (Compulsory) तथा
(3) परामर्शात्मक (Advisory)।

(1) **ऐच्छिक**—न्यायालय को किसी मामले में निर्णय देने का अधिकार है जिसे विवाद से सम्बद्ध राज्यों ने अपनी इच्छानुसार न्यायालय को सौंपे हों। झगड़े को निर्दिष्ट करने की स्वीकृति दोनों पक्षों द्वारा दी जा चुकी है अथवा केवल एक पक्ष मामले को निर्दिष्ट करे और दूसरा पक्ष अपनी स्वीकृति या सहमति प्रकट करे।

(2) **अनिवार्य (Compulsory)**—सं० रा० संघ के चार्टर के 36वीं धारा के दूसरे खण्ड में यह स्पष्ट किया गया है कि न्यायालय के परिनियम (Statute) को मानने वाले राज्य किसी समय यह घोषणा कर सकते हैं कि वे विवादों को निपटाने के उद्देश्य से अन्य राज्यों द्वारा यह बाध्यता स्वीकार करने पर भी अपने न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वतः स्वीकार करते हैं। इस

घोषणा को वह सं० रा० संघ के महा मंत्री के पास, परिनियम स्वीकार करने वाले अन्य राज्यों के पास तथा न्यायालय के रजिस्ट्रार के पास भेजता है। न्यायालय का क्षेत्राधिकार निम्नलिखित किन्हीं भी विषयों से सम्बन्धित हो सकता है—

(अ) सन्धियों की व्याख्या करना (Interpretation of Treaties)

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कोई भी प्रश्न (Any question of International Law)।

(स) किसी भी तथ्य को उपस्थिति, जो कि यदि सिद्ध हो जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य भंग हो जायेगा। (The existence of any fact which if established would Constitute a breach of an international obligation) तथा

(द) यदि किसी राज्य ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमो का उल्लघन किया है तो उसके बदले में उसको कितनी क्षति पूर्ति देनी चाहिये।

(3) परामर्शात्मक (Advisory)—सं० रा० संघ के चार्टर की धारा 96 में कहा गया है कि 'महासभा या सुरक्षा परिषद किसी कानूनी प्रश्न के सम्बन्ध में न्यायालय से सम्मति माग सकती है। विशिष्ट एजेन्सिया तथा सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्य अंग भी महा सभा की स्वीकृति से मामलो को न्यायालय के पास परामर्श के लिये भेज सकते है। ओपेनहीम (Oppenheim) ने इस विषय मे लिखा है कि "परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार वास्तव में इससे कहीं अधिक उत्पादक और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है जितना कि मूलतया सोचा गया था। न्यायालय द्वारा दी गई परामर्शदात्री सम्मतियो की संख्या परामर्श मतों की सख्या निर्णय के रूप मे दिये गये मतों की सख्या की लगभग बराबरी करती है। परामर्शदात्री कार्यों की व्यवस्था का मुख्य ध्येय है सुरक्षा परिषद एवं महासभा को अपने कर्त्तव्यो के पालन करने में सहायता देना तथा उन विवादो को जो उनके सामने रखे गये हैं उनको निपटाने एवं प्रतिवेदन देने के कानूनी मत प्रदान करना।"[1]

न्यायालय के निर्णयों का आधार—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय निर्णय करते समय निम्नलिखित बातों का आश्रय लेगा—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय परम्परायें एवं रीति-रिवाज जिन्हे प्रायः कानून के रूप मे व्यवहार में लाया जाता है।

(2) सभ्य राष्ट्रो द्वारा स्वीकृत कानून के सामान्य सिद्धान्त।

(3) न्यायिक निर्णय और विविधि देशों के उच्च योग्यता प्राप्त राजनीतिक प्रवीणों के लेख या उपदेश।

(4) सामान्य अथवा विशेष अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय, जिनसे उन नियमों की स्थापना होती है जिन्हें विवादी राज्य स्पष्ट रूप से मान चुके हैं।

न्यायालय के निर्णयों की क्रियान्विति—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय अन्तिम होते है अर्थात् इसके निर्णयों के विरुद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। फिर भी सविदा की धारा 59 यह स्पष्ट करती है कि इस न्यायालय के समक्ष आये, अन्य राष्ट्रों को ऐसे

[1] The advisory Jurisdiction has in fact proved to be much more fertile and more important then was originally contemplated. The number of advisory opinions given by the court almost equals that given by way of Judgement. The advisory function of the court is designed primarily to assist the Security Council and General Assembly in the discharge of their duties of conciliating and reporting upon disputes submitted to them by affording them an authoritating legal opinion upon points of Law. —*Oppenhiem.*

मामलों के निर्णय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। न्यायालय के निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये धारा 94 के खण्ड दो मे कहा गया है कि यदि विवाद से सम्बन्धित कोई भी पक्ष न्यायालय द्वारा निर्णय के अनुसार अपने दायित्व को पूरा न करे तो विपक्षी को सुरक्षा परिषद की शरण लेनी चाहिए, जो कि न्यायालय के निर्णय को मनवाने के लिये आवश्यक सिफारिश करेगी।"[1]

सुरक्षा परिषद भी ऐसी कोई जिम्मेदारी नहीं रखती कि वह इस न्यायालय के निर्णय को मनवायेगी। वह चाहे तो सम्बन्धित राष्ट्र से इन निर्णयों को मानने के लिये सिफारिश कर सकती है। यहां भी निषेधाधिकार कार्य कर सकता है।

मूल्यांकन (Evaluation)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मूल्यांकन करते हुये भारत के भूतपूर्व विदेश मन्त्री एम० सी० छागला (भूतपूर्व सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधिपति) ने कहा है कि "न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सं० रा० संघ का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। यद्यपि यह पूर्ण नहीं है, इसके पास वह सत्ता और अधिकार नहीं है, जो इसे प्राप्त होने चाहिए, फिर भी यह एक महान विचार का मूर्त रूप है, एकमात्र यही विचार राष्ट्रों में शान्ति और सद्भाव लाने वाला है।"

इस विचार के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय बाध्यकारी नहीं होते हैं। इसके पास कोई सत्ता नहीं। सुरक्षा परिषद जो इसकी निर्माता है, वह भी निषेधाधिकार के सामने हथियार डाल देती है। अभी ऐसा कोई निर्णय नहीं हुआ जो जबरन किसी राष्ट्र से मनवाया गया हो।

संयुक्त राष्ट्र संघ का सचिवालय
(Secretariat of U. N. O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ के मसविदे के 15वें अध्याय में कार्य संचालन हेतु एक सचिवालय का उल्लेख भी आया है। इस सचिवालय का एक मुख्य सचिव (General Secretary) होता है जिसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा करती है। यह महासचिव संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा, सुरक्षा परिषद, न्यास परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की बैठकों में बैठता है। वह संयुक्त राष्ट्र संघ का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों या ऐसी घटनाओं की ओर आकर्षित करता है जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग होने की सम्भावना होती है। वह संगठन की वार्षिक रिपोर्ट महासभा में रखनी पड़ती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्त कार्यों का लेखा-जोखा उसे रखना पड़ता है। वह सचिवालय का मुखिया होता है अतः उसकी देखभाल वही करता है। सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति महासभा की अनुमति से वही करता है। कर्मचारी संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति वफादारी की शपथ लेते हैं और संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकारियों की आज्ञा मानते हैं। सचिवालय न्यूयार्क में स्थित है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलताएं एवं असफलताएं
(Success and Failure of United Nations Organization)

संयुक्त राष्ट्र संघ को अपने जीवन में कितनी सफलताएँ एवं असफलताएँ मिलीं, उसका अन्दाजा हम उसके कार्यों से लगा सकते हैं। उसके सामने अनेक विवाद रखे गये कुछ को वह सुलझा

चुका और कुछ अभी अधर में लटके हुए हैं। इन विवादों का संक्षिप्त सा परिचय यहाँ दिया जाता है :—

(1) रूस ईरान विवाद (Soviet–Iranian Dispute)—ईरान बहुत समय से ब्रिटेन और रूस के प्रभाव क्षेत्र में बँटा हुआ था। द्वितीय विश्व-युद्ध मे ब्रिटिश शेर के दाँत टूट गये अतः रूसी भालू खूँखार हो उठा। उसकी ललचाई निगाहें ईरान के तेल के कुओं पर लग गयीं। 1 जनवरी 1946 को रूस ने अपनी माँगें ईरानी सरकार के सामने रख दी और इनके स्वीकार न किये जाने पर रूसी सेनाएँ ईरान मे दाखिल हो गयीं। ईरान ने रूस पर आरोप लगाया कि वह उसके घरेलू मामलों में दखल दे रहा है। रूस ने आरोप की परवाह न की इस पर 19 जनवरी 1946 को ईरान के प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद में रूस के विरुद्ध शिकायत की और माँग की कि रूसी सेनाएँ आजरबेजन (Azarbaijan) को खाली कर दें जिस पर उसने अधिकार कर लिया है। उसने 1942 की "रूस, ब्रिटन और ईरान सन्धि" का हवाला दिया जिसमें साफ दिया गया था कि युद्ध समाप्ति के बाद ईरान में कोई विदेशी सेना नहीं रहेगी। रूस चाहता कि यह मामला सुरक्षा परिषद में न रखा जाये बल्कि आपसी वार्ता से सुलझाया जाय पर ब्रिटेन उसका पुराना प्रतिद्वन्द्वी था वह नहीं माना, उसने अमेरिका के साथ यह प्रश्न सुरक्षा परिषद में रख ही दिया। सुरक्षा परिषद ने तय किया कि पहले मामला आपसी वार्ता द्वारा हल करने का प्रयास किया जाय, फिर मामला न सुलझे तो सुरक्षा परिषद मे लाया जाय। रूस ने आग्रह किया इस मामले को ऐजेण्डे की सूची से काट दिया जाय पर उसका आग्रह न माना गया। रूस आपसी वार्ता के लिए तैयार था पर दो महीने वार्ता चली, जब कोई नतीजा न निकला तो ईरान ने पुनः 19 मार्च 1946 को मामला सुरक्षा परिषद में रखा। सुरक्षा परिषद ने निर्णय दिया कि रूसी सेनाएँ 6 मई तक आजरबेजन से हटाले। रूस पहले तो आनाकानी करता रहा अन्त मे 9 मई 1946 का उसने ईरान से सन्धि कर ली और अपनी सेना ईरानी क्षेत्र से हटा ली। इस पर अमेरिका के प्रतिनिधि डलेस ने कहा था कि "इस घटना द्वारा यह सिद्ध होता है कि जैसे चोर को चाँदनी से डर लगता है, वैसे ही आक्रमणकारी राष्ट्र संघ में होने वाले वाद-विवाद मे बदनामी से डरता है।"[1]

(2) यूनान विवाद (Greece Dispute)—द्वितीय विश्व-युद्ध में मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ जर्मन सेनाओं को भगाने के लिए यूनान में आयी थी। इसके बाद यूनानियों ने इन सेनाओं को साम्यवादी छापामारो से रक्षा के लिए रोक लिया था। जब 19 जनवरी को ईरान ने रूस के विरुद्ध सुरक्षा परिषद मे शिकायत की तो उसने भी 21 जनवरी 1943 को परिषद में ब्रिटिश सेनाओं को यूनान से निकालने की शिकायत की। रूस की सेनाएँ ईरान में ईरान की इच्छा के विरुद्ध घुसी थीं जबकि ब्रिटिश सेनाएँ यूनान मे यूनानी सरकार के निमन्त्रण पर आयी थीं, अतः दोनों मामलों में बड़ी भिन्नता थी। यूनान ने स्वय स्वीकार किया कि ब्रिटिश सेना उसकी इच्छा से घुसी है और उसे इसके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं। इस प्रकार रूस की शिकायत समाप्त कर दी गयी। कुछ समय बाद साम्यवादियों के छापामारों के हमले तेज हो गये। छापामारों को अल्बानिया, यूगोस्लाविया एव बल्गेरिया आदि साम्यावादी देश सहायता कर रहे थे। इस पर यूनान ने इन देशों के विरुद्ध सुरक्षा परिषद मे शिकायत की। परिषद ने जाँच आयोग बैठाया। आयोग ने जाँच कर यूनान की शिकायत को सही पाया पर सुरक्षा परिषद उपर्युक्त तीनो देशों के विरुद्ध कोई कार्यवाही न कर सकी क्योंकि रूस ने निषेधाधिकार का प्रयोग कर परिषद के बड़े कदमों को रोक दिया। सुरक्षा परिषद का आयोग यूनान में रहकर छापामारों की गतिविधियों को देखता रहा क्योंकि अल्बानिया, यूगोस्लाविया एवं बल्गेरिया ने जाँच आयोग को अपनी सीमा में नहीं घुसने दिया था।

---

[1] Dulles, John Foster : *War or Peace (Students Edition)*, p. 43.

यूनान छापेमारों से जूझता रहा। इसी बीच यूगोस्लाविया एवं रूस में मतभेद हो गया और मार्शल टीटो रूसी पंजे से मुक्त हो गया। रूस ने यूगोस्लाविया को सैनिक सहायता देनी बन्द कर दी तो संयुक्त राज्य अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से टीटो की सहायता करनी प्रारम्भ कर दी। यूगोस्लाविया ने छापामारों की सहायता बन्द कर दी तो यूनान ने अमेरिकन सेना की सहायता से छापामारों पर पूर्ण विजय पा ली। बाद में अमेरिकन सेना वापस चली गयी।

(3) बर्लिन की समस्या (Berlin Issue)—बर्लिन जर्मनी की राजधानी थी पर द्वितीय विश्व युद्ध में रूस, फ्रांस, ब्रिटेन तथा अमेरिका की सेनाओं ने चारों ओर से जर्मनी में प्रवेश किया और जर्मनी के हथियार डालने पर पूरे जर्मनी में मित्र राष्ट्रों की सेना छा गयी। रूस जिन-जिन क्षेत्रों पर अधिकार करता था उन-उन पर स्थायी अधिकार करता था और मार-मार कर वहाँ के व्यक्तियों को मुल्ला (साम्यवादी) बना लेता था। पूर्वी जर्मनी में रूस ने अधिकार जमाया था। उसके अधिकार क्षेत्र में जो क्षेत्र आया था वह बर्लिन के चारों ओर का था। बर्लिन को भी चारों शक्तियों ने बाँट लिया था। रूस पूर्ण बर्लिन पर अधिकार चाहता था। बर्लिन की घेराबन्दी करके रूस चाहता था कि पश्चिमी शक्तियों की सेनाओं का सम्बन्ध पश्चिम जगत से काट दे जिससे तंग आकर पश्चिमी शक्तियाँ बर्लिन, रूस को दे।

पश्चिमी शक्तियों ने अपने तीनों क्षेत्रों को एक कमान में रखकर उसे आर्थिक सहायता देकर उसका पुनर्निर्माण कर दिया था। पश्चिमी जर्मनी शीघ्र उन्नति करने लगा। पूर्वी जर्मनी के लोग अपने भाइयों की उन्नति देख उनसे मिलने के लिए बेचैन हो उठे। रूस आर्थिक कमजोरी के कारण पूर्वी बर्लिन तथा पूर्वी जर्मनी में आर्थिक सुधार न लागू कर सका। रूस ने एक मार्च 1948 को बर्लिन का घेरा डाल दिया और उस तक जाने वाले जल-थल मार्ग बन्द कर दिये। इससे पश्चिमी शक्तियाँ बड़ी क्रोधित हो उठीं। यह प्रश्न सुरक्षा परिषद में उठाया गया। रूस ने चार्टर की धारा 107 का हवाला देकर सुरक्षा परिषद को इस पर विचार करने के लिए अक्षम बताया। अमेरिका अड़ गया उसने 'शान्ति भंग' का मामला इसे बताया, यह बात परिषद ने मान ली। रूस ने धमकी दी कि वह परिषद की बैठक में उपस्थित न होगा।

पश्चिमी शक्तियों ने जल-थल की सेनाओं को तो छेड़ा नहीं पर वायु द्वारा बर्लिन से सम्बन्ध जोड़ लिया। वायुयानों को रोकने की सामर्थ्य रूस में न हुई। पश्चिमी शक्तियों ने भी अन्य प्रतिबन्ध रूस पर लगा दिये।

22 अक्टूबर 1948 को सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष, महासभा के महासचिव तथा अध्यक्ष ने इस समस्या को सुलझाने में बड़ी रुचि दिखाई। उन्होंने चारों शक्तियों पर सम्मिलित परिपत्र भेजा। इससे तथा अन्य प्रयत्नों से दोनों पक्षों में 4 मई 1949 को समझौता हो गया। इसकी सूचना परिषद को दे दी गयी। समझौते के अनुसार रूस पर से व्यापार तथा यातायात के प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये गये। रूस ने भी घेराबन्दी को समाप्त कर दिया। यह समझौता विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में हुआ न कि सुरक्षा परिषद में। कुछ भी हो युद्ध का संकट टल गया।

(4) इण्डोनेशिया का प्रश्न (Indonesian Issue)—द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व पूर्वी द्वीप समूह (East India) पर हालैण्ड का अधिकार था। युद्ध के दौरान जापान ने इस पर कब्जा जमा लिया। अन्त में जापान ने हथियार डाल दिये युद्ध समाप्त हुआ। हालैण्ड ने पुनः इन द्वीप समूहों पर अधिकार करना चाहा, उधर इन द्वीप समूहों के राष्ट्रवादियों ने जापान के हटते ही एक इण्डोनेशिया गणतन्त्र की स्थापना की घोषणा कर दी। इस प्रकार डचों और इण्डोनेशिया में संघर्ष छिड़ गया। 30 जुलाई 1947 को भारत और आस्ट्रेलिया ने सुरक्षा परिषद का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। सुरक्षा परिषद ने 1 अगस्त को युद्ध विराम की घोषणा की और एक सत्प्रयास

समिति (Good Offices Committee) स्थापित की। इस समिति में आस्ट्रेलिया, बेल्जियम तथा अमेरिका थे। समिति के प्रयास से दोनों पक्षों ने युद्ध बन्द कर दिया। इस समिति ने दोनों पक्षों में समझौता करा दिया। 17 जनवरी 1948 को अमेरिकन जलपोत "रैनविले" पर सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये।

परन्तु 18 दिसम्बर 1948 को हालैण्ड ने युद्ध विराम की अवहेलना कर पुन युद्ध छेड़ दिया। इस स्थिति पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद की सकटकालीन बैठक बुलाई गयी। बैठक में तय हुआ कि सुरक्षा परिषद हालैण्ड सरकार से युद्ध बन्द करने को कहे और गणराज्य के राष्ट्रपति एवं अन्य राजनीतिक कैदियों को छोड़ने के लिए कहे। इस प्रस्ताव के अनुसार सत्प्रयास समिति 'इण्डोनेशिया आयोग' में बदल गया।

परिषद के प्रस्ताव के अनुसार 1 जुलाई 1949 तक इण्डोनेशिया का एक सघीय स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की सिफारिश की। पहले तो हालैण्ड राजी न हुआ पर अमेरिका के दबाव तथा विश्व जनमत के सामने हालैण्ड को झुकना पड़ा। दोनों पक्षों में बैटेविया मे प्रारम्भिक वार्तालाप हुआ। डच सरकार ने इण्डोनेशिया से सेनायें हटाने का वचन दिया। इसके बाद हेग मे गोल मेज सम्मेलन हुआ जो 2 अगस्त से 2 सितम्बर 1949 तक चला। इसमें निश्चय किया गया कि इण्डोनेशिया को गणराज्य की सर्वोच्च सत्ता हस्तान्तरित कर दी जाय। यह निर्णय कार्यान्वित किया गया और 27 दिसम्बर 1950 को उसे सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता भी प्रदान कर दी गयी। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र सघ को इण्डोनेशिया के मामले मे सफलता प्राप्त हुई।

(5) **सीरिया तथा लेबनान का प्रश्न** (Syria Lebanon Issue)—सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में ही सीरिया तथा लेबनान से अपनी भूमि से ब्रिटिश सेना एव फ्रांसीसी सेना हटाने की माँग की थी। उस समय इस माँग पर कोई ध्यान न दिया गया। इसके बाद यह प्रश्न 4 फरवरी 1946 को सुरक्षा परिषद मे उठाया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ चाहता था कि अमेरिका की देख-रेख में विदेशी सेना सीरिया एव लेबनान से हटाई जायें पर रूस चाहता था वहाँ से तुरन्त सेनायें हटाई जायें। सुरक्षा परिषद मे अमेरिका के पक्ष में प्रस्ताव रखा गया पर रूस ने उसे वीटो कर दिया। अन्त में 30 अप्रैल 1946 को ब्रिटेन एवं फ्रांस ने अपनी-अपनी सेनायें हटा ली। इस प्रकार तनाव समाप्त हो गया।

(6) **स्पेन का मामला** (Spanish Case)—अप्रैल 1946 मे पोलैण्ड के प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद में शिकायत की कि स्पेन में फ्रांको की फासिस्ट सरकार है जो विश्व-शान्ति का एक खतरा है। पश्चिमी देशों ने "खतरे" के स्थान पर "राजनीतिक सकट" (Political Menace) शब्द का प्रयोग किया पर रूस ने वीटो कर दिया स्पेन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य न बनाया गया। पश्चिमी देशों ने रूस के विरुद्ध स्पेन पर से प्रतिबन्ध हटा लिये और 1955 में उसे सघ का सदस्य बना लिया।

(7) **फिलिस्तीन विभाजन** (Division of Palestine)—द्वितीय विश्व-युद्ध में यहूदियों ने मित्र राष्ट्रों को बड़ी सहायता दी थी मित्र राष्ट्रों ने उन्हें आश्वासन दिया था कि युद्ध के बाद फिलिस्तीन मे उन्हे राज्य स्थापित करने का अवसर दिया जायगा। वैसे विश्व-युद्ध के बाद ही अनेक यहूदी फिलिस्तीन मे बसने लगे थे। अरब इनसे जलते थे। अत: द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ से अरबो और यहूदियो मे सघर्ष चल रहा था। 1947 में ब्रिटेन ने फिलिस्तीन को जो उसके कब्जे में (मैंण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत था) था, सयुक्त राष्ट्र सघ को सौंप दिया। महासभा द्वारा नियुक्त एक समिति ने फिलिस्तीन के दो टुकड़े कर दिये। जेरुसलम को भी समिति ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र बनाने की सिफारिश की। महासभा ने समिति की सिफारिश को मानते हुए फिलिस्तीन आयोग की स्थापना की। ब्रिटेन ने 15 मई 1948 को अपना सरक्षण समाप्त कर दिया।

अरब और यहूदियों में संघर्ष बढ़ गया। 14 मई 1942 को यहूदियों ने इजराइल राज्य की स्थापना कर ली। इस पर लेबनान, ट्रांस जोर्डन तथा ईराक आदि देशों ने इजराइल पर आक्रमण कर दिया। यह समस्या अभी तक गम्भीर रूप से चल रही है। अब तक अरब-इजराइल युद्ध बार बार हो चुके हैं पर समस्या सुलझ नहीं पायी।

(8) ट्रीस्टे का विभाजन (Division of Treste)—प्रथम विश्व युद्ध के बाद ट्रीस्टे बन्दरगाह पर इटली का अधिकार मान लिया गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान इटली से यह बन्दरगाह छीन लिया गया था। युद्ध के पश्चात् रूस चाहता था कि ट्रीस्टे यूगोस्लाविया को दिया जाय। पश्चिमी राज्य उसे इटली को ही वापस कर देना चाहते थे। 10 फरवरी 1947 को इटली से संधि हो जाने पर ट्रीस्टे सं० रा० संघ को सौंप दिया गया था। बाद में यह निश्चय हुआ कि सुरक्षा परिषद द्वारा नियुक्त गवर्नर ट्रीस्टे का शासक बने। इसके साथ ही ट्रीस्टे के दो भाग भी कर दिये गये—एक भाग फ्रांस ब्रिटेन और अमेरिका को दिया गया और दूसरा भाग यूगोस्लाविला को दिया था। 1948 में पश्चिमी देशों ने ट्रीस्टे के बन्दरगाह को पुनः इटली को देना चाहा रूस की शह पाने पर यूगोस्लाविया ने पश्चिमी शक्तियों का विरोध किया। 8 अक्टूबर 1953 को प्रथम क्षेत्र इटली को सौंप दिया गया पर यूगोस्लाविया ने सेना के बल पर उक्त क्षेत्र पर कब्जा करना चाहा अतः पश्चिमी शक्तियों ने अपना इरादा बदल दिया। अन्त मे 1954 में इटली और यूगोस्लाविला मे एक संधि हो गयी। 1948 द्वारा किये गये पश्चिमी देशों के निर्णय को इस सन्धि मे मान लिया गया। एंग्लो-अमेरिकन सेना 'अ' क्षेत्र से हटाली गई 'ब' क्षेत्र यूगोस्लाविया का ही रहा। इस प्रकार ट्रीस्टे का विभाजन शान्ति पूर्ण ढंग से हो गया।

(9) कोरिया का प्रश्न (Korea Question)—1910 से कोरिया पर जापान का अधिकार चल रहा था। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के समय मित्र राष्ट्रों ने कोरिया को स्वतन्त्र राज्य बनाने का बचन दिया। जापान के हथियार डालते ही रूसी और अमेरिकी सेनाओं ने आधे-आधे कोरिया पर कब्जा कर लिया। 38 अक्षांश दोनों देशों के अधिकार क्षेत्र की सीमा मान ली गई। रूसी सेना ने उत्तरी कोरिया को साम्यवादी बना दिया। अमेरिका चाहता था कि कोरिया को संयुक्त कर उसे स्वतन्त्र कर दिया जाय और जनरल एसेम्बली के माध्यम से दोनों कोरियाओं से विदेशी सेनायें हटवादी जायें। रूस का मत था कि ऐसेम्बली यह प्रस्ताव पास करे कि 1943 के प्रारम्भ में कोरिया से पहले विदेशी सेनायें निकल जायें और फिर कोरिया के प्रतिनिधियों को महा सभा में बुलाकर उन्हें अपने देश के भाग्य का फैसला करने का अधिकार दिया जाय। महा सभा ने रूसी प्रस्ताव को नही माना। निश्चय किया कि कोरिया के सयुक्तीकरण के लिये एक आयोग बैठाया जाय जो दोनों कोरियाओं में चुनाव कराये। रूस के विरोध के कारण संयुक्त राष्ट्र का आयोग उत्तरी कोरिया मे प्रवेश न पा सका। आयोग ने दक्षिणी कोरिया में चुनाव कराये तथा वहाँ गणराज्य की स्थापना हो गई। संयुक्त राष्ट्र संघ ने दक्षिणी कोरिया को मान्यता दे दी डा० सिगमन रीहि (Syngman Rhee) प्रथम राष्ट्रपति बने संयुक्त राष्ट्र संघ ने दक्षिणी कोरिया के गणराज्य को पूर्ण कोरिया की सरकार के रूप में स्वीकार कर लिया। इस प्रकार 25 अगस्त 1948 को कोरिया स्वतन्त्र घोषित हुआ।

इसके बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से 7 सदस्यों का एक आयोग बनाया गया जिसका उद्देश्य दोनो कोरियाओं का एकीकरण करना था। एकीकरण के लिए दोनों पक्ष तैयार न थे। साम्यवादी पूर्ण कोरिया पर अधिकार चाहते और राष्ट्रवादी भी पूर्ण कोरिया पर अधिकार चाहते थे। अतः 38° अक्षांश की सीमा रेखा पर दोनों पक्षों में संघर्ष छिड़ गया। दक्षिणी कोरिया को 37 राज्यों ने मान्यता दे दी। अमेरिका ने दक्षिणी कोरिया से अपनी सेनायें हटाने की घोषणा कर दी। रूस और चीन के उकसाने पर उत्तरी कोरिया ने 25 जून 1950 को दक्षिणी कोरिया पर

आक्रमण कर दिया। अमेरिका द्वारा किये गये आग्रह पर सुरक्षा परिषद की सकटकालीन बैठक बुलाई गई। सुरक्षा परिषद ने तुरन्त युद्ध बन्द कर देने का आदेश दिया पर इस आदेश की अवहेलना करके उत्तरी कोरिया की सेनायें आगे बढ़ती रहीं। रूस उन दिनों चीन के प्रवेश के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद की बैठकों मे भाग न ले रहा था अत: अमेरिका के सैनिक कार्यवाही के प्रस्ताव को सुरक्षा परिषद ने पास कर दिया। पक्ष में 9 मत पड़े, यूगोस्लाविया ने मत नही दिया। प्रस्ताव मे दक्षिणी कोरिया को आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने को कहा गया था। 7 जुलाई 1950 को संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनायें तैयार की गई। जनरल मैक आर्थर को इन सेनाओ का सेनापति बनाया गया। भारत ने दक्षिणी कोरिया को डाक्टरी सहायता देने का वचन दिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनायें पहुँचने से पूर्व साम्यवादियो ने लगभग पूर्ण दक्षिणी कोरिया को जीत लिया था पर संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना के पहुँचते ही नक्शा बदल गया। साम्यवादी सेनायें पीछे हटने लगीं। अक्टूबर 1950 में संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना ने 35° अक्षांश को पार कर लिया। यह दृश्य देखकर चीन और रूस मे खलबली मच गई। भारत के प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना को यह परामर्श दिया कि वह 38° अक्षांश से आगे न बढ़े। जनरल मैकार्थर ने नेहरू जी का प्रस्ताव न माना और उत्तरी कोरिया के अधिकाश क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। तब चीन ने युद्ध मे सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपना 7वां बहरी बेड़ा फार्मूसा की रक्षा के लिए भेज दिया। चीन और भारत मे उस समय मित्रता थी अत: भारत ने अध्यक्षता की पर चीन और अमेरिका ने एक-दूसरे की कटु आलोचना की और भारत के प्रस्ताव को स्वीकार न किया।

चीन की सेना के आने पर पुनः उत्तरी कोरिया का पलड़ा भारी होने लगा। साम्यवादी सेना संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाओ को पीछे खदेड़ने लगी। उसने उत्तरी कोरिया को जीतकर दक्षिणी कोरिया में प्रवेश किया। संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना की सहायता संयुक्त राज्य अमेरिका ने की। अमेरिका कुमुक पहुँचने से पहले साम्यवादी सेना ने पुनः दक्षिणी कोरिया का अधिकांश भाग जीत लिया था पर अमेरिकन सेनाओं के पहुँचने पर साम्यवादी सेना हारने लगी और पीछे हटने लगीं। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना पुन: उत्तरी कोरिया में घुस गई। चीन और रूस को अब अपनी दुर्बलता का पता चला। शक्ति परीक्षण मे रूस और चीन बुरी तरह पिटे अत: वे पुन: 38° अक्षाश की सीमा रेखा के लिए चिल्लाने लगे। दोनो पक्षो में 25 अक्टूबर 1931 को पान मुनजोम (Pan Mun Jom) के स्थान पर समझोते की वार्ता चली। यह वार्ता दो वर्ष तक चली। युद्ध विराम हो चुका था पर एक समस्या पर दोनों पक्ष एक मत न हो सके। यह समस्या थी—"युद्ध बन्दियो की वापसी।" उत्तरी कोरिया की सेना के युद्ध बन्दी अपने देश लौटना नही चाहते थे। उन्हे अपनी जान का खतरा था। साम्यवादी पक्ष इस बात पर अड़ा था कि युद्ध बन्दियो को उनके ही देश को लौटाया जाय। अमेरिका चाहता था कि वापस लौटने के लिए युद्ध बन्दियों की इच्छा का ध्यान रखा जाय।

दोनों पक्ष अपनी-अपनी जिद्द पर अड़े थे। इस मतभेद को दूर करने के लिए 5 सदस्यों का एक आयोग बना जिसके अध्यक्ष भारत के जनरल थिमैया थे। आयोग के प्रयत्न से 27 जुलाई 1953 को स्थायी समझौता हो गया। 21 जनवरी 1954 तक युद्धबन्दियों की वापसी की समस्या भी हल हो गई। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रयत्न सफल हुआ। स्टीवेन्सन ने लिखा है कि "संघ की इस प्रथम महान सैनिक सामूहिक कार्यवाही द्वारा यह सिद्ध हो गया कि यह संगठन शक्ति एवं शान्ति दोनों ही प्रकार से कार्य लेने के लिए उत्तम है।"

भारत ने यद्यपि कोरिया संघर्ष में अपनी सेनायें नहीं भेजी पर डाक्टरी सहायता एवं मध्यस्थता से विश्व में भारी प्रशंसा अर्जित की। इसके शान्तिमय प्रयासों की दोनों ही पक्षों ने सराहना की।

(10) एंग्लो-ईरानी तेल विवाद (Anglo-Iranian Oil Dispute)—ईरान के तेल पर विदेशी कम्पनियों का अधिकार था, विशेष कर ब्रिटिश कम्पनियों का, पर ईरान सरकार ने तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया। ब्रिटेन द्वारा कहा गया कि विवाद का निर्णय मध्यस्थता द्वारा होना चाहिए। उसने 5 जुलाई 1951 को यह विवाद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सामने रखा। न्यायालय ने ईरान को आदेश दिया कि जब तक विवाद का निबटारा न हो ब्रिटिश तेल कम्पनियों को अपना कार्य करने दिया जाय। ईरान ने घोषणा की कि ईरान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्राधिकार से बाहर है। उसने ब्रिटिश तकनीशियन्स को ईरान से निष्कासित कर दिया। 29 सितम्बर 1951 को यह प्रश्न कि ईरान न्यायालय के क्षेत्राधिकार में है या नहीं, सुरक्षा परिषद में रखा गया। सुरक्षा परिषद तब तक इस प्रश्न पर विचार करना नहीं चाहती थी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपना अन्तिम निर्णय न दे।

22 जुलाई 1952 को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना निर्णय सुना दिया कि "ईरान की तेल समस्या" उसके क्षेत्राधिकार के बाहर है और अपने पूर्व निर्देश को रद्द कर दिया। बाद में यह मामला दोनों पक्षों की आपसी वार्ता से हल हो गया।

(11) बर्मा में चीनी सेनायें (Chinese Troops in Burma)—बर्मा और चीन में सीमा विवाद चल रहा था। चीन ने अपनी सेनायें बर्मा के प्रदेश में अनाधिकृत रूप से प्रवेश करा दी। बर्मा ने 1953 के प्रारम्भ में चीन के विरुद्ध महासभा में शिकायत की और प्रार्थना की कि चीनी सेनाओं को बर्मा प्रदेश से निष्कासित किया जाय। 23 अप्रैल 1953 को महासभा में चीनी सेनाओं के कार्य की निन्दा का प्रस्ताव पास हुआ। उसने आदेश दिया कि चीनी सेनायें तुरन्त बर्मा के प्रदेश को खाली कर दें और आपसी झगड़ा पारस्परिक वार्ता से तय करें। चीन ने इसकी परवाह न दी। अन्त में थाईलैण्ड, अमेरिका, राष्ट्रवादी चीन एवं बर्मा की *"संयुक्त सैनिक समिति"* ने चीनी सेना को बर्मा से बाहर कर दिया।

(12) मोरक्को एवं ट्यूनीशिया विवाद (The Dispute of Moracco and Tunisia)—मोरक्को तथा ट्यूनीशिया दोनों ही फ्रांस के उपनिवेश थे। यह दोनों क्षेत्र उत्तरी अफ्रीका में स्थित हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात वहाँ स्वतन्त्रता आन्दोलन तेज हो गया। 1951 में कुछ अरब देशों के प्रतिनिधियों ने फ्रांस के विरुद्ध इन उपनिवेशों में चार्टर के उल्लंघन की शिकायत की। महासभा में इस प्रश्न पर विचार चला। फ्रांस ने आपत्ति की यह उसका घरेलू मामला है अतः महासभा इस मामले पर विचार नहीं कर सकती है। इस आपत्ति को महासभा ने अस्वीकार कर दिया और 1952 में एक प्रस्ताव पारित कर दिया। *प्रस्ताव के शब्द थे कि 'फ्रांस मोरक्को की जनता को मौलिक स्वतन्त्रता देने का प्रयास करेगा।" फ्रांस ने इस प्रस्ताव की उपेक्षा* की। इस पर 13 अफ्रेशियायी देशों ने सुरक्षा परिषद की *आपातकालीन बैठक बुलाने की माँग* की। सुरक्षा परिषद ने इस प्रश्न पर विचार *नहीं किया पर महासभा ने चाहा कि फ्रांस और* मोरक्को में परस्पर वार्ता होनी चाहिए। 2 मार्च 1956 को फ्रांस और मोरक्को में एक सन्धि हो गई। सन्धि में फ्रांस ने मोरक्को पर अपना अधिकार छोड़ना स्वीकार किया। *12 नवम्बर 1956* को मोरक्को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया।

ट्यूनिशिया में भी स्वतन्त्रता की आवाज उठी। 2 अप्रैल 1952 को 11 अफ्रेशियायी देशों ने तथा ट्यूनिशिया के प्रधानमन्त्री ने सुरक्षा परिषद में अपनी *आवाज उठाई*। इस पर फ्रांस [illegible] परिषद में *यह प्रश्न न उठने दिया*। इसके बाद

अरब देशों ने महासभा के विशेष अधिवेशन बुलाने की माँग की पर इस माँग पर आवश्यक मत न मिल सके। 7वें अधिवेशन मे यह प्रश्न सभा की कार्यसूची मे रखा गया। 7वें तथा 9वें अधिवेशन में इस प्रश्न पर विचार चला पर दोनों पक्षों में समझौते की वार्ता भी चलती रही। जब वार्ता समाप्त हो गई तो महासभा की कार्यसूची से यह प्रश्न निकाल दिया गया। अन्त मे 20 मार्च 1955 को ट्यूनिशिया स्वतन्त्र कर दिया गया। 12 नवम्बर 1956 मे वह सयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया।

(13) अमेरिकन हवाबाजों का मामला (The Case of American Pilots)—अमेरिका और चीन में बहुत पुरानी शत्रुता चल रही थी। कोरिया युद्ध मे शत्रुता और बढ गई। इस युद्ध के दौरान चीन ने 11 अमेरिकन जहाजो के हवाबाजों को पकड़कर बन्दी बना लिया था। 10 दिसम्बर 1954 को संघ के कुछ सदस्यों द्वारा महामन्त्री से उन्हे छुड़ाने के सम्बन्ध मे प्रयास करने का अनुरोध किया गया। चीन उपर्युक्त हवाबाजों को पीडा पहुँचा रहा था। संघ के सदस्य कह रहे थे कि चीन कोरिया की विराम-सन्धि की अवहेलना कर रहा है। महासचिव चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ एन लाई से मिले। महासचिव के सत्प्रयास से अमेरिका ने चीनी विद्यार्थियों को छोड़ दिया था जो उसने रोक रखे थे और चीन ने इन 11 हवाबाजों को छोड दिया।

(14) दक्षिण अमेरिका में भारतीयों की समस्या (Question of Indians in South Africa)—*भारत नागरिकों के साथ दक्षिण अफ्रीकन सरकार बड़ा अपमानजनक व्यवहार करती* थी। भारत ने महासभा के प्रथम अधिवेशन मे दक्षिण अफ्रीका पर मानव अधिकारो के अपहरण का आरोप लगाया। दक्षिण अफ्रीका की सरकार इसे घरेलू मामला कहकर पुकारती थी। महासभा ने इसे घरेलू मामला स्वीकार नही किया। 1 नवम्बर 1946 को महासभा मे एक प्रस्ताव पारित कर अफ्रीका से रंग-भेद-नीति को त्यागने का आग्रह किया पर अफ्रीका ने इसे घरेलू मामले मे संघ का बेजा हस्तक्षेप बताया।

जून 1950 में दक्षिण अफ्रीका ने 'दलीय क्षेत्र अधिनियम" पास कर श्वेत-अश्वेत के रहने हेतु अलग-अलग क्षेत्र निर्धारित किये। इस अधिनियम के विरुद्ध भारत ने दक्षिण अफ्रीका से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिए। महासभा ने गोलमेज सम्मेलन कर मतभेद दूर करने की सलाह दी। महासभा ने एक आयोग भी इस विषय मे नियुक्त किया पर दक्षिण अफ्रीका की जिद्द के आगे कुछ न हुआ। यह समस्या आज तक न सुलझायी जा सकी।

(15) कश्मीर की समस्या (The Kashmir Dispute)—1947 मे भारत स्वतन्त्र हो गया। अंग्रेजों ने चलते समय देशी रियासतों को मुक्त कर दिया। रियासतें पाकिस्तान या हिन्दुस्तान मे मिलने के लिए स्वतन्त्र कर दी गयी। कश्मीर का राजा हिन्दू था पर जनता मुसलमान थी अतः पाकिस्तान उस पर कब्जा करना चाहता था जब कश्मीर राजी से उससे मिलने को तैयार न हुआ तो पाकिस्तान ने 22 अक्टूबर 1977 को कबाईलियों से उस पर आक्रमण कर दिया। कश्मीर ने भारत से विलय होने के लिए सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। भारत का अंग समझकर कश्मीर मे लुटेरो को भगाने के लिए भारत सेना कश्मीर पहुँच गयी। इस सेना के सामने कबाइली हथियार डाल-डालकर भागने लगे। कुछ मुस्लिम साथियों की सलाह से भारत के प्रधानमन्त्री ने पूर्ण कश्मीर विजय से पूर्व ही सं० रा० सघ से पाकिस्तान के विरुद्ध शिकायत की। सं० रा० सघ के प्रयास से युद्ध विराम सन्धि दोनो देशों मे हो गई पर इस मामले को अभी तक नही सुलझाया गया। सं० रा० सघ इस मामले मे असफल हो गया।

(16) स्वेज नहर विवाद (Suez Canal Dispute)—1936 मे इटली और एबीसीनिया के युद्ध के समय से एक सन्धि के अनुसार मिस्र ने स्वेज नहर की सुरक्षा के लिए स्वेज नहर

क्षेत्र मे ब्रिटिश सेना रहने देना स्वीकार कर लिया था । 1950 मे मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन तेजी से चला । वहाँ के शाह फारुक ने स्वेज नहर क्षेत्र को विदेशी सेनाओं से रिक्त कराने का प्रयत्न किया । पर ब्रिटेन ने इस बात पर कोई ध्यान न दिया । दोनों देशों में मन-मुटाव हो गया । 26 जुलाई 1956 मे कर्नल नासर ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी । इस पर ब्रिटेन, फ्रांस और इजराइल ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया । सुरक्षा परिषद मे यह प्रश्न रखा गया । 7 नवम्बर 1956 को महासभा ने तीनों शक्तियों को आदेश दिया कि वे तीनो देश उक्त क्षेत्र से अपनी सेना हटा लें । विश्व जनमत भी फ्रांस और ब्रिटेन के विरुद्ध था अतः उन्हें अन्त मे महासभा की बात माननी पड़ी । यह मामला तो निबट गया पर अरब-इजराइल युद्ध का यह विशेष कारण बना ।

(17) अन्य मामले (Other Disputes)—कुछ अन्य विवाद हैं जो स० रा० संघ के सामने रखे गये उनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा । इन मामलो के नाम यहाँ दिये जाते हैं—हंगरी, पोलैण्ड एवं चैकोस्लावाकिया के मामले, अल्जीरिया विवाद, कांगो की समस्या, पश्चिमी इण्डियन विवाद, यू-2 विमान की दुर्घटना, आर० बी० 47 विमान काण्ड, साइप्रस की समस्या, गणराज्य का विवाद, चीन-भारत युद्ध, पाक-भारत युद्ध (1965 एव 71), अरब-इजराइल युद्ध, बंगला देश की स्वतन्त्रता आदि ।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्रत्येक राष्ट्र विश्व शान्ति स्थापित करने व विवादों को हल करने मे न तो पूर्णतः सफल रहा है और न असफल ही कहा जा सकता है । 1945 के बाद शीत युद्ध, परमाणु शस्त्रों के विकास । क्षेत्रीय सैनिक संगठनों के बन जाने आदि बातो ने इसका काम करना कठिन कर दिया है । यही नहीं कुछ इसकी अपनी व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी हैं । सबसे बड़ी समस्या धन के अभाव के कारण यह प्रभावकारी ढंग से कार्य नहीं कर पाता । दूसरे संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकांश सदस्य दुर्बल और गरीब है । वे स० रा० संघ के लिए एक निधि होने के बजाय जिम्मेदार हैं । विकसित राज्य अपना धन इन निर्धन राज्यो मे उसी तरह नही फैलाना चाहते जिस तरह कि एक अमीर गरीब की मदद करने को तैयार नही है । तीसरे संयुक्त राष्ट्र का प्रयोग राज्य छोटे-छोटे प्रश्न को उठाने के लिए करते हैं । इसका परिणाम यह है कि बड़े प्रश्नों की उपेक्षा होती है ।

बहुधा यह भी अनुभव किया जाता है कि पिछले 30 वर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ का दायरा बहुत बढ गया है । लेकिन राज्य आज भी उसके बुनियादी ढाँचे के बदलने को तैयार नही हैं । राज्य सम्प्रभु है । वे अपने सम्बन्धों को जरा भी कम नही करना चाहते हैं । कई बार यह माँग भी की गई है कि चार्टर को दोहराया जाय । लेकिन वर्तमान समय मे यह सम्भव नही दिखाई देता । इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की अपनी सेना हो या नहीं । यह भी बड़ा विवादास्पद विषय है ।

इन सबके बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि संयुक्त राष्ट्र के 32 वर्ष की अवधि के दौरान कोई बड़ा युद्ध नहीं हुआ है । सं० रा० संघ राज्यों के अपनी समस्याओं और शिकायतों के लिए एक मंच देता है । फिर गैर राजनीतिक क्षेत्र मे तो संयुक्त राष्ट्र की उपलब्धियाँ व सेवाएँ निश्चित रूप से महान हैं ।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ की क्या आवश्यकता थी । इसकी स्थापना से पूर्व क्या-क्या योजनाएँ बनीं ? स्पष्ट कीजिये ।
   What was the need of U. N. O.? What plans were made to establish the U. N. O.? Explain.

...का जन्म कैसे हुआ ? उसके चार्टर, उद्देश्य व सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ।

How was the U. N. O. established ? Explain its, objectives and principles.

3. सं० रा० संघ के सगठन तथा कार्यों की विवेचना कीजिए ?
   Describe the functions and organisation of U. N. O.
4. सं० रा० संघ के प्रमुख अगो का वर्णन कीजिए।
   Describe thr principal organs of U. N. O.
5. सं० रा० संघ की महासभा की रचना, शक्तियों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।
   Describe the Composition, powers and functions of General Assembly of U. N. O.
6. सं० रा० संघ की सुरक्षा परिषद की रचना, शक्ति, महत्ता एवं उसके कार्यों की विवेचना कीजिये।
   Discuss the composition, powers, importance and the functions of Security Council of United Nations Organisation.
7. निषेधाधिकार ने कौन-कौन सी समस्यायें उत्पन्न की हैं ? उसके पक्ष और विपक्ष मे मतों का वर्णन कीजिए। इसके दुरुपयोग के क्या-क्या परिणाम निकले ?
   What problems are created by the "Veto Power ?" Give opinion for and against the Veto Power ? What result came out by its misuse.
8. आर्थिक एव सामाजिक परिषद की रचना, शक्ति, उद्देश्य एवं सफलताओ का वर्णन कीजिए।
   Describe the composition, aims and achievements of Economic and Social Council.
9. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एवं न्यास परिषद पर टिप्पणियां लिखिए।
   Write notes on International Labour Organisation and Trusteeship Council.
10. न्यास व्यवस्था और मैण्डेट व्यवस्था की तुलना कीजिए।
    Compare the Trustee ship system with Mandate system.
11. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की रचना, शक्ति एवं कार्यो का विवेचन कीजिए।
    Discuss the composition, powers and functions of International Cour t of Justice.
12. विश्व शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने के हेतु सं० रा० संघ के योगदान पर एक निबन्ध लिखिए।
    Write an essay on the contribution of U. N. O. in maintaining peace and order in the World·
13. विश्व शान्ति की स्थापना के साधन रूप मे सं० रा० संघ की उपलब्धियों और असफलताओ की विवेचना कीजिए।
    Discuss the achievements and failures of the U. N. O. as an instrument for rhe establishment of world peace.
14. "सं रा० संघ राष्ट्र संघ के मार्ग पर जा रही है।" विवेचना कीजिए।
    "The U. N. O. is going the way of the League of Nations." Discuss.

20

संयुक्त राष्ट्र संघ : निःशस्त्रीकरण एवं सामूहिक सुरक्षा
(U. N. O. : Disarmament and Collective Security)

"निःशस्त्रीकरण ने राजनैतिक उत्तेजना को कम कर राजनीतिक अवस्था को सुधारा तथा एक दूसरे राष्ट्र की आदर भावना को उत्पन्न किया, इस प्रकार की निःशस्त्रीकरण की देन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बनाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को स्थापित करने में सहायता की। यद्यपि यह एक महत्त्वपूर्ण देन थी, तथापि यह स्पष्टतया अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, तथा व्यवस्था की समस्या को सुलझाने का कोई व्यवहारिक हल न था।"
—मार्गेन्थ्यू

"In order to promote the establishment and maintenance of the international peace and security with the least diversion for armaments of the world human and economic resource, the Security Council shall be responsible for formulating...... plans to be submitted to the members of the United Nations for the establisment of a system for the regulation of armaments. —U. N. Chartar, Article 26.

निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता
(Need for Disarmament)

मार्गेन्थ्यू का कहना है कि "हथियारों की दौड़ समाप्त करने के लिए कुछ या सभी हथियारों को कम अथवा समाप्त कर देना निःशस्त्रीकरण है।" निःशस्त्रीकरण वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस समस्या पर मानव-जाति का भावी भाग्य-निर्भर करता है। निःशस्त्रीकरण विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के भविष्य को निश्चित करने वाली समस्या है। राष्ट्र संघ द्वारा की गई इस विषय में समस्त कोशिशें बेकार हुईं और द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया। 6 वर्ष तक इन भयानक अस्त्र-शस्त्रों द्वारा मानव जाति का भारी विनाश होता रहा। निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता अनेक कारणों से अनुभव की गई। ये कारण निम्नलिखित हैं—

(1) मानव कल्याण के लिये शस्त्रों पर रोक लगाना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक राष्ट्र शस्त्रों पर अपनी राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा अंश व्यय करता है। प्रत्येक राष्ट्र शस्त्रों, विमानों, अणुबमों के बनाने में जो धन व्यय करता है वह उन व्यक्तियों की सम्पत्ति का अपहरण है, जो नंगे, भूखे, निराश्रय और बीमार हैं। उन्हें न भर पेट भोजन दिया जाता है, न तन ढकने का कपड़ा मिलता है और न उन्हें बीमारी से मुक्त होने के लिए दवादारू मिलती है। यदि शस्त्रों पर

व्यय की गई राशि, पिछड़े, अविकसित देशों के लोगो पर व्यय की जाती तो आज विश्व का रूप ही बदल गया होता ।

(2) द्वितीय विश्व युद्ध से बड़े राष्ट्रों ने कुछ पाठ नही सीखा और युद्ध समाप्त होते ही भयानक अस्त्र-शस्त्रो के निर्माण मे लग गये । अणु बम, हाइड्रोजन बम, प्रक्षेपणास्त्र तथा दूर तक मार करने वाले राकेट आदि के निर्माण में प्रगति ने सम्पूर्ण मानव जाति को मौत के चौराहे पर ला खड़ा कर दिया है । वैज्ञानिक आविष्कारो मे इतनी प्रगति हुई है कि भावी विश्व युद्ध मे कुछ मिनटो मे सम्पूर्ण विश्व को स्वाह किया जा सकता है । अब तो मानव जाति अगले युद्ध का नाम सुनकर भय से काप उठती है । हम कल्पना भी नही कर सकते कि भावी युद्ध में जो पीडायें, तबाही एवं विनाश होगा वह कितना विध्वंसकारी होगा । विजेता और विजित दोनों का ही सफाया हो जायगा । मानव जाति का बचना ही कठिन है और यदि कुछ लोग बचे भी तो वे अणु आयुधों के प्रयोग से निकले—"रेडियो विकीर्ण तत्वों" के कारण कोढ़ी, पगु और कैंसर आदि भयानक रोगों से ग्रस्त होगे, जिनको गल-गल कर मरना होगा । टायनबी के शब्दों मे "अणु युग मे यदि हमने युद्ध को समाप्त नहीं किया तो युद्ध ही हमें समाप्त कर देगा ।"

(3) शस्त्रीकरण की अन्धी दौड़ अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, भय, आतक एव असुरक्षा की भावना को जन्म देती है । जापान के नगर जो अणु बमों से ध्वस्त हुये हैं । उनकी दशा का अनुमान लगाकर भावी विनाश की कल्पना की जा सकती है । शस्त्रीकरण की दौड़ अन्ततः युद्ध को जन्म देती है अतः नि शस्त्रीकरण की माँग जोर पकड़ती जाती है ।

(4) शस्त्रों की दौड़ से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ता है । जो विश्व शान्ति के लिये खतरनाक है । पहले और दूसरे विश्व युद्ध इसके उदाहरण हैं ।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण की समस्या –प्रथम विश्व युद्ध के बाद से ही नि.शस्त्रीकरण का प्रयास प्रारम्भ हो गया था पर विजेताओं ने पराजित देशों का एक तरफा निःशस्त्रीकरण किया था । मित्र राष्ट्रों द्वारा रखी गई नि शस्त्रीकरण की सभी योजनायें आपसी मतभेदो के कारण असफल हो गई अत. पराजित देशों ने भी सब बन्धन तोड़ शस्त्रीकरण की ओर पग उठा दिया । परिणाम स्वरूप विश्व को द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका सहनी पड़ी । द्वितीय विश्व युद्ध के बाद नि.शस्त्रीकरण की समस्या पहले से कही अधिक जटिल हो गई । युद्ध से पूर्व तो यह प्रश्न पुराने अस्त्र-शस्त्रो (Conventional weapons) तक ही सीमित था पर द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होते-हाते अणु बम के प्रयोग ने इस प्रश्न को और भी उलझा दिया । द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त तक परमाणु बम का रहस्य केवल अमेरिका को ज्ञात था पर शीघ्र ही यह भेद रूस, ब्रिटेन, फ्रास और लाल चीन को ज्ञात हो गया । अतः विश्व के शान्ति प्रेमी लागो ने माँग प्रारम्भ कर दी कि शस्त्रीकरण की दौड़ को समाप्त किया जाय । शस्त्रों पर होने वाले व्यय को मानव कल्याणकारी कार्यों पर खर्च किया जाये । यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर नि.शस्त्रीकरण के लिये प्रयास प्रारम्भ हो गया था पर अभी तक उसमे कोई सफलता नही मिली है । इस असफलता के कारणो को गिनाने की आवश्यकता तो नहीं पर इस समस्या की जटिलता को समझने के लिये, उनका संक्षिप्त विवरण आवश्यक है ।

समस्या की उत्पत्ति—स० रा० संघ के चार्टर की दूसरी धारा मे निःशस्त्रीकरण का उल्लेख किया गया है । 1946 के अन्तिम दिनों मे सर्व प्रथम रूस ने निःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर विचार करने के लिए प्रस्ताव रखा था । रूस के विदेश मन्त्री मोलोतोव ने हर प्रकार से शस्त्रों के उत्पादन को पूर्णरूप से मन्द करने का प्रस्ताव रखा था । 14 सितम्बर 1946 को सं० रा० संघ की महासभा ने प्रस्ताव को पास कर सुरक्षा परिषद् को इस आशय का आदेश दिया कि वह हथियार-बन्दी की होड़ को बन्द करे और नि.शस्त्रीकरण के लिये योजना बनायें । इसके बाद दो आयोगों

की स्थापना की गई—अणुशक्ति आयोग तथा परम्परागत शस्त्रास्त्रों के लिये आयोग का उद्देश्य था परमाणु बम के उत्पादन को सीमित करना तथा दूसरे आयोग का उद्देश्य था शस्त्रों तथा सेना को कम करने की योजना बनाना परन्तु निःशस्त्रीकरण की समस्या कोई साधारण समस्या नहीं रही थी। उस समय अकेला सं० रा० अमेरिका ही परमाणु बम पर एकाधिकार रखता था और वह उसके रहस्य को किसी देश को बताना नहीं चाहता था। रूस अपने को कमजोर समझ कर यह सुझाव रखता था कि अणु बम के उत्पादन पर शीघ्र ही नियन्त्रण हो जाना चाहिये तथा जितने बमों का उत्पादन हो चुका है, उन्हें जल्द से जल्द नष्ट कर देना चाहिये। उस समय तक शीत युद्ध भी प्रारम्भ हो चुका था और दुनिया के देश दो गुटों में बँट चुके थे एव राजनयिक पैंतरबाजी प्रारम्भ हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में रूस का प्रस्ताव "नक्कार खाने में तूती की आवाज" बन गया था। अमेरिका ने अणु बमों का उत्पादन जोरों से प्रारम्भ कर दिया था। इस पर रूस ने आरोप लगाया कि अमेरिका विश्व शान्ति का शत्रु है और युद्ध की तैयारी में लगा है। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में दोनों गुटों की ओर से तरह-तरह के प्रस्ताव रखे जाने लगे। अमेरिका भी ऐसे प्रस्ताव रखता था जिन्हें वह जानता था, कभी रूस को स्वीकार न होंगे। रूस की भी यही नीति थी कि वह ऐसे प्रस्ताव रखे जो अमेरिका को स्वीकार न हो। एक ओर रूस अमेरिका से अणु बमों को नष्ट करने के लिये कह रहा था और दूसरी ओर वह अणु बम बनाने के चक्कर में लगा था। कुछ समय बाद रूस ने अणु बम का परीक्षण किया। यह देखकर अमेरिका तथा उसके मित्रों ने पश्चिमी जर्मनी को अस्त्र-शस्त्रों से लैस करना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त अनेक सैन्य संगठन और सैन्य सन्धियां कायम की जाने लगीं। विश्व शान्ति का भविष्य अन्धकारमय दिखाई देने लगा।

सं० रा० संघ द्वारा स्थापित आयोगों का कार्य ठप्प हो गया। यद्यपि दिखावे के लिये निःशस्त्रीकरण की बातचीत चलती रही। अक्टूबर 1950 में अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह प्रस्ताव रखा कि दोनों आयोगों को मिलाकर एक आयोग बनाया जाये। महा सभा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और एक निःशस्त्रीकरण आयोग की रचना की गई जिसके सदस्य सुरक्षा परिषद के सभी सदस्य और कनाडा बनाये गए। पर इस आयोग की स्थापना का भी कोई अच्छा परिणाम न निकला। अतः 1953 में जब गतिरोध बढ़ गया तो महा सभा ने यह सुझाव दिया कि इस कार्य के लिये एक उपसमिति की नियुक्ति की जाये। इस सुझाव के अनुसार अप्रैल 1954 में उप समिति का निर्माण हो गया। इस समिति में रूस, ब्रिटेन, फ्रांस एवं कनाडा सदस्य बने। समिति कई वर्षों तक इस प्रश्न पर बातचीत करती रही। भिन्न-भिन्न प्रस्ताव रखे जाते रहे। कभी-कभी तो आशाओं का संचार होता और फिर निराशा छा जाती।

निःशस्त्रीकरण व संयुक्त राष्ट्र संघ
(*Disarmament and the U. N. O.*)

निःशस्त्रीकरण का प्रधान प्रचार के लिये—रूस यह कभी नहीं चाहता था कि निःशस्त्रीकरण हो। उसके द्वारा रखी गई सभी योजना केवल विश्व जनमत को आकर्षित करने के लिये थी उनको व्यवहार में नहीं लाया जा सकता था। रूस के प्रस्तावों को जब अमेरिका नहीं मानता था तब वह शोर मचाता कि वह तो शान्ति की स्थापना के लिये प्रयत्नशील है पर अमेरिका तो शान्ति विरोधी, साम्राज्यवादी और युद्ध लोलुप है निःशस्त्रीकरण के लिये तैयार नहीं। इस प्रकार वह प्रचार द्वारा अमेरिका को बदनाम करने पर तुला हुआ था। शीत युद्ध के कारण पश्चिमी शक्तियाँ रूस की प्रत्येक योजना को शंका की दृष्टि से देखती थीं। वे अपनी योजना भिन्न रूप से रखती थीं किन्तु रूस मानने से इन्कार कर देता था। सं० रा० संघ में चूँकि बहुमत पश्चिमी शक्तियों का था अतः और वे नहीं चाहती थीं कि निःशस्त्र होकर वे रूस के शिकार बनें। रूस ने

आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों का भण्डार बना रखा था और इस भण्डार को वह बढ़ाता रहता था। इन प्रचारात्मक कार्यों से दोनों गुट एक-दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप लगाते रहते थे। किसी भी योजना पर ये दोनों गुट एकमत नहीं होते थे। स० रा० संघ की महासभा द्वारा रखे गये प्रस्ताव इस प्रकार युद्ध के सामने बेकार हो जाते थे।

(1) आइजनहावर योजना—संयुक्त राष्ट्र संघ के 1948 के अणुशक्ति आयोग की असफलता के बाद 1952 में नि:शस्त्रीकरण आयोग बना। पर रूस की जिद् के कारण यह आयोग भी असफल हो गया क्योंकि इसकी सिफारिश को राष्ट्रों ने मानने से इन्कार कर दिया। 1953 में कोरिया युद्ध बन्द हो गया। तब कुछ वातावरण शान्त हुआ। रूस ने तब एक प्रस्ताव रखा कि समस्त शक्तिशाली राष्ट्र अपने समस्त सैनिक अड्डे समाप्त कर दें। उसने यह भी सूचना दी कि उसके पास एटम बमों के अलावा हाइड्रोजन बम भी हैं पर यह प्रस्ताव भी रद्दी की टोकरी में पहुँच गया।

राष्ट्रपति आइजनहावर ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में 8 दिसम्बर 1953 को एक भाषण दिया। इसमें उन्होंने नि:शस्त्रीकरण की एक नवीन योजना रखी। इस योजना में यह सुझाव था कि सभी राष्ट्र अपनी-अपनी सेनाओं का विवरण दें तथा अगर सेना सम्बन्धी सूचनाओं के विषय में परस्पर विनिमय (Exchange) करें तथा इन सूचनाओं की जाँच परस्पर "खुली उड़ान" द्वारा की जाये। अपना भेद रूस देने को तैयार न हुआ। उसने "खुले आकाश" की योजना का विरोध किया। आइजनहावर योजना में यह भी सुझाव था कि सभी राष्ट्र अपने अणु आयुधों को संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंप दें। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अणु शक्ति के परीक्षण की व्यवस्था भी इस योजना के अन्दर थी। भारत के प्रधानमन्त्री ने "अणु-शक्ति के प्रयोग" पर रोक लगाने की बात दोहरायी। रूस इस योजना को मानने को तैयार न हुआ। वह यह बताना नहीं चाहता था कि उसकी सैन्य शक्ति कितनी है। यदि वह झूठ बोलता तो 'खुली उड़ान' द्वारा उसका खण्डन हो जाता। वह चाहता था कि उसके गुप्त शस्त्र भण्डार बने रहें, उसकी सेना बनी रहे और अन्य राष्ट्र अपने अणुबमों के भण्डार एवं शस्त्र नष्ट कर दें तथा सेनायें कम कर दें और अवसर पाकर वह संसार को अपने साम्राज्य में ले ले। अमेरिका रूस की इन चालों से परिचित था अत: वह रूस के बहकावे में नहीं आना चाहता था। अत: आइजनहावर की योजना भी सफल न हुई।

नि:शस्त्रीकरण उपसमिति के सुझाव—1954 में संयुक्त राष्ट्र संघ की उपसमिति ने अपने सुझाव अक्टूबर 1954 में सामान्य सभा के सामने रखे। ये सुझाव निम्नलिखित थे :—

(1) किसी राष्ट्र के पास इतनी सेना न रहे, जो दूसरे राष्ट्रों के लिए खतरा बनी रहे। इस सुझाव के मानने में परेशानी यह थी कि सेना का अनुपात निर्धारित करने का आधार क्या रहे।

(2) फ्रांस तथा ब्रिटेन ने प्रस्ताव रखा था कि अणुशक्ति का प्रयोग शान्ति के लिए किया जाये। समिति ने इस सुझाव को मानकर उसे अपने प्रतिवेदन में सम्मिलित कर लिया। पर यह प्रस्ताव भी निरर्थक था क्योंकि इसमें शस्त्रों के नाम दिये थे।

इस रिपोर्ट को भी दोनों गुटों ने एक दूसरे पर सन्देह के कारण नहीं माना।

शिखर सम्मेलन—नि:शस्त्रीकरण की समस्या को सुलझाने के लिए एक शिखर सम्मेलन बुलाने की योजना बनी। 1955 में ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस के शासनाध्यक्ष एवं विदेशमन्त्री जेनेवा में एकत्रित हुए। इस सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ का आयोग अपना कार्य जारी रहे तथा यह भी विश्वास व्यक्त किया गया कि विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के लिए नि:शस्त्रीकरण अनिवार्य है। सम्मेलन ने यह भी निश्चय कि अणु-शक्ति का प्रयोग मानव-मात्र के कल्याण के लिए और आर्थिक उत्थान के लिए किया जाना आवश्यक है। अभी तक

सभी सम्मेलन की अपेक्षा यह शिखर सम्मेलन अधिक सफल रहा। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री का कहना था कि इस सम्मेलन में परस्पर सद्भावना जागी एवं सन्देहों में कमी हुई।

रूस ने सम्मेलन में यह प्रस्ताव रखा कि निःशस्त्रीकरण हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण एजेन्सी की स्थापना की जाये। इसके साथ ही विदेशों में स्थित सभी देशों के सैनिक अड्डे समाप्त किये जायें। आणुविक शस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाई जाय पर पश्चिमी गुट के देशों ने यह बात नहीं मानी। भारत ने रूस के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए अणुबमों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की तथा सुझाव दिया कि शस्त्रों में कमी करने के लिए एक अल्पकालीन समझौता (Interim Agreement) किया जावे। पश्चिमी शक्तियों ने यह प्रस्ताव भी ठुकरा दिया।

लन्दन सम्मेलन—लन्दन में उपसमिति का एक बैठक हुई पर दोनों गुटों में पुनः मतभेद बढ़ जाने से इस समिति को कोई सफलता न मिल सकी। 14 जून 1957 को इस उपसमिति में रूस के प्रधानमन्त्री बुल्गानिन ने एक निःशस्त्रीकरण की योजना प्रस्तुत की जिसमें तीन सुझाव थे :—

(i) दो वर्ष के लिए आणुविक परीक्षण पर रोक लगे।
(ii) इसके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग नियुक्त किया जाय।
(iii) अमेरिका, ब्रिटेन एवं रूस की चौकियाँ निरीक्षण हेतु प्रशान्त महासागर में स्थापित की जाये।

पश्चिमी शक्तियाँ रूस के सुझावों को मानने को तैयार न थी। वे तो अपने प्रस्ताव को दोहराती रही। आइजनहावर अपनी योजना "उन्मुक्त आकाश" को, दोहराता रहा जिसे रूस मानने को तैयार न था। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस एवं कनाडा ने पुनः एक प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव में दो वर्ष के लिए अणु परीक्षण पर रोक लगाना तथा निरीक्षण के लिए हवाई जाँच की व्यवस्था पर जोर दिया गया था। जाँच वाली बात रूस ने अस्वीकार कर दी। 6 सितम्बर 1957 को उपसमिति ने अपनी असफलता की घोषणा कर दी।

भारत का 1957 प्रस्ताव—26 सितम्बर 1957 को संघ की महासभा में एक प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव में निःशस्त्रीकरण आयोग एवं उपसमिति की सदस्य संख्या बढ़ाना तथा आणुविक शस्त्रों को समाप्त करने पर जोर दिया था। यह प्रस्ताव महासभा ने स्वीकार कर लिया पर महाशक्तियों ने इसमें कोई रुचि न ली।

बुल्गानिन का प्रस्ताव—रूस एक ओर तो निःशस्त्रीकरण के लिए एक के बाद दूसरा प्रस्ताव रख रहा था और दूसरी ओर नये-नये अस्त्रों का उत्पादन कर रहा था। उसने घोषणा की कि उसने अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का सफल परीक्षण कर लिया है, इस प्रयोग से वह विश्व के किसी भी कोने में स्थित महाद्वीप को विध्वंस कर सकता है। इस सूचना से पश्चिमी राज्यों में भय एवं आतंक फैल गया। रूस ने 4 अक्टूबर 1957 को एक कृत्रिम उपग्रह (Sputnik) छोड़ा। उपग्रह ने पृथ्वी का चक्कर लगाया। अब निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता अधिक बढ़ गयी। 3 फरवरी 1958 को रूस के प्रधानमन्त्री बुल्गानिन ने अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर के सामने एक नयी योजना प्रस्तुत की। प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :

(1) आकस्मिक आक्रमण को रोकने के लिए समझौता हो।
(2) अणुबमों एवं उद्जन बमों का परीक्षण बन्द किया जाय।
(3) जर्मनी एवं अन्य यूरोपियन राज्यों में विदेशी सेनाएँ कम की जायें।
(4) नाटो एवं वार्सा पैक्ट के सदस्यों में समझौता हो।
(5) अमेरिका, रूस, ब्रिटेन द्वारा अणुविक शस्त्रों का प्रयोग न किया जाये।

इन प्रस्तावों में अमेरिका ने कोई दिलचस्पी न ली। 15 मार्च 1958 को रूस ने उपर्युक्त *प्रस्तावों को आधार बनाकर दूसरे प्रस्ताव इस प्रकार रखे।*

(1) सैनिक प्रयोजनों के लिए वाह्य आकाश (Outer space) का प्रयोग न किया जाये।

(2) संयुक्त राष्ट्र सघ की अध्यक्षता में एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था स्थापित की जाय जो वाह्य आकाश को सैनिक प्रयोजन के लिए प्रयोग न होने दे।

रापा की योजना—निःशस्त्रीकरण के लिए यद्यपि कोई भी राष्ट्र तैयार न था पर प्रचार के लिए दोनों गुटों ने यह प्रदर्शित करना चाहा कि वे निःशस्त्रीकरण के लिए तैयार है पर दूसरा गुट युद्ध चाहता है, *अतः वह नि.शस्त्रीकरण के लिए तैयार नही।* इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वार्सा पैक्ट के एक सदस्य पोलैण्ड ने 19 फरवरी 1958 को अपने विदेशमन्त्री रापाकी द्वारा नि.शस्त्रीकरण सम्बन्धी योजना प्रस्तुत कराई। इस योजना मे पोलैण्ड चैकोस्लाविया, पूर्वी एव पश्चिमी जर्मनी को अणुविहीन क्षेत्र (Atom Free Zone) बनाने का सुझाव दिया गया। इस योजना का उद्देश्य यूरोप मे शान्ति स्थापना करना था। रूस ने रापाकी योजना का समर्थन किया। इस योजना को पश्चिमी देशों ने ठुकरा दिया।

31 मार्च 1958 को रूस ने एक और महत्त्वपूर्ण एव आश्चर्यजनक कदम उठाया। उसने घोषणा की कि वह आणुविक परीक्षण वन्द कर रहा है, अत. अन्य राष्ट्र भी ऐसा ही करे। इसने यह भी धमकी दी कि यदि अन्य राष्ट्र अपने परीक्षण न रोकेंगे तो वह पुन. परीक्षण प्रारम्भ कर देगा। *इस घोषणा को राष्ट्रपति आइजनहावर ने प्रचारात्मक बताया और रूस पर निःशस्त्रीकरण* के प्रयासों को नष्ट करने का आरोप लगाया। इतना कहने के बाद भी उन्होंने वचन दिया कि यदि ऐनीविटाक (*Enevitok*) मे चल रहे परीक्षण के समाप्त होते हो यह सिद्ध हो गया कि रूस ने वास्तव मे अणु परीक्षण बन्द कर दिये हैं तो वह भी ऐसे परीक्षण वन्द कर देगा। रूस की घोषणा का खोखलापन तब प्रकट हुआ कि 6 महीने भी न बीत पाये थे कि सितम्बर 1958 मे उसने परीक्षण पुनः चालू कर दिये और ब्रिटेन एव अमेरिका पर आरोप लगाया कि रूस के परीक्षण बन्द कर देने का इन देशों ने बेजा लाभ उठाया। यह प्रचार राजनीति के सिवा और कुछ न था।

जेनेवा सम्मेलन 1958—31 *अक्टूबर 1958 मे निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी सम्मेलन* प्रारम्भ हुआ। महासभा ने अपने एक प्रस्ताव मे यह आग्रह किया कि जेनेवा सम्मेलन होने तक समस्त प्रकार के आणुविक परीक्षण वन्द कर दिये जायें। *सम्मेलन मे रूस का प्रस्ताव यह आया* कि आणुविक परीक्षण सदैव के लिए बन्द कर दिये जायें। ब्रिटेन और अमेरिका का *विचार था कि परीक्षण 1 वर्ष तक बन्द किया जाये।* यद्यपि जेनेवा सम्मेलन मे कोई स्थायी समझौता न हो सका परन्तु कुछ छोटे-मोटे समझौते अवश्य हुए। आणुविक परीक्षण के लिए नियुक्त आयोग की सदस्य सख्या 7 निश्चित की गई। इसमे से 3 स्थायी सदस्य रूस, अमेरिका एवं ब्रिटेन थे तथा अन्य 4 सदस्यों का चुनाव 2 वर्ष के लिए होना था। आयोग एक प्रशासक तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्टाफ रख सकेगा तथा परीक्षणो की जाँच और पहचान पद्धति निश्चित करने का निर्णय हुआ।

पूर्ण तथा सामान्य निःशस्त्रीकरण का प्रस्ताव—1959 मे रूस के प्रधानमन्त्री श्री खुश्चेव ने सघ की महासभा में एक भाषण दिया। भाषण मे उन्होंने कहा है कि "पूर्ण सर्वमान्य नि.शस्त्रीकरण" होना चाहिए तथा 4 वर्ष मे प्रत्येक राष्ट्र इस प्रकार नि.शस्त्रीकरण करे कि अन्त मे उसके पास लड़ने का कोई साधन ही न रहे। राष्ट्र के पास इतनी ही सेना रहे जिससे वह आत्मरक्षा कर सके। रूस ने स्वय 12 लाख सेना की कटौती कर दी। इस प्रस्ताव का प्रत्येक राष्ट्र

ने स्वागत किया। महासभा ने इस प्रस्ताव को पास कर दिया। रूस ने वार्सा पैक्ट के सदस्यों एवं पश्चिमी गुट के सदस्यों के मध्य समझौते का भी प्रस्ताव रखा। ख़ुश्चेव ने पश्चिमी देशों की कटु आलोचना करते हुए कहा कि वे पहले नियन्त्रण चाहते हैं परन्तु बिना निःशस्त्रीकरण के नियन्त्रण केवल एक जासूसी कुप्रथा को ही जन्म देगा। यद्यपि अधिकांश सदस्यों ने रूस के प्रस्ताव का समर्थन किया पर पश्चिम शक्तियों ने इस प्रस्ताव की उपेक्षा की।

रूस और अमेरिका में मतभेद—ये मतभेद मुख्यतः चार थे :

(1) *नियन्त्रण*—अमेरिका चाहता था कि पहले नियन्त्रण होना आवश्यक है, इसके बाद निःशस्त्रीकरण किया जाये। रूस की जिद थी कि पहले निःशस्त्रीकरण हो और नियन्त्रण बाद में हो।

(2) *सैनिकों की संख्या*—रूस का कहना था कि समस्त राष्ट्रों की सैनिक संख्या निर्धारित की जानी चाहिये पर अमेरिका का कहना था कि पहले रूस अपनी सैनिक शक्ति का निर्धारण करे।

(3) आणुविक आयुध—रूस चाहता था कि आणुविक आयुधों को सर्वदा के लिए नष्ट कर दिया जाय इसके विपरीत अमेरिका कहता था कि समस्त आणुविक आयुधों को संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंप दिया जाय। परीक्षण 2 वर्षों के लिए बन्द किये जाये, जब आणुविक आयुधों का निर्माण बन्द हो जायगा तो परीक्षण बिल्कुल बन्द कर दिया जायगा।

(4) *अन्तरिक्ष*—रूस सैनिक राकेटों के बिल्कुल नष्ट कर देने के पक्ष में था। अमेरिका का मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण संस्था को सूचना देकर अन्तरिक्ष का प्रयोग राकेटों के लिए किया जा सकता है।

जेनेवा सम्मेलन 1960—निःशस्त्रीकरण की समस्या को सुलझाने के लिये पुनः जेनेवा सम्मेलन का आयोजन किया गया। जेनेवा में एक के स्थान पर दो सम्मेलन चले—एक 10 राष्ट्रों का सम्मेलन था जो सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण पर विचार कर रहा था, दूसरा सम्मेलन आणुविक परीक्षणों को निषेध करने के सम्बन्ध में था। यह सम्मेलन भी दोनों गुटों के मतभेद के कारण कोई निर्णय न कर सका।

इस प्रकार विश्व की दो महान शक्तियों के कारण 1946 से 1960 तक जितने भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए, सुझाव रखे गये, महासभा में प्रस्ताव रखे गये, सफल न हुये। अमेरिका और रूस सदैव एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे। एक-दूसरे के रखे गये प्रस्ताव को ठुकरा देता। रूस ने 10 राष्ट्रों के आयोग का बहिष्कार कर दिया। वह सभी राष्ट्रों को आयोग में सदस्य बनाना चाहता था। बाद मे 18 सदस्यों का आयोग बना पर इसमें फ्रांस ने सम्मिलित होना स्वीकार न किया। 17 सदस्य ही आयोग मे रहे। भारत भी इस आयोग का सदस्य था।

कैनेडी का प्रस्ताव—25 सितम्बर 1961 को संघ की महासभा में संघ के महासचिव हैमरशोल्ड को श्रद्धांजलि अर्जित करते समय अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी ने निम्नलिखित प्रस्ताव रखा—'सभी राष्ट्र परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने की सन्धि पर हस्ताक्षर करें। अन्तरिक्ष में परमाणु प्रयोगों की रोकथाम हो। परमाणु वाहनों के उत्पादन पर रोक लगे।" परन्तु इन पर भी सदा की भांति कोई अमल नहीं हुआ।

राष्ट्रपति कैनेडी का प्रस्ताव मार्च 1962 मे अमेरिकन प्रतिनिधि ने 18वें सदस्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन (जेनेवा) में प्रस्तुत किया। यह सुझाव वास्तव में गम्भीर एवं विशिष्ट सुझाव था पर इसी बीच क्यूबा के मामले में दोनों गुटों में मतभेद तीव्र हो गये।

आणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि—10 जून 1963 को अमेरिका के राष्ट्रपति ने घोषणा की कि "आणविक परीक्षण प्रतिबंध के सम्बन्ध में" (Nuclear Test Ban Treaty) रूस, ब्रिटेन एवं अमेरिका के प्रतिनिधियों में वार्ता होनी चाहिए। तीनों राष्ट्रों ने मास्को में 25 जुलाई 1963 को सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। यह सन्धि अनिश्चित काल के लिये हुई थी और 3 महीने का नोटिस देकर कोई भी सदस्य इस सन्धि का परित्याग कर सकता था। संधि पर हस्ताक्षर कर्त्ताओं ने जल, थल, वायु में आणविक परीक्षण न करना स्वीकार किया। केवल पृथ्वी के अन्दर ही परीक्षण किये जा सकते थे। यद्यपि भारत और चीन ने इस संधि पर बाद में हस्ताक्षर किये थे, पर चीन एवं फ्रांस ने इस संधि की परवाह न कर धड़ाधड़ परीक्षण प्रारम्भ कर दिये। भारत भी इस सन्धि के नियम तोड़ने के लिए स्वतन्त्र था। यह संधि परमाणु शस्त्रों के परीक्षण के नियमन की दशा में पहली सफलता थी।

केनेडी के प्रयासों की विश्व में बड़ी प्रशंसा हुई। ख्रुश्चेव ने भी इसे शुभारम्भ समझा और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैकमिलन ने "इसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना" बताया। लंका की प्रधानमन्त्री श्रीमती भण्डारनायके ने इसे "अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास का नवीन युग" घोषित किया।

1963 के बाद निःशस्त्रीकरण की प्रगति—1963 में राष्ट्रपति कैनेडी को गोली मार दी गई। लिण्डन जॉनसन राष्ट्रपति बने। अपने शुभकामना सन्देश के साथ ख्रुश्चेव ने यह मत प्रकट किया कि संघर्षों को निबटाने के लिए प्रयास किये जाने चाहिए। इस पर जॉनसन ने जेनेवा सम्मेलन को अपने विशेष सन्देश में प्रस्ताव भेजे जो इस प्रकार थे (i) प्रादेशिक झगड़ों को निबटाने हेतु बल प्रयोग समाप्त होना था, (ii) युद्ध के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री की वृद्धि पर रोक लगानी थी (iii) शस्त्रास्त्रों हेतु विखण्डनीय पदार्थों के उत्पादन पर नियन्त्रण लगाया जाना था। (iv) आकस्मिक घटना आदि के कारण उत्पन्न युद्ध स्थिति को दूर करना था। (v) आणविक अस्त्रों से रहित देशों को इनके उत्पादन हेतु प्रोत्साहन पर रोक लगानी थी।

इन प्रस्तावों के उत्तर में रूस ने 9 सूत्रीय योजना प्रस्तुत कर दी, जिसमें समस्त विदेशी सेनाओं का हटाया जाना, सेना में कटौती होना, नाटो-वार्सा देशों में सन्धि होना, बमवर्षक विमानों को नष्ट करना इत्यादि बातें सम्मिलित थीं। इसके अतिरिक्त रूस का विचार था कि यदि अमेरिका यूरोप में विभिन्न स्थानों पर अपनी आणविक सेना रखने की योजना स्थगित कर देता है तो रूस अमेरिका के प्रस्तावों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर सकता है।

जून 1964 में जेनेवा में अमेरिका ने सम्मेलन में अपने कुछ सुझाव रखे। इनमें अमेरिका एवं रूस के बमवर्षक विमानों को नष्ट करने की भी योजना थी तथा साथ ही आणविक शक्ति के कल्याणकारी कार्यों हेतु प्रयोग की भी व्यवस्था थी। इसी समय इंग्लैण्ड के मजदूर दल के नेता मि० हेरोल्ड विल्सन ने भी निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी कुछ अपने विचार सुझाये।

5 अक्टूबर, 1964 को काहिरा में तटस्थ राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें माँग की गई कि विश्व के सभी राज्यों का एक निःशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाया जाय। परन्तु पश्चिमी राज्यों ने इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया।

7 सितम्बर, 1964 को संघ की महासभा में रूसी विदेश मन्त्री ग्रोमिको ने अपना 11 सूत्री प्रस्ताव रखा। अमेरिकन गुट ने उसे अस्वीकार कर दिया। 27 जुलाई, 1965 को पुनः जेनेवा में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में अठारह राष्ट्र सम्मेलन द्वारा किये गये प्रयासों की रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी। आगे भी इस विषय में कार्य हुए पर रूसी अमेरिकन मतभेदों के कारण कुछ निर्णय करना असम्भव सिद्ध हुआ। अन्त में सम्मेलन ने अपनी असफलता घोषित कर दी।

16 नवम्बर 1965 को 61 तटस्थ देशों ने जिनमें भारत भी एक था, संघ की राजनीतिक समिति के काहिरा सम्मेलन को लागू किए जाने सम्बन्धी प्रस्ताव रखा। महासभा ने

यह कहा गया कि साम्यवादी चीन सहित 18 राष्ट्रों का सम्मेलन समस्या पर विचार करने हेतु 1967 से पूर्व काहिरा में आमन्त्रित किया जाये। इस प्रस्ताव को चीन ने स्वीकार नहीं किया।

17 राष्ट्रों का सम्मेलन 27 जनवरी, 1966 को प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन प्रारम्भ होते ही महासचिव ने तार द्वारा मांग की कि परमाणु आयुद्धों के सम्बन्ध में इस बार अवश्य ही कोई पग उठाया जाना चाहिए। पोप पाल छठे राष्ट्रपति जानसन तथा रूसी प्रधानमन्त्री कोसिगिन ने भी अपने भाषणों में कुछ करने हेतु कहा। परन्तु दोनो गुटों मे पुनः वाद-विवाद छिड़ गया। रूसी प्रतिनिधि ने आरोप लगाया कि अमेरिका नाटों के माध्यम से जो पग उठा रहा है, उसे देखकर अमेरिका की नि.शस्त्रीकरण सम्बन्धी बातें व्यर्थ जान पड़ती हैं। कुछ तटस्थ राष्ट्रों ने अमेरिका तथा रूस से भूगर्भ मे किये जाने वाले परीक्षणों को बन्द करने को कहा, परन्तु दोनों पक्षों के तीव्र मत-भेद के कारण यह सम्मेलन सफल नहीं रहा।

1968 की परमाणविक सन्धि (Nuclear Non-Proliferation Treaty)—नवम्बर 1966 में संयुक्त राष्ट्र संघ की राजनीतिक समिति ने परमाणु अस्त्रों के प्रसार तथा निर्माण सम्बन्धी नियन्त्रण के लिए एक समझौते का प्रस्ताव स्वीकार किया। संघ के 110 सदस्यों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया, अल्बानिया ने प्रस्ताव का विरोध किया तथा क्यूबा तटस्थ रहा। इस प्रकार प्रस्तावित समझौते द्वारा परमाणु अस्त्र का निर्माण रोकना था। महासमिति द्वारा पास उस समझौते को जेनेवा निःशस्त्रीकरण आयोग के सामने रखा गया। आयोग धीमी गति से मसविदा तैयार कर ही रहा था कि अमेरिकन प्रतिनिधि फास्टर तथा सोवियत प्रतिनिधि राश्चिन द्वारा दोनो देशों में मोटे तौर पर समझौता हो जाने की घोषणा कर दी। इस आश्चर्यजनक घोषणा से विश्व स्तब्ध रह गया।

इस समझौते में छोटे राष्ट्रों की घोर उपेक्षा की गई थी, उन्हे परमाणु अस्त्रों के बनाने से प्रतिबन्धित किया गया था तथा इस बात का भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया था कि जिन देशों ने परमाणु-अस्त्र बना लिए हैं, उनका क्या होगा? इतना ही नहीं सन्धि में इस बात का भी कोई उल्लेख नहीं किया गया कि परमाणु-अस्त्र विहीन राष्ट्र पर शक्तिशाली राष्ट्र यदि आक्रमण करता है तो उसके रक्षा की व्यवस्था क्या होगी? अतः इस समझौते की अनेक राष्ट्रों ने कटु आलोचना की। लाल चीन ने कहा कि यह समझौता सोवियत संशोधनवाद एवं अमेरिकन साम्राज्यवाद की सन्धि है।" फ्रांस की सरकार ने यह तो स्वीकार किया कि परमाणु अस्त्रों के निर्माण पर प्रतिबन्ध है। परन्तु उसने कहा कि "संकट छोटे राष्ट्रों से न होकर रूस और अमेरिका जैसे राष्ट्रों से है।" पहले इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय निगरानी में अपने परमाणु-अस्त्रों को समाप्त करना चाहिए, तब और कोई कार्यवाही की जा सकती है।" स्पेन के समाचार पत्रों ने उसे रूस और अमेरिका का परमाणु क्षेत्र में एकाधिकार का प्रयत्न बताया। पश्चिमी जर्मनी इटली तथा भारत ने भी इस सन्धि के सम्बन्ध म गम्भीर आपत्ति की। भारत का कहना था कि उसके पड़ोसी देश चीन ने परमाणु का-परीक्षण क लिया है जो उसके लिए संकट है और यह संकट इस सन्धि से और बढ़ गया है। जर्मनी एवं इटली ने यह शंका प्रकट की कि वे परमाणु धारण देशों के समक्ष बहुत ही दुर्बल हो जायेंगे।

24 अप्रैल, 1967 को सं० रा० संघ की महासभा का अधिवेशन इस प्रस्तावित संधि पर विचार करने के लिए बुलाया गया। 7 माह तक विचार-विमर्श होता रहा तत्पश्चात् 11 जून 1968 को साधारण सभा की राजनीतिक-समिति ने अच्छे बहुमत से इसे स्वीकृति दे दी। समिति को आशा थी कि इस संधि को अधिकांश राष्ट्र अपनी स्वीकृति दे देंगे। 13 जून को यह प्रस्ताव महासभा में प्रस्तुत हुआ। प्रस्ताव के पक्ष में 95 तथा विरोध मे केवल 4 मत पड़े तथा 21 सदस्य तटस्थ रहे। तटस्थ रहने वाले राष्ट्रों मे फ्रांस और भारत भी थे। विरोध करने वाले राष्ट्र थे—अल्बानिया, क्यूबा, जाम्बिया तथा रूमानिया।

पूर्ति हेतु ऐसी गुटबन्दी 19वीं शताब्दी से चली आ रही थी। नेपोलियन बोनापार्ट को हराने के लिए यूरोप में अनेक बार संघ बनाये गये थे। जर्मनी के एकीकरण करने के लिए ऐसे संघों से काम लिया था। अपने पुराने शत्रु को पराजित करने के बाद भी बिस्मार्क ने फ्रांस को अकेला करने के लिए संघ पद्धति से काम लिया था। इन गुटों ने प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व भी यूरोप दो गुटों में बँटा था। इन गुटों ने प्रथम विश्व युद्ध को भड़काया था। युद्ध के बाद कुछ दिन ही बीते थे कि पुनः विश्व में दो गुट दिखाई दिये। दोनों में शक्ति परीक्षण के लिए ही द्वितीय विश्व युद्ध का प्रारम्भ हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने यह इच्छा व्यक्त की कि विश्व में एक "राष्ट्रों का संगठन" हो शेष कोई संगठन न बनाया जाय पर परिस्थितियों से विवश होकर उन्हें प्रादेशिक संगठनों की अनुमति देनी पड़ी थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तो प्रादेशिक संगठनों की बाढ़ सी आगई है। सं० रा० संघ के चार्टर की धारा 92 में प्रादेशिक संगठनों को इस शर्त पर निर्माण की अनुमति दे दी कि वे संघ के सिद्धान्तों के प्रतिकूल न बनें। इस धारा के अनुसार अनेक संगठनों का निर्माण हुआ। इस संगठनों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जायगा।

क्षेत्रवाद का सिद्धान्त (Thery of Regionalism)—क्षेत्रीय संगठन का आशय है—कुछ राज्यों के ऐसे समुदाय अथवा संगठन जो किसी सामान्य उद्देश्य को लेकर बनाये जाते हैं। ये संगठन राष्ट्रों की अपनी अपनी आवश्यकताओं के परिणाम होते हैं तथा उनकी पारस्परिक निर्भरता, शक्तियाँ निकट आने व मिलकर कार्य करने को विवश करती हैं। यह राष्ट्र-राज्य व्यवस्था राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के स्थान पर राष्ट्रों के समूह अर्थात क्षेत्रीय संगठनों को अधिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को जन्म देती है। वाल्टर लिपमैन लिखता है कि "भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की इकाई राज्यों के समुदाय होंगे।"[1] पामर एवं पार्किन्स का कहना है कि "आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण की ओर रुझान एक दिलचस्प विकास है।[2]

क्षेत्रवाद से तात्पर्य क्षेत्र के आधार पर राज्यों के संगठित होने से है। परन्तु व्यवहार में आज एक राज्य अनेकों क्षेत्रीय संगठनों का सदस्य होता है और उनका कोई भौगोलिक सम्बन्ध नहीं होता है, जैसा कि स० रा० अमेरिका एक साथ पाँच ऐसे सुरक्षा-सन्धियों का सदस्य है जिनके क्षेत्र परस्पर अन्तर्व्याप्त हैं। ये क्षेत्रीय संगठन क्षेत्रीय नामों के व्यक्तिगत होते हैं परन्तु उनके सदस्य उस क्षेत्र से बाहर के भी हो सकते हैं। इसलिए चिली के न्यायाधीश आलेजेण्ड्रो अल्वारेज लिखते हैं कि "क्षेत्र निर्धारण का कोई नियम नहीं है। उनके अस्तित्व का तो पता उनकी परिस्थितियों एवं समझौतों के स्वरूप से चल सकता है। क्षेत्रों का निर्माण तो कुछ राज्यों द्वारा जाति, सम्यताओं अथवा इससे भी ऊपर राजनीतिक हितों के आधार पर किया जाता है।"[3] नार्मन हिल का कहना है कि "यदि इनको सीमित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहा जाये तो ये शब्द क्षेत्रीय संगठन की अपेक्षा अधिक अच्छा नाम है

---

1 "The true constituent members of the international order of the future are communities of state."

2 "The trend towads regionalism is one of the most interesting developments in recent international relations." —Palmer and Perkins

3 "There is no rule to determine regions: Their existence must be shown by circumstances anc ... made by the states who constitute them. ... having affinities of race, ... Alverez

क्षेत्रीय संगठनों की सार्थकता (Utility of Regional Organisations)—इस विषय में दो मत हैं जो एक दूसरे के विरुद्ध विश्वास रखते हैं। इनको अलग-अलग रखा जाता है—

(1) *यथार्थवादी (Realistic)—यथार्थवाद ही मुख्यतः क्षेत्रवादी होते है। वे विश्ववाद* के आलोचक होते हैं। प्रो० पोटर का कहना है कि "विश्ववाद एक जल्दबाजी, ऊपरी और कुछ हद तक भावात्मक प्रतिक्रियाओं का परिणाम है।" विश्व के सभी राष्ट्रों में विभिन्नता रहती है अतः बहुधा विश्व व्यापी संगठन असफल होते हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण यह है कि सीमित क्षेत्रों में कुछ राष्ट्र मिलकर अपने हितों की पूर्ति करें। यथार्थवादी विश्वव्यापी संगठनों को असफल होते देखते हैं और हम प्रादेशिक संगठनों की असफलता देखते हैं।

(2) आदर्शवादी (Idealistic)—आदर्शवादी आमतौर पर विश्ववाद के समर्थक होते हैं। वे सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में क्षेत्रीयता की अपेक्षा विश्वव्यापी पारस्परिक निर्भरता पर विश्वास करते हैं। उनका कहना होता है कि सुरक्षात्मक व्यवस्था को क्षेत्रीय व्यवस्था में बाँटना, विश्व को एक करने के स्थान पर अनेक क्षेत्रों में विभाजित करना है। इससे अन्तःराज्यीय संघर्ष बढ़ेंगे जो अन्तर्राष्ट्रीय बन जायेंगे।

दोनों ही सिद्धान्त सत्य का कुछ न कुछ अंश रखते हो हैं आज के युग में क्षेत्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद दोनों ही ठोस वास्तविकतायें हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ-साथ क्षेत्रीय संगठनो का भी स्वागत किया जाता है क्योंकि ये राष्ट्रोत्तर उद्देश्य से प्रेरित होकर सहयोग से क्षेत्रीय हित का ध्यान रखते हैं। विश्ववाद की ऊँचाई तक पहुँचने के लिए यह सीढ़ी का मध्य डण्डा है। सं० रा० संघ के चार्टर में इन क्षेत्रीय संगठन का उल्लेख है। नार्मन हिल का कहना है कि "अन्तर्राष्ट्रीय जगत की वर्तमान अवस्था में क्षेत्रवाद और विश्ववाद के सम्मिलित रूप की आवश्यकता है। यहाँ दोनो में से किसी एक पर भरोसे के स्थान पर आवश्यकतानुसार किसी एक पर अधिक जोर दिया जाता है।"

सं० रा० संघ और क्षेत्रवाद (U. N. O. and Regionalism)—राष्ट्र संघ (League of Nations) मे क्षेत्रवाद को औपचारिक मान्यता दी गई थी। उसमें विश्ववाद की धारणा के साथ-साथ अमेरिकी राज्य संघ तथा अन्य क्षेत्रीय संगठन भी सक्रिय रहे जो द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने पर भंग हो गये। सं० रा० संघ में भी अनेक क्षेत्रीय संगठनों की व्यवस्था की गई है। सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन के बाद अन्तःक्षेत्रीय व्यवस्थाओं को चार्टर में पूरा समर्थन प्राप्त हुआ। धारा 52 मे स० रा० संघ के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के अनुसार ही शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए क्षेत्रीय व्यवस्थाओं एवं अभिकरणों की स्वीकृति प्रदान की गई। धारा 53 में विवादों के शान्तिपूर्ण हल के लिए क्षेत्रीय संगठनों की व्यवस्था को मान्यता दी गई परन्तु सैनिक कार्यवाही से पूर्व सुरक्षा परिषद् की सहमति आवश्यक मानी गयी है।

यद्यपि सं० रा० संघ के चार्टर ने क्षेत्रीय संगठनों की स्वीकृति प्रदान की है पर क्षेत्रीय संगठन व्यवस्था संघ से बाहर ही है। इन संगठनों में कौन-से संगठन संघ के अनुकूल होंगे यह कहना आसान नहीं।

यदि स० रा० संघ अपनी सामूहिक सुरक्षा योजना में सफल हो जाता तो ये क्षेत्रीय *संगठन बनते ही नहीं। क्षेत्रीय सुरक्षा की दृष्टि से ये संगठन उचित माने जाते हैं अतः उन्हें* सं० रा० संघ के सिद्धान्तों के अनुकूल समझा जाता है। सं० रा० संघ जब तक अपनी सामूहिक सुरक्षा के कार्य मे संलग्न नही होता तब तक तो इन क्षेत्रीय संगठनों का महत्त्व है पर संघर्ष काल में इन संगठनों का प्रयोग किसी राष्ट्र के विरुद्ध सैनिक संगठन के रूप मे किया जा सकता है। प्रो० गड्रिच लिखते हैं कि "इन अनेक क्षेत्रीय सुरक्षात्मक संगठनों के द्वारा विश्व संगठन को शक्तिशाली नहीं बनाया जा सकता है। आशावादी दृष्टिकोण से यही कहा जा सकता है कि विश्वव्यापी व्यवस्था

कायम करने की दशा में ये सम्भवतः अस्थायी रूप से सहायक हो सकते हैं यदि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के रूप में सं० रा० प्रभावी सिद्ध होता है, तो इन क्षेत्रीय व्यवस्थाओं का महत्त्व कम हो जायगा और इन्हें सं० रा० के जिम्मेदार अंगों के अधीन कर दिया जायगा।

राष्ट्र संघ तथा सं० रा० संघ की असफलता जो हुई है वह इन क्षेत्रीय संगठनों के कारण है। यद्यपि यह कहा जाता है कि ये क्षेत्रीय संगठन क्षेत्रीय सुरक्षा के लिए बने हैं पर इनका निर्माण भी साम्यवादी और गैर साम्यवादी गुटों द्वारा हुआ है जो अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा को कमजोर बनाते हैं। डाग हैमरशोल्ड तथा ट्रिगवेली आदि महासचिवों ने यह साफ कहा है कि "ये क्षेत्रीय संगठनों के बढ़ते महत्त्व के कारण सं० रा० संघ कमजोर हो रहा है। यद्यपि इन्हें समाप्त तो नहीं करना चाहिए तथापि सं० रा० संघ की सर्वोच्चता स्वीकार की जानी चाहिए।" जैसा कि चार्टर की धारा 103 में उल्लेख है।[1] पामर एवं पार्किन्स का कहना है कि "सं० रा० संघ को सभी संगठनों के ऊपर सर्वोच्चता प्रदान की जानी चाहिए। क्षेत्रीय संगठनों की आवश्यकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त गैर-राजनीतिक (आर्थिक एवं सामाजिक) क्षेत्रीय संगठनों को भी संयुक्त राष्ट्र संघ ने सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक महत्त्व प्रदान किया। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित विभिन्न क्षेत्रीय संगठन हैं—यूरोप के लिए, एशिया व सुदूर पूर्व के लिए, लैटिन अमेरिका व अफ्रीका के लिए, इन संगठनों का उद्देश्य है कि इनके द्वारा आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को क्षेत्रीय आधार पर हल किया जाये।

प्रमुख क्षेत्रीय संगठन
(Important Regional Organisations)

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की 52वीं धारा के अनुसार निम्नलिखित संगठन सामूहिक सुरक्षा के उद्देश्य से बनाये गये हैं—

उत्तरी अटलांटिक संगठन (North Atlantic Treaty Organization—NATO)—द्वितीय विश्व युद्ध के अन्तिम चरण में रूस ने जहाँ-जहाँ अपनी सेनाओं को भेजा या जो क्षेत्र उसकी सेना द्वारा जीते गये, वहाँ साम्यवादी कठपुतली सरकारें स्थापित कर वहाँ साम्यवादी व्यवस्था कायम कर दी गई। इन क्षेत्रों को नाममात्र की स्वतन्त्रता दी गई। रूस ने अन्य क्षेत्रों को भी हड़पने का प्रयास किया। युद्ध के बाद साम्यवादी सेना कोरिया एवं वियतनाम आदि स्थानों के आधे भाग में घुस गई और वहाँ अपना कब्जा कर लिया। कुछ ही समय बाद रूस और अमेरिका में मनमुटाव हद से ज्यादा बढ़ गये। रूस ने पूंजीवादी देशों के विरुद्ध कटु प्रचार आरम्भ कर दिया। उसकी योजना समस्त विश्व में छा जाने की थी। उसकी लाल सेना का भय यूरोप एशिया में छा गया छोटे-मोटे राज्य घबड़ा कर अमेरिका के निकट पहुँच गये। अमेरिका विश्व राजनीति में छा जाना चाहता था। वह इंगलैण्ड का स्थान लेना चाहता था। यद्यपि उसके प्रयत्नों से संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हो गई थी पर सामूहिक सुरक्षा की कोई विशेष व्यवस्था न हो सकी थी। छोटे राज्यों को साम्यवाद के पंजे से बचाने के लिए विभिन्न संगठनों को बनाने की व्यवस्था की गई। इनमे नाटो (NATO) प्रमुख संगठन है।

18 मार्च 1948 को संधि के सिद्धान्त की घोषणा एवं प्रकाशन हुआ। 4 अगस्त 1948 को वाशिंगटन में—ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, इटली, आइसलैण्ड, लक्जमबर्ग, नीदरलैण्ड, नार्वे तथा पुर्तगाल ने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। 24 अगस्त 1949 में

---

[1] "In the event of a conflict between the obligation of the members of the United Nations under the present charter and their obligations under any other international agreement, their obligation under the charter prevail."
—Article 103, of the Charter

इस सन्धि की पुष्टि सम्बन्धित राज्य सरकारों ने कर दी। 1952 के फरवरी मास में यूनान तथा टर्की ने, 1955 में पश्चिमी जर्मनी ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया। यूनान ने 1974 में इसकी सदस्यता त्याग दी।

नाटो की सन्धि पर हस्ताक्षर करने वालों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति पूर्ण रूप से आस्था प्रकट की, साथ में लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता के प्रति पूर्ण विश्वास प्रकट किया। इस सन्धि में 14 अनुच्छेद हैं पर 5वां अनुच्छेद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस अनुच्छेद में संगठन का पूर्ण उद्देश्य प्रकट होता है। इस अनुच्छेद में उल्लेख है कि "सन्धि के हस्ताक्षरकर्ता इस बात से पूर्णरूप से सहमत हैं कि यूरोप अथवा उत्तरी अमेरिका में उसमें से किसी एक या अधिक पर हुये आक्रमण को सबके विरुद्ध आक्रमण समझा जायेगा। ऐसी दशा में प्रत्येक राष्ट्र संघ की धारा 51 के अनुसार व्यक्तिगत अथवा सामूहिक सुरक्षा के अधिकारों का प्रयोग करते हुए उत्पीड़ित राष्ट्र अथवा राष्ट्रों की सहायता व्यक्तिगत या अन्य दलों की सहायता से करेंगे। अटलांटिक क्षेत्र में की गई इस प्रकार की कार्यवाही में शक्ति का प्रयोग भी सम्भव है।"

स्पष्ट रूप से यह संधि पश्चिमी गुट के देशों की साम्यवादी रूस के विरुद्ध की गई थी। अमेरिका और ब्रिटेन ने अन्य देशों को जो इस सधि में सम्मिलित हुये थे, उनकी सुरक्षा एवं स्वतन्त्रता के प्रति पूर्ण गारण्टी दी थी। यदि रूस इस संगठन के किसी सदस्य को छोड़ेगा तो मुहाल की मक्खियों के समान ये सभी देश उसके विरुद्ध हो जायेंगे। 11 दिसम्बर 1956 में अमेरिका के विदेश मन्त्री डलेस (Dulles) ने अपने भाषण में स्पष्ट रूप से बताया था कि "आज ससार सकट के दौरान में से निकल रहा है। इस संगठन को अपनी सैनिक शक्ति बनाये रखते हुये कभी भी उसके प्रयोग के लिये तैयार रहना चाहिये। ऐसा करने पर ही लाल सेना के बुडापेस्ट तक आये टैंकों को पश्चिमी यूरोप में बढ़ने से रोका जा सकता है।"

सगठन की अन्य धारायें पारस्परिक सहयोग, आर्थिक सहयोग आदि से सम्बन्धित थी। सशस्त्र आक्रमण के प्रति उठाये गये प्रयत्नों का उल्लेख सन्धि की धारा 2 में भी है।

नाटो का संगठन (Organisation of NATO)—नाटो संगठन के तीन अंग हैं—(1) उत्तरी अटलांटिक परिषद, (2) सैनिक समिति तथा (3) सचिवालय। इन तीनो अगों का परिचय इस प्रकार है—

(1) उत्तरी अटलांटिक परिषद (North Atlantic Council)—नाटो (NATO) की नीति निर्धारित करने वाली संस्था को ही उत्तरी अटलांटिक परिषद् कहा जाता है। नाटो का यह महत्त्वपूर्ण अंग है। परिषद की वर्ष में दो या तीन बैठकें होती हैं। इन बैठकों में संधि कर्ता राष्ट्रों के विदेश मन्त्री या रक्षा मन्त्री भाग लेते हैं। उन्हीं में से क्रमशः एक-एक वर्ष के लिये अध्यक्ष चुना जाता है। नाटो के अन्तर्गत सचिवालय के सचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद द्वारा होती है। इसका कार्यालय फ्रांस की राजधानी पेरिस में स्थिति है।

(2) सैनिक समिति (Military Committee)—नाटो का दूसरा अग सैनिक समिति है जिसमें संधि कर्ता राज्यों के सेनाध्यक्ष सम्मिलित होते हैं। सदस्यों (राज्यों) की सेना इन मित्र देशों के मुख्य कार्यालय के अधीन रहती है। इस कार्यालय को यूरोप की शक्ति के मुख्य कार्यालय (Supreme head quarters of allied powers in Europe) का नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त नाटो संगठन के पास अटलांटिक सागर तथा चैनल कमान नाम की दो अतिरिक्त कमानें भी हैं। 1953 से नाटो संगठन की अमेरिका की सेनाओं को परमाणु आयुधों से लैस कर दिया गया है। यह सैनिक समिति उत्तरी अटलांटिक परिषद को सैनिक मामलों में परामर्श देती है।

(3) सचिवालय (Secretariat)—सचिवालय का सचिव सुरक्षा परिषद द्वारा नियुक्त होता है जिसकी स्वीकृति उत्तरी अटलांटिक परिषद देती है।

नाटो का प्रभाव (Influence of the NATO)—नाटो संगठन की स्थापना के मुख्य प्रभाव चार हैं जो निम्नलिखित हैं।

(1) साम्यवादी खेमे को चेतावनी (Challange to Communistic Group)—नाटो संगठन साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिये हुआ है। इसके सदस्य साम्यवादी आक्रमण के विरुद्ध एक जुट से सामना करने के लिए कटिबद्ध हुये हैं। यह साम्यवादी गुट के देशों के लिए एक चेतावनी है कि यदि वे नाटो के किसी भी सदस्य से उलझे तो नाटो के सभी सदस्य उस आक्रान्त देश की सामूहिक रूप से रक्षा करेंगे।

(2) यूरोप को सुरक्षा प्रदान होना (Security in Europe)—नाटो की स्थापना का दूसरा प्रभाव यूरोप की सुरक्षा की गारण्टी देता है। साम्यवादी प्रसार से जो आतंक एवं भय उत्तर-पश्चिमी यूरोपीय शक्तियों को हो गया था उसका निवारण हो गया है।

(3) अमेरिका का योरोप में नेतृत्व (Leadership of U. S. A. in Europe)—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिका विश्व के सर्वशक्तिशाली देश के रूप में उभरा। गैर साम्यवादी शक्तियों ने उसमें अपना विश्वास प्रकट किया। अमेरिका का इस संगठन में सम्मिलित होना इस बात को सिद्ध करता है कि यूरोप का नेतृत्व अमेरिका को प्राप्त हो गया। साम्यवाद के विरुद्ध जहां कहीं भी कदम उठाने की आवश्यकता होती है अमेरिका सबसे आगे होता है। उसे यूरोपीय शक्तियों का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। वे सभी अमेरिका की हां मे हां मिलाते हैं। यदि साम्यवादी देशों ने युद्ध का आह्वान किया तो अमेरिकन सेनायें यूरोप की रक्षा के लिये तुरन्त अग्रसर होंगी। अमेरिका ने तटस्थता को सदैव के लिये त्याग दिया है।

(4) संसार का दो गुटों में विभाजन (Division of the World in Two Groups)—अमेरिका स्वयं महान् शक्तिशाली देश है। यूरोपीय शक्तियों का पूर्ण समर्थन पाकर वह अद्वितीय शक्ति बन गया है। साम्यवादी रूस जो अमेरिका के बाद दूसरे नम्बर की महान् शक्ति है, नाटो के बन जाने से स्वयं अपनी रक्षा के लिये चिन्तित हुआ और उसने भी समस्त साम्यवादी देशों को एक गुट में बांध दिया। वार्सा पैक्ट नाटो का प्रतिद्वन्द्वी संगठन बन गया है। इस प्रकार दुनिया के अधिकांश राष्ट्र दो गुटों में बंट गये हैं। दोनों ही गुट यूरोप में ही नहीं समस्त संसार में कोई भी घटना हो उसमें कूद पड़ते हैं और अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। अपने-अपने गुट को मजबूत करने के लिये अपने मित्रों की आर्थिक एवं सैनिक सहायता करते हैं। अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये यूरोप के अतिरिक्त अन्य महाद्वीपों में भी अपने सहायक एवं समर्थक बनाते हैं। दोनों गुटों ने समस्त विश्व में दो पृथक प्रभाव क्षेत्र स्थापित कर लिये हैं।

नाटो में उतार-चढ़ाव (Crisis in NATO)—अमेरिका के नेतृत्व से कुछ राष्ट्र प्रारम्भ से ही चिढ़ते हैं। नाटो संगठन बन जाने के कुछ ही समय बाद नाटो के देशों में कुछ पारस्परिक मत भेद पैदा हो गये हैं। इजराइल के समर्थन के विषय में ब्रिटेन एवं फ्रांस द्वारा उठाये कदमों का अमेरिका ने समर्थन नहीं किया था। यह मतभेद स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण पर अधिक बढ़ गया। जब साम्यवादी एवं पूँजीवादी देशों के मध्य शीत युद्ध कुछ ढीला पड़ा तो फ्रांस के राष्ट्रपति डिगाले का फ्रांस में प्रभाव बढ़ गया। उसने नाटो में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न किया। 1957 में हंगरी-हत्याकाण्ड के कारण भी नाटो में मत-भेद उत्पन्न हो गया। 1966 में एक संधि के अनुसार जनरल डिगाले ने घोषणा की कि फ्रांसीसी सेना जर्मनी से 1 जुलाई 1966 को वापस आ जायेगी। 1 अप्रैल 1969 में डिगाले ने मांग की कि अमेरिकन सेनायें उन सैनिक अड्डों को खाली कर दें जो संगठन-सन्धि के अन्तर्गत अमेरिका से प्राप्त है। इसके अतिरिक्त फ्रांस ने मांग की कि नाटो के सभी कार्यालय फ्रांस में से हटाये जायें। इस मत-भेद से ऐसा पता चल रहा था कि यह संगठन शीघ्र

नंग हो जायगा पर कुछ घटनायें ऐसी घटीं कि जिनसे न केवल नाटो के संगठन को जीवित रखा गया, बल्कि उसे अधिक शक्तिशाली बना दिया।

1967 मे अरब-इजराइल युद्ध हुआ। अमेरिका तो इजराइल के पक्ष मे था ही पर जब रूस ने अरबों की सहायता के लिये भूमध्य सागर मे अपना बेड़ा उतार दिया तो नाटो मे खलबली मची। रूस के 52 जंगी जहाज भूमध्य सागर मे घंसने लगे। जबकि इससे पूर्व एक भी रूसी युद्ध पोत भूमध्य सागर में दिखाई न देता था। इससे रूस का महत्वपूर्ण प्रभाव छा गया : रूस ने अपनी सीमा को अल्जीरिया के पश्चिम तक तथा मिस्र के दक्षिण तक विस्तृत कर दिया। इस खतरे के कारण नाटो का संगठन मजबूत होने लगा। आपसी मतभेद समाप्त हो गये। नाटो के अतिरिक्त यूनान और टर्की को भी अपनी चिन्ता होने लगी। इन्होने अमेरिका से अधिक सैनिक सहायता बढ़ाने की माग की। इजराइल की रक्षा के लिये नाटो की बैठक बुलाई गई। बैठक मे नाटो को और सुदृढ़ बनाने के लिए उसे दक्षिणी अटलांटिक तक बढ़ाने का विचार किया गया।

अरब-इजराइल युद्ध के अलावा यूरोप मे ही 1968 मे एक घटना और घटी जिससे नाटो और शक्तिशाली बना। वह घटना चेकोस्लावाकिया के राष्ट्रीय आन्दोलन के कुचलने के लिये वार्सापैक्ट की 6 लाख सेनाओं का चेकोस्लावाकिया मे प्रवेश हुआ। कुछ समय पूर्व फ्रास ने नाटो छोड़ने का निश्चय किया, अब उसने वह निश्चय त्याग दिया। रूस ने पश्चिमी जर्मनी मे जब अपने हस्ताक्षेप का दावा किया तब समस्त पश्चिमी यूरोप एक होकर जर्मनी के पक्ष मे खड़ा हो गया। अमेरिका और ब्रिटेन ने पश्चिमी जर्मनी को अधिक सेनायें भेजने का निश्चय किया और अपने बजट मे कटौती करने के विचार को त्याग दिया। यूनान और टर्की में साइप्रस के बारे मे गहरा मतभेद चल रहा था पर जब भूमध्य सागर मे रूसी जंगी जहाजों को देखा गया तो वे अपने मतभेद भूल गये। इटली अपने नौ-सैनिक बेड़े को नवीन प्रशिक्षण दे रहा था ताकि उसकी जल-शक्ति सुदृढ़ हो जाये। पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर ने अमेरिकन सेनाओं की यूरोप मे अनिवार्यता पर बल दिया। अमेरिकन राष्ट्रपति निक्सन ने यूरोप में अपने उत्तरदायित्व का अनुभव किया। रूस के विरुद्ध जो उत्तेजना नाटो सगठन मे फैली, रूस ने उसकी कटु आलोचना आरम्भ की।

अमेरिका के विदेश सचिव डा० किसिंगर और बाद मे राष्ट्रपति निक्सन का पीकिंग दौरा भी नाटो मे मतभेद पैदा करने वाला बना क्योंकि अमेरिका ने चीन से वार्ता करने मे नाटो सदस्यों से कोई परामर्श नहीं लिया था। फ्रास इस घटना से और भी क्रोधित हुआ। नाटो में तीव्र मतभेद होने से अमेरिका को चीन से सम्बन्ध जोड़ने मे कठिनाई का सामना करना पड़ा। भारत की पुर्तगाली बस्तियों के विषय मे पुर्तगाल अमेरिका से चिढ़ा बैठा था। 17 अगस्त 1974 मे यूनान ने नाटो की सदस्यता छोड़ने की घोषणा कर दी। नाटो ने साइप्रस के मामले मे उसकी सहायता नही की थी।

नाटो संगठन यद्यपि संघ के चार्टर 52वी धारा के अनुकूल ही बनाया गया है। उसका उद्देश्य क्षेत्रीय सुरक्षा की व्यवस्था करना था पर उसने गुट बन्दी को प्रेरणा दी और विश्व मे अशान्ति एव शीत युद्ध को बढ़ावा दिया। उसके मुकाबले में रूस ने वार्सा पैक्ट बनाया जिससे वार्सापैक्ट के सदस्यों की हालत को और खराब कर दिया। रूस ने साम्राज्यवादी एव दूसरे देशो को गुलाम बनाने की नीति को और भी कठोर कर दिया। पोलैण्ड, हंगरी एवं चैकोस्लोवाकिया के राष्ट्रीय आन्दोलन बुरी तरह कुचल दिये गये। सं० रा० संघ के स्वतन्त्रता व समानता के सिद्धान्त को नाटो ने आघात पहुँचाया। फिर भी नाटो मे एकता का अभाव है इसका अर्थ यह है कि नाटो मुख्यतः रूस के विरुद्ध है और पश्चिमी राज्य अब रूस से भयभीत नहीं है। नाटो के सदस्यों मे आपसी मतभेद भी है जैसे फ्रांस व ब्रिटेन व यूनान और तुर्की के बीच मतभेद। 1974 मे निक्सन ने कहा

कि अरब इजराइल भी युद्ध में नाटो समर्थकों ने उसका विरोध किया और नीचा दिखाने की कोशिश की। यह सब बातें नाटो को दुर्बल बनाती हैं।

दक्षिण-पूर्व एशिया संधि संगठन (South-East Asia Treaty Organisation—SEATO)—क्षेत्रीय संगठनों में नाटो के बाद सीयटो (SEATO) का स्थान आता है। नाटो का संगठन बन जाने के बाद अमेरिका तथा पश्चिमी शक्तियों के कुछ समर्थकों ने दक्षिणी-पूर्व एशिया की सुरक्षा के लिए एक संगठन बनाने की मांग की। प्रारम्भ में अमेरिका ने इस मांग पर ध्यान न दिया पर कुछ समय बाद कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिससे उसने इधर ध्यान देना प्रारम्भ किया। उसने नाटो के समान ही दूसरा संगठन बनाने की आवश्यकता को स्वयं अनुभव किया।

1949 में साम्यवादियों का चीन में प्रभुत्व स्थापित हो गया था। रूस का भय और आतंक गैर-साम्यवादी राज्यों पर पहले ही से छाया हुआ था, साम्यवादी चीन के प्रादुर्भाव से यह भय और बढ़ गया। एशिया में उसने उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया। वह अमेरिका का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विरोध करने लगा। रूस और चीन के उकसाने पर उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। रूसी और चीनी सेनाओं ने उसकी सहायता प्रारम्भ की। चीन ने वियतनाम, दक्षिण पूर्वी एशिया के छोटे देशों एवं मलाया तक में उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया था। उसके आतंक से आस्ट्रिया और न्यूजीलैण्ड भी घबड़ाये हुये थे। यह दशा देखकर ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री ने अमेरिका का ध्यान दक्षिणी-पूर्वी एशिया की ओर आकर्षित किया। आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड तो पहले ही से एशिया में नाटो जैसा संगठन बनाने के लिये जोर दे रहे थे।

अमेरिका के विदेशी मन्त्री डलेस ने इस ओर विशेष दिलचस्पी दिखाना प्रारम्भ किया। वह अप्रैल 1954 में इंगलैण्ड की यात्रा पर रवाना हुआ। इंगलैण्ड की सरकार के सामने डलेस ने दक्षिण-पूर्व एशिया के एक नाटो जैसा संगठन बनाने का विचार रखा। विचार-विमर्श होता रहा, अन्त में दिसम्बर 1954 में फिलिपाइन्स के बाग्यो (Baguio) के स्थान पर सम्मेलन बुलाने का निश्चय हुआ। यह सम्मेलन 6 से 8 दिसम्बर 1954 तक चला। यद्यपि इस सम्मेलन में 8 देशों के—*अमेरिका, ब्रिटेन, फांस, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, फिलिपाइन्स, थाइलैण्ड और पाकिस्तान*)—प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इन आठों देशों ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके अनुसार 'दक्षिण-पूर्व एशिया'' (SEATO) का संगठन बना।

सन्धि की धाराएं एवं उद्देश्य—इस सन्धि की प्रस्तावना में लिखा है कि "सन्धिकर्ता देश संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों और शान्ति, स्वाधीनता जनतन्त्र, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा कानूनी व्यवस्था में दृढ़ आस्था और विश्वास रखते हैं।" सन्धि की प्रथम धारा के अनुसार 'हस्ताक्षरकर्ता राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निबटाने में विश्वास रखते हैं।' इसके अतिरिक्त 'शक्ति प्रयोग की धमकी न अपनाने की भी सदस्यों ने शपथ ली।' सन्धि की धारा 3 में आर्थिक उन्नति एवं सामाजिक कल्याण में सहयोग देने की बात कही गयी थी। सबसे महत्त्वपूर्ण धारा 4 थी, जिसमें उल्लेख था कि यदि सन्धि करने वाले किसी देश के मतानुसार उसके राज्य में प्रभुता अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता को सन्धि क्षेत्र के अन्तर्गत सैनिक कार्यवाही अथवा अन्य कारणों से संकट उत्पन्न होता है तो सन्धिकर्ता राज्य परस्पर वार्ता सामान्य सुरक्षा के दृष्टिकोण से करेंगे। सूचना संयुक्त राष्ट्र संघ को दे दी जायगी। इसमें यह भी उल्लेख था कि केवल सम्बन्धित राष्ट्र की इच्छा पर हस्तक्षेप किया जायगा पर अमेरिका का एक व्यवस्था-पत्र चतुर्थ सन्धि के साथ जुड़ा था, जिसका आशय यह था कि केवल साम्यवादी संकट उत्पन्न होने पर ही वह सम्बन्धित राष्ट्र की सहायता करेगा। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने केवल साम्यवादी आक्रमण के समय सहायता देने का वचन दिया।

पाँचवीं धारा में सन्धिकर्ता राज्यों के एक-एक प्रतिनिधि द्वारा निर्मित होने वाली एक परिषद का वर्णन था जिसे समस्याओं पर विचार करने तथा परामर्श देने हेतु बनाया जाना था। आठवीं धारा में सन्धि का क्षेत्र स्पष्ट किया गया था। सन्धि से प्रभावित राज्यों की सीमाएँ 21 डिग्री तथा 30 डिग्री की उत्तरी अक्षांश रेखा है। *सन्धि की अवधि निश्चित नहीं, कोई भी सदस्य* एक वर्ष का नोटिस देकर सन्धि से पृथक हो सकता है। इसका मुख्य कार्यालय थाइलैण्ड की राजधानी बैंकाक में रखा गया है। 19 फरवरी 1955 को सन्धि लागू कर दी गयी।

मूल्यांकन (Evaluation)—सीयटो की स्थापना यद्यपि नाटो के आधार पर ही हुई थी पर नाटो के मुकाबले में सीयटो एक दुर्बल संगठन है। इसकी कोई केन्द्रीय सेना नहीं। इसकी भाषा एवं उद्देश्य विरोधाभासी है। यद्यपि सन्धि की प्रस्तावना एवं धाराएँ उच्च आदर्शों की ओर संकेत करती हैं। यह साम्यवादी विस्तार को रोकने का एक प्रयास है। यह अमेरिका का पिछलग्गू संगठन है, जो दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अपनी सेनायें बनाये रखना चाहता है। न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, जापान आदि देशों ने इसमें प्रवेश रूस और चीन के भय से लिया है। ब्रिटेन भी अपने पुराने उपनिवेशों की रक्षा हित इसमें आया था। पाकिस्तान केवल पश्चिमी देशों को खुश करने तथा उनसे अधिक से अधिक सैनिक सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से इसमें आया था।

दक्षिणी पूर्वी-एशिया की बदली हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में और चीन अमरीकी सम्बन्धों को सुधर जाने के कारण दक्षिणी पूर्वी एशिया सन्धि संगठन की उपयोगिता समाप्त हो गयी है। फ्रांस व पाकिस्तान इसे छोड़ चुके हैं और अन्य देश भी इसे समाप्त करना चाहते है।

केन्द्रीय सन्धि संगठन
(Central Treaty Organization)

मध्य पूर्व (Middle East) अपने तेल भण्डार के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मध्य पूर्व की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही है। आधुनिक युग में* पेट्रोल का महत्व कितना अधिक है विशेषकर युद्धों में। एक जर्मन जनरल ने कहा था कि "तेल की एक बूंद सैकड़ो मनुष्यों से अधिक मूल्यवान है।" (One drop of oil is more worthy *than hundred of human beings*)। *इसी महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के कारण यह कहा जाता है कि* जो शक्ति मध्यपूर्व पर नियन्त्रण रखेगी, वही समस्त विश्व पर नियन्त्रण रखने में समर्थ होगी। पहले ब्रिटेन ने इस क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व रखा और अब अमेरिका ने इस पर प्रभुत्व बनाये रखने *का निश्चय किया। जब 1956 में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीकरण कर दिया और ब्रिटेन की* सेनाओं को स्वेज से निकलना पड़ा तब अमेरिका को यह खतरा पैदा हो गया कि रूस इस क्षेत्र पर कब्जा जमा लेगा। अतः उसने मध्य पूर्व में एक सुरक्षा संगठन बनाने का निश्चय किया।

सदस्यता—सर्वप्रथम 22 जनवरी 1955 को टर्की और ईराक के बीच एक पचवर्षीय सन्धि हो गई। इसे सन्धि का मूलाधार माना जाता है। 4 फरवरी 1955 को ब्रिटेन भी इस सन्धि का सदस्य बन गया। 23 सितम्बर 1955 को पाकिस्तान इस सन्धि संगठन में सम्मिलित हो गया और *19 अक्टूबर 1955 को ईरान इसमें शामिल हो गया। चूंकि इस सन्धि पर ईराक* की राजधानी बगदाद में हस्ताक्षर हुए थे अतः "बगदाद पैक्ट" का नाम दिया गया।

यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका ने प्रारम्भ में इस पैक्ट की सदस्यता स्वीकार नहीं की पर इसका समर्थन करता रहा। *कुछ समितियों का वह सदस्य भी बन गया। स्वेज संकट के बाद* उसने सैनिक समितियों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। 5 मार्च 1959 को अंकारा में टर्की, ईरान तथा पाकिस्तान के साथ द्विपक्षीय सन्धियों पर हस्ताक्षर हुए और इस प्रकार अमेरिका भी बगदाद पैक्ट का सदस्य बन गया।

24 मार्च 1959 को ईराक इस संगठन से अलग हो गया अतः इसका नाम "बगदाद पैक्ट" भी बदल दिया गया। इसे 21 अगस्त 1959 से "केन्द्रीय सन्धि संगठन" का नाम दिया गया। इस पैक्ट की धारा 5 में उल्लेख है कि मध्यपूर्व की सुरक्षा में रुचि रखने वाले सभी राज्य इस संगठन में सम्मिलित हो सकते है। इस धारा के आधार पर ब्रिटेन इसका सदस्य बना था।

कार्य-विधि एवं अवधि—इस संगठन के कार्यों में सम्पादन के लिए स्थायी परिषद (Permanent Council) की स्थापना की गयी। इस संगठन की अवधि 5 वर्ष की निश्चित की गयी थी पर इसके संविधान में यह व्यवस्था भी की गयी कि इसका कार्यकाल 5-5 वर्ष के लिए बढ़ाया जा सकता है। अन्य संगठनों के समान ही इस संगठन का उद्देश्य, साम्यवादी रूप से अपनी रक्षा करना था। सामूहिक सुरक्षा के नाम से अमेरिका सोवियत संघ की घेराबन्दी कर रहा था।

कार्य—केन्द्रीय सन्धि संगठन (बगदाद पैक्ट) की प्रथम बैठक 21-22 नवम्बर 1955 को ईराक की राजधानी बगदाद में हुई। ईरान के प्रधानमन्त्री श्री नूरी अससय्यद इसके सभापति थे। इसमें यह तय किया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ की धारा 51 के अनुसार मध्यपूर्व में शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए पैक्ट की निरन्तर अधिवेशन वाली एक स्थायी परिषद तथा एक सैनिक समिति का निर्माण किया जायगा।

संगठन की दूसरी बैठक 1956 में तेहरान में हुई। इसमें अमेरिकी प्रतिनिधि 'लाय हैण्डरसन' ने यह घोषणा की कि अमेरिका पैक्ट के सदस्यों की निम्न रूपों में सहायता करेगा :—

(1) सन्धि के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सैनिक सहायता दी जायगी।
(2) बगदाद में सैनिक सम्पर्क कार्यालय की स्थापना की जायगी।
(3) बगदाद में स्थायी सचिवालय की स्थापना के लिए आर्थिक सहायता की जायेगी।
(4) साम्यवादी आक्रमण का प्रतिरोध किया जायगा।

संगठन का नाम बदला—14 जुलाई 1958 को ईराक में क्रान्ति हो गई। इस क्रान्ति में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि मध्य पूर्व के जो देश पश्चिमी उपनिवेशवादी देशों से मिलकर इस क्षेत्र की राजनीतिक स्वतन्त्रता को खतरे में डालने के षड्यन्त्र रचेंगे, उन्हें गद्दार माना जायगा और उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही की जायगी। इस क्रान्ति में श्री नूरी असस्यद की हत्या कर दी गई थी क्योंकि उन्हें पश्चिम का दलाल माना गया था। प्रधानमन्त्री ही नहीं, क्रान्तिकारियों ने राजा और उसके परिवार को भी मौत के घाट उतार दिया था। गणतन्त्र की स्थापना हुई और उसमें प्रधानमन्त्री जनरल अब्दुल करीम को बनाया गया। उनके नेतृत्व में ईराक बगदाद पैक्ट से 24 मार्च 1959 में अलग हो गया। अतः इस सगठन का नाम बदल कर "केन्द्रीय संघ सगठन (Central Treaty Organization) रखा गया और इसका केन्द्रीय कार्यालय बगदाद से हटाकर ईरान की राजधानी तेहरान में रखा गया।

वार्सा पैक्ट
(Warsaw Pact)

रूस 1945 में एक महान शक्ति के रूप में प्रकट हुआ। स्टालिन के नेतृत्व में रूस ने बड़ी उन्नति की। रूस सैनिक शक्ति में समस्त यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली देश बन गया। लूट के माल पर छीना-झपटी में मित्र देशों में खटपट हो गई। मित्र देशों ने अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए युद्ध के दौरान रूस से संधि अवश्य करली थी पर अन्दर-अन्दर वे उससे घृणा करते थे और साम्यवादी प्रचार से भय खाते थे। युद्ध में सफलता पाकर रूस का उत्साह बहुत बढ़ गया था, अब वह विश्व पर छा जाने की योजना बनाने लगा। आर्थिक दुर्बलता के कारण वह अमेरिका से श्रेष्ठ पड़ता था पर प्रचार यन्त्र से उसने पश्चिमी देशों को मात दे दी थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उसका अमेरिका से शीत युद्ध चल पड़ा था।

अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी देश संगठित हो गये थे और साम्यवादी प्रचार एवं विस्तार वे तरह-तरह के क्षेत्रीय संगठन बनाकर उसकी घेरा बन्दी करने लगे थे। रूस ने भी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए गुटबन्दी प्रारम्भ कर दी थी। नाटो के मुकाबले में उसने पूर्वी यूरोपीय देशों का एक संगठन "वार्सा पैक्ट" के नाम से बनाया था।

"वार्सा पैक्ट" नामक संगठन की स्थापना—इस संगठन की स्थापना 14 मई 1955 में हुई। इस संगठन में पूर्वी यूरोप के 8 देश थे—अल्बानिया, बल्गेरिया, चैकोस्लावाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया तथा स्वयं रूस।

वार्सा पैक्ट का उद्देश्य—यह संगठन नाटो के विरुद्ध निर्मित किया गया था। इस संगठन को समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है। रूस प्रादेशिक संगठनों का सदैव से विरोधी रहा था। जब नाटो की स्थापना हो रही थी तो उसने उसका कड़ा विरोध किया था। जब नाटो की स्थापना द्वारा जर्मनी का सैन्यीकरण किया जाने लगा तो रूस ने इसकी भर्त्सना की। उसने साफ तौर पर घोषणा की थी एवं पश्चिमी देशों को चेतावनी दी कि यदि पश्चिमी जर्मनी का सैन्यीकरण किया तो वह भी पैक्ट बनायेगा। अतः यह स्पष्ट था कि वार्सा पैक्ट नाटो के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था। इस पैक्ट का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों को बाह्य आक्रमण के समय सामूहिक सुरक्षा की गारण्टी प्रदान करना है। सारांशतः यह नाटो का मुँह तोड़ उत्तर था।

उपबन्ध—वार्सा पैक्ट के संविधान में 14 धारायें हैं। संधि की भूमिका में यूरोप में सामूहिक सुरक्षा की पद्धति के स्थापित करने पर बल दिया गया और यह कहा गया कि नाटो की रचना से तथा पश्चिमी जर्मनी के शस्त्रीकरण से यह आवश्यक हो गया है कि रूस और उसके साथी देश अपनी सुरक्षा सुदृढ़ करें और यूरोप में शान्ति स्थापित रखें। इस दृष्टि से इसमें आर्थिक, सामाजिक और संस्कृति क्षेत्रों में घनिष्ठ सहयोग का वर्णन है और यह कहा गया है कि इसके सदस्य "परस्पर शक्ति का प्रयोग करने से बचे रहेंगे।" तथा इसके "अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण उपायों से करेंगे।"

इस संगठन की महत्वपूर्ण धारा 3 है। इस धारा के अनुसार "यदि किसी सदस्य पर सशस्त्र आक्रमण होता है तो अन्य देश उसकी सैनिक सहायता करेंगे।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूर्वी धारा में एक संयुक्त सैनिक कमान (United Military Command) बनाई गई। इस कमान के अन्दर सभी सदस्य राज्यों की सेनायें रहेंगी और इनका एक सर्वोच्च सेनापति होगा। *यह मंत्रिमण्डल तथा सोवियत संघ के जनरल स्टाफ के साथ परामर्श करके सेनाओं का संगठन* तथा विभिन्न प्रदेशों में उसका वितरण करेगा। इसकी चार कमानें हैं। तीन यूरोप में और एक सुदूर पूर्व में।

वार्सा पैक्ट की नवी धारा नाटो संगठन के सर्वथा भिन्न है। इसमें प्रावधान था कि पैक्ट की सदस्यता सभी राज्यों के लिए खुली है चाहे उनका राजनैतिक एवं सामाजिक ढाँचा कैसा ही हो। शर्त केवल यह होगी कि प्रवेश इच्छुक राज्य "सुरक्षा और शान्ति" के प्रस्तावित सिद्धान्तों में विश्वास रखते हों।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस पैक्ट के अतिरिक्त साम्यवादी देशों से अन्य पारस्परिक सहायता संधियाँ (Mutual Assistance Treaties) की गई हैं। ऐसी संधियों की संख्या 20 है। इसके अतिरिक्त 14 फरवरी 1950 को चीन के गणतन्त्रवादी (Peoples' Republic of China) राज्य से भी 30 वर्षों के लिए ऐसी ही संधि की गई परन्तु स्टालिन की मृत्यु के बाद रूस और चीन में मतभेद हो गये और यह संधि महत्वहीन हो गई।

वार्सा पैक्ट की एक राजनीतिक परामर्शदायी समिति है जो सभी सामान्य प्रश्नों पर विचार करती है। इसमें सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं। इसकी वर्ष में दो बैठकें होती

है। 1956 में इसका एक स्थायी आयोग नियुक्त किया गया। यह अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का अध्ययन करता है और विदेश नीति के बारे में परामर्श देता है। इस संगठन का मुख्य कार्यालय मास्को में स्थित है। संगठन का एक महामन्त्री भी होता है।

आलोचना—आज वार्सा पैक्ट को हुए 22 वर्ष बीत चुके हैं। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि इसने अपने सदस्यों को नाटो की आक्रमक कार्यवाहियों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की। वार्सा पैक्ट वास्तव में एक ऐसा सैनिक संगठन है जो सेना के बल पर अपने सदस्यों पर एकता लादता है तथा अपने सदस्य राष्ट्रों की प्रभुसत्ता समाप्त कर उन्हें रूस के प्रति आस्था रखने को विवश करता है। यह अपने सदस्यों की इच्छाओं का ध्यान न कर केवल रूस की प्रभुसत्ता का ध्यान करता है।

पहला अन्तर्विरोध इस संगठन को हंगरी का सहना पड़ा। 1956 में हंगरी की जनता ने रूसी कठपुतली सरकार का विरोध किया और राष्ट्रीय सरकार बनाने का प्रयत्न किया। रूसी सेना ने इस विद्रोह को कुचल दिया और रूसी विशाल सेनाओं के सामने राष्ट्रीय नेताओं को आत्म-समर्पण करना पड़ा। दूसरा अन्तर्विरोध इस संगठन को 1961 में सहना पड़ा जब अल्बानिया ने चीन की शह पाकर रूस के नेतृत्व को ललकारा। उसने रूस तथा अपने अन्य साथियों को बुरा-भला कहना प्रारम्भ कर दिया अन्त में उसने वार्सा पैक्ट से नाता तोड़ दिया। तीसरा अन्तर्विरोध इसे 1968 में सहना पड़ा। चैकोस्लोवाकिया ने 1968 में साम्यवादी व्यवस्था को खुली चुनौती दी। वार्सा पैक्ट के 5 अन्य सदस्यों एवं रूस ने 6 लाख सेना चैकोस्लावाकिया में प्रवेश कर दी। चैकोस्लोवाकियों के राष्ट्रीय नेता को पकड़ लिया गया और वहाँ की जन क्रान्ति को कुचल डाला गया।

इस प्रकार वार्सा पैक्ट एक सुदृढ़ एवं सुस्थापित संगठन नहीं है। रूमानिया रूस से अपने प्रदेश से रूसी सेना को हटाने का प्रयास कर रहा है। अन्य राष्ट्र भी रूस के प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए बेचैन हैं। निश्चित है, यदि कोई बाह्य आक्रमण रूस या वार्सा पैक्ट के किसी देश पर होता है तो वार्सा पैक्ट खण्ड-खण्ड हो जायगा। चीन और रूस के पारस्परिक मतभेदों के कारण वार्सा पैक्ट खोखला संगठन बन गया है।

सामूहिक सुरक्षा की समस्या
(The Problem of Collective Security)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ा महत्व है। आज के युग में राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों को नियमन करने में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण रही है। ये संगठन विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के विषय पर गहन विचार करते हैं और उसे स्थायी बनाने का भरसक प्रयत्न करते हैं। निःशस्त्रीकरण, विवादों का शान्तिपूर्ण वार्ता से निबटाना एवं सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था करने में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने प्रशंसनीय कार्य किया है। राष्ट्रसंघ एवं संयुक्त राज्य संघ ने युद्धों को रोकने का तथा शान्तिमय राष्ट्रों की सामूहिक सुरक्षा का प्रयत्न किया है।

मार्गेन्थ्यू ने सामूहिक सुरक्षा के विषय में कहा है कि "एक सबको और सब एक को।" इस वाक्य का आशय यह है कि "एक राष्ट्र पर आक्रमण सब पर आक्रमण माना जाता है तथा रक्षा में सहयोग प्रत्येक राष्ट्र का उत्तरदायित्व माना गया है।" सामूहिक सुरक्षा में शक्ति सन्तुलन का भाव भी निहित है क्योंकि कोई भी राष्ट्र सामूहिक सुरक्षा शक्ति सन्तुलन का ही विस्तारमात्र है।

सामूहिक सुरक्षा का अर्थ एवं व्याख्या—सामूहिक सुरक्षा में न्याय से अधिक शान्ति पर आग्रह है, न्यायपूर्ण शान्ति पर नहीं।"[1] सामूहिक सुरक्षा का अर्थ है "यदि एक राष्ट्र पर होने वाला

[1] Collective Security is not peace with justice but peace before justice.
—*Mahendra Kumar.*

आक्रमण सब राष्ट्रों पर आक्रमण माना जाय और उसका सामना करने के लिये सभी राष्ट्र कटिबद्ध हो जायें।" इस प्रकार आक्रमणकारी का सामूहिक विरोध हो। इस नीति से लाभ यह होगा कि कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र किसी भी दुर्बल राष्ट्र को न सता सकेगा और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनी रहेगी। सं० रा० संघ की 51वी धारा में लिखा गया है कि "चार्टर मे इस प्रकार की कोई बात नही है कि किसी भी व्यक्ति या राज्य के परम्परागत अधिकारों को कमजोर बनाया जाय अथवा सामूहिक आत्म-रक्षा को रोका जाये, यदि कोई सशस्त्र आक्रमण किसी सं० रा० सघ के सदस्य के विरुद्ध हो जाये, यह आत्म-रक्षा का प्रयत्न उस समय तक जारी रखे जब तक सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिये आवश्यक कदम न उठाये।"[1]

आक्रमण के विरुद्ध हथियार उठाना बुरा नहीं है पर मुक्त रूप से आपस में लड़ना उचित नहीं। शान्ति स्थापना में यह सिद्धान्त बड़ी सहायता देता है। सामूहिक सुरक्षा का प्रश्न किसी विशिष्ट राष्ट्र की सुरक्षा से सम्बन्धित न होकर अन्तर्राष्ट्रीय जगत की सहायता से सम्बन्ध रखता है। इस सिद्धान्त में शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त छिपा है। यह सन्तुलन अस्थायी सैनिक गुटों में होता है पर इसमें स्थायी सदस्य-राष्ट्र मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापना का प्रयत्न करते हैं।

इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में युद्ध सम्बन्धी दो धारणायें निहित हैं—

(1) युद्ध की सम्भावनायें विद्यमान हैं और रहेंगी एवं

(2) आक्रामक शक्तियों को जबरदस्त शक्ति के भय और विरोध द्वारा रोका जा सकता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवादी सिद्धान्त के समान युद्ध को जगत की वास्तविकता माननी चाहिए और उसे समाप्त न करके, उस पर नियन्त्रण लगाने पर जोर देना चाहिए। क्लाइड (Claude) का मत है कि सामूहिक सुरक्षा, शक्ति सन्तुलन एवं विश्व सरकार के समान ही "शक्ति प्रबन्ध" (Management of power) हैं। उसके विचार से 'सामूहिक सुरक्षा, शक्ति सन्तुलन एवं विश्व सरकार के मध्य की व्यवस्था है।" जब शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त युद्ध को रोकने में असफल हुआ तो सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को अपनाया गया। आज अन्तर्राष्ट्रीय सगठन भी इस सिद्धान्त पर आधारित है। जितनी सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था होगी उतनी सामूहिक सुरक्षा अधिक प्रभावी होगी।

ओसनाब्रक सन्धि मे सामूहिक सुरक्षा के विचार पर आधारित सुरक्षा एवं शान्ति सम्बन्धी प्रयास आरम्भ हुये। यूरोप में 19वीं शताब्दी के विलियम पैन तथा विलियम पिट ने इस विचार को प्रचारित किया। 20वी शताब्दी के आरम्भ मे अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने इस सिद्धान्त की जोरदार वकालत की। इस सिद्धान्त के आधार पर राष्ट्र सघ की स्थापना की। यद्यपि राष्ट्र सघ को अपने उद्देश्य में सफलता न मिली पर सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का महत्व कम न हुआ और सं० रा० संघ मे पुनः सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया गया।

सामूहिक सुरक्षा व सामूहिक प्रति रक्षा—यद्यपि कुछ विद्वान भ्रम वश सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) और "सामूहिक प्रति रक्षा" (Collective Defence) को पर्यायवाची शब्द मानते हैं पर ऐसा नही है। दोनों शब्दों के अर्थ मे अन्तर स्पष्ट है। साधारणतया सामूहिक

---

[1] Nothing in the present charter shall impair the inherent right of the individual or collective self-defence if an armed attack occurs against a member of the United Nations, until the Security Council has taken the necessary measures to maintain international peace and security."—*Artiicle 51 of U. N. Charter.*

सुरक्षा की व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अन्तर्गत ही सम्भव है पर सामूहिक प्रतिरक्षा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के बाहर सैनिक सधियों अथवा राष्ट्रों के गठबन्धन द्वारा हो सकता है। सामूहिक प्रतिरक्षा में शत्रुता एवं मित्रता का पूर्व पता चल जाता है जैसे नाटो साम्यवादी शक्तियों के विरुद्ध गैर साम्यवादियों का सगठन है। वारसॉ पैक्ट प्रजातन्त्रवादियों के विरुद्ध संगठन है। इसके अतिरिक्त सामूहिक सुरक्षा के उद्देश्य से बने गुट स० रा० सघ के कार्य में कोई बाधा नहीं डालते हैं जबकि सामूहिक प्रतिरक्षा के लिये बने सगठन स० रा० सघ के कार्यों मे बाधक होते हैं। वस्तुतः आधुनिक विचार के अनुसार सामूहिक सुरक्षा पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अन्तर्गत सामूहिक प्रतिरक्षा के लिये आवश्यकता नहीं पड़ती।

सामूहिक सुरक्षा की मूलभूत धारणायें– यद्यपि सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त बहुत प्रभावशाली एव तर्क सगत है, फिर भी आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ उसके अनुकूल नहीं हैं। सामूहिक सुरक्षा की धारणा मुख्यतः तीन मान्यताओं पर आधारित है—

(1) आक्रमण के समय सामूहिक व्यवस्था से इतनी प्रबल शक्ति पैदा हो कि किसी राष्ट्र को आक्रमण करने का साहस न रहे।

(2) सामूहिक सुरक्षा मे सम्मिलित होने वाले राष्ट्रों की सुरक्षा व आक्रमण सम्बन्धी धारणायें, मान्यतायें व नीतियाँ समान होनी चाहिए।

(3) सामूहिक सुरक्षात्मक कार्यवाही के सिद्धान्त में सभी राष्ट्रों को निजी व परस्पर विरोधी राष्ट्रीय हितों को कम महत्व देना होगा।

इन तीन धारणाओं के अतिरिक्त भी सामूहिक सुरक्षा के लिये दो बातों की आवश्यकता होती है—

(अ) सभी राष्ट्र यथास्थिति (Status quo) बनाये रखने को अपना राष्ट्रीय हित समझते हों, तथा

(ब) यथास्थिति को नष्ट करने वाले राष्ट्रों के विरुद्ध मुकाबला करने की क्षमता सामूहिक सुरक्षा में हो।

सामूहिक सुरक्षा की सफलता की आवश्यक शर्तें—व्यवहार में सामूहिक सुरक्षा को सफल बनाने के लिए निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक है :—

(1) आक्रमण के विरुद्ध प्रबल शक्ति संचय—यह सामूहिक शक्ति-सचय की धारणा सैद्धान्तिक दृष्टि स सही प्रतीत होती है परन्तु व्यवहार मे न तो इतिहास ही और न ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियाँ इस सम्भावना की पुष्टि करती हैं। सभी राष्ट्रों के निजी हित सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को एक ही दृष्टिकोण से देखने मे बाधक होते है। इसीलिए दोनों विश्व युद्धों मे राष्ट्रीय सामूहिक सुरक्षा को आवश्यकता होते हुए भी निःशस्त्रीकरण के लिए तैयार नहीं हुए। इसके अतिरिक्त अपने-अपने राष्ट्रीय हितों के कारण आक्रामक राष्ट्र के भी अनेक हिमायती राष्ट्र बन जाते हैं जो सामूहिक सुरक्षा को असफल कर देते हैं। कोरिया के मामले मे संयुक्त राष्ट्र सघ ने सामूहिक सुरक्षा के लिए जो व्यवस्था की उसमे उसे विशेष सफलता नहीं मिली। कोरिया के साम्यवादियों के समर्थक साम्यवादी राष्ट्र बन गये तटस्थ राज्य शीत युद्ध से बचने के लिए दूर जा खड़े हुए। केवल अमेरिका ही ऐसा राष्ट्र था जिसने दुनिया की आलोचना की चिन्ता न कर दक्षिणी कोरिया का साथ दिया।

(2) सुरक्षा सम्बन्धी समान दृष्टिकोण—सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि सभी राष्ट्रों का दृष्टिकोण समान हो। परन्तु अब तक जो अनुभव सामने आया है वह यही है कि सभी राष्ट्र अपना-अपना दृष्टिकोण अलग-अलग रखते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय अमेरिका और ब्रिटेन तथा रूस तीनों जर्मनी के पूर्वी क्षेत्र पर तथा इटली पर सामूहिक

आक्रमण के लिए एकमत नहीं रखते थे। ब्रिटेन ने कभी दूरस्थ (चैनल पार) राष्ट्रों के हितों की चिन्ता न की। जर्मनी द्वारा हालैण्ड को हराया गया, आस्ट्रिया को हराया गया तथा फ्रांस को भी हराया। इंगलैण्ड चुपचाप तमाशा देखता रहा पर जब जर्मनी ने जल-शक्ति का विकास किया अर्थात इंगलैण्ड के राष्ट्र हित पर चोट की तब वह सामूहिक सुरक्षा के लिए शोर मचाने लगा।

आज भी अमेरिका और फ्रांस सामूहिक सुरक्षा के पक्ष में एक मत नहीं है। सामूहिक सुरक्षा की सफलता के लिए सामूहिक नीति व सक्रियता का होना आवश्यक है। श्री वनर लेवी (Werner Levi) का कहना है कि "विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के प्रश्नों के समान दृष्टिकोण के अभाव में सामूहिक कार्यवाही की नीति कोरी कल्पना से अधिक और कुछ नहीं।"

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति से ऊपर राष्ट्रहित को मान्यता**—विश्व में जितने भी युद्ध हुए हैं, एकदम प्रारम्भ नहीं हुए। जब तक दूसरे देशों के हितों की हानि होती रही बड़े राष्ट्रों ने उसकी परवाह न की पर जब-जब बड़े राष्ट्रों के हितों को चोट पहुँची तब तब वे सामूहिक सुरक्षा एवं विश्व-शान्ति की बात करने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए प्रत्येक राष्ट्र को राष्ट्रीय स्वार्थों से ऊपर उठना होगा। पारस्परिक सहयोग एवं त्याग की भावना एक आदर्शात्मक कल्पना है जिसे अपनाये बिना सामूहिक सुरक्षा की भावना सफल नहीं हो सकती है। आइनिस एल० क्लाड (Inish L. Claude) का कहना है कि "यह आत्मपरक आवश्यकता है।" सामूहिक सुरक्षा को अपनाने के हेतु राष्ट्रीय हित का तादात्म मानव समाज के सामान्य से होना आवश्यक है, यहाँ तक कि अपनी सेना को विश्व समुदाय को सौंप देना पड़े तो संकोच न करना चाहिए पर वर्तमान समय में यह कल्पना करना असम्भव सा है अतः सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था असफल रही है।

सामूहिक सुरक्षा, यथास्थिति एवं परिवर्तन—व्यवहार में सामूहिक सुरक्षा यथास्थिति की हिमायत करती है। वाल्टर लिपमैन (Walter Lippman) का मत है कि "यह उसकी संरक्षक (Custodian of Status quo) है।" परन्तु यथास्थिति का विचार राजनैतिक गतिशीलता के विपरीत है, कुछ राष्ट्रों के हितों के विपरीत भी हो सकती है तथा कुछ स्थानों पर इसे बनाये रखना भी अन्यायपूर्ण हो सकता है। महेन्द कुमार कहते हैं कि "सामूहिक सुरक्षा में न्याय से अधिक शान्ति पर आग्रह है, न्यायपूर्ण शान्ति पर नहीं।"

यथास्थिति जहाँ एक ओर युद्धों को रोकती है, वहाँ वह दूसरी ओर छोटी-छोटी लड़ाइयों को विश्व-व्यापी भी बना देती है। "स्थानीय अथवा क्षेत्रीय संघर्षों को विश्व-व्यापी होने से रोकना कठिन हो जाता है, आणुविक आयुधों के युग में तो युद्ध प्रसार की सम्भावनाएँ और भी अधिक बढ़ गयी हैं।"

सामूहिक सुरक्षा व शान्ति-व्यवस्था—सामूहिक सुरक्षा और शान्ति स्थापना का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। सामूहिक सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि ज्योंही कहीं शान्ति भंग हो वहाँ सामूहिक कार्यवाही तुरन्त होना चाहिए पर ऐसा होता नहीं है। आमतौर से सामूहिक सुरक्षा का प्रयत्न तब होता है जब संघर्ष काफी बढ़ जाता है। उस समय युद्ध रोकना कठिन हो जाता है और सामूहिक कार्यवाही से युद्ध विश्वव्यापी बन जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व लोग युद्ध की रोक-थाम के स्थान पर अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्रों में सैनिक शस्त्रों की दौड़ प्रारम्भ हो गयी थी, राष्ट्रों में गठबन्धन न होना प्रारम्भ हो गया था। इससे युद्ध और निकट आ गया था। वास्तव में सामूहिक सुरक्षा की सफलता बड़े-बड़े राष्ट्रों के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है जैसे स्वेज नहर के संकट पर रूस और अमेरिका एकमत हो गये थे अतः वह संकट शीघ्र ही दूर हो गया।

सामूहिक सुरक्षा एवं गुट-निरपेक्षता—गुट-निरपेक्षता एक ओर तो संघर्ष को कम एवं सीमित रखता है, दूसरी ओर वह युद्ध को व्यापक बना देता है। गुट निरपेक्षता से तात्पर्य यह है कि कुछ राष्ट्र गुटबन्दी से दूर रहते हैं, वे किसी झगड़े में किसी का पक्ष नहीं लेते हैं। पर वे शान्ति

प्रिय राष्ट्र होते हैं अतः सामूहिक सुरक्षा के पक्षपाती होते हैं। वे सैनिक गुटों को भी शान्ति का शत्रु मानते हैं।

सामूहिक सुरक्षा के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था—यद्यपि मार्गेन्थ्यू, क्लाड आदि विद्वान सामूहिक सुरक्षा को "अयथार्थवादी दृष्टिकोण" (Unrealistic Policy) मानते हैं परन्तु सिद्धान्ततः यह नीति विश्व-शान्ति में सहायक मानी जाती है। सामूहिक सुरक्षा का परिणाम यथा-स्थिति कायम रखना होगा जिससे छोटे-बड़े राष्ट्रों का लाभ होगा। यथास्थिति से आक्रमण का भय छोटे राज्यों को न रहेगा और वे शान्तिपूर्ण अपनी उन्नति कर सकेंगे। बड़े राष्ट्रों का सैनिक व राजनैतिक प्रभुत्व कम हो जायगा पर औद्योगिक प्रगति के कारण उनका नेतृत्व बना रहेगा। छोटे राज्य साम्राज्यवादी प्रभुत्व से निकलकर निर्भय होकर अपनी स्वतन्त्रता एवं प्रभुसत्ता पर जोर देते हुए बड़े राष्ट्रों को दिये गये विशेषाधिकारों को समाप्त कर देंगे। विश्व में तनाव का वातावरण कम होगा और शान्तिपूर्ण जीवन बिता सकेंगे। इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का महत्त्व और दायित्व विशेष रहेगा।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रति महाशक्तियों के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।
   Discuss the attitude of Great Powers towards disarmament since the close of Second World War.
2. द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात नि.शस्त्रीकरण की समस्या पर टिप्पणी लिखिए तथा उसके लिए किये गये प्रयत्नों को विवेचना कीजिए।
   Write a short note on the problem of disarmament after the Second World War and discuss the efforts made for disarmament after Second World War.
3. क्या सोवियत संघ नि शस्त्रीकरण चाहता है ? उसके द्वारा रखे गये प्रस्तावों के पीछे क्या उद्देश्य रहता है ? स्पष्ट कीजिए।
   Does Soviet Union want disarmament ? What objectives are concealed behind the proposals put by the Soviet Union ? Explain.
4. क्षेत्रवाद का अर्थ बताइये तथा उसकी सार्थकता का विवेचन कीजिए। संयुक्त राष्ट्र संघ के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रवाद की व्याख्या कीजिए।
   Define Regionalism and its meaningfulness. Discuss regionalism in relation to U. N O
5. द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद बने क्षेत्रीय संगठनों पर प्रकाश डालिए तथा बताइये कि क्या क्षेत्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के लिए आवश्यक है ?
   Throw light on Regional Organisation established after the World War Second. Are these Regional Organisations necessary for International Peace and Security ?
6. नाटो और वार्सा पैक्ट एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी संगठन हैं। वार्सा पैक्ट पूर्वी यूरोपीयन राज्यों पर लादा संगठन है। विवेचना कीजिए।
   NATO and Warsaw Pact are rival Organisations. Warsaw Pact is an organisation dictated upon Eastern Countries of Europe. Discuss.
7. सामूहिक सुरक्षा की व्याख्या कीजिए तथा इसकी सफलता की आवश्यक शर्तें बताइये। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापना मे इसका क्या योगदान है ?
   Discuss the Collective Security and necessary conditions for its success. What is its contributions in establishing International Peace ?

21

दो महायुद्धों के बीच ब्रिटेन की विदेश नीति

(Foreign Policy of Britain between Two Great Wars)

"ब्रिटेन की विदेश-नीति का एक मूलभूत तथ्य यह रहा है कि उसने सदैव बढ़कर इस बात का विरोध किया है कि उसके सामने का समुद्री तट किसी एक शक्ति के अधीन न रहे। एडवर्ड तृतीय से लेकर आज तक उसने किसी राज्य को इस क्षेत्र पर पूर्ण अधिकार न करने दिया।"

—के० एम० पाणिक्कर

"British policy must therefore maintain the open door and must at the same time display a direct positive interest in the independence of all Nations." —Sir Iyre Carvey

ब्रिटेन की विदेश नीति 1914 से पूर्व
(Foreign Policy of Britain before 1914)

ब्रिटेन की भौगोलिक स्थिति का उसकी विदेश नीति पर प्रभाव—ब्रिटेन क्या सभी देशों की विदेश नीति पर उनकी भौगोलिक स्थिति का गहरा प्रभाव पड़ता है। के० एम० पाणिक्कर ने भी विदेश नीति के निर्धारण में भौगोलिक स्थिति को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है। उनके शब्द इस प्रकार हैं—"यह समझना कठिन नहीं कि भूगोल का सुरक्षा से कितना गहरा सम्बन्ध है। चूँकि प्रत्येक देश की भौगोलिक विशिष्टाओं में मूलतः कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिए प्रत्येक देश की वैदेशिक नीति के कुछ पहलू स्थायी होते हैं। वास्तव में यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वैदेशिक नीति भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।"

इगलैण्ड चारों ओर समुद्र से घिरा है। यूरोप में स्थित होते हुए भी इगलैण्ड यूरोप से कुछ पृथक सा है। 22 मील का इंगलिश चेनल उसे यूरोप से पृथक करता है। अपनी सुरक्षा के लिए उसे अपनी जल सेना पर निर्भर रहना पड़ता है। 1600 ई० से उसने अपनी सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली समुद्री बेड़ा रखना आवश्यक समझा है। यूरोप की किसी शक्ति की समुद्री सेना को उसने अपनी समुद्री सेना से कभी अधिक शक्तिशाली नहीं बनने दिया है। इसी कारण द्वितीय विश्व युद्ध के समय तक उस किसी शक्तिशाली राज्य से खतरा नहीं रहा है। इसी समुद्री शक्ति के बल पर उसने विश्व में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की है। इतना ही नहीं उसका व्यापार जो उसकी समृद्धि का कारण हुआ, सभी देशों से बढ़ा-चढ़ा रहा है। अतः हम कह सकते हैं कि मध्यकाल में ब्रिटिश विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य "शक्तिशाली नौसेना द्वारा समुद्रों पर स्वामित्व बनाये रखना रहा है।

ब्रिटेन और शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त—ब्रिटेन की विदेश नीति का दूसरा उद्देश्य शक्ति सिद्धान्त (Balance of power) सिद्धान्त का कठोरता से पालन करना रहा है। वह यूरोप में

सदैव इस बात की ओर ध्यान देता रहा है कि किसी एक देश की सैनिक शक्ति इतनी न बढ़ जाय जिससे वह यूरोप की अन्य शक्तियों पर हावी हो जाय और ब्रिटेन की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाये । अत: जब कभी किसी यूरोपीय शक्ति ने सर्वाधिक सैन्य शक्ति समन्वय की, ब्रिटेन चौकन्ना हो उठा और उसने यूरोप के दुर्बल शक्तियों का संगठन बनाने एवं उसकी सहायता देने का प्रयत्न किया । सैनिक और आर्थिक सहायता देकर दुर्बल राज्यों को शक्तिशाली राज्यों के मुकाबले में खडा कर दिया , इस प्रकार 'शक्ति सन्तुलन' ब्रिटिश विदेश नीति का अटल सिद्धान्त बना रहा । ब्रिटेन ने इस सिद्धान्त के आधार पर किसी एक शक्ति से स्थायी मित्रता नहीं रखी । अपने सिद्धान्त की पुष्टि मे वह अपने शत्रु की सहायता देने से भी न हिचका और मित्र राष्ट्रों का भी उसने डटकर विरोध किया । यूरोप मे उसने कभी एक देश की तानाशाही को सहन न किया 19वीं शताब्दी के आरम्भ मे फ्रांस के विरुद्ध व 1914 से पूर्व जर्मनी के विरुद्ध मोर्चाबन्दी का कारण यही शक्ति सन्तुलन था ।

मुक्त द्वार नीति (Open door policy)—इंगलैण्ड ने यद्यपि अपने स्वार्थ के लिए एक सर्व शक्तिशाली नौ सेना रखी और यूरोप के पश्चिम तट को किसी एक यूरोपीय शक्ति के प्रभुत्व मे न आने दिया पर इससे अन्य देशो का भी उपकार हुआ । यदि वह सदैव अपने स्वार्थ में ही लगा रहता तो शायद उसके अनेक विरोधी उत्पन्न हो गये होते । सम्भव था उसके विरोधियों की सम्मिलित शक्ति उसकी शक्ति से बढ़ जाती और न केवल उसका विशाल साम्राज्य ही समाप्त हो जाता बल्कि उसकी स्वतन्त्रता का भी अन्त हो जाता । अतः उसने दुर्बल राज्यो की रक्षा का सदैव दम भरा । यूरोप ही क्या समस्त विश्व मे उसने आक्रान्त देशों की रक्षा की एव उनकी स्वतन्त्रता को कायम रखा । अतः इगलैण्ड का शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त विश्व को छोटे राज्यों की स्वतन्त्रता की गारन्टी के रूप में था । अर्थात उसने स्वार्थ को परस्वार्थ का स्वरूप प्रदान किया । सर आयर कार्वे ने लिखा है 'ब्रिटेन की नीति इसलिए यह होनी चाहिए कि वह एक ओर खुले द्वार की नीति रखे और दूसरी ओर विश्व की समस्त शक्तियों की स्वतन्त्रता से प्रत्यक्ष दिलचस्पी रखे ।"

ब्रिटेन में अन्य देशो के हितार्थ व्यापारिक क्षेत्र में मुक्त द्वार नीति का अवलम्बन लिया तथा छोटे देशों को स्वतन्त्रता की गारन्टी । उसने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि 'वह उन देशों का नैसर्गिक शत्रु है जो दूसरे छोटे राज्यों की स्वतन्त्रता के लिए संकट उपस्थित करते हैं ।

ब्रिटेन की विदेश नीति पर अंग्रेजी स्वभाव का प्रभाव—अंग्रेज सदैव से रूढ़िवादी एवं एकान्त प्रेमी रहे हैं । वे तभी चेतते है जब उनका स्वार्थ खतरे में पड़ता है । उनमे दूरदर्शिता का अभाव है । यूरोप मे कुछ होता रहे उसकी उन्हें चिन्ता नहीं रहती जब तक इंगलैंड की सुरक्षा को खतरा पैदा न हो । नेपोलियन के द्वारा यूरोप की विजय से उसे इगलैण्ड पर आता संकट दिखाई दिया अत: उसने यूरोपीय शक्तियों के कई गठबन्धन किये और अन्त में उसे हराकर छोड़ा । नेपोलियन के बाद रूस और फ्रांस मिल गये और स्पेन पर फ्रांस का प्रभुत्व छा गया । फ्रांस ने स्पेन के खोये उपनिवेश लेटिन अमेरिका मे प्राप्त करने चाहे, ब्रिटेन ने अपने पुराने शत्रु स० रा० अमेरिका मे गठबन्धन कर यूरोप की शक्तियों को चुनौती दे दी । इगलैण्ड और अमेरिका की संयुक्त शक्ति से भय खाकर फ्रांस चुप हो गया और दक्षिणी अमेरिका मे स्पेन के उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये । इसके बाद इगलैण्ड ने चुप्पी साध ली जो 100 वर्षों तक चली । इस बीच दो घटनायें अवश्य घटी जिनमें इगलैण्ड को अपने पुराने शत्रु से टक्कर लेनी पड़ी । क्रिमिया का युद्ध और बर्लिन कांग्रेस इन दोनों संघर्ष मे उसे सफलता मिली । अंग्रेजी स्वभाव की विशेषता पार्मस्टन के कथन से भी प्रकट होती है । वह इगलैण्ड का वर्षों तक विदेश मन्त्री तथा अन्त में प्रधान मन्त्री भी रहा था । उसने रूस स्थित अंग्रेजी राजदूत को लिखा था कि "इगलैण्ड को ऐसी समस्याओं

पर समझौता करने की आदत नहीं जो अभी तक उपस्थित नहीं हुई और जिनके तत्काल घतरि होने की सम्भावना नहीं।'

इस प्रकार ब्रिटेन की विदेश नीति "भौगोलिक स्थिति, आर्थिक आवश्यकता, राष्ट्रीय हित तथा अंग्रेजों के स्वभाव पर अवलम्बित है।"

ब्रिटेन की विदेश नीति 1914 से 1939 तक
(Foreign Policy of Britain from 1914 to 1939)

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व ब्रिटेन एक प्रकार से तटस्थ था। लेकिन जर्मनी की महत्वाकांक्षाओं ने उसे फ्रांस व रूस के साथ एक समझौता करने को बाध्य कर दिया। जब आस्ट्रिया ने सर्बिया पर आक्रमण किया तो ब्रिटिश विदेश मन्त्री सर एडवर्ड ग्रे ने शान्ति के आखिरी प्रयास किये। परन्तु जर्मनी की हठधर्मी और बेल्जियम की तटस्थता के उल्लंघन ने उसे युद्ध में खड़ा कर दिया। युद्ध में उसे काफी क्षति हुई और उसने यह निश्चय किया कि नई सन्धि द्वारा वह युद्ध की पुनरावृत्ति नहीं होने देगा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद भी ब्रिटेन की शक्ति संसार में सर्वोच्च रही। अमेरिका युद्ध के पश्चात् पुनः विश्व राजनीति से छूट गया। इससे ब्रिटेन की स्थिति और मजबूत हो गई। उसने अपनी विदेश नीति में उदारता का पुट अधिक कर दिया। कुछ लोग इस नीति को तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) कहकर पुकारते हैं। ब्रिटेन ने अपना विशेष ध्यान व्यापार में लगाया अतः उसने अपना कोई स्थायी शत्रु न बनाने का निश्चय किया। उसने किसी विशेष देश को मित्र भी बनाने का विचार त्याग दिया। उसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की पूर्ति रह गया। अपने व्यापार को अबाध गति से चलाने के लिए उसने तानाशाहों के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई। तानाशाहों से सहयोग चाहने की आवश्यकता इस कारण अनुभव की गई क्योंकि रूस में साम्यवादी शासन स्थापित हो चुका था, वह विश्व के लिए एक खतरा माना जाने लगा था अतः जब इटली और जर्मनी के तानाशाहों ने रूस को गालियाँ देनी प्रारम्भ कर दी तो ब्रिटेन यह समझने लगा कि ये दोनों तानाशाह साम्यवाद को आगे न बढ़ने देंगे पर शीघ्र ही पता चला कि इंगलैण्ड एक खुशफहमी में था। प्रो० शूमां ने साफ कहा है कि "राजनीतिक शक्तियों के खेल में नीति की परीक्षा, इरादों तथा उम्मीदों के आधार पर न होकर परिणामों के आधार पर होती है। बाल्डविन, चेम्बरलेन, साइमन, हेलीफाक्स तथा होर की नीतियों के परिणाम 1930 में यह हुए कि तीसरी रीच यूरोप को विजय करने में समर्थ हुई तथा ब्रिटेन का राष्ट्रीय जीवन नार्मन विजय के पश्चात् संकट में हो गया।"

ब्रिटेन की तुष्टीकरण नीति
(Appeasement policy of Britain)

(1) ब्रिटेन तथा जर्मनी (Britain and Germany)—प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी को परास्त कर दिया गया था। फ्रांस उसे मिटाने पर तुला हुआ था पर इंगलैण्ड उसके प्रति उदारता का व्यवहार करना चाहता था। उसके आग्रह पर जर्मनी राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया गया था। उसे अर्द्ध-स्थायी सदस्य का दर्जा दिया गया था। इतना ही नहीं ब्रिटेन जर्मनी का आर्थिक उत्थान भी चाहता। धीरे-धीरे जर्मनी विकसित हो रहा था। जब जर्मनी की सत्ता हिटलर के हाथ में आयी तब फ्रांस को अपनी रक्षा की विशेष चिन्ता हुई। ब्रिटेन ने ऐसी कोई चिन्ता अनुभव नहीं की। इतना ही नहीं उसने हिटलर को पूर्ण सन्तुष्ट करने की कोशिश की। हिटलर एक-एक कर वर्साय की सन्धि की शर्तों को तोड़ता रहा पर ब्रिटेन ने कोई कठोर पग नहीं उठाया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को तोड हिटलर ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया, ब्रिटेन चुप रहा। इसके बाद हिटलर ने चैकोस्लावाकिया को टुकड़े-टुकड़े कर आत्मसात कर लिया। म्यूनिख समझौता चैकोस्लावाकिया के

लिए मौत का वारण्ट था जिसे चैकोस्लावाकिया को स्वीकार करना पड़ा। इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री ने इस समझौते का विरोध नहीं किया। उन्होंने चैकों की भावनाओं का आदर नहीं किया।" सच तो यह है, कि तुष्टिकरण की नीति म्यूनिख समझौते के समय 1938 में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।" हिटलर की भूख बढ़ती रही। इंगलैण्ड की तुष्टिकरण की नीति ने इसकी भूख बढ़ाने में सहयोग दिया।

हिटलर इंगलैण्ड की नीति से लाभ उठाता रहा उसने नयी-नयी विजयों की योजना बनानी प्रारम्भ कर दी। इंगलैण्ड ने अपनी पुरानी 'शक्ति-सन्तुलन की नीति का भी परित्याग कर दिया। वह यूरोप की शान्ति के लिए और युद्ध से बचने के लिए हिटलर को प्रसन्न करने में लगा रहा। इस तुष्टिकरण नीति का अन्त तब हुआ जब हिटलर ने डैन्जिग नगर और पोलिश गलियारे को हथियाना चाहा। इस माँग पर इंगलैण्ड के पत्र 'पंच' में एक व्यंगात्मक कार्टून छापा जिसमें हिटलर की कब्र बनाकर लिखा था कि "यह मेरी अन्तिम प्रादेशिक माँग है।" स्वयं चेम्बरलेन ने तुष्टिकरण नीति को त्यागते हुए कहा था कि, "यह दिन हमारे और आपके दोनों के लिए बुरा है। ...... आज प्रत्येक बात जिसकी मैंने आशा की थी नष्ट हो गई।"

हिटलर को ब्रिटेन की ओर से चेतावनी दी गई कि पोलैण्ड की निश्चित सीमा का यदि अतिक्रमण किया गया तो ब्रिटेन की सरकार पोलैण्ड की सहायता करेगी। हिटलर को यह चेतावनी केवल सामान्य धमकी लगी अतः उसने इसकी चिन्ता न कर पोलैण्ड पर 1 सितम्बर 1939 को धावा बोल दिया। अब ब्रिटेन को यह ध्यान में आया कि उसकी तुष्टिकरण नीति का कितना भयानक परिणाम निकला अत. अब उसने पूर्णतया उक्त नीति का परित्याग कर 3 सितम्बर 1939 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

(2) **ब्रिटेन एवं इटली (Britain and Italy)**—प्रथम विश्व युद्ध के बाद हुए शान्ति सम्मेलन में इटली के हितों की उपेक्षा की गई ओरलैण्ड स्वदेश निराश होकर लौटा। इटली में 1922 में फासिस्ट मुसोलिनी की सत्ता स्थापित हो गई। वह चाहता था कि प्राचीन रोमन साम्राज्य के समान ही इटली को एक विशाल साम्राज्य स्थापित करना चाहिए तभी उसका गौरव बढ़ेगा। मुसोलिनी मित्र राष्ट्रों को साम्यवादी रूस से डरा हुआ अनुभव करता था। उसने इन देशों की सहानुभूति ग्रहण करने के लिए साम्यवाद के विरुद्ध घोर प्रचार किया, इतना ही नहीं उसके दल ने साम्यवादियों पर सामूहिक आक्रमण किये, हड़तालियों को भी खूब पीटा। देखते-देखते इटली से साम्यवाद का सफाया हो गया। पश्चिमी शक्तियों को इससे बड़ा सन्तोष हुआ। इतना ही नहीं उसने हिटलर का भी प्रारम्भ में बड़ा विरोध किया, आस्ट्रिया पर कब्जा करने की हिटलर की स्कीम को उसने पूरा न होने दिया। फ्रांस और इगलैण्ड को पूरा विश्वास हो गया कि इटली रूस और जर्मनी के विरुद्ध उनकी सहायता करेगा। अतः दोनों देशों ने इटली के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई।

मुसोलिनी ने अपने अनुकूल वातावरण बनाकर एबीसीनिया को हथियाने की योजना बनाई। फ्रांस का प्रधानमन्त्री लावेल रोम पहुँचा और उसने मुसोलिनी से एक गुप्त संधि कर इटली को एबीसीनिया अभियान में पूर्ण सहायता देने का वचन दिया। इससे उत्साहित होकर इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। इटली के विरुद्ध राष्ट्र संघ में आर्थिक बहिष्कार का प्रस्ताव रखा गया। फ्रांस के प्रधानमन्त्री लावेल तथा ब्रिटिश विदेशमन्त्री ने इटली के विरुद्ध भीषण-भाषण किये। प्रस्ताव पास हो गया पर अमल में न आ सका, क्योंकि ऊपर से आलोचना करने वाले लावेल एवं समुअल होर दोनों इटली की गुप्त रूप से सहायता कर रहे थे। यह कार्य इंगलैण्ड की सरकार नहीं चाहती थी पर विदेशमन्त्री श्री होर ने उसकी चिन्ता न की।

इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री ईडन नहीं चाहता था कि इटली-इथोपिया संघर्ष लम्बा चले क्योंकि इटली का कार्य राष्ट्र संघ के विधान के विरुद्ध था। उसने इटली से एक समझौता कराने के लिए प्रस्ताव रखा कि यदि वह युद्ध बन्द कर शान्तिपूर्ण ढग अपनाये तो वह उसे इथोपिया से कुछ प्रदेश दिलवायेगा और इथोपिया की क्षतिपूर्ति ब्रिटेन और फ्रांस कर देंगे पर इटली शक्ति द्वारा अपनी सेना द्वारा इथोपिया को जीतना चाहता था। उसने इगलैण्ड की बात मानने से इन्कार कर दिया। जब इटली पर राष्ट्र संघ द्वारा आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये तो श्री होर और श्री लावेल ने गुप्त समझौता कर 10 सितम्बर 1935 को यह निश्चय किया कि वे दोनों इटली के विरुद्ध कोई सैनिक कार्यवाही न होने देंगे। इटली के जहाजों को स्वेज नहर मे जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता देंगे।

इटली की गुप्त सहायता ब्रिटिश विदेश मन्त्री कर रहा था, ब्रिटिश सरकार के अन्य सदस्य इटली की भर्त्सना कर रहे थे। उधर जर्मनी ने इटली के कार्य का समर्थन कर दिया। मुसोलिनी को इंगलैण्ड की दुरंगी नीति पसन्द न आयी। ब्रिटेन की इस 'दुरंगी नीति का परिणाम भी बहुत बुरा रहा।...... मुसोलिनी को ब्रिटेन की नीति के प्रति विश्वास न रहा और इटली जर्मनी की ओर झुकने लगा।"

इधर फ्रांस के लावेल एवं ब्रिटेन के होर का गुप्त समझौता दिसम्बर मे समाचार पत्रों में छप गया। दोनों राजनीतिज्ञों की बड़ी बदनामी हुई और उन्हें अपना त्याग-पत्र देना पडा। इसके बाद ब्रिटेन इटली की मित्रता न पा सका। इटली असन्तुष्ट हो गया। उसने हिटलर की ओर मित्रता का हाथ बढ़ा दिया। इटली और जर्मनी का बर्लिन धुरी समझौता हो गया। इगलैण्ड की तुष्टिकरण नीति असफल हुई। शूमां के मतानुसार "लावेल होर समझौते की पहली बलि एबीसीनिया, दूसरी बलि राष्ट्र संघ तथा तीसरी बलि फ्रांस और ब्रिटेन स्वयं थे। मुसोलिनी ने हिटलर के विरोध के आधार पर उसने एबीसीनिया प्राप्त कर उन्हें ठेंगा बता दिया तथा हिटलर से ही मित्रता कर ली।"

(3) जापान एवं ब्रिटेन (Japan and Britain)—जापान और ब्रिटेन मे 1902 में सन्धि हुई थी। इससे उत्साहित होकर जापान ने रूस जैसी महा शक्ति से 1904 में टक्कर ली और 1905 मे उसे परास्त कर संसार को आश्चर्यचकित कर दिया। प्रथम विश्व युद्ध मे जापान ब्रिटेन के साथ था। यद्यपि उसने मित्र राष्ट्रों की कोई सहायता प्रथम विश्व युद्ध मे नही की पर उसने अपने स्वार्थ के लिए प्रशान्त महासागर में जर्मन द्वीपों पर कब्जा कर लिया तथा चीन में शाटुंग क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इस कब्जे को शान्ति सम्मेलन ने अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी।

जापान ब्रिटेन की तुष्टिकरण नीति से प्रेरणा लेकर चीन को हड़पने की योजना बनाने लगा। चीन यूरोपीय शक्तियों के लूटमार से पहले ही से अशक्त था वह मनरो सिद्धान्त को अपनाकर "एशिया एशिया वालों के लिए" नारा लगाने लगा। यद्यपि ब्रिटेन के अपने स्वार्थ भी चीन में थे पर वह जापान को प्रसन्न करने की धुन मे इन स्वार्थों को त्यागने में भी पीछे न रहना चाहता था। जापान से युद्ध करने मे दूरी के कारण ब्रिटेन अपने को असमर्थ पाता था। श्री ब्रस ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "शक्ति द्वारा संसार के दूसरे कोने पर स्थापित जापान को रोकना एक ऐसा भयंकर संकट था जिसे ग्रहण करने में इंगलैण्ड हिचकिचाता था। भले ही इंगलैण्ड के पास आर्थिक एवं सैनिक साधन थे।"[1]

---

1 "The task of checking by force a great power like Japan at the other side of the world, was an experiment and a risk that Britain would very properly have hesitated to undertake, even if she had been at the height of military and Economic security." —*Bryces*

इंगलैण्ड जापान से टकराने में एक खतरा और अनुभव करता था कि यदि जापान को चीन मे रोका जायगा तो वह दक्षिणी-पूर्वी एशिया में, जहाँ नई जागृति के कारण यूरोपियन प्रभाव से असन्तुष्टि के आसार दिखाई दे रहे थे, उत्पत्ति मचाना प्रारम्भ कर देगा। इतना ही नहीं चीन के जन-जागरण से भी ब्रिटेन अपने हितों को खतरे में मानता था। उनकी रक्षा जापान की मित्रता बने रहने से ही हो सकती थी। इटली और जर्मनी के प्रति अपनाई गई तुष्टिकरण की नीति से पूर्व ही इंगलैण्ड जापान के प्रति अपना रहा था।

जापान ने इंगलैण्ड पर विश्वास कर 1931 में मंचूरिया को हथिया लिया। चीन ने राष्ट्र सघ मे जापान के विरुद्ध शिकायत की। चीन की शिकायत पर राष्ट्र संघ में कोई प्रतिक्रिया न हुई क्यों वहाँ उसका मित्र इंगलैण्ड बैठा था। जापान की इस हठधर्मी ने राष्ट्र संघ की दुर्बलता प्रकट कर दी। ब्रिटेन ने जापान का अधिकार मन्चूरिया मे होना आवश्यक बताया। ब्रिटेन के पुत्र डेली-मेल के शब्द उसी प्रकार के थे कि "मंचूरिया में जापान की उपस्थिति संसार को लाभदायक हो रही है।" (Japan's presence in Manchuria has been a benefit to the World)

मंचूरिया पर कब्जा हो जाने के बाद सर फ्रेडरिक लीक के नेतृत्व में एक आर्थिक मामलों का औद्योगिक शिष्ट-मण्डल लन्दन से जापान गया। इससे जापान को और उत्साह मिला। पूरे चीन पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहा। चीन पर आक्रमण प्रारम्भ हो गया। इससे अनेक ब्रिटिश प्रजाजनों को कष्ट हुआ। इतना ही नहीं एक बार ब्रिटिश राजदूत श्री मान्टगोमरी को कुछ चोट भी पहुँची पर इंगलैण्ड तुष्टिकरण की नीति के कारण जापान के विरुद्ध कोई कठोर पग न उठा सका। जर्मनी एवं इटली के समान जापान भी तानाशाही मनोवृत्ति का देश बना और मित्र राष्ट्रों का सबसे भयानक शत्रु बन गया।

डा० मथुरालाल ने ब्रिटेन की इस ढुलमुल नीति की आलोचना करते हुए लिखा है कि "वस्तुत: यह बड़े आश्चर्य की बात है कि रोम एवं बर्लिन ने तो टोकियो से साम्राज्य निर्माण का पाठ पढ़ा, जापान के प्रति तुष्टिकरण की नीति की इस विफलता से ब्रिटेन और फ्रांस ने कोई सबक नहीं सीखा।"

(4) **ब्रिटेन और रूस (Britain and Rusia)**—प्रथम विश्व युद्ध के समय अपने पुराने सभी भेद-भाव मिटाकर रूस और ब्रिटेन जर्मनी के विरुद्ध लड़े थे। 1907 में फ्रांस, ब्रिटेन और रूस की त्रिमैत्री सन्धि हो गई थी। रूस में क्रान्ति के आसार तो बहुत समय से दिखाई दे रहे थे। रूस की जनता जारशाही से बहुत असन्तुष्ट थी। इस असन्तोष का लाभ साम्यवादियों ने उठाया। जापान से हारने के बाद रूस में क्रान्ति हो गई थी पर जारशाही द्वारा उसे कुचल दिया गया था पर जब प्रथम विश्व युद्ध में रूसी सेनायें जर्मन सेनाओं से हार कर पीछे हटने लगीं तो जार घबड़ा गया और दूसरी ओर जनता ने विद्रोह कर दिया। सत्ता को मेनशिवकों के हाथों मे जार ने सौंप दिया। ये राजनीतिक समाजवाद को संवैधानिक ढंग से धीरे-धीरे लाना चाहते थे पर साम्यवादियो ने जो बोल्शेविक कहलाते थे 1917 में क्रान्ति कर दी। वह उस समय को उपयुक्त समझते थे और तुरन्त हिंसा द्वारा समाजवाद लाना चाहते थे। लेनिन जो विदेशों में था और साम्यवादियो का सर्वोच्च नेता था जर्मन सेना की सहायता से रूस पहुँचा दिया गया। लेनिन ने क्रान्ति को सफल बनाया। जार एवं उसके परिवार का सफाया कर दिया। इस क्रान्ति में जो संहार हुआ वह फ्रांस की क्रान्ति से भी अधिक था। समस्त गैर-साम्यवादी जगत थर-थर काँपने लगा। लेनिन ने जर्मनी से सन्धि कर युद्ध बन्द कर दिया और अपने देश के नव-निर्माण में लगा।

प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी हार गया। शान्ति सम्मेलन मे लगभग सभी स्वतन्त्र देशों ने पेरिस मे अपने प्रतिनिधि भेजे, जो नहीं आये उन्हें बुलाया गया पर रूस के प्रतिनिधि को सम्मेलन मे नहीं बुलाया गया। पश्चिमी देश रूस से भय खाते थे अतः उससे दूर रहना ही उन्होंने उचित

समझा। रूस के विरुद्ध जब इटली और जर्मनी चिल्लाने लगे तो पश्चिमी देशों ने इनको उत्साहित करना प्रारम्भ किया। जर्मनी को वे रूस और अपने बीच एक दीवार समझते थे। ब्रिटेन का विश्वास था कि पूर्व में जापान की शक्ति, पश्चिम में जर्मनी और दक्षिण पश्चिम मे इटली की शक्ति रूस की शक्ति का अन्त कर देगी अतः अपनी तुष्टिकरण नीति से इंगलैण्ड इन तीनों देशों को प्रोत्साहन देता रहा। 1933 में जब हिटलर ने अपनी सत्ता जमाने के बाद वर्साय की सन्धि को नष्ट कर दिया तब फ्रांस को अपनी सुरक्षा की चिन्ता हुई क्योंकि ब्रिटेन की विदेश नीति जर्मनी के सैन्यीकरण की थी। अतः बदलती परिस्थितियों मे रूस को राष्ट्र-संघ का सदस्य बनाया गया पर उस पर सदैव शंका की दृष्टि रखी गई। रूस ने अनेक सुझाव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए रखे पर पश्चिमी शक्तियों ने उनका विरोध किया। इसके अतिरिक्त जापान, जर्मनी और इटली ने राष्ट्रसंघ को क्रमशः 1933, 1935 तथा 1937 में छोड़ दिया।

ब्रिटेन चाहता था कि रूस जर्मनी से भिड़ जाये और फिर इटली और जापान उस पर आक्रमण करदे तो रूस पिसकर रह जायगा। इगलैण्ड मानता कि रूस को हराकर ये तीनों शक्तियाँ मिलकर उसके लिए भयानक खतरा पैदा कर सकते हैं पर उस खतरे की अपेक्षा इगलैण्ड साम्यवाद को अपने तथा अपने साम्राज्य के लिए अपेक्षाकृत अधिक खतरनाक मानता था। अतएव वह धुरी शक्तियों को प्रोत्साहन देता रहा। इस नीति से तंग आकर रूस जर्मनी सन्धि कर ली। रूस को निराश करके उसने अपना हितैषी खो दिया।

तुष्टिकरण की नीति के कारण

ब्रिटेन का न कोई स्थायी शत्रु है और न कोई स्थायी मित्र है उसका स्थायी मित्र केवल अपना स्वार्थ है। इगलैण्ड अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए "गधे को भी बाप" बना सकता है। अतः उसके द्वारा अपनाई तुष्टिकरण की नीति के पीछे उसका स्वार्थ छिपा था। ब्रिटेन के निवासी दूरदर्शी कम हैं। इस स्वभाव के कार. वे भविष्य को न देखकर वर्तमान पर ही निगाह रखते हैं। तुष्टिकरण नीति का परिणाम क्या होगा, इस पर ब्रिटिश सरकार ने ध्यान न दिया और तत्कालीन परिस्थितियो के अनुसार अपनी पुरानी सन्तुलन की नीति का परित्याग कर तुष्टिकरण की नीति अपनाई। उसके परिणाम का उल्लेख पहले न कर हम इस नीति को अपनाने के कुछ कारणों पर प्रकाश डालेंगे :

(1) साम्यवाद का भय (Danger of Communism)—ब्रिटेन ने तुष्टिकरण नीति को इसलिए अपनाया, क्योंकि वह साम्यवाद को विश्व का एक महानतम खतरा मानता था। रूसी भालू से ब्रिटिश शेर घबड़ा गया था इन भय को दूर करने के लिए उसने अपनी सभी नीतियाँ, सिद्धान्तः यहाँ तक हितों का त्यागन कर दिया। लाइडजाज ने जर्मन नाजीवाद के खतरे की उपेक्षा कर ब्रिटिश संसद में अपने भाषण मे कहा था कि "केवल 2 या 3 वर्षों में जर्मनी यूरोप मे साम्यवाद के विरुद्ध रक्षा की दीवार समझा जायगा। वह यूरोप के केन्द्र पर है और यदि साम्य-वादियों के विरुद्ध उसकी रक्षा पंक्ति भंग होती है तो सारे यूरोप में साम्यवाद फैलने की सम्भावना है..........हमें उसकी निन्दा न करनी चाहिए उस समय जापान, इटली और जर्मनी साम्यवाद के कट्टर शत्रु थे। साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए तथा उसका अन्त करने के लिए ब्रिटेन को यही राज्य और इनके तानाशाह दिखाई दिये। दुःख है कि इन तीनों राज्यों को सहायता देकर ब्रिटेन न साम्यवाद को रोक सका और न उन्हें अपना मित्र ही बना सका।

(2) ब्रिटेन की आर्थिक नीति (British Economic Policy)—तुष्टिकरण नीति अपनाने का एक कारण ब्रिटेन की आर्थिक नीति थी। जर्मनी और जापान ब्रिटेन के प्रमुख ग्राहक थे। जर्मनी का दिवालापन ब्रिटेन को भी दिवाले की ओर ले जा रहा था। आर्थिक मन्दी से समस्त यूरोप चिल्ला गया था। ब्रिटेन ने जर्मनी का उत्थान चाहा, स्वयं उसने आर्थिक सहायता दी तथा अन्य लोगों से भी उसे आर्थिक सहायता दिलाई। जापान सुदूर पूर्व में सर्व शक्तिशाली देश था।

वह चीन में ब्रिटेन के आर्थिक हित समाप्त कर सकता था। इधर इटली और जर्मनी ब्रिटिश उपनिवेशों तथा ब्रिटेन के व्यापार को ठपकर ब्रिटेन को हानि पहुँचा सकते थे। इन आर्थिक कारणों से भी ब्रिटेन तुष्टिकरण नीति अपनाये हुए था।

(3) **फ्रेन्च ब्रिटेन मतभेद** (French-British Differences)—प्रथम विश्व युद्ध में फ्रांस की बड़ी दुर्गति बनी थी अतः वह जर्मनी को पीस डालना चाहता था। यह बात ब्रिटेन को पसन्द न थी। फ्रांस की कठोर नीति जितनी अधिक थी उतनी ही ब्रिटेन की नीति उदार थी। इस कारण दोनों में मतभेद चलने लगा था। फ्रांस को अपनी सुरक्षा की चिन्ता थी तो ब्रिटेन को अपने व्यापार की। फ्रांस ब्रिटेन की मित्रता पर शंका करता था तो ब्रिटेन भी फ्रांस की मित्रता पर शंका करता था। अपने मित्र बनाने के लिए ब्रिटेन ने तानाशाहों को प्रसन्न करना प्रारम्भ किया।

(4) **शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त** (Principle of Balance of Power)—ब्रिटेन यूरोप मे शक्ति सन्तुलन रखना चाहता था। जर्मनी की हार से यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ गया था। फ्रांस एक शक्तिशाली देश बन गया था पर रूस की शक्ति फ्रांस से भी अधिक थी। फ्रास का रुख अब भी रूस की ओर झुका था। उसे खतरा था कि यदि रूस और फ्रांस मिल गये तो ब्रिटेन की शक्ति कमजोर पड जायेगी। इन शक्तियों के मुकाबले मे उसने जर्मनी, इटली, जापान, को उठने का अवसर दिया जिससे यूरेशिया में शक्ति सन्तुलन बना रहे।

(5) **ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की अक्षमता** (Inefficiency of British Politicians)—दो युद्धों के बीच इगलैण्ड मे कोई विशेष योग्यता प्राप्त राजनीतिज्ञ न हुआ जो यूरोप में उभरती हुई तानाशाही के परिणाम का अनुमान लगा पाता। इस अक्षमता के कारण ब्रिटिश नेताओं के सामने रूस का भूत दिखाई देता रहा। रूसी भालू से बदला लेने के लिए उसने तीन चीते पाले और उनकी लिप्सा पूर्ति इसलिए करता रहा कि ये संकट में काम आवेंगे। हिटलर और मुसोलिनी रूस का हव्वा दिखा-दिखाकर अपनी मागे पूरी कराते रहे। चेम्बरलेन निरा मूर्ख सिद्ध हुआ जो हिटलर के हाथ का खिलौना बन गया। छोटे-छोटे राज्य मेमनों के समान हिटलर जैसे भेड़िये के सामने डाल-डालकर उसकी रक्त पिपासा बढ़ा दी। एक दिन वह इंगलैण्ड पर भी आँखें दिखाने लगा। ब्रिटेन ने प्रथम युद्ध से सबक नहीं सीखा। शूमा का कहना है कि "यदि वाटरलू की लड़ाई ईटन (Eton) खेल के मैदान द्वारा जीती गई तो यह कहना भी त्रुटिपूर्ण न होगा कि ठीक 125 वर्ष बाद मेड्रिड वियना, प्राग, वारसा, ओसलो तथा डंकर्क की पराजय इन्हीं क्षेत्रों में हुई।"

(6) **आन्तरिक दुर्बलता** (Internal Weekness)—ब्रिटेन प्रथम विश्व युद्ध अमेरिका की सहायता से जीत तो गया था पर उसकी आन्तरिक स्थिति खराब हो गई थी। उसे जन-धन की अपार हानि उठानी पड़ी थी। वह नहीं चाहता था कि पुनः युद्ध मे देश को झोंककर दिवालिया बन जाय। सैनिक दृष्टि से भी वह तैयार न था। डेविड थामसन ने तो साफ कहा था कि 'हिटलर के बराबर शक्ति न होने के कारण ही चेम्बरलेन को म्यूनिख समझौता मानना पड़ा।" जैक्सन ने कहा है कि "यथार्थ मे ब्रिटेन की तुष्टिकरण की नीति "पूर्व निर्धारित" (Pre-planned) थी।

तुष्टिकरण की नीति के परिणाम
(Consequences of the Policy of Appeasement)

ब्रिटेन ने जो 1933 के बाद तुष्टिकरण की नीति अपनाई, उसके परिणाम बड़े भयानक निकले। यह परिणाम केवल इंगलैण्ड के लिए ही घातक न थे, वरन समस्त संसार के लिए घातक थे। चर्चिल ने एक बार कहा था कि "ब्रिटेन ने अपमान चुना है और शीघ्र ही उसे युद्ध चुनना पड़ेगा।" चर्चिल की भविष्य वाणी सही सिद्ध हुई। तुष्टिकरण नीति के परिणाम निम्नलिखित निकले।

(1) तानाशाही का उदय (Rise of Dictatorship)—ब्रिटेन की नीति से तानाशाही का उदय हुआ। इटली, जर्मनी तथा जापान की तानाशाही को ब्रिटेन पनपने का मौका न देता तो यूरोप के छोटे-छोटे राज्य का अपहरण न होता। रूस से वह सहयोग से काम लेता तो तानाशाही को पनपने से पूर्व ही समाप्त कर देता। इन तानाशाहों ने ब्रिटेन को दुर्बल समझ अपनी सैनिक शक्ति को अन्धाधुंध बढ़ाया। पंडित नेहरू ने कहा था कि 'यदि फासिज्म का विकास हुआ है और उसकी विश्व पर अपना प्रभुत्व जमाना प्रारम्भ कर दिया है, तो इसका अधिकांश श्रेय ब्रिटेन को ही है।"

(2) राष्ट्र संघ की असफलता (Failure of the League of Nations)—ब्रिटेन की तुष्टिकरण नीति का ही परिणाम है कि राष्ट्र संघ में लोगों की आस्था समाप्त हो गई। जापान का मंचूरिया पर अधिकार, इटली का एबीसीनिया पर अधिकार, जर्मनी का आस्ट्रिया और चैकोस्लावाकिया पर अधिकार होता रहा। ब्रिटेन ने इन तानाशाहों के विरुद्ध कोई कदम न उठाया। इससे समस्त राष्ट्रों को अपनी-अपनी रक्षा की चिन्ता हो गई और राष्ट्र संघ को एक किनारे पर रखकर सब युद्ध की तैयारी में लग गये। राष्ट्र संघ अपने उद्देश्य में असफल हुआ।

(3) रूस और ब्रिटेन में मतभेद (Difference Between Russia & Britain)—रूस में साम्यवादी क्रान्ति हो गई थी। अतः यूरोप के सभी राष्ट्र उससे दूर रहना चाहते थे। पेरिस की शान्ति संधि में उसे कुछ शर्तों के आधार पर सम्मिलित होने का बुलावा दिया गया। रूस ने उन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। 13 वर्षों तक उससे फिर पश्चिमी जगत ने बात न की जब इटली और जर्मनी की गुटबन्दी से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग होना प्रारम्भ हुई तो रूस को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया पर उससे घृणा का व्यवहार किया गया। उसे म्यूनिख समझौते में भी नहीं बुलाया गया। इससे रूस नाराज हो गया। वह ब्रिटेन या फ्रांस से न मिलाकर तानशाहों से मिल गया। युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

(4) निःशस्त्रीकरण की असफलता (Failure of Disarmament)—निःशस्त्रीकरण योजना की असफलता का कारण भी यही तुष्टिकरण की नीति थी। ब्रिटेन की थपकी से ही जर्मनी ने पुनः शस्त्रीकरण की नीति अपनाई। सभी योजनाएँ फेल हो गई।

(5) ब्रिटेन की प्रतिष्ठा को धक्का (Setback of the Prestige of Britain)—ब्रिटेन विश्व का सबसे बड़ा साम्राज्यवादी देश था। पर तुष्टिकरण नीति ने जिसके कारण उसे अत्याचारी और हिंसक राज्यों के सामने झुकना पड़ता था, उसकी प्रतिष्ठा को खाक में मिला दिया। इंगलैण्ड का प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन जर्मनी नागरिको द्वारा मूर्ख कहा जाता था।

(6) द्वितीय विश्व युद्ध का जन्म (Birth of the II World War)—ब्रिटेन की अधिक उदार नीति ने तानाशाहो को अनियन्त्रित कर दिया। वे मनमानी करने लगे, छोटे राज्यों की स्वतन्त्रता हड़पने लगे शस्त्रों के निर्माण में जुट गये, गुटबन्दी करने लगे। रूस और फ्रांस अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करने लगे। ब्रिटेन का झुकाव जर्मनी की ओर होने से, फ्रांस काँप उठा, उसके शस्त्रीकरण से गत दो युद्धों का ध्यान आ गया जब जर्मनी द्वारा उसे पूरी तरह पराजित होना पड़ा था। यूरोप का कोई भी राज्य अपने को असुरक्षित समझ रहा था। जर्मनी, इटली एवं जापान युद्ध के लिए तैयार खड़े थे। 1939 में ब्रिटेन ने जर्मनी की माँग के आगे सर झुकाने से इन्कार कर दिया। पोलैण्ड पर जब जर्मनी ने आक्रमण किया तो द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया।

अन्त में शूमा के शब्दों में "यह नीति आरम्भ में ही एक आत्मघाती मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। इसे ब्रिटेन, राष्ट्र मण्डल तथा साम्राज्य के महान दिवसों के लिए किसी प्रकार से भी उपयुक्त नहीं ठहराया जा सकता था।"

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. ब्रिटिश विदेश नीति के आधारभूत तत्त्व कौन से हैं ? 1914 से पूर्व उसकी विदेश नीति की विवेचना कीजिए।
   What are the fundamental basis of British foreign policy ? Discuss the foreign policy of Britain before 1914.
2. तुष्टिकरण नीति से आप क्या समझते हैं ? दोनों विश्व युद्धों के बीच विभिन्न देशों के साथ ब्रिटेन की नीति की विवेचना कीजिए।
   What do you mean by the appeasement policy ? Discuss the foreign policy of Britain with different countries during 1919-39 period.
3. ब्रिटेन की विदेश नीति 1919 से 39 तक क्यों द्वितीय युद्ध का कारण बनी ? विवेचना कीजिए।
   Why the foreign policy adopted by Britain from 1919 to 1939 was responsible for Second World War. Discuss.
4. ब्रिटेन ने तुष्टिकरण नीति को क्यों अपनाया और उसके क्या परिणाम निकले ?
   Why Britain adopted the appeasement policy and what were the results of this policy ?

22
नाजी जर्मनी की विदेश नीति
(Foreign Policy of Nazi Germany)

"आन्तरिक राजनीतिक नेतृत्व के अन्तर्गत एक शक्तिशाली हथियार का निर्माण करना तथा कूटनीति के उपायों से और शस्त्रयुक्त मित्रों की खोज करना विदेश नीति का उद्देश्य है।" —हिटलर

"Mastery of Viena gives to Nazi Germany military and Economic control of the whole of communications of South-Eastern Europe by road, by river and by rail." —Churchill

जर्मनी में नाजी क्रान्ति एवं उसके कारण
(Nazi of Revolution in Germany and its Causes)

जर्मनी का 1871 में राजनीतिक एकीकरण विश्व की सबसे बड़ी घटना है। लगभग 20 वर्षों तक जर्मनी की राजधानी बर्लिन यूरोप की राजनीति का केन्द्र बिन्दु बनी रही। बिस्मार्क को अपनी विदेश नीति एवं कूटनीति में महान सफलता मिली। वृद्ध बिस्मार्क का चान्सलर पद से त्यागपत्र देना जर्मनी के लिए दुर्भाग्य का विषय रहा क्योंकि नया राजा कैसर विलियम द्वितीय अनुभवहीन युवा राजनीतिज्ञ था जो विदेश नीति का स्वयं संचालक था। उसने बिस्मार्क की नीति को त्यागकर अपने शत्रु देशों को गठबन्धन करने की अनुमति दे दी। इतना ही नहीं उसने इंगलैण्ड की मित्रता का बढ़ा हाथ झटक कर जर्मनी का अहित किया। अपनी विदेश नीति से उसने अनेकों शत्रु बना लिये और अन्त में युद्ध हार कर जर्मनी के टुकड़े करा दिये। जर्मनी कुचला गया और उसे एक शक्तिहीन देश बना दिया। दो महान युद्धों के काल में जर्मनी में नाजी क्रान्ति हुई और इस क्रान्ति में नाजियों ने पुनः जर्मनी को विश्व का महान शक्तिशाली देश बना दिया। नाजी पार्टी का उत्कर्ष एवं उसके नेता हिटलर का उत्कर्ष समस्त संसार को आश्चर्य में डालने वाली घटना थी।

जर्मनी का पुनरुत्थान (Revival of Germany)—प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त में जर्मनी ने 11 नवम्बर 1918 को बिना शर्त अपना आत्मसमर्पण कर दिया। यद्यपि अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन ने जर्मनी को आश्वासन दिया था कि उसके साथ उदार एवं न्याययुक्त व्यवहार किया जायगा पर ब्रिटेन और फ्रांस ने विल्सन के आदर्श की उपेक्षाकर वर्साय सन्धि कर उसे सदैव के लिए कुचल दिया। उसके प्रतिनिधियों के साथ घोर अपमानपूर्ण व्यवहार किया गया तथा उसका सदैव के लिए निःशस्त्रीकरण करके उसे यूरोप का एक दुर्बल राज्य बना दिया। इस सन्धि को जर्मनी ने कभी मन से स्वीकार नहीं किया और हस्ताक्षर करते समय ही जर्मन प्रतिनिधियों ने मित्र राष्ट्रों को चेतावनी दे दी कि "इस थोपी गई सन्धि को जर्मनी कभी नहीं भूलेगा।" अर्थात् अवसर पाकर इसके टुकड़े-टुकड़े कर देगा। अन्त में ऐसा ही हुआ। हिटलर ने वर्साय की सन्धि के टुकड़े कर दिये।

वर्साय की सन्धि हो गई पर उसके साथ ही जर्मनी में उसका विरोध प्रारम्भ हो गया। फ्रांस के व्यवहार से लोग यह समझते थे कि जर्मनी अब उठ नहीं पायेगा। प्रारम्भ में नाजी दल को देश में समर्थन नहीं मिला। 1928-29 तक कोई कल्पना नहीं कर सकता था कि जर्मनी का पुनरुत्थान कभी हो सकेगा। यहाँ तक 1932 ने प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ प्रो० टाइनवी भी भावी घटना का अनुमान नहीं लगा सके कि जर्मनी पुनः पुराने गौरव को प्राप्त कर सकेगा। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि "यह बात स्पष्ट है कि नात्सी पतन की ओर है।" पर उसकी भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई। वास्तव में उस समय तक हिटलर और उसकी पार्टी को महत्त्व नहीं दिया जाता था। हिटलर के चान्सलर बनने से पूर्व हिन्डनबर्ग ने स्ट्रासर को आश्वासन दिया था कि "मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि वह वोहेमियन सिपाही (हिटलर) कभी भी जर्मनी का चान्सलर नहीं बन सकता है। मैं उसे एक पोस्टमास्टर बना दूँगा।" पर जनवरी 1933 में हिटलर एक पोस्ट मास्टर न बनकर जर्मनी का चान्सलर बन गया। नाजी क्रान्ति सफल हुई। इस घटना को आकस्मिक और आश्चर्यपूर्ण कहने का कारण यही है। यह घटना विश्व की महत्त्वपूर्ण घटना थी। हिटलर का उत्कर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक महान क्रान्ति लाने वाला था। प्रो० शूमां का कथन है कि "जिस प्रकार 19.8 के पूर्व के 50 वर्षों में यूरोप तथा विश्व की राजनीति कैसर विलियम द्वितीय के जर्मन साम्राज्य के चारों ओर घूमती थी उसी प्रकार 1933 में हिटलर के बाद वह तृतीय जर्मन साम्राज्य के चारों ओर परिभ्रमण करती रही।

नाजी क्रान्ति के कारण (Causes of Nazi Evolution)—नाजी क्रान्ति के निम्नलिखित कारण थे :—

(1) **वर्साय की अपमानजनक सन्धि (Humiliating Treaty of Versailles)**—जर्मनी में नाजी क्रान्ति का प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण कारण वर्साय की अपमानजनक सन्धि मानी जाती है। इस सन्धि से जर्मन का बच्चा-बच्चा उत्तेजित हो चुका था। समस्त जर्मन राष्ट्र इस सन्धि को घृणा की दृष्टि से देखता था और इस अवसर की खोज में था कि इसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायें। जर्मनी की पराजय से वैसे ही जर्मन जनता दुःखी थी, उसके बाद शान्ति सन्धि में जो कठोर शर्तें रखी गयी थीं उससे जर्मनी को इतनी बुरी तरह कुचला गया था कि जर्मनी फिर कभी उठने का साहस न कर सके। जर्मनी की जनता दीन-हीन दशा में पहुँच गयी थी उसे घोर निराशा का सामना करना पड़ा था। जर्मनी के दार्शनिक इतिहासकार ओस्वाल्ड स्पेंगलर ने अपने ग्रन्थ "पश्चिम का पतन" (Decline of West) में तत्कालीन जर्मनी की दयनीय दशा का इतना भयानक चित्र खींचा है और पश्चिमी सभ्यता के पूर्ण विनाश की भविष्यवाणी की है जिससे जर्मनी में और भी निराशा छा गई। लोगों को विश्वास हो गया कि इस स्थिति से निकलना असम्भव है।

यह निराशा आमतौर पर प्रौढ़ एवं वृद्ध जर्मनों में थी. युवा वर्ग इस घोर निराशा में भी आशा की किरण देखता था। वह अपनी पितृभूमि को इस अपमानजनक स्थिति से निकालने के लिए दृढ़ संकल्प कर रहा था। वह यह जानता था कि इस अपमानजनक स्थिति का एकमात्र कारण वर्साय की सन्धि है। वर्साय की सन्धि जर्मन राष्ट्र के माथे का कलंक है, उसे छुटाना ही प्रत्येक राष्ट्रवादी का पुनीत कर्तव्य है। जर्मन की नई पीढ़ी पुराने गौरव का स्मरण कर, उसे पुनः प्राप्त करने की प्रतिज्ञा कर रही थी। इस गौरव को प्राप्त कराने वाले नेता की वह खोज में थी। हिटलर जो प्रथम विश्व-युद्ध में एक सिपाही के रूप में लड़ा था और जख्मी हुआ था, वह आगे बढ़ा। उसने अपने भाषणों से जनमानस को आन्दोलित कर दिया। उसकी वाणी जादूमयी थी। वह एक भावुक वक्ता था। जब वह भावना की लहर में बहता और गरज कर कहता कि "राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए तन-मन-धन अर्जित करना होगा, इससे भी अधिक कष्ट सहने होंगे पर हमें वर्साय की सन्धि का अन्त करना होगा, समस्त जर्मन राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधकर विशाल जर्मन राष्ट्र का निर्माण

करना होगा।" तो भावुक युवक खुशी से नाच उठता था। युवक वर्ग को यह पूर्ण आशा हो गयी थी कि जर्मनी का पुनरुत्थान केवल हिटलर और उसकी नाजी पार्टी ही कर सकती है।

कुछ विद्वानों ने इस मत का खण्डन किया है। लिप्सन के तर्कों पर यदि ध्यान दिया जाय तो नाजी पार्टी या हिटलर के उत्थान में वर्साय सन्धि के विरोध का कोई स्थान दिखाई नहीं देता है। इसका कारण यह कि हिटलर के सत्तारूढ़ होने के समय तक जर्मनी की स्थिति काफी सुधर गयी थी। इस स्थिति को सुधारने का श्रेय स्ट्रेसमैन की सरकार को था। उसके शासन में जर्मनी को राष्ट्र संघ की सदस्यता मिल चुकी थी तथा उसका दर्जा महान राष्ट्रों के समान माना जाने लगा था। उसकी भूमि पर से भी विदेशी सेना हट चुकी थी, अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध मे भी अन्य राज्यों के साथ उनकी समानता का दावा स्वीकार कर लिया गया था तथा क्षतिपूर्ति का दायित्व भी लगभग समाप्त हो चुका था इस प्रकार जर्मनी की अनेक कड़ियाँ कट चुकी थी।

इतना होने पर भी जर्मन जनता वर्साय सन्धि के समय किये गये जर्मनी के अपमान को कैसे भूल सकती थी। जिस प्रकार फ्रांस की जनता 1871 की अपमानजनक हार तथा उसके बाद जर्मनी द्वारा किये गये अपमान को कभी नहीं भूल सकती उसी प्रकार फ्रांस द्वारा किये गये 1818-19 के अपमान को जर्मनी की जनता कभी नहीं भुला सकती थी। हिटलर को जब कभी भाषण करते वर्साय सन्धि का ध्यान आता था तो उसका चेहरा क्रोध से तमतमा उठता था, हाथ की मुट्ठियाँ बँध जाती थी और प्रतिशोध की भावना उबल पड़ती थी। हिटलर ने अपनी पुस्तक 'मैनकेम्फ' मे लिखा है कि "वर्साय की सन्धि का क्या उपयोग किया जा सकता है? इसकी प्रत्येक बात को जर्मन जाति के दिल और दिमाग मे उस तरह भर दिया जा सकता है कि अन्ततः 6 करोड़ नर-नारियों के दिल मे घृणा उत्पन्न हो जाय। इसका परिणाम यह होगा कि सब के मुख से एक आवाज निकलेगी "हम हथियार लेगे।"

(2) जातीय परम्परा (Tradition of Racism)—नाजी क्रान्ति का दूसरा कारण है जर्मन जनता मे जातीयता की परम्परागत भावना का ओतप्रोत होना। जर्मन जाति सैनिक मनोवृति रखती हैं। वह वीर पूजा (Hero worship) की आदी है। एक नायक के नेतृत्व मे वह अनुशासनबद्ध हो जाती है। प्रो० शूमां का कथन है कि "जर्मनी का इतिहास एक राष्ट्रीय नेता की देख-रेख मे ही समाप्त होता है। वे नायक हर्मन, होहेन-स्टोफेन, हुब्सवर्ग हाहेन-जोलर्न और हिटलर थे। दूसरे जर्मन जनता ने हिटलर को भी एक राष्ट्रीय नेता के रूप मे देखा और स्वीकार किया।" प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी मे जो वेमर गणतन्त्र स्थापित किया गया वह इसलिये नहीं कि जर्मन जनता को गणतन्त्र मे विश्वास था, वरन् उस समय लोग यह सोचते थे कि यदि जर्मनी गणतन्त्र के सिद्धान्त को अपनाता है तो इससे अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन की सहानुभूति उसे प्राप्त हो जायगी। अतः जब हिटलर ने तानाशाह बनना स्वीकार किया तो यह कोई अस्वाभाविक बात न थी। हिटलर ने जर्मन जनता के सामने कोई नया कार्यक्रम उपस्थित नहीं किया या कोई नया राजनीतिक दर्शन नहीं प्रस्तुत किया। उसने वही कहा जो हीगल, काण्ट, फिश्टे, नोवेलिस, फ्रेडरिक, बिस्मार्क एवं कैसर आदि कह चुके थे। सच तो यह है कि नाजी विचारधारा सम्पूर्ण जर्मन जाति की विचारधारा का निचोड़ थी और इसीलिये जर्मन जनता ने उसे स्वीकार करने का निश्चय किया था।

(3) आर्थिक संकट (Economic crisis)—यदि जर्मनी में जो आर्थिक सकट पैदा हुआ, वह वर्साय संधि के कारण न हुआ होता तो हिटलर को इतनी सफलता न मिली होती। हिटलर का उत्कर्ष का मुख्य कारण जर्मनी का आर्थिक संकट था। यह सकट अन्य स्थानों के [illegible] से अधिक तीव्रतर था और जर्मन जनता जितनी विपन्न थी उतनी किसी देश की जनता त्रस्त न [illegible] हिटलर का कहना था कि जर्मन जनता की इस विपन्नता का कारण है यह जर्मन [illegible]

साम्राज्यवादी देशों के सामने घुटने टेक चुकी है। इस सन्दर्भ मे हिटलर ने जर्मन पूंजीपतियों एवं यहूदियों को दोषी ठहराया। मध्यवर्ग मे फैली पूंजीपति-विरोधी भावना को हिटलर ने उभाड़ा और उससे समर्थन प्राप्त किया। 1930 में जर्मनी में 50 लाख व्यक्ति बेकार थे, उन्होंने सीधे हिटलर का अनुयायी होना स्वीकार किया। इसी वर्ष नाजी पार्टी की सदस्य संख्या में असाधारण वृद्धि हुई। यदि जर्मनों मे आर्थिक संकट न उपस्थित हो तो नाजी दल को इतनी बड़ी सफलता न मिल पाती। मध्यवर्ग तथा मजदूर वर्ग अपनी विकट आर्थिक दुरवस्था का पूरा दोष यहूदियों पर डालते थे। उनमें यह भावना भरी थी कि जर्मनी की पराजय इन यहूदियों के कारण हुई है। महायुद्ध के समय लगभग सब उद्योग यहूदी पूंजीपतियों के हाथ मे थे। जर्मन जाति यहूदियों को शोषक वर्ग मानती थी एवं उनसे घृणा करती थी। हिटलर ने यहूदी विरोधी लहर का लाभ उठाया और यहूदियों के विरुद्ध जहर उगल कर जनता का प्रबल समर्थन प्राप्त किया। वह यहूदियों को देश से निकालकर देशवासियों की स्थिति सुधारने का नारा लगाता था।

(4) साम्यवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव (Increasing Influence of Communism)—यह आम धारणा राजनीतिक विचार धारा में फैली हुई है कि कुशल राजनीतिज्ञ गरीबों से वोट एवं धनिकों से धन इस आश्वासन पर ग्रहण करते हैं कि सत्ता में आ जाने के बाद वे एक को दूसरे के विरुद्ध रक्षा करेंगे। हिटलर इस कला मे निपुण था। उसे निर्धनों के वोट भी चाहिए थे और पूंजीपतियों से चुनाव जीतने के लिये धन भी चाहिये था। पूंजीवादी साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव से आतंकित थे अतः उन्हें पक्ष में लेने के लिये उसने साम्यवाद का घोर विरोध करना प्रारम्भ किया। इसमे उसे बड़ी सफलता मिली। इसलिये कहा जाता है कि हिटलर की सफलता का एक कारण साम्यवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव था। 1930 मे राष्ट्रीय सभा (रीहस्टाग) मे 89 साम्यवादी पार्टी के सदस्य पहुंचे थे। आगे चुनाव में वह संख्या और भी बढ़ गई। हिटलर ने अपनी उन्नति के मार्ग मे साम्यवाद को एक रोड़ा माना। वह जानता था कि साम्यवाद का मुकाबला करने के लिये केवल पूंजीपतियों की सहायता से काम न चलेगा, उसे जन साधारण से भी सहयोग लेना आवश्यक है। अतः जन साधारण में उसने राष्ट्रीय भावना भरी और साम्यवाद को राष्ट्रीय विरोधी विचारधारा बताया। जनता को साम्यवाद का खतरा बताते हुये कहा कि यदि जर्मनी मे साम्यवाद बढ़ा तो यह रूस का प्रभाव बढ़ेगा और साम्यवादी सरकार बनी तो जर्मनी पर रूस का अधिकार हो जायेगा एवं जर्मन जाति के सभी मनसूबे धूल मे मिल जायेंगे। इन बातों के प्रभाव जर्मन जनता पर विशेष पड़ा और राष्ट्रीयता की भावना मे बहकर वे साम्यवाद विरोधी हो गई तथा हिटलर का पूर्ण समर्थन करने लगी।

(5) संसदीय परम्परा से असन्तोष (Dissatisfaction aganist Parliamentary Tradition)—जर्मन जनता राजतन्त्र के अन्तर्गत शताब्दियों से रहती आयी थी। प्रजातन्त्र से उसे कोई दिलचस्पी न थी। जर्मनी मे संसदात्मक सरकार-स्थापित थी। रीहस्टाग मे अनेक पार्टियां थीं अतः संसदीय मामलों में गतिरोध उत्पन्न होने लगा था। उसमें वाद-विवाद, राजनीतिक झगड़े षड्यन्त्र, विलम्ब तथा व्यर्थ का बकवाद रहता था, जो जर्मन जनता को पसन्द न था। जर्मन जनता पुराने समय को याद करती रहती थी जब अनुशासन और व्यवस्था बनी हुई थी। जब संसदीय पद्धति से लोगों को असन्तोष हो जाता है तो तानाशाही की ओर जनता की मनोवृत्ति झुक जाती है। इटली का उदाहरण उसके सामने था तानाशाही से इटली ने अल्पकाल में काफी उन्नति कर ली थी। फासिस्ट नेता मुसोलिनी जो 1922 में सत्तारूढ़ हुआ था, इटली में सर्वाधिक लोकप्रिय बन गया था। लोग चाहते थे कि अपने यहाँ भी मुसोलिनी जैसा नेता होता। उन्होंने वे गुण अपने नेता हिटलर मे देखे थे अतः नाजी पार्टी को पूर्ण समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया था। हिटलर ने जनता को अनेक आश्वासन दिये थे और पुराना गौरवमय समय लाने का वादा किया था।

(6) **जर्मनी की सैनिक प्रवृत्ति (Militarism in Germans)**—जर्मन जाति वीर जाति थी और सैनिक जीवन से उसे बड़ी दिलचस्पी थी। प्रशिया के महान शासकों ने सेना के बल से ही अपार उन्नति की थी। बिस्मार्क के समय सैनिक विजयों के कारण जर्मनी का एकीकरण हुआ था। वर्साय सन्धि ने उनकी सैनिक रुचि मे बाधा डाली थी। जनता समझती थी कि देश की दुरावस्था को दूर केवल सैनिक बल ही कर सकता है। जर्मनी का विसैन्यीयकरण हो गया था। हजारों युवक बेकार पड़े थे। आर्थिक संकट के कारण वे अन्य कोई पेशा भी नहीं ग्रहण कर सकते थे। स्वभाववश अन्य पेशा में उनकी रुचि भी न थी। हिटलर जनता के इस स्वभाव से परिचित था अतः अपनी पार्टी में उसने एक स्वयसेवक सेना का गठन किया था। इस सेना के दो अंग थे—एक भाग मे स्वयंसेवक भूरे रंग की एक कमीज पहनते थे, उनकी बाँहो पर एक लाल पट्टी होती थी जिस पर स्वास्तिका का चिन्ह रहता था। इसे एस० ए० (Sturm Abteitungen) कहा जाता था। इसका काम प्रचार के लिए प्रदर्शन करना होता था। यह नाजी दल की सभाओ की रक्षा एवं विरोधी दलों की सभाओं को बलपूर्वक भंग करना होता था। दूसरा भाग एस० एस० (Schuiz Seafflen) कहा जाता था। इस सेना की वर्दी काले रंग की कमीज थी। इस सेना का मुख्य कार्य अपने नेताओं की अंग-रक्षा करना एवं उनके आदेशों का पालन करना होता था। सैनिक वृत्ति रखने वाले युवक इस सेना में भारी संख्या में भर्ती हो गये थे। इससे उन्हें सैनिक जीवन की प्राप्ति तथा बेकारी से छुटकारा मिल गया था। इस सेना के बल से नाजी अपने विरोधियो का दमन कर सकते थे तथा सत्ता प्राप्त करने मे सहायता ले सकते थे।

हिटलर यह कार्य कर रहा था पर जर्मन सरकार इस ओर कोई ध्यान नहीं दे रही थी। यदि जर्मन सरकार जागरूक होती तो इस संगठन पर प्रारम्भ से प्रतिबन्ध लगा सकती थी जिससे नाजी पार्टी इतनी सशक्त न हो पाती। सोशल-डेमोक्रेटिक सरकार ने इस संगठन की उपेक्षा कर अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारी। वास्तव में सरकार वर्साय सन्धि के असैन्यीकरण से खुश न थी।

(7) **हिटलर का व्यक्तित्व (Personality of Hitler)**—नाजी क्रान्ति का एक प्रमुख कारण हिटलर का व्यक्तित्व भी था। हिटलर एक अच्छा, ओजस्वी वक्ता था। भीड़ को अपने जादुमयी व्यक्तित्व से तथा मधुर भाषणों से वह प्रभावित कर लेता था। फ्यूरर (नेता) बनने के सभी गुण उसमें मौजूद थे। वह एक अच्छा संगठनकर्ता भी था। वह प्रचार के यन्त्र का कुशल प्रयोगकर्त्ता भी था। प्रचार के माध्यम से उसने अच्छी सफलता प्राप्त की थी।

हिटलर का अभ्युदय
(Rise of Hitler)

हिटलर का प्रारम्भिक जीवन (Early Life of Hitler)—हिटलर का जन्म 1889 मे आस्ट्रिया के ग्राम ब्रेनो में हुआ था। निर्धन पिता का पुत्र होने पर हिटलर की शिक्षा उचित प्रकार से न हो सकी। उसका पिता चुंगी अधिकारी था और वह हिटलर को भी उसी मे नौकरी कराना चाहता था। पिता की मृत्यु के बाद हिटलर वियाना चला आया वह एक शिल्पी का काम करने लगा पर वहाँ अधिक दिन न ठहर सका। 1912 में वह म्यूनिख चला गया। वहाँ उसने बड़ी दरिद्रता का जीवन बिताया कुछ समय बाद प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भिक हो गया। हिटलर सेना में भर्ती हो गया। युद्ध मे वीरता दिखाने के कारण उसे "आयरन क्रास" पदक मिला था। घायल हो जाने पर उसे पामेनिया के अस्पताल मे दाखिल कर दिया गया था, वहाँ उसे विराम की सन्धि की सूचना मिली। यह सूचना पाते ही वह बौखला गया। उसने इस जिम्मेदारी नेताओं की बुजदली को बताया। उसने राजनीति में भाग लेने का निश्चय किया

हिटलर का राजनीति में प्रवेश (Enters in to Politics)—युद्ध समाप्त होने के बाद हिटलर 5 वर्ष तक म्यूनिख की सड़कों पर घूमता-फिरता रहा। वह साम्यवादियों के ऊपर जासूसी करता रहा। इस कार्य मे उसे अनेक लोगों से मिलना पड़ा। उसके वहाँ कुछ पुराने मित्र भी थे। उनके साथ वह वर्कर्स-पार्टी का सदस्य बन गया। उसने उस पार्टी का संगठित करने का कार्य किया। म्यूनिख मे एक कमरा किराये पर लेकर वह अपने साथियों की बैठकें बुलाने लगा। उसने वर्कर्स-पार्टी का नाम बदल कर राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी रखा। एक पार्टी का एक समाचार पत्र भी निकलने लगा। इस पार्टी की 5 माँगें थी (1) वर्साय-सन्धि की निन्दा करके उसे रद्द करने की माँग की जाय (2) समस्त जर्मन भाषा-भाषी लोगों को एक सूत्र मे बाँध कर एक विशाल जर्मन साम्राज्य की स्थापना करना (3) जर्मनी के जो उपनिवेश छीने गये हैं उन्हें वापस करने की माँग करना तथा वर्साय सन्धि द्वारा जो प्रतिबंध लगे हैं उनको रद्द करने की माँग करना (4) यहूदी लोग विदेशी हैं, इनके कारण ही जर्मनी को हार उठानी पड़ी है अतः उन्हें न केवल नागरिकता से वंचित किया जाय, बल्कि उन्हें देश से बाहर निकाल दिये जाने की माँग करना। (5) साम्यवादी, उदारतावादी एवं संसदीय शासन-पद्धति जर्मनी राष्ट्रीय उन्नति में बाधक हैं, अतः उन्हें अन्त किया जाय। इन माँगों को हिटलर ने बड़े जोरदार शब्दों मे जनता के सामने रखा। अनेक लोग उसके दल के सदस्य बन गये।

विद्रोह और गिरफ्तारी (Revolt and Arrest)—रूट आधिपत्य के मामले में उसने जर्मन सरकार की दुर्बलता की बड़ी निन्दा की। उसने जर्मन सरकार के विरुद्ध ल्यूडेनडार्फ से मिल कर बवेरिया मे विद्रोह करा दिया। हिटलर इस विद्रोह में असफल रहा। वह पकड़ लिया गया और 5 वर्ष के लिए कारागार में डाल दिया गया। जेल मे उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मेन केम्फ' (Mein kempf) लिखी जो आगे चलकर नाजी पार्टी वालों के लिये बाइबिल बन गई। पुस्तक में उसने जर्मनों को एक सूत्र मे बाँधकर एक विशाल राज्य बनाने की योजना रखी। उसने उन राज्यों के प्रादेशिक अखण्डता पर प्रहार किया जहाँ काफी संख्या में जर्मन बसते थे। फ्रांस की चर्चा करते हुये पुस्तक में बताया कि वह जर्मनी का परम्परागत शत्रु है। उसने पुस्तक मे शाश्वत न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया। इसका अर्थ यह था कि जर्मनी का अन्य देशों के समान प्रादेशिक विस्तार होना चाहिये। यह विस्तार पूर्व मे सोवियत संघ में होना चाहिये। पुस्तक में रूस, पोलैण्ड, चैकोस्लावाकिया एवं फ्रांस आदि की ओर लक्ष्य किया गया। उसने राष्ट्र संघ पर भी प्रहार किया और उसे पराजित देशों को तंग करने का एक यन्त्र बताया। उस पुस्तक का प्रकाशन जब हुआ तो लोगों ने समझ लिया कि यदि हिटलर सत्ता में आया तो युद्धोत्तर काल के समस्त व्यवस्था वह समाप्त कर देगा। वह विश्व शान्ति के लिए एक खतरा बन जायगा पर उसके सत्ता में आने की कोई सम्भावना उस समय दिखाई न देती थी।

जेल से छूटकर नाजी पार्टी का विस्तार करना—1924 में हिटलर जेल से बाहर आया। 1924 से 1929 तक वह अपनी नाजी पार्टी को सुदृढ़ एवं विशाल बनाने में जुटा रहा। पूरी जर्मनी में उसने नाजी पार्टी की शाखायें स्थापित कीं। 1925 मे उसने नाजी पार्टी की एक स्वयं सेवक सेना तैयार की। इसकी संख्या लगातार बढ़ने लगी। 1925 में पार्टी की सदस्य संख्या 27 हजार थी जो 1929 मे बढ़कर 1,78,000 हो गई। 1924 से 1928 के बीच 3 चुनाव हुये जिसमें नाजी दल को क्रमशः 32, 14 एवं 12 स्थान मिले। 1929 में शान्ति के प्रतीक स्ट्रेस्मैन की मृत्यु हो गई। जब यंग योजना लागू हुई तो नाजी पार्टी ने उसका विरोध किया। जनमत मे रीप्टाग मे योजना के पक्ष मे 226 तथा विरोध मे 224 मत पड़े। दो मतों से हो योजना पास हुई पर इससे नाजियों के बढ़े प्रभाव का पता चल गया।

1929-30 मे आर्थिक मन्दी समस्त यूरोप मे फैली। जर्मनी मे उसका प्रभाव घातक सिद्ध

हुआ पर नाजी पार्टी के लिये आर्थिक संकट वरदान सिद्ध हुआ। आर्थिक संकट से कलकारखाने बन्द हो गये। हजारों मजदूर बेकार हो गये। 1930 के चुनाव में 17 सीटों पर नाजी दल के सदस्य पहुँचे। नाजी दल को 20% मत मिले। हिटलर का उत्साह बढ़ा। हिन्डेनवर्ग के विरुद्ध हिटलर भी खड़ा हुआ था पर वह हार गया। उसे 33% मत मिले। इतने प्रतिष्ठित एवं सम्मानित व्यक्ति के विरुद्ध इतने मत पड़ना भी बहुत बड़ी बात थी।

हिटलर का प्रधानमन्त्री बनना—1930 तक नाजी पार्टी की विशेष उन्नति नही हुई थी पर अगले तीन वर्षों मे नाजो पार्टी की शक्ति अचानक बहुत बढ़ गयी। 1933 के चुनाव में उसे रीस्टाग में 230 सीटें प्राप्त हुई यद्यपि अभी तक उसका बहुमत स्थापित न हो सका पर अन्य पार्टियों की अपेक्षा उसके सर्वाधिक सदस्य चुने गये। 1932 मे हिन्डेनवर्ग ने उसे पोस्ट मास्टर बनाने का दावा किया था पर 1933 के चुनाव मे वह हिटलर को प्रधान मन्त्री के पद को स्वीकार करने के लिये निमन्त्रित करने पर पर विवश हुआ पर हिटलर ने शर्त रखी कि उसे संसद के बिना शासन करने का अधिकार मिले। इस शर्त को हिन्डेनवर्ग स्वीकार न कर सका अतः हिटलर ने भी प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। हिटलर अधिक समय तक प्रधानमन्त्री के पद का लोभ न त्याग सका अन्त मे वह हिन्डेनवर्ग की बात पर सहमत हो गया। जनवरी 1933 में वह सयुक्त सरकार का मुखिया अर्थात् प्रधानमन्त्री बन गया। इस सरकार मे 3 नाजी और 8 राष्ट्रवादी थे। हिटलर का प्रिय मित्र गोरिंग गृह-मन्त्री बना। 30 जनवरी 1933 को उसने रेडियो भाषण मे कहा कि "अब राष्ट्रीय अपमान के दिन समाप्त हो चुके है।" उसी रात्रि को नाजियों का मशाल जलूस निकला। हिन्डेनवर्ग ने झरोखे से इस विशाल जलूस को देखा। हिटलर जो एक निर्धन परिवार में जन्मा था और बचपन मे रोटी के लिये तरसता था आज जर्मनी का चान्सलर बन गया था, वह जर्मनों का भाग्य विधाता बन गया था।

जर्मन गणतन्त्र का अन्त (End of German Republic)—जर्मन गणतन्त्र का प्रधान मन्त्री बनकर हिटलर सन्तुष्ट न हुआ, वह तो चाहता था कि जमन रीहस्टाग में उसका कोई भी विरोध करने वाला न हो। अतः उसने रीहस्टाग को भंग कर दिया और नये चुनाव कराये 600 सदस्य वाली रीहस्टाग में उसका अनुमान था कि नाजी पार्टी 250 स्थान पालेगी और 100 स्थान साम्यवादी दल को मिलेंगे इससे उसे बहुमत न मिल सकेगा, यदि वह साम्यवादियो का दमन कर दे तो उसके 100 स्थान नाजी पार्टी को मिलते हैं। इसी अनुमान से उसने साम्यवादियों के विरुद्ध षडयन्त्र रचा। चुनाव होने से पूर्व 27 फरवरी को रीहस्टाग में रहस्यमय ढग से आग लग गई। हिटलर को अच्छा अवसर हाथ लगा, उसने रीहस्टाग में आग लगाने की जिम्मेदारी साम्यवादियों पर डाली यद्यपि यह नाजियो का ही काम था। साम्यवाद के समर्थकों की पकड़-धकड़ प्रारम्भ हो गई, साथ-साथ यहूदियों और सोशल-डेमोक्रेटो को भी पकड़कर नजरबन्द कर दिया गया। साम्यवादी पार्टी को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया तथा सोशल-डेमोक्रेटिको को आदेश दिया कि वे अपने समाचार पत्र बन्द कर दे और अपना चुनाव प्रचार बन्द कर दें। इस प्रकार उसने पृष्ठभूमि तैयार कर चुनाव कराये। इतना सब कुछ करने पर भी 81 साम्यवादी चुन लिये गये। उसने उन्हें अयोग्य सिद्ध कर रीहस्टाग से बहिष्कृत कर दिया। इस प्रकार हिटलर रीहस्टाग का सर्वेसर्वा बन गया। जर्मन संसदीय भवन मे आग लगना क्या हुआ, जर्मन गणतन्त्र ही अन्त हो गया। गणतन्त्र के झण्डे को उतार दिया गया और पुराने जर्मन साम्राज्य के झण्डे को लहराया गया। गैर-नाजियो की पार्टियों को भंग कर दिया गया। जर्मन मे एक ही दल का शासन हो गया। हिटलर को अब किसी विरोध की शका न रही। वह मनमाना शासन करने लगा। यदा-कदा जब रीहस्टाग का अधिवेशन होता तो वह हिटलर की हाँ में हाँ मिलाता। जर्मनी का नया नाम तृतीय रीह या साम्राज्य रखा गया। गणतन्त्र समाप्त होकर हिटलरशाही स्थापित हो गई। हिटलर के सौभाग्य से 2 अगस्त 1934 को

जब राष्ट्रपति हिन्डेनवर्ग की मृत्यु हो गई तो राष्ट्रपति पद तथा प्रधानमन्त्री पद को मिलाकर एक कर दिया गया। हिटलर इस संयुक्त पद पर आसीन होकर कैसर विलियम द्वितीय के समान सर्वसत्ताधारी बन गया।

नाजी क्रान्ति का यूरोप पर प्रभाव
(Influence of Nazi Revolution on Europe)

जर्मनी में नाजी क्रान्ति विश्व की एक महान घटना थी, इसका प्रभाव विश्वव्यापी था, विशेषकर यूरोप पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। विभिन्न यूरोपीय देशों में इस क्रान्ति के प्रति प्रक्रियायें निम्नलिखित हुईं।

(1) इटली में प्रतिक्रिया (Reaction in Italy)—यद्यपि नाजी क्रान्ति का सम्बन्ध केवल जर्मनी से था, वह राष्ट्रीय इतिहास का विषय था पर उसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इस क्रान्ति से बहुत प्रभावित हुई। यद्यपि हिटलर ने सत्ता ग्रहण करते हुये घोषणा की थी कि उसकी विदेश नीति का आधार शान्तिमय उपायों का अवलम्बन होगा, उसने इस आशंका को खण्डन करने का प्रयास किया कि वह शान्ति सन्धि को भंग करने के लिये शक्ति का प्रयोग करेगा, परन्तु दुनिया यह समझ गई कि "हाथी के दांत दिखाने के और, एवं खाने के और होते हैं।" 1924 में जब "मैन कैम्फ" का प्रकाशन हुआ था तभी से विश्व के राजनीतिज्ञ समझ गये थे कि हिटलर की विदेश नीति के क्या कार्यक्रम होंगे। 1933 में नाजियों के हाथ में सत्ता आते ही जर्मनी का शस्त्रीकरण प्रारम्भ हो गया, उसने नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन का परित्याग कर दिया, यहाँ तक कि राष्ट्र संघ की सदस्यता त्याग देने की भी घोषणा कर दी। इस आशय का संघ को एक नोटिस दे दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप के लगभग सभी देशों ने जर्मनी के प्रति ही नहीं अन्य देशों के प्रति भी अपनी विदेश नीति बदल दी।

इटली में मुसोलिनी का तानाशाही शासन स्थापित था। उसने 1933 में ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जर्मनी के मध्य चार देशीय सन्धि का प्रस्ताव रखा। वह प्रस्ताव स्वीकार हो गया और सन्धि हो गई। यह सन्धि यह उद्देश्य रखती थी कि वर्साय-सन्धि की कुछ कठोर शर्तों को बदल दिया जाय। इस सन्धि का घातक प्रभाव पोलैण्ड पर पड़ा।

(2) चैकोस्लावाकिया और लघुमैत्री संघ के देश (Czecho-slovakia and Little Entente Countries)—जर्मनी की नाजी क्रान्ति का गहरा प्रभाव जर्मनी के पड़ोसी देशों पर पड़ना स्वाभाविक था। वर्साय की सन्धि द्वारा चैकोस्लाविया, रूमानिया तथा पोलैण्ड का जन्म हुआ था। हिटलर वर्साय सन्धि को समाप्त कर नई व्यवस्था स्थापित करना चाहता था। इन देशों में सबसे अधिक खतरा चैकोस्लावाकिया को था क्योंकि उसमें हजारों जर्मन वास करते थे। (सुडेटनलैण्ड) हिटलर की लिखी पुस्तक में सभी जर्मनों को एक सूत्र में बांधकर वृहत-जर्मनी (Greater Germany) की बात कही गई थी। लघुमैत्री संघ के देशों को हिटलर का उत्थान एक चेतावनी थी, उनके अस्तित्व को एक खतरा था एवं एक चुनौती थी। चैकोस्लावाकिया, रूमानिया एवं यूगोस्लाविया के तीनों देशों के विदेश मन्त्री निःशस्त्रीकरण सम्मेलन मे भाग लेने जेनेवा गये हुए थे। वहीं तीनों ने मिलकर एक 'एकता समझौता' किया। तीनों विदेश मन्त्रियों ने यह भी तय किया कि उनकी एक परिषद बने और समय-समय पर उसकी बैठकें हुआ करे और सामान्य हितों पर विचार विमर्श किया करे।

(3) पोलैण्ड (Poland)—पोलैण्ड का जन्म भी प्रथम विश्व युद्ध के बाद हुआ था। 1918 से ही जर्मनी और पोलैण्ड में तनातनी चल रही थी। पोलिस-गलियारे के मामले पर जर्मनी बड़ा क्रुद्ध था क्योंकि इससे उसका अंग-भंग हो गया था। यह बात निश्चित थी कि जब कभी जर्मनी का उत्थान होगा पोलैण्ड और जर्मनी का संघर्ष होगा। इतना ही नहीं जर्मन अल्पसंख्यक सदैव पोलैण्ड के अत्याचारों की शिकायत करते रहते थे और डैन्जिग नगर का प्रश्न दोनों देशों में

संघर्ष का कारण बना हुआ था। नाजी पार्टी के कार्यक्रम एवं मांग से यह भी विदित होता था कि नाजी जर्मनी और सोवियत संघ के संघर्ष अनिवार्य हैं। पोलैण्ड ने फ्रांस की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया, वह फ्रांस से मित्रता कर अपनी सुरक्षा को बनाये रखना चाहता था। जर्मनी क्रान्ति के दूसरे दिन उसके प्रभाव की जांच करने के लिए पोलैण्ड ने दो सौ पोलिस सैनिकों को वायुयान से डेन्जिग में उतारा, इस घटना से बड़ी खलबली मच गई। यह मामला बड़े वाद-विवाद के बाद शान्त हो पाया। पोलिस प्रधान मन्त्री ने फ्रांस के मन्त्री को वार्सा में आने का निमन्त्रण भेजा। उसके आने पर उसने जर्मनी पर आक्रमण कर देने का सुझाव रखा ताकि जर्मनी के शक्तिशाली होने से पूर्व ही उसे कुचल दिया जाय। फ्रांस इस पर राजी न हुआ। इसी बीच फ्रांस 'चार देशीय सन्धि' का हस्ताक्षर कर्ता हो गया। पोलैण्ड को बड़ी निराशा हुई। अब उसे अपनी रक्षा के लिए जर्मनी से सन्धि करने के अतिरिक्त कोई मार्ग न सूझा। 26 जनवरी 1934 को पोलैण्ड और जर्मनी में समझौता हो गया। यह सूचना जब अन्य देशों को मिली तो वे आश्चर्य चकित हो गये। जो देश 1919 से कट्टर शत्रु रहे थे वे 10 वर्ष के लिए परस्पर मित्र कैसे बन गये? अन्तर्राष्ट्रीय जगत में हिटलर की यह प्रथम राजनीतिक विजय थी। यह सूचना जब रीहस्टाग में हिटलर ने दी तो अपने नेता की राजनयिक सफलता पर वे फूले न समाये।

(4) हंगरी पर प्रभाव (Effect on Hungary)—जर्मनी का पड़ोसी हंगरी भी था पर प्रारम्भ में उसकी प्रतिक्रिया पता न चली। परन्तु जब समस्त यूरोपीय देश नाजी क्रान्ति से आतंकित थे तो हंगरी भी इसका अपवाद नहीं हो सकता था पर हंगरी और अन्य देशों में एक अन्तर था, वह यह कि वर्साय सन्धि से वह भी खुश न था। हंगरी भी लघुमैत्री संघ से जर्मनी के समान ही घृणा करता था। इसका प्रभाव यह पड़ा कि हंगरी और जर्मनी एक दूसरे के निकट आने लगे। हंगरी का प्रधान मन्त्री जुलियस गोम्बस जर्मनी से सहानुभूति रखता था। दोनों देशों के नेताओं ने एक दूसरे के यहाँ यात्रा की। यद्यपि दोनों देशों में कोई समझौता न था फिर भी नेताओं के भ्रमण से एवं मेल-मिलाप से यह पता चलता था कि यदि फिर युद्ध हुआ तो हंगरी जर्मनी का साथ देगा।

(5) आस्ट्रिया और इटली (Austria and Italy)—जर्मनी के समान आस्ट्रिया भी एक जर्मन देश था। हिटलर की निगाह आस्ट्रिया पर प्रारम्भ से लगी थी। वह उसे जर्मनी में मिलाना चाहता था। वह उसे मिलाने के लिए षड्यन्त्र रचने लगा। उसने आस्ट्रिया की नाजी पार्टी को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया, इससे आस्ट्रिया नाराज हो गया। वहाँ कुछ ऐसे भी लोग थे जो जर्मनी का विरोध करते थे। आस्ट्रिया और जर्मनी के सम्बन्धों पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि आस्ट्रिया को मिलाने के षड्यन्त्र का इटली पर बुरा प्रभाव पड़ा।

इटली में फासिस्टों का शासन था अतः मुसोलिनी पहले तो जर्मनी में नाजी क्रान्ति से बड़ा प्रसन्न हुआ था क्योंकि नाजीवाद भी फासीवाद का एक अंग ही था। मुसोलिनी ने 28 जून को वेनिस में हिटलर से मुलाकात की, इससे दोनों तानाशाहों में मित्रता हो गई। एक वर्ष भी न बीता था कि इटली और जर्मनी के मध्य में विरोध की खाई बढ़ने लगी। आस्ट्रिया के षड्यन्त्र से इटली जर्मनी के प्रति शंका की दृष्टि रखने लगा। वह आस्ट्रिया को अपने प्रभाव में रखना चाहता था। उसने आस्ट्रिया के नाजी विरोधियों को सहायता देना प्रारम्भ कर दिया। जब नाजियों ने जुलाई 1934 में आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री डालफस की हत्या कर दी तो मुसोलिनी ने इटैलियन सेना आस्ट्रिया की सीमा पर लगा दी ताकि वह जर्मन आक्रमण को रोक सके। हिटलर को मुसोलिनी का यह कार्य अच्छा न लगा।

इटली और फ्रांस में यूगोस्लाविया के विषय पर काफी तनाव चल रहा था। अफ्रीका और नौसेना के सम्बन्ध में दोनों देशों में संघर्ष चल रहा था पर आस्ट्रिया के प्रति जर्मनी की गिद्ध

दृष्टि से इटली को खतरा पैदा हो गया था, फ्रांस तो पहले ही से जर्मनी से डरा हुआ था। मुसोलिनी ने यह अधिक अच्छा समझा कि वह फ्रांस से मित्रता करले, अतः जनवरी 1935 में फ्रांस और इटली के मध्य सन्धि हो गई।

(6) फ्रांस और यूगोस्लाविया (France and Yugoslavia)—फ्रांस और इटली की सन्धि आसानी से नहीं हुई। फ्रांस के साथी बाल्कन राज्य, इटली से विरोध रखते थे। फ्रांस ने इटली से सन्धि करने से पूर्व अपने साथियों से परामर्श लेना उचित समझा। फरवरी 1934 में फ्रांस का विदेश मन्त्री बार्थो बना। बार्थो जर्मनी से घृणा करता था। वह पोआन्कारे नीति और रूस आधिपत्य का प्रबल समर्थक था।

जब बार्थो फ्रांस का विदेश मन्त्री बना तब तक जर्मनी में हिटलर की सत्ता जम चुकी थी। हिटलर फ्रांस को अपना परम्परागत शत्रु मानकर उससे घृणा करता था। उसी समय जर्मनी निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से अलग हो गया था, उसे पुनः सम्मिलित होने के लिए पत्र-व्यवहार चल रहा था। विदेश मन्त्रालय का कार्यभार सम्भालते ही बार्थो ने सभी वार्तायें बन्द कर दीं। उसने अपने देश की प्रतिरक्षा व्यवस्था ठीक करने के लिए यूरोपीय देशों का भ्रमण प्रारम्भ कर दिया। वह पहले पोलैण्ड पहुँचा और उसने पोलैण्ड-जर्मनी समझौता भंग कराने का प्रयत्न किया पर वहाँ उसे निराशा हाथ लगी। इसके बाद वह प्राग, बुखारेस्ट एवं बेलग्रेड गया। इस भ्रमण से लघुमैत्री संघ पुनः जी उठा। इससे पूर्व एक बाल्कन मैत्री संघ कायम हो चुका था। तुर्की, यूगोस्लाविया, रूमानिया तथा यूनान इसके सदस्य थे। जब फ्रांस में बार्थो पहुँचा तो उसने खुशी के साथ कहा था कि "प्राग से अन्कारा तक एक शान्ति क्षेत्र का सृजन हो गया है।" फ्रांस ने सोवियत संघ को भी अपने साथ मिलाने का प्रयत्न किया और इसमे उसे काफी सफलता मिली।

फ्रांस इटली को भी अपने साथ मिलाना चाहता था पर यूगोस्लाविया फ्रांस और इटली की सन्धि नहीं चाहता था। । उसे जर्मनी से इतना खतरा नहीं था जितना कि वह इटली से भय खाता था। फ्रांस इटली से पूर्व यूगोस्लाविया को राजी करना चाहता था अतः उसने 9 अक्टूबर 1934 को यूगोस्लाविया के शासक ऐलेक्जेण्डर को फ्रांस आने को निमन्त्रित किया। 9 अक्टूबर को ऐलेक्जेण्डर मार्सेल्स के बन्दरगाह पर उतरा और बार्थो उससे मिला। दोनों एक कार में बैठकर ज्योंही रवाना हुए तो एक आन्तकवादी क्रोट ने इन दोनो की हत्या कर दी।

इस घटना ने सराजेवो हत्याकाण्ड की याद ताजा कर दी। बार्थो जर्मनी के विरुद्ध एक बड़ा विशाल यूरोपीय गुट तैयार करने में लगा था अतः इस घटना के पीछे नाजियों का हाथ माना गया। जर्मनी के अतिरिक्त इटली एवं हंगरी को भी इसी मामले में लपेट लिया गया। इस हत्याकाण्ड से इटली, हंगरी और यूगोस्लाविया के बीच तनाव चल पड़ा। यूगोस्लाविया इस मामले को राष्ट्र संघ मे ले गया। फ्रांस ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया। अन्त मे एक षड्यन्त्र रचा गया एन्थोनी ईडन के सुझाव से सम्बन्धित देशों में एक गुप्त समझौता हुआ कि यूगोस्लाविया जेनेवा सम्मेलन मे इस हत्याकाण्ड को इटली पर न थोपकर हंगरी पर थोपेगा, और उसके विरुद्ध एक निन्दा प्रस्ताव पास कर दिया जायगा। हंगरी इस अपमान को सहलेगा। राष्ट्र संघ की कौंसिल ने इस आधार पर प्रस्ताव पास कर दिया पर यूगोस्लाविया इटली पर शंका करता ही रहा। फ्रांस इटली को मित्र बनाने पर तुला था अतः फ्रांस और यूगोस्लाविया में मतभेद खड़े हो गये। बार्थो के बाद फ्रांस में लावेल विदेश मन्त्री बना उसने भी इटली का पक्ष लिया। फ्रांस और इटली के मध्य बहुत समय तक वार्ता चलती रही, इसके बाद दोनो देशों में कई समझौते हुए और दोनों देशों मे मतभेदों का अन्त हुआ। इन समझौतों मे जर्मनी, मध्य यूरोप तथा अफ्रीका इत्यादि सम्बन्धित सभी समस्यायें परस्पर तय करली गईं। एबीसीनिया के विषय मे फ्रांस और ब्रिटेन विदेश मन्त्रियों से इटली को बड़ी सहायता मिली। उसका एबीसीनिया पर अधिकार हो गया

एबीसनिया पर जर्मनी ने भी इटली का समर्थन किया। फ्रांस देखता रहा और इटली और जर्मनी में 1937 में सन्धि हो गई। फ्रांस के सब किये कराये पर पानी फिर गया।

(7) **सोवियत संघ पर प्रभाव** (Effect on Soviet Union)—नाजी जर्मनी की क्रान्ति का सोवियत संघ पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसकी नीति ही बदल गई। जर्मनी पश्चिम में उसका विरोधी था और पूर्व में नई शक्ति जापान बड़ी तेजी से साम्राज्यवाद की ओर बढ़ रहा था। रूस दोनों ओर से घिर गया था और उसे अपना मित्र कोई नजर न आ रहा था। उसे मित्रों की तलाश हुई।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ही रूस में क्रान्ति हुई थी और उसने जर्मनी से सन्धि कर युद्ध से पृथक्कता ग्रहण कर ली थी। वर्साय सन्धि में जर्मनी एवं रूस से अछूतों जैसा व्यवहार किया गया था। अतः रूस जर्मनी से सहानुभूति रखता था। इस सहानुभूति के कारण ही दोनों देशों में 1921 में रेपली की सन्धि हो गई थी। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भी रूस जर्मनी का पक्ष लेता था। निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में रूस ने मित्र राष्ट्रों की आलोचना की थी और उनसे शस्त्रों में काफी कमी करने को कहा था। वह फ्रांस के इस सिद्धान्त की कि "पहले सुरक्षा और बाद में निःशस्त्रीकरण", कटु आलोचना करता था। राष्ट्र संघ को वह पूंजीपतियों का एक घृणित संगठन मानता था। पर 1930 के बाद दो घटनाओं ने उसके मन में परिवर्तन कर दिया था। यह घटना जर्मनी में क्रान्ति होना तथा जापान का तेजी से साम्राज्यवाद की ओर बढ़ना। जर्मनी की नाजी सरकार से फ्रांस भी भय खाता था और रूस भी, अतः समान खतरे ने इन दोनों देशों को परस्पर एक दूसरे के निकट ला दिया। सोवियत समाचार पत्रों में जर्मन विरोधी लेख छपने लगे। पूर्वी खतरे से बचने के लिए वह अमेरिका को काफी आश्वासन देकर, उससे मान्यता प्राप्त कर ली। उसने निःशस्त्रीकरण पर भी जोर देना बन्द कर दिया और फ्रांस के मत का समर्थन करने लगा। 1931 में फ्रांस एवं रूस में एक व्यापारिक सन्धि हो गई। 1932 में दोनों में एक आक्रमण संधि हो गई। इससे फ्रांस ने रूस को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाना चाहा। मई 1933 में दोनों देश और निकट आ गये। दोनों देशों ने पारस्परिक सहायता सन्धि भी कर ली। यह संधि 5 वर्ष के लिए की गई थी। इस प्रकार रूस और फ्रांस प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व जैसे मित्र, पुनः बन गये। रूस ने इसके बाद चैकोस्लावाकिया से भी सन्धि करली। 1934 में फ्रांस, इटली और ब्रिटेन के प्रस्ताव पर रूस राष्ट्र संघ का सदस्य भी बन गया। मित्र राष्ट्रों ने रूस के साथ अच्छे व्यवहार नहीं किया अतः 1939 में जर्मनी के साथ उसने सन्धि कर मित्रराष्ट्रों को चकित कर दिया।

(8) **नाजी क्रान्ति और ब्रिटेन** (Nazi Revolution and Britain)—जर्मनी के प्रति 1919 के बाद ही ब्रिटेन ने उदारवादी नीति अपनाई। वह फ्रांस के इस आग्रह को न मान सका कि जर्मनी को पूरी तरह कुचल दिया जाय। उसने जर्मनी की आर्थिक सहायता भी की। वास्तव में नाजी क्रान्ति का परोक्ष रूप से ब्रिटेन ही जिम्मेदार था। हिटलर जब सत्ता में आया तो इंगलैण्ड को खुशी ही हुई, क्योंकि वह रूस के विरुद्ध एक शक्तिशाली देश यूरोप में चाहता था, उस कमी को जर्मनी ने पूरा कर दिया। *हिटलर से ब्रिटेन को इतना खतरा नहीं था जितना रूस से था।* ब्रिटेन ने उसे हर प्रकार की सहायता दी। उसकी नीति जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की रही।

नाजी जर्मनी की विदेश नीति
(Foreign Policy of Nazi Germany)

जर्मनी जब हिटलर के हाथ में आ गया तो उसने अपनी पुस्तक "मैन कैम्फ" में लि[illegible] गये 5 सूत्रों के अनुसार अपनी विदेश नीति बनाई। उसने कहा था कि "इसकी प्राप्ति के [illegible] समझौता और यदि सम्भव न हो तो युद्ध का आश्रय लेना विदेश नीति 'धौंस की नीति' थी"।

(1) **वर्साय व्यवस्था का अन्त करना (To end the Versailles System)**—हिटलर की विदेश नीति का प्रत्यक्ष लक्ष्य वर्साय सन्धि का विनाश करना था। जनता में उसके भाषणों का सार यही होता था कि यदि उसे अवसर मिला तो वर्साय सन्धि के टुकड़े टुकड़े कर देगा। सत्ता पाने के बाद उसे इस वादे को निभाना था। उसने जल्दबाजी से कार्य नहीं किया। उसने धीरे-धीरे कदम उठाया। उसने निश्चय किया कि पहले वह वर्साय की सन्धि की धारा 26 पर आक्रमण करेगा। वह कहता था कि राष्ट्र संघ की सदस्यता जर्मनी के माथे पर लगा एक कलंक है अतः उसे मिटाना आवश्यक है। इसके लिए उसने बड़ी सावधानी से कार्य किया। पहले तो वह निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लेने पहुँचा। अक्टूबर 1923 में उसने जर्मन प्रतिनिधि को जेनेवा से वापस बुला लिया एव उसी समय उसने राष्ट्र संघ की सदस्यता को त्यागने की सूचना राष्ट्र संघ को भिजवा दी। जनता ने हिटलर के इस निर्णय का स्वागत किया।

इसी समय सार प्रदेश का प्रश्न भी जनमत-संग्रह से तय होने वाला था। वर्साय सन्धि के अनुसार 15 वर्ष तक सार प्रदेश राष्ट्र संघ के संरक्षण में रहना तय किया गया था। 1935 में जनमत संग्रह हुआ और उसमें प्रबल बहुमत से प्रदेश की जनता ने जर्मनी से मिलने का निश्चय किया। पर वह प्रदेश जर्मनी को सौंप कर युद्ध हर्जाने की भारी राशि उस पर थोप दी गई। पर हिटलर ने क्षतिपूर्ति करने से साफ इन्कार कर दिया। मित्र राष्ट्र देखते रह गये। इस प्रकार हिटलर ने क्षति-पूर्ति की समस्या हल कर दी। वर्साय सन्धि का पांचवां भाग भी काफी कष्टदायी था। इस भाग के कारण जर्मनी का निःशस्त्रीकरण कर दिया गया था। मार्च 1935 में हिटलर ने साफ घोषणा की कि निःशस्त्रीकरण के विषय में कोई ठोस कदम उठाना चाहिए अन्यथा वह जर्मनी का शस्त्रीकरण प्रारम्भ कर देगा। अब वह एक पक्षीय निर्णय को मानने के लिए तैयार नहीं। इस घोषणा के बाद हिटलर ने अनिवार्य सैनिक सेवा प्रारम्भ कर दी और सशस्त्र सेना बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय के बाद उसने घोषणा की कि वर्साय सन्धि की किसी भी बात को मानना जर्मनी का घोर अपमान है, इस अपमान को वह अब नहीं सहेगा और अपने को भविष्य में सन्धि के बन्धनों से मुक्त मानेगा। इस प्रकार उसने अपना पहला कार्यक्रम पूरा किया जर्मन जनता खुशी से फूली न समायी।

(2) **पोलैण्ड से सन्धि (Treaty with Poland)**—हिटलर बड़ा उग्रवादी विचारक था पर सत्ता पाने पर उसने बड़े धैर्य एवं संयम से काम लिया। उसने यूरोप में शान्ति स्थापना का सकल्प दोहराया और किसी राष्ट्र से छेड़छाड़ नहीं की। उसने यह इच्छा व्यक्त की कि जर्मनी से कोई राष्ट्र छेड़छाड़ न करे। 1923 में उसने राजनयिक परामर्श करने के लिए सन्धि ब्रिटेन, फ्रांस एवं इटली से वार्ता करने का ढंग अपनाया और इनसे शान्तिपूर्ण वार्ता कर चार राष्ट्रों का समझौता (Four Power Pact) किया। अपने सहकारी रूडाल्फ के द्वारा उसने फ्रांस से वार्ता चलाई और उससे सहयोग करने का प्रस्ताव रखा। जनवरी 1934 में उसने पोलैण्ड से 10 वर्षों की सन्धि की। इस प्रकार पोलैण्ड से अपने सभी मतभेद शान्तिपूर्ण ढंग से दूर कर दिये।

(3) **आस्ट्रिया से जर्मनी का एकीकरण (Unification of Austria and Germany)** – चूँकि आस्ट्रिया भी एक जर्मन राज्य था अतः वह उसे जर्मनी से मिलाना चाहता था। 1933 में सत्ता सम्भालते ही उसने इस दिशा में भी प्रयत्न आरम्भ कर दिये। हिटलर के सत्ता में आने से पूर्व ही आस्ट्रिया में नाजी पार्टी 1930 में ही गठित हो गई थी। प्रारम्भ में इस दल की आस्ट्रिया में कोई प्रबलशक्ति न थी पर जर्मनी में नाजी पार्टी की सत्ता स्थापित होते ही आस्ट्रिया की नाजी पार्टी जोर पकड़ गई। जर्मनी की नाजी पार्टी ने उसे दिल खोलकर सहायता दी। हिटलर की ओर से थियो हाबिच नामक नाजी को आस्ट्रिया के लिए एक विशेष निरीक्षक नियुक्त किया। जर्मन प्रेस तथा रेडियो से आस्ट्रिया की नाजी पार्टी को सहायता मिलने लगी।

जर्मन वायुयान द्वारा आस्ट्रिया की भूमि पर नाजी पार्टी सम्बन्धी पर्चे गिराये जाने लगे। आर्थिक दबाव डालने के विचार से हिटलर ने आस्ट्रिया में जर्मन नागरिकों पर आने-जाने पर रोक लगा दी। जर्मन यात्रियों से आस्ट्रिया निवासी काफी आर्थिक लाभ उठाते थे। इस नीति से आस्ट्रियावासी नाजी पार्टी को चुनावों मे जिताने के लिए जुट गये, ताकि उसकी सहायता से वे पुनः आर्थिक लाभ उठा सकें। हिटलर जानता था कि यदि नाजी दल वहाँ बहुमत मे आ गया तो दोनो देशों के एकीकरण मे कोई बाधा न पड़ेगी। इन बातों से तत्कालीन आस्ट्रिया के प्रधानमन्त्री को चिंतित होना स्वाभाविक था।

आस्ट्रिया के प्रधानमन्त्री श्री डाल्फस ने समझ लिया कि तत्कालीन संकट प्रजातान्त्रिक सरकार द्वारा हल होना असम्भव है। मुसोलिनी की तरह उसे भी संसद की उपेक्षा कर राज्य शक्ति को अपने हाथ मे ले लेना चाहिए। ऐसा विचार कर उसने फासिस्ट प्रणाली स्थापित करने का निश्चय किया। उसने नाजी पार्टी के मुकाबले पर "राष्ट्रीय पार्टी" (Father land Front) की स्थापना की। एक आदेश निकालकर उसने "राष्ट्रीय पार्टी" को छोड़कर अन्य सभी दलो को भग कर दिया। इस प्रतिक्रिया से वहाँ के सोशल-डेमोक्रेटिक दल ने डाल्फस का घोर विरोध किया। हाइमवेहर के सहयोग से प्रधानमन्त्री ने इस विरोध को कुचल दिया। इसके प्रमुख नेता या तो मार डाले गये या देश छोड़कर भाग खड़े हुए। डाल्फस का यह कार्य-आत्मघातक था, क्योंकि नाजी पार्टी के मुकाबले मे उसे सोशल-डेमोक्रेटिक दल से काफी सहायता मिल सकी थी। इसके अतिरिक्त नाजी पार्टी को समाप्त करने के लिए वह अन्य उपाय अपना सकता था।

नाजी पार्टी का दमन करना भी आसान काम न था। डाल्फस की कार्यवाही से तीस हजार से लेकर पचास हजार तक आस्ट्रियन नाजी भागकर जर्मनी पहुँच गये। हिटलर ने इन सब नाजियों को एकत्र कर "आस्ट्रियन लिजिन" तैयार की जिसका उद्देश्य जर्मनी-आस्ट्रियन सीमा पर गड़बड़ी पैदा करना था। जुलाई 1934 में नाजियो ने डाल्फस का काम तमाम" करके अपने दल की सरकार बनाने का प्रयत्न किया। सशस्त्र "आस्ट्रियन लिजिन" से भरी जर्मन ट्रकें सीमा पर जाती और उन्हे वहाँ उतार कर खाली आती। 25 जुलाई को आस्ट्रियन मन्त्रिमण्डल की एक बैठक होने वाली थी पर षड्यन्त्र की कुछ खबर पाकर वह बैठक स्थगित हो गई फिर भी डाल्फस अपने एक सहयोगी के साथ सचिवालय मे पहुँच गया। नाजियों ने आस्ट्रियन पुलिस की वर्दी में सचिवालय पर आक्रमण कर दिया। उन्होने सरकारी भवन में घुसकर सभी कर्मचारियों को गिरफ्तार कर लिया और डाल्फस की हत्या कर दी। उसी समय नाजियों का दूसरा दल वियना के रेडियो स्टेशन में घुस गया और घोषणा कर दी कि डा० डाल्फस ने त्याग-पत्र दे दिया है। इसी प्रकार का एलान म्यूनिख रेडियो से किया गया। सम्भवतया ये समस्त देश में उपद्रव का संकेत था पर विद्रोहियों को जनता समर्थन प्राप्त न हो सका अतः विद्रोह शाम तक कुचल दिया गया।

हिटलर की चाल वास्तव में बड़ी यत्नबद्ध थी और यह समझा जाता था कि इस चाल से आस्ट्रिया पर 'आस्ट्रियन लिजिन" सेना का अधिकार हो जायगा पर इटली की सेना ने सब काम गड़बड़ कर दिया। उस समय तक मुसोलिनी और हिटलर एक-दूसरे के विरोधी थे। मुसोलिनी आस्ट्रो-जर्मन एक्य का विरोध करता था। जब मुसोलिनी को डाल्फस की हत्या का समाचार मिला तो उसने तुरन्त इटेलियन सेना ब्रेनर के दर्रे मे भेज दी और घोषणा कर दी कि यदि जर्मनी आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयत्न करेगा तो उसे इटली से युद्ध करना पड़ेगा। हिटलर इस एलान से डर गया। वह अभी संघर्ष लेने को तैयार न था। उसने इटली की मुस्तैदी के कारण आस्ट्रिया के प्रति अपना रवैया बदल दिया। उसने एक घोषणा की कि डा० डाल्फस की हत्या में उसका कोई हाथ नही है। उसने यह भी स्पष्ट किया कि आस्ट्रिया के घरेलू

मसले में वह कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहता है। उसने वियना स्थित जर्मन राजदूत को वापस बुला लिया और नाजी जर्मन निरीक्षक थियोड्हाविच को पदच्युत कर दिया। इस प्रकार उसने देखा कि उसकी 'आस्ट्रो-जर्मन एक्य' में इटली बाधक है, उसे राजी किये बिना यह योजना सफल न न होगी। अतः अब उसने पहले इटली को अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया।

(4) जर्मनी का ब्रिटेन के साथ समझौता (Agreement with Britain)—हिटलर अपनी पुस्तक में फ्रान्स को जर्मनी का कट्टर शत्रु लिख चुका था। उसने यह भी अनुभव किया कि 16 मार्च 1946 की उसकी शस्त्रीकरण घोषणा मित्र राष्ट्रों में खलबल डाल देगी। वह बिस्मार्क के समान फ्रांस को अकेला कर पीटना चाहता था। अतः उसने योजना बनाई कि मित्र राष्ट्रों में फूट डाली जाय। उसे यह ज्ञात था कि फ्रांस और सोवियत संघ में समझौता हो चुका है, यह बात ब्रिटेन को बहुत अखिरी है। अतः क्यों न ब्रिटेन को अपने पक्ष में कर लिया जाय। हिटलर यह भी जानता था कि ब्रिटेन का रूस का खतरा है अतः उसकी वायु और स्थल सेना का विकास उसे बुरा नहीं लगा है उसको अखरने वाली बात जल सेना की वृद्धि हो सकती है, अतः यदि उसे वचन दे दिया जाय कि जर्मनी जल-शक्ति नहीं बढ़ायेगा तो उससे मित्रता शीघ्र स्थापित हो सकती है। इस आधार पर जून 1941 को जर्मनी एवं ब्रिटेन में सन्धि हो गई। ब्रिटेन ने गुप्त रूप से बिना फ्रांस के परामर्श से यह समझौता किया था कि वह जर्मनी की वायु और थल सेना की वृद्धि पर कुछ न बोलेगा और जल शक्ति में भी जर्मनी उसकी सेना से 35% शक्ति रख सकता है अधिक नहीं। यह समझौता हिटलर की कूटनीतिक विजय थी।

(5) स्ट्रैसा सम्मेलन (Stressa Conference)—ब्रिटेन से सन्धि हो जाने के बाद भी यूरोप की सुरक्षा की व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। अभी जर्मनी के शस्त्रीकरण से समस्त यूरोप में हलचल मची हुई थी। फ्रांस को बड़ा भय उत्पन्न हो गया था। अतः उसने जर्मनी की कार्यवाही पर पुनर्विचार करने के लिए राष्ट्र संघ की परिषद की बैठक बुलवाने की मांग की। इस बैठक से पूर्व ही ब्रिटेन, फ्रांस, इटली के नेता स्ट्रैसा के स्थान पर मिले। तीनों देशों ने वर्साय की सन्धि की रक्षा करने की तथा सम्मिलित सहयोग की घोषणा की। साथ में जर्मनी की निन्दा भी की गई। इस स्ट्रैसा सम्मेलन से कोई लाभ न हुआ। यह केवल धमकी सिद्ध हुई। जर्मनी अवश्य इससे नाराज हो गया। जर्मनी ब्रिटेन से विशेष रूप से नाराज हुआ, क्योंकि कुछ समय पहले ब्रिटेन सन्धि कर चुका था। उसने शस्त्रीकरण की योजना को तेजी से पूरा करना प्रारम्भ कर दिया। स्ट्रैसा सम्मेलन का कोई प्रभाव होता न देख फ्रांस ने 1935 में रूस से पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि कर ली। इसी तरह की सन्धि चैकोस्लावाकिया से भी करली।

(6) राइनलैण्ड का पुनः सैन्यीकरण (Remilitarization of Rhineland)—1935 के प्रारम्भ में एक अफवाह उड़ी कि जर्मनी सेना राइनलैण्ड पर कब्जा करने की तैयारी में लगी है। वर्साय सधि के अनुसार यह तय हुआ था कि जर्मनी इस क्षेत्र में न सशस्त्र सेना रखेगा और न यहाँ किलाबन्दी करेगा। लोकार्नो-सन्धि द्वारा जर्मनी ने इसी बात की गारण्टी दी थी। हिटलर लोकार्नो की सधि को महत्व नहीं देता था। 1935 में इटली ने एबीसीनिया पर हमला किया। ब्रिटेन ने इस हमले की निन्दा की। राष्ट्र संघ में भी उस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव रखा गया। फ्रांस ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। ऐसे अवसर से जर्मनी ने लाभ उठाया। उसने इटली का समर्थन भी किया और सैनिक सहायता भी उसे दी। फ्रांस और इंगलैण्ड इस झमेले में फँस गये। 1936 में 7 मार्च को हिटलर ने राइनलैण्ड को तृतीय रीह में मिलाने का विचार प्रकट किया। जर्मन विदेश मन्त्री ने ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बेल्जियम के राजदूतों को बुलाकर उन्हें बता दिया कि चूंकि फ्रांस ने रूस से समझौता कर लोकार्नो पैक्ट का उल्लंघन किया है, अब जर्मनी भी

राइनलैण्ड पर कब्जा करना चाहता है । घोषणा के कुछ समय बाद ही 35 जहाज जर्मन सैनिक राइनलैण्ड में प्रवेश कर गये और उस पर पूर्ण अधिकार जमा लिया ।

फ्रांस बौखला गया । उसने ब्रिटेन से सहायता मांगी ताकि जर्मनी के खिलाफ पुलिस कार्यवाही की जाय । ब्रिटेन स्वयं इथोपिया के मामले में उलझा हुआ था उसने फ्रांस को यह सलाह दी कि वह राष्ट्र संघ से अपील करे । लन्दन में राष्ट्र संघ की बैठक विशेष रूप से बुलाई गई है । इस बैठक में कुछ निश्चित न हो सका । केवल एक प्रस्ताव पास हुआ कि "राइनलैण्ड पर कब्जा कर जर्मनी ने वर्साय संधि की अवहेलना की ।" जब तक वहाँ सैनिक कार्यवाही न हो प्रस्ताव से काम न चल सकता है । जर्मनी का कब्जा पूरा हो चुका था और कोई भी राज्य अपनी सेना को वहाँ भेजना नहीं चाहता था । स्वयं फ्रांस भी अपने सेना को भेजने से डरता था । यदि फ्रांस पहल कर देता तो शायद हिटलर को अपनी सेना लौटानी पड़ती जैसा कि हिटलर ने आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री शुशनिग से भेंट करते हुए स्वयं स्वीकार की थी । जर्मनी उस समय लड़ने को तैयार न था । जर्मन सैनिक अधिकारियों को यह लिखित आदेश दिया गया था कि यदि फ्रांस की सेनायें, इस कब्जे को रोकें तो जर्मन सेना को लौट जाना चाहिए । फ्रांस का यह दुर्भाग्य था कि उसके पास पोइन्कारे जैसा प्रधानमन्त्री न था जो साहस दिखाकर जर्मन सेनाओं को रोक देता ।

युद्ध की आशंका से और स्वयं के उससे बचाने के लिए—9 अक्टूबर 1936 को बेल्जियम के राजा लियोपोल्ड ने अपने भाषण में कहा कि "हमें ऐसी नीति पर चलना चाहिये जो अन्ततः और पूर्णतया बेल्जियम के हित में हो ।" इसका साफ अर्थ था कि वह पूर्णतया तटस्थ रहे, यूरोपीय शक्तियों के किसी झगड़े में न पड़े । उसने फ्रांस से की गई सैनिक संधि रद्द कर दी । 24 अप्रैल 1937 को फ्रांस तथा ब्रिटेन ने उसकी तटस्थता को मान्यता दे दी ।

रोम बर्लिन संधि (Rome-Berlin Treaty)—पिछले अनुभव के आधार पर जर्मनी के उत्थान से समस्त यूरोप घबड़ा गया था । जर्मनी की कार्यवाहियों से यूरोप के देश जर्मनी से घृणा करने लगे थे । जर्मनी फ्रांस और रूस के गठबन्धन से भी चौकन्ना हो गया था । वह भी कोई ऐसा मित्र चाहता था जो स्थायी और पक्का हो । अपनी विदेश नीति का प्रथम उद्देश्य पूरा हो गया था । उसने वर्साय की संधि भंग कर दी थी । अब उसकी दृष्टि रूस की ओर लगी । उसने 'मैन कैम्फ' में लिखा था कि "यदि अपार सम्पत्ति से युक्त यूराल पर्वत, विस्तृत और मूल्यवान साइबेरिया के वन और अन्न का भण्डार यूक्रेन जर्मनी को मिल जाय तो नाजी नेतृत्व में जर्मनी समृद्ध हो जाय ।" हिटलर यह अनुमान करता था कि साम्यवाद विरोधी राष्ट्र-ब्रिटेन एवं इटली आदि देश रूस विरोधी अभियान में उसके साथ होंगे ।

हिटलर जानता था कि इटली तो आसानी से मिलाया जा सकता है पर अन्य राज्यों की नब्ज देखनी होगी । उसे पता चला कि फ्रांस तो रूस से बन्ध चुका है, उससे कोई आशा करना बेकार, ब्रिटेन भी संधि संघर्ष में नहीं आना चाहता है भले ही वह आर्थिक एवं सैनिक सामग्री की सहायता दे दे । पोलैण्ड भी रूस से डरता है । अन्य छोटे देशों का कोई महत्व उसने न समझा । अतः सब ध्यान छोड़ उसने मित्रता के पाश में इटली को जकड़ने का प्रथम इरादा किया ।

यद्यपि आस्ट्रिया के मामले में टांग अड़ाकर इटली ने जर्मनी विरोधी कार्य किया था पर एबीसीनिया के मामले में इटली के साथ सहानुभूति दिखाकर मुसोलिनी को उसने आकर्षित कर लिया था । दूसरी ओर इटली ब्रिटेन और फ्रांस के गठबन्धन में फँसा था पर इससे वह सन्तुष्ट न था । दोनों देशों ने दोगली नीति जो एबीसीनिया के मामले में दिखाई वह इटली को पसन्द न आयी । इसके अतिरिक्त उसकी निगाह पर भूमध्य सागर चढ़ा था, वह उसे इटली की झील बनाना चाहता था जिसे इंग्लैण्ड और फ्रांस कभी सहन न कर सकते थे । वह ट्यूनिश पर अधिकार चाहता था । उसे स्पेन से बेलयारिक टापू मिलने की आशा थी । उसमें बन्दरगाह बनाकर वह फ्रांस

जल मार्ग बन्द कर सकता था जिससे फ्रांस अपने अफ्रीकन उपनिवेशों में शीघ्र नहीं पहुँच सकता था।

भूमध्य सागर पर पूर्ण कब्जा जमवाने के लिए इटली ने स्पेन के ग्रह युद्ध में फ्रांको की सहायता की थी और इसके बदले में वह जिब्राल्टर पर नियन्त्रण चाहता था जो ब्रिटेन के पास था। माल्टा के नौ सैनिक अड्डे को बेकार बनाने के लिए उसने सिसली तथा ट्यूनिस के निकट पान्टेलारिया टापू में किलेबन्दी शुरू कर दी थी। उसने अरबों को ब्रिटेन के विरुद्ध भड़काना प्रारम्भ कर दिया। कहने का मतलब यही था कि इटली भी जानता था कि जो कुछ थोड़ी बहुत मित्रता इंगलैण्ड से चल रही है वह थोड़ी ही देर की है, उसे इन शक्तियों से टकराना ही पड़ेगा अतः वह भी कोई शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण मित्र देश चाहता था। उसकी दृष्टि जर्मनी पर लगी थी।

4 जुलाई 1936 को इटली पर से आर्थिक प्रतिबन्ध हटा लिए गये तब हिटलर को शंका हुई कि कहीं इटली पुनः फ्रांस की ओर न झुक जाये पर भाग्य ने उसका साथ दिया। 17 जुलाई 1936 को स्पेन का ग्रह युद्ध छिड़ गया। मुसोलिनी ने फ्रांको की सहायता की तथा फ्रांस और इंगलैण्ड की नीति की आलोचना की। हिटलर ने भी फाको की सहायता की अब दोनों देश अधिक निकट आ गये। दोनों देशों के नेताओं ने एक दूसरे देशों का भ्रमण करना प्रारम्भ किया। 25 अक्टूबर 1936 को इटली के विदेश मन्त्री न्यूरथ मे एक गुप्त संधि हो गई। जर्मनी ने इटली के अधिकार को एबीसीनिया पर मान्यता दी। इटली ने जर्मनी के अधिकार को आस्ट्रिया पर मान्यता दी।

इस समझौते से दोनों देश पक्के मित्र बन गये। 1 नवम्बर 1936 को मुसोलिनी ने बर्लिन-रोम धुरी (Berlin-Rome Axis) के निर्माण की चर्चा की। अब जर्मनी और इटली को धुरी शक्तियाँ कहा जाने लगा।

(9) **कामिनटर्न-विरोधी समझौता (Anti Commintern Pact)**—जर्मनी का एक मित्र और हो सकता था वह था जापान। दोनों देशों की अन्तर्राष्ट्रीय नीति समान थी। रूसी साम्यवाद के दोनों ही शत्रु थे। दोनों देशों की साम्राज्यवादी नीति का विरोध रूस करता था। नवम्बर 1936 में दोनों देशों ने साम्यवाद के विरुद्ध एक कामिन्टर्न-विरोधी संधि पर हस्ताक्षर कर दिया। दोनों देशों ने वचन दिया कि थर्ड इन्टरनेशनल के कार्यों को एक दूसरे से परिचित कराते रहेंगे तथा इससे रक्षा के लिए उपायों पर विचार-विमर्श करते रहेंगे एवं उन्हें क्रियान्वित करेंगे। 1937 मे इटली भी इसी संधि मे सम्मिलित हो गया। तीनों देशों की अब बर्लिन-रोम-टोकियो धुरी कायम हो गई। 24 फरवरी 1939 को हंगरी, मंचूरिया तथा 26 मार्च 1939 को स्पेन भी इस समझौते में सम्मिलित हो गये।

(10) **आस्ट्रिया पर जर्मन अधिकार (Occupation of Austria by Germany)**—इटली द्वारा एबीसीनिया पर अधिकार जर्मनी के लिए एक संकेत था कि वह अब आस्ट्रिया पर अधिकार करे, इटली का उसे समर्थन प्राप्त था। राष्ट्र संघ की अब उसे परवाह न रही। डा० डालफस की हत्या के समय इटली के विरोध के कारण जो काम अधूरा रह गया था, अब हिटलर उसे पूरा कर सकता था।

डा० डालफस की मृत्यु के बाद आस्ट्रिया का चान्सलर शुशनिग था। वह नाजी विरोधी था। आस्ट्रिया की सीमा पर नाजियों का केन्द्र था जहाँ से निकलकर ये आस्ट्रिया के अफसरों एवं पुलिस पर आक्रमण करते थे शुशनिग इन आक्रमणों से तंग आ गया था। उसने नाजी दल पर प्रतिबन्ध लगा दिया पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा।

हिटलर ने सेना का पुनर्गठन करना प्रारम्भ किया। उसने प्रधान सेनापति फिच को त्यागपत्र देने को विवश किया और वह पद उसने स्वयं संभाल लिया। न्यूरथ के स्थान पर रिबनट्रोप

को विदेशमन्त्री बनाया गया। जर्मन राजदूत पेपन को आस्ट्रिया से जर्मन बुलाया गया। उससे परामर्श करने के बाद 8 फरवरी 1938 को पुनः वियना लौटा दिया गया। वह अपने साथ हिटलर का एक पत्र भी लेता गया। पत्र में शुशनिग को मुलाकात के लिए बेशंटेसगार्डेन मे बुलाया गया। 12 फरवरी को शुशनिक आकर हिटलर से मिला। हिटलर ने उसके सामने कुछ माँगें रखीं—(i) आस्ट्रियन नाजी पार्टी को वैध घोषित किया जाय। (ii) नाजी नेता सेइस इन्कावर्ट को आस्ट्रिया का रक्षामन्त्री बनाया जाय। (iii) डालसफ-हत्याकाण्ड मे जो नाजी पकड़े गये थे उन्हें मुक्त किया जाय। इन माँगों के साथ हिटलर ने उसे चेतावनी दी कि तीन दिन के अन्दर ये माँगें न मानी गयीं तो जर्मन सेना आस्ट्रिया में प्रवेश कर जायेगी।

वियना आने पर शुशनिग को तीन दिन तक नींद न आयी। उसने सभी पार्टियों के नेताओं से परामर्श लिया। अन्त में विवश होकर उसने हिटलर की माँगें स्वीकार कर लीं। इससे हिटलर का मंशा पूरा न हुआ। वह तो चाहता था कि शुशनिग इन माँगों को स्वीकार न करे और जर्मन सेनाएँ आस्ट्रिया पर जाकर कब्जा कर लें। वह आक्रमण का बहाना खोजता रहा जर्मन सेनाएँ आस्ट्रिया की सीमा पर एकत्र होती रहीं। *शुशनिग समझ गया कि जर्मनी आस्ट्रिया का* विलय चाहता है। उसने 9 फरवरी को घोषणा की कि विलय के प्रश्न पर जनमत लिया जायेगा। यह प्रश्न अनिश्चित था अतः जर्मनी इसके लिए तैयार न हुआ। हिटलर ने 11 फरवरी को एक और अल्टीमेटम शुशनिग के पास भेजा कि वह जनमत सग्रह का कार्य तुरन्त बन्द कर दे। शुशनिग ने इस बात को भी मान लिया। फिर उससे दूसरी मांग की गयी कि वह त्यागपत्र दे दे अन्यथा जर्मनी आस्ट्रिया पर आक्रमण कर देगा। शुशनिग ने यह माग भी मान ली। त्यागपत्र देते समय उसने कहा कि "मुझे यह धमकी दी गयी है कि यदि मैं और मेरी सरकार दोनों त्यागपत्र नही देंगे और राष्ट्रपति जर्मनी द्वारा मनोनीत व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नही बनायेगा तो साढ़े सात बजे जर्मन सेना आस्ट्रिया पहुँच जावेगी। इस भयकर स्थिति मे राष्ट्रपति रक्त बहाने को तैयार नही है। अतः उन्होंने आस्ट्रियन सेना को बिना प्रतिरोध के पीछे हट आने का आदेश दे दिया है "मैं आस्ट्रियन जनता से विदा ले रहा हूँ। ईश्वर आस्ट्रिया की रक्षा करे।"

शुशनिग के बाद नाजी नेता डा० सेइस इन्कावर्ट आस्ट्रिया का प्रधानमन्त्री बना। पद ग्रहण करते ही उसने हिटलर को एक तार भेज कर यह अनुरोध किया कि आस्ट्रिया मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए जर्मन सेना की सहायता की तुरन्त आवश्यकता है। यह केवल बहाना था। आस्ट्रिया मे कही अराजकता का नामोनिशान न था। यह पूर्व योजना के अनुसार उसने कार्य किया, जर्मन सेना तो पहले से ही आस्ट्रिया मे प्रवेश कर चुकी थी। अगले दिन एक हजार जर्मन सैनिकों ने वियना पर जाकर कब्जा कर लिया। 13 मार्च 1938 को हिटलर स्वयं लिंज पहुँच गया जहाँ डा० सेइस इन्कावर्ट ने उसका अपूर्व स्वागत किया। स्वागत भाषण में डा० इन्कावर्ट ने कहा था कि "जब मै इस नगर मे पहुँचा तो मैंने यह अनुभव किया कि नियति ने मुझे यह कार्य सौंपा है कि मैं अपनी जन्मभूमि को महान जर्मन रीह मे वापस लाऊँ। मैंने इसको अपना कर्तव्य माना और उसे पूरा किया।" दूसरे दिन हिटलर अपने माता-पिता को श्रद्धांजलि अर्पित करने उनकी कब्र पर पहुँचा। समस्त वियना में नाजियों का स्वास्तिक झण्डा फहरा रहा था।

आस्ट्रिया पर महान खतरा देखकर ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने यह तय किया था कि ये जर्मन सेनाओं का मिल-जुलकर विरोध करेंगे पर अवसर आने पर तीनों शक्तियों ने कोई कार्यवाही नही की। ब्रिटेन में तो कोई प्रतिक्रिया ही नहीं हुई, फ्रांस मे मन्त्रिमण्डलीय सकट छाया हुआ था इटली तो पहले से ही जर्मनी से साँठ-गाँठ कर चुका था। उसने दिखावे के लिए ब्रेनर दर्रे पर इटालियन सेना भेजी और स्वय भी पहुँच गया पर वहाँ जाकर चुपचाप बैठ गया। इतना ही नहीं आस्ट्रिया विजय पर जर्मन एवं इटालियन सेना ने खुशी मनाई और एक-दूसरे का अभिवादन किया।

हिटलर ने एक तार भेजकर कि "मैं तुम्हारी इस सहायता के लिए हमेशा कृतज्ञ रहूँगा।" मुसोलिनी को धन्यवाद दिया।

आस्ट्रिया पर जर्मन सेनाओं का अधिकार हो गया पर इतने पर भी हिटलर की मनो-कामना पूरी न हुई उसने आस्ट्रिया के साथ एक विजित देश के समान व्यवहार किया। नाजी दल को छोड़ सभी राजनीतिक पार्टियों को अवैध घोषित किया गया। उनके नेताओं को गिरफ्तार किया गया। उनमें से अनेकों को मौत के घाट उतार दिया गया, शेष को नजरबन्दी शिवरों में रख गया। यहूदियों पर घोर अत्याचार किया गया। समस्त आस्ट्रिया में हाहाकार मच गया। हजारों लोगों ने आत्महत्या कर ली। हिटलर ने यही अवसर उपयुक्त समझ आस्ट्रिया में "आस्ट्रोजर्मन एकता" के लिए जनमत सग्रह कराया। 10 अप्रैल 1938 का लोकमत लिया गया। पक्ष में 99% मत पड़े, यह जनमत केवल आस्ट्रिया का ही नहीं था बल्कि सम्पूर्ण रीह में किया गया था। इतना होने पर भी 180 मत विरोध मे पड़े। यह आश्चर्य का विषय था। जनमत सग्रह का निर्णय होते ही आस्ट्रिया का पूर्ण विलय जर्मनी मे हो गया।

जर्मनी का यह कार्य बड़ा ही घृणित था। एक शक्तिशाली राज्य का एक कमजोर राज्य पर जबरन अधिकार किया जाना था। वह जगली कानून "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सिद्धान्त था। इन कार्य से जर्मनी का आतक समस्त यूरोप पर फैल गया छोटे राज्य भय से काँपने लगे। युद्ध के चिन्ह प्रकट हो गये। सबसे बड़ा खतरा चैकोस्लावाकिया को था क्योकि उसकी सीमा जर्मनी से लगी थी। सभी लोगो को विश्वास हो गया कि जर्मनी का अगला शिकार चैकोस्लावाकिया होगा।

जर्मनी की शक्ति भी बहुत बढ़ गयी। वियना के हाथ में आने से नाजी जर्मनी का दक्षिणी-पूर्वी यूरोप के यातायात पर कब्जा हो गया। आस्ट्रिया के बैंक से जर्मनी को दो करोड़ डालर हाथ लगे, मैंगनेसाइड की भारी मात्रा, लकड़ी, लोहा आदि खनिज उसे प्राप्त हुए।

(11) चैकोस्लावाकिया पर जर्मन आधिपत्य (Control over Czechoslovakia)—चैकोस्लावाकिया का जन्म प्रथम विश्व-युद्ध के बाद हुआ था। उसकी सामूहिक स्थिति महत्त्वपूर्ण थी। फ्रांस और रूस उसे बहुत महत्त्व देते थे और उसकी रक्षा को अपनी रक्षा समझते थे। फ्रांस उसकी अखण्डता बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील था। बिस्मार्क ने कहा था कि "जिसके पास वोहेमिया है (चैकोस्लावाकिया का एक जिला) वही यूरोप का स्वामी है।" हिटलर भी उसके महत्त्व को मानता था और उस पर अधिकार करने का इच्छुक था।

चैकोस्लावाकिया यूरोप की विभिन्न जातियो का एक अजायबघर था। प्रो० हार्डी के शब्दो मे "यह युद्ध पूर्व के आस्ट्रो-हंगरी-साम्राज्य की अनेक जातियों की पिटारी का लघु रूप था।" 1931 की जनगणना के अनुसार इसमें जर्मन बत्तीस लाख एकतीस हजार छ सौ; स्लोवाक 23 लाख 9 हजार, मगयार छः लाख एक्यानवे हजार नौ सौ, रूथेनियन पाँच लाख उनचास हजार और पोल एक्यासी हजार सात सौ थे। चैकोस्लावाकिया के जीवन के प्रारम्भिक काल में चैक-स्लोवाक सघर्ष उसके लिए सिरदर्द बना रहा। यह जातियाँ स्लाव जाति की ही शाखाएँ थी। उनमे जातीय एकता तो थी पर ऐतिहासिक परम्परा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थी। ये जातियाँ आस्ट्रिया-हंगरी राज्य के अधीन शताब्दियों से चली आ रही थी। चैक चूँकि आस्ट्रिया के अधीन थे अतः विकसित थे पर स्लोवाक हंगरी के अधीन होने के कारण पिछड़े हुए थे। वे हंगरी से मिलना चाहते थे या एक पृथक राज्य की माँग करते थे। चैकों का चैकोस्लावाकिया में प्रभुत्व था और वे स्लोवाकों को कुलचते रहते थे। अन्त मे इनमें ऐक्य स्थापित हो गया।

चैकोस्लावाकिया की सबसे बड़ी समस्या अल्पसख्यक जर्मनों की थी। इन जर्मनों को प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जर्मनों से पृथक कर चैकोस्लोवाकिया राज्य बनाया गया था। जर्मन सुर

बैठने वाले लोग न थे। उनका मुख्य निवास सुडेटनलैण्ड था। यह क्षेत्र युद्ध पूर्व आस्ट्रिया के अधीन था अतः जर्मनी की राष्ट्रीय भावना को ठेस नहीं लगती थी। आस्ट्रिया इनकी भावनाओं का आदर करता था पर युद्ध के बाद चैकों का शासन इस क्षेत्र में हो गया तो विरोध खड़ा हो गया। जर्मन चैकों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे अतः वे अपने को चैकों से भिन्न व श्रेष्ठ समझते थे पर चैक सरकार उन्हें कोई वरीयता नहीं देती थी बल्कि उनके साथ हीन भावना रखती थी। इतना होने पर भी *अन्य अल्पसंख्यकों की अपेक्षा उनके साथ अधिक अच्छा व्यवहार होता था।* उन्हें अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं। चैकों की राजधानी में जर्मनों का पृथक विश्वविद्यालय था। इतना होने पर भी जर्मन चैकों से प्रसन्न न थे। वह चैक के सविधान नीति एवं फ्रास के गठजोड़ से बहुत नाराज थे। उनकी स्वाभाविक इच्छा जर्मनी से मिलने की थी।

जर्मनी में नाजी सरकार की स्थापना से चैकोस्लावाकिया मे जर्मन-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। चैक सरकार इस आन्दोलन से बड़ी घबड़ाई। यह समस्या अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर गई। नाजी पार्टी की एक शाखा चैकोस्लाविया ने भी कायम की गई जिसका नेता कोनार्ड हैनबीन था। 1936 मे ओलम्पिक खेल-कूद के अवसर पर कोनार्ड की मुलाकात बर्लिन मे हिटलर से हुई। कोनार्ड हिटलर का वफादार एजेन्ट बन गया। उसके बाद नाजी आन्दोलन सुडेटनलैण्ड मे उग्र हो उठा। उस समय चैको का राष्ट्रपति एक उदार शासक था और वह जर्मनी को खुश करना चाहता था। *1937 में राष्ट्रपति बैनस ने सुडेटनलैण्ड के जर्मनों को खुश करने के लिये उनकी शिकायतें दूर करने* के लिये उन्हें अनेक सुविधायें प्रदान की। जर्मन भाषा को सरकारी भाषा घोषित किया और उनको अनुपात में सरकारी स्थान दिये गये। पर वहां जर्मन प्रसन्न न थे और "पूर्ण स्वायत्त शासन" की मांग कर रहे थे। वे हिटलर के सकेतो पर नाच रहे थे।

आस्ट्रिया पर आधिपत्य जमाने के पश्चात हिटलर ने चकोस्लावाकिया पर जोर डालना प्रारम्भ किया पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चैम्बरलेन ने लोक सभा मे घोषणा की थी कि यदि चकोस्लावाकिया पर कोई आक्रमण हुआ तो ब्रिटेन चुप न बैठेगा। इस चेतावनी से हिटलर ने अपनी नीति बदल दी और चैकोस्लावाकिया में आन्तरिक विद्रोह कराने का प्रयत्न जारी किया। इधर जर्मनी के समाचार पत्रों द्वारा चैक सरकार के अत्याचारों को खूब बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करना प्रारम्भ कराया। हिटलर के भड़काने पर चैकोस्लावाकिया के नाजी नेता हैनलीन ने 23 अप्रैल 1938 को चैक सरकार के सामने अपनी 8 मांगें प्रस्तुत की। इनमें जर्मन क्षेत्र में स्वशासन, जर्मन राजनैतिक *सिद्धान्त के आदर्श अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग भी थी तथा चैक सरकार की विदेश नीति* बदलने की भी मांग थी।

जर्मनी मे हैनलीन की मांगो का पूर्ण समर्थन किया गया। जर्मनी सीमा पर जर्मन-सैनिकों का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया गया जिसका उद्देश्य चैको को धमकाना था। हिटलर सैनिक अधिकारियों, राजदूतों एवं सलाहकारों से विचार-विमर्श करता रहा। 22 मई 1938 को चैकोस्लावाकिया में नगरपालिकाओं का चुनाव होने वाला था। लोगों को यह शंका थी कि इसी दिन कुछ गड़बड़ हो जायगी। उधर जर्मनों के सैनिकों की सीमा पर गतिविधियां जारी थीं। हिटलर चाहता था कि उस दिन चैकोस्लावाकिया मे उपद्रव हो जाये। चैक सरकार को भी युद्ध की आशंका होने लगी। ब्रिटेन भी बर्लिन से ब्रिटिश नागरिकों को हटाने लगा। 31 मई 1938 को एक घटना घट गई जिससे तनाव और बढ़ा। यह घटना थी "जर्मनों द्वारा सीमा का उल्लघन करना और उन्हें गोली से मार डालना" इस पर एक विराट सभा मे भाषण करते हुये डा० गोबल्स ने कहा था कि "हम पैंतीस लाख जर्मनो के साथ होता हुआ अत्याचार अधिक समय तक नहीं देख सकते हैं।"

युद्ध की पूर्ण सम्भावना दीखने लगी क्योंकि फ्रास और रूस एक सन्धि के अनुसार चैको-*स्लावाकिया की रक्षा करने के लिये वचनबद्ध थे और फ्रास के युद्ध मे कूदने से ब्रिटेन को उसकी*

सहायता करने के लिये वचनबद्ध था। पर चैकोस्लावाकिया की आंशिक युद्ध-बन्दी एवं फ्रांस की चेतावनी से खतरा टल गया। हिटलर अभी सीधा युद्ध नहीं चाहता था अतः उसने सीमा पार करने के लिये अपने सैनिकों को आज्ञा न दी। चुनाव शान्तिपूर्ण सम्पन्न हो गये। सबों ने शान्ति की सांस ली इटली और जर्मनी को छोड़कर सभी देशों में इस शान्ति के लिये खुशियाँ मनाई और चैक सरकार को बधाई के तार भेजे। इन खुशियों से हिटलर चिढ़ गया। उसको हण्डसेन ने लिखा कि "यह अत्यन्त मानसिक पीड़ा का समय था। यूरोप की खुशी देखकर उसी समय उसने यह निश्चय कर लिया कि बेनेस और चैक लोगों से इसका बदला लिया जायगा।"

युद्ध का खतरा अवश्य टल गया था पर यूरोप की निगाह चैकोस्लावाकिया पर बराबर लगी थी। वह अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का केन्द्र बन गया था। चैक राष्ट्रपति बेनस हिटलर का मुकाबला करने के लिये कटिबद्ध था। उसकी पीठ पर फ्रांस, रूस, युगोस्लाविया एवं रूमानिया थे। हिटलर ने उस समय तो चुप्पी धारण कर ली पर शीघ्र ही उसे पता चल गया कि रूस के सिवा चैकोस्लावाकिया की सहायता करने के लिये कोई अन्य देश तैयार नहीं है। फ्रांस में ब्लूम का मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया। नये मन्त्रिमण्डल में प्रधान मन्त्री दलादियें तथा विदेश मन्त्री मि० बोने दोनों ही तुष्टिकरण नीति के पक्षपाती हैं. उधर इङ्गलैण्ड के चैम्बरलेन एव हैलिफाक्स दोनों ही तुष्टिकरण नीति के पक्षपाती हैं। एक बार चैम्बरलेन ने कहा था कि "नक्शा उठाकर देखिये चैकोस्लावाकिया तीन ओर जर्मनी द्वारा घिरा है। ऐसी स्थिति में उसको बचाना कैसे सम्भव होगा।" पर यह ब्रिटिश नेतृत्व, की अदूरदर्शिता थी। यदि वे रूस के "सयुक्त सुरक्षा के प्रस्ताव" को मान लेते तो चैकोस्लावाकिया की रक्षा हो सकती थी पर ब्रिटिश नागरिक रूस से चिढ़ते थे और उसका विनाश देखना चाहते थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि चैकोस्लोवाकिया को जीतने के पश्चात जर्मनी का अगला कदम रूस पर आक्रमण होगा और इस प्रकार उसका पुराना शत्रु धराशायी हो जायगा। अतः चैकोस्लावाकिया का बलिदान अधिक मंहगा पड़ेगा।

चैम्बरलेन तथा फ्रांस के प्रधान मन्त्री में यह विचार-विमर्श हुआ कि यदि सुडेटनलैण्ड को जर्मनी को भेंट कर दिया जाय तो यह कटुता का वातावरण समाप्त हो जाय। अतः ब्रिटेन ने मध्यस्थता के विचार से लार्ड रुशीमन को 3 अगस्त 1938 को चैकोस्लावाकिया भेजा। ब्रिटेन ने दावा किया था कि चैक सरकार ने उससे मध्यस्थता करने की मांग की थी, यद्यपि यह स्वेच्छा से बेनेस ने नहीं की थी, उससे करायी गई थी। लार्ड रुशीमन ने बेनेस तथा हेनलीन का आपस में समझौता कराने का प्रयत्न किया, दूसरी ओर गुप्त रूप से फ्रांस और ब्रिटेन ने बेनेस पर दबाव डाला कि वह सुडेटनलैण्ड में अधिक से अधिक सुविधा जर्मनों को दे दे।

चैक सरकार जर्मनी को सुडेटनलैण्ड में अधिक से अधिक सुविधा देने को तैयार थी पर हैनलीन उसे मानने को तैयार न था क्योंकि हिटलर समझौता नहीं चाहता था। लार्ड रुशीमन ऐसी अवस्था में कुछ नहीं कर सकता था। हिटलर ने 12 सितम्बर 1938 को नाजी रैली में साफ कहा था कि "हम 35 लाख जर्मनों पर अत्याचार होते नहीं देख सकते हैं, यदि सुडेटन-जर्मन अपनी शक्ति से अपने अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं तो हम उनकी पूरी सहायता करेंगे।"

हिटलर का भाषण सुडेटन-जर्मनों के लिए उपद्रव करने का संकेत था। अतः उपद्रव प्रारम्भ हो गये। चैक सरकार ने इसे कठोरतापूर्वक कुचलना प्रारम्भ किया। हैनलीन भी जर्मनी भाग गया। लार्ड रुशीमन असफल होकर लन्दन चला गया। उसकी रिपोर्ट चैक सरकार के विरुद्ध थी। हिटलर ने सेना को युद्ध की तैयारी करने की आज्ञा दे दी पर वह ऐसे अवसर की खोज में लगा रहा कि बिना युद्ध के ही मामला उसके पक्ष में तय हो जाये। 13 सितम्बर 1938 को उसे ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चैम्बरलेन का तार मिला : "मैं आपसे मिलना चाहता हूँ। कृपया जल्द से जल्द जगह और समय निर्धारित कर सूचित करें।" हिटलर ने तुरन्त उत्तर दिया। उसके ही अनुसार

दोनों नेता बर्शटेसगार्डेन में 15 सितम्बर को मिले। वार्ता में हिटलर ने साफ कह दिया कि "यदि सुडेटनलैण्ड में जनमत संग्रह के आदेश नहीं दिये जाते है तो जर्मनी चैकोस्लाविया पर आक्रमण कर देगा।" चैम्बरलेन इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार था अतः उसने चैक सरकार एव फ्रांस से परामर्श कर लन्दन मे आकर अपनी सरकार से परामर्श लिया, फ्रांस के प्रधानमन्त्री दलादिये एवं चैम्बरलेन ने मिलकर एक संयुक्त योजना बनाई जिससे पूर्ण सुडेटलैण्ड जर्मनी को देना निश्चित था। इस योजना को चैक सरकार के सामने रखा गया। उसे आश्वासन दिया गया कि फ्रांस और इंगलैण्ड शेष भाग की सुरक्षा की गारण्टी देंगे। चैक सरकार ने फ्रांस की सरकार से मांग की कि जर्मन आक्रमण के समय वह चैक सरकार की सहायता करेगा या नहीं पर दलादिये ने इसका कोई उत्तर न दिया अत. योजना खटाई में पड़ गई। 21 सितम्बर 1938 को फ्रांस और ब्रिटेन ने चैक सरकार को दूसरा अल्टीमेटम भेजा। इस बार चैक को 3 दिन का समय दिया गया कि इस बीच यदि उसने उनकी योजना न मानी तो जर्मन आक्रमण के समय फ्रांस और ब्रिटेन उसे कोई सहायता न देगा। राष्ट्रपति बेनेस ने प्रातःकाल मन्त्रिमण्डल की बैठक बुलाई अपने ही मित्रों के धोखा देने पर उसे और कोई रक्षा का उपाय न सूझा और उसने आंग्ल फ्रांसीसी योजना मान ली। पर योजना के विरोध में प्रधानमन्त्री 'होजा' ने त्याग-पत्र दे दिया। दूसरे प्रधानमन्त्री जनरल सिरावी बने।

फ्रांस की सरकार ने तथा जनता ने इस योजना का विरोध किया। 3 मन्त्रियों ने त्यागपत्र दे दिया। समाचार-पत्रों में इसे "एक लज्जाजनक आवश्यकता बताया। फ्रांस के सेनापति ने अपनी नागरिकता भी त्याग दी। पर दलादिये और चैम्बरलेन अपनी सफलता पर फूले न समाये। चैक सरकार ने रूस से परामर्श मांगा पर सहायता करने को तैयार हुआ भी तो चैक-विरोधी नेता रूडोल्फ बेरान ने बेनेस को चेतावनी दी कि यदि बेनेस सोवियत मदद स्वीकार करता है तो गृह युद्ध छिड़ जायगा। विवश होकर बेनेस ने सोवियत सहायता लेने से इन्कार कर दिया।

चैम्बरलेन पुनः हिटलर से मिले और अपनी योजना एवं चैक राष्ट्रपति की स्वीकृति उसे दिखाई। चैक सरकार ने घुटने टेक दिये थे। इससे हिटलर बहुत प्रसन्न हुआ। एक धौंस ने काफी काम किया। वह एक धौंस और देना चाहता था। इस धौंस में अनेक ऐसी बातें थीं जिसे सुनकर चैम्बरलेन आश्चर्यचकित हुआ और विचार का वचन देकर वह लौट गया। उसने हिटलर की मांगों की सूची प्राग भेज दी। चैक सरकार ने इन मांगों को ठुकरा दिया। हिटलर चैम्बरलेन को सूचित कर दिया कि 26 दिसम्बर से 28 दिसम्बर तक जर्मन सेनाएं चैकोस्लावाकिया पर आक्रमण कर देंगी। एक बार पुनः युद्ध के बादल उठने लगे। फ्रांस और ब्रिटेन युद्ध के लिए तैयार हो गये। बेनेस ने पूर्ण युद्धबन्दी (लामबन्दी) कर दी। फ्रांस ने भी आंशिक लामबन्दी की घोषणा की। ब्रिटेन ने समुद्री बेड़े को सावधान कर दिया, हवाई हमले की रक्षा के लिए कदम उठाये गये।

चैम्बरलेन ने 27 सितम्बर को पुनः घोषणा की कि यदि समझौते की गुंजाइश हो [illegible] एक बार पुनः जर्मनी जा सकता हूं। हिटलर ने इसके उत्तर में समझौता वार्ता चलाने से इन्कार कर दिया। उसने घोषणा की कि "यदि इस समस्या का समाधान हो गया है तो जर्मनी के [illegible] यूरोप मे कोई प्रादेशिक दावा नहीं रह जाता, लेकिन यह ऐसा दावा है कि जिसको [illegible] सकते हैं। हम लोग किसी चैक को नहीं चाहते हैं। जहां तक सुडेटनलैण्ड का प्रश्न है [illegible] चुका है। हम लोग [illegible] हैं। यह [illegible] अपना निर्णय [illegible] कर ले। [illegible] अन्तिम दावा है।" चैम्बरलेन ने यह [illegible] और उसे यह सूझा, [illegible] का किया जाय। उसने मुसोलिनी को लिखा कि अपने मित्र को [illegible] आक्रमण को टालकर [illegible] ने [illegible] को राजी कर ले। मुसोलिनी के [illegible] हो गया।

म्यूनिख समझौता—29 सितम्बर 1938 को म्यूनिख में चार राष्ट्रों—जर्मनी, इटली ब्रिटेन, फ्रांस का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन मे रूस को सम्मिलित नहीं किया गया, न ही चैक प्रतिनिधि को बुलाया गया उसका प्रतिनिधि पास के कमरे में बैठा रहा जब सम्मेलन ने निर्णय कर लिया तो चैक प्रतिनिधि को बुलाकर फैसला सुना दिया। म्यूनिख में जो समझौता हुआ उसकी निम्नलिखित शर्तें थीं :—

(i) चैक लोग 1 से 10 अक्टूबर तक सुडेटनलैण्ड को खाली कर दें।

(ii) ब्रिटेन और फ्रांस ने चैकोस्लावाकिया की परिवर्तित सीमा की रक्षा करने की गारण्टी दी।

(iii) एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग सीमा-निर्धारण तथा जनमत संग्रह वाले क्षेत्रों का निरीक्षण करने के लिए निर्मित हो।

(iv) पोल. हंगेरियन अल्पसंख्यकों के प्रश्न तय हो जाने पर हिटलर और चैम्बरलैन ने एक संयुक्त घोषणा पर हस्ताक्षर किये। इटली ने भी इसी प्रकार की गारण्टी दी। 30 सितम्बर को ब्रिटेन और जर्मनी ने एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध न लड़ने का वचन दिया।

म्यूनिख समझौता तुरन्त लागू हो गया। सुडेटनलैण्ड जर्मनी में मिल गया, शेष चैकोस्लावाकिया की आयोग ने सीमा निर्धारित कर दी। पर वह चैकोस्लावाकिया का भाग भी हंगरी और पोलैण्ड मे बँट गया। इगलैण्ड, फ्रास तथा इटली की गारण्टी रखी रह गयी। पूरा चैकोस्लावाकिया राज्य ही समाप्त हो गया।

यद्यपि इंगलैण्ड की विदेश नीति म्यूनिख पैक्ट में पूर्ण असफल रही फिर भी चैम्बरलैन ने सफलता का दावा किया। जनता ने भी हवाई हड्डे पर अपने प्रधानमन्त्री का अभूतपूर्व स्वागत किया। चैम्बरलैन ने इस अवसर पर डिजरायली (1878) के समान कहा था कि हम बर्लिन से सम्मानपूर्वक (प्रतिष्ठापूर्वक) शान्ति (Peace with honour) लेकर आये हैं। समाचार-पत्रों ने भी चैम्बरलैन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। बर्लिन स्थित अंग्रेजी राजदूत ने तो यहाँ तक लिखा है कि "संसार की करोड़ो माताएँ आज आपको आशीर्वाद दे रही हैं कि आपने उनके बच्चों को युद्ध के मुख से बचा लिया। कल से आपकी सफलताओं का गुणगान करने के लिए स्याही का समुद्र उमड़ पड़ेगा।"

कुछ लोगों ने म्यूनिख पैक्ट की बड़ी निन्दा की। स्वयं चर्चिल जैसे राजनीतिज्ञ ने संसद में भाषण देते हुये कहा कि "हम लोगों की बहुत बड़ी हार हुई है। सब काम तमाम हो गया और चैकोस्लावाकिया अंधेरे मे विलीन हो गया। ब्रिटेन और फ्रांस के दबाव से चैकोस्लावाकिया का विभाजन नाजी धमकी के आगे पश्चिमी जनतन्त्र के झुकने के बराबर है।" ब्रिटिश नौ-सेना मन्त्री एल्फ्रेडकूपर ने त्यागपत्र दे दिया। इसने कहा था कि "1914 में हम लोग युद्ध मे इसलिए सम्मिलित हुये थे कि भविष्य मे कोई एक बड़ा देश अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करते हुये किसी छोटे और कमजोर राष्ट्र पर अपना आधिपत्य न जमाले। हमने म्यूनिख की शर्तों को निगलने का प्रयास किया परन्तु वे मेरे गले मे ही अटक गई हैं। शायद पदत्याग करके हमने अपने राजनीतिक जीवन को बर्बाद कर लिया है। लेकिन, मैं आज भी संसार मे अपना सर ऊँचा करके घूम सकता हूँ।" महात्मा गान्धी ने दुःख व्यक्त करते हुये कहा था कि 'केवल एक सप्ताह के सांसारिक जीवन के लिये यूरोप ने अपनी आत्मा बेच डाली है।"

(12) रूस जर्मन समझौता (Russia German Agreement)—चैकोस्लावाकिया के साथ किया गया विश्वासघात विश्व का सबसे बड़ा विश्वासघात था। रूस को इस बात का बड़ा दुःख था कि फ्रांस ने भी चैकोस्लोवाकिया का बँटवारा करते समय उससे परामर्श तक नहीं किया।

म्यूनिख समझौता द्वारा फ्रांको-सोवियत संधि का भी अन्त हो गया और चैको-रूसी सन्धि का भी अन्त हो गया। रूस अब अकेला रह गया।

जर्मनी ने अपने सभी उद्देश्यों को एक-एक कर पूरा कर लिया अब उसकी दृष्टि पौलैण्ड और डैन्जिग पर लगी। यद्यपि पौलैण्ड से जर्मनी की सन्धि हो चुकी थी पर हिटलर के लिये संधियों का कोई महत्त्व न था। यूरोप के राजनीतिज्ञ जानते थे कि चैकों का अन्त कर वह पोलिसो का भी अन्त करेगा। यह लोगों का विश्वास सत्य ही था। चैकोस्लावाकिया का विनाश होते ही जर्मनी के पत्रों ने पोलिमो द्वारा अल्पमत रखने वाले जर्मनों पर घोर अत्याचार की कहानी प्रारम्भ कर दी।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद पूर्वी साइलेसिया और पश्चिमी एशिया का अधिकांश भाग, वर्साय सन्धि के अनुसार पोलैण्ड को दे दिया गया था। युद्ध में भी पोलैण्ड ने अनेक जमन क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया था, पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने के लिये जर्मनी मे होकर गलियारा भी मिल गया था और डैजिग का प्रसिद्ध बन्दरगाह भी संरक्षण मे मिल गया था। जमनी इस बँटवारे से बहुत नाराज था। 1934 मे हिटलर ने 10 वर्षीय सन्धि कर पोलैण्ड से अपने मतभेद दूर कर लिये थे।

चैकोस्लावाकिया को जीतने के बाद हिटलर को एक चिन्ता थी कि ब्रिटेन पोलैण्ड का पक्ष अवश्य लेना। पोलैण्ड जानता था कि जर्मन-पोलिस-सधि एक दिखावा मात्र है। उसको खतरा तब और हुआ जब पोलैण्ड और डैंजिग नगर मे 1935 मे नाजी पार्टी की शाखायें खोली गईं। डैंजिग मे 1935 के चुनाव में नाजी पार्टी को काफी सफलता मिली। कुछ समय बाद नाजी नेता फास्टर खुले आम प्रचार करने लगा। 1938 मे पोलैण्ड का विदेश मन्त्री कर्नल वेक था। अक्टूबर 1938 मे रिबनट्रोप ने बर्लिन स्थित पोलिस राजदूत लिप्सकी ने कहा कि डैजिग नगर हमें लौटा दिया जाय। जनवरी 1939 मे जब रिबनट्रोप वार्सा गया तो उससे वही बात पुन: कही।

चैकोस्लावाकिया की समाप्ति पर जब जर्मन मेमेल पर अधिकार कर चुका तो रिबनट्रोप ने पुनः राजदूत लिप्सकी से जोरदार शब्दों मे डैंजिग को लौटाने के लिये कहा। इतना ही नहीं उसने पोलिश गलियारे से होकर पूर्वी प्रशिया तक रेल मार्ग बनाने की भी बात रखी। इस बदले में जर्मनी-पोलैण्ड की अखण्डता, सुरक्षा एवं 15 वर्ष तक आक्रमण सन्धि की भी बात रखी। पालैण्ड इन मांगों को स्वीकार करने को तैयार न हुआ। तब पोलैण्ड पर प्रचार द्वारा आक्रमण किया गया। प्राग में स्थित सेनायें वार्सा पहुँचने की तैयारी करने लगी। यह समाचार ब्रिटिश ससद सदस्य डा० डाल्टन ने भी प्राग मे सुना था।

चैम्बरलेन के अब विचार बदल चुके थे। उन्होंने 21 मार्च 1939 को ससद मे कह दिया था कि यदि जर्मनी पोलैण्ड पर आक्रमण करता है तो ब्रिटेन पूरी शक्ति से उसका मुकाबला करेगा। फ्रांस की सरकार भी इगलैण्ड की कार्यवाही मे पूर्ण सहयोग देगी। पोलिस विदेश मन्त्री जब 6 अप्रैल 1939 को लन्दन गया तो उसे भी पूर्ण आश्वासन दिया गया। रूमानिया, यूनान तथा तुर्की को भी इसी प्रकार की गारण्टी दी गई।

जो कुछ भी धमकियाँ जर्मनी को दी जा रही थी, उनका ज्ञान उसे पहले ही से था। पोलैण्ड पर आक्रमण करने से पूर्व उसने रूस से सहमति लेना उचित समझा। रूस बहुत पहले से विरुद्ध मोर्चा बनाने की योजना बना रहा था पर ब्रिटेन एव फ्रांस उसके लिये तैयार न थे। उसे शंका थी कि पश्चिमी शक्ति रूस को जर्मनी से टकराना चाहती है, चैकोस्लावाकिया के मामले मे उसकी शका सत्य सिद्ध हुई। उसे पश्चिमी शक्तियों पर विश्वास न रहा। चैकोस्लावाकिया की समाप्ति पर जर्मनी पर चढ़ाई की तैयारी की बात सुनकर फ्रांस और ब्रिटेन रूस से मिलकर मोर्चा-बन्दी की बात चलाने लगे। इसी दौरान हिटलर और स्टालिन मे भी सन्धि के लिए गुप्त वार्ता चल रही थी। अन्त में 23 अगस्त 1939 को जर्मनी और सोवियत सघ से एक अनाक्रमण सन्धि

हो गयी। यह समाचार जब फ्रांस और इंगलैण्ड को मिला तो उन्हें महान आश्चर्य एवं दुःख दोनों ही हो गये। यद्यपि यह अनाक्रमण सन्धि थी पर इसकी कुछ गुप्त धाराएँ भी थीं, जैसे पोलैण्ड का बँटवारा, बाल्टिक राज्यों को हड़पने की रूस को छूट, रूस ने जर्मनी को खाद्यान्न, पैट्रोल तथा युद्ध की अन्य सामग्रियाँ देने का वचन दिया।

इस सन्धि से जर्मनी की पूर्वी सीमा सुरक्षित हो गयी अब वह पश्चिमी मोर्चे पर पश्चिमी राज्यों की संयुक्त सेनाओं से लोहा ले सकता था। यह सूचना अमेरिका पहुँची तो 15 अप्रैल को रूजवेल्ट ने हिटलर और मुसोलिनी को अलग-अलग पत्र लिखे, जिनमें अनुरोध किया गया कि वे अपनी ओर से कोई ऐसा कार्य करें जो विश्व शान्ति के लिए भयानक हो। हिटलर ने पत्र का उत्तर देते हुए कहा कि "डैंजिग एक नगर है और जर्मनी से मिलना चाहता है। *इस प्रश्न को आज या कल हल करना ही होगा।*" उसने पोलैण्ड को भी चेतावनी दे दी कि आल-फाल घेरेबन्दी से वह डरने वाला नहीं है। उसने इसे पुनः "अन्तिम दावा" कहा।

पोलैण्ड पर आक्रमण और द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ (Attack on Poland and begining of Second World War) – 1 सितम्बर 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। यह द्वितीय विश्व-युद्ध का ऐलान था।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. जर्मनी की नाजी क्रान्ति के क्या कारण थे। ब्रिटेन का उसमें कहाँ तक सहयोग था? स्पष्ट कीजिए?

   What were the causes of Nazi Revolution in Germany? How far Britain was responsible for this revolution? Explain.

2. "यूरोप का इतिहास तथा कुछ सीमा तक विश्व का इतिहास 1932 के पश्चात केवल एक तथ्य, हिटलर की तानाशाही के अन्तर्गत जर्मनी की शक्ति के उत्थान से प्रभावित रहा।" (गैथार्न हार्डी) । इस कथन की व्याख्या कीजिए।

   European History and to some extent that of entire world has been dominated since 1933 by one fact, the revival of German power and the dictatorship of Hitler." (Gathorne Hardy) Explain this statement.

3. नाजी क्रान्ति का विभिन्न देशों पर क्या प्रभाव पड़ा। संक्षिप्त रूप से बताइये।

   How did the Nazi Revolution influence the different countries? Describe in brief.

4. हिटलर के उत्थान के कारणों पर प्रकाश डालिए तथा उसकी सफलता के कारण लिखिए।

   Throw light on the causes of Hitler's rise. Also describe the causes of his success.

5. हिटलर की विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्य क्या थे और उसने इन उद्देश्यों की कहाँ तक पूर्ति कर ली।

   What were the main objects of Hitler's foreign policy? How did he achieve his objects?

6. चैकोस्लोवाकिया का बँटवारा, पश्चिमी राज्यों का हिटलर के सामने मस्तिष्क झुकाना था। स्पष्ट कीजिए।

   The distribution of Czechoslovakia was the bowing down the heads of Western Powers before Hitler." Explain.

23

फासिस्ट इटली की विदेश नीति (1919-39)
(Foreign Policy of Fascist Italy)

"अतृप्त इटली ताक-झांक करता हुआ, भ्रष्टाचार तथा दुर्भाग्य की गन्ध से लिप्त तथा आकर्षित होकर इधर-उधर बेचैनी से फिरता है तथा किसी पर आक्रमण करने की तथा थोड़े से लूट के माल को ले भागने के लिए तैयार रहता है।" —बिस्मार्क

"War is to the man what maternity is to the woman. I do not believe in perpetual peace. Not only do I believe in it, but I find it depressing and a negation to all the fundamental virtues of man......the whole nation must be militarised......I consider the Italian nation in a permanent state of war." —Mussolini

इटली में फॉसीवाद का उत्कर्ष
(Rise of Fascism in Itally)

मुसोलिनी का उत्थान (Rise of Mussolini)—फॉसीवाद का प्रवर्तक बेनिटो मुसोलिनी माना जाता है। उसका जन्म 1883 ई० में इटली के एक अराजकतावादी तथा बाद में मार्क्सवादी बनने वाले गरीब लुहार एलेसैंन्ड्रो के घर हुआ था। मुसोलिनी का प्रारम्भिक जीवन निर्धनता में बीता। उसे सोने के लिए घास की चटाई नसीब होती थी। जैसे-तैसे उसने हाईस्कूल की परीक्षा पास की तथा 1901 में अध्यापकी की उपाधि प्राप्त की और एक पाठशाला में अस्थायी अध्यापक पद पर नियुक्त हुआ। उसे अल्पवेतन मिलता था अतः उसने विदेश जाने का निश्चय किया। कुछ समय बाद वह स्विटजरलैण्ड चला गया। यहाँ आकर उसने एक बूचर की दूकान पर नौकरी कर ली तथा राज के साथ उसका तसला उठाने वाले मजदूर के रूप में कार्य किया। एक बार उसे कहीं काम न मिला और 26 घण्टे भूखा रहना पड़ा। भूख से तंग आकर उसने एक पार्टी पर जो स्वादिष्ट भोजन का आनन्द ले रही थी, चील की तरह झगड़ कर भोजन सामग्री लेकर भागना पसन्द किया। 1902 में वह लोजान (Lausanne) में आवारागर्दी के जुर्म में पकड़ा गया। कुछ समय बाद वह इटालियन राजों (Masons) के संघ का मन्त्री बन गया। जनवरी 1903 में बढ़इयों की एक हड़ताल कराने के जुर्म में उसे स्विटजरलैण्ड से निर्वासित कर दिया गया। 1904 में वह पुनः स्विटजरलैण्ड पहुँच गया।

उसे मार्क्सवाद, साम्यवाद एवं ईसाइयत से घृणा हो गई। उसने पत्रकार का पेशा ग्रहण किया। धर्म की निन्दा करते हुए उसने लिखा था कि—ईसामसीह कहते हैं कि "भगवान के आगे सिर झुकाओ (Resign) हम कहते हैं कि विद्रोह करो।" उसने "ईश्वर की सत्ता नहीं है" पर एक लेख भी लिखा। उस पर जर्मन दार्शनिक नीटशे (1844-1900) तथा फ्रेंच विचारक सोरेल (1847-1922) की रचनाओं का गहरा प्रभाव पड़ा। अपने एक जेलयात्रा में नीटशे पर 'पवित्र के

दर्शन' नाम से लेख लिखा। उसने उसको "19वीं शताब्दी का अन्तिम विचारक" लिखा। सोरेल के प्रति अपनी अंध श्रद्धा व्यक्त करते हुए उसने लिखा कि "मानव जाति को विश्वास (Credo) की आवश्यकता है। विश्वास ही पहाड़ों को हिला सकता है क्योंकि यह उसके हिलने की भ्रान्ति को उत्पन्न करता है। सम्भवतः जीवन की एकमात्र वास्तविकता भ्रान्ति है।" इसी समय वह ग्रीष्मकालीन विद्यालय (Summer School) में इटालियन समाजशास्त्री तथा लोकतन्त्र के कट्टर विरोधी पैरेटो (Pareto) का शिष्य रहा। पैरेटो से वह इतना प्रभावित था कि जब वह इटली का तानाशाह बना तो पैरेटो को इटली की सीनेट का सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किया। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व वह कट्टर समाजवादी तथा उग्र क्रान्तिकारी समाचार-पत्र अवन्ती (Avante) का सम्पादक रहा। युद्ध छिड़ने पर उसने अन्य समाजवादियों के समान इटली को युद्ध से दूर रखने का आन्दोलन चलाया।

किन्तु उसके विचारों में शीघ्र परिवर्तन हुआ। वह शक्ति का पुजारी एवं शान्ति विरोधी बन गया। उसने एक नवीन पत्र 'Popolo d' Italia' निकाला। उसने इस बात का जोरदार प्रचार करना प्रारम्भ किया कि इटली को युद्ध में भाग लेना चाहिए। इटालियन समाजवादी पार्टी ने उसे दगाबाज घोषित करते हुए पार्टी से निकाल बाहर कर दिया। मुसोलिनी ने समाजवादी सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी। उसके प्रचार के कारण इटली ने मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लिया। मित्र राष्ट्रों की 1918 में विजय हुई। पेरिस शान्ति सम्मेलन में इटली का प्रधानमन्त्री ओरलैंडो "चार बड़ों" में सम्मिलित हुआ।

युद्ध के बाद इटली में निराशा (Disappointment *in Italy after the War*)—इटली को जर्मनी के पक्ष में से तोड़ने के लिए मित्र राष्ट्रों ने इटली को बड़े-बड़े प्रलोभन दिये थे। 23 अप्रैल 1915 को लन्दन में इटली को आमन्त्रित किया गया था। मित्र राष्ट्रों ने उससे एक गुप्त सन्धि की जिसके अनुसार ट्रेंटीनो, ट्रीस्टे, टिरोल प्रदेश, उत्तरी डल्मेशिया के अनेक प्रदेश उसको देने का वचन दिया। शान्ति सम्मेलन में इटली के प्रधानमन्त्री ओरलैंडो ने अपने दावे पेश किये। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने इन दावों का विरोध किया। शान्ति सम्मेलन के बाद ओरलैंडो स्वदेश निराश होकर लौटा। उसने जिस आशा में युद्ध के अन्दर जन-धन की बरबादी की थी, वह आशा पूरी न हुई। मित्र राष्ट्रों ने इटली को धोखा दिया पर जनता ने उसे अपनी सरकार की दुर्बलता कहा। इटली की आर्थिक दशा बिगड़ी हुई थी। हजारों लोग भूखे मर रहे थे। साम्यवादियों ने इस स्थिति का लाभ उठाया। कारखानों में तालाबन्दी और हड़तालें होने लगीं। अराजकता का वातावरण फैल गया सरकार इस समस्या को सुलझाने में असमर्थ थी। पूँजीपति वर्ग साम्यवाद के प्रसार से भय खाया हुआ था।

इटली में फासिज्म का उत्कर्ष (Rise of Fascism in Italy)—इटली में असन्तोष, अराजकता तथा निर्धनता फैली। इसका पूरा दोष ससदात्मक सरकार पर लगाया गया। मुसोलिनी ने इस दुरावस्था का लाभ उठाया। उसने फासिस्ट पार्टी का गठन किया। इस दल के संगठन के लिए आवश्यक नियमों और विभिन्न व्यवस्थाओं का निर्माण रोम के प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास की परम्पराओं और रीति-रिवाजों के आधार पर किया। फासिस्ट शब्द लैटिन भाषा के फासीज (Fasces) शब्द से निकला है, इसका अर्थ फरसा तथा लाठियों का समूह या गट्ठा होता है। फरसा (Axes) तथा लाठी प्राचीन रोम में राजा की शक्ति और अनुशासन के प्रतीक थे। उस काल में यह रिवाज था कि रोमन गणराज्य में प्रतिवर्ष निर्वाचित होने वाले तथा कांसुल (Consul) कहलाने वाले सर्वोच्च शासकों तथा उच्च अधिकारियों के आगे-आगे उनकी शक्ति के प्रतीक के रूप में उनके पद के अनुरूप छः से बारह लाठियों को तथा उनके बीच एक फरसे को एक गट्ठे में बाँधकर ले जाया जाता था। मुसोलिनी ने इसी परम्परा को अपनाया। मुसोलिनी के 1919 में साम्य-

वाद का विरोध करने के लिए राष्ट्रीय फासिस्ट दल (Partio Mazional Fascista) का संगठन किया।

मुसोलिनी कहा करता था कि "हम फासिस्टों में परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्तवादियों की मान्यताओं को तोड़ने का साहस है। हम कुलीन तन्त्रवादी भी है और लोकतन्त्रवादी भी, क्रान्तिकारी भी हैं और प्रतिक्रियावादी ही, श्रमिकजीवी भी हैं और श्रमिक विरोधी भी, शान्तिवादी भी हैं और शान्ति विरोधी भी। इतना भी काफी है कि हम लोगों का एक स्थिर बिन्दु है—राष्ट्र और सब बातें बाद की है।" वास्तव में फासिज्म उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन था।

मुसोलिनी कहता था कि "हम निश्चित और यथार्थ होना चाहते हैं। हम सिद्धान्त और विचार-विनिमय के मेघों से बाहर निकलना चाहते हैं।"[1]

मुसोलिनी का सत्ता पर अधिकार (Mussolini comes in Power)—मुसोलिनी साम्यवाद से घृणा करता था। जब उसे समाजवादी पार्टी से निकाल दिया गया तो उसने अपने अनुयायियों की पृथक पार्टी बनायी। फासिस्ट दल की जल्दी ही बड़ी उन्नति हुई। उसने अपनी शक्ति पूरी तरह संगठन को मजबूत करने में लगायी। उसने एक स्वयंसेवक सेना भी तैयार की। उसकी लाल वर्दी थी, वह परेड करती थी। इस सेना की शाखायें उसने समस्त इटली में स्थापित की थीं। वह साम्यवादियों पर अचानक आक्रमण करती थी और उनकी सभाओं, हड़तालों और योजनाओं को फेल करती थी। पूंजीपति हड़तालियों के विरुद्ध उससे सहायता मांगते थे। अराजकता, अव्यवस्था, अफवाहों को फैलाने वालों को फासीवादी कठोर दण्ड देते थे। इन कार्यों से जनता में फासी दल ने बडी लोकप्रियता प्राप्त करली थी। 1922 में इस सेना द्वारा मुसोलिनी ने रोम पर चढाई कर दी और बिना रक्त बहाये, सत्ता पर अधिकार जमा लिया।

मुसोलिनी की सफलता (Success of Mussolini)—मुसोलिनी एक तानाशाह था। वह नियमों और सिद्धान्त के चक्कर मे नही पड़ता था। वह कार्य पहले कर लेता था और उसको किसी सिद्धान्त मे फिर बाद को फिट करता था। वह व्यवहारवादी व्यक्ति था, उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक, धर्म-अधर्म की चिन्ता न करता था। अपना कार्य बने फिर चाहे उसे कैसा ही नीच कार्य करने पड़े, उसे बुराई की चिन्ता न थी। वह राष्ट्रवादी था और पुराने रोम साम्राज्य के सपने देखता था। उसने देश मे राष्ट्रीय एकता लाने में बड़ी सफलता प्राप्त की, सभी प्रकार की फूट एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावनायें समाप्त की। देश मे सामाजिक, आर्थिक, सेना, न्याय एवं अन्य विभागो के उच्च पदो पर विश्वासी फासिस्ट नियुक्त किये। 1922 से 1944 तक उसने इटली में शासन किया। उसकी गृह-नीति निम्न प्रकार थी :—

(1) देश की आर्थिक व्यवस्था में सुधार (Reform in the Economic Condition of the Country)—इटली की आर्थिक दशा बड़ी खराब थी। मुसोलिनी ने कल-कारखाने राज्य संरक्षण मे ले लिये तथा श्रमिकों को सन्तुष्ट किया। उसने आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद पर रोक लगा दी। मिल मालिकों एवं श्रमिकों मे सहयोग उत्पन्न करने के लिए उनके संघों (Syndicates) की व्यवस्था की। उसने देश के उत्पादन को बढ़ाने के लिए काफी प्रयत्न किया। जल विद्युत की सहायता से इटली के कल कारखाने चलने लगे। इटली अन्य यूरोपीय देशों के समान एक औद्योगिक देश बन गया। इटली के व्यापार मे भी आशातीत वृद्धि हुई। उसने दलदलों को सुखाकर भूमि प्राप्त की तथा कठोर परिश्रम कराकर उत्पादन को पहले से दुगना करा दिया। इन प्रयासों से इटली की आर्थिक दशा में काफी सुधार हुआ। गरीबी और भुखमरी को दूर कर आम जनता का आर्थिक

---

1 "......We want to be definite and real. We want to come out of the cloud of discussion and theory." —*Mussolini*

स्तर ऊँचा उठाया। यातायात के साधनों में भी प्रशंसनीय सुधार किया। रेलगाड़ियों का आना-जाना ठीक समय पर होने लगा, मालगाड़ियों की संख्या बढ़ गयी। इस प्रकार इटली एक समृद्धशाली देश बन गया।

(2) **राष्ट्रीय उन्नति के सक्रिय कार्य (Active Work for National Growth)**—राष्ट्रीय उन्नति के लिए मुसोलिनी ने जनता में राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी जिससे शासन-व्यवस्था सुदृढ़ और स्थायी बनी। उसने देश के बजट को सन्तुलित किया, राष्ट्रीय मुद्रा का अवमूल्यन रोका। शिक्षा का विस्तार किया ताकि देश मे निरक्षरता कम हो गयी। बच्चों को शिक्षा फासीवादी सिद्धान्तों के आधार पर दी जाने लगी। सैनिक शिक्षण-संस्थाओं की संख्या बढ़ी। सैनिक शिक्षण अनिवार्य हो गया। शिक्षा संस्थायें फासिस्टों के निर्माण के केन्द्र बन गयीं।

देश की सामुद्रिक शक्ति का भी पर्याप्त विकास हुआ। 1935 में इटली की जल-शक्ति फ्रांस और जर्मनी के बराबर हो गयी। वायु सेना का भी विकास हुआ। रेडियो के निर्माण मे भी उन्नति हुई। कोयले की कमी जल-प्रपातों द्वारा विद्युत उत्पन्न कर दूर की गयी। देश को शक्तिशाली बनाने के लिए अनिवार्य सैनिक सेवा का सिद्धान्त अपनाया गया।

इस प्रकार इटली शक्तिशाली, समृद्धशाली, आत्म-निर्भर एवं विकसित देश बन गया। उसकी गिनती महाशक्तियों में होने लगी।

(3) **पोप से समझौता (Agreement with Pope)**—धार्मिक जनता की आस्था प्राप्त करने के लिए, यद्यपि मुसोलिनी धर्म से कम आस्था रखता था, पर उसने पोप से सन्धि करना श्रेयस्कर समझा। पोप का मान इटली मे बहुत था। वह एक स्वतन्त्र राजा के समान रहता था। कैथोलिक होते हुए भी, वह ईसाई जगत का धर्म गुरू था। पोप यह जानता था कि राज्य और चर्च के झगड़ों से कोई लाभ नहीं। दोनों मे वाद-विवाद के बाद 11 फरवरी 1929 को एक समझौता हो गया जिसे Lateran Treaty कहते हैं। समझौते में निम्नलिखित बातें तय हुई :—

(i) पोप का अधिकार रोम नगर मे मान लिया गया, पोप ने इटली की अधीनता स्वीकार कर ली।

(ii) पोप को सरकार की ओर से वेटिकन का दुर्ग तथा सेन्ट पीटर्स का गिरजाघर अपने अधिकार में रखने की अनुमति मिल गयी।

(iii) पोप के राजनीतिक अधिकारों का अन्त कर दिया गया और सरकार की ओर से उसे दस करोड़ डालर वार्षिक पेंशन बाँध दी गयी।

(iv) इटली की सरकार ने कैथोलिक धर्म को राजधर्म घोषित कर दिया तथा पादरियों को राज्य के खजाने की ओर से पहले की भाँति वेतन दिया जाने लगा।

(v) प्रधान विशप तथा अन्य विशपों की नियुक्ति का अधिकार पोप को दिया गया। पर शर्त यह लगा दी गयी कि ऐसे किसी व्यक्ति की नियुक्ति न हो जो फासीवाद विरोधी हो।

(vi) शिक्षा-संस्थाओं के अन्दर धार्मिक शिक्षा देने के लिए पादरी की नियुक्ति पोप की स्वीकृति से की जायगी।

(vii) यह भी निश्चित हुआ कि चर्च के सभी कर्मचारीगण राजनीति में भाग न लेंगे।

इस समझौते से मुसोलिनी की स्थिति सुदृढ़ हो गयी। मुसोलिनी की लोकप्रियता चरम सीमा को पहुँच गयी तथा जनता का वह विश्वासपात्र बन गया।

मुसोलिनी की विदेश नीति (Foreign Policy of Mussolini)—मुसोलिनी की विदेश नीति का आधार फासिस्ट सिद्धान्त था। फासिस्ट सिद्धान्त संख्या के स्थान पर गुण अधिक महत्त्व देता था। एक ज्ञानी व्यक्ति जो बात कहे, वही मान्य होनी चाहिए। प्रथम ... युद्ध के बाद मित्र राष्ट्रों ने इटली को उसकी इच्छानुसार न तो राजनीतिक सुविधायें दी और ...

आर्थिक लाभ पहुंचाया। इससे इटली की जनता में बड़ा असन्तोष फैला था। मुसोलिनी ने इटली के सम्मान को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में पुन. प्राप्त कराने का निश्चय किया। उसने इटली को विश्व में महान शक्ति-सम्पन्न देश बनाने का निश्चय किया। मुसोलिनी की विदेश नीति इस प्रकार रही :—

(1) **राष्ट्र संघ और इटली** (The League of Nations and Italy)—फासिस्ट होने के नाते मुसोलिनी राष्ट्र संघ में विश्वास न करता था। राष्ट्र संघ में समता का सिद्धान्त माना जाता था। उसके निर्णय सर्व सम्मति से होते थे। मुसोलिनी समझता था कि राष्ट्र संघ एक पंगु संस्था है। इथोपिया के मामले में उसने कहा था कि "चिरशान्ति की कामना एक बेतुकी बात है। इनका हमारे सिद्धान्त और प्रवृत्ति से कोई मेल नहीं। सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त न कभी कायम रहा है और न कभी भविष्य में कायम रहेगा। राष्ट्र संघ एक व्यर्थ की संस्था है। हमें अपने जीवन के लिए स्वयं तैयार रहना चाहिए।" मुसोलिनी डार्विन के सिद्धान्त का पक्षपाती था विशेष कर 'सर्वशक्तिशाली का अस्तित्व' (Survival of the Fittest)। वह सहजीवन को मान्यता न देता था।

(2) **विशाल साम्राज्य की स्थापना** (To establish an empire)—मुसोलिनी पुराने रोमन साम्राज्य के समान एक विशाल साम्राज्य रखने का विचार रखता था। वह कहता था कि इटली को या तो विस्तार करना चाहिए अन्यथा वह समाप्त हो जायेगा। इटली प्रथम विश्व युद्ध मे इसी उद्देश्य से सम्मिलित हुआ था कि उसे युद्ध की लूट मे काफी प्रदेश मिलेगे पर यह कामना पेरिस सम्मेलन मे पूरी न हुई थी। उसने स्वप्न देखा था कि उसका बालकन प्रायद्वीप, पश्चिमी एशिया तथा अफ्रीका में एक विशाल राज्य बन जायगा पर मित्र राष्ट्रों ने विश्वासघात कर उसका स्वप्न भंग कर दिया था। वह शक्ति के बल से उस स्वप्न को पूरा करना चाहता था। उसका कहना था कि इटली का विस्तार होना चाहिए अन्यथा उसका अस्तित्व खतरे मे रहेगा। तानाशाही को सुदृढ़ रखने के लिए युद्ध में पौरुष दिखाकर साम्राज्य की स्थापना करना।

(3) **भूमध्य सागर पर आधिपत्य** (Control on Meditrranian Sea)—मुसोलिनी भूमध्य सागर को इटली की एक झील मे बदलना चाहता था। इटली ने पेरिस शान्ति सम्मेलन मे युद्ध के लूट के माल मे से भूमध्य सागर के पूर्व भाग में स्थित रोड्स तथा डोडिकानीज द्वीप-समूहों को प्राप्त करने की मांग प्रस्तुत की थी पर उसकी मांग ठुकरा दी गई थी। अब वह इन क्षेत्रों को प्राप्त करना चाहता था। उसने टर्की के लूजैन की सन्धि कर अपना प्रभाव बढ़ाया और टर्की से डोडेकेनीज तथा रोड्स द्वीप पुनः प्राप्त कर लिया।

भूमध्य सागर पर कब्जा जमाने मे उसे फ्रांस और ब्रिटेन की नाराजगी मोल लेनी पड़ती पर उसने उसकी परवाह न की। वह उत्तरी अफ्रीका के किनारे पर ट्यूनिस आदि उपनिवेशों को हस्तगत करना चाहता था। स्पेन की मित्रता से उसे बलियारिक टापू के प्राप्त होने की आशा थी। फ्रांस नहीं चाहता था कि भूमध्य सागर किसी अन्य शक्ति के हाथ में रहे, क्योंकि उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेश के बन्दरगाह बिजरी, आल्जियर्स आदि पर कब्जा बनाये रखने के लिए पश्चिमी भूमध्य सागर पर फ्रांस अपना प्रभुत्व रखना चाहता था। उसे यह भी ज्ञात था कि भूमध्य सागर पर कब्जा करने के लिए उसे ब्रिटेन से टक्कर लेनी होगी। स्पेन से मित्रता कर वह जिब्राल्टर पर कब्जा चाहता था जिससे वह ब्रिटिश नौ सेना के जहाजों को रोक सके। ब्रिटेन ने भूमध्य सागर पर कब्जा रखने के लिए जिब्राल्टर के अतिरिक्त माल्टा आदि नौ सैनिक अड्डे बना रखे थे। माल्टा के ब्रिटिश अड्डे को बेकार करने के लिए उसने नौ सेना बढ़ाई तथा सिसली एवं ट्यूनिस के निकट पाण्टेलेरिया टापू मे किलेबन्दी प्रारम्भ कर दी। इसके अतिरिक्त उसने अरबों को भी भड़काना प्रारम्भ किया।

(4) **इटली और यूनान** (Italy and Greece)—यूनान और अल्बानिया की सीमा विवाद में इटली ने मध्यस्थता की थी। इसलिए इटली के प्रतिनिधि यूनान की सीमा पर निरीक्षण के लिए पहुँचे। यूनान द्वारा इटली के कुछ प्रतिनिधि मार डाले गये। इटली क्षमयाचना के साथ-साथ यूनान से 5 करोड़ डालर क्षतिपूर्ति के रूप में चाहता था। यूनान राष्ट्र संघ में शिकायत लेकर पहुँचा, यूनान के विलम्ब करने पर इटली ने प्रत्यक्ष कार्यवाही की और कार्फू नगर पर कब्जा कर लिया। राष्ट्र संघ की परिषद ने यह मामला राजदूतों के सम्मेलन में रखा। सम्मेलन ने यूनान को दोषी ठहराया। यूनान से क्षतिपूर्ति दिलाकर कार्फू को मुक्त कराया। इटली का प्रभाव इससे बहुत बढ़ गया।

(5) **फ्यूम पर अधिकार** (Possession on Fieume)—पेरिस सम्मेलन में फ्यूम बन्दरगाह तथा यूनान के प्रश्न पर इटली और यूगोस्लाविया के बीच संघर्ष चल पड़ा था। मित्र राष्ट्रों ने फ्यूम को एक स्वतन्त्र बन्दरगाह बना दिया था। इटली फ्यूम पर कब्जा करना चाहता था। उसने 1924 में यूगोस्लाविया से सन्धि कर ली और फ्यूम के उपनगर को यूगोस्लाविया को देकर फ्यूम पर अपना अधिकार जमा लिया।

(6) **अल्बानिया पर नियन्त्रण** (Control on Albania)—1926-27 में अल्बानिया को आर्थिक सहायता देकर उसने अल्बानिया पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। धीरे-धीरे 1939 तक उसने अल्बानिया का इटली के साथ संयोजन कर लिया।

(7) **इटली और रूस** (Italy and Russia)—1922 के वाशिंगटन सम्मेलन में नौसेना रखने में इटली और फ्रांस को समान अधिकार दिया गया था। इसके बाद उसने अन्तर्राष्ट्रीय जगत से अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए राज्यों से अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाये। उस समय मित्रता का प्रश्न बड़ा जटिल बना था। उस समय अधिकांश राज्य यथास्थिति के पक्ष में थे तथा सन्धि संशोधन के विरोधी थे। केवल आस्ट्रिया, हंगरी तथा बल्गेरिया ही संशोधन के पक्ष में थे। इटली ने इन देशों से मित्रता कर ली। इन छोटे राज्यों से सन्धि कर उसकी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ी। उसने रूस से मित्रता करनी चाही। रूस भी सन्धि के संशोधन के पक्ष में था। मुसोलिनी ने 1924 में सोवियत रूस को वैध मान्यता दे दी। उससे व्यापारिक सन्धि भी कर ली। इटली ने वचन दिया कि वह रूस को राष्ट्र संघ में प्रवेश दिलवायेगा, इससे दोनों देशों में घनिष्ठता बढ़ने लगी। इसके बाद इटली ने 1927 को हंगरी के साथ, सितम्बर 1928 को यूनान के साथ फरवरी 1930 में आस्ट्रिया के साथ सन्धि कर अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बढ़ाया।

(8) **इटली और फ्रांस-ब्रिटेन सहयोग** (Italy and Anglo-French Cooperation)—यद्यपि इटली के विशाल साम्राज्य स्थापित करने की योजना में उसके मार्ग में दो रोड़े थे। ये रोड़े थे फ्रांस तथा इंगलैण्ड। पर हिटलर के उत्थान से इटली को भय हुआ अतः वह फ्रांस और ब्रिटेन की ओर झुका। इटली आस्ट्रिया पर अपना प्रभाव जमाना चाहता क्योंकि इटली को सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था। उधर आस्ट्रिया पर जर्मनी अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। यदि आस्ट्रिया पर जर्मन का कब्जा हो जाता तो दक्षिण टायरोल जो इटली को वर्साय की सन्धि द्वारा प्राप्त हुआ था, खतरे में पड़ जाता। इटली नहीं चाहता था कि आस्ट्रिया पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित हो। उसने आस्ट्रिया में नाजी विरोधियों को सहायता देनी प्रारम्भ की। 1934 में आस्ट्रियन प्रधानमन्त्री डा० डाल्फस की नाजियां ने हत्या कर दी तो इटली ने अपनी सेनायें आस्ट्रिया की सीमा पर लगा दी। पर इससे मुसोलिनी का उद्देश्य पूरा न हुआ। यूगोस्लाविया क दावों का समर्थन करने के बाद इटली और फ्रांस के सम्बन्ध बिगड़ गये थे। अफ्रीका और नौसेना सम्बन्धी विषयों को लेकर यह सम्बन्ध और अधिक बिगड़ गये थे। आस्ट्रिया पर जर्मन की विद दृष्टि से फ्रांस और इटली दोनों ही चिन्तित थे, अतः दोनों ने आपस में समझौता करना ही उचि

समझा। जनवरी 1935 में फ्रांस और इटली मे समझौता हो गया। इस सम्बन्ध में फ्रांस का विदेशमन्त्री लावेल रोम आया था। अच्छा अवसर देख एबीसीनिया पर अपने अधिकार की आकांक्षा सिआनो ने लावेल के सामने रखी। लावेल ने बताया कि एबीसीनिया में फ्रांस का कोई हित नही है अर्थात् इटली को इस विषय मे पूरी छूट है। जब हिटलर ने वर्साय की संधि को तोड़ना प्रारम्भ किया तो फ्रांस, ब्रिटेन एवं इटली में स्ट्रैसा की संधि हो गई। इस प्रकार हिटलर के विरुद्ध तीन शक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा कायम हो गया।

(9) एबीसीनिया पर इटली का आक्रमण (Attack on Abyssinia by Italy)—एबीसीनिया पर इटली का दांत बहुत समय से लगा था। 1896 में उसने एबीसीनिया पर आक्रमण किया था पर अड़ोवा के स्थान पर इटली की सेनायें बुरी तरह पराजित कर दी गई थी। उस अपमान को इटली भूला न था। मुसोलिनी बड़ा चालाक था। उसने एबीसीनिया को धोखे मे रखने के लिए 1928 मे एक संधि कर एबीसीनिया को आश्वासन दिया था कि वह उसकी अखण्डता एव स्वतन्त्रता का अतिक्रमण न करेगा। इतना होने पर भी 1935 में अचानक इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। इटली के पास अफ्रीका मे आस्ट्रिया, सोमालीलैण्ड तथा लीबिया पहले ही से थे. एबीसीनिया पर यदि उसका अधिकार हो जाता तो अफ्रीका में इटली के पास एक विशाल साम्राज्य हो जाता। इससे उसका प्रभाव एवं प्रतिष्ठा विश्व मे काफी बढ़ जाती। मुसोलिनी हिटलर से आगे बढ़ना चाहता था। उस समय तक हिटलर की ख्याति बहुत बढ़ चुकी थी। समस्त यूरोप उससे भय खाता था। मुसोलिनी उससे पीछे नही रहना चाहता था। इसके अतिरिक्त इटली मे आर्थिक मन्दी के कारण 25 लाख मजदूर बेकार थे, वह उन्हें काम दिलाना चाहता था। एबीसीनिया मे तरह-तरह के खनिज पदार्थ थे। इटली की बढ़ती जनसंख्या के बसाने की भी समस्या थी। इन सब समस्याओ का समाधान एबीसीनिया के कब्जे से हो सकता था।

(10) एबीसीनिया से युद्ध और उस पर अधिकार (Annexation of Abyssinia)—मार्शल डी बोनो की जीवनी से पता चलता है कि मुसोलिनी एबीसीनिया पर 1932 मे ही आक्रमण करने वाला था। वह मंचूरिया के मामले से समझ गया था कि राष्ट्रसंघ एक निर्बल संस्था है। साम्राज्य विस्तार को रोकने की सामर्थ्य उसमें नही है। हिटलर के वर्साय की संधि विरोधी कार्यों से भी राष्ट्र संघ की उसे दुर्बलता का अच्छा ज्ञान हो गया था। अतः वह समझ गया कि एबीसीनिया पर आक्रमण करने का अब अच्छा मौका है, पर एक बार हार कर वह काफी बदनामी उठा चुका था। अतः उसने अपनी सैनिक शक्ति को काफी बढ़ाना आवश्यक समझा।

1935 मे उसने एबीसीनिया से युद्ध छेड़ दिया। एबीसीनिया ने राष्ट्र संघ से शिकायत की पर फ्रांस और इगलैण्ड के विदेश मन्त्रियो की गुप्त संधि के कारण राष्ट्र संघ इटली के विरुद्ध कोई प्रभावी कदम न उठा सका। इटली ने एबीसीनिया को जीत लिया। यद्यपि राष्ट्र संघ ने दिखावे के लिए इटली पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये थे पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। इतना ही नही इटली की विजय के बाद, 1936 में यह प्रतिबन्ध हटा लिये गये। जर्मनी चूंकि स्वयं वर्साय संधि को समाप्त करना चाहता था अतः उसने इटली की कार्यवाही का समर्थन कर दिया।

(11) इटली-जर्मन मित्रता (Friendship between Italy and Germany)—हिटलर और मुसोलिनी दोनों ही वर्साय सन्धि के विरुद्ध थे और उसका अन्त करना चाहते थे। दोनों ही साम्राज्यवादी थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत में महान गौरव प्राप्त करने के इच्छुक थे अतः दोनों का झुकाव एक दूसरे के प्रति होना स्वाभाविक था। आस्ट्रिया के मामले में हिटलर ने देखा था कि मुसोलिनी ने ही सक्रिय रूप से उसका विरोध किया था। यदि वह इटली का समर्थन करेगा तो आस्ट्रिया के मामले में मुसोलिनी भी चुप्पी साध लेगा। यही विचार कर हिटलर ने मुसोलिनी

एबीसीनिया के मामले में समर्थन दिया था। मुसोलिनी जानता था कि फ्रांस और ब्रिटेन उसकी नीति के विरोधी हैं उनकी मित्रता अस्थायी एवं सशंकित है। हिटलर चाहता तो इटली का खुलकर विरोध कर सकता था पर वह तटस्थ रहा। इससे भी मुसोलीनी प्रसन्न हुआ। अक्टूबर 1936 में दोनों तानाशाहों में मित्रता हो गई। यह मित्रता अथवा रोम-बर्लिन-धुरी 1944 तक चली।

(12) इटली और रूस में शत्रुता (Enmity between Rusia and Italy)—यद्यपि फरवरी 1924 में इटली और रूस में समझौता हो गया था। पर यह समझौता अस्थायी था क्योंकि इटली रूस के साम्यवाद से चिढ़ता था। रूस भी फांसीवादी का शत्रु था। एबीसीनिया के मामले में मुसोलिनी इंगलैण्ड, फ्रांस एवं रूस से नाराज हो गया। इसका एक कारण और भी था कि रूस यह नहीं चाहता था कि तुर्की बास्फोरस तथा डार्डेनेलीज के जल सयोजकों का पुनः सैन्यीकरण (Remilitarization) करे, टर्की ने जब इन क्षेत्रों का सैन्यीकरण कर दिया तो रूस ने महाशक्तियों का एक सम्मेलन बुलाया। जून-जुलाई 1936 में मान्त्रो (Montreux) सम्मेलन हुआ पर इटली उसमें सम्मिलित नहीं हुआ। इंगलैण्ड, फ्रांस, तुर्की और रूस ने इटली के बिना ही समझौता कर लिया। इटली ने चिढ़कर अक्टूबर 1936 में जर्मनी से संधि की थी। जब जर्मनी ने जापान से नवम्बर 1936 में रूस के विरुद्ध संधि कर ली तो 1937 में इटली भी उसमें सम्मिलित हो गया।

(13) स्पेन का गृह युद्ध और इटली (Spanish Civil War and Italy)—इटली और जर्मनी में मित्रता हो गई। इसको और गहरा करने के लिए उन्हें एक और अवसर मिल गया। यह अवसर था स्पेन का गृह युद्ध।

(i) गृहयुद्ध की पृष्ठभूमि (Backgcound of Civil War in Spain)—स्पेन का गृहयुद्ध यद्यपि स्पेन का घरेलू मामला था पर वह द्वितीय विश्व युद्ध का एक रिहर्सल मात्र सिद्ध हुआ। इस युद्ध से पहले ही दो गुट यूरोप में बन चुके थे। इन गुटों ने विश्व युद्ध का पूर्वाभ्यास स्पेन में किया। आगे चलकर यही गुट द्वितीय विश्व युद्ध में आमने-सामाने आये।

प्रथम विश्व युद्ध में स्पेन तटस्थ रहा था। पर युद्ध के पश्चात स्पेन आर्थिक संकट में ग्रस्त हो गया। बेकारी की समस्या भयंकर हो उठी। मजदूरों ने हड़तालें प्रारम्भ कर दी तथा दंगे-फिसाद बढ़ गये। स्थिति इतनी गम्भीर हो गई कि हड़तालियों ने 1921 में स्पेन के प्रधान मन्त्री की हत्या कर दी। कहने को तो स्पेन में कानून का शासन था, पर वहाँ का राजा निरंकुश था। राजा अलफान्सो के विरुद्ध जनता में घोर असन्तोष फैला हुआ था। 1921 में मोरक्को में, जिसके एक भाग पर स्पेन का अधिकार था, भयंकर विद्रोह फैल गया। विद्रोहियों ने स्पेन की सेना को बुरी तरह परास्त कर दिया। स्पेन में इस पराजय का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। जनता ने इसका पूरा दोष राजा अलफांसो के कुशासन पर डाला। जनता में विद्रोह की भावना जोरों से फैलने लगी। विद्रोह जब प्रारम्भ हुआ तो 1923 में प्रीमो दी रिवेरा नामक सेनापति ने इस विद्रोह को बुरी तरह कुचल दिया। रिवेरा का प्रभाव बढ़ा तो उसने संसद तथा मन्त्रिमण्डल को भंग कर दिया एवं शासन विधान को रद्द कर मनमाना सैनिक शासन प्रारम्भ कर दिया। मुसोलिनी के कदमों पर चलकर वह स्पेन का तानाशाह बनना चाहता था। उसका स्वेच्छाचारी शासन 1923 से 1930 तक चला उसने प्रजातन्त्रवादियों को कैद कर दिया। उसकी कठोर व्यवस्था होने पर भी स्पेन में विद्रोही भावना कुचली न जा सकी। समय-समय पर दंगे, विद्रोह तथा हड़तालें होती रही। जनता का असन्तोष देखकर साम्यवाद का प्रभाव बढ़ने लगा। जनता में राजतन्त्र विरोधी विचार फैलने लगे। यह देखकर राजा अलफांसो घबड़ा गया। प्रीमो दी रिवेरा के शासन से उसका सिंहासन डोल उठा। उसने रिवेरा को हटाने के लिए षड्यन्त्र रचना प्रारम्भ कर दिया। रिवेरा ने राजा को विरोधी पाकर 1930 में त्याग पत्र दे दिया।

रिवेरा के हटते ही राजा अलफान्सो ने वैधानिक शासन स्थापित करने की घोषणा कर दी। जनता ने विधान परिषद के चुनाव की मांग की। अलफासो तो जनता को बहकाना चाहता था अतः विधान परिषद की मांग को वह टालता रहा। इससे साम्यवादियों ने गणतन्त्र की स्थापना के लिए जनता को भड़काना प्रारम्भ किया। जमोरा नामक एक व्यक्ति ने गणतन्त्रवादियों और साम्यवादियों से मिलकर दिसम्बर 1930 में राजतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अलफांसो इस विद्रोह को न कुचल सका और फ्रांस भाग गया। इसके बाद स्पेन पर गणतन्त्र की स्थापना हो गई। नई सरकार ने अराजकता को दूर करने के लिये तुरन्त पग उठाया, उसे पर्याप्त सफलता भी मिली पर जमोरा के शासन से कुछ स्पेनिश जनता नराज थी। राजतन्त्रवादी जिनमे पादरी, सामन्त तथा कुछ प्रतिक्रियावादी थे जो स्पेन में पुनः राजतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे और दूसरी ओर साम्यवादी एवं उग्र समाजवादी थे जो वहां साम्यवादी व्यवस्था चाहते थे। दोनों ही राजसत्ता को हथियाना चाहते थे। 1931 एवं 1932 में स्पेन की स्थिति बडी डावाडोल रही।

यहां सन्दर्भ के लिए ही आन्तरिक व्यवस्था का संक्षिप्त हाल लिखा गया है। 1933 में स्पेनिश-संसद का चुनाव हुआ। वामपन्थी इस चुनाव में सफल न हो सके। रिपब्लिक दल के नेता नेहरू ने एक मन्त्रिमण्डल बनाया। इस सरकार ने प्रगतिशील योजनाओ को स्थगित कर दिया। उसकी प्रतिक्रियावादी नीति से स्पेन में पुनः दंगे प्रारम्भ हो गये। वामपंथियो ने एक जुट होकर नई सरकार का विरोध करना प्रारम्भ किया उनका एक 'लोकमोर्चा' बन गया जिसमे सभी पारियां एक हो गई। चुनाव फिर हुए और 'लोकमोर्चा सफल हुआ। उसने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया।

"लोकमोर्चा" भी विद्रोह, अराजकता और अव्यवस्था पर काबू न पा सका। पुनः विद्रोह भड़का 201 गिरजाघर जला दिये गये। 334 समाचार पत्रों के दफ्तर फूंक दिये गये, क्लब एवं निजी मकानों पर हमले किये गये, 331 हड़तालें हुई, डकैतियां पड़ने लगी, असख्य व्यक्ति मार डाले गये तथा जख्मी कर दिये गये। 12 जुलाई 1936 को सेनर सोटेओ की हत्या सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी, इससे गृहयुद्ध छिड़ गया।

(ii) गृह-युद्ध (Civil War)—इस प्रकार अचानक गृह युद्ध प्रारम्भ हुआ। वास्तव में स्पेनिश सरकार का इस गृह युद्ध की आशंका पहले ही से थी। सरकार ने पहले ही इसके विरुद्ध पग उठाया था। सरकार ने अप्रैल 1936 में एक अध्यादेश निकालकर सैनिक अफसरों को अनिवार्य अवकाश ग्रहण कराया था क्योंकि वे राजनीति में भाग ले रहे थे। कुछ अफसरों की बदली भी की गई थी। जनरल फ्रांको भी इन अफसरो में था। यह कदम सरकार के लिए भयानक सिद्ध हुए। सेना में भी हलचल मच गई और उसने सरकार को उलट देने का निश्चय किया। सेना को पूर्ण विश्वास था कि यदि सैनिक विद्रोह हुआ तो देश के पूंजीपति, प्रतिक्रियावादी तथा सामन्तों की एवं विदेश से नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली की सैनिक सहायता मिल जायगी।

17 जुलाई 1936 को मोरक्को स्थित स्पेनिश सेना की टुकड़ियों में विद्रोह फूट पड़ा। इस विद्रोह का नेता जनरल फ्रांको था। उसने सरकारों की विरोही सेना लेकर स्पेन की ओर प्रस्थान कर दिया। स्पेन की सेना ने भी विद्रोह कर दिया और फ्रांको का स्वागत किया। विद्रोहियों के पक्ष में सेना के 90% अफसर थे तथा दो-तिहाई सिपाही थे। इसके अतिरिक्त "स्वयं-सेवकों" के रूप में विद्रोहियो को विदेशी सहायता भी मिल गई थी।

इस समय स्पेन दो दलों में विभक्त हो गया था। विद्रोहियो को राष्ट्रवादी दल कहा गया और सरकार के पक्षपाती, वामपन्थी थे। विद्रोहियों का मुकाबला करने के लिये, साम्यवादी एवं अन्य वामपन्थी दल सरकार के साथ हो गये। ट्रेड यूनियनो की सहायता से लोक-सेना का निर्माण हुआ। यह "लोक सेना" फ्रांको की सेना का मुकाबला करने में अस
फ्रांको ने दक्षिणी स्पेन पर आसानी से अधिकार कर लिया और वह पश्चिमी स्पेन की ओ

फ्रांको लगातार बढ़ता हुआ स्पेन की राजधानी मैड्रिड के निकट पहुँच गया। स्पेनिश सरकार हटकर वेलेन्शिया की ओर चली गई। राजधानी को असुरक्षित छोड़ दिया गया। ऐसा लगता था कि फ्रांको का मैड्रिड पर कब्जा हो जायगा। इटली के मुसोलिनी और जर्मनी के हिटलर ने तुरन्त फ्रांको की सरकार को "वास्तविक" और कानूनी' सरकार की मान्यता दे दी। अब इटली और जर्मनी के सैनिक स्वय सेवक के रूप में बाकायदा फ्रांको की सहायता के लिए जाने लगे। इसी प्रकार यूरोप के अन्य देशों, विशेष कर रूस ने अपने सिपाही, स्वयं सेवकों के रूप में गणतन्त्रीय सरकार की सहायता को भेजे। इस प्रकार कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि स्पेन का गृह युद्ध योरोप भर का गृह युद्ध लगने लगा। रूस की सहायता पाकर गणतन्त्रीय सरकार ने फ्रांको के कदम आगे बढ़ने से रोक दिये। मैड्रिड बच गया।

(iii) विदेशी प्रतिक्रिया (Foreign Reaction)—स्पेन का गृह युद्ध विश्व में चर्चा का विषय बन गया। समाचार पत्रों में यह समाचार प्रथम पृष्ठ पर दिया रहता था। स्पेन-गृह-युद्ध, विश्व व्यापी राजनीति का केन्द्र बिन्दु बन गया। इटली उस समय इस युद्ध में बड़ी दिलचस्पी ले रहा था। लोगों की आशा थी कि स्पेन में यदि फ्रांको की सरकार बन जायगी तो इटली की प्रभाव सीमा बढ़ जायगी एबीसीनियम के युद्ध से उसका प्रभाव पूर्वी भूमध्य सागर पर छा गया था। स्पेन की फ्रांको विजय से इटली पश्चिमी भूमध्य सागर पर भी अधिकार कर लेगा। दूसरी शंका यह थी कि, फासीवादी सरकार यदि स्पेन में बन गयी तो फासीवादियों की शक्ति बहुत बढ़ जायगी। जर्मनी और इटली भी यही मानते थे कि अब तक दो फासीवादी मित्र थे अब तीन हो जाने वाले हैं। इस प्रकार उन्होंने यह भी अनुमान लगाया कि एक दिन समस्त संसार में फासीवाद फैल जायगा। रूस भी चाहता था कि यदि स्पेन में गणतन्त्र राज्य की विजय हुई तो स्पेन भी साम्यवादी बन जायगा। और साम्यवादी शक्ति बढ़ जायगी। इस प्रकार स्पेन का गृह युद्ध दो विचार-धाराओं का गृह-युद्ध बन गया था। रूस ने स्पेन की सहायता अवश्य की पर इतनी नहीं जितनी कि जर्मनी और इटली ने की। रूस उस समय अधिक शक्तिशाली देश न था और न ही उसकी सीमा स्पेन से मिलती थी।

ब्रिटेन और फ्रांस का दृष्टिकोण वैसा ही रहा जैसा कि एबीसीनिया युद्ध के समय था। तुष्टिकरण नीति से ये दोनों देश इटली तथा जर्मनी के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करना चाहते थे। वे तो चाहते थे कि फासीवाद-साम्यवाद का संघर्ष बढ़ जावे और दोनों शक्ति कट-मर जायें तो तो विश्व पर उनका प्रभुत्व अमर हो जायगा चैम्बरलेन इंगलैंड का प्रधान मन्त्री का झुकाव तुष्टि-करण नीति पर था पर ईडन चैम्बरलेन की दब्बू नीति का विरोधी था। ईडन के समान कुछ लोग स्पेन की गणतन्त्र-सरकार के पक्ष में थे और उसे सहायता देना चाहते थे पर अधिकांश जनता उदासीन ही थी।

फ्रांस में उस समय लोक मोर्चा सरकार थी अतः स्पेन की लोकमोर्चा सरकार से उसे सहानुभूति होना स्वाभाविक था। अधिकांश लोगों का यही कहना था कि फ्रांस गणतन्त्रीय सरकार का समर्थन करेगा पर दक्षिण पन्थी फासिस्टों की अपेक्षा साम्यवादियों को अधिक खतरनाक समझते थी। प्रधान मन्त्री ब्लूम गणतन्त्र के पक्ष में था पर इंगलैण्ड को वह असन्तुष्ट करना नहीं चाहता था। अतः ब्रिटेन के समान फ्रांस ने गणतन्त्रीय सरकार को मैड्रिडो के "रहम-करम" पर छोड़ दिया।

(iv) अहस्तक्षेप समिति (Non-intervention Committee)—स्पेन में जब गृह-युद्ध प्रारम्भ हुआ तो कुछ लोगों को यह आशंका थी कि कहीं यह यूरोपीय युद्ध न बन जाये। इन लोगों में फ्रांस का प्रधान मन्त्री ब्लूम भी था। 1 अगस्त 1936 को ही ब्लूम ने इंगलैंड और इटली के सामने एक प्रस्ताव रखा था कि ये तीनों देश स्पेनिश-गृह युद्ध में किसी पक्ष को शस्त्रास्त्र न दें। ब्रिटेन ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया। उसने अहस्तक्षेप की नीति अपनाने के लिए अन्य देशों को

भी राजी करने का सुझाव रखा। इस सुझाव को रूस, पोलैंड, बेल्जियम आदि ने स्वीकार कर लिया पर इटली, जर्मनी एवं पुर्तगाल ने इसे अस्वीकार कर दिया। बातचीत चलती रही, अन्त में अगस्त 1936 को इटली एव जर्मनी भी उक्त प्रस्ताव पर राजी हो गये। एक अहस्तक्षेप समझौता (Non-intervention agreement) हुआ। समझौते को तुरन्त क्रियान्वित कराने को "लन्दन अहस्तक्षेप समिति की स्थापना हुई 9 सितम्बर 1936 से उसने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

इटली एवं जर्मनी समझते थे कि फ्राको को शीघ्र सफलता मिल जायगी उसका मेड्रिड पर अधिकार हो जायगा पर उनकी आशा पूर्ण न हुई और गणतन्त्रीय सरकार अधिक दृढ़ता से सामना करने लगी। इस पर इटली और जर्मनी ने फ्राको सरकार को मान्यता दे दी तथा सहायता भी देना प्रारम्भ कर दिया। इन दोनो ने शोर मचाना प्रारम्भ कर दिया कि रूस गणतन्त्रीय सरकार को बराबर सहायता दे रहा है। रूस ने भी ऐसा ही आरोप इटली, जर्मनी एव पुर्तगाल पर लगाया कि ये देश गुप्त रूप से फ्राको की सहायता कर रहा है। वास्तव मे दोनो आरोप सही थे। दोनो पक्षों की ओर से सैनिक सामग्री और स्वय सेवक आते ही रहे। अहस्तक्षेप-समिति" ने एक-नौसैनिक गश्त और सीमान्त निगरानी का समझौता किया और 19 अप्रैल स गश्त जारी हुई। यह कार्य चलता रहा पर इसी समय फ्राको की नौसैनिक नाकेबन्दी तोड़ने के लिए स्पेनिश सरकार ने बमबारी शुरू कर दी। इसी क्रम मे 29 मई को एक जर्मन लड़ाकू जहाज, 'ड्यूटलैंड" बमबारी के कारण नष्ट हो गया। बदला लेने के लिए जर्मन नौसैना ने स्पन के 'एलमेरिया' नामक नगर पर बमबारी की। इस घटना से निगरानी का काम समाप्त हो गया और "अहस्तक्षेप समिति" का कार्य भी ठप्प हो गया।

इसी समय यह सूचना आयी कि किसी अज्ञात देश की पनडुब्बियो ने भूमध्य सागर मे घूम-घूम कर तटस्थ एव स्पेनिश जहाजों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये है। सभी जानते थे कि फ्राको के पास ऐसी पनडुब्बियाँ नही है। यह कार्य इटली का ही हो सकता है। स्पेन और रूस ने इटली को ही दोषी ठहराया। इस स्थिति पर विचार करने के लिए 10 सितम्बर को नियोन में भूमध्य सागरीय शक्तियों का एक सम्मेलन बुलाया पर इटली और जर्मनी ने इस सम्मेलन में भाग नही लिया। सम्मेलन मे इस तथ्य पर विचार किया और उसकी रोकथाम की। इसके बाद ऐसी धारणा बन्द हो गयी।

फ्राको की सैनिक सहायता चलती रही। स्पेन मे 40,000 इटेलियन सैनिकों की उपस्थिति सरकारी तौर पर स्वीकार कर ली गयी। 29 अक्टूबर को मुसोलिनी ने स्पेन मे मारे गये सैनिकों के सगे सम्बन्धियो को स्वय अपने हाथो से पुरस्कार दिये तब इटली के हस्तक्षेप का पूरा प्रमाण मिल गया। स्पेन सरकार ने मित्र देशो से सहायता मागी तथा शस्त्रों के खरीदने का प्रतिबन्ध हटाया जाय पर इस ओर ध्यान न दिया गया और परिणाम यह निकला कि फ्राको का अधिकार मेड्रिड पर 28 मार्च 1939 को हो गया। 3 वर्ष के ग्रह युद्ध का इस प्रकार अन्त हो गया। ब्रिटेन और फ्रास ने मैड्रिड के पतन के एक दिन पूर्व ही फ्राको की सरकार को मान्यता दे दी।

स्पेन के गृह युद्ध का प्रभाव (Effect of Spanish Civil War)—स्पेन के गृह युद्ध ने जर्मनी और इटली की मित्रता को प्रगाढ़ बना दिया। इटली का एकमात्र साथी जर्मनी रह गया। गृह युद्ध प्रारम्भ होते ही 'रोम-बर्लिन-धुरी" की स्थापना हो गयी। इसके बाद 6 नवम्बर 1937 को इटली, जापान एव जर्मनी की कामिनर्टन-विरोधी सन्धि हो गयी। 12 दिसम्बर 1937 को इटली सरकार ने राष्ट्र संघ की सदस्यता त्याग दी। फ्राको की विजय फासिज्म की विजय मानी गयी। 22 मई 1939 को एक और अनाक्रमक तथा पारस्परिक सुरक्षा सन्धि करके इटली एव जर्मनी में और भी गहरी मित्रता हो गयी। इस तरह से स्पेन का गृह युद्ध बड़ा महंगा पड़ा। स्पेन के ' थे

भी अधिक व्यक्ति इस गृह-युद्ध में मारे गये। जब दूसरा विश्व युद्ध शुरू हुआ तो फ्रांको ने अपनी तटस्थता घोषित कर दी।

इटली ने अल्बानिया पर पूर्ण अधिकार कर लिया। इटली की शक्ति में वृद्धि हुई पर स्पेन पर हिटलर का प्रभाव अधिक रहा। इटली ने एबीसोनिया युद्ध से भी अधिक स्पेन में सैनिक खपाये पर उसे भूमि के नाम पर एक वर्ग इंच भी जगह न मिली।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. इटली में मुसोलिनी के उत्कर्ष के क्या कारण थे? उसने सत्ता पर कैसे अधिकार किया।
   What were the causes of Mussolini's rise? How he captured the power in Italy?
2. फासिज्म से आप क्या समझते हैं? इटली में इस विचारधारा के फैलने में किन तत्वों ने सहायता की?
   What do you understand by Fascism? What factors helped in spreading this ideology in Italy?
3. दो विश्व युद्धों के बीच इटली की विदेश नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
   Analyse the foreign policy of Italy between the two World Wars.
4. इटली तथा इथोपिया के मध्य होने वाले संघर्ष के क्या कारण थे? इस युद्ध में इटली को विजय कैसे प्राप्त हुई।
   What were causes of conflict between Italy Ethiopia? How Italy got victory in Ethiopian war.
5. "स्पेन का गृह युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति राजनीति का एक परीक्षात्मक गुब्बारा था।" स्पष्ट कीजिए।
   Spanish Civil War was a trial baloon of international power politics." Explain.
6. दो युद्धों के बीच इटली के जर्मनी से कैसे सम्बन्ध रहे? स्पष्ट कीजिए।
   What kind of relations were established beween Italy and Germany between to great wars. Explain.

24

दो महायुद्धों के मध्य फ्रांस की विदेश नीति
(Foreign Policy of France between Two World Wars)

पहले सुरक्षा फिर निःशस्त्रीकरण यही फ्रांस का प्रमुख उद्देश्य था और सुरक्षा के दृष्टिकोण से वह जर्मनी को किसी प्रकार पनपने देना नहीं चाहता था।" —शूमां

"The most important persistent single factor in European affairs in the years following 1919 was the French demand for security." — E. H. Carr

फ्रांस की विदेश नीति 1919 से 1933 तक
(Foreign Policy of France from 1919 to 1933)

फ्रांस एक शक्तिशाली देशों मे गिना जाता था। आधुनिक युग मे नेपोलियन प्रथम का समय उसकी उन्नति तथा महानता का युग था। नेपोलियन प्रथम को खोकर फ्रास ने सदैव के लिए अपनी प्रतिष्ठा अर्जित की जाती थी पर उसका आधार खोखला था। एक ही दिन (स्वीडन के युद्ध) में उसका वह दिखावटी शान-शौकत का महल ढल गया। 1971 में जो अपमान उसे सहना पड़ा उसका उसने 1918 मे बदला ले लिया पर अपनी शक्ति से नही ब्रिटेन और अमेरिका की सहायता से इस बदले की कल्पना ने उसे बार-बार अपमान सहने के लिए विवश किया। आज भी उसकी स्थिति अच्छी नही है, वह मित्रो के बल पर अस्तित्व कायम किये हुए है। जर्मनी उसका पुराना शत्रु है। वह दो बार बुरी तरह कुचला गया है पर बार-बार उसने उठकर फ्रास के लिए खतरा ही पैदा किया है फ्रास की विदश नीति का मुख्य ध्येय "आत्म सुरक्षा" रहा है।

1919 के बाद सुरक्षा की खोज (Search of Security After 1919)—फ्रास को विस्मार्क की कूटनीतिक एव सैनिक शक्ति के सामने 1971 मे घुटने टेकने पड़े थे। उसके बाद एक प्रकार से फांस सदैव के लिए दुर्बल और अशक्त देश बन गया। जर्मनी का उत्थान बड़ी तेजी से हुआ और वह यूरोप की महान शक्ति बन गया। जर्मनी के विकास से फ्राम अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित रहता था। उसने रूस को तथा ब्रिटेन को अपना गहरा मित्र बनाकर प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व अपनी सुरक्षा के लिए सयुक्त मोर्चा बना लिया। दूसरे की शक्ति पर भरोसा रखने वाले देश की जो अवस्था होती है, उसका नतीजा फांस को भी भुगतान पड़ा। 1914-18 के महायुद्ध मे उसे जर्मनी द्वारा अपमानित पराजय मिली। इगलैण्ड और अमेरिका की सहायता से मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को 1918 में हरा दिया। पुनः फ्रास धूल चाट कर खड़ा हो गया। उसने जो रुख पेरिस शान्ति सम्मेलन मे अपनाया, वह सकेत करता था कि फ्रास को पुनः बुरे दिन देखने पड़ेंगे।

यद्यपि वर्साय सधि के द्वारा जर्मनी का साम्राज्य छीन लिया गया था, उसके देश टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये थे, उसका निःशस्त्रीकरण कर दिया गया था, उस पर भारी धन

क्षतिपूर्ति के नाम से थोपी गई थी, उसके कल कारखाने, खनिज पदार्थों तथा आर्थिक साधनों पर मित्र राष्ट्रों ने कब्जा कर लिया था, वह इतना बुरी तरह कुचल दिया गया था कि 100 वर्षों तक उसके उठने की आशा न रही थी, फिर भी जर्मनी का भूत फ्रांस को भयभीत करता रहता था। दो विश्व युद्ध के मध्य उसे "एक ही धुन" सवार थी कि उसे सुरक्षा की गारण्टी मिले किसी ने ठीक ही कहा है कि "फ्रांस की विदेश नीति असंगति तथा पाखण्ड" (Inconsistency and hypocrisy) पर आधारित थी।

1919 से जो काल प्रारम्भ हुआ, उस में विश्व राजनीति का केन्द्र बिन्दु "फ्रांस-जर्मनी" सम्बन्ध था। फ्रांस की यह जिद्द थी कि जर्मनी को पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय, पर उसके साथी ब्रिटेन और अमेरिका इसके लिए तैयार न हुए थे, फिर भी फ्रांस को सन्तुष्ट करने के लिए, राइन क्षेत्र को 15 वर्षों के लिए निरस्त्र कर दिया गया। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन एवं अमेरिका ने जर्मन आक्रमण के समय फ्रांस की रक्षा करने का वचन दिया। परन्तु अमेरिका की सीनेट ने वर्साय संधि को मानने से इन्कार कर तथा राष्ट्र संघ की सदस्यता से अमेरिका को पृथक कर लिया। इससे फ्रांस घबड़ा गया। यह घबड़ाहट फ्रांस के लिये स्वाभाविक थी। लैंगसम ने इस विषय में ठीक ही कहा था कि 'मनुष्य की जीवित याद में दो बार जर्मन सैनिकों के बूटों की आवाज फ्रांस की भूमि पर सुनाई पड़ती थी और तृतीय फ्रांसीसी गणराज्य के नागरिकों को भय था कि कहीं दूसरा आक्रमण फिर न हो जाये।" फ्रांस की चिन्ता के कारण निम्नलिखित थे :

(1) **अमेरिका तथा ब्रिटेन द्वारा जर्मनी का पक्ष** (American and British favour to Germany)—फ्रांस प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी द्वारा बुरी तरह कुचला गया था। फ्रांस का प्रधानमन्त्री क्लिमेंशो ने फ्रांसीसी पराजय का चित्र अपने जीवन में दो बार देखा था। वह उन्हें भूल नहीं सकता था। उसने जिद्द की कि जर्मनी को पूर्ण तरह कुचल दिया जाये ताकि वह पुनः शक्ति प्राप्त न कर सके पर पेरिस सम्मेलन में ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका ने फ्रांस का इस बात को नहीं माना। उन्होंने पराजित जर्मनी के साथ उदारता दिखलाई और उसके अस्तित्व को बनाये रखने का प्रयत्न किया। जर्मनी का अस्तित्व ही फ्रांस को भयदायी था अतः वह अपनी सुरक्षा के लिए व्याकुल था।

(2) **अमेरिकन सीनेट द्वारा वर्साय संन्धि को अस्वीकृत करना** (Rejection of the Treaty of Versailles by the American Senate)—यद्यपि जर्मनी से वर्साय की सन्धि करते समय राष्ट्रपति विल्सन ने फ्रांस की बहुत सी बातें स्वीकार करली थी। वर्साय की सन्धि काफी कठोर थी पर फ्रांस उसे उदार ही मानता था। अमेरिका ने उससे वचन दिया था कि जर्मनी यदि पुनः आक्रमण करेगा तो अमेरिका फ्रांस की रक्षा करेगा। इस आश्वासन पर ही वह वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने को तैयार हुआ था। परन्तु यह सुनकर उसे घबड़ाहट हुई कि अमेरिका की सीनेट ने न वर्साय सन्धि को माना और न ही राष्ट्र संघ की सदस्यता को ग्रहण किया। इतना ही नहीं राष्ट्रपति विल्सन अगले राष्ट्रपति चुनाव में हार गया। अमेरिका के विश्व राजनीति से हटते ही फ्रांस खोखला गया। वह जानता था कि अकेला ब्रिटेन उसकी रक्षा करने में असमर्थ है। अतः फ्रांस को अपनी सुरक्षा की चिन्ता होना स्वाभाविक थी।

(3) **शक्तिहीन राष्ट्र संघ** (Powerless League of Nations)—राष्ट्र संघ कोई सम्प्रभुतासम्पन्न संगठन न था। वह एक परामर्शदात्री संस्था थी। फ्रांस ने सुझाव दिया कि राष्ट्र संघ की एक पृथक सेना होनी चाहिए। इस प्रस्ताव का अनुमोदन न अमेरिका ने किया था और न ब्रिटेन ने। ब्रिटेन तथा अमेरिका यह सहन नहीं कर सकते थे कि कोई भी संगठन उनकी सम्प्रभुता के ऊपर हो। अपने प्रस्ताव को रद्द होते देख उसे विश्वास हो गया कि राष्ट्र संघ आवश्यकता पड़ने

पर उसकी रक्षा हित, सामूहिक सैनिक कार्यवाही न कर सकेगा। अतः उसे अपनी सुरक्षा की चिन्ता बहुत थी।

(4) ब्रिटेन की जर्मनी के प्रति सहानुभूति—जर्मनी की आर्थिक दशा खराब होने से ब्रिटेन को महान आर्थिक क्षति उठानी पड़ी थी। जर्मनी उसका बहुत बड़ा ग्राहक था। उसका राष्ट्रीय हित इसी में था कि वह जर्मनी के उत्थान में सहयोग दे। जर्मनी के प्रति इस सहानुभूति से फ्रांस को और खतरा बढ़ गया था।

(5) लोकार्नो समझौता (Locorno Pact)—जर्मनी के प्रति इंगलैण्ड की सहानुभूति देख, फ्रांस को अपनी नीति में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। उसने जर्मनी से एक समझौता कर लिया। इसे लोकार्नो समझौता कहा जाता है। इस सन्धि के अनुसार जर्मनी, फ्रांस एवं बेल्जियम की सीमाओं की गारण्टी दी गयी तथा राइन प्रदेश को सैनिक रहित घोषित किया गया। तीनों देशों ने यह आश्वासन दिया कि वे तीन अवस्थाओं में ही परस्पर युद्ध करेंगे—(i) न्याययुक्त आत्म रक्षा, (ii) सेना रहित व्यवस्था का उल्लंघन तथा (iii) राष्ट्र द्वारा दिये गये आदेशों का पालन। यह भी आश्वासन दिया गया कि वह विवादों को शान्ति पूर्ण हल करेंगे। सन्धि की शर्तों के उल्लंघन के सन्देह में राष्ट्र संघ की परिषद निर्णय करेगी। सन्धि जर्मनी को राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त होने पर लागू होगी। कुछ अन्य शर्तें भी इस सम्बन्ध में थी जो अन्य देशों से सम्बन्धित थी। गैथार्न हार्डी के मतानुसार 'यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर इसका तत्कालिक प्रभाव यथार्थ में उचित रहा।" ब्रिटेन के चैम्बरलेन ने कहा कि "लोकार्नो युद्ध और शान्ति के वर्षों के बीच की वास्तविक विभाजक रेखा है।" फ्रांस के एस० बर्लामेण्ट ने कहा कि "डावेस के द्वारा प्रारम्भ कार्य की पूर्ति इस समझौते ने कर दी। यह इसने जर्मन को महाशक्तियों के खेत में लाकर किया।" फ्रांसीसी विदेशमन्त्री ब्रियां ने कहा कि "यह जर्मनी के लिए शान्ति है, वह फ्रांस के लिए शान्ति है।"

लोकार्नो पैक्ट से फ्रांस को कुछ शान्ति मिली थी, पर पूर्ण शान्ति नहीं। जर्मनी ने 5वीं सीमान्त की गारण्टी नहीं दी। वैसे भी फ्रांस को जर्मनी पर सन्देह था। स्टेसमन ने स्वयं कहा कि हमने अपने हितों को नहीं त्यागा है, केवल युद्ध न करने का आश्वासन दिया है। फ्रांस को इस सन्धि से सन्तोष न हुआ। वह सुरक्षा के लिए मित्रों की खोज में लग गया।

फ्रांस द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए व्यवस्था (Arrangement for French Security)—उपर्युक्त कारणों से फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए निम्नलिखित व्यवस्थायें की :—

(1) पारस्परिक सहायता सन्धि का प्रस्ताव—फ्रांस ने 1923 में राष्ट्र संघ में एक प्रस्ताव रखा कि राष्ट्र संघ के अन्तर्गत पारस्परिक सहायता व्यवस्था हो जिससे आवश्यकता पड़ने पर सब देश आक्रान्त देश की सहायता करे। इस प्रस्ताव को ब्रिटेन के विरोध के कारण अस्वीकृत कर दिया गया।

(2) सुरक्षात्मक सन्धियाँ—फ्रांस प्रारम्भ से ही मित्रों की खोज में रहता था। उसने 1920 में बेल्जियम से 1921 में पोलैण्ड से तथा 1924 में चैकोस्लावाकिया से सुरक्षात्मक सन्धियाँ कीं। आगे ऐसी सन्धियाँ रूमानिया एवं यूगोस्लाविया से भी की।

(3) जेनेवा समझौता—'फ्रांस की दशा' ई० एच० कार के मतानुसार, "एक ऐसे व्यक्ति के समान थी, जो दो बार बुरी तरह से परास्त हुआ था, वह सोते-सोते शत्रु के भय से चीख मारता था—"बचाओ-बचाओ" प्रथम विश्व युद्ध के बाद वर्साय सन्धि के माध्यम से उसने जर्मनी को बड़े जोर से धक्का दिया था, पर उसे भय था कि यदि वह उठ खड़ा हुआ तो उसकी गर्दन मरोड़ देगा। फ्रांस इसलिए बड़ा व्याकुल था। जब राष्ट्र संघ में निःशस्त्रीकरण की बात चली तो फ्रांस ने उस पर विचार करना तब तक के लिए मना कर दिया जब तक उसको सुरक्षा की पूरी गारण्टी न मिले। उसकी योजना "पारस्परिक सुरक्षा" (Mutual Security) को संघ के अन्त

सदस्यों ने स्वीकार न की। 1924 में कुछ वातावरण बदला अतः जब जेनेवा सम्मेलन में इंगलैण्ड और फ्रांस के प्रधानमन्त्री मैक्डोनल्ड एवं हेरियो—पहुँचे तो दोनों में वार्ता हुई। इंगलैण्ड, फ्रांस को सुरक्षा की गारण्टी देने को तैयार हो गया। दोनों प्रधानमन्त्रियों ने राष्ट्र संघ की पाँचवीं एसेम्बली में एक संयुक्त प्रस्ताव रखा। जो 2 अक्टूबर 1924 में निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया। इस सन्धि का पूरा नाम "अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए समझौता" (Protocol for the Peaceful Settlement of International Disputes) था। इसी को जेनेवा समझौता (Geneva Protocol) भी कहा जाता है।

1924 में मैक्डोनल्ड सरकार का पतन हो गया। नई सरकार ने जेनेवा समझौते को अनुमोदन (Ratification) देने से इन्कार कर दिया। इंगलैण्ड जन धन का व्यय यूरोप के झगड़ों के लिए नहीं करना चाहता था। उसे प्रोटोकल अपनी सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध लगा। इंगलैण्ड के विरोध से जेनेवा प्रोटोकल रद्द हो गया। फ्रांस को पुनः चिन्ता सताने लगी।

(4) लोकार्नो पैक्ट—निःशस्त्रीकरण सम्मेलन अर्थात जेनेवा प्रोटोकल के असफल होने पर फ्रांस लोकार्नो पैक्ट करने को राजी हो गया। इससे फ्रांस को कुछ शान्ति मिली। जर्मनी अपनी पश्चिमी सीमा की गारण्टी तो देने के लिए तैयार था पर पूर्वी सीमा की गारण्टी देने के लिए तैयार न था। इस प्रकार फ्रांस इससे पूर्ण सन्तुष्ट न हुआ। उसने पुनः सुरक्षा के लिए प्रयत्न जारी किये।

(5) पेरिस समझौता—संयुक्त राज्य अमेरिका अब तक यूरोपीय राजनीति में भाग नहीं लेता था पर 1927 में फ्रांसीसी विदेशमन्त्री ब्रियां ने एक अपील अमेरिकन जनता से की। इस अपील में कहा गया कि "अमेरिका के युद्ध के प्रवेश के दसवें वार्षिकोत्सव के अवसर पर फ्रांस और अमेरिका में एक समझौता हो जाये कि "सिद्धान्तः युद्ध को एक साधन के रूप में स्वीकार न किया जाये।" पहले तो अमेरिका सरकार ने फ्रांस की अपील पर ध्यान न दिया पर अन्त में सरकार ने यह निर्णय लिया कि चूँकि सन्धि का प्रस्ताव केवल सिद्धान्त से सम्बन्धित है, व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यदि अमेरिका इसे मान भी तो ले यूरोप के झगड़ों में व्यवहारिक रूप से वह न फँस सकेगा। छः माह बाद अमेरिका के विदेश सचिव कैलाग ने सुझाव दिया कि यदि प्रस्तावित समझौता बहुपक्षीय हो तो वह समझौते में सम्मिलित हो सकता है। यह सुझाव पहले तो फ्रांस ने अस्वीकार कर दिया, पर अप्रैल 1927 में ब्रियां ने अमेरिकन-फ्रांसीसी पत्र-व्यवहार को जर्मनी, ब्रिटेन, इटली तथा जापान की सरकारों के समक्ष रखने की सहमति दे दी।

कैलाग ने प्रस्ताव के अनुसार अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान, बेल्जियम, पोलैण्ड तथा चैकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधियों का सम्मेलन पेरिस में बुलाया। 27 अगस्त 1927 को सम्मेलन में सभी प्रतिनिधियों ने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके अनुसार सन्धिकर्ता ने यह मान लिया कि 'वे राष्ट्रीय नीति के साधन रूप में युद्ध का प्रयोग नहीं करेंगे और अपने झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे।" यही समझौता पेरिस पैक्ट अथवा कैलाग-ब्रियां पैक्ट कहलाया। 17 जनवरी 1929 को अमेरिका सरकार ने समझौते का अनुमोदन कर दिया। रूस भी इस समझौते में सम्मिलित हो गया।

इस समझौते के बाद भी फ्रांस को सन्तोष न हुआ क्योंकि यह समझौता केवल सैद्धान्तिक था और राष्ट्रों पर केवल नैतिक उत्तरदायित्व डालता था।

(6) 1932 का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन—निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में जेनेवा का 1932 का सम्मेलन अधिक महत्वपूर्ण था पर फ्रांस निःशस्त्रीकरण के लिए तैयार न था। जर्मनी भी जब तक अन्य राज्य निःशस्त्रीकरण को तैयार न हों तबतक निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार न था। इन दोनों देशों के विरोधी रवैये के कारण, सम्मेलन असफल हो गया। फ्रांस का भय दूर न हुआ।

फ्रांस की विदेश नीति 1933 से 1939 तक
(Foreign Policy of France from 1933 to 1939)

फ्रांस की सुरक्षा की समस्या का विशेष कारण था, "फ्रांस का जर्मनी के प्रति कठोर रवैया।" इस कठोर नीति के कारण ही जर्मनी मे हिटलर का उदय हुआ। प्रो० शर्मा ने लिखा है कि "1933 से फ्रांसीसी राजनय मे एक नवीन तथा विनाशकारी युग का प्रारम्भ हुआ। फ्रांस द्वारा जर्मनी को अधिक सुविधायें देने से इन्कार करने के फलस्वरूप हिटलर का उदय हुआ।" वास्तव मे फ्रांस के अत्याचार, दुर्व्यवहार, हठीपन तथा जर्मनी के प्रति घोर घृणा ने जर्मनी मे नाजी क्रान्ति को जन्म दिया। हिटलर के सत्ता मे आने से फ्रांस को ही नहीं समस्त यूरोप को चिन्ता के बादलों ने घेर लिया। हिटलर के उदय से अन्तर्राष्ट्रीय संकट का युग प्रारम्भ हुआ।

फ्रांस को जर्मनी से सदैव खतरा बना रहता था उसने इस खतरे को जितना दूर करना चाहा वह उतना ही निकट आता रहा। जर्मनी में नाजियों के प्रभुत्व से फ्रांस बहुत आतंकित हो गया। फ्रांस के अन्दर उस समय भारी संकट चल रहा था। उधर इंगलैण्ड से भी फ्रांस के अच्छे सम्बन्ध न थे। उसने यूरोप के छोटे-छोटे राज्यो से सुरक्षा सधि अवश्य कर रखी थी पर ये सूखे पत्तों का ढेर नाजी क्रान्ति के एक झोंके से छिन्न-भिन्न हो सकता था। जर्मनी के आक्रमण को "लघु मैत्री संघ" रोक नही सकता था। फ्रास अब चाहता था कि कोई बड़ा राज्य उसका मित्र बने अन्यथा वह घोर संकट मे फँस सकता है। उसकी दृष्टि रूस और इटली की ओर गई। फ्रास ने रूस को राष्ट्र संघ में प्रवेश दिलाने का प्रयत्न किया। 1934 मे रूस राष्ट्र सघ का सदस्य बन गया। 1934 मे फ्रांस और रूस का समझौता हो गया। दोनो देशो ने युद्ध के समय एक-दूसरे को सहायता देने का वचन दिया।

आस्ट्रिया के मामले मे जर्मनी और इटली में मतभेद बढ़ गया था अतः इटली भी मित्रों की खोज मे था। इटली और ब्रिटेन ने मिलकर आस्ट्रिया को स्वतन्त्रता की गारण्टी दी थी। अतः फ्रांस ने इटली से मित्रता करने का विचार किया। 1935 में 'स्ट्रेसा-गुट" बन गया। इटली एबीसीनिया पर अधिकार चाहता था। फ्रास ने इटली को इस विषय मे पूरी सहायता देने का वचन दिया। इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्र संघ में ब्रिटेन एवं फ्रांस ने इटली की बड़ी निन्दा की और उस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने मे राष्ट्र संघ की सहायता की पर गुप्त रूप से इंगलैण्ड तथा फ्रांस के विदेश मन्त्रियों ने इटली की सहायता। की उन्होने इटली के विरुद्ध संघ को सैनिक कार्यवाही से रोक रखा। इटली ने एबीसीनिया पर अधिकार कर लिया। राष्ट्र संघ को एक ठोकर जापान 1931-32 मे मंचूरिया के मामले में लगा चुका था, दूसरी ठोकर इटली ने एबीसीनिया के मामले मे लगा दी। इससे राष्ट्र संघ अति दुर्बल हो गया। "सामूहिक सुरक्षा" का मामला खटाई मे पड़ गया। छोटे-राज्यों को राष्ट्र संघ का भरोसा था। पर इटली के रवैये से वह भरोसा समाप्त हो गया। 'लघु मैत्री संघ' का विघटन हो गया। जर्मनी के भय से वे काँपने लगे और उसे प्रसन्न करने का रवैया उन्होंने अपनाया। इटली का सहारा पाकर एक ओर तो लघु मैत्री सघ का सहारा टूटा दूसरे ब्रिटेन को जब पता चला कि फ्रांस दुरंगी चाल चल रहा है तो वह फ्रांस से नाराज हो गया। फ्रास की दशा बिगड़ गई।

फ्रांस की तुष्टिकरण की नीति (French Policy of Appeasement)—हिटलर ने फ्रांस की दुर्बलता देखी अतः उसने इस स्थिति से लाभ उठाया। 1935 मे उसे जनमत संग्रह में सार प्रदेश मिल गया था। 1936 मे सेना भेजकर उसने राइनलैण्ड पर अधिकार कर लिया। उसने जोरों से शस्त्रीकरण प्रारम्भ कर दिया। जर्मनी और फ्रांस की सीमा पुनः मिल गई। फ्रांस ने एक मौका खो दिया कि यदि वह सेना के बल से राइनलैण्ड को बचाने का प्रयत्न करता तो हिटलर की हिम्मत टूट जाती पर उसने दब्बूपन से काम लिया। राइनलैण्ड मे किलाबन्दी फिर से

सदस्यों ने स्वीकार न की। 1924 में कुछ वातावरण बदला अतः जब जेनेवा सम्मेलन में इगलैण्ड और फ्रांस के प्रधानमन्त्री मैक्डोनल्ड एवं हेरियो—पहुँचे तो दोनों में वार्ता हुई। इगलैण्ड, फ्रांस को सुरक्षा की गारण्टी देने को तैयार हो गया। दोनों प्रधानमन्त्रियों ने राष्ट्र संघ की पाँचवीं एसेम्बली में एक संयुक्त प्रस्ताव रखा। जो 2 अक्टूबर 1924 में निर्विरोध स्वीकार कर लिया गया। इस सन्धि का पूरा नाम "अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए समझौता" (Protocol for the Peaceful Settlement of International Disputes) था। इसी को जेनेवा समझौता (Geneva Protocol) भी कहा जाता है।

1924 में मैकडोनल्ड सरकार का पतन हो गया। नई सरकार ने जेनेवा समझौते को अनुमोदन (Ratification) देने से इन्कार कर दिया। इंगलैण्ड जन धन का व्यय यूरोप के झगड़ों के लिए नही करना चाहता था। उसे प्रोटोकल अपनी सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध लगा। इगलैण्ड के विरोध से जेनेवा प्रोटोकल रद्द हो गया। फ्रास को पुनः चिन्ता सताने लगी।

(4) लोकार्नो पैक्ट—निःशस्त्रीकरण सम्मेलन अर्थात जेनेवा प्रोटोकल के असफल होने पर फ्रांस लोकार्नो पैक्ट करने को राजी हो गया। इससे फ्रांस को कुछ शान्ति मिली। जर्मनी अपनी पश्चिमी सीमा की गारण्टी तो देने के लिए तैयार था पर पूर्वी सीमा की गारण्टी देने के लिए तैयार न था। इस प्रकार फ्रास इससे पूर्ण सन्तुष्ट न हुआ। उसने पुनः सुरक्षा के लिए प्रयत्न जारी किये।

(5) पेरिस समझौता—संयुक्त राज्य अमेरिका अब तक यूरोपीय राजनीति में भाग नही लेता था पर 1927 में फ्रांसीसी विदेशमन्त्री ब्रियां ने एक अपील अमेरिकन जनता से की। इस अपील मे कहा गया कि "अमेरिका के युद्ध के प्रवेश के दसवें वार्षिकोत्सव के अवसर पर फ्रास और अमेरिका मे एक समझौता हो जाये कि "सिद्धान्तः युद्ध को एक साधन के रूप में स्वीकार न किया जाये।" पहले तो अमेरिका सरकार ने फ्रांस की अपील पर ध्यान न दिया पर अन्त में सरकार ने यह निर्णय लिया कि चूंकि सन्धि का प्रस्ताव केवल सिद्धान्त से सम्बन्धित है, व्यवहार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यदि अमेरिका इसे मान भी तो ले यूरोप के झगड़ो में व्यवहारिक रूप से वह न फँस सकेगा। छः माह बाद अमेरिका के विदेश सचिव कैलाग ने सुझाव दिया कि यदि प्रस्तावित समझौता बहुपक्षीय हो तो यह समझौते मे सम्मिलित हो सकता है। यह सुझाव पहले तो फ्रास ने अस्वीकार कर दिया, पर अप्रैल 1927 में ब्रियां ने अमेरिकन-फ्रासीसी पत्र-व्यवहार को जर्मनी, ब्रिटेन, इटली तथा जापान की सरकारों के समक्ष रखने की सहमति दे दी।

कैलाग ने प्रस्ताव के अनुसार अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी, इटली, जापान, बेल्जियम, पोलैण्ड तथा चैकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधियों का सम्मेलन पेरिस मे बुलाया। 27 अगस्त 1927 को सम्मेलन मे सभी प्रतिनिधियों ने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके अनुसार सन्धिकर्ता ने यह मान लिया कि "वे राष्ट्रीय नीति के साधन रूप में युद्ध का प्रयोग नहीं करेंगे और अपने झगड़ों को निबटाने के लिए युद्ध का आश्रय नही लेंगे।" यही समझौता पेरिस पैक्ट अथवा कैलाग-ब्रियां पैक्ट कहलाया। 17 जनवरी 1929 को अमेरिका सरकार ने समझौते का अनुमोदन कर दिया। रूस भी इस समझौते में सम्मिलित हो गया।

इस समझौते के बाद भी फ्रांस को सन्तोष न हुआ क्योंकि यह समझौता केवल सैद्धान्तिक था और राष्ट्रों पर केवल नैतिक उत्तरदायित्व डालता था।

(6) 1932 का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन—निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में जेनेवा का 1932 का सम्मेलन अधिक महत्वपूर्ण था पर फ्रास निःशस्त्रीकरण के लिए तैयार न था। जर्मनी भी जब तक अन्य राज्य निःशस्त्रीकरण को तैयार न हों तबतक निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार न था। इन दोनों देशों के विरोधी रवैये के कारण, सम्मेलन असफल हो गया। फ्रांस का भय दूर न हुआ।

फ्रांस की विदेश नीति 1933 से 1939 तक
(Foreign Policy of France from 1933 to 1939)

फ्रांस की सुरक्षा की समस्या का विशेष कारण था, "फ्रांस का जर्मनी के प्रति कठोर रवैया।" इस कठोर नीति के कारण ही जर्मनी में हिटलर का उदय हुआ। प्रो० शूमां ने लिखा है कि "1933 से फ्रांसीसी राजनय में एक नवीन तथा विनाशकारी युग का प्रारम्भ हुआ। फ्रांस द्वारा जर्मनी को अधिक सुविधायें देने से इन्कार करने के फलस्वरूप हिटलर का उदय हुआ।" वास्तव में फ्रांस के अत्याचार, दुर्व्यवहार, हठीपन तथा जर्मनी के प्रति घोर घृणा ने जर्मनी में नाजी क्रान्ति को जन्म दिया। हिटलर के सत्ता में आने से फ्रांस को ही नहीं समस्त यूरोप को चिन्ता के बादलों ने घेर लिया। हिटलर के उदय से अन्तर्राष्ट्रीय संकट का युग प्रारम्भ हुआ।

फ्रांस को जर्मनी से सदैव खतरा बना रहता था उसने इस खतरे को जितना दूर करना चाहा वह उतना ही निकट आता रहा। जर्मनी में नाजियों के प्रभुत्व से फ्रांस बहुत आतंकित हो गया। फ्रांस के अन्दर उस समय भारी संकट चल रहा था। उधर इंगलैण्ड से भी फ्रांस के अच्छे सम्बन्ध न थे। उसने यूरोप के छोटे-छोटे राज्यों से सुरक्षा संधि अवश्य कर रखी थी पर ये सूखे पत्तों का ढेर नाजी क्रान्ति के एक झोंके से छिन्न-भिन्न हो सकता था। जर्मनी के आक्रमण को "लघु मैत्री संघ" रोक नहीं सकता था। फ्रांस अब चाहता था कि कोई बड़ा राज्य उसका मित्र बने अन्यथा वह घोर संकट में फँस सकता है। उसकी दृष्टि रूस और इटली की ओर गई। फ्रांस ने रूस को राष्ट्र संघ में प्रवेश दिलाने का प्रयत्न किया। 1934 में रूस राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया। 1934 में फ्रांस और रूस का समझौता हो गया। दोनों देशों ने युद्ध के समय एक-दूसरे को सहायता देने का वचन दिया।

आस्ट्रिया के मामले में जर्मनी और इटली में मतभेद बढ़ गया था अतः इटली भी मित्रों की खोज में था। इटली और ब्रिटेन ने मिलकर आस्ट्रिया को स्वतन्त्रता की गारण्टी दी थी। अतः फ्रांस ने इटली से मित्रता करने का विचार किया। 1935 में 'स्ट्रेसा-गुट" बन गया। इटली एबीसीनिया पर अधिकार चाहता था। फ्रांस ने इटली को इस विषय में पूरी सहायता देने का वचन दिया। इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्र संघ में ब्रिटेन एवं फ्रांस ने इटली की बड़ी निन्दा की और उस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने में राष्ट्र संघ की सहायता की पर गुप्त रूप से इंगलैण्ड तथा फ्रांस के विदेश मन्त्रियों ने इटली की सहायता। की उन्होंने इटली के विरुद्ध संघ को सैनिक कार्यवाही से रोक रखा। इटली ने एबीसीनिया पर अधिकार कर लिया। राष्ट्र संघ को एक ठोकर जापान 1931-32 में मंचूरिया के मामले में लगा चुका था, दूसरी ठोकर इटली ने एबीसीनिया के मामले में लगा दी। इससे राष्ट्र संघ अति दुर्बल हो गया। "सामूहिक सुरक्षा" का मामला खटाई में पड़ गया। छोटे-राज्यों को राष्ट्र संघ का भरोसा था। पर इटली के रवैये से वह भरोसा समाप्त हो गया। 'लघु मैत्री संघ' का विघटन हो गया। जर्मनी के भय से वे कांपने लगे और उसे प्रसन्न करने का रवैया उन्होंने अपनाया। इटली का सहारा पाकर एक ओर तो लघु मैत्री संघ का सहारा टूटा दूसरे ब्रिटेन को जब पता चला कि फ्रांस दुरंगी चाल चल रहा है तो वह फ्रांस से नाराज हो गया। फ्रांस की दशा बिगड़ गई।

फ्रांस की तुष्टिकरण की नीति (French Policy of Appeasement)—हिटलर ने फ्रांस की दुर्बलता देखी अतः उसने इस स्थिति से लाभ उठाया। 1935 में उसे जनमत संग्रह में सार प्रदेश मिल गया था। 1936 में सेना भेजकर उसने राइनलैण्ड पर अधिकार कर लिया। उसने जोरों से शस्त्रीकरण प्रारम्भ कर दिया। जर्मनी और फ्रांस की सीमा पुनः मिल गई। फ्रांस ने एक मौका खो दिया कि यदि वह सेना के बल से राइनलैण्ड को बचाने का प्रयत्न करता तो हिटलर की हिम्मत टूट जाती पर उसने दब्बूपन से काम लिया। राइनलैण्ड में किलाबन्दी हिटलर ने

प्रारम्भ हो गई। फ्रांस ने ब्रिटेन से सहयोग चाहा पर इंगलैण्ड ने जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपना रखी थी अतः फ्रांस को ब्रिटेन से सहयोग न मिला। फ्रांस जर्मनी का विरोध करने की स्थिति में न रहा। वास्तव में फ्रांस की उस समय कोई दृढ़ विदेश नीति न रही। यूरोप का नियन्त्रण अब जर्मनी और इंगलैण्ड के हाथ में आ गया। परिणाम यह हुआ कि फ्रांस की नीति इंगलैण्ड की विदेश नीति के अधीन हो गई।

स्पेन, आस्ट्रिया और चेकोस्लावाकिया के मामले (Affairs of Spain, Austria and Czechoslavakia)—इंगलैण्ड की तुष्टिकरण नीति से जर्मनी उत्साहित हुआ। उसने आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया, स्पेन के गृह युद्ध में खुलकर फ्रांको की सहायता की तथा चेकोस्लावाकिया को छिन्न-भिन्न कर दिया। इन अवसरों पर फ्रांस ब्रिटेन की तुष्टिकरण नीति को अपनाने पर विवश हुआ। ब्रिटेन के कारण ही फ्रांस स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार को कोई सहायता न दे सका, आस्ट्रिया के मामले में कोई विरोध न कर सका, यहाँ तक ही नहीं चेकोस्लावाकिया के मामले में फ्रांस ब्रिटेन के साथ मिलकर म्यूनिख समझौते पर स्वयं हस्ताक्षर करने पर विवश हुआ। यद्यपि पोलैण्ड के मामले में ब्रिटेन का अनुसरण किया पर तब तक स्थिति काफी बिगड़ चुकी थी। युद्ध उसके सिर पर आ चुका था। द्वितीय विश्व युद्ध के कारण से एक कारण फ्रांस की दब्बू एवं तुष्टि-करण की नीति भी थी।

फ्रांस की तुष्टिकरण नीति के कारण (Causes of French Policy of Appeasement)—म्यूनिख समझौते के समय ब्रिटेन की तुष्टिकरण नीति अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी थी। म्यूनिख समझौते के समय ब्रिटेन के एक सुप्रसिद्ध समाचार पत्र में एक व्यंग्यचित्र (कार्टून) छापा था जिसमें दिखाया गया था कि 'एक भेड़िये के सामने एक मेमने को दो व्यक्ति फेंक रहे हैं।" भेड़िया नाजी जर्मनी, मेमना चेकोस्लावाकिया तथा दोनों व्यक्ति फ्रांस और ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री दलादिये और चैम्बरलेन दिखाये गये थे। 1935 के बाद जर्मनी की शक्ति लगातार बढ़ रही थी और फ्रांस की शक्ति खोखली हो रही थी। इसी कारण फ्रांस ने इटली एवं जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण नीति अपनायी गयी थी। यह तुष्टिकरण की नीति फ्रांस के लिए बड़ी घातक थी पर उसके अपनाने के लिए फ्रांस विवश था। उसके कारण निम्नलिखित थे :

(1) तुष्टिकरण की नीति किसी भी देश की हो, वह राष्ट्र घातक होती है। वह दुर्बलता एवं कायरता की नीति होती है। 20 वर्ष में फ्रांस अपनी शक्ति को बढ़ाने में असफल रहा। वह इसी बात में अपनी सुरक्षा खोजता रहा कि जर्मनी को अधिक से अधिक निरस्त्र रखे। जब-जब जर्मनी ने एकतरफा निःशस्त्रीकरण का विरोध किया तो फ्रांस को पछताना पड़ा। हिटलर ने 2 वर्षों में ही इतनी सेना एकत्र करली और उसे आधुनिक शस्त्रों से लैस कर दिया कि ब्रिटेन एवं फ्रांस की सैनिक शक्ति उसके सामने नगण्य हो गयी। फ्रांस इस दुर्बलता को जानता था अतः उसका मनोबल (Morale) क्षीण हो गया और वह संकट को दूर रखने के लिए तुष्टिकरण नीति अपनाने को विवश हुआ।

(2) फ्रांस में दो युद्धों के बीच के काल में लगातार राजनीतिक जीवन अस्थिर बना रहा। आये दिन मन्त्रिमण्डल बनते रहे। पारस्परिक फूट और वैमनस्य से राजनीतिक जीवन विषाक्त हो गया। फ्रांस ने इटली की फासिस्टवादी पद्धति से यही पाठ पढ़ा कि फॉसीवादी शासन पद्धति अच्छी है। पूँजीवादी इसी पद्धति में सुरक्षित रह सकते हैं। अतएव प्रजातन्त्र के स्थान पर उन्होंने फॉसीवादी लोगों की सहायता लेना प्रारम्भ कर दी। लोगों ने भी जर्मनी एवं इटली के सर्वा-धिकारवाद का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया। फासीवाद से आकर्षित होकर देश में आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में प्रतिक्रियावादी नीतियों का पालन होने लगा। यह वर्ग हिटलर का समर्थक

हो गया। यह हिटलर का "पाँचवाँ दस्ता" (Fifth Column) बन गया। हिटलर ने इस दस्ते से लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया। इस स्थिति पर प्रो० शूमां ने प्रकाश डालते हुए कहा है कि "उन्होंने विदेश मन्त्रालय को पूर्ण रूप से चैम्बरलेन के अधीन कर दिया। वे युद्ध अथवा युद्ध की धमकी से चैकोस्लावाकिया को बचाने मे बहुत डरते थे, क्योंकि इस प्रकार का कोई भी युद्ध फासिस्टवाद के विरुद्ध प्रजातन्त्र या जनता के मोर्चे के नाम पर तथा मास्को के साथ सम्बद्ध होकर जिसका नाम ही भयंकर था, लड़ा जा सकता।

(3) तुष्टिकरण नीति के समर्थक समाचार पत्र भी थे। अधिकांश पत्रों के स्वामी फॉसीवादी पूँजीपति थे। इतना ही नहीं पत्रकार भी फॉसीवादी देशों से घूँस पाते थे। ऐसी दशा मे फ्रांसीसी सरकार फासीवादी जर्मन का कड़ा विरोध कैसे कर सकता था। घूँसखोर पत्रकारों ने मास्को एवं प्रसा की घोर निन्दा करनी प्रारम्भ कर दी थी। इन पत्रकारों ने युद्ध का भय दिखाकर यह कहना प्रारम्भ कर दिया था कि "चैकोस्लावाकिया जैसे छोटे राज्य के लिये विश्व युद्ध नहीं होना चाहिए।" विवश होकर फ्रासीसी सरकार दब्बू नीति अपनाने पर विवश हो गई।

(4) फ्रांस का शासक वर्ग जिसने पूँजीपतियों का प्रतिनिधित्व बढ़ा-चढ़ा था, साम्यवाद का घोर विरोध करता था। वह साम्यवाद के प्रसार को बढ़ावा न देकर साम्यवाद के गढ़ को ही विध्वंश करने की कल्पना करते थे।

हिटलर तथा मुसोलिनी खुलकर साम्यवादियों को गाली देते थे तथा उन्होंने अपने देशों से साम्यवादियो का सफाया कर दिया था। फ्रास के शासकगण देश को साम्यवाद के चंगुल से बचाने के लिये, फॉसीवादियों का समर्थन करने मे न हिचकते थे। यद्यपि फ्रांस ने 1935 में रूस से एक सधि करली थी पर उसे क्रियान्वित करने के लिये कोई दिलचस्पी नही दिखाई थी। वास्तव में स्थिति यह थी कि फ्रास का शासक वर्ग रूस से घनिष्ट सम्बन्ध बढ़ाना पसन्द ही नही करता था। शासक वर्ग अपने स्वार्थ के समान जनहित की उपेक्षा कर रहे थे। वास्तव में पूँजापति वर्ग अपने हित साधन मे अन्धा हो गया था। फ्रांस ही क्या प्रत्येक देश में संकट काल मे यह वर्ग ऐसा ही पार्ट अदा करता है।

(5) फ्रांस का मित्र मुसोलिनी का झुकाव एबीसीनिया की विजय के बाद जर्मनी की ओर अधित हो गया था। जर्मनी आस्ट्रिया पर अधिकार करने के विचार से मुसोलिनी को हर कीमत पर अपने पक्ष में करना चाहता था। फ्रांस भी इटली को अपने पक्ष में करने के लिये भावी परिणामों की चिन्ता न करते हुये, उससे तुष्टिकरण नीति अपना रहा था। एबीसीनिया में उसे खुली छूट दी थी तथा स्पेन के गृहयुद्ध मे भी उसे छूट दे दी गई थी। इटली ने अपने स्वार्थ के सामने फ्रांस के स्वार्थों को तिलाजलि दे दी थी। कोई मित्र न होने के कारण फ्रास ब्रिटेन की तुष्टिकरण की नीति के आधीन हो गया था।

(6) फ्रांस की जनता गत प्रथम विश्व युद्ध के अनुभव से युद्ध से इतना घबड़ाती थी कि युद्ध को टालने के लिये वह बुरें से बुरे अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को अच्छे से अच्छे युद्ध की अपेक्षा श्रेयस्कर समझती थी। जनता की इस मनोवृति का प्रभाव सरकार की विदेश नीति के निर्माण मे सहायक बना था।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. फ्रास की असुरक्षा के लिये चिन्ता के क्या कारण थे ? संक्षिप्त रूप से लिखिये।
   What were the causes of anxiety for insecurity of France'. Write in brief.
2. 1919 से 1933 फ्रांसीसी विदेश नीति के आधार क्या थे ? फ्रांस द्वारा सुरक्षा के लिय किये गये प्रयत्नों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
   What were the basis of French Foreign Policy from 1919 to 1933." [illegible]cribe the measures taken by France to ensure her security.

3. 1933 से 1939 तक के काल में फ्रांस की विदेश नीति का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
   Give a short account of the foreign policy of France between the period of 1933-1939.
4. तुष्टिकरण नीति को फ्रांस द्वारा क्यों अपनाया गया? उसके कारण तथा परिणाम की विवेचना कीजिये।
   Why did France adopt the policy of appeasement. Discuss its causes and results.
5. "सन् 1919 के पश्चात् यूरोपीय मामलों का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा आग्रहपूर्ण प्रश्न फ्रांस द्वारा सुरक्षा की मांग थी।" व्याख्या कीजिए।
   "The most important and persistant single factor in European affairs in the years following 1919 was the French demand for security." (E. H. Carr) Discuss.

25

दो विश्वयुद्धों के बीच सोवियत रूस की विदेश नीति
(Soviet Russian Foreign Policy Between Two Great Wars)

"हमारी स्थिति उस किले के समान है जो चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ है। यद्यपि यह किला अजय हो सकता है, परन्तु फिर भी घिरा हुआ तो है ही।" —कालीनिन

The terms of the treaty (Ropallo Treaty) were unimportant. But its signature was singnificant. It secured for the Soviet Union its first official recognition by a great power.
—E. H. Carr.

रूस में बोल्शेविक क्रान्ति
(Bolshevik Revolution in Russia)

जिस प्रकार फ्रांस की राजक्रान्ति विश्व इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, उसी प्रकार रूस की बोल्शेविक क्रान्ति मानव इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। फ्रांस की राजक्रान्ति ने प्रजातन्त्रवाद को जन्म दिया और राजतन्त्र को समाप्त किया पर रूस की राजक्रान्ति ने सर्वाधिकारवाद को जन्म दिया तथा प्रजातन्त्रवाद को एक भारी आघात पहुँचाया। इसके अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में क्रान्ति की लहर दौड़ गई। रूस की क्रान्ति ने एक नवीन विचारधारा, नवीन सभ्यता एवं संस्कृति को भी जन्म दिया। उसने श्रमिकों की दशा में महान सुधार किया और समाज में उनकी महत्ता का सिक्का बैठाया। 20वीं शताब्दी की साम्यवाद ऐसी विचारधारा है जिसने विश्व के अधिकांश भाग को प्रभावित किया है, उसका विस्तार लगातार हो रहा है रूस के बाद चीन एवं अनेक राज्यों में साम्यवादियों की सत्तायें स्थापित है।

क्रान्ति के पूर्व रूस की दशा (Pre-revolutions conditions of Russia)—रूस में साम्यवादी क्रान्ति 1917 मे हुई। क्रान्ति के पूर्व रूस जारशाही के अत्याचारी शासन में लड़खड़ा रहा था। निकोलस द्वितीय के शासन काल में जनता ने अपनी दशा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। इस विद्रोह को जार की सेनाओ ने बुरी तरह कुचल दिया था। जनता पर जार द्वारा घोर अत्याचार हुआ था। रूस की सर्वसाधारण जनता गुलामों का जीवन व्यतीत करती थी। उसे सरकारी कर्मचारियों, कुलीनों, जमीदारों एवं पादरियों तक के अत्याचार सहने पड़ते थे। दरिद्रता मे रूसी जनता भारतीय जनता से भी निम्न कोटि की थी।

1904-5 मे जार की सेना छोटे से देश जापान से हार गई। उसकी दुर्बलता अप- गयी। जनता ने एक बार फिर जारशाही को उखाड़ फेंकने के लिए 1905 मे प्रयत्न

जार की सेना इतनी दुर्बल न थी कि निहत्थी जनता उन्हें पराजित कर पाती। वह विद्रोह भी कुचल दिया गया। इस प्रकार जारशाही के अत्याचारों में कमी न हुई। जार को अक्ल न आयी। जार की निरंकुशता के 5 आधार थे। ये आधार थे—नौकरशाही, कुलीन वर्ण, पादरी वर्ग, रूसी सेना तथा जनता मे निर्धनता एवं निरक्षरता। नौकरशाही जनता का शोषण करती थी और चापलूसी कर जार को प्रसन्न किये रहती थी। कुलीन वर्ग भी जार की निरंकुशता से काफी लाभ उठाता था और इन लाभों को स्थायी रखने के लिए वह जारशाही को पूर्ण समर्थन देता था। पादरी वर्ग जार की आज्ञाओं एवं आदेशों को धर्म मे लपेट कर आम जनता तक पहुँचाते थे। जार के अत्याचारों को सहने के लिए पादरी धर्म उपदेश देते थे। इसके बदले मे जार द्वारा उन्हें अच्छा वेतन मिलता था। देश की सेना पर जार का पूर्ण नियन्त्रण था, वह जार की आज्ञा का पालन बिना सोचे समझे करती थी। इन सब शोषकों को अपना खून पीने देने एवं चुप रहने मे जनता की निर्धनता, अज्ञानता एवं रूढ़िवादिता सहायक थी। इन्ही स्तम्भों के आधार पर रूसी जारशाही का महल 1917 तक टिका रहा।

क्रान्ति का आगमन
(Coming of the Revolution)

(1) क्रान्ति का कारण (Causes of the Revolution)—बोल्शेविक अथवा साम्यवादी क्रान्ति के निम्नलिखित कारण थे :

(i) रूस में साम्यवादी विचारों का प्रचार—मार्क्स का जन्म तो जर्मनी मे हुआ था और उसका अधिकाश जीवन जर्मनी से बाहर बीता था, विशेषकर इगलैण्ड मे, उसने "दास कैपीटल" लिखकर साम्यवाद की नई विचारधारा को जन्म दिया था। वह मजदूरो का हितैषी था और क्रान्ति कर मजदूरों के हाथ मे सत्ता देना चाहता था। अतः उसने घोषणा की थी कि "संसार के मजदूरो एक हो जाओ।" उसका यह विश्वास था एक दिन मजदूर अवश्य पूंजीपतियो एव उनके पोषक शासकों का अन्त कर देंगे और सत्ता पर स्वयं अधिकार कर लेंगे। यह क्रान्ति औद्योगिक देश मे फूटेगी। पर उसके अनुयायी किसी विकसित तथा औद्योगिक देश के मजदूरो को न बहका सके। उन्हें बहकाने का अवसर रूस के किसानो को मिल गया। मार्क्स का अनुयायी लेनिन यहीं पैदा हुआ। लेनिन के अतिरिक्त भी कई विचारक रूस के किसानो मे जारशाही के विरुद्ध विद्रोह की भावना भर रहे थे। साम्यवाद वहीं फैलता है जहाँ दरिद्रता का ताण्डव नृत्य होता है तथा अज्ञानता एवं मूर्खता का साम्राज्य छाया रहता है। जनता में शासकों के प्रति असन्तोष अश्रद्धा एवं अनास्था होती है। साम्यवाद के प्रचार से क्रान्ति के लिए किसान और मजदूर तैयार हो गये।

(ii) 1905 के विद्रोह का प्रभाव—1905 मे जारशाही को उखाड़ फेंकने के लिए जनता ने विद्रोह किया था। उस विद्रोह को कुचल दिया गया था। विद्रोहियो के साथ बुरा व्यवहार किया गया था। इस भीषण अत्याचार से जनता की भावना दबी नहीं, बल्कि और भड़क उठी। उसने राजतन्त्र को समाप्त कर जनतन्त्र की स्थापना का निश्चय किया।

(iii) शिक्षक वर्ग के विचारों में परिवर्तन—जिस प्रकार फ्रांस की राज-क्रान्ति से पूर्व अनेक विद्वानो, दार्शनिकों एवं साहित्यकारो ने क्रान्ति के विचार फैलाये थे इसी प्रकार 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही अनेक विचारको ने जनता में क्रान्ति के विचार फैलाना प्रारम्भ किया था। ये विचारक अराजकतावादी थी। कुछ रूसी विद्वान समाजवादी एवं कुछ शून्यवादी बन गये थे। इस प्रकार रूस जनता में राजनीतिक क्रान्ति के पहले मानसिक क्रान्ति आ चुकी थी।

(iv) यूरोप के लोकसत्तावादी राज्यों का प्रभाव—रूस के बाहर अनेक राज्यों में लोकसत्तावादी सरकारें स्थापित हो चुकी थीं। रूस जनता में लोकतन्त्र के प्रति रुचि उत्पन्न हो रही

थी। जब प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ था तभी फ्रांस, इङ्गलैण्ड आदि प्रजातन्त्रीय देशों ने घोषणा की कि वे इस युद्ध को राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता, समानता तथा लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं। रूस भी इस युद्ध में सम्मिलित हुआ था। रूस का मध्य वर्ग अपने देश में लोकतन्त्रीय सरकार के स्वप्न देखने लगा था।

(v) **सेना तथा नौकरशाही की कठोरता**—सेना एवं नौकरशाही पहले ही से अत्याचारी थे, युद्ध प्रारम्भ होते ही इनके अत्याचार सीमा से आगे बढ़ गये थे। जार को खतरा था कि युद्ध में सरकार व्यस्त रहेगी तो कहीं विद्रोही विद्रोह न कर दें अतः शासन अति कठोर नीति बरत रहा था। इससे रूसी जनता जारशाही से ऊब गई थी और क्रान्ति करने को तैयार बैठी थी।

(vi) **तत्कालीन अयोग्य सरकार**—जार तथा उसके सहायक जनता की बिगड़ती दशा के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रखते थे। 1915 से 1917 तक रूस में आर्थिक संकट व्याप्त हो रहा था। पर सरकार जनता की दशा सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं कर रही थी। जनता को विश्वास था कि सरकार की अयोग्यता एवं मूर्खता उसे विनाश के गड्ढे में धकेल देगी। अतः 'तग आयद बजंग आयद'' के अनुसार जनता विद्रोह के लिए तुल गई।

(vii) **तत्कालीन कारण**—प्रथम विश्वयुद्ध में रूस की सेनायें जर्मनी की सेनाओं के सामने न ठहर सकीं, उन्हें कई स्थानों पर हराया गया। एक अफवाह यह उड़ी कि जार निकोलस द्वितीय जर्मनी से गुप्त सधि करके युद्ध से अलग होना चाहता है। गुप्त सधि द्वारा रूस के एक बड़े भाग पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित हो जायगा। इस अफवाह ने बारूद में चिनगारी लगाने का कार्य किया। दूसरी ओर रूसी जनता खाद्यान्न के अभाव में भूख से तड़प-तड़प कर मर रही थी। 7 मार्च 1917 को पेट्रोग्रेड में "रोटियों की लूट' नामक घटना घट गई। यह क्रान्ति का विस्फोट था।

(2) **क्रान्ति का विस्फोट तथा प्रगति**—7 मार्च 1917 को रूस में क्रान्ति हो गई। भूखे प्यासे लोगों ने पेट्रोग्रेड की सड़कों पर एक भारी जुलूस निकाला। भूखे श्रमिकों ने होटलों में गर्मागर्म रोटियां पकते देखी तो वे रोटियों पर टूट पड़े। होटलों की लूट प्रारम्भ हो गई। जार के अधिकारियों ने मजदूरों पर गोली चलाने की आज्ञा दी पर सैनिकों ने अपने भूखे भाइयों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। इससे क्रान्ति फैल गयी। चारों ओर विद्रोही घरों से निकल आये और शोर मचाने लगे, नारे लगाने लगे युद्ध बन्द करो, निरंकुश शासन का नाश हो, जनता का शासन प्रारम्भ हो। साम्यवादी, क्रान्तिकारी तथा अन्य विरोधी शत्रुओं ने इस स्थिति का लाभ उठाया। श्रमिकों ने काम बन्द कर दिया। एक लाख श्रमिकों ने हड़ताल की। सैनिकों ने क्रान्तिकारियों का साथ दिया। 12 मार्च 1917 को मजदूरों की सोविट का नगर पर कब्जा हो गया। 14 मार्च को ड्यूमा ने एक कार्यकारिणी समिति की स्थापना करके शासनाधिकार उसे सौंप दिये। इस प्रकार की एक कार्यकारिणी का मेट्रोग्रैड में भी निर्माण हुआ। कुछ समय बाद इन दोनों समितियों को एक कर दिया गया और रूस में एक स्थायी सरकार की स्थापना हो गयी। जार निकोलस द्वितीय ने अपनी गद्दी छोड़ दी। 300 वर्षों का रोमानोव शासन समाप्त हो गया।

(3) **बोल्शेविकों का शासन पर अधिकार**—1903 में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी का विभाजन हो गया था। एक दल बोल्शेविक या जिनकी सदस्य संख्या अधिक थी तथा दूसरे दल अल्पमत में था वे मेनशेविक कहलाये। बोल्शेविक क्रान्ति कर नये सुधार लाना चाहता था जबकि मेनशविक संवैधानिक उपायों द्वारा सुधारों को धीरे-धीरे लाना चाहता था। जब क्रान्ति हुई, लेनिन जो बोल्शेविक दल का सर्वोच्च नेता था, देश से बाहर था।

अस्थायी सरकार उदारवादियों की थी जो मिलिनकोव (Milinikov) के नेतृत्व में सगठित हुई थी। वह उदारवादी सुधारों के पक्ष में थी जैसे कि पश्चिम देशों में प्रचलित थे। उदाहरण के लिए संवैधानिक सभा को शीघ्र बुलाने का आश्वासन दिया। पर जैसे पिछड़े देश में जनता राजनीतिक सुधारों में इतना विश्वास नहीं रखती जितना कि 'शान्ति, भूमि और रोटी" (Peace, Land and Bread) की चिन्ता करते हैं। मजदूर नेता समाजवाद चाहते थे। गांव-गांव में सैनिकों-मजदूरों की सोविट बन चुकी थी। वे नई सरकार से अप्रसन्न थे। अतः हड़ताल, विद्रोह, अराजकता फैलने लगी। श्रमिकों ने काम करने से इन्कार कर दिया किसानों ने जागीरों पर कब्जा कर लिया। यह विद्रोह सेना में भी फैला। सैनिकों ने अपने अधिकारियों की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। कुछ अधिकारियों को भी मार डाला। फिनिश तथा पोलिश अपनी राष्ट्रीय सरकारें बनाने लगे और रूसी सघ से पृथक हो गये। इस प्रकार रूसी साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। अस्थायी सरकारी नीति असफल हो गयी। प्रान्तीय सरकारों पर मैनशिविकों ने अधिकार कर लिया। उनका नेता एलेक्जेन्डरो केरेन्स्की (Alexander Kerensky) था।

उदारवादियों का तख्ता उलट दिया गया केरेन्स्की के नेतृत्व में सरकार बनी। केरेन्स्की चाहता था कि अभी युद्ध चले और वह इतनी सफलता प्राप्त करले जिससे उसका अन्त सम्मानपूर्वक हो सके। वह क्रान्ति अभी और बढ़ाना चाहता था तथा राजनीतिक और सामाजिक दोनों सुधारों को लागू करना चाहता था। पर वह भी एक उदारवादी समाजवादी था और समाजवाद की स्थापना वैधानिक ढंग से करना चाहता था। पर उग्रवादी समाजवादी बोल्शेविक उसकी नीति के पक्ष में न थे। वे युद्ध को तुरन्त बन्द करना चाहते थे और श्रमिकों की तानाशाही स्थापित करना चाहते थे। वे तत्कालीन व्यवस्था को उलटना चाहते थे। उनके प्रमुख दो नेता थे—लेनिन और ट्राटस्की।

लेनिन उस समय तक रूस में आ गया था। केरेन्स्की ने जनता में उत्साह उत्पन्न किया और जर्मनी को गेलिसिया रोककर उन पर आक्रमण कर दिया परन्तु सैनिक बोल्शेविक प्रचार से प्रभावित थे अतः उन्होंने लड़ने से इन्कार कर दिया सेना विद्रोही हो गयी। जनरल कोरनीलोव ने मैनशिवकों का तख्ता उलटना चाहा पर असफल हो गया। जर्मनी ने अवसर देख रीगा पर कब्जा कर लिया और पेट्रोग्रेड पर अधिकार जमा लिया। नवम्बर 1917 में उन्होंने केरेन्स्की सरकार का तख्ता उलट दिया।

इस प्रकार 9 महीने बाद एक और क्रान्ति हुई और शासन की बागडोर उग्रवादी समाजवादियों के हाथ आ गयी।

दो विश्व युद्धों के बीच सोवियत सघ की विदेश नीति
(Foreign Policy of Soviet Union Between Two Great Wars)

रूस की विदेश नीति दो विश्व युद्धों के बीच के काल में 4 खण्डों में बाँटी जा सकती है। ये काल-खण्ड इस प्रकार के हैं—

(1) 1917 से 1921 तक प्रथम अवस्था।
(2) 1921 से 1934 तक द्वितीय अवस्था।
(3) 1934 से 1938 तक तृतीय अवस्था।
(4) 1938-39 चौथी अवस्था।

(1) प्रथम अवस्था (First Stage)—रूस की क्रान्ति 1917 में हुई यद्यपि यह घरेलू क्रान्ति थी पर उसका लक्ष्य विश्व व्यापी था। वह पूँजीपतियों के विरुद्ध श्रमिकों की क्रान्ति थी। पूँजीपतियों का सफाया न केवल अपने देश से बल्कि समस्त विश्व से करने का ध्येय क्रान्तिकारियों

अस्थायी सरकार उदारवादियों की थी जो मिलिनकोव (Milinikov) के नेतृत्व में सगठित हुई थी। वह उदारवादी सुधारो के पक्ष में थी जैसे कि पश्चिम देशो मे प्रचलित थे। उदाहरण के लिए संवैधानिक सभा को शीघ्र बुलाने का आश्वासन दिया। पर जैसे पिछड़े देश मे जनता राजनीतिक सुधारो मे इतना विश्वास नहीं रखती जितना कि 'शान्ति, भूमि और रोटी" (Peace, Land and Bread) की चिन्ता करते है। मजदूर नेता समाजवाद चाहते थे। गांव-गांव मे सैनिको-मजदूरों की सोविट बन चुकी थी। वे नई सरकार से अप्रसन्न थे। अतः हड़ताल, विद्रोह, अराजकता फैलने लगी। श्रमिकों ने काम करने से इन्कार कर दिया किसानों ने जागीरों पर कब्जा कर लिया। यह विद्रोह सेना मे भी फैला। सैनिकों ने अपने अधिकारियों की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। कुछ अधिकारियो को भी मार डाला। फिनिश तथा पोलिश अपनी राष्ट्रीय सरकारें बनाने लगे और रूसी सघ से पृथक हो गये। इस प्रकार रूसी साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। अस्थायी सरकारी नीति असफल हो गयी। प्रान्तीय सरकारों पर मैनशिविको ने अधिकार कर लिया। उनका नेता एलेक्जेण्डरो केरेन्स्की (Alexander Kerensky) था।

उदारवादियो का तख्ता उलट दिया गया केरेन्स्की के नेतृत्व मे सरकार बनी। केरेन्स्की चाहता था कि अभी युद्ध चले और वह इतनी सफलता प्राप्त करले जिससे उसका अन्त सम्मानपूर्वक हो सके। वह क्रान्ति अभी और बढ़ाना चाहता था तथा राजनीतिक और सामाजिक दोनों सुधारो को लागू करना चाहता था। पर वह भी एक उदारवादी समाजवादी था और समाजवाद की स्थापना वैधानिक ढग से करना चाहता था। पर उग्रवादी समाजवादो बोल्शेविक उसकी नीति के पक्ष मे न थे। वे युद्ध को तुरन्त बन्द करना चाहते थे और श्रमिकों को तानाशाही स्थापित करना चाहते थे। वे तत्कालीन व्यवस्था को उलटना चाहते थे। उनके प्रमुख दो नेता थे—लेनिन और ट्राटस्की।

लेनिन उस समय तक रूस मे आ गया था। केरेन्स्की ने जनता मे उत्साह उत्पन्न किया और जर्मनी को गेलिसिया रोककर उन पर आक्रमण कर दिया परन्तु सैनिक बोल्शेविक प्रचार से प्रभावित थे अतः उन्होने लड़ने से इन्कार कर दिया सेना विद्रोही हो गयी। जनरल कोरनीलोव ने मैनशिवकों का तख्ता उलटना चाहा पर असफल हो गया। जर्मनी ने अवसर देख रीगा पर कब्जा कर लिया और पेट्रोग्रेड पर अधिकार जमा लिया। नवम्बर 1917 में उन्होने केरेन्स्की सरकार का तख्ता उलट दिया।

इस प्रकार 9 महीने बाद एक और क्रान्ति हुई और शासन की बागडोर उग्रवादी समाजवादियों के हाथ आ गयी।

दो विश्व युद्धों के बीच सोवियत सघ की विदेश नीति
(Foreign Policy of Soviet Union Between Two Great Wars)

रूस की विदेश नीति दो विश्व युद्धों के बीच के काल में 4 खण्डो में बाँटी जा सकती है। ये काल-खण्ड इस प्रकार के हैं—

(1) 1917 से 1921 तक प्रथम अवस्था।
(2) 1921 से 1934 तक द्वितीय अवस्था।
(3) 1934 से 1938 तक तृतीय अवस्था।
(4) 1938-39 चौथी अवस्था।

(1) प्रथम अवस्था (First Stage)—रूस की क्रान्ति 1917 मे हुई यद्यपि यह घरेलू क्रान्ति थी पर उसका लक्ष्य विश्व व्यापी था। वह पूँजीपतियों के विरुद्ध श्रमिकों की क्रान्ति थी। पूँजीपतियों का सफाया न केवल अपने देश से बल्कि समस्त विश्व से करने का ध्येय क्रान्तिकारियों

का था। पूंजीवादी देश यह समझते थे कि साम्यवादी क्रान्ति को रूस में ही समाप्त कर दिया जाय अन्यथा वह समस्त विश्व में फैल जायगी।

(i) पूंजीवादी हस्तक्षेप—रूस की क्रान्ति का व्यापक प्रभाव पड़ा। युद्ध के बाद प्रत्येक देश मे आर्थिक तथा राजनीतिक अशान्ति फैली। पश्चिमी शक्तियों ने यह शका कि कही उनकी सीमा में रूस जैसी क्रान्ति न हो जाय। साम्यवादी लगातार विश्व के मजदूरों को क्रान्ति करने के लिए भड़का रहे थे। *उनका धुंआधार प्रचार पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध चल रहा था।* *ब्रिटेन* फ्रांस, जापान और अमेरिका द्वारा रूस पर आक्रमण होते रहे। रूस के साम्यवादी नेताओं को अधिकार च्युत करना बहुत आवश्यक समझते थे। जार निकोलस द्वितीय तथा उसके परिवार के सदस्यों को जुलाई 1918 में क्रान्तिकारियों ने गोली से भून डाला। इससे विश्व के सभी देशों के राज्य परिवार क्रुद्ध हो उठे और क्रान्ति को कुचलने के लिए तैयार हो गये। साम्यवादियों ने *1919 कामिन्टर्न नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित की जिसका केन्द्र मास्को था। इस सस्था मे* सभी देशों क साम्यवादी नेता सम्मिलित थे। रूसी नेताओ की इस सस्था मे प्रधानता थी। पूंजीवादी देश इस सस्था को रूस का विदेश विभाग समझत थे। रूस इस सस्था द्वारा अन्य देशो में *क्रान्ति लाने का मनसूबा बांधे हुए था।* इससे सभी पश्चिमी शक्तियाँ रूस से घोर शत्रुता रखती थी।

रूस से अप्रसन्नता का एक कारण और भी था; यह कि रूस ने क्रान्ति के बाद जर्मनी से संधि की वार्ता प्रारम्भ कर दी थी और मित्र राज्यो को भी उसमे सम्मिलित करना चाहा था पर कोई मित्र राष्ट्र, इसके लिए तैयार न था। इससे नाराज हाकर रूस ने जार काल की सभी गुप्त सधियाँ प्रकाशित कर दी। इससे युद्ध कर्ता देश की बड़ी बदनामी हुई। रूस ने जर्मनी से सधि कर और अपनी पूर्वी सीमा को सुरक्षित समझ पश्चिमी सीमा पर जोरदार आक्रमण कर दिया।

लेनिन ने 1918 मे घोषणा की कि जार के ऋणों को वह भुगतान नहीं करेगा, तथा रूस स्थित सभी विदेशी सम्पत्ति को जब्त कर लिया। इसके बदले मे पश्चिमी सरकारो ने रूस के विरुद्ध आर्थिक नाकाबन्दी प्रारम्भ कर दी। रूस की सरकार के किसी राज्य ने मान्यता नही दी। इसके साथ-साथ पश्चिमी शक्तियों ने क्रान्ति विरोधियो को अस्त्र-शस्त्र, सेना, धन आदि से सहायता करनी प्रारम्भ कर दी। इससे रूस के अन्दर कई स्थानों पर क्रान्ति-विरोधियो ने "श्वेत सरकारें" *स्थापित करली।*

इतना ही नही पश्चिमी शक्तियों ने रूस पर सीधा आक्रमण कर दिया। मित्र राष्ट्रों को खतरा था कि आर्केजिल तथा मुरमन्स्क मे प्रचुर मात्रा मे युद्ध सामग्री पड़ी थी, कहीं जर्मनी उस पर कब्जा न कर ले। अतः मित्र राष्ट्रों न रूस पर बाकायदा आक्रमण कर दिया। फ्रांस की सेना ओडेसा पर, ब्रिटिश सेना ने बाकू पर, जापान ने पूर्वी साइबेरिया पर, अमेरिकन सेना ने आर्केजिल एवं ब्लाडीवास्टक पर रूमानिया की सेना ने बेसरेबिया पर अपना-अपना अधिकार जमा लिया। उधर एस्थोनिया, लिथूनिया, फिनलैण्ड तथा काकेश के पार के प्रान्तो ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही दृष्टियों से रूस की हालत शोचनीय हो गई।

इस अवस्था में ट्राटस्की के नेतृत्व में लाल सेना मैदान मे कूद पड़ी। मित्र राष्ट्र जर्मनी से लड़ते-लड़ते पस्त हो गये थे, उनमे रूस के विरुद्ध पूरी सामर्थ्य से लड़ने की शक्ति न रह गई थी। इसके अतिरिक्त रूस एक विशाल देश था। इसलिए उस पर कब्जा करना आसान न था। शीघ्र उनके पैर उखड़ने लगे। *बोल्शेविक क्रान्ति से रूसी सेना मे अनोखा उत्साह था अतः* उनकी गति मे तीव्रता थी। पहले तो उन्होंने क्रान्ति विरोधियो का बुरी तरह से दमन किया फिर वे मित्र देशों की सेना को खदेड़ने में लग गईं।

(ii) रीगा की संधि—*1920 मे पोलैण्ड ने रूस पर आक्रमण कर दिया। प्रारम्भ में* में तो पोलैण्ड को सफलता मिली पर बाद मे उसकी हार होने लगी। रूसी लाल सेना पोलैण्ड की

सेनाओं को खदेड़ते हुए वार्सा तक पहुँच गई। ब्रिटेन तथा फ्रांस की सेनायें पोलैण्ड की सहायता को पहुँच गयी और उनकी सहायता से पोलैण्ड ने पासा पलट दिया। पोलैण्ड की सेना वेग से आगे बढ़ी। अन्त में दोनों में विराम संधि हो गई। इसे रीगा की संधि 1921 कहा गया। संधि अनुसार कर्जन रेखा को दोनों देशों ने सीमान्त के रूप में मान लिया। इस प्रकार रूस को वाह्य हस्तक्षेप से मुक्ति मिली।

(2) दूसरी अवस्था (Second Stage)—ट्राटस्की की कुशलता से रूस को विदेशी हस्तक्षेप से तथा आन्तरिक विद्रोह से मुक्ति मिली पर उसकी परेशानियाँ समाप्त न हुईं। ये परेशानियाँ निम्नलिखित थी :

(i) पश्चिमी शक्तियों द्वारा रूस का बहिष्कार—रीगा की संधि से युद्ध विराम तो हो गया पर दोनों पक्षों में कटुता का अन्त न हुआ। दोनों में एक दूसरे के विरुद्ध समाचार-पत्रों में प्रहार जारी रहा। मित्र राष्ट्रों ने रूस का बहिष्कार कर दिया और उसके व्यापार को ठप्प कर दिया। रूस गहरे संकट में फँस गया। उसके उद्योग-धंधे ठप्प हो गये। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में रूस के साथ अछूत जैसा व्यवहार किया जाने लगा। 1921 में वाशिंगटन सम्मेलन में रूस को नहीं बुलाया गया। 1922 में जेनेवा सम्मेलन हुआ। यहाँ पर रूस के प्रतिनिधि के साथ अनुचित व्यवहार किया गया। रूस को मान्यता देने को कोई भी पूँजीवादी राज्य तैयार न हुआ और न ही उसे राष्ट्र संघ में प्रवेश की अनुमति मिली। लोकार्नो पैक्ट से रूस में शंका उत्पन्न हुई। रूस को इसमें सम्मिलित नहीं किया गया न ही जर्मनी ने पूर्वी सीमा की गारण्टी दी। रूस को अपनी पश्चिमी सीमा पर कोई गड़बड़ी होने की आशंका हो गई। इसी समय फ्रांस तथा ब्रिटेन में अनुदार-दलीय सरकार सत्तारूढ़ हुई, पोलैण्ड, और लिथुनिया में प्रतिक्रियावादी तानाशाही प्रारम्भ हुई, चीन में च्यांग-काई-शेक का युग आ गया, जापान में बैरन शाका प्रधानमन्त्री बना। लन्दन में रूस की व्यापारिक एजेन्सी के दफ्तर की तलाशी ली गई। दफ्तर पर यह आरोप लगाया गया कि वह साम्यवाद के प्रचार का केन्द्र है, पर इस आरोप को ब्रिटिश सरकार सिद्ध न कर सकी। इससे यही पता चला कि पूँजीवादी सरकारें रूस को धक्का देने के अवसर खोज रही हैं। 1927 में युद्ध मन्त्री वोरोशिलोव ने कहा था कि 'हमें सतर्क रहना चाहिए। हम लोग चारों ओर दुश्मनों से घिरे हैं।" 1928 में पेरिस पैक्ट से भी रूस को शंका हुई, कि पश्चिमी देश उससे युद्ध छेड़ना चाहते हैं। सोवियत रूस के जन्मकाल से ही उसे संकटों का सामना करना पड़ा अतः यदि यह कहा जाय कि उसकी विदेश नीति का आवश्यक तत्व शंका रहा है तो अनुचित न होगा।

(ii) रूस की नीति में परिवर्तन—रूस को अपनी नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। आन्तरिक कलह और वाह्य आक्रमणों के कारण सोवियत संघ एकदम पस्त हो गया था। इसके अलावा 1921-26 में वहाँ भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें रूसी लोग लगभग 50 लाख मौत के शिकार हुए। इन कारणों का प्रभाव रूस की आन्तरिक एवं वाह्य नीति पर पड़ा। उसने आगे बढ़ने के लिए "दो कदम पीछे हटने" की नीति अपनाई। उसने नई आर्थिक नीति (New Economic Policy) अपनाई। इसका अर्थ था कि साम्यवादी नीति को अपनाने से पूर्व पूँजीवादी नीति की ओर लौटना। लेनिन ने देखा कि पश्चिमी शक्तियाँ लगातार उसका विरोध कर रही हैं पर उसे विदेशी सहायता की आवश्यकता है। जब तक पूँजीवादी देशों का अस्तित्व है तब तक रूस के व्यवहारिक प्रयोजनों के लिए इन देशों से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य रखना पड़ेगा। पर कोई भी राष्ट्र रूस से सम्पर्क रखना पसन्द न करता था जब तक कामिन्टर्न द्वारा रूस यह वायदा न करे कि वह संसारव्यापी साम्यवादी प्रचार को रोक देगा। लेनिन ने ऐसा वचन दे दिया। अतः कुछ देश उससे आर्थिक सम्बन्ध बनाने को तैयार हो गये।

(iii) विदेशी राज्यों से सम्पर्क—रूस के सामने सबसे मुख्य प्रश्न नयी सरकार की

मान्यता का था। 1918 में सभी राज्यों ने रूस से अपने राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिए थे। रूस इन देशों से दौत्य सम्बन्ध पुनः स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। 1921 तक फिनलैण्ड, लेटविया, एस्थोनिया तथा लिथुआनिया के अलावा कोई देश रूस को मान्यता देने को तैयार न हुआ। 1921 के प्रारम्भ में रूस ने तुर्की, फारस तथा अफगानिस्तान से संधियाँ कर ली थी, पर ये सब राज्य छोटे थे, इससे उसका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। रूस बड़े राष्ट्रों से सम्पर्क स्थापित करना चाहता था। 1920 में रूस ने एक व्यापारिक शिष्टमण्डल ब्रिटेन भेजा। इसका नेतृत्व क्रासिन कर रहे थे। ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार सिकुड़ कर बहुत छोटा हो गया था। वह रूस से व्यापारिक समझौता करने को तैयार हो गया। दोनो देशो में एक समझौता हो गया। कुछ समय बाद ब्रिटिश शिष्टमण्डल मास्को गया। परन्तु आंग्ल-रूसी व्यापारिक समझौता से दोनों देशों के मध्य सम्बन्धों में कोई विशेष सुधार न हुआ। ब्रिटेन में सोवियट संघ को कानूनी मान्यता (De jure recognition) प्रदान न की।

(iv) जेनेवा सम्मेलन—पश्चिमी देश रूस से इसलिए विशेष नाराज थे कि उसने विदेशी ऋणों की अदायगी से साफ इन्कार कर दिया था। 1929 में रूस ने कर्जदारों को सूचित किया कि यद्यपि वह जारशाही पर कर्जों को चुकाने के लिए जिम्मेदार नहीं, फिर भी वह इस समस्या को सुलझाने के लिए इच्छुक है। रूस ने यह भी सुझाव रखा कि उस मान्यता देने, उसको आर्थिक पुनर्निर्माण करने के लिए विदेशी कर्जों पर समझौता करने के लिए एक अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाये। इस सुझाव को ब्रिटेन ने मान लिया, अन्य राष्ट्रों की स्वीकृति से 1922 में कैनीज (Cannes) में मित्र राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ। ब्रिटेन के लाइडजार्ज के प्रयत्नों से अन्य राष्ट्र अगले जेनेवा सम्मेलन में रूस को बुलाने के लिए तैयार हो गये।

अप्रैल 1922 में जेनेवा सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इसमें जर्मनी तथा रूस के प्रतिनिधियों को मिलाकर 34 राज्यों के प्रतिनिधि थे। वर्साय सम्मेलन के बाद सम्मेलन था। लाइड जाज को यह आशा थी कि यह सम्मेलन रूस और अन्य राज्यों के बीच भेदभाव को भुला देगा। पर बेल्जियम एवं फ्रांस ने आग्रह किया कि रूस पहले युद्ध पूर्व के कर्जों को चुकाये तब आगे बात चलाये। इस सम्मेलन में रूस का प्रतिनिधि शिशरिन (Chichrin) था। उसने कहा कि वह विदेशी कर्जे की अदायगी के लिए तैयार है तथा विदेशी सम्पत्ति को भी लौटाने के लिए तत्पर है, यदि उसकी तीन शर्तें मान ली जायें—(अ) मित्र राज्यों के हस्तक्षेप से रूस को जो हानि पहुंची है उसका मुआवजा दिया जाय, (ब) सोवियत सरकार को विधिवत तुरन्त मान्यता दी जाय तथा (स) रूस के पुनर्निर्माण के लिए ऋण दिया जाय। इन दावों के कारण जेनेवा में किसी प्रकार का समझौता न हो सका।

(v) रेपोलो सन्धि (Treaty of Rapallo)—जेनेवा सम्मेलन में रूस को एक लाभ हुआ। रूस के समाज जर्मनी को भी पश्चिम राष्ट्र अछूत मानते थे। जेनेवा में दोनों देशों के प्रतिनिधि आपस में मिले। दोनों में सन्धि की वार्ता हुई। दोनों देशों ने क्षतिपूर्ति तथा ऋण अदायगी के दावों को छोड़ दिया। रेपोलो नामक स्थान पर दोनों देशों की संधि हुई, रूस के लिए यह संधि बड़ी महत्वपूर्ण थी। ई० एच० कार का यह मत है कि "संधि की शर्तों का इतना महत्व नहीं, जितना कि संधि होने का है। इसके माध्यम से सोवियत रूस को प्रथम बार एक बड़ी शक्ति द्वारा मान्यता प्राप्त हो गयी।"

(vi) अन्य देशों द्वारा मान्यता—जब जर्मनी द्वारा रूस को मान्यता मिल गयी तो अन्य देश भी अधिक समय तक मान्यता को रोक नहीं सकते थे। 1924 में ब्रिटेन की नीति बदली। वह रूस से पुनः दौत्य सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। इस समय फ्रांस में साम्यवादी दल को चुनाव में जीत हुई। इस प्रकार रूस के प्रति अच्छा वातावरण बनने लगा। 11 फरवरी 1924

को ब्रिटेन ने विधिवत रूस को मान्यता दे दी। इसके बाद इटली, नार्वे, आस्ट्रिया, स्वीडन, चीन, डेनमार्क, मैक्सिको और फ्रांस रूस को 15 यूरोपियन देश मान्यता दे चुके थे। अगले कुछ महीनों में संसार के अनेक देशों ने रूस को मान्यता दे दी थी। केवल बड़े राष्ट्रों में अमेरिका ही ऐसा देश रह गया था जिसने 1933 तक रूस को मान्यता नहीं दी।

(vii) रूस और अमेरिका—अमेरिका रूस को बहुत समय तक अछूत मानता रहा। जब उसने देखा कि विश्व के अधिकाश राष्ट्रों ने रूस को मान्यता दे दी है तो वह भी अपनी नीति बदलने के लिए विवश हुआ। अमेरिका रूस से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। रूस ने अच्छा अवसर देख अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। दोनों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए। दोनो देशो के पत्रकार एक दूसरे देश मे भ्रमण के लिए गये। अमेरिका इन्जीनियर्स को रूस मे नौकरी मिली। इतना होने पर भी अमेरिका सरकार रूस से दौत्य सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार न हुई। पर 1930 के बाद कुछ घटनायें ऐसी घटी कि अमेरिका भी रूस को मान्यता देने को तैयार हो गया। ये घटनायें थी - जापान द्वारा मचूरिया पर अधिकार, यूरोप का अर्थ संकट, जर्मनी मे नाजी पार्टी का उत्थान आदि। रूजवेल्ट जब अमेरिका का राष्ट्रपति बना तो उसने इस दशा मे कदम बढ़ाया। 1933 मे विश्व अर्थ सम्मेलन हुआ तो अमेरिका के प्रतिनिधि विलियम बुलिट तथा रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव की मुलाकात प्रथम बार हुई। इसके बाद रूजवेल्ट ने रूस के राष्ट्रपति कालीनिन को पत्र भेजकर वाशिंगटन में दो प्रतिनिधि भेजने को कहा। नवम्बर 1933 मे लिटविनोव वाशिंगटन पहुँचा और दोनों देशो में दौत्य सम्बन्ध स्थापित हो गये।

(viii) रूस, सामूहिक सुरक्षा एवं राष्ट्र संघ—1925 में किया गया लोकार्नो समझौता सामूहिक सुरक्षा की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम था। इस पैक्ट के होने से पूर्व एक दूषित घटना लदन में घट गयी थी। ब्रिटेन का अनुदार दल ने मजदूर दल द्वारा रूस को राजनीतिक, आर्थिक और राजनयिक सहायता बिल्कुल पसन्द न की। वे सोवियत सरकार तथा कामिनटर्न को एक ही चीज समझते थे। वे आग्ल रूसी सम्बन्ध को बिगाड़ने पर तुले हुए थे। अनुदार दल के लोग कामिनटर्न की गतिविधियो से काफी परेशान थे। 1924 मे जब चुनाव हुए तो अनुदार दल ने आग्ल-रूसी सम्बन्धों को बदनाम करने के लिए एक जाली पत्र अखबार मे प्रकाशित किया। यह जाली पत्र कामिनटर्न के अध्यक्ष जिनोविव द्वारा ब्रिटिश-साम्यवादियो को लिखा गया था कि वे चुनाव कैसे लड़ें ? इस पत्र को पढ़कर इङ्गलैंड मे तहलका मच गया और अनुदार दल ने चुनाव जीत लिया। सत्ता मे आकर अनुदार दल ने आग्ल रूसी समझौते का अनुमोदन नहीं किया। इससे रूस और ब्रिटिश के सम्बन्धो मे पुनः तनाव आ गया।

इस घटना के पृष्ठाधार मे लोकार्नो पैक्ट हुआ जिसमें जर्मनी ने पूर्वी सीमा के विषय में कोई गारण्टी नहीं दी। उससे सोवियत रूस को आशंका होना स्वाभाविक था। रूस ने यह समझा कि मित्र राष्ट्र जर्मनी से समझौता कर उसे रूस के विरुद्ध भड़का रहे हैं। उधर लोकार्नो पैक्ट से जर्मनी सन्तुष्ट न था। लोकार्नो पैक्ट के अनुसार जर्मनी को राष्ट्र संघ की सदस्यता बिना शर्त मिल जानी चाहिए थी पर मित्र राष्ट्र उसे सदस्यता से वंचित रखना चाहते थे। इस कारण रूस और जर्मनी में 1926 में बर्लिन में आक्रमण समझौता हो गया। इसमें दोनो देशों ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दिया अन्य देशो से संघर्ष होने पर तटस्थ रहना स्वीकार किया। यद्यपि इस सन्धि से दोनों देशों का कोई लाभ न हुआ पर विश्व को बड़ा आश्चर्य हुआ। आगे चलकर 1939 का जर्मन-रूस समझौता इसी समझौते की पृष्ठभूमि थी।

पहले रूस के साम्यवादी राष्ट्र संघ को पूँजीपतियों की संस्था मानते थे। पर 1927 मे अमेरिका के समान रूस ने राष्ट्र संघ की गतिविधियों में सहयोग देना प्रारम्भ किया। संघ का सदस्य न होते हुए भी रूस ने एक सामान्य आर्थिक सम्मेलन में भाग लिया। निःशस्त्रीकरण सम्मे-

लन मे नो रूसी प्रतिनिधि ने माग लिया। वहाँ उसने अपील की कि "तुरन्त ही व्यापक एवं पूर्ण नि:शस्त्रीकरण कर दिया जाय।"

सितम्बर 1934 मे फ्रांस के समर्थन से रूस राष्ट्र संघ का सदस्य हो गया, साथ ही उसे संघ की परिषद का स्थायी बना दिया गया। लिटविनोव वहाँ सदैव सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का समर्थन करता रहा। राष्ट्र संघ को सफल बनाने के लिए रूस ने प्रशंसनीय प्रयत्न किया पर वह बहुत देर से संघ का सदस्य बना था। तब तक संघ पर कई आघात हो चुके थे। उसकी स्थिति डांवाडोल बन चुकी थी।

(3) तृतीय अवस्था (Third Stage)—जब रूस राष्ट्र संघ का सदस्य बना उस समय तक रूस को अमेरिका तक ने मान्यता दे दी थी। उस मान्यता के पीछे हिटलर और जापान की कार्यवाहियाँ सहायक बनी। प्रशान्त महासागर मे अमेरिकन हितो को जापान से खतरा पैदा हो चुका था। रूस का स्टालिन जापान से भय खाता था। उधर जर्मनी मे हिटलर की शक्ति का विकास हो रहा था। जर्मनी की पूर्वी सीमा खुली थी अत: उधर से भी रूस को खतरा था। हिटलर ने लिखा था कि "यदि हम आज यूरोप मे नई भूमि और नये प्रदेश की बातें करते हैं तो हम मुख्यत: रूस तथा उसके समवर्ती अधीनस्थ राज्यो के बारे मे सोचते हैं।" इस प्रकार रूस पूर्व और पश्चिम (जापान और जर्मनी) से घिरा हुआ था। स्टालिन यद्यपि पश्चिमी शक्तियो से घृणा करता था। राष्ट्र संघ को भी पश्चिमी शक्तियों के षड्यन्त्र का केन्द्र मानता था। जर्मनी एव जापान के आक्रमक कार्यों के कारण उसे अपनी पुरानी नीति छोड़नी पड़ी और देश की सुरक्षा के लिए उसने पश्चिमी शक्तियो का सहयोग प्राप्त करना आवश्यकता समझा।

संसार भर मे लोकमोर्चा (Front Populaire) स्थापित कराना इस नीति का प्रथम लक्षण था। रूस मे साम्यवादी पार्टी रूस की साम्यवादी पार्टी को छोड़कर विश्व की सबसे बड़ी साम्यवादी पार्टी थी। हिटलर के प्रादुर्भाव से जर्मनी मे इस साम्यवादी पार्टी पर नाजियो के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे और एक प्रकार से उसका विनाश हो गया था। फासीवाद की बढ़ती बाढ़ यदि रोकी न गयी तो संसार के अन्य देशों से भी साम्यवादी पार्टियो का नामोनिशान मिट सकता था। कामिनटर्न के सामने एक कठिन समस्या उपस्थित हो गयी थी। स्टालिन ने आदेश दिया कि संसार भर की साम्यवादी पार्टियाँ अन्य प्रगतिशील पार्टियो से मिलकर "लोकमोर्चा" स्थापित करें। स्वयं रूस भी अन्य देशों से सन्धि कर, पुराने वैर-भाव मिटाकर उन्हें मित्र बनाने लगा। उसने प्रधान देशों के प्रति भी सहानुभूति दिखानी प्रारम्भ की तथा साम्राज्यवाद का विरोध प्रारम्भ कर दिया।

(अ) चीन से सम्बन्ध—रूस पिछले कई वर्षों से चीन की राष्ट्रवादियों की सरकार का विरोध करता चला आ रहा था। चीन पर जापान का आक्रमण हो सकता था। इस भय से वह रूस की ओर झुका था। रूस ने अपने मतभेद भुला कर चीन से सन्धि कर ली।'

(ब) फ्रांस से समझौता—रूस ने विश्व के साम्यवादियों को परामर्श दिया था कि वे उदारवादी, बुर्जुवा सरकारों के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा बनावें और फासीवाद का विरोध करें। इससे स्पेन तथा फ्रांस में लोकप्रिय मोर्चे की सरकारें बन गयी थीं जो फासीवाद की [illegible] यह देखकर फासीवादी शक्तियों ने भी कामिनटर्न विरोधी समझौता (Anti-Com[illegible] का निर्माण किया था। "रोम-बर्लिन धुरी" (Rome-Berlin Axis) में जर्मनी और [illegible] संयुक्त मोर्चा बन गया था। 1927 में जापान भी इस मोर्चे में सम्मिलित हो गया। [illegible] साम्यवाद विरोधी था और अपने देशों में ही नहीं अन्य देशों में साम्यवाद को [illegible] लिए प्रतिज्ञा-बद्ध था। स्टालिन ने [illegible] इस शत्रु को [illegible]

परन्तु उस समय [illegible] बात नहीं बनन [illegible] था। [illegible] बढ़ चुकी थी। अत: [illegible] हुये [illegible]

अतः वह पश्चिमी शक्तियों में गठजोड़ करना चाहता था। हिटलर फ्रांस और रूस दोनों के लिए खतरनाक था। फ्रास में लोकमोर्चा सरकार बन चुकी थी जो रूस से मैत्री की इच्छुक थी। 1935 में लिटविनोव और फ्रांस के विदेशमन्त्री की वार्ता हुई और दोनों ने परस्पर आक्रमण-समझौता कर लिया। कुछ समय बाद दोनो देशो ने चेकोस्लावाकिया को भी अपने पक्ष में कर लिया। दोनों ने उसकी सुरक्षा की गारण्टी दी। रूस ने चेकोस्लावाकिया को केवल उस समय सहायता देने का वचन दिया जब फ्रास पूर्व की सन्धि के अनुसार उसकी रक्षा करने का वचन पूरा करेगा।

(स) जापान एवं चीन से सन्धि का प्रयत्न—फ्रास से सन्धि कर रूस ने पूर्वी यूरोप मे अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध कर लिया था पर जापान की बढ़ती शक्ति देखकर अपनी पूर्वी सीमा की सुरक्षा के लिए रूस चिन्तित था। उसने पहले जापान से अनाक्रमण-सन्धि करने का प्रयास किया। जापान को खुश करने के लिए रूस ने मंचूरिया स्थित पूर्वी चीन रेलवे को जापान के हाथ सस्ते दामों में ही बेच दिया, इसके अतिरिक्त जापानी मछुओं को भी अनेक सुविधायें दीं, इसके अतिरिक्त जापानी आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए उसने मार्च 1936 मे मगोलिया के साथ अनाक्रमण-समझौता किया।

चीन का राष्ट्रपति चांगकाई शेक साम्यवाद का कट्टर शत्रु था, यद्यपि वह जापान से भय खाता था, पर उससे मित्रता करना रूस की अपेक्षा अधिक अच्छा समझता था। जापान से चीन ने नवम्बर 1936 मे अनाक्रमण-सन्धि कर ली। इस सन्धि को कुण्ठित करने के लिए रूस ने अगस्त 1937 मे एक और अनाक्रमण सन्धि कर ली।

(द) पराधीन राज्यों के प्रति सहानुभूति—रूस मे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही प्रथम बार स्थापित हुई थी। रूस ने सर्वप्रथम साम्राज्यवादी नीति का परित्याग कर अपने अधीन राज्यों को स्वतन्त्र कर दिया था। इस नीति से विश्व के पराधीन राज्यो में स्वतन्त्रता आन्दोलन और तेज हो गया था। साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रति घृणा और बढ़ गयी थी। रूस ने प्रचार द्वारा स्वतन्त्रता आन्दोलनो को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया था। रूस दुर्बल राज्यों की सहायता भी कर रहा था। साम्राज्यवादी शक्तियाँ टर्की का अन्त करना चाहती थी, रूस ने टर्की को मान्यता प्रदान करके उसकी रक्षा की थी। रूस ने साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध सम्मेलन भी करने प्रारम्भ किये जिनमे पराधीन देशों के राष्ट्रवादी नेताओ को निमन्त्रित किया गया था। इस प्रकार शक्ति सग्राम में रूस ने सहायता कर काफी समर्थन प्राप्त कर लिया था।

(4) चौथी अवस्था (Fourth Stage)—1938 मे रूस को पुनः अपनी विदेश नीति में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हुई। उसने पश्चिमी शक्तियों का रवैया अपने अनुकूल न पाया अतः वह धुरी शक्तियों की ओर झुका। उसे जर्मनी से सन्धि करने में अधिक लाभ की आशा दिखायी दी।

(i) पश्चिमी शक्तियों से असहयोग—रूस को 1934 में ही यह अनुभव होने लगा था कि उसे अपनी आत्म-रक्षा के लिए युद्ध करना पड़ेगा। अतः उसी समय से वह आत्म-रक्षा के कार्य मे जुट गया था। उसने अपनी सैनिक शक्ति बढानी प्रारम्भ कर दी तथा इधर-उधर यूरोपीय राज्यों से सन्धियाँ प्रारम्भ कर दी थी। 2 मई 1935 को फ्रास से सन्धि कर ली थी पर उसे विश्वास न हुआ था कि फ्रास से उसे युद्ध मे सहायता मिलेगी। फ्रास रूढ़िवादी था और रूस से घृणा करता था। यही दशा ब्रिटेन के पूँजीपतियो की थी। फ्रास और ब्रिटेन की इच्छा थी कि फासीवाद और साम्यवाद की टक्कर हो। वे उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे जब जर्मनी भूखे शेर के समान रूस पर झपटेगा और उसे नष्ट करके दम लेगा। दोनो देशो (फ्रास और ब्रिटेन) ने जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपना रखी थी। वे सोवियत रूस से सहयोग करने के लिए तैयार नही दिखाई

देते थे। रूस स्पष्टतः यह देख रहा था कि ब्रिटेन हिटलर को प्रसन्न रखने का बराबर प्रयत्न कर रहा है।

जर्मनी भी फ्रांस और इंगलैण्ड को प्रसन्न करने में लगा था। साम्यवाद का वह घोर विरोध कर रहा था और साम्यवादी विरोधी शक्ति का गठबन्धन कर रहा था। 1937 में "रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी" स्थापित हो गयी थी। हिटलर स्पष्टतः कह रहा था कि उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य साम्यवाद को जड़ से उखाड़ फेंकना है। रूस अनुभव कर रहा था कि वही धुरी शक्तियों का अकेले मुकाबला नहीं कर सकता है। 1935 में जब इटली ने इथोपिया पर आक्रमण किया तो रूस ने राष्ट्र संघ से इटली के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करने के लिए माँग की पर फ्रांस और ब्रिटेन इटली के पक्ष में थे, अतः मुसोलिनी निर्भय होकर मनमानी कार्यवाही कर रहा था। 1936 में स्पेन का गृह-युद्ध प्रारम्भ हुआ। मुसोलिनी और हिटलर विद्रोही फ्राको को हर प्रकार की सहायता देने लगे। रूस ने यद्यपि स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार की सहायता की पर उससे कोई लाभ न हुआ क्योंकि फ्रांस और ब्रिटेन तटस्थ नीति अपना रहे थे इतना ही नहीं स्पेनिस सरकार के हथियार खरीदने पर प्रतिबन्ध लगाये हुए थे। स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार का विनाश होना साफ दिखायी दे रहा था।

हिटलर ने आस्ट्रिया को 1938 में हथिया लिया। रूस ने एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का सुझाव दिया पर फ्रांस और ब्रिटेन ने इस सुझाव को मानने से इन्कार कर दिया। आस्ट्रिया पर अधिकार कर हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया को लेने के लिए अभियान चलाया। लिटविनोव ने अपील की कि मिल-जुलकर चैकोस्लावाकिया की रक्षा की जाय। यद्यपि रूस भी चैकोस्लावाकिया की रक्षा का वचन दे चुका था। पर वह तभी कोई कार्यवाही कर सकता था जब फ्रास पहल करता। फ्रास ब्रिटेन के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता था और ब्रिटन हिटलर को असन्तुष्ट नहीं कर सकता था। अकेले रूस चैकोस्लावाकिया की रक्षा हित कोई कार्य नही करना चाहता था। फ्रांस एव ब्रिटेन ने हिटलर को प्रसन्न करने के लिए चैकोस्लावाकिया की बलि चढा दी। म्यूनिख पैक्ट हुआ और सुडेटनलैण्ड पर जमनी का अधिकार मान लिया गया। मार्च 1939 को हिटलर ने बचे-खुचे भाग पर भी कब्जा कर लिया और चैकोस्लावाकिया का नामोनिशान समाप्त कर दिया।

(ii) **जर्मनी और रूस की अनाक्रमण सन्धि**—म्यूनिख समझौते मे यह सिद्ध कर दिया कि फ्रांस और ब्रिटेन अपने स्वार्थ के हित के अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो का कोई मूल्य नही समझते हैं। चैकोस्लोवाकिया के शेष अंग को जर्मनी ने जब हड़प लिया तो ब्रिटेन को अब युद्ध सिर पर दिखाई देने लगा। रूस की अपेक्षा अब ब्रिटेन को जर्मनी अधिक खतरनाक लगने लगा। उसने सोवियत रूस से मिलकर गुट बनाना चाहा पर रूस ने स्पष्टतः पर बता दिया कि वह बाल्टिक सागर के तटीय राज्यों के लिए गारण्टी चाहता है जिसके लिए ब्रिटेन तैयार न हुआ। जमनी का अब अभियान पोलैण्ड के विरुद्ध प्रारम्भ होने वाला था। ब्रिटेन ने पोलैण्ड को गारण्टी दी थी वह चाहता था कि रूस भी पोलैण्ड की रक्षा की गारण्टी दे पर रूस ने उपयुक्त गारण्टी को पुनः दोहराया, ब्रिटेन ने फिर इन्कार कर दिया। स्टालिन मूर्ख न था। लिटविनाव ने विदेशमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया क्योंकि वह फासिस्टों से किसी प्रकार की वार्ता करने को तैयार न था।

3 मई 1939 को पश्चिमी देशों का समथक मोलारोव रूस का विदेशमन्त्री बना। मोलोरोव ने जर्मनी से मित्रता की वार्ता चलाई। 22 अगस्त 1939 को जमनी का विदेशमन्त्री रिबनट्राप मास्को पहुँचा और उसी अर्धरात्रि को दोनो देशो के बीच तटस्थता और अनाक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. रूस की साम्यवादी क्रान्ति से पूर्व क्या दशा थी ? क्रान्ति के कारणों पर प्रकाश डालिए।
   What was the condition of Russia before Bolshevik Revolution? Also throw light on the causes of the Revolution.
2. 'रूस के निरंकुश शासकों के मूर्खतापूर्ण कार्यों द्वारा देश की भीषण रूप से बिगड़ी हुई आर्थिक दशा का 1917 में क्रान्ति के रूप में विस्फोट हुआ।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
   'The Russian Revolution of 1917 was an economic explosion hastened by the stupidities of the autocratic ' Government of Czars." Discuss.
3. क्रान्ति की सफलता पर प्रकाश डालिए। उसके कारण भी बताइये।
   Throw light on the success of the Revolution. Discuss the causes of its success.
4. रूस की 1917 से 1924 तक की क्या विदेश नीति रही ? आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
   What was the foreign policy of Russia between 1917 to 1924? Discuss it critically.
5. "रूस की विदेश नीति उन सिद्धान्तों पर आधारित थी जो लेनिन द्वारा निर्मित हुए थे, इसमें सर्वोपरि सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीयवाद था।" विवेचना कीजिए।
   The foreign policy of Russia was based on the principles formulated by Lenin, above all on the principles of proletarian internationalism." Discuss.
6. सोवियत रूस की विदेश नीति 1924 से 1939 तक क्या रही ? आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
   Discuss the foreign policy of Soviet Russia from 1929 to 1939.
7. दो विश्व-युद्ध के बीच सोवियत रूस की विदेश नीति अस्थायी एवं परिवर्तनशील रही। व्याख्या कीजिए।
   The foreign policy of Soviet Russia was temporary and changing during the period of 1919-39. Explain.

26

दो विश्वयुद्धों के मध्य अमेरिका की विदेश नीति
(The Foreign Policy of U. S A. Between Two World Wars)

"यूरोपीय शक्तियों द्वारा किये गये आपसी युद्धों में न तो हमने भाग लिया है और न भाग लेने की कोई इच्छा है।" —मुनरो

"The isolation policy of U. S. A. was not ended, because we pleased to take part in world politics, but it ended due to the ability of the Americans and the development of our power. Our place in the history of the mankind has became a decisive factor'. In this situation you want or do not wart, we cannot remain aloof." —Wilson

सं० रा० अमेरिका की स्वतन्त्रता
(Independence of U. S. A)

सं० रा० अमेरिका प्रारम्भ में अमेरिका के पूर्वी समुद्री तट से लगे 13 पृथक उपनिवेशों के रूप में 1775 तक इंगलैण्ड के अधीन रहा। यह उपनिवेश ब्रिटिश शासन के अत्याचारों एवं शोषण से ऊब गये थे अतः वहां विद्रोह हो गया। ब्रिटेन ने विद्रोह को दबाने के लिए कठोर नीति अपनायी, जिससे शान्तिपूर्ण विद्रोह सशस्त्र विद्रोह मे बदल गया। 13 के 13 उपनिवेशों ने वाशिंगटन के नेतृत्व मे स्वतन्त्रता का संग्राम छेड़ दिया। 1776 में उन्होंने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। 7 वर्ष स्वतन्त्रता संग्राम चला अन्त मे ब्रिटेन को वर्साय की 1783 की संधि में संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वतन्त्रता को मान्यता देनी पड़ी।

स्वतन्त्रता तो सं० रा० अमेरिका को प्राप्त हो गयी पर उनके सामने अनेकों समस्यायें थी। उपनिवेश जो अब राज्य का रूप धारण कर चुके थे। भारी कर्जे के बोझा से दबे जा रहे थे, उनका व्यापार ठप्प हो गया था, पश्चिमी द्वीप समूह से ये राज्य व्यापार नही कर सकते थे क्योंकि ये द्वीप समूह अँग्रेजो के अधिकार मे थे। दूसरी विदेशी शक्तियां उनसे घृणा करती थीं और उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने के लिए तैयार न थीं। कर्जदार विद्रोही हो गये थे तथा मेसाचूसेट (Massachusetts) में तो विद्रोह फूट पड़ा था।

इन आर्थिक कठिनाइयों के अतिरिक्त राजनीतिक कठिनाइयाँ भी बहुत थी। तेरह उपनिवेश समान शत्रु के सामने एक हो गये थे पर स्वतन्त्रता पाने के बाद उनमें पुरानी मनोवृत्ति उभर आयी थी। एक केन्द्रीय शक्ति की बहुत आवश्यकता थी जो प्रान्तीयता की संकीर्ण भावना को मिटा सके और उनको एक सगठित जाति (राष्ट्र) में गठित कर सके। युद्ध के दौरान उनका एक ढीला-ढाला संघ बन गया था पर स्वतन्त्रता की घोषणा पर सब उपनिवेश अपनी-अपनी सम्प्रभुता का दावा करने लगे थे। कोई भी राज्य अपने को किसी केन्द्र के अधीन रखना पसन्द न करता था। यद्यपि उन राज्यों की एक कांग्रेस, न शान्ति के लिए उपयुक्त थी और न युद्ध के लिए।

संक्षेप में नया राज्य दिवालिया अवस्था में था। अव्यवस्था चारों ओर छायी हुई थी। एकता में अब फूट पड़ चुकी थी। स्थानीय ईर्ष्या सब उपनिवेशों की एकता मे बाधक थी।

इन समस्याओं पर विचार करने के लिए 1785 में फ्लाइडलफिया में सम्मेलन हुआ। सम्मेलन का अध्यक्ष पद जार्ज वाशिंगटन ने सम्भाला। पुराने संविधान में संशोधन करना बड़ा कठिन था अतः एक नये संविधान का मसविदा बनाने पर विचार हुआ। इस संविधान ने अन्त मे अमरीकनों को एक राष्ट्र मे बदल दिया। पर केन्द्र सरकार बनाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। पर अन्त मे सब कठिनाइयो को दूर कर एक संयुक्त संधीय सरकार का निर्माण किया गया।

सौभाग्य से अमेरिका को वाशिंगटन के रूप में एक ऐसा व्यक्ति मिला था जिसके प्रति सभी अमेरिकन आस्था रखते थे। 1789 में जब चुनाव हुआ तो वाशिंगटन सर्वसम्मति से राष्ट्रपति चुने गये। वे युद्ध मे शान्ति में तथा लोगों के हृदय मे स्थान रखने वाला एक ही व्यक्ति था। उसके सहायक एलेक्जेण्डर हैमिल्टन तथा थामस जेफरसन बड़े योग्य व्यक्ति थे पर वे एक दूसरे से भिन्न मत रखते थे। हैमिल्टन तो केन्द्र को मजबूत रखना चाहता था पर जेफरसन राज्यों को अधिक शक्तियां देना पसन्द करता था। हैमिल्टन वित्त सचिव था और उसने अपने को बहुत ही योग्य सिद्ध किया और उसने नये राज्य की प्रतिष्ठा को चार चांद लगा दिये। पर केन्द्र की शक्ति के विषय मे राज्यों में विद्रोह हो गये विशेषकर दक्षिणी राज्यो में। आगे चलकर हैमिल्टन एवं जेफरसन के हिमायतियों ने दो राजनीतिक दल खड़े कर दिये। हैमिल्टन फेड्रलिस्टो का नेता था तथा जेफरसन रिपब्लिकन का नेता था। इन दोनों राजनीतिक दलों मे ही अमेरिका सरकार बारी-बारी से बनती रही।

सं० रा० अमेरिका की विदेश नीति (प्रथम विश्व युद्ध तक)
(Foreign Policy of U. S. A. Up to I World War)

1783 में सं० रा० अमेरिका एटलांटिक महासागर के पश्चिमी किनारे पर 13 छोटे-छोटे राज्यो का एक संघात्मक राज्य स्थापित हुआ। उस समय से आज तक यह बराबर उन्नति करता रहा। आज इस सघ मे 50 राज्य हैं यह पूर्व मे एटलांटिक सागर तथा पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ है। 1812 में ब्रिटेन से और 1861-65 के गृह-युद्ध से यह अवश्य ग्रसित रहा। इसके अतिरिक्त उसे किसी युद्ध मे सम्मिलित होना नही पड़ा अतः पुरानी दुनिया से दूर, अलग-अलग यह शान्तिमय और एकान्त मे बराबर उन्नति करता रहा। व्यापार मे इसने खूब धन कमाया और औद्योगिक उन्नति में सभी देशों मे आगे बढ़ गया। समृद्धिशाली होने के अलावा सं० रा० अमेरिका विश्व का सर्वशक्तिशाली देश है। यहाँ हमें सं० रा० अमेरिका की विदेश नीति का अध्ययन करना है, विशेषकर दो महायुद्धों के मध्य में।

1914 तक सं० रा० अमेरिका की विदेश नीति (Foreign Policy of U. S. A. upto 1914)—1776 से 1914 तक के लम्बे काल में सं० रा० अमेरिका की विदेश नीति रही। इस काल मे विभिन्न देशो से उसके कैसे सम्बन्ध रहे, उसका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है—

(1) **वाशिंगटन की विदेश नीति**—सयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माता वाशिंगटन था। उसे सर्वप्रथम अपने नये राज्य को सुव्यवस्थित करना था, आर्थिक-स्थिति मे सुधार करना था, आपसी वैमनस्यता को दूर कर 13 राज्यो को एकसूत्र मे बांधना था एवं देश में शान्ति एवं सुरक्षा का वातावरण स्थापित करना था अतः वह विदेशो के झगड़ो से दूर रहना चाहता था। उसने अपने शासन काल मे तटस्थता की नीति अपनायी। इस नीति के पक्ष मे उन्होंने कहा था कि "विदेशो से व्यवहार करते समय अपना यह उद्देश्य है कि व्यापारिक सम्बन्ध सुदृढ़ तथा राजनीतिक सम्बन्ध

कम से कम रहें। हमें यूरोप के झगड़ों से बिल्कुल विलग होकर तटस्थता की नीति निर्धारित करना है, यही हमारी सफलता की कुंजी है। इसी से हमारी प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी। हमें किसी भी देश के साथ स्थायी सन्धियाँ अथवा समझौतों में नहीं बंधना चाहिए, केवल गम्भीर अवस्था में अस्थायी सन्धि की जा सकती है।" अपने प्रथम राष्ट्रपति के परामर्श को आगे आने वाले सभी राष्ट्रपतियों ने स्वीकार कर तटस्थता की नीति अपनायी। अमेरिकी सफलता और उन्नति की पृष्ठभूमि में तटस्थता की नीति ही है।

जेफरसन ने भी वाशिंगटन की नीति का अनुसरण किया। उनका कहना था "शान्तिपूर्ण व्यापार सबके साथ, पर झंझट पैदा करने वाली सन्धियाँ किसी के साथ भी नहीं।"

हमें एक बात का ध्यान रखना है कि "वाशिंगटन की तटस्थता या पार्थक्य की नीति का *विशेष सम्बन्ध यूरोप की राजनीतिक गतिविधियों में सम्मिलित न होने से था।"* लैटिन अमेरिका से इसका कोई सम्बन्ध न था। वहाँ अमेरिका ने अहस्तक्षेप की नीति का पालन नहीं किया। वहाँ बराबर उसका हस्तक्षेप चलता रहा। प्रो० शूमैन ने कहा कि "वास्तविक राजनीति की परिभाषा में पार्थक्यवाद तथा उस पर आधारित अहस्तक्षेप और संघर्षों में न उलझने द्वारा सुरक्षा पाने की नीति का वस्तुतः कभी अस्तित्व नहीं रहा है।"

(2) *मुनरो सिद्धान्त*—*नेपोलियन बोनापार्ट ने यूरोप में अपनी नीति से तहलका मचा* दिया था। उसने यूरोप को जीतने का प्रयत्न किया। यूरोप के राज्यों ने संगठित होकर नेपोलियन का सामना किया। इन्हीं युद्धों के बीच एक समय ऐसा आया जब अमेरिका की शान्ति भंग होने की स्थिति थी।

(i) **फ्रांस की राजक्रान्ति का प्रभाव**—फ्रांस की क्रान्ति का संयुक्त राज्य अमेरिका पर *गहरा प्रभाव पड़ा। अमेरिकन इस क्रान्ति को अमेरिकन क्रान्ति का ही एक अंग मानते थे।* चूँकि फ्रांस ने अमेरिकन क्रान्ति के समय अमेरिका की बड़ी सहायता की थी अतः अमेरिकनों का फ्रांस क्रान्ति में दिलचस्पी लेना स्वाभाविक ही था। इस सहानुभूति से अमेरिका स्थित फ्रांस के राजदूत ने लाभ उठाना चाहा। चूँकि ब्रिटेन क्रान्ति का विरोधी था अतः फ्रांस और ब्रिटेन में भी युद्ध छिड़ गया था। फ्रांस के प्रतिनिधि जीनेट (Zenet) ने अमेरिका बन्दरगाहों से अंग्रेजी जहाजों को नष्ट *करने के लिए निजी जहाज भेजना प्रारम्भ कर दिया। वाशिंगटन ने यह पसन्द न किया क्योंकि* यह अमेरिका की तटस्थ नीति के विरुद्ध था। उसने फ्रांस से प्रार्थना की कि वह जीनेट को अपने देश वापस बुला लें। 1793 में किया गया यह कार्य इंग्लैंड की मित्रता को कायम रखने के लिए किया गया था पर ब्रिटेन ने वाशिंगटन के सामने कठिनाई उपस्थित कर दी।

(ii) **ब्रिटेन और अमेरिका में मतभेद**—नेपोलियन युद्धों में लगभग समस्त यूरोप संलग्न था अतः सभी यूरोपियन देशों का व्यापार ठप्प सा हो गया था इंग्लैंड भी इन युद्धों में घिरा होने से व्यापार पर अधिक ध्यान न देता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अमेरिकन व्यापार 'दिन दूना रात चौगुना" बढ़ रहा था। ब्रिटेन को अमेरिका से ईर्ष्या होने लगी। चूँकि ब्रिटेन अमेरिका को गत युद्ध के कारण अपना शत्रु समझता था अतः उसने अमेरिकन जहाजों पर दबाव डालना प्रारम्भ किया। उसने इस शंका से कि अमेरिकन वहाँ विनिषिद्ध माल तो नहीं ढो रहे, उनको रोकना एवं उनकी तलाशी लेना प्रारम्भ किया। इसमें अमेरिका में ब्रिटेन के विरुद्ध क्रोध एवं बदले की भावना जाग उठी। रिपब्लिकनों ने माँग की कि ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया जाय। परन्तु वाशिंगटन अपनी तटस्थ नीति पर अडिग रहा तथा इस उत्तेजना को दबाने के लिए ब्रिटेन *से पत्र-व्यवहार प्रारम्भ किया। इस उद्देश्य से उन्होंने अमेरिका के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री जय* (Jay) को इंग्लैंड भेजा। इंग्लैंड और अमेरिका में सन्धि हो गयी जो जय-सन्धि 1795 (Jay's

Treaty of 1795) कहलाती है। इस प्रकार दोनों देशों में उत्तेजना एवं विरोध की भावना शान्त हुई। रिपब्लिकन इस संधि से नाराज थे पर सीनेट ने संधि का अनुमोदन कर दिया।

(iii) **फ्रांस से युद्ध की सम्भावना**—1787 में वाशिंगटन तीसरी बार चुनाव लड़ने को तैयार न हुए उनका उत्तराधिकारी एडम्स (Adams) बना। फ्रांस अमेरिका पर जोर डाल रहा था कि वह इङ्गलैंड के विरुद्ध फ्रांस की सहायता करे तथा 1778 की संधि को मजबूत बनाये तथा वह साथ-साथ अपने कर्जे की अदायगी तुरन्त होने की मांग कर रहा था। फ्रांस 'जय-संधि' को अपने विरुद्ध समझ रहा था अतः उसका रवैया शत्रुतापूर्ण हो रहा था। अमेरिकन जहाजों में संघर्ष भी हुए थे। नेपोलियन ने इस बीच फ्रांस की सत्ता पर अधिकार कर लिया था। उसने शीघ्र अमेरिका से समझौता कर लिया और उसे पिछली संधियों के दायित्व से मुक्त कर दिया था इस प्रकार अमेरिका की तटस्थता बनी रही।

(v) **ट्रीपोली से जल युद्ध**—1800 ई० मे जेफरसन राष्ट्रपति बना। यद्यपि उसने आन्तरिक मामलो में कोई परिवर्तन नहीं किया। उसने घोषणा की कि "सभी राष्ट्रो से मित्रता और झगड़ों में फँसने वाली सधि किसी राष्ट्र से नही।" यद्यपि वह शान्ति का प्रबल पक्षपाती था पर जगली समुद्री डाकुओ के मामले में उसे ट्रीपोली से जल युद्ध करना पडा। इसमें उसे सफलता मिली।

(v) **लूसीयाना का मामला**—लूसीयाना (Louisiana) प्रदेश मिसीसिपी के पश्चिम में स्थित था जिस पर स्पेन का अधिकार था। स्पेन को नेपोलियन ने विवश किया कि वह लूसीयाना प्रदेश फ्रांस को समर्पित कर दे। 1801 मे फ्रांस का उस पर अधिकार हो गया। मिसीसिपी के हटाने पर न्यूओरलेंस (New Orleans) का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। वह समुद्र तक पहुंचने का महत्वपूर्ण स्थान था। उस पर एक शक्तिशाली राज्य का प्रभुत्व होना अमेरिका के लिए खतरनाक था। जेफरसन इस खतरे को अच्छी प्रकार जानता था। उसने फांस को चेतावनी दी कि यदि इस प्रदेश को फ्रांस ने छोड़ा तो "हम अपना जहाजी बेड़ा इङ्गलैंड के जहाजो बेड़े से मिला देंगे। फ्रांस जो इगलैण्ड से किसी समय युद्ध छेड़ सकता था, अमेरिका को नाराज नही करना चाहता था अतः नेपोलियन ने 15 मिलियन डालर मे उस प्रदेश को अमेरिका के हाथ बेचने का सुझाव रखा। 1803 में अमेरिका ने लूसीयाना प्रदेश खरीद कर देश को खतरे से बचा लिया। इस प्रदेश का महत्व अमेरिका के लिए बहुत था। वह अब प्रशान्त महासागर में आसानी से पहुंच सकता था। उसने इस प्रदेश को 6 छोटे राज्यों में बाँट दिया। अमेरिका राज्य इस प्रकार दो भागो में बँट गया उत्तरी अमेरिका राज्य तथा दक्षिणी अमेरिका राज्य इसके अतिरिक्त राजनीतिक दृष्टि से पूर्व और पश्चिम का सन्तुलन उलट गया।

(vi) **इंगलैंड से युद्ध**—नेपोलियन युद्धों के कारण अमेरका को इङ्गलैंड से संघर्ष करना पड़ा। इस युद्ध का कारण था नेपोलियन का कण्टीनेण्टल सिस्टम (Continental System)। इससे फ्रांस ने यूरोप के पूर्ण तट को इङ्गलैंड के लिये बन्द कर दिया था। इंगलैण्ड ने इसके विरुद्ध यूरोप की घेराबन्दी कर दी थी और घोषणा कर दी थी कि सभी तटस्थ जहाज जो फ्रांस और उसके मित्र देशों से व्यापार करते पाये गये, उन्हें पकड़ लिया जायगा और उन्हें युद्ध का इनाम (Prize) समझा जायगा। इस घोषणा से अमेरिकन व्यापार को बड़ी ठेस पहुंची जो युद्धकाल में बहुत विकसित हो गया था। अमेरिकन जहाज न इंगलैण्ड से व्यापार कर सकते थे और न फ्रांस से कोई बन्दरगाह उन्हें सुरक्षित न दिखाई देता था। दोनों देशों के युद्ध पोत अमेरिकन जहाजों को पकड़ते और विनिषद्ध माल की शंका में उनकी तलाशी लेते। चूंकि इंगलैण्ड की जल-शक्ति फ्रांस से कई गुना बड़ी हुई थी अतः अमेरिका को इंगलैण्ड से अधिक हानि हो रही थी।

चूंकि अमेरिकन जहाजो मल्लाहों को अधिक वेतन एवं सुविधा देते थे अतः अनेक अंग्रेजी मल्लाह ब्रिटेन के जहाजों की नौकरी छोड़कर अमेरिकन जहाजों पर काम करने लगे थे, इससे

इगलैण्ड बोखला गया। अब वह अमेरिकन जहाजो की तलाशी केवल विनिपद्ध (Contraband) माल के लिए नहीं लेते थे बल्कि भगोड़े मल्लाहों को पकड़ने के लिए भी लेते थे। इन अंग्रेजी मल्लाहों को पकड़ने मे ब्रिटिश जल सेना सफल न हुई तो उसने राष्ट्रीयता का ध्यान किये बिना भी मल्लाहों को पकड़ना प्रारम्भ कर दिया। अमेरिका में पहले से ही उत्तेजना फैली हुई थी, अमेरिकन मल्लाहों के पकड़े जाने पर वह इंगलैण्ड से युद्ध करने के लिए तैयार हो गया। जेफरसन शान्ति प्रिय व्यक्ति था, उसने शान्तिमय उपायों से इस समस्या का समाधान करना चाहा।

जेफरसन ने एक आदेश निकाल कर अमेरिकन बन्दरगाहों में विदेशी जहाजों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया। इसके साथ इंगलैण्ड और फ्रांस के विरुद्ध 'नान इन्टरकोर्स एक्ट' (Non-Intercourse Act) पास कर दिया। इन तरीकों से अमेरिकन व्यापारी और भी भय खा गये और उन्हें ये कानून अपमानजक प्रतीत हुए। इसी बीच जेफरसन ने अवकाश प्राप्त कर लिया और उनके स्थान पर मैडीसन (Madison) राष्ट्रपति बने (1808)। यद्यपि मैडीसन भी जैफरसन के समान युद्ध से दूर भागता था पर कांग्रेस उसे देश के सम्मान के नाम पर युद्ध घोषित करने के लिए दबाव डाल रही थी। कनाडा में बसे लोग भी खतरा अनुभव कर रहे थे। कनाडा के अधिकारी भारतीयों को पश्चिम की ओर बढ़ने से रोक रहे थे। 1812 में अन्ततः ब्रिटेन के विरुद्ध अमेरिका ने युद्ध की घोषणा कर दी।

यह युद्ध दो वर्ष तक चला। यह युद्ध दोनों जातियों के गौरव को बढ़ाने वाला न था। इस युद्ध से यदि लाभ हुआ तो कनाडा वालों को हुआ। अमेरिका के आक्रमण को कनाडा के सैनिकों ने विफल कर दिया। जल युद्ध में अमेरिकनों का हाथ ऊपर रहा। एक ही जल युद्ध में ब्रिटिश जलसेना को अपमानजनक हार का सामना करना पड़ा। 1813 मे पासा पलट गया। जब कप्तान ब्रूकी ने जो शनन (Shannon) जहाज का कप्तान था, अमेरिका के जहाज, चीपसेक (Cheaposake) को पकड़ लिया। यह संघर्ष 15 मिनट चला था। अन्य घटनायें साधारण थीं। जब इगलैण्ड ने प्रायद्वीप युद्ध मे विजय प्राप्त करली तो उसने दो दल अनुभवी सैनिकों के अमेरिका के विरुद्ध भेजे। एक ने वाशिंगटन पर कब्जा कर लिया तथा सार्वजनिक भवनों को जिनमें ह्वाइट हाउस भी था आग लगा दी। दूसरे दल ने न्यू ओरलेन्स को अधिकार में लेना चाहा पर वह बुरी तरह असफल रहा। अन्त मे घेन्ट की संधि (Treaty of Ghent) 1914 द्वारा दोनों देशों के मध्य युद्ध बन्द हो गया। उधर नेपोलियन युद्धों का भी अन्त हो गया और अमेरिका का तटस्थ व्यापार पुनः चालू हो गया।

(vii) मुनरो सिद्धान्त की घोषणा—नेपोलियन युद्धों के बाद वियना कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमे यूरोप कन्सर्ट बना जिसका उद्देश्य यूरोप में शान्ति स्थापना था। चार देशों में संधि हो गई और उन्होंने सहयोग से कार्य करने का वचन दिया। 1818 में इस कन्सर्ट में फ्रांस भी सम्मिलित हो गया। कन्सर्ट में रूस, आस्ट्रिया तथा फ्रांस प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ थी। उन्होंने यूरोप मे उदारवाद और राष्ट्रवाद के आन्दोलन को कुचलना चाहा। इंगलैण्ड ने उसका विरोध किया। 1820 में नेपल्स, स्पेन तथा पुर्तगाल में विद्रोह हो गया। इन देशों मे क्रान्तिकारियों ने अपनी सरकारों को अपने संविधानों में संशोधन करने को विवश किया। यूरोप कन्सर्ट के सदस्य इन विद्रोहों को कुचलना चाहते थे पर उनमें विरोधी मतभेद खड़ा हो गया। रूस के जार ने स्पेन की सरकार को विद्रोह कुचलने के लिए सहायता देने का प्रस्ताव रखा पर आस्ट्रिया के प्रधानमन्त्री मैटरनिख ने इसका विरोध किया। पर वह नेपल्स के विद्रोह को स्वयं कुचलने के लिए तैयार हो गया। अन्य शक्तियों ने नेपल्स का मामला तय कर दिया। रूस, एशिया तथा इटली ने यह मत प्रकट किया कि यूरोप में कहीं भी विद्रोह या क्रान्ति होती है, वह सभी यूरोपीयन देशों के लिए

खतरनाक है, अतः उसे सामूहिक शक्ति से कुचल देना चाहिए। फ्रांस और इंगलैण्ड ने इस सुझाव का विरोध किया। यूरोप कन्सर्ट के भंग होने का खतरा पैदा हो गया।

स्पेन का विद्रोह जब भयानक रूप धारणा कर गया तो फ्रांस ने दूसरी शक्तियों की सहायता से उसे कुचल दिया और राजा फर्डीनेन्ड को पुनः निरकुश शासन करने की स्वतन्त्रता दे दी। इंगलैण्ड ने यूरोप कन्सर्ट का त्याग कर दिया। वह फ्रांस का प्रभुत्व स्पेन पर नही देख सकता था। उसे यह भी भय था कि फ्रांस स्पेन को दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों को पुनः अधिकार से लेने मे सहायता करेगा। ये प्रदेश नेपोलियन युद्धों के समय स्वतन्त्र हो गये थे और इंगलैण्ड को इन उपनिवेशो से व्यापार करने में बड़ा लाभ हो रहा था। स्पेन के द्वारा पुनः कब्जे से इंगलैण्ड का विदेशमन्त्री कैनिग (Cannings) ने निश्चय किया कि यदि फ्रास स्पेन पर प्रभाव जमाता है तो स्पेन के सभी दक्षिणी अमेरिकन उपनिवेशों से उसका सम्बन्ध समाप्त करना होगा। इसके लिए उसने अमेरिका से मित्रता करली और दोनों ने मिलकर स्पेनिश उपनिवेशों की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी। कैनिग ने अमेरिकन राष्ट्रपति मुनरो को अपने प्रसिद्ध मुनरो सिद्धान्त को घोषित करने को राजी कर लिया। 1823 में राष्ट्रपति मुनरो ने अपने सिद्धान्त की घोषणा कर दी। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय मुनरो ने यूरोपीय शक्तियों को चेतावनी देते हुए कहा था कि "हम बता देना चाहते है कि यदि उन्होने (यूरोपीय राज्यों ने) अपनी प्रणाली को इस गोलार्द्ध मे फैलाने का कोई प्रयत्न किया तो उनके इस यत्न को हमारी शान्ति एवं सुरक्षा के लिए खतरा समझा जायगा...... यदि यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा हस्तक्षेप किया गया तो हम उसे संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति अमित्रता पूर्ण रुख के अतिरिक्त और कुछ न समझ सकेगे।"

इस घोषणा का अर्थ था कि अमेरिका के महाद्वीप अमेरिका वालों के लिए सुरक्षित हैं, यूरोप की शक्तियां उनमे अपना साम्राज्य विस्तार नहीं कर सकती हैं। मुनरो का यह भी कहना था कि वे यूरोपीय झगड़ों मे कोई भाग न लेगे और वे यूरोप वालो को अमेरिकन महाद्वीप के झगड़ों मे भाग न लेने देंगे। उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यूरोप के जो उपनिवेश दक्षिणी अमेरिका मे स्थित है उन्हें वे स्वतन्त्र देखना पसन्द करेंगे।

इस सिद्धान्त का अभिप्राय वाशिंगटन सिद्धान्त से मिलता-जुलता था। इसे पार्थक्य सिद्धान्त भी कहा जाता था। 19वीं शताब्दी अमेरिका ने इस पार्थक्य नीति (Isolation Policy) या "अहस्तक्षेप नीति" का पालन किया।

(3) **अमेरिकी साम्राज्यवाद**—यद्यपि यूरोपीय मामलो मे अमेरिका ने पार्थक्य का सिद्धान्त अपनाया पर दक्षिणी अमेरिका तथा पूर्वी एशिया में उसने हस्तक्षेप की नीति अपनाई। लैटिन अमेरिका को संयुक्त राज्य अमेरिका अपने प्रभाव में लाना चाहता था। वह साम्राज्यवादी नीति अपनाकर पुरे दक्षिणी अमेरिका को अपने साम्राज्य का अग बनाना चाहता था। यदि यह कहा जाय कि मुनरो सिद्धान्त के पीछे साम्राज्य विस्तार की भावना छिपी हुई थी तो अनुचित न होगा। अमेरिका एक बड़ा साम्राज्य स्थापित करने के विचार से आगे बढ़ा। इसे पान-इम्पीरियल-इज्म का भी नाम दिया गया।

19वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही अमेरिका ने साम्राज्यवादी दृष्टिकोण अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। 1803 में उसने नेपोलियन बोनापार्ट से लूसीयाना प्रदेश खरीद लिया था और 6 नये राज्यों का निर्माण किया था, फिर उसने अमेरिका के पश्चिमी क्षेत्रों पर कब्जा करना प्रारम्भ कर दिया था। यूरोप से भी अनेक लोग भाग कर अमेरिका पहुँचने लगे थे इनमे अनेक लोग जमीन खरीदना चाहते थे। अमेरिका ने इन्हें जमीन बेचना प्रारम्भ किया। इस प्रकार अमेरिका की आबादी बढ़ने लगी और अनेक राज्यों का निर्माण होने लगा जो अमेरिकन संघ के सदस्य बन गये। अमेरिका का विस्तार जब पश्चिम में होने लगा तो मैक्सिको तथा स्पेनिश फिलोरिडा को खतरा

पैदा हो गया। उन्होंने विस्तारवादियों के कार्य मे बाधा डालना प्रारम्भ कर दिया। 1819 मे अमेरिका ने स्पेन पर दबाव डाला कि वह फिलोरिडा को अमेरिका को समर्पित कर दे। स्पेन को झुकना पड़ा और फिलोरिडा पर अमेरिका का अधिकार हो गया।

इसके बाद टेक्सास और मैक्सिको की ओर अमेरिका ने ध्यान दिया। 1834 मे दोनों देशों मे युद्ध छिड गया। अपनी सैनिक शक्ति के बल पर अमेरिका ने केलिफोर्निया, नवेडा, ऊटा, अरीजाना और मैक्सिको पर अधिकार कर लिया। टेक्सास में अमेरिकन शीघ्रता से प्रवेश करने लगे और शीघ्र ही वह अमेरिकन उपनिवेश बन गया। टेक्सास पर मैक्सिको का अधिकार था। 1836 में वहाँ विद्रोह हो गया और टेक्सास स्वतन्त्र हो गया तथा अमेरिका संघ का सदस्य बन गया। अमेरिका सरकार ने मैक्सिको से संधि करली और उसे इन उपनिवेशों के बदले मे धन दे दिया गया। इस प्रकार अमेरिका का विस्तार प्रशान्त महासागर के तट तक हो गया। केलिफोर्निया में सोने की खानें मिलने से विश्व के अनेक देशों के लोग वहाँ आ आकर बसने लगे। वह भी एक राज्य बन गया और संघ का सदस्य बन गया।

केलिफोर्निया के उत्तर में ओरिगन (Oregon) प्रदेश था जिस पर इंगलैण्ड और अमेरिका कब्जा करने के इच्छुक थे। दोनो मे एक समझौता हो गया और उस प्रदेश का बँटवारा हो गया। पर दोनो की सीमा निश्चित करने मे इंगलैण्ड अमेरिका मे मतभेद हो गया। अमेरिकन डेमोक्रेटिक पार्टी इंगलैण्ड से युद्ध करने की माँग करने लगी और पूरे ओरिगन क्षेत्र पर कब्जा करने की माँग करने लगी। अमेरिका में चुनाव हुए और राष्ट्रपति पोल्क ने समझौते का सिद्धान्त अपना लिया 49 अक्षांश रेखा कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका की सीमा रेखा निश्चित हो गई (1846)।

1898 में अमेरिका ने स्पेन से युद्ध कर फिलिपाइन द्वीप समूह, प्युटोरिका और क्यूबा छीन लिया। अमेरिकन निवासियों की माँग पर अमेरिका सरकार ने हवाई द्वीप समूह को साम्राज्य मे मिला लिया। 1900 ई० में उसने पनामा क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। यहाँ एक नहर बनाकर एटलांटिक महासागर को प्रशान्त महासागर से जोड़ दिया। लैटिन अमेरिका मे बराबर गड़बड़ी एवं झगड़े बने रहते थे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने दावा किया कि उसे लैटिन अमेरिकन राज्यों में हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त है। वहाँ की अशान्ति से लाभ उठाकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने शान्ति स्थापना के बहाने से निकारागुआ, हायटी आदि राज्यो पर अपना राजनीतिक अधिकार प्राप्त कर लिया। यद्यपि इन राज्यो को साम्राज्य का अंग नही बनाया गया पर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का इन पर आर्थिक प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार इनकी स्थिति संरक्षित राज्यों जैसी हो गई।

अमेरिका जापान पर भी अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। जापान किसी विदेशी शक्ति से सम्पर्क नही रखना चाहता था उसने व्यापार के लिए भी विदेशी शक्तियों के लिए अपने दरवाजे बन्द कर रखे थे। 1853 मे अमेरिकन नौ सेना के कमांडर कमडोर पेरी ने जापान को डरा धमका कर उसके साथ व्यापारिक संधि की एवं अनेक सुविधायें प्राप्त की। अमेरिका चीन में भी घुस गया और अन्य यूरोपीय शक्तियों के साथ चीन का शोषण करने लगा। उसने यहाँ "उन्मुक्त द्वार नीति अपनाई" इसका अर्थ था चीन का समानता के आधार पर सब महान-शक्तियों द्वारा शोषण। इसका परिणाम चीन में बोक्सर युद्ध हुआ। अमेरिका इस विद्रोह को दबाने मे पीछे न रहा। सब यूरोपीयन शक्तियों के साथ मिलकर अमेरिका ने बोक्सर विद्रोह को कुचल दिया।

इस प्रकार साम्राज्यवादी नीति और पार्थक्य का सिद्धान्त आपस मे मेल नहीं खाते थे। अमेरिकन विदेश नीति को पार्थक्य सिद्धान्त पर आधारित करना पार्थक्य शब्द का दुरुपयोग है

अमेरिका अपने राष्ट्रीय स्वार्थ की पूर्ति मे विश्व राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने मे पीछे नहीं हटा। स्वार्थ पूर्ति के बाद वह एकान्तवास करने लगता था।

(4) अमेरिका की विश्व राजनीति में दिलचस्पी—ब्रिटेन और फ्रांस के समान ही अमेरिका एक पक्का साम्राज्यवादी देश था। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही, उसने विश्व राजनीति में दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ कर दी। 1901 में थियोडोर रूजवेल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति बना। उसी समय से अमेरिका ने संसार मे हाथ-पैर फैलना प्रारम्भ कर दिये। राष्ट्रपति रूजवेल्ट यह समझने लगा कि अमेरिका विश्व की महानतम शक्ति है अतः उसे विश्व राजनीति मे अपना प्रभाव बढ़ाने का निश्चय किया। प्रारम्भ मे तो उसने लैटिन अमेरिका के पड़ोसी राज्यों की समस्याओं मे दिलचस्पी ली फिर उसने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। 1904-5 मे जापान-रूसी युद्ध को समाप्त करने मे उसने दिलचस्पी ली और उस युद्ध को समाप्त कराने मे उसे सफलता प्राप्त हुई। कुछ विद्वानों का कहना है कि अमेरिका ने रूस-जापान युद्ध को बन्द करने के लिए शान्ति स्थापना के उद्देश्य से दिलचस्पी नही ली, बल्कि जापान के बढ़ते हुये प्रभाव को कम करने के लिए उसने यह हस्तक्षेप किया था। 1906 में जर्मनी और फ्रांस मे मोरक्को के विषय पर झगड़ा प्रारम्भ हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका ने मध्यस्थता कर दोनों देशों मे समझौता कराया और विश्व शान्ति को भंग होने से बचाया। इसके अतिरिक्त उसने हेग के पंचायती न्यायालय का समर्थन किया और उसमे दो बड़े अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमे भेजे। इतना होने पर भी यूरोपीय झगड़ो में पड़ने से अमेरिका ने अपने को दूर ही रखना पसन्द किया। वह तटस्थ देश के रूप में कार्य करता रहा।

(5) अमेरिका का प्रथम विश्व युद्ध में भाग लेना—1914 मे जब यूरोप मे प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा तो अमेरिका मेक्सिको के झगड़े मे फँसा था। अमेरिका मे अनेक जर्मन निवास करते थे अत. अमेरिकन सरकार जर्मनी से सहानुभूति रखती थी। परन्तु अमेरिका मे ब्रिटिश एवं फ्रेन्च जाति के लोग अधिकांश रूप से बसे थे जो जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस के पक्ष में थे। उस समय अमेरिका का राष्ट्रपति विल्सन था जो एक आदर्शवादी विचारक था। वह यूरोप के झगड़ो मे नही पड़ना चाहता था। जर्मन पनडुब्बियाँ जब तक मित्र राष्ट्रों के जहाजों को डुबाती रही तब तक अमेरिका प्रथम विश्व युद्ध का तमाशाही बना रहा पर जब जर्मन पनडुब्बियों ने अमेरिका के निःशस्त्र तेलवाहक जहाजो को डुबाना प्रारम्भ किया तो अमेरिका में उत्तेजना फैल गई। 6 दिन बाद एक अमेरिकन जहाज जो न्यूयार्क से चला, उसमे 128 एव 1200 अन्य जातियो के सदस्य थे, जर्मन पनडुब्बी द्वारा डुबा दिया गया। इससे अमेरिका में युद्ध का वातावरण छा गया। इससे पूर्व अमेरिका युद्धरत राज्यो को युद्ध सामग्री बेच-बेचकर काफी आर्थिक लाभ उठा रहा था। उसने फ्रांस, ब्रिटेन एव जर्मनी को काफी समान कर्ज के रूप मे भी दिया था।

जर्मनी के रवैये से अमेरिकन लोग नाराज थे। अमेरिका का कर्जा मित्र राष्ट्रो पर बहुत चढ़ा था। यदि मित्र राष्ट्र हार जाते तो वह कर्जा डूब जाने का भय था। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड की समुद्री शक्ति के बल पर अमेरिका अपने को सुरक्षित समझता था। यदि इंगलैण्ड हार जाता तो अमेरिका कि रक्षित दीवार टूट जाती और उसकी स्वतन्त्रता खतरे मे पड़ जाती। अतः विल्सन युद्ध म कूदने के लिए तैयार हो गया। जर्मनी म तानाशाही शासन था और अमेरिका केवल अपने यहाँ नही, ससार भर में प्रजातन्त्रवादी राज्यो का पक्षपाती था। इसी बीच 31 जनवरी 1917 को जर्मनी ने घोषणा की कि कोई भी जहाज जो ब्रिटिश द्वीप समूह, फ्रांस तथा इटली के निकट दिखाई देगा उसे बिना चेतावनी के डुबा दिया जायगा। 1 अप्रैल 1917 को जर्मनी ने 7 अमेरिकन जहाज डुबा दिये। राष्ट्रपति विल्सन ने कांग्रेस का अधिवेशन बुलाया। 6 अप्रैल 1917 को अमेरिका ने बाकायदा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

अमेरिका के युद्ध में प्रवेश होते ही युद्ध का पांसा पलट गया जर्मनी की हार होना प्रारम्भ हो गयी। वैसे भी जर्मनी 3 वर्षों से लड़ते-लड़ते थक गया था, विल्सन एक ओर युद्ध को जोरों से चला रहा था और दूसरी ओर शान्ति का प्रयास भी कर रहा था। उसने शान्ति स्थापना के 14 सूत्र प्रकाशित किये तथा पराजित देशों से भी न्याय करने का बचन दिया। पहले तो जर्मनी युद्ध बन्द करने को तैयार न हुआ पर अपनी गिरती अवस्था देखकर तथा विल्सन के आश्वासन पर वह 11 नवम्बर 1918 में युद्ध विराम सन्धि मानने के लिये तैयार हो गया। इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध का अन्त करने में अमेरिका की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी।

दो विश्व युद्धों के बीच अमेरिका की विदेश नीति
(Foreign Policy of U. S. A. Between two great Wars)

विल्सन पेरिस शान्ति सम्मेलन में—विल्सन प्रथम युद्ध मे उच्च एवं नैतिक सिद्धान्त लेकर सम्मिलित हुआ था। अतः युद्ध के तुरन्त बाद पेरिस शान्ति सम्मेलन करने की योजना बनी ताकि पराजित राष्ट्रों से सन्धि की जा सके और भावी युद्धो का अन्त करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण किया जा सके। 6 दिसम्बर 1919 को राष्ट्रपति विल्सन ने घोषणा की कि सयुक्त राज्य अमेरिका ने पार्थक्य नीति का केवल इसलिए अन्त नही किया कि हमने विश्व राजनीति मे भाग लेना पसन्द किया है, वरन् इसलिये कि अमेरिका जनता की योग्यता और हमारी शक्ति के विकास के कारण हम मानव-जाति के इतिहास में निर्णायकतत्व बन गये है। ऐसी स्थिति मे आप चाहें, पृथक नही रह सकते हैं।"

बिल्सन के प्रयत्न से वर्साय की सन्धि तथा राष्ट्र सघ के निर्माण में सफलता मिली थी। बिल्सन ने दोनों मसविदों पर हस्ताक्षर किये थे। बिल्सन की विशेष दिलचस्पी राष्ट्र संघ के निर्माण में थी अतः फ्रांस और ब्रिटेन ने इस दिलचस्पी का काफी लाभ उठाया राष्ट्रपति के 14 सिद्धान्त भी एक ओर रख दिये गये।

अमेरिका पुनः विश्व राजनीति से पृथक—यद्यपि अमेरिकन जनता ने प्रथम विश्व युद्ध मे बड़ी मुस्तैदी एव उत्साह से भाग लिया था पर युद्ध के समाप्त होते ही, उसने एकान्तवास की नीति को पसन्द किया। 1918 मे अमेरिका मे काग्रेस के चुनाव हुये थे और उसमे विल्सन की डेमोक्रेटिक पार्टी को सफलता नहीं मिली थी। सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा मे विल्सन के विरोधियों की सख्या बहुमत मे पहुँच गई थी। कुछ अमेरिकन विल्सन के शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के भी विरुद्ध थे। रिपब्लिकन पार्टी इसलिये भी बहुत नाराज थी कि विल्सन उसका एक भी प्रतिनिधि पेरिस नहीं ले गया था। नतीजा यह निकला कि जब विल्सन स्वदेश लौटे तो उन्हे घोर विरोध का सामना करना पड़ा। कांग्रेस ने विल्सन की विदेश नीति को कटु आलोचना की। यहाँ तक सीनेट ने वर्साय सन्धि का अनुमोदन नही किया और राष्ट्र संघ की सदस्यता को ठुकरा दिया। विल्सन यह चाहत थे कि अमेरिका राष्ट्र सघ का सदस्य बन जाय अतः उन्होने राष्ट्रव्यापी दौरा किया और राष्ट्र सघ के प्रश्न को जनता के सामने प्रस्तुत किया। परन्तु अमेरिकी जनता का विरोध बढ़वा रहा। इससे बिल्सन को बड़ा आघात लगा और उसकी मृत्यु हो गई। मरते ही यह विश्वास समाप्त हो गया। नवम्बर 1920 मे राष्ट्रपति का चुनाव हुआ और रिपब्लिकन सदस्य वारेन हार्डिंग नये राष्ट्रपति चुने गये। मार्च 1921 मे नये राष्ट्रपति ने घोषणा की कि अमेरिका राष्ट्र सघ में भाग नहीं लेगा। राष्ट्रपति हार्डिंग ने पुनः अमेरिकी पृथकवाद की नीति अपनाई।

पूर्वी एशिया में दिलचस्पी—यद्यपि यूरोप के प्रति अमेरिका बहुत समय से अहस्तक्षेप की नीति अपना रहा था पर पूर्वी एशिया मे उसने दिलचस्पी 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्दी से लेनी प्रारम्भ की थी। फिलीपाइनद्वीप समूह पर जब से उसका अधिकार हुआ तब से ही वह पूर्वी

एशिया पर निगाह डाले था। जापान को उसने व्यापारिक सन्धि को स्वीकार करने के लिये बाध्य किया था। चीन मे यूरोपीय शक्तियों की लूट खसोट मे भाग लेना प्रारम्भ किया था। जापान अमेरिका के हस्तक्षेप से बहुत नाराज था पर शक्तिहीन होने के कारण उसे चुप रहना पड़ा पर शीघ्र ही उसने पश्चिमी शक्ति की नकल कर प्रगति से पद पर तेजी से बढ़ा था। 1895 मे उसने चीन को हराया, 1902 में वह ब्रिटेन से सन्धि करने मे सफल हुआ। 1905 में उसने रूस को हराया। 1910 मे कोरिया पर अधिकार किया प्रथम विश्व युद्ध में उसने जर्मनी के प्रशान्त महासागर के प्रदेशो एवं द्वीपो पर अधिकार कर लिया। अमेरिका जापान की बढ़ती शक्ति से घबड़ाता था अतः उसने 1922 मे वाशिंगटन मे नौ सेना सम्बन्धी सम्मेलन बुलाया और जापान की जल सेना का अनुपात निश्चित किया।

राष्ट्र संघ से सहयोग की नीति—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका राष्ट्र संघ का तो सदस्य नहीं बना था पर वह अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का समर्थक था। 1927 मे वह सर्वप्रथम जेनेवा सम्मेलन मे भाग लेने के लिये तैयार हुआ। 1928 मे उसने कैलागब्रियां पैक्ट किया। इनके अतिरिक्त भी वह राष्ट्र संघ के छोटे-मोटे कार्यो मे सहयोग देता रहा तथा सम्मेलनों मे निरीक्षक भेजता रहा। 1931 में वह राष्ट्र संघ की कौंसिल के साथ मंचूरिया संकट पर विचार करता रहा और सहयोग देता रहा। आर्थिक संकट के समय उसने हूवर मुहलत की घोषणा की। 1930 मे वह विश्व अर्थ सम्मेलन मे सम्मिलित हुआ। इस प्रकार आंशिक रूप मे वह विश्व राजनीति मे दिलचस्पी लेता रहा।

तटस्थता कानून—अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे अमेरिका तटस्थ नीति अपनाता रहा। 1920 से 1929 तक संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सामने मुख्य प्रश्न बाहर से आकर अमेरिका मे बसने वालो का रहा। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से अनेक लोग यूरोप और एशिया से आकर अमेरिका मे बस रहे थे। विदेशियो की बाढ़ को रोकने के लिये उसने 1921 से 1924 तक कांग्रेस ने दो कानून पास किये थे। इन कानूनो द्वारा बाहर के आने वाले लोगों को सीमित मात्रा मे बसने की अनुमति दी गई थी और एशिया के लोगों पर विशेष प्रतिबन्ध लगे थे। 12 वर्ष तक संयुक्त राष्ट्र अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का सदस्य बनने का प्रयत्न करता रहा। 1935 मे अमरिका सीनेट इस प्रश्न पर सदा के लिये रोक लगा दी। 1933 मे सोवियत रूस को मान्यता देकर एक बहुत बड़ा कार्य किया। इनके साथ अमेरिका सोवियत संघ को आर्थिक विकास मे सहयोग देता रहा।

यूरोप की स्थिति 1930 के बाद बहुत बिगड़ गई थी अतः रिपब्लिकन पार्टी ने तटस्थता की कठोर नीति अपनाई। यूरोप के अनेक राज्य प्रथम युद्ध के समय के कर्जे अभी तक न चुका पा रहे थे। 1934 मे इस प्रकार की घटनाओ को रोकने के लिये एक कानून पास किया। इसे जान्सन एक्ट कहा गया। इस कानून के अनुसार ऐसे राष्ट्र जो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का कर्जा चुका नहीं पाये थे उन्हें आगे कर्जा देना बन्द कर दिया गया। जब यूरोप पर युद्ध के बादल छाने लगे तो कांग्रेस ने अनेक तटस्थता सम्बन्धी कानून पास किये। इनमें साफ घोषणा की गई थी कि युद्ध मे फसने वाले राष्ट्रो के साथ कोई पक्षपात नहीं किया जायगा। किसी युद्धरत राष्ट्र को कोई युद्ध सामग्री नहीं भेजी जायगी और न कोई अमेरिकन नागरिक युद्धरत जहाज पर चलेगा।

इस प्रकार अमेरिका ने तटस्थ नीति को बड़ी कठोरता से अपनाया। उसका प्रभाव युद्ध लोलुप राज्यो के हक मे अच्छा पड़ा। जापान ने जब मंचूरिया पर कब्जा किया और मंचूरियां की कठपुतली सरकार बनाई तो अमेरिका ने उसे मान्यता न दी और चीन पर किये गये आक्रमण का विरोध किया। सबसे खराब बात यह थी कि विश्व मे स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्र का पक्षपाती राज्य अमेरिका फासिस्ट सरकारो के आक्रमण पर उंगली नहीं उठा रहा था। 1935 मे इटली ने एबी-

सीनिया पर आक्रमण किया। स्पेन में गृहयुद्ध चला पर अमेरिका ने गणतन्त्रीय सरकार को कोई सहायता नहीं दी। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन यूरोप में फेल हो चुका था। प्रशान्त महासागर में जापान अपना प्रभुत्व लगातार बढ़ा रहा था।

वास्तव में अमेरिका यूरोप के झगड़ों में तो पड़ना नहीं चाहता था पर पूर्वी एशिया में जापान के बढ़ते प्रभाव को सहन नहीं कर सकता था। उसे जापान से अधिक खतरा था। उसे भय था कि यूरोप के फाँसीवाद कहीं युद्ध न छेड़ दें और पिछले महायुद्ध के समान उसे युद्ध में भाग न लेना पड़े। अतः अमेरिका ने शस्त्र निर्माण में तेजी लाने के लिए बजट में भारी धन राशि की व्यवस्था की। नौसेना, वायुसेना तथा थल सेना में बड़ी वृद्धि की। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने मुसोलिनी तथा हिटलर से अपील की कि वे छोटे राज्यों की स्वतन्त्रता बनाये रखें। इस अपील की हिटलर ने जर्मन संसद में बड़ी मजाक बनायी। अमेरिका की तटस्थ नीति का ध्येय यही था कि "दाम दे जाओ और माल ले जाओ। 1937 में ऐसा कानून पास किया गया था। वह 2 वर्ष के लिए था। वह इस कानून की अवधि बढ़ाना चाहता था कि द्वितीय विश्व युद्ध 1 सितम्बर 1939 को प्रारम्भ हो गया दो वर्षों तक अमेरिका तानाशाह बना रहा।

सं० रा० अमेरिका और लैटिन अमेरिका
(U. S. A. and Latin America)

यूरोप के झगड़ों में पड़ने के लिए अमेरिका तैयार न था पर उसकी हस्तक्षेप की नीति लैटिन अमेरिका में बराबर बनी रही। वह सम्पूर्ण अमेरिकन महाद्वीप पर अपना प्रभुत्व समझता था। इससे लैटिन अमेरिकन देश बहुत नाराज थे। कुछ लैटिन अमेरिकन देश राष्ट्र सघ के सदस्य इसी दृष्टि से बने थे कि उन पर स० रा० अमेरिका का दबाव कुछ कम हो जायगा पर जैसे-जैसे पता चलता गया कि राष्ट्र संघ एक अशक्त संस्था है, वे उससे पृथक होते गये। 1926 में ब्राजील तथा ग्रुआटेमाला, होण्डरोस और निकारा-गुआ, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का अनुसरण करते हुए राष्ट्र संघ से अलग हो गये। परन्तु लैटिन-अमेरिका के देश "डालर साम्राज्य" से भय खाते थे। वे हस्तक्षेप से सदैव डरते थे। 1903 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की क्यूबा से सन्धि हुई थी। इस सन्धि के अनुसार संयुक्त राष्ट्र अमेरिका उसके मामले में हस्तक्षेप कर सकता था। हैटी और निकारागुआ में अमेरिकन जहाज युद्ध से पहले रहते थे। कोई भी राज्य अमेरिका की इच्छा बिना कोई कार्य नहीं कर सकता था। 1933 में अमेरिकन सेना निकारागुआ से हट गई थी तथाकथित अच्छे पड़ोसी की नीति उसने अपनाई गई थी। आर्थिक मन्दी तथा फासिस्टों के उत्थान से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने इन राज्यों के साथ अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया था। इस देश से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखकर वह एक पृथक गुट रखना चाहता था। 1936 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा था कि "यह राष्ट्र लैटिन अमेरिका के देशों से अच्छे पड़ोसी की तरह अच्छा बर्ताव करना चाहता है।" इसी वर्ष मेण्टोबिडों में सातवीं अखिल अमेरिकी महासभा हुई। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विदेश सचिव ने इसमें भाग लिया। 19_6 से राष्ट्रपति रूजवेल्ट का पुनर्निर्वाचन हो गया। इसके बाद शीघ्र उन्होंने लैटिन अमेरिकन देश का सम्मेलन बुलाया। 1936 में ब्यूनोएयर्स के स्थान पर यह सम्मेलन हुआ, स्वयं राष्ट्रपति रूजवेल्ट इस सम्मेलन में भाग लेने पहुँचे। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्यों ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया कि किसी देश की सुरक्षा को खतरा होगा तो तुरन्त सभी देश सुरक्षा के लिए सहयोग से कदम उठाने पर परामर्श करेंगे।

संयुक्त राज्य अमेरिका कैसी ही सहानुभूति दिखाये पर लैटिन-अमेरिकन देश संयुक्त राज्य अमेरिका के आर्थिक नियन्त्रण से तंग थे। उनकी आर्थिक व्यवस्था पर संयुक्त राज्य इस प्रकार का नियन्त्रण लगाये था जिससे उन्हें आर्थिक हानि उठानी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त लैटिन अमेरिका के बहुत से देश भिन्न प्रकार का राजनीतिक संगठन रखते थे। फाकों की विजय का उत्सव कई

राज्यों में धूम-धाम से मनाया गया था। नाजी एवं फासीवादियों के अनेक एजेण्ट इस देश में उपस्थित थे और ये अमेरिका के विरुद्ध प्रचार कर रहे थे। इतना सब कुछ होते हुए भी संयुक्त राज्य अमेरिका और लैटिन अमेरिका के पारस्परिक सम्बन्ध द्वितीय युद्ध से पूर्व मैत्रीपूर्ण ही कहे जा सकते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. *संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वतन्त्रता की प्राप्ति एवं उसकी प्रारम्भिक कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए। उन्हें कैसे दूर किया गया? यह भी बताइये।*

   Describe how U. S A. got her independence. Also state the difficulties before the new government to tackle. How these difficulties were removed? Explain.

2. आप मुनरो सिद्धान्त के विषय में क्या जानते है। यह सिद्धान्त किन कारणों एवं परिस्थितियों के कारण अपनाना पड़ा? विवेचना कीजिए।

   What do you know about Munro Doctrine? In what circumstances and for what causes it was adopted? *Discuss.*

3. *मुनरो सिद्धान्त के अन्तर्गत विभिन्न देशों से 1914 तक संयुक्त राज्य अमेरिका की कैसी विदेश नीति रही? समझाइये।*

   What kind of foreign policy under Munro doctrine did U. S. A. adopt with various contries up to 1914. Explain.

4. तटस्थता एक भ्रम उत्पन्न करने वाला शब्द है, जो अमेरिका की विदेश नीति में 1920 के पश्चात् प्रयोग किया जाता रहा है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

   "Isolationism is a misleading word to use in characterising American foreign policy since 1920." Discuss.

5. *संयुक्त राज्य अमेरिका ने पार्थक्य की नीति केवल यूरोप के प्रति अपनाई पर पूर्वी एशिया तथा लैटिन अमेरिका के प्रति उसकी सदैव हस्तक्षेप की नीति रही है। ऐसा क्यों? विवेचना कीजिए।*

   United States only exercised her isolationism with Europe. But with Eastern Asia and Latin America she always use a the policy of intervention. Why is it so? *Explain*

6. *"प्रथम विश्व युद्ध के बाद अमेरिका पुन. एकान्तवास में निमग्न हो गया और द्वितीय विश्व युद्ध के सिर पर मण्डराने पर पार्थक्य की नीति को छोड़ा" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा इस नीति के अपनाने के परिणाम का उल्लेख कीजिए।*

   After the Fist World War ended U. S. A. again enjoyed her isolationism she left her isolationism when the cloud of the Second World War began to hover over her head. Explain this statement and state the consequences of adopting this policy.

27

दो महायुद्धों के मध्य जापान की विदेश नीति
(Foreign Policy of Japan Between the Two Great Wars)

"जापान लगभग दो शताब्दियों तक कठोर एकान्त में लिपटा पड़ा रहा। परन्तु 1853 में उसका पर्दा किसी अंग्रेज ने चीन के समान नहीं फाड़ा, बल्कि उसके यानकी भाई ने फाड़ा। इस वर्ष कमोडोर पेरी जो संयुक्त राज्य अमेरिका की जल सेना का सेनापति था, चार विशाल जहाजों के साथ आ पहुंचा और जापान से मांग की कि वह जापानी बन्दरगाह में अपने टूटे हुए जहाजों की मरम्मत करेगा। जापान शक्ति के सामने झुक गया और जापान का दरवाजा विदेशियों के लिए खोल दिया गया।"

—एल० मुकर्जी

"The Warhirgton Conference of 1921-22 was in mary respects an unhoppy diplomatic document for Japan. The general public in Japan was tired of war, hysteria and was disposed to peace and internationalism."

—D. C. Gupta.

जापान की जाग्रति
(The Awakening of Japan)

जापानी अपने देश को "एक उगता हुआ सूर्य (Nipon) कहते हैं। 19वीं शताब्दी के मध्य तक जापान एकान्तवास करने वाला एक महात्मा के समान जीवन यापन करता था। 16वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में जापान में पुर्तगाली व्यापारी और जेस्युट पहुंचे थे। उनका स्वागत जापानियों ने बड़े उत्साह से किया था। परन्तु जब जेस्युट पादरियों ने वहां अनेकों जापानियों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया तो जापानियों में उनके विरुद्ध प्रक्रिया हुई। जापान के लोगों में एक भय उत्पन्न हुआ कि कहीं अमेरिका के समान, यह धार्मिक मिशन आध्यात्मिक मिशन की विजय के बाद, सैनिक विजय प्राप्त कर जापान को ईसाइयों का गुलाम न बना दे, अतः उन्होंने ईसाइयत के विरुद्ध अभियान चलाकर ईसाइयत को देश से निकाल बाहर किया। 1587 में ईसाई मिशनरियों को उन्होंने जबरन देश से निष्कासित कर दिया तथा 1591 में 20 हजार से अधिक ईसाई धर्म में परिवर्तित लोगों को मौत के घाट उतार दिया। 1637 में दो आदेश नि कर जापान में विदेशियों का प्रवेश वर्जित कर दिया गया तथा जापानियों को भी देश से जाने पर प्रतिबन्धित कर दिया गया। इन आदेशों का उल्लंघन करने वालों को मृत्यु दण्ड व्यवस्था की गयी। केवल कुछ ही डच व्यापारियों को कठोर नियन्त्रण के अन्तर्गत सीमित

की आज्ञा दी गयी। इस प्रकार जापान ने अपने दरवाजे विदेशियों के लिए बन्द कर दिये तथा स्वयं दुनिया से अलग होकर एकान्त का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया।

(1) **अमेरिका द्वारा जापान के बन्द फाटकों को जबरन खुलवाना**—जापान के पड़ोसी देश चीन में विदेशियों का उत्पात कई शताब्दियों पूर्व से चल चुका था पर कोई भी विदेशी शक्ति जापान के फाटक से टकराने का साहस नहीं कर सकी थी। जापान के फाटक के खुलने का अर्थ विदेशी यह समझते थे कि जहाँ वह खुला मृत्यु का देवता उन पर आक्रमण कर देगा। इस भय से जापान 200 वर्षों तक शान्ति पूर्वक खुर्राटे लेता रहा और वह यूरोपीय शक्तियों के शोषण से बचा रहा। जापान को एकान्तवास मे यह पता ही नहीं चला कि संसार में क्या क्या खेल दिन रात हो रहे हैं। राज्यों का जन्म और उनका विकास हो रहा है, क्या-क्या वैज्ञानिक उन्नति जगत में हो रही है और दुनिया कितनी तेजी से बदल रही है।

जापान जब एकान्त में लिपटा आनन्द की निन्द्रा में निमग्न था तथा अचानक जापान के दरवाजों पर जबरदस्त प्रहार होना प्रारम्भ हुआ। प्रहार इतना भारी था कि ऐसा लगा कि फाटक न खोला गया तो वह टूटकर गिर पड़ेगा। जापानियों में खलबली मच गयी, परन्तु आँख मलकर उन्होने दरवाजे खोल दिये। खोलते ही उनकी आँखें आश्चर्य से फटी की फटी रह गयी क्योंकि उसके सामने इतने विशाल जलपोत खड़े थे जिनकी कल्पना उन्होंने कभी स्वप्न मे भी न की थी। अपने बन्दरगाह पर खड़े इन विशाल जहाजों को देखने के लिए हजारों व्यक्ति घरों से बाहर निकल आय बच्चे तालियाँ बजाने लगे और नवयुवक उन्हे देखकर टोपी उछालने लगे। कुछ समझदार व्यक्ति उन जहाजों को देखकर भयभीत होने लगे। उन्होंने पता लगाया कि वे जहाज किसके है और वहाँ क्यो खड़े है?

कप्तान कमोडोर ने अपना परिचय दिया और बताया कि वे जापानी बन्दरगाहों पर अपने टूटे जहाजों की मरम्मत करने के लिए आये हैं। उन्हें बन्दरगाहों को खोलने की आज्ञा दी जाये और वह उन्हें अपने जहाज जो तूफान से टूट गये है, मरम्मत की आज्ञा दी जाये। इस प्रार्थना को मानना जापान के सम्मान को आघात पहुँचाना था अतः उसने अमेरिकनों की प्रार्थना मानने से इन्कार कर दिया। तब कमोडोर परे ने कहा अच्छा अगली बार मैं इनसे बड़े जहाज तथा इस संख्या से भी अधिक जहाज लाऊँगा। कमोडोर परे 1854 में एक विशाल जहाजी बेड़ा जापान के समुद्र मे ले आया। जापान का सम्राट युद्ध नही चाहता था अतः उसने दो बन्दरगाह विदेशियों के लिए उन जहाजों की मरम्मत के लिए खोल दिये जो समुद्री तूफान से टूट गये थे। इस प्रकार जापान का फाटक चाँदी की कुन्जी से नही खोल गया, बल्कि शक्ति प्रदर्शन की कुन्जी से खोला गया। जहाजों की मरम्मत का केवल बहाना था, वास्तव मे अमेरिका का उद्देश्य जापान से व्यापार करना था।

अमेरिका के व्यापार को भी आजादी दी गयी और कुछ सुविधाएँ भी उसे जापानी सरकार ने देने का वचन दिया। इस प्रकार यह सुविधा केवल अमेरिका को दी गयी थी पर पश्चिमी शक्तियां नो दरवाजा खुल जाने से दौड़ पड़ी और अन्दर घुस गयी। 1867 मे लगभग सभी महाशक्तियो से सन्धि कर जापान ने उन्हें व्यापार की आज्ञा, उनके आर्थिक हितों की रक्षा, खुले बन्दरगाह, असाधारण क्षेत्रीय अधिकार तथा यातायात पर नियन्त्रण आदि की सुविधाएँ दे दीं।

(2) **जापान में क्रान्ति 1867-68**—जापानी सम्राट (शोगन) ने यद्यपि आतंकित होकर अमेरिका को अपने जापानी बन्दरगाह मरम्मत के लिए दिये थे, पर विदेशियों को बहाना मिल गया था और वे जापान के साथ व्यापार करने लगे थे परन्तु इन आज्ञाओं के कारण, जापान में विदेशियो के विरुद्ध तूफान उठ खड़ा हुआ। प्रारम्भ मे जापानी समाजवादी तथा सैनिक था।

मिकाडो (Mckado) या सम्राट, सिद्धान्त के लिए राष्ट्र का मुखिया था पर गत 7 शताब्दियों से वह नाममात्र का मुखिया रह गया था। वह क्योटो (Kyoto) में एकान्त का जीवन बिताता था। वह बड़ा पवित्र माना जाता था जिसे सांसारिकता से कोई मतलब न था। वास्तविक शासन वहीं शोगुन (Shogan) का था जो मूलतः मिकाडो का एक मुख्य अधिकारी था पर वास्तविक सत्ता का वही स्वामी था। उसने अपना पद वंशागुत बना लिया था तथा वह पादो न स्थित राजमहल मे रहता था जो सरकार का मुख्यालय था। शोगुन के अधीन अनेक सामन्त (Daimios) थे जो एक सैनिक वर्ग अपने साथ रखते थे जिन्हें सुमेरियाई (Samurai) कहा जाता था। यद्यपि शोगुन वास्तविक शासक था पर उसे सुमेरियाई वर्ग पर अपनी जागीरों के प्रबन्ध के कारण आधारित रहना पड़ता था। इस प्रकार जापान एक सामन्तवादी राज्य था। पश्चिमी शक्ति के उद्दण्ड व्यवहार से यह सामान्तवाद परेशान हो उठा।

विदेशियों के विरुद्ध यह आन्दोलन पहले शोगुनशाही से नाराज हुआ और उन्हे हराकर मिकाडो को पुनः शक्ति प्रदान करने की मांग करने लगा। उसका कारण था शोगुन द्वारा विदेशियों से की गयी अपमानजनक सन्धियाँ जिससे विदेशियों के लिए व्यापार एवं वाणिज्य का दरवाजा खुला था। सुमेरियाई वर्ग का पहला प्रहार शोगुन पर किया गया। अधिकांश सामन्त भी विदेशियों से नाराज थे। दो घटनाएं ऐसी घटीं जिससे उन्हे अपना रवैया बदलना पड़ा। पहली घटना 1863 में घटी जिससे जापान में एक अंग्रेज के मर जाने पर ब्रिटिश सैनिक टकडी द्वारा कागोशिमा (Kajoshima) पर बमबारी की गयी। दूसरी घटना घटी 1864 मे जब एक सामन्त द्वारा विदेशी जहाजों पर गोली चलायी गयी तो ब्रिटिश, डच फ्रेंच एवं अमेरिकन सैनिकों ने शिमानोसकी (Shiminoseke) पर बमबारी की। इन प्रदर्शनों से विदेश विरोधी सामन्तो को यह अनुभव हुआ कि पश्चिमी लोगों को देश से खदेड़ देना आसान कार्य नहीं है जब तक जापानी समाज इतना शक्तिशाली न हो जाये कि वह इन प्रदर्शनों का सीधा जवाब दे सके।

इन घटनाओं से जो सामन्त विदेशियों के विरोधी थे अब वे पाश्चात्य सभ्यता के प्रशासक बन गये, यद्यपि शोगुन के विरुद्ध उनका अभियान चलता ही रहा। परिणाम यह निकला कि शोगुन को त्याग-पत्र देना पड़ा और सम्राट के हाथ में पुनः सत्ता आ गयी जिसने सत्ता सम्भालते ही शोगुनशाही को सदा के लिए समाप्त कर दिया। अब सम्राट मुत्सहितो अपने एकान्तवास क्योटों को छोड़कर यडो (Yedo) जहाँ पर शोगुन की राजधानी थी आ गया। आगे चलकर येडो टोकियो के नाम मे बदल गया।

(3) **जापान से सामन्तशाही का अन्त**—जब शोगुनशाही का अन्त हुआ तब अगला कदम जापान ने सामन्तशाही को उखाड़ फेंकने के लिए उठाया। पर बड़े आश्चर्य की बात है कि शोगुन-शाही के हाथ से सत्ता जाते ही सामन्तों ने जिनके हाथ मे समस्त सत्ता आ गयी थी, स्वेच्छापूर्वक अपने समस्त अधिकार नव युवक सम्राट के कदमों पर निछावर कर दिये। वे स्वयं सामान्य जनता मे सम्मिलित हो गये। सुमेरियाई वर्ग अर्थात् योद्धावर्ग ने भी अपने विशेषाधिकार राजा को समर्पित कर दिये। इस प्रकार से एक ही प्रहार से पुरानी व्यवस्था का अन्त कर दिया गया। नया समाज राष्ट्रीयता के आधार पर सगठित हुआ। विकेन्द्रीयकरण का स्थान केन्द्रीयकरण ने ले लिया। सेना भी राष्ट्रीय बन गयी इतिहास मे शान्तिपूर्ण इतना बड़ा परिवर्तन निःस्वार्थ देशभक्ति के आधार पर होना अद्वितीय उदाहरण है।

(4) **जापान का पश्चिमीकरण**—पुरानी व्यवस्था का अन्त कर जापान की नई व्यवस्था का गठन आधुनिक पद्धति के आधार पर हुआ। चूंकि पश्चिमी शक्तियों के सामने जापान व्यवस्था व्यर्थ सिद्ध हुई, अतः उनका सामना करने के लिए उन्हीं की पद्धति को अप

जापान ने अपने को इतनी जल्दी से बदला कि स्वयं पाश्चात्य देश आश्चर्य चकित हो गये। जापानी विदेश गये। इंगलैण्ड, जर्मन तथा अन्य यूरोपीय शक्तियों के विधानों का गहन अध्ययन किया तथा अपने विधान मे उसी प्रकार का संशोधन किया। पाश्चात्य सभ्यता में जापान पूरी तरह से रंग गया। 1889 मे सम्राट मिकाडो ने नया सविधान स्वीकृत किया। संसद के दो सदन रखे गये तथा मन्त्रिमण्डल को राजा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। कानून व्यवस्था का आधार "नेपोलियन कोड" पर रखा गया। राष्ट्रीय शिक्षा को अनिवार्य तथा सार्वजनिक बनाया गया। लड़के एवं लड़कियों को समान रूप से शिक्षा दी जाने लगी। विश्वविद्यालय, तकनीकी कालिज, राज्य सरकार के अधीन चलने लगे। अंग्रेजी भाषा को पढ़ाने के लिए विदेशों से शिक्षक बुलाये गये। अंग्रेजी भाषा का पढ़ाया जाना अनिवार्य हो गया। अनिवार्य सैनिक शिक्षा भी चालू की गयी। जर्मनी की सेना के ढंग पर जापानी सेना का संगठन किया गया। जल सेना का ब्रिटिश जल सेना के आधार पर गठन हुआ। राष्ट्र का उत्थान बड़ी तेजी से हुआ सारे देश मे रेलें, तार, डाक की व्यवस्था, भाप के जहाज तथा नये उद्योग स्थापित हुए। उत्पादन मे भारी वृद्धि हुई। विदेशी व्यापार भी बढ़ा। 1877 से अगले 30 वर्षों में यह व्यापार 20 गुना बढ़ गया। इस प्रकार अल्पकाल मे जापान का आधुनिकीकरण हो गया। विदेशी शक्तियां जापान को अपने समान स्तर पर खड़ा देखकर ईर्ष्या करने लगी।

जापान की विदेश नीति 1914 तक
(Japan's Foreign Policy upto 1914)

जापान ने एक उग्रवादी नीति विदेशी क्षेत्र में अपनायी। वह चाहता था कि विकसित देशों में वह उचित स्थान बना सके। वह उन असमान सन्धियों को समाप्त करना चाहता था जो विदेशियों ने उसकी दुर्बलता का लाभ उठाकर उस पर थोपी थी जिससे उसमे हीन भावना का भाव उत्पन्न हुआ था। अतः उसने पुरानी सन्धियों को सशोधन करने की माँग की।

प्रथम उसने 1871 मे ब्रिटेन को राजदूत भेजा और माँग की कि वह अपनी सन्धि का शुद्धिकरण करें पर इंगलैण्ड ने इस माँग की उपेक्षा की। इससे जापान ने यह समझा कि देश को आर्थिक या सांस्कृतिक दृष्टि मे उन्नत बनाने से विदेशों मे समता का दर्जा नही मिलता जब तक देश सैनिक शक्ति से सुदृढ न हो। शक्ति का प्रदर्शन ही यूरोपीयन शक्तियों को प्रभावित कर सकता है अतः जापान ने सैनिक शक्ति अन्धाधुन्ध बढ़ानी प्रारम्भ कर दी।

जापान का साम्राज्यवाद की ओर कदम—अन्य यूरोपीय शक्तियों के समान जापान भी विस्तारवाद की नीति अपनाने पर विवश हुआ। यहां भी उसने पश्चिमी शक्तियों की ही नकल की। पर उसका साम्राज्यवाद केवल सैनिक शक्ति पर ही आधारित न था, उसकी मजबूत नीव आर्थिक स्थिति पर आधारित थी। जापान ने अपने देश का औद्योगीकरण कर दिया था अतः यूरोप के समान उसके सामने भी अनेक समस्याएँ आ खड़ी हुई थीं। जापान को अपनी बढ़ती जनसख्या के लिए खाना चाहिए था, अपने कारखानो के लिए कच्चा माल चाहिए था। अपने पक्के माल को बेचने के लिए बाजार चाहिए था। अतिरिक्त भूमि, बढ़ी जनता को बसाने के लिए चाहिए थी। जापान को भूमि की आवश्यकता थी अन्यथा उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता।

1873 को एक यूरोपीय शक्ति के समान, जापान ने चीन के टूटते साम्राज्य का कुछ अंग अपने लिए भी माँगा। दो वर्ष बाद वह चीन से झगड़ पड़ा और फारमूसा पर आक्रमण कर दिया तथा लिस्कन द्वीपो को अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद उसने कोरिया पर निगाह गड़ाई। लगातार हस्तक्षेप से कोरिया मे जापान ने पैर जमाना प्रारम्भ किया, इससे जापान और चीन की कई जगह मुठभेड़ हुई तथा दोनों में युद्ध होना अनिवार्य हो गया।

चीन-जापान युद्ध 1894-95—चीन में गत शताब्दी से यूरोपीयन शक्तियों ने लूट मचा रखी थी। इस लूट में जापान भी सम्मिलित होना चाहता था। उसे यह खतरा था कि इस लूट-खसोट में यूरोपीयन शक्तियाँ अवश्य दखल देंगी अतः उसने अपनी पूरी तैयारी की थी। कोरिया चीन का ही एक प्रायद्वीप था पर चीन की सरकार की दुर्बलता से वहाँ अराजकता की स्थिति थी। यूरोपीय शक्तियाँ उस क्षेत्र पर यूरोपियन साम्राज्य स्थापित करने का विचार कर रही थी। जापान के लिए कोरिया बड़ा महत्व रखता था। वह कोरिया को यूरोपियन शक्तियों से मुक्त कर एक स्वतन्त्र राज्य में परिणत करना चाहता था। यह उसकी अपनी सुरक्षा के लिए बहुत आवश्यक था। यदि कोरिया किसी शत्रु देश के हाथ में आ जाता तो जापान के सीने पर सदैव तलवार तनी रहती। इन्हीं कारणों से जापान कोरिया में हस्तक्षेप कर रहा था और वहाँ सुधार लाने का प्रयत्न कर रहा था ताकि किसी शत्रु देश के आक्रमण से वह अपनी रक्षा कर सके। 1874 में उसने कोरिया से एक सन्धि कर ली जिसमे उसने कोरिया को चीन से मुक्त मान लिया था। इसके बाद जापान ने चीन से भी एक समझौता कर लिया था कि दोनों में से कोई भी देश एक-दूसरे की सूचना बिना कोरिया में अपनी सेनायें न भेजेगा। जापान कोरिया सरकार से सुधार की मांग में चीन को भी सम्मिलित करना चाहता था परन्तु चीन इसके लिए तैयार न था।

कोरिया का मामला हाथ मे लेकर चीन ने कोरिया के राजा से 1894 मे यह माँग की कि वह जापान के सुधारों को मान ले। कोरिया के राजा ने इस माँग के मानने मे जब आनाकानी की तब जापान ने कोरिया पर आक्रमण कर दिया। राजा गिरफ्तार कर लिया गया। इस पर चीन नाराज हुआ और कोरिया पर पनी सम्प्रभुता का दावा करने लगा। जापान के पास यूरोपीय ढंग से सुशिक्षित सेना थी। उसकी सहायता से जापान ने विशाल देश चीन की सेना को हरा दिया और कोरिया से उसे बाहर खदेड़ दिया। यालू नदी में चीन की जल सेना को भी जापान ने हरा दिया। विजयी सेना ने मन्चुरिया पर भी धावा बोल दिया और पोर्ट आर्थर बन्दरगाह पर भी अधिकार कर लिया। इसके बाद वह पेकिंग पर भी आक्रमण के लिए तैयार हो गया। अपनी राजधानी पर खतरा देख चीन जापान से सन्धि करने को तैयार हो गया। 1895 में शिमोनेस्की की संधि (Treaty of Shimonoski) हो गई। सन्धि के अनुसार चीन ने लाऊ-टुंग प्रायद्वीप (Laio-Tung Peninsuala) जिसके अन्तर्गत पोर्ट आर्थर का बन्दरगाह भी था और फार्मूसा का द्वीप भी था, जापान को सौंप दिया। इसके अतिरिक्त एक भारी रकम युद्ध हर्जाने के रूप मे देने को भी राजी हो गया। चीन ने कोरिया की स्वतन्त्रता को भी मान लिया। इस प्रकार जापान को कोरिया में मनमानी करने की छूट मिल गई। अपनी सैनिक शक्ति का प्रदर्शन कर जापान ने दिखा दिया कि वह कोई मामूली शक्ति नही है।

शिमानोस्की सन्धि का परिणाम—सुदूर पूर्व के इतिहास मे चीन-जापान का युद्ध एक प्रसिद्ध घटना है। जापान की प्रतिष्ठा मे इस विजय ने चार चाँद लगा दिये। दूसरे इस घटना ने जापान को असमान सन्धियों (unequal treaties) से जो यूरोपियनों द्वारा उस पर जबरन लादी गई थीं, मुक्त कर दिया। शीघ्र ही विदेशियों के जापान से "क्षेत्राधिकार से मुक्ति" का अस्त हो गया तथा चुंगी की स्वायत्तता पुनः जापान को मिल गई अर्थात अब जापान इच्छानुसार बिना किसी विदेशी हस्तक्षेप को चुंगी लगा सकता था। तीसरे जापान को अपने साम्राज्य के विकास के लिए बड़ा उत्साह मिला यूरोपीय शक्तियो ने जापान की शक्ति को मान्यता दी तथा सुदूर पूर्व में उनका विस्तार रुक गया। चौथे जापान को चीन की दुर्बलता का ज्ञान हो गया। जापान तथा अन्य शक्तियो का वहाँ शोषण बढ़ गया। उसकी अखण्डता एवं एकता को बड़ा आघात लगा। उनके क्षेत्र धीरे-धीरे उससे अलग होने लगे।

यूरोपीय शक्तियों से प्रतिद्वन्द्विता—जापान द्वारा चीन की पराजय ने यूरोपीय शक्तियों को चीन के विभाजन के लिए उत्साहित कर दिया इसके अतिरिक्त वे जापान को उसके लाभ से वंचित करने के लिए संयुक्त प्रयास करने लगी। रूस चीन की मित्रता का दावेदार बन कर तथा फ्रांस और जर्मनी की सहायता का आश्वासन पाकर जापान से 'लाऊ टुंग प्रायद्वीप' को पोर्ट आर्थर सहित लौटा देने की मांग करने लगा। इन संयुक्त शक्तियों के दबाव से जापान को झुकना पड़ा पर इससे वह रूस से चिढ़ गया और बदला लेने की ताक में लग गया। तीनों उपर्युक्त शक्तियाँ मिलकर चीन के क्षेत्रों पर अधिकार करने में लग गईं। उनका बहाना था चीन से पट्टे पर भूमि लेना, मिशनरियों के लिए स्थान प्राप्त करना तथा मिशनरियों की हत्या के नाम पर मुआवजा लेना। इसमें इंगलैण्ड भी मिल गया। जर्मनी ने क्याओ-चाओ (Kiaw-Chow) पर आधिकार किया तो इगलैण्ड ने अपना सन्तुलन बनाये रखने के लिए 'व्ही-हेई-व्ही' (Wei-hai-Wei) पर अधिकार जमाया और रूस ने पट्टे पर पोर्टआर्थर पर कब्जा किया। इस प्रकार जापान जिन क्षेत्रो पर अपनी दृष्टि रखता था, इन शक्तियो ने उन पर अपना अधिकार जमा लिया। इस अमित्रता से पूर्ण व्यवहार से जापान क्रोधित हो उठा। पोर्ट आर्थर पर रूस के अधिकार से, वह रूस के प्रति घोर घृणा रखने लगा पर रूस ने उसकी चिन्ता न की और आक्रमणकारी नीति को आगे बढ़ाता रहा। 1900 ई० मे चीन में बक्सर युद्ध हो गया। उससे लाभ उठाकर उसने मन्चूरिया पर अपना पन्जा कड़ा कर दिया। जापान ने इसका कड़ा विरोध किया। रूस के इस काय से ब्रिटेन स्वय नाराज हो गया और वह जापान से मिल गया।

ब्रिटेन और जापान की 1902 में सन्धि—रूस का सामान्य खतरा जापान और ब्रिटेन दोनों ने अनुभव कर 1902 में सधि कर ली। सधि मे तय हुआ कि यदि दोनो में से किसी एक देश पर एक से अधिक शक्ति का आक्रमण होता है तो वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। हस्ताक्षरकर्ताओं ने चीन मे "मुक्त द्वार नीति" (Open door policy) अपनाने का भी वचन दिया। अब जापान कोई छोटी-मोटी शक्ति न रहा। उसकी मित्रता विश्व के शक्तिशाली देश से समानता के आधार पर हो जाने से वह महान शक्तियो मे गिना जाने लगा।

जापान-रूस युद्ध—एग्लो-जापानी सन्धि के खतरे का रूस ने अनुभव किया और उसने चीन से एक सधि कर मन्चूरिया को तीन स्तरो पर खाली करने का वचन दिया। इस प्रकार एक स्टेज 6 महीने की सीमा तक थी। पर यह सधि दिखावा मात्र थी, रूस उस क्षेत्र का छोड़ना नहीं चाहता था। प्रथम अवस्था मे ही उसकी कलई खुल गई। उसने चौथाई मन्चूरिया स सेना हटा कर उसे दूसरे स्थान पर रख दिया। दूसरी अवस्था मे ही सेना हटाने के बजाय उसने मन्चूरिया म कुछ अधिक सुविधाओं की मांग की। उसका उद्देश्य था कि उस प्रदेश रूस के लिए सुरक्षित रखा जाय। अन्य शक्तियों के भड़काने पर चीन ने रूस की मांग अस्वीकार कर दी। कोरिया ने ज पान की शक्ति को ठेस पहुँचाने की दृष्टि से रूस ने सेना की एक टुकड़ी एक लाइसेन्स के आधार पर यालू नदी क किनारे पर पेड़ काटने के लिए भेजी। जापान ने विरोध किया और मांग का कि मन्चूरिया को रूस ने अभी खाली क्यों नहीं किया है। उसने एक सुझाव भी दिया कि रूस और जापान मे एक साध हो जाये जिसके द्वारा जापान मंचूरिया में रूसी हितों को सुरक्षित मानले तथा रूस कोरिया मे जापान की स्थिति को मान ले। रूस मे कोरिया ने जापनी हितो को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इस पर जापान ने 1904 मे रूस को अन्तिम चेतावनी (Ultimatum) दे दी।

रूस और जापान में युद्ध छिड़ गया। यह युद्ध यूरोप की महान शक्ति एवं एशिया की एक महान शक्ति के बीच में पहला बड़ा युद्ध था। साधनों की दृष्टि से, यह युद्ध एक देव और बोने के मध्य युद्ध माना जाता था। परन्तु जापान एक "देव का कातिल" सिद्ध हुआ। जापान ने अपनी सुशिक्षित सेना, युद्ध-कौशल एव अपने वीर सैनिकों के बल पर रूस जैसी महाशक्ति को नीचा

दिखा दिया। युद्ध भूमि और जल दोनों में ही लड़ा गया। जल सेना की शक्ति से जापान युद्ध-स्थल पर अपनी सेना भेजने में आसानी से सफल हो गया। जापान का बहरी बेड़ा रूसी बहरी बेड़े से हार गया। इसी बीच जापानी सेना की एक टुकड़ी रूसियों को पोर्ट आर्थर में उलझाये रही और दूसरी ओर कोरिया मे से होते हुए जापानी सेना पालू नदी पर खड़ी रूसी सेना पर झपट पड़ी और उसे हरा दिया आगे बढ़कर उसने कुछ कठिनाइयों के सहते हुये रूसी सेना को शाह हो (Shaho) पर परास्त किया। इतना ही नहीं पोर्ट आर्थर पर जापान ने भारी बम वर्षा की, 10 महीने की लड़ाई के बाद जापान ने किला जीत लिया। इससे किले को घेरे रहने वाली सेना भी आगे बढ़कर "मुकेदन" मे जापानी सेना से जा मिली। यहाँ पर 140 मील चौड़े क्षेत्र मे 300,000 जापानी सैनिक रूस के इतने ही सैनिकों से जा भिड़े। 15 दिन तक घमासान लड़ाई होती रही, इस युद्ध में दोनों पक्षों के 60-60 हजार सैनिक मरे और घायल हुये, रूस को अन्त मे हार मिली और वह मुकेदन को खाली कर पीछे हट गई। जापानी जीत तो गये थे पर बुरी तरह थक गये थे।

रूस ने एक अन्तिम प्रयत्न युद्ध जीतने के लिए किया। उसने बाल्टिक सागर से अपना जहाजी बेड़ा मँगा लिया और सुदूर पूर्व मे कोरिया तथा जापान के मध्य तसमानिया के जल जमरूमध्य में प्रवेश करा दिया। जापानी एडमीरल ऐगों (Admral Yogo) की बुद्धिमता और युद्ध-कौशल से रूसी बेड़ा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जल युद्ध में यह युद्ध ट्राफलगर के जल युद्ध के बाद सबसे बड़ा युद्ध था जिसमे जापान ने विजय पायी। जापान प्रशान्त महासागर का स्वामी सिद्ध हो गया।

पोर्टमाउथ की सधि—दोनों ही देश लड़ते-लड़ते थक गये थे। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने मध्यस्थता कर दोनो शक्तियो के बीच पोर्ट्समाउथ की सधि (Treaty of Portsmouth) करा दी। रूस ने कोरिया पर जापान का प्रभुत्व मान लिया, उसने लाऊ-टुग प्रायद्वीप का ठेका जापान को अर्पित कर दिया, सखालीन का आधा द्वीप भी जापान को सौप दिया तथा मन्चुरिया को को भी खाली करने का वचन दिया।

रूस-जापान युद्ध का परिणाम—जापान जैसे बौने देश ने रूस जैसे विशाल दैत्य (giant) को जो पटकी दी, वह ससार के लिये महान आश्चर्य था। जापान का यह चमत्कार ऐसा ही था जैसा 1967 में इजराइल जैसे बौने द्वारा 10 अरब गणराज्यों की सयुक्त शक्ति को धराशायी करने का चमत्कार। यूरोपीयन शक्तियो की अजयता का जो जादू था, वह धुल गया। पहला अवसर था कि एशिया की एक सामान्य शक्ति ने यूरोप की विशालतम शक्ति को धूल चटवाई। जापान ने इससे अपना ही मान सम्मान नहीं बढ़ाया, बल्कि एशिया के गौरव को चार चाँद लगा दिये। सुदूर पूर्व में वह एक अद्वितीय शक्ति के रूप मे विश्व के सामने आया। विजय से उत्साहित होकर उसने समस्त चीन को निगल जाने की योजना बनाई।

जापान की शक्ति के बढ़ने से यूरोप वाले भय खाने लगे। यूरोप का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर एकाधिकार समाप्त हो गया। रूस की दुर्बलता देख कर यूरोप में आस्ट्रिया ने "बोसनिया एवं हर्जेगोविना" को अपने राज्य में मिला लिया इससे रूस का ध्यान पुनः बालकन राज्यों की ओर मुड़ा। रूस का जार निकोलस द्वितीय घरेलू मोर्चे में भी कमजोर बन गया समस्त राज्य में उसके विरुद्ध विद्रोह जाग उठा।

जापान अब साम्राज्यवाद की ओर तेजी से अग्रसर हुआ। 1914 तक जापान 5 महान राष्ट्रों में गिना जाने लगा था। युद्ध में वह मित्र देशों का नाममात्र का साथी रहा, इस बीच उसने जर्मन प्रदेश एवं द्वीपों पर अधिकार कर लिया जिन पर शान्ति सम्मेलन 1919 मे पेरिस ने स्वीकृति की मोहर लगा दी। अल्पकाल में इतनी उन्नति करने वाला देश विशेषकर एशिया में वह अकेला

था। उसे एशिया का इंगलैण्ड कहा जाने लगा। अमेरिका के मुनरो सिद्धान्त के समान जापान भी एशिया, एशिया वालों के लिए नारा लगाने लगा। चीन का विशाल क्षेत्र जापान की आँखों में लालच पैदा करने लगा।

जापान की दो विश्व युद्धों के मध्य विदेश नीति
(Foreign Policy of Japan Between two World Wars)

जापान ने जब से रूस को हराया था तब से उसकी महत्वाकांक्षा बहुत बढ़ गई थी। वह समस्त एशिया पर छा जाना चाहता था। 1910 में उसने कोरिया पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था। इसके बाद यूरोपीय शक्तियाँ जर्मनी से भय खाने लगी थीं। पूर्व का ध्यान छोड़कर सब अपनी-अपनी सुरक्षा में लग गई थीं। 1914-18 का जब महायुद्ध छिड़ा तो जापान ने उससे खूब लाभ उठाया। उसने पूर्व में अपनी स्थिति को मजबूत बनाया। उसने ब्रिटेन के मित्र की हैसियत से जर्मनी से युद्ध की घोषणा कर दी पर वह युद्ध में सम्मिलित न हुआ। उसने जर्मन प्रदेश क्याओ-चाओ पर अधिकार कर लिया, शान्टुग में अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। पेरिस सम्मेलन में सभी जर्मन प्रदेश जो जापान के निकट थे, उसे मिल गये।

जापान की विदेश नीति (Foreign Policy of Japan)

(1) **सहयोग की नीति**—जापान पर निगाह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की बहुत समय से थी पर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ थी कि जापान तत्काल इतनी उन्नति कर गया कि अमेरिका उस पर नियन्त्रण न रख सका। प्रथम विश्व युद्ध के बाद सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने जापान की जल शक्ति मे कमी करना चाहा। जापान यद्यपि इस नीति के विरुद्ध था फिर भी उसने सहयोग की नीति अपनाई, अमेरिका ने 1921-22 में वाशिंगटन में एक सम्मेलन आमन्त्रित किया। जापान इस सम्मेलन में भाग लेने पहुंचा। उसने अमेरिका से मधुर सम्बन्ध बनाये। सम्मेलन 12 नवम्बर 1921 को प्रारम्भ हुआ और 6 फरवरी 1922 को समाप्त हुआ। इसमे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, पुर्तगाल, बेल्जियम, हालैण्ड, जापान तथा चीन के प्रतिनिधि सम्मिलित हुये। सम्मेलन का उद्देश्य था व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता को रोकना तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाये रखने के लिये जलीय शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाना। अमेरिका के विदेश मन्त्री चार्ल्स इवान्स ह्यूगेस (Charles Eran Huges) ने घोषणा की कि यदि जापान और ब्रिटेन अपनी जल शक्ति घटाने को तैयार है तो अमेरिका भी ऐसा समझौता कर सकता है। अन्त में सम्मेलन ने 7 सन्धियाँ कीं।

उस समय संसार में तीन महान नौसेनिक शक्तियाँ थी, जापान, ब्रिटेन तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका। तीनों शक्तियों में परस्पर कोई मन-मुटाव न था और कोई एक दूसरे की भूमि पर कब्जे की इच्छा न रखता था। प्रत्येक राज्य अपने व्यापारिक जहाजों की रक्षा के लिये एक विशाल जल शक्ति रखता था।

तीनो राज्यों ने जल शक्ति का अनुपात 5 : 5 : 3 का रखा। इस प्रकार अमेरिका और इङ्गलैण्ड 52,500 टन के जहाज तथा जापान 31,500 टन के जहाज रख सकता था। यह मात्रा युद्ध-पोतों की थी, और वायुयान वाहकों के वजन की मात्रा 1,35,000 टन अमेरिका और इङ्गलैण्ड तथा 81,000 टन जापान के जहाजों की थी। इस सन्धि से महा शक्तियों को 40% जहाज नष्ट करने पड़े और 10 वर्षों तक नये जहाजो के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। यह भी तय हुआ कि कोई शक्ति 10,000 टन के वजन से अधिक युद्ध-पोत न बनाये और 27 हजार टन के वजन से अधिक वायुयान वाहक जहाज न बनाये। यह भी तय हुआ कि प्रशान्त महासागर मे तीनो शक्ति सन्धि मे उल्लिखित सैनिक अड्डो के अतिरिक्त कोई अन्य अड्डा नहीं बनायेगी। एक अन्य समझौते के द्वारा यह निश्चित हुआ कि विषैली गैसों का प्रयोग वर्जित कर दिया जाय तथा पनडुब्बियों का प्रयोग मर्यादित कर दिया जाय।

1924 में अमेरिका ने एक कानून बनाकर जापानियों को अमेरिका में बसने से रोक दिया। इस पर भी जापान ने अमेरिका से सम्बन्ध नहीं बिगाड़े 1923 में चीन से एक समझौता कर शान्तुंग प्रदेश उसे वापस कर दिया। 1927 में जेनेवा सम्मेलन हुआ, इसमें इटली और फ्रांस नहीं सम्मिलित हुये। अमेरिका, ब्रिटेन तथा जापान के नौसेना अधिकारी एकत्रित हुये पर सम्मेलन सफल न हुआ।

जापान ने 1927 की नानकिंग बम वर्षा में ब्रिटेन और अमेरिका का साथ नहीं दिया। चीन के सहयोग के साथ, जापान ने रूस के साथ भी सहयोग दिया। उसने साइबेरिया से अपनी सेनायें हटाली तथा 1925 में रूस से एक सन्धि कर ली। उसने 1930 की लन्दन नौ सैनिक सन्धि पर भी हस्ताक्षर कर दिया। इस प्रकार जापान ने प्रत्येक देश से शान्तिपूर्ण एवं सहयोग की नीति अपनाई।

(2) विस्तारवादी नीति—जापान सहयोग की नीति पर अधिक समय तक न चल सका। 1927 में जापान का प्रधान मन्त्री "बेरन तनाका" बना। उसने सहयोग की नीति का परित्याग कर दिया। वह शक्ति का पुजारी था और पक्का साम्राज्यवादी था। उसने जापानी सम्राट के सामने एक योजना प्रस्तुत की जिसे 'तनाका पत्र' (Tanaka Memorial) भी कहा जाता है। इस पत्र में न केवल चीन की विजय की योजना थी बल्कि अमेरिका विजय की योजना भी थी। वास्तव में तनाका ने जापानी जनरलों से यह योजना बनवाई थी। इस नीति को 'रक्त और लौह' (Blood and Iron) की नीति कहा जाता था। उसमें संकेत किया गया था कि "जापान पूर्वी एशिया में कठिनाइयों को उस समय तक हल नहीं कर सकता जब तक वह रक्त और लौह की नीति को स्वीकार न करे, यदि हम चीन पर नियन्त्रण करना चाहते है तो हमें प्रथम मंचूरिया एवं मंगोलिया को जीतना आवश्यक है। यदि हम चीन पर नियन्त्रण करना चाहते है तो पहले संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को दबा देना चाहिये। संसार की विजय के लिये हमे पहले चीन को जीतना है। चीन के समस्त साधनों पर अधिकार करने के बाद हम भारत, एशिया माइनर, मध्य एशिया तथा यूरोप तक को जीतने के लिये आगे बढ़ेंगे। यदि जापानी जाति अपनी विशिष्टता सिद्ध करना चाहती है, तो मंचूरिया तथा मंगोलिया का नियन्त्रण प्राप्त करना पहला कदम है।"

जापान मुनरो सिद्धान्त के अनुसार ही तनाका सिद्धान्त अपनाना चाहता था। उसी बीच शिदेहरा (Shidehara) विदेश मन्त्री बना। वह सहयोग की नीति अपनाना चाहता था अतः उसे सफलता न मिली। 1927 में जापानी सेनायें शान्टुंग प्रदेश में प्रवेश कर गई। सेना को शक्ति को बढ़ाने के लिये आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करना आवश्यक था। उसने उत्पादन क्षमता को बढ़ाया विश्व के प्रत्येक देश में 1930 तक जापानी माल खपने लगा। डा० मथुरा प्रसाद लिखते हैं कि '1931 से जापान ने तनाका की साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण प्रारम्भ कर दिया। 19 वर्ष तक शान्ति की नीति का पालन करने के बाद जापान की राजनीति में साम्राज्यवाद का पुनरोद्भाव अनेक कारणों से हुआ जिनमें प्रमुख थे—चीन में कुओमिंताग दल के नेतृत्व में राष्ट्रीय एकता का तेजी से विकास हुआ इससे जापानी हितों तथा साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को चीन की संगठित एकता से बड़ा खतरा था। (ii) चीन में साम्यवादी दल का प्रभाव बढ़ने लगा था एवं ये लोग न तो जापान के शान्ति प्रिय नीति को पसन्द करते थे और न सैन्यवादी नीति को पसन्द करते थे। (iii) 1930 में विश्वव्यापी मन्दी फैली तो जापान को विवश होना पड़ा कि वह अपने माल के लिये विश्व में बाजार खोजें।

(3) पश्चिमी देशों की तुष्टिकरण नीति से जापान को प्रोत्साहन—1917 से रूसी साम्यवाद से सभी पाश्चात्य देश घबड़ाये हुये थे। पाश्चात्य देशों ने यूरोपीय तानाशाहों को रूस के विरुद्ध शक्ति संचय करने में सहायता दी थी। मुसोलिनी ने साम्यवादियों को गाली देकर और

अपने देश में उनका दमन करके पाश्चात्य देशों का समर्थन प्राप्त किया। जापान ने पाश्चात्य देशों की इस दुर्बलता का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जब जापान ने साम्यवाद के विरुद्ध अभियान चलाया तो ब्रिटेन एवं अमेरिका ने उसे प्रसन्न करने के लिये प्रयत्न चालू रखे। जापान ने इस बहाने से अपनी सैनिक शक्ति बढ़ायी। पाश्चात्य देश जानते थे कि रूस यदि किसी से डरता है तो वह देश जापान है जो 1904-05 में उसे बुरी तरह से हरा चुका है अतः उन्होंने जापान के शान्ति विरोधी कार्यों की भी उपेक्षा की। पूरी सैनिक तैयारी कर उसने तनाका योजना को हाथ में लिया।

(4) मंचूरिया काण्ड—जापान मंचूरिया को चार कारणों से हथियाना चाहता था (i) मंचूरिया जापान के लिये कच्चे माल की सप्लाई कर सकता था, (ii) साथ में पक्का माल भी वहाँ बेचा जा सकता था (iii) यह क्षेत्र जापान एवं कोरिया की बढ़ती आबादी के बसने के लिये उपयुक्त था। इसके अतिरिक्त सैनिक दृष्टि से भी मंचूरिया जापान के लिये बहुत महत्त्व रखता था क्योंकि वह रूस जापान के बीच एक बफर राज्य (Buffer state) का कार्य दे सकता। (iii) आर्थिक मन्दी के कारण जापान की अर्थ व्यवस्था अस्त व्यस्त हो गई थी। सेना सरकार की नम्र नीति से नाराज थी। इन्हीं कारणों से जापान ने मंचूरिया को 1931 के अन्त तक हड़प लिया। वहाँ एक कठपुतली सरकार की स्थापना भी कर दी तथा 15 सितम्बर 1932 को उसे मान्यता भी दे दी। चीन ने राष्ट्र संघ में शिकायत की पर उसकी आवाज किसी ने न सुनी। राष्ट्र संघ में जापान की निन्दा हुई। उसने संघ की सदस्यता ही त्याग दी। ब्रिटेन कुछ करने को तैयार न था। अमेरिका और रूस बस निन्दा करके रह गये। इस काण्ड से जापान का साहस बढ़ गया। ई० एच० कार ने लिखा है कि "जापान द्वारा मंचूरिया विजय प्रथम विश्व युद्ध के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सीमा चिन्हों में से एक थी।" इस घटना से राष्ट्र संघ दुर्बल पड़ गया। वाशिंगटन सम्मेलन की व्यवस्था समाप्त हो गई, तथा शान्ति के प्रयासों में ढिलाई आ गई।

(5) इटली-जर्मनी एवं जापान में सन्धि—चोर-चोर मौसेरे भाई की कहावत के अनुसार फासीवादी तानाशाहों ने अपना गठजोड़ बनाना प्रारम्भ कर दिया। नवम्बर 1936 में जापान तथा जर्मनी में एन्टि-कोमिन्टर्न समझौता हो गया। 6 नवम्बर 1937 में इस समझौते पर इटली ने भी हस्ताक्षर कर दिये। इस प्रकार तीनों शक्तियों ने साम्यवादी रूस के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाया। इस मोर्चे को "धुरी शक्तियाँ" कहा गया। पश्चिमी देशों ने इसे रूस विरोधी मोर्चा समझ सन्तोष की सांस ली।

(6) चीन पर आक्रमण—चीन में साम्यवादियों एवं राष्ट्रवादियों में गृह युद्ध चल रहा था। यूरोपीय शक्तियों का केन्द्र बिन्दु जर्मनी बना था अतः सुदूर पूर्व के झगड़ों में कोई राज्य फँसना नहीं चाहता था। जापान ने अच्छा अवसर देख 1937 के जुलाई मास से अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर चीन पर आक्रमण कर दिया। वह चीन में इतना उलझ गया कि द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ने पर भी वह अपने साथियों का साथ न दे सका।

1941 में जापान विश्व युद्ध में कूद पड़ा। उसने जल-थल एवं वायु सेना तीनों का प्रयोग कर दक्षिणी पूर्वी एशिया पर कब्जा कर लिया। अमेरिका और ब्रिटेन की सेनायें बुरी तरह परास्त हुई। जापानी सेना भारत के उत्तरी पूर्वी सीमा पर आ लगी, इण्डोनेशिया, मलाया, सिंगापुर पर जापान का अधिकार हो गया। जर्मनी को हराने के बाद मित्र राष्ट्रों ने जापान को विजय करने की योजना बनायी पर जापान को हराना कठिन था। अमेरिका ने तब दो एटम बम गिराये लाखों व्यक्ति मारे गये, लाखों घायल हुए तथा अरबों की सम्पत्ति स्वाहा हो गयी। जापान ने घबड़ा कर हथियार डाल दिये। जापान पर अमेरिका की सेना का 1945 में अधिकार हो गया। जर्मनी के समान ही जापान को घोर अत्याचार सहने पड़े। लेकिन फिर भी अपने कड़े परिश्रम से 1945 के बाद उसने निरन्तर उन्नति की है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. जापान के उत्थान की संक्षिप्त कहानी लिखिये। अमेरिकन जहाजी बेड़े का जापान के एकान्तवास पर क्या प्रभाव पड़ा ?
   Write a short history of rise of Japan. What was the effect of American *intervention. in Japan.*
2. जापान की 1867-68 की क्रान्ति एवं उसका परिणाम संक्षिप्त रूप से बताइये।
   Describe shortly the Japanese Revolution of 1867-68 with its results.
3. जापान की विदेश नीति 1868 से 1914 तक क्या रही ? जापान-चीन युद्ध एवं रूसी-जापानी युद्ध का क्या प्रभाव पड़ा।
   What was the foreign policy of Japan from 1868 to 1914 ? What were the results of Sino-Japan and Russio-Japan Wars ?
4. दो विश्व युद्धों के बीच जापान की विदेश नीति की सफलता के क्या कारण थे ? इस बीच जापान को पश्चिमी देशों से कैसा सम्बन्ध था।
   What were the causes of the success of Japan's foreign policy during the period between two World Wars ? What relations Japan had established with Western Powers during the period.
5. संक्षिप्त रूप से मंचूरिया संकट का विवरण दीजिए और बताइए कि राष्ट्र संघ आक्रामक के विरुद्ध सफलतापूर्वक कोई कार्यवाही क्यों न कर सका ?
   Briefly describe the Manchurian Crises. Why did the League of Nations fail to take effective action agains the aggressor ?

28

विश्व राजनीति में पश्चिमी एशिया (दो विश्व युद्धों के मध्य)
(West Asia in World Politics (between the Two World Wars)

"स्वेज नहर महासागरों का द्वार है"......"जल युद्ध के समय इसका इतना अधिक महत्त्व रहेगा कि इस पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रत्येक राज्य प्रतिस्पर्द्धा करेगा"......"अपने भविष्य की लड़ाइयों का स्थल चुन लिया है।" —लेसिस—1884

"The Middle East in an area of tremendous strategic, geographic, economic and religious significance, it is a land bridge between three continents. The Suez Canal is the shortest waterway between Europe and Asia. International air lines fly across Arab countries and the standing stops for the Europe to Asia flights-Cairo, Beruit, Damascus, Tel Aviv, Beghdad are on the shortest routes between the Mediterranean and India." —S. N. Dhar

पश्चिमी एशिया का महत्त्व
(Importance of Western Asia)

भारत के समान पश्चिमी विश्व राजनीति का, प्राचीनकाल मे विभिन्न सभ्यताओं का केन्द्र स्थल रहा है। इस क्षेत्र में प्राचीनकाल मे अनेक सभ्यतायें उत्पन्न हुईं, विकसित एवं पुष्पित हुईं, और अन्त में पतन को प्राप्त हुईं। प्राचीनकाल की भूली-बिसरी सभ्यतायें—मिस्रों, मेसोपोटा-मियन तथा एजियन आदि इन्हीं क्षेत्रों में फली-फूली थीं। इसके बाद यह क्षेत्र दो विश्व धर्मों का भी संघर्ष स्थल रहा है। ईसाई एवं इस्लाम के अनुयायियों के मध्य अपने ऐतिहासिक धार्मिक-युद्ध (Crusade) यहीं हुए है और मध्य युद्ध तक होते रहे हे। पाश्चात्य सभ्यता एवं ईसाई धर्म के प्रचार एवं प्रसार से यह क्षेत्र पतन के गर्त मे पड़ा ससार से उपेक्षित रहा पर आवागमन के साधनों के विकास से यह क्षेत्र पूर्व और पश्चिम का पुल बन गया।

नेपोलियन बोनापोर्ट पहला यूरोपीय राजनीतिज्ञ एवं योद्धा था जिसने इस क्षेत्र का महत्त्व समझा। सामरिक महत्व के अतिरिक्त इसका राजनीतिक महत्व भी बहुत आंका गया। अपने मिस्री अभियान के समय उसके मस्तिष्क में स्वेज नहर का विचार आया था। उसने नहर बनाने की एक योजना भी बनायी थी, पर वह यूरोपीय युद्धों में इतना घिर गया कि इस ओर ध्यान न दे सका। 50 वर्ष बाद फ्रांसीसी इंजीनियरों ने नेपोलियन के स्वप्न को साकार किया। स्वेज नहर बन जाने पर यह तीन महाद्वीपों का केन्द्र स्थल बन गया। पश्चिम से पूर्व को जोड़ने वाला सबसे छोटा मार्ग स्वेज नहर ही है। अन्तर्राष्ट्रीय महत्वपूर्ण जल मार्ग होने के कारण अनेक यूरोपीय शक्तियों ने इसके आस-पास के क्षेत्रों को हथियाना प्रारम्भ किया और यह क्षेत्र उनमे प्रतिस्पर्द्धा एवं प्रतिद्वन्द्विता का क्षेत्र बन गया।

आधुनिक समय में पेट्रोल तथा अन्य प्रकार के तेलो का जब बहुत महत्व बढ़ा तो यह अपने तेल भण्डारों के कारण और भी प्रसिद्ध क्षेत्र बन गया। यूरोप की महान शक्तियों मे इस क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ी। आगे चलकर अरबों ने इन तेल भण्डारों को अपने कब्जे में कर लिया और तेल की राजनीति से ये देश पश्चिमी शक्तियों को अत्यन्त दुःखी किये हुए थे और उन्हें असमर्थ बना रहे हैं।

तुर्की साम्राज्य का इतिहास (History of Ottomam Empire)—प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व पश्चिमी एशिया तुर्की साम्राज्य का इतिहास है। तुर्की साम्राज्य बहुत समय से ब्रिटेन के साथ बधा था। उसके ब्रिटेन ने अनेक युद्ध लड़े और उसे जीवित रखने का अथक प्रयत्न किया पर प्रथम विश्व युद्ध के समय तुर्की जर्मनी से मिल गया था। इस प्रकार तुर्की ने अपना भाग्य जर्मनी के साथ जोड़ दिया था। जर्मनीतथा उसके साथी प्रथम विश्व युद्ध मे हार गये अतः तुर्की साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। युद्ध काल में मित्र राष्ट्रो ने गुप्त सन्धियाँ कर तुर्की को विभाजित करने की योजनायें बनाली थीं।

मित्र राष्ट्र एक ओर तो तुर्की साम्राज्य के विभाजन की योजना बना रहे दूसरी ओर वे अरबों को भड़का कर तुर्की के विरुद्ध विद्रोह कराने पर तुले थे। उन्होंने उन्हे वचन दे रखा था कि समस्त अरब राज्य जो तुर्की के अधीन है युद्ध के बाद स्वतन्त्र कर दिये जायेंगे। जब युद्ध समाप्त हुआ तो शान्ति सम्मेलन मे तुर्की का विभाजन और अरबों के आश्वासनों मे समन्वय करना बड़ा कठिन दिखायी दे रहा था। विल्सन के 14 सूत्र पेरिस शान्ति सम्मेलन मे खटायी में पड़ गये थे। अन्त मे सरक्षण प्रणाली का आविष्कार कर इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया गया। इस प्रणाली के अनुसार सीरिया, फ्रांस के सरक्षण मे और ईराक, जॉर्डन तथा फिलिस्तीन ब्रिटेन के संरक्षण में चले गये। दूसरी ओर मिस्र, जर्मन, सऊदी अरब, अफगानिस्तान, फारस आदि देश स्वतन्त्र होते हुए भी ब्रिटिश के प्रभाव क्षेत्र में रहे। पेरिस ने जो संधि सेव्रे तुर्की से की गयी, उसने तुर्की का बहुत बड़ा भाग उसके हाथ से निकाल लिया गया। शेष तुर्की का अश एक छोटे राज्य में परिवर्तित कर दिया गया और वहाँ से खिलाफत का अन्त कर दिया गया।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद पश्चिमी एशिया राजनीति का प्रमुख केन्द्र बन गया था। यहाँ के लोगों मे काफी राजनीतिक चेतना पैदा हो गयी थी। ये लोग अब विदेशी प्रभाव में रहना पसन्द न करते थे। वे पश्चिमी शक्तियों का राजनीतिक एवं आर्थिक शोषण कर अन्त करना चाहते थे। दूसरी ओर इस बहुमूल्य क्षेत्र को पश्चिमी राज्य अपने हाथ से खोना नही चाहते थे। मिस्र, सीरिया, फारस एवं फिलिस्तीन पर पश्चिमी शक्ति पूर्व के समान अपना पूर्ण प्रभुत्व रखना चाहती थी। इतना ही नहीं तुर्की साम्राज्य के शेष प्रभुत्व सम्पन्न अश को भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के भवरजाल मे फँसा कर परोक्ष रूप से गुलाम बनाने का प्रयास जारी था। एक ओर पश्चिम एशिया अपनी स्वतन्त्रता के लिए तड़प रहा था दूसरी ओर पश्चिमी शक्तियों के यहाँ क्रूर दमन चक्र चल रहे थे। दो विश्व युद्धों के मध्य पश्चिमी एशिया का इतिहास, इन्हीं दो प्रवृत्तियो के मध्य सघर्ष का इतिहास है।

पश्चिम क्षेत्र में तुर्की तथा उसके अंश दो विश्व युद्धों के बीच विश्व राजनीति मे क्या भाग अदा कर सके; इसका सक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जायगा।

तुर्की गणतन्त्र की विदेश नीति
(Foreign Policy of Turkish Republic)

तुर्की साम्राज्य किसी समय पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका तथा दक्षिणी पश्चिमी यूरोप में दूर तक फैला हुआ था। धीरे-धीरे यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ। राष्ट्रीय भावना ने यूरोप में जब उग्र रूप धारण किया तो तुर्क साम्राज्य पर आक्रमण होने लगे। अयोग्य एवं अत्याचारी खलीफा शासन में तो कोई सुधार न कर सके पर शक्ति के बल पर अपनी विदेशी

प्रजा पर नियन्त्रण रखने के लिए प्रयत्नशील हुए। इस अत्याचार से यूरोपीय प्रजा ही तंग नहीं आ गयी बल्कि स्वयं मुस्लिम प्रजा भी खलीफा के विरुद्ध विद्रोह करने लगी। इस प्रकार तुर्की के पतन ने यूरोप मे जो समस्या उत्पन्न की वह इतिहास में पूर्वी समस्या (Estern Question) या बाल्कन समस्या (Balkan Problem) कहलाती है। तुर्की साम्राज्य के इन दुर्बल अगों पर यूरोप की अनेक शक्तियाँ गिद्ध के समान टूट पड़ी। चूंकि ब्रिटेन भूमध्य सागर पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था अतः इसके किनारों पर उसका प्रभाव रहना आवश्यक था, अतः इन क्षेत्रों पर वह अधिकार चाहता था और उसने तुर्की से अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर रखे थे और उससे अनेक सुविधायें पा रखी थीं। इस कारण ब्रिटेन बहुत समय तक तुर्की का सरक्षक बना रहा।

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व जमनी का शासक विलियम द्वितीय ने टर्की को अपनी ओर तोड़ लिया। उसने बर्लिन बगदाद रेलवे निकालने की योजना बनाई और पश्चिमी एशिया को यूरोप के समृद्ध नगरो से जोड़कर तुर्की को आर्थिक लाभ के स्वप्न दिखाये। पुराने मित्र तुर्की का इस प्रकार आपने गहरे मित्र को धोखा देना, इंगलैण्ड के लिए असह था अतः युद्ध से पहले ही उसने तुर्की को नष्ट-भ्रष्ट करने का निश्चय किया था। सौभाग्य से इगलैण्ड को अमेरिका की सहायता से प्रथम विश्व युद्ध मे विजय मिल गयी। जर्मनी के साथ तुर्की को भी पराजय माननी पड़ी। 31 अक्टूबर, 1818 को तुर्की ने बिना शर्त हथियार डाल दिये।

सेव्रीस की सन्धि—पेरिस शान्ति सम्मेलन में तुर्की के साथ जो शान्ति सन्धि हुई उसे "सेव्रीस की सन्धि" (Treaty of Sevres) कहते हैं। अन्य सन्धियों के समान सेव्रीस की सन्धि भी एक आरोपित सन्धि थी। इसमें पराजितों के हितों का ध्यान नही रखा गया था और न उनसे परामर्श लिया गया था। यद्यपि तुर्की का सुल्तान इस अपमानजनक सन्धि को मानने के लिए तैयार था पर तुर्की के राष्ट्रवादी इस सन्धि को मानने के लिए तैयार न थे। इन राष्ट्रवादियों का नेता कमाल अतातुर्क था। वह जनता में बहुत लोकप्रिय था। वह उस समय अनातोलिया में इन्स्पेक्टर जनरल के पद पर आसीन था। उसका यह विचार था कि तुर्की को यह सन्धि स्वीकार नहीं करनी चाहिए। यदि इस सन्धि को मित्र राज्य तुर्की पर जबरन थोपेंगे तो युद्ध के लिए भी तुर्की को साहस करना चाहिए। राष्ट्रवादी कमाल के इशारे पर चलने को तैयार थे। इसके अतिरिक्त कमाल अपने सुल्तान के पुराने शासक से भी नाराज था। उसका कहना था कि जब तक वर्तमान व्यवस्था बनी रहेगी, तब तक तुर्की को अपना प्राचीन सम्मान एवं गौरव प्राप्त न होगा। इस प्रकार कमाल पाशा ने राष्ट्रवादियो को संगठित कर अनातोलिया मे विद्रोह भड़काकर सुल्तान के विरुद्ध एक समानान्तर सरकार की स्थापना कर ली। इस नई सरकार की राजधानी अंकोरा बनाई। कमालपाशा ने सेव्रीस की सन्धि को अस्वीकार करने की घोषणा कर दी।

तुर्की में विद्रोह और मित्र राष्ट्रों से पुनः युद्ध—तुर्की सुल्तान के विरुद्ध कमालपाशा ने विद्रोह खड़ा कर दिया। मित्र राष्ट्र बड़े चिन्तित हुए। इस पर यूनान के प्रधानमन्त्री वेनिजेलास ने मित्र राष्ट्रो को परामर्श दिया कि "यदि मित्र राष्ट्र राजी हो तो यूनान को एशिया माइनर के स्मर्ना प्रदेश पर आक्रमण करने तथा कब्जा करने की अनुमति प्रदान करें ताकि वह तुर्की से सेव्रीस की सन्धि मनवा सके।" ब्रिटेन न केवल यूनान के प्रस्ताव पर सहमत था, बल्कि वह उसे कर्जा देने तक को राजी था। इतना ही नहीं इटली भी यूनान को सहयोग देने को तैयार था। अतः दोनों देशों की सेना तुर्की प्रदेश पर कब्जा करने के लिए रवाना हो गई। इस आक्रमण से विशेषकर यूनानी शत्रु के दुस्साहस से तुर्क उबल पड़े। वे कमाल पाशा के नेतृत्व में शत्रुओं का सामना करने को तैयार हो गये। कमाल पाशा के हाथ मजबूत हो गये और वह साम्राज्यवादियों का मुकाबला करने को तैयार हो गया।

यूनान एवं इटली की सेनायें तुर्की क्षेत्र में बढ़ने लगीं और मित्र राज्यों ने तुर्की के सुल्तान से जबरन सेव्रीस की सन्धि पर हस्ताक्षर करा दिये। कमालपाशा ने अपना संघर्ष जारी रखा। इटली ने युद्ध जारी रखना ठीक नहीं समझा। उसने गुप्त रूप से लन्दन में कमालपाशा के प्रतिनिधि से समझौता कर लिया। इटली ने तुर्की प्रदेश से अपनी सेनायें हटा लीं। अब मैदान में यूनान की सेना अकेली रह गयी। यूनान और तुर्की मे 1919 से 1921 तक युद्ध जारी रहा।

इसी बीच मित्र राष्ट्रों मे मतभेद खड़ा हो गया। दूसरी ओर साम्यवादी रूस ने कमालपाशा की सरकार को मान्यता दे दी। इससे पूर्व यूनान के राजा अलेक्जेन्डर की मृत्यु एक पालतू बन्दर के काटने से अक्टूबर 1920 मे हो गई थी। इसके बाद यूनान मे नये चुनाव हुए। प्रधानमन्त्री वेनिजलाय की सरकार चुनाव में हार गयी और उसका पतन हो गया। यूनान का शासक कान्सटेन्टिन भी जर्मन का समर्थक बना। इटली से सन्धि हो जाने के बाद कमालपाशा से फ्रांस का भी एक समझौता हो गया। इस प्रकार यूनान का सहायक कोई न रहा। तुर्की ने यूनानी सैनिकों को पीछे खदेड़ना प्रारम्भ कर दिया था। सितम्बर 1922 में तुर्की ने अन्तिम यूनानी टुकड़ी को भी एशिया माइनर से मार भगाया। इङ्गलैण्ड और फ्रांस ने युद्ध जारी रखना बेकार समझा वे भी कमाल पाशा से सन्धि करने के लिए तैयार हो गये। वे चाहते थे यदि दोनों देशों को तुर्की का आर्थिक शोषण करने की अनुमति मिल जाये तो सन्धि करने को वे राजी है। इन्होंने यूनान और तुर्की के बीच युद्ध विराम की सन्धि करादी। इस प्रकार लुसान की सन्धिवार्ता के लिए पृष्ठ भूमि तैयार हो गयी।

लुसाने की सन्धि—तुर्की की नई सरकार ने समस्त विवादग्रस्त मामलों को नये सिरे से सुलझाने के लिए, 10 नवम्बर 1922 को स्विटजरलैण्ड के सुन्दर नगर लूसाने के सम्मेलन मे भाग लेने का निश्चय किया। सम्मेलन में अन्य देश थे ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, यूनान, जापान, रूस, अमेरिका रूमानिया एवं यूगोस्लाविया। सम्मेलन मे वाद-विवाद चलता रहा, अन्त मे 15 जुलाई 1923 को एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। यह सन्धि लुसाने की सन्धि 1923 कहलाई।

सन्धि के अनुसार पूर्वी थ्रेस, स्मार्ना, अडेलिया, अनातोलिया इत्यादि प्रदेश जो सेव्रीस सन्धि के अनुसार यूरोपीय देशों को दिये गये थे, तुर्की को वापस मिल गये। कुर्दिस्तान पर भी तुर्की का अधिकार मान लिया गया तथा ईराक एवं तुर्की की सीमा निश्चित करना भविष्य के लिए स्थगित कर दिया गया। सेव्रीस सन्धि के अन्तर्गत बासफोरस तथा डार्डेनल्स के जलडमरूमध्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण कायम किया गया था, लुसान सन्धि के अनुसार राजनीतिक दृष्टि से इन पर तुर्की का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। पर तुर्की को इन जलडमरूमध्यों के आस-पास किलाबन्दी करने का अधिकार न था। इन्हें विश्व के सभी जहाजों के लिए खुला रखना था। इस प्रकार मित्र राष्ट्रों का कोई झगड़ा तुर्की से नहीं रहा। लूसाने की सन्धि को सेव्रीस की सन्धि के समान आरोपित सन्धि भी नहीं कहा जा सकता है। एक विद्वान लेखक का मत है कि "सेव्रीस की सन्धि को पूर्णतया नष्ट करके उसके स्थान पर लुसान की सन्धि करना कमालपाशा की अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारी विजय थी।" दो सौ वर्षों से तुर्की यूरोप का मरीज कहलाता था और पश्चिमी राष्ट्र इस काल में निरन्तर उसे लूटने का प्रयास करते आ रहे थे। वह युग अब समाप्त हो गया।

तुर्की की विदेश नीति का मूलाधार—तुर्की कमालपाशा के शासन में आकर पहले की अपेक्षा नयी हो गयी। कमालपाशा ने अनेक सुधारों को लागू किया और तुर्की का आधुनिकीकरण प्रारम्भ कर दिया। शासन व्यवस्था को सुदृढ़ बना करके कमालपाशा ने यह किया कि वह किन आधारों पर नीति सुदृढ़ करे जिससे वह देश की रक्षा कर सके तथा उसका मान सम्मान अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे फिर से उठा सके। नये प्रवेश में तुर्की के लिए यह आवश्यक था कि वह संकीर्ण अत्याचारी विदेश नीति का त्याग कर दे। तुर्की का मुख्य उद्देश्य आगे यह रहा कि उसकी

विदेश नीति उसकी राष्ट्र रक्षा एवं स्वतन्त्रता की पूर्ण व्यवस्था कर सके। उसने अखिल इस्लामावाद (Pan-Islamism) की नीति भी छोड़ दी। कमाल पाशा धर्म को राजनीति से पृथक रखना चाहता था। 1931 में तुर्की के विदेश सचिव ने घोषणा की थी कि हम लोग आन्तरिक एवं बाह्य किसी भी नीति में धर्म प्रयोग नहीं करना चाहते हैं।

यद्यपि तुर्की स्वयं साम्राज्यवादी था पर यूरोपीय साम्राज्यवाद से उसे घोर अपमान सहना पड़ा था। अतः वह साम्राज्यवाद का कट्टर विरोधी बन गया। मोसुल विवाद के कारण तुर्की में साम्राज्यवाद विरोधी भावना और प्रबल हो गयी। लुसाने सन्धि के अन्तर्गत यह तय हुआ था कि ईराक और तुर्की की सीमायें बाद में तय होंगी। ईराक चूंकि ब्रिटेन के संरक्षण में था, ब्रिटेन मोसुल प्रदेश को ईराक में मिलाना चाहता था। कमाल पाशा इस प्रदेश को टर्की में ही रखना चाहता था। जब कमाल का झगड़ा ब्रिटेन से तय न हो सका तो वह राष्ट्र संघ की शरण में गया।

मोन्ट्रियक्स की संधि (Treaty of Montreux)—तुर्की देशभक्त राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत थे। तुर्की के समाचार-पत्र लगातार दोहराते रहते थे कि जलडमरूमध्यों पर तुर्की के अधिकार को सीमित करना तुर्कों के राष्ट्रीय सम्मान को आघात पहुँचाना है। लुसाने संधि के अनुसार तुर्की जलडमरूमध्यों के क्षेत्र के आस-पास किलाबन्दी नहीं कर सकता है, तुर्की ने संधि कर्ताओं के आगे 1936 में उस संधि को पुनरावलोकन के लिए रखा और पुनः इन क्षेत्रों में किलाबन्दी करने की मांग रखी। स्विटजरलैंड के मोन्ट्रियक्स स्थान पर संधि हुई और तुर्की को किलाबन्दी की अनुमति दे दी गई। इस संधि से तुर्की को यह भी अनुमति दे दी गई कि वह चाहे तो युद्ध के समय उभय पक्ष के जहाजों को इस जल मार्ग से गुजरने की अनुमति न दे। इस समझौते से विदेशों को उसके मामलों में हस्तक्षेप की आशा न रही।

तुर्की का रूस के साथ सम्बन्ध—सोवियत रूस ने तुर्की की नई सरकार को तब मान्यता दी थी जब वह इटली और यूनान की सेना से लड़ रहा था। इसके अलावा मोसुल के मामले में भी जब साम्राज्यवादियों ने तुर्की के साथ पक्षपात किया तो रूस ने तुर्की के साथ ही साम्राज्यवादियों की नीति की कटु आलोचना की थी। रूस एवं टर्की के साथ मित्र राष्ट्र अछूत जैसा व्यवहार करते थे। इस तरह से रूस और तुर्की निकट आते जाते थे। 1921 में दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने मास्को में एक संधि पर हस्ताक्षर कर दिये थे। इसमें यह सिद्धान्त माना गया था कि विश्व के प्रत्येक राष्ट्र को आत्म निर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। इसके बाद दोनों देशों के राजनेता एक दूसरे देश के अन्दर भ्रमण करते रहे। 17 नवम्बर 1925 में तुर्की विदेश मन्त्री पेरिस गया। वहाँ रूसी प्रतिनिधि से मिला और उससे एक मैत्री पूर्ण और अनाक्रमण संधि कर ली। संधि 10 वर्ष के लिए थी परन्तु आवश्यकता अनुसार इसे दोहराया भी जा सकता था।

1935 में इस संधि को दोहराया गया। यद्यपि रूस और तुर्की की सरकारें आपस में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखती थीं पर तुर्की जनता साम्यवाद को पसन्द न करती थी। अधिकांश कुलीन शासक भी साम्यवाद विरोधी थे। इस कारण रूस से तुर्की कोई आर्थिक सहायता प्राप्त न कर सका। फिर जब साम्यवादी तुर्की में अपना प्रचार करने लगे तो कमाल पाशा ने पश्चिमी शक्तियों की ओर रुख रखना प्रारम्भ किया।

अन्य यूरोपीय देशों से संधियाँ—1928 में टर्की ने इटली से मैत्रीपूर्ण संधि की तथा 1929 में तुर्की और फ्रांस में भी संधि हो गई। 'लोटस' के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने तुर्की के पक्ष में निर्णय दिया तो तुर्की का नाम प्रसिद्ध हो गया और 1932 में वह राष्ट्र संघ का सदस्य हो गया।

अमेरिका तथा तुर्की—प्रथम विश्व युद्ध के समय न अमेरिका ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध घोषणा की थी और न तुर्की ने अमेरिका के विरुद्ध, फिर भी दोनों के दौत्य सम्बन्ध विच्छेद हो

गये थे। नये सम्बन्ध बनाने के लिए नई संधियाँ आवश्यक थीं। अमेरिकन सीनेट कई वर्षों तक तुर्की से संधि करने पर विचार-विमर्श करती रही पर किसी नतीजे पर न पहुँच सकी। तुर्की ने उन देशों के माल पर अधिक चुंगी बिठा दी जिन से उसके दौत्य सम्बन्ध न थे। अपने आर्थिक हितों की रक्षा करने के लिए अमेरिका ने 1927 मे तुर्की से संधि कर ही ली। तुर्की की राजधानी में एक अमेरिकन राजदूत रहने लगा।

तुर्की के पड़ोसी राज्य—तुर्की ने अफगानिस्तान से 1930 मे संधि की। इस बात के लिए मान्यता दी गई कि तुर्की पश्चिमी एशिया के देश के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेता है। 1921 में तुर्की, फारस एव अफगानिस्तान मे एक मैत्री संधि हुई। 1926 मे फारस के साथ दूसरी संधि हुई।

तुर्की और बाल्कन प्रायद्वीप के राज्य—तुर्की ने बाल्कन प्रायःद्वीप के राज्यो से संधि करना उचित समझा। 19·3 मे हंगरी, 1924 में आस्ट्रिया, 1925 मे यूगोस्लाविया तथा बल्गेरिया से तुर्की ने संधि कर ली। 1928 मे इटली एव 1929 म यूनान के साथ तुर्की की संधि हो गई। इन संधियो के अनुसार हस्ताक्षरकर्त्ताओ ने यह वचन दिया कि वे शान्तिपूर्ण ढग से अपने झगड़ों को निबटायेंगे। 1923 में यूनान एव टर्की ने 10 वर्षों के लिए संधि की थी। इस प्रकार लगभग सभी बाल्कन प्रायद्वीप के राज्यों से तुर्की के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गये थे और तुर्की उनके सम्मेलनों में भाग लेने लगा था। वह बाल्कन गुट का प्रमुख सदस्य बन गया।

युद्ध के अवसर पर—1933 मे जर्मनी मे हिटलर तानाशाही स्थापित हुई। उसके सैन्यकरण और आक्रामक नीति से समस्त यूरोप में युद्ध के बादल उमड़ने लगे। तुर्की को भी अपने अस्तित्व का खतरा उत्पन्न हो गया। उसने सुरक्षा के लिए फ्रांस से 1939 मे एक संधि करली। जिसमें दोनों देशों ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने का वचन दिया। 1938 मे ब्रिटेन के जार्ज पष्ठम का जब राजतिलक हुआ तो तुर्की का प्रतिनिधि भी वहाँ पहुँचा। मई 1938 मे तुर्की और ब्रिटेन के मध्य एक व्यापारिक समझौता हो गया। इस समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन ने तुर्की को कर्जा देने का भी वायदा किया। 1939 में दोनो देशो के बीच अनाक्रमक संधि हो गई। जब तुर्की को पता चला कि 1939 मे हिटलर और स्टालिन में संधि हो गई है, तो उसे बड़ा दुःख एवं भय हुआ। उसी वर्ष यद्यपि रूस ने तुर्की से संधि करनी चाही पर तुर्की तैयार न हुआ। उसने द्वितीय विश्व युद्ध मे तटस्थता की नीति अपनाई।

फिलिस्तीन समस्या
(Palestine Problem)

यहूदियों का मूल स्थान फिलिस्तीन था पर उसे छोड़े हुए उन्हें लगभग दो हजार वर्ष हो चुके थे। उनका कोई राज्य तथा राष्ट्र न था। वे विश्व के अनेक देशों मे बसे थे और व्यापार एवं वाणिज्य मे अग्रसर थे पर कोई भी देश उन्हे पसन्द न करता था। प्रत्येक यहूदी इच्छा रखता था कि उनका भी एक देश होता। वे फिलिस्तीन की ओर बड़ी ललचाई हुई दृष्टि से देखते थे। 19वीं शताब्दी मे कुछ यहूदी फिलिस्तीन मे आ भी बसे थे। रूस और पूर्वी यूरोप मे बसे यहूदी फिलिस्तीन लौटने की बड़ी इच्छा रखते थे। 1886 मे डा० थियोडोर हर्जल (Theodore Herzel) द्वारा चलाये गये 'फिलिस्तीन लौटो" आन्दोलन को राजनीतिक रूप दे दिया गया था। उसने "एक यहूदी राज्य" नामक पुस्तक भी लिखी थी। उसमे लिखा था कि 'इतिहास साक्षी है कि हम लोगो के राष्ट्रीय चरित्र का स्तर बहुत ऊँचा रहा है। यहूदियो की राष्ट्रीयता को वर्बाद नहीं किया जा सकता है। यहूदियो की समस्या एक राष्ट्रीय समस्या है और विश्वव्यापी समस्या बनाकर ही इसका समाधान किया जा सकता है।

1897 मे यहूदियों ने स्विटजरलैण्ड मे एक सम्मेलन किया जिसमे दूर-दूर से यहूदी उपस्थित हुये। इस सम्मेलन मे एक प्रस्ताव पास किया गया कि "फिलिस्तान म एक राष्ट्रीय

निवास-स्थान "यहूदियों" का होना चाहिये। 1902 में रूस में यहूदियों पर घोर अत्याचार किया गया। ब्रिटेन ने उन्हें युगाडा में बसने की अनुमति दे दी।

बैलफूर घोषणा— ब्रिटेन को यहूदियों से बड़ी सहानुभूति थी। वह अरबों के मध्य ऐसा स्थान चाहता था जो सुगमता से ब्रिटिश प्रभाव में रहे। प्रथम विश्व युद्ध में यहूदियों ने मित्र राष्ट्रों की बड़ी सहायता की थी। सौभाग्य से फिलिस्तीन का एक बड़ा भू-भाग युद्ध के दौरान अंग्रेजों ने जीत लिया था। यहूदियों से सहानुभूति प्रकट करते हुये 2 अक्टूबर 1917 में लार्ड बैलफोर ने ब्रिटिश संसद में यह घोषणा की कि "ब्रिटिश सरकार फिलिस्तीन में यहूदी जाति के लिये 'एक राष्ट्रीय निवास स्थान' की स्थापना के पक्ष में है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वह भरसक प्रयत्न करेगी।" यही घोषणा वास्तव में इजराइल राज्य का बीजारोपण सिद्ध हुई।

फिलिस्तीन पर ब्रिटेन की संरक्षणता—पेरिस के शान्ति सम्मेलन में डा० वीजमान के नेतृत्व में एक यहूदियों का शिष्टमण्डल अपनी मांग रखने के लिये पेरिस पहुँचा। शान्ति सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों की सहानुभूति यहूदियों के पक्ष में थी। यहूदी रूस के प्रबल विरोधी थे पर रूस के प्रतिनिधि को सम्मेलन में बुलाया ही नहीं गया था। सम्मेलन ने बैलफोर उद्घोषणा को अक्षरशः मान लिया। फिलिस्तीन संरक्षण प्रणाली के अन्तर्गत ब्रिटेन को सौंपा गया था। इससे यहूदियों को वहाँ बसने की आज्ञा मिल गई। उन्हें पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दी गई।

फिलिस्तीन में अंग्रेजों का संरक्षण स्थापित हुआ अतः अँग्रेजों को इससे कई लाभ पहुँचे। फिलिस्तीन की सामरिक स्थिति बड़ी महत्त्व की थी। उस समय मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन बड़ी तेजी से चल रहा था। इस आन्दोलन के कारण ब्रिटिश सेना का वहाँ रखना खतरे से खाली न था। अब फिलिस्तीन पर संरक्षण स्थापित हो जाने से, ब्रिटिश सेना को कोई खतरा न था। अब ब्रिटेन स्वेज नहर पर ही दृष्टि न रख सकता था। बल्कि वह अपने पूर्वी-साम्राज्य की भी पूरी तरह देख भाल कर सकता था।

ब्रिटेन द्वारा उत्साह दिलाने पर यहूदियों की बाढ़ फिलिस्तीन में आने लगी और बसने लगी। यह बात वहाँ पर बसी बहुसंख्यक जनता जो अरब थी, उसे पसन्द न आयी। उन्हें खतरा था कि उनकी अपेक्षा यहूदी एक विकसित जाति थी जो शीघ्र ही उन पर अपना आधिपत्य जमा सकती थी। अरबों ने यहूदियों के आगमन पर जातिगत विद्रोह खड़े कर दिये। 1921 से 1925 तक फिलिस्तीन विशेष कर जेरूसलम जातिगत विद्रोह का केन्द्र बना रहा।

संरक्षण प्रणाली की शर्तें यहूदी पूरी नहीं कर सकते थे। ब्रिटेन भी अरबों के प्रति अपने वचन निभाने को तैयार न था। युद्धकाल में जो वचन अरबों को मित्र राष्ट्रों ने दिये थे, उनके पूरा न होने पर अरबों में बड़ा असन्तोष फैला हुआ था। यूरोप में आर्थिक संकट के फैलने से यहूदी और भी अधिक मात्रा में फिलिस्तीन आने लगे थे। चूंकि यहूदियों के प्रति कोई भी देश अच्छा व्यवहार न करता था अतः उनकी स्थिति प्रत्येक देश में खराब हो रही थी। जर्मनी, पौलैण्ड, हंगरी आदि देश यहूदियों से उनकी उच्च-स्थिति के कारण ईर्ष्या रखते थे। वे उन्हें अपने देश से खदेड़ना चाहते थे अतः उनके मार्ग में अनेक कठिनाईयाँ उत्पन्न कर रहे थे। जर्मनी के यहूदियों ने युद्ध काल में अँग्रेजों की काफी सहायता की थी अतः नाजी जर्मनी इनका पूर्ण निष्कासन चाहता था। उसने इनके साथ घोर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके साथ पशुओं के समान व्यवहार किया जाता था। उनकी जाति को ही वे नष्ट करना चाहते थे। यहूदी जान बचा-बचाकर तेजी से जर्मनी से भाग रहे थे और फिलिस्तीन पहुँच रहे थे। 1919 तक फिलिस्तीन में यहूदियों की संख्या केवल 83,000 थी जो 1934 में बढ़कर 37 लाख तक पहुँच गई थी। यदि इस बाढ़ को रोका न जाता तो फिलिस्तीन में रहने को स्थान तक न रहता।

यहूदी पढ़े लिखे, उद्यमी, बुद्धिमान तथा राजनीतिक दृष्टि से बहुत उन्नत थे और अरब

जाति उनके मुकाबले में बहुत ही पिछड़ी जाति थी। यहूदियों ने शीघ्र पश्चिमी एशिया को वाणिज्य का केन्द्र बना दिया। यहूदी लगातार उन्नति कर रहे थे पर अरबों की दशा अपने ही देश में दीन-हीन हो गई थी। अतः फिलिस्तीन उपद्रवो का केन्द्र बना हुआ था। चूंकि ब्रिटिश अधिकारियो की सहानुभूति यहूदियों के साथ थी अतः अरबो पर सेना और पुलिस के घोर अत्याचार हो रहे थे।

फिलिस्तीन का शासन ब्रिटिश औपनिवेशिक मन्त्रालय के अन्तर्गत चलता था। वहाँ एक ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि 'हाई कमिश्नर' रहता था। 1922 मे सर हर्बर्ट सैमुअल फिलिस्तीन का हाईकमिश्नर था। प्रथम सितम्बर 1922 को उसने एक विधान की घोषणा की थी जिसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थी—

(1) फिलिस्तीन का प्रमुख शासक हाई कमिश्नर होगा, उसे शासन मे सहायता के लिये एक कार्यकारिणी होगी जिसके सदस्यो का मनोनयन हाई कमिश्नर करेगा।

(2) कानून बनाने के लिये एक विधान मण्डल होगा जिसके सदस्यो को जातियों के अनुपात में निर्वाचित किया जायगा तथा हाईकमिश्नर उनको मनोनीत करेगा।

इस विधान से अरब असन्तुष्ट थे। वे अपना शासन अपनी इच्छा से चलाना चाहते थे। अरबों ने सविधान के मसविदे को अस्वीकार कर दिया। अब हाईकमिश्नर पूर्ण स्वेच्छाचारी शासक बन, शासन करने लगा।

यहूदियो ने फिलिस्तीन का पुनर्निर्माण प्रारम्भ किया। सड़के भवन व नगरों की बड़ी तीव्रगति से विकास प्रारम्भ हुआ। यहूदी नगर तेल अवीव, हैफा आदि आधुनिक नगर बन गये और वे यूरोपीय नगरो की समकक्षता करने लगे। निधन अरब अपनी जमीनो के अच्छे दाम पाकर, उन्हें बेचने लगे। कृषि क्षेत्र मे भी यहूदियो ने काफी उन्नति की। ससार के लिये यह आश्चर्य की बात होगी कि ससार मे फिलिस्तीन ही ऐसा देश है जिसका बजट सदैव सन्तुलित रहता है।

फिलिस्तीन मे दो प्रकार के नागरिक बसते है एक समृद्धशाली, उन्नत एव शिक्षित हैं और दूसरी ओर दरिद्र, अशिक्षित एव पिछड़े लोग हैं। एक ही स्थान पर दो भिन्न प्रकार की दुनियायें बसी है। अरबो की सरकार भी उपेक्षा करती है और यहूदी भी इस निराशा मे उन्हें एक ही कार्य सूझता है कि वह विद्रोह, दगे एव फिसाद प्रारम्भ करें। 19.9 मे जो भयानक दगा हुआ वह अनोखा ही था। इस दगे का कारण था धार्मिक नगर जेरुसलम मे खड़ी बीच की दीवार तुर्की शासन काल मे यह दीवार बनी थी। यहूदी इस दीवार के निकट खड़े होकर प्रार्थना कर सकते थे पर वे आस-पास कोई अन्य दीवार या चबूतरा खड़ा कर सकते थे। 24 सितम्बर 1928 को यहूदियो ने पूव दीवार के पास दूसरी पक्की दीवार खड़ी कर दी। अरबो ने इसका विरोध किया तथा पुलिस ने आकर यह दीवार गिरादी। यह घटना मामूली घटना थी पर इसने शीघ्र ही भयानक रूप धारण कर लिया। इसी बात को लेकर साम्प्रदायिक दगा खड़ा हो गया। अरबो ने दो सौ यहूदियो को काट डाला तथा यहूदियो की बस्तियो मे आग लगा दी। दगा भीषण रूप धारण कर गया। इसे दबाने के लिये बाहर से ब्रिटिश सेना बुलानी पड़ी। दगा बड़ी कठिनाई से दब सका। इसके बाद दगे का कारण जानने के लिये सरकार की ओर से सरजान सिम्पसन के नेतृत्व में एक आयोग नियुक्त किया गया। सिम्पसन की रिपोर्ट मे अरबों की शिकायत का मुख्य कारण धार्मिक एव राजनीतिक था। फिलिस्तीन मे यहूदी बड़ी संख्या मे आ रहे थे। विश्व यहूदी सघ की ओर से बेघरबार यहूदियो का फिलिस्तीन मे बसने के लिए मार्ग व्यय दिया जा रहा था तथा आर्थिक सहायता दी जा रही थी। अरब समझ रहे थे कि उनका देश यहूदियो के हाथ मे चला जायगा। इन यहूदियो के आने पर अरबों में बेचैनी फैली थी। सिम्पसन की रिपोर्ट के आधार पर यहूदियों का आना रोक दिया गया।

इस घोषणा से अरब सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने चुनावो में भाग लेना स्वीकार

लिया। यहूदियों ने इसका विरोध किया। यहूदी अरबों के बराबर प्रतिनिधित्व चाहते हैं। यह सम्भव न था अतः चुनाव की योजना त्याग दी गई। यहूदियों ने ब्रिटिश सरकार की नीति का विरोध किया। अप्रवास की नीति के विरुद्ध उन्होंने आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। 1932 में ब्रिटिश सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। एक खास वर्ग के यहूदियों को फिलिस्तीन में प्रवेश की अनुमति मिल गई। इससे अरब नाराज हो गये। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने भी इस समस्या पर गहरा प्रभाव डाला। इटली ने इथोपिया पर आक्रमण कर दिया था। इसी दौरान मिस्र और सीरिया में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ा गया। अरबों के विभिन्न राजनीतिक दलों ने एक संयुक्त मोर्चा गठित किया और ब्रिटिश सरकार के सामने निम्नलिखित मांगें पेश कीं :

(i) फिलिस्तीन में प्रजातन्त्रीय शासन अविलम्ब स्थापित किया जाय।

(ii) ऐसा कानून बनना चाहिये जिससे भविष्य में कोई यहूदी फिलिस्तीन में भूमि न खरीद सके।

(iii) फिलिस्तीन में यहूदियों के प्रवेश पर पूर्णतया रोक लगा दी जाये।

ब्रिटिश सरकार ने उपर्युक्त तीनों माँगों को अस्वीकार कर दिया।

फिलिस्तीन की समस्या का समाधान न हो सका तब एक बार पुनः अरबों ने 1935 में राष्ट्रीय हड़ताल कर दी। प्रारम्भ में यह हड़ताल एक दो हत्या से प्रारम्भ हुई पर धीरे-धीरे वह अधिक हिंसक होती चली गई। शहरों में हड़तालें हुईं और इधर-उधर गोरिल्ला युद्ध छिड़ा। जेरुसलम के मुफ्ती के नेतृत्व में हड़ताल चलाने के लिए एक "अरब उच्च समिति" का गठन हुआ जगह-जगह दंगे हुए, यहूदियों और ब्रिटिश अधिकारियों पर आक्रमण किये गये। लगभग 4 सौ यहूदी 8 सौ अरब और बहुत से अंग्रेज अफसर बलवे के शिकार हुए। अन्त में एक बड़ी सेना फिलिस्तीन भेजी गई। इस बीच अक्टूबर में ईराक, ट्रांसजोर्डन, सऊदी अरब, यमन आदि के शासक "अरब उच्च समिति' को शान्ति का मार्ग अपनाने की सलाह देने लगे। अरब इस व्यवस्था को मानने को तैयार हो गये और नवम्बर तक शान्ति स्थापित हो गई। समस्या की जाँच के लिए एक शाही आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग का उद्देश्य था कि वह अरबों द्वारा दंगों के कारण की खोज करे। यह आयोग पील की अध्यक्षता में आठ महीने तक जाँच-पड़ताल करता रहा एवं दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों से बातचीत सुनता रहा। इसके बाद वह लन्दन लौट गया। यह रिपोर्ट जुलाई 1936 में प्रकाशित हुई। रिपोर्ट में साफ स्वीकार किया गया कि अरबों और यहूदियों की आकांक्षाओं में किसी भी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करना असम्भव है। अतः उसने समस्या के समाधान के लिए फिलिस्तीन के बँटवारे की योजना प्रस्तुत की। योजना के अनुसार फिलिस्तीन को तीन भागों में बाँटा जायेगा—(i) जेरुसलम का धार्मिक स्थान जहाँ अरब और यहूदी काफी संख्या में आबाद थे और जो साथ-साथ रहना चाहते थे, अंग्रेजों के अधीन रखा गया। समुद्री तट तक पहुँचने के लिए जाफा बन्दरगाह तक एक गलियारे का भी प्रबन्ध किया गया। (ii) इसके अतिरिक्त गैलिली तथा समुद्रतटीय मैदानों को मिलाकर एक यहूदी सार्वभौम राज्य का निर्माण करने और (iii) शेष भाग को ट्रांसजोर्डन के साथ मिलाकर, एक अरब राज्य बना देने की चर्चा की गई थी। पील आयोग की यह सिफारिश भी थी कि सारी योजनाओं संरक्षक राज्य, ट्रांसजोर्डन को फिलिस्तीन के अरब और यहूदियों के बीच मैत्री सन्धियों द्वारा पक्का कर दिया जाय, फिलिस्तीन के अरब और यहूदी राज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र माने जायें और इन दोनों राज्यों को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया जाय।

पील की रिपोर्ट एवं योजना की कटु आलोचना हुई। इस योजना से न तो अरब सन्तुष्ट थे और न ही यहूदी। यहाँ तक कि राष्ट्र संघ के आयोग को भी यह योजना पसन्द न आयी। इस योजना में प्रस्तावित यहूदी राज्य में औद्योगिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण केन्द्र अंदे जोर्डन नदी पर

जल-विद्युत शक्ति स्टेशन और मृतसागर (Dead sea) पर पोटाश का कारखाना, सम्मिलित नहीं थे। उन्होंने हैफा और गैलिली के अन्य नगरों पर ब्रिटिश शासन को अनिश्चित काल तक बनाये रखने पर भी आपत्ति की। अरबों ने गैलिली के अन्य भाइयों से बिछुड़ जाने पर भूमध्यसागर के बन्दरगाहों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर, शिकायत की। कोई भी पक्ष बिना विशेष संशोधन के इस योजना को मानने के लिए तैयार न था। ईराक ने तो उसके विरोध में राष्ट्र संघ में विरोध पत्र भेजा। यहूदियों की कांग्रेस में योजना की तीव्र आलोचना हुई। इस प्रकार अरबों एवं यहूदियों ने पील योजना को अस्वीकृत कर दिया। 1937 के अन्तिम महीनों में अरब आन्दोलन तेज हो गया। अनेक लोग मारे गये। यहूदी ही नहीं, अंग्रेज तथा उन अरबों की भी हत्या की गई जो समझौते के पक्ष में थे। 1938 में भी फिलिस्तीन में दंगे होते रहे अंग्रेजों की बदले की भावना ने यहूदियों को भड़काया, परिणाम यह हुआ कि फिलिस्तीन में उपद्रव भयंकर रूप धारण कर गया। 1839 में भी छुटपुट दंगे होते रहे।

यद्यपि पील योजना ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकृत कर ली गई थी पर ब्रिटिश संसद ने उसे अस्वीकृत कर दिया। इस योजना की व्यावहारिकता को जाँचने के लिए एक और आयोग नियुक्त हुआ। इस आयोग के अध्यक्ष 'सर जान उडहेड' नियुक्त हुए। 1938 के प्रारम्भ से ही आयोग ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अक्टूबर 1938 में उडहेड आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गई। आयोग ने फिलिस्तीन के विभाजन का विरोध किया। नतीजा यह निकला कि ब्रिटिश सरकार ने पील योजना को परित्याग कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने अरबों और यहूदियों में कोई समझौता हो जाने के लिए लन्दन में एक गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया। दोनों पक्षों को अपनी-अपनी शिकायतें रखने के लिए अलग-अलग से निमन्त्रण भेजा गया।

गोलमेज सम्मेलन का अधिवेशन फरवरी-मार्च 1939 में लन्दन में प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन में अरब प्रतिनिधियों ने यहूदी प्रतिनिधियों के निकट बैठने से इन्कार कर दिया। अतः दोनों से पृथक-पृथक वार्तायें प्रारम्भ हुईं। ऐसा लग रहा था कि एक की जगह दो-दो गोलमेज सम्मेलन हो रहे हैं। दोनों पक्षों में इतना तीव्र मतभेद था कि कोई भी पक्ष किसी एक बात पर सहमत होता दिखाई न देता था। अरब अपनी स्वतन्त्रता पर अड़े थे तथा यहूदी अप्रवास को रोकने की माँग करते थे तथा बाल्फोर घोषणा को कार्यान्वित कराने की माँग करते थे। ब्रिटिश सरकार ने दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न किया पर कोई समझौता न हो सका और अन्त में सम्मेलन भंग हो गया। फिलिस्तीन की समस्या में कोई सुधार न हुआ।

17 मई 1939 को ब्रिटिश सरकार द्वारा एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें वचन दिया गया कि कुछ समय बाद फिलिस्तीन को स्वतन्त्र राज्य बना दिया जायेगा। यहूदियों के अप्रवास को भी सीमित करने की बात कही गई। इसी बीच द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। श्वेत पत्र में कहा गया था कि 5 वर्षों में केवल 65 हजार यहूदी प्रवेश पा सकते थे। उसके बाद प्रवास बन्द हो जाना था। 10 वर्षों तक जमीन की खरीद बिक्री पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया था। इन शर्तों पर यदि यहूदी और अरब राजी हो जाते तो फिलिस्तीन स्वतन्त्र घोषित किया जाना था। युद्ध प्रारम्भ होते ही सब योजना धरी की धरी रह गई। फिलिस्तीन में अंग्रेजी [illegible] मात्रा में ला गई, अरबों के विद्रोह शान्त हो गये।

ब्रिटेन ने फिलिस्तीन समस्या को सुलझाने में पूरे 23 वर्ष लगा दिये पर [illegible] सुलझ सकी। वास्तविकता तो यह थी कि [illegible] ब्रिटिश सरकार इस समस्या को [illegible] चाहती ही नहीं थी। उसका लक्ष्य तो फूट डालो और राज्य करो की नीति को [illegible] भारत ही का उदाहरण जगत के सामने था। [illegible] भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को कुचलने पर [illegible] किया। [illegible]

सरकार मुसलमानों का पक्ष लेती थी उसी प्रकार फिलिस्तीन में वह मुसलमानों के विरोध में यहूदियों का पक्ष लेती थी। ब्रिटिश जनता भी फिलिस्तीन पर यहूदियों का अधिकार मानती थी तथा विश्व के विभिन्न देशों में पीड़ित यहूदियों को फिलिस्तीन में बसाकर उनका एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहती थी। इन क्षेत्रों को छोड़ने से पूर्व वह पश्चिमी शक्तियों की एक पिछलग्गू सरकार यहाँ स्थापित कर देना चाहती थी। फिलिस्तीन की समस्या के गम्भीर होने के पीछे ब्रिटिश सरकार की यह दोहरी नीति कार्य कर रही थी।

ब्रिटेन और मिस्र के सम्बन्ध (1919-39)
(Anglo-Egyptian Relations, 1919-1939)

मिस्र भी तुर्की साम्राज्य का एक अंग था। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व मिस्र पर तुर्की-सुल्तान का वैधानिक अधिकार स्थापित था पर व्यावहारिक दृष्टि से मिस्र ब्रिटेन के अधीन एक अधिराज्य की हैसियत रखता था। 1882 से ब्रिटेन ने अपना प्रभाव मिस्र पर स्थापित करना प्रारम्भ किया था और तब से वह लगातार इस प्रदेश पर अपना प्रभुत्व बढ़ाता रहा था। 1914 में तुर्की सुल्तान अँग्रेजों के शत्रु जर्मनों के पक्ष में हो गया था। इस अवसर का लाभ उठाकर ब्रिटेन ने घोषणा कर दी थी मिस्र अब तुर्की के स्थान पर ब्रिटेन के संरक्षण मे है।

मिस्रवासी वर्षों से अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे थे। तुर्की साम्राज्य हो या ब्रिटिश साम्राज्य वे दोनों का विरोध कर रहे थे। तुर्की की सरक्षणता से निकल कर ब्रिटिश संरक्षणता में आ जाने से उनकी इच्छा की पूर्ति नहीं होती थी। उनके देश में विदेशी सेना रहे यह उन्हें बिलकुल पसन्द न था। ब्रिटिश सरकार मिस्री लोगों को एक श्रम-सेना में भर्ती करती थी जिसका कार्य था सीरिया और फिलिस्तीन के रण-क्षेत्र में रसद पहुँचाना। यह कार्य मिस्रियों पर जबरन लादा गया था, इससे मिस्र की कृषि-व्यवस्था डाँवाडोल हो गयी थी। मिस्र में इससे भयानक असन्तोष फैला था। मिस्र का राष्ट्रीय आन्दोलन जगलुल पाशा के नेतृत्व में चल पड़ा। वफद पार्टी के नाम से जगलुल पाशा ने एक राष्ट्रीय संगठन बनाया था। 1918-19 में यह राष्ट्रीय आन्दोलन काफी तेज हो चुका था। 1918 में जगलुल पाशा काहिरा के ब्रिटिश हाईकमिश्नर से मिला और उससे मिस्र की स्वाधीनता की माँग की। जब युद्ध के बाद पेरिस मे शान्ति सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो मिस्र का एक शिष्टमण्डल अपनी माँगें शान्ति सम्मेलन मे रखने के लिए चल पड़ा पर ब्रिटिश सरकार ने उसे रास्ते में ही रोक लिया और माल्टा में नजरबन्द कर दिया। यह समाचार जब मिस्र में पहुँचा तो वहाँ दंगे-फिसाद प्रारम्भ हो गये। हड़तालें एवं बल्वे तेज हो गये। अँग्रेजों ने सीरिया की सेनाएं बुला ली और मिस्र का विद्रोह कुचल दिया।

1922 की सन्धि—मिस्र को सन्तुष्ट करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने कूटनीति से काम लिया। जगलुल पाशा नजरबन्दी से मुक्त कर दिया गया। जगलुल माल्टा से सीधे पेरिस पहुँचा और मिस्र की स्वतन्त्रता की माँग उसने वहाँ रखी. इधर लार्ड मिलनर को ब्रिटिश सरकार ने मिस्र भेजा जिसका उद्देश्य था कुछ वैधानिक सुधार मिस्र शासन में लागू किये जाना। वापस लौटकर लार्ड मिलनर ने अपनी रिपोर्ट दी। रिपोर्ट में मिस्र को स्वतन्त्र कर देने की सिफारिश की गयी थी पर मिस्र की विदेश नीति तथा स्वेज नहर पर ब्रिटिश नियन्त्रण की सिफारिश की गयी थी। मिस्री स्वभावत ब्रिटेन को ये सुविधाएँ देना पसन्द न करते थे अतः मिस्र ब्रिटेन वार्ता भंग हो गयी। एक बार पुनः मिस्र में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। जगलुल पाशा तथा उसके साथी पुनः गिरफ्तार कर लिये गये। ब्रिटिश हाईकमिश्नर ने ब्रिटिश सरकार को रिपोर्ट दी कि मिस्र क्रान्ति के कगार पर है अतः मिस्र की राष्ट्रीय भावनाओं को सन्तुष्ट किये बिना कार्य न चलेगा। ब्रिटिश सरकार चौंकी और मिस्र की दशा सुधारने के लिए उसने शीघ्र कदम उठाया। 18 फरवरी 1922 को लार्ड सभा में निम्नलिखित घोषणा की गयी :—

(1) ब्रिटेन मिस्र को एक स्वाधीन देश मानता है, उस पर से ब्रिटिश संरक्षणता का अन्त किया जाता है। केवल उसकी रक्षा हित ब्रिटिश सेना वहां रहेगी।

(2) अंग्रेज एवं अन्य विदेशी नागरिकों की रक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार पर रहेगी। तथा

(3) पहले के समान ब्रिटिश-सूडान ब्रिटेन के अधीन रहेगा।

मिस्र इस घोषणा से सन्तुष्ट न हुआ। यह सीमित या प्रतिबन्धित स्वतन्त्रता उन्हें पसन्द न थी। पर ब्रिटिश सेना के सामने वे कुछ नही कर सकते थे अतः विवश होकर सुल्तान अहमद ने ब्रिटेन से समझौता करना ही उचित समझा। इसी वर्ष मिस्र का एक सविधान बना जिसमें मिस्र के लिए संसदीय शासन व्यवस्था की रूपरेखा दी गयी थी।

मिस्र में दूसरा विद्रोह—1923 में मिस्र मे आम चुनाव हुए। जगलुल पाशा एवं उसके साथी चुनाव मे कूद पड़े अतः उनकी वफ्द पार्टी को विजय प्राप्त हुई। जगलुल पाशा मिस्र का प्रधानमन्त्री बना। उसने पद सम्भालते ही घोषणा की कि 1922 के समझौतों को समाप्त कर नये समझौते की व्यवस्था की जाय जो समता के सिद्धान्त पर हो। इसी बीच ब्रिटेन में चुनाव हुए और मजदूर दल की सरकार बनी। जगलुल पाशा को आशा थी कि मजदूर दल के नेता एवं प्रधानमन्त्री रेम्जे मैकडानल्ड मिस्रियों की राष्ट्रीय भावनाओं का सम्मान करेंगे। वह 1924 में ब्रिटेन गया पर जगलुल पाशा की आशाओं पर पानी फिर गया जब ब्रिटिश सरकार ने उसकी मांग को अस्वीकृत कर दिया।

निराश होकर जब जगलुल पाशा मिस्र लौटा तो मिस्री लोगों ने स्वतन्त्रता के लिए हिंसा का सहारा लिया, क्योंकि जगलुल पाशा कोई महात्मा गांधी न था। विद्रोह भड़का और उसका प्रकोप अंग्रेज बने। अनेक अंग्रेज मौत के घाट उतार दिये गये। 1924 में मिस्री सेना के सरदार तथा सूडान के गवर्नर जनरल सर ली-स्टेक की भी हत्या कर दी गयी। यद्यपि मिस्र के प्रधानमन्त्री तथा सुल्तान ने इस हत्या की घोर निन्दा की तथा वचन दिया कि वे हत्यारे को कठोरतम सजा देंगे पर ब्रिटिश सरकार इस आश्वासन से सन्तुष्ट न थी, वह तो मिस्रियों को एक पाठ पढ़ाना चाहती थी। लार्डसभा में सरकार ने एक अल्टीमेटम दिया जिसमें निम्नलिखित शर्तें थी :—

(1) हत्या के लिए मिस्री सरकार क्षमा याचना करे और वचन दे कि भविष्य में ऐसी घटना न होगी।

(2) मिस्र पर 5 लाख पौण्ड जुर्माना किया जाय।

(3) मिस्र सरकार हत्यारों को पकड़कर उन्हें कठोरतम सजा दे तथा मिस्र मे होने वाले ब्रिटिश विरोधी कार्य सदैव के लिए बन्द कर दे।

(4) सूडान स्थित मिस्री सिपाहियों को तुरन्त वहां से बुलाया जाय।

(5) मिस्र के वित्त एव गृह-मन्त्रालय मे अंग्रेज परामर्शदाताओ को रखा जाये।

इनके अतिरिक्त मिस्र को यह भी सूचना दी गयी कि सूडान के खेतों की सिंचाई के लिए नील नदी के जल को प्रयुक्त किया जायगा। इस अल्टीमेटम को प्रभावी बनाने के लिए लार्डसभा मे सिकन्द्रिया पर ब्रिटिश सेना को कब्जे का अधिकार दिया गया।

इस अल्टीमेल्टम को स्वीकार करने के सिवाय मिस्र को दूसरा चारा न दिखाई दिया। जगलुल पाशा ने ब्रिटेन की सभी मांगें मान लीं, जुर्माना भी 24 घण्टे में अदा करने का वचन दिया परन्तु सूडान को पानी देने के मसले पर वह कोई बात मानने को तैयार न था। जगलुल पाशा ने त्यागपत्र दे दिया। अहमद जिवारपाशा के नेतृत्व मे नया मन्त्रिमण्डल बना। मिस्री सरकार ने राष्ट्र संघ से हस्तक्षेप की अपील की पर राष्ट्र संघ ने यह मामला ब्रिटेन का घरेलू मामला बताकर हस्तक्षेप से इन्कार किया। विवश होकर नयी सरकार ने ब्रिटेन की सभी मांगें स्वीकार कर लीं। सिकन्द्रिया से ब्रिटिश सेना वापस बुला ली गयी। नील नदी से सिंचाई का मामला भी आंशिक रूप

से तय हो गया। इस घटना का प्रभाव यह पड़ा कि मिस्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकंजे में मजबूती से जकड़ गया और सूडान पर मिस्र का रहा-सहा प्रभाव भी समाप्त हो गया।

1924 से 1926 का काल—लिस्टेक-हत्याकाण्ड के साथ आंग्ल-मिस्री सम्बन्ध का एक अध्याय समाप्त हो गया। मिस्र ब्रिटेन के अधीन हो गया। आगे मिस्र आन्तरिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत हुआ। वफद पार्टी तथा सुल्तान के बीच सत्ता का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। ब्रिटेन और मिस्र में तीन बार वार्तायें हुईं और मिस्र ने 1930 की घोषणा को समाप्त करने पर जोर दिया पर ये सब कार्य व्यर्थ रहा।

ब्रिटेन को वफद पार्टी की गतिविधियाँ पसन्द न थी। वफद पार्टी विशुद्ध राष्ट्रीय पार्टी थी, मिस्री संसद में उसका बहुमत था। यह पार्टी ब्रिटिश सरकार के हाथ में कठपुतली नहीं बनना चाहती थी। 1935 में मिस्र में लार्ड लायड हाईकमिश्नर बनकर आया। वह पक्का साम्राज्यवादी था। उसने मिस्र के सुल्तान एवं उसके दरबारियों को, उँगली के इशारे पर नचाना प्रारम्भ किया। सुल्तान वफद पार्टी के प्रभुत्व को सहन नहीं करना चाहता था। संसद में वफद पार्टी का बहुमत था पर मन्त्रिमण्डल उसका नहीं बन सकता था। 1927 में जगलुल पाशा की मृत्यु हो गयी। उसका स्थान नहस पाशा ने लिया। वह उदार व्यक्ति था अतः ब्रिटेन ने अपनी नीति मिस्र के प्रति कुछ बदली। नहस पाशा को कुछ दिन के लिए मिस्र का प्रधानमन्त्री बनाया गया।

ब्रिटेन चाहता था कि मिस्री संविधान में कुछ ऐसा संशोधन हो जिससे वफद पार्टी का कभी मन्त्रिमण्डल न बने। 1930 का संविधान इसी दबाव का परिणाम था। 1931 में जब आम चुनाव हुए तो वफद पार्टी ने उसका बहिष्कार किया। चुनाव हुए और सिद्की पाशा का मन्त्रिमण्डल बना। सिद्की वास्तव में मिस्रियों का प्रतिनिधि न था बल्कि वह अँग्रेजों का एजेण्ट था। यह अँग्रेजों की *इच्छानुसार कार्य करता था*। इस प्रकार ब्रिटिश हाईकमिश्नर मिस्र में मनमानी करता था और ब्रिटेन के हितों की रक्षा करता था। मिस्र की सरकार उसके हाथ का खिलौना मात्र थी।

1936 की सन्धि—1931 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में बड़ी शीघ्रता से परिवर्तन हुआ। अनेक घटनायें ऐसी हुईं जिससे विश्व राजनीति में काफी परिवर्तन हुए। 1934 में सिद्की पाशा प्रधानमन्त्री पद से हट गया। 1935 में मुसोलिनी ने इथियोपिया पर आक्रमण कर दिया। मिस्र का प्रधानमन्त्री नसीम पाशा बना था। वह स्वतन्त्र विचार का व्यक्ति था। उसने सुल्तान से कहकर 1930 का संविधान भंग करा दिया। इसी बीच फौद प्रथम की मृत्यु हो गयी और उसका अल्पवयस्क पुत्र फौद द्वितीय मिस्र की गद्दी पर बैठा। मई 1936 में 1923 के संविधान के अनुसार चुनाव हुआ। इस चुनाव में वफद पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ और नहस पाशा मिस्र का प्रधानमन्त्री बना।

नहस पाशा ने पद सम्भालते ही ब्रिटिश उद्घोषणा 1922 को रद्द करने की माँग प्रारम्भ कर दी। इटली के इथोपिया पर अधिकार से ब्रिटेन के लिए मिस्र की महत्ता बहुत बढ़ गयी थी। वे राष्ट्रवादियों को *असन्तुष्ट रखना ब्रिटिश हितों के लिए* खतरनाक समझते थे। उधर मिस्र में राष्ट्रवादी भी इटली के तानाशाह की अपेक्षा ब्रिटेन का संरक्षण अधिक अच्छा समझते थे। ऐसी स्थिति में मिस्र और ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ समझौते की ओर बढ़े। 1935 में आंग्ल-मिस्र सन्धि की रूपरेखा बनी। नहस पाशा के नेतृत्व में 13 व्यक्तियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल लन्दन गया। 16 अगस्त 1936 को मिस्र और ब्रिटेन के मध्य एक सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। सन्धि की अवधि 20 वर्ष थी। सन्धि के अनुसार—

(1) मिस्र को प्रभुसत्तायुक्त पूर्ण स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया।

(2) बाहरी आक्रमण के विरुद्ध मिस्र की रक्षा करने का भार ब्रिटेन ने ग्रहण किया। युद्ध की स्थिति में मिस्र के द्वारा ब्रिटेन को प्रत्येक प्रकार की सुविधायें देने का वचन दिया गया।

(3) स्वेज नहर के उत्तरी क्षेत्र में ब्रिटेन को अपनी सेना रखने का अधिकार मिला। शान्ति काल मे इन सैनिकों को संख्या दस हजार से अधिक नही हो सकती थी। आठ साल के अन्दर ब्रिटेन ने मिस्र से अपनी सेनायें हटाने का वचन दिया।

(4) मिस्र की सेना और पुलिस विभाग से अंग्रेज अधिकारी हटा लेने की व्यवस्था थी। इनके स्थान पर एक ब्रिटिश सैनिक मिशन रखने का प्रबन्ध किया गया जिसके जिम्मे सैनिक वार्ता पर मिस्र को सलाह देने का काम सौंपा गया। मिस्री सैनिक अफसरों को ब्रिटेन में ही शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था।

(5) सूडान पर मिस्र और ब्रिटेन का संयुक्त संरक्षक (Joint Condominium) कायम किया गया और मिस्री लोगों को बिना किसी रुकावट के सूडान में बसने की स्वाधीनता मिल गयी। ब्रिटेन ने इस बात का प्रयत्न किया कि मिस्र में जिन विदेशी राज्यों को विशेषाधिकार प्राप्त है उनका अन्त कर दिया जाय।

(6) ब्रिटेन से यह भी यत्न करने का वायदा किया कि मिस्र राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त कर ले।

(7) ब्रिटेन का राजदूत मिस्र मे और मिस्र का राजदूत ब्रिटेन मे रहने लगा।

इस सन्धि मे मिस्र एक स्वतन्त्र देश घोषित हो गया पर ब्रिटन का मिस्र पर प्रभाव बना रहा। जब ब्रिटिश सेना वहाँ उपस्थित रही तब आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप होना अनिवार्य सा था। यद्यपि यह सन्धि 1922 की सन्धि की अपेक्षा अधिक अच्छी थी परन्तु अन्य दृष्टियों से मिस्र की गिनती अन्य पराधीन देशों में ही की जाती थी। ब्रिटिश प्रभुत्व की आलोचना मिस्री संसद में जारों से हुई फिर भी सन्धि का अनुमोदन 22 दिसम्बर 1936 को हो गया।

8 मई 1937 को मान्त्रों में एक सम्मेलन किया गया। इसमे मिस्र के अन्दर विदेशियों का विशेषाधिकार समाप्त किया गया। 26 मई 1936 को मिस्र राष्ट्र संघ का सदस्य भी बन गया। 1939 में जब द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ा तो ब्रिटेन ने मिस्र पर पुनः अपना साम्राज्यवादी शिकंजा मजबूत कर लिया। वास्तव में जुगलुल पाशा जैसा व्यक्ति मिस्र को चाहिए था। ऐसे नेतृत्व के अभाव मे मिस्र पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव न कर सका।

अन्य ब्रिटिश संरक्षित प्रदेश—ट्रांस जोर्डन
(Trans Jordan)

पश्चिमी एशिया में जोर्डन नदी के पूर्वी ओर की भूमि ट्रांस जोर्डन कहलाती है। नवम्बर 1918 और जुलाई 1920 के बीच के काल में यह भूमि अरब राज्य का एक भाग था। अमीर फैजल के नेतृत्व में यह राज्य मित्र राज्यों की सहायता से संगठित किया गया था और तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध अरब-जगत को भड़काना इसका मुख्य उद्देश्य था। जब उनका अर्थ निकल गया अर्थात् युद्ध में मित्र राज्यों को सफलता मिल गयी तो फैजल की उपेक्षा की गयी। फ्रांस ने जब पुनः जुलाई 920 में सीरिया पर अधिकार जमाया तो फैजल को ट्रांस जोर्डन से निकाल बाहर किया गया। उसके बाद ट्रांस जोर्डन में मार्च 1921 तक कोई स्थायी शासन न रहा। इस भाग पर ब्रिटिश आधिपत्य हो गया। ब्रिटेन को वहाँ अपने हाथ का खिलौना फैजल का बड़ा भाई अब्दुल्ला मिल गया। वहाँ का वह नाममात्र का शासक बन गया। वास्तव मे अब्दुल्ला 1921 के प्रारम्भ मे एक छोटी सेना के साथ ट्रांस जार्डन में घुसा था कि वह फ्रांस अधिकृत सीरिया पर आक्रमण कर अपने भाई फैजल को सीरिया की गद्दी पर बैठाये पर ब्रिटिश सेना ने उसे ऐसा करने से रोक दिया और उसे ट्रांस जार्डन का अमीर बना दिया। अब्दुल्ला यह पद पाकर खुश हो गया। वह अपने भाई को भूलकर अंग्रेजों की कठपुतली बन गया।

राष्ट्रसंघ द्वारा ट्रांसजार्डन का संरक्षण ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। संरक्षण की शर्तों में यह स्पष्ट उल्लेख था कि ट्रांसजार्डन मे यहूदियों को नही बसाया जायेगा। यही कारण था कि ट्रांसजार्डन मे कोई विवादपूर्ण घटना नहीं घटी। इसके अलावा अन्य यूरोपीय शक्तियों को इस देश में विशेषाधिकार प्राप्त न था। अतः अंग्रेजों का प्रभुत्व वहाँ एक छत्र छाया रहा। 1928 सन्धि द्वारा ट्रांसजार्डन में अंग्रेजों ने आश्रित शासन व्यवस्था को वैध बना दिया। व्यवस्था चूंकि ब्रिटेन के हाथ मे थी अतः वह ब्रिटेन का गुलाम बना रहा। ब्रिटिश ने

तथा उनके बाद मेजर गल्ब के नेतृत्व में ट्रांसजार्डन की सेना आधुनिक ढंग से संगठित की गई। इसे "अरब लिजन" का नाम दिया गया। ट्रांसजार्डन के लोग बनजारे थे जो राजनीतिक चेतना से दूर थे। अतः अंग्रेज निर्विरोध यहाँ पर मनमाना शासन करते रहे।

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व ही ब्रिटेन ने यह घोषित कर दिया था कि मेसोपोटेमिया और फारस की खाड़ी में इसके महत्वपूर्ण स्वार्थ है। प्रथम विश्व युद्ध छिड़ते ही भारतीय सेना द्वारा मेसोपोटेमिया पर कब्जा कर लिया गया था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य की जकड़ इस क्षेत्र अर्थात् ईराक पर पूर्ण हो चुकी थी। ईराक में राजनीतिक चेतना युद्ध से पूर्व ही हो चुकी थी। अंग्रेजो से युद्ध के बाद उन्हें स्वतन्त्रता देने का वचन देकर शान्त कर दिया था। पर युद्ध समाप्त होते ही अंग्रेज अपना वायदा भूलकर ईराक को गुलाम ही रखना चाहते थे। इससे इराकी लोग असन्तुष्ट थे और 1920 में ही उन्होंने विद्रोह कर दिया था। ईराक को ब्रिटेन के अन्तर्गत मैन्डेट व्यवस्था में रखा गया था। लगभग 6 माह तक विद्रोह चलता रहा। अनेक ब्रिटिश अफसर मार डाले गये। अनेक घायल हुए। कुल 10 हजार व्यक्ति मरे या घायल हुए। अंग्रेजों ने दमन चक्र चलाया और विद्रोह बन्द भी हो गया पर जनता शान्त न हुई थी। ईरान अपने तेल के कुओं के कारण बहुत उपयोगी था। इसके अतिरिक्त ईराक भारत और इगलैण्ड के मध्य हवाई मार्ग में भी पड़ता था। इसकी महत्ता देखकर ब्रिटेन ने ईराक को सन्तुष्ट करने के लिए स्वशासन देना ही उचित समझा। उस समय ईराक को ब्रिटिश हाईकमिश्नर पेन्टसी कोक्स था। उसने आठ अरब राष्ट्रवादियों को मिलाकर 'राष्ट्रीय सरकार' सगठित की। इस समय ईराक की गद्दी खाली थी। फैजल ट्रांसजार्डन से निष्कासित कर दिया गया था। वह जब ईराक पहुँचा तो इराकियों ने उसका भव्य स्वागत किया और उसे गद्दी पर बिठा दिया। 22 अगस्त 1921 को फैजल की बाकायदा ताजपोशी हुई।

फैजल के गद्दी पर बैठने से ईराक के इतिहास का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। ईराक पिछड़ा देश था। उसकी विभिन्न जातियो मे एकता का अभाव था। उनमें एकता पैदा करना तथा उसे साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त कराना आदि अनेक समस्याएँ नये शासक के सामने थीं।

ईराक वासी सरक्षण पद्धति के विरोधी थे उनमें तीव्र असन्तोष की भावना भर रही थी। ब्रिटेन ने भी उसके साथ सन्धि कर लेना उचित समझा। अक्टूबर 1922 में दोनों देशों में सन्धि हो गयी। ईराक मे स्थित ब्रिटिश हाई कमिश्नर फैजल का सलाहकार माना जाने लगा। वह आर्थिक, सैनिक तथा विदेशी मामलों मे सलाह देता था। पहले सन्धि 20 वर्ष को हुई थी पर बाद में उसकी अवधि 4 वर्ष रह गयी। सन्धि में उन सभी सुविधाओं का उल्लेख किया गया था जो संरक्षित राज्यो को प्राप्त हो सकती थी।

यह सन्धि ईराक वालों को गुलामी से मुक्ति न दिला सकी अतः वे असन्तुष्ट थे और स्वतन्त्र होने के लिए छटपटा रहे थे। 30 जून 1930 को ईराक और ब्रिटेन में 25 वर्षीय सन्धि हुई। ब्रिटेन ने वचन दिया कि 1932 को ईराक को राष्ट्र संघ का सदस्य बना दिया जायगा। आन्तरिक मामलों मे उसे स्वतन्त्रता दी गयी केवल बाहरी मामलों में ब्रिटेन का नियन्त्रण रहा। 3 अक्टूबर 1932 को ईराक को राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त हो गयी पर ईराक को उसके लिए अनेक गारन्टियाँ देनी पड़ी। द्वितीय विश्वयुद्ध तक ईराक 1930 की सन्धि के अनुसार ब्रिटेन का सरक्षित राज्य बना रहा।

फ्रांस के संरक्षित प्रदेश—लेबनान और सीरिया

1916 के साइक्स पिकोट सन्धि के अनुसार सीरिया और लेबनान का भू-भाग फ्रांस के संरक्षण में रख दिया गया। इस सन्धि मे यह भी तय हुआ कि ब्रिटेन तथा फ्रांस के प्रभाव क्षेत्र के बीच एक स्वतन्त्र राज्य होगा। अंग्रेजो के प्रोत्साहन से उनका दोस्त फैजल दमिश्क आ धमका तथा ब्रिटेन की सहायता से वहाँ अरब का झण्डा फहरा दिया तथा वहाँ स्वतन्त्र सरकार का निर्माण कर लिया। पेरिस शान्ति सम्मेलन मे ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लायड जार्ज ने स्पष्ट रूप से बता दिया कि सीरिया पर फ्रांस का अधिकार मान लेना अरबों के साथ विश्वासघात होगा। फ्रांस सीरिया पर कब्जा करना चाहता था पर सीरिया वासी फ्रांस से घृणा करते थे और स्वय को एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे, सरक्षित राज्य के रूप में नहीं। यदि परिस्थितिवश उन्हें एक सरक्षित राज्य के रूप में रखना ही आवश्यक हो तो वे फ्रांस के अन्तर्गत न हो।

फ्रांस का कहना था कि युद्ध के दौरान जो गुप्त सन्धि हुई थी उसके अनुसार यह भू-भाग फ्रांस के संरक्षण मे आना चाहिए था पर अब स्थिति बदल गई थी। फैजल पर अंग्रेजों की विशेष कृपा थी। 24 अप्रैल 1920 को सानेरमो-सम्मेलन द्वारा जब सीरिया को फ्रांसीसी संरक्षण में सौंपने का एलान किया गया तो सीरिया मे अशान्ति फैल गई। अच्छा अवसर समझ सीरिया पर फ्रांस ने कब्जा कर लिया और फैजल को वहाँ से बाहर निकाल दिया।

फ्रांस ने "फूट डालो और शासन करो" की नीति अपना कर इस क्षेत्र के दो भाग कर दिये—सीरिया एवं लेबनान। लेबनान मे अरब-ईसाई बहुसंख्यक थे। इस क्षेत्र में एक रिपब्लिकन सरकार थी जो समय-समय पर फ्रांस की सहायता से अपना कार्य करती थी। फ्रांस इन ईसाईयो से अच्छा व्यवहार करता था। अतः छोटी-मोटी शिकायतें होने पर भी लेबनान फ्रांस के संरक्षण मे प्रसन्न था। 1925 में लेबनान के लिए एक विधान बनाया गया जिसके अनुसार वहाँ समदात्मक शासन की व्यवस्था की गई। पर कुछ दिनों बाद वहाँ ईसाई और अरबों मे संघर्ष छिड़ गया। 1934 में पुनः लेबनान के लिए एक नया विधान बनाया गया। उसमें संसद की प्रतिनिधित्व प्रणाली मे कुछ हेर फेर किया गया। धीरे-धीरे लेबनान में यह प्रथा पड़ गई कि वहाँ राष्ट्रपति ईसाई हो तथा प्रधान मन्त्री सुन्नी मुसलमान हो। इसके अतिरिक्त लेबनान मे कोई राजनीतिक परिवर्तन नहीं हुआ।

सीरिया की स्थिति कुछ भिन्न थी। वहाँ अरबों में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल थी। राष्ट्रीयता की भावना को कुचलने के लिए फ्रांसीसी सरकार ने सीरिया को अनेक प्रान्तो मे बाँटा। सीरिया से उन तीन क्षेत्रों को पृथक कर दिया गया जहाँ गैर-अरब लोग रहते थे। इनमें से दो क्षेत्र लेटेकिया और जेबल-ड्रूज फ्रांसीसी प्रशासन के अन्तर्गत रखे गये। उत्तर मे एलेक्जेंड्रिया का तुर्की जिला एक स्वायत्तशासित प्रान्त हो गया। इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी शासकगण सीरिया के स्कूलो और अदालतों मे फ्रांसीसी भाषा को अत्यधिक बढ़ावा दे रहे थे। इस नीति मे अरबों को और असन्तोष उत्पन्न हुआ। समय-समय पर विद्रोह होते रहे जिनमे 1925 का विद्रोह भयानक था। प्रारम्भ मे फ्रांसीसी सैनिक बुरी तरह हारे, उनके बहुत से सैनिक बुरी तरह आहत हुए और सीरियायी राष्ट्रवादियो ने फ्रांसीसी सेना के शस्त्रागारो पर कब्जा कर लिया। अन्त मे फ्रांसीसी सेना ने दमिश्क पर बम वर्षा कर जन-विद्रोह को कुचल दिया। नये फ्रांसीसी हाई कमिश्नर दी जूवेनेल ने वहाँ पहुँचकर सुलहा-समझौता करा दिया तथा अहमद नमीवे के नेतृत्व मे एक राष्ट्रीय सरकार का सगठन करके अगस्त 1926 मे लड़ाई का अन्त करा दिया।

जुलाई 1927 मे पोनसो सीरिया का नया फ्रांसीसी हाईकमिश्नर बनकर आया। वह सीरिया वासियो के द्वारा सीरिया का संविधान बनाना चाहता था। उसके इसी उद्देश्य से 1928 में अप्रैल महीने मे चुनाव हुए। निर्वाचित संसद को नया संविधान बनाने का कार्य सौंपा गया। फ्रांस ने यह भी वचन दिया कि फ्रांस और सीरिया मे वैसा ही सम्बन्ध स्थापित किया जायगा जैसा ब्रिटेन एवं ईराक मे एक सन्धि द्वारा स्थापित किया गया है। 7 नवम्बर 1927 को सीरिया की संसद ने संविधान का मसविदा बनाकर तैयार कर लिया पर फ्रांसीसी हाईकमिश्नर ने उसकी अनेक धारायें नापसन्द कीं और उसे अस्वीकार कर दिया। मई 1930 मे उसने स्वयं एक संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत की। यद्यपि सीरिया वासियो ने इस संविधान के विरुद्ध प्रदर्शन किये पर अन्त में उसे स्वीकार कर लिया। 1932 मे नये संविधान के अनुसार चुनाव हुआ और सीरियाई राष्ट्र-वादियों से मिलाकर एक मन्त्रिमण्डल स्वीकार किया।

सीरिया पर ईराक की राजनीति का असर पड़ रहा था। ईराक से ब्रिटेन की 1930 मे सन्धि हो गयी थी और वह 1932 मे राष्ट्र संघ का सदस्य भी बन गया था। सीरियावासी भी फ्रांस से वैसा ही सम्बन्ध बनाना चाहते थे जैसा कि ब्रिटेन के साथ ईराक वासियो का बन चुका था। अतः इसी आधार पर फ्रांस और सीरिया के मध्य वार्ता प्रारम्भ हुई। वार्ता मे सीरिया की सुरक्षा और विदेश नीति पर नियन्त्रण फ्रांस का 25 वर्षों के लिए होने की बात चली। सीरिया के राष्ट्रवादियों ने इस सुझाव का अनुमोदन नहीं किया। सीरिया की संसद को अनिश्चित काल के लिए भंग कर दिया।

इस घटना से सीरिया में पुनः घोर असन्तोष उत्पन्न हुआ। सीरिया पर
की राजनीतिक गतिविधियों का प्रभाव पड़ रहा था। 1936 मे मिस्र और ब्रिटेन मे

थी। इसका सीरिया के राष्ट्रवादी आन्दोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। सीरिया में आम हड़ताल हो गयी। सीरियावासियों और फ्रांसीसियों में गली-गली में मुठभेड़ होने लगी। वाध्य होकर फ्रांसीसी हाई कमिश्नर ने सीरियाई राष्ट्रवादियों से मिलकर एक सरकार बनायी। सीरिया की सरकार का प्रतिनिधि मण्डल पेरिस गया और 1936 की 9 सितम्बर को दोनों देशों में एक सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। यह सन्धि आंग्ल ईराकी सन्धि के नमूने पर हुई थी और सीरिया के राष्ट्र संघ के सदस्य हो जाने के बाद 3 वर्षों के अन्दर प्रभावी कराई जाने वाली थी। फ्रांस को सीरियाई भूमि पर सेना और विदेश नीति पर नियन्त्रण रखने का अधिकार मिला था।

सीरियाई राष्ट्रवादियों ने उक्त सन्धि का विरोध किया और संसद में विरोध के कारण सन्धि का अनुमोदन नहीं हो रहा था। इस विलम्ब से सीरिया की स्थिति बिगड़ रही थी। सीरिया का एलेक्जेंड्रिया जिला फ्रांस तुर्की को देने के लिए वार्ता चला रही थी, इस वार्ता से सीरिया वासी असन्तुष्ट थे। सीरिया की जन-भावना का ध्यान न रखते हुए फ्रांस ने उक्त जिला तुर्की को इस शर्त पर सौंप दिया (1939) कि यह सीरिया में अपने समस्त दावे समाप्त कर दे तथा फ्रांस विरोधी कोई कार्यवाही न करे। सीरिया में विद्रोह हो गया। 7 जुलाई 1939 को सीरिया के राष्ट्रपति ने फ्रांसीसी नीति के विरोध में पद त्याग दिया। इसके बाद सीरिया की संसद भंग कर दी गयी। फ्रांसीसी हाई-कमिश्नर का सीरिया पर निरंकुश शासन स्थापित हो गया। 1939 में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति इतनी बिगड़ गयी थी कि फ्रांस सीरिया को मुक्त नहीं कर सकता था। द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ने पर सीरिया की स्वतन्त्रता का प्रश्न अधर में लटक गया।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. विश्व राजनीति में पश्चिमी एशिया का महत्त्व बताइये।
   Describe the importance of West Asia in International Politics.
2. दो विश्व-युद्धों में मध्य तुर्की की क्या दशा रही? उसकी विदेश नीति विभिन्न देशों से क्या रही? बताइये।
   What was the condition of Turkey between two great Wars? What was the foreign policy of Turkey with various states during this period? State.
3. फिलिस्तीन समस्या से आप क्या समझते हैं? 1919 से 1939 तक फिलिस्तीन समस्या में क्या उतार-चढ़ाव रहे। बताइये।
   What do you know about the Palestine problem? What were the main issues in the problem during the period 1919- 9?
4. मिस्र और इंगलैण्ड के 1919 से 1939 तक कैसे सम्बन्ध रहे? संक्षिप्त रूप से वर्णन करिये।
   What kind of relations remained between Egypt and England during the period 1919-39? Describe shortly
5. ट्रान्स जार्डन और ब्रिटेन के दो महायुद्धों के बीच क्या सम्बन्ध रहे?
   What kind of relations remained between England and Trans-Jordan between the two Great Wars?
6. ईराक और ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
   Write a short note on Iraq and British Imperialism.
7. दो युद्धों के बीच लेबनान और सीरिया के फ्रांस से कैसे सम्बन्ध रहे? बताइये।
   What were the relations between Lebanon and Syria with France during 1919-1939?

1
भारत का विश्व राजनीति में प्रवेश तथा उसकी विदेश नीति
(India in World Politics and Her Foreign Policy)

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद की राजनीति के बाह्य ढाँचे के द्वारा असंलग्नता को, नीति की अपेक्षा दृष्टिकोण के रूप में महत्त्वपूर्ण बना दिया गया तथा इसके द्वारा भारत का न केवल प्रभाव बढ़ा वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शक्ति प्राप्त हुई।"

—जार्ज लिस्का

"Broadly, non-alignment means not tying yourself, often with military blocks of nations or with nations. It means trying to view the things, as far as possible not from military points of view, though that has to come in sometimes, but independently and trying to maintain friendly relation with all the countries."

—Pt. J. L. Nehru

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व विदेश नीति
(Foreign Policy of Indian National Cogress Before Independence)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म—15 अगस्त 1947 को भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता के परिणाम स्वरूप शासन की बागडोर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हाथ में आई। कांग्रेस ने स्वतन्त्रता के पूर्व भी विदेश नीति की यदा-कदा चर्चा की जिस पर हमें सर्वप्रथम विचार कर लेना चाहिये। भारत की पराधीनता ने उसके सभी विदेशी सम्बन्ध समाप्त कर दिये थे। विशेष कर जब अंग्रेजों का शासन भारत में लागू हुआ तो भारत की विदेश नीति की बागडोर अंग्रेजी शासन ने सम्भाली। अंग्रेजों की विदेश नीति भारत के हित में न होकर अंग्रेजों अथवा उनके देश हित में होती थी। 19 शताब्दी में भारत में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन चले। इससे भारतीय जनता में नवीन जाग्रति उत्पन्न हुई। सामाजिक और धार्मिक जाग्रति ने राजनीतिक जाग्रति का मार्ग प्रशस्त किया। भारतीयों ने यह अनुभव किया कि उनकी पराधीनता का कारण उनकी फूट है। उनमें एकता का अभाव है। ब्रिटिश शासन ने भारत में राजनीतिक एकता कायम कर दी थी, शिक्षा के प्रसार से रेल, तार एवं सड़कों के निर्माण से भारत में यातायात के साधन सुलभ हो गये थे और विचार-विमर्श के लिए मार्ग खुल गये थे। विदेशों की घटनाओं से एवं इतिहास से भारतीय, छापेखानों एवं अखबारों द्वारा परिचित हो गये थे। विदेशों में भी भारतीय विद्यार्थी, व्यापारी तथा विद्वान जाने आने लगे थे। उन्होंने भारतीयों को विदेशी लोगों की उन्नत दशा का ज्ञान कराया और भारतीयों की दशा से उनकी तुलना की।

इन सब कारणों से भारतीय अपनी हीन दशा से उभरने के लिए उतावले हो गये। कुछ लोगों ने यह अनुभव किया कि भारत की उन्नति तब तक सम्भव नहीं जब तक

शासन है। कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने भी भारतीयों को अपनी हीन दशा सुधारने के लिए वैधानिक ढंग अपनाने के सुझाव दिये। राजनीतिक चेतना के उभरने से कुछ लोगों ने राजनीतिक संगठन बनाने प्रारम्भ किये। इन्हीं संगठनों में 1885 में राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ।

कांग्रेस के विकास में अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का सहयोग—प्रारम्भ में कांग्रेस भारत के उच्चवर्ग की संस्था थी जो वर्ष में एक अधिवेशन कर, भाषण कर एवं दावत कर, वर्ष भर शान्त रहती थी। इसमें अधिकांश लोग ब्रिटिश सरकार के कृपापात्र और उसके प्रशंसक थे जो प्रार्थना करना, प्रस्ताव पास करना तथा विरोध प्रकट करने के अलावा सक्रिय राजनीति से दूर रहते थे। धीरे-धीरे कांग्रेस में कुछ मध्यम वर्ग के लोग आने लगे। यह प्रोफेसर, पत्रकार, डाक्टर आदि थे। उन्हें कांग्रेस की यह स्थिति पसन्द न आयी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की नीति की कटु आलोचना करनी प्रारम्भ की। भारतीयों की भिक्षावृत्ति की भी आलोचना की तथा राजनीतिक सुधारों की माँग की। भारत का पढ़ा-लिखा वर्ग भी कांग्रेस के अधिवेशनों में रुचि लेने लगा। उनमें देश-विदेशों के अखबार पढ़ने की रुचि उत्पन्न हुई। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने उनके मस्तिष्कों को उद्वेलित किया। वे विदेशी शासन से ऊब गये और स्वतन्त्र भारत की कल्पना करने लगे।

1892 में इटली और इथोपिया में युद्ध हुआ जिसमें इटली बुरी तरह पराजित हुआ। इस घटना से भारतीयों को बड़ा उत्साह मिला। एक यूरोपीय देश का अफ्रीकनों द्वारा पराजित होना यह भ्रम दूर करने में सहायक हुआ कि यूरोपीय राष्ट्र अजय होते हैं। अंग्रेजों के भी अजय होने में लोगों के मन में शंका होने लगी।

1893 में भारत का युवा सन्यासी स्वामी विवेकानन्द अमेरिका पहुँचा और उसने विश्व धर्म सम्मेलन में अपने तर्कों से सिद्ध कर दिया कि हिन्दू धर्म विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। अमेरिकनों ने स्वामी विवेकानन्द का अभूतपूर्व स्वागत किया। भारतीय जनता ने अपने धर्म पर गर्व करना प्रारम्भ किया और पाश्चात्य सभ्यता की श्रेष्ठता की ओर उपेक्षा दिखानी प्रारम्भ की।

जापान द्वारा अल्पकाल में महान उन्नति से भी भारतीय बहुत प्रभावित हुये। स्वामी विवेकानन्द स्वयं जापान की उन्नति से प्रभावित हुये थे और उन्होंने अपने भारतीय मित्र को एक पत्र लिखकर यह बताया था कि भारत को पिछड़ेपन, अन्धविश्वास और निराशावादिता का त्याग कर जापान से प्रेरणा लेनी चाहिए और वहाँ भारतीयों को जाकर देखना चाहिए कि वे कितनी उन्नति कर चुके हैं।

1904-5 में जापान ने रूस को बुरी तरह हरा दिया। इससे भारतीयों में अनोखा उत्साह बढ़ा। कहाँ छोटा सा देश जापान और कहाँ रूस जैसा विशाल देश। जापान के उदाहरण से भारतीय भी स्वतन्त्रता के लिए प्रयास में जुट गये। उस समय तक लोकमान्य तिलक ने अपनी पत्रकारिता से भी आम भारतीयों को राजनीति में भाग लेने को उत्साहित किया। "स्वराज्य हमारा पैदायशी हक है।" नारा देकर तिलक जी ने भारतीयों में आन्दोलन करने की इच्छा को प्रबल किया। उदार पन्थी श्री गोखले भी जापान विजय से उत्साहित होकर बोले कि "भारत में राष्ट्रीयता की विजय के लिए जापान के मार्ग का अनुसरण करना होगा।" प० जवाहरलाल नेहरू पर भी इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि 'प्रतिदिन मैं समाचार पत्रों की प्रतीक्षा बड़ी व्याकुलता से किया करता था। जापान की विजय का समाचार सुनकर मैं प्रसन्नता से ओत-प्रोत हो जाता था और यही सोचा करता था कि यूरोप के चगुल से एशिया और भारत को मुक्त करने के लिए किसी प्रकार मैं हाथ में तलवार लेकर लड़ूँगा।"

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने कांग्रेस के विकास में बड़ा योगदान दिया। कांग्रेस में एक दल नया पैदा हो गया जो गर्म दल कहलाया। लाल-बाल-पाल इन त्रिमूर्तियों ने कांग्रेस

को उच्च महलों से लाकर सार्वजनिक सड़क पर खड़ा कर दिया। उसकी लोकप्रियता दिन-दूनी रात चौगुनी बढने लगी। तिलक के भाषणों और लेखों से ब्रिटिश सरकार तिलमिला उठी और उन्हें जेल में डाल कर उनके प्रभाव को कम करना चाहा पर लोकमान्य तिलक की लोकप्रियता इससे घटी नहीं बढ़ गई।

कांग्रेस द्वारा अन्य पराधीन देशों के स्वतन्त्रता आन्दोलनों का समर्थन—भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन तेजी से बढ़ा। कर्जन की नीति से राष्ट्रीय आन्दोलन में नया उबाल आ गया। 1905 में बंगाल विभाजन ने समस्त भारतीयों को उत्तेजित कर दिया। जापान द्वारा रूस की हार ने जारशाही को दुर्बल बना दिया। रूसी जनता ने निरकुंश जारशाही के विरुद्ध आन्दोलन तेज कर दिया। इससे भारतीय लोग प्रभावित हुये। 1908 में युवा तुर्क क्रान्ति हुई और 1911 में सन-यात सेन के नेतृत्व में चीन में क्रान्ति हुई। इन क्रान्तियों ने भारत मे राष्ट्रवाद को और तेज किया। कांग्रेस ने इन विदेशी आन्दोलनों का समर्थन करना प्रारम्भ किया।

खिलाफत आन्दोलन—प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की का सुल्तान जो मुस्लिम जगत का धर्म गुरु था अंग्रेजों के विरुद्ध जर्मनी की ओर से लड़ा था पर अन्त में उसे हार खानी पड़ी। मुसलमानों में यह आशंका फैली कि अंग्रेज लोग खलीफा के साथ बुरा व्यवहार करेंगे अतः समस्त मुस्लिम जगत में खिलाफत आन्दोलन चल पड़ा। भारत भी इससे अछूता न रहा। ब्रिटेन ने 1857 के बाद हिन्दू-मुस्लिम एकता के विरुद्ध प्रयास किया और दोनो जातियो को एक-दूसरे के प्रति भड़काना प्रारम्भ किया था। दुर्भाग्यवश उन्हें सर सय्यद अहमदखाँ जैसा व्यक्ति मिल गया जो मुसलमानों को हिन्दुओं के प्रति भड़का कर उन्हें हिन्दू संस्थाओं से दूर रखता था। कांग्रेस को उन्होंने एक हिन्दू संस्था घोषित की थी और मुसलमानों को उससे दूर रहने का उपदेश दिया था। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भड़काने के लिए उन्होंने अंग्रेजों के प्रयास से अलीगढ़ में मुस्लिम कालेज खोला था जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय बन गया आगे चलकर लार्ड कर्जन ने भी बंगाल विभाजन कर मुसलमानो मे पृथकता की भावना भरी। 1906 मे मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इस प्रकार कांग्रेस से मुसलमान दूर रहे। पर 1916 में कांग्रेस और लीग मे एकता स्थापित हुई और टर्की के पक्ष में भारत मे खिलाफत आन्दोलन जब चला तो कांग्रेस ने उसका साथ दिया। 1920-22 का असहयोग आन्दोलन खिलाफत आन्दोलन का समर्थन करने के लिए ही चलाया गया था। इससे हिन्दू-मुस्लिम एकता दृढ़ हुई थी।

गांधी जी द्वारा दक्षिणी अफ्रीका में सत्याग्रह—दक्षिणी अफ्रीका की गोरी सरकार कालों के प्रति घोर पक्षपात करती रही है। यद्यपि 1848 मे वहाँ दासता को कानूनन अवैध घोषित कर दिया गया था फिर भी गोरी सरकार की घृणा हब्शियों के प्रति कम न हुई थी, चूँकि दक्षिणी अफ्रीका ब्रिटिश उपनिवेश था अतः 1948 के बाद वहाँ मजदूरो की जब कड़ी आवश्यकता पड़ी तब भारत से मजदूरों की भारी संख्या भेजी गई। इसके बाद अनेक व्यापारी, डाक्टर और वकील भी वहाँ जाकर बसने लगे। भारत प्रवासियों के साथ भी वहाँ की गोरी जनता और सरकार घृणा करती थी और साथ बुरा व्यवहार करती थी। उन्हे नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे, उन्हें यूरोपीय बच्चों के स्कूल मे अपने बच्चे भेजने का अधिकार न था, यूरोपीयन के लिए बनी सड़कों, रेलों, पुस्तकालयों के प्रयोग की स्वतन्त्रता न थी। महात्मा गांधी जब वहाँ एक मुकदमे के सिलसिले में गये तो इस अन्याय को दूर करने के लिए वहीं बस गये और सत्याग्रह का अनोखा हथियार प्रयोग कर वहां की गोरी सरकार को अपने व्यवहार में सुधार करने को विवश किया। 1911 में गांधी और स्मट्स सरकार में समझौता हो गया। इस आन्दोलन से भारतीयों को बड़ा
प्राप्त हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध और कांग्रेस—1914 में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया। कांग्रेस के उदारवादी नेताओं ने 1914 में मद्रास अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेस सम्राट को यह सूचना देना चाहती है कि वह सम्राट के प्रति अपनी पूर्ण आस्था रखती है और हर प्रकार की ब्रिटिश साम्राज्य को सहायता देना चाहती है। 8 सितम्बर 19.4 का इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल ने भी एक प्रस्ताव पास कर ब्रिटिश सरकार को पूर्ण सहायता देने का आश्वासन दिया। इन आश्वासनों से भारतीय सेना समुद्र पार पश्चिमी मोर्चे पर लड़ने के लिए भेजी गई। महात्मा गांधी ने भी युद्ध की सहायता के लिए भारतीयों को प्रोत्साहित किया।

रूस की क्रान्ति का प्रभाव—प्रथम विश्व युद्ध के दौरान रूस में साम्यवादी क्रान्ति हो गई। लाखों लोग मौत के घाट उतार दिये गये राजा एवं उसके परिवार के एक भी सदस्य को जीवित न रखा गया। पूंजीपतियों एवं उनके समर्थकों का सफाया किया गया। रूस की क्रान्ति ने भारत में क्रान्तिकारियों को प्रोत्साहन दिया। कांग्रेस में समाजवादी नेता इससे बहुत प्रभावित हुए।

शान्ति सम्मेलन में कांग्रेस का दख—यद्यपि 1917 में इम्पीरियल कान्फ्रेंस मे भारत को प्रतिनिधित्व मिल गया था पर यह प्रतिनिधित्व भारत सरकार को प्राप्त था, भारतीय जनता को नहीं। इससे कांग्रेस सन्तुष्ट न थी। शान्ति सम्मेलन में भी भारत सरकार के प्रतिनिधि पेरिस भेजे गये थे। कांग्रेस लोकमान्य तिलक को शान्ति सम्मेलन में भेजना चाहती थी पर ब्रिटिश सरकार यह पसन्द न करती थी। तिलक जी ने फ्रांस के प्रधान मन्त्री क्लिमेन्शों के नाम भारत की ओर से एक पत्र भेजा। उसमे भारत को आत्मनिर्णय अधिकार देने की मांग रखी। तिलक जी के इस पत्र का बड़ा महत्त्व था। भारतीय जनता की ओर से प्रथम बार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे स्वतन्त्रता का प्रश्न रखा गया। यहीं से भारतीय कांग्रेस ने सरकार से भिन्न अपनी नवीन विदेश नीति का आरम्भ किया।

अमेरिका सीनेट में भारत के आत्मनिर्णय का प्रश्न—राष्ट्रपति विल्सन ने पेरिस शान्ति सम्मेलन में भारत के आत्मनिर्णय के प्रश्न को नहीं उठाया। कांग्रेस ने इस प्रश्न को अमेरिका की सीनेट में उठवाने का प्रयत्न किया। 29 अगस्त 1919 को अमेरिकी सीनेट के एक सदस्य डूडले फील्ड मेलोन ने सीनेट की वैदेशिक मामलों की समिति (Foreign Rations Committee) के समक्ष इस प्रश्न को उठाया। उसने कहा कि "विल्सन के आत्म-निर्णय के अधिकार को भारत पर क्यों लागू नहीं किया गया, अतः इस सन्धि को सीनेट मान्यता न दे।" उसने यह भी बताया कि भारत ने प्रथम विश्व युद्ध में इसलिए सहायता की थी कि उसे भी आत्म-निर्णय का अधिकार मिलेगा। परन्तु उसे आत्मनिर्णय का अधिकार न मिला और उसका दिल टूट गया। सीनेट ने न वर्साय सन्धि को मान्यता दी न राष्ट्र संघ की सदस्यता को ग्रहण किया।

राष्ट्र संघ में भारत सरकार के प्रतिनिधि—यद्यपि भारत को राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त हो गई थी पर वहाँ प्रतिनिधि भेजने का अधिकार ब्रिटिश सरकार को थ। वास्तव मे भारत की सदस्यता दिलाने के पीछे ब्रिटेन उद्देश्य अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाना था। भारत के राष्ट्र संघ की कौंसिल में सदस्यता प्राप्त करने का अधिकार न मिला। सभी देश जानते थे कि भारत पराधीन देश है। राष्ट्र संघ में उसके प्रतिनिधि वहाँ की अंग्रेजी सरकार के मनोनीत सदस्य हैं तथा ब्रिटिश प्रतिनिधि की हाँ में हाँ मिलाने वाले थे। भारतीय इस पद्धति के विरुद्ध थे कांग्रेस ने इस पद्धति का खुलकर विरोध किया। 1920 से 28 तक कांग्रेस की मांग थी कि राष्ट्र संघ में जाने वाले प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किसी भारतीय को दिया जाय। भारत सरकार ने 1929 में मांग स्वीकार की, फिर भी वह भारतीय सरकार का पिट्ठू ही था।

कांग्रेस द्वारा खिलाफत आन्दोलन का समर्थन—तुर्की का सुल्तान खलीफा कहलाता था। प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की जर्मनी की ओर से लड़ा और हार गया। अंग्रेजों ने तुर्की के सुल्तान को

गद्दी से हटाने का निश्चय किया। इससे समस्त मुस्लिम जगत में तूफान उठ खड़ा हुआ। भारतीय मुसलमानों ने भी खिलाफत आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। अतः लीग और कांग्रेस मे सन्धि हो गई। दोनों ने मिलकर खिलाफत आन्दोलन चलाया। पेरिस सम्मेलन में एक शिष्ट-मण्डल खिलाफत के पक्ष में भारत से पेरिस गया पर उसकी बात न मानी गई। 14 मई 1920 को सेव्रीस की सन्धि का मसविदा प्रकाशित कर दिया गया। खिलाफत आन्दोलन चला। 1923 मे लुसान सन्धि कर तुर्की से अच्छा व्यवहार किया गया।

कांग्रेस की विदेश नीति 1920 से 1927 तक
(Foreign Policy of Congress from 1920 to 1927)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की रुचि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ओर बढी। उसने 1920 में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए कुछ सिद्धान्त निश्चित किये। जो निम्न थे—

(1) भारत अन्य राष्ट्रों से सहयोग करेगा।

(2) भारत सभी पराधीन एवं दलित राष्ट्रो को उनके स्वतन्त्रता आन्दोलन में सहायता देगा।

(3) प्रजातीय भेद-भाव (Racial discrimination) की निन्दा करेगा।

(4) साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद का विरोध करेगा।

(5) साम्राज्यवादी युद्धों का विरोध करेगा तथा विश्व शान्ति के लिए प्रयत्न करेगा।

कांग्रेस ने अपने 1920 के अधिवेशन मे आयरलैण्ड के सम्बन्ध मे प्रस्ताव स्वीकार कर आयरिश शहीदों के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की और आयरलेंड के स्वतन्त्रता सग्राम का समर्थन किया। 1921 में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर विश्व को यह सूचित किया कि भारत सरकार अपनी विदेश नीति में भारतीय जनता के दृष्टिकोण का कोई प्रतिनिधित्व नही करती है। अंग्रेजी सरकार ने भारत के पड़ोसी देशों पर तो सन्धियाँ थोपी है। कांग्रेस उनका विरोध करती है।

एशियाई देशों के संगठनो एवं स्वतन्त्रता आन्दोलन का समर्थन—भारत सरकार अपना साम्राज्य विस्तार भारतीय सेना और धन की सहायता से कर रही थी। इससे भारत विश्व में बड़ा बदनाम हो रहा था। कांग्रेस ने विश्व को यह साफ बता दिया कि भारत की सरकार की साम्राज्य वादी नीति, भारतीय भावनाओं के विपरीत है उसमें भारतीय जनता का कोई सहयोग नही। भारत चाहता है कि वह स्वयं स्वतन्त्र हो और विश्व के अन्य देशो को भी स्वतन्त्र होता देखे। महात्मा गांधी ने भी लिखा है कि "एशियाई और गैर-यूरोपियन लोगों के शोषण का मुख्य आधार भारत है। भारत को स्वाधीन करके मैं उन सभी पददलित राष्ट्रो को मुक्ति दिलाना चाहता हूँ, जो यूरोपियन राज्यों द्वारा शासित हो रहे हैं।"

1922 में डा० एम० ए० अन्सारी ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए कहा था कि एक एशियायी सघ की स्थापना होनी चाहिए। इसी बात को 1922 में देशबन्धु चितरजन दास ने भी दोहराया था। 1923 में जब मौलाना अब्बुल कलाम आजाद अखिल भारतीय कांग्रेस के सभापति चुने गये तो उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा था कि 'पराधीन और शोषित एशियाई देशों की समस्याओं के साथ भारतीय समस्याओं का एकीकरण होना चाहिए। भारत को तत्काल मिस्र, सीरिया, फिलिस्तीन, मोरक्को आदि के राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करनी चाहिए।" 1926 मे श्री एस० श्रीनिवास आयंगर ने कहा था कि "अब समय आ गया है कि भारत सभी एशियाई देशों के कल्याण के लिए एक एशियाई संगठन कायम करने की बात सोचे।" इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने देश की मुक्ति के साथ-साथ अन्य एशियाई देशों मुक्ति को आवश्यक समझती थी। महाकवि रविन्द्रनाथ टैगोर ने 1921 मे अपने ...

'विश्व भारती' में चीन के बारे में अध्ययन करने के लिए भारत-चीन अध्ययन विभाग (India-China Studies Department) खोलकर एक प्रशंसनीय कार्य किया। 1923 में महाकवि ने अपने साथियो के साथ चीन की यात्रा भी की थी। महाकवि रवीन्द्र जापान, ईरान एव मिस्र भी गये। इन यात्राओं का बड़ा प्रभाव पड़ा और भारत से इन देशों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए।

एशियाई सम्मेलन करने मे रूस ने पहल की। उसने 1920 में प्रसिद्ध नगर बाकू में एशिया के देशों का एक सम्मेलन बुलाया। उसमें भारत के अतिरिक्त 19 अन्य देश भी भाग लेने पहुँचे। इसी प्रकार दूसरा एशियाई सम्मेलन जापान के प्रसिद्ध नगर नागासाकी में हुआ तथा 1927 में एक अन्य एशियाई देशों का सम्मेलन शंघाई में हुआ। भारत ने भी इनमे भाग लिया। इन सभी सम्मेलनों का एक ही उद्देश्य था कि उपनिवेशवाद का अन्त हो और एशिया से यूरोपीय जाति अपना शासन साम्राज्यवाद समाप्त करे।

ब्रुसेल्स सम्मेलन—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विदेश नीति का केन्द्र भारत एवं एशिया ही था। परन्तु 1927 मे भारत विश्व रंगमंच पर भी पहुँच गया। प० जवाहर लाल नेहरू अब कांग्रेस मे ख्याति प्राप्त नेता बन चुके थे। उनको विश्व राजनीति का अच्छा ज्ञान था। 10 जनवरी 1927 को बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स मे पददलित राष्ट्रों का सम्मेलन प्रारम्भ होने वाला था। भारत ने भी इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लिया। भारत के प्रतिनिधि के रूप मे पं० जवाहर लाल नेहरू इस सम्मेलन मे भाग लेने पहुँचे।

इस सम्मेलन में 175 प्रतिनिधि पहुँचे। संसार में पददलित राष्ट्रों का शायद यह पहला ही इतना बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था। इस सम्मेलन के आयोजन का समर्थन इंगलैण्ड के मजदूर दल, जर्मनी, रूस, पश्चिमी यूरोप के साम्यवादी दलों, दक्षिणी अमेरिका, भारत एव चीन के राष्ट्रीय नेताओं ने किया था। इगमो भवन में जहाँ सम्मेलन की बैठक हो रही थी, उसकी दीवारों पर चित्रों, नक्शों और चार्टों के द्वारा यह दिखाया गया था कि अंग्रेजों ने कब और कहाँ विभिन्न देशो में होने वाले स्वतन्त्रता आन्दोलनों में भारतीय सेना का प्रयोग उन्हें कुचलने में किया है। इन चित्रों एवं नक्शों ने भारत के विषय में जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता प्रतिनिधियों के मन में जागृत कर दी थी।

नेहरू ने सम्मेलन में कहा कि "भारत की स्वतन्त्रता की समस्या केवल राष्ट्रीय समस्या ही नहीं है अपितु वह एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है, क्योंकि भारतीय स्वतन्त्रता के साथ कई देशों का भाग्य जुड़ा हुआ है। ससार के शापितों (Exploited) के लिए भारत की स्वतन्त्रता आवश्यक है।" आगे पं० नेहरू ने प्रतिनिधियों से अपील की—'हमारे लिए भारत की स्वतन्त्रता परमावश्यक है पर हमारी स्वतन्त्रता आपके लिए भी कम महत्वपूर्ण नहीं। हमारी पराधीनता आपकी स्वतन्त्रता के लिए सबसे अधिक बाधक है—अतः हम आपसे अनुरोध करेंगे कि हमारी सहायता कीजिए। इसमें आपका भी कल्याण है।"

नेहरू ने अपने भाषणों मे यह स्वीकार किया कि ब्रिटिश सरकार ने भारत को बदनाम कर रखा है क्योकि वह भारतीय साधनो का प्रयोग साम्राज्य बढ़ाने मे कर रही है तथा विभिन्न स्थानों पर स्वतन्त्रता आन्दोलनों को कुचलने के लिए भारतीय धन एवं सेना का खुल कर प्रयोग कर रही है। चीन के प्रतिनिधियों को आकर्षित करते हुए पं० नेहरू ने कहा कि "हमारे लिए यह बड़े अपमान और शर्म की बात है कि भारतीय सेना का प्रयोग चीन के राष्ट्रवादियों को कुचलने के लिए किया जा रहा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसका घोर विरोध किया और भारतीय लेजिस्लेटिव असेम्बली मे भी वह प्रश्न कई बार उठाया गया है। भारतीय पत्र-पत्रिकाओ मे भी इसके विरुद्ध आवाज उठायी गई है, परन्तु ब्रिटिश सरकार पर इसका कोई प्रभाव नही पड़ा है,

फिर भी इस अन्तर्राष्ट्रीय मंच से हम घोषणा करते हैं कि इस ब्रिटिश नीति से हम पृथक रहेंगे ।" पं० नेहरू ने चीन के प्रतिनिधियों को विश्वास दिलाया कि "भारत आज पूर्णतया चीन के साथ है केवल इसलिए नहीं कि चीन के साथ हमारी सहानुभूति है, बल्कि हम अनुभव करते हैं कि चीन के राष्ट्रवादियों की विजय से साम्राज्यवादियो का उन्मूलन करने मे हमें पर्याप्त सहायता मिलेगी ।"

ब्रुसेल्स सम्मेलन में पं० नेहरू के भाषणों से सभी प्रतिनिधि प्रभावित हुए और भारत के प्रति उनकी सहानुभूति उमड़ पड़ी । अतः सम्मेलन ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया कि "यह कांग्रेस (सम्मेलन) भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान करती है और यह सम्मेलन इस विचार का है कि संसार के पददलित राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के लिए विदेशी आधिपत्य (Foreign Domination) और सब शोषणों से भारत की मुक्ति एक आवश्यक कदम है । इस कांग्रेस (सम्मेलन) का यह विश्वास है कि संसार के अन्य देशों के लोग तथा मजदूर इस कार्य मे अपना पूर्ण सहयोग देंगे और भारत मे विदेशी सेना को भेजने से रोकने के लिए कदम उठायेंगे और उस देश पर सेना के द्वारा ब्रिटिश कब्जा बनाये रखने का विरोध करेंगे । यह कांग्रेस आगे विश्वास करती है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन भारत के किसान और मजदूरों की मुक्ति के *आधार पर अपना कार्यक्रम बनायेगा क्योंकि उनकी मुक्ति के बिना वास्तविक स्वतन्त्रता* सम्भव नहीं है और ससार के अन्य भागों की स्वतन्त्रता के लिए चलाये गये आन्दोलन मे अपना सहयोग देगा ।

पं० नेहरू को सहानुभूति चीन से तभी से प्रारम्भ हुई और रूस की साम्यवादी व्यवस्था के प्रति आस्था का जन्म उसी समय से हुआ । उन्हें रूस की आर्थिक उपलब्धियों ने भी काफी प्रभावित किया । साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का रूसी विरोध उन्हें प्रिय लगा । भावी प्रधानमन्त्री समाजवाद के प्रति उसी समय से विचार रखने लगे थे ।

कांग्रेस की विदेश नीति 1927 से 1947 तक
(Foreign Policy of Congress from 1927 to 1947)

कांग्रेस द्वारा विदेश विभाग की स्थापना—पं० जवाहरलाल जब स्वदेश वापस आये तो कांग्रेस ने यह समझा कि पं० नेहरू विदेशों मे भारत का सही प्रतिनिधित्व करने की योग्यता रखते है *अत. उनके नेतृत्व में एक विदेशी विभाग कांग्रेस में भी स्थापित किया गया । पं० जवाहरलाल* नेहरू इस विभाग के संचालक (Director) बनाये गये ।

चीन के प्रति मैत्री भाव—कांग्रेस की 1927 के बाद विदेश नीति का केन्द्र चीन रहा । पं० नेहरू ने ब्रुसेल्स सम्मेलन मे चीनी प्रतिनिधियों से मिलकर गहरी मित्रता स्थापित कर ली थी । वहाँ से चलते समय दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने एक संयुक्त विज्ञप्ति भी प्रकाशित की थी जिसमे एक-दूसरे के राष्ट्रीय आन्दोलनों मे सहयोग देने का वचन दिया गया था । भारत मे आकर पं० नेहरू के प्रभाव से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने चीन के विषय में कई प्रस्ताव पास किये थे । 1927 में एक प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस ने चीन से सहानुभूति दिखाते हुए सरकार से माँग की कि भारतीय सेनाओं को चीन से तुरन्त बुलाया जाये । भारत सरकार ने कांग्रेस के प्रस्ताव को रद्दी की टोकरी में डाल दिया । कांग्रेस ने चीन दिवस भी मनाया । 1928 मे जब कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उसने चीन के विषय मे एक अन्य प्रस्ताव पास किया । इस प्रस्ताव मे चीन के मामले में ब्रिटिश हस्तक्षेप की निन्दा की गयी तथा चीन से भारतीय सेना को पुनः वापसी की माँग दोहरायी गयी । इस प्रस्ताव में भारतीयो को परामर्श दिया गया कि वे ब्रिटिश एजेण्ट बनकर चीन न जायें क्योंकि चीनी और भारतीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध हो रहे सघर्ष में साथी एवं सहयोगी हैं । इस प्रकार ब्रुसेल्स सम्मेलन का प्रभाव पं० नेहरू के मस्तिष्क में इतना पड़ा कि उनकी [illegible]

चीन के प्रति अन्धे प्रेम में बदल गयी। 1932 में ही चीन के आक्रमण ने इस भ्रम को नेहरू के मस्तिष्क से निकाला।

भारत द्वारा विश्व सम्मेलनों में भाग लेना—भारत की विदेशी सरकार अपने प्रतिनिधि विश्व सम्मेलनों में भेजती थी पर वह भारतीय दृष्टिकोण को न रखकर ब्रिटिश दृष्टिकोण को वहाँ रखती थी। वास्तविक दृष्टिकोण को रखने के लिए भारतीय कांग्रेस ने विश्व सम्मेलनों में अपने प्रतिनिधि भेजने का निश्चय किया। 1929 में काबुल में तथा 1930 में टोकियो में एशियाई सम्मेलनों में कांग्रेस के प्रतिनिधि भाग लेने गये। इसी प्रकार 1934 में कोलम्बो में जब अखिल एशिया श्रम सम्मेलन (Pan Asiatic Labour Conference) हुआ तो कांग्रेस के नेता वहाँ भाग लेने पहुँचे। इस सम्मेलन से भारतीय नेताओं का सम्पर्क अन्य पराधीन देशों के नेताओं से आया।

22 अगस्त 1946 को पं० नेहरू ने विश्व मामलों की भारतीय परिषद (Indian Council of World Affairs) के समक्ष भाषण देते हुए कहा था कि "आपको यह जानने की इच्छा होगी कि हमारे कुछ मित्र, जिनसे हमारी भेंट आज से 20 वर्ष पहले ब्रुसेल्स में हुई थी, इण्डोनेशिया में सरकार चला रहे हैं। इस मित्रता से हमें आज भी लाभ पहुँच रहा है—क्योंकि उनके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध में मुझमें उनकी समस्याओं में व्यक्तिगत रुचि उत्पन्न कर दी है और वे लोग भी भारत की समस्याओं में रुचि ले रहे हैं। अभी हाल में (जब भारत में खाद्यान्नों की कमी थी। उन्होंने बहुत बड़ी मात्रा में हमारे यहाँ चावल भेजा। यह कुछ अंशों में उस व्यक्तिगत सम्पर्क का परिणाम था जिसको 20 वर्ष पूर्व हमने ब्रुसेल्स में कायम किया था।"[1]

मंचूरिया में चीन का समर्थन—भारत जापान से बड़ी सहानुभूति रखता था। उसके उत्थान से भारतीयों में बड़ा उत्साह बढ़ा था विशेष कर जब जापान ने 1905 में रूस जैसे विशाल देश को परास्त किया था। भारतीय जापान को एशिया का मुक्ति केन्द्र समझते थे। स्वामी विवेकानन्द ने भी भारतीयों को जापान से प्रेरणा लेने के लिए जापान के भ्रमण की सलाह दी थी। पर जापान के द्वारा साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करने से भारतीयों को बड़ा दुःख हुआ था। विशेषकर जब जापान ने चीन को हड़पने का इरादा किया। पं० नेहरू चीन से विशेष लगाव रखते थे। वे 1931 के मन्चुरिया काण्ड से जापान से बहुत नाराज थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर जापान की निन्दा की थी।

भारतीय लोकमत चाहता था कि ब्रिटिश सरकार चीन की सहानुभूति में जापान के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करे पर पराधीन देश के लोकमत का महत्व ही क्या होता है। फिर भी यथाशक्ति कांग्रेस ने जापान का विरोध किया था और प्रस्ताव पास कर जापानी माल का बहिष्कार किया था। भारत में पुनः चीन दिवस मनाया गया।

1937 में जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया। दिसम्बर 1937 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष को चीनी नेता चूतेह का एक पत्र मिला। इस पत्र में उन्होंने भारतीयों की चीनी हमदर्दी के लिए धन्यवाद दिया था तथा जापान के विरुद्ध संघर्ष में भारत की सहायता माँगी थी। इस पत्र को पाते ही कांग्रेस अध्यक्ष ने भारतीयों से अपील की कि वे चीन दिवस मना-

---

1 "It might interest you to know that some of the friends I made twenty years ago at the conference (of Brussels) are running the Indonesian republic to [illegible]

That too was partly due to certain personal contact that began nearly twently years ago." —Jawahar Lal Nehru : *Quarterly* 1946.

कर अपनी सहानुभूति चीन के प्रति प्रदर्शित करें। इस अपील पर भारत में अनेक सभाएँ हुई और चीन की सहायता के लिए चन्दा एकत्र किया गया। प० नेहरू ने लोगो से अपील की थी कि इस अवसर पर चीन की सहायता करना प्रत्येक भारतीय का पुनीत कर्तव्य है। उसके तुरन्त बाद डा० एम० अटल के नेतृत्व में पाच डाक्टरों का एक मेडीकल मिशन सगठित किया गया और 1938 में उसे चीन भेजा। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने कहा था कि "यह मिशन भारत की अपार सहानुभूति का प्रतीक है।" चीनी जनता ने इस मिशन का भव्य स्वागत किया था। यह मिशन उस सैनिक दस्ते का अंग बन गया जिसका नेता माउत्सेतुंग था। माओ ने एक पत्र पं० जवाहर लाल नेहरू को लिखा जिसमें मेडीकल मिशन के कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा भारतीय जनता को इसके लिए धन्यवाद दिया।

नेहरू चीन से हार्दिक प्रेम रखते थे। इस प्रेम का प्रदर्शन करने के लिए वे स्वय 1939 में चीन पहुँचे और 15 दिन तक रहे। इस यात्रा से वह बड़े प्रभावित हुए और उन्होने भविष्य मे दोनों देशो के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की कामना की।

पं० नेहरू की मिस्र एवं लंका यात्रा—1939 मे ही पं० नेहरू चीन के बाद मिस्र और लंका की यात्रा पर गये। मिस्र के वफ्द पार्टी के नेताओं से प० नेहरू की मुलाकात काहिरा मे हुई। इस भेंट मे दोनो देशों के नेताओं ने पारस्परिक हितो की समस्याओ पर बार्ता की। लका मे जब वे पहुँचे तो उन्होने प्रवासी भारतीयों की समस्याओ के समाधान हेतु लंका की सरकार से बातचीत की। इन यात्राओं से पं० नेहरू बहुत प्रभावित हुए। उन्होने लिखा है कि "भविष्य के बारे मे मेरी कल्पना है कि चीन, बर्मा, लका और कुछ अन्य देशों को मिलाकार एक सघ कायम हो।"

कांग्रेस द्वारा फासीवाद एवं नाजीवाद का विरोध—कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन में 19.0 से 1934 तक बुरी तरह घिरी रही। इस बीच यूरोप मे अनेक राजनीतिक घटना घट गयी और वहाँ का वातावरण उत्तेजित हो उठा। हिटलर का सत्ता में आना और उसके उग्र भाषण से यूरोप में तहलका मच गया। कांग्रेस ने घरेलू समस्याओ से छुटकारा पाकर 1935 मे यूरोप की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। इसी वर्ष इटली ने इथोपिया पर आक्रमण कर दिया। कांग्रेस यह अत्याचार न सहन कर सकी और उसने फासीवाद का घोर विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। पं० नेहरू फासीवाद से इतने चिढ़ गये थे कि जब इटली के तानाशाह ने उन्हें इटली आने का निमन्त्रण भेजा तो उन्होंने उसे तत्काल अस्वीकार कर दिया।

इटली के आक्रमण की राष्ट्र संघ में केवल जबानी भर्त्सना की गयी। इथोपिया के राजा की मार्मिक अपील पर किसी राष्ट्र ने ध्यान न दिया। ब्रिटेन तथा फ्रांस के विदेशमन्त्रियों ने गुप्त रूप से इटली की सहायता की पर प० नेहरू ने 1936 के कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन मे अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए कहा कि 'यूरोप में फासीवाद जीत की राह पर बढ़ा चला जा रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में खुल्लमखुल्ला गुन्डापन पर उतर आया है। चूँकि उसकी नींव घृणा और हिंसा पर है इसलिए अगर उसे रोका न गया तो लड़ाई की चिनगारी भड़क उठेगी।" कांग्रेस के अन्दर एक प्रस्ताव भी पारित हुआ कि "अबीसीनिया का संघर्ष संसार के सभी शोषितों का सघर्ष है।" कांग्रेस ने 9 मई 1936 को अबीसीनिया दिवस भी मनाया।

जर्मनी मे नाजीवाद का जोर था। उसने वर्साय की सन्धि के विरुद्ध आवाज उठाई थी। 1933 मे उसका नेता हिटलर जर्मनी की सत्ता हथियाने मे सफल हो गया। पहले तो इटली और जर्मनी मे खटपट थी पर इथोपिया के मामले में हिटलर ने मुसोलिनी के कार्य का समर्थन कर इटली को मित्र बना लिया। इटली का समर्थन पाकर हिटलर ने आस्ट्रिया पर कब्जा जमा लि‍" इसके बाद दूसरे छोटे राज्य चैकोस्लावाकिया को भी हड़प लिया। ब्रिटेन एवं फ्रांस के

ने एक मेमने को पकड़कर जबरन भेड़िये के सामने डाल दिया। म्यूनिख पैक्ट का पं० जवाहरलाल ने घोर विरोध किया।

कांग्रेस का दूसरे विश्व युद्ध के प्रति दृष्टिकोण—1 सितम्बर 1939 जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। इगलैण्ड ने भी 3 सितम्बर 1929 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध चल पड़ा। उस समय भारत के 8 प्रान्तों में कांग्रेस का शासन चल रहा था। भारत के गवर्नर जनरल ने कांग्रेसी नेताओं के बिना परामर्श के भारत को युद्ध मे झोंक दिया। इसके बाद महात्मा गांधी को बुलाकर उनसे युद्ध में इगलैण्ड की सहायता देने की अपील की। महात्मा गांधी ने कहा कि उनकी हमदर्दी पोलैण्ड, फ्रांस तथा इगलैण्ड के साथ है पर यह उनका निजी विचार है कांग्रेस का नहीं। कुछ समय बाद अपने 'हरिजन" पत्र में गांधीजी ने लिखा कि "अंग्रेजो को जो भी सहायता दी जाय, वह बिना शर्त होनी चाहिए।"

कांग्रेस गांधीजी के निजी विचार से सहमत न थी। उसे तो इस बात का दुःख था कि वायसराय ने बिना कांग्रेस के प्रतिनिधि से पूछे भारत की ओर से कैसे युद्ध की घोषणा कर दी। कांग्रेस के तत्कालीन प्रधान मौलाना आजाद ने लिखा कि "वायसराय के इस कार्य से यह सिद्ध हो गया कि ब्रिटिश सरकार भारत को अपनी इच्छा का प्रतिबिम्ब समझती थी और युद्ध जैसे मामले में भी भारत के आत्म-निर्णय के अधिकार को मानने के लिए तैयार नही था।"

10 अक्टूबर 1939 को कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई इसमें "युद्ध में अंग्रेजो की सहायता करने का" प्रश्न उठाया गया। अनेक सदस्यों ने कहा कि ब्रिटिश सरकार की प्रथम विश्व-युद्ध मे सहायता करके जो हमे फल मिला था, वह हमें याद है। यदि ब्रिटिश सरकार यह घोषणा करे कि युद्ध समाप्ति के बाद वह भारत को स्वतन्त्र कर देगी तथा तत्काल भारतीय मामलो मे अधिक से अधिक भारतीयों को नियन्त्रण दे देगी तो भारत अंग्रेजों की सहायता कर सकता है। पं० नेहरू ने कहा था कि 'हम नाजीवाद की विजय नहीं चाहते हैं और हमारी सहानुभूति उनके साथ है जिन पर हमला किया जाता है। कुछ अंग्रेजों ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया कि भारत बिना स्वतन्त्र हुए अंग्रेजों की कैसे सहायता कर सकता है। वेल्जफोर्ड का कहना था कि "भारतीय स्वयं पराधीन थे और हम उन्हे दूसरों को स्वतन्त्र कराने के लिए लड़ने के लिए कह रहे थे।"

वायसराय ने कांग्रेस के प्रश्न का कोई उत्तर न दिया। अन्त में काफी चुप्पी के बाद भारत के वायसराय ने 17 अक्टूबर 1939 को यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य है कि भारत को धीरे-धीरे औपनिवेशिक स्वराज्य दे देगी जिसका एक उदाहरण 1935 का कानून है। इस कानून के सशोधन के लिए ब्रिटिश सरकार देशी राजाओं, विभिन्न दलो के नेताओं, विभिन्न सम्प्रदायों के नेताओं से सलाह-मशवरा करने को तैयार है। इस प्रकार वायसराय किसी वायदे को करने के लिए तैयार न था। इस प्रकार के रवैये से क्षुब्ध होकर कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार का युद्ध मे समर्थन न करने का निश्चय किया।

स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति का निर्माण और उसके तत्त्व
(The Determination of Foreign Policy of Free India and its Factors)

भारत जब स्वतन्त्र हुआ तो विश्व का नक्शा बदल चुका था। द्वितीय विश्व युद्ध को समाप्त हुए दो वर्ष बीत चुके थे। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना को भी दो वर्ष हो चुके थे। विश्व पर से अंग्रेजों का प्रभुत्व समाप्त हो चुका था और स्थान लेने के लिए संयुक्त राज्य अमेरीका एवं रूस मे प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो चुकी थी। दोनों महान देशों ने गुटबन्दी करली थी। विश्व राजनीति मे शीत युद्ध प्रारम्भ हो चुका था। यद्यपि विदेश विभाग प्रधान मन्त्री पं० जवहरलाल

नेहरू के हाथ में था जिन्हें 20 वर्ष तक कांग्रेस की विदेश नीति के संचालन का अच्छा अनुभव प्राप्त था, फिर भी बदली हुई परिस्थितियों मे स्वतन्त्र नीति का संचालन मे बडी कठिनाइयाँ थीं। इतना होने पर भी पं० नेहरू ने अपनी विदेश नीति का निर्माण किया। इस नीति निर्माण मे जिन तत्त्वों का समावेश हुआ उनका संक्षिप्त वर्णन कर देना उचित है :

(1) भौगोलिक स्थिति--किसी देश की विदेश नीति के निर्धारण में उसकी भौगोलिक स्थिति का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है जैसा कि के० एम० पाणिक्कर ने कहा है कि "किसी देश की नीति उसकी भौगोलिक परिस्थितियो से निश्चित होती है जब नीतियो का लक्ष्य प्रादेशिक सुरक्षा होता है तो उसका निर्धारण मुख्य रूप मे भौगोलिक तत्त्वों से हुआ करता है।" एक और स्थान पर के० एम० पाणिक्कर लिखते है कि "यह समझना कठिन नही है कि भूगोल का सुरक्षा से कितना गहरा सम्बन्ध है। चूंकि हर देश की भौगोलिक विशिष्टाओं मे मूलतः कोई परिवर्तन नही आता, इसलिए प्रत्येक देश की वैदेशिक नीति के कुछ स्थायी पहलू होते हैं। वास्तव में यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वैदेशिक नीति भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।" नेपोलियन बोनापार्ट ने भी कहा था कि "किसी देश की विदेश नीति उसके भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।" डा० एयर्स का मत भी है कि "समझौते तोड़े जा सकते हैं, सन्धियां भी एक तरफा समाप्त की जा सकती हैं, परन्तु भूगोल अपने शिकार को कसकर पकड़े रहता है।"

भारत के सन्दर्भ मे भी उपर्युक्त बातें सही हैं। भारत की विदेश नीति के निर्धारण मे भारत के आकार, एशिया में उसकी विशेष स्थिति तथा दूर-दूर तक फैली हुई भारत की सामुद्रिक और पर्वतीय सीमाओं का विशेष स्थान रहा है।

सबसे मुख्य बात यह है कि भारत एक विशाल देश है। वह एशिया महाद्वीप के दक्षिण में स्थित है। इसके तीन ओर समुद्र और एक ओर आकाश को छूती हुई पर्वत मालायें है। भारत की सीमाओं पर पाकिस्तान, अफगानिस्तान, रूस, नेपाल, चीन, बर्मा, बंगला और लंका स्थित है। भारत की स्थलीय सीमा, 15200 किलो मीटर तथा समुद्री सीमा 6083 किलो मीटर है। इस देश का सामरिक महत्त्व भी बहुत है। जल मार्ग द्वारा यह विश्व के सभी महाद्वीपो से जुड़ा है। 10 मार्च 1950 मे लोक सभा मे भाषण देते हुए प० नेहरू ने कहा था कि "हम एशिया के सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भाग हिन्द महासागर के मध्य मे स्थित हैं। अतीत एवं वर्तमान काल में हमारा सम्बन्ध पश्चिमी एशिया, दक्षिणपूर्वी एशिया तथा सुदूर पूर्व एशिया के साथ रहा है। यदि हम चाहें तो भी इस तथ्य की उपेक्षा नही कर सकते है अब जबकि एशिया का बड़ा भाग अतीत के उपनिवेशवाद से मुक्त है, हमारे मस्तिष्क स्वाभाविक रूप से पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो से हमारे पुराने सम्बन्धो के पुराने दिनो की ओर लौट जाते हैं।"

भारत के तीन ओर सागर है—पूर्व मे बंगाल की खाड़ी, पश्चिम मे अरब सागर तथा दक्षिण में हिन्द महासागर। यह सागर विदेशी व्यापार की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण रहे हैं। जबसे भारत के जल मार्ग का पता यूरोप की शक्तियो को लगा तब से पश्चिमी देशा का व्यापार इसी मार्ग से होता रहा है। व्यापार के अतिरिक्त भारत पर इन्ही समुद्री मार्गो से पश्चिमी शक्तियो ने आक्रमण कर भारत पर विजय प्राप्त की है अतः व्यापार और समुद्री सीमा की रक्षा करना भारत के लिए एक आवश्यक तत्त्व है। यदि इन सागरों पर विदेशो का अधिकार हो जाये तो हमारा व्यापार तो ठप्प होगा ही साथ मे देश की स्वतन्त्रता के लिए महान खतरा बना रहेगा। चूंकि ब्रिटिश काल में ब्रिटेन ही इन समुद्रों और उनमे प्रवेश करने वाले फाटकों (अदन, आशान्तरीप सिंगापुर) पर अधिकार रखता था अतः भारत के स्वतन्त्र होने के बाद जब तक भारत शक्ति पर्याप्त रूप से नही बढ़ती तब तक हमे राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहना पड़ेगा से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने पड़ेंगे। भारत में ब्रिटेन से बिल्कुल सम्बन्ध विच्छेद करने

आन्दोलन होने के बाद भी नेहरू सरकार ने राष्ट्रमण्डल का सदस्य होना इसीलिए आवश्यक समझा। जब से अमेरिका ने ब्रिटेन से हिन्द महासागर में स्थित "डियेगो गार्शिया" द्वीपों को खरीद कर वह अपने सैनिक अड्डे बना लिये हैं तब से भारतीय सरकार ने इन अड्डों के हटाने का अभियान चला रखा है।

भारत एक किला है जिसके तीन ओर समुद्र की खाइयाँ है और शेष सीमा पर प्राकृतिक रूप से ऊँचे-ऊँचे पहाड स्थित हैं। इन सीमाओं की सुरक्षा करना भी भारत की विदेश नीति का मुख्य तत्त्व है। ब्रिटिश काल में स्थलीय सीमा पर स्थित अफगानिस्तान, ईरान, तिब्बत, वर्मा, लंका एवं मलाया पर अंग्रेजों ने अधिकार कर रखा था या इनसे मैत्री पूर्ण सम्बन्ध बनाये रखा था पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इन सीमाओं की रक्षा का भार स्वतन्त्र भारतीय सरकार पर आ गया है। भारत विभाजन से भारत की पश्चिमी और पूर्वी स्थल सीमा पर पाकिस्तान का निर्माण हो गया है अतः इस लम्बी सीमा पर लाखों सैनिक तैनात रहते है। पाकिस्तान का रवैया जन्म से भारत विरोधी रहा है। वह भारत पर तीन बार आक्रमण कर चुका है और हार चुका है फिर भी भारत को उससे सदैव सतर्क रहना पडता है। शत्रु का शत्रु मित्र होता है, अतः भारत अफगानिस्तान से मित्रता भी रखता है क्योंकि पाकिस्तान और अफगानिस्तान में शत्रुता चल रही है। भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा पर रूस स्थित है। चूंकि पाकिस्तान में अमेरिका ने सैनिक अड्डे बनाये हैं और वह पाकिस्तान को हर समय धन एव शस्त्रों से सज्जित किये रहता है अतः भारत को अमेरिका के प्रतिद्वन्द्वी रूस से मित्रता रखनी पड़ती है। पूर्व में वर्मा और उत्तर में चीन स्थित है। भारत ने इन दोनों देशों से मित्रता करने का यही लक्ष्य रखा था जिससे उसकी ये सीमायें सुरक्षित है। चीन पर भरोसा कर भारत ने तिब्बत को चीन का अंग मानकर और वहाँ से अपना प्रभुत्व हटाकर अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारी है। चीन की मित्रता एवं हिमालय पहाड़ की अनुल्लंघनीयता पर विश्वास कर उसने उत्तरी सीमा की व्यवस्था नहीं की और उसका भयानक परिणाम उसे 1962 में भोगना पड़ा जब चीन ने हिमालय को पार कर भारत पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि विश्व जनमत से चीन ने युद्ध विराम घोषित कर दिया है पर 15 वर्ष हो गये हैं उसने भारतीय क्षेत्रों को छोड़ा नहीं है। पाकिस्तान और चीन में गठजोड़ होने से भारत की स्थल सीमा सदैव खतरे में पड़ी है। 1971 को जब बंगला देश के मामले में भारत-पाक युद्ध की सम्भावना बढ़ गई तो भारत ने चीन के खतरे को दूर करने के लिए रूस से 20 वर्षीय सन्धि करली। उसी के कारण चीन भारत पर आक्रमण न कर सका। 1977 में श्रीमती इन्दिरा की सरकार गिर गई और जनता पार्टी की सरकार बन गई पर सरकार बदलने से सीमायें नहीं बदलती हैं अतः चीन और पाकिस्तान के खतरे के रहते हुए 1971 की भारत रूसी सन्धि का महत्त्व बना हुआ है। जनता पार्टी की सरकार ने भी अप्रैल 1977 में रूस और भारत के पूर्व सम्बन्धों की पुष्टि कर दी।

भारत के जन्म से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, में गुटबन्दी प्रवेश कर गई थी। भारत जानता था कि रूस और अमेरिका अपने गुटों को शक्तिशाली बनाने के लिए उस पर डोरे डालेंगे पर वह अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिए दोनों गुटों से मित्रता रखने के लिए विवश होगा। उसकी स्थलीय सीमा पर साम्यवादी देश रूस और चीन है अतः इनसे शत्रुता वह मोल नहीं ले सकता और दूसरी ओर समुद्री सीमाओं की रक्षा के लिए उसे पश्चिमी गुट से मित्रता रखनी आवश्यक है। इंगलैण्ड के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ही विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली जल शक्ति है। इन परिस्थितियों को देखते हुए, भारत ने किसी गुट में न फंसने का विचार किया क्योंकि एक गुट में सम्मिलित होना दूसरे गुट से शत्रुता खरीदना है। अतः उसने स्वतन्त्र होते ही अपनी विदेश नीति "गुट निरपेक्ष" अथवा "असंलग्नता" (Non-alienment) की घोषित कर दी।

भारत की विदेश नीति के निर्धारण में भौगोलिक पक्ष कितना प्रबल है, इसका उल्लेख 1947 में गुई विन्ट (Guy Wint) ने किया है—"ब्रिटिश सत्ता के समाप्त होने पर भी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भारतीय विदेश नीति में कोई मौलिक अन्तर नहीं आयगा, भौगोलिक परिस्थितियों का यथापूर्व बने रहने के कारण भारत के वास्तविक हित वैसे ही बने रहेंगे जैसे कि वे ब्रिटिश काल में थे। यह हित मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं :—

(i) भारत में जिन सीमावर्ती अथवा अन्य देशों से आक्रमण हुए हैं, उन सबके साथ तटस्थता या मित्रता। ये देश हैं—ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, लंका, मलाया, हिन्द चीन, स्याम, डच व ईस्ट इण्डीज।

(ii) मध्य पूर्व, बर्मा तथा डच ईस्ट इण्डीज से तेल की प्राप्ति।

(iii) भारत की सीमावर्ती राज्यों में बसने वाले भारतीयों का कल्याण और भारतीय व्यापार की वृद्धि।

(iv) हिन्द महासागर में भारत की सुरक्षा और व्यापार के आधारभूत समुद्री तथा हवाई मार्गों की सुरक्षा।

(v) बाह्य जगत में और सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राष्ट्रों के मामले में अपने अतीत के इतिहास और संस्कृति के अनुरूप महत्वपूर्ण भाग लेने की आकांक्षा।"

पं० जवाहरलाल नेहरू ने इन बातों को स्वीकार करते हुए लिखा था कि "भारत एशिया के महत्वपूर्ण भाग में स्थित है। यदि हम चाहें भी, तो भी विदेश नीति के निर्धारण में हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।"

(2) **सैनिक तत्व**—किसी भी देश की विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य अपने देश की बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा करना होता है। यह सुरक्षा तभी सम्भव हो सकती है जब देश सैनिक दृष्टि से सक्षम हो। 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ। ब्रिटेन की भारत रक्षा की जिम्मेदारी का अन्त हुआ। उस समय भारत की सेना आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित न थी। भारत की पूर्वी एवं पश्चिमी सीमा पर पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान का निर्माण हो चुका था। मुस्लिम लीग की सरकार पाकिस्तान में बन चुकी थी। मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिक नीति का फल भारत को कई बार भोगना पड़ा था। संयुक्त भारत में लीग अंग्रेजों की छत्रछाया में पलती थी अतः अंग्रेज उसे सदैव कांग्रेस और हिन्दू जनता के विरुद्ध भड़काते रहते थे। लीग साम्प्रदायिक दंगे कराती थी और हिन्दू जनता बेमौत मारी जाती थी। महात्मा गांधी के राजनीति में प्रवेश से वे दंगे और होने लगे थे। कांग्रेस की नीति मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति थी। लीग द्वारा किये गये सभी अपराध कांग्रेस द्वारा क्षमा कर दिये जाते थे। वह हिन्दुओं को यही समझाती रहती थी कि बदले की भावना बुरी भावना है। कांग्रेस हिन्दू संगठनों के प्रति कटु प्रचार करती थी और उन्हें फासीवादी विचारधारा से प्रभावित बताकर भारतीयों के मन में उनके प्रति घृणा भरती रहती थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता के पीछे महात्मा गांधी ने प्राण गँवा दिये पर यह एकता कायम न हो सकी और भारत का बँटवारा साम्प्रदायिक आधार पर ही हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू ने लीग की "प्रत्यक्ष कार्यवाही" से घबड़ा कर भारत विभाजन पर हस्ताक्षर कर दिये और पाकिस्तान का निर्माण कर भारत का एक सशस्त्र शत्रु सदैव के लिए सीमा पर बसा लिया।

पाकिस्तान ने बनते ही अपने क्षेत्र से हिन्दुओं की सफाई करनी प्रारम्भ कर ने जो अत्याचार यहूदियों के साथ किया था उससे भी अधिक अत्याचार किया गया हिन्दुओं के साथ पाकिस्तान में किया गया। अपने निर्माण के दो माह बाद, म पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। उसने भारत के सभी समूचो

एवं भारत के मित्रों को भी तोड़ने का प्रयास किया। 1962 में चीन ने आक्रमण कर दिया। भारत को चीन के साथ अपमानजनक हार खानी पड़ी और 20-22 हजार वर्ग मील क्षेत्र देश का खोना पड़ा। आज भी वह क्षेत्र चीन के पास है और पाकिस्तान की तरह वह भी भारत का स्थायी शत्रु बना हुआ है।

और दोनों ने मिलकर भारत को आपस मे बांटने की योजना बना डाली।

इन आक्रमणों का मुकाबला करने के लिए भारत को अपने को सशक्त बनाने का विचार करना पड़ा। पश्चिमी देशों एवं पूर्वी गुट दोनों से उसे सैनिक सहायता की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त भारत की आर्थिक अवस्था भी शोचनीय थी अतः उसे विदेशों से आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। अर्थ के बिना अच्छी सेना का निर्माण नहीं हो सकता था और न अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हो सकता था। असंलग्न-नीति से उसने रूस एवं अमेरिका से धन और सैनिक सामग्री की सहायता प्राप्त की और अपनी सेना को सशक्त बनाया। 1965 में पाकिस्तान ने इस गलतफहमी म पड़कर कि भारत चीन द्वारा हार कर कमजोर बन गया है, आक्रमण कर दिया पर शीघ्र ही उसकी गलतफहमी दूर हो गयी। 3 वर्ष मे भारत ने अपनी सेना को प्रशिक्षण देकर, शस्त्रों का निर्माण करके तथा वायुयान और टैंक के कारखाने खोलकर, इतना सशक्त बना दिया कि चीन को भारत पर आक्रमण की हिम्मत न हुई। उसकी सीमा पर चीनी सैनिकों से कई बार मुठभेड़ हुई और चीनियो को मुँह की खानी पड़ी तो वे धमकी तो देते रहे पर आक्रमण न कर सके। पाकिस्तान ने चीन के भरोसे पर आक्रमण किया था अतः चीन की सहायता के अभाव में वह भारत से बुरी तरह हारा।

भारत सरकार ने कांग्रेस की पुरानी तुष्टिकरण नीति का परित्याग न किया और पाकिस्तान द्वारा बार-बार आक्रमण करने पर भी उससे दोस्ती का हाथ बढ़ाता रहा। युद्धों में अपार धन-जन की हानि उठाकर भी उसने बिना किसी युद्ध हर्जाने के जीते हुए क्षेत्र एवं बन्दी पाकिस्तान को लौटा दिये। हर युद्ध के बाद पाकिस्तान भारत से युद्ध क्षेत्र मे तो हार गया पर शान्ति वार्ता में अपनी कुशल कूटनीति से जीत गया। एक हार के बाद पुनः कपड़े फाड़कर भारत से लड़ने की तैयारी करता रहा। 1971 में उसने भारत को पूरी तरह कुचलने का प्रोग्राम बनाया। चीन ने भी पाकिस्तान के साथ ही भारत पर आक्रमण करने की प्रतिज्ञा कर ली, अमेरिका और पश्चिमी देशों ने भी भारत को चेतावनी दे दी कि यदि अब की बार भारत पर चीन ने आक्रमण किया तो पश्चिमी देश उसे कोई सहायता नहीं देंगे। भारत एक ओर तो बंगला देश में हो रहे अत्याचार से पीड़ित 1 करोड़ शरणार्थियों के खर्चे से दबा जा रहा था और दूसरी ओर पाकिस्तान और चीन के आक्रमणों की धमकियों से परेशान था अतः उसने इस संकट की अवस्था से उभरने के लिए 1971 मे रूस से 20-वर्षीय सन्धि कर ली। अब वह पश्चिमी शक्तियों से सहायता पर फूले पाकिस्तान से तथा चीन की विशाल सेना के आक्रमण से सामना करने को तैयार हो गया। पाकिस्तान ने आक्रमण कर दिया और 3 दिसम्बर 1971 से 16 दिसम्बर 1971 तक भारत पाकिस्तान से दोनों मोर्चों पर लड़ता रहा। भारतीय सैनिकों की वीरता एवं युद्ध-कौशल से उसने पाकिस्तान को हरा दिया। 13 दिसम्बर 1971 को 93 हजार पाकिस्तानी सैनिकों ने हथियार डाल दिये और बंगला देश स्वतन्त्र हो गया। अपनी सैनिक और कूटनीतिक सफलता से उसने विश्व को आश्चर्य मे डाल दिया। 17 दिसम्बर 1971 को भारत ने एक तरफा युद्ध-बन्दी की घोषणा कर दी। पाकिस्तान का आधा धड़ मारा गया अतः उसे भी युद्ध बन्द करना पड़ा। मई 1974 मे भारत ने परमाणु परीक्षण करके स्वयं को परमाणु राज्यों की पंक्ति मे खड़ा कर दिया।

(3) आर्थिक तत्व—आधुनिक युद्ध मे राष्ट्रीय विदेश नीति का आधार है राष्ट्रीय सैनिक शक्ति एवं राष्ट्रीय सैनिक शक्ति का प्रमुख तत्व है आर्थिक तत्व। भारत मध्य युग में

राजनीतिक दृष्टि से असंगठित हो गया। विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हुए तुर्कों, मुगलों एवं पठानों ने भारत को खूब लूटा। इन विदेशी शक्तियों से लडते-लड़ते 6 सौ वर्ष बीत गये। अन्त में मराठों ने मंगोलों को हराकर भारत को स्वतन्त्र करा दिया पर इसी बीच पश्चिमी शक्तियों का आक्रमण प्रारम्भ हो गया। इन पश्चिमी शक्तियों में से अंग्रेज जाति भारत पर कब्जा करने में समर्थ हुई। उसने हिन्दुओं एवं मुसलमानों का भी शोषण किया। भारत का धन लद-लद कर इंगलैण्ड जाने लगा। इंगलैण्ड की समृद्धि भारत का शोषण करके ही हुई। भारत सोने की चिड़िया थी अंग्रेजों ने उसे मिट्टी की चिड़िया बना दिया।

1947 में भारत का बँटवारा हुआ। पाकिस्तान को भारत का अधिक उपजाऊ भाग, पश्चिमी पंजाब, सिन्ध एवं पूर्वी बगाल मिला और भारत के भाग में कम उपजाऊ क्षेत्र आये। चावल, जूट और गेहूँ फल आदि की कमी भारत में कमी पड गयी। पाकिस्तान बनते ही मुसलमानों ने पाक को हिन्दुओं से पाक करने के लिए उन्हें पाकिस्तान से निकाल दिया। उनके धन मकानों एवं भूमि पर कब्जा कर लिया। लुटे, पिटे बेघरबार लाखों हिन्दू सिक्ख, ईसाई एवं बौद्ध भारत आये। इन शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या ने भारत को और दिवालिया बना दिया। वस्तुओं की कमी आ गयी और मंहगाई बढ़ने लगी। नयी स्वतन्त्रता प्राप्त कर नई सरकार ने भारत को औद्योगीकरण करने के उद्देश्य से नई-नई योजना बनानी प्रारम्भ की। रूस के अनुसार पंचवर्षीय योजना बनने लगी। इन सब कार्यों में धन की आवश्यकता थी अतः नये-नये कर लगे, जनता से कर्जा लिया गया पर इनसे पूर्ति न हुई तो विदेशों से आर्थिक सहायता माँगी गयी। भारत की सरकार ने कोई भी छोटे से छोटा देश न छोड़ा जिससे कर्जा न लिया हो। अमेरिका से गेहूँ माँगा गया। पश्चिमी गुट आर्थिक सहायता देने में समर्थ था अतः भारत सरकार ने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता न त्यागी और अन्य पश्चिमी देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। पं० नेहरू समाजवाद से बहुत प्रभावित थे अतः रूस की आर्थिक व्यवस्था यहाँ लाने की कोशिश करने लगे, उन्होंने रूस का आदर्श मान भारत को "समाजवादी लोकतन्त्र" का नाम दिया।

भारत का बँटवारा, पाकिस्तान को 54 करोड़ का ऋण, भारत-पाक युद्ध, शरणार्थी समस्या आदि अनेक कारणों से भारत की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ी हुई थी। कोई भी देश बिगड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था में उन्नति नहीं कर सकता है अतः भारत की विदेश नीति आर्थिक तत्त्व से बहुत प्रभावित होती है। पं० नेहरू ने 4 दिसम्बर 1954 को बोलते हुए कहा था कि 'अन्ततः, विदेश नीति आर्थिक नीति का ही परिणाम होती है और जब तक भारत समुचित रूप से अपनी आर्थिक नीति निर्धारित नहीं कर लेता उसकी विदेश नीति भी अस्पष्ट रहेगी और स्पष्टता के लिए प्रयत्नशील रहेगी।

दो गुटों में फँस जाने पर भारत इच्छानुसार सहायता नहीं ले सकता था। असंलग्नता की नीति अपनाने का कारण यही था कि वह दोनों गुटों से आर्थिक, तकनीकी और विशेषज्ञों की सहायता ले सके। भारत यद्यपि रूस से अधिक निकट था पर आर्थिक दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका से उसने आर्थिक सहायता लेना पसन्द किया। उसने अमेरिका को प्रसन्न करने के लिए मिश्रित व्यवस्था का चयन किया। वह न पूँजीवादी थी और न समाजवादी थी। पश्चिम देशों की ओर प्रारम्भ में भारत का झुका रहना आर्थिक कारणों से ही था और इस नीति से उसे पर्याप्त धन, मशीन, अन्न, रुई, तिलहन आदि चीजें प्राप्त हुईं।

अरब देशों से मित्रता का भी कारण धार्मिक के स्थान पर आर्थिक ही था। वहाँ से उसे तेल मिलता था। इसके अतिरिक्त भारत व्यापार से भी अरबों से लाखों रुपया कमाता इजराइल की उपेक्षा और अरबों का पक्ष भारत ने इसी आर्थिक दृष्टि से लिया। मध्य [illegible]

लगभग दो सौ करोड़ रुपये का आयात-निर्यात होता था। तेल की आवश्यकता का 2/3 अंश अरब देशों से पूरा होता था।

(4) ऐतिहासिक परम्पराएँ—भारत की विदेश नीति पर भारतीय ऐतिहासिक परम्पराओं का विशेष प्रभाव पड़ा है। भारत साम्राज्यवादी कभी नहीं रहा है। भारत से बाहर निकल कर उसने किसी दुर्बल देश की स्वतन्त्रता को नहीं हड़पा है। रिचर्ड पार्क ने लिखा है कि "भारत की विदेश नीति की गतिशीलता को समझने के लिए यह आवश्यक है कि भारत के इतिहास पर दृष्टिपात कर यह देखा जाय कि विश्व समुदाय के प्रति उसके दृष्टिकोण को किन तत्त्वो ने प्रभावित किया है। बगला देश पर जब भारतीय सेना ने विजय पायी तो रूस के समान विजित देश को अपने राज्य में विलीन नही कर लिया बल्कि भगवान राम की लंका विजय का उदाहरण सामने रख उसे मुजीव के हवाले कर दिया।

भारत का नामोनिशान इस कारण बचा है कि वह हजारों वर्षों से अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से चिपका रहा। उसने अपने गौरवमय अतीत काल के इतिहास को कभी विस्मरण नहीं किया। "हजारों वर्षों का ऐतिहासिक अनुभव जिसमे हमारी सभ्यता और संस्कृति की महानता की गाथायें सम्मिलित हैं और जिनमे हमारे पतन के कारण भी निहित है—हमारी विदेश नीति का एक प्रबल स्रोत है।"

भारत की ऐतिहासिक परम्परा यह रही है कि वह शान्ति का पुजारी रहा है और विश्व बन्धुत्व के सिद्धान्त पर अड़ा रहा है। भारत के शक्तिशाली राजाओ में भारत के बाहर भारतीय विद्वानो को भेजा, जो सन्त थे या भिक्षु थे जिन्होने भारतीय सभ्यता एव संस्कृति का प्रसार विश्व में किया जिनके प्रमाण आज भी मैक्सिको, बर्मा, इण्डोनेशिया, थायीलैण्ड आदि देशों में मिलते हैं।

पं० नेहरू ने एक बार कहा था कि "पुराने समय मे हम धर्म और दर्शन के बारे में चर्चा किया करते थे। आजकल हम आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के बारे मे चर्चा करते हैं। लेकिन हमारी पहुँच पहले के समान ही है।"" ""यही कारण है कि हम सब देशों से मैत्री रखना चाहते हैं, चाहे हम उनसे सहमत हों अथवा नही।"

मुसलमानों से भारतीयो का इतना सघर्ष चला और हिन्दुओं को घोर अत्याचार सहना पड़ा फिर भी भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने पर हमने उनसे पाकिस्तान के समान बदला नहीं लिया। उन्हे नागरिकता के वही अधिकार दिये जो हिन्दुओं को प्राप्त हैं। इतना ही नही उन्हे उच्चतम पद भी प्रदान किये। अभी तक 5 राष्ट्रपतियों मे दो मुसलमान रह चुके है। हमारा सिद्धान्त यही रहा है कि हम किसी के प्रति दुर्भावना न रखें, बदले की भावना न रखे। दण्ड देने की अपेक्षा क्षमा कर देना अधिक अच्छा है। घृणा से घृणा फैलती है और प्रेम से प्रेम फैलता है।

हम अंग्रेजो की अधीनता मे भी 150 वर्ष रह चुके हैं और सत्ता के विरुद्ध हिंसक और अहिंसक सघर्ष कर चुके हैं। पर कटुता इस सघर्ष मे नहीं आयी। संघर्ष के काल में भी अनेक अंग्रेज पं० नेहरू, महात्मा गाँधी एव अन्य नेताओं के मित्र रहे। हमारा सिद्धान्त रहा है—"पाप से घृणा करो, पापी से नही।" हम लोग ने शासन के विरुद्ध सघर्ष किया, अंग्रेज जाति के विरुद्ध नही।

भारत के स्वतन्त्र होने पर भी भारत ने अंग्रेजों से सम्बन्ध नही छोड़ा, राष्ट्रमण्डल का वह बाकायदा सदस्य रहा है। शासन पद्धति भी लगभग वही रही जो 1935 के अधिनियम द्वारा अंग्रेजो ने कायम की थी या इगलैण्ड मे चल रही थी।

भारत और चीन मे जो सम्बन्ध स्थापित हुए वे भी ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार ही थे। पं० नेहरू तो 1927 से ही चीन के बड़े पक्षपाती रहे थे। जापान के साथ चीन के सघर्ष में भारत ने न केवल जबानी हमदर्दी दिखाई बल्कि उसे धन दिया और एक मेडीकल मिशन भी भेजा। चीन को मान्यता देने मे भी पहल की। 15 दिन तक प० नेहरू 1939 में वही रहे। लाल चीन

की विजय के बाद भारत ने के० एम० पाणिक्कर को चीन में राजदूत बनाया। उन्होंने अपनी धारणा का इस प्रकार प्रकटीकरण किया "भारत और चीन के हजारों वर्षों का सम्पर्क एशिया के इतिहास के प्रमुख उद्देश्य से एक है। गैर इस्लामी एशिया को आध्यात्मिक एवं सास्कृतिक एकता भारत और चीन के इसी पुराने सम्पर्क द्वारा प्राप्त हुई थी। लगभग एक हजार वर्ष तक किसी भी प्रकार के सम्बन्ध के न होने के बावजूद भी वह एशिया के इतिहास का एक मुख्य तत्त्व है।" पर के० एम० पाणिक्कर और पं० नेहरू को उस समय बड़ा दुःख हुआ जब चीन की साम्यवादी सरकार ने भारत के सीने मे छुरा घोंपा। श्री प्रकाश ने जो प० नेहरू के लगोटिया यार थे, यहाँ तक कहा है कि चीन के विश्वासघात से पं० नेहरू को इतना धक्का लगा कि अधिक दिन जी न सके। उनका पंचशील सिद्धान्त तो 1962 में ही समाप्त हो गया था। चीन के प्रति प० नेहरू की पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की भी बड़ी रुचि थी पर उससे कोई लाभ न हुआ।

(5) दार्शनिक तत्व—भारत एक धार्मिक देश रहा है। यहाँ की आध्यात्मिकता विश्व प्रसिद्ध है। भारतीय प्राचीन दर्शन एव साहित्य आज भी उपलब्ध है प्राचीन धर्म ग्रन्थों, दार्शनिक विचारों एवं आध्यात्मिक विचारों का यहाँ केवल मान सम्मान ही नहीं बल्कि उनको आत्मसात करने और अपने जीवन को उनके अनुरूप ढालने का आज भी प्रयत्न करते हैं। महात्माओं और सन्तों का आदर आज भी बड़े-बड़े पूँजीपतियों की अपेक्षा अधिक है। आधुनिक भारत को महात्मा, रामकृष्ण परम हंस, उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द, पंजाब के महात्मा रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द भी पूजे जाते है। महात्मा गांधी तथा लोकमान्य तिलक अपनी आध्यात्मिक विचारधारा से भारतीयों के लिए पूज्य बने। वेद, गीता, उपनिषद, दर्शनशास्त्र, मनुस्मृतियाँ, बौद्ध एव जैन दर्शन का आज के आर्थिक युग में भी कम महत्त्व नहीं।

भारत की विदेश नीति पर भारत की आन्तरिक विचारधारा का काफी प्रभाव पड़ा है। भारत के लोग अन्य देशो की अपेक्षा अधिक सहनशील, संयमी, सहिष्णु, दयालु, अहिंसावादी, उदार एवं समानता के पक्षपाती रहे हैं। राजनीतिक नेता राजनीति मे भी पुराने सन्तों एव दार्शनिकों के वाक्यो को प्रमाण के लिए उद्धृत करते हैं। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को अपनाकर वह लोकप्रियता पायी जो आधुनिक युग में किसी भी व्यक्ति को नहीं मिली। प० नेहरू का पचशील सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का नवीनीकरण मात्र था। इसी सिद्धान्त पर भारत और चीन की मित्रता हुई थी। इस सिद्धान्त का प्रचार पं० नेहरू ने यूराप में भी किया और "शान्ति के दूत" की उपाधि पायी।

20 नवम्बर 1955 को जब रूस के प्रधानमन्त्री बुल्गानिन एवं रूसी साम्यवादी पार्टी के महासचिव ख्रुश्चेव भारत पधारे तो राजकीय भोज के अवसर पर बोलते हुए पं० नेहरू ने कहा था कि "लगभग 2200 वर्ष पूर्व भारत के एक महान पुत्र, अशोक ने हमें बताया कि हम दूसरों की आस्था का सम्मान करें तथा जो व्यक्ति कहता है कि उसकी आस्था महान है और वह दूसरे की आस्था की निन्दा करता है, अपनी आस्था को क्षति पहुँचाता है। यह सहिष्णुता, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व तथा सहयोग का पाठ है, जो भारत सदियो से मानता आया है।"

पं० नेहरू यद्यपि आधुनिक सभ्यता के पुजारी थे पर महात्मा गांधी के शिष्य थे। गांधीजी का कहना था कि उद्देश्य और उसके पाने के साधन मे समता होनी चाहिए अर्थात् "साध्य एव साधन" दोनों ही उच्च होने चाहिए। इसी को दोहराते हुए प० नेहरू ने राजकीय भोज में कहा था कि "हम इस बात में विश्वास करते हैं कि जो लक्ष्य प्राप्त किया जाय, वह अच्छा होना चाहिए। साथ ही, हम इस बात मे विश्वास करते हैं कि साधन भी अच्छे अपनाये जाने चाहिए। ऐसा न किये जाने पर नई-नई समस्यायें खड़ी होगी तथा स्वयं मन्तव्य भी बदल जाता है।"

श्री करुणाकरन गुप्ता ने अपनी पुस्तक "भारत की विदेश नीति में कहा है कि "यह बात सन्देहास्पद है कि सत्य और अहिंसा के गांधीवादी सिद्धान्तों का भारत की गृह नीति अथवा विदेश नीति पर किसी बड़ी सीमा तक प्रभाव पड़ा है। गांधी जी ह्वीगल की भाँति मृत्यु के बाद पूरी तरह सम्मानित हुए किन्तु उनका कोई ऐसा शिष्य नहीं था जो उनके सिद्धान्तों को क्रियान्वित कर पाता। उनकी मृत्यु के तुरन्त बाद नवीन भारत को साम्यवादी और सम्प्रदायवादी विरोध का दमन करने के लिए सर्वाधिकारवादी उपायों का प्रयोग किया..........कश्मीर और हैदराबाद में सशस्त्र हिंसा को प्रयुक्त किया गया तो नेपाल के आन्तरिक संघर्ष में भी हिंसा नीति का अवलम्बन हुआ। बजट के निर्माण में जिसमें कि सैनिक व्यय के लिए पचास प्रतिशत से अधिक की व्यवस्था की गयी, यह प्रकट करता है कि भारत की प्रशासकीय नीति में पुलिस उपयोगों पर बल दिया गया। इन परिस्थितियों में यह बात विश्वसनीय नहीं है कि भारत की विदेश नीति पर गांधीवादी या अहिंसा का कोई निर्णायक प्रभाव पड़ा।"[1]

(6) राष्ट्रीय हित—प्रत्येक राष्ट्र अपने देश की विदेश नीति के निर्माण में राष्ट्रीय हित को प्रमुखता देता है। 4 सितम्बर 1947 को संविधान सभा में बोलते हुए पं० नेहरू ने कहा था कि "हम किसी भी नीति का निर्धारण करें, किसी भी देश के वैदेशिक मामलों के संचालन की कला, इस बात में निहित है कि वह उस देश के लिए सबसे अधिक हितकारी क्या है।"[2]

यह बात सही है कि सभी देशों की विदेशी नीति का आधार राष्ट्रहित होता है पर राष्ट्र हित की मान्यतायें भिन्न-भिन्न हो सकती है तो भी मूलभूत बातों में कोई अन्तर नहीं होता है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय हित का अर्थ है देश की सुरक्षा, सीमा एवं प्रादेशिक अखण्डता, देश का आर्थिक विकास आदि। राष्ट्रीय हित का यह भी अर्थ है कि विदेशों में रहने वाले भारतीयों के हितों की रक्षा। पर इन विभिन्न अर्थों के होते हुए भी उसके सम्बन्धों में मूलभूत धाराओं में विशेष अन्तर नहीं। पं० नेहरू ने इसीलिए कहा था कि "वैयक्तिक रूप मे मुझे विश्वास है कि भारत के वैदेशिक मामलों की बागडोर यदि किसी अन्य व्यक्ति या पार्टी के हाथ मे होती तो उसकी नीति वर्तमान नीति से बहुत भिन्न न होती।

परन्तु राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय स्वार्थ को कभी-कभी पर्यायवाची शब्द माना जाता है। इसीलिए इटली के तानाशाह का कहना था कि "इटली का विस्तार होना चाहिए अन्यथा वह नष्ट हो जायगा।" अर्थात् साम्राज्यवाद का विस्तार इटली का राष्ट्रीय हित के नाम पर 19वीं शताब्दी में यूरोपीय शक्तियों ने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये। राष्ट्रीय हित के नाम पर दुर्बल राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया एवं लोगों को गुलाम बनाया। उनका पूरी तरह शोषण किया। इन राष्ट्रीय हित अथवा स्वार्थों के कारण उपनिवेशों की छीना झपटी में बड़े-बड़े युद्ध हुए। अतः हम राष्ट्रीय हित का नाम नहीं दे सकते हैं। राष्ट्रीय हित में स्वार्थ का अंश कम परार्थ का अंश अधिक होता है। जब हम दूसरे देश के हितों का ध्यान नहीं रखेंगे तब तक दूसरे हमारे हितों का ध्यान नहीं रखेंगे।

विश्व राजनीति मे केवल राष्ट्रहित या स्वार्थ का ध्यान नहीं रखा जाता है। अपना हित साधने के लिए दूसरे के हितों का ध्यान रखना पड़ता है। इससे राष्ट्रों में मैत्रीभाव बढ़ेगा और अपने-अपने राष्ट्रीय हितों की भी पूर्ति कर सकेंगे। उदाहरण के लिए कश्मीर को पश्चिमी गुट

---

1 Karunakar Gupta : *Indian Foreign Policy*. pp. 13-14.

2 [illegible] : the art of conducting the foreign affairs [illegible] : is most advantageous to the country." [illegible] Constituent *Assembly*, dated Dec. 4. 1947.

पाकिस्तान के हवाले करना चाहता था। सुरक्षा परिषद में यह प्रस्ताव जब रखा गया तो रूस ने भारत की इज्जत रखी और प्रस्ताव पर निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग कर प्रस्ताव को रद्द कर दिया। 1955 में इस घटना से भारतीयों के हृदय में रूस के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसका बदला रूस और हंगरी के मामले में चुप्पी साधकर दिया। यह भारत के राष्ट्रीय हित मे ही था। राष्ट्रीय हित में ही रूस-भारत की 20 वर्षीय संधि की गई थी जिससे बंगला देश के झगड़े में भारत को अभूतपूर्व सफलता मिली और चीन एवं अमेरिका मुंह ताकते रह गये। यद्यपि कांग्रेस की नीति का जनता पार्टी ने विरोध किया पर सत्ता में आने पर जनता पार्टी ने रूस की 20 वर्षीय सन्धि को रद्द न करके रूस से और भी सन्धि कर दोनों देशों के सम्बन्धों को अधिक मैत्रीपूर्ण बनाया।

भारत का अपने पड़ोसियों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध राष्ट्रीय हित में ही है। नेपाल, लंका, अफगानिस्तान, बर्मा आदि देशों से कुछ खोकर भी भारत का मित्रतापूर्ण व्यवहार राष्ट्रीय हित ही है। व्यापक राष्ट्रीय हितों को देखते हुए छोटे-मोटे विवादों में उलझना कोई बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं। समय और परिस्थिति के अनुसार अपनी विदेश नीति में थोड़ा बहुत परिवर्तन करना हानिकर नहीं होता है। जैसाकि पं० नेहरू ने एक बार कहा था कि "भारत की विदेश नीति को नेहरू नीति कहना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। यह कहना इसलिए गलत है मैंने केवल उस नीति का शब्दो में प्रतिपादन किया है, मैंने उसका आविष्कार नहीं किया है। यह भारतीय परिस्थितियों की उपज है।"

(7) वैयक्तिक तत्व—पं० जवाहरलाल नेहरू का व्यक्तित्व अद्वितीय था। स्वयं महात्मागांधी उनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे और उनके सही एवं गलत कार्य का वे समर्थन करने पर विवश हो जाते थे। उदाहरण के लिए पं० नेहरू ने भारत बँटवारे की योजना पर बिना गांधी जी के एवं कांग्रेस कार्यकारिणी के पूछे हस्ताक्षर कर दिये। कांग्रेस की कार्यकारिणी की जब बैठक हुई तो बैठक में सभी सदस्य अखण्ड भारत के पक्ष में भाषण कर रहे था। एक सदस्य ने गांधी जी को जब बताया कि प० नेहरू तो भारत विभाजन योजना की स्वीकृति दे चुके हैं तो गांधी जी ने चुपके से पं० नेहरू से पूछा कि वास्तविक बात क्या है। तब उन्होंने अपनी गलती मान ली। यह फुसफुसाहट जब अन्य सदस्यों ने सुनी तो बैठक में हो हल्ला मच गया। गांधी जी ने कांग्रेस की एकता के लिए सबको शान्त किया और जो कुछ हो गया उसका ही समर्थन कर कांग्रेस के वरिष्ठ सदस्यों को शान्त किया।

इस प्रकार पं० नेहरू की व्यक्तिगत इच्छा कांग्रेसी शासन में चलती थी। आन्तरिक नीति हो या बाहरी नीति हो प० नेहरू का निर्णय सर्वोपरि था और अन्तिम था। प० नेहरू कांग्रेस के विदेश विभाग के सचालक 1937 से 1947 तक रहे। भारत के स्वतन्त्र होने पर वे भारत के प्रधान मन्त्री बने साथ मे विदेश विभाग उनके पास ही रहा। अतः भारत की विदेश नीति को यदि "नेहरू नीति" कहा गया तो असंगत नहीं। अपनी मृत्यु (1964) तक पं० नेहरू ने विदेश विभाग अपने पास ही रखा। विदेश नीति मे वे अन्य किसी कांग्रेसी नेता का हस्तक्षेप करना पसन्द नहीं करते थे। उदाहरण के लिए 1927 में पं नेहरू ब्रूसेल्स सम्मेलन में भाग लेने पहुंचे वहां उन्हें चीनी प्रतिनिधियों का सम्पर्क प्राप्त हुआ और वे चीन के पक्के हमदर्द बन गये। वहां से जब वे लौटे तो कांग्रेस के विदेश विभाग के वे सचालक बन गये और चीन के प्रति उन्होंने विशेष सहानुभूति का रुख अपनाया। जब वहां राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारतीय सेनाओं को भेजा तो पं० नेहरू ने उसका कड़ा विरोध किया तथा सरकार की निन्दा की। 1937 में जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया तब भी पं० नेहरू ने जापान की घोर निन्दा की। कांग्रेस की ओर से चीन दिवस मनाया गया, धन एकत्र किया गया तथा 1938 में ... 5 ...

का मेडिकल मिशन डा० अटल के नेतृत्व मे भेजा गया। चीन पर बमबारी हो रही थी पर अपनी जान की चिन्ता न कर पं० नेहरू चीन पहुंचे और वहाँ 15 दिन तक रहे। चीन वासियों ने विशेष-कर माउत्सेतुंग ने भारत की सहायता के लिए प० नेहरू को धन्यवाद दिया। भारत और चीन की मित्रता और दृढ़ हो गई।

चूंकि साम्यवादी रूस की क्रान्ति से पं० नेहरू बहुत प्रभावित थे और पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद की रूस द्वारा निन्दा का वे समर्थन करते थे। अतः डच, फ्रांस, ब्रिटेन एवं पुर्तगाल के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की उन्होंने घोर निन्दा की। साम्यवाद के शत्रु फासीवाद एवं नाजीवादी की भी उन्होंने निन्दा की। कांग्रेस पार्टी एवं कांग्रेसी सरकार प० नेहरू की नीति का एक स्वर से समर्थन करती थी।

चीन पर जब साम्यवादियों का पूर्ण अधिकार हुआ तो रूस ने उनकी सरकार को सर्व-प्रथम मान्यता दी। पं० नेहरू भी पीछे क्यो रहते अतः भारत सरकार ने भी चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता दी और उससे दौत्य सम्बन्ध स्थापित किये। स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति यद्यपि तटस्थ अथवा असलग्नता की नीति थी पर उस पर साम्यवादी प्रभाव गेहरा था क्योंकि पं० नेहरू साम्यवाद से प्रभावित थे। चीन और रूस अमेरिका के निन्दक थे अत. पं० नेहरू ने भी अमेरिकन नीति के विरुद्ध कटु आलोचना की। कोरिया के मामले मे चूंकि रूस और चीन उत्तरी कोरिया के पक्ष मे थे अतः जब संयुक्त राष्ट्र संघ ने उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की तो सयुक्त राष्ट्र संघ को भारत ने सैनिक टुकड़ी नही भेजी। रूस और चीन ने उन्हें धन्यवाद भेजा। 1955 मे जब चीन का विदेश मन्त्री चाउ-एन-लाई भारत आया तो कांग्रेस सरकार के इशारे पर उसका भव्य स्वागत किया गया। "हिन्दी-चीनी भाई-भाई" का नारा लगाया गया। पंचशील के सिद्धान्त पर चाउ-एन-लाई ने हस्ताक्षर कर पं० नेहरू को मोह लिया। इसके बाद चीन ने भारत की उत्तरी सीमा को चुपके-चुपके हड़पना प्रारम्भ किया। जब यह सूचना कुछ संसद सदस्यो को मिली तो ससद मे यह प्रश्न उठाया गया। प० नेहरू ने इस सूचना को गलत बताया यद्यपि उन्होंने चीन के कार्यों के विरुद्ध विरोध पत्र पर विरोध पत्र भेजे। वर्तमान विदेश मन्त्री प० अटल बिहारी बाजपेयी ने किसी प्रकार पं० नेहरू के एक विरोध पत्र की प्रतिलिपि प्राप्त कर ली और 1958 में उसे संसद मे पेश कर दिया तो प० नेहरू ने इसे यह कहकर टाल दिया कि "चीन ने ऐसे निर्जन पहाडी क्षेत्र पर कब्जा कर लिया है जिसका भारत के लिए कोई उपयोग नही।" यहां भी पण्डित नेहरू ने समय रहते विरोधियों की चेतावनी को उड़ा दिया। चीन के विरुद्ध भारत की उत्तरी सीमा की कोई रक्षा न की। इस पक्षपात और व्यक्तिगत तत्व के कारण भारत को 1962 मे चीन के द्वारा घोर अपमान सहना पड़ा। गैर साम्यवादी देशो ने यदि सहायता न की होती तो भारत की क्या दशा होती कहा नही जा सकता है।

इसी प्रकार मुस्लिम प्रभाव से प० नेहरू मुस्लिम देशो के साथ गहरा सम्बन्ध रखना पसन्द करते थे। मौ० अब्दुल कलाम आजाद को भारत का शिक्षा मन्त्री इसी उद्देश्य से बनाया कि वे भारत की नही मुस्लिम देशो की भाषा का अच्छा ज्ञान रखते थे। उर्दू, अरबी, फारसी के वे अद्वितीय विद्वान थे।

इस प्रकार यह कहना उचित है कि भारत की विदेश नीति पर पं० नेहरू की व्यक्तिगत छाप उनके जीवन काल में ही नही उनकी मृत्यु के बाद भी रही। श्री लालबहादुर शास्त्री एवं श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रधान मन्त्री काल मे वही नीति अपनायी गयी जिसका निर्माण प० नेहरू ने किया था। भारत चीन को संयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता दिलाने के लिए लगातार प्रयत्नशील रहा। सरकार चीन की कृपा प्राप्त करने के लिए लगातार प्रयत्नशील रही। मुस्लिम देशो के साथ भारत का मैत्रीपूर्ण व्यवहार बना रहा। जनता पार्टी जो अब केन्द्र में सत्तारूढ़ है, नेहरू का ही

विदेश नीति पर चल रहा है। इससे प्रकट होता है कि नेहरू ने व्यावहारिकता और राष्ट्रीय हितों को जो विदेश सम्बन्धों में स्थान दिया वह आज भी कायम है। यह सम्भव है कि नई सरकार अमरीका की ओर कुछ झुके तथापि वह रूस के साथ मैत्री में भी कमी नहीं करेगी।

(8) राजनीतिक तत्व—यद्यपि यह कहा जाता है कि भारत की विदेश नीति के प्रतिपादक प० जवाहर लाल नेहरू थे, फिर भी उनकी विदेश नीति पर भारत के विभिन्न राजनीतिक दल के विचारों का प्रभाव भी पड़ता था। भारत में कांग्रेस का एकछत्र शासन 1947 से 1977 तक रहा। यद्यपि भारतीय संसद में अनेक राजनीतिक दलों के नेता भी सदस्य थे पर उनकी आलोचना का कांग्रेसी सरकार ने कभी ध्यान न दिया क्योंकि भारतीय संसद में कोई सशक्त विरोधी दल न था। इतना होने पर भी भारत में अनेक राजनीति विचारधारायें प्रचलित थीं। इनमें पूंजीवादी, प्रतिक्रियावादी, साम्यवादी, समाजवादी एवं रूढ़िवादी दलों की कमी न थी। चूंकि भारत की कुछ परम्परायें ऐसी हैं जिससे यहाँ साम्यवाद को फैलने का अवसर नहीं मिलता है। भारत की आम जनता साम्यवाद विरोधी है। पं० नेहरू इस बात को अच्छी तरह जानते थे अतः वे साम्यवाद के पक्षपाती होते हुए भी साम्यवादी पद्धति को पूर्णतया न अपना सके। उन्होंने यही कहा कि साम्यवादी व्यवस्था भारत के अनुकूल नहीं। संसद में विरोधी दल के नेताओं द्वारा समय-समय पर भारत की विदेश नीति की कटु आलोचना होती थी, समाचार पत्र भी भारतीय जनमत बनाने में सहायक होते थे अतः प० नेहरू ने प्रजातन्त्र की भावना का सदैव आदर किया और अपने देश की नीति को अर्द्ध साम्यवादी अथवा मिली-जुली (मिश्रित) पर अमल किया। जहाँ वे रूस और चीन के समर्थक थे वहाँ अमेरिका और इगलैण्ड के भी समर्थक थे। उन्होंने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता को कभी नहीं त्यागा यद्यपि उनके साम्यवादी मित्र इस सदस्यता के घोर विरोधी रहे। उन पर भारतीय पूंजीवादियों का भी काफी प्रभाव था और राष्ट्रीयकरण के वे समर्थक न थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति एव कल कारखाने व्यक्तिगत अधिकार में ही रखे। यद्यपि उन्होंने साम्यवादी रूस के समान पंचवर्षीय योजनाएं बनायी और देश का आर्थिक विकास साम्यवादी रीति से करना चाहा पर इन योजनाओं को पूरा करने के लिए उन्हें धन की आवश्यकता थी जो केवल पश्चिमी देशों से मिल सकता था। अमेरिका और इगलैण्ड की प्रजातन्त्रीय पद्धति को उन्होंने इसीलिए लागू किया जिससे इन देशों का समर्थन ही नहीं उचित मात्रा में सहयोग भी मिला। उनके सम्बन्ध अमेरिका इंगलैण्ड, फ्रांस आदि देशों से मैत्रीपूर्ण रहे। पूंजीवादियों ने कांग्रेस सरकार को मुक्त हाथ से चुनावों में जिताने के लिए धन दिया अतः वे उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। रूस का समर्थन वे आँख मींच कर नहीं करते थे ताकि पूंजीपति उनसे नाराज न हो जायें।

1964 के बाद विदेश मन्त्रालयों पर अनेक नेताओं का अधिकार रहा। श्री लाल बहादुर शास्त्री तथा श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कभी विदेश विभाग अपने पास नहीं रखा। विदेश विभाग का संचालन सर्वश्री दिनेश सिंह, एम० सी० छागला, स्वर्णसिंह तथा यशवन्त राव चह्वाण ने किया। इन लोगों ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव को विदेश नीति पर डाला। श्री छागला ने छोटे देशों को महत्त्व दिया, श्री स्वर्णसिंह ने भारत और अमेरिका के सम्बन्ध सुधारे श्री चह्वाण ने भारत-चीन सम्बन्ध सुधारे तथा श्री जगजीवन राम ने भारत-पाक सम्बन्धों को सुधारने में बड़ा योगदान दिया।

(9) तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ—किसी भी देश की विदेश नीति पर तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। जब 1947 में भारत स्वतन्त्र था, उस समय एशिया एवं अफ्रीका के पराधीन देशों ने स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन भारत स्वयं 800 वर्षों से पराधीन था अतः यह स्वाभाविक था कि यह पराधी

विदेश नीति की रूपरेखा प्रस्तुत की। सरकारी तौर पर भारत की विदेश नीति से सम्बन्धित यह पहली घोषणा थी। पण्डित नेहरू ने घोषणा की थी कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे एक स्वतन्त्र नीति का अवलम्बन करेगा और किसी भी गुट में शामिल न होगा। वह गुटबन्दी मे नहीं पड़ेगा, संसार के पराधीन देशों को स्वतन्त्र कराने में सहयोग देगा, प्रजातन्त्र का अवलम्बन लेगा, प्रजातीय भेद-भाव का दृढ़तापूर्वक उन्मूलन करेगा, तथा सभी प्रजातान्त्रिक देशों से मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भावना के प्रचार का प्रयत्न करेगा, संयुक्त राष्ट्र संघ की शान्ति एवं सुरक्षा की नीतियो का पूर्ण समर्थन करेगा नेहरू ने सभी देशों से दोस्त सम्बन्ध स्थापित करने और मैत्री पूर्ण व्यवहार करने की बात दोहराई।

इस प्रकार भारत की विदेश नीति का निर्माण हुआ। 1947 से अब तक भारत की विदेश नीति का विकास होता रहा है। अत: उसका संक्षिप्त विवारण यहाँ देना उचित है।

भारतीय विदेश नीति की विशेषताएँ—

(1) गुटबन्दी से दूर रहकर असंलग्नता की नीति का अवलम्बन करना।

(2) विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक विरोध को कम से कम कराने का प्रयत्न करना।

(3) विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सहयोग और सद्भावना बढ़ाना तथा इनमे मेल कराना।

(4) विश्व मे तनाव के कारण को दूर करने का प्रयत्न करना।

(5) उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, जातिवाद का घोर विरोध करना तथा पराधीन राज्यो को स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न करना।

(6) संयुक्त राष्ट्र सघ को शान्ति स्थापना के कार्य मे सहयोग देना।

(7) पंचशील का प्रचार करना और सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का राष्ट्रों से प्रतिपादन कराना।

(8) अणुबमों के परीक्षणों का तीव्र विरोध करना और आणविक शक्तिमय उद्देश्यों के लिए प्रयोग करने के लिए प्रचार करना। आणविक शस्त्रो के प्रसार को रोकना।

(9) पारस्परिक आर्थिक तथा जन हितों के रक्षार्थ एशियायी अफ्रीकी देशों को सगठित करना।

भारत की असंलग्नता की नीति
(Policy of Nonalignment of India)

भारत ने अपनी विदेश नीति का नाम "असलग्नता को नीति" रखा, श्री कृष्णा मेनन का यह दावा था कि भारत की विदेश नीति के निर्माण मे उनका महत्त्वपूर्ण हाथ था। यहाँ तक इनका कहना था कि असलग्नता का 'शब्द' भारत विदेश नीति के लिए सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रयुक्त किया था। उनके शब्द इस प्रकार है कि 'जब सयुक्त राष्ट्र सघ मे हमारी 'तटस्थता' का मजाक उठाया जाने लगा, तो मैंने कहा—हम तटस्थ नही असलग्न हैं। वास्तव मे प्रधानमन्त्री (पंडित नेहरू) को पहले यह शब्द अधिक पसन्द न आया, परन्तु शीघ्र ही यह शब्द चल निकला।"[1]

जब एक प्रसिद्ध पत्रकार माइकल ब्रेचर ने श्री कृष्णा मेनन से पूछा कि "भारत विदेश नीति के जन्म के सम्बन्ध मे आपका क्या कहना है?" तब श्री कृष्णा मेनन ने उत्तर दिया कि "..... असंलग्नता, कमोवेश, ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन है। 1945 में, भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्ति

---

[1] "We were being rediculed about being neutral I said then, we are not neutral, we are nonaligned infact, the Prime Minister didn't approve very much of the word in the beginning, but it had quickly gained currency."
—*Menon.*

से पूर्व समस्त विश्व 'एक' था और 1947 में 'दो विश्व' हो गये थे तथा हमें पहली बार इस विषय पर अपना मत बनाना था। हम साम्राज्यवाद के कारण पश्चिम की ओर नहीं जा सकते थे, तथा रूस की ओर जाने का प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि हम रूस को अधिक जानते भी नहीं थे। यही सब बातें थी ""अतः जैसा कि मैंने कहा कि यह नीति अपरिहार्य थी।"

गुटबन्दी और भारत—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दो महान देश विश्व राजनीति में ऐसे आये जो विश्व का नेतृत्व अकेले करना चाहते थे। ये देश थे संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस. इन दोनो मे शीत युद्ध चल पड़ा। दोनों देशों ने अपने-अपने गुट बना लिए। रूस ने साम्यवादी देशों का नेतृत्व सम्भाला और अमेरिका ने गैर साम्यवादियों का। दुनिया के सभी राष्ट्र किसी न किसी गुट में थे। जैसा कि माउत्से तुंग ने कहा था कि "संसार मे दो ही सड़कें हैं—एक मास्को जाती है तो दूसरी वाशिंगटन की ओर तीसरी कोई सड़क नहीं है।"

भारत जब स्वतन्त्र हुआ तो उसके सामने ये दो ही रास्ते थे। पं० नेहरू जिनके जिम्मे विदेश नीति के निर्माण का कार्य था, उन्हें यह निर्णय करना था कि वे मास्को की सड़क पर जाना पसन्द करेंगे या वाशिंगटन की सड़क पर। मास्को की सड़क पर भारत को ले जाना सम्भव न था क्योंकि कांग्रेस के स्वतन्त्रता संग्राम के समय साम्यवादियों की नीति गिरगिट के समान बदली रहती थी। 1942 के आन्दोलन मे वे अंग्रेजो के साथ रहे थे और कांग्रेस विरोधी कार्य किया था। भारतीय साम्यवाद के नाम से ही चौंकते थे। नेहरू भारत को वाशिंगटन की सड़क पर इसलिए नहीं ले जाना चाहते थे कि वह प्रजातन्त्रवादी तो था पर साम्राज्यवादी भी था जिससे भारत चिढ़ता था।

इन दोनों सड़कों को छोड़ भारत ने तीसरी सड़क का निर्माण किया। इसे तटस्थता की सड़क कहा गया। इसे गुट निरपेक्षता का मार्ग कहा गया। स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष मार्ग कहा गया। मेनन ने इस नीति का नाम "असंलग्नता की नीति" रखा।

पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि "किसी भी हालत में, भारत के लिए बोलते हुए, चाहे जो कुछ हो, मैं इस विस्तृत संसार मे किसी भी देश की हां मे हां मिलाने वाला नहीं हूं। मेरे विचार में जैसे एक व्यक्ति के लिए विचार रहित चलना, कठपुतली बनना और जैसे दूसरे कहते हैं वैसे ही कहना अपमानजनक है, उसी प्रकार एक देश के लिए भी दूसरे देश की कठपुतली बनना और हां में हां मिलाना अपमानजनक है।

कहने का अर्थ यह था कि भारत किसी देश या गुट का पिछलग्गू नहीं बनेगा वह अपने विचार और कार्य स्वतन्त्र रूप से रखेगा और करेगा।

असंलग्नता की नीति क्या और क्यों—भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय ही यह बात तय हो गई थी कि भारत जब स्वतन्त्र होगा तो वह एक स्वतन्त्र नीति अपनायेगा जिस पर किसी देश का प्रभाव न पड़ सके। रूस के प्रति प० नेहरू का झुकाव 1927 से चला आ रहा था पर पश्चिमी देश रूस से दूर रहना चाहते थे कि रूस के साथ रहने का अर्थ होगा अधिकांश देशों से शत्रुता एवं अलगाव, जो भारत की उन्नति में बाधक होगा। पश्चिमी देशों के साम्राज्यवाद से पहले ही से घृणा करते थे। अतः नेहरू जी पहले से ही तय कर चुके थे कि वे दोनों पक्षों से समान दूरी पर रहेंगे, न कि किसी से घनिष्ठ मित्रता रखेंगे और न किसी से शत्रुता रखेंगे। वे भारत को गुटबन्दी से दूर रखेंगे। प्रसिद्ध पत्रकार माइकल बेकर के पूछने पर कि असंलग्नता क्या है, श्री कृष्णा मेनन ने उत्तर दिया था—"असंलग्नता क्या है ? यह केवल विदेशी सम्बन्धी मामलों में स्वतन्त्रता है।"

(2) विश्व समस्याओं से उदासीनता नहीं—भारत ने तटस्थता या असंलग्नता की नीति अपनाई है पर यह अमेरिका या ब्रिटेन की तटस्थ नीति के समान विश्व की समस्याओं से

उदासीनता नहीं। आमतौर से तटस्थता का अर्थ उदासीनता से लिया जाता है, उसे निष्क्रियता भी कहा जाता है, अतः इस भ्रांति को दूर करने के लिए प० नेहरू ने "तटस्थता' शब्द के स्थान पर "असलग्नता" शब्द उपयुक्त समझा। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए प० नेहरू ने कहा था कि "यदि स्वतन्त्रता का हनन होगा, न्याय की हत्या होगी अथवा कहीं आक्रमण होगा तो वहाँ हम न तो तटस्थ रह सकते हैं और न रहेंगे।" अतः स्पष्ट हुआ कि असंलग्नता का अर्थ तटस्थता या निष्क्रियता नहीं। पं० नेहरू ने आगे अपना मत व्यक्त किया कि "मैंने बार-बार कहा है कि मुझे 'तटस्थ' शब्द भारत के सन्दर्भ में पसन्द नहीं है। मुझे यह भी पसन्द नहीं है कि भारत की नीति को "सक्रिय तटस्थता" कहा जाय, जैसा कि कुछ देशों में कहा जाता है।"

भारत की विदेश नीति असंलग्नता की अवश्य है पर विश्व राजनीति के प्रति सजगता एवं सक्रियता की नीति है। भारत जहाँ कहीं भी अन्याय होता देखता है या अत्याचार होते देखता है तो तुरन्त वह उसकी भर्त्सना करता है, वह यह समझकर कि अत्याचार एक महान शक्तिशाली देश के द्वारा हुआ है तो उसके डर के मारे चुप्पी साधे, आँख और कान बन्द करे अत्याचार होते देखता रहे। उसने सदैव अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठायी है। फिर चाहे पश्चिमी शक्तियों द्वारा मिस्र पर बमबारी हो, अरबों पर इजराइलियों का आक्रमण हो चाहे पोलैण्ड एवं चैकोस्लावाकिया पर रूसी गुट का आक्रमण हो।

डा० अप्पादोराय ने असंलग्नता का अर्थ अपने शब्दों में इस प्रकार बताया है कि "यह स्वतन्त्र विदेश नीति एवं तटस्थता एक ही बात नहीं है। यदि कभी कहीं युद्ध होता है तो इस नीति की माँग होगी कि अपनी स्वतन्त्रता एवं शान्ति के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए भारत स्वतन्त्र राष्ट्रों का साथ दे। यह एक नकारात्मक नीति नहीं, सकारात्मक नीति है।"

(3) यह गुट निरपेक्ष नीति है—असंलग्नता का अर्थ है किसी गुट विशेष से संलग्न (attach) न होना। उसने अपनी आँखों पर अमेरिकी चश्मा चढ़ा रखा है और न रूसी चश्मा। वह अपनी खुली आँखें रखता है और निष्पक्ष बुद्धि से निर्णय देता है। वह न रूसी गुट के दबाव से अपनी राय बदल सकता है और न अमेरिकन गुट से। अमेरिका ने प्रारम्भ में भारत को बहुत बड़ी मात्रा में धन और अन्न दिया पर वह भारत के मुख को बन्द न कर सका। वियतनाम पर बमबारी की नीति का भारत ने घोर विरोध किया। मिस्र पर ब्रिटेन, फ्रांस एवं इजराइल के आक्रमण का खुल कर विरोध किया। रूस ने यद्यपि भारत को गाढ़े समय में सहायता दी, कश्मीर को निषेधाधिकार का प्रयोग कर के बचाया पर भारत ने रूस और उसके साथी देश का छोटे देश चैकोस्लाविया पर आक्रमण करने का समर्थन नहीं किया। एक बार प० नेहरू ने कहा था कि "भारत ने सदैव इस या उस गुट के साथ इस आशा से मिलने का विरोध किया कि उसका अनुयायी बनने से उसे खाने की मेज से गिरने वाले कुछ टुकड़े मिलेंगे।" भारत की असलग्न नीति पर टिप्पणी लिखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसिद्ध भारतीय विद्वान डा० अप्पादोराय ने यह मत व्यक्त किया कि "इस विदेश नीति का अर्थ केवल यह है कि भारत पहले से ही अपने आपको किसी गुट के साथ समझौते द्वारा सम्बद्ध नहीं करता है और न प्रत्येक विषय को उसके गुणानुसार परखने की अपनी स्वतन्त्रता को किसी भी दशा में खोना चाहता है।"

(4) यह तीसरे गुट निर्माण की नीति नहीं—पं० नेहरू ने कहा था कि "क्या मैं कहूँ कि मैं एक क्षण के लिए भी शेष दुनिया को सलाह देने या उसकी आलोचना करने, भारत के पक्ष में किसी ऊँचे पद का दावा नहीं करता? मैं समझता हूँ कि हमारी कोशिश यह है कि इन समस्याओं पर हम उत्तेजित न हों, कम से कम कोई कारण नहीं कि हम इसकी कोशिश न करें ......भारत स्वयं इतना बड़ा देश है कि वह किसी के पीछे क्यों बैठेगा, दूसरे देश चाहे कितना बड़ा हो। भारत

एक ऐसा देश होने जा रहा है कि संसार में, और निश्चय ही होगा, कि संसार में उसकी गिनती होगी।"

पं० नेहरू की असंलग्नता पर कुछ विदेशी पत्रकारों ने यह आरोप लगाया कि पं० नेहरू विश्व में एक तीसरा गुट बनाने का विचार रखते हैं जिसका भारत की असलग्नता की नीति का अनेक एशियाई एवं अफ्रीका देशों ने अनुसरण किया। ऐसे देशों का कभी बाडुंग में, कभी बेलग्रेड मे, कभी कोहिमा में और कभी कोलम्बो में सम्मेलन हुआ और भारत ने वहाँ नेतृत्व किया। ऐसे असलग्न देशों की सख्या बढ़ती जाती है जो किसी गुट के साथ बन्धना नहीं चाहते। पर इस आक्षे का उत्तर देते हुए पण्डित नेहरू ने कहा था कि "असंलग्नता का अर्थ तीसरे गुट का निर्माण नही है। भारत असलग्न देशों का कोई गुट नही बनाना चाहता है।" इसी बात का समर्थन करते हुए श्री कृष्णा मेनन ने कहा था कि "असलग्नता का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक देश और शासन स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है किसी समूह अथवा गुट अथवा गठबन्धन के अंग के रूप में नहीं।"

(5) भारतीय हितों के अनुरूप—भारत ने असलग्नता की नीति अवश्य रखी पर यह नीति भारत के राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल नहीं है। भारत विश्व की घटनाओं के प्रति उदासीन नहीं रहता है, बल्कि इन घटनाओं की जांच अपनी निष्पक्ष बुद्धि से करता है और यह देखता है कि इन घटनाओं से भारतीय हित को हानि तो नहीं पहुँचती। भारत अपने राष्ट्रीय हितों के प्रति सजग रहता है। उसका मूल उद्देश्य भारतीय हितों का प्रतिपादन और संवर्धन करना है। उसे जब कभी यह अनुभव होता है कि असलग्नता की नीति से भारत के राष्ट्रीय हितों को हानि पहुँचने की सम्भावना है तो वह उसमे हेर-फेर भी कर देता है उस समय ऐसा लगता है कि भारत अपने पथ से डिग गया है पर यह क्षणिक कार्य होता है। उदाहरण के लिए भारत ने संकट के समय रूस से 20 वर्षीय सधि की उस समय विरोधियों ने शोर मचाया कि भारत ने अपने को रूस के पीछे बाँध लिया है। पर यह प्रचार गलत है। इस संधि को करके भारत ने अपने राष्ट्रीय हित की रक्षा की पर उसका यह अर्थ नहीं रहा कि वार्सा पैक्ट के समान भारत भी रूस का गुलाम बन गया है।

असंलग्नता की नीति का औचित्य
(Justification for Non-aligoment)

भारत ने असंलग्नता नीति क्यों अपनायी तथा उसका तात्पर्य क्या है? यद्यपि इसका उत्तर गत पृष्ठों पर दे दिया गया है, फिर भी यहाँ यह स्पष्ट कर देना अच्छा रहेगा कि असलग्नता की नीति अपनाने का क्या औचित्य है।

(1) स्वाभिमान का तकाजा—भारत एक प्राचीन देश है, उसकी सभ्यता और संस्कृति सर्वोच्च रही है। उसने प्राचीनकाल मे विश्व गुरु की उपाधि पायी थी। उसका अतीत बड़ा गौरवमय रहा है। मध्यकाल में आपसी फूट के कारण उसे विदेशियों का गुलाम रहना पड़ा पर उसने स्वतन्त्रता की भावना एवं अपनी सभ्यता और संस्कृति को नहीं त्यागा। उसे लम्बे संघर्ष के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। जिस देश ने गुलामी के विरुद्ध शानदार लड़ाई लड़ी, वह भला स्वतन्त्र होने पर गुलामी को कैसे ग्रहण कर सकता था। उसके स्वाभिमान का तकाजा था कि वह अपनी विदेश नीति और निष्पक्ष रखे। पण्डित नेहरू ने जोरदार शब्दों में अपनी विदेश नीति का समर्थन करते हुए कहा कि "किसी गुट के साथ सैनिक सन्धियों से बंध जाने से, सदा उसके सकेत पर नाचना पड़ता है और साथ ही अपनी स्वतन्त्रता बिलकुल नष्ट हो जाती है। अतः चाहे कुछ भी हो जाये, हम किसी देश के साथ सैनिक सन्धि नहीं करेंगे। जब हम गुटनिरपेक्षता अथवा असलग्नता

का विचार छोड़ देते हैं तो हम अपना लंगर छोड़कर बहने लगते हैं। किसी देश से बन्धना आत्म-सम्मान खोना है, यह बहुमूल्य निधि का विनाश है।"

(2) विश्व शान्ति की इच्छा—भारत की इच्छा यह रही है कि विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित हो। जब भारत स्वतन्त्र हुआ तब विश्व राजनीति मे गुटबन्दी का निर्माण हो चुका था। दोनों गुटों में शीत युद्ध चल पड़ा था जिससे तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावना बढ़ती जाती थी। यदि भारत भी किसी गुट में सम्मिलित हो जाता तो यह सम्भावना और प्रबल हो जाती। उस समय गर्म वातावरण को शीतल करने की आवश्यकता थी। दोनों गुटों में सन्तुलन रखना था एवं उनकी कटुता को कम करना था। उनकी दूरी को कम करना था। अत यह कार्य करने के उद्देश्य से भारत ने असंलग्नता की नीति अपनायी। डा० श्रीराम शर्मा ने अपनी पुस्तक "भारत की विदेश नीति" मे लिखा है कि "आज भयग्रस्त स्थिति में किसी ऐसे देश का होना आवश्यक है जो दोनों शक्तियों के बीच सन्तुलन कायम रख सके। इस कार्य के लिए भारत एक उपयुक्त देश है। उसकी क्षेत्रीय विशालता, साधन, पुष्कलता एवं भौगोलिक स्थिति इस कार्य मे उसे योगदान दे सकती है। सक्षेप में, अगले विश्वयुद्ध को रोकने एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की रक्षा करने के लिए आवश्यक है कि भारत तटस्थ रहे।"

एक बार किसी व्यक्ति ने फ्रांस के प्रधानमन्त्री से प्रश्न किया कि आज भारत को क्यों इतना महत्त्व दिया जाता है जबकि भारत की सैनिक शक्ति यूरोप के छोटे से छोटे देश से कम है। फ्रांस के प्रधानमन्त्री ने उत्तर दिया कि "आज दोनों गुटों के पलड़े बराबर हैं, थोड़ा सा भी वजन किसी पलड़े में रख दिया जाये तो वही पलड़ा भारी हो जायगा और दूसरा गुट शक्तिहीन हो जायगा अर्थात् शक्ति सन्तुलन बिगड़ते ही तीसरा युद्ध छिड़ जायगा।"

(3) नैतिकता की माँग—संसार में हर समय नैतिकता का विशेष महत्त्व रहता है। सच्चा और साफ कहने वाले का सम्मान होता है। गुट के प्रत्येक सदस्य की आँखों पर गुट का चश्मा चढ़ा रहता है अतः उसे प्रत्येक वस्तु चश्मे के रग से रगी दिखायी देती है। उस पक्षपात का रंग चढ़ा रहता है। वह स्वतन्त्र बुद्धि से कभी सोच ही नही सकता। एक गुट में जो नेता होता है, उसके चापलूसी में ही गुट के सदस्य लगे रहते हैं। वे गुण-दोष की सच्ची परख ही नही कर सकते हैं अपने नेता देश की हाँ मे हाँ मिलाना उनका काम होता है। उनकी कोई नैतिकता होती ही नहीं। भारत नैतिकता को सदैव उच्च स्थान देता रहा है। नैतिकता की माँग थी कि भारत पूर्वाग्रहों से मुक्त रहे। वह विश्व की किसी भी समस्या पर अपने विचार किसी गुट को खुश करने के उद्देश्य से व्यक्त नहीं करता है। वह पदार्थ का मूल्यांकन उसके गुण-दोषों के आधार पर करता है और सही एवं सच्ची बात निर्भयता से कहता है। इससे अन्य देशो को भी असलियत का पता चल जाता है। उदाहरण के लिए जब श्रीमती इन्दिरा गांधी ने तानाशाही नीति अपनायी और विरोधियों को पकड़-पकड़कर जेल में डाल दिया, प्रेस पर सेन्सर बिठा दिया तो भय से जनता कांप उठी और तानाशाह को खुश करने के लिए जी हुजूरी करने लगी। चारों ओर श्रीमती इन्दिरा की प्रशसा ही प्रशसा होने लगी। श्रीमती इन्दिरा को पता ही नहीं चल पाया कि इन चापलूसों में कौन मित्र है और कौन शत्रु। 1977 मे पूर्ण विजय के भ्रम मे उन्होने चुनाव कराने की घोषणा की तो उनकी आशा के विपरीत उनकी पराजय हुई। इतने भयानक विरोध की उन्होने सपने मे भी कल्पना नही की थी, उनके ही साथियों ने उनसे विश्वासघात किया। गुटबन्दी में भी पता नहीं चलता कि कौन सदस्य गुट के प्रति कितना वफादार है। अतः नैतिक दृष्टि से भी भारत की असंलग्न नीति सर्वथा उचित है।

(4) वैचारिक स्वतन्त्रता—वैचारिक दृष्टि से भी भारत का रूस और अमेरिका से पृथक रहना आवश्यक था। भारत की विचारधारा न रूस से मेल खाती है और अमेरिका से।

भारत ने अपना मार्ग भी स्वतन्त्र ही चुना-प्रजातान्त्रिक समाजवाद । पर नेहरू का समाजवाद अथवा उनकी पुत्री का समाजवाद आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० लोहिया, जयप्रकाश नारायन एवं श्री राजनारायण या अशोक महता से भिन्न था । वास्तव में नेहरू ने प्रजातान्त्रिक समाजवाद में अमेरिका और रूस की विचारधारा को मिलाने का असफल प्रयत्न किया था । वे प्रजातान्त्रिक कम समाजवादी अधिक थे और उनकी सुपुत्री ने तो प्रजातन्त्र की हत्या ही कर दी थी और भारत को साम्यवाद के रंग मे रंगना प्रारम्भ कर दिया था । वह तो मुजीब के समान ही भारत मे अध्यक्षीय शासन कायम करना चाहती थी और नेपोलियन के समान आजीवन कान्सल बनना चाहती थी । यह उनका सौभाग्य ही था कि उन्होंने यह कदम न उठाया वरन् यहाँ भी खूनी क्रान्ति हो सकती थी ।

पण्डित नेहरू इस खतरे को जानते थे वह साम्यवाद के आतंकवाद से एवं लौह आवरण से चिढ़ते थे । वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे । अतः वे किसी गुट के पिछलगू न बने ।

(5) आर्थिक कारण—भारत की विदेश नीति का औचित्य इस बात से भी आंका जा सकता है कि वह भारत के आर्थिक हितों के लिये लाभकारी थी । भारत के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक था कि भारत सभी राष्ट्रों का मित्र रहे, किसी का शत्रु नहीं । विकसित राज्यों से उसे तकनीकी एवं आर्थिक सहायता मिले तथा विकासशील देशों में उसे बाजार मिले । असंलग्नता के कारण ही भारत को अपने आर्थिक उत्थान मे काफी सहयोग प्राप्त हुआ ।

पं० नेहरू ने कहा था कि "आर्थिक, राजनीतिक या दूसरे प्रकार की सहायता प्राप्त करने के लिये यह बुद्धिमत्तापूर्ण नीति नही कि तुम अपने सभी अण्डों को एक ही टोकरी में रख दो ।

(6) व्यावहारिक कारण—यद्यपि ऊपर से देखने से भारत की असलग्नता की नीति आदर्शवादी, सैद्धान्तिक एवं अव्यावहारिक लगती थी । वह नीति कोरी सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक नैतिक दिखाई देती थी पर व्यवहार में लाने पर पता चला कि वह व्यवहार में लायी जा सकती है एवं उसके परिणाम अच्छे निकल सकते हैं । ससार मे दैनिक अनेकों समस्या उत्पन्न होती रहती हैं पर यह भारत इन समस्याओं में क्यों उलझे जब कि वह किसी गुट का सदस्य नहीं । श्री कृष्णा मेनन ने कहा था कि "पण्डित जी, मेरे से भी अधिक गुटीय संघर्ष से दूर रहने के पक्ष में थे । उनकी सामान्य प्रतिक्रिया थी–हम क्यों उलझें ?"

(7) ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित—असंलग्नता की नीति-यद्यपि स्वतन्त्र भारत की नीति थी और नेहरू निर्मित कही जाती थी । पर पं० नहरू कहते थे कि 'किसी देश की विदेश नीति अन्ततः अपनी परम्पराओं, अपने स्वय की आकाक्षाओं, अपने ही लक्ष्यों तथा अपने निकट अतीत से निकलती है ।"[1]

भारतीय स्वतन्त्र संघर्ष मे हमें अमेरिका और रूस दोनों ही देशों से समर्थन प्राप्त हुआ । अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री वि० चर्चिल पर दबाव डाला कि वे भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर दें । इसी प्रकार रूस के नेता भी बार-बार भारत को स्वतन्त्र करने की बात करते थे । स्वतन्त्रता के बाद भी दोनों देशों ने भारत के साथ सहानुभूति दिखाई । इस सहानुभूति की उपेक्षा करना भारत के लिये उचित न होता ।

(8) राष्ट्र हित के अनुकूल—भारत की विदेश नीति का औचित्य इस बात से भी है कि वह राष्ट्रीय हित के अनुकूल रही । यह नीति भारत के आर्थिक विकास में तो सहायक रही, साथ-साथ यह हमारे देश की रक्षा मे भी सहायक रही । कोई भी देश दूसरे की सैनिक शक्ति

---

1 "A country's foreign policy ultimately emerges from its own traditions, from its own urges, from its own objective and more particularly from its own recent past." —*Nehru*

के सहारे सशक्त नही बन सकता है। पाकिस्तान को इसका अच्छा अनुभव है। मिस्र ने रूस का भरोसा करके देख लिया। 1976 में उसने रूस से सब बन्धन तोड़ दिये। भारत ने प्रारम्भ से ही गुटों से दूरी रखकर बुद्धिमत्ता का कार्य किया।

असंलग्न नीति का प्रयोग
(Use of Non-alignment Policy)

अब हमें यह देखना है कि भारत की असलग्न नीति का प्रयोग कैसे किया गया। इस नीति के इतिहास को हम खण्डों में विभाजित कर सकते हैं—(1) 1947 से 1950 तक (2) 1950 से 1957 तक (3) 1957 से 1962 तक तथा (4) 1962 से 1977 तक।

(1) **1947 से 1950 तक**—भारत 1947 में स्वतन्त्र हुआ। प्रारम्भ मे यह नीति बड़ी अस्पष्ट रही। वास्तव मे भारत प्रारम्भ में पश्चिमी गुट की ओर अधिक झुकाव रखता था। इसके कुछ कारण थे। प्रथम यह कि भारत अपनी सुरक्षा के लिए पश्चिमी गुट पर अधिक आश्रित था। भारत की सेना का संगठन ब्रिटिश पद्धति के आधार पर हुआ था। दूसरे भारत के समुद्र तटों की रक्षा के लिये हम ब्रिटिश बल शक्ति पर आधारित थे। इसके अतिरिक्त भारत का शिक्षित वर्ग विदेशी सभ्यता के प्रति बड़ी आस्था रखता था। हमारी शिक्षा पद्धति पश्चिमी ढग पर ढली हुई थी। इसका तीसरा कारण आर्थिक था। उस समय तक भारत का विदेशी व्यापार पश्चिमी देशों तक ही सीमित था। भारत आर्थिक दृष्टि से कमजोर भी था अतः हम उनकी सहायता पर ही आश्रित थे। यह सहायता देने वाले देश ब्रिटेन एव सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ही थे। उस समय तक रूस स्वयं आर्थिक संकट में था अतः भारत उस समय निष्पक्ष न रह सका वह अन्तराष्ट्रीय राजनीति में पश्चिमी गुट का समर्थन करता था।

उदाहरण के लिए जर्मनी का विभाजन दो गुटों मे हो चुका था। पश्चिमी शक्तियों ने पश्चिमी जर्मनी को स्वतन्त्र कर दिया। भारत ने पचिमी जर्मनी को राजनयिक मान्यता प्रदान कर दी। पूर्वी जर्मनी मे रूस समर्थित सरकार बनी। उसे किसी पश्चिमी शक्ति ने मान्यता न दी भारत ने पश्चिम के प्रभाव से पूर्वी जर्मनी को मान्यता न दी। उसने यह कर टाल दिया कि भारत जर्मनी के विभाजन को मान्यता नही दे सकता है। यदि पूर्वी जर्मनी को वह मान्यता देता है तो इसका अर्थ होता जर्मनी का विभाजन मान लेना।

दूसरा उदाहरण है कोरिया का युद्ध। प्रारम्भ मे कोरिया के युद्ध मे भारत ने पश्चिमी देशों का साथ दिया। उसने अमेरिका एव ब्रिटेन के इस आरोप का समर्थन किया कि उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया है। भारत का यह समर्थन वास्तविक जानकारी पर आधारित न था जैसा कि करुणाकर गुप्त ने लिखा है कि 'भारत का निर्णय श्री केण्डापी की रिपोर्ट पर आधारित था और यह रिपोर्ट उसके व्यक्तिगत विचारों से अत्यधिक प्रभावित थी।" इतना होने पर भी भारत सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना मे भारतीय सैनिक टुकड़ी भेजने के लिए तैयार न हुआ। वह सामूहिक आक्रमण के विरुद्ध था। यही कारण है कि कोरिया के बन्दी सैनिकों को अपनी इच्छानुसार अपने देश या अन्य देशों को भेजने के लिए भारतीय कमाण्डर जनरल थिमेय्या को निष्पक्ष समझ वहाँ भेजा गया। दोनों पक्षो ने उसका समर्थन किया।

(2) **1950 से 1957 तक**—भारत चीन से 1922 में बड़ा प्रभावित था। जापान के विरुद्ध चीन के सघर्ष मे भी पं० नेहरू चीन के समर्थक रहे थे। उनके प्रयास से 1939 में एक मैडिकल मिशन चीन गया था और 1949 मे वे स्वयं 15 दिन चीन मे जाकर रह चुके थे। 1949 मे चीन मे साम्यवादी सत्ता स्थापित हो गयी। साम्यवादी सरकार को पश्चिमी देशों ने मान्यता नहीं दी जबकि रूस ने उसे मान्यता दे दी और भारत ने पश्चिमी गुट की चिन्ता न कर नवीन चीन को मान्यता दे दी। रूस इस कार्य से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने समझा कि भारत

वास्तव में असंलग्न देश है। उसने भारत की ओर रुख किया। इस प्रकार 1950 में ही भारत साम्यवादी शक्तियों का कुछ समर्थक हो गया। 1953 में रूस के तानाशाह स्टालिन की मृत्यु हो गई। स्टालिन बड़ा कठोर था पर जो नेता सत्ता में आये वे अपेक्षाकृत उदार थे। रूस ने उस समय तक अणु शक्ति का भेद पा लिया था। नये नेतृत्व की नीति परिवर्तन का एक उदाहरण था सोवियत नेताओं का यूगोस्लाविया के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन।

नये नेतृत्व मे साम्यवादी पार्टी के महासचिव ख्रुश्चेव का हाथ विशेष था। उसके काल मे एक ओर भारत और रूस के सम्बन्धो मे प्रगाढ़ता आयी तो भारत अमेरिका के सम्बन्धों में कटुता आनी प्रारम्भ हुई। इस कटुता का एक प्रमुख कारण था सं० रा० अमेरिका द्वारा पाकिस्तान से सैनिक सन्धि करना। भारत इस नीति का विरोध करता रहा पर अमेरिका लगातार भारी मात्रा में पाकिस्तान को अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद, हवाई जहाज एवं टैंक सप्लाई करता रहा और भारत को बहलाता रहा कि ये सैन्य सामग्री भारत के विरुद्ध प्रयोग नहीं होगी केवल साम्यवादी शक्तियों के विस्तार के विरुद्ध प्रयुक्त होगी।

इस बीच पुर्तगाल की बस्तियों की स्वतन्त्रता के प्रश्न पर अमेरिका ने पुर्तगाल का समर्थन किया अमेरिका विदेश सचिव ने सार्वजनिक रूप से गोआ में पुर्तगाल का समर्थन किया था। इससे भारतीयो का रुख अमेरिका की तरफ से बदला। दूसरी ओर रूस की ओर से लगातार भारत का समर्थन किया जा रहा था। दोनो देशों मे मित्रता के बढ़ने का एक और भी कारण था—रूसी एवं भारतीय नेताओं का एक दूसरे देश की यात्रा करना। 1955 में पं० नेहरू सोवियत संघ की यात्रा पर गये और उसी वर्ष शरद ऋतु मे ख्रुश्चेव भारत की यात्रा पर आये। रूस ने भारत से राजनीतिक व आर्थिक सम्बन्धों को बढ़ाया।

इसी काल में महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटना भी घटी। मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीय-करण किया तो ब्रिटेन एव फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। मिस्र पर आक्रमण से भारत को बड़ा धक्का लगा। भारत का विरोध किया और विदेशी सेनाओं को मिस्र छोड़ देने की मांग की। रूस ने भी ऐसी ही मांग की। दूसरी घटना थी हुंगरी पर रूसी आक्रमण। भारत ने चुप्पी साधकर रूस का मौन समर्थन किया।

इस प्रकार भारत का रुख रूस की ओर अधिक झुक गया।

(3) 1957 से 1962 तक—भारत का दूसरा आम चुनाव 1957 में हुआ। इसमे साम्यवादी पार्टी को कुछ सफलता मिली और केरल मे तो उनको बहुमत मिल गया तथा वहाँ उनकी सरकार भी बन गयी। इसका मुख्य कारण था भारत मे 1957 मे आर्थिक संकट। देश में खाद्यान्नों एवं विदेशी मुद्रा की कमी तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे भारत की धन की आवश्यकता। उन कारणो से भारत का पुनः रुख बदला और पश्चिम देशो की ओर उसका झुकाव बढ़ा। इस रुख परिवर्तन का कारण यह भी था कि चुनाव मे कांग्रेस का दक्षिण पन्थी गुट शक्तिशाली हो गया। इस गुट का झुकाव रूस की अपेक्षा अमेरिका की ओर अधिक था। इन सब कारणों से, विशेष कर आर्थिक संकट से विवश होकर पं० जवाहरलाल नेहरू अमेरिका गये। इसके बाद पं० नेहरू ने हुंगरी के मामले में अपना रुख बदलकर, रूस की आलोचना की। इसके अतिरिक्त भारत ने पश्चिमी गुटो के देशों के साम्राज्यवादी कार्यों की भी आलोचना बन्द कर दी। यदि उसने अफ्रीका और एशिया में पश्चिमी देशो की साम्राज्यवादी नीति की आलोचना की भी तो दबी जबान से की। इसी प्रकार वियतनाम के मामले में उसकी नीति असफल रही।

(4) भारत-चीन युद्ध में असंलग्नता की नीति की अग्नि परीक्षा—भारत की असंलग्नता की नीति की अग्नि परीक्षा चीन भारत युद्ध के समय हुई। चीन भारत का पुराना मित्र था। वह भारत की उन्नति से ईर्ष्या करता था। 1954 मे चीन और भारत की सह-अस्तित्व पर सन्धि

हो चुकी थी पर उसने भारत के साथ विश्वासघात किया और उत्तरी सीमा का पहाड़ी क्षेत्र धीरे-धीरे अपने कब्जे में करना प्रारम्भ किया। जब भारत ने कड़े विरोधपत्र भेजे तो 20 अक्टूबर, 1962 को उसने भारत पर अचानक आक्रमण कर दिया।

इस आक्रमण से भारत की असंलग्नता नीति की कटु आलोचना होने लगी। ऐसा मालूम देता था कि भारत की असंलग्नता नीति असफल हो गयी है और भारत उसे शीघ्र बदल देगा। विरोधी दलों ने विशेषकर स्वतन्त्र पार्टी एव जनसघ ने असलग्नता की नीति को छोड़ने की मांग की, समाचार-पत्रों एवं भारत के कुछ प्रतिष्ठित नागरिकों ने अपना असन्तोष प्रकट किया। पर पं० नेहरू ने 20 अक्टूबर 1962 को अपने रेडियो भाषण में स्पष्ट रूप से घोषणा की कि भारत अपनी असंलग्नता नीति का अनुसरण करता रहेगा। युद्ध मे भारत की लगातार हार ने पं० नेहरू को विवश किया कि वह पश्चिमी गुट से सैनिक सहायता की मांग करे। भारत की मांग पर अमेरिका और इंगलैण्ड के शस्त्रास्त्रों से भरे जहाज भारत शीघ्रता से पहुँचने लगे। इंगलैण्ड ने तो अपनी सेनायें भी भेजने का प्रस्ताव रखा। इतना पं० नेहरू ने स्वीकार न किया। इस सहायता से विरोधी दलों ने लाभ उठाया और असंलग्नता नीति से चिपके रहने का कोई औचित्य नहीं बताया। साम्यवादी गुट के एक देश का आक्रमण और पश्चिमी गुट द्वारा सैनिक सहायता ग्रहण करने से लोगों ने यही समझा कि अब असलग्नता की नीति का भारत ने परित्याग कर दिया है और वह पश्चिमी गुट मे सम्मिलित हो गया है। स्वयं पं० नेहरू इस आक्रमण से बहुत ही दुखी हुए। 25 अक्टूबर 1962 को बोलते हुए प० नेहरू ने कहा कि "चीन के आक्रमण से हमारी आँखें एकाएक खुल गयी हैं, अभी तक भारत वास्तविक तथ्य की ओर नही देख रहा था एव अपने द्वारा ही निर्मित एक कृत्रिम वातावरण मे रह रहा था।" यह वक्तव्य यह शंका पैदा करने वाला था कि प्रधान मन्त्री नेहरू असंलग्नता की नीति को अनुभव कर रहे हैं और शायद आगे इसका परित्याग कर देंगे।

भारत के मित्र घाना, संयुक्त अरब गणराज्य, लका आदि से आशा थी कि वे भारत की संकट में सहायता करेंगे पर सबने अपने को तटस्थ घोषित कर दिया। इतना ही नही वे माध्यम के रूप में काम करने लगे। जिस प्रकार निर्दलीय व्यक्ति को लोग बेनकेल का ऊँट कहते हैं उसी प्रकार तटस्थ व्यक्ति को भी लोग स्वार्थी कहते हैं। कितनी ही आलोचना हो पर प० नेहरू अपने निश्चय से डिगने वाले न थे। उन्होने बार-बार यही कहा कि असंलग्नता की नीति सर्वोतम है। उसे छोड़ने से उन्होने साफ इन्कार कर दिया। प्रश्न यह भी था कि यदि नेहरू इस नीति को छोड़ देते भी तो किस गुट में जाते। स्वयं अमेरिका के विदेश मन्त्री मैकमिलन ने भी इस नीति को भारत के लिए उत्तम बताया था। यदि अमेरिकन गुट में भारत सीमा का विवाद शीत युद्ध मे बदल जाता। क्या अमेरिका से मिलकर भारत को चीन द्वारा विजित प्रदेश मिल जाता? इसका उत्तर दक्षिणी, कोरिया, वियतनाम, पाकिस्तान एव पश्चिमी जर्मनी से पूछा जा सकता है। प० नेहरू यह जानते थे अतः वे अपनी नीति पर अड़े रहे।

1963 मे एक घटना और घटी। रूस जो चीन-भारत युद्ध के समय मौन रहा था, ने बर्लिन कांग्रेस मे स्पष्ट रूप से चीन को दोषी ठहराया गया और भारत का समर्थन किया। यह समर्थन किस कारण से मिला यहाँ यह बहस का विषय नहीं पर इसमे असलग्न नीति के आलोचकों का युद्ध बन्द हो गया।

(ब) 1965 में पाक-भारत युद्ध और असंलग्नता की नीति—चीन द्वारा भारत को भारी क्षति उठानी पड़ी। पाकिस्तान को इससे बड़ी खुशी हुई। उसने चीन से मित्रता करली और उससे मिल कर धन एव शस्त्रों की और सहायता प्राप्त की। दोनों ने भारत पर एक साथ आक्रमण की

योजना बनायी। पाकिस्तान "सियटो" का भी सदस्य था। इनके द्वारा भी उसे सैनिक सहायता प्राप्त हुई। इसी उत्साह से भर कर उसने सितम्बर 1965 में भारत पर आक्रमण कर पाकिस्तान चिल्लाने लगा कि भारत ने उस पर आक्रमण किया है।

पश्चिमी गुटों ने पाकिस्तान के प्रचार को सही मानकर भारत को आक्रमणकारी ठहराया। चीन ने भी भारत को आक्रमणकारी मानकर उसे धमकी दी कि वह युद्ध बन्द कर दे अन्यथा वह भी भारत पर आक्रमण कर देगा। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने भी घोषणा की कि भारत आक्रमणकारी है। तुर्की एवं ईरान ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने दो देशों को एक ही पलड़े पर रखकर युद्ध बन्द कर देने को कहा और घोषणा कर दी कि वह भारत और पाकिस्तान को तब तक कोई सैनिक तथा आर्थिक सहायता न देगा जब तक वे युद्ध बन्द न करें। अमेरिका के दृष्टिकोण को देख पश्चिमी गुट के अनेक देशों ने भी पाकिस्तान की सहायता करने से रोक दिया। चीन भी प्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की सहायता न कर सका। पाकिस्तान की आशाओं पर पानी फिर गया। उसको बुरी तरह हार खानी पड़ी।

भारत और पाकिस्तान को गुट में नहीं रहने से या रहने से कोई लाभ न हुआ। गुट में सम्मिलित होने से जब पाकिस्तान को कोई लाभ न मिला तो भारत को क्या मिल सकता था। यहाँ असलग्नता की नीति के विरोधियों को मुँह की खानी पड़ी। भारत की असलग्नता नीति के कारण ही अनेक देशों ने संकट के समय उसकी सहायता की। सोवियत रूस ने भी सुरक्षा परिषद मे भारत का पक्ष लिया। इससे भारत की नीति की श्रेष्ठता सिद्ध होने लगी और स्वयं पाकिस्तान मे सलग्नता नीति का विरोध किया जाने लगा तथा उसे छोड़ने की चर्चा चल पड़ी।

(ख) पं० नेहरू की मृत्यु से असंलग्नता नीति पर प्रभाव—पं० नेहरू ही असलग्नता की नीति के निर्माता थे और उन्होंने भीषण परिस्थितियों मे भी असलग्नता नीति को नही छोड़ा। इस नीति के कारण भारत का मान सम्मान अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे बढ़ा। एशिया एवं अफ्रीका मे नेहरू को शोषित जगत का प्रवक्ता माना जाता था। स्वयं नेहरू के आलोचक भी यह मानते थे कि नेहरू अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे जितनी ख्याति एवं प्रतिष्ठा के अधिकारी थे, और कोई व्यक्ति न था। रूस और अमेरिका जो दोनो गुटों के नेता थे, पं० नेहरू का तथा उनकी असलग्नता की नीति का सम्मान करते थे। तीसरी दुनिया के तो वह बेताज बादशाह थे। 27 मई 1963 को उनका निधन हो गया।

पं० नेहरू की मृत्यु होते ही यह आशंका उत्पन्न हुई कि अब उनकी असंलग्नता की नीति का भी अन्त हो जायगा। परन्तु जब उनके उत्तराधिकारी श्री लालबहादुर शास्त्री ने प्रधानमन्त्री बनते ही घोषणा कर दी कि वे भी भारत के लिए असंलग्नता की नीति को सर्वोत्तम मानते है तब लोगों की शंकायें दूर हुईं। अपने 18 महीने के शासन काल मे श्री लालबहादुर शास्त्री ने पं० नेहरू के चरण चिन्हों पर चल कर सिद्ध कर दिया कि असंलग्नता की नीति भारत के लिए उचित ही है।

(ग) श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा असंलग्नता नीति का अन्त—जनवरी 1966 में श्री लालबहादुर शास्त्री की हृदयगति बन्द होने से ताशकन्द मे मृत्यु हो गयी और श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधानमन्त्री बनीं। तत्कालीन घरेलू परिस्थितियों के कारण श्रीमती गांधी को साम्यवादियों की शरण लेनी पड़ी। कुछ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों मे भी परिवर्तन आया। चीन और अमेरिका की शत्रुता 1971 मे मित्रता मे बदल गयी। राष्ट्रपति निक्सन ने चीन की यात्रा की। इसी वर्ष

बंगला देश में विद्रोह हो गया। इन बदली परिस्थितियों में असंलग्नता की नीति को कायम रखना वांछनीय न रहा। बंगला देश के विद्रोह से पाकिस्तानी घबरा गये और उन्होंने सेना द्वारा समस्या को हल करने की कोशिश की। बंगला मुक्त वाहिनी ने इसका मुकाबिला किया। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने चाहा कि बंगला देश के संघर्ष को कम करने के लिए कोई राजनीतिक हल पाकिस्तान निकाले पर उनके द्वारा की गयी राष्ट्रों से अपील का कोई परिणाम न निकला बल्कि पाकिस्तान, चीन यहाँ तक अमेरिका ने भी भारत को चेतावनी दी कि वह पाकिस्तान के घरेलू मसलो में कोई हस्तक्षेप न करे।

बंगला देश में एक समान्तर सरकार का गठन हुआ और उस सरकार के प्रतिनिधियों ने भारत तथा अन्य सरकारों से पाकिस्तान के विरुद्ध सहायता की अपील की। उसके प्रतिनिधि संयुक्त राष्ट्र संघ मे भी अपनी करुण गाथा सुनाने के लिए गये पर पश्चिमी गुट ने उनकी एक न सुनी। बंगला देश में 30 लाख बंगाली जिनमे पुरुष और महिलायें तथा बच्चे भी थे कत्ल कर दिये गये तथा 1 करोड़ बंगाली शरणार्थी के रूप में भारत आ गये। भारत की जनता ने भी सरकार से मांग की कि बंगला सरकार को मान्यता दी जाये तथा पाकिस्तान के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाय। जनसंघ ने 10 लाख व्यक्तियों को लेकर दिल्ली में प्रदर्शन किया और भारत सरकार से सैनिक कार्यवाही की मांग की। उधर पाकिस्तान एवं चीन ने संयुक्त रूप से भारत पर आक्रमण करने की धमकी दी। पाकिस्तान का पक्ष लेकर अमेरिकन राष्ट्रपति ने भारत के अमेरिका स्थित राजदूत को बता दिया कि अब की बार यदि चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो अमेरिका भारत को कोई सहायता न देगा।

भारत पर आर्थिक दबाव बढ़ रहा था, उसके चारों ओर विरोधी दीख रहे थे युद्ध की सम्भावना बढ़ रही थी और भारत को अकेलापन अनुभव हो रहा था। इन परिस्थितियों में असंलग्नता की नीति को छोड़ने के सिवा कोई उपाय न दीखता था अतः श्रीमती इन्दिरा गांधी ने रूसी सरकार को तार दिया कि वह अपना प्रतिनिधि शीघ्र भारत भेजे ताकि वह रूस से सन्धि कर सके। 24 घण्टे के अन्दर रूस का प्रतिनिधि मण्डल भारत आ गया और 9 अगस्त 1971 को भारत और रूस की 20 वर्षीय सन्धि हो गई। यद्यपि भारतीय सरकार के प्रवक्ता ने घोषणा की कि इस सन्धि से भारत की असंलग्नता नीति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा पर इस बात को किसी ने स्वीकार न किया। पाक-भारत युद्ध हुआ और चीन एवं अमेरिका की सेनायें खड़ी रहीं और पाकिस्तान को पिटते देखती रही। 14 दिन मे युद्ध का फैसला हो गया। पाकिस्तान हार गया और उसका विभाजन हो गया। बंगला देश स्वतन्त्र हो गया।

भारत अब रूस का पिछलग्गू बन गया। श्रीमती इन्दिरा गांधी रूस के इशारे पर नाचने लगी। पश्चिमी गुट ने चीन को साम्यवादी गुट से तोड लिया था पर भारत को हाथ से खो दिया। पश्चिमी गुट ने भारत की आर्थिक, खाद्यान्न एवं तकनीकी सहायता बन्द कर दी। भारत को सन्तुष्ट करने के लिए रूस ने 20 लाख टन गेहूँ भारत को देने का वचन दिया। 1977 के चुनाव में श्रीमती इन्दिरा हार गयी। उनका बहुमत भी न रहा। नयी सरकार ने यद्यपि रूस से अपनी मित्रता कायम करली है और 20 वर्षीय सन्धि की पुष्टि कर दी है पर वह घरेलू मामले मे इतनी व्यस्त है कि अभी वह अपनी विदेश नीति को साफतौर से घोषित नहीं कर सकी है।

भारत की शान्तिपूर्ण सह-जीवन की नीति एवं विश्व शान्ति

(Indian policy of peaceful Co-existence and World Peace)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना का मुख्य उद्देश्य विश्व की शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना था। वास्तव में आधुनिक युग में आणविक आयुधों के निर्माण के कारण विश्व शान्ति की आवश्यकता सर्वोपरि है। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास से आज

पराधीन राज्य स्वतन्त्रता का अनुभव कर रहे हैं पर ये नवीन राज्य अविकसित हैं, उनकी उन्नति एव विकास के लिए शान्ति के वातावरण की बड़ी आवश्यकता है। भारत को भी 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। उसकी आर्थिक दशा बड़ी डावाडोल थी। उसे भी अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए विश्व-शान्ति की आवश्यकता का अनुभव हुआ। "भारत की महान् संस्कृति और परम्पराओ को देखते हुए तथा वर्तमान युग की भीषण विनाशकारी युद्ध सामग्री की कल्पना करते हुए विश्व शान्ति के प्रति आस्था उचित ही थी।"

25 अगस्त, 1954 को सरदार के० एम० पाणिक्कर ने कहा था कि "यदि समय मिले तो भारत के लिए स्वयमेव, अपने ढंग से वि व-शान्ति बनाने का पूरा मौका है। भारत को इस बात की बड़ी चिन्ता है कि उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव जाति की उन्नति को संकट मे डालने वाला कोई युद्ध न हो।" 12 जून 1952 को अपनी शान्तिवादी नीति को घोषित करते हुए नेहरू ने घोषणा की थी कि "हमारी प्रथम नीति तो यह होनी चाहिए कि हम ऐसी भीषण आपत्ति को घटित होने से रोकें दूसरी नीति इससे (तृतीय विश्व युद्ध) बचने की होनी चाहिए और तीसरी नीति ऐसी स्थिति बनाने की होनी चाहिए कि यदि युद्ध छिड़ जाय तो हम उसे रोकने में समर्थ हो सकें। मैं यह चाहता हूँ कि एशिया मे ऐसे देशों का क्षेत्र विस्तृत हो तो यह निश्चय करें, कि चाहे कुछ भी हो, वे युद्ध में सम्मिलित न हों, अन्य प्रदेशो में होने वाले युद्ध के क्षेत्र को सीमित करें, अपने प्रदेश की रक्षा करें और दूसरो के प्रदेशों को सुरक्षित बनाने का यत्न करें।"

इस प्रकार भारत ने प्रारम्भ में ही विश्व-शान्ति के लिए अपनी नीति घोषित कर दी थी। इसी आधार पर न वह गुटबन्दी में फँसा और न किसी सैनिक संगठन का सदस्य बना। शक्ति गुटो ने भारत को फँसाने के अनेक प्रयत्न किये परन्तु भारत के प्रधानमन्त्री अपने निश्चय पर अटल रहे। 3 अक्टूबर 1960 में संयुक्त राष्ट्र की महासभा को सम्बोधित करते हुए प० नेहरू ने कहा कि "शान्ति के बिना हमारे सब स्वप्न मिट्टी में मिल जाते हैं। अतः हमे संसार से युद्ध को, युद्ध के कारणो को एवं युद्ध के खतरों को मिटाना होगा।............"

हथियारबन्दी की होड़ विश्व शान्ति के लिए महान खतरनाक होती है। एक पीढ़ी के भीतर ही संसार को दो महान युद्धों को देखना पड़ा। तृतीय युद्ध की सम्भावना को दूर करने के लिए शस्त्रो के निर्माण की होड़ को समाप्त करना चाहिए। पं० नेहरू निःशस्त्रीकरण के प्रबल पक्षपाती थे। यही कारण था कि 1963 मे आणविक परीक्षण रोक सन्धि हुई तो भारत ने उस पर सर्वप्रथम हस्ताक्षर किये।

भारत शान्ति का पुजारी है और विश्व शान्ति के लिए युद्ध को वर्जित करने के पक्ष में है पर दुर्भाग्य वश उसे कई बार युद्ध करना पड़ा। 1948 मे उसे कश्मीर की रक्षा के लिए पाकिस्तान से, 1962 मे चीन के आक्रमण को रोकने के लिए चीन से, 1965 एवं 1971 मे आत्म रक्षा के लिए पाकिस्तान से युद्ध करना पड़ा। पर उसने किसी देश पर युद्ध नही थोपा। यहाँ तक अपने देश की भूमि को वापस लेने के लिए भी शान्तिपूर्ण वार्ता मे लगा रहा, युद्ध का आश्रय नहीं लिया। चीन के साथ युद्ध करने के बाद भी 28 जनवरी 1963 का राज्य सभा मे बोलते हुए प० नेहरू ने कहा था कि "जब भारत लड़ने के लिए बाध्य किया गया है और वह लड़ रहा है, तब भी उसके मस्तिष्क में शान्ति की पद्धति रखनी चाहिए .... यद्यपि हमे समय-समय पर तलवारें और बन्दूकें उठानी पड़ी हैं, फिर भी मस्तिष्क मे हमे शान्ति ही रखनी चाहिए।"

1965 मे भारत को पाकिस्तान से लड़ना पड़ा। पर युद्ध के बाद पाकिस्तान के साथ शान्ति एवं मित्रता के प्रयास जारी किये गये। श्री लालबहादुर शास्त्री ने उस समय कहा था कि "हम शान्ति चाहते हैं, इसलिये नहीं कि हम कमजोर हैं, बल्कि इसलिए कि हम शान्ति को देश की प्रगति तथा मानवजाति के लिए आवश्यक समझते हैं।"

साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध
(Opposition to Imperialism and Colonialism)

भारत साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का सदियों तक शिकार रहा था और उसके साथ उसने लगातार संघर्ष किया था। भारत स्वयं ही साम्राज्यवाद से मुक्ति नहीं चाहता था, बल्कि वह विश्व के सभी पराधीन देशों को साम्राज्यवाद से मुक्त करना चाहता था। अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते समय भी भारत ने पराधीन देशों के स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ सहानुभूति प्रकट की थी। जब पं० नेहरू 1947 में "अन्तरिम सरकार" के प्रधानमन्त्री बने तो उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि "भारत सब पराधीन देशों के द्वारा उपनिवेशवाद के विरुद्ध चला रहे संघर्ष में अपनी रुचि रखता है।" 4 दिसम्बर 1947 को संविधान सभा में बोलते हुए पं० नेहरू ने कहा था कि "हम शान्ति एवं स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं। मैं सोचता हूँ कि इस बारे मे कुछ कहा जाना चाहिए, इस बात का कुछ विशेष अर्थ है, जब हम यह कहते हैं कि हम एशियाई देशों की स्वतन्त्रता और साम्राज्यवाद के उन्मूलन का समर्थन करते हैं।"

इसी प्रकार 1948 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में बोलते हुए पं० नेहरू ने कहा था कि "आज तक एशिया साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का शिकार बना रहा, यद्यपि उसका एक बड़ा भाग आज स्वतन्त्र है, परन्तु फिर भी कुछ हिस्से पराधीन हैं; और यह आश्चर्यजनक बात है कि अब भी कोई देश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उपनिवेशवाद के इस सिद्धान्त को बनाये रखने का साहस करता है। आज तक जो कुछ हो चुका है, उसके लिए कुछ नहीं, किन्तु अब उपनिवेशवाद के किसी भी रूप के लिए सक्रिय विरोध सक्रिय संघर्ष हमे करना है—यह याद रखने की पहली चीज है।.........हमने एशिया में स्वय साम्राज्यवादी आधिपत्य तथा उपनिवेशवाद की इन बुराइयों के कारण काफी कष्ट सहे हैं। इसलिए हम प्रत्येक दूसरे देश, उपनिवेश की स्वतन्त्रता के लिए वचनबद्ध हैं। एशिया मे हमारे पड़ौसी देश हैं जिनसे हमारी घनिष्ठ मित्रता है। हम उनकी ओर सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं। हम उनके स्वतन्त्रता संघर्ष से सहानुभूति रखते हैं। जो भी शक्ति चाहे वह बड़ी या छोटी, इन उपनिवेशों की स्वतन्त्रता को रोकती है। विश्व शान्ति को हानि पहुँचाती है। भारत जैसे महान देश जो उपनिवेशिक अवस्था से गुजर चुके हैं, वे यह नहीं सोच सकते कि दूसरे देश औपनिवेशिक शासन के अधीन रहे।"

भारत के प्रधानमन्त्री के यह शब्द साम्राज्यवादियों को बुरे लगे, इसका ज्ञान उन्हें था फिर भी विनय होकर उन्होंने यह घोषणा कर दी कि "भारत नीति को नहीं छोड़ेगा जिसका अनुसरण इसने अब तक किया है। मैं संसार को इस देश की ओर से कहना चाहता हूँ कि हम इस या इस शक्ति (Power) के सैनिक बल से भयभीत नहीं हैं। भारत उस कार्य को करने से कभी नहीं हिचकिचायेगा जिसको मानवता की प्रगति के लिए वह आवश्यक मानता है।"

भारत उन देशों से सहानुभूति रखता था जो साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के विरोधी थे या इन दोनों वादों को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील था। पं० नेहरू सोवियत रूस से इसीलिए प्रभावित थे क्योंकि वह साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का घोर शत्रु था (रूस स्वयं पक्का साम्राज्यवादी है)।

संयुक्त राष्ट्र संघ में विश्वास
(Full Faith in United Nations Organisation)

भारत भी संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रारम्भिक सदस्यों में से एक सदस्य है। यद्यपि 1945 में एक स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं था फिर भी मित्र राष्ट्रों मे उसकी गिनती थी अतः वह सानफ्रांसिस्को सम्मेलन मे भाग लेने पहुँचा था। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रथम अधिवेशन में ही भारत ने स्पष्ट कर दिया था कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ में पूर्ण आस्था रखता है।

भारत प्रारम्भ से ही संयुक्त राष्ट्र संघ को आशा और विश्वास की दृष्टि से देखता है। उसकी मान्यता है कि विश्व की समस्याओं के समाधान के लिए, विश्व में शान्तिपूर्ण वातावरण निर्माण के लिए तथा विश्व में आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी रचनात्मक विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र और उसकी सहयोगी संस्थाओं की विशेष महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सभी राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र को पूर्ण सहयोग देना चाहिए।

पं० नेहरू ने 1945 में कहा था कि "संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र के प्रति भारत का दृष्टिकोण हृदय और कार्यों से पूर्ण सहयोग और बिना संकोच के पूर्ण समर्थन का है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत उसकी ऐसी विभिन्न गतिविधियों में भाग लेगा। जिन्हें उसकी भौगोलिक स्थिति, उसकी आबादी और शान्तिपूर्ण तरक्की में उसका सहयोग उसे कर्तव्यनिष्ठ कर देता है।"

पं० नेहरू कभी-कभी पक्के आदर्शवादी बन जाते थे जैसाकि उन्होंने कश्मीर के विषय में किया। कश्मीर पर पाकिस्तान के उकसाने पर कबाइलियों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। कश्मीर उस समय किसी भी राज्य (भारत या पाकिस्तान) में विलय नहीं हुआ था। पाकिस्तान उसको जबरन विलय कराना चाहता था पर जब कश्मीर के महाराजा ने इस विलय की स्वीकृति न दी तो उसने कबाइलियों के माध्यम से कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण 1947 को हुआ। महाराजा कश्मीर ने भारत सरकार से सहायता की अपील की कि वह उसकी पाकिस्तान के आक्रमण से रक्षा करे। पं० नेहरू ने कहा कि यदि महाराज कश्मीर विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करें तो हम कश्मीर की सहायता कर सकते हैं। 26 अक्टूबर 1947 को भारत ने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। भारत की सेनाएँ हवाई मार्ग से कश्मीर पहुँच गयीं और कबाइलियों को खदेड़ना प्रारम्भ कर दिया जब भारतीय सेना ने कबाइलियों को भगाना प्रारम्भ किया तो पाकिस्तान सेना मैदान में आ गयी। यद्यपि भारत के पास इतनी शक्ति थी कि वह कबाइलियों एवं पाकिस्तानी सेना को कश्मीर से बाहर कर सकती पर आदर्शवादी बनकर पं० नेहरू कश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गये। संयुक्त राष्ट्र संघ ने युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। 1 जनवरी 1949 को दोनों देशों ने युद्ध-विराम करना स्वीकार कर लिया। 31 दिसम्बर 1947 से आज तक वह मामला सुलझ न सका। 32 हजार वर्ग मील का क्षेत्र आज भी पाकिस्तान के कब्जे में है।

इतना होने पर भी पं० नेहरू की आस्था संयुक्त राष्ट्र संघ में कम न हुई। कोरिया के प्रश्न पर, साइप्रस के प्रश्न पर, कांगो के प्रश्न पर, मध्य पूर्व के प्रश्न पर, संयुक्त राष्ट्र संघ ने जब-जब भारत से शान्ति स्थापना के लिए सहयोग चाहा, भारत ने उसे निःसंकोच रूप से प्रदान किया। संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्य संस्थाओं को भी भारत पूर्ण सहयोग देने को तैयार रहता है।

पं० नेहरू के बाद लालबहादुर शास्त्री एवं श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने शासन काल में संयुक्त राष्ट्र संघ को पूर्ण सहयोग दिया। श्री लालबहादुर शास्त्री ने कहा था कि "सदा से ही हम संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रबल समर्थक रहे हैं। इस गरिमायुक्त संस्था होने के नाते भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों के सभी पहलुओं में पूरी जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर ली हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति इस अटूट आस्था को मेरी सरकार पुनः दोहराती है।"

यद्यपि भारत संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थक एवं सहयोगी है पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह संयुक्त राष्ट्र का अन्धभक्त है और उसके निर्देशों का आँख बन्द करके पालन करता है। वह राष्ट्र संघ एवं उसके अंगों की दुर्बलता को भली-भाँति जानता है। अतः भारत न तो मूक दर्शक है और न अन्ध भक्त। उसने अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग कर संयुक्त राष्ट्र संघ में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। चीन की सदस्यता के प्रश्न पर, फिलिस्तीन के प्रश्न पर तथा अन्य समस्याओं पर अपने सुझाव रखे हैं।

श्रीमती इन्दिरा गांधी भी संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व शान्ति का ट्रस्टी मानती थी। 1968 में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र की महासभा को सम्बोधित करते हुए कहा था कि "संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व-शान्ति का ट्रस्टी है तथा मानव जाति की आशाओं का केन्द्र है। उसका अस्तित्व ही आश्वासन देता है कि सही समस्याओं की न्यायिकता को निर्भीकतापूर्वक विश्व के सम्मुख रखा जा सकता है। इसकी महासभा तथा उसकी सहायक संस्थाओं को, इन आशाओं को पूर्ण करना चाहिए तथा शान्ति के कारणों का विकास करना चाहिए।"

भारत की विदेश नीति संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ
(India's Foreign Policy with U. S. A.)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—भारत अँग्रेजों का आधीन था। उसका विश्व के अन्य देशों से कोई सम्बन्ध 19वीं शताब्दी तक न था। स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका 1914 से पूर्व अलग-अलग की नीति अपनाता था। चीन एवं जापान को छोड़कर 1850 तक एशिया के किसी देश से सम्बन्ध न रखता था। जब उसका स्वतन्त्र देशों से कोई सम्बन्ध न था तब वह भारत से क्या सम्बन्ध रखता। 20वीं शताब्दी से पूर्व अर्थात् 1893 में स्वामी विवेकानन्द अमेरिका गये थे और 1902 में स्वामी रामतीर्थ भी अमेरिका पहुँचे थे। इन दोनों युवा संन्यासियों ने अपने भाषणों से भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रचार किया था। उनके भाषणों से फैली भ्रान्तियाँ दूर हुई थी। वैसे वहाँ की आम जनता मिस मेओ की पुस्तक "मदर इण्डिया" को पढ़-पढ़ कर भारत के विषय में गलत धारणाएँ बनाये हुई थीं। कुछ अमेरिकन भारत आये थे पर उनका उद्देश्य केवल भारत की गन्दी बातों को खोजना और उनका प्रचार अमेरिकनों में करना था। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक भारतीय शिक्षा ग्रहण या भ्रमण करने पहुँचने लगे थे। लाला लाजपत राय, लाला हरदयाल एम० ए० आदि क्रान्तिकारी लोग भी वहाँ पहुँचे थे। 1911 में गदरपार्टी की स्थापना लाला हरदयाल जी के द्वारा हुई। जो भारतीयों को जो वहाँ पढ़ाई, नौकरी या व्यापार के लिये गये थे। उनको 1914 में इस गदर पार्टी ने अपने देश के लिए संघर्ष करने की शिक्षा देकर भारत भेजने को तैयार किया पर यह योजना सफल न हो सकी। 1917 में भारतीय लोगों ने "इण्डिया लीग" की थी। इसका उद्देश्य भारत की स्वतन्त्रता के लिए अमेरिका में जनमत तैयार करना, परन्तु इस लीग को विशेष सफलता न मिली। अमेरिकन जनमत भारतीय समस्या के प्रति उदासीन था।

प्रथम युद्ध के बाद शान्ति सम्मेलन में जब अमेरिका के राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने आत्म-निर्णय का सिद्धान्त रखा तो भारतीयों को आशा बँधी कि शायद यह सिद्धान्त भारत पर भी लागू होगा। पं० मदनमोहन मालवीय ने विल्सन को "पृथ्वी पर न्याय स्थापित करने के लिए ईश्वर का दूत" कहा था। लोकमान्य तिलक ने भी एक ज्ञापन (Memorandum) 21 मार्च 1919 को शान्ति सम्मेलन में भेज कर भारत के लिए आत्म निर्णय की माँग की थी। पर भारतीयों को तब निराशा मिली जब विल्सन ने भारत के लिए आत्म निर्णय के सिद्धान्त पर जोर नहीं डाला।

1927 में अमेरिका में रहने वाले भारतीयों ने दूसरी "इण्डिया लीग" की स्थापना की। इस संस्था ने एक पत्र भी निकाला जिसका नाम था "आज का भारत" (India Today)। इसका उद्देश्य भी यही था कि अमेरिकनों को भारत की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराना तथा भारत की स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना। 1939 में सरोजिनी नायडू तथा सी० एफ० ऐन्ड्रूज ने अमेरिका की यात्रा की। इन यात्रा का भी यही उद्देश्य था जो "इण्डिया लीग" का था।

द्वितीय विश्व युद्ध में जब जापान ने अद्भुत सफलता प्राप्त की और वह दक्षिणी पूर्वी एशिया को जीतते हुए भारत की सीमा पर पहुँच गया तब अमेरिका को यह अनुभव हुआ कि जापान को हराने के लिए भारतीयों का सहयोग आवश्यक है। उस समय अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मि० चर्चिल पर दबाव डाला कि वह भारतीय नेताओं से बातचीत कर राजनीतिक गतिरोध को दूर करे। इस सुझाव को चर्चिल ने गम्भीरता से नहीं लिया। भावी वादों पर क्रिप्स को भारतीय नेताओं से सन्धि करने भेजा। क्रिप्स निराश लौटे और भारत में "भारत छोड़ो आन्दोलन" चला। इस आन्दोलन को कुचलने के लिए ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकन सैनिकों से सहायता ली। इससे भारतीय लोगों में अमेरिका के विरुद्ध बड़ा रोष फैला। 1945 में जब सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि को रूस के प्रतिनिधि ने देखा तो उनने भारतीय स्वतन्त्रता का जोरदार समर्थन किया परन्तु ब्रिटेन के नाराज हो जाने की शंका से अमेरिकन प्रतिनिधियों ने मौन साध लिया। इस प्रकार स्वतन्त्रता के बाद जब अमेरिका एवं भारत में सम्बन्ध स्थापित हुए तो भारतीयों के सामने यह पृष्ठभूमि थी।

स्वतन्त्रता के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका से सम्बन्ध—स्वतन्त्र भारत के अमेरिका से सम्बन्धों के काल को हम 6 खण्डों में बाँट कर वर्णन करेंगे। ये काल हैं—

(1) 1947 से 1952 तक—सहज सामान्य सम्बन्ध का काल
(2) 1953 से 1960 तक—अमित्रतापूर्ण सम्बन्ध काल
(3) 1961 से 1964 तक—मित्रतापूर्ण काल
(4) 1965 से 1968 तक—उदासीनता का काल
(5) 1969 से 1972 तक—भारत अमेरिका शत्रुता काल तथा
(6) 1974 से 1977 तक—सहज सम्बन्ध काल।

(1) सहज सामान्य सम्बन्ध काल (1947 से 1952 तक)—स्वतन्त्र भारत और अमेरिका के 5 वर्ष तक सम्बन्धों को हम न मित्रतापूर्ण कह सकते हैं और शत्रुतापूर्ण। वे एक-दूसरे को समझने का प्रयास करने में लगे रहे। डा० आर० पी० कौशिक ने इस काल के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "दोनों देशों के एक दूसरे के प्रति रवैये में समय-समय पर समस्या-समस्या पर अन्तर होता रहा। इन सम्बन्धों में तो एक दूसरे के पक्ष में और न ही विपक्ष में कहना उचित होगा।"

भारत ने अपने देश को एक गणतन्त्र घोषित करके अमेरिकनों की सहानुभूति अर्जित की थी पर भारत का महत्त्व अमेरिका चीन की अपेक्षा कम समझता था। उसका ध्यान अधिकांश चीन पर लगा था जहाँ राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों में संघर्ष हो रहा था। अमेरिका की सहानुभूति राष्ट्रवादियों की ओर थी अतः वह उन्हें धन, शस्त्र एवं अन्य सामग्रियों में सहायता कर रहा था। साम्यवादी दल की सहायता रूस कर रहा था। चूँकि रूस साम्यवाद से चिढ़ता था अतः वह चीन में राष्ट्रवादी शासन की स्थापना कराने का प्रयत्न कर रहा था। अमेरिका यूरोप में साम्यवादी प्रचार एवं प्रसार को रोकने के लिए "मार्शल योजना के अनुसार यूरोपीय गैर साम्यवादी राज्यों की आर्थिक सहायता में लगा था। उसे भारत के प्रति कोई विशेष रुचि न थी।

1949 में चीन पर साम्यवादियों का अधिकार हो गया। राष्ट्रवादी भाग कर फारमूसा में जा बसे। इस घटना से अमेरिका को बड़ा धक्का लगा। एशिया में अमेरिका का आधार स्तम्भ ही ढह गया। इसके बाद ही अमेरिकन राजनीतिज्ञों का ध्यान भारत की ओर आकर्षित हुआ। 1949 में अमेरिकन राष्ट्रपति ने भारत के प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू को अमेरिका आने का निमन्त्रण भेजा। इस निमन्त्रण के विषय में अमेरिकन पत्रकार वाल्टर लिपमैन का एक सुझाव निहित था। लिपमैन ने एक लेख लिखा था कि "जबकि एशिया में नीदरलैण्ड (हालैण्ड), फ्रांस एवं राष्ट्रवादी चीन असफल हो गये, उस हालत में हम मित्रों को तलाश कहाँ करें? एशिया में अमेरिकी नीति के निर्धारण के लिए इस मौलिक प्रश्न का समाधान आवश्यक है। मैं यही कहूँगा कि अब हम लोगों को नेहरू की ओर देखना चाहिए। हमारी समस्याओं के समाधान की कुञ्जी उन्हीं के पास है।"

पं० नेहरू का यद्यपि झुकाव रूस और चीन के प्रति अधिक था पर भारत बँटवारे, शरणार्थियों की समस्या एवं भारत की विकास योजना के कारण आर्थिक संकट में फँसा था अत: पं० नेहरू ने अमेरिकन निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। अक्टूबर 1949 में वे अमेरिका पहुँच गये। वहाँ उनका भव्य स्वागत हुआ।

पं० नेहरू ने अपने भाषणों में अमेरिका के राष्ट्र निर्माताओं को विशेषकर राष्ट्रपति एवं लिंकन की स्तुति की तथा बताया कि इन महापुरुषों के आदर्शों पर चलकर अमेरिका इतना महान और शक्तिशाली बना है। साथ मे उन्होने भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की भी स्तुति की जिनके नैतिक आदर्शों और उन्हें प्राप्त करने के उच्च साधनो पर जोर देने पर भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। उन्होने यह भी स्पष्ट किया कि भारत ने असलग्नता की विदेश नीति क्यों अपनाई ? उन्होने 13 अक्टूबर 1949 को अमेरिका कांग्रेस (संसद) के सामने बोलते हुए कहा कि "हमारी विदेश नीति का उद्देश्य शान्ति की सुरक्षा तथा मानव स्वतन्त्रता का विस्तार है………हमने वास्तविकता की ओर से आँखें नही बन्द कर रखी है। मानव स्वतन्त्रता को खतरा कही से भी उत्पन्न हो, उसके सामने हम नही झुकेंगे। जहाँ स्वाधीनता संकट में हो, न्याय खतरे में हो, आक्रमण की घटना हुई हो, हम वहाँ न तटस्थ रह सकते हैं और न तटस्थ रहेंगे।"

इसके आगे पं० नेहरू ने बताया कि "जिस बात को हम दृढ़तापूर्वक व्यवहार मे लाने का प्रयास कर रहे है, वह हमारा न हिलने वाला शान्ति मे विश्वास है तथा उसको बनाये रखने के लिए हम लगातार विचार और कार्यवाही की दृष्टि से प्रयत्नशील हैं। मेरा विचार है कि अमेरिका का महान लोकतन्त्र जीवन की समस्याओं की ओर हमारा जो दृष्टिकोण है, उसकी प्रशंसा करेगा और उसको भली-भाँति समझेगा। हमारे दोनों देशों के बीच मे मित्रता तथा सहयोग स्वाभाविक है।"

यद्यपि प० नेहरू की अमेरिका की यात्रा से भारत और अमेरिका काफी निकट आये पर अमेरिका तटस्थता नीति से खुश न हुआ वह तो चाहता था कि भारत उसके गुट मे मिलकर उसका समर्थन करे। अमेरिका ने पहले भी कहा था कि जो देश हमारे साथ है वह हमारा मित्र है और जो हमारे साथ नही (गुट मे नही) वह हमारा शत्रु है। अमेरिका पहले ही से भारत की तटस्थ नीति को साम्यवादी समर्थित मानता था। जब भारत ने 30 दिसम्बर 1949 को चीन की जनवादी सरकार को मान्यता देदी, तो उसकी (अमेरिका का) शका विश्वास मे बदल गयी। उसने भारत की ओर उपेक्षा की दृष्टि अपनाई।

इसके बाद अमेरिका का ध्यान पाकिस्तान की ओर गया। पाकिस्तान जो "मोटी मुर्गी फासने" के लिए लालायत था। कश्मीर के मामने मे यह अमेरिका भारत विरोधी दृष्टिकोण देख चुका था अत: यह अमेरिका को वाक् जाल में फांसना चाहता था। 1950 मे पाकिस्तान के प्रधान-मन्त्री लियाकत अली खाँ अमेरिकन यात्रा पर रवाना हुये। उन्होंने अपने भाषणो मे अमेरिका की स्तुति की और उससे पाकिस्तान की मित्रता की आशा की क्योकि दोनो देशों का दृष्टिकोण समान है। अमेरिकन कांग्रेस के सामने बोलते हुए श्री लियाकत अली ने कहा कि 'उनका देश निजी व्यापार के प्रति प्रतिबन्धित है तथा साम्यवाद का पाकिस्तान की इस्लामी विचारधारा से सीधा विरोध है।" यह विचार अमेरिका को बहुत पसन्द आये। सैनेट के अध्यक्ष एल्बन वर्कले ने लियाकत अली के चापलूसी भरे शब्दों से गद्गद होकर कहा कि "किसी भी देश के नेता ने सुन्दर और प्रेरणादायी भाषण नही दिया, जितना कि पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री ने।"

इतना होने पर भी अमेरिका पाकिस्तान की अपेक्षा भारत को आकर्षित पसन्द करता था। डा० वेंकटरमण के शब्दों में, "इस काल में सयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में भारत को मित्र बनाने के लिए अधिक उत्सुक था।"

जून 1950 में उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। अमेरिकन सार्वों द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्ताव रखा गया कि उत्तरी कोरिया आक्रामक है और उसे इस आक्रमण को समाप्त करना चाहिए। भारत ने भी इस प्रस्ताव के समर्थन में मत दिया। अमेरिका इससे बहुत खुश हुआ। अमेरिकन समाचार पत्रों में भारत की प्रशंसा में अग्रलेख लिखे गये। न्यूयार्क टाईम्स ने भारत को "गांधी का देश" एवं भारत की आवाज को "मानवता की आवाज" कहा।

अमेरिका में भारत के प्रति जब अनुराग बढ़ रहा था तब एक घटना और घटी जिससे अमेरिकन जोश ठण्डा पड़ गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में जब अमेरिका ने "शान्ति के लिये एकता" का प्रस्ताव रखा तो भारत ने उसके विपक्ष में मत दिया। इतना ही नहीं जब संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनायें कोरिया में साम्यवादी सेनाओं को खदेड़ते हुए 38° अक्षांश को पार कर गई तो भारत ने उसका तीव्र विरोध किया। यह बातें अमेरिकी रुचि के अनुसार न थीं। अमेरिकन पत्रों ने रुख बदल कर भारत की आलोचना प्रारम्भ कर दी। इतना होने पर भी अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन निराश नहीं हुए और वे भारत की मित्रता पाने के इच्छुक रहे अतः 1951 में जब भारत में अन्न संकट आया तो अमेरिकन कांग्रेस का विरोध करते हुए भी भारत को उदार शर्तों पर अन्न दिया। इसके साथ-साथ भारत को पंचवर्षीय योजना के लिए विपुल धन राशि भी प्रदान की। दूसरी ओर इस योजना के लिए रूस की ओर से भारत को कोई आर्थिक सहायता नहीं मिली। इस प्रकार भारत पर अमेरिका ने एहसान लाद दिया और आशा की कि भारत अब अमेरिका के विरुद्ध न बोलेगा।

(2) अमित्रता पूर्ण सम्बन्ध (1953-60)—भारत जैसा स्वतन्त्र पक्षी अमेरिका को सोने के पिंजड़े की तरफ आकर्षित होता नहीं दीखता था। काश्मीर के मामले में अमेरिका ने एक ओर भारत का पक्ष लिया अर्थात् "काश्मीर के भारत के अन्दर विलय को विधिवत बताया था पर दूसरी ओर पाकिस्तान के पक्ष में यह कहा था कि "पाकिस्तान को आक्रमणकारी देश नहीं ठहराया जा सकता है।" उसने प्रस्ताव रखा था कि दोनों देश आपस में मिल कर काश्मीर समस्या का कोई हल खोज लें। 13 अगस्त 1948 से 5 जनवरी 1949 तक जितने भी प्रस्ताव सुरक्षा परिषद में अमेरिका की ओर से रखे गये (काश्मीर सम्बन्धी), उन्हे भारत ने स्वीकार किया। पर वह एक प्रश्न पर अड़ा रहा कि जब तक पूर्ण काश्मीर से पाकिस्तानी सेनायें नहीं हट जातीं तब तक काश्मीर में जनमत नहीं कराया जा सकता है। इस प्रकार भारत अमेरिका के खट्टे-मीठे सम्बन्ध 1952 तक चलते रहे पर 1952 में राष्ट्रपति के चुनाव में आइजनहावर की विजय से दोनों देशों के सम्बन्धों में बिगाड़ पैदा हो गया। अमेरिका कोरिया के मामले में भी भारत के दृष्टिकोण से सहमत न था। संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना में भारत ने अपनी सैनिक टुकड़ी भी नहीं भेजी थी। इसके अतिरिक्त अमेरिका ने चीन को आक्रमणकारी घोषित करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ में एक प्रस्ताव रखा था, पर भारत ने इस प्रस्ताव का कड़ा विरोध किया था। इन बातों से अमेरिका भारत से नाराज था। नये विदेश सचिव डलेस का रुख भारत विरोधी था। वे भारत की असंलग्न नीति को अव्यावहारिक कह चुके थे अतः यह शंका थी कि भारत को छोड़ वे पाकिस्तान की ओर झुकेंगे। इन दिनों अमेरिका में 'मैकार्थीवाद' अर्थात साम्यवाद विरोधी आन्दोलन चल रहा था। इसी बीच 1953 में रूस ने हाइड्रोजन बम का परीक्षण किया। इससे अमेरिका आतंकित हो उठा। उसे यह भी पता चला कि रूस ने तेज गति से उड़ने वाले तथा दूर-दूर तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्र भी बना लिए हैं। अपने को असुरक्षित पाकर उसने रूस का घेरा डालने के लिए सैनिक संगठनों का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। डलेस भारत भी आये और भारत को सैनिक संगठन में सम्मिलित होने के लिए परामर्श देने लगे पर भारत अपनी गुट-निरपेक्ष

नीति पर अड़ा रहा और उसने किसी सैनिक संगठन मे सम्मिलित न होने का फैसला किया। इस प्रकार अमेरिका के भारत को मित्र बनाने के प्रयास समाप्त हुए।

(1) पाकिस्तान मे 1953 मे मोहम्मद अली बोगरा नये प्रधानमन्त्री बने। वे पहले अमेरिका मे पाकिस्तान के राजदूत भी रह चुके थे। वे चाहते थे कि अमेरिका और पाकिस्तान मे कोई मित्रता की सधि हो जाये। जब डलेस भारत के बाद पाकिस्तान पहुँचे तो मोहम्मद अली ने उन्हें साम्यवादी विरोधी आन्दोलन मे अमेरिका को पूरा सहयोग देने का वचन दिया। स्वदेश लौटने पर डलेस ने अमेरिका के राष्ट्रपति को बताया कि *'मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि पाकिस्तान* के नेता अमेरिका के प्रति महत्वपूर्ण और ईमानदार दोस्ती की भावना रखते हैं। विश्व समस्याओं की उनके समझ से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूं।" मुझे विश्वास है कि वे अपनी शक्ति के अनुरूप साम्यवाद के आतंक को रोकने का प्रयास करेंगे।"

रूस के हाईड्रोजन बम के विस्फोट के बाद पाकिस्तान के गवर्नर जनरल और प्रधानमन्त्री अमेरिका की यात्रा पर गये। वे सैनिक सहायता पाने के चक्कर में थे ताकि वे भारत से अधिक शक्ति प्राप्त कर काश्मीर पर कब्जा जमा सकें। अतः सैनिक सन्धि के विषय में पाकिस्तानी नेताओं ने अमेरिकन नेताओं से बातचीत की और सैनिक संधि करने की अपनी इच्छा व्यक्त की। पं० जवाहर लाल नेहरू ने उसी समय दोनो को चेतावनी देते हुए कहा कि "यह भारत के लिए बहुत ही गम्भीर चिन्ता की बात है। इसके सम्पूर्ण दक्षिण एशिया पर तथा विशेष रूप से भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धो पर गम्भीर परिणाम होगे।" परन्तु पाकिस्तान एव अमेरिका ने पं० नेहरू की चेतावनी की कोई परवाह न कर 19 मई 1954 को कराची में "अमेरिका-पाकिस्तान सैनिक संधि" हो गई। इसके एक वर्ष बाद पाकिस्तान 'सीयटो' का सदस्य भी बन गया।" इस सैनिक गठबन्धन का प्रभाव यह हुआ कि भारत और अमेरिका के मध्य कटु सम्बन्ध उत्पन्न हो गये।

1956 मे इन सैनिक संधियों के विषय मे लोक सभा में बोलते हुए पं० नेहरू ने कहा था कि "यह स्पष्ट है कि बगदाद पैक्ट (सीयटो) जैसी सैनिक सधियो की धारणा एक गलत धारणा है, खतरनाक धारणा है तथा एक हानिकारक धारणा है। इससे सभी गलत प्रवृत्तियों को गति मिलती है तथा अच्छी प्रवृत्तियां अवरुद्ध होती हैं। ..." भारत मे ही नहीं अमेरिका मे भी कुछ सीनेटर पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने के विरुद्ध थे। सैन्टलुई पोस्ट डिस्पैच ने कहा था कि "भारतीय उपमहाद्वीप मे शान्ति और सद्भावना सौ सैनिक अड्डो से भी ज्यादा मूल्यवान है।" क्रिश्चियन साईस मानिटर ने लिखा—"भारत मे अमेरिका विरोधी लहर सारे देश मे छा गई है।" राजदूत जार्ज ऐलन ने भी अमेरिका को चेतावनी दी थी कि "यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर 95% अथवा इससे भी अधिक भारतीय अमेरिका के विरोध में सगठित हैं। यह है पाकिस्तान को अमेरिकी सैनिक सहायता। इस प्रश्न पर वे सब अमेरिका के विरुद्ध है।"

(2) अमेरिकी और भारत में कड़ुआहट जापान के प्रश्न पर भी चल रही थी। जापान पर अमेरिकी ने 7 वर्ष तक शासन किया। रूसी खतरे को बढ़ता देख अमेरिका ने जापान को स्वतन्त्र करना चाहा पर उसके संविधान को इस प्रकार बनाया गया कि उस पर सदैव अमेरिकन प्रभुत्व छाया रहे। अमेरिका ने उक्त सविधान के मसविदे को 20 जुलाई 1951 को जापान के विरुद्ध लड़ने वाले 51 देशों को भेजा तथा उन्हें सांफिसिस्को सम्मेलन मे आने का निमन्त्रण भेजा पं० नेहरू ने उक्त संविधान के प्रारूप का कड़े शब्दों मे विरोध किया तथा उसमे कुछ सशो करने के लिए अपने सुझाव भी रखे तथा उन्होने सान्फ्रासिस्को सम्मेलन मे न होने सुचना भी अमेरिका को दे दी। इतना ही नही 9 जुन 1952 को भारत ने ... न संधि कर ली। इससे अमेरिका में बड़ा रोष फैला।

(3) भारत और अमेरिका का विरोध हिन्द चीन के प्रश्न पर भी चल रहा था। हिन्द-चीन फ्रांस का उपनिवेश था पर द्वितीय विश्व युद्ध में वह फ्रांस के हाथों से निकल गया। जापान के हथियार डालने पर फ्रास ने वहाँ पुन: कब्जा कर लिया पर हिन्दचीन ने इस कब्जे के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 1954 में फ्रांस ने अमेरिका से इस विद्रोह को कुचलने के लिए सहायता माँगी। हिन्दचीन पर चीन की निगाह थी। अमेरिकन सचिव जान फास्टर डलेस यह जानता था कि फ्रांस की हिन्दचीन में सहायता का अर्थ चीन से युद्ध करना होगा। पर वह हिन्दचीन को साम्यवादियों के हाथ मे पड़ने देना नहीं चाहता था। अत: उसने चीन से युद्ध मोल ले लिया। हिन्द चीन में युद्ध छिड़ गया। भारत ने इस युद्ध को रोकने के लिए 6 सूत्री सुझाव रखे पर अमेरिका ने इसका अर्थ उलटा समझा। उसका विरोध किया गया। जेनेवा सम्मेलन में भी भारत के सुझाव अमेरिका के विरोध के बावजूद मान लिये गए। अमेरिका ने पं० नेहरू को साम्यवाद का समर्थक बताया।

(4) चीन पर जब से साम्यवादी सत्ता स्थापित हुई थी तब से वह अमेरिका का कट्टर शत्रु बन गया था। उसने अपनी सैनिक शक्ति का विकास कर लिया था। उसने तिब्बत पर भी अपना अधिकार जमा लिया था। भारत के कुछ विशेष हित तिब्बत में थे जिन्हें उसे ब्रिटिश सरकार के उत्तराधिकारी के रूप में मिले थे। अमेरिका को विश्वास था कि भारत तिब्बत में चीन के विस्तार का विरोध करेगा पर जब उसने देखा कि 1854 में भारत और चीन की पंचशील संधि हो गई तथा तिब्बत पर भारत ने चीन का अधिकार मान लिया तो उसे बड़ी निराशा हुई।

(5) भारत ने अमेरिका द्वारा स्थापित नाटो, सीयटो तथा सेन्टो के सैनिक संगठनों का भी विरोध किया और उन्हें विश्व शान्ति के लिए खतरनाक बताया। अमेरिका ने भारत की नीति को अपने मूल सिद्धान्तो के विपरीत बताया।

(6) अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने एवं कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान का समर्थन करने से भारत अमेरिका से नाराज हो गया। पाकिस्तान और अमेरिका की जब से सैनिक एवं सुरक्षा सन्धि हुई तब से अमेरिका पाकिस्तान को सैनिक और आर्थिक सहायता बड़ी भारी मात्रा मे दे रहा था। पेशावर का अड्डा अमेरिका को मिल गया था। पाकिस्तान की एक रट थी कि काश्मीर में जनमत सग्रह होना चाहिए। अमेरिका ने सुरक्षा परिषद में इस माँग का समर्थन किया। अमेरिका ने 1957 मे दो बार काश्मीर का प्रस्ताव सुरक्षा परिषद मे रखा। भारत ने काश्मीर के लिए 1957 में नया विधान लागू करना चाहा। पाकिस्तान ने इसका विरोध किया। अमेरिका ने पाकिस्तान का समर्थन करते हुए काश्मीर में संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना भेजने तथा जनमत संग्रह करने का सुझाव रखा। रूस ने उस प्रस्ताव पर निषेधाधिकार का प्रयोग किया। अमेरिका जहाँ पाकिस्तान का खुला पक्ष, काश्मीर के मामले में लेता था वहाँ रूस खुले रूप में भारत का समर्थन करता था। भारत रूस की ओर बढ़ रहा था या अमेरिका उसे जबरन रूस के कैम्प में धकेल रहा था।

(6) विरोध करते हुए भी अमेरिका भारत को रूसी गुट में नहीं देखना चाहता था अत: वह भारत को आर्थिक सहायता भी दे रहा था उसने 1954-55 मे भारत को 8·5 करोड़ डालर 1955- 6 में 6 8 करोड़ डालर, 1956-57 में 5·8 करोड़ डालर और 1957-58 में 8 करोड़ डालर की सहायता दी तथा 480 पी० एल० के अन्तर्गत खाद्यान्न और डेरी का सामान भी दिया। 1960 मे अमेरिका ने नहर-पानी विवाद में विपुल राशि भारत को प्रदान की। इस अनोखी नीति पर भारत के राजदूत श्री एम० सी० छागला ने कहा था कि "संयुक्त राज्य अमेरिका अपने हाथ से स्वयं अपने दूसरे हाथ का कार्य नष्ट कर रहा है। वह भारत को करोड़ों और अरबों डालर से सहायता इसलिए कर रहा है ताकि उसका औद्योगिक विकास हो सके, साथ ही वह हमारे विरोधी देशों को शस्त्र देकर हमें इस बात के लिए बाध्य कर रहा है कि हम अपनी

प्रतिरक्षा के लिए अधिक व्यय करें और इस प्रकार हमारे वे साधन जिनका हमारे देश की जनता के कल्याण के लिए उपयोग होना चाहिए था, शस्त्रास्त्र के उत्पादन में व्यय हो रहा है।"

(7) राष्ट्रपति आइजन हावर ने 1956 में भारत के प्रधानमन्त्री को अमेरिका की यात्रा का निमन्त्रण दिया। पं० नेहरू अमेरिका गये और एक सप्ताह वहां रहे। इन दिनों में तीन बार नेहरू-आइजनहावर वार्ता अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर हुई। आइजनहावर ने बार-बार यह विश्वास दिलाया कि पाकिस्तान अमेरिकन अस्त्रों को भारत के विरुद्ध प्रयोग न करेगा। प० नेहरू जानते थे कि युद्ध के समय इन आश्वासनों का कोई अर्थ न रहेगा। पर वे बहस में नहीं पड़ना चाहते थे। 18 दिसम्बर, 1956 को अमेरिकी जनता के नाम रेडियो एवं टेलीविजन पर प्रसारित एक सन्देश में नेहरू जी ने कहा था कि "भारत और अमेरिका के बीच स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ही मित्रतापूर्ण और सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध थे। कोई भी भारतीय यह नहीं भूल सकता कि हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों मे आपके देश से हमे पूरी तरह सहयोग और सहानुभूति प्राप्त हुई ······ हमने अपने देश में जो महान कार्य आरम्भ किया है। उसके लिए हम आपकी मित्रता, सहयोग और सहानुभूति की कामना करते हैं।"

पं० नेहरू ने चलते समय राष्ट्रपति आइजन हावर को भी अपने देश मे आने का निमंत्रण दिया। तीन वर्ष बाद आइजन हावर भारत आये। उस समय चीन-भारत सीमा विवाद उग्ररूप धारण कर चुका था। 9 दिसम्बर 1959 को आइजन हावर भारत आये। उनका भव्य-स्वागत किया गया। दिल्ली विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर आफ ला' की उपाधि से विभूषित किया 10 दिसम्बर 1956 को आइजन हावर ने भारतीय ससद के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए कहा कि "मैं यहाँ एक मित्र के रूप में आया हूँ और भारत के अठारह करोड़ मित्रों की ओर से बोल रहा हूं। कई वर्ष की अपनी कामना को साकार करते हुए, मैं व्यक्तिगत रूप से भारतीय जनता के प्रति अमेरिका का अभिवादन प्रस्तुत करता हूँ और भारतीय संस्कृति उनकी प्रगति, उनकी शक्ति का अभिवादन करता हूं। सम्पूर्ण मानवता इस राष्ट्र की ऋणी है।"

(8) भारत और अमेरिका में 1953-60 के काल में सम्बन्धों में उतार-चढ़ाव होता रहा। आइजनहावर एवं डलेस दोनों "लात मारना और चूमना" की कहावत के अनुसार भारत को अपने गुट में करने और रूसी गुट से दूर रहने का प्रयत्न करते रहे। पाकिस्तान की अन्धाधुन्ध सहायता करके और काश्मीर पर पाकिस्तान का समर्थन करके अमेरिका ने भारत विरोधी कार्य ही किया।

(3) **मित्रतापूर्ण सम्बन्ध** (1961-64)—कुन्हीं कृष्णा ने एक पुस्तक अमेरिका विरोधी लिखी जिसका शीर्षक ' The unfriendly Friend" था। उसने लिखा है कि "व्हाइट हाउस मे जान एफ कैनेडी के प्रवेश के बाद कुछ समय के लिए भारत अमेरिका का अत्यन्त प्रिय देश हो गया। अमेरिकी संसद के सम्मुख अपने प्रथम भाषण में उन्होंने नेहरू के उच्च आदर्शवाद की सार्वजनिक रूप से प्रशंसा की।"

नवम्बर 1960 के राष्ट्रपति चुनाव में जान एफ कैनेडी को सफलता प्राप्त हुई। उनका चुनाव से पूर्व ही भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण भाव था। वे एक आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थवादी थे। थे। उन्होंने सीनेटर के रूप में पाकिस्तान को दी जाने वाली सहायता का भी विरोध किया था। कैनेडी ने भारत-चीन के सीमा विवाद का भी गहरा अध्ययन किया था। वे इसे सीमा विवाद न मानकर एशिया के नेतृत्व का संघर्ष मानते थे। वे इन संघर्ष मे भारत की पूरी सहायता करना चाहते थे। उन्होंने चुनाव से पूर्व ही कहा था कि "भारत और चीन के बीच वास्तविक संघर्ष पूर्व के आर्थिक और राजनीतिक नेतृत्व का है। सम्पूर्ण एशिया में सम्मान पाने का है, यह सिद्ध करने का है कि किस की जीवन पद्धति क्या अच्छी है।·······भारत ने मानव सम्मान और व्यक्तिगत

स्वतन्त्रता का मार्ग अपनाया है और लाल चीन का मार्ग निरंकुश नियन्त्रण और मानव अधिकारों के हनन का मार्ग है।"

श्री कैनेडी ने अपने भाषण में आगे कहा था कि "हम चाहते है कि लाल चीन और भारत की इस प्रतिस्पर्धा, मे भारत विजयी हो हम चाहते हैं कि एक मुक्त और उभरते हुए एशिया का नेतृत्व, मुक्त और उभरता हुआ भारत करे।"

कैनेडी के काल में दोनों देशों के सम्बन्ध इस प्रकार रहे।

(1) कैनेडी के काल में अमेरिका ने पाकिस्तान का खुला समर्थन बन्द कर दिया। कैनेडी चाहते थे कि भारत और पाकिस्तान दोनों मिलकर काश्मीर समस्या को सुलझा लें। पाकिस्तान चाहता था कि कैनेडी भारत पर दबाव डाल कर शेष काश्मीर भी उसे दिला दें। कैनेडी ने इसके लिए साफ इन्कार कर दिया। फरवरी 1961 में कैनेडी के विशेष दूत बाव्वरल हैरीमेन पाकिस्तान मे राष्ट्रपति अयूब से मिले। राष्ट्रपति अयूब ने कहा कि अमेरिका काश्मीर समस्या का समाधान करे। हैरीमेन ने लाहोर मे एक पत्रकार सम्मेलन में काश्मीर के बारे में कहा—"हम इस विवाद मे अब उलझना नही चाहते हैं।" दो महीने बाद उपराष्ट्रपति जानसन भी पाकिस्तान गये। उन्होंने भी पाकिस्तान से काश्मीर के विषय मे कोई वायदा करने से इन्कार कर दिया।

(2) जबकि कश्मीर के मामले मे अमेरिकन सरकार का रुख बदल रहा था, उसी समय एक घटना ऐसी घट गई कि भारत एव अमेरिका के मध्य पुनः मन-मुटाव का वातावरण व्याप्त हो गया। यह घटना गोवा की मुक्ति की थी। 18 दिसम्बर 1961 को भारतीय सेना ने गोआ को मुक्त करा लिया। वैसे यह अभिनन्दनीय कार्य था। रूस तथा अनेक देशों ने इस कार्य की प्रशंसा की पर अमेरिका के सयुक्त राष्ट्र संघ में प्रतिनिधि अड्लाई स्टीवेन्सन ने भारत के इस कार्य की निन्दा की और इसे "संयुक्त राष्ट्र सघ के अन्त का आरम्भ" कहा। परन्तु राष्ट्रपति कैनेडी ने इस घटना को बढ़ावा न दिया और काश्मीर के मामले मे पाकिस्तान के विरुद्ध भारत का पक्ष समर्थन किया।

(1) 1962 में पाकिस्तानी राष्ट्रपति अय्यूब खाँ अमेरिका गये। पाकिस्तानी राष्ट्रपति अय्यूब खाँ और अमेरिकन राष्ट्रपति कैनेडी की एक सयुक्त विज्ञप्ति जारी हुई। डा० वेंकट रमणी के शब्दों में "दोनो की बातचीत के पश्चात् सयुक्त विज्ञप्ति मे काश्मीर में वही आपत्तिबद्ध (Non-Committal) उल्लेख किया गया।"

श्री अय्यूब खाँ काश्मीर के सम्बन्ध मे अमेरिका दृष्टिकोण से दुखी होकर बोले—"क्या अमेरिका का दोस्त होने से हम कोई लाभ है ?"

(2) चीन और पाकिस्तान के सम्बन्ध बढ़ रहे थे। अक्टूबर 1962 मे चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि इस आक्रमण को सम्भावना विरोधी नेताओ का 1958 से ही थी पर पं० नेहरू चीन के अन्य भक्त थे। अतः उन्होने तथा चीन के पक्के मित्र भारत रक्षा मन्त्री मेनन ने चीन के आक्रमण के विरुद्ध कोई तैयारी न की थी। पर राष्ट्रपति कैनेडी चीन के विरुद्ध पहले ही थे और भारत का पक्ष ले रहे थे। उन्होने भारत को पर्याप्त सहायता दी। भारत चाहता था कि पाकिस्तान भारत को चीन के आक्रमण के समय यह वचन दे कि वह काश्मीर पर आक्रमण न करेगा। इस विषय मे प० नेहरू ने राष्ट्रपति कैनेडी से भी दबाव डलवाना चाहा। राष्ट्रपति कैनेडी तैयार हो गये और उन्होने राष्ट्रपति अय्यूब खाँ को एक आवश्यक पत्र लिखा कि वह भारत को ऐसा आश्वासन दे दे। पर अय्यूब खाँ ने अमेरिकन राष्ट्रपति की बात को स्वीकार न किया।

भारत की सहायता पश्चिमी गुट ने की विश्व जनमत भी चीन के विरुद्ध अमेरिका तो चीन से युद्ध छेड़ने को भी तैयार था। 1976 की 'नई दुनिया' में दो सौ वीं क्रान्ति जयन्ती"

पर लेख निकला जिसमें बताया गया कि "अमेरिका हस्तक्षेप का यदि भय न होता तो 1962 में नेफा पर हमला करने वाली चीनी सेनायें कलकत्ता आने की योजना बना सकती थी।" स्वय श्री नेहरू ने अप्रैल 1963 के "फारन अफेयर्स" में एक लेख 'बदलता भारत' (Changing India) के शीर्षक से निकाला जिसमें कहा गया कि "........वर्तमान सकट मे भारत ने मित्र देशों से सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता मांगी तथा अमेरिका एवं ब्रिटेन ने जिस तत्परता से भारत की सहायता की, उसकी भारत सरकार तथा भारत के महत्वपूर्ण नेताओं ने हार्दिक सराहना की है।"

भारत और अमेरिका की मित्रता का यह अध्याय एक संक्षिप्त अध्याय रहा क्योंकि राष्ट्रपति कैनेडी की 22 नवम्बर 1963 को किसी अमेरिकन ने गोली मार कर हत्या कर दी।

(4) **उदासीनता का काल (1964-68)**—राष्ट्रपति कैनेडी के बाद उपराष्ट्रपति लिण्डन जानसन अमेरिका के राष्ट्रपति बने। यद्यपि दोनो एक दल के सदस्य थे पर दोनों मे बड़ा अन्तर था। उनकी व्यक्तित्व एव विचारधारा मे अन्तर थे। जानसन ने शीघ्र ही कैनेडी का मार्ग छोड़ पाकिस्तान का पक्ष लेना प्रारम्भ कर दिया। इस काल मे अमेरिका एवं भारत के सम्बन्ध निम्न प्रकार के रहे :

(i) लिण्डन जानसन के काल मे वियतनाम की समस्या बडी जटिल हो गई। उत्तरी वियतनाम साम्यवादी था और दक्षिणी वियतनाम दक्षिण-पन्थी था। उत्तरी वियतनाम जबरन दक्षिण वियतनाम को साम्यवादी बनाना चाहता था। उसे रूस और चीन पूण सहायता कर रहे थे। उसकी सहायता से यह अमेरिकन सेनाओं से 20 वर्षों तक लड़ता रहा। अमेरिका के लाखों सैनिक और अरबो रुपया इस युद्ध मे फूंक चुके थे फिर भी वहां सफलता का कोई लक्षण नही दिखाई देता था। जानसन ने इस युद्ध मे सफलता प्राप्त करने का असफल प्रयत्न किया।

भारत वियतनाम युद्ध में अमेरिका के विरुद्ध था और साम्यवादियो के पक्ष मे था। जैसे जैसे उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकन बमबारी बढ़ती गई, भारत की अमेरिकन आलोचना भी बढ़ती गई। अमेरिका इस आलोचना को भारत की असलग्नता की नीति के विरुद्ध मानता था अतः भारत और अमेरिका के सम्बन्ध बिगड़ने प्रारम्भ हो गये।

(ii) 1965 मे भारत और पाकिस्तान युद्ध छिड़ गया। यद्यपि अमेरिका पाकिस्तान और चीन की मित्रता के विरुद्ध था पर भारत की अमेरिका विरोधी नीति के कारण उसने अपने पुराने मित्र पाकिस्तान का समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया। पाकिस्तान को यह भ्रम था कि इस लड़ाई मे चीन और अमेरिका उसकी मदद करेंगे पर दोनों मित्रों से उसे सहायता न मिली अतः 22 दिन के युद्ध मे वह भारत से हार गया।

परन्तु भारत अमेरिका से नाराज था क्योंकि अमेरिका ने जो शस्त्र पाकिस्तान को दिये और भारत को आश्वासन दिया कि इनका प्रयोग भारत के विरुद्ध न होगा। वे आश्वासन सब गलत सिद्ध हुए। पाकिस्तान ने अमेरिकन शस्त्रो का पाक-भारत युद्ध में खुलकर प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त अमेरिकन ने सुरक्षा परिषद में जो युद्ध विराम का प्रस्ताव रखा इसमें भारत एवं पाक को एक ही बांट से तोला। इससे भारत मे अमेरिका के प्रति रोष फैला। इसके बाद अमेरिका ने भारत के प्रति उदासीनता की नीति अपनायी रूस ने मध्यस्थ बन दोनों देशों (पाक-भारत) में ताशकन्द की संधि करादी। रूस और अमेरिका दोनो ने ही इस सन्धि की प्रशसा की।

(iii) अप्रैल 1965 में लालबहादुर शास्त्री अमेरिका जाने वाले थे और उसी समय अय्यूब खाँ भी अमेरिका जाने वाले थे। जानसन ने दोनों नेताओ से अमेरिका न आने का अनुरोध किया। ताशकन्द में ही लालबहादुर शास्त्री का निधन 11 जनवरी 1966 को हो गया। भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी बनी।

जानसन पाकिस्तान और भारत को समान स्तर पर रखना चाहता था। उसने पाकिस्तान को सैनिक सामग्री फिर देना प्रारम्भ कर दिया और दूसरी ओर श्रीमती गांधी को अमेरिका आने का निमन्त्रण भेजा 28 मई 1965 को श्रीमती गांधी अमेरिका पहुँचीं। श्रीमती गांधी का रुख रूस की ओर झुका था पर नया-नया पद होने से वे अमेरिका को भी खुश करना चाहती थीं। उन्होंने अमेरिका में संयत भाषा का प्रयोग किया। राजकीय भोज के अवसर पर श्रीमती गांधी ने कहा कि "भारत में महान परिवर्तन हो रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने हमें निर्धनता, भूख, निरक्षरता, तथा बीमारी के विरुद्ध बहुत बहुमूल्य सहायता दी है। हम इस मैत्री पूर्ण कार्य के लिए आपके आभारी हैं। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि हमारा समाज केवल हमारी ही प्रयत्नों पर आधारित हो सकता है। हमें इसे करने के लिए कृत संकल्प है"......"यदि भारत स्थिर, संगठित तथा लोकतान्त्रिक रहता है तो इससे एक महान उद्देश्य की सिद्धि होगी। यदि भारत में स्थिरता नहीं है, यदि यह असफल हो जाता है तो यह सारी लोक-तन्त्रात्मक पद्धति की असफलता होगी। जिन मूल्यों को हम और आप बहुत महत्व देते हैं, यह उन मूल्यों की असफलता होगी।"

(iv) इस यात्रा से भारत और अमेरिका में बहुत से भ्रांतियाँ दूर हुईं और वे एक दूसरे के अधिक निकट आये। अमेरिका द्वारा भारत को भारी मात्रा में आर्थिक सहायता मिलने लगी। 1967-68 में जब भारत में अन्न संकट उत्पन्न हुआ तो प्रथम वर्ष में 47 लाख टन एवं दूसरे वर्ष में 40 लाख टन अन्न भारत को अमेरिका से मिला। इतना होने पर भी जानसन भारत की अन्य समस्याओं के प्रति उदासीन ही रहे। वियतनाम में उनकी घोर असफलता प्राप्त हुई। अमेरिका जनता उनका कड़ा विरोध करने लगी। 1968 के चुनाव में वह राष्ट्रपति पद के लिए लड़े ही नहीं।

(5) भारत-अमेरिका शत्रुता (1969-72)—(1) 1968 में अमेरिका के राष्ट्रपति श्री निक्सन बने। वे आइजनहावर के काल में अमेरिका के उप राष्ट्रपति रह चुके थे। भारत विरोधी संधियों एवं नीतियों के वे भी साझीदार थे। निक्सन के निजी सचिव और बाद में विदेश सचिव हैरी किसिंजर अमेरिका की विदेश नीति के संचालक रहे। उस समय रूस और चीन में बड़ा मन-मुटाव चल रहा था। किसिंजर इस मन-मुटाव से लाभ उठाना चाहते थे। पाकिस्तान के माध्यम से उन्होंने चीन से सम्पर्क स्थापित किया और अन्त में चीन से संधि हुई। दुनिया को बड़ा आश्चर्य हुआ। इस संधि से चीन-पाक-अमेरिका धुरी बन गई। यह धुरी भारत के विरुद्ध थी। इससे दोनों देशों में शत्रुता व्याप्त हो गई।

(2) 31 जुलाई 1969 को राष्ट्रपति निक्सन अनेक देशों की यात्रा करते हुए दिल्ली पहुँचे। भारत में निक्सन का अच्छा स्वागत हुआ। श्रीमती इन्दिरा गांधी से बातचीत करते हुए। निक्सन ने श्रीमती गांधी से कहा कि "अमेरिका ईमानदारी से विश्व में शान्ति स्थापित करना चाहता है। वह भारत और पाकिस्तान के बीच कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहता है। उसकी इच्छा है कि दोनों देश परस्पर शान्तिपूर्वक रहें।" प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने निक्सन महोदय के विचारों का समर्थन किया। उन्होंने भी कहा कि वे भी पाकिस्तान से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहती हैं तथा शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास रखती हैं। उन्होंने राष्ट्रपति को विश्वास दिलाया कि वे किसी सैनिक गठबन्धन में भाग न लेंगी।

(3) निक्सन की यात्रा से भारत और अमेरिकन सम्बन्ध मधुर बने। 1970 में श्रीमती गांधी अमेरिका यात्रा पर गईं पर उनके सम्मान में आयोजित भोज में निक्सन सम्मिलित नहीं हुए। इसका कारण था निक्सन का पाकिस्तान की ओर झुकना। इससे भारत में पुनः रोष फैला। पाकिस्तान पुनः अमेरिका से सैनिक सहायता प्राप्त करने लगा।

(4) 25 मार्च 1971 को पाकिस्तान में ग्रह युद्ध छिड़ गया। पाकिस्तानी सेना ने निर्दोष और निहत्ते बंगालियों को कत्ल करना प्रारम्भ कर दिया। पाकिस्तान ने अपने ही जाति एवं धर्म के लोगों के साथ घोर अत्याचार प्रारम्भ किया। बंगाली भाग-भाग कर भारत आने लगे। उनकी जीवन रक्षा के लिए भारत 3 करोड़ रुपये दैनिक खर्च करने लगा। पाकिस्तान की सेना ने बंगला देश मे अमेरिकन शस्त्रों का प्रयोग किया भारत ने अपील की कि अमेरिका इस घोर अत्याचार को रोके और याह्या खाँ को बगला देश के लिए किसी राजनीतिक दल को निकालने के लिए विवश करे। अमेरिका ने उत्तर दिया कि यह मामला पाकिस्तान का घरेलू मामला है अतः वह उसमे कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

(5) 7 अगस्त को श्रीमती गांधी ने अमेरिका सरकार को एक कड़ा विरोध पत्र भेजा। इसी बीच बंगला देश मे मुक्तिवाहिनी सेना का गठन हुआ और उसने पाकिस्तानी सैनिकों का संहार प्रारम्भ कर दिया पाकिस्तान ने शोर मचाया कि भारत मुक्तिवाहिनी को अस्त्र-शस्त्र दे रहा है और पाकिस्तान के घरेलू मामलो में हस्तक्षेप कर रहा। इस पर अमेरिका के विदेश मन्त्री विलियम रोजस ने भारत को लिखा कि "यदि चीन और पाकिस्तान दोनो मिलकर भारत पर आक्रमण करेंगे तो अमेरिका भारत की कोई सहायता न करेगा यदि आप तिब्बत पर भी आक्रमण करें तो हमारी सहायता की आशा न करें।"

(6) श्रीमती गांधी को विश्वास हो गया कि यदि पाकिस्तान अब की बार आक्रमण करेगा तो चीन पीछे नहीं रहेगा। अमेरिका भी उनकी सहायता करेगा। अत: 9 अगस्त 1971 को भारत ने सोवियत रूस से 20 वर्षीय सधि कर ली। अमेरिका ने इस सधि की आलोचना की। उसने आरोप लगाया कि भारत सोवियत गुट में सम्मिलित हो गया। अमेरिका स्थित भारतीय राजदूत ने भी अमेरिकन नीति पर प्रहार करते हुए कहा कि "दक्षिण एशिया में निक्सन सरकार जिस नीति का अवलम्बन कर रही है उससे हमारी सरकार प्रसन्न नही है। सारे भारत में आज यह भावना फैली है कि अमेरिका ने हमें अपमानित किया है।" भारत के नेता ही नहीं अमेरिकन नागरिकों द्वारा भी निक्सन की नीति की आलोचना की गई। भारत स्थित अमेरिकन राजदूत कैनेथ कीरिंग ने अपने विदेश मन्त्रालय को एक पत्र लिखकर अमेरिकन नीति को गलत बताया। पत्र में लिखा था कि "पाकिस्तान संयुक्त राज्य के रूप मे समाप्त हो चुका है और इस क्षेत्र में वास्तव मे भारत ही एकछत्र शक्ति है। बंगला देश एक सीमित समस्या है, जिसका सम्भवतः शीघ्र ही एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय होगा।"

(7) सयुक्त राज्य अमेरिका यद्यपि बाहर से कहता रहा कि वह पाकिस्तान पर दबाव डालकर बंगाल की समस्या का हल निकलवायेगा अन्यथा उसकी सैनिक सहायता बन्द कर देगा। पर यह आश्वासन गलत सिद्ध हुआ वह भारत-पाक युद्ध के बीच भी उसे सहायता देता रहा।

3 दिसम्बर 1971 को रात्रि में भारत पर आक्रमण कर दिया। अब भारत चुप रहने वाला न था। 6 दिसम्बर को उसने बगला देश को मान्यता दे दी और भारतीय सेनाओं को बंगला देश में घुसने की आज्ञा दे दी। भारत को पाकिस्तान से दोनों मोर्चा पर लड़ना पड़ा। जब पाकिस्तान युद्ध में पराजित होने लगा तो वाशिंगटन ने तीन बार "हाटलाईन" पर मास्को से सम्पर्क साधकर रूसी नेताओं से कहा कि वे भारत की सेनाओं को पश्चिमी क्षेत्र में आगे बढ़ने से रोकें। इतना ही नही अमेरिका ने सुरक्षा परिषद में युद्ध विराम के भी प्रस्ताव रखे पर रूस द्वारा वे वीटो कर दिये गये।

अमेरिका बराबर पाकिस्तान को सहायता देता रहा और यहाँ तक 15 दिसम्बर 1971 को उसका सातवाँ जहाजी बेड़ा प्रशान्त महासागर से निकल कर बगाल की खाड़ी में आ लगा।

समाचार भारती के पत्रकार विनोद गुप्ता ने "एण्डरसन पेपर्स" के आधार पर लिखी पुस्तक में लिखा है कि 'पाकिस्तान आक्रमण से पाँच दिन पूर्व अमेरिका ने पाकिस्तान को आक्रमक शस्त्रों की एक भारी भेंट दी। अमेरिका एक बड़ा मालवाहक विमान सी—147 कराची में उतरा।

जनरल मानेकशा ने नई दिल्ली स्थित अमेरिकी सैनिक अधिकारी कर्नल विलियम किंग को बुलाकर पाकिस्तान को अमेरिकन सैनिक सहायता का तीव्र विरोध किया।

भारत में अमेरिकी राजदूत केनेथ कीटिंग ने अपने देश को तार द्वारा सूचित किया कि मानेकशा बहुत ईमानदार और सीधे व्यक्ति हैं। यदि जो कुछ उन्होंने कहा है, वह सच है तो हम हमारी घोषित नीतियों के सर्वथा विपरीत कार्य कर रहे हैं।'"

ह्वाईट हाउस ने तत्काल जोर्डन और सऊदी अरब से कहा कि वे पाकिस्तान को सैनिक सहायता भेजें। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को इस तरह पिछले दरवाजे से सैनिक सहायता दी गई।"

इसी पुस्तक में श्री विनोद गुप्ता सातवें बेड़े के आने के विषय में भी लिखते है कि "विशाल सातवें बेड़े जो बंगाल की खाड़ी में खड़ी में भेजने का निर्णय भारत के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक युद्ध की घोषणा थी। निक्सन ने अपने वाईस एडमिरल को यह आदेश दिया कि वह बारूद को सूखा ही रखे (अर्थात तैयार रहे)।"

संयुक्त राज्य अमेरिका एक ओर अस्त्र-शस्त्र देकर पाकिस्तान को बढ़ावा दे रहा था और दूसरी ओर भारत की आर्थिक सहायता बन्द कर उसे पीछे धकेलने का प्रयास कर रहा था। युद्ध के अन्तिम दिनों मे भी अमेरिका ने भारत को चेतावनी दी कि यदि वह पश्चिम क्षेत्र में आगे बढ़ा तो इसके भयानक परिणाम होंगे।

इस प्रकार अमेरिका ने हर प्रकार से पाकिस्तान की सहायता की और भारत के प्रति शत्रुता अपनाई। इससे दोनों देशो में कटुता बढ़ गई। रूस ने भारत की पूर्ण सहायता की। 4 अक्टूबर 1972 को क्रिश्चियन साईस मानीटर ने लिखा—"दुःख की बात है कि पाक-भारत युद्ध के मध्य में नहीं, बल्कि उसके बाद भी भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में गिरावट होती गई। गलत फहमी दोनो ओर से ही थी। परन्तु सबसे अधिक जिम्मेदारी उन लोगों पर थी जिन्होने पूर्वी बंगाल के संकट के दिनों मे पाकिस्तान के पक्ष में पलड़ा झुकाने का निर्णय लिया था।"

पाकिस्तान को इस युद्ध में हारना पड़ा। बंगला देश स्वतन्त्र हो गया और अमेरिका बदनाम हो गया। भारत को रूस की गोद में फेंकने की जिम्मेदारी निक्सन की थी।

(6) सहज सम्बन्धों की ओर (1973-1977)—पाकिस्तान ने जो गलत नीति बंगला देश के विषय मे अपनाई उससे उसका विघटन हो गया। याह्या खाँ के विरुद्ध पाकिस्तान में विद्रोह खड़ा हो गया। याह्या खाँ को त्याग पत्र देना पड़ा। श्री जुल्फिकार अली भुट्टो पाकिस्तान के सर्वेसर्वा हो गये। पाकिस्तान एक छोटा और शक्तिहीन राज्य रह गया।

(1) 1972 मे अमेरिका मे राष्ट्रपति पद के चुनाव में निक्सन को भारी सफलता मिली। निक्सन ने भारत के प्रति अपनी नीति नहीं बदली। वाटरगेट काण्ड के कारण उन्हें त्याग पत्र देना पड़ा। उपराष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने राष्ट्रपति पद सम्भाला पर 'अमेरिकन विदेश नीति' के संचालन हेनरी किसिंगर ही रहे। इस काल में भारत के प्रति अमेरिका का रुख कुछ उदार हुआ पर पुराने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित न हो सके।

(2) 28 फरवरी 1973 को डैनियल पैट्रिक मोयनिहेन अमेरिका के नये राजदूत बनकर भारत आये। उन्हें भारत का मित्र कहा जाता था। अतः उनके भारत आने का उद्देश्य अमेरिका और भारत के बिगड़े सम्बन्धों में सुधार लाना था।

श्री मोयनिहैन ने प्रयत्न करके 18 फरवरी 1974 में भारत और अमेरिका के बीच पी० एल० 480 के ऋण के विषय में एक समझौता करा दिया। अमेरिका ने पी० एल० 480 के खाते में भारत का 1634 करोड़ रु० पड़ा था, उसे भारत को लौटा दिया। इस समझौते का भारत में स्वागत हुआ हिन्दुस्तान टाइम्स लिखता है (16 दिसम्बर 1973) कि राजदूत मोयनिहैन ने बहुत बुद्धिमता दिखाई कि उन्होने पी० एल० 480 को सर्वाधिक महत्व दिया। इससे भारत-अमेरिकी सम्बन्धों के सामान्यीकरण का आरम्भ होगा।"

(3) 14 मार्च 1973 में वाशिंगटन से एक विज्ञप्ति प्रसारित हुई जिसमें कहा गया था कि अमेरिका ने पाकिस्तान और भारत पर सैनिक सामान की बिक्री और मदद पर लगाया प्रतिबन्ध उठा लिया है। इसका अर्थ यह था कि अमेरिका पाकिस्तान का पुन. सैन्यीकरण करेगा। भारत इससे चौंका और उसने पाकिस्तान को सैनिक सामग्री भेजने की अमेरिकन नीति का विरोध किया। इस विरोध की अमेरिका ने चिन्ता न की और धड़ाधड़ पाकिस्तान में अमेरिका से शस्त्रास्त्र आने लगे। भारत के विदेश मन्त्री श्री स्वर्ण सिंह ने अमेरिका को चेतावनी देते हुए कहा कि "उसके द्वारा पाकिस्तान को शस्त्र देने से भारत की सुरक्षा को फिर से खतरा पैदा हो गया है। अतः वह अपने कार्य के परिणामों पर सावधानी से विचार करे और पाकिस्तान को हथियार देने से बाज आये।"

राष्ट्रपति निक्सन ने भारत के विरोध का उत्तर देते हुए कहा कि "पाकिस्तान की तुलना में भारत की श्रेष्ठता इतनी बढ़ी है कि पाकिस्तान भारत के लिए कभी खतरा बन ही नहीं सकता।" यह दलील भारत को सन्तुष्ट न कर सकी।

(4) भारत ने जब से रूस के साथ 20 वर्षीय सुरक्षा संधि की है तब से संयुक्त राज्य अमेरिका भारत को हाथ से निकला हुआ मानता है। रूस के साथ वह भारत की भी घेराबन्दी करना चाहता है। इस उद्देश्य से उसने हिन्द महासागर में भारत के समुद्री तट से एक हजार मील दूर "डिएगो गारसिया" नाम का एक द्वीप ब्रिटेन से खरीद लिया। अमेरिका ने तय किया कि वह 120 लाख डालर लगाकर "डिएगो गारसिया" पर एक अत्याधुनिक सैनिक अड्डा बनाया गया।

भारत के सीने पर अमेरिका का परमाणु अड्डा निश्चय ही एक तनी हुई संगीन है। भारत ने हिन्द महासागर के सैन्यीकरण का कड़ा विरोध किया। 8 फरवरी 1974 को भारत की प्रधानमन्त्री ने कहा था कि "हिन्द महासागर में परमाणु अड्डे की स्थापना स० राष्ट्र संघ के प्रस्तावों के विपरीत है। इस प्रकार के कदमों से आमतौर से संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।"

मार्च 1974 में अमेरिका का विमान वाहक जहाज "किटी हाक" डिएगो गारसिया की ओर बढ़ने लगा। यह जहाज एक विशालकाय युद्धपोत है जिस पर 80 विमानों और 5 हजार सैनिक थे। 12 मार्च 1974 को भारत के विदेशमन्त्री श्री स्वर्णसिंह ने इस विषय में पुनः चेतावनी दी कि इससे एशिया महाद्वीप में शान्ति को खतरा उत्पन्न हो सकता है। अमेरिका ने इस चेतावनी की परवाह न की न उसने 1972 के संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में पारित प्रस्ताव की चिन्ता की जिसमें हिन्द महासागर को "शान्ति-क्षेत्र" घोषित किया गया था। हिन्द महासागर में अमेरिका का सैनिक अड्डा भारत की शान्ति एवं सुरक्षा के लिए ही नहीं समस्त देशों को जो हिन्द महासागर के तटों पर बसे हैं महान खतरा है।

(5) 8 अगस्त 1974 को निक्सन ने त्यागपत्र दिया और फोर्ड नये राष्ट्रपति बने। फोर्ड ने भारत से पुनः सम्बन्ध सुधारने की बातचीत प्रारम्भ की। 23 अक्टूबर 1974 को ... भारतीय राजदूत श्री टी० एन० कौल को बुलाया और यह इच्छा व्यक्त की कि वे भारत

सम्बन्ध बनाना चाहते हैं। उसके लिए वे विस्तृत बातचीत करना चाहते हैं। श्री कौल ने श्रीमती गांधी की ओर से उन्हें बधाई सन्देश दिया तथा उन्हें भारत आने का निमन्त्रण दिया।

अक्टूबर 1974 मे अमेरिका के विदेश सचिव श्री हेनरी किसिंजर भारत आये। भारत मे उनका स्वागत हुआ और प्रधानमन्त्री से उनकी भेंट वार्ता हुई। श्रीमती गांधी ने हिन्द महासागर के सैन्यीकरण से चिन्ता व्यक्त की और पाकिस्तान को अमेरिकन सैनिक सहायता का भी उल्लेख किया। किसिंजर ने कहा कि अमेरिका पाकिस्तान को भारत के बराबर नही समझता है और न उसे बराबर बनाने को तैयार है। जब वे जाने लगे तो पत्रकार परिषद में उन्होंने बताया कि "भारत और अमेरिका के सम्बन्ध अच्छे हैं और यह और भी अच्छे हो सकते हैं।"

किसिंजर की भारत यात्रा के समय एक संयुक्त आयोग की स्थापना का निश्चय हुआ जो तीन उप-आयोगों के माध्यम से कार्य करेगा। एक उप-आयोग आर्थिक व्यापारिक क्षेत्र मे, दूसरा विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र मे तथा तीसरा शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र मे कार्य करेगा।

किसिंजर की दिल्ली यात्रा बड़ी महत्वपूर्ण थी। हिन्दुस्तान ने लिखा—भारत और अमेरिकी सम्बन्धों का एक नया अध्याय खुल गया है। डॉ० किसिंजर ने भारत की *असलग्नता* की नीति की प्रशंसा की थी। उन्होंने यह भी आशा व्यक्त की थी कि भारत ही दक्षिणी एशिया का नेतृत्व करेगा। किसिंजर ने 'शिमला भावना' का भी स्वागत किया था।

(6) फरवरी 1975 को एक समाचार मिला कि अमेरिका पाकिस्तान को अत्याधुनिक मिसाईल के साथ अन्य शस्त्रों से सुसज्जित करेगा एवं बम वर्षक विमान भी देगा। इसकी पुष्टि स्वयं अमेरिकी अधिकारियो ने भी की। इस समाचार से अमेरिका-भारत सम्बन्धों मे पुनः कटुता आयी। भारत के विदेशमन्त्री श्री चव्हाण ने अपनी अमेरिकी यात्रा भी भंग कर दी। इस दौर के सम्बन्ध में डा० पुष्पेश पन्त ने लिखा—"अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को शस्त्र देने के प्रतिबन्ध को हटा देने से भारत-अमेरिकी सम्बन्धों मे स्पष्ट रूप से गिरावट आयी, साथ में, हिन्द महासागर में सैनिक अड्डे का प्रश्न भी भारत-अमेरिका सम्बन्धों को चिन्तनीय बनाता रहा।"

(7) भारत श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में तानाशाही की ओर बढ़ रहा था। 1971 मे जो चुनाव हुआ था, श्री राजनारायण की अपील पर इलाहाबाद हाई कोर्ट ने श्रीमती गांधी का चुनाव भ्रष्ट आचरण अपनाने के आरोप मे रद्द कर दिया। विरोधी दलों ने श्रीमती गांधी के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया और उनसे त्यागपत्र की मांग की। इससे चिढ़कर विरोधियों को कुचलने के लिए 26 जून 1975 को भारत में आपात कालीन स्थिति घोषित कर 2 लाख लोगों की डी० आई० आर० एवं मीसा में कर दिया। श्री जय प्रकाश नारायण जो प्रजातन्त्र के प्रबल समर्थक थे और विरोधी आन्दोलन के सर्वमान्य नेता थे बन्द कर दिये गये। आन्दोलन दमन चक्र चलाकर कुचल दिया। नागरिकों के मौलिक अधिकार छीन लिए गये, न्यायपालिका की शक्ति कम कर दी गयी, पुलिस के अधिकार बढ़ा दिये गये, प्रेस पर सेंसर बैठा दिया गया। अनेक सगठनों को अवैध घोषित कर उनकी सम्पत्ति, स्कूलों एवं दफ्तरों को हथिया लिया गया। कुछ विरोधी नेता गुप्त रूप से विदेश चले गये। साम्यवादी देशो ने इन्दिरा के अत्याचारी कार्यों का समर्थन किया पर प्रजातन्त्रीय देशों ने उसकी निन्दा की।

अमेरिका के समाचार पत्रों ने भारत सरकार की तानाशाही नीति की कटु आलोचना की। उन्होंने कहा कि भारत में प्रजातन्त्र का गला घोंटा जा रहा है। स्वयं अमेरिकन राष्ट्रपति फोर्ड ने 17 सितम्बर 1975 को कहा—"मेरे विचार से यह बहुत दुःखद बात है कि 60 करोड़ लोगों ने वह खो दिया जो चालीस के दशक में उन्हें प्राप्त हुआ था। *मैं आशा करता हूं कि आने* वाले समय में, जिसे हम अमेरिका में प्रजातन्त्र कहते है, वह भारत में पुर्नस्थापित होगा।"

श्रीमती इन्दिरा गांधी ने फोर्ड को लताड़ते हुए कहा कि "वह व्यक्ति जो संयोगवश राष्ट्रपति बन गया है, वह हमे प्रजातन्त्र के बारे में शिक्षा दे।" उन्होंने यह भी कहा कि "जो देश पाकिस्तान में, पुर्तगाल में, स्पेन में एवं अगोला में तानाशाही का समर्थन करे वह हमें किस हैसियत से प्रजातन्त्र का उपदेश देता है।"

सितम्बर 1976 में जब विदेशमन्त्री यशवन्त राव चह्वाण अमेरिका यात्रा पर गये। उन्होंने आपात काल के सम्बन्ध में प्रकाश डाला पर वे अमेरिकन पत्र-सम्वाददाताओं के प्रश्नों का ठीक से उत्तर न दे सके इससे उनके खोखले वक्तव्यों की कटु आलोचना हुई।

इतना होने पर भी अमेरिका चाहता रहा कि भारत और अमेरिका के सम्बन्ध सुधर जायें। 12 जुलाई 1976 को कब इन्दिरा गांधी से पूछा गया कि भारत और अमेरिका के सम्बन्धों के बारे मे आपकी राय क्या है तो वे बोलीं "हम चाहते हैं कि भारत अमेरिकी सम्बन्धों की जड़े गहरी हों।"

(8) 1976 के अन्त में अमेरिका में चुनाव हुआ और फोर्ड राष्ट्रपति के पद पर होते हुए भी चुनाव हार गये। नया राष्ट्रपति जिमी कार्टर बना। इधर भारत मे भी संसद के चुनाव मे प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी हार गयी। आपात कालीन के अत्याचारों के कारण 30 वर्षों से चली आयी सरकार भी गिर गयीं। जनता पार्टी के नेता श्री मोरार जी देसाई भारत के नये प्रधानमन्त्री बने। नया राष्ट्रपति और नया प्रधानमन्त्री आपस में कैसा व्यवहार करते हैं यह भविष्य ही बतायेगा।

भारत और सोवियत रूस के सम्बन्ध
(Relations Between India and U. S. S. R.)

भारत की विदेश नीति पर 1927 से 1977 तक पं० जवाहर लाल नेहरू का प्रभाव रहा। 1927 से 1947 तक पं० नेहरू रूस की क्रान्ति से बहुत प्रभावित हो चुके थे। रूस की साम्यवादी अर्थ व्यवस्था उन्हें बहुत पसन्द आयी थी। रूस की यात्रा के बाद प० नेहरू ने कहा था, "भारत और रूस दोनो ही विशाल एवं महान देश है। दोनों एक-दूसरे के पडोसी हैं। यह दोनों देश एक-दूसरे की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं या तो दोनों बहुत अच्छे मित्र होंगे या शत्रु।"

स्वतन्त्रता के काल से अब तक (1947-77) भारत और रूस के सम्बन्धों को तीन भाग में बांटकर उनकी विवेचना की जायेगी। ये तीन काल हैं—(1) उदासीनता का युग अथवा स्टालिन युग। (2) मित्रता का युग—ख्रुश्चेव युग तथा (3) प्रगाढ़ मित्रता का युग—ब्रेजनेव युग।

उदासीन युग या स्टालिन युग—पं० जवाहर लाल नेहरू रूस की साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था के पक्षपाती भारत के स्वतन्त्र होने से पूर्व ही थे। अतः जब पं० नेहरू अन्तरिम सरकार के प्रधानमन्त्री बने उन्होने पहला सम्पर्क सोवियत सघ से कायम किया। 13 अप्रैल 1947 को भारत और रूस के बीच राजनयिक सम्बन्धो की स्थापना हो गयी। दोनों देशों ने दूतों का आदान-प्रदान किया।

पं० नेहरू रूस के साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी तथा पूंजीवादी विरोध का समर्थन करते थे। ब्रुसेल्स सम्मेलन जो रूस की प्रेरणा से आयोजित किया गया था। उसमें पं० नेहरू ने भी भाग लिया था। भारत आकर उन्होंने रूस की प्रशंसा में कई लेख लिखे। अपनी पुस्तक "भारत की खोज" (Discovery of India) में उन्होने लिखा है कि "सोवियत क्रान्ति ने समाज की एक लम्बी छलांग के द्वारा प्रगति की है और इसने वह चमकीली ज्योति जलाई है, जिसे बुलाया जा सकता है और इसने उस नई सभ्यता की नींव रखी है, जिसकी ओर संसार अग्र सकता है।"

हमें आश्चर्य होता है कि गांधीवादी नेहरू रूस का इतना प्रशंसक कैसे बन गया जब रूस का तानाशाह महात्मा गांधी को एक प्रतिक्रियावादी नेता कहता था और कभी उसने उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा। रूस के समाचार पत्रों ने सदैव गांधी की आलोचना की। वास्तव में इस विषय में पं० नेहरू गांधी जी के विचार से प्रभावित न थे बल्कि गांधीजी एवं अन्य गांधीवादी नेता पं० नेहरू के विचार से प्रभावित थे। हरिजन में गांधी जी ने एक बार लिखा था कि 'वे रूस के विरोधी नहीं हैं।" भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भी कहा था कि "यद्यपि 1917 की क्रान्ति के बारे में हमारी जानकारी सीमित थी, तो भी हमने महसूस किया कि यह एक महान घटना है, जिसका मानवजाति पर आवश्यक रूप से प्रभाव पड़ेगा।"

इतने होने पर भी कांग्रेस में बहुमत में ऐसे लोग थे जो साम्यवाद के नाम से चिढ़ते थे। क्रान्ति में लाखों लोगों को साम्यवादियों का कत्ल किया जाना, अहिंसावादी कभी पसन्द न करते थे। 1939 में जर्मनी से सन्धि करना, पोलैण्ड पर आक्रमण करना, फिनलैण्ड पर अधिकार करना आदि कार्यों से रूस के प्रति भारत में अच्छे विचार न थे। यहाँ पर भी साम्यवादी पार्टी जो मास्को की हाँ में हाँ मिलाना ही उसका कार्य था, उससे भी न कांग्रेस खुश और न जनता। विशेषकर जब "1942 के भारत छोड़ो" आन्दोलन में साम्यवादी पार्टी ने अंग्रेजों का पक्ष लेकर आन्दोलनकारियों पर अत्याचार ढाये थे। इससे जनता के मन में साम्यवाद के प्रति घोर घृणा भरी हुई थी। भारत एक राष्ट्रवादी देश है, वह साम्यवाद की धारा को कभी ग्रहण न करेगा।

पं० नेहरू यह बात जानते थे कि साम्यवादी विचारधारा भारत के अनुकूल नहीं। स्वयं वे रूस के पक्षपाती अवश्य थे पर हर-बात में हाँ में हाँ मिलाना उन्हें पसन्द न था। वे एक स्वतन्त्रतावादी व्यक्ति थे और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे अतः रूस के आतंकवाद, कठोर नियन्त्रण, निरंकुशतावाद को उन्होंने कभी शासन पद्धति में स्थान न दिया। इतना ही नहीं उन्होंने साम्यवादी पार्टी को कभी मुँह न लगाया। यही कारण है कि उनके काल में भारत में साम्यवाद खड़ा होकर न चल सका।

भारत की तटस्थ नीति—भारत को पं० नेहरू किसी देश या गुट का पिछलग्गू बनना पसन्द न करते थे। रूस ने अपना पृथक गुट बना रखा था और अमेरिका ने भी अपना पृथक गुट बना रखा था। दोनों देश भारत को अपने गुट में मिलाना चाहते थे। स्टालिन भारत की तटस्थता की नीति को पसन्द न करता था। वह कभी खुलकर और कभी दबी जबान से भारत की विदेश नीति की आलोचना करता था। वे तटस्थता की नीति को दुर्बल, अवसरवादी, अनिश्चित एवं पूँजीवादी नीति कहकर पुकारता था। स्टालिन का कहना था कि "भारत की विदेश नीति एंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवादियों के साथ सहयोग को छुपाने का आवरणमात्र है।"

भारत की तटस्थ नीति अवश्य थी पर सोवियत रूस के प्रति विशेष सहानुभूति की नीति थी। रूस इस सहानुभूति से खुश न था। वह चाहता था कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय जगत में हर बात में उसकी हाँ में हाँ मिलाये। नेहरू ऐसा नहीं कर सकते थे। वे जानते कि द्वितीय विश्व के अन्तिम दिनों में सोवियत रूस ने पूर्वी यूरोप के अधिकांश देशों को अपनी सेनाओं के बल पर साम्यवादी बना लिया था और उन पर लौहपन्जा ऐसा रखा था कि वे अपनी इच्छा व्यक्त नहीं कर सकते थे। दूसरे रूस की इच्छा यह थी कि समस्त विश्व में साम्यवाद फैलाये और हिंसा के बल पर सभी देशों की सरकार को उलटकर साम्यवादी कठपुतली सरकार स्थापित करे ताकि वे सब उसकी हाँ में हाँ मिलते रहें। रूस की इस नीति को पं० नेहरू नहीं सह सकते थे। उन्होंने तो कहा था कि "विश्व साम्यवाद का विस्तारवादी रूप एशियाई देशों की शान्ति और स्वाधीनता के लिए सबसे बड़ा खतरा है।"

स्टालिन यह नहीं चाहता था कि कोई भी रूस का मित्र राज्य रूस की नीति की आलोचना करे। उसने तो यहाँ तक कह दिया था कि "जो हमारे साथ नहीं, वह हमारा विरोधी है।" विशिन्सकी भारत की तटस्थता नीति की मजाक उड़ाते हुए कहता है—"अच्छे से अच्छे रूप से तुम भारतीय आदर्शवादी हो, और बुरे से बुरे रूप में तुम अपनी स्थिति नही जानते और भयंकर अमेरिकी नीति के प्रच्छन्न समर्थक हो।"

सोवियत रूस असंलग्नता की नीति को शंका की दृष्टि से देखता था। यहाँ तक रूसी समाचार पत्र गांधी जी द्वारा छेड़े गये स्वतन्त्रता आन्दोलन को पूँजीपतियों का आन्दोलन कहते थे और गांधी को पूँजीपतियो का दलाल कहते थे। भारत द्वारा राष्ट्रमण्डल में बने रहने के निश्चय से सोवियत पत्रों ने भारत की बड़ी मजाक बनायी। प्रावदा ने लिखा कि "भारत का राष्ट्रमण्डल मे बना रहने का निर्णय ब्रिटिश साम्राज्य मे बने रहने के समान है।" प्रारम्भ में कोरिया के मामले मे जब भारत ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया तो रूसी नेताओं ने भारतीय नेताओं की बड़ी भर्त्सना की।

रूस के रुख में परिवर्तन—चीन की मान्यता पर जब भारत ने स्वीकृति दी तो रूस बहुत खुश हुआ। इसके बाद जब सं० रा० संघ की सेना को 38° उत्तरी अक्षांश पार करने पर भारत ने तीव्र विरोध किया तो रूस को बड़ी प्रसन्नता हुई। 1950 मे जब डॉ० राधाकृष्णन भारत के राजदूत बनकर रूस पहुँचे तो उन्हें स्टालिन ने मुलाकात का अवसर दिया। यह बहुत बड़ी बात थी। साधारणतः स्टालिन लोगों से बहुत कम मिलते थे। इस मुलाकात के बारे में डा० राधाकृष्णन ने कहा था—"विश्व को उत्तेजित करने वाली अनेक समस्याओं के बारे में निःसंकोच बातचीत हुई। स्टालिन ने हमारी प्रगति मे मित्रतापूर्ण रुचि दिखायी ... "बातचीत के दौरान प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कहीं भी यह इसरार नही था कि भारत रूस के साथ संलग्न हो जाये।"

डा० राधाकृष्णन् के बाद के० पी० एस० मेनन भारत के राजदूत बन कर रूस पहुँचे तो स्टालिन ने उनसे भी मुलाकात की और भारतीय समस्याओं के प्रति बड़ी रुचि दिखलायी। गाँधी के प्रति प्रसन्नता मे लेख लिखे गये।

काश्मीर की समस्या पर विचार—जब सं० रा० में काश्मीर की समस्या आयी तो रूस ने भारत के पक्ष या विपक्ष में कोई बात नहीं कही। उसने न यह कहा कि पाकिस्तान आक्रमणकारी है या भारत। उसने काश्मीर को भारत का अंग भी नहीं बताया न उसने पाकिस्तान की सेनायें काश्मीर से हटाने को कहा। उसने इतना अवश्य कहा कि दोनों देशों को यह झगड़ा आपसी वार्ता से सुलझा लेना चाहिए। वहाँ विदेशी हस्तक्षेप समाप्त होना चाहिए। 23 दिसम्बर 1952 को सुरक्षा परिषद में बोलते हुए रूसी प्रतिनिधि ने कहा था कि "इस समस्या के समाधान का सही उपाय यह है कि जनता अपने भाग्य का स्वयं निर्णय ले। यह प्रजातान्त्रिक आधार पर संविधान सभा के गठन से ही हो सकता है।" इन बातों से यही प्रकट होता है कि रूस का भारत के प्रति दृष्टिकोण उपेक्षा या उदासीनता का था। जे० एस० नायक ने लिखा है कि 'इण्डो सोवियत सम्बन्ध 1954 से पूर्व उदासीनता, तटस्थता एवं असंलग्नता के रहे।"

मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का प्रारम्भ—भारत द्वारा चीन को सं० रा० संघ की सदस्यता दिलाने के प्रयत्न से, रूस भारत के प्रति मैत्रीभाव रखने लगा। जापान के प्रति भारत के रवैये से भी रूस प्रसन्न हुआ। भारत ने सानफ्रांसिस्को सम्मेलन (1951) में इसलिए भाग नहीं लिया क्योंकि चीन को सं० रा० संघ मे प्रवेश नही मिला। पर जब भारत के प्रतिनिधि ने कहा कि कोरिया के युद्ध बन्दी उनकी इच्छा के अनुसार भेजे जाने चाहिए तो रूस को आश्चर्य हुआ। इस प्रकार भारत की विदेश नीति पर रूस कभी प्रसन्न हो जाता और कभी नाराज हो जाता।

स्टीन ने लिखा है कि 1957 से 1952 तक भारत के प्रति रूसी विरोध के कारण मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के विकास में बहुत बाधा पहुँची।" स्वयं वर्षों तक रूस मे राजदूत रहने वाले श्री मेनन ने भी कहा है कि स्टालिन के युग मे रूस का रुख भारत के प्रति उदासीन (Passive) रहा। हीरेन मुखर्जी का भी कहना है कि स्टालिन के बाद ही भारत और रूस मे मित्रता का काल प्रारम्भ होता है।

मित्रता का युग—1953 में स्टालिन की मृत्यु हो गयी। इसके बाद रूस के नेतृत्व में परिवर्तन हुआ और उसकी नीति भी कठोरता से बदलकर उदार हो गयी। मैलनकोव का काल 2 वर्ष रहा पर ख्रुश्चेव रूसी साम्यवादी दल का महामन्त्री बना और बुल्गानिन रूस का प्रधानमन्त्री बना। कुछ दिन बाद बुल्गानिन को पर्दे में धकेल कर स्वय ख्रुश्चेव ने स्टालिन जैसा पद अर्थात प्रधानमन्त्री एवं दल के महामन्त्री का पद ग्रहण कर लिया। वास्तव में स्टालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव का ही युग माना जाता है। यह युग 1953 से 1964 तक रहा।

प्रारम्भ मे 1953 से 1955 तक मैलनकोव सत्ता में रहा। 1955 से 1964 तक ख्रुश्चेव का काल रहा। इस काल में भारत का रूस के प्रति दृष्टिकोण बदला। अधिकांश रूप से यह काल दोनों देशों की मित्रता का काल कहा जाता है। इस काल मे निम्नलिखित घटनायें घटीं :

(1) भारत की असंलग्नता की नीति की मान्यता—प्रारम्भ में रूस और अमेरिका भारत की असलग्नता की नीति को शका की दृष्टि से देखते थे और वे उसे एक दूसरे गुट में समझते थे। पर भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर अपने निष्पक्ष सुझाव रखे एव निष्पक्षता का निर्णय लिये तो दोनों देशों की समझ में यह आ गया कि भारत किसी गुट में नहीं है। धीरे-धीरे रूस ने यह भी अनुभव किया कि भारत का असंलग्न रहना आवश्यक है। भारत कम से कम रूस का शत्रु नही।

(2) तटस्थ देशों की संख्या में वृद्धि—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों से स्वतन्त्रता प्राप्त की। पहले तो वे यह सोचते रहे कि वे किस गुट मे मिलें। पश्चिमी साम्राज्य के प्रति उनके मन मे घृणा थी और रूस से उन्हें भय था। अतः उन्हें भारत का आदर्श पसन्द आया और वे भी तटस्थता की नीति अपनाने लगे। इनकी संख्या में वृद्धि हो रही थी। उनकी उपेक्षा महाशक्तियाँ नही कर सकती थीं।

(3) भारत के सम्मान में वृद्धि —विश्व में शीत युद्ध बढ़ रहा था पर भारत शान्त भाव से पक्षपात से दूर एव महाशक्तियों के मध्य सेतु का कार्य कर रहा था। विश्व में भारत के शान्ति प्रयासो मे ईमानदारी से सहयोग देने से उसका सम्मान बढ़ता जाता था। मैलनकोव ने 8 अगस्त 1953 में कहा था कि, "शान्तिप्रिय देशों के प्रयासो में भारत का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। उसने कोरिया के युद्ध को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। हमारे भारत के साथ सम्बन्ध क्रमशः दृढ़ होते जाते हैं। हम आशा करते है कि दोनों देशों के सम्बन्ध इसी प्रकार दृढ़ होते रहेंगे।

(4) स्टालिन की कठोर नीति में परिवर्तन—स्टालिन का काल बड़ा कठोर युग था। वह अन्य देशों से विशेष सम्पर्क नहीं रखता था। उसका घेरा सीमित था। वह अपने गुट में रहना पसन्द करता था। वह अपने नागरिकों को भी अन्य गैर-साम्यवादी देशों में भेजना भी पसन्द न करता था। सोवियत रूस की यह नीति दम घोंटू तो थी ही। साथ में उसके सैनिक एवं आर्थिक हितों के लिए भी हानिकारक थी। इस नीति का बदलना आवश्यक समझा गया। स्टालिन की नीति थी "जो हमारे साथ नहीं, वह हमारा शत्रु है।" उस नीति को बदलकर अब कहा गया—"जो हमारे विरुद्ध नहीं, वह हमारा मित्र है।"

(5) सैनिक गठबन्धन का भारत द्वारा विरोध—पश्चिमी गुट के देश साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए रूस और चीन की घेराबन्दी करना चाहते थे। उन्होंने यूरोप से लेकर सुदूर पूर्व तक साम्यवादी देशों के विरोधियों का एक घेरा बनाया। इन देशों के उसने (अमेरिका ने) कई सैनिक गठबन्धन बनाये। इन देशों को अमेरिका ने आधुनिक शस्त्रों से सुसज्जित किया। भारत को भी इन गठबन्धनों में किसी का सदस्य बनने के लिए कहा गया। भारत तो असंलग्नता की नीति का पालन करता था। वह गुट-निरपेक्ष एवं सैनिक सन्धियों या सैनिक संगठनों से दूर रहना चाहता था। उसने साफ इन्कार कर दिया कि वह किसी सैनिक गठबन्धन में नहीं फँसेगा। वह सैनिक गठबन्धनों को युद्ध को दावत देने वाला समझता था। पर पाकिस्तान ने इन सैनिक संगठनों का सदस्य बनने की इच्छा व्यक्त की। उसे बगदाद पैक्ट का सदस्य बना लिया गया। फिर क्या था पाकिस्तान को अमेरिका तथा अन्य देशों ने शस्त्रास्त्रों से पाटना प्रारम्भ कर दिया। भारत को चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। पाकिस्तान की नीयत को वह जानता था कि वह इन अस्त्रों-शस्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध करेगा। भारत ने इन संगठनों का कड़ा विरोध किया। रूस के लिए यह विरोध सुखदायक था। रूस के नये आकाओं ने सोचा कि भारत को क्यों न अपना मित्र बनाया जाये।

(6) कश्मीर समस्या का जटिल होना—पं० जवाहर लाल ने काश्मीर विलय के समय पर शर्त लगाई थी कि कश्मीर के महाराज शेख अब्दुल्ला को कश्मीर का प्रधानमन्त्री बनायेंगे। शेख अब्दुल्ला ने महाराजा को पेंशन अथवा प्रीवीपर्स देकर कश्मीर की गद्दी को अपने पुत्र कर्णसिंह को सौंपकर कश्मीर से बाहर कर दिया था। 1953 में उसने अमेरिका से षड्यन्त्र रचकर कश्मीर को भारत से पृथक कर एक स्वतन्त्र राज्य बनाने का निश्चय किया था जिसका वह शाह बनता। यह भेद खुल गया। रातोरात शेख अब्दुल्ला को महाराजा करण सिंह से अपदस्थ कराया गया और दूसरे दिन उसे गिरफ्तार कराकर जेल में बन्द कर दिया गया। अब्दुल्ला के स्थान पर गुलाम मुहम्मद को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया। यह कार्य बड़ी तत्परता से किया गया। न इसका पता अमरिका को चला और न पाकिस्तान को। पाकिस्तान को जब पता चला तो वह भारत की निन्दा करने लगा। क्योंकि पाकिस्तान बगदाद पैक्ट का सदस्य था अतः पश्चिमी गुट ने पाकिस्तान का साथ दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ में, काश्मीर के मामले में भारत के विरुद्ध तरह-तरह के प्रस्ताव रखे गये। भारत चाहता था कि कोई ऐसा मित्र देश उसे मिलता जो सुरक्षा परिषद में इन प्रस्तावों के विरुद्ध वीटो का प्रयोग कर काश्मीर की रक्षा करता। उस समय ऐसा देश रूस ही था। अतः उसके प्रति भारत का झुकना स्वाभाविक ही था।

(7) भारत के प्रति रूस का मैत्रीपूर्ण रुख—यद्यपि रूस के नवीन नेताओं स्टालिन के सिद्धान्त—समस्त विश्व को साम्यवाद के अन्तर्गत लाना—के प्रति कोई रुख परिवर्तन न था पर उसे प्राप्त करने के सिद्धान्त अथवा साधनों में अवश्य परिवर्तन हो गया था। रूस के नवीन नेतृत्व ने यह अनुभव किया कि अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए युद्ध अथवा आक्रमण का सहारा न लेकर गैर-साम्यवादी देशों में वहीं की साम्यवादी पार्टी द्वारा विस्फोट कराया गया। इस प्रकार रूस ने सह-अस्तित्व की नीति को अपनाया। रूस ने भारत के साथ पंचशील पर हस्ताक्षर कर दिये। रूस के इस रवैये से छोटे देश बहुत प्रभावित हुए।

(8) रूस से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का प्रारम्भ—पंचशील पर हस्ताक्षर कर रूस और भारत में नये सम्बन्धों का प्रारम्भ हुआ। मालकोंव ने भारत के प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू की पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी को रूस आने का निमन्त्रण भेजा। श्रीमती इन्दिरा गांधी रूस पहुँ रूस के लिए यह प्रथम विदेशी अतिथि थी, अतः उन्हें रूस की दूर-दूर तक यात्रा कराई और झाँकी दिखाई। श्रीमती इन्दिरा गांधी पर इस यात्रा का गहरा प्रभाव पड़ा।

जून 1953 में भारत की स्वास्थ्यमन्त्री राजकुमारी अमृतकौर ने भी रूस की विस्तृत यात्रा की। वे भी बहुत प्रभावित हुईं और उन्होंने जोर दिया कि दोनों देशों के मध्य सांस्कृतिक सम्बन्धों की भी स्थापना होनी चाहिए। उस समय तक दोनों मे केवल राजनीतिक सम्बन्ध ही थे।

1954 मे भारत की फिल्मे भी रूस में दिखाई जाने लगीं। जान लूथर ने एक पुस्तक लिखी "भीतरी रूस" (Inside Russia)। उसमें उन्होंने बताया कि रुस में दो व्यक्ति अधिक लोकप्रिय हुए—नेहरू और राजकपूर।

8 अगस्त 1953 को रूस के प्रधानमन्त्री मैलनकोव ने अपनी नीति की घोषणा की। इस घोषणा मे उन्होंने भारत को एक महान देश बताया, और उसकी बड़ी प्रशसा की। उसकी असलग्नता की नीति को भी सराहा और यह कामना की कि रूस-भारत मैत्री उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी। इस अवसर पर रूस के विदेशमन्त्री मोलोतोव ने भी कहा कि "कौन इन्कार कर सकता है, कि भारत एक नये ऐतिहासिक युग में प्रवेश कर गया है·······विश्व में भारत का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है ?"

रूस के मुख्य पत्र 'प्रावदा' ने पंचशील की बड़ी प्रशंसा की। यह प्रशंसा चीन द्वारा पंचशील पर हस्ताक्षर करने के बाद हुई। पत्र ने यह आशा व्यक्त की कि इस सिद्धान्त के पालन से राष्ट्रों में मित्रता के भाव पैदा होगे एव विश्व-शान्ति की वृद्धि होगी। इस प्रकार मैलिनकोव ने भारत-रूस मैत्री की आधारशिला रख दी।

(9) **पं० नेहरू की रूस यात्रा**—1953 के अन्दर एवं बाद में रूस और भारत में राजनीतिक, आर्थिक एवं सास्कृतिक शिष्टमण्डलों के आदान-प्रदान में वृद्धि हुई। भारत के प्रतिनिधियों का रूस मे खूब स्वागत-सत्कार किया गया।

1955 मे भारत के प्रधानमन्त्री की हैसियत से पं० नेहरू का रूस मे जाना हुआ। पं नेहरू का रूस में अभूतपूर्व स्वागत हुआ। श्री के० पी० एस० मेनन ने अपनी पुस्तक "फिलाइंग ट्रोइका" (The Flying Troika) मे लिखा "अनेक रूसियों के लिए पं० नेहरू शान्ति की बढ़ती हुई आकाक्षा के प्रतीक बन गये थे।"

इस यात्रा मे 22 जून 1955 को डाइनमो स्टेडियम, मास्को में पं० नेहरू ने भाषण करते हुए कहा था कि "अब तक हम लगभग तीन हजार किलोमीटर की यात्रा कर चुके हैं और हमने बहुत से प्रसिद्ध नगर तथा अद्भुत वस्तुएँ देखी हैं. परन्तु सबसे अद्भुत बात यह है कि जहाँ भी हम गये, लोगों ने हम पर अपनी प्रेम की वर्षा की। जब आपके देश मे लेनिन महान के नेतृत्व में 1917 की क्रान्ति चल रही थी, तो उसी समय हम महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे अपनी स्वतन्त्रता के लिए एक भिन्न मार्ग से लड़ रहे थे, परन्तु हम लेनिन की स्तुति करते हैं और उनके उदाहरण से प्रभावित हैं। यद्यपि हमारे मार्ग भिन्न थे, परन्तु हमने कभी भी रूस के प्रति अमैत्री की भावना नही दर्शायी।"

पं० नेहरू ने रूस की सफलताओ, सरकार एवं जनता की स्नेहमयी भावनाओं एवं स्वागत सत्कार की मुक्त रूप से प्रशसा की और रूस की भलाई के लिए कामना की एवं दोनों देशों में भलाई के लिए सहयोग की इच्छा प्रकट की। बाद में एक संयुक्त विज्ञप्ति प्रसारित की गयी। इसमे नेहरू ने देखा कि रूस के नेताओं ने उन पर कोई दबाव नहीं डाला, पंचशील की स्वीकृति की और दोनों देशो की मित्रता पर जोर डाला। चलते समय पं० नेहरू ने कहा—"मैं अपने दिल को रूस में छोड़ कर जा रहा हूँ।"

रूस की यात्रा से पं० नेहरू बहुत प्रसन्न नजर आये। कुछ समय बाद भारत के उपराष्ट्रपति के रूप में जब डा० राधाकृष्णन रूस गये तो उनका भी भव्य स्वागत हुआ। उनकी

पुस्तक "इण्डियन फिलासफी" का अनुवाद रूसी भाषा में किया गया और उन्हें मास्को विश्वविद्यालय से मानद प्रोफेसर नियुक्त किया गया।

(10) बुल्गानिन और ख्रुश्चेव की भारत यात्रा—पं० नेहरू जब स्वदेश वापस आने लगे तो उन्होंने रूस के प्रधानमन्त्री बुल्गानिन एवं दल के महामन्त्री ख्रुश्चेव को भारत आने का निमन्त्रण दिया था। उसके अनुसार दोनों रूसी नेता नवम्बर 1955 में भारत पधारे। सोवियत रूस से आने वाले ये पहले शाही यात्री थे। उनका भारत में भव्य स्वागत किया गया। ख्रुश्चेव खुशमिजाज, चुस्त एवं हाजिर जवाब व्यक्ति थे। वे दूरदर्शी एवं चतुर नेता थे। उनकी चुटीली एवं मार्मिक बातों से भारतीय बहुत प्रभावित हुए। नांगल (पंजाब) में ख्रुश्चेव बोले—'हम रोटी का आखरी टुकड़ा भी आपके साथ मिलकर खायेंगे।" श्रीनगर में जनता को सम्बोधित करते हुए वे बोले थे कि "सोवियत संघ कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग मानता है। आपको जब भी हमारी सहायता की आवश्यकता हो, पहाड़ की चोटी पर चढ़कर हमें पुकार लीजिए, हम आपकी सहायता के लिए आ जायेंगे।"

ख्रुश्चेव के ये शब्द दुनिया में गूँज उठे पश्चिमी गुट ने भी इनको आश्चर्यमयी मुद्रा में सुना और विश्वास किया कि सुरक्षा परिषद में भारत का भी एक मित्र उपस्थित हो गया है। आगे चलकर रूसी नेताओं ने कश्मीर के मामले में अपना वायदा निभाया।

मद्रास में बुलगानिन ने 28 नवम्बर 1955 को कहा कि "भारत एवं अन्य अनेक एशियायी राष्ट्र उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। आधुनिक काल में यद्यपि उपनिवेशवाद ढलता जा रहा है पर अभी तक कुछ यूरोपियन शक्तियाँ इससे चिपकी हुई हैं। उदाहरण के लिए गोवा को पुर्तगाली उपनिवेश के रूप में रखने का कोई न्यायोचित कारण नहीं। सभ्य राष्ट्रों के लिए यह एक लज्जा की बात है।" ख्रुश्चेव ने संक्षिप्त, पर लाजवाब टिप्पणी करते हुए कहा कि "चुराई हुई वस्तु चुराई हुई ही रहती है और यदि जरा भी विवेक शेष हो, तो उसे उचित मालिक को वापस की जानी चाहिए।" जब कलकत्ते में दोनों विदेशी मेहमान पहुँचे तो 20 लाख व्यक्तियों ने इनका स्वागत किया। मार्शल बुल्गानिन ने तालियों के तुमुलनाद के बीच खड़े होकर कहा—"गोवा अवश्य स्वतन्त्र होगा और भारत के महान गणराज्य में मिल जायगा।" रूसी नेता भारतीयों की नब्ज पहचानते थे। महात्मा गाँधी के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा है अतः जहाँ जाते थे वहाँ वे गाँधीजी की प्रशंसा भी करते थे।

भारत में रूसी नेताओं के आगमन से भारत-रूसी मित्रता दृढ़ हुई। पं० नेहरू ने कहा कि "घटनाओं ने यह भली-भाँति दिखा दिया है कि हमारे दोनों देशों के बीच केवल स्वागतों की औपचारिकता मात्र ही नहीं है, अपितु घनिष्ठ मित्रता भी है। 'प्रजाइग ट्रोयका' में श्री मेनन ने लिखा कि "सोवियत संघ में भारत ने एक ऐसा मित्र देखा जो मित्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता।" डा० देवेन्द्र कौशिक ने कहा कि "इन यात्राओं ने भारत सोवियत सम्बन्धों में गर्मजोशी के युग का सूत्रपात हुआ।

सोवियत समाचारपत्रों ने इस यात्रा को ऐतिहासिक तथा बहुत महत्त्वपूर्ण बताया तथा इनका विशद विवरण छापा। रूसी नेताओं ने स्वदेश लौटकर सोवियत के विशेष अधिवेशन में अपनी यात्रा की उपलब्धियों का उल्लेख किया।

हंगरी के मामले में भारत की प्रतिक्रिया—जब भारत और रूस की मित्रता परवान पर चढ़ रही थी तब 1956 में उसे एक भारी झटका लगा। रूस उस हाथी के समान है दाँत खाने के और, दिखाने के और होते हैं। वह साम्राज्यवाद का कितना विरोधी है और समर्थक है यह 1956 में लोगों को प्रकट हो गया। द्वितीय विश्व युद्ध में रूसी सेना यूरोप के अन्य देशों के साथ हंगरी पर भी कब्जा जमाया था और वहाँ के नागरिकों प

कर साम्यवाद का मुलम्मा चढ़ाया था। वह 1956 से उतर गया अर्थात् वहाँ नागरिकों ने रूसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और प्रजातन्त्र की स्थापना का ऐलान कर दिया। रूस ने अपनी भारी सेना लेकर हंगरी पर आक्रमण कर दिया और बन्दूक की नोंक पर उनके मुँह में ताला लगा दिया। पहले तो प० नेहरू अपने मित्र के कृत्य पर चुप रहे पर बाद में उन्होने रूस की आलोचना की। यद्यपि यह आलोचना दबी जबान से की गयी थी पर रूस इससे बहुत क्रोधित हो उठा।

पं० नेहरू यह नही चाहते थे कि वे रूस की आलोचना करें पर अपनी असंलग्नता नीति को दर्शाने के लिए उन्हे ऐसा करना पड़ा। उसका कारण था कि 1956 में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया, इस पर ब्रिटेन फ्रांस और इजराइल ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के विरुद्ध पं० नेहरू तथा उनके विश्वास पात्र प्रवक्ता श्री कृष्णामेनन ने सम्पूर्ण देश में घूम-घूम कर एंग्लो-फ्रेन्च आक्रमण की भर्त्सना की थी। हंगरी के मामले में चुप रहने से पश्चिमी गुट प० नेहरू को साम्यवादी गुट में मिला हुआ कहकर उनकी असलग्नता की नीति पर प्रहार कर रहे थे। इसके अतिरिक्त रूस द्वारा हंगरी पर घोर अत्याचार किया गया था। हंगरी के राष्ट्रवादियों ने अपने नेता इमरेनश के रूसी कैद से छुडाने का आन्दोलन छेड़ा। इमरेनश छोड़ दिया गया। वह जाकर हंगरी का प्रधान मन्त्री हो गया और उसने सं० रा० सघ को लिखा कि वह वर्साय सधि से बाहर हो गया है। उसने यह भी प्रार्थना की कि उसके देश से रूसी सेना हटाई जाये और उसकी तटस्थता की रक्षा की जाये। इस पर रूसी सेना ने हंगरी पर आक्रमण किया। हजारो हंगेरियन सैनिक एव असैनिक मारे गये। प्रधानमन्त्री इमरेनश को पकड़कर रूस भेजा गया जहाँ उन्हें मार मार डाला गया। इस प्रकार हंगरी के राष्ट्रवादियों को बुरी तरह कुचला गया और वहाँ कादर नेतृत्व मे कठपुतली सरकार बना दी गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ इस मामले में कुछ न कर सका।

उसी समय दिल्ली मे यूनेस्को का सम्मेलन हो रहा था। 5 नवम्बर 1956 को पं० नेहरू ने कहा कि "आज हम मिस्र तथा हंगरी में मानव गरिमा तथा स्वतन्त्रता का अतिक्रमण देखते हैं और वहाँ राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए आधुनिक शस्त्रों का प्रयोग किया जा रहा है। पुराने औपनिवेशिक तरीके जिनको हम अपनी अज्ञानता के कारण अंधेरे युगों के समझते थे, उनको पुनर्जीवित किया जा रहा है।" यह भाषा कितनी नम्र थी। जबकि भारत में रूसी आक्रमण का सख्त विरोध किया जा रहा था। नेहरू जनमत से भी प्रभावित थे। लोकसभा मे 16 नवम्बर 1956 को प० नेहरू ने हंगरी की घटना को 'दुर्भाग्यपूर्ण' घोषित किया और कहा कि "हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि हमारी सम्मति में हंगरी के लोगों को अपना भविष्य अपनी इच्छानुसार निश्चित करने का अधिकार होना चाहिए और विदेशी सेनायें वहाँ से वापस बुला लेनी चाहिये।"

इसके बाद संयुक्त राष्ट्र संघ मे जब हंगरी के मामले में रूस के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव रखा तो भारत ने उसके पक्ष मे मत नहीं दिया बल्कि एक सशोधन प्रस्तुत किया कि रूस की निन्दा न की जाय। वहाँ से विदेशी सेनायें हट जायें। पर यह सशोधन स्वीकार न हुआ।

रूस ने भारत के रवैये को अमैत्रीपूर्ण समझा। डा० देवेन्द्र कौशिक ने लिखा कि "भारत के कुछ क्षेत्र में की जाने वाली तीव्र आलोचना के उपरान्त भी हंगरी के प्रश्न पर भारत सरकार ने रूस विरोधी रवैया नहीं अपनाया तथा रूस से सम्बन्धों को बिगड़ने नहीं दिया।"

काश्मीर एवं गोवा के मामले में रूस का भारत को समर्थन—मिस्र के मामले में भारत से ब्रिटेन और फ्रांस बड़े नाराज थे। उन्होंने समझा कि हंगरी के मामले में भारत से रूस भी चिढ़

गया है अत: अच्छा अवसर देख 1957 में सुरक्षा परिषद में अमेरिका ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें कहा गया था कि काश्मीर में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान मे जनमत कराया जाय। दोनों देश भारत एवं पाकिस्तान काश्मीर से अपनी-अपनी सेनायें हटा ले। अधिकाश सदस्य प्रस्ताव के पक्ष में थे पर रूस ने वीटो का प्रयोग कर उसे रद्द कर दिया।

इसी प्रकार गोवा का मामला उस समय भीषण रूप धारणा कर गया जब 1961 मे भारतीय सेनाओं ने गोवा को पुर्तगाली चंगुल से मुक्त करा लिया। पश्चिमी देशों ने पुर्तगाल का समर्थन और भारत की कटु आलोचना की। परन्तु रूस पुराने वायदे पर अड़ा रहा उसने भारत का खुल कर समर्थन किया। प्रावदा ने छापा—"पुर्तगाली साम्राज्यवादी भारत से निकाल दिये गये। भारत की सेनाओं ने गोवा, दमन एवं दीय को मुक्त कर लिया।"

उस समय रूस के साम्यवादी दल के महासचिव श्री ब्रेझनेव भारत की यात्रा पर थे। उन्होंने भारत को सार्वजनिक रूप से बधाई दी। मास्को से कोसीगिन का एक सन्देश आया—"शर्मनाक उपनिवेशवादी व्यवस्था के अन्त में आपने उल्लेखनीय योगदान किया है।.......आपका कदम पूरी तरह सही और कानूनी है।"

काश्मीर और गोवा के मामले में रूस का समर्थन पुनः भारत और रूस के सम्बन्ध सुधारने वाला बना।

1962 का चीनी आक्रमण व रूसी दृष्टिकोण—20 अक्टूबर 1962 को चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया। रूसी-भारत मैत्री को पुनः एक झटका लगा। चीन रूसी गुट का प्रमुख सदस्य था। रूस के सामने एक ओर मित्र था और दूसरी ओर भाई था। अतः रूस दुविधा मे पड़ गया कि किसकी निन्दा करे तथा किसकी स्तुति करे?

रूस और अमेरिका आपस में क्यूबा के मामले में उलझे हुये थे। रूस और चीन का परस्पर सैद्धान्तिक मतभेद तीन वर्षों से चल रहा था फिर भी रूस चीन को खोना नहीं चाहता था। यदि वह भारत की ओर से बोलता है तो साम्यवादी गुट छिन्न-भिन्न हो जायगा और यदि वह चीन का पक्ष लेता है तो भारत पश्चिमी गुट मे चला जायगा, क्योंकि उस समय भारत को धड़ाधड़ पश्चिमी देशो से सैनिक सहायता मिल रही थी। रूसी समाचार पत्र 'प्रावदा' ने भारत चीन रेखा को 'शरारतपूर्ण' एव "साम्राज्यवादी सीमा रेखा" कह डाला। इतना ही नही उसने चीन द्वारा भेजे, भारत को, प्रस्ताव का समर्थन कर दिया जिसे भारत यदि मान लेता तो भारतीय भूमि पर चीन का कब्जा हो जाता। प्रावदा ने भारत को सलाह दी कि वह चीन के प्रस्ताव को मान ले और युद्ध को बन्द कर दे।

भारत की जनता रूस के रवैये से भड़क उठी। एक बात और खेदजनक थी कि रूसी पत्र अपनी जनता को यह बता रहे थे कि भारत ने चीन पर आक्रमण किया है। चीन तो आत्म-रक्षा के लिए लड़ रहा है। उस समय रूस ने एक एटलस भी प्रकाशित की जिसमे अनेक भारतीय क्षेत्रो को चीन की सीमा के अन्तर्गत दिखाया। प्रावदा ने तो भारतीय प्रगतिशील लोगों को भी भड़काया कि वे राष्ट्रवादियों का पक्ष न लेकर अन्तर्राष्ट्रीयवाद का समर्थन करे एवं विश्व में शान्ति स्थापना के प्रयत्न में लग जायें। इतना ही नहीं ख्रुश्चेव ने एक पत्र नेहरू को लिखकर यह सुझाव दिया कि वे चीन द्वारा रखे गये प्रस्ताव के अनुसार चीन से सन्धि कर लें।

पं० नेहरू को रूस के रवैये पर बड़ा दुःख हुआ, अपने मित्र का विश्वासघात उन्हें खल गया अतः उन्होंने पश्चिमी गुट से सहायता की अपील की। उस समय अमेरिका में भारत का पक्षपाती राष्ट्रपति कैनेडी आसीन था। इस अपील पर उसने भारत को काफी सहायता दी, पाकिस्तान को चुप रहने की सलाह दी तथा अन्य देशों से भी भारत की मदद की। पं० नेहरू अमेरिका के प्रशंसक बन गये।

इस चीन-भारत के संघर्ष के समय रूस और अमेरिका में संघर्ष चल रहा था और दोनों में चिढ़ने की सम्भावना थी। रूस को झुकना पड़ा और उसे क्यूबा से सभी अड्डे हटाने का वायदा करना पड़ा। चीन के नेताओं ने रूसी नेताओं को 'दब्बू" कहा। रूसी नेता भी चिढ़ गये उन्होंने भी चीनी नेताओं की आलोचना की। उस समय रूसी नेताओं ने समझा कि भाई से तो मित्र ही भला है। अतः उनका रुख बदल गया और वे भारत का पक्ष लेने के लिए तैयार हो गये। चीन ने 10 नवम्बर 1962 को एकतरफा युद्ध बन्द कर दिया। ख्रुश्चेव को बड़ी प्रसन्नता हुई।

ख्रुश्चेव ने सर्वोच्च सावियत के सामने अपने भाव रखते हुए कहा कि "हमें इस बात का विशेष दुख है कि भाई चीन और मित्र भारत के पुत्रों का रक्त इस युद्ध में बहा। पहली बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है जबकि एक समाजवादी देश मे तथा एक अन्य देश (भारत) में जिसमें अपनी स्वतन्त्र उन्नति करनी शुरू की है और जो असलग्नता की नीति का अनुसरण करता है सीमा विवाद के कारण गम्भीर सशस्त्र झगड़ा हो गया।"""""इससे हमको बहुत दुख हुआ। सीमा विवाद के बारे में हमें लेनिन के विचारों को अपनाना चाहिए। 45 वर्ष का हमारा अनुभव है कि ऐसा कोई सीमा विवाद नहीं है जो कि शान्तिपूर्वक हल न किया जा सके।......"

ख्रुश्चेव ने इस युद्ध को "युद्ध का पागलपन एवं राष्ट्रवाद को खतरनाक कीटाणु पैदा करने वाला" बताया। इस युद्ध की समाप्ति पर ख्रुश्चेव ने चीन की प्रशंसा की तथा कहा कि "निस्सन्देह चीन की सरकार द्वारा उठाये हुए कदमों की संसार के सारे शान्तिवादी देश स्तुति करेंगे। निःसन्देह युद्ध क्यों किया जाय ? क्या चीन ने भारत पर आक्रमण किया ? हम इस प्रकार की बातों को मिथ्या तथा निन्दात्मक मानते हैं। हम इस बात को भी नहीं मानते कि भारत चीन के साथ युद्ध शुरू करना चाहता है।"

ख्रुश्चेव का यह बयान सरासर पक्षपातपूर्ण, झूठ से भरा तथा भारत के विरुद्ध था। कांग्रेसजन इतने से ही सन्तोष कर रहे थे कि रूस ने चीन की सहायता नहीं की, वह तटस्थ बना रहा। चीन को इस बात पर रोष था कि रूस इस युद्ध में तटस्थ क्यों रहा ? आगे जब रूस और चीन में शीत युद्ध चला तो पता चला कि उसकी तह में भारत-चीन युद्ध में रूस की तटस्थता ही थी।

पं० नेहरू को रूस के रवैये से दुःख तो अवश्य हुआ पर उनकी आस्था रूस से दूरी नहीं अतः रूस से उनके सम्बन्ध पूर्व जैसे रहे। चीन द्वारा शीत युद्ध छेड़ने में रूस भारत की ओर अधिक झुकता गया। पर 1964 का वर्ष भारत के लिए बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण रहा। 27 मई 1964 को पं० नेहरू का निधन हो गया साथ मे अक्टूबर 1964 में ख्रुश्चेव भी पद से हटा दिये गये। विश्व इतिहास मे 'ख्रुश्चेव एवं नेहरू मैत्री" का युग अमर रहेगा।

प्रगाढ़ मित्रता का युग या ब्रेझनेव का युग—चीन-रूस शीत युद्ध ने ख्रुश्चेव का तख्ता उलट दिया। 1964 में ब्रेझनेव रूसी साम्यवादी दल के महामन्त्री बने तथा कोसीगिन सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री बने। भारत मे भी प० नेहरू के उत्तराधिकारी लाल बहादुर शास्त्री प्रधानमन्त्री पद पर आसीन हुए। उन्होने विदेश नीति में कोई परिवर्तन नही किया। 18 महीने के शासन काल मे शास्त्री जी क्या परिवर्तन करते। नेता बदलने से रूस की विदेश नीति मे भी कोई परिवर्तन नहीं आया। ब्रेझनेव के युग की घटनायें निम्नलिखित हैं :

(1) भारत-पाक युद्ध 1965—पाकिस्तान भारत से युद्ध करने तथा काश्मीर ही नही भारत के अन्य क्षेत्रों पर अधिकार करने की योजना बना रहा था। पश्चिमी गुट, बगदाद पैक्ट के मुस्लिम राज्य, चीन और अमेरिका का उसे समर्थन प्राप्त था। चीन-भारत के युद्ध से बड़ी प्रेरणा मिली थी। वह समझता था कि अब की बार वह भारत को परास्त कर दिल की कसक निकालेगा अतः

उसने विना युद्ध घोषणा के 1 सितम्बर 1955 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार कर भारत पर आक्रमण कर दिया। इससे पहले ही पाकिस्तान के घुसपेठिये जम्मू-काश्मीर में हजारों की मात्रा मे घुस गये थे और काश्मीर में तोड़-फोड़ एवं मार काट में लग गये थे। अनेक लोग उनमें से पकड़े गये थे। उनसे जो कागज पत्र मिले इनसे भारत यह जान गया कि पाकिस्तान के क्या इरादे हैं। अत: वह पहले से सचेत था। उसने पाकिस्तान को कई विरोध पत्र भेजे थे पर पाकिस्तान के कानो में कोई जूँ न रेंगी थी। अत: घुसपेठियो के अड्डे हाजी पीर पर कब्जा करने के लिए भारत की सेना ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पार कर ली और दर्रे पर कब्जा कर लिया। पाकिस्ताना ने पूर्वयोजन के अनुसार *आक्रमण कर दिया।*

(अ) रूस की भारत-पाक युद्ध के प्रति नीति—नेहरू जी की मृत्यु के वाद श्री लालबहादुर शास्त्री मई 1965 मे रूस की यात्रा पर गये थे। वहाँ उनका भव्य स्वागत किया और दोनो देशों के प्रधानमन्त्रियों मे मैत्रीपूर्ण वार्ता हुई। इस यात्रा से शास्त्री जी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—"भारत और रूस गहन मित्रता के मजबूत और वास्तविक बन्धन स बंधे हुए हैं। इस मित्रता का आधार कोई तात्कालिक स्वार्थ नहीं है, वरन् इस बात की अनुमति है कि मानवता का हित शान्ति का दायरा विस्तृत करने म है।"

रूस का नया नेतृत्व भारत से तो मैत्री चाहता था साथ मे पाकिस्तान से भी मैत्री चाहता था और वहाँ से अमेरिकन अड्डे समाप्त करना चाहता था। 1964 में सुरक्षा परिषद में वाद-विवाद के समय रूसी प्रतिनिधि ने यह कहा था कि दोनो देशों मे शान्तिपूर्वक वार्ता द्वारा इस समस्या का समाधान कर लेना चाहिए। इसके बाद अप्रैल 1965 से जब पाकिस्तान न कच्छ के रन पर आक्रमण किया, उस समय रूस ने दोनो देशो को बराबर का दर्जा दिया।

इस प्रकार अपने पाकिस्तानी रुख के कारण रूस ने 1965 मे पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण होने पर भारत का साथ अवश्य दिया पर पाकिस्तान की निन्दा भी नही की। आक्रमण के 4 दिन बाद कोसीगिन ने पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खाँ तथा भारत के लाल बहादुर शास्त्री को पत्र लिखा और दोनों से शान्ति की अपील की। पत्र मे लिखा था कि भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव मे कोई कमी नही आई है और दोनो देश युद्ध विराम रेखा पार करके एक-दूसरे से युद्ध कर रहे हैं।........काश्मीर में संघर्ष से सोवियत संघ प्रसन्न नहीं है ....अब समय नही है कि इस संघर्ष के उद्गम का पता लगाया जाय। कितने ही मनुष्यों की जाने व्यर्थ गई हैं। युद्ध को तत्काल बन्द करना अत्यन्त आवश्यक है।"

4 सितम्बर 1965 को सुरक्षा परिषद मे युद्ध-विराम का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया। भारत को यह बडा दुःख हुआ कि रूस ने पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित न किया। पश्चिमी गुट तो पहले ही से पाकिस्तान की ओर था, रूस का रुख बदला हुआ उसे दिखाई दिया अतः उसने *युद्धविराम का प्रस्ताव न माना।*

6 सितम्बर 1965 को चीन के उपप्रधानमन्त्री चेन भी पाकिस्तान मे थे। उन्होने पाकिस्तान को बढ़ावा देते हुए कहा कि पाकिस्तान ने भारत के आक्रमण के विरुद्ध जो कार्यवाही की है, चीन उसका समर्थन करता है।" दो दिन बाद चीन ने भारत को धमकी दी कि यदि वह युद्ध बन्द नही करेगा तो चीन भी युद्ध में कूद पड़ेगा। इस धमकी से पश्चिमी देशो को खतरा पैदा हो गया यद्यपि उनका रुख पाकिस्तान समर्थक था वे युद्ध को व्यापक नहीं करना चाहते थे अतः उन्होंने *चीन को चेतावनी दी कि वह युद्ध की विभीषिका को ज्यादा न बढ़ाये। रूस के ब्रेझनेव ने भी चीन* को धमकी देते हुए कहा कि 'तीसरी शक्ति" "आग मे घी" डालने से परहेज करे।

20 सितम्बर 1965 को सुरक्षा परिषद के द्वारा युद्ध-विराम प्रस्ताव पास किया गया और दोनों को 22 सितम्बर को 12·30 बजे तक युद्ध बन्द करने का निर्देश दिया। यह प्रस्ताव भी

पहले के समान था अर्थात् आक्रमक और आकान्ता दोनों को एक ही श्रेणी में रखा गया था। इस प्रस्ताव में दोनों देशों को 5 अगस्त की स्थिति में लौट जाने का आग्रह किया गया था। दोनों देशों में यह प्रस्ताव मान लिया गया। युद्ध बन्द हो गया पर तनातनी बन्द न हुई।

ताशकन्द समझौता—रूस की नीति पाक-भारत युद्ध में एक तटस्थ देश की रही। वास्तव में भारत और रूस को एक ही स्तर पर रखने का विचार ख्रुश्चेव के काल से चल रहा था पर ब्रेझनेव ने उस पर विशेष जोर दिया। 1962 में जब जफरुल्लाह खाँ रूस यात्रा पर गये तो उनका खूब स्वागत हुआ था और कोसीगिन ने कहा था—"रूस पाकिस्तान से बहतर सम्बन्ध बनाना चाहता है।" अप्रैल 1965 में श्री अय्यूब खाँ भी रूस यात्रा कर आये थे। जब भारत के लाल बहादुर शास्त्री रूस गये तो कोसीगिन ने रूस-पाकिस्तान मैत्री की ओर संकेत करते हुए कहा था कि "जब सोवियत रूस किसी तीसरे देश से अपने सम्बन्ध सुधारना चाहता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह भारत-रूस मैत्री के मूल्य पर ऐसा कर रहा है।"

रूस का स्पष्ट उद्देश्य भारत और पाकिस्तान मे सन्धि कराना था तथा दोनों पर अपना प्रभाव जमाना चाहता था। वह भारत उपमहाद्वीप से अमेरिका का प्रभाव नष्ट करना चाहता था। इसी कारण उसने दोनों देशो के मतभेद दूर करने के लिए मध्यस्थता का प्रस्ताव रखा। दोनों देश तैयार हो गये। भारत के प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति मियाँ अय्यूब खाँ 5 जनवरी 1966 को ताशकन्द पहुँच गये। उनके साथ उनके सलाहकार भी गये थे। 5 दिन तक कोसीगिन के माध्यम से दोनों देशो के शासनाध्यक्षों में बातचीत चलती रही। दोनों व्यक्ति अपनी जिद् पर अडे थे अतः कोई मामला हल न होता दिखाई देता था और यह लगता था कि वार्ता भंग होने वाली है तब कोसीजिन ने हस्तक्षेप किया और 10 जनवरी 1966 को ताशकन्द समझौता हो गया। दोनों देशों की सेनाएँ युद्ध पूर्व की स्थिति मे लौट गयीं। जीती हुई सभी भूमि भारत ने पाकिस्तान को लौटा दी। युद्ध के मैदान में भारत की जीत हुई पर ताशकन्द में भारत हार गया।

इस समझौते की बडी आलोचना हुई। कहा गया कि रूस पाकिस्तान को खुश करने पर तुला था। अतः पाकिस्तान का राष्ट्रपति अपनी माँगों से तिल भर हटना नहीं चाहते थे। रूस ने ताशकन्द की सन्धि वार्ता को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था अतः वह हर कीमत पर समझौता चाहता था। उसने शास्त्री जी को धमका-डरा कर समझौते पर हस्ताक्षर करने को मजबूर कर दिया। शायद इसी के कारण उसी समझौते की रात्रि को श्रीशास्त्री की हृदय गति बन्द हो गयी। ताशकन्द सन्धि रूस की कूटनीति की विजय मानी जाती है। श्री हरीश कपूर ने "सोवियत रूस और भारत सम्बन्ध" नामक पुस्तक मे लिखा है कि "अन्तिम क्षणो मे सोवियत रूस के हस्तक्षेप के कारण ही भारत-पाक वार्ता भग होने से बची।"

श्री सुरेन्द्र नाथ द्विवेदी (समाजवादी पार्टी) ने कहा "यह भारत के राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध है। ताशकन्द में प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री रूसी दबाव को मान गये थे। श्री शास्त्री ने देश के प्रति भारी कमजोरी दिखाई।" जन संघ के नेता श्री अटलबिहारी वाजपेई ने कहा कि "ताशकन्द की खबर से गहरा धक्का लगा है। घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करके प्रधानमन्त्री ने संसद तथा जनता को दिये गये वचनों की अवहेलना करके विश्वासघात किया है।" श्री अटलबिहारी वाजपेई ने अन्त में कहा कि "मुझे जो सूचना मिली है, उसके अनुसार मैं पूरी जिम्मेदारी के साथ कह सकता हूँ कि स्व० लालबहादुर शास्त्री इस ताशकन्द घोषणा पर हस्ताक्षर करने को तैयार नहीं थे। परन्तु रूस ने उन पर दबाव डाला कि वह काश्मीर के मामले पर भारत का समर्थन न करेगा, इसलिए श्री शास्त्री को इस घोषणा पर विवश होकर हस्ताक्षर करने पड़े और इस शोक से वे मर गये।"

ताशकन्द सन्धि निश्चित ही पाकिस्तान के पक्ष में थी और भारत को दबा कर रूस ने पाकिस्तान का समर्थन प्राप्त कर लिया था। यद्यपि कांग्रेस सरकार ने ताशकन्द की सन्धि की बड़ी प्रशंसा की पर उसने पाकिस्तान की खुशियों का अर्थ नहीं समझा। कोसीजिन ने भी इस तीर को मारकर पश्चिमी गुट को दिखा दिया कि उसका कितना प्रभाव है। पश्चिमी गुट ने अनुभव किया कि शायद वे पाकिस्तान का इतना भला न कर पाते जितना रूस ने किया है अतः उन्होंने भी ताशकन्द समझौते की तारीफ की। पर लन्दन टाइम्स ने लिख ही दिया कि "कर्जन के लिए यह कितना असहनीय और आश्चर्यजनक होगा कि इस उपमहाद्वीप की समस्याओं का समाधान सोवियत रूस के संरक्षण में ताशकन्द में हुआ।"

ताशकन्द से भारत को कोई लाभ नहीं हुआ। पाकिस्तान ने इस समझौते का उतना ही अंश माना जो उसके लाभ म था शेष की अवहेलना की तथा भावी युद्ध की तैयारी मे लग गया।

श्रीमती इन्दिरा गांधी के काल में रूस भारत सम्बन्ध—प० नेहरू 27 मई 1964 को स्वर्गवासी हुए थे। श्रीमती इन्दिरा जी उसी समय चाहती थी कि पिता की गद्दी उन्हे ही मिले पर श्री लालबहादुर शास्त्री का पक्ष प्रबल था अतः उन्हे दिल पर पत्थर रखकर अपने पिता की 'गद्दी" को अपने हाथ से जाते हुए देखना पड़ा। परन्तु 18 महीने बाद उनकी इच्छा पूर्ति हो गयी। श्री शास्त्री की मृत्यु के बाद वे प्रधानमन्त्री बनने के लिए अड़ गयी। श्री मोरार जी देसाई जो इस के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति थे, उनका पक्ष भी प्रबल था पर कांग्रेस की फूट को बचाने के लिए और कामराज के समझाने से अपनी इच्छा को त्यागने के लिए तैयार हो गये। अतः 1966 में भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा नेहरू गांधी बनी।

(1) **रूस की क्रान्ति की पचासवीं जयन्ती**—1967 में सोवियत रूस की क्रान्ति की 50वीं वर्षगांठ बड़ी धूमधाम से मनाई गई। भारत ने भी वर्ष भर सोवियत क्रान्ति की पचासवी जयन्ती के उपलक्ष मे अनेक आयोजन होते रहे। इतना ही नही, क्रान्ति के उत्सव में भाग लेने के लिए श्रीमती गांधी 7 नवम्बर 1967 को विशेष रूप से रूस पहुँची। जाते समय उन्होंने कहा था कि 'रूसी क्रान्ति ने केवल हमारे स्वतन्त्र संघर्ष को ही नही, वरन् विश्व के सभी दलित लोगों को नई प्रेरणा और नया उत्साह प्रदान किया।" आगे वे रूस के प्रभाव का अपने ऊपर जो असर था उसको प्रकट करते हुए बोली कि "बचपन से ही सोवियत संघ से मेरा निकट सम्पर्क रहा है। मैं उन दस दिनो के दौरान पैदा हुई थी, जब दुनिया हिल सी गयी थी। इसलिए रूस के विकास में मेरी विशेष रुचि है।"[1]

भारत के कांग्रेसी नेता भी रूस द्वारा मनाई गई जयन्ती से बहुत प्रभावित थे और दो वर्ष बाद उन्होने महात्मा गांधी की जन्म शताब्दी उसी धूमधाम से मनाई।

(2) **रूस द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहायता**—ताशकन्द समझौते से पाकिस्तान रूस के प्रति बडा कृतज्ञ था। उसने रूस की सहायता से वह सब कुछ प्राप्त कर लिया जो युद्ध के मैदान में उसे खोना पड़ा था। रूस की मित्रता से पाकिस्तान और लाभ उठाना चाहता था। अमेरिका और चीन तो उसे सैनिक सहायता देते ही थे, वह रूस से भी सैनिक सहायता लेकर भारत से अधिक शक्ति अर्जित करना चाहता था। उधर रूस भी पाकिस्तान की मित्रता से अमेरिका को नीचा दिखाना चाहता था।

1965 से 1970 तक पाकिस्तान के राष्ट्रपति की तीन बार रूस यात्रा हुई। रूस के प्रधानमन्त्री भी इस बीच दो बार पाकिस्तान की यात्रा पर गये। उन्होने पाकिस्तान के नेताओं को

---

[1] *See Nav Bharat Times*—Dated 17th June 1976.

विश्वास दिलाया कि "वे ईमानदारी से पाकिस्तान से मित्रता करना चाहते हैं।" दोनों देशों में व्यापारिक एवं आर्थिक समझौते भी हुए।

इन वर्षों में अमेरिका के समान रूस ने भी पाकिस्तान को व्यावसायिक पैमाने पर उच्चकोटि की तोपें टैंक, विमान और युद्ध का अन्य सामान जो उसके यहाँ बनने लगा था, प्रदान किया। ताशकन्द से रूस को एक नया बाजार मिल गया।

रूस चाहता था कि पाकिस्तान को अपनी ओर मिलाकर पाकिस्तान में अमेरिकन हवाई अड्डे को समाप्त करा दे और इस प्रकार रूस पर सीधे आक्रमण के स्थान को नष्ट करा कर राष्ट्रीय सुरक्षा को इस ओर से प्राप्त कर ले। पाकिस्तान अपने यहाँ से अमेरिकन हवाई अड्डे को हटाने के लिए तैयार था पर उसके बदले में रूस से सैनिक सहायता चाहता था। उसने सैनिक सामान की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की।

जुलाई अगस्त 1967 से पाकिस्तान को रूस से अस्त्र-शस्त्र प्राप्त होने लगे। भारत को जब यह सूचना मिली तो उसने एक विरोध-पत्र रूस को भेजा। रूस ने भारत को धोखा देने के लिए साफ झूठ बोल दिया। पर भारत सरकार इस प्रश्न को रूसी सरकार से बार-बार पूछती रही। 10 जुलाई 1968 को रूस को, अन्त में, यह स्वीकार करना पड़ा कि उसने पाकिस्तान को शस्त्र देना स्वीकार कर लिया है। भारत सरकार को बड़ी निराशा हुई। विरोधी दलों ने रूस और भारत की सरकार की कटु आलोचना करनी प्रारम्भ की। स्वयं इन्दिरा गांधी ने रूसी प्रधानमन्त्री को एक पत्र लिखकर "पाकिस्तानी सैनिक सहायता पर अपना रोष प्रकट किया तथा चेतावनी दी कि वह भारत के शत्रु को सैनिक सहायता देकर उसे भारत के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार किया जा रहा है। ये रूसी शस्त्र भारत के विरुद्ध प्रयुक्त होंगे।"

अमेरिका के समान रूस ने वचन लिया कि रूसी-शस्त्रों का प्रयोग पाकिस्तान भारत के विरुद्ध नहीं करेगा। परन्तु यह आश्वासन अमेरिकन आश्वासन के समान ही खोखला था। उसके विश्वास के अनुसार पाकिस्तान ने इन शस्त्रों का प्रयोग बंगला देश में तथा पाक-भारत युद्ध 1971 में किया ही। रूस ने एक तर्क यह भी दिया कि वह पाकिस्तान को अमेरिका और चीन के चंगुल से निकालना चाहता है। पर ये दलीलें केवल बहाना मात्र थी। पाकिस्तान, अमेरिका और चीन का साथ नहीं छोड़ सकता था भले ही वह रूस का साथ छोड़ दे।

विरोधी दलों की आलोचना का उत्तर देते हुए श्रीमती गांधी ने लोकसभा में कहा कि "सोवियत संघ ने पाकिस्तान को जो सैनिक सहायता देने का निर्णय किया है, उससे हमारी विदेश नीति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है""""हर देश को सहायता देने का अधिकार है और हम उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते।"

विरोधी दलों की आलोचना, श्रीमती गांधी द्वारा उसका उत्तर तथा पाकिस्तान का रवैया आदि से रूसी नेताओं ने यह समझा कि भारत उससे रुष्ट है, वह यह नहीं चाहता था कि अस्थिर नीति रखने वाले छोटे देश के मुकाबले में एक दृढ़ और शक्तिशाली देश विरोधी पक्ष में चला जाये। अतः उसे अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। घातक अस्त्रों की सप्लाई उसने एकदम बन्द करा दी एवं भारतीय नेताओं को आश्वासन दिया कि वह किसी दशा में भी भारत का अहित नहीं कर सकता है। इस प्रकार रूस पुनः भारत की ओर झुक गया।

(3) चैकोस्लावाकिया काण्ड—रूस यद्यपि विश्व के सभी पराधीन देशों की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन करता था पर अपने घेरे में फँसे पूर्वी यूरोप के देशों को अपने चंगुल से बाहर जाते नहीं सहन कर सकता था। उसने हंगरी, पोलैण्ड आदि देशों के साथ जो दुर्व्यवहार किया उसे विश्व जानता है।

1968 में चैकोस्लावाकिया में भी स्वतन्त्रता आन्दोलन चला। अलैक्जेंन्डर दुबचैक 1968 में चैकोस्लावाकिया साम्यवादी दल के महामन्त्री बने। उसने जनता की भावना को ध्यान में रखते हुए घोषणा की कि वे अखबारों पर से सेन्सरशिप हटा देंगे। सभी नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता देंगे तथा शासन को प्रजातान्त्रिक बनाने का प्रयास करेंगे। जनता ने दूबचैक की घोषणा का स्वागत किया। अखबारों ने भी प्रसन्नता व्यक्त की। पर कुछ मास्को के इशारे पर नाचने वाले साम्यवादियों ने इस घोषणा का विरोध किया। इन लोगों मे राष्ट्रपति नोवोतनी भी सम्मिलित थे। उन्होंने विरोध में त्यागपत्र दे दिया। स्वोबोदा नये राष्ट्रपति बने तथा ओल्ड्रिच सरनिक नये प्रधानमन्त्री बने।

रूस यह कैसे सहन कर सकता था। उसने विचार किया यदि एक देश जो वार्सा पैक्ट से बँधा है उससे निकल जायगा और प्रजातन्त्र बन जाये। तो यह अन्य समय बाद राज्यों मे भी यही भावना पैदा कर सकता है। रूस ने वार्सा पैक्ट के अन्य सदस्यों की कई बार बैठकें बुलायीं और चैकोस्लावाकिया को कई बार चेतावनी दी गयी। परन्तु चैकोस्लावाकिया ने इन चेतावनियों की परवाह न की। वहाँ के अखबारों में रूस के विरुद्ध तीखे लेख लिखे गये। उनमे यह भी माँग की कि रूस उनके देश से अपनी सेनायें हटा ले।

रूस ने सोचा कि अब पानी सिर से ऊपर निकल चुका है अतः उसने चैक सरकार को प्रतिक्रान्तिवादी (Counter Revolutionary) कहा और यह आरोप लगाया कि वह पश्चिमी देशों के हाथों में खेल रहा है। फिर उसने अचानक 20 अगस्त 1968 को वार्सा पैक्ट के अन्य सदस्यों की सेना के साथ (6 लाख सेना) चैकोस्लावाकिया पर आक्रमण कर दिया। इस विशाल सेना को चैकोस्लावाकिया जनता देखती रही और आँसू बहाती रही। बेचारे दूबचैक तथा उनके समर्थक बन्दी बना लिये गये। यद्यपि जनता ने अहिंसात्मक ढंग से विरोध भी किया पर सब बेकार चैकोस्लावाकिया पूर्वावस्था में आ गया।

इस घटना की सर्वत्र आलोचना हुई। श्री ब्रेझनेव ने कहा कि "साम्यवादी देशों की "संप्रभुता सीमित" होती है। यदि साम्यवादी देश साम्यवाद से विमुख होने लगे तो अन्य साम्यवादी देशों को अधिकार है कि उसके मामले में हस्तक्षेप करे और साम्यवाद की रक्षा करे।" यह दलील व्यर्थ दलील थी, कोई औचित्य नहीं रखती थी।

अब भारत की असंलग्नता दाँव पर थी। हंगरी काण्ड के समान पुनः काण्ड घटित हुआ था। रूस की मित्रता का भी प्रश्न था। पर अपनी परम्परा को श्रीमती गाँधी भी न तोड़ सकी। उन्होंने 21 अगस्त 1968 को संसद के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए कहा कि "राष्ट्रों का शान्तिपूर्ण तथा बाहरी हस्तक्षेप के बिना रहने का अधिकार सिद्धान्त या धर्म के आधार पर नहीं मना किया जाना चाहिए" ....।

"भारत के सोवियत सघ, पोलैण्ड, हंगरी तथा बल्गेरिया से घनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु हम चैकोस्लावाकिया की घटनाओं पर व्यथा अथवा गहन दुःख प्रकट किये बिना नहीं रह सकते ""।

'भारत सयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत चैकोस्लावाकिया के अधिकार का समर्थन करेगा। हम चैकोस्लावाकिया के नेताओं की सुरक्षा, उस देश की प्रभुसत्ता तथा अखण्डता के बारे मे चिन्तित हैं। हमे इस बारे में भी चिन्ता है कि वहाँ कब्जा करने वाली बाहर की सेनायें कैसे निकलें।"

भारत का विरोध शान्त, सयत और विनम्र भाषा में था पर वह रूस की शत्रुता मोल लेना नहीं चाहता था। पश्चिमी देशों जैसा उग्र विरोध वह नहीं करना चाहता था। अतः 22 अगस्त 1968 को जब सुरक्षा परिषद मे पश्चिमी राज्यों ने रूस की निन्दा का प्रस्ताव रखा और रूसी

सेनाओं को चैकोस्लावाकिया से निकल जाने की मांग की तो भारत बिदक गया और उसने इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया।

इस अवसर पर भारत के विरोधी दलों ने रूस की निन्दा में कोई कसर न छोड़ी। प्रजा समाजवादी दल के महामन्त्री प्रेम भसीन ने कहा कि "वर्साय सन्धि के देशों द्वारा चैकोस्लावाकिया पर आक्रमण—मानवता तथा स्वतन्त्रता के विरुद्ध अपराध है। सोवियत संघ ने अपने नाम साम्राज्यवादी कार्य द्वारा घड़ी को बारह वर्ष पीछे कर दिया है।" भारतीय जनसंघ ने तो अखिल भारतीय स्तर पर चैकोस्लावाकिया दिवस मनाया। लोकनायक जयप्रकाश ने तो चकोस्लावाकिया पर एक सुन्दर पुस्तक लिख डाली जिसमें "चैकोस्लोवाकिया पर रूसी आक्रमण और चैक जनता द्वारा वीरतापूर्वक गांधीवादी प्रतिरोध का मार्मिक चित्र खीचा।"

विरोधी दलों की प्रतिक्रिया पर रूसी-भारत मैत्री पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में रूस का अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन ही किया। अतः रूस भारत के विरुद्ध न जा सका।

(4) **ब्रेझनेव का सामूहिक सुरक्षा का प्रस्ताव**—श्रीमती इन्दिरा गांधी जब रूस के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही थी और भारत जनता की भावनाओ को अवहेलन कर रही थी तभी रूसी साम्यवादी दल के महामन्त्री ब्रेझनेव ने दुनिया की विशेषकर एशिया की हमदर्दी प्राप्त करने के लिए सामूहिक सुरक्षा (Collective security) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जून 1969 में ब्रेझनेव ने कहा कि हमारा यह मत है कि घटनाओ का स्वरूप एशिया के लिए सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की उत्पत्ति की मांग कर रहा है।' वास्तव में यह प्रस्ताव नया न था क्योंकि एक महीने पूर्व जब कोसीजिन भारत में डॉ० जाकिर हुसैन के निधन पर श्रद्धांजलि अर्पित करने आये थे तो उन्होंने भी ऐसा ही कहा। 1969 में जब जुलाई सोवियत रूस की सर्वोच्च सोवियत का छटा अधिवेशन हुआ तो रूसी विदेशमन्त्री आन्द्रे ग्रोमिको ने भी "एशियाई देशों की सामूहिक सुरक्षा" पर पुनः बल दिया।

यद्यपि श्री ब्रेझनेव ने "सामूहिक सुरक्षा" की पूर्ण व्याख्या नही की थी फिर भी उनके शब्दो से पता चलता था कि वे एशियायी देशों का एक सैनिक संगठन बनाना चाहते हैं। पर यह सैनिक गठबन्धन किसके विरुद्ध होगा? चीन के या पश्चिमी गुट के?

भारत सैनिक गुटबन्दी के विरुद्ध था। उसने "सामूहिक सुरक्षा" के प्रश्न पर कोई दिलचस्पी नही दिखायी। एशिया के अन्य देश उसके प्रति उदासीन रहे। स्वयं रूस उसमे कोई दिलचस्पी नही लेता था। यह 'सुरक्षा का प्रश्न' केवल प्रचारात्मक था।

(5) **रूस द्वारा पुनः भारत का गलत नक्शा छापना**—रूस चीन का भय दिखाकर भारत को अपने चगुल में रखना चाहता था। चीन भारत युद्ध के समय जब "सोवियत एनसाइक्लोपीडिया" का दूसरा संस्करण छपा था तो उसमें एक नक्शा भी था जिसमे भारत के "लद्दाख एवं नेफा क्षेत्र" चीन के क्षेत्र बताये गये थे। भारत के विरोध करने पर रूसी नेताओं ने आश्वासन दिया था कि नये संस्करण मे इस गलती को सुधार दिया जायगा पर 1970 में जब तीसरा संस्करण छपा तो पुनः रूस ने पुरानी गलती दोहराई। भारत नही चाहता था कि वह रूस से विरोध मोल ले अतः इस नक्शे के मामले को उसने अधिक तूल नही दिया।

(6) **भारत रूस में बढ़ता हुआ व्यापार**—श्रीमती इन्दिरा के काल मे भारत रूस व्यापार बहुत अधिक बढ़ गया था। 1950-51 में नेहरू काल मे यह व्यापार केवल 2 करोड़ रुपये का था, 1961 मे वह बढ़कर 70 करोड़ रुपये तक हो गया था पर श्रीमती गांधी के काल में (1970-71) यह व्यापार 346 करोड़ रुपये तक जा पहुँचा। इसका लक्ष्य 1000 करोड़ रुपये अधिक तक ले जाना था। रूस भारतीय वस्तुओ का दूसरे नम्बर पर सबसे बड़ा ग्राहक देश था।

भारत द्वारा आयात की जाने वाली वस्तुओं को सैनिक शस्त्रों की संख्या बहुत अधिक थी। भारत इनका भुगतान किश्तों में करता था। 1965 में अमेरिका ने पाक-भारत दोनों की सहायता बन्द कर दी थी। पर रूस बराबर भारत को सहायता देता रहा। भारत मे भारी मात्रा में टी-55 टैंक, सुखोल बमवर्षक विमान, 100 मिमी० तोपें, रडार, मिग-20, सैमसिसाईल, बड़े हेलीकोप्टर, माल वाहक विमान आदि आते रहे। यद्यपि भारत काफी मात्रा मे अपनी आवश्यकता का सैनिक सामान स्वयं उत्पन्न करता था फिर भी उसे उच्चकोटि के शस्त्र बाहर से मँगाने पड़ते थे जो अधिकांश रूस से आते थे।

दोनो देशों मे आर्थिक-सम्बन्धों में काफी विकास हो रहा था। 1965 से 1968 तक भारत को रूस से 1021 करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता मिली। भारत मे रूस द्वारा चलाये जाने वाले उद्योगों में भारत को केवल 30% इस्पात, 20% तेल, 60% बड़ी मशीनें ...आदि मिलती थी। 1970 मे एक समझौता भारत एवं रूस मे हुआ जो 5 वर्षीय था। इसमे दोनों देशों के बीच व्यापार को 75% बढ़ाने का निश्चय किया गया।

(7) भारत-रूस 20 वर्षीय सन्धि—1971 में भारत, बंगला देश की स्वतन्त्रता सघर्ष मे फँस गया। भारत पर पाकिस्तान, चीन और अमेरिका का संयुक्त आक्रमण होने की आशंका पैदा हो गयी तब भारत के पास एक ही सहारा रह गया और वह था रूस। 9 अगस्त 1971 को दोनों देशो मे 20 वर्ष तक के लिए सुरक्षा सन्धि हो गयी। इस बात का उल्लेख करते हुए श्रीमती इन्दिरा ने कहा कि "सोवियत सघ और भारत की दोस्ती आज के विश्व रंगमंच की एक प्रमुख बात है। यह मैत्री समय की कसोटी पर खरी उतरी है और इस पर हमें गर्व है।"

सन्धि पर भारत के विदेशमन्त्री सरदार स्वर्णसिंह तथा रूस के विदेशमन्त्री श्री ग्रोमिको ने हस्ताक्षर किये सन्धि पर हस्ताक्षर होने के बाद ग्रोमिको ने कहा कि "दो देशो के सम्बन्धों के बीच कभी-कभी ऐतिहासिक घटनायें होती हैं। शान्ति, मित्रता और सहयोग की सन्धि जिस पर अभी हस्ताक्षर हुए हैं, इसी प्रकार की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। यह एक मील का पत्थर है।" श्री स्वर्णसिंह ने कहा कि "इस शान्ति सन्धि से दोनों देशों के बीच ही नहीं, इस सम्पूर्ण क्षेत्र में शान्ति स्थापित होगी।"

विरोधी दल के प्रमुख नेता श्री अटल बिहारी बाजपेई ने भी कहा कि "मैं इस सन्धि का स्वागत करता हूं, क्योंकि इसके द्वारा भारत को एक मित्र प्राप्त हो गया है—एक मित्र जिसका विश्वास किया जा सकता है और संकट के समय मे हमारा साथ दे सकता है"... " श्री एम० सी० छागला ने भी कहा कि 'इस अवसर पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि सोवियत संघ संकट के समय हमारा मित्र सिद्ध हुआ है और जो संकट के समय मित्र होता है, वही वास्तविक मित्र होता है। रूस ने भारत और एशिया का महत्त्व जान लिया है।"

हम जानते हैं कि इसी सन्धि के कारण बंगला देश मे भारत को पूर्ण सफलता मिली चीन एवं अमेरिका रूस के भय से इस युद्ध मे हस्तक्षेप न कर सके। दिल्ली स्थित सोवियत राजदूत एन० पीगोव ने श्रीमती गाँधी को आश्वासन देते हुए कहा था कि यदि चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो रूस चीन को सीक्यांग मे उलझा देगा।" युद्ध के दौरान अमेरिका का सातवां बेड़ा जब बगाल की खाडी की ओर बढ़ा तो श्री० डी० पी० धर मास्को रवाना हुए। रूस के समाचार पत्र "रैडस्टार" ने लिखा कि "बगाल की खाड़ी अमेरिका की कोई झील नहीं। श्री डी० पी० धर को रूस की सरकार ने आश्वासन दिया कि "अमेरिका के सातवें बेड़े को बंगला देश मे हस्तक्षेप नहीं करने दिया जायगा। मास्को मे प्रसन्न होकर श्री धर ने कहा था कि "कोई भी मित्र इतना उदार, इतना तत्पर, इतना समझदार नहीं हो सकता जितना कि भारत के संकट के समय सोवियत रूस हुआ है।"

व्यापार समझौता—26 नवम्बर 1973 को सोवियत रूस की साम्यवादी पार्टी के महासचिव श्री ब्रेझनेव भारत में 5 दिन की यात्रा पर आये। इससे पूर्व वे 1961 में आये थे। उस समय से अब तक अर्थात् 12 वर्ष में भारत और रूस के सम्बन्ध काफी गाढ़े हो चुके थे, कांग्रेस अध्यक्ष ने ब्रेझनेव का स्वागत करते हुए कहा था "हम विश्व शान्ति के अथक विजेता राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलनों के समर्थक तथा नवोदित राष्ट्रों के मित्र का सम्पूर्ण हृदय से स्वागत करते हैं।" पत्र-पत्रिकाओं ने भी ब्रेझनेव की बड़ी प्रशंसा की। 'मदरलैण्ड" ने भी उन्हें 'स्वागत कामरेड" कहकर पुकारा। ब्रेझनेव ने भारतीय साम्यवादियों को परामर्श दिया कि वे श्रीमती गांधी को पूर्ण सहयोग दें। इस पर श्री मधुलिमये ने ब्रेझनेव पर आरोप लगाया कि वे भारतीय घरेलू मामलों मे हस्तक्षेप कर रहे हैं। यह बात उन्होने आधा घण्टे की मुलाकात मे ब्रेझनेव से कही।

भारत की इस यात्रा में ब्रेझनेव ने भारत रूस की मैत्री को "समय द्वारा परीक्षित निधि" (Time tested Treasure) कहा। वे भारत की यात्रा से बहुत प्रभावित होकर स्वदेश लौटे। इसी दिन अर्थात् 29 नवम्बर 1973 को भारत और रूस के बीच 15 वर्ष के लिए एक व्यापारिक समझौता भी हुआ। उसमें कहा गया कि 1980 तक भारत-रूस व्यापार मे 150 से 200 प्रतिशत तक की वृद्धि की जायगी।

इस 15 वर्षीय समझौते के अन्तर्गत कृषि, बिजली, उद्योग तकनीकी प्रशिक्षण आदि अनेक क्षेत्रों में सहयोग विस्तार देने का निर्णय लिया गया। यह भी तय हुआ कि भिलाई, बोकारो के इस्पात संयन्त्रों को आधुनिकतम बनाया जायगा और उनका पूर्णतम उपयोग किया जायगा। इनकी क्षमता क्रमशः 70 लाख टन और 1 करोड़ टन कर दी जायगी। मथुरा से तेल शोधक कारखाने के लिए रूस सहायता देगा। इसकी उत्पादन क्षमता 60 लाख टन होगी।

रूस और भारत के सम्बन्ध इतने प्रगाढ़ हो चुके थे कि 1948 मे जब यही प्रस्ताव रखा था तो इसका घोर विरोध हुआ था पर 1973 में जब यह प्रस्ताव भारतीय ससद में रखा गया तो इस व्यापारिक समझौते की जोरदार पुष्टि की गयी।

भारत का परमाणु परीक्षण—भारत की जनता भूखी मर रही थी पर श्रीमती गांधी विश्व में वाहवाही लूटने के लिए धन को पानी की तरह बहा रही थी। 18 मई 1974 को पोखरन में भारत ने परमाणु विस्फोट किया। इस विस्फोट से विश्व आश्चर्य चकित हो गया। पश्चिमी देशों मे हलचल मच गयी और पाकिस्तान तो डर के मारे काँपने लगा। भारत अब विश्व का छठा देश माना जाने लगा जो आणविक शक्ति रखते हैं। पश्चिमी देशो ने भारत की बड़ी आलोचना की पर रूस ने भारत के परमाणु विस्फोट का स्वागत किया।

आपात काल की रूस द्वारा प्रशंसा—इन्दिरा जी के रूस समर्थक कार्य एवं तानाशाही प्रवृत्ति से जनता उकता गयी थी और विरोधी दलो की शक्ति बढ़ गयी थी। विरोधियो की स्थिति और भी दृढ़ हो गयी जब इलाहाबाद हाई कोर्ट ने श्रीमती इन्दिरा का 1971 वाला ससद की सदस्यता का चुनाव रद्द कर दिया और उन्हे 6 वर्ष के लिए चुनावों मे भाग लेने के लिए अयोग्य घोषित कर दिया। इसके साथ ही गुजरात विधानसभा मे कांग्रेस दल की हार हो गयी। श्रीमती गांधी से विरोधियों ने त्यागपत्र की मांग की उन्हें चेतावनी भी दी कि यदि वे त्यागपत्र नही देती तो भारत व्यापी आन्दोलन छेड़ा जायगा। 25 जून को सभी विरोधी दलो के नेताओं ने दिल्ली में बैठक बुलाई। इन्दिरा गांधी डर गयी और 26 जून 1975 को भारत मे आपातकालीन स्थिति घोषित करा दी। भारत के सभी विरोधी दलो के नेता तथा कांग्रेस में भी शंकित नेताओ को डी० आई० आर० या मीसा मे अनिश्चित काल के लिए नजर बन्द कर दिया। इतना ही नही विरोधी दलों के लाखों कार्यकर्ता जेल में बिना अपराध के बन्द कर दिये गये। आर० एस० एस० जैसे हिन्दू मुस्लिम 26 संगठन अवैध घोषित कर उनकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। अखबारों पर

सैन्सर बैठा दिया गया। भारतीय नागरिकों के मौलिक अधिकार एवं स्वतन्त्रता समाप्त कर दी गयी। इस तरह से देश मे श्रीमती गांधी ने मात्र अपनी गद्दी बचाने के लिये आतंक का शासन स्थापित कर दिया।

पश्चिमी देशों ने कहना प्रारम्भ किया कि भारत मे प्रजातन्त्र की हत्या कर गयी। कुछ नेता विदेश भाग गये, उनकी सम्पत्ति जमा कर ली गयी, पर वहाँ उन्होंने इन्दिरा गांधी की तानाशाही का कच्चा चिट्ठा छाप दिया। परन्तु श्रीमती गांधी तथा उनके समर्थकों ने इसी को प्रजातन्त्र कहा। सोवियत रूस ने श्रीमती गांधी का पूर्ण समर्थन किया तथा उन्हे "महान नेता" कहा।

नई सरकार का रूस के प्रति रुख—इन्दिरा गांधी के विरोध मे विरोधी दल एक हो गये। 4 दलों का एक ही दल मे विलय हो गया। श्री जगजीवनराम ने कांग्रेस से निकल प्रजातन्त्रीय दल की स्थापना की; चुनाव मे जनता पार्टी का चिन्ह लेकर श्री जगजीवनराम की पार्टी भी जीती अतः उसका विलय भी जनता पार्टी में हो गया। जनता पार्टी की सत्ता स्थापित होने पर लोगों को आशा थी कि अब भारत-रूस की 20 वर्षीय सन्धि रद्द कर देगा। श्री अटल बिहारी वाजपेई जो जनसंघ के नेता थे और रूसी साम्यवाद के कट्टर विरोधी थे, जनता पार्टी की सरकार मे विदेशमन्त्री बने तो लोगों को पूर्ण विश्वास हो गया कि भारत-रूस विरोधी नीति अपनायेगा। पर आशा के विपरीत नई सरकार ने 20 वर्षीय रूसी-भारत सन्धि का समर्थन किया और रूस के विदेशमन्त्री को वचन दिया कि हमारे और आपके बीच जो पूर्व सरकार के सम्बन्ध थे के बराबर रहेंगे।

भारत पाक सम्बन्ध
(Indo-Pak Relations)

पृष्ठभूमि—भारत में मुसलमानो के आने से पहले जितनी भी विदेशी जातियाँ आक्रमणकारी के रूप में आयी, वे सब यहीं बस गयी और धीरे-धीरे उन्होंने भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति को अपना लिया और भारतीय समाज का अंग बन गयी। पर मुसलमानों ने जब आक्रमण किया तो प्रारम्भ में उनका उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार करना था और भारत के धन को लूटना रहा। 11वीं शताब्दी तक ऐसा ही चलता रहा। 12वीं शताब्दी के अन्तिम दशक मे जो तुर्कों के आक्रमण हुए उसमे मुसलमानो ने यहाँ अपना स्थायी शासन स्थापित किया और यहीं बसना प्रारम्भ किया। यद्यपि यहाँ एक वंश का शासन स्थायी रूप से स्थापित न हो सका क्योंकि समय-समय पर वंश बदलते रहे तथा जातियाँ भी बदलती रहीं, फिर भी तेरहवीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक मुसलमानो का अधिकांश भारत पर अधिकार बना रहा। हिन्दू लगातार इन विदेशियों से लड़ते रहे- छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित करते रहे और कभी-कभी तो विशाल साम्राज्य भी स्थापित करते रहे। 17वीं शताब्दी मे जो मराठों ने स्वतन्त्रता संग्राम चलाया वह अतिव्यापक था और 19वीं शताब्दी मे मुसलमान नाममात्र के लिए दिल्ली के सम्राट रहे पर वास्तविक सत्ता मराठों के हाथ में रही। अटक से कटक तक और हिमालय पर्वत से कन्याकुमारी तक मराठों का साम्राज्य स्थापित हो गया। जब मुसलमान पूरी तरह हिन्दुओं के आधीन हो गये तब उन्होंने ईरान के शासकों से मिलकर पुनः भारत में अपनी सत्ता कायम करनी चाही। इस संघर्ष मे विदेशी यूरोपीय जातियाँ जो व्यापार करने आयी थी राजनीति में भाग लेने लगी और कभी हिन्दुओं से मिलकर और कभी मुसलमानों से मिलकर भारत के भूभागो पर अधिकार जमाती रहीं। 19वीं शताब्दी के मध्य तक सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजी जाति का प्रभुत्व हो गया। भारत स्वतन्त्र होते-होते [illegible] बन गया।

जब हिन्दू एवं मुसलमानो के सभी छोटे-बड़े राज्य अंग्रेजों के अधीन [illegible] बदल आयी और दोनों ने मिलकर फिरंगियों को बाहर निकालने की योजना

कुछ जोशीले सैनिकों द्वारा पूर्ण बनने से पूर्व ही प्रकट हो गयी। अतः 1857 में भारत की स्वतन्त्रता के लिए सशस्त्र संघर्ष चला, जिसे "स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम" "एशियाई विद्रोह", "गदर" या "क्रान्ति" कहा गया, असफल हो गया। अंग्रेज कम्पनी सरकार को शासन करने में अयोग्य समझ ब्रिटिश सरकार ने 1858 मे भारत को ब्रिटेन के साम्राज्य का अंग बना लिया।

भारत मे दो विशेष धर्म और जातियां रहती थीं—हिन्दू और मुसलमान इनके संयुक्त हो जाने पर 1857 की क्रान्ति हुई थी अतः अंग्रेजी शासन ने निश्चय किया कि इन जातियों को कभी आपस में मिलने न देंगे उन्हें धर्म के नाम पर सदैव लड़ाते रहेंगे। पहले तो उन्होंने हिन्दुओं को पक्ष में कर मुसलमानों की घोर उपेक्षा की। पर शीघ्र ही मुसलमानों में लोकप्रिय एक व्यक्ति उन्हें मिल गया जिसे सर सय्यद अहमद खां कहा जाता था। उसके माध्यम से अंग्रेजों ने मुसलमानों को सगठित कराया और उनमें पृथकता की भावना भरी। सर सय्यद अहमद खां को अलीगढ़ में मुस्लिम कालेज खुलवाने में मुसलमानों की बड़ी सहायता अंग्रेजों ने की। यह कालेज जो आगे चलकर मुस्लिम विश्वविद्यालय बन गया। 1885 में जब भारत में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ तो सर सय्यद अहमद खां उसमें न स्वयं सम्मिलित हुए और न मुसलमानों को सम्मिलित होने दिया। कांग्रेस को उन्होंने एक हिन्दू संस्था घोषित किया।

सर सय्यद की मृत्यु के बाद, मुसलमानों में कोई सर्वमान्य नेता न रहा। इस कमी को पूरा करने का जिम्मा अलीगढ़ कालेज के प्रिंसिपल मि० बैंक ने लिया। 1906 में उनके प्रयत्न से तथा ढाका के नवाब सली मुल्लाह के सहयोग से उन्होंने कांग्रेस के समानान्तर मुस्लिम लीग की स्थापना की। अंग्रेजो ने मुस्लिम लीग से मिलकर राष्ट्रीय आन्दोलन मे विघ्न डालना प्रारम्भ किया 1909 में साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति चालू की। इससे मतदाता दो भागों बंट गये। इतना होने पर भी लोकमान्य तिलक के काल में हिन्दू मुसलमानों में काफी एकता रही। 1916 मे कांग्रेस और मुस्लिम लीग मे एक पैक्ट हो गया और दोनों ने एक होकर भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन को संयुक्त रूप से चलाने का निश्चय किया। महात्मा गांधी का जब राजनीति में पदार्पण हुआ तो खिलाफत आन्दोलन से हुआ। महात्मा जी ने मुसलमानों को पूर्णतया: राष्ट्रीय आन्दोलन मे मिलाने के लिए ही खिलाफत में सहयोग दिया एव 1920-22 का असहयोग आन्दोलन चलाया। अंग्रेजो ने पुनः चाल चली और इस आन्दोलन स मुसलमान पृथक होकर हिन्दुओं के विरुद्ध साम्प्रदायिक दंगे करने लगे। लीग और कांग्रेस एक दूसरे से पृथक ही नहीं बल्कि एक दूसरे की शत्रु बन गयी। महात्मा गांधी ने दोनों जातियों को जितना मिलाने का प्रयत्न किया उतनी ही उनमें गहरी खाई बनती चली गयी। 1940 को लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान बनाने का प्रस्ताव पारित कर दिया। मुस्लिम लीग के प्रधान मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व मे मुसलमानों ने पाकिस्तान निर्माण के लिए आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। चूंकि अंग्रेज मुसलमानों से मिले थे अतः उन्होंने भारत के सामने भारत विभाजन की योजना रखी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत मे मन्त्रिमण्डल मिशन आया और उसने भारत को शीघ्र स्वतन्त्र करने की घोषणा की पर शर्त थी भारत विभाजन। लीग को अपना उद्देश्य पूरा होता नजर आया और उन्होंने प्रत्यक्ष कार्यवाही की धमकी देकर कांग्रेस को मजबूर किया कि वह भारत विभाजन को स्वीकार कर ले। 1946 मे यह प्रत्यक्ष कार्यवाही कलकत्ता मे हुई। हजारों हिन्दू मारे गये स्त्रियों की इज्जत लूटी गयी, मकान, दुकानें जलाई गयी तथा अन्य अनेक प्रकार के अत्याचार हुए। प० जवाहर लाल नेहरू जो अन्तरिम सरकार के प्रधानमन्त्री बन गये थे पाकिस्तान की योजना को मानने के लिए तैयार हो गये।

पाकिस्तान का निर्माण और पाक से हिन्दुओं का निष्कासन—लीग और कांग्रेस दोनों ने भारत का बंटवारा जब मान लिया तो ब्रिटिश संसद ने 1947 में "भारत स्वतन्त्रता अधिनियम" पास कर दिया जिसके अनुसार 1947 की 14 अगस्त की रात्रि को शून्य घण्टे मे पाकिस्तान का

निर्माण हो गया और शेष भारत 15 अगस्त की रात्रि के शून्य घण्टे में स्वतन्त्र हो गया। पूर्वी बंगाल एवं आसाम के कुछ जिले के भाग को पूर्वी पाकिस्तान और आधा पंजाब, सिन्ध, सरहदी प्रान्त एवं ब्रिटिश बिलोचिस्तान को मिलाकर पश्चिमी पाकिस्तान बनाया गया। इस प्रकार भारत की पूर्वी तथा पश्चिमी सीमा पर विरोधी देश की स्थापना से नयी अप्राकृतिक सीमा बनायी गयी।

पाकिस्तान के भूतपूर्व राष्ट्रपति मोहम्मद अय्यूब खाँ अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि "हमने खून के दरिया को पारकर आजादी हासिल की। लोगों को लाखों की संख्या में सूखे पत्ते की तरह, अन्धे और पागल उन्माद में, तोड़कर फेंका गया। फिरकापरस्ती के जनून में उन्हें पाँव के नीचे कुचला गया और रौंदा गया। हजारों, लाखों आदमियों और औरतों और बच्चों का कत्ले आम किया गया और यह उपमहाद्वीप खूनी गृह-युद्ध से भर गया।"[1]

पाकिस्तान में जब हिन्दुओं का कत्ले आम जारी था और भागे, लुटे, कटे, मिटे व्यक्ति जान बचाकर भारत आ रहे थे तब भारत में भी उत्तेजना फैल रही थी और वहाँ भी दंगे फिसाद प्रारम्भ हो गये थे पर यहाँ के दंगों में यह अन्तर था कि भारत सरकार की सेना एवं पुलिस की गोली से बलवाई अधिक मरते थे दंगे-फिसादों से इतने नहीं मरते थे। भारत का हिन्दु पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों स्थानों पर मारा जाता था। स्वतन्त्रता के बाद कई महीनों तक दंगे होते रहे तब कहीं भारत सरकार इन्हें काबू में ला पायी।

भारत का बँटवारा साम्प्रदायिक आधार पर होना ही गलत था। श्री जिन्ना का दो राष्ट्र वाला सिद्धान्त गलत था। पर लीग ने अपने स्वामियों के इशारे पर नाचकर, जो घृणा का बीज भारत में बोया था उसके द्वारा खड़े किये किये दो राज्य आज भी कड़ुवे फल लिए हुए खड़े हैं। इसलिए कुछ भारतीयों ने अखण्ड भारत का नारा लगाया था पर कांग्रेस सरकार ने इस नारे को संगीनों के द्वारा दबा दिया। जबकि पाकिस्तान में यह नारा अभी तक चल रहा है कि "हँस के लिया है पाकिस्तान और लड़कर लेंगे हिन्दुस्तान।" लीगी नेताओं—शौकत अली, मुहम्मद अली, श्री जिन्ना, लियाकत अली या फिरोज खाँ नून ने सदैव भारत और भारत के असली वासी हिन्दुओं को जी भर कोसा ही। यह सदैव यह शोर मचाते रहे—"भारत में मुसलमानों को खतम किया जा रहा है, उनका जबरन धर्म परिवर्तन कराया जा रहा है, पाकिस्तान का अन्त करने के लिए षड्यन्त्र रचा जा रहा है।"

जूनागढ़ का भारत में विलय—जूनागढ़ का शासक नबाव महावत खाँ रसूल खाँ मुसलमान था पर उसकी रियासत हिन्दू थी। उसकी जनसंख्या $7\frac{1}{2}$ लाख थी जिनमें 80% हिन्दु थे। यह रियासत गुजरात प्रान्त काठियावाड़ में थी। यह पूर्णतया भारतीय क्षेत्र में स्थित थी तथा चारों ओर हिन्दू आबादी से घिरी थी, इसके अतिरिक्त वह हिन्दुओं का एक पवित्र स्थान था क्योंकि भगवान कृष्ण का यह निर्वाण स्थान था।

जूनागढ़ का नवाब एक अच्छे चरित्र का व्यक्ति न था। "शराब और स्त्री" उसकी दुर्बलता थी। जनता के हितों की उसे चिन्ता न थी पर धर्म के मामले में वह कट्टर मुसलमान था। जब सभी रियासतें भारत या पाकिस्तान में मिल रही थीं तब 15 अगस्त 1947 को ही महावत खाँ रसूल खाँ ने पाकिस्तान में मिलने की इच्छा व्यक्त की थी कि उसकी राजभक्त जनता भी उसकी इच्छा एक राज्य का ध्यान रखकर उसके निर्णय का स्वागत करेगी। पाकिस्तान को पहले से ही आशा थी कि जूनागढ़ उसी में विलय होगा क्योंकि उसका शासक मुसलमान है
प्रजा हिन्दू ही क्यों न हो। नबाव की घोषणा पर पाकिस्तान में खुशियाँ मनाई गई थीं

1 Ayub Khan : *Friends and Masters*, p. 48.

जूनागढ़ की जनता पाकिस्तान में मिलना नही चाहती थी। हिन्दुओं की जो दशा पाकिस्तान मे हुई थी या हो रही थी वह सर्व विदित थी। नवाब ने 15 सितम्बर 1947 को पाकिस्तान मे जूनागढ़ को मिलाने का निश्चय किया। 12 सितम्बर 1947 को भारत के प्रधानमन्त्री प० नेहरू ने पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री श्री लियाकत अली खाँ को एक तार भेजा जिसमे जनमत संग्रह के बाद ही जूनागढ़ का विलय होने की बात कही।

कैम्पबैल जनरल के मतानुसार "जूनागढ़ के पाकिस्तान में विलय की घोषणा "एक षड्यन्त्र मात्र थी।" इवान स्मिथ ने "पाकिस्तान" नामक पुस्तक मे इस घोषणा को "एक मूर्खता पूर्ण" घोषणा लिखा है। जूनागढ़ की जनता ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में बड़े उत्साह से भाग लिया था अतः वह नवाब की घोषणा से बड़ी रुष्ट थी। उसने नवाब के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह बड़ा भयानक था अतः नवाब डर गया और खजाना लेकर पाकिस्तान भाग गया। यह आन्दोलन भारत के विलय के पक्ष में था। अतः जूनागढ़ के दीवान शाहनवाज भुट्टो (जुल्फिकार अली भुट्टो के पिता) ने 8 नवम्बर 1947 को भारत के प्रधानमन्त्री श्री नेहरू को लिखा कि वे रियासत के भारत में विलय को स्वीकार कर लें। भुट्टो की प्रार्थना स्वीकार कर पं० नेहरू ने 10 नवम्बर 1947 को जूनागढ़ को भारत मे मिला लिया। दीवान शाहनवाज भुट्टो भी पाकिस्तान भाग गया।

13 नवम्बर 1947 को जब भारत के गृहमन्त्री लोहपुरुष सरदार पटेल जूनागढ़ पहुंचे तो उनका वहाँ अभूतपूर्व स्वागत हुआ। एक सार्वजनिक सभा मे जनता से श्री पटेल ने पूछा—"बताइये ! आप भारत मे मिलना चाहते हैं या पाकिस्तान मे।" सभी लोगों ने एक स्वर मे कहा—"भारत मे"। इस पर सरदार पटेल ने भारत के पक्ष में जो लोग है, उन्हे हाथ ऊँचा करने को कहा। एकदम सभी लोगों ने हाथ उठा दिये। इसका मतलब था कि जूनागढ़ की जनता हृदय से भारत के साथ रहना चाहती थी, पाकिस्तान के साथ नही। इस पर भी भारत सरकार ने 20 फरवरी 1948 को जूनागढ़ मे जनमत संग्रह कराया। भारत के पक्ष में 1,90,870 मत पड़े और पाकिस्तान के पक्ष में केवल 91।

यह बात उल्लेखनीय है कि पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री लियाकत अली खाँ स्वयं जूनागढ़ के भारत में विलय के पक्ष में थे। उन्होने पं० नेहरू को लिखा कि जूनागढ़ की जनता जो फैसला करेगी पाकिस्तान को वह स्वीकार होगा। अतः 20 फरवरी 1948 को भारत ने घोषणा कर दी कि जूनागढ़ सौराष्ट्र प्रान्त का एक अंग बन गया है। रसल ब्राइस द्वारा लिखित पुस्तक "भारत-पाकिस्तान संघर्ष" (The Indo-Pakistan Conflict) में लिखा है कि "पाकिस्तान सीमा से तीन सौ मील दूर जूनागढ़ पाकिस्तान के लिए बोझ ही होता, परन्तु जिन्ना प्रचार के लिए उसका उपयोग करते ही रहे।"

पाकिस्तान ने यह प्रश्न सुरक्षा परिषद में उठाना चाहा पर चूंकि यह मामला भारत का घरेलू मामला था अतः सुरक्षा परिषद में उस पर विचार न हो सका। पाकिस्तान के विदेशमन्त्री जफरुल्ला खाँ ने कहा कि—"भारत नाजी पद्धति से कमजोर राज्य को अपने अधीन कर रहा है।" अन्य पाकिस्तानी नेताओ ने भी "जूनागढ़ को भारत द्वारा जबरन मिलाने का आरोप" लगाया। इनमे दोनो देशों के सम्बन्धों मे कटुता उभरी।

हैदराबाद का भारत में विलय—जूनागढ़ के समान ही हैदराबाद मे शासक मुसलमान था पर उसमे बसने वाली जनता का 81% अंश हिन्दुओं का था। यह रियासत 82,000 वर्ग मील क्षेत्र रखती थी तथा इसकी आय 26 करोड़ रुपये की थी। रियासत अपनी मुद्रा एवं डाक टिकट अपनी ही रखती थी। हैदराबाद का निजाम उस्मान अली खाँ विश्व के सर्वाधिक व्यक्तियो मे एक था।

(1) तात्कालिक समझौता —यद्यपि हैदराबाद रियासत चारों ओर भारतीय भूभाग से घिरी थी पर हैदराबाद को भारत में विलय करने का इरादा निजाम का न था। भारत उसे शीघ्र अपने अन्दर विलय करने का इच्छुक था। भारत सरकार और निजाम में पत्र-व्यवहार चला। अन्त में 29 नवम्बर 1947 को एक वर्ष के लिए दोनों में "तात्कालिक समझौता" हो गया। इस समझौते में तय हुआ कि "भारत सरकार और हैदराबाद में जो समझौते 1947 से पूर्व हुए वे 1 वर्ष और चलेंगे। भारत विदेश नीति, रक्षा और यातायात के संचालक का कार्य करेगा। हैदराबाद का प्रतिनिधि देहली मे तथा भारत सरकार का प्रतिनिधि हैदराबाद में रहेगा। भारत हैदराबाद पर सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग न करेगा। यदि दोनों राज्यों मे कोई विवाद हो तो उसका निर्णय किसी पंच को सौंपा जायगा।"

भारत के गृहमन्त्री सरदार पटेल को यह सन्देह था कि निजाम इस समझौते का ईमानदारी से पालन न करेगा पर पं० नेहरू कहते थे कि यह समझौता अल्पकालीन है अतः यदि निजाम इसका उल्लंघन करता है तो कोई युक्ति सोची जायगी। पं० नेहरू बड़े आशावादी थे उन्हे आशा थी कि निजाम इस समझौते के अनुसार चलेगा और फिर निजाम विलय के लिए तैयार हो जायगा।

(2) निजाम द्वारा समझौते का उल्लंघन—सरदार पटेल की शंका सही निकली हैदराबाद के निजाम ने एक कुटिल व्यक्ति, लायक अली को 1947 मे रियासत का प्रधानमन्त्री (वजीरे आजम) बनाया। लायक अली कुछ दिन पाकिस्तान का संयुक्त राष्ट्र सघ म प्रतिनिधित्व कर चुका था। अतः स्वाभाविक था कि वह हैदराबाद को पाकिस्तान मे मिलाना चाहता था। उसने भारत सरकार से किये गये समझौते का उल्लघन करना प्रारम्भ किया। भारत सरकार पहले तो चुप रही पर कब तक। 23 मार्च 1948 को भारत के गृह मन्त्रालय के सचिव, वी० पी० मेनन ने लायक अली को एक पत्र लिखा जिसमे हैदराबाद की सरकार पर "तात्कालीन समझौते" के उल्लघन का आरोप लगाया। इस पत्र मे अन्य आरोप निम्नलिखित थे :—

(i) भारत सरकार की बिना अनुमति के पाकिस्तान को 30 करोड़ का ऋण दिया एवं भारत सरकार से बिना पूछे उसकी प्रतिभूतियाँ (Securities) पाकिस्तान को दे दी।

(ii) हैदराबाद सरकार ने भारत को बिना अनुमति पाकिस्तान मे अपना जनसम्पर्क अधिकारी नियुक्त किया है जबकि समझौते में साफ लिखा है कि हैदराबाद की विदेश नीति का संचालन भारत करेगा।

(iii) हैदराबाद पाकिस्तानियों को अपनी सेना मे भी भर्ती कर रहा है यह 1939 की सन्धि के विरुद्ध है जबकि हैदराबाद की रक्षा नीति का दायित्व भारत के पास है।

(iv) भारत की अनुमति बिना हैदराबाद अपनी सेना मे वृद्धि कर रहा है।

(v) हैदराबाद ने भारत को वार्षिक पुलिस रिपोर्ट नहीं भेजी है।

(vi) हैदराबाद ने रजाकारो की अनियमित सेना सगठित होने दी है और इस सेना से शासन की साँठ गाँठ जारी है। यह रजाकार पुलिस के साथ मिलकर कार्य कर रहे हैं।

(vii) हैदराबाद ने अमेरिका के सयुक्त प्रेस से सचार साधनो के विषय मे एक समझौता किया है, यह भी बिना भारत की अनुमति के।

(viii) हैदराबाद ने भारत की मुद्रा को अवैध घोषित किया है।

(ix) हैदराबाद की सरकार ने रियासत में सोने, नारियल और तेल के बीजों पर पाबन्दी लगा दी है।

यह आरोप पत्र भारत के प्रतिनिधि के० एम० मुन्शी द्वारा व्यक्तिगत रूप से ल· अली को दिया गया था। इस पत्र का सन्तोषजनक उत्तर देने के बजाय हैदराबाद ने ७ भारत पर तरह-तरह के आरोप लगाये। यह आरोप लायक अली ने एक

वी० पी० मेनन को भेजे। पत्र में लिखा था कि "भारत में हैदराबाद के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी की हुई है। भारत का शिकजा कसता जा रहा है और भारत ने हैदराबाद के विरुद्ध युद्ध छेड़ रखा है।" इसके साथ हैदराबाद रेडियो ने यह भी घोषणा की कि यदि भारत ने कोई सैनिक कार्यवाही की तो हजारों (पाकिस्तानी) पठान भारत पर आक्रमण कर देंगे।"

हैदराबाद के लायक अली की साँठ-गाँठ से कासिम रिजवी के नेतृत्व में एक अर्द्ध-सैनिक संगठन खड़ा कर लिया था। इस संगठन के सदस्य रजाकार कहलाते थे। इस संगठन का उद्देश्य धर्म-युद्ध (जेहाद) करना था। रियासत में रहने वाले हिन्दुओं के विरुद्ध यह संगठन बना था। हिन्दुओं के विरुद्ध यह रजाकार खूब प्रचार करते थे। मार्च 1948 में उन्होने 'शस्त्र सप्ताह' मनाया। इसका उद्घाटन करते हुए 31 मार्च 1941 को कासिम रिजवी ने रजाकारों से कहा था कि "जेहाद का समय आ गया है। सभी रजाकार अपनी तलवारें म्यान से बाहर निकाल लें और तब तक अपनी तलवारें म्यान में न रखें जब तक हैदराबाद में इस्लाम का वर्चस्व स्थापित न हो जाय"""। कासिम रिजवी ने मध्यकालीन मुसलमानी नारा भी लगाया। इसका अर्थ साफ था रिजवी भारत मे पुनः शस्त्रों के बल पर इस्लाम का प्रचार करना चाहता है। उसने रजाकारों को उत्तेजित करते हुए कहा है कि 'सभी रजाकार एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में कुरान लेकर दुश्मन के खिलाफ जंग के लिए तैयार रहें""हिन्दुस्तान के 5 करोड़ मुसलमान तुम्हारी मदद करेंगे।"

कासिम रिजवी हैदराबाद में स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य की स्थापना करना चाहता था। मुसोलिनी मर चुका था पर उसकी रूह रिजवी के शरीर में प्रवेश कर गयी थी। निजाम और लायक अली पहले ही इस्लामिक राज्य के स्वप्न देखने लगे थे रिजवी को वे धन एवं शस्त्रो की सहायता कर रहे थे। उसकी हिम्मत इतनी बढ़ गयी थी कि वह देहली भी आया तथा सरदार पटेल एव श्री मेनन से मिला। जब श्री मेनन ने हैदराबाद मे जनमत संग्रह कराने का प्रस्ताव रखा तो रिजवी ने कहा—"हैदराबाद का फैसला तलवार की नोंक पर होगा।"

(3) सरदार पटेल की चेतावनी—रिजवी तथा लायक अली (नालायक अली) ने हैदराबाद मे ऊधम मचाना प्रारम्भ किया। हिन्दुओ पर घोर अत्याचार होने लगे। अब गृहमन्त्री एव उपप्रधान मन्त्री सरदार पटेल ने चुप रहना उचित न समझा। उन्होने लायकअली को 16 अप्रेल 1948 को दिल्ली आने को लिखा। लायक अली दिल्ली आया तो वार्ता के दौरान सरदार पटेल ने उसे चेतावनी देते हुए कहा कि "तुम भी जानते हो और मैं भी जानता हूँ कि हैदराबाद में वास्तविक शक्ति कासिम रिजवी के हाथ में आ गई है। कासिम रिजवी ने दृढतापूर्वक कहा है कि यदि भारत हैदराबाद मे आता है तो हैदराबाद के डेढ़ करोड़ हिन्दुओ की हड्डिया और राख के अतिरिक्त उसे और कुछ नही मिलगा यदि ऐसी स्थिति है तो इससे निजाम और उसके वंश का सारा भविष्य खतरे मे पड़ जायेगा। मैं साफ तौर पर कह रहा हूँ क्योकि मैं किसी गलत फहमी मे नही रखना चाहता। हैदराबाद की समस्या को उसी प्रकार सुलझाना पड़ेगा जिस प्रकार अन्य रियासतो की समस्याओं को सुलझाया गया है। इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नही। हम इस बात के लिए सहमत नही हो सकते कि हैदराबाद एक पृथक स्वतन्त्र राष्ट्र रहे और इस संघ को ही बर्बाद कर दे जिसे हमने अपने रक्त और परिश्रम से बनाया है। साथ में हम मित्रतापूर्ण सम्बन्ध भी चाहते हैं"""यदि हैदराबाद स्वतन्त्र होने की माँग जारी रखेगा तो यह निश्चित रूप से विफल होगा।"

सरदार पटेल की चेतावनी सुनकर लायक अली के पाँव के नीचे से जमीन खिसक गई वह पं० नेहरू से तथा लार्ड माउन्टबेटन से भी मिला। दोनों ने उसे विश्वास दिलाया कि हैदराबाद मे पुलिस कार्यवाही न होगी पर साथ में यह भी बता दिया कि वर्तमान स्थिति में सुधार

होना अनिवार्य है। पं० नेहरू एवं लार्ड माउन्टबेटन के सलाह मशवरे से एक 4 सूची समझौते का मसविदा बना। ये चार सूत्र थे—(i) रजाकारों पर तुरन्त नियन्त्रण स्थापित किया जाय। उनके जलूसों, जलसों, बैठकों, भाषणों आदि पर प्रतिबन्ध लगे। (ii) तुरन्त सभी कांग्रेसी नेताओं और कार्यकर्ताओं को जेल से मुक्त किया जाय। (iii) हैदराबाद की वर्तमान सरकार का पुनर्गठन हो और उसमें सभी समुदायों का प्रतिनिधित्व हो। (iv) 1948 के अन्त तक हैदराबाद में संविधान सभा का गठन किया जाय तथा शीघ्र ही हैदराबाद मे उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो।

सरदार पटेल जानते थे कि सीधी उँगलियों से घी नही निकलेगा। वे तुरन्त सैनिक कार्यवाही के पक्ष मे थे, पर शान्ति के दूत पण्डित नेहरू तथा लार्डमाउन्ट बेटन समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाना चाहते थे। सरदार पटेल ने कहा यह ढंग भी अजमाकर देख लो। हैदराबाद की सरकार ने उक्त समझौते की शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। वह न उत्तरदायी सरकार बनाने के पक्ष मे थी और न भारत मे विलय के।

(5) रजाकारों का आतंक—हैदराबाद मे रजाकारों का अत्याचार बढ़ने लगा। जेहाद का नारा गूँज उठा। हत्या, लूट, बलात्कार (जो गुण्डो के अस्त्र होते हैं) आदि का जोर बढ़ा। कांग्रेस के नेता, कार्यकर्ता और प्रभावशाली हिन्दू जेल मे बन्द कर दिये गये। कांग्रेस को ही अवैध घोषित कर दिया गया। इस पर हैदराबाद की कार्य परिषद के सदस्य जे० वी० जोशी ने त्याग-पत्र दे दिया। अपने त्यागपत्र में उन्होने लिखा कि 'प्रभानी तथा नान्दडे जिलो मे पूर्ण आतक फैला हुआ है। लोहा नामक स्थान पर जो तबाही हुई, उससे मेरी आंखों में आंसु आ गये। ब्राह्मणों की हत्या की गयी और उनकी आंखें निकाल ली गईं। स्त्रियों के साथ बलात्कार किया गया। बहुत बड़ी संख्या में मकानो में आग लगा दी गयी। मेरा दिल शोक से भर गया ·······ऐसी परिस्थिति में मैं अपना नाम उस सरकार से सम्बन्धित नही कर सकता जो हृदय विदारक अत्याचारों को रोकने में असमर्थ है।"

डी० पी० तम्हानकर ने सरदार पटेल की जीवनी मे लिखा है कि "रजाकारो ने हिन्दुओं को लूटा और जान से मारा। उनकी स्त्रियों को भगा ले गये और उनकी इज्जत लूटो। लोगो को बलपूर्वक धर्म भ्रष्ट किया गया। आतक के मारे लोग भागने लगे········"

लायक अली एवं कासिम रिजवी उन सभी अत्याचारों को दोहराना चाहते थे जो पाकिस्तान में हिन्दुओं पर हुए थे। मद्रास से बम्बई जाने वाली रेलगाडी को हैदराबाद स्टेशन पर लूटा गया। यात्रियों पर रजाकारो ने लाठी, छुरे बल्लम एव स्टिको से हमला कर दिया। देश द्रोही साम्यवादियों ने रजाकारो से साठ-गांठ कर ली और वे भी लूट मार मे शरकतदार हो गये। रसल ब्राइस ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि "नई दिल्ली ने भी साम्यवादियों एवं रजाकारो के बीच एक मजबूत गठबन्धन देखा·······साम्यवादियों ने ग्रामवासियों को धमकाया और उनसे कहा कि यदि भारत की सेनायें हैदराबाद की सीमा मे आयें तो वे उनसे लड़ें और मुकाबला करें।[1]

हैदराबाद मे अराजकता छा गई। अन्य रेलगाड़ियां लूटी गईं। बाजार जलाये गये, बच्चे और बूढ़े मारे गये, स्त्रियो का शील भग किया गया। इतना ही नहीं रजाकारों ने भारतीय क्षेत्रों में घुसकर ग्रामवासियों पर आक्रमण किये।

रजाकारों पर निजाम की कृपा थी, लायक अली उनकी पीठ थपथपा रहा था। सेना और पुलिस भी रजाकारों के साथ थी। हैदराबाद की सेना मे धडाधड पाकिस्तानी पठान हो रहे थे। भारत से युद्ध की पूरी तैयारी हो रही थी। लायक अली ने बड़े उन्माद मे

[1] Russel Brice. The Indo-Pak Conflict p. 61.

था कि "निजाम अपने दो लाख मुसलमानों के साथ शहीद की मौत मरने के लिए तैयार है, लेकिन हिन्दुस्तान में मिलने के लिए तैयार नही ।

(5) **हैदराबाद की पाकिस्तान से साठ-गांठ**—हैदराबाद में हिन्दू विरोधी अभियान चल रहा था। हिन्दुओ मे भगदड मच गई थी उनके मुख से अत्याचारों की कहानी सुनकर भारत में भी उत्तेजना फैल गई थी। समाचार पत्रों के प्रथम पृष्ठ पर इन अत्याचारो का समाचार छपा रहता था। मुसलमान परस्त कांग्रेस सरकार कान मे तेल डाले बैठी थी। लोगों में एवं समाचार पत्रों में कांग्रेस सरकार की निष्क्रियता की कटु आलोचना हो रही थी।

उधर हैदराबाद की सरकार ने पाकिस्तान से साँठ गाँठ कर रखी थी। उसने पाकिस्तान को 20 करोड़ रुपये की प्रतिभूतियाँ दे रखी थी। पाकिस्तान के सैनिक हैदराबाद में लगातार भर्ती हो रहे थे। पाकिस्तान ने भारत से मांग की कि अपनी प्रतिभूतियो (Securities) के बदले मे नकद रुपया यदि दे दें तो वह उन्हे वापस कर दी जायगी।

हैदराबाद के हिन्दुओं के सौभाग्य से लार्ड माउन्टबैटन के बदले भारत गवर्नर जनरल पद पर श्री राजगोपालाचारी आसीन हो गये थे। पदासीन होते ही उन्होंने अध्यादेश जारी किया कि 'हैदराबाद सरकार भारत की प्रतिभूतियाँ किसी विदेशी सरकार को नही बेच सकती। यदि वह ऐसा करती है तो उन प्रतिभूतियों की राशि को भारत सरकार अदा करने लिए जिम्मेदार न होगी।" इस पर *पाकिस्तान बौखला गया और विश्व मे शोर मचाने लगा कि भारत उसका कर्ज* अदा नहीं करता है। अय्यूब खाँ ने अपनी जीवनी मे स्पष्ट लिखा है कि "भारत का पाकिस्तान के प्रतिव्यवहार खालिस दुश्मनी का है। उसका उद्देश्य हमे जन्म लेते ही कुचल देने का था। उसने हमे हमारे आर्थिक स्रोतो से वचित रखा तथा समझौतों का उल्लघन किया।"

पाकिस्तान स्वय भारत के विरुद्ध प्रचार कर रहा था और हैदराबाद की सरकार को भड़का रहा था कि वह अपनी रक्षा का प्रश्न सुरक्षा परिषद मे ले जाये। हैदराबाद ने ऐसा ही किया।

(5) **सं० रा० संघ में हैदराबाद की पुकार**—पाकिस्तान के उकसाने पर लायक अली खाँ जो उसके इशारे पर नाच रहा था, भारत को अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे बदनाम करने के लिये तैयार हो गया। वह स० रा० संघ तथा सं० रा० अमेरिका से भी भारत की शिकायत करने को तैयार हो गया। अगस्त 1948 मे भारत स्थित अमेरिकन राजदूत ने भारत सरकार को सूचित किया कि निजाम हैदराबाद ने भारत के विरुद्ध अमेरिका सरकार से सहायता मागी है पर सं० रा० अमेरिका ने उस अपील को ठुकरा दिया क्योकि वह भारत का आन्तरिक मामला है।

17 अगस्त 1948 को लायक अली खा ने पं० नेहरू को एक पत्र लिख कर शिकायत की एवं धमकी दी कि भारत सरकार ने हैदराबाद की आर्थिक नाकाबन्दी कर रखी है जिससे हैदराबाद की जनता का दम घुट रहा है। इसे तुरन्त उठाया जाये तथा यह भी आरोप लगाया कि भारतीय सैनिक हैदराबाद की सीमा का अतिक्रमण कर रहे हैं। यह "यथास्थिति समझौते" का साफ उल्लघन है अतः हैदराबाद की सरकार भारत के विरुद्ध स० रा० सघ से अपील कर रही है।

यद्यपि पं० नेहरू ने 23 अगस्त 1948 को लायक अली खा को बता दिया कि भौगोलिक स्थिति के अनुसार हैदराबाद भारत का एक अग है, उसे सं० रा० सघ मे किसी अपील को करने का अधिकार नही क्योकि यह भारत का घरेलू मामला है, परन्तु लायक अली के दिमाग मे फतूर भरा था, वह उसे स० रा० सघ में ले गया। पर भविष्य से बेखबर निजाम को पता नहीं था कि एक महीने में क्या होने वाला है और उसे स० रा० सघ से अपनी अपील वापस लेने की प्रार्थना करनी होगी।

(6) भारत द्वारा हैदराबाद में पुलिस कार्यवाही—भारत के सौभाग्य से उस समय भारत का सच्चा हितैषी सरदार पटेल जीवित था। उसने पं० नेहरू की भी अस्थिर नीति का विरोध किया और हैदराबाद मे पुलिस कार्यवाही करने का निश्चय किया। पं० नेहरू को चुप रहना पड़ा। कांग्रेस में पटेल का ग्रुप भी बड़ा शक्तिशाली था।

भारत के गवर्नर जनरल (राजा जी) ने 31 अगस्त 1948 को निजाम हैदराबाद को सूचित किया कि आपके राज्य में कानून तथा व्यवस्था गडबड़ है अतः उसे ठीक करें। रजाकार पूरी रियासत मे आतंक मचा रहे हैं, उन्हे बन्द किया जाय एवं रजाकारों की संस्था पर प्रतिबन्ध लगाया जाये। अन्त में उन्होने यह भी लिखा कि भारतीय सेना को सिकन्दराबाद में जाने की अनुमति दी जाय ताकि वह शान्ति एव व्यवस्था की स्थापना करे।

निजाम ने 6 दिन बाद भारत के गवर्नर जनरल के पत्र का उत्तर दिया जिसमें उनके द्वारा लगाये गये सभी आरोपो का खण्डन करते हुये भारत की सेना को हैदराबाद रियासत की सीमा मे घुसने की अनुमति नही दी गई। उसके पत्र की भाषा इस प्रकार थी कि "हैदराबाद मे कानून एव व्यवस्था टूटी नही है और उसके बारे मे भारत मे व्यर्थ ही भ्रान्तियां फैली हुई हैं, भारत सेना को सिकन्दराबाद वापस लौटने की अनुमति नही दी जा सकती है।" अन्त मे निजाम ने लिखा कि "मेरी सेना कानून और शान्ति बनाये रखने के लिये पूरी तरह ताकतवर है।"

भारत के गृह मन्त्रालय के सचिव वी० पी० मेनन ने लायकअली खा को लिखा कि "हैदराबाद में कानून और व्यवस्था पूरी तरह भग हो चुके हैं रेलगाडियो पर हमले हो रहे है। यात्रियों को लूटा जा रहा है और उनके साथ हिंसात्मक व्यवहार किया जा रहा है। लूट मार, स्त्रियों के साथ बलात्कार और आग लगाने की घटनायें एवं अत्याचार आदि ने हैदराबाद में अराजकता फैला दी है और भारतीय सघ के सीमावर्ती क्षेत्र में गहरी चिन्ता उत्पन्न कर दी है....."

निजाम पर इन आरोपों, आग्रहो एव उपदेशों का कोई प्रभाव नही पड़ा; बल्कि उसने भारत सरकार की दुर्बलता समझ पाकिस्तान के बहकाने से सं० रा० संघ में हैदराबाद का प्रश्न रखवा ही दिया। पाकिस्तान ने भारत विरोधी प्रचार तेज कर दिया। अतः शान्तिमय सभी उपाय असफल होते देख भारत ने आपरेशन पोलो (सैनिक कार्यवाही) का निश्चय कर डाला।

13 सितम्बर 1948 को भारत ने हैदराबाद के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कर दी। चूंकि हैदराबाद भारत का एक अंग था अत: इस कार्यवाही को "पुलिस कार्यवाही" कहा गया।

मेजर जनरल चौधरी के नेतृत्व में भारत के दक्षिण कमाण्ड की सेना ने हैदराबाद की सीमा मे प्रवेश किया। भारतीय सेना ने चारों ओर से आक्रमण कर दिया। हैदराबाद की ढाई लाख नियमित और अनियमित सेना ने दो दिन तक भारतीय सेनाओं का मुकाबला किया पर लियाकतअली तथा कासिम रिजवी की सभी शेखी धरी की धरी रह गई। चौथे दिन हैदराबाद की सेना ने जनरल जे० एन० चौधरी के सामने हथियार डाल ही दिये। भारत का हैदराबाद नगर पर अधिकार हो गया।

8 अक्टूबर 1950 को सरदार पटेल हैदराबाद पहुंचे तो निजाम ने स्वयं उनका हवाई अड्डे पर स्वागत किया जबकि कुछ सप्ताह पूर्व जब भारत के प्रधान मन्त्री नेहरू हैदराबाद गय थे तो निजाम ने उनके स्वागत के लिये हवाई अड्डे पर जाना अपनी शान के विरुद्ध समझा था। समय का परिवर्तन था। निजाम की सारी अकड़ ढीली पड़ चुकी थी। वह अब हैदराबाद को पूर्णतया भारत को समर्पण कर चुका था। हैदराबाद के विलय की घोषणा हो गई। 23 सितम्बर 1950 को निजाम ने स० रा० सघ की सुरक्षा परिषद को लिखा कि वह हैदराबाद का मामला वापस कर दे।

पाकिस्तान की आशाओं पर पानी पड़ गया। उसने स्वयं इस प्रश्न को सं० रा० संघ की महासभा में उठाया पर भारत का घरेलू प्रश्न समझ कर वहाँ उस पर विचार न हुआ अतः पाकिस्तान के पुनः आग्रह पर भारत ने महासभा की बैठक का बहिष्कार कर दिया। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध घोर प्रचार किया—उसे जंग खोर, आक्रमणकारी एवं साम्राज्यवादी कहा। इस प्रकार हैदराबाद के विलय से पाकिस्तान और भारत के सम्बन्ध और भी कटु हो गये।

भारत एवं पाक में शरणार्थी समस्या—पाकिस्तान के निर्माण का सर्वाधिक दर्दनाक पहलू साम्प्रदायिक दंगे थे। इन दंगों का कुछ रूप तो गत पृष्ठों में दिखाया गया है। पाकिस्तान मे हुये दंगों की प्रतिक्रिया भारत में हुई। यह प्रतिक्रिया आवश्यक थी क्योंकि पाकिस्तान मे होने वाले अत्याचारों का कोई अन्त नही दिखाई देता था। पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों ही पाकिस्तानों में हिन्दू जाति का सफाया हो रहा था। भारतीय भी अपने भाइयों के प्रति किये गये इन अत्याचारों को कहाँ तक सहते अर्थात् वे भी मनुष्य थे, देवता न थे। उनके रक्त में उबाल आ गया खासकर उन स्थानों पर जहाँ पाकिस्तान से आये शरणार्थी पहुँचे थे। मुसलमान अपने को असुरक्षित देख भारत से भागने लगे। पलायन का यह दृश्य विश्व की एक अनोखी घटना थी। लारी कोलिन्स द्वारा लिखी गई पुस्तक "फ्रीडम एट मिड्नाइट" मे इस दृश्य को इस प्रकार वर्णन किया गया है कि—"यह एक विचित्र, बेमिसाल घटना क्रम था, जिसकी व्यापकता और वीभत्सता की तुलना नहीं की जा सकती थी। छः खतरनाक सप्ताह तक मध्ययुगीन प्लेग की महामारी की तरह हत्याओं का नशा लोगों के दिमाग पर छाया रहा। हर स्थान पर ताकतवर ने कमजोर को मारा.........। पुरानी दिल्ली के चांदनी चौक मे, अमृतसर के मुहल्लों, लाहौर की खूबसूरत बस्तियों में रावल पिण्डी के बाजारों मे पेशावर की चार दीवारी मे दुकानों पर, सड़कों पर गुमटियों मे गांवों के रास्तों में.... सब जगह एक ही ताण्डव था। यह युद्ध नही था, गृह युद्ध भी नहीं था, गुरिल्ला युद्ध भी नहीं था। एक समाज का सहसा बिखराव था।" लोग अपना घर, सामान, गाव, नगर छोड़कर भाग रहे थे। इतिहास में जनसंख्या की अदला-बदली कभी नहीं हुई थी।

यद्यपि भारत और पाकिस्तान मे शरणार्थियों की संख्या बढ़ रही थी पर दोनों की दशाओं मे अन्तर था। भारत में जो शरणार्थी आये थे उनकी दशा बहुत खराब थी, आर्थिक दृष्टि से वे नंगे एवं शारीरिक दृष्टि से उनमें से अधिकाश अपंग थे पर पाकिस्तान में जो शरणार्थी पहुँचे वे स्वस्थ्य एवं माली हालात में अच्छे थे। भारतीयों ने भागते लोगों पर हाथ नहीं डाला। उसका कारण था भारत के राज्य की स्थापना कट्टर हिन्दुओं ने नहीं की थी वे तो मुस्लिम परस्त, गांधी जी की तुष्टिकरण नीति के अनुयायी तथा धर्म निरपेक्ष व्यक्ति थे पर इसके विपरीत पाकिस्तान का निर्माण धर्मान्ध सुन्नियों द्वारा हुआ था और वे इस्लाम धर्म के आधार पर अपने राज्य की नींव रखना चाहते थे। पाकिस्तान की सरकार दंगो मे स्वयं गुण्डों को उत्साहित करती थी। इसके विपरीत भारत सरकार दंगो को रोकने का प्रयत्न करती थी उसकी पुलिस और सेना हिन्दुओं को ही मारती थी। ऐसा सुना जाता है कि जब दिल्ली की संसद को उड़ाने के लिये मुसलमानों ने षड्यन्त्र रचा तो वह खुल गया, इससे देहली की हिन्दू जनता क्रोधित हो गई। उसने भी मुसलमानों को मारना काटना प्रारम्भ किया तो इस दंगे को दबाने के लिये भारत सरकार ने हिन्दू सेना को दिल्ली से हटा कर मुस्लिम सेना रखी जिसने चुन-चुन कर हिन्दुओं को मारा। एक गोली से 11-11 व्यक्तियों को भूना। बंगाल एवं बिहार मे होने वाले दंगों मे यद्यपि आक्रमणकारी हिन्दू थे पर पुलिस और सेना की गोलियों से भी अधिकाश हिन्दू ही मारे गये। कांग्रेस मे रातोरात लीगी राष्ट्रवादी मुसलमान बन कर घुस गये और अपने धर्म भाइयों को बचाने के लिये सरकार पर दबाव डालने लगे।

भारत की इस उदार नीति से *अल्पसंख्यकों ने न केवल भागना बन्द किया, बल्कि पाकि-*स्तान में गये लाखों मुसलमान फिर भारत आ गये। पर भारत में आये शरणार्थियों ने भारत में भूखे रहना पसन्द किया पर पाकिस्तान लौटना पसन्द न किया। इसके अतिरिक्त भारत में जो शरणार्थी आये वे करोडों की सम्पत्ति एवं सामान छोड़कर आये थे पर भारत से जो लोग भागे थे वे अधिकांश गरीब लोग थे, कम सख्या मे थे अतः उनकी सम्पत्ति भी बहुत ही कम थी। अतः भारत में शरणार्थियों को बसाने मे भारत सरकार को भारी परेशानी का सामना करना पड़ा। जब दोनों देशों में शरणार्थियों की छोडी जायदादो के मुआवजे का प्रश्न उठा तो पाकिस्तान ने उस पर विचार करने में बड़ी ढील डाली अतः भारत को अपार धन खर्च कर विस्थापितो को बसाना पड़ा। दोनों देशों में कटुता का यह भी कारण था।

नेहरू-लियाकत समझौता—प्रारम्भ मे पूर्वी पाकिस्तान मे हिन्दुओं को कम सताया गया था अतः वहाँ से कम शरणार्थी आये थे। अधिकांश शरणार्थी पश्चिमी पाकिस्तान से आये थे। भारत सरकार इन्हे बसाने की व्यवस्था कर रही थी कि पूर्वी पाकिस्तान से भारी सख्या में शरणार्थी आने प्रारम्भ हो गये। इनकी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। इस पर सरदार पटेल ने एक चेतावनी पाकिस्तान को दी कि यह सिलसिला नही रोका गया तो इन शरणार्थियों को बसाने के लिए हमे पाकिस्तान से भूमि लेनी होगी। पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री सरदार पटेल की भाषा जानते थे अतः वे दिल्ली आये और प० नेहरू से एक समझौता कर लिया। इसे "नेहरू-लियाकत अली समझौता" कहते है। इस समझौत के अनुसार, दोनो देशो के प्रधानमन्त्रियो ने *अपने-अपने देश के अल्पसख्यको की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया, वे अपने देश मे साम्प्रदायिक* सद्भावना का वातावरण बनायें ताकि लोग अपना देश छोड़कर न भागें। दोनो ने यह भी उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लिया कि वे अपने देश मे आये विस्थापितो का पुनर्वास करेंगे। एक वर्ष तक *तो समझौता ठीक प्रकार से क्रियान्वित होता रहा। पर मुसलमानों के मन मे गैर-धर्म वालों के* प्रति जो घृणा भरी है वह फिर उभर आयी। पाकिस्तान मे से फिर हिन्दुओ की भगदड़ प्रारम्भ हो गयी।

अल्पसंख्यकों की समस्या—पाकिस्तान बनने से पूर्व लीग और कांग्रेस से यह *तय हो गया था कि दोनों देशो मे अल्पसंख्यकों की पूर्ण रक्षा का दायित्व सरकारों पर होगा।* पर पाकिस्तान बनते ही यह वायदा उसने भंग किया। लगभग 2 करोड़ शरणार्थी भारत आये। पर भारत अपने वायदे पर अड़ा रहा। 1947 मे भारत मे 4 करोड़ मुसलमान रह गये थे। उनके साथ हिन्दुओं से भी अधिक अच्छा व्यवहार किया गया यह सुनकर पाकिस्तान म जो लोग चले गये थे वे भी वापस आने लगे। 1971 मे मुसलमानों की सख्या 8·4 करोड़ थी। भारत मे साम्प्र-दायिक दगे होते रहते थे। इनसे अधिकाश दगे पाकिस्तान के इशारे पर मुसलमानों द्वारा ही हुए। भारत की केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त आयोग ने बताया कि 23 दगों में 22 दगे मुसलमानों द्वारा हुए। पर भारत में कहीं एक मुसलमान मारा गया तो पाकिस्तान ने उस पर दो शून्य और बढ़ा दिये।

पाकिस्तान मे जो 1 करोड़ अल्पसंख्यक रह गये थे, उनका वह धीरे-धीरे सफाया कर रहा था। उनकी लड़कियों का विवाह मुसलमानो से कराया जाता, उनका जबरन धर्म परिवर्तन कराया जाता। साम्प्रदायिक दगो मे उनका कत्लेआम कराया जाता। भारत का प्रचार विभ इतना सशक्त नही था दूसरे भारत मे बसे मुसलमानो का उसे ध्यान रखना पड़ता था, कि व असन्तुष्ट न हो जायें। भारत सरकार ने साम्प्रदायिक भावना न बढ़ने देने के लिए उ भारत का बनावटी इतिहास लिखवाना प्रारम्भ किया जिसमें मध्य काल में जो हिन्दुओं पर हुए उन्हे बढ़ा चढ़ाकर लिखवाया जाने लगा। हिन्दू-मुसलमान एक ही जाति उसका

प्रयास किया जाने लगा । हिन्दू संगठनों के प्रति घृणा बढ़ाई जाने लगी, मुस्लिम लीग को जन्म दिया गया और कुछ प्रान्तों मे लीग के साथ मिलकर चुनाव ही नहीं लड़े गये बल्कि कांग्रेस-लीग के मिले-जुले मन्त्रिमण्डल भी बने । लीग को राष्ट्रीय दल कहा गया जनसंघ जैसी राष्ट्रीय संस्था को साम्प्रदायिक दल कहा गया ।

पाकिस्तान ने पश्चिमी पाकिस्तान से तो सभी अल्पमतों को बाहर कर दिया और इस प्रकार इस समस्या का अन्त कर दिया । पूर्वी पाकिस्तान में एक करोड़ हिन्दू रह गये थे उनका भी सफाया किया जा रहा था । 1971 में लाखों हिन्दू बंगला देश की स्वतन्त्रता में पाकिस्तानी सैनिकों ने मार डाले । 1971 में बंगला देश स्वतन्त्र हो गया अतः कुछ लोग अभी वहाँ रहते हैं । यह समस्या अब केवल भारत की रह गयी है । पाकिस्तान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा है फिर भी वह प्रचार द्वारा भारत को बदनाम करने के लिए "अल्प संख्यकों पर अत्याचार" शीर्षक से मनघड़न्त किस्से रचता रहता है ।

भारत और पाकिस्तान में परस्पर ऋण अदायगी—ब्रिटिश सरकार के समस्त लेन-देन की उत्तराधिकारी भारत सरकार होगी । यह निर्णय भारत एवं पाकिस्तान दोनों सरकारों को स्वीकार था । स्वतन्त्र होने पर इस निर्णय के अनुसार पाकिस्तान को भारत को 300 करोड़ रुपया देना था । यह भी तय हुआ कि पाकिस्तान 50 वर्षों मे वार्षिक किश्तों द्वारा इसे अदा कर देगा । पर पाकिस्तान अपने वायदे पूरा करना न चाहता था । कई वर्ष तकाजा करने पर भी वह टालमटोल करता रहा ।

दूसरी ओर भारत को 75 करोड़ रुपये पाकिस्तान को देना था । यह धनराशि भारत मे 'रक्षा-संग्रह' (Defence-store) के बदले में दी जानी थी । 20 करोड़ तो भारत ने तुरन्त अदा कर दिया और शेष 55 करोड़ देना रह गया । पाकिस्तान ने अपने ऊपर कर्ज की अदायगी नहीं की पाकिस्तान ने दूसरी ओर काश्मीर मे लड़ाई शुरू की तथा तीसरी ओर अपने 55 करोड़ रुपये माँगने का तकाजा करना आरम्भ कर दिया । लोगों को शका थी कि पाकिस्तान इस रकम का प्रयोग कश्मीर के युद्ध को तेज करने मे लगायेगा अतः भारत ने इसकी अदायगी स्थगित कर दी ।

सरदार पटेल ने 12 जनवरी 1948 मे एक प्रेस कान्फ्रेन्स में कहा था कि "जब हमारी सीमाओं पर सैनिक सघर्ष चल रहा है, तो हमसे यह आशा नही करनी चाहिए कि हम दूसरे पक्ष को नकद राशि देंगे ।" इस पर पाकिस्तान ने और शोर मचाया । वित्तमन्त्री गुलाम मोहम्मद ने कहा कि भारत पाकिस्तान पर दबाव डाल रहा है और उसे ब्लेक मेल कर रहा है । उसने विश्व जनमत से अपील की कि 'देखिये किस प्रकार बड़ा भाई छोटे भाई का गला दबा रहा है ।" महात्मा गाँधी ने चाहा कि यह राशि तुरन्त पाकिस्तान को मिलनी चाहिए । उन्होने अपनी बात पर जोर डालने के लिए 13 जनवरी 1948 को आमरण अनशन कर दिया । अतः पाकिस्तान को यह 55 करोड़ रुपया भी भारत सरकार ने दे दिया ।

नहरी-पानी विवाद—भारत पाकिस्तान में मतमुटाव का एक कारण पजाब की नदियो के पानी के विभाजन पर भी था । पजाब की पाँच नदियाँ झेलम, चिनाव, रावी, सतलज और व्यास हैं । इन पाँचो नदियो का पानी सिन्ध नदी मे चला जाता है । सिन्ध नदी काश्मीर मे होती हुई सिन्ध प्रान्त में चली जाती है । शेष नदियाँ भारतीय क्षेत्र से बहती हुई पाकिस्तान क्षेत्र में चली जाती हैं । इन नदियों के कारण पंजाब का प्रान्त हरा-भरा तथा बड़ा उपजाऊ था । इन नदियों से अनेक नहरें निकली हैं । ये नदियाँ और इनकी नहरें ससार की सबसे बड़ी सिंचाई व्यवस्था थी ।

भारत विभाजन के समय पजाब का विभाजन भी हो गया । पजाब का पश्चिमी भाग पाकिस्तान को मिला और पूर्वी भाग भारत को मिला । प्रश्न नदियों के पानी का विभाजन का आया । इन नदियों से 25 मुख्य नहरें निकली थीं जिनमे 20 भारत के क्षेत्र मे पड़ती थीं, 4

पाकिस्तान के क्षेत्र में और एक भारत से होती हुई पाकिस्तान में चली जाती थी। पाकिस्तानी नहरों का हैडवर्क्स भी भारतीय क्षेत्र मे पड़ता था। पाकिस्तान यह डरता था कि भारत इन नदियों के पानी को अपनी ओर मोड़कर पाकिस्तान को सुखा सकता है और अधिक पानी छोड़कर बाढ पाकिस्तान में ला सकता है। पानी की आवश्यकता दोनों देशों को थी। सिंचाई की व्यवस्था को विकसित करना था। भारत को सिंचाई के अतिरिक्त बिजली पैदा करने के लिए अधिक पानी की आवश्यकता थी। पाकिस्तान की माँग थी उसको पानी की कमी अनुभव न हो पाये।

काफी समय तक पानी के बटवारे के लिए भारत और पाकिस्तान मे पत्र-व्यवहार चलता रहा। मई 1948 में दोनों देशो में एक समझौता हो गया। इसमे भारत को अधिकार मिल गया कि वह पाकिस्तान को जाने वाले पानी में कमी कर सकता है। इतना होने पर भी पाकिस्तान की शकायें दूर न हुईं। पाकिस्तान ने शोर मचाया कि भारत नदियों के पानी का बहुत कम अश पाकिस्तान को भेजता है। अत: पानी का विवाद प्रारम्भ हुआ।

विवाद के समाधान के लिए विश्व बैंक के अध्यक्ष यूजीन ब्लैक को मध्यस्थ बनाया गया। 27 मई 1952 को नहरी पानी विवाद श्री यूजीन ब्लैक को सौंपा गया। एक समिति का गठन किया गया जिसमे 1-1 इन्जीनियर भारत और पाकिस्तान का था तथा 1 इन्जीनियर इन दोनों की सहमति से चुना गया। इस समिति ने सभी पहलुओं पर विचार किया और अपनी रिपोर्ट 1954 मे प्रस्तुत की। पर पाकिस्तान ने इस रिपोर्ट पर अपनी सहमति न दी। अतएव विवाद बना ही रहा। समिति ने पुन. मध्यस्थता का कार्य हाथ मे लिया और एक लम्बी अवधि के बाद अपनी दूसरी रिपोर्ट पेश की, इस रिपोर्ट पर दोनों देशों ने सहमति दे दी अत. एक समझौता दोनो देशों में हो गया।

यह समझौता 19 सितम्बर 1960 को हुआ था। यह एक ऐतिहासिक समझौता था। इसने दोनों देशों में मैत्री भाव पैदा किया। इस समझौते की शर्तें निम्नलिखित थी :

(i) भारत को तीन पूर्वी नदियों सतलज, व्यास एव रावी के पानी के पूर्ण उपयोग का अधिकार है।

(ii) पाकिस्तान को तीन उत्तर पश्चिमी नदियो—सिंधु, झेलम और चिनाव के पूर्ण प्रयोग का अधिकार है, परन्तु हिमाचल प्रदेश एवं काश्मीर के उपयोग के लिए भारत इन नदियो का पानी प्रयोग कर सकता है।

(iii) 1970 तक भारत और पाकिस्तान अपने-अपने क्षेत्रो में योजक नहरें बना लेंगे। इसके लिए विश्व बैंक और मित्र देश अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और पश्चिमी जर्मनी भारत और पाकिस्तान को वित्तीय सहायता देंगे। 1970 तक भारत पाकिस्तान को पहले की भाँति पानी देता रहेगा।

(iv) पाकिस्तानी क्षेत्र में पाकिस्तानी नहरों के निर्माण के लिए भारत पाकिस्तान को 100 करोड़ रुपया देगा।

चौथी शर्त को छोड़कर शेष तीन शर्तें तो भारत के लिए ठीक थीं पर चौथी शर्त मे 100 करोड़ रुपया भारत के लिए नयी समस्या पैदा करता था फिर भी भारत ने इस समझौते को मान लिया।

12 जनवरी 1962 को समझौता किया जाना था। पं० नेहरू ने कहा था कि "यह वास्तव में अभूतपूर्व अवसर है और कई रूपों में एक स्मरणीय दिवस है, इसलिए इसके द्वारा कई वर्षों से भारत-पाकिस्तान के सम्मुख प्रस्तुत एक अत्यन्त कठिन एव जटिल समस्या को सन्तोषजनक रूप में सुलझा दिया गया है। यह दोनों देशों और विश्व बैंक के सामूहिक प्रयत्नों का उदाहरण है।"

पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूबखां ने कहा था कि "जो समाधान हमें मिला, वह आदर्श समाधान उपलब्ध नही होता परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में हमें जो भी मिल सकता था, वह उनमें सर्वश्रेष्ठ है।"

सन्धि से बहुत सी आशायें लगाई गयी थी। यह कहा गया था कि भारत-पाक नहरी विवाद की भांति दोनों देशों के मध्य अन्य समस्याओं का भी धीरे-धीरे समाधान हो जायगा और दोनो देश मित्र बन जायेंगे। पर ये मंगल कामनायें ज्यादा काम न आयी। शीघ्र ही दोनों देश काश्मीर के विषय में झगड़ पड़े। शिशिर गुप्ता के मतानुसार, "सितम्बर 1960 मे नहरी पानी सन्धि और पं० नेहरू की कराची यात्रा से दोनों देशो के सम्बन्ध अच्छे होने प्रारम्भ हुए, परन्तु एक महीना बाद जब दोनों देशों के नेताओं ने कहा कि काश्मीर के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण मे कोई परिवर्तन नही हुआ है, तो वही पुरानी स्थिति फिर से आ गयी।"

काश्मीर समस्या—इयान स्मिथ अपनी पुस्तक 'पाकिस्तान' में लिखते हैं कि "भारत और पाकिस्तान विवादों मे सर्वप्रमुख विवाद काश्मीर का है। पाकिस्तानी जूनागढ़ को भूल गये और हैदराबाद को भूल गये पर वे काश्मीर को कभी नहीं भूल सकते हैं।" डा० एम० एस० राजन का कथन है कि "काश्मीर रोग नहीं, रोग का एक लक्षण है, मुख्य रोग तो कुछ और ही है।"

वास्तव मे काश्मीर इस पृथ्वी का स्वर्ग है। दोनों ही देश इस स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए तीन बार भीषण संघर्ष कर चुके हैं। इस सुन्दर, सुहावने देश को प्राप्त करने मे दोनों में से कोई देश अपने अधिकार को त्यागने के लिए तैयार नहीं।

काश्मीर का क्षेत्रफल 85,000 वर्ग मील था जिसमे 40 लाख जनसख्या रहती थी। इसमे 77 प्रतिशत मुसलमान रहते थे, शेष हिन्दू। यहाँ का राजा हिन्दू था। भारत-पाकिस्तान के निर्माण के समय यहाँ का राजा हरीसिंह था।

हरीसिंह के सामने यह कठिन समस्या थी कि वह भारत में विलय हो या पाकिस्तान मे। काश्मीर की समस्या को अन्य रियासतों की समस्या के अनुसार लौह पुरुष सरदार बल्लभभाई पटेल के हाथ में सौंप दिया जाता तो वह बड़ी आसानी से हल हो जाती पर भारतीयों का यह दुर्भाग्य ही रहा कि इस समस्या को आदर्शवादी प० नेहरू ने अपने हाथ मे ले लिया। उनके आदर्श का परिणाम ही हम आज भोग रहे हैं। तीन-तीन युद्ध हो चुके हैं पर उसका समाधान अभी तक नही हो पाया है और पाकिस्तान के रहते शायद कभी न हो पावे। अतः दोनो देशो के बीच काश्मीर "संघर्ष की हड्डी" (Bone of Contention) बना हुआ है। इस समस्या का संक्षिप्त वर्णन कर देना विश्व राजनीति के विद्यार्थी के लिए लाभदायक रहेगा।

(i) **महाराजा हरीसिंह का निर्णय**—अंग्रेजी सरकार ने जब भारत छोड़ने का निर्णय किया तो उन्होंने यह चाहा कि भारत को जिस हालत में उन्होंने हथियाया था उसी हालत में करके जायें। भारत का विभाजन तथा 500 से अधिक रियासतों को स्वतन्त्र करने का विचार इसी इरादे की आधार-शिला थी।

काश्मीर, भारत और पाकिस्तान दोनों की सीमा से लगी रियासत है। उसकी आबादी अधिकाश मुसलमानों की है। पाकिस्तान चाहता था कि जिन रियासतो की जनसंख्या अधिकांश मे मुस्लिम है या जिन रियासतों के शासक मुसलमान हैं वे सब पाकिस्तान में मिलनी चाहिए। सरदार पटेल जो स्वतन्त्र भारत के गृहमन्त्री बने उन्होने 3 रियासतों को छोड़कर शेष सभी रियासतो को अपनी राजनीतिक सूझ-बूझ एवं चातुर्य के कारण भारत मे विलय कर लिया। शेष रियासतें—जूनागढ़, हैदराबाद एवं काश्मीर रह गई जिनका निर्णय करना शेष था। इन तीनों पर पाकिस्तान की दृष्टि लगी थी। जूनागढ़ एवं हैदराबाद की समस्याओं का हम उल्लेख कर चुके हैं। काश्मीर की समस्या बहुत जटिल बन गई है।

हैदराबाद के समान काश्मीर का शासक भी काश्मीर को एक स्वतन्त्र एवं सम्प्रभुतापूर्ण राज्य बनाना चाहता था। यद्यपि काश्मीर में जनसंख्या में मुसलमानों का बहुमत था पर मुस्लिम लीग का वहाँ प्रभाव न था, वहाँ पर शेख अब्दुल्ला की नेशनल कान्फ्रेंस का विशेष प्रभाव था। नेशनल कान्फ्रेंस एक धर्म-निरपेक्ष संस्था थी और उसका झुकाव भारतीय कांग्रेस की ओर था। शेख अब्दुल्ला और पं० नेहरू में मित्रता भी गाढ़ी थी। प्रारम्भ में नेशनल कान्फ्रेंस भी दोनों में से किसी राज्य में मिलने की इच्छुक न थी।

भारत का दुर्भाग्य था कि लार्ड माउण्टबैटन स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने। उन्हीं का प्रभाव पं० नेहरू पर विशेष था। भारत बटवारे की योजना पर कांग्रेस का कोई नेता तैयार न था पर अपने विशेष प्रभाव से लार्ड माउण्टबैटन ने पं० नेहरू को समझा-बुझाकर विभाजन योजना पर उनके हस्ताक्षर करा लिए। महात्मा गांधी का पं० नेहरू पर असीम प्यार था अतः न चाहते हुए भी उन्होंने पं० नेहरू के निर्णय को स्वयं स्वीकार किया तथा अन्य नेताओं को भी राजी कर लिया। माउण्टबैटन की इच्छापूर्ति हुई। अब माउण्टबैटन ने काश्मीर को भी पाकिस्तान में मिलाने का प्रयत्न जारी किया। उन्होंने महाराजा काश्मीर से कहा कि "यदि आपने अपनी रियासत को पाकिस्तान में मिला दिया, तो भी भारत के नेता बुरा नहीं मानेंगे। इस बारे में मुझे सरदार पटेल का पक्का आश्वासन प्राप्त है।"

इतना होते हुए भी महाराजा हरीसिंह ने न पाकिस्तान में मिलना पसन्द किया और न हिन्दुस्तान में, उन्होंने काश्मीर को दोनों से पृथक एक 'स्वतन्त्र राज्य रखने का निर्णय' किया।

(ii) यथास्थिति समझौता—भारत एवं पाकिस्तान ने काश्मीर को अपने साथ मिलाने का प्रयत्न प्रारम्भ से जारी रखा। दोनों राज्यों ने महाराजा काश्मीर से पूछा कि वे किस देश में विलय होना पसन्द करेंगे या यथास्थिति (Stand still) का समझौता पसन्द करेंगे। उनके पास "विलय पत्र" (Instrument of Accession) भी भेज दिया गया। महाराजा काश्मीर ने किसी भी राज्य में न मिलना चाहा और यथास्थिति को ही पसन्द किया। उन्होंने भारत एवं पाकिस्तान दोनों की सरकारों को लिखा कि "जम्मू काश्मीर सरकार आपकी सरकार से यथास्थिति के समझौते का स्वागत करेगी। इस सरकार का प्रस्ताव है कि जब तक नया समझौता वस्तु स्थिति के अधिक विस्तार से निश्चित न हो जाये तब तक मौजूदा सम्बन्धों को रखा जाये।"[1]

यहाँ भी भारत सरकार चूक गई उसने महाराजा का पत्र पाकर उन्हें सूचना दी कि वे समझौते को करने के लिए अपना प्रतिनिधि दिल्ली भेजें। उधर पाकिस्तान ने उस पत्र का उत्तर देते हुए लिखा कि हम "यथास्थिति" समझौता करने को तैयार हैं। 15 अगस्त 1947 को ही पाकिस्तान और काश्मीर में "यथास्थिति समझौता" हो गया। भारत से वार्ता चलती ही रही।

पाकिस्तान ने शीघ्रता इसलिए की कि इस समझौते के बाद वह दबाव डालकर "विलय पत्र" पर महाराजा से हस्ताक्षर करा लेगा इस समझौते के अनुसार पाकिस्तान ने माना कि काश्मीर की जो स्थिति पहले थी, वही बनी रहेगी। पाकिस्तान से रेल सम्पर्क और सड़क सम्पर्क होने के कारण जो सुविधाएँ काश्मीर को पहले मिल रही थीं, वे अब भी मिलती रहेंगी।

समझौता हो जाने के बाद पाकिस्तान का दबाव महाराजा पर पड़ने लगा कि वे विलय पत्र पर हस्ताक्षर कर दें। महाराजा ऐसा करने को तैयार न थे। एक पाकिस्तानी लेखक प्रो०

---

[1] "The government of Jammu-Kashmir will welcome "standstill" agre[illegible] with your governments and proposes that until a new agreement co[illegible] being in accordence with the reality of circumstances, the present [illegible] ment should be continued." —From the Letter of Maharaja of K[illegible] the Government of India and Pakistan.

गुलाम वाहिद चौधरी ने लिखा है कि "महाराजा ने पाकिस्तान के साथ यथास्थिति समझौता इसलिए किया था, क्योंकि वे काश्मीर का पाकिस्तान में विलय नहीं चाहते थे और इस सम्बन्ध में पाकिस्तानी दबाव से बचना चाहते थे।"

महाराजा काश्मीर की इच्छा पूरी न हुई। पाकिस्तानी दबाव के कारण वे परेशान हो उठे। उन्हें पाकिस्तान की सरकार से धमकी मिलने लगी कि यदि वे विलय पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे तो उन्हें गम्भीर परिणाम भोगने पड़ेंगे। धमकी को असरदार बनाने के लिए पाकिस्तान ने काश्मीर की जनता के लिए आवश्यक सामग्रियों को भेजना बन्द कर दिया, डाक एवं तार की व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा कर दी, इतनी ही नहीं कुछ कबाइलियो को ट्रेनिंग दे काश्मीर सीमा में प्रवेश करा दिया। इससे महाराजा हरीसिंह परेशान हो उठे। इनकी शिकायत जब महाराजा ने पाकिस्तानी सरकार से की तो पाकिस्तान ने इन शिकायतों को मनगढ़न्त एवं झूठा बताया।

भारत में काश्मीर की सूचनाएँ पहुँचने लगीं। एक दिन पं० नेहरू ने संविधान सभा में भाषण करते हुए बताया कि "पाकिस्तान के अधिकारियों द्वारा जनता की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक सामान जैसे अनाज, नमक शक्कर और पेट्रोल आदि का प्रवेश रोककर काश्मीर पर बाहरी दबाव डाला जा रहा है। इस प्रकार काश्मीर पर आर्थिक फांसी लगाने का और उसे पाकिस्तान में सम्मिलित होने के लिए मजबूर करने का प्रयत्न चल रहा है।"

(iii) जम्मू काश्मीर पर कबाइलियों का आक्रमण—पाकिस्तान ने कबाइलियों को उकसाते हुए यह कहना प्रारम्भ किया कि काश्मीर पर आक्रमण एक जेहाद (धर्म युद्ध) होगा। "इस युद्ध में जीतने पर तुम्हें लूट का धन मिलेगा। तुम्हें जन्नत की हूरें मिलेंगी।" 31 अगस्त 1947 को पाकिस्तान के लगभग 400 सशस्त्र सैनिक 10 अक्टूबर को 20,000 अर्द्ध सैनिक कबाइली काश्मीर में घुस गये और मारकाट एवं बलात्कार करना प्रारम्भ कर दिया। उस क्षेत्र के (झेलम के किनारे) बसने वाले सभी मुसलमान आक्रमणकारी से मिल गये। उस क्षेत्र में सेना की व्यवस्था भी बहुत कम थी। अतः पाकिस्तानी इन क्षेत्रों पर शीघ्र अधिकार कर आगे बढ़े। जब ये लुटेरे मुजफराबाद पहुँचे तो वहाँ कर्नल नारायणसिंह की कमाण्ड में काश्मीरी सेना की एक बटालियन थी जिसमें अधिकांश मुसलमान सैनिक थे। वी० पी० मेनन ने लिखा कि "उस बटालियन में सब मुसलमान सैनिकों ने उस बटालियन का साथ छोड़ दिया और अपने धर्म भाइयों में जा मिले। उन्होंने नारायणसिंह तथा उसके सहायकों को गोली मार दी और आक्रमणकारियों की अगली सैनिक पंक्ति में जा खड़े हुए।"[1]

मुजफराबाद से श्रीनगर 135 मील दूर था। मुजफराबाद से सीधी सड़क बारामूला होते हुए श्रीनगर पहुँचती थी। मुजफराबाद की आबादी यद्यपि मुसलमानों की थी पर मुस्लिम गुण्डों ने इस बात की भी परवाह न की। नगर के बाजार को खूब लूटा। बहू-बेटियों पर बीच सड़क पर बलात्कार किया गया। इसी प्रकार हिंसा का ताण्डव नृत्य करते हुए कबाइलियों को लिए हुए पाकिस्तानी सेना आगे बढ़ती जाती थी। रास्ते में बसने वाले काश्मीरी मुसलमान उनसे मिलते जाते थे। दूसरे रोज वे बारामूला पहुँच गये। यहाँ से श्रीनगर 30 मील रह जाता था। बारामूला में भी लूटमार, हत्यायें एवं बलात्कार की कहानी दोहराई गई। वहाँ एक ईसाई मिशन जो बेल्जियम का था स्कूल और गिरजा घर रखता था। पाकिस्तानियों ने उन पर आक्रमण कर दिया। बच्चों को मार डाला विदेशी अध्यापिकाओं के साथ भी बलात्कार किया। वहाँ से आक्रमणकारी उड़ी की ओर बढ़े। वी० पी० मेनन ने लिखा कि "उस समय तक काश्मीर की सेना में जो भी मुसलमान थे वे सेना छोड़ आक्रमणकारियों से मिल गये। जब यह समाचार सेनाध्यक्ष ब्रिगेडियर राजेन्द्रसिंह

---

[1] V. P. Menon, *The Story of Integration of States*, p. 236.

को मिला तो वह 150 राजपूत सैनिकों को लेकर उरी की तरफ चल पड़ा। उसने आक्रमणकारियों की तेज गति को रोकने के लिए उड़ी के पुल को उड़ा दिया। इस छोटी सी टुकड़ी ने आक्रमणकारियों को दो दिन तक उलझाये रखा। यद्यपि इस टुकड़ी का एक-एक व्यक्ति मारा गया पर उन्होंने अपना नाम इतिहास में अमर कर लिया। जिस प्रकार यूनान के वीर लियोनिडास का नाम प्रसिद्ध है इसी प्रकार वीर राजेन्द्रसिंह का नाम भारत में प्रसिद्ध हो गया। यदि उस समय महावीर चक्र देने की प्रथा होती तो राजेन्द्रसिंह उसके प्रथम अधिकारी होते।"

24 अक्टूबर को आक्रमणकारी महूरा बिजली घर तक पहुँच गये। उन्होंने बिजली घर पर कब्जा कर लिया। इससे श्रीनगर की बिजली बन्द हो गई। जम्मू-काश्मीर राज्य की राजधानी अन्धेरे में डूब गई। आक्रमणकारियों ने घोषणा की कि दो दिन बाद अर्थात् 26 अक्टूबर को, हम ईद का त्यौहार श्रीनगर में मनायेंगे।" पर ईश्वर को यह स्वीकार न था।

(iv) काश्मीर रियासत का भारत में विलय—24 अक्टूबर 1947 तक काश्मीर के अधिकांश भाग पर पाकिस्तानियों का कब्जा हो गया। श्रीनगर केवल 4 मील दूर रह गया। महाराजा हरीसिंह मछली की तरह तड़पने लगे। इस भयानक संकट से भारत ही उन्हें उबार सकता था पर वहाँ भी विलय का प्रश्न सामने था। काश्मीर की लगभग सभी सेना काम आ चुकी थी या आक्रमणकारियों से मिल चुकी थी। 24 अक्टूबर को महाराजा काश्मीर ने भारत से सहायता की याचना की पर पं० नेहरू आदर्शवादी थे। कायदे-कानून के अनुसार ही वे भारत की सेना काश्मीर में भेज सकते थे अतः वी० पी० मेनन 25 अक्टूबर 1947 को श्रीनगर पहुँच गये। उन्होंने भारत का दृष्टिकोण महाराजा के सामने रखा और कहा कि जब तक काश्मीर का विलय भारत में न हो जायगा, भारत काश्मीर की रक्षा नहीं कर सकता।

महाराजा हरीसिंह विलय के लिए तैयार हो गये। 26 अक्टूबर 1947 को महाराजा हरीसिंह ने विलय पत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर कर दिये। इस प्रकार महाराजा ने विधिवत रियासत की भारत में विलय की घोषणा कर दी। विलय पत्र को भेजते हुए एक पत्र भी महाराजा ने भारत सरकार को लिखा—"जो परिस्थितियाँ इस समय मेरी रियासत में हैं और जो संकटकालीन स्थिति है, उसमें मेरे पास भारत की सहायता माँगने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। यह स्वाभाविक है कि जो सहायता मैं चाहता हूँ, उसको भारत सरकार तब तक नहीं दे सकती जब तक मैं अपनी रियासत को भारत में न मिला दूँ। इसलिए मैंने यह निर्णय किया है कि मैं विलय पत्र पर हस्ताक्षर कर आपके पास भेज दूँ।" इस पत्र के साथ महाराजा ने तुरन्त सेना भेजने की प्रार्थना की।

जब यह पत्र प० नेहरू को मिला तो उन्होंने विलय पत्र को तो स्वीकार कर लिया पर एक शर्त और लगा दी। जम्मू-काश्मीर की जनता का नेता, प० नेहरू का मित्र, महाराजा काश्मीर का शत्रु और कुर्सी लोलुप शेख अब्दुल्ला का मत भी वे जान लेना चाहते थे। संयोगवश या पूर्व योजनानुसार शेख अब्दुल्ला उस समय देहली में था। उसने पहले ही भारत से काश्मीर को बचाने की प्रार्थना की थी। अतः वह पं० नेहरू से मिला और "विलय" का पूर्ण समर्थन किया। पं० नेहरू ने भारत की स्वीकृति का पत्र महाराजा काश्मीर को भेजते हुए कहा कि पहले अब्दुल्ला को अपना प्रधानमन्त्री बनाओ तब सहायता भेजी जायगी। महाराजा विवश था उसने इस बात को भी स्वीकार कर लिया।

(v) काश्मीर को भारत सहायता—"पं० नेहरू ने काश्मीर को भारत में लिया पर अपने आदर्शवाद के अनुसार एक और भूल कर दी। यह भूल थी काश्मीर संग्रह कराकर पूर्ण विलय की घोषणा का वचन देना।" अन्य राज्यों के समान काश्मीर भी उनके शासकों के विलय पत्र पर हस्ताक्षर करने के बाद हो जाना चाहिए थे।

के हृदय जीतने के लिए ही पं० नेहरू ने यह आदर्शवाद बखाना था। इसी के कारण आज तक काश्मीर का मसला तय न हुआ।

समय बहुत कम था और आक्रमणकारी केवल 4 मील दूर पर लूट-पाट, मारकाट एवं बलात्कार मे मग्न थे। उनकी मूर्खता ने समय खो दिया अन्यथा भारत की सेना आने से पूर्व ही काश्मीर विजय हो चुका होता। खैर 27 अक्टूबर 1947 को भारत को सिक्ख बटालियन को प्रात.काल ही श्रीनगर रवाना कर दिया। काश्मीर को कोई सीधी सड़क न थी अतः हवाई मार्ग से काम लिया गया। दिन भर भारत के विमान श्रीनगर में उतरते रहे और सेना एवं शस्त्र आते रहे।

काश्मीर मे भारत की सेना एकत्रित होकर शत्रु का सामना करने के लिए आगे बढ़ी। लुटेरे भारत की सेना देखकर घबड़ा गये। वे उसका मुकाबला न कर सके और मैदान छोड़-छोड़कर भागने लगे। उधर प० नेहरू ने पाकिस्तानी राष्ट्रपति श्री जिन्ना के पास विरोध पत्र भेजकर माँग की कि पाकिस्तान भारत के अंग काश्मीर से फौरन सेनायें हटाये। इस विरोध पत्र का उत्तर देते हुए राष्ट्रपति जिन्ना ने साफ इन्कार कर दिया कि इस आक्रमण में पाकिस्तान का कोई हाथ नहीं है, न पाकिस्तानी सेना इन कबाइलियो के साथ है। यह विशुद्ध कबाइली आक्रमण है।

यह लिखकर भारत को भेज तो दिया गया पर पाकिस्तान को काश्मीर मे पाकिस्तानी सेना की भगदड़ से बड़ा दु.ख हुआ और उन्होंने इरादा किया कि पाकिस्तान की पूरी सैनिक शक्ति लगाकर भारत की सेना को काश्मीर से निकाल दिया जाय। उस समय भारत और पाकिस्तान की सेनाओ के सयुक्त सेनापति फील्ड मार्शल ओचिनलेक थे। उन्होंने श्री जिन्ना को चेतावनी दी कि कहीं ऐसी मूर्खता न कर बैठना। उनके शब्द थे कि "यदि पाकिस्तान के सैनिक काश्मीर म प्रविष्ट हो जाते है जो अब वैधानिक दृष्टि से भारत का भाग बन गया है, तो पाकिस्तान की सीमा में काम करने वाले प्रत्येक अंग्रेज अधिकारी को तुरन्त हटा दिया जायगा।" इस चेतावनी से श्री जिन्ना ने अपना इरादा छोड़ दिया।

पाकिस्तान ने एक ओर तो पाकिस्तानी सेना का अस्तित्व काश्मीर मे होना अस्वीकार किया और दूसरी ओर भारत की सेनाओं के अत्याचारों की कहानी कहना प्रारम्भ कर दी। रेडियो एव समाचार पत्रों ने भारत के विरुद्ध जहर उगलना प्रारम्भ कर दिया। 2 नवम्बर, 1947 को पं० नेहरू ने इस अनर्गल पाकिस्तानी प्रचार का उत्तर देते हुये रेडियो पर बोलते हुए कहा कि "काश्मीर के बारे मे निर्णय पूर्ण विचार करके और उसके सब परिणामों को आकने के बाद लिया गया है। यदि हम ऐसा न करते तो काश्मीर रियासत को आक्रमणकारी लूट लेते, वहाँ पर आग लगाते और स्त्रियों के साथ बलात्कार करते। वह आक्रमणकारियों की तलवार की शक्ति के सामने झुकने वाली बात होती।" श्री नेहरू ने आगे कहा कि "जब काश्मीर मे शान्ति तथा कानून स्थापित हो जायगा, तो सयुक्त राष्ट्र संघ जैसी किसी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के तत्वाधान मे लोकमत सग्रह करवा दिया जायगा।" इन शब्दो को ही पाकिस्तान एवं सयुक्त राष्ट्र सघ ने आज तक पकड़ रखा है।

भारतीय सेना द्वारा काश्मीर को अर्द्ध विजय—भारतीय सेनाओं को आज्ञा दी गई कि वे आक्रमणकारियों को काश्मीर की सीमाओं से बाहर खदेड़ दें। मेजर जनरल कुलवन्त सिंह श्रीनगर की रक्षा करने तथा कबाइलियों को पीछे धकेलने में लग गये। भारतीय सैनिकों के सामने कबाइली अधिक देर तक न ठहर सके। पीछे हटने लगे। 8 नवम्बर 1947 को भारत की सेना ने बारामूला जीत लिया। वी० पी० मेनन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "जब बारामूला पर भारतीय सेना ने अधिकार किया तो उसे पता चला कि 18 हजार व्यक्तियों में वहाँ एक हजार व्यक्ति बचे थे। शेष आक्रमणकारियों द्वारा कत्ल कर दिये गये थे। कबाइलियों ने उनकी धन सम्पत्ति लूट ली थी, कबाइलियों द्वारा जो विनाश लीला की, वह नादिरशाह द्वारा दिल्ली के कत्ले

आम तथा लूट खसोट का स्मरण कराती है। कुछ विदेशी पत्रकारों ने उनकी लूट, आग लगाने और स्त्रियों से बलात्कार करने के बारे में अपनी गवाही दी। आक्रमणकारियो ने हिन्दू, मुसलमानों तथा ईसाइयों मे से किसी को भी क्षमा नही किया और सैण्ट जोजफ के गिरजाघर को भी नष्ट भ्रष्ट कर दिया।"

बारामूला के बाद भारतीय सेना आगे बढ़ी और 11 नवम्बर 1947 को उरी को भी जीत लिया। आगे बढ़कर तन्मार्ग एव गुलमार्ग पर भी कब्जा कर लिया। कबाइली शस्त्र छोड़-छोड़कर भाग रहे थे। यह शस्त्र सब पाकिस्तान के थे। इस बात का सबूत था कि यह आक्रमण पाकिस्तान ने ही किया था।

भारत-पाक प्रधानमन्त्रियों की भेंट—लार्ड माउण्टबैटन की शरारत से यह आक्रमण हुआ जैसाकि जनरल करिअप्पा ने बाद मे बताया। उन्होने जब देखा कि भारतीय सेना काश्मीर के हिस्से को जीतती आगे बढ़ रही है तो वे घबराये और भारतीय सेना को आगे बढ़ने से रुकवाने के लिए पं० नेहरू से सलाह मशवरा करने लगे। उन्होंने पं० नेहरू को बहकाया कि युद्ध जल्दी समाप्त कर दो अन्यथा यह युद्ध भारत-पाकिस्तान मे बदल जायगा जिसके परिणाम भयानक होंगे। प० नेहरू युद्ध बिल्कुल नही चाहते थे पर उनकी इच्छा यह अवश्य थी कि पाकिस्तानी सेना या कबाइली काश्मीर की भूमि को खाली कर दे। लार्ड माउण्टबैटन ने भारत और पाकिस्तान के प्रधानमन्त्रियों मे मुलाकात कराने का प्रयत्न किया। 8 दिसम्बर 1947 को लार्ड माउण्टबैटन और प० नेहरू पाकिस्तान गये। वहाँ पाकिस्तान के अधिकारियों से उनकी वार्ता आधी रात तक चली। प० नेहरू का कहना था कि पाकिस्तानी सेना काश्मीर की भूमि से यदि हट जाये तो वे काश्मीर मे जनमत सग्रह कराने को तैयार है। श्री लियाकत अली ने कहा कि कबाइलियों को काश्मीर से वापस बुलाने मे वे असमर्थ है। उन्होने शेख अब्दुला को प्रधान मन्त्री के पद से हटाने और किसी निष्पक्ष व्यक्ति को काश्मीर का प्रधान मन्त्री बनाया जाने का प्रस्ताव रखा। यह बात प० नेहरू ने स्वीकार न की।

प्रधान मन्त्रियो की वार्ता भंग हो गई। युद्ध जारी रहा। भारत की सेनायें आग बढ़ती रही। 22 दिसम्बर, 1947 को पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री श्री लियाकत अली भारत आये। प० नेहरू ने पुनः कबाइलियों को काश्मीर से हटाने की बात कही और एक पत्र श्री लियाकत अली को पकड़ा दिया। इस पत्र मे लिखा था कि "आक्रमणकारियों को पाकिस्तानी क्षेत्र से गुजरने की खुली आज्ञा है। वे काश्मीर मे पाकिस्तानी अड्डो से आक्रमण करते हैं। उनको आधुनिक सैनिक सामान के बल पाकिस्तान से मिल सकता है—छोटी मोर्टार बन्दूकें, तोपें तथा वी मार्क की बारूद ऐसे शस्त्र हैं जिनका कबीले आमतौर पर प्रयोग नही करते। मोटर वाहन जिसका प्रयोग आक्रमण-कारी कर रहे हैं तथा इसके लिए आवश्यक पेट्रोल उनको पाकिस्तान से ही प्राप्त होती है। भोजन तथा रसद भी उनको पाकिस्तान से ही प्राप्त होती है। निःसन्देह हमारे पास विश्वसनीय सूचना है कि आक्रमणकारी पाकिस्तान मे प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।"

श्री लियाकत अली ने भारतीय पत्र का उत्तर भिजवा दिया। पत्र मे पं० नेहरू द्वारा लगाये गये आरोपों का खण्डन किया, उन्हें मनघड़न्त एव झूठे बताया। उल्टे भारत पर उन्होंने अनेकों आरोप लगाये।

वार्ता द्वारा कोई हल नही निकल रहा था। उधर भारतीय सेनायें कबाइलियों को धकेलती हुई आगे बढ़ रही थीं पुंछ पर भी भारत की सेनाओं का अधिकार हो गया था। भारत की सेना आगे बढ़ रही थी पर पं० नेहरू को बड़ी बेचैनी बढ़ रही थी। इसका कोई औचि नही आता था।

काश्मीर का विवाद संयुक्त राष्ट्र संघ में—पं नेहरू ने एक काश्मीर का मामला, संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाना। इसका भो कोई

पाकिस्तान को हो सकती थी, भारत को क्यों ? पर दुनिया को दिखाने के लिए कि भारत कितना शान्ति प्रिय है, कितना न्याय प्रिय है ? यह खेल किया जा रहा था। उनके सलाहकार भी ऐसे ही पाकिस्तान परस्त थे। काश्मीर की समस्या को उलझाने का श्रेय पं० नेहरू को ही है। 31 दिसम्बर, 1947 को बिना पूरा काश्मीर विजय किये प० नेहरू काश्मीर विवाद को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गये। भारत का कहना था कि संयुक्त राष्ट्र संघ यह घोषित करे कि पाकिस्तान आक्रमणकारी है और काश्मीर से कबाइलियों को काश्मीर से निकलवा दे। 31 दिसम्बर 1947 का दिन भारत के लिए एक काला दिन सिद्ध हुआ।

वास्तव में यह षड्यन्त्र लार्ड माउण्टबेटन द्वारा रचा गया था। वह गुप्त रूप से पाकिस्तान के समर्थक थे। उनके ही सलाह मशवरे को मान कर पं० नेहरू ने यह महान गलती की थी। उन्हें ऐसा लग रहा था कि भारत-पाक युद्ध छिड़ जायगा और उसकी जिम्मेदारी लार्ड माउण्टबेटन पर आयगी। जिस पाकिस्तान को बनाने के लिये अंग्रेजों ने इतना सब कुछ किया, यदि वह समाप्त हो गया तो अंग्रेजों की यह योजना कि भारत खण्ड खण्ड हो जाये विफल हो जायेगा। वे पं० नेहरू एवं गांधी जी को समझा रहे थे कि पाक-भारत युद्ध से बचने के लिये इस मामले को सं० रा० संघ में ले जाना आवश्यक है। श्री वी० पी० मेनन ने लिखा है कि "श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस सुझाव को मान लिया, यद्यपि उनके साथियों को इस सम्बन्ध में अनेक शंकायें थीं।"

काश्मीर को यदि जूनागढ़ एवं हैदराबाद की तरह पूर्ण विजय कर लिया जाता तो काश्मीर की समस्या का वहीं अन्त हो जाता। यह कल्पना ही निरर्थक थी कि इस प्रश्न पर पाक-भारत युद्ध हो जायगा। पाकिस्तान कभी भी युद्ध करने को तैयार न था क्योंकि पाकिस्तान के निर्माण की समस्या उसके सामने थी। उसकी सेनायें भी इतनी शक्तिशाली न थीं कि वह पैदा होते ही अपने मिटने की कोशिश करता। पर काश्मीर की विजय कैसे होती जब कि भारत बंटवारे का "पुनीत कार्य" करने वाला गवर्नर जनरल दिल्ली के सिंहासन पर बैठा था। वह भारत का सबसे हितैषी था। उसकी यश एवं कीर्ति का बड़ा इच्छुक था ?

काश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद में—भारत के प्रतिनिधि श्री पी० पी० पिल्लाई ने 1 जनवरी 1948 को एक प्रार्थना पत्र सुरक्षा परिषद के सामने प्रस्तुत किया जिसमें प्रमुख तीन बातें थीं—

(i) सुरक्षा परिषद काश्मीर में हमलावारों की सभी सूत्रों से दी जाने वाली सैनिक सहायता को रोके।

(ii) सुरक्षा परिषद काश्मीर में कबाइलियों को दी जाने वाली सैनिक सहायता तथा अन्य युद्ध सामग्री को देने से रोके।

(iii) जम्मू-काश्मीर में हो रहे युद्ध में पाकिस्तान के लोगों को युद्ध में भाग लेने से रोके।"

भारत तथा विदेशी सम्वाददाताओं ने इस बात की पुष्टि कर दी थी कि "पाकिस्तानी सरकार कबाइलियों को अस्त्र-शस्त्र दे रही है तथा उन्हें रसद आदि भी पहुँचा रही है। कुछ सम्वाददाताओं ने तो यहाँ तक कहा था कि कबाइलियों की सेना का संचालन पाकिस्तानी सैनिक अफसर कर रहे हैं।" इन बातों को न पाकिस्तान मानता था और न सुरक्षा परिषद के सदस्यों ने माना। सुरक्षा परिषद का रुख पाकिस्तान की ओर झुका हुआ था।

सुरक्षा परिषद में पाकिस्तान के प्रतिनिधि श्री जफरुल्ला ने बहस में भाग लेते हुये भारत पर आरोप लगाया कि "भारत का उद्देश्य पाकिस्तान को नष्ट करना है इसलिये उसने धोखे

और चालबाजी से काश्मीर का विलय कर लिया है। वह व्यापक 'नर हत्या' (Genocide) की नीति का सहारा लेकर काश्मीर को हिन्दू बहुल प्रदेश बनाना चाहता है।" उन्होंने इस बात से भी इन्कार किया कि काश्मीर मे कबाइलियों को भेजने में पाकिस्तान का हाथ है। जफरुल्ला के तर्कों से सुरक्षा परिषद प्रभावित हुई और उसने काश्मीर के प्रश्न को पाक-भारत विवाद का रूप मान लिया।

भारत का पक्ष लेने वाला सुरक्षा परिषद मे कोई राष्ट्र न मिला। पश्चिमी शक्तियों ने भारत और पाकिस्तान को समान स्थिति में रखा। उन्होने पाक-भारत की वैमनस्यता को ध्यान मे रखकर काश्मीर विवाद मे दोनों को जिम्मेदार बताया। उन्होंने दानो देशों म "समझौता फार्मूला" (Compromise Formula) खोजने की सिफारिश की। उन्होंने सुझाव दिया कि 'संयुक्त राष्ट्र संघ आयोग" (United National Commission) की स्थापना कर एक तीसरा पक्ष तैयार करे जो दोनों पक्षों मे समझौता करा दे। प० नेहरू को पश्चिमी देशो के दृष्टिकोण से बड़ी निराशा हुई। सुरक्षा परिषद ने पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित नहीं किया। काश्मीर विवाद के लिये दोनो देशों को समान रूप से उत्तरदायी ठहराया।

संयुक्त राष्ट्र संघ आयोग का कार्य—20 जनवरी 1948 को स० रा० संघ के आयोग का निर्माण हुआ। इसका उद्देश्य था कि वह पूरी समस्या का गहन अध्ययन कर रिपोर्ट सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत करे। प्रारम्भ मे आयोग के तीन सदस्य थे—एक भारत की पसन्द का, दूसरा पाकिस्तान की पसन्द का तथा तीसरा दोनो देशों की पसन्द का। भारत ने युगोस्लाविया को चुना, पाकिस्तान ने अर्जेन्टाइना को चुना पर ये दोनो प्रतिनिधि किसी तीसरे प्रतिनिधि के नाम पर सहमत न हो सके। अतः सुरक्षा परिषद ने तीसरा प्रतिनिधि स० रा० अमेरिका का चुना। अप्रैल 1948 में इस आयोग के दो और सदस्य बढ़ाये—कोलम्बिया एव बेल्जियम।

आयोग ने जेनेवा मे जून 1948 से अपना काय प्रारम्भ किया। जब आयोग जाँच के लिये पाकिस्तान में पहुँचा तो पाकिस्तान के विदेश मन्त्री ने आयोग को सूचित किया कि दो माह पूर्व पाकिस्तान की सरकार ने अपनी सेनायें काश्मीर इसलिये भेजी कि वह भारत की सैनिक शक्ति का अवरोध कर सके। अगस्त 1948 मे आयोग ने प्रस्ताव रखा कि उपमहाद्वीप में परिस्थितियो में यथार्थ मे परिवर्तन लक्षित हुआ। आयोग ने भारत और पाकिस्तान म युद्ध विराम का प्रस्ताव रखा तथा अपनी सेना बुलाने तथा जनमत संग्रह के दौरान राज्य मे लोकप्रिय शासन स्थापित करने का सुझाव रखा। यह प्रस्ताव भारत के अनुकूल था अतः उसने उसे मान लिया। पाकिस्तान ने भी थोड़ी सी आनाकानी कर उसे स्वीकार कर लिया। 1 जनवरी 1949 को युद्ध विराम लागू हो गया। यह पाकिस्तान के लिये सबसे बड़ी सफलता थी। आयोग भारत एव काश्मीर म भी गया। अन्त मे वह जेनवा लौट गया। सुरक्षा परिषद ने आयोग की रिपोट के आधार पर 13 अगस्त 1948 को एक प्रस्ताव पास किया। इसके मुख्य प्रावधान निम्नलिखित थे :

(i) पाकिस्तान काश्मीर से अपनी सेनायें हटाये तथा विदेशो कबाइलियों और सामान्य रूप से काश्मीर मे न रहने वाले नागरिकों को काश्मीर से हटाने का प्रयास करे।

(ii) पाकिस्तानी सेनाओं द्वारा खाली किये प्रदेश का प्रशासन का प्रबन्ध आयोग के निरीक्षण में स्थानीय अधिकारी करे।

(iii) जब पाकिस्तान इन दोनों शर्तों को पूरा करने की सूचना आयोग को दे दे तो उस समय भारत भी अपनी अधिकांश सेना काश्मीर से हटा ले।

(iv) साधारणतः समझौता होने तक युद्ध विराम की सीमाओं के भीतर भारत उतनी ही सेना रखे, जितनी उस प्रदेश में कानून और व्यवस्था रखने के कार्य में स्थानीय अधि[illegible] सहायता देने के लिये काफी हो।

प्रस्ताव में यह भी उल्लेख था कि "जम्मू और काश्मीर की सुरक्षा का दायित्व भारत सरकार पर है।" इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख था कि "यदि पाकिस्तान अपनी सेनायें नहीं हटाता है तो भारत जम्मू-काश्मीर में जनमत संग्रह के लिये बाध्य नहीं होगा।' इस प्रकार सुरक्षा परिषद ने जम्मू-काश्मीर के भारत में विलय को पूर्ण रूप से वैध मान लिया।

काश्मीर का भारत विलय को पूर्ण मानना—1 जनवरी 1949 को युद्ध-विराम हो गया। युद्ध-विराम की शर्त इस प्रकार थी—

(i) भारत तथा पाकिस्तान के सेनाध्यक्ष 1 जनवरी 1949 की मध्य रात्रि से युद्ध विराम की घोषणा कर देंगे। इसके पश्चात् कोई भी पक्ष ऐसा कोई भी कदम न उठायेगा, जिससे कि सैनिक कार्यवाही की पुनरावृत्ति हो।

(ii) जम्मू काश्मीर राज्य की समस्या को हल करने के लिए दोनों देशों की सहमति से जनमत संग्रह (Plebiscite) कराया जाये।

युद्ध-विराम हो जाने पर युद्ध-विराम रेखा का निर्धारण संयुक्त राष्ट्र संघ का आयोग करेगा तथा उसका निरीक्षण भी संयुक्त राष्ट्र संघ का पर्यवेक्षक करेगा। युद्ध-विराम रेखा निर्धारित हो जाने पर पाकिस्तान के हाथ में काश्मीर का 3[illegible],000 वर्गमील क्षेत्र रह गया। इसकी जनसंख्या 7 लाख थी। पाकिस्तान ने इस क्षेत्र को "आजाद काश्मीर" कहा। युद्ध-विराम रेखा के इस पार भारत के अधिकार में 53,000 वर्गमील क्षेत्र था जिसकी जनसंख्या 33 लाख थी।

काश्मीर में जनमत संग्रह का प्रयास—प० नेहरू ने कई बार जनमत संग्रह की बात कही थी। वे उसके लिए तैयार थे। संयुक्त राष्ट्र संघ ने यह शर्त भी लगा दी थी कि पाकिस्तान द्वारा हस्तगत क्षेत्र से जब पाकिस्तानी सेना एवं कबाइली पूर्णतया हट जायेंगे तभी जनमत संग्रह होगा। सुरक्षा परिषद ने अमेरिकी प्रतिनिधि "निमिट्ज" की इस हेतु नियुक्ति भी कर दी थी। निमिट्ज जब पाकिस्तान आये तो वहाँ के अधिकारियों से बातचीत प्रारम्भ की। पाकिस्तान आजाद काश्मीर से अपनी सेनायें हटाने के लिए तैयार न था। बिना सेनायें हटाये जनमत संग्रह हो नहीं सकता था। निमिट्ज निराश होकर लौट गये। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि की यह पहली असफलता थी।

युद्ध विराम रेखा का उल्लंघन—पाकिस्तान अपने द्वारा हस्तगत प्रदेश को छोड़ने के लिए तैयार न था। वह समझता था कि उसके मित्रों ने एक तिहाई प्रदेश तो उसे दिला ही दिया है, शेष भाग को वह जनमत संग्रह में प्राप्त कर लेगा। कबाइलियों के आक्रमण के समय वह देख ही चुका था कि काश्मीर के सभी मुसलमान भारत का पक्ष छोड़कर अपने ही देश की लूटमार में पाकिस्तानी के साथी बन गये थे अतः जनमत संग्रह में भी वे पाकिस्तान का पक्ष समर्थन करेंगे। उसे सरहदी प्रान्त का भी अनुभव था जहाँ लाल कुर्ती के कारण सभी मुसलमान कांग्रेस के पक्ष में थे पर जनमत संग्रह में लीग को सफलता मिली थी।

पाकिस्तान युद्ध-विराम रेखा का भी उल्लंघन कर रहा था। संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यवेक्षक युद्ध-विराम रेखा की निगरानी में नियुक्त थे और देख रहे थे कि युद्ध विराम रेखा का उल्लंघन बार-बार हो रहा था। इसकी शिकायत वे सुरक्षा परिषद से कर चुके थे और पाकिस्तान को दोषी ठहरा चुके थे।

उस समय सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष कनाडा के जनरल मैकनाटन थे।

मैकनाटन की योजना—17 दिसम्बर 1949 को जनरल मैकनाटन ने कहा कि वे काश्मीर समस्या के समाधान के लिए कुछ अपने सुझाव रखना चाहते हैं। उनके सुझाव इस प्रकार के थे—

(i) भारत और पाकिस्तान दोनों [illegible] सेनायें काश्मीर क्षेत्र से हटालें।

(ii) काश्मीर का विसैन्यीकरण करके संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में जनमत संग्रह करा लिया जाये ।

भारत ने इन सुझावों को नही स्वीकार किया क्योंकि उसमे आक्रामक और आक्रान्ता को बराबर माना गया था । भारत के प्रतिनिधि सरवैनगल राव ने मैकनाटन योजना पर बोलते हुए कहा था कि, "आज स्थिति यह है कि पाकिस्तान जिसने आक्रमणकारियों अथवा आजाद काश्मीर की सहायता देते हुए भी मानने से इन्कार कर दिया था, वह अब न केवल आक्रमणकारी है, बल्कि बिना किसी कानूनी सत्ता के काश्मीर के लगभग आधे भाग पर अपना अवैध अधिकार बनाये हुए है । यह एक नग्न आक्रमण है, जिसकी अनुमति कोई भी नही दे सकता है । परन्तु मैकनाटन योजना में इसका कोई उल्लेख तक नही है ।" भारत का यह भी आरोप था कि मैकनाटन योजना सुरक्षा परिषद के 13 अगस्त के प्रस्ताव के विरुद्ध भी है । सुरक्षा परिषद जो भी निर्णय करे वह 13 अगस्त 1948 के प्रस्ताव के अन्तर्गत होनी चाहिए । ऐसे प्रस्ताव को भारत सहर्ष स्वीकार करेगा ।

डिक्सन मिशन—सुरक्षा परिषद ने आस्ट्रेलिया के सर ओलन डिक्सन को सयुक्त राष्ट्र का प्रतिनिधि बनाया और 14 मार्च 1950 को काश्मीर समस्या के विषय मे जो प्रस्ताव 13 अगस्त 1938 को पास किया था उसे क्रियान्वित करने के लिए डिक्सन को सौंपा । 1920 की गर्मियों मे डिक्सन भारत आये । 3 महीने तक वे भारत उपमहाद्वीप का दौरा करते रहे । पर अन्त मे उनके सुझाव भी वैसे ही थे जैसे मैकनाटन के थे । भारत ने उन्हें रद्द कर दिया । फिर उन्होने तीन नये सुझाव रखे—(i) वे क्षेत्र जिसके बारे में सन्देह नही है कि वह भारत मे मिलना चाहता है, उसे भारत मे मिला दिया जाय—अर्थात् जम्मू एवं लद्दाख को भारत मे मिला लिया जाय, (ii) वह क्षेत्र जिसके बारे मे कोई सन्देह नहीं है कि वह पाकिस्तान से मिलना चाहता है, उसे पाकिस्तान से मिला दिया जाय, अर्थात् 'आजाद काश्मीर' को पाकिस्तान को दे दिया जाय । (iii) वह क्षेत्र जिसकी जनता की इच्छा स्पष्ट नहीं है केवल उसका मत सग्रह् कराया जाय अर्थात् काश्मीर की घाटी का जनमत संग्रह हो ।

भारत विभाजन के समान काश्मीर विभाजन का यह पहला प्रस्ताव था । इस विभाजन को न भारत ने स्वीकार किया और न पाकिस्तान ने । तब डिक्सन ने यही कहा कि दोनों ही इस समस्या को सुलझायें ।

राष्ट्र मण्डल की योजना—भारत एव पाकिस्तान दोनों ही राष्ट्रमण्डल के सदस्य थे, दोनो में शीत युद्ध चल रहा था यह राष्ट्रमण्डल की प्रतिष्ठा का प्रश्न था । पर राष्ट्रमण्डल भी दोनों देशो को किसी एक योजना पर सहमत न कर सका ।

जम्मू काश्मीर में सविधान सभा का गठन—काश्मीर की समस्या का कोई निदान नही कर पा रहा था । वास्तव मे "चोर और साद" को राजी करने का असफल प्रयत्न किया जा रहा था । डिक्सन के त्याग पत्र देने के बाद मार्च 1951 को उनके स्थान पर अमेरिका से फ्रैंक ग्राह्म को मध्यस्थ नियुक्त किया गया 30 अप्रेल को ग्राह्म ने अपना कार्यभार सम्भाला ।

इसी समय जम्मू काश्मीर के युवराज करणसिंह ने यह घोषणा की कि जम्मू काश्मीर में संविधान सभा का निर्वाचन किया जायगा । यह सविधान सभा काश्मीर का संविधान बनायेगी । इस घोषणा पर पाकिस्तान बड़ा परेशान हुआ । पाकिस्तान के अनुरोध पर अमेरिका एवं ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषद मे प्रश्न उठाया कि सविधान सभा के निर्माण से जनमत सग्रह में बाधा पहुँचेगी अतः सभी प्रयास जनमत संग्रह के लिए किये जायें । यह प्रस्ताव पास हो गया । यह एक तरफा प्रस्ताव था । भारत ने उसे स्वीकार न किया ।

1951 में संविधान सभा के निर्वाचन हो गये। अक्टूबर 1951 में संविधान सभा अपना कार्य करने लगी। चूंकि संविधान सभा के सदस्य जनता द्वारा चुने गये थे अत: संविधान सभा का निर्णय जनता का निर्णय माना जायगा। वास्तव में संविधान सभा के चुनाव के बाद जनमत सग्रह का कोई प्रश्न न उठता था।

ग्राहम योजना—संयुक्त राष्ट्र सघ के मध्यस्थ फ्रैंक ग्राहम 30 जून 1951 को भारत आये। दोनों देशों की यात्रा करने के बाद उन्होंने अपनी योजना प्रस्तुत कर दी। यह योजना निम्नलिखित थी—

(1) युद्ध-विराम रेखा के पश्चिम की ओर पाकिस्तान के 6000 सैनिक रखे जायें और पूर्व की ओर भारत के 18000 सैनिक रखे जायें दोनों ओर के शेष सैनिक काश्मीर से हटा दिये जायें।

इन प्रस्तावों को भारत ने मानने से इन्कार कर दिया। नेहरू ने कहा कि जब तक पाकिस्तान की समस्त सेना काश्मीर से हट नहीं जाती तब तक भारत अपनी सैनिक शक्ति को काश्मीर में कम न करेगा और जब तक एक भी सैनिक पाकिस्तान का काश्मीर में रहेगा, काश्मीर में जनमत सग्रह नहीं होगा।

पाकिस्तान ने नेहरू जी के किसी प्रस्ताव को नहीं माना पर उनके 'जनमत संग्रह" के शब्दों को पकड़ लिया। उसकी एक ही रट थी "जनमत सग्रह" सुरक्षा परिषद में उसके ही समर्थक थे अत. जो भी मध्यस्थ आया उसने भी इन शब्दों को ही पकड़ा। भारत ने साफ कह दिया कि "अब तो जनमत सग्रह का प्रश्न ही नहीं रहा।"

ग्राहम ने भी अन्त में यही कहा कि दोनों देश मिलकर आपस में इस समस्या को हल करलें। भारत और पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री लन्दन में, कराची में और दिल्ली में मिले। पं० नेहरू ने कहा कि वे काश्मीर में जनमत सग्रह कराने को तैयार हो सकते हैं पर काश्मीर की भूमि से एक-एक पाकिस्तानी सैनिक निकल जाय। सेना हटाने के लिए पाकिस्तान तैयार न था। अत: दोनों देश आपस में मिलकर भी कोई समाधान न निकाल सके। रसल ब्राइन्स का कहना था कि "सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रयासों की असफलता का मूल कारण यह था कि सयुक्त राष्ट्र संघ ने कभी पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित नहीं किया और स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा कि वह काश्मीर की भूमि से निकल जाय।"

पाकिस्तान का पश्चिमी गुट में मिल जाना—1950 के पश्चात् विश्व की राजनीतिक अवस्था बहुत परिवर्तित हो चुकी थी। अमेरिका को साम्यवादी प्रसार से भय लगने लगा। साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए चीन और रूस की चारो ओर घेराबन्दी की जाने लगी। सैनिक अड्डे बनने लगे, सैनिक सगठन—नाटो, सैन्टो, सीयटो आदि का निर्माण हुआ।

पाकिस्तान ने अमेरिका से 1954 में सैनिक सन्धि कर ली। वह 1955 में बगदाद पैक्ट (सैन्टो) का भी सदस्य हो गया उसने अपने कुछ अड्डे अमेरिका को दे दिये। पाकिस्तान को अमेरिका और उसके मित्र धड़ाधड़ अस्त्र-शस्त्र, टैंक, वायुयान, तोपें, युद्ध पोत आदि भेजने लगे।

भारत ने खतरा अनुभव किया। उसने सोचा कि पाकिस्तान काश्मीर लेने के लिए अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहा है। भारत ने जब अमेरिका को चेतावनी दी कि पाकिस्तान अमेरिका के शस्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध करेगा। अमेरिका ने भारत को आश्वासन दिया कि ये शस्त्र भारत के विरुद्ध नहीं साम्यवाद के प्रसार को रोकने की दृष्टि से दिये जा रहे हैं।

नेहरू ने भी नई परिस्थितियों में अपनी काश्मीर नीति में परिवर्तन कर लिया। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब काश्मीर में जनमत सग्रह करायेंगे ही नहीं। संविधान सभा को ही शासन भार सौंप देंगे।

श्री एम० सी० छागला ने कहा कि "बदली हुई परिस्थितियों में वर्षों पूर्व किया गया वायदा कोई महत्त्व नहीं रखता है।" भारत को काश्मीर में अपनी स्थिति को मजबूत बनाना होगा पाकिस्तान उसे शस्त्र बल से लेने का अवश्य प्रयास करेगा।

सुरक्षा परिषद में रूस का दृष्टिकोण—1952 तक रूस ने भारत की घोर उपेक्षा की। काश्मीर समस्या में भी कोई दिलचस्पी न ली। पर इसके बाद साम्यवादी अमेरिका के घेरे को तोड़ने के लिए भारत की ओर झुके। 1954 में भारत में चीनी प्रधानमन्त्री आया और पंचशील पर हस्ताक्षर कर गया और 1955 में रूस के नेता ख्रुश्चेव एवं बुल्गानिन भारत आये। उन्होंने काश्मीर को भारत का अंग घोषित किया। उन्होंने कहा जब विधान सभा का चुनाव हो गया तो जनमत का कोई प्रश्न नहीं रहा है। ख्रुश्चेव ने कहा था कि "आप को जब भी हमारी सहायता की आवश्यकता हो, पहाड़ की चोटी पर खड़े होकर पुकार कीजिये हम आपकी सहायता के लिए आ जायेंगे।"

सोवियत संघ का काश्मीर के प्रश्न पर समर्थन मिल जाने से भारत की स्थिति मजबूत हो गई। उसका भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में तथा सुरक्षा परिषद में एक शक्तिशाली मित्र हो गया। उधर पाकिस्तान को रूस के काश्मीर पर भारत के खुले समर्थन से चिन्ता उत्पन्न हो गई।

युद्ध-वर्जन प्रस्ताव—यद्यपि पाकिस्तान के जन्मदाता नेहरू यह कभी नहीं चाहते थे कि पाकिस्तान को नष्ट किया जाय, वे इस बात को कई बार दोहरा चुके थे पर पाकिस्तान सदैव यही प्रचार करता था कि भारत हमें नष्ट करना चाहता है। 1950 में ही प० नेहरू ने पाकिस्तान से "युद्ध वर्जन सन्धि" (No War Pact) करने का प्रस्ताव रखा था पर पाकिस्तान ने ठुकरा दिया था।

1956 में पाकिस्तान ने पुनः विलाप करना प्रारम्भ कर दिया कि भारत पाकिस्तान को नष्ट करने के लिए सैनिक तैयारी कर रहा है। प० नेहरू ने दोबारा कहा कि 'मैं समझता हूँ कि यदि पाकिस्तान और भारत इस बात के लिए सहमत हो कि किसी भी कारण से हम लोग आपस में नहीं लड़ेंगे और शान्तिपूर्ण अपनी समस्याओं को हल कर लेंगे, तो हो सकता है कि वे कुछ समय के लिए हल भी हो जायें, परन्तु उनके लड़ाई करने के बजाय उन समस्याओं को विचाराधीन बनाना अधिक अच्छा होगा। इसलिए युद्ध वर्जन घोषणा अत्यन्त आवश्यक है।"

ऐसी घोषणा करना पाकिस्तान द्वारा काश्मीर को सदा के लिए छोड़ देने के समान होगा। उसने कह दिया युद्ध वर्जन घोषणा से युद्ध नहीं रोका जा सकता।

काश्मीर का नया संविधान—1951 में गठित संविधान सभा में प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया कि काश्मीर का पूर्ण विलय विधि के अनुसार हो चुका है और वह भारत का एक अंग बन चुका है। शेख अब्दुल्ला भारत प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ में घोषणा कर आया था कि काश्मीर का भारत में पूर्ण विलय हो चुका है।

कुछ समय बाद शेख अब्दुल्ला जो काश्मीर का प्रधानमन्त्री था, कुछ बदलने लगा। वह काश्मीर का स्वतन्त्र सुल्तान बनने का स्वप्न देखने लगा। उसने अमेरिका से मिलकर षड्यन्त्र रचा पर उसकी इच्छापूर्ति होने से पूर्व ही भारत सरकार को पता लग गया। अगस्त 1953 में रातों-रात शेख अब्दुल्ला को बरखास्त कर दिया गया और उसे पकड़ कर जेल में डाल दिया गया, उसके स्थान पर बख्शी गुलाम मुहम्मद काश्मीर के प्रधानमन्त्री बने।

पाकिस्तान पहले शेख अब्दुल्ला का शत्रु था उसकी कटु आलोचना करता था। अब जबकि शेख को जेल में बन्द कर दिया गया तो वह इस गिरफ्तारी का नाम लेकर भारत सरकार को कोसने लगा। भारत ने पाकिस्तान के प्रचार की चिन्ता न की।

6 फरवरी 1954 में संविधान सभा ने एक प्रस्ताव पास कर जम्मू-काश्मीर राज्य का विलय भारत में होने की पुष्टि कर दी। 2 वर्ष पहले शेख अब्दुल्ला ने भी भारत-काश्मीर सन्धि में

जम्मू काश्मीर का भारत में विलय कर दिया था। भारत सरकार ने भारतीय संविधान में संशोधन कर 14 मई, 1954 को 370 की धारा के अन्तर्गत काश्मीर को विशेष दर्जा दे दिया।

19 नवम्बर 1957 को काश्मीर का संविधान बन कर तैयार हो गया। संविधान में जम्मू काश्मीर को भारत का एक राज्य मान लिया गया कि संविधान की इस धारा में संशोधन नहीं हो सकता।

26 जनवरी 1957 को जम्मू-काश्मीर का संविधान लागू हो गया। उसके साथ ही जम्मू काश्मीर भारतीय संघ का एक अभिन्न अंग बन गया।

काश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद में रूस द्वारा वीटो का प्रयोग करना—जम्मू-काश्मीर का संविधान बन जाने पर पाकिस्तान को उसके लागू होने की तिथि की घोषणा पर बड़ा दुःख हुआ। उसने 2 जनवरी 1957 को सुरक्षा-परिषद में पुनः काश्मीर प्रश्न उठाने की प्रार्थना की। यह प्रश्न 16 जनवरी, 1957 को विचारार्थ रखा गया। उस पर विचार हुआ। पश्चिमी यूरोप के राज्य उस समय बड़े बौखलाये हुए थे क्योंकि स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण का भारत ने पूर्ण समर्थन किया था तथा ब्रिटेन, फ्रांस एवं इजराइल द्वारा मिस्र पर आक्रमण का भारत ने घोर विरोध किया था। ब्रिटेन एवं फ्रांस तो नाराज थे ही अमेरिका भी पाकिस्तान का घोर समर्थक था। इन राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद में एक प्रस्ताव रखा कि काश्मीर में संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में जनमत संग्रह कराया जाय और संयुक्त राष्ट्र संघ की आपात सेना वहाँ भेजी जावे भारत ने प्रस्ताव का घोर विरोध किया अतः रूस ने इस प्रस्ताव पर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग किया।

इस अवसर पर सुरक्षा परिषद में बड़ा वाद-विवाद छिड़ा। पाकिस्तान प्रतिनिधि फ़िरोज खाँ नून ने काश्मीर की संविधान सभा को कठपुतली संविधान सभा बताया तथा कहा कि संविधान सभा का कोई कानूनी आधार नहीं। 23-24 जनवरी 1957 को भारतीय प्रतिनिधि कृष्णा मेनन ने एक लम्बा भाषण दिया। यह भाषण 7 घन्टे और 48 मिनट तक चला। यह एक ऐतिहासिक भाषण था। उन्होंने कहा कि "मूल प्रश्न यह नहीं, कि जम्मू-काश्मीर में संविधान लागू हो या न हो। मूल समस्या यह है कि जम्मू-काश्मीर से पाकिस्तानी सेनायें अभी तक क्यों नहीं निकलीं। श्री नून के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री मेनन ने कहा कि 'जम्मू-काश्मीर का भारत में पूर्णरूप से और वैधानिक रूप से विलय हो चुका है। इसमें अब कोई बदल नहीं हो सकता है।"

भारत में प० नेहरू ने कहा कि "संविधान सभा ने अपना कार्य कर दिया है और वह भंग हो चुकी है। काश्मीर में जो स्थिति है वह वही रहेगी। उसमें कोई परिवर्तन न होगा।"

जारिंग मिशन—21 फरवरी 1957 में सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पास कर गुनार जारिंग को फिर भारत भेजा जिससे वह काश्मीर समस्या का हल तथा जनमत संग्रह करा सके। पं० नेहरू ने इस प्रस्ताव को "दुर्भाग्य पूर्ण" बताया। 1957 में 14 मार्च से 10 अप्रैल तक गुनार जारिंग ने दिल्ली एवं कराँची के तीन बार चक्कर काटे। उन्होंने नेहरू, नून, सोहरावर्दी एवं मेनन से कई बार बात-चीत की पर उनके सुझाव का कोई परिणाम नहीं निकला। उनकी योजना न भारत ने स्वीकार की और न पाकिस्तान ने।

निराश होकर 30 अप्रैल, 1957 को सुरक्षा परिषद को अपनी रिपोर्ट देते हुए गुनार जारिंग ने कहा कि उनका मिशन असफल हो गया है और वे काश्मीर समस्या का समाधान करने में असमर्थ रहे हैं।

दुबारा ग्राहम मिशन—सुरक्षा परिषद काश्मीर की समस्या सुलझाने के लिए बहुत प्रयत्नशील थी। पश्चिमी शक्तियाँ पाकिस्तान की भलाई के लिए बड़ी चिन्तित थीं। दिसम्बर 1957 में सुरक्षा परिषद ने एक अन्य प्रस्ताव पास किया और फ्रैंक ग्राह्म को यह अधिकार देकर कि वे

काश्मीर समस्या के समाधान करने में समर्थ हैं। वे काश्मीर का विसैन्यीकरण करने का प्रयास करें और काश्मीर में जनमत सग्रह की व्यवस्था करे।

फ्रेंक ग्राहम जी 12 जनवरी 1958 से 15 फरवरी 1958 तक दिल्ली और करांची के चक्कर लगाते रहे। पं० नेहरू एव पाकिस्तान के नेताओ से मिलते रहे। 3 अप्रैल 1958 को उन्होंने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी। इस रिपोर्ट मे मुख्य बातें निम्नलिखित थी—

(1) भारत एव पाकिस्तान की जनता से कहा जाय कि वे शान्ति का वातावरण बनाये रखे, ताकि वार्ता हो सके।

(2) काश्मीर से पाकिस्तानी सेनायें हटा ली जायें और उनके स्थान पर आजाद काश्मीर में संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनायें रहें।

(3) दोनों देशों से अपील की जाय कि वे युद्ध-विराम रेखा का उल्लंघन न करें।

(4) दोनों देश की सरकारें संयुक्त राष्ट्र के प्रतिनिधि से जनमत सग्रह के विषय में बातचीत करें।

(5) दोनो देशों के प्रधानमन्त्री आपस मे वार्ता करे।

पाकिस्तान इन सुझावों को मानने के लिए तैयार हो गया। परन्तु भारत ने इन सुझावों को मानने से इन्कार कर दिया। पं नेहरू काश्मीर समस्या को सयुक्त राष्ट्र सघ मे ले जाकर पछता रहे थे। अब वे पश्चिमी शक्तियो के जाल मे फँसना नही चाहते थे। उन्होने काश्मीर मे लोकप्रिय सरकार स्थापित कर दी थी अब किसी जनमत की वहाँ आवश्यकता न थी। अतएव उन्होने यह कहकर कि वर्तमान प्रस्ताव 13 अगस्त, 1948 के प्रस्ताव से बहुत आगे जा चुका है, पाकिस्तान को भारत की बराबरी का दर्जा दिया गया, प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

9 अप्रैल, 1958 को लोक सभा में बोलते हुए प० नेहरू ने कहा था कि भारत काश्मीर में किसी विदेशी सेना को स्वीकार नही कर सकता है, चाहे वह सेना स० रा० संघ ही क्यो न हो। हमें बातचीत से कोई एतराज नही पर बात-चीत की सफलता के लिए उपयुक्त वातावरण बनाना आवश्यक है। इस पर पाकिस्तान के विदेश मन्त्री श्री फीरोज खां नून बहुत बिगड़े और भारत को साम्राज्यवादी देश बताया और कहा कि वह काश्मीर क्या पूरे एशिया मे अपना साम्राज्य फैलाना चाहता है।

1932 में पुनः काश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद में—1958 में पाकिस्तान में सैनिक क्रान्ति हो गई। जनरल अयूब खाँ ने पाकिस्तान की सत्ता हथियाली। पं० नेहरू ने इस घटना को बड़ा अभाग्यपूर्ण बताया। अयूब खाँ मन में तो बहुत नाराज हुए पर वह अपनी स्थिति सम्भालने में लगे रहे अतः कुछ बोले नहीं। 1960 मे नहरी-पानी विवाद तय हो जाने से दोनों देशों में कुछ शान्ति का वातावरण पैदा हुआ।

1962 में भारत के गृहमन्त्री श्री गोविन्दबल्लभ पन्त ने काश्मीर पर एक वक्तव्य देते हुए कहा कि काश्मीर का प्रश्न अब समाप्त हो गया है। पाकिस्तान इस बात को मानने के लिए तैयार न था। पश्चिमी शक्तियाँ भी काश्मीर के प्रश्न को जिन्दा रखने मे अपना लाभ सोचती थी। 1962 में पाकिस्तान ने पुनः काश्मीर में गम्भीर परिस्थितियाँ पैदा हो गयी हैं जिनमे विश्व शान्ति को खतरा पैदा हो गया है अतः शीघ्र सुरक्षा परिषद की बैठक बुलायी जाये।

सुरक्षा परिषद की बैठक बुलायी गयी जिसमें पाकिस्तान ने आत्म निर्णय की मांग दोहरायी। यद्यपि भारत ने इसका विरोध किया पर पश्चिमी शक्तियो ने एक प्रस्ताव फिर रखा जिसमें काश्मीर से दोनों देशों की सेना हटाने, सं० रा० सघ की सेना रखने तथा स० रा० संघ के तत्वाधान में जनमत संग्रह की बात कही गयी। इन प्रस्ताव को रूस ने वीटो द्वारा समाप्त कर दिया।

जून मे 'पुनः. आयरलैण्ड की ओर से काश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद में रखा गया और अपील की गयी कि काश्मीर की समस्या शान्तिपूर्ण ढग से सुलझायी जावे और वहाँ आत्म-निर्णय कराया जाये ।' भारत ने इस अपील को ठुकरा दिया ।

भारत-चीन सघर्ष और पाकिस्तान का रुख—20 अक्टूबर, 1962 को चीन की सेनाओ ने भारत पर आक्रमण कर दिया । विश्व शान्ति को खतरा पैदा हो गया । पश्चिमी शक्तियों ने भारत को सैन्य सहायता देनी प्रारम्भ कर दी । अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा एवं आस्ट्रेलिया ने आपस मे समझौता कर भारत को चीन के विरुद्ध सशक्त बनाने के लिए एक विस्तृत योजना बनायी जिसके अन्तर्गत—छोटी एवं दीर्घकालीन सप्लाई जारी की गयी । पाकिस्तान ने शोर मचाना प्रारम्भ कर दिया कि भारत में पश्चिमी शक्तियों की सैनिक सहायता पाकिस्तान के विरुद्ध है पर पश्चिमी शक्तियों ने पाकिस्तान की चीख पुकार पर ध्यान न दिया और वे लगातार भारत को शस्त्रास्त्र देती रहीं तो पाकिस्तान ने चीन से सम्बन्ध जोड़ना चाहा । ब्रिटेन एव अमेरिका दोनों ने चाहा कि पाक-भारत में इस समय कोई विवाद न छिड़े । श्री ऐवरेल हैरिमन "(अमेरिकन) तथा राष्ट्रमण्डलीय विभाग के मन्त्री "डंकन ऐन्डीज" ने भारत और पाकिस्तान को शीघ्र वार्ता के लिए तैयार किया ।

जब भारत के प्रधानमन्त्री को पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब से वार्ता करने को तैयार किया जा रहा था तब अयूब खाँ ने घोषणा कर दी कि पाकिस्तान और चीन मे सैद्धान्तिक रूप में सिक्यांग और आजाद काश्मीर के मध्य सीमा-निर्धारण के प्रश्न पर समझौता हो गया है । इससे नेहरू बहुत नाराज हुए पर अमेरिका के दवाव डालने पर अयूब खाँ चीन-भारत युद्ध के समय शान्त रहा ।

इस युद्ध के समाप्त होते ही अमेरिका ने भारत पर दबाव डाला कि दोनों देशों मे शांतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाये । 29 नवम्बर, 1962 को दोनो देशों की एक सयुक्त विज्ञप्ति जारी हुई कि दोनो देशो के शासनाध्यक्ष शीघ्र ही आपस मे मिलेंगे और काश्मीर की समस्या के समाधान पर बातचीत करेंगे । इस मुलाकात से पूर्व भारत के सरदार स्वर्णसिंह एव पाकिस्तान के श्री जुल्फकार अली भुट्टो मे भेंट हुई । पर मन्त्रीय स्तर पर बातचीत का कोई परिणाम न निकला ।

इसी बीच 2 मार्च 1963 को पाकिस्तान-चीन समझौता हो गया । पाकिस्तान ने 2,500 वर्ग मील भूमि आजाद काश्मीर की चीन को दे दी । इनका उद्देश्य केवल भारत को चिढ़ाना था । भारत ने इस समझौते का विरोध किया कि आजाद काश्मीर "काश्मीर" का एक अंग है अतः उसकी भूमि देने का पाकिस्तान को कोई अधिकार नहीं ।

काश्मीर के बँटवारे का प्रस्ताव—पाकिस्तान के हित चिन्तक यह चाहते थे कि काश्मीर पाकिस्तान को दिला दिया जाय । यदि उसे पूरा काश्मीर न मिले तो आजाद काश्मीर ही मिल जाये, इससे युद्ध-विराम रेखा स्थायी हो जाये एव दोनों के तनाव समाप्त हो जायें । इस उद्देश्य को लेकर पश्चिमी शक्तियाँ पं० नेहरू पर दबाव डाल रही थी । पं० नेहरू तो इस बात को मानने के लिए तैयार थे । पर जब यह प्रस्ताव पाकिस्तान की सरकार के सामने रखा गया तो वह इस बात पर तैयार न हुआ । वह चाहता कि भारत को केवल जम्मू का क्षेत्र दे दिया जाय, शेष काश्मीर पर उसका अधिकार मान लिया जाय । इस पर पं० नेहरू तैयार न थे । सरदार स्वर्णसिंह ने कहा था कि "भारत पाकिस्तान का काश्मीर के कुल 85,000 वर्ग मील मे से 34,000 वर्ग मील तक का प्रदेश देने को तैयार था, किन्तु पाकिस्तान भारत को कुल 3,000 वर्ग मील का ही प्रदेश देना चाहता था ।"[1]

---

1 Kuldip Nayar : *The Distant Neighbour*, p. 85.

इस प्रकार पं० नेहरू काश्मीर के बँटवारे को तैयार भी हो गये थे पर पाकिस्तान की जिद् के कारण यह व्यवहारिक प्रस्ताव भी अमान्य हो गया।

शेख अब्दुल्ला द्वारा काश्मीर पर समझौते का प्रयत्न—पं० नेहरू शेख अब्दुल्ला के प्रति बड़ा स्नेह रखते थे। यद्यपि शेख ने विश्वासघात किया था और उसे 1953 में प्रधानमन्त्री पद से हटाकर बन्द कर दिया था फिर भी प० नेहरू की आस्था शेख के प्रति कम न हुई थी। वे उसे काश्मीर का वास्तविक नेता मानते थे। उनके आग्रह पर गृहमन्त्री ने मई 1964 मे शेख अब्दुला को जेल से मुक्त कर दिया। जेल से छूटकर पं० नेहरू एव शख अब्दुला मे लम्बी वार्ता हुई। शेख पर अयूब खाँ भी विश्वास करते थे अत: शेख के माध्यम से काश्मीर का कोई स्थायी हल निकालने के लिए उसे पाकिस्तान भेजा गया। शेख अब्दुला एव जनरल अयूब खाँ प० नेहरू से मिलने के लिए भारत आने को तैयार हो गये।

परन्तु यह मुलाकात न हो सकी। 27 मई, 1964 को पं० नेहरू का स्वर्गवास हो गया उनकी मृत्यु होते ही शेख के माध्यम से काश्मीर के हल का प्रयास भी समाप्त हो गया।

कच्छ रण का विवाद एवं युद्ध—पाकिस्तान की नीति थी "मारो और हाय हाय करो।" पं० नेहरू के उत्तराधिकारी लाल बहादुर शास्त्री बने। यद्यपि उनका व्यक्तित्व शानदार न था पर उनका हृदय मजबूत एव दृढ़ था। उन्होंने प्रधानमन्त्री पद सम्भालते ही पाकिस्तान की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। अयूब खाँ ने सोचा 'यह दुबला-पतला एव ठिगना व्यक्ति जिस देश का प्रधान मन्त्री हो उससे शक्ति के बल पर काश्मीर लेने म कोई कठिनाई न होगी। अत. काश्मीर पर आक्रमण से पूर्व उसने 'कच्छ के रण' पर आक्रमण की योजना बनाई। कच्छ की घटनायें, पुर्वाभ्यास थी। खेल तो काश्मीर मे शुरू होना था।"[1]

25 जनवरी, 1965 को भारत को यह पता चला कि पाकिस्तानी सेनायें कच्छ के क्षेत्र में 18 मील लम्बे और डेढ़ मील चोड़ा डिग सुराई की पट्टी पर अधिकार कर चुकी हैं। भारत ने इसका विरोध किया। 5 फरवरी, 1965 को दोनो देशों के पुलिस अधिकारियों की एक बैठक हुई। इस बैठक का कोई नतीजा न निकला। 5 दिन बाद पता चला कि पाकिस्तान सेना ने आगे बढ़कर कजर कोट नामक स्थान पर भी कब्जा कर लिया है। जब भारत ने विरोध-पत्र भेज तो पाकिस्तान ने कच्छ क एक बड़े भाग पर अपना दावा पेश किया।

कच्छ भी एक रियासत थी जिसका विलय 1947 में हो चुका था। पाकिस्तान का कहना था कि किसी समय कच्छ सिन्ध प्रान्त का एक अंग था अतः यह उसका ही क्षेत्र है। कच्छ एक दलदली क्षेत्र है जिसमे वर्षा क दिनो मे पानी भर जाता है और बाद मे उतर जाता है। पाकिस्तान का दावा था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार 'रण' उसका ही है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून यह है कि "जब दो देशो के बीच सीमा पर कोई नदी हो तो नदी के बीचों-बीच दोनों देशो की वास्तविक सीमा मानी जाती है।" पर इसका एक अपवाद भी है, वह यह कि दलदली भूमि पर जलीय सीमा का सिद्धान्त लागू नही होता है। इसके अतिरिक्त कच्छ का रण भारत का अभिन्न अग था। 1914 मे ब्रिटिश सरकार ने स्पष्ट रूप से कहा था कि यह रण कच्छ का ही भाग है। पाकिस्तान का वास्तविक उद्देश्य भारत का काश्मीर से ध्यान बटाकर गुजरात मे लगाना था जिससे वह काश्मीर को आसानी से ले सके।

10 अप्रैल, 1965 मे पाकिस्तान की एक सशक्त सेना ने कच्छ पर आक्रमण कर दिया। पाकिस्तानी सेना का महत्वपूर्ण चोकी 'सरदार पोस्ट' पर कब्जा हो गया। 29 अप्रैल तक पाकिस्तान ने दो अन्य महत्वपूर्ण चोकियो बियार बेट तथा प्वाइण्ट 84 पर कब्जा कर लिया। भारत की वहाँ

---

[1] P. S. Bhagat : *The sheild and the sword*, p. 87.

कोई सेना तैनात न थी । यह आशा ही नहीं थी कि दलदली जमीन के लिए कभी पाकिस्तान के साथ सशस्त्र संघर्ष होगा । पाकिस्तान के आक्रमण होने पर भारत ने वह क्षेत्र पुलिस के स्थान पर सेना को सौंप दिया । भारतीय सेना ने पाकिस्तानी सेना का बढ़ना रोक दिया तथा बिगोकोट और छाडबेड से पाकिस्तानी सेना को खदेड़ दिया ।

कच्छ समझौता—जब भारत की सेनायें आगे बढ़ना प्रारम्भ हुईं तो ब्रिटेन को घबड़ाहट हुई । ब्रिटिश प्रधानमन्त्री हैरल्ड विल्सन ने मध्यस्थता का प्रस्ताव रखा । दोनों देशों ने इस प्रस्ताव को मान लिया । विल्सन ने दोनों देशों का समझौता करा दिया । ब्रिटिश कूटनीति की यह एक बड़ी विजय थी और भारतीय कूटनीतिक की पराजय । 30 जून 1965 को कच्छ के रण पर भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों ने समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये । समझौते की शर्तें इस प्रकार थी :—

(1) कच्छ के रण मे 1 जनवरी 1962 से पूर्व की स्थिति कायम की जायगी । इसका यह अर्थ था कि पाकिस्तान ने जो क्षेत्र आक्रमण से हथियाया था, उस पर से उसकी सेनायें हट जायेंगी । केवल डिग सुराई पर पाकिस्तान की सेना निगरानी रख सकेंगी ।

(2) कच्छ रण के विवाद के स्थायी हल के लिए एक विवाद ट्रिब्यूनल की स्थापना की जायगी । ट्रिब्यूनल का निर्णय अन्तिम होगा । यह निर्णय दोनों पक्षों को अनिवार्य रूप से मान्य होगा ।

ट्रिब्यूनल का निर्णय—जुलाई 1965 में ट्रिब्यूनल का गठन हुआ । पाकिस्तान की ओर से ईरान का प्रतिनिधि, भारत की ओर से यूगोस्लावाकिया का प्रतिनिधि और इन दोनों द्वारा चुना गया स्वीडन का प्रतिनिधि ।

ट्रिब्यूनल ने तीन वर्ष बाद दोनों पक्षों के विचार जानकर 11 फरवरी 1968 को अपना फैसला सुना दिया । इस फैसले में विवादग्रस्त क्षेत्र का 90 प्रतिशत भाग भारत को तथा 10 प्रतिशत भाग पाकिस्तान को दिया गया । ट्रिब्यूनल ने यह मानते हुए भी कि इस क्षेत्र पर पाकिस्तान का दावा गलत है फिर भी उसे खुश करने के लिए 10% भाग दिया गया ।

भारत ने इस निर्णय का विरोध किया । संसद मे बोलते हुए साम्यवादी नेता हीरेन मुखर्जी ने कहा कि "यह फैसला—झूठा, गलत और भ्रष्ट है ।" बलराज मधोक ने कहा कि "भारत सरकार ने आत्म-समर्पण किया है ।" श्री सप्रू ने कहा कि "मैंने प्रधानमन्त्री से पहले ही कह दिया था कि कच्छ का मामला न्यायाधिकरण को न सौंपा जाय । प्रधानमन्त्री ने कहा कि वे जनभावनाओं का सम्मान करते हैं, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय वचनों का सम्मान होना ही चाहिए ।"[1]

भारत पर पाकिस्तान का आक्रमण—1965 की 5 अगस्त को 4 बजे जम्मू पुंछ सड़क के किनारे एक गांव मे बजीर मोहम्मद नाम के एक गूजर ने जंगल की ओर से सलवार कुर्ता पहने कुछ बन्दूकधारियों को देखा । उसे कुछ गड़बड़ी की शंका हुई । बातचीत से पता चला कि वे पाकिस्तानी हैं । पाकिस्तानियों ने उसे डराया धमकाया और किसी को खबर न करने को कहा । उनसे वायदा कर वह वहाँ से भागा और निकट पड़ी भारतीय सेना के गलूडी ब्रिगेड हैड क्वार्टर को उसने भारत पर पाकिस्तानियों के हमले की सूचना दे दी । इसी प्रकार की सूचना एक अन्य गूजर मोहम्मद दीन ने भी पचास मील दूर के एक गांव से दी थी ।

वास्तव मे ये घुसपैठिये थे जिनकी संख्या 5 हजार थी और जिनका उद्देश्य काश्मीरियों को बहकाकर उनसे विद्रोह तथा तोड़फोड़ कराना था । पाकिस्तान के काश्मीर मे पहले से एजेन्ट उन्होंने इन घुसपैठियों को सहायता दी । उन्होंने श्रीनगर मे आग लगाने की भी योजना बनायी । तथा काश्मीर के भारत के सब सम्पर्क काटने का षड्यन्त्र भी रचा था । पाकिस्तानी सेना के

---

1 Hari Ram Gupta : *The Kutch Affair*—pp. 416-17.

आवश्यकता पड़ने पर सहायता के लिए तैयार खड़ी थी। 14 अगस्त को काश्मीर को मुक्त कर दिया जायगा। पर उनकी योजना धरी की धरी रह गयी।

एक ओर तो पाकिस्तान के तानाशाह ने घुसपैठिये भेजे और दूसरी ओर भारत के विरुद्ध विषैला प्रचार प्रारम्भ कर दिया। पाकिस्तानी अखबार जेहाद का नारा लगा रहे थे और काश्मीर का उसे ही एकमात्र हल बता रहे थे। 17 मई 1965 को पाकिस्तान टाइम्स मे रहमतुल्लाह खाँ का एक लेख छापा गया जिसमें लिखा था कि "हजारों रजाकार युद्ध-विराम रेखा को पार करने के लिए तथा भारत द्वारा अधिकृत काश्मीर में अपने भाइयो के बचाव के लिए कूच करने के लिए तैयार हैं।" अय्यूब खाँ और श्री भुट्टो के भाषण भी बड़े उग्र और उत्तेजक हो उठे थे।

घुसपैठियों का पता लगते ही भारतीय सेना सजग तथा सचेत हो गयी। पाकिस्तान यह सोच रहा था कि बस अब विद्रोह हुआ और पाकिस्तानी सेना द्वारा कश्मीर पर कब्जा हुआ। भारत को पता भी नहीं चल पायगा और काश्मीर अपना हो जायगा। पाकिस्तान रेडियो चिल्लाने लगे "काश्मीर की जनता ने भारत सरकार के अत्याचारों से तँग आकर बड़े पैमाने पर विद्रोह कर दिया है। मुजाहिद इस्लाम की रक्षा के लिए सब कुछ कह रहे हैं। मुहाजिदों ने काश्मीर के हवाई अड्डे और रेडियो पर कब्जा कर लिया है तथा श्रीनगर कब्जे मे आने वाला है।" पाकिस्तानी आँख मींच कर यह प्रचार कर रहे थे और उधर भारतीय सैनिक "मुहाजिदो" को पकड रहे थे। 16 अगस्त 1965 को लोकसभा मे बोलते हुए रक्षामन्त्री श्री चह्वाण ने कहा कि "11 दिन की झड़पों में एवं धडपकड़ में 185 घुसपैठियों की लाशें मिली हैं जिनमें दो अफसर भी हैं। अनुमान है 300 अन्य घुसपैठिये हताहत हुए हैं और 84 पकड़ लिये गये हैं जिनमें पाकिस्तानी सेना के दो वरिष्ठ अधिकारी भी हैं।"

भारत ने पाकिस्तान को विरोध-पत्र भेजा तो पाकिस्तान की सरकार ने घुसपैठियो से अपना कोई सम्बन्ध नहीं बताया जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यवेक्षक जनरल निम्मो ने घुसपैठियों की पूरी कार्यवाही के लिए पाकिस्तान को दोषी ठहराया।

यह घुसपैठिये अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-विराम रेखा के निकट सैनिक अड्डों से आ रहे थे अतः भारतीय सेना ने युद्ध-विराम रेखा को पार कर उन अड्डों पर कब्जा कर लिया। यह कार्यवाही 24 अगस्त 1965 को हुई। भारतीय सेना ने पीर साहिबा तथा दो अन्य चौकियाँ भी छीन ली। तीन दिन बाद पाकिस्तानी ठिकाना बेदोर को भी छीन लिया। 28 अगस्त को भारतीय सेना ने हाजी पीर दर्रे पर अधिकार कर लिया। तिथवाल और हाजी पीर पर अधिकार कर भारतीय सेना उस मार्ग पर नियन्त्रण कर सकी जहाँ से घुसपैठिये आ रहे थे। यह भारत की शानदार विजय थी, यद्यपि इसके लिए अनेकों जवानों को बलि होना पड़ा।

पाकिस्तानियों की योजना फेल हो गयी और वे संसार में बुरी तरह बदनाम हो गये। अय्यूब खाँ खिसयानी बिल्ली बन गये और उन्होंने भारत के विशाल और दृढ़ खम्भे को नोचने के लिए भारत पर नग्न आक्रमण कर दिया। मेजर जौहरी ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि "अगस्त के तीसरे हफ्ते मे घुसपैठियो का मनोबल पूरी तरह टूट चुका था। वे पूरी तरह पराजित हो चुके थे और हताश थे। अतः पाकिस्तानी सेनाओं को खुलकर सामने आना पड़ा।"[1]

पाकिस्तान ने 1 सितम्बर 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय रेखा पार कर छम्ब जोरिया क्षेत्र में पूरी शक्ति से आक्रमण कर दिया। एक मास पहले ही पाकिस्तान यहाँ अपनी सेना को एकत्र कर रहा था। यह स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। छम्ब क्षेत्र में ही अखनूर से होती हुई सड़क जम्मू को काश्मीर से जोड़ती है। पाकिस्तानी सेना अखनूर पर कब्जा करना चाहती थी ताकि श्रीनगर घाटी

[1] Major Johri : *The Indo-Pak Conflict of* 1965, p. 103.

मे स्थित भारतीय सेना का सम्पर्क शेष भारत से कट जाये ।' पहले तो पाकिस्तानी सेना छम्ब क्षेत्र मे कुछ आगे बढी । घमासान युद्ध हुआ । मुनव्वर तवी के इस पार भारतीय सैनिक बड़ी वीरतापूर्वक लड़े । वायु सेना ने भी स्थल सेना का अच्छा साथ दिया । इस प्रयत्न से पाकिस्तानी सेना अखनूर से 5 मील पहले ही रोक दी गयी ।

छम्ब जोरिया पर पाकिस्तानी सेना का भारतीय सेना ने डटकर मुकाबला किया । भारत ने अमृतसर, फिरोजपुर तथा गुरदासपुर क्षेत्र मे पाकिस्तानी सेना पर तीव्र प्रहार किये गये । भारत ने सियालकोट के पास उस रेल लाइन पर अधिकार कर लिया जहाँ से छम्ब जोरिया म पाकिस्तानी सेना का सहायता मिल रही थी । सियालकोट और खेमकरण क्षेत्र में भयानक टैंक युद्ध हुआ । द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यह सबसे बड़ा टैंक युद्ध था । सबसे भीषण लड़ाई लाहौर मोर्चे पर हुई । लाहौर क्षेत्र मे पाकिस्तानी सेना पीछे हटती हुई इच्छोगिल नहर तक पहुँच गयी । भय के मारे पाकिस्तानी लाहौर खाली करने लगे ।

भारत की सेना के गुणगान गाता हुआ पी० एस० भगत अपनी पुस्तक 'ढाल और तलवार" (The Sheild and The Sword) मे लिखता है कि "इसमें सन्देह नहीं है कि 1962 मे भारतीय सेना के चेहरे पर लगे हुए काले धब्बे एकदम साफ कर दिये गये । इस बाइस दिवसीय युद्ध मे जवानो के बलिदान उन लोगो के सिर ऊँचा रखेंगे जो जीवित रहेंगे ।"[1] डी० आर० मानकेकर के शब्दों मे "बाईस दिवसीय युद्ध ने भारतीय आत्मा को झकझोर दिया, राष्ट्र के स्वाभिमान को पुनर्स्थापित किया और उस पराजयवादी मनोवृत्ति को समाप्त कर दिया जो भारतीय मानस को पकड़े हुए थी ।"[2]

युद्ध विराम—4 सितम्बर 1965 को सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पास कर भारत और पाकिस्तान दोनों से अपील की कि वे युद्ध-विराम करें और अपनी-अपनी सेनाएँ पूर्वावस्था पर ले जायें । भारत किसी युद्ध-विराम के पक्ष मे न था । भारत के प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने कहा था कि "हम एक युद्ध-विराम से दूसरे युद्ध-विराम तक नहीं जा सकते । हम स्थायी शान्ति चाहते हैं ।"

6 सितम्बर 1965 को चीन के उपप्रधानमन्त्री चेन यी ने भारत को धमकी दी कि चीन पाकिस्तान को पूरी सहायता देगा । दूसरे दिन पीकिंग रेडियो ने फिर कहा कि वह युद्ध मे कूद पड़ेगा । इन चेतावनियों से पश्चिमी शक्तियाँ चौकीं । अमेरिका और ब्रिटेन ने चीन को चेतावनी दी कि यदि वह युद्ध मे कूदा तो विश्व-युद्ध छिड़ जायगा ।

20 सितम्बर 1965 को सुरक्षा परिषद में नीदरलैण्ड की ओर से युद्ध-विराम का प्रस्ताव रखा गया । इस प्रस्ताव को मानने का दोनों युद्धरत देशों ने फैसला किया । 22 सितम्बर 1965 को 12-30 दोपहर को युद्ध बन्द हो गया । भारत को युद्ध मे 750 वर्ग मील भूमि मिली जबकि पाकिस्तान को 210 वर्ग मील भूमि मिली ।

ताशकन्द समझौता—युद्ध विराम तो हो गया पर दोनों देशो की तनातनी कम न हुई । रूस जो अपना प्रभाव उपमहाद्वीप मे बढ़ाना चाहता था वह मध्यस्थता के लिए आगे बढ़ा । पाकिस्तान मे अमेरिका ने अपना हवाई अड्डा बना लिया था । पाकिस्तान और भारत ने रूस के प्रस्ताव को मान लिया ।

5 जनवरी 1966 को ताशकन्द मे दोनों देशो के प्रतिनिधि पहुँच गये । 5 दिन कोसीजिन के माध्यम से भारत के प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री तथा पाकिस्तान के मियाँ अय्यूब ने बातचीत की, पर कोई नतीजा नहीं निकला । ऐसा मालूम देता था कि वार्ता भंग हो जायगी । अतः रूसी

---

[1] P. S. Bhagat : *The Sheild and The Sword*, p. 53.

[2] D. R. Mankekar : *Twenty Two Fateful Days*, p. viii.

प्रधानमन्त्री ने शास्त्री जी को धमकी दी कि वे सुरक्षा परिषद में काश्मीर के मामले पर भारत की तरफदारी न करेंगे। इस दबाव मे आकर उन्होंने ताशकन्द समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये या अपनी मौत के वारण्ट पर हस्ताक्षर कर दिये। इस दबाव से शास्त्री को 10 जनवरी 1965 को दिल का दौरा पड़ा और अर्द्धरात्रि के समय वह इस संसार को छोड गये। मैदान मे जीती भूमि भी गयी और भारत का लाल भी गया। कुछ लोगों की शंका थी कि लालबहादुर शास्त्री को जहर देकर मार डाला गया। पर तत्कालीन भारतीय सरकार ने जनता की मांग पर कि इसकी न्यायिक जाँच हो कोई ध्यान न दिया। जनता पार्टी के शासन में शायद यह प्रश्न उभरे। ताशकन्द समझौते पर हम पूरा विवरण भारत-रूस सम्बन्ध मे दे चुके हैं।

भारत और पाक के सम्बन्ध (1966-1973)

पाकिस्तान और रूस—ताशकन्द के समझौते द्वारा पाकिस्तान को वह सब कुछ मिल गया जो उसे आशा भी न थी। इस मामले में रूस की पाकिस्तान पर विशेष कृपा रही। पाकिस्तान रूस के निकट पहुँच गया।

1965 मे पश्चिमी गुट के देशो ने भारत-पाक के प्रति तटस्थता की नीति अपनाई थी। इन दोनों देशो की आर्थिक और सैनिक सहायता बन्द कर दी थी। भुट्टो उस समय पाकिस्तान का विदेशमन्त्री था। वह बड़ा चालाक और मक्कार किस्म का व्यक्ति है। वह जानता था कि रूस और अमेरिका एक दूसरे के करीब है अतः यदि वह एक की ओर झुकता तो दूसरे का आकर्षण अधिक हो जाता है। साम्यवादी चीन से उसकी मित्रता पहले से ही थी, अब वह रूस से सांठ-गांठ करेगा तो अमेरिका उसे मनाने का प्रयत्न करेगा। चीन ने पाकिस्तान को युद्ध के बाद 13 करोड़ डालर कीमत के शस्त्र देकर युद्ध के दौरान मदद न देकर पाकिस्तान की नाराजगी को दूर कर दिया था।

पाकिस्तान भारत से पिट कर, बदला लेने की दृष्टि से पुनः तैयारी करना चाहता था। अमेरिका और चीन तो उसके मित्र थे, तीसरी महान शक्ति रूस से मित्रता कर वह एक शक्ति के त्रिभुजाकार घेरे मे बैठना चाहता था।

रूस का राजनीतिक लाभ भी पाकिस्तान की मित्रता से था ही आर्थिक लाभ भी था। उसे पाकिस्तान मे एक अच्छा बाजार मिल सकता था। शस्त्र बेचकर वह पेशावर से अमेरिकन अड्डा समाप्त कराना चाहता था। वह अमेरिका ही नहीं चीन का प्रभाव भी पाकिस्तान से खोना चाहता था, पर यह उसका भ्रम था।

1965 से 1968 तक पाकिस्तान और रूस का मित्रता का काल था। इस काल मे रूस ने पाकिस्तान को आर्थिक और सैनिक सहायता दी। यद्यपि यह सहायता अमेरिका के मुकाबले में बहुत कम थी पर भारत इस सहायता से चिन्तित हो उठा था।

अय्यूब खाँ का पतन और याह्या खाँ का उदय—यद्यपि 1965 मे पाकिस्तान की हार से जनरल अय्यूब खाँ की प्रतिष्ठा खाक मे मिल गयी थी रूस के सहारे ताशकन्द समझौते मे उसने युद्ध काल का घाटा पूरा कर लिया था। इससे कुछ लोग उसके समर्थक रह गये। विदेशमन्त्री मियाँ भुट्टो ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था और अय्यूब खाँ का विरोध करने लगा था। सेना भी अय्यूब खाँ से कुछ नाराज थी। उसके विरुद्ध स्थान-स्थान पर प्रदर्शन हो रहे थे। तारिक अली नामक युवा लेखक ने 'पाकिस्तान' नामक एक पुस्तक लिखी थी उसमें अय्यूब परिवार पर व्यापक भ्रष्टाचार के आरोप लगाये थे। अय्यूब का विरोध बहुत अधिक बढ़ गया तो 23 मार्च 1969 को अय्यूब खाँ ने राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया।

शासन की बागडोर पाक सेनाओं के अध्यक्ष याह्या खाँ के हाथ में आयी। साँप नाथ के हाथ से सत्ता हटकर नाग नाथ के हाथ में चली गयी। वह विशुद्ध तानाशाह एवं विशुद्ध सैनिक अफसर था। वुद्धि की उसके मस्तिष्क मे कुछ कमी थी।

(1) वायुयान के अपहरण का मामला—30 जनवरी 1970 को जम्मू से एक भारतीय विमान बम्बई के लिए उड़ा और बीच में दो मुस्लिम हिजेकरों ने उसे लाहौर जाने के लिए विवश किया। वह लाहौर में उतरा तो पाकिस्तानियों ने अपहरणकर्ताओं—मोहम्मद हाशिम कुरैशी तथा मोहम्मद अशरफ का स्वागत किया। विमान के यात्रियों को 24 घण्टे विमान मे से उतरने नहीं दिया गया पर उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचायी गयी, उन्हें स्वदेश लौटने की आज्ञा दे दी गयी। दूसरे दिन भारतीय एवरो विमान को बम से उड़ाया गया। इससे भारत में बड़ा रोष फैला दिल्ली में पाकिस्तानी दूतावास के सामने भारी प्रदर्शन हुआ। बदले में पाकिस्तानियों ने इस्लामाबाद में पाकिस्तानी दूतावास के सामने प्रदर्शन किया। भारत सरकार ने पाकिस्तानी हवाई जहाजों की उड़ान पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

बंगला देश की घटनायें एवं भारत-पाक युद्ध 1971
(Events of Bangla Desh and Pak-India War 1971)

याह्या खाँ ने पाकिस्तानी जनता को खुश करने के लिए घोषणा की कि वे देश में उत्तरदायी सरकार स्थापना के लिए एक संविधान सभा का चुनाव करायेंगे जो एक संविधान बनायेगी तथा प्रजातन्त्र की सरकार की स्थापना हो जाने पर वे लोकप्रिय सरकार को सत्ता सौंप देंगे। यह सब बहकावा मात्र था। तानाशाह याह्या खाँ सत्ता सौंपने को तैयार न था। "चुनाव कराना" याह्या का पतन और पाकिस्तान के बँटवारे की घोषणा सिद्ध हुई।

पूर्वी बंगाल में असन्तोष—भारत का विभाजन का आधार ही गलत था। इसके बाद दो पाकिस्तान बनाना भी गलत था। दो इकाइयों के बीच 1200 मील की दूरी। इन दोनों इकाइयों में रेल सम्पर्क न था। केवल वायुयान और पानी के जहाजों द्वारा ही इनमे सम्पर्क बना था। भारत के द्वारा हवाई उड़ान बन्द होने की घोषणा से दोनों पाकिस्तानों की दूरी दुगनी हो गई थी। केवल अब पानी के मार्ग से ही दोनो प्रदेशों मे आना-जाना सम्भव था। वायुयान भी पहले लंका जाते और फिर वहाँ से ढाका पहुँचते थे।

पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान मे प्रारम्भ से ही तनातनी थी। उनमें केवल धर्म की एकता थी, जाति, सभ्यता, संस्कृति एवं भाषा के आधार पर वे दोनो पृथक इकाइयाँ थी। पाकिस्तान ने उर्दू भाषा को राजभाषा घोषित किया था पर बंगालियो को उर्दू पसन्द न थी। बंगाली भाषा को पूर्वी बंगाल मे राजभाषा बनाने के लिए वहाँ भारी आन्दोलन भी हुआ था। इस आन्दोलन मे मुजीबुर्रहमान एक उच्चकोटि का व्यक्तित्व उभरा था जो पूर्वी बंगाल का एकमात्र नेता बन गया था।

पूर्वी बंगाल अथवा पूर्वी पाकिस्तान में और पश्चिमी पाकिस्तान में धीरे-धीरे अनेक भेद उत्पन्न हो गये थे। वास्तव मे पश्चिमी पाकिस्तान का पूर्वी पाकिस्तान एक उपनिवेश था। उसका लगातार आर्थिक, राजनीतिक शोषण होता था। 1970 मे पूर्वी पाकिस्तान की आबादी साढ़े सात करोड़ थी तथा पश्चिमी पाकिस्तान की आबादी 4·5 करोड़ थी। इतना होने पर भी सरकार में, सरकारी कर्मचारियो मे, सेना में तथा प्रशासकीय अधिकारियों में पश्चिमी पाकिस्तानी छाये हुए थे। आर्थिक उत्पादन की दृष्टि से पूर्वी पाकिस्तान एक सम्पन्न क्षेत्र था पर उसके निवासी दरिद्र और पिछड़े हुए लोग थे।

पश्चिमी पाकिस्तानी पूर्वी पाकिस्तानियों के प्रति घृणा रखते थे। उन्हें हीन दृष्टि से देखते थे। कुलदीप के मतानुसार "पश्चिमी पाकिस्तान के लोग लम्बे और हृष्ट-पुष्ट थे। वे

बंगालियों से घृणा करते थे एवं कहते थे कि बंगाली कायर एवं कमजोर हैं। बंगाली लोग कहते थे कि पश्चिमी पाकिस्तानी अहंमन्य एवं शोषक हैं।"

बंगाली इकाइयों ने 1965 के भारत-पाक युद्ध में और भी असन्तोष बढ़ा दिये। पश्चिमी पाकिस्तान ने पूर्वी बंगाल की सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की। उसकी सुरक्षा का भार भारत-सरकार पर छोड़ दिया। यह तो भारतीय उदार, सहिष्णु और अनाक्रामक रूप से किसी को सताते नहीं, वरन् यदि भारतीय चाहते तो पूर्वी पाकिस्तान को 1965 में ही छीन लेते।

पूर्वी बंगाल में स्वायत्तता की माँग—अयूब खाँ के शासन काल में ही पूर्वी बंगाल ने स्वायत्तता की माँग आरम्भ कर दी थी। 1966 में पूर्वी बंगाल के लोकप्रिय नेता शेख मुजीब ने लाहौर में पूर्वी पाकिस्तान के लिए स्वायत्तता की माँग की थी। उनकी माँग में छः बातें थीं—

(1) पाकिस्तान का संविधान हो और निर्वाचित सदन सर्वोच्च हो।

(2) संघ सरकार के पास केवल दो विषय रहें—प्रतिरक्षा और विदेश विभाग। शेष सभी विषय राज्यों को सौंप दिये जायें।

(3) दोनों क्षेत्रों की मुद्रायें अलग-अलग हों।

(4) कर लगाने एवं वसूल करने का अधिकार राज्यों के पास रहे।

(5) विदेशी व्यापार के क्षेत्र में राज्यों को पूर्ण स्वतन्त्रता रहे तथा

(6) पूर्वी पाकिस्तान की सैनिक व्यवस्था पृथक् से रहे।

वास्तव में यह छः सूत्र नये नहीं थे 1940 में लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान का प्रस्ताव पास करते हुए लीग ने पाकिस्तान के संविधान की रूपरेखा के लिए यह छः सूत्र बताये थे।

जब मुजीब ने स्वायत्तता की माँग के साथ आन्दोलन चलाया तो सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन पर देशद्रोह का मुकदमा चलाया गया। उन पर आरोप लगाया गया कि भारत में त्रिपुरा की राजधानी अगरतला से उसे पूर्वी पाकिस्तान को अलग करने के लिए शस्त्र मिल रहे हैं। इस मुकदमे का नाम ही 'अगरतला षड्यन्त्र केस" रखा गया। ढाका हाईकोर्ट ने शेख मुजीबुर्रहमान को निर्दोष सिद्ध किया। इससे मुजीब और भी लोकप्रिय हो गया। स्वतन्त्र होते ही मुजीब ने स्वायत्तता आन्दोलन फिर चलाया।

पाकिस्तान में चुनाव—तानाशाही और चुनाव (निष्पक्ष) दो परस्पर विरोधी शब्द हैं। जिस तानाशाह ने यह समझकर कि जनता उसकी लोकप्रियता के कारण साथ दे, चुनाव कराया, बस उसका पतन हुआ। याह्या खाँ ने भी अपने पतन को दावत देने के लिए चुनाव की घोषणा की। यह घोषणा 28 नवम्बर 1969 को की गयी कि चार महीने के अन्दर वे चुनाव करायेंगे। संविधान सभा पाकिस्तान का नया संविधान बनायेगी।

17 दिसम्बर 1970 मे पाकिस्तान मे राष्ट्रीय सभा के चुनाव हुए। राष्ट्रीय सभा में 313 स्थान थे। पश्चिमी पाकिस्तान के लिए 144 तथा पूर्वी पाकिस्तान के लिए 169। मुजीब को पूर्वी पाकिस्तान में 169 मे से 167 स्थान प्राप्त हुए जब कि मियाँ भुट्टो को 144 में से केवल 88 स्थान प्राप्त हुए। इस प्रकार पाकिस्तान की राष्ट्रीय सभा को स्पष्ट बहुमत मिल गया। इसका अर्थ था कि बहुमत प्राप्त शेख मुजीब पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री बनाये जायेंगे। याह्या खाँ और भुट्टो यह बात पसन्द न करते थे।

पूर्वी पाकिस्तान में जन क्रांति—8 मार्च 1971 को पाकिस्तान की सभा अधिवेशन की पूर्व घोषित तिथि थी। भुट्टो का प्रतिद्वन्द्वी शेख मुजीब था। भुट्टो से 88 स्थान पाकर भी पाकिस्तान का प्रधानमन्त्री बनना चाहता था। याह्या खाँ था। अतः दोनों नेताओं ने पहले तो गुप्त आभार प्रचार से मुजीब को बदनाम बनायी दूसरी ओर मुजीब को अरो ... गुप्त ... के लिए ... ।

याह्या खाँ ने राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन की तिथि को स्थगित कर दिया। शेख मुजीब समझ गया कि याह्या खाँ मुजीब को सत्ता नहीं सौंपना चाहता है।

पूर्वी पाकिस्तान पूर्णतया मुजीब के साथ था। उसने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। पूर्वी पाकिस्तान की पुलिस, न्यायालय, विश्वविद्यालय आदि ने मुजीब का साथ दिया। 8 मार्च 1971 से पूर्वी पाकिस्तान का शासन मुजीब के आदेश से चलने लगा। 15 मार्च को मुजीब ने बंगला देश के निर्माण की घोषणा कर दी।

याह्या खाँ को यह सहन न हुआ। उसने मुजीब से मिलने की घोषणा की और पूर्वी पाकिस्तान में पश्चिमी पाकिस्तान की सेना बढ़ानी प्रारम्भ की। 25 मार्च को काफी सेना पश्चिमी पाकिस्तान से पहुँच गयी। ढाका में मुजीब और याह्या खाँ की वार्ता हुई पर मुजीब अपनी बात पर अड़ा रहा। तब याह्या खाँ ने 25 मार्च को पूर्वी पाकिस्तान में "मार्शल लॉ" जारी कर दिया। मुजीब को गिरफ्तार कर लिया गया और बंगालियों पर अमानुषिक अत्याचार प्रारम्भ हुए। डेली टेलीग्राफ के संवाददाता ने लिखा—"200 विद्यार्थी अचानक इकबाल हाल में पकड़े गये। उन्हें वहीं कत्ल कर दिया गया। दो दिन तक उनकी लाशें पड़ी सड़ती रहीं थीं ..... विश्वविद्यालय प्रांगण पर टैंकों से गोली बरसायी गयी। जितने भी युवक-युवतियाँ वहाँ मौजूद थे, सब मार डाले गये.......पुराने शहर के हिन्दू क्षेत्र से लोगों को घर से निकाला गया। उन्हें समूहों में इकट्ठा किया गया और गोली से उड़ा दिया गया।"

सेना ने निहत्थे बंगालियों को कत्ल करना प्रारम्भ किया। मुजीब के लड़के को टैंकों के सामने डालकर कुचल दिया गया। बच्चे, बूढ़े, जवान जो भी मिला उन्हें गोलियों से भूना गया। नवयुवतियों को बीच सड़क पर डालकर उनका शील भंग किया गया। शेख मुजीब के साथियों को खोज खोजकर पकड़ा गया और गोलियों से भूना गया। लोगों को मकानों में बन्द कर, मकान में आग लगा दी गयी। सैकड़ों स्त्रियाँ जान बचाने के लिए तालाबों और कुओं में कूद पड़ीं। टाइम्स मैगजीन ने लिखा था कि "सम्पूर्ण पूर्वी पाकिस्तान में रक्त-स्नान के चिन्ह मौजूद हैं। बम वर्षा और गोली वर्षा से अनेक नगर ध्वस्त हो गये।...." चालीस हजार की आबादी वाला नगर कुश्तिया इस तरह राख का ढेर लगता था मानो रात को उस पर अणुबम गिराया गया हो। ऐसा अनुमान है कि दो लाख से दस लाख तक के बीच के लोगों को जान से मारा गया है।"

पूर्वी पाकिस्तान के वयोवृद्ध नेता मौलाना भाषानी ने कहा—'क्या किसी ने ऐसे जुल्म के बारे में सुना है? क्या इतिहास में इसकी मिसाल है? चीन में च्यांग काई शेक और रूस में जार तथा अविभाजित भारत में अंग्रेजों के अत्याचार अथवा कर्बला में जालिम यजीद के जुल्म हाल के हैवानी जुल्म के सामने फीके पड़ जाते हैं। यद्यपि पाकिस्तानी सैनिक मुसलमान हैं, लेकिन वे मस्जिदों को तोड़ रहे हैं। वे उन मुसलमानों की हत्या करने में नहीं चूकते जो इबादत में डूबे होते हैं।"

एक अमेरिकन प्रवक्ता ने बताया कि "याह्या खाँ के अत्याचारों में नाजियों को भी पीछे छोड़ दिया है।" 'हॉगकाग स्टैण्डर्ड' ने लिखा—"सैकड़ों वर्षों तक चंगेज खाँ का नाम दुष्टता तथा नर मेध के पर्यायवाची के रूप में गूँजता रहा। लगता है दुष्ट हत्यारे का एक पाकिस्तानी हमनाम, अपने क्रूर पूर्वजों को पीछे छोड़ना चाहता है।"

जो लोग यह कहते हैं कि चंगेज, हलाकू, तैमूर, नादिर आदि के अत्याचार इतिहासकारों ने खूब बढ़ा-चढ़ाकर लिखे हैं, वे पाकिस्तानी दरिंदों के अत्याचारों को देखकर मान गये कि हिन्दू भारत पर मुस्लिम आक्रमणकारियों के अत्याचार और भी बढ़कर होंगे। मुस्लिम इतिहासकारों ने उन्हें कम करके लिखा होगा। पाकिस्तानी सेना ने लगभग 30 लाख नर-नारियों एवं बच्चों की हत्या की होगी।

भारत में शरणार्थियों की अपार भीड़—पूर्वी बंगाल के घोर अत्याचारों से घबड़ाकर बंगाली घरबार, सामान छोड़ जान बचाने के हेतु भाग खड़े हुए और भारत की सीमा में प्रवेश करने लगे। मानवता के नाते भारत ने उन्हें शरण दी। उन्हें मौत के मुँह में नहीं धकेला। हजारों शरणार्थी शिविर लग गये। भारतीय जनता अन्न, वस्त्र एवं अन्य सामग्री लेकर इन पीड़ित लोगों की सहायता को दौड़ पड़े। शरणार्थियों का प्रवाह बढ़ता रहा। दस हजार शरणार्थी प्रति दिन आते थे। यह क्रम महीनों तक चला। लाखों शरणार्थियों का भार भारत को सहना पड़ रहा था। भारत सरकार का खर्चा $1\frac{1}{2}$ या 3 करोड़ रुपये प्रतिदिन इन शरणार्थियों पर हो रहा था। यह खर्चा भारत कहाँ तक और कब तक सहन करता। भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने पाकिस्तानी नेताओं से अपील की कि वे कोई राजनीतिक हल निकालकर पूर्वी पाकिस्तान में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करें पर बेकार। वे पश्चिमी देशों की यात्रा पर गयी और वहाँ की सरकारों से बंगला देश की दशा को बताया। उन्होंने निक्सन से भी अपील की कि वे दबाव का प्रयोग कर नरहत्या को बन्द करायें और इन शरणार्थियों को पुनः अपने देश जाने के लिए स्वस्थ वातावरण पूर्वी पाकिस्तान में पैदा करायें। पाकिस्तान के सभी मित्र देशों ने यह कहकर इन्दिराजी की बात को टाल दिया कि "यह पाकिस्तान का घरेलू मामला है।" शरणार्थियों की संख्या भारत में 1 करोड़ तक पहुँच गयी।

मुक्तिवाहिनी का संगठन एवं उसके प्रयत्न—पाकिस्तानी सेना आधुनिक अस्त्रशस्त्रों से लैस थी पर निहत्थी बंगाली जनता ने जुल्मों के आगे सर नहीं झुकाया। नेता विहीन होते हुए भी स्वतन्त्रता संग्राम जारी रखा। 17 अप्रैल 1971 को बंगला देश में भारतीय सीमा से दो मील दूर मुजीब नगर ने बंगला देश को एक स्वतन्त्र और सम्प्रभु गणराज्य बनाने की विधिवत घोषणा की गई। यह घोषणा कार्यवाहक राष्ट्रपति काजी नजरूल इस्लाम द्वारा हुई। इस अवसर पर बंगला देश के प्रधानमन्त्री ताजुद्दीन ने कहा कि शीघ्र ही सम्पूर्ण बंगला देश मुक्तिवाहिनी द्वारा पाकिस्तान से मुक्त कराया जायगा।

मुक्तिवाहिनी का गठन हुआ और उसकी गतिविधियाँ तेज हुईं। आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर मुक्तिवाहिनी ने गोरिल्ला युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। छापामार युद्ध से पाकिस्तानी सेना घबड़ाने लगी। उसकी रसद छीनी गई, उसे शस्त्र छीने गये तथा उसके सैनिक मारे गये। याह्याखाँ ने शोर मचाना प्रारम्भ किया कि मुक्तिवाहिनी को भारत शस्त्रों की सप्लाई कर रहा है, जो उसके हक में बुरा होगा। चीन ने भी धमकी दी कि भारत पाकिस्तान के घरेलू मामले में हस्तक्षेप कर रहा है यदि उसने अपनी कार्यवाही बन्द न की तो चीनी सेनायें भारत पर आक्रमण कर देंगी। अमेरिका ने भी भारत को चेतावनी दी कि यदि उसने मुक्तिवाहिनी की सहायता बन्द न की तो चीनी आक्रमण के समय अमेरिका उसका साथ न देगा। इस प्रकार भारत को लगने लगा कि भारत पर शीघ्र ही पाकिस्तान और चीन का आक्रमण होने वाला है।

रूस-भारत सन्धि—9 अगस्त 1971 को नई दिल्ली में रूस-भारत रक्षा सन्धि 20 वर्ष की अवधि के लिए हो गई। इस सन्धि की सूचना से चीन और अमेरिका घबड़ा गये। चीन को विश्वास हो गया कि यदि उसने भारत के विरुद्ध कार्यवाही की तो रूस की सेनायें चीन पर आक्रमण कर देंगी। इस सन्धि का भारत के प्रत्येक दल ने स्वागत किया।

पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण—2 दिसम्बर 1971 को प्रातःकाल वायुयानों ने भारत के हवाई अड्डों पर भीषण बमबारी कर दी। श्रीनगर, अम्बाला आगरा, जोधपुर, अगरतला पर भारी बम गिराये गये। पाकिस्तान का यह भोंदा यद्यपि पूर्वी बंगाल की पाकिस्तानी सेना ने शरणार्थियों के पीछा करते हुए भारती

पर भी गोलियाँ चलाई थीं और भारत सीमा का उल्लंघन किया था। दूसरी ओर भारत की जनता ने भी कई बार दिल्ली मे प्रदर्शन कर बंगला देश को मान्यता देने की माँग की थी पर श्रीमती इन्दिरा गांधी ने बड़े सब्र और शान्ति से कार्य लिया था पर अब चुप्पी साधना भारत का अपमान था। अत: उन्होंने भारतीय सेनाओं को पाकिस्तानी सेना का मुकाबला करने की आज्ञा दे दी। 4 दिसम्बर 1971 को भारतीय सेना ने जबावी हमला किया। भारत के विमानों ने पाकिस्तान के महत्त्वपूर्ण हवाई अड्डों पर बमवर्षा की। पूर्वी बंगाल मे भी वायुयानों की छत्रछाया में भारत की स्थल सेना ने चारों ओर से प्रवेश किया। जल सेना को भी संकेत कर दिया गया।

4 दिसम्बर की प्रातःकाल को पश्चिमी क्षेत्र में जहाँ भारत की वायु सेना पाकिस्तानी वायु सेना को ध्वस्त कर रही थी, वहाँ पूर्वी क्षेत्र में भारतीय टैंक पाकिस्तानी सेना को नष्ट करते हुए आगे बढ़ रहे थे। करांची के बन्दरगाह पर भी भारतीय जल सेना ने आक्रमण कर दिया। दुश्मन के दो युद्धपोत डुबा दिये एव अनेक जहाजों को नष्ट कर दिया। अगले दिन करांची पर बम वर्षा हुई. पूरा बन्दरगाह आग के सुपुर्द कर दिया गया। भारतीय "विक्रान्त" ने अपना नाम सार्थक कर दिया। भारतीय सेना छम्ब जोरिया में, फिरोजपुर फाजिल्का में जहाँ पाकिस्तानी सेनाओं को आगे बढ़ने से रोक रही थी, तो पुंछ और टिथवाल मे जैसलमेर और बाड़मेर में, खेमकरण और डेरा बाबा नानक मे, अमृतसर और सियालकोट में अमेरिकन पैटन और चीनी टी-59 टैंकों को ध्वस्त करती हुई आगे बढ़ रही थी।

भारत की सेना का अद्भुत चमत्कार तो बंगला देश में देखने को मिला। बंगला देश में पहला काम यह किया गया कि चटगाँव बन्दरगाह को विजय किया गया और समुद्री तट को पूरी तरह कब्जे मे किया गया फिर चारों ओर से पाकिस्तानी सेना को घेरा गया। ये घेरा धीरे-धीरे छोटा होता गया। यहाँ तक पूरी पाकिस्तानी सेना ढाका में घुसेड़ दी गई और उसका घेरा डालकर उसे हथियार डालने को कहा गया। 15 दिसम्बर 1971 को दोपहर के ढाई बजे अमेरिकन दूतावास ने नई दिल्ली में भारत सरकार को बंगला देश में पाकिस्तानी सेना के सेनाध्यक्ष जनरल न्याजी का सन्देश दिया कि वह आत्म-समर्पण करना चाहता है। उसी शाम को 5 बजे भारत के सेनाध्यक्ष जनरल मानेकशाह ने न्याजी के आत्मसमर्पण की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

16 दिसम्बर 1971 को साय 4 बजे कर 31 मिनट पर ढाका में एक सैनिक समारोह मे जनरल न्याजी ने ले० जनरल जगजीतसिंह अरोरा के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। उनके साथ 93 हजार सैनिकों ने भी हथियार डाल दिये। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। बंगला देश स्वतन्त्र हो गया। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने न्याजी के आत्मसमर्पण के एक घन्टे बाद भारतीय संसद में तालियों की गड़गड़ाहट के बीच घोषणा की कि "ढाका अब एक स्वतन्त्र देश की स्वतन्त्र राजधानी बन गया है।"

भारत ने एक तरफा युद्ध विराम कर दिया। इस विषय मे श्रीमती गांधी ने कहा कि बंगला देश स्वतन्त्र हो गया है। हमारी प्रतिज्ञा पूरी हो गई है, अब हमारा इरादा पाकिस्तान के किसी भाग को हस्तगत करने का नहीं है। इसलिए अब अधिक खून बहाना अनावश्यक है।" 17 दिसम्बर 1971 को पाकिस्तान ने भी युद्ध-विराम मान लिया।

शिमला समझौता—बंगला देश की स्वतन्त्रता से पाकिस्तान का अंग-भंग हो गया याह्या खाँ को मुह की खानी पड़ी। पश्चिमी पाकिस्तान में विद्रोह हो गया। याह्या खाँ नजरबन्द कर दिया गया। मियां भुट्टो की मंशा पूरी हुई। वे पाकिस्तान के राष्ट्रपति बने। उनका पहला भाषण इस पद से 20 दिसम्बर 1971 को हुआ। उन्होंने कहा कि "हमें अस्थायी अपमान का बदला लेना है·······हम लड़ेंगे और हम अपनी इज्जत के लिए, अपने स्वाभिमान के लिए और पाकिस्तान की एकता के लिए लड़ते रहेंगे ·······भारत के सम्मुख विकल्प यह है कि या तो वह न्याय और

समानता का कानून स्वीकार करे या हमेशा के लिए एक स्थायी दुश्मन का सामना करे।" यह वाक्य पराजित देश के राष्ट्रपति के थे। "रस्सी जल गई थी पर ऐंठ बाकी थी।" विश्व समझता था कि पाकिस्तान की कमर टूट गई है। वर्षों तक वह उठने की सामर्थ्य नहीं रखता है स्वयं भुट्टो भी यह जानता था। उसने टाईम्स ऑफ इण्डिया के सम्वाददाता कुलदीप मुखर्जी को एक भेंट में बताया था कि 'एक समय था जब हम सवप की भाषा मे सोच सकते थे। आज स्थिति बदल गई है। अब मैं वार्ता करना चाहता हूँ।"

श्री जुल्फिकार अली भुट्टो का भला इसी में था कि वह भारत की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाता, अपने 93 हजार युद्धबन्दियों को छुड़ाता तथा छ हजार वगमील भूमि को जो युद्ध के दौरान भारत ने छीनी थी उसके लौटाने की प्रार्थना करता। भारत के रक्षामन्त्री जगजीवनराम ने कहा था कि "हमें वार्ता करने में कोई एतराज नही। वार्ता द्विपक्षीय हो, कोई मध्यस्थ नहीं, कोई बाहरी हस्तक्षेप नहीं।" भुट्टो और श्रीमती गांधी में पत्र व्यवहार हुआ और 28 जून 1972 को शिमला में दोनों देशों के मध्य वार्ता होना तय हुआ। एक लेखक ने कहा था कि "इस्लामाबाद से शिमला काफी दूर था। राष्ट्रपति भुट्टो को शिमला पहुँचने मे काफी समय लग गया है।"

भुट्टो 80 लोगों का काफला लेकर जिसमे उनकी पुत्री "बेनजीर" भी थी शिमला पहुँच गया। भारत ने अपने मेहमानों का दिल खोलकर स्वागत किया। 28 जून से 2 जुलाई 1972 तक दोनों प्रधानमन्त्रियों में वार्ता चली। 3 जुलाई 1972 को दोनों शासनाध्यक्षों के बीच समझौता हो गया।

शिमला समझौते के निम्नलिखित मुख्य उपबन्ध थे—

(1) संघर्ष का अन्त—दोनों सरकारों ने यह निश्चय किया कि दोनों देश परस्पर संघर्ष को समाप्त करते हैं, जिससे दोनों देशों के सम्बन्धों में बिगाड़ उत्पन्न हुआ था। दोनों देश उपमहाद्वीप मे स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए सम्बन्धो को सामान्य बनायेंगे, ताकि दोनों सरकारें अपने-अपने देश में कल्याण के कार्य को तेज कर सकें।

(2) मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को प्रोत्साहन—दोनों देश इस प्रकार के कदम उठायेंगे जिससे एक दूसरे के विरुद्ध उग्र प्रचार को रोका जा सके। दोनों देश ऐसी सूचनाओं का आदान-प्रदान करेंगे और प्रोत्साहन करेंगे जिससे दोनों देशों मे मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास हो।

(3) सामान्य सम्बन्धों की स्थापना—दोनों देशों के सम्बन्धों को कदम-कदम पर सामान्य बनायेंगे जैसे दोनों में डाक, तार, जल, थल, नभ के मार्गों के सम्पर्क स्थापित करना, यात्रियो को सुविधाएँ प्रदान करना, आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना करना, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र मे आदान-प्रदान, प्रतिनिधि मण्डलों का आगमन।

(4) सेनाओं की वापसी—दोनों देशों ने तय किया कि अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर दोनों देशों की सेनाओं की वापसी, जम्मू-काश्मीर मे दिसम्बर 1971 की नियन्त्रण रेखा का सम्मान करना आदि।

(5) समझौते की पुष्टि—दोनों की सरकार इस समझौते की पुष्टि करेंगी, पुष्टि के बाद समझौते का क्रियान्वयन होगा।

(6) परस्पर वार्ता—शिमला समझौते के क्रियान्वयन के लिए दोनों देशों के शासनाध्यक्ष परस्पर मिलते रहेंगे।

इस समझौते की विरोधी दलों ने कटु आलोचना की। युद्ध में जीती हुई भूमि ... से सैनिकों के मनोबल को धक्का पहुँचा है। पाकिस्तान ने चालाकी से भारत से सब कुछ

लिया फिर भी स्थायी शान्ति-स्थापित न हो सकी। काश्मीर की समस्या में कोई सुधार न हुआ। आजाद काश्मीर को प्राप्त करने का अवसर खो दिया गया। भारत ने जो विजय युद्ध में पायी वह कूटनीति वार्ता द्वारा पराजय मे बदल गई।

इतना होने पर भी दोनो देशों मे शान्ति सन्धि होने को लोगों ने सहायता 5 जुलाई 1972 को सोवियत रूस के पत्र इजवेंस्तिया ने लिखा कि "शिमला समझौते पर हस्ताक्षर होना भारतीय व पाकिस्तानी नेताओं की उस सद्भावना का कार्य है और उस इच्छा की अभिव्यक्ति है जिससे वे अपने देश के बीच एक नया अध्याय आरम्भ कर सकें।

दिल्ली समझौता 1973—श्री भुट्टो ने आधा कार्य तो शिमला समझौते में कर लिया था अर्थात् 5131 वर्ग मील भूमि उसे वापस मिल गई। उसे केवल 69 वर्ग मील भूमि देनी पड़ी। काश्मीर में जो भूमि जीता वह उसके पास रही। पर अभी 90 हजार युद्धबन्दी भारत में ही थे। उन्हे छुड़ाना शेष था। यह कार्य 28 अगस्त 1973 के दिल्ली समझौते मे पूरा हुआ। 195 युद्ध-बन्दी के अलावा सब युद्धबन्दी पाकिस्तान को लौटाने का वचन दिया गया। बंगला देश के व्यक्तियों और पाकिस्तान के नागरिकों को जो बंगला देश मे आदान-प्रदान करना भी तय हुआ।

त्रिपक्षीय समझौता 1974—दिल्ली समझौते में 190 युद्ध बन्दी छूटने से रह गये थे। उनके लिये भी भुट्टो प्रयत्नशील था। फरवरी 1974 को पाकिस्तान ने बंगला देश को मान्यता दे दी अतः मुजीब का क्रोध कुछ शान्त हुआ। 5 अप्रैल 1974 को दिल्ली मे पाक-भारत-बंगला त्रिपक्षीय सम्मेलन हुआ। तीनो देशों के विदेश मन्त्री आपस मे मिले। भारत के स्वर्णसिंह, पाकिस्तान के अजीज अहमद तथा बंगला देश के कमाल हुसैन के मध्य वार्ता हुई। 9 अप्रैल को त्रिपक्षीय वार्ता सफल हुई और तीनो देशों के मध्य समझौता हो गया। समझौते के अनुसार पाकिस्तान ने स्वीकार किया कि बंगला देश के जो गैर बंगाली पाकिस्तानी हैं उन्हें पाकिस्तान वापस ले लेगा। बंगला देश ने स्वीकार किया कि वह 190 लोगो पर युद्ध अपराध का मुकद्दमा नही चलायेगा। ये सब सैनिक या असैनिक बन्दी है पाकिस्तान को लौटा दिये जायेंगे।

दिलीप मुखर्जी ने लिखा है कि "समझौते की विशेषता यह है कि इसने बंगला देश एवं पाकिस्तान को वही दिया जो वे चाहते थे। जबकि भारत के मध्यस्थ के रोल ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत इस उपमहाद्वीप मे शान्ति के उद्देश्य के प्रति समर्पित है।"

काश्मीर और भारत (1975-77)—काश्मीर का स्थायी हल खोजने के लिये श्रीमती गान्धी ने अपने चचा शेख अब्दुल्ला से बात की और उस धोखेबाज को जो दो बार भारत की पीठ में छुरा घोंप चुका था, पुनः काश्मीर का मुख्यमन्त्री बनाना स्वीकार कर लिया। इस विषय में 24 फरवरी 1975 मे शेख और श्रीमती गान्धी मे समझौता हो गया। काश्मीर में पुनः अब्दुल्ला का शासन हो गया। काश्मीर की विधान सभा मे कांग्रेस का बहुमत था अत अब्दुल्ला ने यह निश्चय किया कि वह अपने सहयोगी आधे कांग्रेस से और आधे नेशनल कान्फ्रेंस से चुनेगा पर यह शर्त उसने निभाई नही। अतः कांग्रेस और नेशनल कान्फ्रेंस मे संघर्ष छिड़ गया। इसी बीच मार्च 1977 में भारत की लोक सभा के चुनाव हुये जिसमें इन्दिरा जी हार गईं। 30 वर्ष पुराना कांग्रेसी शासन समाप्त हुआ। जनता पार्टी के मुरारजी देसाई भारत के प्रधान मन्त्री बने। शेख अब्दुल्ला मोरार जी देसाई से मिले और काश्मीर की विधान सभा को भंग करा दिया। अभी काश्मीर की विधान सभा का चुनाव हुआ नहीं है। वहाँ राष्ट्रपति शासन है। शेख जनता पार्टी से साठ-गांठ कर रहा था पर मई 1977 में जब जनता पार्टी को अपना दफ्तर खोलने को काश्मीर सरकार ने भूमि दी तो शेख अब्दुल्ला ने उसकी कटु आलोचना की।

भारत-पाक सम्बन्ध (1974-77)—पाकिस्तान अपनी आदत से बाज नही आ सकता है, विशेषकर श्री भुट्टो। वे कभी भारत की प्रशंसा करते हैं और कभी कटु आलोचना। जब उन्हें

पता चला कि श्रीमती इन्दिरा गान्धी ने शेख अब्दुल्ला से एक समझौता कर लिया है तो वह बहुत बिगड़ा, इसी प्रकार जब भारत ने अणु बम का विस्फोट किया उस समय भी उसने तीव्र विरोध किया। भुट्टो ने कहा कि "पाकिस्तान भारतीय ब्लैक मेल के सामने नहीं झुकेगा।"

भारत-पाक शत्रुता कभी कम नहीं होगी। पाकिस्तान में जंग का उन्माद सदैव चढ़ा रहता है। वह जहाँ से भी शस्त्र मिले वहाँ से लेने के लिये तैयार रहता है भले ही उसे अपने देश की स्वतन्त्रता गिरवीं रखनी पड़े। 1971 की हार के बाद उसने सेना मे काफी वृद्धि करली है और 1971 की क्षति पूर्ति कर ली है। पाकिस्तान काश्मीर समस्या को त्याग नहीं सकता है।

इतना होने पर भी वह भारत से मैत्री सम्बन्ध भी बढ़ाता रहता है। जुलाई 1976 तक भारत-पाक डाक-तार व्यवस्थायें फिर से लागू हो गई है। व्यापारिक समझौते भी हुये हैं। दिल्ली-इस्लामाबाद हवाई मार्ग फिर चालू हो गया है अमृतसर और लाहौर रेल लाइन से जुड़ गये हैं। रेलगाड़ी चलने भी लगी है।

पाकिस्तान मे भुट्टो के विरुद्ध क्रान्ति प्रारम्भ हो गई है। 1977 मे वहाँ आम चुनाव 7 मार्च को हो गये है पर भुट्टो की बेईमानी से वह जीत तो गया पर उसके विरुद्ध 9 दल एक होकर पुनः चुनाव की माँग कर रहे। भुट्टो दमन चक्र चलाकर उनके मुँह बन्द करने मे असफल रहा है। अब भी वहाँ कहीं-कहीं मार्शल लॉ जारी है पर भारत के समान पाकिस्तान का नेतृत्व बदलने वाला है।

भारत-चीन सम्बन्ध
(Indo-Chinese Relations)

भारत 1947 में स्वतन्त्र हुआ और चीन उसके दो वर्ष बाद साम्यवादी सत्ता के अन्तर्गत आया। नेपोलियन ने एक बार कहा था कि पूर्व में एक दैत्य सो रहा है। उसे सोने दो, जिस दिन वह जागा सारे संसार को तकलीफ होगी।" 1949 मे वह दैत्य जाग गया है और विश्व मे हलचल मचा रहा है। माऊत्सेतुंग ने अपनी सत्ता चीन पर जमा ली और च्यांगकाई शेक फारमूसा भाग गये। यद्यपि पश्चिमी देश 20 वर्षों तक चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता न दे सके पर भारत ने चीन को 1950 मे ही मान्यता दे दी।

मित्रता का सम्बन्ध—भारत और चीन दोनो ही विशाल जनसंख्या वाले देश है तथा प्राचीन सभ्यता रखने वाले हैं। भारत और चीन मे ब्रिटिश काल से ही अच्छे सम्बन्ध चले आ रहे थे। कांग्रेस द्वारा चीन की साम्यवादी क्रान्ति से वे सम्बन्ध समाप्त नहीं हुये थे। 1954 मे भारत और चीन मे मित्रता हो गई। दोनों देशो मे "हिन्दी-चीनी भाई-भाई के नारे लगे। पर माऊत्से तुंग की नीति है कि "शत्रु को सामाजिक रूप से धोखे मे रखो और कूटनीतिक रूप से उसका आदर करते रहो।". भारत के साथ उसने इसी नीति से सम्बन्ध स्थापित किये।

भारत माओ के शब्द भूल गया और उससे पड़ौसी के नाते अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लिये। चीन का यह भी सिद्धान्त है कि "राष्ट्रों मे कभी स्थायी मित्रता नहीं होती और न स्थाई शत्रुता होती है, वरन् राष्ट्रीय हित सदैव स्थाई होते हैं।" जब तक चीन को लगा कि भारत की मित्रता से उसे लाभ है वह उसका मित्र बना रहा पर जब उसे यह लगा कि अब भारत की मित्रता से उसे लाभ नहीं तो उसने उससे शत्रुता मोल ले ली पर नेहरू जी का सिद्धान्त था कि जिससे एक बार मित्रता हो जाये छोटे-मोटे झगड़ो को ध्यान मे लाकर उससे मित्रता कभी न छोड़े। इसी आधार पर दोनो देशो के सम्बन्ध प्रारम्भ मे बड़े मैत्रीपूर्ण रहे।

तिब्बत पर चीन का आक्रमण— तिब्बत ब्रिटिश काल मे ब्रिटिश सरकार के प्र था। चीन का नाम मात्र का उस पर कब्जा था। उत्तराधिकार मे भारत को तिब्बत सुविधायें प्राप्त थी। 25 अक्टूबर 1950 मे चीन ने तिब्बत मे सेनायें भेज दी। उस पर

शीघ्र अधिकार हो गया तिब्बत बहुत समय से एक स्वतन्त्र राज्य था। उसमें सेना भेजना एक खुला आक्रमण था।

भारतीय राजदूत के० एम० पाणिक्कर ने चाऊएन लाई से भारत सरकार के आदेश से बातचीत की। पाणिक्कर ने कहा "तिब्बत की मुक्ति एक पवित्र कर्त्तव्य है पर उनकी सरकार इस उद्देश्य की प्राप्ति पत्र-व्यवहार से करना चाहती है सैनिक कार्यवाही द्वारा नहीं।" 30 अक्टूबर 1950 को चीनी सरकार ने भारत को लिखा कि—"जनवादी चीन की सरकार की केन्द्रीय समिति इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती है कि तिब्बत चीनी क्षेत्र का एक अभिन्न अंग है तथा तिब्बत की समस्या चीन का नितान्त घरेलू मामला है।" इसी पत्र में चीन की सरकार ने भारत पर आरोप लगाया कि वह साम्राज्यवादी शक्तियों के हाथों में खेल रहा है।

सरदार पटेल ने तभी कह दिया था कि "हमे चीन से सावधान रहना चाहिये उसके इरादे नेक नही हैं।" सं० रा० संघ मे एक भी सदस्य तिब्बत मामले को उठाने की हिम्मत न कर सका। भारत भी चुप रहा। न महासभा में और न सुरक्षा परिषद में तिब्बत के विषय में एक बात भी नही हुई। इतना होने पर भी पं० नेहरू को चाऊ-भाऊ पर पूरा विश्वास रहा कि वे कोई शान्तिपूर्ण हल निकाल ही लेंगे।

23 मई 1951 को चीन एवं तिब्बत मे एक सन्धि हो गई। चीन ने स्वीकार किया कि तिब्बत एक स्वायत्तशासी देश रहेगा, चीन उसके घरेलू मामलो मे हस्तक्षेप न करेगा, परन्तु तिब्बत की विदेश नीति चीन संचालित करेगा। चीन कोशिश करेगा कि तिब्बत की सेना चीन की सेना मे विलीन हो जाये।

पंचशील और चीन—भारतीय इतिहास में पं० नेहरू को प्राचीन कालीन राजा अशोक के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। बौद्ध धर्म से भी उन्हे श्रद्धा थी। राष्ट्रीय ध्वज में धर्म चक्र को उन्होने स्थान दिया था और सारनाथ की तीन शेर एवं चक्र की मूर्ति को उन्होने सरकार की मोहर बनाया था। बौद्ध धर्म से ही उन्होंने पंचशील का सिद्धान्त लिया था। वे शान्ति का दूत बनना चाहते थे और विश्व में पंचशील के सिद्धान्त का प्रचार करना चाहते थे।

भारत के विरोधी दल के नेता तिब्बत के विषय में कड़ी नीति अपनाने मे जोर देते थे पर वह (पं० नेहरू) तिब्बत के मामले मे चीन जैसे बड़े और शक्तिशाली राज्य से बिगाड़ नहीं करना चाहते थे। अत: चीन से उन्होने मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना उचित समझा। कोरिया के युद्ध के समय पं० नेहरू ने उत्तरी कोरिया का पश्चिमी देशों के समान आक्रमणकारी माना। इससे चीन ने भारतीय नीति की कटु आलोचना की। यह भी पं० नेहरू नहीं चाहते थे कि चीन भारत से नाराज हो अतः जब 1 फरवरी 1951 को चीन ने भी अपनी सेना कोरिया में उत्तरी ओर संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा मे चीन की निन्दा का प्रस्ताव रखा गया तो भारत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। 1953 मे कोरिया के बन्दी सैनिको को समझा बुझाकर स्वदेश भेजने का भारत ने कार्य किया तो भी चीन का पक्ष समर्थन हुआ।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर भारत चीन का समर्थन कर रहा था। चीन ने भारत से तिब्बत के विषय मे भी बातचीत की। 29 अप्रैल, 1954 को भारत और चीन में व्यापक समझौता हो गया। यह समझौता 8 वर्षीय था। भारत ने तिब्बत मे अपने क्षेत्रीय अधिकार भी त्याग दिये। भारत चीन समझौते की प्रस्तावना मे शान्ति और सहयोग के पाँच सिद्धान्तों का वर्णन था। इन पाँच सिद्धान्तों को ही पंचशील कहा गया। ये सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

(1) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता एवं प्रभुसत्ता का सम्मान (2) एक दूसरे के ऊपर आक्रमण न करने का निर्णय, (3) एक दूसरे देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप, (4) समानता एवं परस्पर लाभ, (5) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

यद्यपि चीन ने पंचशील का सिद्धान्त मान लिया था पर वह इसके प्रति कभी ईमानदार न रहा। भारत उस समय अमेरिका से बहुत नाराज था क्योंकि पाकिस्तान ने अमेरिका से सैनिक सन्धि कर ली थी और अमेरिका उसे धड़ाधड़ सैनिक सामग्री भेज रहा था। भारत पाकिस्तान और चीन दोनों से एक साथ लड़ना पसन्द न करता था। वह चीन से हर कीमत पर मित्रता का इच्छुक था। समझौते मे सीमा विवाद का उल्लेख न था अतः पं० नेहरू समझौता कर गद्गद् होकर बोले "निस्सन्देह वह हमारे लिए, और मुझे विश्वास है कि चीन के लिए भी महत्वपूर्ण है कि जिन देशों की 1800 मील लम्बी सीमाये एक दूसरे को छूती हैं, वे शान्ति और मित्रतापूर्वक रहें। एक दूसरे की प्रभुसत्ता तथा अखण्डता का सम्मान करें और इस बात के लिए सहमत हो जायें कि वे एक-दूसरे के आन्तरिक मामले मे हस्तक्षेप नहीं करेंगे और एक दूसरे के विरुद्ध आक्रमण नहीं करेंगे। इस समझौते के द्वारा हम एशिया के एक विशेष भाग में शान्ति को सुरक्षित करेंगे। मैं यह दिल से चाहता हूं कि वह शान्ति का दायरा शेष एशिया और बाकी संसार मे फैल जाये।"

आचार्य कृपलानी ने आलोचना करते हुए कहा था कि "यह महान पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज है, क्योंकि यह आध्यात्मिक है और सांस्कृतिक रूप से सम्बद्ध एक प्राचीन राष्ट्र के विनाश पर हमारी स्वीकृति पाने के लिए प्रचारित किया गया है।"

3 जून 1954 को भारतीय संसद ने इस दुर्भाग्यपूर्ण समझौते की पुष्टि कर दी। यदि उसी समय मैकमोहन रेखा की भी पुष्टि करा ली जाती तो भारत के हक मे अच्छा रहता पर पं० नेहरू तो खुशी मे फूले न समाते थे।

चीन एवं भारत के प्रधान मन्त्रियों की भारत चीन यात्रा—चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई 25 जून 1954 को भारत आये भव्य एव ऐतिहासिक स्वागत हुआ। हिन्दी-चीनी भाई-भाई के नारे से आकाश गूंज उठा। इसी प्रकार 18 अक्टूबर 1954 को पं० नेहरू और भी प्रभावित हुए।

परन्तु प्रो० के० पी० गुप्ता का कहना था कि "श्री नेहरू को माओत्से तुंग के सामने इस प्रकार दिखलाया गया है मानो वे किसी सम्राट के दरबार मे प्रस्तुत किये गये हों।" इस बात की पुष्टि आर० एस० सेड़ा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय रक्षा समस्या' (India Defence Problem) में भी की है। स्वयं पाणिक्कर जो चीन मे राजदूत रह चुके है उन्हे भी चीन के व्यवहार पर बड़ा दुःख हुआ था। पर डा० वी० पी० दत्त ने कहा कि "श्री नेहरू बड़ी-बड़ी बातो के बारे मे सोचते विश्व शान्ति के बारे मे, एशिया की एकता के बारे में, दो बड़े, सशक्त और उभरते हुए देशों के बीच दोस्ती के बारे।" अतः नेहरू ने इस उपेक्षा की बात को भुला दिया।

बांडुंग सम्मेलन में भारत एव चीन की उपस्थिति—प० नेहरू चीन पर जी-जान से निछावर थे। यद्यपि 1955 का यह अफ्रो-एशियायी सम्मेलन तटस्थ देशों का था। इसका आयोजन भारत, मिस्र, श्रीलंका एव इण्डोनेशिया ने विशेष भूमिका निभाई। भारत ने विशेष आग्रहकर इस सम्मेलन में साम्यवादी चीन को बुलाया। वह दिखाना चाहता था कि "उसके मित्र कितने बड़े राष्ट्र हैं।" पर उससे भारत को कम चीन को अधिक लाभ पहुंचा। पचशील का सिद्धान्त वहां दसशील सिद्धान्त बन गया। उसकी महत्ता कम हो गई।

चीन ने वहां शान्तिवादी बनने का ढोंग रचा और उसने उन सभी देशों को जिनका उस समय चीन से कोई सम्बन्ध न था। उन्हें चीन से सम्पर्क बढ़ाने का निमन्त्रण दिया उसने यह भी कहा कि वह पड़ोसी देशो के साथ मित्रतापूर्वक रहना चाहता है। इससे वहां उपस्थित सभी देश प्रभावित हुए।

फिर दोनों देशों ने आपसी मित्रता बढ़ाने का प्रयास किया। दो वर्ष के बीच में चीनी प्रधानमन्त्री तीन बार भारत आया। गोवा के मामले में चीन ने भारत का समर्थन किया। भारत ने चीन को स० रा० संघ की सदस्यता दिलाने का भरसक प्रयत्न किया।

ऊपर से तो चीन भारत का गहरा मित्र बन रहा था पर अन्दर ही अन्दर उसकी जड़ें काट रहा था जब बाडुंग सम्मेलन चल रहा था तभी चीनी सैनिकों ने उत्तर प्रदेश के 'बड़ा हुती' एवं 'दमजान' के क्षेत्र में भारतीय सीमाओं का अतिक्रमण किया था। इतना ही नहीं लद्दाख के क्षेत्र में चीन ने चुपके से सड़क भी बना ली थी जिसका पता भारतीयों को 4 वर्ष बाद चला।

दलाईलामा का भारत में शरण लेना—यद्यपि तिब्बत ने 1951 में सन्धि कर चीन के आधिपत्य को मान लिया था पर अन्दर ही अन्दर तिब्बत में विद्रोह की अग्नि भड़क रही थी। यदि चीन राजनीतिक दृष्टि से कब्जा बनाये रखता तो शायद तिब्बत के बौद्ध उसे स्वीकार कर लेते पर जब चीनियों ने तिब्बत का साम्यवादीकरण प्रारम्भ कर दिया तो बौद्ध लोग भड़क उठे। तिब्बत के पूर्वी भाग में खम्पाओं ने गोरिल्ला युद्ध प्रारम्भ कर दिया। चीनियों ने इन विद्रोहियों को बुरी तरह कुचला। 5 वर्ष में 80 हजार खम्पाओं का वध किया गया। चीन ने खम्पाओं के विरुद्ध दलाईलामा से चीन सरकार के प्रति समर्थन चाहा पर उसके लिए वह तैयार न हुआ।

चीन ने तब अपनी सैनिक कार्यवाहियाँ तेज कर दी। दलाई लामा को पीकिंग बुलाया गया। उन्होंने कई बार चीन का निमन्त्रण ठुकरा दिया। तिब्बतियों को यह विश्वास हो गया कि साम्यवादी सरकार दलाई लामा को समाप्त करना चाहती है। 20 मार्च, 19-9 को हजारों तिब्बतियों ने चीनी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उन्होंने तिब्बत-चीन के 1951 के समझौते की निन्दा की और माँग की कि चीनी तिब्बत से बाहर निकल जायें। 12 मार्च, 1959 को तिब्बतियों ने पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

यह विद्रोह असफल हुआ। दलाई लामा के महल को घेर लिया गया और उस पर गोलाबारी होने लगी। हजारों तिब्बती मारे गये। 20 मार्च को ल्हासा पर चीन का कब्जा हो गया। दलाई लामा की खोज प्रारम्भ हुई वे तिब्बत से गायब हो गये। 17 मार्च को दलाई लामा अपनी माँ, बहन और कुछ विश्वासी साथियों को लेकर भेष बदलकर ल्हासा से चले थे। 14 दिन तक वे पहाड़ों एवं जंगलों में घूमते हुए भारत की सीमा पर पहुँचे। उन्होंने इस रोमांचक यात्रा का वर्णन अपनी पुस्तक "माई लैण्ड, माई प्यूपिल" (My Land, My People) में किया है।

चीन जब दलाई लामा को न खोज सका तो उसने जान लिया कि दलाई लामा भारत की ओर गये होंगे। 28 मार्च, 1959 को चीनी सरकार ने भारत को एक कड़ा विरोध पत्र भेजा। उसमें लिखा था कि 'तिब्बत की स्थानीय सरकार ने साम्राज्यवादियों और विदेशी प्रतिक्रियावादियों के उकसाने पर और उनकी सहायता से तिब्बत की शान्तिपूर्ण मुक्ति का समझौता फाड़ दिया है तथा केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों और केन्द्रीय सैनिकों पर सशस्त्र हमला करके विद्रोह कर दिया है। यह पूर्णरूप से चीन का आन्तरिक मामला है और इसमें हम कोई बाहरी हस्तक्षेप सहन नहीं करेंगे। तिब्बत, चीनी भू-भाग का एक अभिन्न अंग है और इसे चीन से अलग करने वाला प्रत्येक षड्यन्त्र असफल होगा।" यह भारत सरकार को खुली चुनौती थी।

भारत सीमा पर पहुँच कर दलाई लामा ने भारत से राजनीतिक शरण माँगी। इस शरण लेने के समाचार से भारत में खलबली मच गई। संसद में यह प्रश्न रखा गया। चीन के प्रति बड़ा रोष प्रकट हुआ। संसद में लामा को शरण देने का प्रस्ताव पारित हो गया। दलाई लामा को शरण दी गई। इस समाचार से चीन बौखला गया। उसने भारत पर आरोप लगाया कि उसने ही दलाई लामा को गुप्त रूप से भगा लिया है।

10 सितम्बर, 1959 को दलाई लामा ने सं० रा० संघ के महासचिव डाग हैमरशोल्ड को एक ज्ञापन दिया। इसमें अपील की गई थी कि "मैं और मेरी सरकार यह बताना चाहती है कि 1950 म चीन की सेनाओं ने तिब्बत की अखण्डता का उल्लघन किया है। इससे पूर्व तिब्बत एक सम्पन्न राज्य था। '' ''''" उसमें तिब्बत की नस्ल, धर्म एव सभ्यता को नष्ट करने का आरोप चीन पर लगाया गया था। अन्त मे लामा ने लिखा था कि "मेरे लोगों की तकलीफें बयान से बाहर हैं। इसलिए मैं संयुक्त राष्ट्र संघ से अपील करता हूँ कि वह व्यर्थ मे निर्मम ढग से चीनी सरकार द्वारा तिब्बती जनता की हत्या रुकवाए।"

यह अपील बेकार गई, संयुक्त राष्ट्र संघ का एक भी सदस्य तिब्बत की सहायता के लिए आगे नहीं बढ़ा। भारत तो पहले ही तिब्बत को चीन का अग मान चुका था।

चीन द्वारा भारतीय सीमा का उल्लंघन—पं० नेहरू 1922 से चीन के प्रति विशेष रूप से आकर्षित थे। चीन पर जब साम्यवादियों का अधिकार हो गया तो भारत सरकार ने चीन से मित्रता का हाथ बढ़ाने के लिए चीन की नई जनवादी सरकार को 1950 में मान्यता दे दी। चीन ने मित्रता का अच्छा प्रदर्शन किया और 1950 में एक नक्शा प्रकाशित किया जिसमे भारत का काफी क्षेत्र चीन की सीमा के अन्तर्गत दिखाया गया। जब 1951 में भारत ने विरोध पत्र भेजा तो जनवादी सरकार ने बहाना बनाया कि ये नक्शे भूतपूर्व च्यांग काई शेक की सरकार द्वारा छपे हैं। पर यह सरासर झूठ था यह जानबूझ कर साम्यवादी सरकार ने छपवाये थे।

1954 मे भारत-चीन समझौते के समय चीन ने सीमा सम्बन्धी कोई बातचीत नहीं की। 17 जुलाई, 1954 को अवश्य चीन की सरकार ने एक पत्र सीमा-विवाद पर लिखा। पं० नेहरू जब अक्टूबर, 1954 मे चीन की यात्रा पर गये तो उन्होंने 17 जुलाई के पत्र का उल्लेख किया तब चीनी सरकार ने इसे मामूली मामला कहकर टाल दिया। पं० नेहरू भी चुप हो गये।

चीन ने गुप्त रूप से योजना बनाई कि भारतीय सीमा पर सामरिक महत्व के स्थानों पर चुप-चुप कब्जा किया जाय। ऊपर से दोस्ती का प्रदर्शन होता रहे और अन्दर से भारत की जड़ें खोखली की जायें। वास्तव मे चीन भारतीय उन्नति से बहुत जलता था। वह भारत को एशिया का नेतृत्व करते देखना पसन्द न करता था। वह स्वयं एशिया का नेता बनना चाहता था।

यह योजना 17 जुलाई 1954 से प्रारम्भ हो गई जब चीन ने भारत को पत्र लिखकर उस पर आरोप लगाया कि भारतीय सैनिकों ने "वून्जे" (बड़ा हूती) पर कब्जा कर लिया है। 'बड़ा हूती' उत्तर प्रदेश में है और पूरी तरह भारतीय क्षेत्र में है।

1955 मे चीनी सैनिको ने "बड़ा हूती" क्षेत्र पर कब्जा कर लिया यह साफ भारतीय सीमा का अतिक्रमण था। दो महीने बाद उत्तर प्रदेश की दूसरी चौकी दमजान पर अधिकार कर लिया। 1956 के सितम्बर मास में हिमाचल प्रदेश के शिपकी दर्रे पर भी चीन का कब्जा हो गया। 1956 के नवम्बर मास मे चीनी प्रधानमन्त्री जब भारत आये तो पं० नेहरू ने उक्त चीनी आक्रमणों का उल्लेख किया। चीनी प्रधानमन्त्री ने कहा कि यद्यपि वे मेकमोहान रेखा को नहीं मानते है फिर भी बहुत समय से वह व्यावहारिक रेखा रही है अतः वे उसका आदर करते हैं। उन्होंने नेहरू जी को विश्वास दिलाया कि उन्होंने उनकी बात नोट कर ली है, वे इस पर विचार करेंगे। यह जबानी बात थी अतः इनका कोई महत्व न था। चीनी प्रधानमन्त्री उन बातों को भूल गये।

25 अगस्त 1959 को चीनी सेनायें पूर्वी क्षेत्र मे बढ़ी और नेफा एवं लॉगजू क्षेत्रों पर हमला बोल दिया। एक भारतीय जवान मारा गया और तीन जवानों को चीनी सैनिक पकड़ ले गये। भारत ने इन चौकियों को पाने का असफल प्रयास किया। बांडुग सम्मेलन के

(1955) से ही लद्दाख में चीनी लोगों ने सड़क बनानी प्रारम्भ कर दी थी। वह 1959 में बनकर तैयार हुई, उसने उद्घाटन के समारोह में पं० नेहरू को भी आमन्त्रित किया गया।

पं० नेहरू और चीनी प्रधानमन्त्री में सीमा उल्लंघन के मामलों पर पत्र व्यवहार चलता रहा पर यह गुप्त था। भारत ने अनेक विरोध पत्र भेजे। 23 जनवरी 1959 को चाऊ एन लाई ने एक पत्र पं० नेहरू को भेजा उसमें साफ-साफ लिख दिया था कि उन्होंने मैकमोहान रेखा को कभी भारत-चीन सीमा नहीं माना है। आगे लिखा कि चीन और भारत की सीमा कभी सीमांकित हुई ही नही। 8 सितम्बर 1959 के पत्र मे चाऊ एन लाई ने 50 हजार वर्ग मील भारतीय भूमि पर अपना दावा प्रकट किया।

अब तक नेहरू चीन द्वारा सीमा उल्लघन एवं भारतीय क्षेत्रों पर चीनी अधिकार के मामले भारतीय जनता से छिपाते रहे। संसद मे भी यदि किसी सदस्य ने कुछ सूचनायें इस विषय मे रखीं तो पं० नेहरू ने उन्हें झूठा कहकर टाल दिया पर चीनी दावों का जब विस्तार हुआ तो पं० नेहरू ने भारतीय जनता को विश्वास में लेने के लिए—दोनों देशों के प्रधानमन्त्रियों का पत्र व्यवहार 7 नवम्बर 19 9 को 'श्वेत पत्र' के रूप में छाप दिया।

इस 'श्वेत पत्र' तथा दलाई लामा की भारत में शरण लेने की बात से चीनी नेता बहुत नाराज थे। 14 नवम्बर 1959 को जब पं० नेहरू का जन्म दिवस आया तो चीन ने लद्दाख में 9 भारतीय सैनिकों की लाशें तथा 7 घायलों की अनुपम भेंट दी। ये 16 जवान 20 अक्टूबर 1959 से गायब थे। इन्हें कोंगका दर्रे पर गश्त लगाते चीनी सैनिकों ने देखा था। 9 तो गोली से मार डाले गये थे और 7 को पकड़कर वे ले गये थे।

भारत-चीन में शत्रुता का दौर—14 नवम्बर 1959 के 'तौफे' से चीन और भारत मे 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का दौर समाप्त हुआ। पर भारतीय सरकार तब भी नही चेती। कृष्णा मेनन पं० नेहरू को विश्वास दिलाते रहे कि चीन भारत पर आक्रमण नही करेगा अतः चीनी आक्रमण के विरुद्ध कोई तैयारी नहीं की गयी। भारतीय जनता मे अवश्य क्रोध और शोक उत्पन्न हो गया। भारत सरकार इतना कर पायी कि एक लम्बा चौड़ा 'कठोर' विरोध पत्र चीन को रवाना कर दिया।

हिन्दुस्तान टाइम्स ने भारतीय सरकार की निष्क्रियता की आलोचना तथा 'पचशील' को 'पंचशूल' बताया। इण्डियन एक्सप्रेस ने लिखा "दुर्भाग्यवश भारत ने चीनी विस्तारवाद और साम्राज्यवाद का कम आंकलन किया था।" वास्तव मे चीन के सैनिक भारत के दरवाजों को पीट रहे थे पर भारतीय सरकार गहरी निद्रा में निमग्न खर्राटे भर रही थी। प्रधानमन्त्री और रक्षामन्त्री दोनों चीन के भक्त थे, अपने भगवान द्वारा 'आक्रमण' जैसा कार्य वे कल्पना में नही ला सकते थे। कांग्रेस पूर्ण बहुमत मे थी अतः अल्पमत का शोर वह महत्त्वहीन समझती थी।

पं० नेहरू अब भी शान्ति के प्रति पूरी तरह समर्पित थे। उन्हें शान्तिपूर्ण वार्ता द्वारा समस्या का हल होने पर पूरा विश्वास था। जनता को शान्त करने के लिए प० नेहरू ने 16 फरवरी 1960 को घोषणा की है कि उन्होंने चीन के प्रधानमन्त्री को भारत आने का निमन्त्रण दिया है। 19 अप्रैल 1960 को चाऊ एन लाई दिल्ली आये। वे तीन मूर्ति भवन मे ठहरे। जनता को जब यह सूचना मिली तो 5 हजार व्यक्तियों का एक समूह 'तीन मूर्ति भवन' के चारों ओर एकत्र हो गया और शोर मचाने लगा 'चाऊ एन लाई हाय-हाय'। श्रीमान केकर ने अपनी पुस्तक '1962 के अपराधी व्यक्ति' (Guilty man of 1962) में लिखा है कि जनता के नारों से एवं प्रदर्शन से पं० नेहरू को भी जोश आ गया और उन्होंने 'चाऊ' से कठोर रुख अपनाया। समझौते का एकमात्र अवसर हाथ से खो दिया।" यह समझना गलत है, चीन अपने दावे से एक इंच हटने

वाला न था। 6 दिन दोनों प्रधानमन्त्रियों की वार्ता हुई पर असफल हुई। सीमा विवाद हल न हो पाया।

इसके बाद जून से दिसम्बर 1960 तक भारत और चीन के अधिकारियों द्वारा तमाम दस्तावेजों का निरीक्षण होता रहा। वे तीन बार आपस में मिले—पीकिंग, दिल्ली एवं रंगून मे।

यह अनोखी बात थी कि चीन एक ओर शान्तिपूर्ण वार्ता चला रहा था और दूसरी उसकी सेनायें लगातार भारतीय सीमा का उल्लघन करती जाती थी। चीन का दावा था कि भारत भूमि का 50 हजार वर्ग मील का क्षेत्र चीन का है—ये क्षेत्र थे—(i) पश्चिमी क्षेत्र 12 हजार वर्ग मील (2) पूर्वी क्षेत्र 33 हजार वर्गमील (3) मध्य क्षेत्र 500 वर्ग मील तथा (4) आजाद काश्मीर क्षेत्र का 5 हजार वर्ग मील क्षेत्र। इन 50 हजार वर्गमील क्षेत्रों में से चीन 12 हजार वर्ग मील पर कब्जा कर चुका था।

भारत पर चीन का नग्न आक्रमण—चीन बार-बार भारतीय सीमा का उल्लंघन कर रहा था। भारत के क्षेत्रों पर कब्जा कर रहा था पर नेहरू सरकार हर प्रकार का अपमान सहने को तैयार थी पर सशस्त्र सघर्ष छेड़ने को तैयार न थी। सीमा पर दुश्मन गोलाबारी कर रहा था तब रक्षामन्त्री इस 'शान्त वातावरण' में न्यूयार्क में होने वाले सयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के अधिवेशन में सितम्बर 1962 मे उड़ गये। पं० नेहरू भी इस गम्भीर वातावरण में 13 अक्टूबर 1962 को लका जाते हुए एक तीर चीन की ओर फेंक गये—"हमने सेना को आदेश दे दिया है कि नेफा से चीनियों को मार भगाये।" वे इस तीर की प्रतिक्रिया देखने को रुके नहीं, लका रवाना हो गये।

पं० नेहरू का यह अल्टीमेटम बड़ा अनोखा था। देश में कोई सैनिक तैयारी न थी। भारतीय सेना अति दुर्बल थी। 'अनकही कहानी' मे कौल लिखते है "कोई भी जनरल जो कि नेफा एवं लद्दाख मे तत्कालीन सैनिक स्थिति की जानकारी रखता था····मेरे अन्दाज में पं० नेहरू को ऐसा परामर्श नही दे सकता था।" भारतीय गाँवों में एक कहावत है—'आ बैल तू मुझे मार' बैल झपट पड़ा मूर्खानन्द जमीन पर पड़े हाय-हाय चिल्लाने लगे।

20 अक्टूबर 1962 को चीन ने भारत पर नग्न आक्रमण कर दिया। मैक्सवेल ने अपनी पुस्तक 'भारत-चीन युद्ध' (India China War) मे चीन को नही वल्कि भारत को आक्रमणकारी बताया है। पर यह वात झूठ थी। चीन के मित्र रूस ने स्वयं स्वीकार किया था कि "चीन की तुलना मे सैनिक और आर्थिक दृष्टि से भारत जैसा कमजोर देश, चीन पर कोई आक्रमण करेगा यह बात गम्भीरता से सोची भी नही जा सकती है।"

पं० नेहरू ने अपनी काँपती आवाज में भारतीय जनता को चीन के आक्रमण की सूचना देते हुए रेडियो पर कहा कि "मैं बहुत दिनों बाद रेडियो पर बोल रहा हूं, इस वक्त बोलना आवश्यक समझा, क्योंकि एक अहम हालत है। हमारी सीमा पर जबर्दस्त हमले चीनी फोजों ने किये हैं और करते जाते हैं। हम इस देश मे अमन पसन्द हैं, शान्ति पसन्द हैं और शान्ति के तरीकों के आदी हैं। हम आदी नहीं हैं, लड़ाई की जुरूरियात के। इसी वजह से, और भी वजूहात है, हम एक शान्ति के रास्ते पर चल रहे हैं और जब लद्दाख पर हमला, पाँच वर्ष हुए, हुआ था, उस वक्त भी हमने कोशिश की थी कि कोई शान्ति का तफसीया हो जाय और कोई रास्ता हमें मिले।"[1] पं० नेहरू की आवाज भर्राई हुई थी, वे सभल-संभल कर एक-एक शब्द बोल रहे थे। वे आगे अपने रेडियो भाषण मे बोले, "सारी दुनिया में हम शान्ति चाहते हैं और जाहिर है अपने मुल्क में भी चाहते थे। जानते हैं कि आजकल के जमाने में लड़ाई कितनी भयानक होती है और हमने तरफ से पूरी कोशिश की कि कोई भी लड़ाई, जो दुनिया को दुखा न हो। लेकिन हमारी

[1] 22 अक्टूबर 1962 का पं० नेहरू का रेडियो भाषण "नेहरू व्यक्तित्व और विचार"

ही सरहद पर कामयाब नहीं हुई, जहाँ एक बहुत ताकतवर और बेशर्म दुश्मन, जिसको जरा फिक्र न शान्ति की थी न शान्ति के तरीकों की, जिसने हमें धमकी दी और धमकी पर अमल भी किया।"[1]

चीन के आक्रमण पर जल्दी-जल्दी सैनिक पूर्वी उत्तरी एवं पश्चिमी सीमाओं पर लड़ने के लिए भेजे गये। उन्हें न तो पहाड़ी युद्ध का अनुभव था, न उनके पास उचित हथियार व रसद और गर्म कपड़ों का भी घोर अभाव था। वास्तव में वे बलि के बकरे के समान मरने के लिए चीनी सेनाओं के सामने भेजे गये। यद्यपि वे बड़ी वीरता से लड़े पर पीछे धकेल दिये गये। प० नेहरू ने यह स्वीकार किया कि "मुझे अफसोस है कि हमारी फौज को कई जगह धक्के लगे। और कई जगह से वे हराई गयीं। उनके ऊपर इतने ज्यादा फौज के लोग उनके मुखालिफ हुए और जिनके पास बड़ी-बड़ी तोपें थी, पहाड़ी बन्दूकें और मोटरार कि हमारे लोगों के सामने बहुत मुश्किल हो गयी।"

चीन ने यह देखकर कि भारतीय सेना की बुरी तरह पराजय हो रही है भारत सरकार झुकने को तैयार होगी, 24 अक्टूबर को एक त्रिसूत्री प्रस्ताव रखा और कहा यदि भारत इसे मान ले तो तुरन्त युद्ध बन्द कर दिया जायगा। ये तीन सूत्र निम्नलिखित थे :

(i) दोनों देश वास्तविक नियन्त्रण रेखा का सम्मान करें और दोनो देशो की सरकारें वास्तविक नियन्त्रण रेखा से 20 किलोमीटर पीछे हट जायें।

(ii) यदि भारत पहली बात मानले तो चीन अपने सैनिक पूर्वी क्षेत्र मे वास्तविक नियन्त्रण रेखा तक पीछे हटाने को तैयार है तथा पश्चिमी क्षेत्र में दोनों देश पारस्परिक सीमाओं का सम्मान करें।

(iii) समस्या के समाधान के लिए दोनो देशों के प्रधान आपस मे बातचीत करें। श्री नेहरू को बातचीत के लिए चीन आने का निमन्त्रण दिया गया।

भारत उक्त प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार न था। पं० नेहरू ने अपना त्रिसूत्री प्रस्ताव चीन के सामने रखा वह इस प्रकार था :

(i) पूर्वी क्षेत्र में चीन मैकमोहन रेखा के पीछे चला जाये।

(ii) पश्चिम में वह 8 सितम्बर 1962 की स्थिति मे चला जाये, और

(iii) चीन इस यथास्थिति को भंग न करे।

चीन ने भी भारत के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और उसने अपने आक्रमण को तेज कर दिया।

भारत की सेनायें चीनियों का मुकाबला करने के लिए सुसंगठित की गयी। देश में आपात स्थिति घोषित की गयी तथा नागरिकों के अधिकार स्थगित कर दिये गये। पर युद्ध का रुख भारत के विपरीत ही रहा। भारत को पाकिस्तान का भी खतरा था। भारत चाहता था कि यदि अय्यूब खाँ युद्ध के दौरान कोई छेड़खानी भारत से न करने का वायदा करे तब वह अपनी काश्मीर स्थित सेनाओं को चीन के मुकाबले में लगा दे पर अय्यूब ऐसा वचन देने को तैयार न था।

भारतीय रक्षामन्त्री का त्यागपत्र—भारत की हार का जिम्मेदार जनता ने रक्षामन्त्री को बताया और उनसे त्यागपत्र की माँग की। संसद में भी श्री मेनन की चीन भक्ति पर तीखे प्रहार हुए। प० नेहरू ने दशा बिगड़ती देख श्री मेनन से त्यागपत्र माँग लिया। 7 नवम्बर 1962 को मेनन ने त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर श्री चह्वाण को रक्षामन्त्री बनाया गया।

---

[1] 22 अक्टूबर 1962 का पं० नेहरू का रेडियो भाषण : "नेहरू व्यक्तित्व और विचार" पृ. 554।

भारतीय संसद का प्रस्ताव—8 नवम्बर को प० नेहरू ने संसद में जोरदार शब्दों में कहा कि "चीनी आक्रमणकारियों की चुनौती हम स्वीकार करते हैं, चाहे उसका कुछ भी परिणाम क्यों न निकले। हमारा यह दृढ़ संकल्प है कि भारत, हमारा देश प्यारा, कभी भी आक्रमणकारी के आगे न झुकेगा तथा उसे निकाल कर ही हम दम लेंगे।"

14 नवम्बर को चीनी आक्रमण की भर्त्सना करते हुए भारतीय संसद ने एक प्रस्ताव पास किया कि "आशा और विश्वास के साथ वह सदन भारतीय जनता के इस दृढ़ निश्चय की प्रतिज्ञा करता है कि वह आक्रमणकारी को भारत की पवित्र भूमि से निकाल कर रहेगा, चाहे कितना ही समय क्यों न लगे और चाहे कितना ही कड़ा संघर्ष क्यों न करना पड़े।"

चीन द्वारा एकतरफा युद्धविराम—22 नवम्बर की रात्रि को बारह बजे पीकिंग सरकार ने घोषणा की कि चीनी सेनाएँ युद्धविराम एकतरफा कर देंगी तथा वास्तविक नियन्त्रण रेखा के इस पार अपनी असैनिक चौकियाँ स्थापित कर देंगी। 22 नवम्बर को जहाँ चीन ने युद्ध बन्द कर दिया। भारत ने भी युद्ध बन्द कर दिया। 21 नवम्बर को चीन ने पुनः अपना पुराना त्रिसूत्री प्रस्ताव दोहराया। भारत ने कहा 8 सितम्बर की स्थिति पर जब तक चीन न लौटेगा, उससे बातचीत की कोई योजना वह न मानेगा।

एकतरफा युद्धविराम का कारण—चीन ने एकतरफा युद्धविराम की घोषणा क्यों की इसके कई कारण थे :—

(i) चीन भारत की प्रतिष्ठा को धूल में मिलाना चाहता था तथा एशिया की नजरों में उसे गिराना चाहता, वह कार्य पूरा हो गया था।

(ii) चीन का दूसरा उद्देश्य कुछ क्षेत्रों पर कब्जा करना था, उन पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया, जैसे लद्दाख में उसने 13,000 वर्ग मील का दावा किया था उसकी बजाये उसने 14 हजार वर्ग मील ले ली, पूर्वी क्षेत्र में उसने 32 हजार वर्ग मील भूमि का दावा किया था, उसमें भी काफी क्षेत्र उसे मिल गया था।

(iii) चीन का आगे बढ़ना सम्भव न था। वह अब तक अधिक ऊँचाई पर था जहाँ भारतीय सैनिक नहीं पहुँच सकते थे। बोमाला के बाद मैदानी क्षेत्र आता था। आसाम में भारतीय सेना सुसंगठित एवं तैयार थी। चीन अपनी अर्जित प्रतिष्ठा को खोने का खतरा मोल लेना चाहता था।

(iv) भारत ने युद्ध में पश्चिमी देशों से सहायता की अपील की थी। पश्चिमी गुट के भले ही भारत से अच्छे सम्बन्ध न थे पर साम्यवादी प्रसार को रोकने में सब एक थे। अतः सभी भारत की सहायता को दौड़ पड़े। अमेरिका का मालवाहक वायुयान नई दिल्ली में भारी शस्त्रों की खेप लेकर 3 नवम्बर को उतरा। ब्रिटेन और कनाडा भी सहायता देने को तैयार थे। अमरिका एवं ब्रिटिश सैनिक मिशन भारत आ रहा था। इससे चीन ने युद्ध-विराम करना ही उचित समझा।

(v) चीन को आशा थी कि भारत के विभिन्न दल एवं सम्प्रदाय कभी एक न होंगे और साम्यवादी दल कोई विशेष कार्य करने में सफल होगा पर चीनी आक्रमण से सभी दल और सम्प्रदाय एक हो गये तथा साम्यवाद के विरुद्ध भयानक वातावरण पैदा हो गया। पर चीन की आ[illegible] विपरीत था।

(vi) नवम्बर के बाद पहाड़ों पर बर्फीला मौसम आ गया। [illegible] चीनी सैनिक घबड़ा गये।

(vii) रूस ने भी चीन का साथ न दिया बल्कि उसे युद्ध बन्द करने के [illegible] डाला। क्यूबा के मामले में चीनियों ने रूस की हँसी उड़ायी थी अतः रूस ने भी चीन [illegible] करना आरम्भ कर दिया था। मास्को ने भारत को मिग-21 विमान देने की घोषणा

(viii) चीन स्वयं को शान्तिवादी देश सिद्ध करना चाहता था। विश्व-जनमत शान्तिवादी देश भारत के साथ हो गया था।

कोलम्बो योजना—भारत के साथी जिन पर भारत को बड़ा गर्व था। इस युद्ध में तटस्थ हो गये। इतना ही नहीं कोलम्बो में तटस्थ देशों ने भारत की ओर से नहीं चीन की ओर से भारत पर सन्धि के लिए दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया। यह सम्मेलन 10 दिसम्बर 1962 को लंका की राजधानी कोलम्बो में हुआ था। इस सम्मेलन में बर्मा के जनरल नेविन, कम्बोडिया से नरोत्तम सिहानुक, इण्डोनेशिया से विदेशमन्त्री सुबान्द्रियों, मिस्र से प्रधानमन्त्री अली साबरी तथा घाना से न्यायमन्त्री ओफोरी आता आये थे।

तीन दिन तक भारत-चीन सीमा विवाद पर विचार हुआ और उसके समाधान के लिए एक छः सूत्री प्रोग्राम बनाया गया। निश्चय हुआ कि इस प्रोग्राम पर भारत और चीन की स्वीकृति ली जाय। ये छः सूत्र निम्नलिखित थे :—

(1) वर्तमान नियन्त्रण रेखा भारत-चीन विवाद के समाधान का आधार मानी जाये।

(2) (अ) पश्चिमी क्षेत्र में चीन वर्तमान रेखा से 20 किलोमीटर पीछे अपनी सैनिक चौकियाँ हटा लें, जैसा कि चाऊ-एन-लाई स्वयं श्री नेहरू को अपने 21 तथा 28 नवम्बर के पत्र मे लिख चुके हैं।

(ब) भारत इस क्षेत्र मे अपनी वर्तमान स्थिति को बनाये रखे।

(स) समस्या के अन्तिम समाधान होने तक भारत और चीन इस क्षेत्र को विसैन्यीकृत रखें और इस क्षेत्र का निरीक्षण दोनों देशों के असैनिक अधिकारी करें।

(2) पूर्वी क्षेत्र मे वर्तमान नियन्त्रण रेखा को युद्ध-विराम रेखा माना जाय।

(4) मध्य क्षेत्र मे सीमा का निश्चय शान्तिपूर्ण साधनों से किया जाय।

(5) इन प्रस्तावों की स्वीकृति से दोनों देशो के बीच परस्पर वार्ता का आधार उत्पन्न हो जायगा।

(6) समस्या के अन्तिम समाधान के लिए दोनों देश परस्पर वार्ता के द्वारा निर्णय ले सकते है। इन प्रस्तावों को मान लेने से उनकी सैद्धान्तिक स्थिति में अन्तर नहीं आयगा।

इन प्रस्तावो को लेकर श्रीमती भण्डारनायके चीन गयी, उनसे सलाह मशवरा लेकर आफोरी आता तथा अली साबरी के साथ नयी दिल्ली आयीं। यद्यपि ये प्रस्ताव चीन के 24 अक्टूबर के प्रस्तावों से मिलते-जुलते थे जो भारत के लिए अपमानजनक थे फिर भी शान्ति-स्थापना के नाम पर पं० नेहरू ने 23 दिसम्बर को इनकी स्वीकृति दे दी। इन प्रस्तावों की साम्यवादियों ने प्रशंसा की पर जनसघ एवं समाजवादी पार्टी ने घोर विरोध किया। एस० एन० द्विवेदी (समाजवादी पार्टी के नेता) ने कहा कि "चीन ने भारत पर आक्रमण करके, भारत के साथ विश्वासघात किया है। हम कोलम्बो प्रस्ताव स्वीकार करके भारत की जनता के साथ विश्वासघात कर रहे हैं।"

चीन ने उक्त प्रस्तावों को केवल "सैद्धान्तिक स्वीकृति" दी उन्हे क्रियान्वित करने को वह तैयार न था। वह न पश्चिम मे लद्दाख मे पीछे हटना चाहता था और न पूर्व मे नेफा में हटना चाहता था। वह पं० नेहरू से सीधी वार्ता कर सीमा विवाद को शान्त करना चाहता था पर पं० नेहरु कोलम्बो प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद ही वार्ता करना चाहते थे। इन प्रस्तावों की चीन ने कभी घोषणा न की। आज तक चीन सीमा-विवाद तय न हो सका। हजारों वर्ग भूमि आज भी चीन के अधिकार में है।

1965 के पाक-भारत युद्ध में चीन की नीति
(China's Policy towards Indo-Pak War 1965)

1962 में चीन की विजय से पाकिस्तान को बड़ी प्रसन्नता मिली थी। दोनों देश एक-दूसरे के निकट आ गये थे। 1963 में दोनों का सीमा विवाद एक सन्धि द्वारा तय हो गया था।

यद्यपि भारत की उत्तरी सीमा पर चीन सदैव गड़बड़ी करता रहा। अनेक स्थलों पर उसने भारतीय सीमा का अतिक्रमण किया पर भारतीय सीमा का अब अच्छा प्रबन्ध हो चुका था अतः वह कोई भारी आक्रमण न कर सका। 1968 में विदेशमन्त्री श्री छागला ने कहा था कि "हम चीन के साथ बातचीत करने को तैयार हैं बशर्ते चीन इसके प्रति जरा भी उत्सुक हो।" प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने भी इच्छा व्यक्त की कि हम चीन से वार्ता करने को इच्छुक है। 1969 मे 'वाशिंगटन पोस्ट' को एक मुलाकात में श्रीमती गांधी ने कहा कि चीन एक महान देश है और भारत उससे प्रतिस्पर्द्धा करने का कोई इरादा नही रखता है। चीन को खुश करने के भारत के सभी प्रयत्न फेल हुए। अप्रैल 1949 में चीन के उपराष्ट्रपति लिनपियो ने साम्यवादी दल के सम्मेलन पर पुराने प्रहार पुनः किये।

1970 के मई दिवस पर जब माओ ने भारतीय अधिकारी से हाथ मिलाया भारत की कांग्रेसी सरकार खुशी से नाच उठी। माओ ने कहा "भारत एक महान देश है। चीन और भारत को फिर से मित्र हो जाना चाहिए।" माओ की मुस्कान का भारत मे स्वागत हुआ। उन मुस्कानो का दौर प्रारम्भ ही हुआ था कि पाक-भारत युद्ध प्रारम्भ हो गया।

बंगला देश की स्वतन्त्रता और चीन—पाकिस्तान का निर्माण साम्प्रदायिक आधार पर हुआ था पर धर्म या जाति के आधार पर राष्ट्रों में एकता होना आवश्यक नहीं। पाकिस्तान के दो अंग—पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान में प्रारम्भ से ही तनातनी चल रही थी। पश्चिमी पाकिस्तान ने पूर्वी पाकिस्तान को गुलाम बना रखा था और उसका लगातार शोषण कर रहा था। मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व मे पूर्वी पाकिस्तान या बंगला देश ने 1971 मे विद्रोह कर दिया। पाकिस्तान ने सेना द्वारा उसे कुचलना चाहा पर ज्यों-ज्यो सेना के अत्याचार बढ़े विद्रोह भी उतनी ही गति से बढ़ा। मुजीब को 25-26 मार्च 1971 की रात्रि को पकड़ लिया गया। इससे बंगालियों ने भी शस्त्र सम्भाल लिए और गोरिल्ला युद्ध प्रारम्भ कर दिया। 30 लाख बंगाली काट डाले गये पर स्वतन्त्रता-संग्राम और तेज हो गया। चूंकि भारत मे पाकिस्तानी अत्याचारों से तंग आकर 1 करोड़ शरणार्थी आ गये थे और भारत की आर्थिक दशा को 'बद से बदतर" बना रहे थे अत. भारत ने विश्व के लोगों से अपील की कि बंगला देश में हो रहे कत्लेआम को बन्द करायें, कोई राजनीतिक हल निकलवायें तथा शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करायें ताकि भारत पर शरणार्थियो का बोझ कम हो। इस अपील पर पाकिस्तान तथा उसके मित्र चीन एवं अमेरिका चिल्लाने लगे कि भारत पाकिस्तान के घरेलू मामलों मे हस्तक्षेप कर रहा है। 11 अप्रैल 1971 को चीन के समाचार पत्र 'पीपुल्स डेली' ने लिखा कि "कुछ समय से पाकिस्तान के बार-बार सख्त विरोध की उपेक्षा करते हुए भारत सरकार ने पाकिस्तान के आन्तरिक मामलों में अधिकतम हस्तक्षेप किया है।"

पाकिस्तान के याह्याखां ने बंगला देश के विषय मे चीन का समर्थन मांगा तो 11 अप्रैल, 1971 को चाऊ एन लाई ने लिखा........"चीन सरकार में आपका जो विश्वास है उसके लिए मैं कृतज्ञ हूं। चीन और पाकिस्तान मित्रतापूर्ण पड़ोसी हैं। हमारे विचार से पाकिस्तान की एकता तथा पूर्वी पाकिस्तान एवं पश्चिमी पाकिस्तान की समृद्धि तथा शक्ति की बुनियादी शर्तें हैं........तथा हम यह भी अनुभव करते हैं कि कुछ दिनों से भारत सरकार आपके देश के आन्तरिक मामलों का अनुचित लाभ उठा रही है तथा आपके आन्तरिक मामलों मे अत्यधिक हस्तक्षेप कर रही है............मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यदि भारतीय विस्तारवादियों ने पाकिस्तान के विरुद्ध आक्रमण करने का साहस किया, तो चीनी सरकार तथा जनता पाकिस्तान की सरकार तथा जनता को उसकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा सम्प्रभुता की रक्षा करने की दृढ़तापूर्वक समर्थन देगी।

इमी समय चीन ने पाकिस्तान को सात करोड़ डालर का ऋण दिया। पर जब भारत और रूस की 9 अगस्त, 1971 की संधि का समाचार चीन को मिला तो वह और भी बौखला गया और भारत के विरुद्ध विषैला प्रचार किया। दूसरी ओर अमेरिका भी भारत को धमकी दे रहा था। इन बातों से उत्साहित होकर पाकिस्तान ने 3 दिसम्बर को भारत पर आक्रमण कर दिया। पाक-भारत युद्ध चल पड़ा। चीन बराबर भारत को धमकियाँ देता रहा और पाकिस्तान को आश्वासन देता रहा कि घबड़ाना नहीं, चीन उसकी सहायता को आ रहा है पर रूस के भय से वह आगे नहीं बढ़ा और पाकिस्तान को बुरी तरह हार खानी पड़ी। 16 दिसम्बर, 1971 को बंगला देश स्वतन्त्र हो गया अर्थात पाकिस्तान का बँटवारा हो गया।

बाद में भी चीन भारत को गालियाँ देता रहा। बंगला देश को मान्यता देने से इन्कार करता रहा तथा सं० रा० संघ के अन्दर उसके प्रवेश को रोकता रहा। इतनी शत्रुता होने पर भी भारत चीन के स० रा० संघ के प्रवेश के लिए चीन का समर्थन करता रहा।

चीन के रुख में परिवर्तन—भारत चीन से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता ही रहा। 1975 मे टेबुल-टेनिस की प्रतियोगिता कलकत्ते मे हुई। चीन ने भी उसमे भाग लिया। यह प्रतियोगिता 11 फरवरी, 1975 को समाप्त हो गयी पर चीनी खिलाड़ियों का दल भारत में 28 फरवरी, तक रहा। उनका भारत मे अच्छा स्वागत-सत्कार हुआ। चीनी खिलाड़ी नेता ने यह आशा व्यक्त की कि भारत और चीन में शीघ्र ही अच्छे सम्बन्ध स्थापित होंगे।

22 फरवरी, 1975 को चीन के उपप्रधानमन्त्री नेपाल जाते हुए कलकत्ते मे रुके। उन्होंने पत्रकारों से कहा कि "अन्ततः भारत और चीन के सम्बन्ध निश्चित रूप से मधुर हो जायेंगे। भारत और रूस की दोस्ती इसके मार्ग मे बाधक नहीं बनेगी।"

आपातकालीन भारत और चीन—भारत ने 26 जून 1975 को आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी। चीन ने इसकी बडी आलोचना की। 'पीपुल्स डेली' ने एक लेख मे कहा कि "भारत ने अपने आपको सोवियत सशोधनवादी, समाजवादी, साम्राज्यवादी की गोद मे फेंक दिया है।" भारत ने इसकी चिन्ता न की क्योंकि रूस ने भारत के इस कार्य का समर्थन किया। इस पर चीन ने नाराज होकर 1 नवम्बर, 1975 को भारत के पूर्वी क्षेत्र मे अतिक्रमण किया। दोनो देशों के सम्बन्ध फिर तनावपूर्ण बन गये।

भारत ने पुनः भारतीय कूटनीतिज्ञ एल० एल० मल्होत्रा के माध्यम से चीन से पुनः सम्बन्ध सुधारने का प्रयत्न किया। 1962 से दोनो देशों मे दौत्य सम्बन्ध टूट गये थे। भारत ने पुनः एक तरफा कार्यवाही करने का विचार किया। इसी बीच चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ एन लाई का जनवरी 1976 में निधन हो गया। चीन मे पुनः क्रान्ति के चिन्ह उभरे पर भारत ने जुलाई 1976 मे श्री के० आर० नारायण को भारत का राजदूत बनाकर चीन भेजा। उसके बदले मे भारत मे 8 सितम्बर 1976 को चीनी राजदूत भी आ गये। दोनो देशों मे दौत्य सम्बन्ध स्थापित हो गये।

9 सितम्बर को माउत्सेतुंग का निधन हो गया। उनके स्थान पर हुआ कुओफेंग चीन के राष्ट्रपति बने। पर उस समय से अभी तक चीन में लगातार ग्रह युद्ध चल रहा है। मार्च 1977 मे भारत मे नये चुनाव मे कांग्रेस का तख्ता उलट गया। जनता पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ। श्रीमती गांधी 22 मार्च को त्यागपत्र देकर प्रधानमन्त्री पद से हट गयी। 28 मार्च, 1977 को श्री मोरारजी देसाई नये प्रधानमन्त्री हुए। चीन और भारत के नेतृत्व मे परिवर्तन आया है। दोनों देशो के मध्य कैसा सम्बन्ध रहे यह भविष्य ही बतायेगा। वैसे भारत के विदेशमन्त्री पण्डित अटल बिहारी वाजपेयी हुए है। वे सभी देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध सुधारने के पक्ष में हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत की विदेश नीति के विकास का संक्षिप्त विवेचन कीजिए ।
   Discuss the evolution of the foregin policy of India.
2. ब्रिटिश काल में भारत की विदेश नीति क्या रही ? क्या वह भारत के हित में था ? विवेचना कीजिए ।
   What was the foreign policy of India during British rule ? Was it in favour of India ? Discuss.
3. ब्रूसेल्स सम्मेलन 1922 पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए । उनका भारत की विदेश नीति पर पड़ने वाले प्रभाव का भी उल्लेख कीजिए ।
   Write a short-note on Brussels Conference of 1922 ? Describe its effect on the foreign policy of India ?
4. 1927 से 1947 तक के काल की कांग्रेस की विदेश नीति क्या रही ? वह भारत की विदेशी सरकार की विदेश नीति से किस प्रकार भिन्न थी ? बताइये ।
   What was the foreign policy of congress form 1927 to 1947 ? How was it different from foreign Government of India's foreign policy ? Discuss.
5. परतन्त्र भारत में भारत और चीन के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए ।
   Describe the relations of India with China.
6. भारतीय असंलग्नता की नीति की जड़े राष्ट्रीय आन्दोलन में छिपी थी । विवेचना कीजिए ।
   The roots of the policy of Non-alignment can be traced in Indian national movement. Discuss.
7. भारत की विदेश नीति के मुख्य निर्धारक तत्वों की विवेचना कीजिए ।
   Discuss the various determinants of India's foreign policy.
8. भारतीय विदेश नीति के मुख्य सिद्धान्तो का समीक्षात्मक वर्णन कीजिए ।
   Discuss critically the main principles of India's foreign policy.
9. असंलग्नता की नीति का क्या अर्थ है ? उसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
   What is non-alignment ? Give its chief features.
10. भारतीय विदेश नीति असंलग्नता की नीति है तटस्थता की नीति नहीं । इस नीति का क्या औचित्य है । विवेचना कीजिए ।
    The Indian foreign policy is of no-alignment not of neutrality. What is the justification of accepting this policy by India ? Discuss.
11. असंलग्नता की नीति के विभिन्न कालों का वर्णन कीजिए । क्या यह कहना सही है कि 1947 से 1961 तक का काल भारत की विदेश नीति का स्वर्ण युग था ।" आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।
    Describe the various periods of Non-alignment policy. Is it true to say that the period between 1947 and 1971 was the golden period of India's Foreign Policy." Explain critically.
12. "भारत की विदेश नीति राष्ट्रीय हितों का संवर्धन करने में सफल रही ।" विवेचना कीजिए ।
    "The foreign policy of India has succeeded in promoting the national interest ? Discuss.
13. "असंलग्नता का सिद्धान्त अब पुराना पड़ गया है ।" इस कथन की विवेचना कीजिये ?
    "Non-alignment has become out dated." Describe.
14. क्या श्रीमती इन्दिरा की विदेश नीति प० नेहरू की विदेश नीति से भिन्न थी ? इस कथन की विवेचना करते हुए श्रीमती गान्धी की विदेश नीति का वर्णन कीजिए ।

Was Mis. Gandhi's foreign policy different from Pt. Nehru's policy ? Discuss this question and describe Mrs. Gandhi's foreign policy.

15. सं० रा० सं० का क्या उद्देश्य है ? इस उद्देश्य की प्राप्ति मे भारत कहाँ तक सहायक होता है ?
What is the main aim of U. N. O. What is the contribution of India in the achievement of this aim ?

•16. भारत और अमेरिका के सम्बन्धों का सक्षेप से वर्णन कीजिए ।
Discuss in brief the Indo. U S. relations.

17. नेहरू युग के समय भारत की सं० रा० अमेरिका के प्रति क्या विदेश नीति थी । क्या कैनेडी के काल को भारत अमेरिका सम्बन्धों का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है ?
What was India's foreign policy towards U. S A. in Nehru Period ? Can the Kennedy period be called the 'Golden Period in American relation ?

18. "काश्मीर के सम्बन्ध मे अमेरिका की नीति सदैव भारत विरोधी रही ।" इस कथन की विवेचना कीजिए ।
'The American policy on Kashmir has always been anti-Indian. Discuss this statement.

19. क्या निक्सन एव डलेस भारत के विरुद्ध थे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उदाहरण प्रस्तुत कीजिए ।
Were Nioxn and Dulles anti-India ? Give the answer with examples.

20. 1965 एव 1971 के पाक-भारत युद्धो के प्रति अमेरिका का क्या रुख रहा ? उसका क्या प्रभाव पड़ा ?
What was the attitude of U. S. A. towards the Indo-Pak war of 1965 and 1971 ? What was its effect ?

21. स्टालिन के काल में भारत और रूस के क्या सम्बन्ध रहे ? विवेचना कीजिए ।
What were the relation of India and Soviet Union during Stalin's period ? Discuss.

22. ख्रुश्चेव वास्तव में भारत का मित्र था । उसके काल मे भारत रूस समीपता के क्या कारण थे ।"
Khruschev was a real friend of India. What were the causes of Indo-Soviet closeness in his period ?

23. "ताशकन्द समझौता भारत के पक्ष में न होकर पाकिस्तान के पक्ष मे था ।" इस कथन की विवेचना कीजिए और बताइये कि रूस ने पाकिस्तान का क्यों साथ दिया ?
The Tabkant Agreement was not in favour of India but it was in favour of Pakistan. Explaining this statement state why Russia favoored Pakistan.

24. आप 9 अगस्त 1971 के भारत-रूस समझौतों के विषय में क्या जानते हैं ? वह किन परिस्थितियों मे हुआ और उसका क्या प्रभाव पड़ा ?
What do you know about Indo-Russia Agreement of 9th August 1971 ? What circumstances compelled it to come at ? What was the effect of this Pact ?

25. भारत के आपातकाल की घोषणा का रूस ने क्यों समर्थन किया ? उसका भारत की विदेश नीति पर क्या प्रभाव पड़ा ? क्या श्रीमती इन्दिरा गांधी का पतन इस सम्‌ विवेचना कीजिए ।

Why did Russia support the declaration of Emergency in India ? What was its effect on Foreign Policy of India ? Is the support of Russia the main cause of Indra Gandhi's down fall ? Discuss.

26. पाकिस्तान के निर्माण की कहानी संक्षिप्त में लिखिए। भारत का बंटवारा एक भूल थी ? सिद्ध कीजिए।
Write in short the story of foundation of Pakistan. Division of Bharat was a blunder. Discuss.
27. शरणार्थियों की समस्या और वित्तीय प्रश्नों ने भारत-पाक सम्बन्धों को और बिगाड़ दिया। विवेचना कीजिए।
The refugee problem and the financial problem further spoiled the Indo-Pak relations. Discuss.
28. जूनागढ़ एवं हैदराबाद का भारत में कैसे विलय हुआ ? पाकिस्तान ने इसमें क्या रोड़ा अटकाया ?
How were Junagarh and Hyderabad annexed to India. ? What obstacles did Pakistan stand in tackling this problem.
29. भारत और पाकिस्तान के मध्य संघर्षों का मुख्य कारण काश्मीर है। विश्लेषण कीजिए :
The main cause of conflict between India and Pakistan is Kashmir." Analyse.
30. कच्छ विवाद क्या था ? इस विवाद का समाधान किस प्रकार हुआ ?
What was Katch Dispute ? How was the dispute settled ?
31. ताशकन्द समझौता सोवियत रूस की कूटनीतिक विजय थी ? भारत ने जो युद्ध क्षेत्र में जीता उसे मेज पर हार गया। विवेचना कीजिए।
Tashant Agreement was a diplomatic victory for Soviet Russia. India lost all on the tabele which she won in the battlefield. Discuss.
32. भारत-पाक नहरी विवाद एवं उसके समझौते का वर्णन कीजिए।
Describe the Indo-Pak Canal waters dispute and the agreement.
33. बंगला देश के स्वतन्त्रता संग्राम के क्या कारण थे ? बंगला देश को पाकिस्तान क्यों स्वतन्त्र करने पर मजबूर हुआ। लिखिए।
What were the causes of Bangla Desh independence movement ? How was Pakistan compelled to free Bangla Desh ?
34. शिमला समझौता एवं दिल्ली समझौते ने भारत-पाक के बिगड़े सम्बन्ध सुधार दिये। विवेचना कीजिए।
Simla Agreement and Delhi Agreement have made Indo-Pak relations sweet. Discuss.
35. भारत-चीन सम्बन्धों मे तिब्बत की समस्या ने क्या भेद डाला ?
What difference was created by Tibet Problem in Indo-China relation.
36. पंचशील के सिद्धान्त पर हस्ताक्षर कर चीन ने भारत को धोका दिया।
China cheated India by signing on Panchsheel.
37. भारत पर 1952 मे चीन ने क्यों आक्रमण किया और एक तरफा युद्ध विराम घोषित क्यों किया ?
Why did China attack India in 1962 and why she declared ceasefire one-sidedly.

38. चीन-भारत युद्ध में भारत की पराजय के कारणों पर प्रकाश डालिए तथा यह भी बताइये कि इस पराजय के कौन दोषी थे ?
Analyse the causes of Indian defeat in the Sino-Indian War. Also point out the guilty men of 1962.
39. 1965 के भारत-पाक-युद्ध मे भारत के प्रति चीन की क्या नीति रही ?
What was the Chinese policy towards India, during the 1965 Indo-Pak War ?
40. बंगला देश के संघर्ष के समय और 1971 के भारत-पाक युद्ध में चीन की क्या नीति रही ? वह पाकिस्तान की सहायता क्यों न कर सका ?
What was the Chinese policy towards Bangla Desh crisis and Indo Pak War 1971." Why could China not give help to Pakistan ?

2

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अमेरिका की विदेश नीति
(Foreign Policy of U. S. A after Second World War)

'वस्तु स्थिति के बारे में कोई भी इतना अधिक नासमझ नहीं है, जितना कि अमेरिका, जो यह चाहता है कि सारा एशिया और अफ्रीका उसे "यस सर" करता रहे और यदि वे "नहीं करे" तो बहुत दुःखी होता है।"

—चेस्टर बोल्स

"America could safely afford isolationalism after 1920, for the defect of the central powers was followed by a new balance of power in Europe and Asia. America could not safely afford isolationalism after 1945, for the defeat of Triplice war followed by a new hegemony of Communist powers over Europe and Asia."

—Schuman

ट्रूमैन सिद्धान्त
(Truman Doctrine)

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेशी नीति मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। प्रथम विश्व-युद्ध में अमेरिका विश्व राजनीति मे कुछ समय के लिए सम्मिलित हुआ और 1920 के बाद वह पुरानी नीति पार्थक्यवाद को अपनाने लगा था पर द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद वह ऐसा न कर सका। विश्व की परिस्थितियों ने उसे पार्थक्यवादी नीति को सदैव के लिए त्यागने पर विवश कर दिया। उसका विशेष कारण था सोवियत रूस का एक महान शक्ति के रूप मे प्रकट होना। अमेरिका में इसे "अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद से खतरे" की संज्ञा दी गयी। सोवियत रूस चाहता था समस्त विश्व मे साम्यवाद का प्रचार और प्रसार हो और पूँजीवादी व्यवस्था का संसार से बहिष्कार हो। अमेरिका स्वय एक पूँजीवादी देश था और साम्यवादी व्यवस्था उसके लिये एक खुली चुनौती थी। द्वितीय विश्व-युद्ध मे पूर्वी यूरोप के राज्यों पर रूस का लौह-पंजा रखा जा चुका था एवं पश्चिमी यूरोप के लिए एक खतरा पैदा हो गया था। द्वितीय विश्व-युद्ध मे इंगलैण्ड की शक्ति के ह्रास से संयुक्त राज्य अमेरिका की रक्षा-दीवार का स्वस्थ होना उसके अस्तित्व के लिए खतरा बन गया। साम्यवाद के प्रसार को यूरोप मे ही रोकना था ताकि वह अमेरिका तक न पहुँच सके। यूरोप की रक्षा का अर्थ था संयुक्त राज्य अमेरिका की रक्षा। एक अमेरिकन सीनेट के सदस्य जार्ज अर्ल ने कहा था कि "सोवियत रूस नाजियों से भी अधिक खतरनाक है, संयुक्त राज्य को अपनी रक्षा के लिए तैयार हो जाना चाहिए और रूस के प्रत्येक ग्राम एवं नगर को नष्ट कर देना चाहिए।" कहने का अर्थ यह है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद के विरुद्ध जेहाद (धर्म-युद्ध) छेड़ना चाहता था और यूरोप में ही घेर कर

(स) इटली, हंगरी, रूमानिया, बल्गेरिया तथा फिनलैण्ड के साथ शान्तिपूर्ण सन्धियों का प्रश्न।

(द) संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसमें रूस द्वारा 'वीटो' का प्रयोग का प्रश्न। तथा

(घ) ईरान टर्की और यूनान में रूसी महत्त्वाकाक्षांओं का प्रश्न।

अब ट्रूमैन केवल सहयोग पर ही अपनी विदेश नीति आधारित नहीं करना चाहते थे, बल्कि साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए टर्की, यूनान आदि देशों की आर्थिक सहायता भी करना चाहते थे। ट्रूमैन के सिद्धान्त को अध्ययन करने से पूर्व हमे ट्रूमैन सिद्धान्त की आवश्यकता को भी समझ लेना चाहिए।

ट्रूमैन सिद्धान्त की आवश्यकता

(1) यूनान की समस्या यूनान मे दो राजनीतिक दल थे—एक साम्यवादी समर्थक (E. A M.) तथा दूसरा राजतन्त्रवादी (E D. E. S)। युद्ध के दौरान के प्रथम दल को पर्याप्त समर्थन मिला था। ब्रिटेन यह नहीं चाहता था कि यूनान मे साम्यवादियों की शक्ति बढ़े क्योंकि उसके व्यापक साम्राज्य को साम्यवादियों की शक्ति के बढ़ने से खतरा पैदा हो सकता था। 1944 में एक समझौता ब्रिटेन का रूस से हुआ था जिसमें रूस ने यूनान को ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत मान लिया था। इतने पर भी समझौते में ब्रिटेन ने वचन दिया था कि वह यूनान के घरेलू मामलों मे हस्तक्षेप न करेगा। ब्रिटेन ने यह वचन भंग कर यूनान में हस्तक्षेप किया और राजतन्त्रवादी दल को चुनाव जिता दिया और साथ मे इस दल की सहायता साम्यवादियो के कुचलने मे भी की थी। साम्यवादी भागे-भागकर पहाड़ो पर जा छिपे थे। रूस साम्यवादी पार्टी को सहायता दे रहा था।

1946 में यूनान में सुरक्षा परिषद में शिकायत की कि विदेशी साम्यवादियों द्वारा यह प्रयत्न किया जा रहा है कि उसके शासन को उखाड़ फेंका जाये। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात ब्रिटेन की आर्थिक दशा डांवाडोल हो गयी थी अतः वह यूनान मे अपनी सेनाओं को रखने मे असमर्थ था। उसने अमेरिका को सूचित किया था कि वह द्वितीय वर्ष की समाप्ति तक 5 सप्ताह के अन्दर यूनान से अपनी सेना हटा लेगा। अमेरिका जानता था कि ब्रिटिश सेना के हटते ही यूनान में साम्यवादी प्रभाव छा जायगा। अकेसन तथा मार्शल ने कहा था कि "यूनान यदि हाथ से निकल गया तो टर्की के टापू की रक्षा करना सम्भव न होगा।" ऐसी अवस्था में ट्रूमैन के सामने यह प्रश्न था कि उसे इस विषय मे कुछ करना आवश्यक है।

(2) टर्की की समस्या—काले सागर को भूमध्यसागर से जोड़ने वाले बासफोरस तथा दर्रे दानियाल जलडमरू मध्य पर टर्की का अधिकार था। रूस की निगाह उस पर लगी थी और वह उसे हथियाना चाहता था। यदि रूस का अधिकार इस क्षेत्र पर हो जाता तो उसकी नौसेना शक्ति बढ जाती और वह पश्चिमी व्यापार पर भी प्रभाव डाल सकता। 1936 मे मान्त्रो के समझौते में तुर्की ने यह वादा किया था कि वह जल डमरू मध्य से सभी देशों के जहाजों को गुजरने देगा। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान इस समझौते का पालन होता रहा पर युद्ध के समाप्त होते ही रूस ने तुर्की के सामने 7 अगस्त 1946 को कुछ प्रस्ताव रखे—(i) वे युद्ध और शान्ति काल में सब देशों के लिए खुले रहेंगे, (ii) काले सागर की शक्तियों के युद्धपोतों के लिए वे सदैव खुले रहेगे (iii) विशेष अवस्थाओं को छोड़कर कृष्ण सागर से भिन्न शक्तियों के युद्ध-पोत गुजर सकेंगे, (iv) इनका शासन प्रबन्ध टर्की व कृष्ण सागर की अन्य सभी शक्तियों के हाथ मे होगा, तथा (v) इनकी रक्षा रूस और टर्की के सामान्य साधनों से होना चाहिए।

वाशिंगटन के परामर्श से टर्की ने रूस के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया था। टर्की को भय था कि रूस के सामने वह ठहर न सकेगा अतः अपने सैनिक तैयारी के लिए उसे अमेरिका से आर्थिक सहायता माँगी। ट्रूमैन ने यूनान की तरह तुर्की को आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया।

(3) ईरान की समस्या—द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन की सेनायें दक्षिणी ईरान में तथा रूस की सेनायें उत्तरी ईरान मे घुस गई थी। दोनों देशों ने वचन दिया था कि युद्ध के बाद 6 महीने के अन्दर वे अपनी सेनायें हटा लेंगे। 2 मार्च 1946 को सभी देशो ने अपनी सेनायें हटाने का निश्चय किया पर रूस ने साफ इन्कार कर दिया। यह मामला सुरक्षा परिषद मे पहुँचा। वहाँ भी कुछ निर्णय न हो सका। अन्त मे रूस और ईरान में अप्रैल 1946 मे एक समझौता हो गया कि रूस की सेनायें मई 1946 तक हट जायेंगी। रूस ने ईरानी क्षेत्र खाली कर भी दिया पर ट्रूमैन को शका बनी रही।

उपर्युक्त कारणों से ट्रूमैन के सिद्धान्त की रचना हुई। 12 मार्च 1947 को अपना ऐतिहासिक भाषण देते हुए राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। राष्ट्रपति ने कहा कि 'यूनानी सरकार की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त करने हेतु अपील प्राप्त हुई है।"

राष्ट्रपति ने अपने भाषण मे आगे कहा कि "इस समय यूनानी राज्य का अस्तित्व साम्यवादियों की कार्यवाही के कारण सकट में पड़ गया है"""अमेरिका अवश्य ही उसकी सहायता करेगा।" राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह भी कहा कि यदि हम यूनान तथा टर्की की सहायता इस संकटकाल में न कर सके तो इनको प्रभाव पूर्व एव पश्चिम मे भी पड़ेगा।"

राष्ट्रपति ट्रूमैन ने आगे कहा कि "दरिद्रता एवं अभाव ही साम्यवाद की जड़ है। निर्धनता तथा कलह का भूमि साम्यवाद के लिए उपयुक्त होती है। मनुष्य को जब अच्छे जीवन से निराशा मिलती है तब वह साम्यवाद की ओर झुकता है। हमें मनुष्य हेतु अच्छे जीवन की आशा को जीवित रखना चाहिये।"[1]

इस प्रकार साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद का श्रीगणेश ट्रूमैन ने किया। उन्होने यूनान को तथा टर्की को क्रमशः 25 करोड़ एव 15 करोड डालर की सहायता कर उन्हें साम्यवाद विरोधी बनाया। उन्होने साम्यवाद को बढ़ने से रोकने के लिए संसार के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रयत्न किया।

ट्रूमैन के सिद्धान्त का परिणाम—ट्रूमैन के सिद्धान्त ने अमेरिकन विदेश नीति को बदल दिया इसके परिणाम विश्व राजनीति में भिन्न प्रकार के पड़े। उनमे से मुख्य निम्नलिखित है :

(1) पार्थक्यवाद का अन्त—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ट्रूमैन सिद्धान्त ने 150 वर्ष पुराने पार्थक्यवादी नीति का अन्त कर दिया। अब तो अमेरिकन विश्व की राजनीतिक घटना को दूर से खड़े नहीं देखते थे बल्कि कहते थे 'तमाशा घुसकर देखेंगे।' राष्ट्रपति विल्सन भी घुसकर तमाशा देखने वालों मे था पर अमेरिकनो ने उसका साथ नहीं दिया। राष्ट्रसघ मे प्रवेश नही किया। पर 25 वर्ष बाद अमेरिकनो ने सयुक्त राष्ट्र संघ को अपनी राजनीतिक गतिविधियों का अड्डा बना लिया है। साम्यवाद का भय उन्हें इतना अधिक सताता है कि विश्व की कोई घटना हो, वह उसे साम्यवाद से सम्बन्धित कर देता है।

(2) विश्व नेतृत्व का प्रश्न—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन के हाथ से विश्व का नेतृत्व जाता रहा। वह दूसरे नम्बर की शक्ति रह गया। अमेरिका चाहता था कि उस स्थान को वह स्वयं प्राप्त करे पर दूसरी ओर रूस का भी यही प्रयत्न था कि वह विश्व का नेतृत्व स्वयं सम्भाले। उसके प्रभाव को देशों मे हटाना ही ट्रूमैन सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य है। रूस ने उसमे

---

1 "The seeds of totalitarian regimes are nurtured by misery and wan spread and grow is evil soil of poverty and strive. They seach th growth when the hope of the people for a better life has died. W keep that hope alive."

बाधा डाली अतः दोनों देशों में विश्व नेतृत्व के लिए प्रतिस्पर्धा चल पड़ी। इन दोनों देशों की प्रतिस्पर्धा ने विश्व की राजनीति में उथल-पुथल मचा दी।

(3) **शीत युद्ध का प्रारम्भ**—साम्यवाद का विरोध करना ही ट्रूमैन के सिद्धान्त का लक्ष्य था। रूस ही क्यों पीछे रहता। उसने भी अमेरिका या अमेरिका के साथियों के विरुद्ध घोर प्रचार प्रारम्भ कर दिया। यह प्रचार ही दोनों देशों में शीत युद्ध का कारण बना हुआ है। विश्व की कोई भी छोटी से छोटी घटना हो, दोनों देश उसमें हस्तक्षेप के लिए कूद पड़ते हैं और एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाना प्रारम्भ करते हैं। एक-दूसरे को विश्व मे बदनाम करना तथा नीचा दिखाना ही उनका काम रह गया है।

अखिल अमेरिकनवाद
(Pan-Americanism)

अमेरिका प्रारम्भ में एक छोटा देश था पर पुरानी दुनिया से दूर रहने के कारण तथा दुनिया की घटनाओं से पूर्ण उपेक्षा के कारण उसे उन्नति का अवसर मिला। उसने अपनी राजनीतिक शक्ति एव आर्थिक शक्ति का विकास किया। अमेरिका में ही विस्तार की काफी गुंजाइश थी अतः उसने नये-नये राज्य स्थापित किये और विश्व व्यापार को बढ़ाया। 50 वर्षों मे ही उसकी गिनती बडे और समृद्धशाली राज्यों में होने लगी। संसार में युद्ध छिड़ते अमेरिकन व्यापारियो को खुशी होती क्योंकि दोनों पक्षों को वह युद्ध सामग्री तथा अन्य आवश्यकता की चीजें बेचता एवं मालामाल होता।

1600 ई० से ही इंगलैण्ड की जलशक्ति बढ़ी हुई थी। प्रारम्भ मे अमेरिका और इंगलैण्ड में तनातनी रही पर मुनरो काल में दोनों देशों में अटूट मित्रता कायम हो गयी। अमेरिका को 1939 तक आत्म सुरक्षा की चिन्ता नहीं थी। यूरोप मे नाजीवाद एवं फासीवाद को पहले तो पश्चिमी शक्तियो ने उभरने का अवसर दिया क्योंकि 1917 से ही वे साम्यवाद से खौफ खाये हुए थीं। उन्हें विश्वास था कि नाजीवाद और फासीवाद रूस को चारों ओर से घेरकर खतम कर देंगे पर जब नाजीवाद एवं फासीवाद ने पश्चिमी शक्तियो को धर दबोचा तो वह दौड़ पड़ा। उस समय उसने यह भी ध्यान नहीं किया कि वह साम्यवादी रूस को मित्र बना रहा है जिसके भय से यूरोप तो परेशान ही था पर अमेरिका भी शान्त निद्रा से चौंक पड़ता था। द्वितीय विश्व युद्ध मे इंगलैण्ड तथा अन्य मित्र देशो को तो उसने बचा लिया पर उनकी दशा ऐसी थी कि उनकी रक्षा के बिना व्यवस्था किये उनका अन्त हो सकता था। दूसरी ओर अमेरिका एवं मित्र देशो का माल खा-खाकर रूसी भालू इतना अधिक सशक्त हो गया कि यदि अमेरिका पश्चिमी यूरोप को छोड़ देता तो रूस अल्पकाल में ही पूरे यूरोप का रक्त पी जाता और फिर अमेरिका की गर्दन पर सवार हो जाता।

द्वितीय विश्व युद्ध में भाग लेकर अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप की भारी चक्की को गले में ही नहीं लटकाया बल्कि विश्व की समस्याओ को भी पल्ले से बाँध लिया। "क्या है इलाज खुद करदन।" अमेरिका की दशा उस समय जैसी हो गयी जिसने धोखे से छछुन्दर को पकड़ लिया था, यदि वह उसे खाता तो अन्धा हो जाता और यदि छोड़ता तो कोढ़ी हो जाता।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के लक्ष्य चार्ल्स मूलीचर के अनुसार तीन रहे—"(1) सहयोग एवं अनुकूलन की नीति (2) रूस के साथ धैर्य एवं कठोरता की नीति तथा (3) शीत-युद्ध तथा साम्यवाद को सीमित करने सम्बन्धी नीति।" पामर एवं पार्किन्स ने अमेरिकन विदेश नीति के 4 भाग किये हैं—"(1) हनीमून काल (2) नवीन यात्रा काल (3) साम्यवाद से रक्षा का काल तथा (4) समझौता काल।"

हम सुविधा की दृष्टि से अमेरिकन विदेश नीति को 5 कालों में बांटकर उनका पृथक-पृथक अध्ययन एवं विवेचना करेंगे।

(1) सुखद रात्रिकाल (Honeymoon Period)—इस काल को सहयोग एवं आनुकूलन" (Cooperation and Accomodation) का काल भी कहा जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में 1941 से अमेरिका और रूस मे बड़ा सहयोग रहा। 1945 में याल्टा सम्मेलन मे भी रूस ने पूर्ण सहयोग का परिचय दिया था। सानफ्रांसिस्को सम्मेलन मे भी दोनों देशों में पूर्ण सहयोग रहा। जर्मनी तथा जापान से सन्धि करते समय भी सहयोग का वातावरण बना रहा। अमेरिका को यह आशा हुई कि अब रूस और अमेरिका में सदा सहयोग रहेगा। इस आशा से विश्व के प्रति दोनो ने सहयोग की नीति निर्धारित करते हुए यूरोप के अनेक देशों से अपनी-अपनी सेनायें हटानी प्रारम्भ कीं। विदेशी सेनायें हटते ही चीन में राष्ट्रवादी एवं साम्यवादी झगड पडे। दोनो देशों ने उनमें सन्धि कराने का प्रयत्न किया। 28 अक्टूबर 1945 को ट्रूमैन ने 12 सूत्र प्रकाशित किये। उनमें जहाँ उन्होंने सक्रियता की नीति पालन करने का उल्लेख किया था वहाँ साम्यवाद के विरुद्ध संकेत नहीं दिया था।

यह सहयोग का काल मई 1945 से अगस्त 1946 तक चला। इसके बाद रूस ने अपना रुख बदल दिया। उसने सहयोग के स्थान पर अड़ंगेबाजी की नीति अपनाना प्रारम्भ कर दिया। पुराने समझौतों को मानने में भी आनाकानी प्रारम्भ की। साम्यवाद का प्रचार जोरों से किया जाने लगा। सुरक्षा परिषद में वाद-विवाद बढ़ा और रूस ने वीटो का बार-बार प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। दोनों देशो मे सहयोग के काल का अन्त होता दिखाई दिया। जर्मनी के प्रश्न पर दोनो देश झगड़ पड़े अमेरिका ने रूस पर आरोप लगाया कि उसने याल्टा सम्मेलन मे दिये गये वचनों को भग किया है। ईरान, टर्की एवं यूनान में रूस ने हाथ-पैर फैलाने प्रारम्भ किये। इससे विरोध और बढ गया। धीरे-धीरे युद्धकालीन पूर्व एव पश्चिम की 'अनोखी मैत्री' (Strange Allience) 'शीत युद्ध' मे परिवर्तित हो गयी।

(2) नवीन दिशान्वेषण का काल (Period of new Departure)—नवीन परिस्थितियो के कारण सयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी विदेश नीति में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक समझा और नवीन दिशान्वेषण का काल सोरम्भ हुआ। यह काल 4 वर्ष तक अर्थात् 1946 से 1950 तक चला। रूस की हठधर्मी से अमेरिका ने रूस से सहयोग की आशा छोड़ दी। रूस ने शायद अमेरिका की उदारता एवं मृदुलता को अमेरिका की दुर्बलता समझा। ट्रूमैन ने अपने परामर्शदाता एवरिल हैनीमैन तथा रूसी विशेषज्ञ केनन से परामर्श लिया। उन्होंने भी रूस के साथ कठोरता की नीति अपनाने का परामर्श दिया। दिसम्बर 1946 में वर्न तथा बाद मे मार्शल नामक विदेशमन्त्रियों ने विदेशमन्त्री सम्मेलनो से लौटकर इसी प्रकार के विचार प्रकट किये। अमेरिका को इन्हीं कारणों से अपनी नीति रूस के प्रति कठोर करनी पड़ी। 'सहयोग और अनुकूलन' (Cooperation and Accomodation) की नीति के स्थान पर 'अवरोध की नीति' (Policy of Containment) अपनाने को विवश होना पड़ा। इतना होने पर भी ट्रूमैन प्रत्यक्ष संघर्ष के पक्षपाती न थे। ट्रूमैन ने अपनी नीति की घोषणा की तथा यूनान, टर्की एव ईरान आदि मे साम्यवाद विरोधी नीति अपनायी गयी। इन देशों को आर्थिक सहायता दी गयी।

मार्शल योजना इसी नीति के अन्तर्गत अपनाई गई। अविकसित और अर्धविकसित को मार्शल योजना के अन्तर्गत आर्थिक सहायता दी गयी। यद्यपि घोषणा में रूस के विरु का प्रयोग नहीं किया गया पर योजना स्पष्ट रूप से रूस के विरुद्ध थी। मा ने 20 जनवरी 1949 को चार सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की गयी जो f

(i) सयुक्त राष्ट्र संघ को पूर्ण समर्थन देना,

(ii) स्वतन्त्रताप्रिय देशों के आक्रमण के विरुद्ध पूर्ण सुदृढ़ बनाना।
(iii) विश्व में आर्थिक पुनरुद्धार करना तथा
(iv) अल्प विकसित देशों के उत्थान हेतु प्राविधिक सहायता प्रदान करना।

एक ओर अमेरिका ने आर्थिक सहायता देकर साम्यवाद के प्रसार को रोका तो दूसरी ओर सैनिक स्तर पर भी साम्यवाद को बढ़ाने से रोकने की व्यवस्था अमेरिकन सरकार ने की। सैनिक सन्धियों द्वारा एवं प्रारम्भिक प्रतिरक्षा समझौतों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयास किया। 4 अप्रैल 1949 को अमेरिका, कनाडा, इटली, आइसलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क तथा पुर्तगाल के बीच 'उत्तरी अटलांटिक सन्धि हुई। यह नाटो (NATO) सन्धि एक प्रकार से नवाचार" (Innovation) थी। यह प्रथम सन्धि थी जिसके प्रति अमेरिका ने स्वय को वचनबद्ध किया। इस सन्धि को करने का एक कारण यह भी था कि रूस ने एटम बम का विस्फोट किया था। अब तक एटम बम पर अमेरिका का एकाधिकार था रूस के विरुद्ध नाटो' का गठन किया गया और कोरिया के मामले मे भी साम्यवाद के विरुद्ध मोर्चा लगा गया।

(3) खुले संघर्ष का काल (Period of Open Conflict)—यह काल 6 वर्ष तक चला। अब तक रूस के विरुद्ध अप्रत्यक्ष सघर्ष चल रहा था। जून 1950 मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई कि अमेरिका को खुलकर मैदान मे आना पड़ा। उत्तरी कोरिया जो रूस के प्रभाव मे थी उसने रूसी की शह पाकर दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। अमेरिका को दक्षिणी कोरिया की सहायता करना आवश्यक हो गया। अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्ताव रखा कि वह दक्षिणी कोरिया की सहायता करे, जो पास हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ही संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना मे सबसे आगे था चार्ल्स श्लीचर ने कहा कि "अमेरिकन सैनिक शक्ति के लिए विनियोग तीन गुने से भी अधिक हो गया। यूरोप को दिये जाने वाले सहयोग में सैनिक शक्ति पर अधिक जोर दिया गया। मार्शल की मदो की योजनाओं को सुरक्षा समर्थन की मदें बना दिया गया।"

कोरिया युद्ध से अमेरिका साम्यवाद के विरुद्ध खुले तौर पर आ गया अब वह आर्थिक सहायता पर कम सैनिक सहायता पर अधिक बल देने लगा। 30 अगस्त, 1951 को अमेरिका द्वारा फिलीपाइन्स से एक प्रतिरक्षा सम्बन्धी समझौता हुआ। 1 सितम्बर 1951 को आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड से तथा 8 सितम्बर, 1951 को जापान से भी इसी प्रकार समझौता अमेरिका ने किया। आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने की नीति अभी तक जारी है।

(4) नवीन दृष्टि का काल (Period of New-look)—यह काल 1953 से प्रारम्भ होकर 1961 तक चला। कोरिया का युद्ध जब समाप्त हुआ तो प्रत्यक्ष संघर्ष की स्थिति मे कुछ कमी आई। इसका कारण यह था कि संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति आइजनहावर बन गया था। वह कोरिया के युद्ध को समाप्त करने के पक्ष मे था। रूस के तानाशाह स्टालिन की भी मृत्यु 1953 में हो गई। इन परिस्थितियों के कारण कुछ काल तक प्रत्यक्ष सघर्ष को टाल दिया गया। रूस का साथी चीन भी अब तक मैदान में आ चुका था। उसके अतिरिक्त अमेरिका को रूस से यह भय उत्पन्न हो गया था कि यदि रूस को पूर्वी एशिया मे रोका गया तो वह मध्य एशिया में दूसरा मोर्चा खोल देगा। अमेरिका ने प्रत्यक्ष सघर्ष को ही नहीं टाला बल्कि शीत युद्ध को भी कम कर दिया। रूस में भी नये नेतृत्व ने अपनी सत्ता जमाने के लिए अपनी नीति को कुछ उदार बनाया। उन्होंने अब शान्ति की बातें करनी प्रारम्भ कर दीं।

16 अप्रैल को आइजनहावर ने अपनी शान्ति योजना को घोषित किया तथा 11 मई को चर्चिल द्वारा बुलाये गये शिखर सम्मेलन में ब्रिटेन ने फ्रांस के साथ रूस को भी आमन्त्रित किया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भी इस सम्मेलन में सम्मिलित हुआ। इस प्रकार के शान्तिपूर्ण वातावरण मे कोरिया युद्ध समाप्त हुआ। अमेरिका के विषय में यह आशंका थी कि नये राष्ट्रपति के काल में

अमेरिका में अपेक्षाकृत अधिक सैनिकवाद बढ़ेगा, परन्तु पामर एवं पाकिन्स ने कहा कि आइजनहावर ने किसी विशेष नीति का प्रतिपादन नही किया, वरन् उन्होने कुछ निश्चित सिद्धान्त रखे जो उनके प्रशासन का संरक्षण करने को थे। ये सिद्धान्त थे—"युद्ध का बहिष्कार, अमेरिकन शक्ति का विकास, दूसरे देशो के साथ सहयोग की इच्छा, तुष्टिकरण का अभाव, अमेरिकन शक्ति का दुरुपयोग नहीं, दूसरे देशों की सुरक्षा का समर्थन, विश्व के उत्पादन एवं लाभपूर्ण व्यापार को प्रोत्साहन देना। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति भक्ति भावना, पश्चिमी गोलार्द्ध के देशो के साथ सहयोग, यूरोपीय एकता को बढ़ावा देना, सभी लोगो एव जातियो की समानता तथा संयुक्त राज्य को शान्ति के लिए एक प्रभावशाली शक्ति बना देना।"

चीन मे जब से साम्यवादी शासन स्थापित हुआ तब से उसने पूर्वी एशिया में उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया था। संयुक्त राज्य अमेरिका को चीन के प्रति अधिक चिन्ता थी। हिन्द-चीन की समस्या के लिए जेनेवा सम्मेलन किया। इसमे रूस, फ्रास, ब्रिटेन एवं लाल चीन के प्रतिसम्मिलित हुए जिसमे हिन्द चीन का विभाजन किया गया। यह विभाजन इस प्रकार हुआ—हिन्द-चीन का उत्तरी भाग का नाम उत्तरी वियतनाम रखा गया दक्षिणी भाग के तीन खण्ड किये गये—दक्षिणी वियतनाम, लाओस तथा कम्बोडिया, उत्तरी भाग मे साम्यवादी शासन था तथा दक्षिणी भाग गैर-साम्यवादियो के हाथ में था। इस बँटवारे से चीन की शक्ति और बढ़ी अतः उस पर अंकुश रखने के लिए सितम्बर 1954 मे थाईलैण्ड, फिलिपाइन्स, पाकिस्तान, ब्रिटेन, फ्रास, न्यूजीलेंड तथा आस्ट्रेलिया के सहयोग से "दक्षिणी-पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा सन्धि संघ" (SEATO) की स्थापना की गई।

पूर्वी एशिया की समस्या कुछ सुलझी तो अमेरिका मध्यपूर्व की ओर मुड़ा। मध्यपूर्व मे शान्ति स्थापना के लिए उसने 1955 मे बगदाद पैक्ट (Bagdad Pact) की रचना की। इस संघ के सदस्य—तुर्की, ईरान, पाकिस्तान, ब्रिटेन आदि थे। यह मोर्चा भी साम्य के प्रसार को रोकने के उद्देश्य से बनाया गया था। बाद मे बगदाद पैक्ट का नाम बदल कर सैन्टो (CENTO) कर दिया गया। अमेरिका इसका मुख्य सदस्य था। 1956 मे मिस्र के द्वारा स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण हुआ तो फ्रास एव ब्रिटेन के प्रति अमेरिका कोई सहानुभूति नहीं दिखाई तो ये दोनों राज्य मध्य पूर्व के प्रति उदासीन हो गये। इसका परिणाम यह निकला कि रूस ने मध्य पूर्व मे अपना प्रभाव बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया और अमेरिका को स्वय इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करना पड़ा।

आइजनहावर ने मध्य-पूर्व के प्रति अपनी नीति तथा कार्यवाही सम्बन्धी सन्देश 5 जनवरी, 1957 को अमेरिकन कांग्रेस को भेजा। इसी आधार पर कांग्रेस ने 9 मार्च, 1958 को संयुक्त अधिवेशन मे एक कानून पास किया। इस कानून के अनुसार अमेरिकन राष्ट्रपति को यह अधिकार मिल गया कि वह मध्य पूर्व मे साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए इच्छानुसार सैनिक कार्यवाही कर सकता है। कानून में निम्नलिखित व्यवस्था दी गई थी—

(i) राष्ट्रपति को अधिकार दिया जाता है कि वह मध्य पूर्व के सामान्य क्षेत्र मे राष्ट्रीय स्वाधीनता बनाये रखने के लिए किसी भी देश को आर्थिक सहायता दे सकता है।

(ii) राष्ट्रपति को मध्य पूर्व के राष्ट्रों की अखण्डता और स्वतन्त्रता एवं विश्व शान्ति सुरक्षा के लिए 'उन देशों' के द्वारा चाहने पर सैनिक सहायता देने के अधिकार दिये गये। साथ ही उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद द्वारा नियन्त्रित किसी देश से सशस्त्र आक्रमण होने की स्थिति में सुसज्जित सेना भेजने का भी अधिकार दिया गया।

(iii) अधिनियम के तीसरे भाग मे इस सहायता की व्यवस्था सम्बन्धी बातों का किया गया था और पाँचवें में इस कार्य की प्रतिवर्ष जनवरी और जुलाई में कांग्रेस को f

को व्यवस्था दी गई थी। अमेरिका कार्यवाही का तीव्र विरोध हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू का मत था कि किसी कमी की पूर्ति स्थानीय देशों द्वारा की जानी चाहिए, बाहरी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। आइजनहावर के इस सिद्धान्त के द्वारा अमेरिका ने अपनी सेना को लिबनान में घुसने का आदेश दिया तथा जोर्डन में भी हस्तक्षेप किया गया।

आइजनहावर की मध्य पूर्व में कार्यवाही से पुनः शीत युद्ध उग्र हो उठा। आइजनहावर आलोचना के पात्र बन गये। शीत युद्ध की उग्रता में शीघ्र कमी आयी। उसका कारण था ख्रुश्चेव की अमेरिका यात्रा। सितम्बर 1959 में ख्रुश्चेव, रूसी प्रधानमन्त्री अमेरिकन राजकीय यात्रा पर अमेरिका पहुंचे। यह प्रथम अवसर था कि साम्यवादी रूस का कोई राजनेता अमेरिका गया। आइजनहावर और ख्रुश्चेव में मैत्रीपूर्ण वार्ता हुई। अमेरिकन राष्ट्रपति को भी रूस आने का निमन्त्रण दिया गया। यह भी तय हुआ कि आपसी मतभेदों को दूर करने के लिए रूस, अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस एक शिखर सम्मेलन में सम्मिलित होंगे।

16 मई, 1960 का दिन शिखर सम्मेलन के लिए रखा गया। परन्तु कुछ कारणों वश यह सम्मेलन असफलन बना दिया गया। इस असफलता के दो मुख्य कारण थे—

(क) जर्मनी सम्बन्धी विवाद—पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर श्री ओडेनोर की इच्छा थी कि शिखर सम्मेलन में जर्मनी सम्बन्धी समस्या को न उठाकर निःशस्त्रीकरण पर वार्ता होनी चाहिए। इस पर रूस ने यह स्पष्ट रूप से कहा कि जर्मनी सम्बन्धी समस्या को हल किया जाना चाहिए। अन्यथा वह पूर्वी जर्मनी से पृथक से सन्धि कर लेगा। इस पर 16 मार्च 1960 को जर्मनी के चान्सलर ने घोषणा की कि 16 मई को पश्चिमी बर्लिन में जनमत संग्रह द्वारा यह विदित कर लिया जाये कि वह वर्तमान स्थिति में कोई परिवर्तन चाहता या नहीं, परन्तु रूस इसके लिए तैयार न हुआ।

(ख) यू-2 विमान-घटना—5 मई, 1960 को रूसी प्रधानमन्त्री ने घोषणा की कि 1 मई 1960 को अमेरिकन विमान यू-2 रूसी राकेट द्वारा जासूसी करने के अपराध में मार गिराया गया है। आइजनहावर ने इस कार्य को उचित बताया। इससे शीत युद्ध पुनः तेज हो गया।

यद्यपि यह घटनायें घट गईं और वातावरण में उत्तेजना छा गई पर सम्मेलन प्रारम्भ हो गया। ख्रुश्चेव ने चाहा कि सम्मेलन में यू—2 विमान के विषय में अमेरिका की निन्दा की जाये। ख्रुश्चेव 17 मई को सम्मेलन में नहीं गये और उन्होंने यू—2 काण्ड के लिए अमेरिका की निन्दा करते हुए निम्नलिखित मांगें पेश की—

(अ) अमेरिका को अपने उत्तेजनात्मक कार्य की निन्दा करनी चाहिए, उसके लिए क्षमा मांगनी चाहिए, इस कार्य को बन्द करना चाहिए और इस काण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए।

(ब) यदि ऐसा नहीं किया गया तो रूस की दृष्टि में शिखर सम्मेलन में अमेरिका के साथ बात-चीत करना व्यर्थ है और वह इसमें भाग नहीं ले सकता।

इस प्रकार यह शिखर सम्मेलन असफल हो गया।

(5) सह-अस्तित्व का काल (Period of Co-existence)—ख्रुश्चेव यद्यपि यू-2 के काण्ड से बड़े उत्तेजित थे पर बाद में उन्होंने इस पर अड़े रहना विश्व शान्ति के लिए उचित न समझा। 10 अक्टूबर 1960 में उन्होंने अपने उद्‌गार प्रकट कर दिये अतः वातावरण में कुछ शान्ति आयी। 8 नवम्बर 1960 में राष्ट्रपति चुनाव में अमेरिकन सीनेटर जान फिटजरलैण्ड कैनेडी, राष्ट्रपति चुने गये। राष्ट्रपति कैनेडी बड़े शान्त स्वभाव के व्यक्ति एवं बड़ी सुलझी हुई बुद्धि के राजनेता थे। वे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में योग के पक्षपाती थे अतः उनका काल सह-अस्तित्व का काल कहलाता है। 1961 से यह काल प्रारम्भ होता है। यद्यपि कैनेडी साम्यवाद एवं वाता-

शाही के विरोधी थे पर वे निर्धनता के भी विरोधी थे। वे चाहते थे कि विचार-विमर्श तथा वार्तालाप के द्वारा समस्याओं का हल निकाला जाय। इस वातावरण में जून 1961 में कैनेडी और ख्रुश्चेव वियना में मिले और दोनों राजनेताओं ने अपने विचारों का आदान-प्रदान किया। दोनों देशों में इस वार्ता से निकटता उत्पन्न हुई।

कैनेडी ने "मानवीय अधिकारों की रक्षा" को अमेरिकन विदेश-नीति का एक अंग बनाया। उन्होंने रंगभेद तथा मानवीय अत्याचारों को अमेरिकन विदेश-नीति के विरुद्ध बताया। उन्होंने किसी भी देश की स्वतन्त्रता के अपहरणकर्ता को अमेरिका विरोधी बताया। कैनेडी ने अपने शान्तिमयी विचारों से रूस विरोधी भावना को जो अमेरिका में फैली हुई थी, कम किया।

इतना होने पर भी कैनेडी ने अपने पुराने मित्रों से उचित सम्बन्ध बनाये रखे तथा उन्हें आर्थिक सहायता जारी रखी। नाटो (NATO) का उन्होंने समर्थन किया एवं जर्मनी के विषय में पूर्व विचार ही रखे। इस पर रूस ने पूर्व के समान पूर्वी जर्मनी से सन्धि करने की जब धमकी दी तो कैनेडी ने कहा कि "एकपक्षीय कार्यवाही सहन नहीं की जायगी।" इस दृढ़ घोषणा का प्रभाव यह हुआ कि रूस ने अपनी हठ छोड़ दी। इस प्रकार कैनेडी की नीति उदार, स्पष्ट और दृढ़ थी।

कैनेडी के काल में क्यूबा का प्रश्न गम्भीर था। इस प्रश्न पर रूस और अमेरिका के सम्बन्धों में बड़ी कटुता आ गई और ऐसा लगता था कि दोनों देशों में युद्ध हुए बिना न रहेगा, परन्तु दोनों पक्षों ने विवेक से काम लिया और स्थिति सामान्य हो गई। क्यूबा, वेस्टइण्डीज, का सबसे बड़ा टापू था और अमेरिका के निकट पड़ता था। कैनेडी के समय वहाँ फिडेल कास्ट्रो का शासन था। उसने 1959 में वहाँ क्रान्ति कर सत्ता को हथियाया था। वह रूस समर्थक था 13 सितम्बर 1962 को रूसी सरकार ने घोषणा की कि वह 'क्यूबा को साम्राज्यवादियों से अपनी रक्षा के लिए शस्त्रास्त्रों की पूर्ण सहायता देगा।" अमेरिका इस घोषणा से चौकन्ना हो गया। उसने उसे अपनी स्वतन्त्रता के लिए संकट घोषित किया। 23 अक्टूबर 1962 को अमेरिका ने क्यूबा की नाकेबन्दी कर दी। यद्यपि रूस ने अमेरिका की इस कार्यवाही की बड़ी निन्दा की और उसे क्यूबा के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप बताया पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के भंग होने का बहाना कर उसने क्यूबा से सभी रूसी अड्डे समाप्त करने की घोषणा कर दी। इस घटना के कई परिणाम निकले—

(i) क्यूबा में रूस के पीछे हट जाने पर चीनी नेताओं ने रूस को कायर, दब्बू एवं डरपोक कहा। इसने रूस और चीन के मध्य सैद्धान्तिक मतभेद पैदा हो गये।

(ii) चीन ने समझा था कि रूस और अमेरिका क्यूबा के मामले में उलझे हुए हैं अतः भारत पर आक्रमण का अच्छा समय है। 20 अक्टूबर, 1962 को उसने भारत पर आक्रमण कर दिया।

(iii) क्यूबा का संकट दूर होते ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने 3 नवम्बर, 1962 को शस्त्र से भरे विमान नई दिल्ली में उतार दिये। पश्चिमी देशों से भी भारत को आर्थिक एवं सैनिक सहायता मिली। गुट-निरपेक्ष की नीति को बल मिला तथा सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की प्रशंसा होने लगी।

25 जुलाई 1963 को तीन शक्तियों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर कर परमाणु परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा दिया। रूस और अमेरिका के मध्य 15 अप्रैल 1963 को सीधा टेलीफून सम्पर्क स्थापित हो गया और दोनों देशों में समझौता हो गया कि संकट के समय प्रत्यक्ष वार्ता कर उसके समाधान का उपाय सोचा जाये। इस प्रकार कैनेडी ने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का अथक प्रयास किया पर इसी बीच 22 नवम्बर 1963 को अमेरिका में कैनेडी को गोली मार कर हत्या कर दी गई।

कैनेडी ने अल्पकाल में विश्व में बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। उनके यह शब्द सदैव याद रहेंगे कि "अच्छे शब्दों को प्रगति के लिए मैत्री के रूप, अच्छे कामों में परिणत करेंगे जिससे स्वतन्त्र लोगों तथा स्वतन्त्र सरकारो को निर्धनता की जजीरों को तोड़ फेंकने में सहायता दी जा सके।" रूस से सहयोग की नीति का प्रारम्भ कैनेडी ने ही किया।

जानसन सरकार की नीति (Policy of Johnson's Govt.)—कैनेडी के बाद जानसन अमेरिका के राष्ट्रपति बने और उन्होंने कैनेडी की नीति पर चलने की घोषणा की। पर जानसन के वश की बात न थी कि वह कैनेडी की नीति पर चल सके। उसके काल में चीन और अमेरिका का संघर्ष वियतनाम के मामले में तेज हो गया। दक्षिणी वियतनाम में अमेरिका ने अपार सैना भेजी और उत्तरी वियतनाम पर गोलाबारी प्रारम्भ की। चीन ने उत्तरी वियतनाम का पक्ष लिया। यह संघर्ष जोरो से चलता रहा। दूसरी ओर पश्चिमी एशिया में जानसन की पक्षपात पूर्ण नीति के कारण अरब-इजराइल संघर्ष चला। 1967 में अरबों ने संगठित होकर इजराल पर हमला कर दिया। अमेरका ने इजराइल को हथियार बेचे। इजराइल ने उत्साहित होकर लिबनान के बेरुत हवाई अड्डे पर आक्रमण कर अनेक अरब जहाजों को नष्ट कर दिया। विश्व मे इसकी बड़ी निन्दा हुई। दिखावे के तौर पर जानसन सरकार ने भी निन्दा की।

निक्सन सरकार की नीति (*Nixon Govt's Policy*)—20 जनवरी 1969 को राष्ट्रपति निक्सन ने कार्यभार सम्भाला। प्रारम्भ में तो निक्सन ने जानसन की नीति का विरोध किया पर बाद मे वह भी जानसन के कदमो पर चलने लगा। कैपिटल हिल से व्हाइट हाउस तक की सवा दो मील यात्रा मे अपार जनसमूह ने निक्सन का भव्य स्वागत किया परन्तु जब उसने वियतनाम में जानसन की नीति पर अमल किया तो अपार जनसमूह ने उसे काले झण्डे दिखाये और माँग की कि वियतनाम युद्ध समाप्त किया जाय। अपना पद सम्भालने के छः सप्ताह बाद निक्सन यूरोप की सद्भावना यात्रा पर निकले। यद्यपि इस सद्भावना यात्रा का कोई परिणाम न निकला, पर निक्सन को यूरोपीय समस्याओं के विषय में नवीनतम जानकारी प्राप्त हुई। उन्हे यह भी ज्ञात हुआ कि शीत युद्ध में पश्चिमी यूरोपीय राज्यो द्वारा अमेरिका को पूरा-पूरा समर्थन न मिल सकेगा।

निक्सन ने वियतनाम युद्ध को समाप्त करने का अथक प्रयास किया। परन्तु राष्ट्रपति के निर्वाचन के पूर्व ऐसा न हो सका। निर्वाचन के पश्चात ही वियतनाम-युद्ध समाप्ति के विषय मे समझौता हो सका। इस समझौते को कराने मे निक्सन के निजी परामर्शदाता हेनरी किसिंजर का विशेष हाथ रहा। इस युद्ध की समाप्ति पर विश्व में बड़ी खुशियाँ मनायी गयी और निक्सन को धन्यवाद पत्र मिले।

निक्सन काल मे अरब-इजराइल युद्ध पुनः 1973 मे प्रारम्भ हुआ। निक्सन ने इजराइल का पक्ष लिया। जब इजराइल ने अप्रैल 1973 मे सामूहिक रूप से फिलिस्तीन छापामारों की बस्तियो पर आक्रमण किया तथा हत्याकाण्ड किया तो इसे अमेरिका की हरकत माना गया। अमेरिका ने सुरक्षा परिषद में भी इजराइल का पक्ष लिया। इससे अमेरिका की बड़ी निन्दा हुई।

निक्सन शासन की एक महत्त्वपूर्ण सफलता यह थी कि चीन और अमेरिका मे समझौता हो गया। साम्यवादी चीन सयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी बन गया साथ मे सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य भी बना गया। निक्सन के समय में अमेरिका की विदेश नीति बहुत सफल रही।

आइजनहावर सिद्धान्त
(Eisenhower Doctrine)

रूस अमेरिका अपने प्रभाव क्षेत्रों को बढ़ाने एव एक दूसरे के प्रभाव क्षेत्र घटाने में लगे हुए हैं। प्रतिरक्षा संगठनो का जाल अमेरिका ने रूस की घेराबन्दी के लिए किया था। यूरोप और

सुदूर पूर्व में उसने सैनिक सन्धियाँ कर इसकी व्यवस्था कर दी थी। आइजनहावर का ध्यान मध्य पूर्व की ओर आकर्षित हुआ। 1955 मे बगदाद पैक्ट की स्थापना भी उसने इसी उद्देश्य से की थी। बगदाद पैक्ट सफल न हो सका। परन्तु इससे इतना अवश्य हुआ कि अमेरिका को मध्य पूर्व में हस्तक्षेप का अवसर मिल गया।

1956 में स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर मिस्र, ब्रिटेन, फ्रास एवं इजराइल का कोपभाजक बन गया। इन तीनों देशों ने मिलकर मिस्र पर बमबारी की। इससे विश्व जनमत ब्रिटेन और फ्रांस के विरुद्ध हो गया और उन्हें अपनी सेनाएँ हटानी पड़ी। इसका भयानक परिणाम यह निकला कि सदियों से मध्य पूर्व पर प्रभाव रखने वाले इन देशो का प्रभाव इस क्षेत्र मे समाप्त हो गया। रूस ने अच्छा अवसर देख उधर बढ़ना प्रारम्भ किया। रूस के प्रभाव को मध्य पूर्व में समाप्त करने के लिए राष्ट्रपति आइजनहावर ने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

आइजनहावर सिद्धान्त की व्याख्या—5 जनवरी 1957 को राष्ट्रपति आइजनहावर ने मध्य पूर्व सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में एक सन्देश अमेरिकन कांग्रेस को भेजा। कांग्रेस ने संयुक्त अधिवेशन मे इस सन्देश को 9 मार्च 1957 को कानून का रूप प्रदान किया। इसकी व्यवस्था निम्न प्रकार की थी :—

(i) मध्य पूर्व के सामान्य क्षेत्र मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए राष्ट्रपति इच्छुक देशों को आर्थिक सहायता दे सकता है।

(ii) मध्य पूर्व के देशो की स्वतन्त्रता एवं अखण्डता को बनाये रखने के लिए राष्ट्रपति सैनिक सामग्री एवं सैनिक सहायता दे सकता है।

(iii) प्रतिवर्ष जुलाई तथा जनवरी मे राष्ट्रपति कांग्रेस को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा।

इस सिद्धान्त की पूर्ति के लिए कांग्रेस ने दो मिलियन डालर की राशि स्वीकृत की। आइजनहावर सिद्धान्त ट्रूमैन सिद्धान्त का विकसित रूप था।

सिद्धान्त की प्रतिक्रिया—अमेरिका के पिछलग्गू राज्यों जैसे जोर्डन, पाकिस्तानी, ईरान, ईराक तथा सऊदी अरब आदि ने आइजनहावर सिद्धान्त का स्वागत किया। परन्तु स्वतन्त्र विचार रखने वाले देश जैसे मिस्र एवं सीरिया ने इस सिद्धान्त को भयानक एव साम्राज्यवादी घोषित किया। रूस ने इसे नये प्रकार का आक्रमण बताया। पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि "यदि पश्चिमी एशिया में कुछ कमी है तो यह कमी वहाँ के देशों द्वारा पूरी हो सकती है। यदि दूसरी शक्तियाँ हस्तक्षेप करेंगी तो सुरक्षा के स्थान पर संकट की ही अधिक सम्भावना है।" अमेरिका के घनिष्ठ मित्र फ्रास एवं ब्रिटन ने भी अमेरिकन सिद्धान्त की आलोचना करते हुए बताया कि इस सिद्धान्त द्वारा अमेरिका ब्रिटिश एव फ्रेंच प्रभाव को मध्य पूर्व से नष्ट करना चाहता है। डी० एफ० फ्लेमिंग नामक विद्वान ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया "आइजनहावर के इस सिद्धान्त से शीत युद्ध को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।"

इस सिद्धान्त का प्रयोग—मध्य पूर्व मे लेबनान तथा जोर्डन में आइजनहावर को अपने सिद्धान्त का प्रयोग करने का अवसर प्राप्त हुआ।

(1) जोर्डन में प्रयोग—जोर्डन अरब राज्यों के मध्य में स्थित है। अमेरिका चाहता था कि जोर्डन में अरबों के विरुद्ध वह अपना सैनिक अड्डा बनाये। इसी उद्देश्य को ध्यान में अमेरिका ने जोर्डन को आर्थिक सहायता प्रदान की। जोर्डन को पहले से ही ब्रिटेन द्वारा पौण्ड की सहायता मिलती थी। जोर्डन के बादशाह हुसैन तथा उनके प्रधानमन्त्री अमेरिका के सम्बन्ध मे मतभेद था। ब्रिटेन और अमेरिका के प्रयत्नों से नाबुल्सी को पड़ा। ऐसी परिस्थिति में जोर्डन में विद्रोह हो गया जिसे दबाने के लिए अमेरिका आर्थिक सहायता दी। 14 जुलाई 1958 न ईराक की क्रान्ति से हुसैन बरनोज

ब्रिटेन से सैनिक और अमेरिका से आर्थिक सहायता मांगी। परन्तु सुरक्षा परिषद ने ब्रिटेन से मांग की कि वह अपनी सेनायें जोर्डन से हटा ले।

(2) **लेबनान में प्रयोग**—आइजनहावर सिद्धान्त का दूसरा प्रयोग लेबनान में हुआ। लेबनान की जनता अपने प्रधानमन्त्री सामी सोलह एवं राष्ट्रपति चामो के विरुद्ध थी। उसने 9 मई 1958 को विद्रोह कर दिया। लेबनान ने सुरक्षा परिषद में शिकायत की कि इस विद्रोह में मिस्र और सीरिया का हाथ है। परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डाग हैमरशोल्ड ने जाँच के पश्चात घोषित किया कि लेबनान के विद्रोह मे किसी विदेशी शक्ति का हाथ नही है। इस ओर से निराश हो लेबनान ने संयुक्त राज्य अमेरिका की शरण ली। आइजनहावर ने घोषणा की कि 20 जुलाई तक 10 हजार अमेरिकन सैनिक लेबनान पहुँच जायेंगे। विद्रोह तो दब गया पर लेबनानी जनता को विदेशी सैनिकों की उपस्थिति अपने देश मे अच्छी न लगी।

25 जुलाई 1958 को सोवियत रूस ने सुरक्षा परिषद में एक प्रस्ताव रखकर लेबनान से विदेशी सैनिकों के हटाने की मांग की, परन्तु यह सुरक्षा परिषद में तो पास न हुआ महासभा में पास हो गया। अमेरिका ने फिर भी अपनी सेनाएँ लेबनान से न हटायी। 31 जुलाई 1958 को लेबनान के चुनाव मे चामो के स्थान पर चेहब राष्ट्रपति चुना गया। जनता ने सन्तुष्ट होकर विद्रोह बन्द कर दिया। करामी नामक व्यक्ति को प्रधानमन्त्री बनाया गया। नई सरकार ने अमेरिका से मांग की कि वह अपनी सेनाएँ लेबनान से हटा ले। इससे 26 अक्टूबर 1968 को अमेरिका ने अपनी समस्त सेनायें लेबनान से हटा ली।

इस प्रकार जोर्डन एव लेबनान मे आइजनहावर सिद्धान्त असफल हो गया।

सिद्धान्त के परिणाम—आइजनहावर सिद्धान्त के परिणाम निम्नलिखित निकले :—

(i) आइजनहावर के सिद्धान्त का उद्देश्य रूस के प्रभाव को मध्यपूर्व में रोकना था पर वह उद्देश्य सफल न हुआ। जोर्डन एव लेबनान मे अमेरिकन सेना का हस्तक्षेप वहाँ की जनता को पसन्द न आया अतः वह पश्चिम विरोधी बन गयी और वहाँ साम्यवाद का प्रभाव पहले से भी अधिक बढ़ गया।

(ii) अमेरिका ने इस सिद्धान्त को आधार बनाकर संयुक्त राष्ट्र संघ तक की उपेक्षा की, जिससे विश्व जनमत अमेरिका की कटु आलोचना करने लगा।

(iii) परिस्थितियों वश अमेरिका को अपनी सेनायें इन स्थानों से हटानी पड़ीं। अमेरिका की बड़ी बदनामी हुई।

(iv) इस सिद्धान्त के अपनाने से अरब देशों मे अमेरिका की उपेक्षा की जाने लगी। वे रूस की ओर झुकने लगी। इसका लाभ कर्नल नासिर ने उठाया। उसने अरबों को एकता मे बाँधने का संकल्प किया जिसमें रूस उसका सहायक बन गया।

(v) इस घटना से शीत-युद्ध अधिक तीव्रतर हो गया।

मार्शल योजना
(Marshal Plan)

साम्यवाद का प्रसार ऐसे स्थानो पर होता है जहाँ दरिद्रता, भुखमरी, अशिक्षा तथा असन्तोष व्याप्त रहता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अनेक देशो की आर्थिक दशा बिगड़ गयी। स्टालिन ने कहा कि "समय हमारे साथ है और वह समझौता करा देगा।" कहने का तात्पर्य यह है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद साम्यवाद के प्रसार के लिए उचित अवसर था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों मे अमेरिका का विदेशमन्त्री मार्शल यह अनुभव करने लगा कि रूस अडंगेवाली जी नीति अपना रहा है। यदि देर की गई तो यूरोप साम्यवादी क्रान्ति की लपेट मे आ जायगा।

मास्को में जब शान्ति सम्मेलन हुआ तो मार्शल को बड़ी चिन्ता हुई। उसने स्वदेश लौटने पर 26 अप्रैल 1947 को यूरोप के देशों की आर्थिक सहायता अविलम्ब देने पर जोर दिया। 5 जून 1947 को मार्शल ने अपना ऐतिहासिक भाषण हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दिया। भाषण में उन्होंने कहा कि 'हमारी नीति किसी देश अथवा सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। यह भुखमरी, गरीबी, निराशा तथा अव्यवस्था के विरुद्ध है। इस नीति का उद्देश्य विश्व में एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें स्वतन्त्र संस्थाओं को *विकसित करने वाली राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ* उत्पन्न हो सकें।.........यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकार द्वारा यूरोप को सहायता दिये जाने से पहले यह आवश्यक है कि यूरोपियन देशों की इस सहायता की आवश्यकता के सम्बन्ध में समझौता किया जाये। इस सरकार के लिए न तो यह अच्छा होगा और न प्रभावशाली होगा कि यूरोप को अपने पैरों पर खड़ा करने वाली आर्थिक योजना का निर्माण करे। वह यूरोपीय लोगों का कार्य है। *इसकी पहल यूरोप से होनी चाहिए, हमारा कार्य सहायता देना है।*"[1]

राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपने परामर्शदाताओं की राय लेकर मार्शल योजना की स्वीकृति प्रदान कर दी। यद्यपि मार्शल योजना में कहीं भी "साम्यवादियों के विरुद्ध" शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया था, अतः यूरोप के पुनरुद्धार के लिए रूस से भी सहयोग माँगा गया था, परन्तु रूस समझता था कि मार्शल योजना उसके विरुद्ध है अतः उसे "अमेरिकन साम्राज्य का नया रूप" बताया था। साम्यवादी देशों ने रूस के कथन का अनुमोदन किया था। उस समय तक रूस का प्रभाव पोलैण्ड एवं चेकोस्लावाकिया में स्थापित नहीं हो पाया था अतः ये देश भी अमेरिका से योजना के अन्तर्गत सहायता के इच्छुक थे।

मार्शल योजना का पश्चिमी देशों ने पूर्ण समर्थन किया। जुलाई 1947 में 16 देशों इंगलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, डेनमार्क, नीदरलैण्ड, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, स्वीडन, लक्समबर्ग, पुर्तगाल, स्विटजरलैण्ड, तुर्की एवं आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने 'यूरोपीय सहयोग समिति' का गठन किया। पोलैण्ड एवं चेकोस्लावाकिया भी इस योजना से लाभ उठाना चाहते थे पर सोवियत रूस ने प्रयत्न कर उन्हें इस योजना में भाग लेने से रोक दिया। 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग समिति' ने अमेरिका को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें कहा *गया था कि यदि अमेरिका 19·3 मिलियन डालर खर्च कर सके तो 1951 तक एक आत्म-निर्भर* यूरोपियन अर्थ-व्यवस्था बसायी जा सकती है। वही योजना मार्शल योजना कहलाई।

अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने मार्शल योजना सम्बन्धी अनुमानित व्यय को दिसम्बर 1947 में कांग्रेस के सामने प्रस्तुत कर दिया। 4 वर्ष तीन माह के लिए 17 अरब डालर तथा 5 माह हेतु 6 अरब 80 करोड़ डालर का अनुमान था। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कहा था कि "मैं चाहता हूँ कि अमेरिका उन 16 देशों को, जो उसी के समान स्वतन्त्र संस्थाओं की सुरक्षा एवं राष्ट्रों के मध्य स्थायी शान्ति हेतु तत्पर है, उनके पुनर्निर्माण कार्य में सहायता देकर विश्व शान्ति एवं अपनी *सुरक्षा में योगदान दें।*"

---

[1] "Our policy is directed not against any country or doctrine, but against hunger; poverty, desperation and chaos. Its purpose should be the survival of a working economy in the world so as to permit the emerge of political and solid condition in which free institutions can exist..... Government that is willing to assist in the task of recovery will fin cooperation......*on the United States Government... .....The role o* country should consist of friendly aid in the drafting of European prog and of latter support of such a programme so far as it may be practi us to do."

मार्शल योजना या यूरोपीय रिलीफ प्रोग्राम—मार्शल योजना को 'यूरोपीय रिलीफ प्रोग्राम' (European Relief Programme) भी कहा गया। अमेरिकन कांग्रेस ने मार्शल योजना को 3 अप्रैल 1948 को 'विदेशी सहायता अधिनियम' के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन' (OEECO) की स्थापना की गयी। इस योजना के अन्तर्गत 4 वर्ष में (1947-51) यूरोप को 11 अरब डालर की सहायता प्रदान की गयी। इस योजना ने अमेरिका को यूरोप का नेता बना दिया। अमेरिकी सहायता प्राप्त देशों को एक शर्त माननी पड़ती थी कि वे साम्यवादियों को अपने यहाँ कोई स्थान न देंगे। फ्रांस को सहायता देते हुए अमेरिका ने यह शर्त लगायी थी कि वह साम्यवादियों को अपनी सरकार से निकाल दे। इटली को भी अपने मन्त्रिमण्डल से साम्यवादी मन्त्रियों को हटाना पड़ा था।

वास्तव में मार्शल योजना भी ट्रूमैन सिद्धान्त का एक विकसित रूप था। अन्तर केवल इतना था कि ट्रूमैन सिद्धान्त में अलग-अलग देशों को सहायता देने की व्यवस्था थी अर्थात् उसका क्षेत्र व्यापक था पर मार्शल योजना केवल यूरोपीय देशों तक सीमित थी। एडवर्ड मीड ईर्ले ने इस योजना को 'एंग्लो-अमेरिकन स्वार्थ' का एक उदाहरण बताया है। रूस ने इस योजना के विपरीत 'कामिनफार्म' की स्थापना की थी। जी० सी० स्मिथ लिखते हैं कि "इसका उद्देश्य राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा पहले से ही घोषित अवरोध नीति के अनुसार अमेरिकन पथ-प्रदर्शन में पश्चिमी यूरोप की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करना था।"

वियतनाम और संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति
(Vietnam and U. S. A's Policy)

अमेरिका दुनिया में अपनी वियतनाम नीति के लिए बड़ा बदनाम है। 1945 के अगस्त महीने में क्यूबेक सम्मेलन द्वारा एडमीरल माउण्टबेटन की अध्यक्षता में 'दक्षिणी पूर्वी एशिया कमान' (South East Asia Command) की स्थापना हुई थी। ये शब्द डा० बी० आर चटर्जी के अनुसार 6 देशों के लिए प्रयुक्त किये गये थे—फिलीपाइन्स, वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया, थाईलैण्ड एव बर्मा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में 'दक्षिणी पूर्वी एशिया' का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह स्थान कच्चे मालों का उत्पादन स्थान है जिनकी औद्योगिक विश्व में अत्यधिक माँग है। इस स्थान का महत्त्व सामरिक दृष्टि से भी बहुत है क्योंकि यह विश्व के प्रधान वायु और समुद्री मार्गों पर स्थित है तथा एशिया और आस्ट्रेलिया के मध्य पुल का काम देता है तथा सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस क्षेत्र के लाओस, कम्बोडिया, थाईलैण्ड एवं वियतनाम एक लम्बे अरसे से सशस्त्र युद्ध के रण-स्थल बने हुए हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस क्षेत्र में साम्यवाद की लहर बड़ी तेजी से फैल रही थी जिसे अमेरिका हजार प्रयत्न करने पर भी रोकने में असमर्थ हुआ।

अमेरिका की विदेश नीति इस क्षेत्र में साम्यवाद विरोधी रही। परन्तु निक्सन के काल में इसमें कुछ ढिलाई आती प्रतीत हुई। पर यह भ्रम मात्र था। निक्सन ने इस क्षेत्र में अपनी नीति में कुछ परिवर्तन किया।

निक्सन और वियतनाम—वियतनाम में अमेरिका ने अपार धन और लाखों सैनिक खपाये थे। अमेरिकन जनता में भी अमेरिकन नीति से काफी विरोध फैला हुआ था। निक्सन ने वियतनाम में फँसे अमेरिकन सैनिकों को धीरे-धीरे निकालना चाहा। वह वियतनाम के युद्ध को समाप्त करना चाहता था। यह कार्य आसान न था। एक ओर निक्सन यह चाहता था कि वियतनाम से सेना हटा ले और दूसरी ओर यह भी चाहता था कि उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम पर हावी न हो जाय। इन दोनों लक्ष्यों को एक साथ प्राप्त करना असम्भव था।

निक्सन ने प्रारम्भ में तो वियतनाम युद्ध को बन्द कराने में शान्ति प्रयास प्रारम्भ किये पर शीघ्र ही अर्थात् नवम्बर 1969 में उसे एक वक्तव्य देना पड़ा जिससे उसकी उदारता की

कलई खुल गयी। निक्सन ने कहा था कि 'अमेरिकन सैनिकों की वापसी दक्षिणी वियतनाम की प्रगति' पर निर्भर करती है, यह कहकर उसने वियतनाम सेना से इन्कार कर दिया।

दिसम्बर 1971 में निक्सन ने उत्तरी वियतनाम पर अभूतपूर्व व्यापक हवाई हमले प्रारम्भ किये, इससे उत्तरी वियतनाम को यह विश्वास हो गया कि अमेरिका वियतनाम समस्या को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाना नहीं चाहता है। उसे यह भी शंका हुई कि अमेरिका चीन से मिलकर वियतनाम के हितो का गला घोंटना चाहता है। राष्ट्रपति निक्सन सदैव दुहरी नीति का प्रतिपादन करता था। जनवरी 1972 को निक्सन ने एक उत्तरी वियतनाम पर घनघोर बमवर्षा प्रारम्भ की और दूसरी ओर अमेरिकन जनता से मिलकर वियतनाम समस्या के लिए एक 8 सूत्री प्रस्ताव उद्घोषित किया। राष्ट्रपति निक्सन के सलाहकार डा० किसिंजर यह अच्छी प्रकार जानते थे कि इस 8 सूत्री प्रस्ताव से इस घृणित युद्ध के समाप्त होने में कोई सहायता न मिलेगी। वास्तव में अमेरिका की नीति युद्ध को समाप्त करने की नही थी। वह तो यह दिखाना चाहता था कि वह शान्तिप्रिय है पर दूसरा पक्ष इसमें बाधा डाल रहा है। वह शान्ति प्रयास को असफल कर देना चाहता है।

उत्तरी वियतनाम अमेरिका के 8 सूत्री प्रस्ताव में नहीं फँसा। इस पर झुंझलाकर निक्सन ने 26 अप्रैल 1972 को घोषणा कर दी कि 'हम पराजित नहीं होंगे और न हम अपने मित्रो को साम्यवाद के समक्ष घुटने टेकने देंगे।' 1972 मे यह मांग हुई कि दक्षिणी वियतनाम मे ऐसी सरकार की स्थापना हो जिसमे सभी गुटो का प्रतिनिधित्व हो तथा मुक्ति मोर्चे (वियतकोंग) एवं उत्तरी वियतनाम के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हों। अमेरिका चाहता था कि पहले सैनिक समझौता हो, फिर राजनीतिक, इसके विपरीत उत्तरी वियतनाम की मांग थी कि पहले राजनीतिक समझौता हो और बाद मे सैनिक समझौता। रूस चीन एव उत्तरी वियतनाम का त्रिगुट अपने प्रस्ताव पर डटा हुआ था। निक्सन चाहता था कि किसी प्रकार अमेरिका की इज्जत बच जाय। युद्ध भी बन्द हो जाय और उसकी इच्छानुसार समझौता भी हो जाय।

अगस्त 1972 मे 'टाईम्स' के अनुसार डा० किसिंजर, उत्तरी वियतनामी पालिट ब्यूरो के सदस्य, पेरिस वार्ता के द्वारा एक ऐसी योजना बना रहे हैं जिनसे अमेरिका और वियतनाम मे सन्धि हो जाये। वास्तव मे इन वार्ताओ के फलस्वरूप 21 अक्टूबर 1972 को अमरिका और उत्तरी वियतनाम मे एक समझौता हो गया जिस पर 31 अक्टूबर को हस्ताक्षर होने वाले थे। पर इसी बीच दक्षिणी वियतनाम के राष्ट्रपति थिऊ ने अड़गा लगा दिया और अमेरिका उक्त समझौता पर हस्ताक्षर करने से मुकर गया। अमेरिका ने कहा कि उत्तरी वियतनाम पहले दक्षिणी वियतनाम के साथ किये गये समझौते की कुछ शर्तों पर पुनः विचार-विमर्श करे। उत्तरी वियतनाम इस मांग को ठुकरा दिया।

इसके बाद अमेरिकन हवाबाजों ने उत्तरी वियतनाम पर इतने बम गिराये कि शायद इतिहास मे ऐसा रिकाड कभी न मिला हो। इस बमवर्षा की विनाशलीला हिरोशिमा पर गिराये गये एटम बम के बराबर थी। इन्ही परिस्थितियो मे पेरिस मे पुनः वार्ता प्रारम्भ हुई। यह वार्ता 8 जनवरी 1973 को प्रारम्भ हुई थी। 24 जनवरी 1973 को राष्ट्रपति निक्सन ने यह घोषणा की कि वियतनाम मे युद्धविराम के लिए एक समझौते पर एकमत हो गया है। 27 जनवरी 1973 को इस पर हस्ताक्षर किये जायेंगे। उस दिन संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सचिव विलियम रोजर्स, दक्षिण वियतनाम के विदेशमन्त्री, त्रानवान लाम, उत्तरी वियतनाम के विदेशमन्त्री न्गुयेन थी [illegible] ने पेरिस में युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखि

(1) युद्ध विराम लागू होने के 60 दिनों के अन्दर दक्षिणी वियतनाम अमेरिकन सेनायें वापस बुलाली जायेंगी।

(2) साठ दिनों के अन्दर हिन्द चीन में पकड़े गये सभी अमेरिकन सैनिकों एवं नागरिकों की रिहाई कर दी जायगी तथा गुम शुदा लोगों की यथासम्भव सही सूची तैयार की जायगी।

(3) दक्षिणी वियतनाम में पुनर्पठ द्वारा सैनिकों और युद्ध सामग्री भेजने पर प्रतिबन्ध लगाया गया।

(4) सभी पक्षों ने विसैन्यीकृत क्षेत्र का सम्मान करने की बात मान ली।

(5) शान्तिपूर्ण तरीकों से वियतनाम के एकीकरण की भूमिका तैयार करने की बात मान ली गयी। यह निश्चित हुआ कि उत्तर और दक्षिण वियतनाम के प्रतिनिधि परस्पर सलाह मशविरे और समझौते द्वारा एकीकरण का रास्ता ढूंढेंगे।

(6) दक्षिण वियतनाम मे कम्युनिस्ट और सरकारी सेना में कटौती की जायगी।

(7) लाओस और कम्बोडिया स सभी विदेशी वापस होंगे।

(8) अमेरिका और उत्तरी वियतनाम इस बात पर सहमत हुए कि दक्षिण वियतनाम को आत्म निर्णय का अधिकार प्राप्त है।

(9) दक्षिणी वियतनाम की सरकार के अस्तित्व, उसके संवैधानिक ढांचे और नेतृत्व को अमेरिका ने मान्यता दी।

(10) अमेरिका वियतनाम को अमीमित आर्थिक सहायता देगा।

(11) परस्पर समझौते के अनुसार वियतनाम मे चुनाव कराने की बात पर सम्बद्ध पक्षों में सहमति हुई।

(12) कम्बोडिया और लाओस की स्वाधीनता, प्रभुसत्ता, एकता, अखण्डता और तटस्थता के प्रति सम्मान व्यक्त किया गया।

(13) कम्बोडिया और लाओस मे सेना और सैनिक सामग्री भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

(14) युद्ध समाप्ति के बाद अमेरिका ने उत्तर वियतनाम के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम करने का वचन दिया।

(15) युद्धविराम के नियन्त्रण और निरीक्षण के लिए 1160 सैनिकों का एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग गठित किया जायगा।

उपर्युक्त शर्तों के अतिरिक्त युद्धविराम समझौते के पालन करने के लिए 4 निकायों का गठन हुआ। इन निकायों का नाम था—(1) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, (2) नियन्त्रण और निरीक्षण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग, (3) चार सदस्यीय संयुक्त सैनिक *आयोग* और (4) दो दलीय संयुक्त सैनिक आयोग।

संघर्ष का अन्तिम दौर—युद्ध विराम के बाद भी वियतनाम मे स्थायी शान्ति स्थापित न हो सकी। जुलाई-अगस्त 1974 से दक्षिणी और उत्तरी वियतनामी सैनिकों के बीच जोरदार झड़पें शुरू हुईं जिसमे दोनों पक्षों के कोई 400 व्यक्ति मारे गये। 1975 मे यह संघर्ष और तीव्र हो गया जब उत्तर वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम के मुक्ति मोर्चे की सेनाओं ने तीन सप्ताहों से भी अधिक घमासान लड़ाई के बाद अन्ततः सैगौन से 120 किलोमीटर उत्तर में स्थित फुआकविन्ह नगर पर अधिकार कर लिया।

इस संघर्ष का कारण था—पेरिस शान्ति समझौते के बाद दोनों पक्षों के बीच सब प्रकार के सम्बन्ध टूट गये और उत्तर वियतनाम ने जब भी सम्बद्ध मामलों को सुलझाने के लिए बातचीत करने का आग्रह किया तो अमेरिका ने उसे टाल दिया। दक्षिण वियतनाम ने भी दो वर्षों में अपने व्यवहार से यह प्रकट नहीं किया कि वह उत्तरी वियतनाम से मिल-जुलकर रहना चाहता

है। इस अवस्था में उत्तरी वियतनाम ने दक्षिणी वियतनाम में ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि अमेरिका पेरिस समझौते के मानने के लिए विवश हो जाय पर अमेरिका ने कुछ ध्यान न दिया।

मार्च 1975 तक उत्तरी वियतनाम की सेनाओं ने कई महत्त्वपूर्ण सफलतायें प्राप्त कर लीं दक्षिणी वियतनाम में भगदड़ मच गयी। 30 अप्रैल 1975 को दक्षिणी वियतनामी सैनिकों ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा के सामने हथियार डाल दिये। इस तरह से 20 वर्ष से चली आ रही लड़ाई समाप्त हो गयी।

अमेरिका-चीन सम्बन्ध
(American-Chinese Relations)

च्यांग काई शेक के शासन काल में चीन अमेरिका का पक्का मित्र था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान चीन पर जापान का कब्जा हो गया था पर जापान के हथियार डालते ही, चीन स्वतन्त्र हो गया। च्यांग काई शेक पुनः चीन का शासक बन गया। चीन में राष्ट्रवादियों एवं साम्यवादियों ने जो गृह युद्ध जापान के आक्रमण एवं कब्जे से बन्द हो गया था, वह पुनः चल पड़ा। इस गृह युद्ध में रूस तो साम्यवादियों की सहायता करता था और अमेरिका ने राष्ट्रवादियों का पक्ष लिया। यद्यपि अमेरिका ने च्यांग काई शेक की धन एवं सैनिक सामग्री से काफी सहायता की पर उसकी सेना लगातार हारती रही। 1949 में साम्यवादियों का अधिकांश चीन पर कब्जा हो गया। राष्ट्रवादी भाग कर फारमूसा पहुँच गये। 1 अक्टूबर 1939 में चीन पर साम्यवादियों का पूर्णतया अधिकार हो गया। वहाँ पर जनवादी गणराज्य की स्थापना हुई। यद्यपि मूल चीन पर साम्यवादी सरकार का कब्जा हो गया था पर अमेरिका च्यांग काई शेक की फारमूसा में 'निर्वासित सरकार' को ही मान्यता देता था। संयुक्त राष्ट्र संघ की वही सदस्य थी।

साम्यवादी चीन के उदय होते ही प्रशान्त महासागर में शक्ति सन्तुलन बिगड गया। द्वितीय विश्व युद्ध में जापान के हारने तथा उस पर अमेरिका की सेना का कब्जा होने, अमेरिका प्रशान्त महासागर का एकमात्र प्रभु बन गया था 1949 में लाल चीन के जन्म से इस प्रभुत्व को एक महान चुनौती मिली।

चीन और अमेरिका के सम्बन्ध (1949-71)—अमेरिका पहले से ही रूस से चिढ़ता था पर अब रूस का एक बड़ा देश साथी बन गया अतः अमेरिका को बड़ी भारी चिन्ता हो गयी। उसने चीन की नई सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं उसने लगातार यह प्रयत्न किया कि चीन को कोई भी राज्य मान्यता न दे पर साम्यवादी जगत ने उसे मान्यता दे दी। अमेरिका को भारत का यह कार्य रुचिकर न लगा।

च्यांग काई शेक फारमूसा में शासन करता था। उसकी रक्षा का भार स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका ने लिया। फारमूसा के पश्चिम में पेस्काडोर्स के 48 छोटे टापू थे तथा मूल चीन के तट से 12 मील दूर स्थित किमाय तथा मात्सू टापू थे। इन टापुओं पर फारमूसा सरकार का अधिकार था। लाल चीन पर कब्जा करना चाहता था पर अमेरिकन जहाजी बेड़ा इन सब टापुओं का रक्षक था। चीन अमेरिका को अपना शत्रु कट्टर घोषित करता था। फारमूसा सरकार ने अमेरिका से 1958 में एक सुरक्षा सन्धि भी करली थी।

चीन ने रूस से मिलकर अमेरिका को परेशान करने के लिए कोरिया युद्ध में अप्रत्यक्ष रूप से भाग लिया पर अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ की स्वीकृति से एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना भी की और दक्षिणी कोरिया की सहायता की रूस और चीन कोरिया के सामने में हार गये 38° अक्षांश दोनो कोरियाओं की सीमा रेखा मानी गयी और दोनों पक्षों में युद्धविराम हो गयी।

चीन का कहना था कि अमेरिका नौसेना की सहायता से फारमूसा पर च्यांग काई शेक का शासन चीन की सुरक्षा के लिए खतरा है। वह फारमूसा एवं उसके अधीन टापुओं को लेना चाहता था। 1955 में उसने इन टापुओं को जीतने का प्रयास किया पर असफल रहा। 1958 में क्विमाय तथा मात्सु टापुओं पर जबर्दस्त बमबारी की। अमेरिका ने इनकी रक्षा की। उसने चीन को धमकी दी कि इन टापुओं को लेकर भीषण परिस्थितियाँ पैदा हो जायेंगी। ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि यदि चीन पर आक्रमण हुआ तो वह उसे रूस पर आक्रमण समझेगा। पं० नेहरू ने भी इस मामले में चीन का समर्थन किया पर 7 अक्टूबर 1958 में स्वयं चीन ने गोलाबारी बन्द कर दी।

प्रो० शर्मा का कहना है कि "लाल चीन की विदेश नीति, अधिकांश रूप में, अमेरिका के विरुद्ध थी। क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका के नये शासन ने शत्रुओं को हथियार दिये थे, फारमूसा में राष्ट्रवादियों का संरक्षण किया था तथा चीन की मुख्य भूमि के सम्भावित छुटकारे की दृष्टि से च्याग को नवीन सहायता दी थी। यही कारण था कि पीकिंग की सहानुभूति सोवियत संघ के घनिष्ठ सहयोग तथा हिन्द-चीन, मलाया तथा अन्यत्र साम्राज्यवाद विरोधी लाल विद्रोहियों की सहायता की ओर थी।"

1959 में चीन और अमेरिका के साथ लाओस के मामले में घोर विरोध प्रकट हुआ। वियतनाम में अमेरिका के हस्तक्षेप से चीन की सुरक्षा का खतरा पैदा हो गया। वियतनाम से यह संघर्ष 20 वर्षों तक चला। चीन उत्तरी वियतनाम को अमेरिका के विरुद्ध लगातार सहायता देता रहा। 1962 में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो अमेरिका एवं इसके साथियों ने भारत की खूब सहायता की। इससे चीन में अमेरिका के विरुद्ध काफी आक्रोश बढ़ा। 1965-68 तक वियतनाम समस्या पर दोनों देशों में कटुता का भयानक रूप प्रकट हुआ।

अमेरिकन विचारों में परिवर्तन—1962 के चीन-भारत युद्ध के बाद चीन और पाकिस्तान में मधुर सम्बन्ध स्थापित हुए, दूसरी ओर क्यूबा के मामले में रूस का अमेरिका से दबना और चीन के नेताओं द्वारा रूसी नेताओं को मजाक बनाने से, रूस और चीन के सम्बन्ध बिगड़े। ऐसी परिस्थितियों में अमेरिका का दृष्टिकोण बदला। वह रूस के विरुद्ध चीन को समझा उसे मिलाने के लिए प्रयत्नशील हुआ। यह आसार जानसन के शासन में ही प्रकट होने लगे थे। जानसन ने कहा था कि अमेरिका और चीन में सम्पर्क होना चाहिए पर वह वियतनाम युद्ध में इतने उलझे कि इस ओर विशेष प्रयत्न न कर सके।

इतना होने पर भी गत 16 वर्षों से वार्सा स्थित पीकिंग एवं अमेरिकन राजदूत दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार की बातचीत करते आ रहे थे। अमेरिकन सीनेटर मैकगवर्न ने अमेरिका की आन्तरिक इच्छा को व्यक्त करते हुए कहा था कि "अमेरिका के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित होने चाहिए।" यह सिलसिला बढ़ रहा था पर जब निक्सन राष्ट्रपति नहीं हुए तब तक इस ओर विशेष प्रगति न हो सकी।

अमेरिका और चीन से मधुर सम्बन्धों की स्थापना—जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में बताया गया है कि अमेरिका और चीन के सम्बन्धों में सुधार जानसन के काल से प्रारम्भ हुआ और विशेषकर वार्सा के चीनी अमेरिकन दूतों ने मुलाकात का सिलसिला प्रारम्भ किया। कहा जाता है कि ये राजदूत 10 वर्षों में 35 बार मिल चुके थे। पर इनकी वार्ता अति गोपनीय थी। निक्सन के प्रमुख सहायकों में से एक हरबर्ट क्लीन भी थे। इन्होंने भी कहा था कि "आधुनिक हथियार बना चुके सत्तर करोड़ आबादी वाले देश की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।" फरवरी 1971 से राष्ट्रपति निक्सन ने पीकिंग के शासन को "चीन का जनवादी गणराज्य" तथा फारमूसा के शासन को, 'राष्ट्रवादी सरकार" कहना प्रारम्भ किया। उन्होंने यह भी कहा कि

"*अमेरिका की नीति चीन के जनवादी गणराज्य को विश्व के साथ रचनात्मक सम्बन्धों की ओर* ले जाना है।" यह वाक्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण थे और चीन को प्रभावित करने वाले थे।

दोनों देशों के निकट आने का एक और कारण प्रकट हुआ अप्रैल 1971 में अमेरिका की "पिंगपांग टीम" चीन गई। इसके साथ अमेरिकन सम्वाददाता भी गये। इन सम्वाददाताओं ने यह राय प्रकट की कि "अमेरिका और चीन कभी भी निकट आ सकते हैं।" इससे पता चला दोनों देश आपस में निकटता चाहते हैं। इस भावना ने पहले व्यापारिक सम्बन्ध जोडने का विचार किया। दोनों देशों में यात्राओं का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय पासपोर्ट पर से "चीन को छोडकर" वाली बात हटा दी गयी। इस समय निक्सन ने घोषणा की कि पांच सूत्री योजना के अन्तर्गत अमेरिका से कुछ ऐसी चीजों का चीन को निर्यात किया जा सकता है जो सामरिक महत्त्व की न हों।" दोनों देशों मे व्यापार प्रारम्भ हो गया। इसके साथ अमेरिका और चीन मे प्रथम बार टेलीफून पर सीधा सम्पर्क स्थापित हुआ एवं अमेरिकन पत्रकारों को चीन जाने का 'वीसा' भी मिला।

पाकिस्तान ने भी चीन और अमेरिका को निकट लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। नवम्बर 1970 में याह्या खां शाही यात्रा पर चीन गये। उन्होने राष्ट्रपति निक्सन का एक व्यक्तिगत पत्र माओत्सेतुंग को दिया। याह्या खां के मिलने के एक माह बाद माओत्सेतुंग अमेरिकन लेखक एडगर स्नो से मिले। स्नो ने अप्रैल 1971 में लिखा, "राष्ट्रपति का चीन में स्वागत होगा क्योंकि उसको उनके साथ ही मामले तय करने होंगे" राष्ट्रपति ने अपनी डायरी में चीन की यात्रा का कार्यक्रम लिखा पर उपयुक्त वातावरण पैदा होने पर ही यह यात्रा हो सकती थी।

निक्सन चाहते थे कि जब तक चीन की सरकार का निमन्त्रण न मिले तब तक वे चीन कैसे जा सकते हैं। अतः अपने सलाहकार किसिंगर को उन्होंने चुना। यह यात्रा अति गोपनीय रखी गयी। किसिंगर पहले पाकिस्तान आये। देहली होते हुए जब वे रावलपिंडी पहुंचे तो एकाएक बीमार हो गये, स्वास्थ्य लाभ के लिये वे रावलपिंडी से 100 मील दूर "नथियागली" की पहाडी पर गये। यह केवल झूठा प्रचार था, वास्तव में वे स्वस्थ थे और गुप्त रूप से चीन गये थे और उनकी चीनी नेताओ से वार्ता हुई। किसिंगर 9 जुलाई से 11 जुलाई 1971 तक पीकिंग मे ठहरे। यहां उन्होने केवल राष्ट्रपति के लिये निमन्त्रण ही प्राप्त नही किया बल्कि अन्य विश्व की समस्याओ पर भी वार्ता की तथा चीन-अमेरिकन सम्बन्धों के विषय मे रूप-रेखा भी तैयार कर ली।

16 जुलाई 1971 मे राष्ट्रपति निक्सन ने अत्यन्त नाटकीय ढंग से घोषणा की कि "मैं मई 1972 से पहले चीन का दौरा करूंगा.......अब तक चीन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से सामान्य सम्बन्ध स्थापित नहीं होते तब तक ससार की शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। चीन के सत्तर करोड़ लोगों के सहयोग के बिना शान्ति के प्रयास अधूरे रहेंगे।" उन्होने अपने मित्र देशो को भी आश्वासन दिया कि इस यात्रा से उनसे अमेरिका के सम्बन्ध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। हम सबसे मित्रता चाहते हैं। कोई भी राष्ट्र हमारा मित्र हो सकता है।

इस घोषणा से लोगों को आश्चर्य भी हुआ और हर्ष भी। इतिहास की अनोखी घटना थी। अमेरिकन नेताओं एवं सीनेट को भी सन्तोष प्राप्त हुआ। पर ताइवान सरकार को इससे बड़ा दुःख हुआ और उसने अपना विरोध प्रकट किया। उन्होंने इसे मित्रों के साथ "विश्वासघात" की संज्ञा दी।

प्रेक्षकों का कहना था कि किसिंगर तथा राष्ट्रपति निक्सन की चीन घोषणा, चीन के राजनय की महती विजय थी तथा अमेरिकन साम्राज्यवाद की घोर

16 जुलाई 1971 की घोषणा ने चीन की प्रतिष्ठा को बढ़ा दिया। पर यह आश्चर्य है कि चीनी पत्रों ने इस घोषणा या राष्ट्रपति की चीन यात्रा को अधिक महत्त्व नहीं दिया।

सितम्बर 1971 के प्रारम्भ में निक्सन ने घोषणा की कि अमेरिका सुरक्षा परिषद और महासभा में दो प्रस्ताव पेश करेगा। पहला प्रस्ताव चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने के सम्बन्ध मे तथा दूसरा ताइवान के स्थान पर लाल चीन को सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य बनाने के विषय पर। ये प्रस्ताव पास हो गये। लाल चीन शान से संयुक्त राष्ट्र संघ का स्थायी सदस्य बन गया।

21 फरवरी 1972 को राष्ट्रपति निक्सन चीन की राजधानी पीकिंग पहुँच गये। पर उनका वहाँ फीका स्वागत हुआ। हवाई अड्डे पर कोई भीड़-भाड़ न थी। हवाई अड्डे पर पोस्टर लगे थे, "साम्राज्यवादियों की चाल नही चलेगी"। एक अन्य लाल पोस्टर लगा था जिस पर लिखा था, "दलित राष्ट्रों के दलित लोग एक हो जायें।" निक्सन के सम्मान में भोज हुआ। इस अवसर पर निक्सन ने कहा था कि "मैं चीनी नेताओं से अपील करता हूँ कि वे अमेरिका के साथ शान्ति के लिए लम्बा अभियान प्रारम्भ करें। हमारे कदम बँधे न हों, लेकिन एक लक्ष्य के लिये विभिन्न मार्गों पर चले।"

27 जनवरी 1971 को एक संयुक्त विज्ञप्ति जारी हुई जिसमें इस बात की पुष्टि की गई कि उसका लक्ष्य अन्ततः ताइवान से अमेरिका से सेना हटाना और सैनिक अड्डे समाप्त करना है। दोनों देश इस बात पर सहमत हैं कि दोनों देशों में व्यापार बढ़े तथा अधिक सम्पर्क बढ़े। यह भी वर्णन था कि दोनों देश एक दूसरे की स्वतन्त्रता एवं अखण्डता का सम्मान करेंगे। इसी प्रकार की अनेक बातें थीं जिन पर दोनों देशों का एकमत था।

अमेरिका और चीन का सहयोग काल (1972-77)—निक्सन की यात्रा एवं चीनी नेताओं से वार्ता से एक नया अध्याय सहयोग का प्रारम्भ होता है। बंगला देश पर दोनों देशों का एक ही अभिमत था। 1973 में किसिंगर एक बार फिर चीन गये और तय हुआ कि दोनों देशों में 'सम्पर्क कार्यालय' खोला जाय। किसिंगर तथा चीनी नेताओं की संयुक्त विज्ञप्ति से यही पता चला कि दोनो देशों में और भी मधुर सम्बन्ध स्थापित हुये।

यह सुखद और मधुर सम्बन्ध तीन साल तक चले। 1974 मे इनमें कुछ कटुता आने लगी। चीन चाहता था कि फारमोसा को चीन का अंग घोषित किया जाय पर ऐसा न हो सका। इसके अतिरिक्त नवम्बर 1974 में फोर्ड-ब्रिजनेव ब्लाडीवास्टक सम्मेलन हुआ इससे चीन नाराज हो गया। चीन यह नही सह सकता था कि रूस और अमेरिका में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हों। किसिंगर ब्लाडीवास्टक से सीधे पीकिंग गये और उन्होंने चीनी नेताओं को समझाया कि वे ब्लाडीवास्टक सम्मेलन से कोई गलत अर्थ न लगायें। चीन ने अपनी शिकायतें उनके सामने रखी। किसिंगर ने उन्हें अनेक आश्वासन दिये। यह भी कहा कि 1975 के अन्त में राष्ट्रपति फोर्ड की चीन यात्रा पर आपकी सभी शकायें दूर की जायेंगी।

नवम्बर 1976 में अमेरिका में राष्ट्रपति चुनाव हुआ जिसमें जिम्मी कार्टर विजयी हुए। 20 जनवरी 1977 को जिम्मी कार्टर ने अपने पद का कार्यभार सम्भाल लिया। चीन में 1976 के जनवरी मास में प्रधानमन्त्री चाउ एन लाई का निधन हो गया और 9 सितम्बर 1976 को चीन का निर्माता माउत्सेतुंग भी दुनिया से चल बसा। यद्यपि चीन का प्रधानमन्त्री एवं राष्ट्रपति का पद हुआकुआ फेंग को मिला पर चीन में आन्तरिक कलह व्याप्त हो गयी। यह कलह अभी तक जारी है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के भारतीय उप-महाद्वीप से सम्बन्ध
(Relations between U. S. A. and Indian Sub-Continent)

भारत 1945 में 14-15 अगस्त को दो भागों में बँट गया—एक भारत दूसरा पाकिस्तान। चूँकि भारत ने अपने देश को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया इससे अमेरिका को बड़ी प्रसन्नता हुई और एशिया मे गणतन्त्र की स्थापना से उसे इतिहास में एक नया युग का प्रारम्भ होते दिखाई दिया। पर जब भारत के प्रधानमन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने तटस्थता की नीति की घोषणा की तो उसे बड़ी निराशा हुई। फिर भी उसने चाहा कि भारत को अपने पूंजीवादी गुट में किसी प्रकार मिलाया जाय। उस विषय मे प्रो० जोन के० फेयरबक ने अपनी पुस्तक 'एशिया मे अगला कदम" (Next Step in Asia) में श्री विलियम एल० हालैण्ड के शब्दो मे उद्धृत किया है। ये शब्द इस प्रकार के हैं कि "भारत में अमेरिकी व्यापार और पूंजी-निवेश के विकास को अब हमारी विदेश-नीतियों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करना चाहिए। जापान के अलावा भारत ही अकेला ऐसा महत्त्वपूर्ण देश है जो सुदूर-पूर्वीय देशों में स्थित है जहाँ की परम्परा संसदात्मक है और जहाँ एक छोटा स्फूर्तिवान व्यापारी वर्ग है। भारत मे अमेरिकी सुदूर-पूर्वी नीति को निर्णयकारी और राजनेता जैसी प्रगति के लिए एक स्वर्ण अवसर है किन्तु इसका लाभ अविलम्ब उठाया जाना चाहिए तभी यह अमेरिका के लिए लाभकारी सिद्ध होगा।"

इस प्रकार एल० हालैण्ड ने अमेरिकी पूंजीपतियों एवं राजनेताओं का ध्यान भारत की ओर आकर्षित किया। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए पं० जवाहरलाल नेहरू को अमेरिका आने का निमन्त्रण 1949 मे भेजा गया। पं० नेहरू एक प्रबुद्ध व्यक्ति थे वे यात्रा पर गये अमेरिकी राजनेताओं से मिले पर अमेरिकी जादू का प्रभाव उन पर न चढ़ा। उनके सामने जब भारत में अमेरिकी सैनिक अड्डे के निर्माण का प्रस्ताव आया तो उन्होने उसे ठुकरा दिया।

काश्मीर का प्रश्न—भारत ने जब काश्मीर का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ मे रखा तो अमेरिका ने जो रुख अपनाया वह भारत विरोधी ही रहा। उसने आक्रमणकारी एवं आक्रान्त को एक ही तराजू में तोल दिया। पाकिस्तान को आक्रमणकारी पश्चिमी गुट न कह सका। काश्मीर समस्या को इतना उलझाया गया कि वह 30 वर्ष होने को आये, अभी तक सुलझी नहीं है। धीरे-धीरे अमेरिका पाकिस्तान का समर्थक हो गया और भारत की उसने उपेक्षा प्रारम्भ की।

चीन को मान्यता का प्रश्न—चीन साम्यवादी जनवादी गणराज्य का जन्म 1 अक्टूबर 1949 को हुआ। अमेरिका ने अथक प्रयास किया कि कोई स्वतन्त्र राष्ट्र चीन को मान्यता प्रदान न करे। भारत पर भी इस विषय पर अमेरिका दबाव पड़ा। शायद पं० नेहरू चीन को कुछ दिन और मान्यता न देते पर अमेरिकन दबाव से चिढ़कर उन्होने दिसम्बर 1949 मे चीन को मान्यता दे दी। अमेरिका को यह कार्य भी पसन्द न आया।

कोरिया युद्ध—1950 मे उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। भारत ने 25 तथा 27 जून 1950 को सुरक्षा परिषद मे अमेरिकन प्रस्ताव का समर्थन करते हुए उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। यह बात रूस और चीन को बुरी लगी। भारत ने रुख बदल दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनायें जब उत्तरी कोरिया की सेना को खदेड़ती हुई 38° अक्षांश पार कर गयीं तो नेहरू जी ने 38° अक्षांश के पार करने का विरोध किया। उसने कहा कि यह उत्तरी कोरिया पर आक्रमण होगा। अमेरिका ने भारत की इस अस्थिर नीति का कड़ा विरोध किया पर उसने साम्यवादियों का हृदय जीत लिया लिया। जब कोरिया के युद्ध-बन्दियों को स्वदेश लौटने का प्रश्न आया तो भारत को तटस्थ देश समझकर यह मसला उसे सुलझाने को दिया। भारत ने अमेरिका विरोधी रुख अपनाया। इससे भारत और अमेरिका मे कटुता बढ़ी।

जापान से अमेरिका की सन्धि—द्वितीय विश्व-युद्ध में जापान ने अमेरिका के सामने हथियार डाल दिये। अमेरिका सेनापति जापान का सैनिक प्रशासक नियुक्त हुआ। 7 वर्ष तक जनरल मैकार्थर ने जापानियों पर खूब अत्याचार किये पर रूस और चीन के दो हव्वे जब सामने आये तो जापान और जर्मनी को पश्चिमी देशों ने इन हव्वों के विरुद्ध खड़ा करना चाहा। जनरल मैकार्थर ने एक स्वयं संविधान जापान के लिए बनाया और उसे 4 सितम्बर 1951 में होने वाले सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में रखा। भारत को भी इस सम्मेलन में बुलाया गया पर उसने सम्मेलन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। अमेरिका को बड़ा क्रोध आया। 29 अगस्त 1951 को अमेरिकी स्तम्भकार लूडवेन डेनी ने लिखा—'जापानी सन्धि को ध्वस्त करने मे भारतीय प्रधानमन्त्री के प्रयासो का कुप्रभाव सानफ्रासिस्को सम्मेलन से पहले ही प्रकट हो रहा था। इससे वर्मा, फिलिपाइन्स द्वीप समूह, इण्डोनेशिया तथा जापान किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए।"

इस प्रकार जापान एवं चीन के प्रति भारत के रवैये से अमेरिका खुश न था। वह उसे साम्यवाद का समर्थक मानता था तथा उसकी तटस्थता तो एक धोखा, आडम्बर मात्र था पर उसे छोड़ना तब भी न चाहता था।

आर्थिक सहायता तथा अनाज की अमेरिकन नीति—रूस और अमेरिका दोनों ही साम्राज्यवादी देश हैं। रूस अपना साम्राज्य सेना के बल पर फैलाता है जबकि अमेरिका अपना साम्राज्य आर्थिक सहायता देकर फैलाता है। रूस इतना लम्बा चौड़ा देश है पर वह धन-धान्य से खाली है। उसे भी अनाज जब तब अमेरिका से मँगाना पड़ता है। अमेरिका में धन और धान्य की प्रचुरता है। वह निर्धन देशों का समर्थन, उन्हें आर्थिक सहायता या अन्न देकर प्राप्त करता है। चीन के बढ़ते कदम से अमेरिका ने एशिया के प्रति अपनी नीति पर पुनर्विचार किया। विशेषकर भारत के प्रति कठोर नीति मे परिवर्तन आया। वह एशिया मे साम्यवाद को रोकने के लिए भारत से सहयोग की आशंका करता था। अतः अनेक मतभेद होते हुए भी भारत को आर्थिक सहायता के जाल में फासना प्रारम्भ किया। भारत को भी नवनिर्माण तथा पंचवर्षीय योजनाओं की पूर्ति के लिए धन की बड़ी आवश्यकता थी अतः उसने भी अमेरिका के प्रति उदार नीति बरती।

सामाजिक एवं सास्कृतिक सम्बन्धों मे भी दोनों देशों में मेल-जोल बढ़ा। फुल-ब्राइट-योजन (Full bright Scheme) के अन्तर्गत दोनों देशों के विद्वान भारी सख्या मे एक-दूसरे देश में गये। भारत में अन्न की भी बड़ी कमी थी अतः भारत को अमेरिका ने प्रचुर मात्रा मे अन्न दिया। अमेरिका चाहता था कि भारत को 10 लाख टन अनाज नकद तथा 10 लाख टन अनाज उपहार में देना चाहता था। सीनेट ने भारत की नीति से खिन्न होकर उपहार को भी ऋण मे बदल दिया। 19 करोड़ डालर का ऋण भी भारत को मिला पर इस शर्त पर कि भारत अपनी मैंगनीज अमेरिका को निर्यात करे। यह शर्त भारत मानने को तैयार न हुआ। पं० नेहरू ने कहा "हमें जिस चीज की सख्त आवश्यकता है उसके बदले मे भी हम भारत का आत्म-सम्मान नहीं बेचेंगे।"

पाकिस्तान को सैनिक सहायता—राष्ट्रपति ट्रूमैन ने दिसम्बर 1951 को पाकिस्तान को एक "मूल्यवान मित्र" कहा। 1953 मे भी पाकिस्तान के सेनाध्यक्ष जनरल अय्यूब खां ने अमेरिका को आश्वासन दिया कि वह "अमेरिका के प्रमुख एशियाई गढ़ों मे से एक बनने को तत्पर है।" यद्यपि अमेरिका ने 1954 में पाकिस्तान को सैनिक सहायता यह कहकर दी कि वह इसका प्रयोग साम्यवाद के प्रसार को रोकने में करेगा पर वास्तव मे पाकिस्तान ने उसे भारत के विरुद्ध प्रयोग करने के लिए माँगा था। भारत ने इसकी सहायता का विरोध किया। भारत पर इस सहायता का उल्टा प्रभाव पड़ा उसे अपना सैनिक खर्चा बढ़ाना पड़ा। अमेरिका की सैनिक सहायता का पर्दाफास करते हुए भूतपूर्व राजदूत चेस्टर बाउल्स ने कहा था कि 'गत 15 वर्षों मे यूरोप के

बाहर हमारी अधिकांश सैनिक सहायता इसलिए दी गयी है कि वे अमेरिकी विदेश नीति का समर्थन करें।"

पाकिस्तान पर अमेरिका का जाल बढ़ता ही रहा 1954 में पाकिस्तान सीयटो एवं सैन्टो फौजी संगठनों का सदस्य हो गया। यह पूरी तरह अमेरिका का 'यसमैन' बन गया। भारत के प्रति कैनेडी ने अवश्य अच्छे सम्बन्ध स्थापित किये वह मित्रता का काल अल्पकालीन सिद्ध हुआ। 1965 में पाकिस्तान तथा भारत के युद्ध के समय अमेरिका ने भारत और पाकिस्तान की आर्थिक एवं सैनिक सहायता बन्द कर दी।

सैनिक संगठनों का भारत द्वारा विरोध—अमेरिका रूस तथा चीन को चारों ओर से घेरना चाहता था। अतः उसने अनेक सैनिक सगठन—नाटो, सैन्टो एवं सीयटो आदि बनाये। भारत ने इन सैनिक संगठनों का विरोध किया। राष्ट्रपति ट्रूमैन तथा आइजन हावर ने अपने गुट को मजबूत करने के लिए अपने सिद्धान्त बनाये। अमेरिका ने एशिया एवं यूरोप के अनेक देशों को आर्थिक सहायता देकर उनको अपने पक्ष में किया। भारत इस नीति का घोर विरोध करता रहा।

गोआ का प्रश्न—1961 मे भारत चाहता था कि पुर्तगाली बस्ती जो भारत मे अभी शेष थी, भारत से मिला ले पर अमेरिका ने पुर्तगाल का साथ दे उसे पुर्तगाल का अंग बनाया। यह समस्या और जटिल हो गयी। 1955 मे तत्कालीन विदेशमन्त्री जानफास्टर डलेस ने कहा था कि "जहाँ तक मैं जानता हूँ सम्पूर्ण ससार गोआ को पुर्तगाल के प्रान्त के रूप में स्वीकार करता है। जब 1931 मे भारत ने सैनिक कार्यवाही कर गोआ आदि बस्तियों को मुक्त कर लिया तो सुरक्षा परिषद मे स्टीवेन्सन महोदय ने कहा—"आज रात को हम उस नाटक के प्रथम अंक को देख रहे हैं जिसका अन्त संयुक्त राष्ट्र संघ की मृत्यु के साथ हो सकता है।"

बंगला देश की स्वतन्त्रता—यद्यपि यह कहा जाता है कि कैनेडी का काल भारत-अमेरिकन सम्बन्धों के लिए स्वर्णकाल माना जाता है पर उनका भी प्रयास यही रहा कि भारत अमेरिकन गुट में मिल जाय। पर भारत असलग्न नीति पर डटा रहा तब अमेरिकन कांग्रेस ने भारत पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि भारत के किसी उद्योग के लिए 10 करोड़ डालर से अधिक सहायता न दी जाये।

कैनेडी के बाद जानसन का शासन आया। भारत ने जानसन की वियतनाम नीति की घोर भर्त्सना की इससे अमेरिका नाराज हो गया। निक्सन के शासन मे तो अमेरिका और भारत में घोर सघर्ष की नौबत आ गयी। पाकिस्तान मे तानाशाह अय्यूब का शासन समाप्त हुआ तो याह्या खाँ का शासन आया। उसके काल में बगला देश का स्वतन्त्रता आन्दोलन चला। पाकिस्तानी सेनाओं ने बगालियों को बुरी तरह काटा। लगभग 30 लाख नरनारी मारे गये और एक करोड़ लोग भागकर भारत आये। यद्यपि भारत ने बगला देश में हो रहे अत्याचारों का वर्णन किया और विश्व से अपील की कि बगला देश का कोई राजनीतिक हल निकाला जाय। इस पर अमेरिका ने भारत को धमकी दी कि यदि बंगला देश में उसने हस्तक्षेप किया और चीन ने उस पर आक्रमण कर दिया तो 1962 के समान अमेरिका कोई सहायता न देगा। पर श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने 9 अगस्त 1971 को रूस से 20 वर्षीय सन्धि कर ली। अमेरिका को विश्वास हो गया कि भारत की तटस्थ नीति भंग हो गयी। वह रूसी गुट मे चला गया है। 1971 के भारत पाक युद्ध में तो अमेरिका ने अपना 7 वाँ समुद्री बेड़ा लाकर बगाल की खाड़ी मे लगा दिया। भारत मे बड़ी उत्तेजना फैली। 14 दिन की लड़ाई मे पाकिस्तान घुटने टेक गया। 93 हजार सैनिकों ने ढाका मे हथियार डाल दिये। पाकिस्तान का विभाजन हो गया। बंगला देश स्वतन्त्र हो गया।

इतना होने पर भी पाकिस्तान की सहानुभूति अमेरिका के दिल से न गयी। वह पुनः पाकिस्तान को आर्थिक एवं सैनिक सहायता दे रहा है। निक्सन के बाद फोर्ड भी उसी नीति पर

चल रहे हैं। 1977 में जिम्मी कार्टर अमेरिका के राष्ट्रपति बने हैं। देखिये उनकी नीति इस उप-महाद्वीप के प्रति क्या हो।

अमेरिकी-रूस सम्बन्ध
(U. S.-Russian Relations)

द्वितीय विश्व युद्ध में रूस और अमेरिका धुरी शक्तियों के विरुद्ध कन्धे से कन्धा मिला कर लड़े पर युद्ध समाप्त होते ही दोनों देशों मे लूट के माल को समेटने पर संघर्ष छिड़ गया। जर्मनी में, कोरिया में वियतनाम मे दोनों देशों ने अपनी सेनायें प्रवेश करादीं और वे बढ़ते-बढ़ते एक दूसरे के आमने सामने आ गयीं। इन देशों के एकीकरण पर दोनों का शीत युद्ध चला। दोनों शक्तियाँ बराबर की हैं। इनकी शक्तियों का प्रत्यक्ष संघर्ष चीन, कोरिया, वियतनाम तथा जर्मनी में हुआ। कहीं रूस ने मात खाई और कहीं अमेरिका ने। उदाहरण के लिए बर्लिन में, कोरिया में एवं क्यूबा में रूस को घोर असफलतायें मिलीं पर जब से चीन रूस का साथी उत्पन्न हुआ तो चीन में, वियतनाम मे बगला देश मे अमरिका को मुँह की खानी पड़ी।

रूस साम्यवादी देश है और पूँजीवाद को विश्व से उखाड़ फेंकना चाहता है पर इस प्रयास मे रूसी नेता असफल हुए। पूँजीवाद की शक्तियाँ और बढ़ीं। रूस को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। अमेरिका ने भी ट्रूमैन एव आइजनहावर सिद्धान्त बनाकर रूस एव चीन की घेराबन्दी की पर इसमें असफलता मिली। दोनों ने यह अन्दाजा लगा लिया है कि दोनों एक-दूसरे को नष्ट नहीं कर सकते हैं। उन्हें विश्व में साथ-साथ रहना है।

पश्चिमी यूरोप—द्वितीय विश्व युद्ध में पूर्वी यूरोप पर रूस का कब्जा था। जितनी भी सरकारें थी वे सब मास्को से निर्देशन लेती थी। अमेरिका जानता था कि यूरोप का पश्चिमी भाग, इतना सशक्त नहीं है कि वह अपनी रक्षा आप कर सके। उसने नाटो का संगठन किया और उन देशों को आर्थिक सहायता दी। यह सभी देश अमेरिका के प्रभाव मे आ गये। 24 अप्रैल 1956 में डलेस ने कहा था कि नाटो एक प्रतिरक्षात्मक गठबन्धन से "कुछ अधिक बन सकता है तथा ऐसा बनाया भी जाना चाहिए।"

वास्तव में जब से रूस ने अणुबम का विस्फोट किया था तब से पश्चिमी यूरोप को बड़ा खतरा पैदा हो गया था और वह अमेरिका संरक्षण चाहता था। जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न पर रूस और अमेरिका मे बहुत मतभेद बढ़ गये थे। दोनों में भयानक शीत युद्ध चल पड़ा था। बर्लिन के घेरे से पश्चिमी यूरोप को रूस के आक्रमण का खतरा बढ़ गया था पर अमेरिका ने पश्चिमी राष्ट्रों की सहायता से इस घेरे को तोड़ दिया था। वास्तव में बर्लिन का घेरा ही नाटो का जन्मदाता था।

पश्चिमी एशिया—जब से इजराइल का जन्म हुआ तब से पश्चिमी एशिया में बड़ी तनातनी चल पड़ी थी। इजराइल पश्चिमी एशिया में अमेरिका का एक विशेष सैनिक केन्द्र है। रूस इस केन्द्र को हटाना चाहता था अतः उसने अरब देशों को भड़काया अनेक युद्ध अरबों और इजराइल में हो चुके हैं पर यह समस्या रूस और अमेरिका के हस्तक्षेप से उलझती जाती है। 1948 मे पहला, 1956 में दूसरा, 1967 मे तीसरा और 1973 मे चौथा अरब इजराइल युद्ध हुए और अमेरिका की कृपा से इजराइल ने हर युद्ध में विजय पायी है। चौथे युद्ध में तो मिस्र रूस की धोखे-धड़ी की नीति से ऊब गया और वह अमेरिका से अच्छे सम्बन्ध बनाने में लगा हुआ है।

सुदूर पूर्व एशिया—अमेरिका और रूस से भयानक संघर्ष सुदूर पूर्व एशिया मे हुआ है। चीन में साम्यवादी शासन आ जाने से रूस का क्रियाकलाप पूर्वी एशिया मे बहुत बढ़ गया। कोरिया का 3 वर्ष तक युद्ध साम्यवादी और पूँजीवादी शक्तियों में खुला संघर्ष चला। कोरिया में रूस और चीन की नीति फेल हुई और 1950 जैसी यथास्थिति कायम हो गयी। इसके बाद

वियतनाम में साम्यवादी और पूंजीवादी शक्तियाँ 20 वर्षों तक जूझती रहीं अन्त में अमेरिका को वियतनाम छोड़ना पड़ा पर चलते-चलते उसने साम्यवादी गुट से चीन को तोड़ लिया। चीन अब अमेरिका का पिछलग्गू बन गया है। चीन को दक्षिणीपूर्वी एशिया में फैलने की सुविधा है पर वहाँ भी अमेरिका ने सीयतो सगठन बना रखा है।

भारत उपमहाद्वीप—प्रारम्भ में तो रूस भारत के प्रति उदासीन रहा पर धीरे-धीरे वह भारतीय समस्या मे भाग लेने लगा। विशेष तौर पर काश्मीर समस्या पर। यद्यपि भारत ने असंलग्नता की नीति अपनाई है पर उससे न रूस खुश था और अमेरिका। काश्मीर के प्रश्न पर जब अमेरिका ने पाकिस्तान का अन्ध समर्थन किया तो रूस ने भारत का पक्ष लिया। सुरक्षा परिषद में उसने इस प्रश्न पर कई बार वीटो का प्रयोग किया है। अमेरिका ने पाकिस्तान से पेशावर का हवाई अड्डा ले रखा है अतः वह पाकिस्तान को भारी सैनिक सहायता देता है। 1962 मे जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो अमेरिका एव पश्चिमी गुट ने उसकी बड़ी सहायता की। रूस को खतरा हुआ कि कहीं भारत पश्चिमी गुट में न मिल जाये अतः चीन पर दवाव डाल कर उसने भारत चीन युद्ध बन्द कराया। बाद में उसने चीन की निन्दा भी की। इससे भारत अमेरिकी गुट मे मिलते-मिलते रह गया। रूस ने पाकिस्तान से अमेरिका और चीन का प्रभाव हटाना चाहा अतः 1965 के पाक-भारत युद्ध मे और इसके 3 वर्ष बाद तक वह भारत की उपेक्षा करके भी पाकिस्तान को मिलाने के पक्ष मे रहा पर अन्त में उसे पाकिस्तान का पक्ष छोड़ना पड़ा। 1971 मे जब बंगला देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठा तो चीन और अमेरिका ने भारत को युद्ध की धमकी दी। भारत ने रूस से 9 अगस्त 1971 की प्रतिरक्षा सन्धि करली। 1971 के पाक भारत युद्ध मे इस सन्धि ने भारत को जिताने मे बड़ी सहायता की। रूस ने चीन के अपने गुट से निकलने की कमी पूरी करली है। चूँकि 1977 मे अमेरिका और भारत में शासनतन्त्र मे नेतृत्व बदला है देखिये इसका क्या प्रभाव पड़े। रूस ने तो अपनी 20 वर्षीय सन्धि की पुष्टि भारत की नई सरकार से अप्रैल 1977 में कराली है। मई 1977 मे भारत में अमेरिका का नया राजदूत आया है और एन० पालखीवाला को भारत का राजदूत बनाकर अमरीका भेजा गया है।

क्यूबा का सकट—क्यूबा पश्चिमी द्वीप समूह का सबसे बड़ा टापू है। वहाँ कैस्टो के नेतृत्व मे क्रान्ति हो गयी। उसने साम्यवादी शासन पद्धति अपनाई और रूस से सम्बन्ध जोड़ें। रूस ने वहाँ कई अड्डे प्राप्त किये और क्यूबा को शस्त्रास्त्र भेजने प्रारम्भ किये। अमेरिका ने क्यूबा का घेरा डाल दिया और अपनी जल सेना को आज्ञा दे दी कि रूस के जो शस्त्रों से भरे जहाज आयें उन्हें पकड़ लो। अक्टूबर 1962 मे क्यूबा का संकट बड़ा गम्भीर बन गया। रूस और अमेरिका आपस मे टकराने का तैयार हो गये पर ख्रुश्चेव ने बुद्धिमत्ता से काम लिया और अपने शस्त्रों से भरे जहाज वापस बुला लिये और क्यूबा से भी अपने अड्डे हटाने का वचन दिया। युद्ध होते-होते बच गया।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. ट्रूमैन सिद्धान्त क्या था? कब और किन परिस्थितियों मे इसका निर्माण हुआ? क्या आप इस बात से सहमत हैं कि ट्रूमैन सिद्धान्त मुनरो सिद्धान्त का आधुनिक रूप है।
   What was the Truman Doctrine? When and under what circumstances was it enunciated? Would you agree with the view that the Truman Doctrine is the most modern version of the Munro Doctrine?
2. 1945 से सयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का वर्णन कीजिए।
   Discuss U. S. A.'s foreign policy since 1945.
3. अखिल अमेरिकनवाद क्या है? 1945 से विश्व राजनीति पर इसका क्या

4. आइजनहावर सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये तथा इसके प्रयोग की सफलता या असफलता पर प्रकाश डालिये।
Explain the Eisenhower Doctrine and state the success or failure of its use.

5. मार्शल योजना पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
Write a short note on Marshal Plan.

6 अमेरिका की वियतनाम नीति पर प्रकाश डालिए।
Explain the American policy towards Vietnam.

7. पिछले दो दशकों मे भारतीय उपमहाद्वीप के प्रति अमेरिका की नीति का मूल्यांकन कीजिये।
Evaluate the American policy towards Indian sub-continent in last two decades,

8. अमेरिका की नीति लालचीन के प्रति क्या रही। निक्सन को इस नीति में क्या सफलतायें प्राप्त हुईं ?
What was the policy of America towards Red China ? How far Nixon was successful in this policy.

9. संयुक्त राज्य अमेरिका की सोवियत रूस के प्रति क्या नीति रही। इसमे उसको कहाँ तक सफलता मिली।
What was the policy of U. S. A. towards U. S. S. R. and how far has succeeded in it.

10. कोरिया युद्ध और क्यूबा संकट पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये।
Write short notes on the Korean War and Cuban crisis.

1. काश्मीर समस्या पर अमेरिका और रूस के क्या विचार रहे। भारत रूस के प्रति क्यों आकर्षित हुआ।
What are the views of U. S. A. and U. S. S. R. on the problem of Kasmir ? Why India was attracted toward U. S. S. R.

3

सोवियत रूस की विदेश नीति (1945 के बाद)
(The Foreign Policy of U. S. S. R. (Since 1945)

"प्रत्येक देश में समाजवाद की स्थापना का स्वरूप मौलिक होना चाहिए, लेकिन समाजवादी देशों को सामान्य मूल सिद्धान्तों को मान्यता अवश्य देनी चाहिए अन्यथा साम्यवाद का अस्तित्व मिट जायगा।"

—ब्रेझनेव

"There was no dispute between East and West which could not be solved peccefully." —Khurushchev

सोवियत विदेश नीति के मूलाधार
(Fundamental Basis of Soviet Foreign Policy)

मार्क्स के सिद्धान्तों पर 1917 में रूस में क्रान्ति हुई। साम्यवाद का सिद्धान्त वहाँ शासन पर लागू हुआ। लेनिन ने मार्क्स के विचारों को सर्वप्रथम रूस में क्रियान्वित करने का प्रयास किया। 1924 के बाद रूस की सत्ता लौह पुरुष स्टालिन के हाथ मे आयी। उसने कुछ वर्षों तक तो आन्तरिक रूप से क्रान्ति को सफल बनाने मे विताये। 1936 मे उसने रूस का संविधान बनाया। इस सविधान के आधार पर रूस की शासन पद्धति प्रारम्भ हुई। साम्यवाद के सिद्धान्त का प्रभाव रूस के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों क्षेत्रो पर व्यापक पडा। यह साम्यवादी पद्धति पूँजीवादी पद्धति से सर्वथा भिन्न थी। विचार-धारा की दृष्टि मे सोवियत संघ विश्व को दो स्पष्ट भागों मे बँटा हुआ मानकर चलता है। पहला भाग समाजवादी है और दूसरा भाग पूँजीवादी। मार्क्सवादी और लेनिनवादी यह मानते हैं कि पूँजीवाद का अन्तिम परिणाम साम्राज्यवाद है। पूँजीवाद जब अपनी उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचता है तो उसमें अन्तर्विरोध उत्पन्न होने लगता है। पूँजीवाद के प्रसार से साम्राज्यवाद युद्धों को जन्म देता है—उपनिवेशों में पूँजीवाद के विरुद्ध विद्रोह हो जाता है। मार्क्सवादी यह मानते हैं कि दुनिया मे सशस्त्र राज्यों की जड़ पूँजीवाद है। पूँजीवाद जब तक रहेगा विश्व से युद्ध समाप्त न होंगे। साम्यवादी यह भी विश्वास करके चलते हैं कि जब पूँजीवाद का पतन होना प्रारम्भ होता है तब समाजवाद का उदय होता है अतः समाजवाद के विकास के लिए विश्व से पूँजीवाद का अन्त होना आवश्यक है। पूँजीवाद का विनाश ही सोवियत संघ की विदेश नीति का मूल तत्व है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद रूस एक महान शक्तिशाली देश के रूप में उसने जो विदेश नीति बरती उसके दो भाग किये जाते हैं—(1) 1945 से 1953 त की विदेश नीति, (2) (अ) ख्रुश्चेव की विदेश नीति—1953 से 1964 तक, (अब तक।

स्टालिन की विदेश नीति
(Stalins Foreign Policy)

स्टालिन पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद का घोर शत्रु है, वह धर्म एवं ईश्वर पर भी विश्वास न रखता था। साम्यवाद तो धर्म को 'अफीम का नशा' बताता है और शोषण का एक माध्यम कहता। उसने रूस के अन्दर धर्म का बहिष्कार किया था एवं गिरजाघरों में ताला लगवा दिया था। परन्तु मुसीबत मे ही भगवान की याद आती है, रूस भी इससे बच न सका। जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया तो स्टालिन ने सभी गिरजाघरों को खुलवा दिया एवं उनमे घण्टी बजवाने एव देश की विजय के लिए प्रार्थना कराने की व्यवस्था करा दी। इसी प्रकार दिन रात पूंजीवादियो को गला फाड़-फाड़ कर गाली देने वाला स्टालिन उनके रहमोकरम पर आश्रित हो गया, युद्ध के दौरान पूंजीवाद और साम्यवाद ऐसे मिल गये जैसे जंगल मे आग लगने पर किसी नदी के किनारे शेर और हिरन, सांप और मोर तथा भेड़िया और गीदड़ सब बैर-भाव छोड़ मिल जाते हैं।

युद्धकालीन सम्मेलनों मे भाग लेते हुए स्टालिन ने अपने निश्चय को प्रकट करते हुए कहा था कि "वह न केवल युद्ध को जीतने का आकांक्षी है, अपितु वह युद्ध के बाद की शान्ति का अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एव सदभावना की मजबूत आधारशिला पर खड़ा करेगा।" 27 फरवरी से ब्रिटिश लोक सभा में बोलते हुए चर्चिल ने कहा था कि "सोवियत नेता पश्चिमी प्रजातन्त्र के साथ सम्मानपूर्ण मैत्री एव सम्मान के साथ रहना चाहते हैं।"

युद्धकाल समाप्त हुआ या होने लगा तो स्टालिन को पुराने वादे एवं विचार भूल गये और उनकी नीयत खराब हो गयी। उसने जिन देशों में अपनी सेनायें भेजी वहाँ पर जबरन साम्यवाद थोपा, कठपुतली सरकारें बनायीं तथा उनको मास्को की लगाम में बांध दिया। पूर्वी यूरोप के सभी देश मास्को की लगाम बना दिये गये। पूर्वी जर्मनी पर भी रूस ने स्थायी अधिकार जमा लिया। जापान के हथियार डालते ही चीन, कोरिया इण्डोचाइना मे साम्यवादी लूट का माल बटोरने में लग गये। इस प्रकार शीतयुद्ध से पूर्व ही मित्र राष्ट्रो एव साम्यवादी देश मे मनमुटाव चल पड़ा। साम्यवाद के पक्षपाती मित्र राष्ट्रो पर आरोप लगाते हैं कि युद्ध के दौरान भी मित्र देश रूस के प्रति घृणा को न छोड़ सके। इसी कारण उन्होने द्वितीय मोर्चा खोलने मे विलम्ब किया। अणु बम का फार्मूला रूस से छिपाया तथा जापान पर अकेले अमेरिका की सेना का अधिकार हुआ। ऐसी अवस्था मे स्टालिन अपने पुराने वादो पर कैसे अड़ा रहता वह रूस को कैसे नष्ट करा देता। पर यह सब बहाने बाद को बनाये गये हैं। स्टालिन महास्वार्थी व्यक्ति था। वह पूंजीवाद का कट्टर शत्रु था। वह स्वयं साम्राज्यवादी था पर दूसरे लोगो के साम्राज्य को देखकर जलता था। वह समस्त विश्व पर दोस्ती से, दुश्मनी से या धोखे से अधिकार करना चाहता था। उसने निश्चय कर लिया था कि युद्ध के बाद वह पश्चिमी शक्तियों से किसी बात पर समझौता नहीं करेगा। यही कारण था कि युद्ध के समाप्त होने पर शीत युद्ध जारी हो गया।

अमेरिका तथा रूस की रीति-नीति से समझ गये कि कि वह आगे पश्चिमी शक्तियों से सहयोग न करेगा। विश्व का अन्य कोई राज्य अमेरिका को छोड़कर, उसकी शक्ति के सामने न ठहर सकेगा। समस्त विश्व पर अपना अधिकार जमाने में रोड़ा अटकाने वाला देश बस एक ही है, वह अमरिका। सैनिक शक्ति एवं धन की शक्ति मे वही अद्वितीय है। अतः रूस ने अपना लक्ष्य अमेरिका को ही बनाया। वह अमेरिका को अपना कट्टर शत्रु कहने लगा और उसे आर्थिक, राजनीतिक, सैनिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों में नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगा। यही सोवियत रूस की विदेश नीति का लक्ष्य बन गया।

(1) विश्व में साम्यवाद का प्रसार—स्टालिन के समय में रूस की नीति थी—समस्त विश्व में साम्यवाद का प्रचार करना तथा पूँजीवादी व्यवस्था को उलटकर साम्यवादी व्यवस्था लागू करना। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद परिस्थितियाँ रूस के पक्ष में थीं। रूस मध्य यूरोप तक पहुँच गया था। रूस ने यह भी देखा यूरोप की सभी शक्तियाँ जिनसे उसे भय था वह पराजित और शक्तिहीन हो गयी हैं। इंगलैण्ड एवं जर्मनी दोनों ही शिथिल हैं पूर्व में जापान अमेरिका का गुलाम बन गया है। उसके प्रसार को अब रोकने वाला कोई नहीं। मोलोतोव ने इन परिस्थितियों को ही देखकर कहा था कि "हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सभी सड़कें साम्यवाद की ओर जा रही हैं।

स्टालिन जल्दबाजी से काम लेना नहीं चाहता था। उसने सं० रा० संघ में अड़ंगेबाजी की नीति अपनायी। उसकी नीति से परेशान होकर अमेरिका का विदेश मन्त्री मार्शल जब स्टालिन की ओर देखने लगा तो स्टालिन ने कहा कि "घबड़ाने की कोई बात नहीं है। समय हमारे पक्ष में है: वह स्वयं समझौता करा देगा।"

स्टालिन ने पश्चिमी शक्तियों का हर स्थान पर विरोध किया। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं पूँजीवाद के विरुद्ध धुआँधार प्रचार किया। दूसरे देशों में जो साम्यवादी दल थे उन्हें विद्रोह करने को प्रोत्साहित किया। टर्की, ईरान, यूनान के प्रति रूसी नीति, बर्लिन का घेराव, कोरिया में साम्यवादी शक्ति का समर्थन। अमेरिका के साथ भीषण शीत युद्ध छेड़ दिया था। अमेरिका ने भी प्रतिक्रिया स्वरूप साम्यवाद रोकने के लिए ट्रूमैन तथा आइजनहावर सिद्धान्त प्रतिपादित किये। यदि अमेरिका प्रबल विरोध न करता तो यूरोप में साम्यवाद छा जाता।

(2) पूर्वी यूरोप पर कब्जा—रूस को द्वितीय विश्व युद्ध में भारी हानि उठानी पड़ी थी। आइजनहावर ने इस सम्बन्ध में लिखा था कि "1945 में जब मैं हवाई जहाज से सोवियत संघ गया तो हमने इसकी पश्चिमी सीमा से मास्को तक के विशाल प्रदेश में एक भी मकान खड़ा नहीं देखा।" कहा जाता है कि रूस के डेढ़ करोड़ नागरिक अथवा सैनिक मारे गये होंगे, 679 अरब रूबल की सम्पत्ति की हानि हुई। इसी प्रकार हजारों ग्राम, सैकड़ों नगर, करोड़ों भवन [illegible] स्कूल, पुस्तकालय तथा कारखाने भी सम्मिलित था, नष्ट हो गए इस कमी को रूस ने अपने चारों ओर साम्यवादी राज्यों की एक पंक्ति बनानी चाही। [illegible] का पूरा पता लगाया और [illegible] में जर्मनी व युद्धपूर्व में [illegible] करने की कोशिश की।

परिस्थिति की अनुकूलता देख उसने पूर्वी राज्यों को जो पहले ही [illegible] में थे, साम्यवादी बना लिया। युद्ध के बाद दो वर्ष के अन्दर ही [illegible] पर साम्यवादी शासन थोप दिया। पश्चिमी [illegible] देशों ने इसका विरोध किया, पर विरोध की परवाह न कर उसने 7 राज्यों को 'लाल' कर दिया। इसे सोवियत रूस का [illegible] आगे चलकर 1955 में इन देशों को वारसा पैक्ट में [illegible] सकता था।

युद्ध के बाद वे पूर्व पतियों के पास जाना चाहती थीं पर सोवियत सरकार ने इसकी अनुमति नहीं दी ।

विदेशी राजदूतों एवं पत्र-प्रतिनिधियों के साथ भी कठोर व्यवहार किया गया । उन्हें आजाद रूप से घूमने फिरने की स्वतन्त्रता नहीं दी गई । उनकी बातचीत भी निश्चित अधिकारियों से हो सकती थी । रूस में ही नहीं अन्य साम्यवादी देशों में भी ऐसे ही कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये । रूसी नागरिकों का विदेश भ्रमण रोक दिया गया । स्टालिन न स्वयं किसी से मिलता-जुलता था न अधिक बातें करता था । विदेशी राजदूत सिवाय भारत के राजदूत श्री राधाकृष्णन के उसके दर्शन को तरसते थे ।

रेडियो एवं समाचार पत्र साम्यवाद, साम्यवादी पार्टी तथा सरकार की आलोचना नहीं कर सकते थे । रूसी जनता के सामने वे विदेशी खबरें भी वही सुनाते थे जो साम्यवाद की प्रशंसा में होती थी । इस प्रकार रूसी जनता पर स्टालिन ने लौह-आवरण (Iron Curtain) डाल रखे थे ।

(4) **उपनिवेशवाद का विरोध एवं शान्ति का समर्थन**—रूस पूंजीपतियों के उपनिवेश-वाद, साम्राज्यवाद एवं शोषण का प्रारम्भ से ही विरोधी था । युद्धोत्तर काल में एशिया एवं अफ्रीका के सभी पराधीन राष्ट्रों में स्वतन्त्रता के आन्दोलनों का रूस ने पूर्ण समर्थन किया । स्टालिन शान्ति का पुजारी बन गया था और पश्चिमी देशों को वह युद्धलोलुप (War-mongers) कहा करता था । स्टालिन साम्यवादी साम्राज्यवाद की बुराई नहीं करता था । पूर्वी यूरोप के 7 राज्यों पर उसने गुलामी का पट्टा डाल रखा था । उसके शान्ति सम्मेलन एवं प्रयास सब दिखावा मात्र थे ।

(5) **संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति सोवियत रूस की नीति**—संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण में स्टालिन का महत्वपूर्ण हाथ था । संयुक्त राष्ट्र अमेरिका एवं सोवियत रूस का इस विषय में बड़ा सहयोग था पर युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ रूस और अमेरिका के मध्य शीत युद्ध का अखाड़ा बन गया । कुछ समय बाद संघ में गुटबन्दी होने लगी । एक गुट दूसरे के गुट का प्रत्येक क्षेत्र में विरोध करते थे । चूंकि संयुक्त राष्ट्र संघ की सभा एवं सुरक्षा परिषद में साम्यवादी गुट अल्पमत में था अतः रूस सुरक्षा परिषद में अपने निषेधाधिकार का खुलकर प्रयोग करता था । कोरिया के मामले में रूस ने सुरक्षा परिषद का बहिष्कार कर दिया । अमेरिका का प्रस्ताव कि उत्तरी कोरिया के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनायें भेजी जायं तभी पास हो सका, तब रूस को पछताना पड़ा, और उसने फिर कभी सुरक्षा परिषद का बहिष्कार न किया । रूस के विरोध के कारण ही यह विश्व संस्था अमेरिकी स्टेट डिपार्टमेन्ट का अंग न बन सका ।

ख्रुश्चेव युग—3 मार्च 1953 को स्टालिन की मृत्यु हो गई । स्टालिन ने विश्व के देशों से बहुत कम सम्पर्क रखा था । वह तो स्वयं और अपने साथियों के चारों ओर लौह का पर्दा डाल कर बैठा रहा । उससे रूस को अनेक हानियाँ उठानी पड़ी । पश्चिमी देश रूस को अड़गेबाज, स्वार्थी, हठी समझने लगे और उससे अछूत जैसा व्यवहार करने लगे । स्टालिन के उत्तराधिकारियों ने स्टालिन की नीति में संशोधन करना चाहा । श्री शैलेन्द्र नाथ धर के शब्दों में "3 मार्च 1953 में स्टालिन की मृत्यु के बाद पूर्व और पश्चिम के सम्बन्धों में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ ।"[1]

---

1 "Stalins death on 3 March, 1953 was an event of epoch making significance; as it clearly seemed to open out a new phase in East West-relations"

—*S. N. Dhar*

ख्रुश्चेव ने भी कहा था कि "पूर्व एवं पश्चिम में ऐसा कोई संघर्ष नहीं है जिसे शान्तिपूर्वक न सुलझाया जा सके।"[1]

स्टालिन के बाद रूस की सत्ता मॉलकोव के हाथ में आयी। उसने कहा कि "पूँजीवादी देशों के साथ शान्तिपूर्ण सह-जीवन स्थापित करने की दिशा में पूर्ण प्रयत्न किया जायगा।" यद्यपि मेलेन्कोव के शासन के 2 वर्ष बाद ख्रुश्चेव का शासन पर अधिकार आया पर 1953 से 1964 तक का काल ख्रुश्चेव युग ही कहलाता है।

रूस की विदेश नीति में परिवर्तन—ख्रुश्चेव युग के आते ही पूर्व एवं पश्चिम विरोध कुछ कम हुआ। रूस के विदेश मन्त्री विशिस्की ने कहा कि "अमेरिका मित्रता की सुरंग में आधे मार्ग पर आकर रूस से मिले।" कहने का तात्पर्य यह था कि रूस और अमेरिका के मध्य जो दूरी है उसे समाप्त करने के लिये कुछ अमेरिका आगे बढे और कुछ रूस। इस कार्य की पहल रूस ने ही की। स्टालिन अपने शासनकाल में (1934-53) एक बार विदेशी सम्मेलन में गया था पर उसके बाद रूसी नेताओं ने विदेशों की यात्रा प्रारम्भ कर दी। शिखर सम्मेलनों में भाग लेने लगे। विदेशों के राजनेताओं को रूस आने का नियन्त्रण भी दिया जाने लगा। विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन में रूस ने भी अपने विदेश मन्त्री भेजने प्रारम्भ किये।

रूस की सरकार के निमन्त्रण पर भारत के प्रधान मन्त्री रूस गये हैं। उनका शानदार स्वागत किया गया। 1955 में ही भारत के निमन्त्रण पर प्रधानमन्त्री बुलगानिन तथा साम्यवादी पार्टी के महासचिव ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। इसके बाद उपयुक्त दोनों रूसी न तो ब्रिटेन की यात्रा पर गये। 1959 में रूसी उपप्रधानमन्त्री भी कोयान अमरिका की यात्रा पर गये। सितम्बर 1959 में ख्रुश्चेव स्वयं अमेरिका की यात्रा पर गये। इस प्रकार लौह आवरण का काल समाप्त हुआ तथा विश्व की समस्याओं को सुलझाने में रूसी नेता पूरा सहयोग देने लगे। इस काल में रूस की विदेश नीति के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों में करेंगे।

(1) **शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व**—ख्रुश्चेव युग में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया। पूँजीवादी नेताओं से साम्यवादी नेता मैत्रीपूर्ण वातावरण में वार्ता करने लगे। रूस का व्यापारिक सम्बन्ध अनेक देशों से हो गया। रूस का विदेशी व्यापार पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गया। 1956 में बुलगानिन ने सोवियत रूस की विदेश नीति पर प्रकाश डालते हुये कहा था कि "शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व कोरा आदर्शवादी सिद्धान्त न होकर एक यथार्थ वास्तविकता है। यह सिद्धान्त सोवियत यूनियन तथा यूरोप और एशिया के अनेक देशों का है। ऐसा होना भी चाहिये क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। इस समय केवल दो ही मार्ग हैं या तो शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व अथवा भयानक संघर्ष, इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है। अतः समस्त जनता चाहे वह पूँजीवादी विचारधारा की हो या साम्यवादी विचारधारा की हो, सह अस्तित्व को स्वीकार करना चाहती है।"

ख्रुश्चेव ने भी इसी प्रकार के विचार अमेरिकन ट्रस्ट को एक साक्षात्कार देने के समय व्यक्त किये थे। उन्होंने कहा था कि "सोवियत यूनियन शान्तिमय सह-अस्तित्व के लिये खड़ी है। यदि हमारे देश पर किसी ओर से आक्रमण न हुआ तो हमारा देश कदापि किसी देश पर आक्रमण नहीं करेगा। न तो हम अमेरिका के विरुद्ध है और न अन्य देशों के च हे वे सोवियत संघ के समीप हैं अथवा दूर किसी भी देश से युद्ध छेड़ना हमारे सिद्धान्त के प्रतिकूल है। हम रचनात्मक कार्यों में शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा पसन्द करते हैं।"

---

[1] "There was no dispute between East and West which could not be [illegible] peacefully." —Khrush[illegible]

विदेश नीति

ख्रुश्चेव की प्रेरणा से सोवियत रूस ने जो अपनी विदेश नीति बनाई उसकी पाँच विशेषतायें थीं—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान खोजा जाये ।

(ii) दूसरे देशों से अच्छे सम्बन्ध बनाने के लिये सोवियत नेताओं को अन्य देशों की यात्रायें करना चाहिये ।

(iii) सभी गैर-साम्यवादी राष्ट्र (विशेष कर ऐशिया और अफ्रीका के तटस्थ राष्ट्र) सोवियत संघ के शत्रु नहीं हैं ।

(iv) सोवियत संघ द्वारा विश्व के अल्प विकसित देशों को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिये ।

(v) पश्चिमी साम्राज्यवादियों की खुली निन्दा या खुला संघर्ष की नीति का परित्याग करना चाहिये ।

इन सिद्धान्तों पर सोवियत सरकार ने अमल किया । कोरिया के युद्ध के समाप्त करने में सहयोग दिया । घायलों एवं रोगियों की समस्याओं को भी सुलझाया । निःशस्त्रीकरण नीति के सम्बन्ध में भी रूस ने काफी प्रयत्न किया । एटम बमों के विस्फोट पर कुछ समय के लिये प्रतिबन्ध लगवाया । शासनाध्यक्षों के सम्मेलन में भाग लेने लगा । कामिन फार्म को, जिसे पश्चिमी देश शंका की दृष्टि से देखते थे, उसे भंग करा दिया । इन्डोनेशिया में रूसी नेता यात्रा पर गये । 1954 में चीन एवं रूस की संयुक्त विज्ञप्ति में दोनों देशों ने घोषणा की कि वे पंचशील के आधार पर अन्य देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहते हैं ।

(2) आर्थिक सहायता की नीति—इतना होते हुये भी रूसी नेताओं ने साम्यवाद के प्रसार की नीति में ढिलाई नहीं डाली । पूँजीवादी व्यवस्था से साम्यवादी व्यवस्था उचित है, इसका प्रचार उन्होंने कम नहीं किया । उन्होंने यह भी विश्वास प्रकट किया कि एक दिन ऐसा अवश्य आयगा जब समाजवादी व्यवस्था समस्त विश्व में स्थापित होगी । प्रत्यक्ष विरोध या संघर्ष की नीति को त्याग कर रूसी नेता सहयोग एवं सहायता के आधार पर साम्यवाद का प्रचार करते रहे । अविकसित देशों को सहायता देकर उनमें साम्यवाद के प्रचार को बढ़ाया । मार्शल योजना जो साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिये अमेरिका ने बनाई थी । रूस ने भी साम्यवादी प्रसार को बल देने के लिये आर्थिक सहायता की नीति अपनाई । साम्यवाद ने तोड़-फोड़ एवं तख्ता उलटने की नीति को त्याग कर मित्रता, सहानुभूति, सहयोग एवं सहायता की नीति अपनाई । पाल्टर सिप्पमैन के मतानुसार "पहले रूस ने आपातिक आयुधों पर से पश्चिम के एकाधिकार को समाप्त किया तथा अब अल्पविकसित देशों का आर्थिक नेतृत्व प्राप्त कर पश्चिमी एकाधिकार को समाप्त करने का प्रयास किया । 1954 से 1963 तक रूस द्वारा एशिया, अफ्रीका व दक्षिणी देशों को आर्थिक अमरीका के अनेक देशों को रूस ने आर्थिक सहायता दी ।

(3) साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध—ख्रुश्चेव ने भी उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरोध की नीति का परित्याग न किया । संयुक्त राष्ट्र संघ में रूस ने साम्राज्यवादी शक्तियों तथा नीतियों का तीव्र विरोध किया । उपनिवेशों को स्वतन्त्र करने की जोरदार आवाज लगाई । इसमें रूस का यही उद्देश्य था कि साम्राज्यवाद से पीड़ित जनता रूस के पक्ष में हो जाये तथा स्वतन्त्र होने पर उनकी सहानुभूति रूस के साथ हो जाय ।

उपर्युक्त तीन ढगों से रूस ने निम्नलिखित लक्ष्य प्राप्त करना चाहा—

(i) भूतपूर्व उपनिवेश तथा अर्ध उपनिवेशी देशों के सन्देश एवं राष्ट्रीय सम्मान का ध्यान रखते हुए उनके प्रति-पूर्ण तरह मित्रता एवं सौहार्द दिखाना ।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् स्टालिन के युग में रूस की विदेश नीति क्या रही ? विवेचन कीजिये।
   Discuss the foreign policy of Soviet Union after the Second World War under Stalin's rule ?
2. खुश्चेव के काल मे रूस की विदेश नीति में क्या-क्या परिवर्तन हुए ? इस काल में विभिन्न देशो से रूस का व्यवहार कैसा रहा ? संक्षिप्त रूप से बताइये।
   What changes occurred in Russian foreign policy in Khrushchev's period What relation remained with different countries during Khrushchev's period ? Describe in short.
3. आधुनिक वर्षों मे सोवियत संघ की विदेश नीति किन रूपों में परिवर्तित हुई ? क्या ब्रेझनेव ने खुश्चेव की नीति के विरुद्ध कुछ सिद्धान्त अपने काल की नीति मे जोड़े ? विवेचना कीजिये।
   In what respect the foreign policy of Russia has been modified in recent years ? Has Breznev added some principles against Khrushchev's policy in his period. Discuss.

4
लाल चीन की विदेश नीति
(Foreign Policy of Red China)

"चीन में एक राक्षस स्वप्नावस्था में है, उसे सोने दो, यदि कहीं वह उठ गया तो प्रलय मचा देगा।" —नेपोलियन

"विश्व की शान्ति चीन पर आश्रित है और जो कोई चीन को समझ सकेगा, उसी के हाथ में आगामी पांच शताब्दियों तक विश्व राजनीति की कुञ्जी होगी।" —जान हे

"Mao was persuded to believe that the Banuing line was ineffective and formulated a new one, called the East wind line, whih he explained in his famous speech in Moscow."
—Sallendra Nath Dhar.

लाल चीन का जन्म
(Birth of Red China)

1917 में रूस की वोल्शेविक क्रान्ति का सर्वाधिक प्रभाव चीन पर पड़ा। 1920 में वहां साम्यवादी पार्टी की स्थापना हो गयी। 1924 में साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों मे झगडा हो गया। 1927 में दोनो में घोर संघर्ष चला फिर दोनों में सन्धि हो गयी और चीन में राष्ट्रवादियों एवं साम्यवादियो की मिली-जुली सरकार बन गयी। अल्पकाल में ही सरकार के साम्यवादी घटको ने अपने क्षेत्र बनाने प्रारम्भ कर दिये। उनका प्रत्येक कार्य अपनी पार्टी के हित में था। च्यागकाई शेख इसे न सहन कर सके और उन्होने अपनी सरकार से साम्यवादी घटकों को निकाल दिया। दोनों मे पुनः गृह-युद्ध चल पड़ा। चीन पर आक्रमण से दोनों दलों मे पुनः मेल हो गया। 1945 मे चीन जापान के चगुल से निकला। चीन का शासक च्यांगकाई शेख बनाया गया, इससे साम्यवादियों में पुनः नाराजगी फैली और चीन मे पुनः गृह-युद्ध चल पड़ा। साम्यवादियों को रूस ने हर प्रकार की सहायता दी, रूस की देखादेखी अमेरिका ने भी राष्ट्रवादियों को धनजन एव शस्त्रो से बहुत सहायता दी। यह संघर्ष चलता रहा। साम्यवादी जीतते रहे और राष्ट्रवादी हारते रहे। 1949 में राष्ट्रवादियो के अधिकार का सूर्य चीन में अस्त हो गया। च्यांग काई शेख भागकर फारमूसा चला गया, उसके साथी भी वहीं पहुँच गये। च्यांगकाई शेख ने अमेरिकन संरक्षण में फारमूसा में ही अपना शासन स्थापित किया।

1 अक्टूबर 1949 को माऊ-त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन के अन्दर जनवादी गणतन्त्र की स्थापना हो गई। यही दिन लाल चीन का जन्म दिवस माना गया। रूस जैसी ही साम्यवादी पद्धति की सरकार वहां बनी। साम्यवादी दल के अतिरिक्त सभी दल नष्ट कर दिये गये। एक शासन का वहां प्रादुर्भाव हुआ।

साम्यवादी चीन की विदेश नीति के आधारभूत तत्व, साधन व लक्ष्य
(Element Means and Objectives of Foreingn Policy of Red China)

आधारभूत तत्व—चीन के नेता माऊ मार्क्स एवं लेनिन के सिद्धान्तों से प्रभावित था। उसने भी रूस के समान ही अपनी विदेश नीति का निर्माण किया। ल्युशाओची के शब्दों में 'हमारी सफलतायें मार्क्सवाद लेनिनवाद की नवीन पुष्टियाँ और नवीन सफलतायें हैं।" साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष, इतिहास की भौतिक व्याख्या, पूंजीवाद एवं साम्राज्यवादी रूप आदि से चीन की विदेश-नीति पूर्णतया प्रभावित है। लाल चीन का उद्देश्य एशिया और अफ्रीका में अपने साम्राज्यवाद का प्रसार है। माऊत्सेतुंग ने कहा था कि "शत्रु को सामरिक रूप से धोखे में रखो और कूटनीतिक रूप से उसका आदर करो।" माऊ तटस्थ नीति को मूर्ख लोगों का नीति मानता था। उसका कहना था कि तुम पूर्व की ओर झुको या पश्चिम की ओर, तुम तटस्थ नहीं रह सकते हो।" उसने एक बार कहा था कि "इस समय विश्व में दो हवायें चल रही है—पूर्वी हवा और पश्चिमी हवा पर हावी नहीं हो सकती तो पश्चिमी हवा पूर्वी हवा पर हावी हो जायगी।"

(i) राष्ट्रीय हित—साम्यवादी होते हुए भी चीनी नेताओं ने अपनी विदेश नीति का लक्ष्य राष्ट्रीय हित रखा है। राष्ट्रीय हित, के आगे वे सिद्धान्त को भी ढीला कर देते हैं। चीनी नेतृत्व के प्रत्येक कार्य का मूल लक्ष्य देश के शक्ति स्तर (Power stauts) को बढ़ाना है। माओ ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "जो देश चीन को महान शक्ति न माने, उस देश को मानने के लिए बाध्य किया जाय और कोई बड़ी शक्ति उसे अपने समान न समझे तो उसको पाठ पढ़ाया जाय।" अर्थात शक्ति की प्राप्ति एवं अभिवृद्धि ही चीन का मुख्य उद्देश्य है।

(ii) पूंजीवाद का विरोध—रूस भले ही पूंजीवाद से समझौता करले पर चीन का कहना था कि वह पूंजीवाद से कभी समझौता न करेगा। उसकी नीति पूंजीवादी देशों के साथ घोर प्रतिद्वन्द्विता की है। वह चाहता है कि विश्व के सभी देशों के साम्यवादियों को उकसाकर साम्यवादी क्रान्ति की भूमिका बनाई जाये और अवसर पड़ते ही वहाँ क्रान्ति करा दी जाये। चीन की विदेश नीति का आधारभूत सिद्धान्त है पूंजीवाद के विरुद्ध विश्व में साम्यवादी क्रान्ति कराना।

(iii) राष्ट्रवादिता—माओ इटली के तानाशाह मुसोलिनी के समान अपने पूर्वजों के अनुरूप एक विशाल साम्राज्य का निर्माता बनना चाहता है। उसके मस्तिष्क में चंगेजखाँ एवं कबूला खाँ की विजय के चित्र घूमते रहते थे। माओ ने 1949 में कहा था कि "हमारा राष्ट्र अब कभी भी अपमानित न होगा, हम उठ खड़े हुए।" उग्र राष्ट्रवादिता मे डूबी होने के कारण चीन की विदेश नीति राष्ट्र की विदेश नीति से मेल नहीं खाती है।

(iv) साधन—चीन विस्तारवादी नीति का समर्थक है। वह चाहता है कि हजार वर्ष पहले भी यदि उसके नेताओं ने किसी क्षेत्र की भूमि पर कब्जा किया हो और वह बाद में उसके अधिकार से निकल गई हो उस पर पुनः कब्जा किया जाय। इसलिए वह खोजबीन कर रूस के अन्दर अनेक क्षेत्रों का तथा भारत के अनेक क्षेत्रों का दावा करता रहता है। पर इन दावों को शक्ति के बिना कौन मानता है। अतः चीन शक्ति के बल पर अपना विस्तार चाहता है। भारत अहिंसावादी था हजारों वर्ग मील भूमि चीन दबाये पड़ा है पर जब उसने रूस से टकराने की कोशिश की तो वह हजारों सैनिक गवाँकर भी एक इंच भूमि न पा सका। इस प्रकार उसके साधन निम्नलिखित हैं—

(अ) युद्ध एवं हिंसा—माओ कहता है कि "हम साम्यवादी युद्ध को सर्व व्यापक मानते है, युद्ध अनुचित न होकर सर्वथा उचित और मार्क्सवादी है।" माओ तथा चाओ दोनों ही तलवार या बन्दूक के बल पर संसार को बदलने मे विश्वास करते हैं। वे अहिंसा द्वारा हृदय परिवर्तन की बात नहीं मानने वे तो हिंसा एवं आतंक फैला कर हृदय परिवर्तन में विश्वास मानते हैं।

(ब) लम्बे संघर्ष की योजना — चीनी साम्यवादी नेता समस्त विश्व मे साम्यवाद फैलाना चाहते हैं पर उन्हें विश्वास है यह कार्य एक लम्बे संघर्ष के बाद ही सम्भव हो सकता है। माओ कहता था कि "पूँजीवादी देशों में दृढ़ निश्चय और साहस का सर्वथा अभाव होता है। अतः जब उनके विरुद्ध अवसर देखकर लम्बा संघर्ष छेड़ा जायगा तो वे नही टिक सकेंगे। जबकि साम्यवादी राष्ट्रों के पीछे सिद्धान्त का बल होता है और राजनीति का सहारा होता है। इस कारण वे पूँजीवादी राष्ट्र में गड़बड़ पैदा कर सकते हैं।"

(स) प्रचार—साम्यवाद का प्रसार साम्यवादी प्रचार के द्वारा होना सम्भव है। माओ का कहना है कि गैर साम्यवादी राज्यो को प्रचार के द्वारा साम्यवादी बनाया जा सकता है।" माओ की इच्छा थी कि समस्त विश्व माओ को नेता मानकर उसके आदर्श पर सशस्त्र क्रान्ति कर दे।

(द) सैनिक सहायता का कार्य क्रम—माओ अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सैनिक सहायता देने को भी एक साधन मानता था। पर वह सैनिक सहायता तभी और उसी दशा को देता था जब उसे विश्वास हो जाता था कि सहायता पाने वाला राष्ट्र चीन के समान लक्ष्य रखता है।

(y) लक्ष्य—सितम्बर 1949 मे जन परामर्शदात्री सम्मेलन मे चीन की विदेश नीति निम्न शब्दो मे निर्धारित हुई—

चीनी गणराज्य की विदेश नीति का उद्देश्य देश की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता एव प्रादेशिक सम्मान की रक्षा करना, स्थायी विश्व शान्ति को सुरक्षित रखना, विभिन्न राज्यों में मैत्रीपूर्ण सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा आक्रमण एवं युद्ध की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करना है। चीनी गणराज्य विदेशों में बसने वाले चीनियों के उचित अधिकारों व हितों की रक्षा के लिए भरसक प्रयत्न करेगा। वह उन सभी लोगों को राजनीतिक शरण देगा जो जनहित, शान्ति तथा जनतन्त्र के लिए सचालित सघर्ष मे भाग लेने के कारण सरकारों द्वारा सताये गये हों।"

कितनी सुन्दर है चीन की विदेशी नीति पर व्यवहार में वह कुछ भिन्न ही दिखाई देती है। वह अपने चारो ओर विस्तार के लिए हाथ-पैर पटक रहा है। स्वय साम्राज्यवादी होकर स्वय को घोर साम्राज्यवाद विरोधी घोषित कर रहा है। वह शान्ति और सुरक्षा की बात करता है पर व्यवहार मे वह विश्व में अशान्ति फैला रहा है। इसका कहना है कि शान्ति की स्थापना तभी सम्भव है जब समस्त विश्व मे पूँजीवाद व साम्राज्यवाद समाप्त हो जायगा और साम्यवाद की स्थापना हो जायगी।

चीन अपने लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए युद्ध के लिये तैयार है। हिंसा, छल, धोखा विश्वासघात एवं धमकी द्वारा वह अपनी सीमाओं का विस्तार कर रहा है, दूसरे देशो में विद्रोह करा कर स्वतन्त्र गैर साम्यवादी सरकारों का तख्ता उलटवा रहा है। समस्त एशिया से वह यूरोपीय एवं अमेरिकन प्रभाव को नष्ट करना चाहता है। वह रूस को भी एक ओर हटा कर समस्त साम्यवादी जगत का एक मात्र नेता बनने का प्रयत्न कर रहा है, वह भस्मासुर बन बरदाता को ही भस्म करने का प्रयत्न कर रहा है। नवीन वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों का भण्डार जमा कर रहा है, अणु बम, हाइड्रोजन बम प्रक्षेपणास्त्र आदि बनाकर शान्ति प्रिय देशों को आतंकित कर रहा है। पाकिस्तान, भारत एवं पूर्वी-दक्षिणी एशिया को निगल जाने के स्वप्न देख रहा है।

चीनी विदेश नीति के चार काल

(Four Periods of Foreign Policy of China)

राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान शैलेन्द्रनाथ धर के अनुसार "चीन की विदेश नीति क्रम से

अब तक विकसित हुई है ।"[1] चीन महत्वाकांक्षी देश है। वह किसी भी देश की उन्नति नहीं चाहता है । वह निर्माण पर नहीं विध्वंश पर अधिक ध्यान देता है। डाक बर्नेट ने कहा है कि "पीकिंग की नीति कभी भी केवल चिकनी चुपड़ी बातों अथवा दबावों की नहीं रही । इसमें प्रलोभन धमकी, तोड़-फोड़ का विभिन्न अनुपात का मिश्रण रहा है ।" वास्तव में 1949 से अब तक चीन की विदेश नीति को हम निम्नलिखित 4 कालों में बाँट सकते हैं ।

(1) कठोर नीति काल—यह काल 1949 से 1953 तक रहा । चीन को साम्यवादियों ने अपने बाहुबल से जीता है । पश्चिमी शक्तियाँ प्रारम्भ से ही उसके कार्य में रोड़ा अटकाती रही है । उसकी दुर्बलता से यूरोपियन शक्तियों ने चीन का खूब शोषण किया है । अतः चीन का रुख यूरोपीय एव अमेरिकी राज्यों के प्रति बड़ा कठोर रहा है । वास्तव में 1949 के पश्चात लाल चीनी नेता चीन मे साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाने मे लगे रहे। पड़ौसियों से उन्होने उदार एव मैत्रीपूर्ण भाव रखे । जब चीन को भारत ने मान्यता प्रदान कर दी तो चीन-भारत मे कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गये । सोवियत रूस से मित्रता कर उससे आर्थिक सहायता लेकर नव निर्माण में जुटा रहा पर दूसरे देशों की आजादी की लड़ाई का बराबर समर्थन करता रहा । अपने देश मे से उसने यूरोपीय शक्तियो को भी निकालना प्रारम्भ किया । यह काल "माओ-लियो" के नाम से भी जाना जाता है । इसका कारण है माओत्सेतुंग तथा लियू शाओ-ची ने बड़े सहयोग से कार्य कर चीनी प्रदेशो का एकीकरण किया । साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा बनाने में बड़ा जोर दिया ।

वियतनाम, वर्मा, इन्डोनेशिया, मलाया फिलिपाइन्स आदि की मुक्ति के विषय में ल्यू-शाओ-ची ने कहा था कि "चीनी जनता के पथ का अनुसरण करते हुए सशस्त्र संघर्ष द्वारा एशिया के अधिकांश भाग मे क्रान्ति का विकास किया जाना चाहिए ।" चीनी नेताओं ने कहा कि सभी गैर-साम्राज्यवादी दलो को मिलकर साम्यवादी दल के नेतृत्व में एक मोर्चा बनाना चाहिए तथा एक राष्ट्रीय सेना का गठन भी करना चाहिए ।

1950 में चीनी सेना तिब्बत मे घुस गई । यह उसने चीनी-एकीकरण का बहाना बताया । कोरिया के युद्ध मे भी हजारों चीनी स्वय सेवक कूद पड़े । इन दोनों स्थानों पर चीनी नेताओ ने साम्राज्य विस्तार की ओर ध्यान नहीं दिया बल्कि चीनी प्रदेशों से विदेशियों का बहिष्कार करने की दृष्टि से कार्य किया । वास्तव मे इन 4 वर्षों में चीन ने रूस के इशारे पर कार्य किया । रूस से मित्रता एव अमेरिका से शत्रुता ही इस काल का लक्ष्य रहा ।

(2) नम्र नीति 1953-57—चीन की कठोर नीति अधिक प्रभावी नही रही, तब उसकी नीति मे कुछ नम्रता आयी । उसने सह-अस्तित्व की बात करना प्रारम्भ की । चीनी नेताओं ने वियतनाम, मलाया तथा अन्य देशो मे शान्ति पूर्ण वार्ता के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ को परामर्श दिया । वियतनाम के सम्बन्ध में होने वाली जेनेवा वार्ता मे चीन के प्रतिनिधि को आने का निमन्त्रण दिया गया । यह सम्मेलन 1954 मे हुआ और वियतनाम का विभाजन करा दिया गया । भारत के प्रति भी चीन का रुख बदला । पं० नेहरू के ऊपर आरोप लगाना बन्द किया गया और तिब्बत के सम्बन्ध मे समझौता किया गया । पं० नेहरू के पचशील सिद्धान्त को स्वीकार किया गया । चाऊ-एन-लाई भारत गये और दोनों ने संयुक्त विज्ञप्ति निकाली । इसके बाद पं० नेहरू के साथ चाऊ-एन-लाई बाडुंग सम्मेलन में भाग लेने पहुँचे । वहाँ उन्होने सभी देशों के प्रतिनिधियो से बड़ी मित्रता पूर्वक बात की तथा चान से सम्बन्ध बढ़ाने की अपील की । उसने उपनिवेशवाद का

---

[1] Chinese foreign policy has developed in a series of stages from 1949 to the present day."

—*S. N. Dhar*

सम्मेलन में बड़ा विरोध किया तथा एशिया एवं अफ्रीका के देशों के राज्यों में एकता पर जोर दिया।

श्री एस० एन० धर के मतानुसार "प्रथम नीति के परिणाम स्वरूप चीन को नम्न नीति अपनानी पड़ी। चीन ने वियतनाम का विभाजन स्वीकार कर लिया एवं तटस्थता की नीति मे विश्वास प्रकट किया। जेनेवा समझौते के साथ उसने अप्रैल 1956 में होने वाले बाण्डुंग सम्मेलन में भाग लिया तथा पचशील के सिद्धान्त को स्वीकार किया।"

यद्यपि चीन ने भारत की उत्तरी सीमा को हड़पने की पूर्ण योजना बनाली थी पर प्रकट रूप से उसने भारत से कोई संघर्ष न लेने का निश्चय किया था। भारत से एक व्यापारिक समझौता भी कर लिया गया था। इस नम्न नीति से चीन के पड़ोसी देशों मे कुछ व्याकुलता कम हुई थी और उन्होने समझा था कि चीन सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मान चुका है।

(3) **पूर्वी वायु नीति** – चीन के नेताओं को 1947 मे पुनः अपनी नीति में परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव हुई। उनको यह विश्वास हो गया कि बाण्डुंग सम्मेलन की नीति मे चीन का भला होने वाला नही। उन्हे यह भी शंका उत्पन्न हुई कि स्टालिन की मृत्यु के बाद रूसी नेता अमेरिका से बड़ी मित्रता की बातें कर रहे, कही ऐसा तो नही कि रूस चीन के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र रच रहा हो। 1957 मे माओत्सेतुग ने मास्को मे भाषण देते हुए बाण्डुंग सम्मेलन की नीति के परित्याग की घोषणा कर दी। श्री धर का कहना है कि "माओ को विश्वास हो गया कि बाण्डुंग की नीति अपर्याप्त है और उसके स्थान पर नयी नीति निर्धारित की जानी चाहिए, जिसकी व्याख्या उसने अपने प्रसिद्ध मास्को भाषण मे की।"

चीन यह नहीं चाहता था कि रूस उसके कट्टर शत्रु से घुल-घुल कर बातें करे। वह समझौतावादी नीति के सख्त विरोध में था। वह रूस को तने रहने का मशविरा देता था। क्यूबा का मामला जब चल रहा था तो चीन को विश्वास था कि क्यूबा के मामले मे इन दोनों देशो मे युद्ध चल पडेगा पर रूस ने विवेक से काम लिया। झुक कर ही उसने विश्व की शान्ति को भग होने से बचा लिया पर चीन ने रूस को कायर एवं दब्बू कहकर मजाक उडायी। रूस यह बात तो जानता था कि चीन स्टालिन की मृत्यु के बाद कुछ खिचा-खिचा रहता है और अपने को सच्चा मार्क्स का अनुयायी एवं रूस को सशोधनवादी कहता है पर वह इन बातो की उपेक्षा करता रहा परन्तु क्यूबा के मसले पर चीनी नेताओं का उपहास करना रूस को सहन न हुआ। दोनो में आरोप-प्रत्यारोप का आदान-प्रदान होने लगा। चीन विस्तारवाद की ओर बढ़ा चीन ने भारत का हजारो वर्ग मील क्षेत्र कब्जे में कर लिया और उसकी पुष्टि के लिए भारत पर आक्रमण कर दिया। वह एशिया मे अपना प्रभुत्व रखना चाहता था। माओ का कहना था कि "हम एशिया वाले अत्याचारों एव शोषण की सहानुभूतियाँ रखते है" इसका अर्थ था कि एशिया यूरोप के प्रभाव से मुक्त हो जाय।

(4) **तृतीय विश्व शक्ति की नीति**—चीन चाहता था कि आधुनिक युग मे दो ही महाशक्तियाँ हैं—रूस तथा अमेरिका। चीन की इच्छा थी कि वह कोई ऐसा कार्य कर दिखाये कि दुनिया उसे तीसरी शक्ति के रूप में मान्यता दे दे वह भी विश्व की नेतागीरी चाहता था। इस उद्देश्य को पाने के लिए उसने अविकसित देशो को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। वहाँ साम्यवाद का प्रचार किया तथा उन्हे अपना पिछलग्गू बना लिया। इतना ही नहीं जो देश यूरोप से बाहर उसके प्रभाव मे थे, उन पर भी अपना प्रभाव जमाने का उसने प्रयास किया। वह चाहता था कि किसी गुट, अमेरिकन गुट के समान ही एक चीनी गुट बनना चाहिए। वह रूसी गुट को एक ओर हटाकर साम्यवादी जगत का एकमात्र नेता बनना चाहता था।

रूस से उसके सैद्धान्तिक भेद तो पहले से हो रहे थे। इस काल मे उसने भारत के नक्शों के समान रूसी नक्शों में भी चीनी क्षेत्र दिखाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार रूस और चीन में

सीमा विवाद भी चल पड़ा। उसने रूस का सहारा छोड़ अपना विश्व में पृथक स्थान बनाने का निश्चय किया। 13 दिसम्बर 1963 को चाऊ ने अफ्रीका की यात्रा। वह समस्त अफ्रीका को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाना चाहता था। उसने अल्जीरिया में अफ्रो-एशियायी सम्मेलन बुलवाया पर इसमें उसे सफलता न मिली फिर भी उसने अनेक अफ्रीका के देशों को आर्थिक एवं सैनिक सहायता दी। भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को भी आर्थिक एवं सैनिक सहायता दी। इण्डोनेनिया में चीनियों द्वारा उसने उपद्रव करा दिया पर राष्ट्रवादियों ने इस उपद्रव को दबा दिया। अनेक प्रवासी भी इण्डोनेशिया से निकाल दिये। श्री धर ने कहा कि "जैसा कि आशा की गयी थी कि, चीन की तृतीय विश्व नीति उतनी सफल नहीं हुई।"

चीन का विरोध रूस से इतना अधिक बढ़ा कि वह रूस तथा अपने ही शत्रु देश अमेरिका की गोद में बैठने के लिए तैयारी करने लगा। 1972 में उसका अमेरिका से समझौता हो गया। निक्सन स्वयं चीन यात्रा पर आये। निक्सन के बाद फोर्ड भी चीन की यात्रा पर आये। जापान का प्रधानमन्त्री तनाका भी चीन की यात्रा पर आया और चीन-जापान का समझौता हो गया। 1976 में चाऊ एवं माऊ दोनों ही नेता विश्व विजय की कामनायें लिये हुए स्वर्ग सिधार गये।

चीन के कुछ प्रमुख देशों से सम्बन्ध
(China's Relations with some Important States)

चीन एवं अमेरिका—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद रूस के कारण ही अमेरिका को पार्थक्य-वाद की नीति को सदा के लिए त्यागना पड़ा था और विश्व राजनीति की दल-दल में फंसना पड़ा था कि द्वितीय विश्व युद्ध मे ब्रिटेन के दुर्बल पड़ने से अमेरिका की रक्षा की दीवार टूट गयी है। वह यह नहीं चाहता था कि यूरोप की कोई शक्ति यूरोप को अपने वश में कर अटलांटिक पार करने का स्वप्न देखे। तृतीय विश्व युद्ध को अमेरिकन तटों से हजारों मील दूर रखने के प्रयास से ही अमेरिका ने विश्व की राजनीति मे विशेषकर यूरोपीय राजनीति मे कूद कर शत्रु को पुरानी दुनिया में ही उलझाये रखने का निश्चय किया था। रूस ही ऐसी शक्ति थी जो उस सिर दर्द के लिए जिम्मेदार थी। 1949 मे लाल चीन का प्रादुर्भाव होना उसके सिर दर्द को बढ़ाने में सहायक ही हुआ।

भारत से अमेरिका को बड़ा सहारा था। वह भारत के द्वारा एशिया पर अपना नियन्त्रण रखना चाहता था। पर प० नेहरू की तटस्थता की नीति से उसको परेशानी और बढ़ गयी। अमेरिका ने चाहा कि लाल चीन को वह सं० रा० सघ से दूर ही रखेगा। उसने अपके साथी राज्यों से लाल चीन के सघ मे प्रवेश का घोर विरोध करने की अपील की। उसने घोषणा कर दी कि चांगकाई शेक ही चीन का वास्तविक शासक है अतः उसकी सरकार को ही वह मान्यता देगा। लाल चीन ने कई बार सं० रा० संघ की सदस्यता प्राप्त करना चाहा पर अमेरिका ने अपने निषेधाधिकार से उसे दूर ही रखा। इस प्रकार अमेरिका चीन का बन गया।

1950 मे चीन और रूस के उकसाने पर उत्तरी कोरिया की सरकार ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। दोनों देशों की सहायता से उत्तरी कोरियायी सेना दक्षिणी कोरिया को लगभग जीत चुकी थी। अमेरिका ने स० रा० संघ की सेना दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए भेजने का संघ मे प्रस्तुत रखा और वह पास हो गया। अमेरिका स० रा० सघ की सेना को लेकर दक्षिणी कोरिया मे घुस गया और उत्तरी कोरियायी सेनायें न केवल दक्षिणी कोरिया से बाहर कर दी गयी, वरन् वे अपने देश की भूमि को गँवाती हुई, पीछे हटने लगीं। चीन की योजना ठप्प हो गयी। पर चीन ने साहस कर अपनी सेना को सादे वेश मे कोरिया की सेना मे लगा दिया। हजारों सैनिकों की सहायता पाकर उत्तरी कोरिया की सेनायें पुनः स० रा० संघ

की सेनाओं को खदेड़ती हुई दक्षिण कोरिया में ले गयी। अमेरिका ने पुनः अपनी सेनाओं को कुमुक पहुंचायी और फिर युद्ध का नक्शा बदला। अन्त में 38° अक्षांश रेखा दोनों कोरिया के बीच की युद्ध विराम सीमा रेखा मान ली गयी। चीन को यह पता चल गया कि आमने-सामने के युद्ध में चीनी सेनायें अमेरिकी सेनाओं से अभी कमजोर हैं।

माऊ चाहता था कि उसका प्रतिद्वन्द्वी च्यांगकाई शेक फारमूसा से भी भगा दिया जाय पर अमेरिका की जल सेना उसका संरक्षण अपने हाथ में लिए हुए थी। 1954 में फारमूसा से अमेरिका ने सन्धि कर उसको सैनिक एवं आर्थिक सहायता और बढ़ा दी। चीन ने चिढ़ कर मूल चीन की भूमि से सभी अमेरिकनों को निकालना प्रारम्भ कर दिया। विदेशी सम्वाददाताओं को चीन में प्रवेश की आज्ञा न मिली। अमेरिका से सभी प्रकार के सम्बन्ध काट दिये गये।

1954 में हिन्द चीन के मामले में चीन ने अपनी टाग अड़ाई। पर चीन की नीति बदल चुकी थी। अतः जेनेवा सम्मेलन में जो निर्णय हुआ उसे चीन ने मान लिया। 1950 में अमेरिका और जापान में सन्धि हो गयी। इससे पुनः चीन उखड़ पड़ा। उसने इसे एशिया में अमेरिका का षड्यन्त्र कहा। 9 सितम्बर 1962 को फारमूसा के एक विमान 5-2 को चीन ने मारकर गिरा लिया तथा इस उड़ान के लिए अमेरिका को जिम्मेदार ठहराया। क्यूबा में 1962 में जब सकट पैदा हुआ तो चीन ने अमेरिका की कटु आलोचना की। 20 अक्टूबर को चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो अमेरिका ने भारत की धन से एव शस्त्रों से बड़ी सहायता की। चीन भिन्ना गया। 1965-76 में जब जानसन ने उत्तरी वियतनाम पर बमबारी की तो चीन ने उत्तर वियतनाम का पक्ष लिया और अमेरिका को खूब लताड़ा।

पर कुछ वर्षों में दोनों देशों में यह भावना पनपी कि क्यों न वे एक दूसरे से सन्धि कर लें और एक दूसरे के मार्ग में रोड़ा अटकाना बन्द कर दें। अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन ने इस मामले में पहल की और उन्होंने घोषणा की कि वे लाल चीन को विश्व राजनीति में सक्रिय रूप से लगायेंगे। वार्ता में अमेरिकन एवं चीनी राजदूत वर्षों से जो खिचड़ी पका रहे थे वह अब पक चुकी थी। पाकिस्तान और अमेरिका के मशविरे ने भी काफी काम किया। चीन और अमेरिका में व्यापारिक समझौता हो गया। अमेरिका जहाजों को चीनी बन्दरगाहों पर तेल लेने की अनुमति मिल गयी। सम्वाददाताओं को भी चीन में प्रवेश मिल गया। निक्सन ने जब अपनी चीन यात्रा की घोषणा की तो संसार आश्चर्य में पड़ गया। इस वातावरण में चीन स० रा० संघ का न केवल सदस्य ही बना बल्कि उसे फारमूसा के स्थान पर संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यता भी मिल गयी। जब निक्सन चीन पहुंचा तो दोनों देशों में सन्धि हुई। रूस को यह एक चुनौती थी।

(2) चीन और फारमूसा—1949 में च्यांगकाई शेक साम्यवादियों से पूर्णतया हार कर फारमूसा चला गया। वहीं पर वह रहने लगा। इतना होने पर भी वह विश्व के सामने समस्त चीन का प्रतिनिधित्व करता रहा। लाल चीन को 20 वर्ष तक अमेरिका और उसके साथियों ने मान्यता नहीं दी। अमेरिका ने फारमूसा और प्रशान्त महासागर में उसके आस-पास के सभी द्वीपों पर शेक का अधिकार माना और अपने सातवें बाहरी बेड़े को उनकी रक्षा का कार्य सौंपा। क्विमाय तथा मात्सु टापू जो चीन की सीमा से 12 मील थे साम्यवादी सरकार ने उन पर दावा किया कि वे उसके हैं। कई बार उन पर बम भी गिराये पर वे उसके कब्जे में नहीं आये। 2 अगस्त 1958 को चीन ने इन द्वीपों पर भयानक बम वर्षा की। रूस और भारत ने इस बम वर्षा का समर्थन किया। ख्रुश्चेव ने तो अमेरिका को चेतावनी दी कि यदि उसने चीन की मूल भूमि पर आक्रमण किया तो वह रूस पर आक्रमण माना जायगा।

1969 से चीन और अमेरिका के विचारों में अन्तर आया और उनमें धीरे-धीरे मधुर सम्बन्ध बनते जाते है। चीन को फारमूसा के स्थान पर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थायी सदस्यता प्राप्त हो गई है अमेरिका ने फारमूसा की रक्षा का दायित्व भी छोड़ दिया। उसे चीन का एक अंग भी मान लिया गया है। च्यांगकाई शेक इस पर बौखलाया हुआ है वह अमेरिका को विश्वासघाती कह रहा है। कुछ समय बाद फारमूसा तथा उसके आस-पास के द्वीप भी लाल रंग में रंग जायेंगे। फारमूसा का स्वतन्त्र अस्तित्व तो समाप्त हो ही चुका है।

(3) **चीन और रूस**—चीन की प्रभुसत्ता चीनी साम्यवादी पार्टी को रूस की कृपा से प्राप्त हुई। इस कृपा के लिये चीन का सर्वोच्च नेता माऊत्सेतुंग रूस के नेताओ का चरण-चाकर बहुत समय तक बना रहा। वास्तव मे वह स्टालिन का गुलाम था। जब तक स्टालिन जीवित रहे माऊ को रूस, उसके नेता, उसकी पार्टी अथवा सरकार की ओर उँगली उठाने की हिम्मत न हुई। खुश्चेव के सत्ता में आ जाने से चीन और रूस के सम्बन्धों मे बिगाड़ आने लगा। क्यूबा और भारत के मामले को लेकर इन दोनों मे कटुता आयी वह मित्रता को शत्रुता में बदलने में सहायक बनी।

इसके अतिरिक्त खुश्चेव ने जो रूस की नीति मे परिवर्तन किया वह चीन के विचार से मार्क्स-लेनिनवाद मे संशोधन था जिसे चीन मानने को तैयार न था। इस प्रकार से दोनों देशों मे सैद्धान्तिक मतभेद पैदा हो गया। वास्तव मे साम्यवाद मे कोई सिद्धान्त ही नहीं है और कोई साम्यवादी सिद्धान्तवादी ही नही है। चीन ने जो आरोप रूस पर लगाये थे कि उसे खतरा था कि रूस अमेरिका से मिल जायगा और उसे अकेला छोड़ देगा इसलिये उसने शोर मचाना प्रारम्भ कर दिया था पर जब स्वय वह अमेरिका की गोद में जा बैठा और डब्बे का दूध पीने लगा तो सिद्धान्त हवा मे उड़ गये। आज ऐसा मालूम देता है कि चीन और रूस परस्पर घोर शत्रु हैं पर हमे द्वितीय विश्व युद्ध का उदाहरण याद है कि 1939 मे रूस ने एक दम अपने सिद्धान्तों की बलि चढ़ा दी और मित्र राज्यो के घोर शत्रुओं से जा मिला। जब जर्मनी के साथ रहते उसे खतरा पैदा हुआ कि जर्मनी उसकी लूट खसोट से नाराज है और वह उस पर आक्रमण करने वाला है तो वह वहाँ से कन्नी काट कर पुन: अपने जन्मजात शत्रु पूंजीपतियों के चरण चापने लगा।

चीन भी रूस का चेला है। अमेरिका को इससे सदैव सावधान रहना चाहिये। तृतीय विश्व युद्ध मे यह चीन पुन. फुदक कर रूस की गोद में न पहुँच जाय।

(4) **चीन और भारत**—इकबाल ने जो राष्ट्रगीत लिखा है—'सारे जहाँ से अच्छा है हिन्दोस्तां हमारा" उसमें मिस्र, यूनान, रोम आदि का जो उल्लेख है वह वर्तमान देशों के नामो से सम्बन्धित नही, बल्कि उनकी प्राचीन सस्कृति एव सभ्यता वाले देशो से सम्बन्धित है। इसी प्रकार पं. नेहरू भूल से चीन को वही चीन समझे जिसकी सभ्यता और संस्कृति भारतीय सभ्यता और संस्कृति से मिलती-जुलती थी और उनमें प्रगाढ़ मैत्री भाव थे। भारत की तरह चीन मे पुरानी सभ्यता का वह मान सम्मान रहा ही नही। जब से उसका सम्बन्ध साम्यवाद से आया है तब से वह प्रत्येक पुरानी चीज का शत्रु हो गया है, धर्म, सभ्यता, संस्कृति, नैतिकता, उचित चरित्र आदि को वह रद्दी खाने में रख चुका है। पर पं० नेहरू ने वर्तमान चीन को नही समझा और वे पुराने चीन को समझकर उससे गल मिलने के लिए लपके पर उन्हें तब आश्चर्य हुआ जब उन्होंने ठण्डी तेज धार वाली चीज अपनी कमर मे घुसती देखी। पर उस समय क्या हो सकता था सिवाय इसके कि अपने मित्र के विश्वासघात पर अफसोस प्रकट कर सके।

प० नेहरू चीन पर 1922 के ब्रूसेल्स सम्मेलन के समय से लट्टू थे। चीन का क्रोध भी उन्हें प्रेम का ही रूप दिखाई देता था। यद्यपि प० नेहरू साम्यवादी विचारधारा के न थे बल्कि उसके विरुद्ध थे पर चीन पर उनकी आसक्ति इतनी अधिक थी कि वे यह भूल गये कि 1949 में चीन ने पहली पोशाक उतार कर दूसरी पहन ली है। पोशाक कोई भी हो शरीर तो वही है समझ

कर भारत ने नये वेश में भी चीन को स्वीकार किया दूसरे मित्र मना करते रहे कि उससे दूर रहना पर पं० नेहरू अन्ध भक्त थे। इस विषय में एस० एन० धर ने भी लिखा है कि "मिस्टर नेहरू साम्यवाद के कट्टर आलोचक थे तथा उनकी सरकार ने भारत मे साम्यवाद को दबाने का पूर्ण प्रयास 1948 में किया, परन्तु फिर भी उन्होने ब्रिटेन की भाँति जैसे ही चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई, उसे मान्यता दे दी। उन्होने कहा कि वास्तविक शासक को मानना चाहिये न कि उसको जिसका केवल एक टापू पर अधिकार हो।"[1] अमेरिका, फ्रांस तथा अन्य पश्चिम देश आश्चर्य चकित हुये देखते रह गये।

18 अप्रैल 1925 मे हुये वाण्डुंग सम्मेलन मे चीन और भारत ने समान रूप से भाग लिया तथा उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध किया। इसके बाद जो सम्बन्ध दोनों देशों में बिगड़ने प्रारम्भ हुये फिर वे सुधर न सके। प० नेहरू को पता चल गया था कि चीन भारत की उत्तरी सीमा को धीरे-धीरे हड़प रहा है किन्तु पं० नेहरू ने उसे अपनी प्रतिष्ठा बचाने के कारण गोपनीय रखा। 20 अक्टूबर 1962 को अन्त मे चीन ने आक्रमण कर ही दिया। बाद मे यह राज खुला कि 14 जुलाई 1954 को चीन ने बूजे नामक चरागाह को अपनी बताते हुये भारत का उस पर अवैध अधिकार बताया। इसके बाद चीनी सेनाये भारतीय प्रदेश मे घुस आयी। 1958 में चीनी सेना ने आक्साई चीन के पठार मे सड़क का निर्माण कर लिया। सितम्बर 1958 में बाड़-होती तक चीनी सेनायें बढ़ आयी। मार्च 1959 दलाई लामा ने भारत में शरण ली। दलाईलामा को शरण देकर भारत ने चीनी नेताओ को और नाराज कर दिया।

लोक सभा मे जब विरोधी दल के सदस्यो ने शोर मचाया तो 28 अगस्त 1959 को पं० नेहरू ने लोक सभा मे स्वीकार किया था कि नेफा मे चीनी सेना ने प्रवेश कर लिया है पर नेहरू को यह विश्वास था कि शान्तिपूर्ण वार्ता द्वारा चीन अपनी सेनायें बुला लेगा। उन्होने युद्ध का खतरा सिर पर मण्डराते हुये भी देश की रक्षा की कोई व्यवस्था न की। रक्षा मन्त्री पर शका हुई कि वह चीन से मिल गया है। 19 अप्रैल 1960 को दिल्ली के अन्दर चाऊ और पं० नेहरू मिले भी पर वार्ता असफल रही।

20 अक्टूबर 1962 को विशाल चीनी सेनायें पश्चिम से मध्य से और पूर्व से एक दम बढ़ीं। 5 दिन में बोमिल्ला, तवाग आदि स्थानो की चौकियों पर दुश्मन का कब्जा हो गया। 19 नवम्बर तक चीनी सेनायें आसाम के मैदान के उत्तर में फुट हिलस कस्बे से 4 मील उत्तर रह गई। 21 नवम्बर 1962 को चीन ने एक तरफा युद्ध विराम की घोषणा कर दी। उस समय से भारत और चीन के सम्बन्ध बिगड़े हुये हैं। 1965 एव 1971 के पाक-भारत के युद्ध में और भी कटुता बढ़ी। भारत की कांग्रेस सरकार तो चाऊ या माऊ की मुस्कान पर ही निछावर होती रही। 1976 से ये दोनों नेता मर चुके हैं। नया नेतृत्व अभी ग्रह युद्ध में फसा है। मार्च 1977 मे भारत मे भी कांग्रेस सरकार पलट गई है। नया नेतृत्व अभी चुनावो मे लगा है। इनसे निबटकर देखिये इनके नये सम्बन्ध क्या रहते हैं।

चीन और पाकिस्तान—चीन प्रारम्भ में पाकिस्तान को अमेरिकन गुट का राष्ट्र समझ कर उसकी उपेक्षा करता था। 1950 मे पाकिस्तान ने चीन को मान्यता दे दी थी। 1954 में

---

1 "Mr. Nehru was a strong critic of Communisim, and his government sternly repressed the communist risings which occurred in India in 1948. Yet Mr. Nehru like Britain, recognised the communist govt. almost as soon as it had establishment it self in China, and he considerd it ridiculous that the real rulers of country should be supposed to be those who owned no more than an island of the Chinese Coast."
—*S. N. Dhar*

पाकिस्तान बगदाद पैक्ट एवं सीयटो का सदस्य बन गया तो चीन ने उसकी कटु आलोचना की थी। पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री सोरहावर्दी ने 1956 में चीन से मधुर सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न किया। पर 1962 से पूर्व कोई मैत्रीपूर्ण सम्भाव दोनों देशों में स्थापित न हो सके। भारत पर जब चीन ने आक्रमण किया तब से पाकिस्तान ने चीन की मित्रता पाने का विशेष प्रयत्न किया। 1973 में पाक-चीन ने सीमा सम्बन्धी समझौता हो गया। इससे लद्दाख का आजाद काश्मीर वाला भाग चीन को मिल गया। भारत ने उसका विरोध किया क्योंकि वह काश्मीर का ही अंग था। इसके बाद दोनों देशों में नेताओं का आना जाना प्रारम्भ हुआ, व्यापार बढ़ा, सैनिक एवं आर्थिक सहायता भी चीन ने पाकिस्तान को दी पर 1965 में वह पाक का खुलकर साथ न दे सका। 1971 में भी भारत को वह धमकी तो देता रहा पर पाकिस्तान-भारत युद्ध में कूदने की उसकी हिम्मत न हुई। पाकिस्तान का पूर्वी भाग स्वतन्त्र हो गया। अमेरिका और चीन दोनों ही अपने स्वार्थ से पाकिस्तान को आर्थिक और सैनिक सहायता देते हैं। इनके भरोसे से वह भारत से शत्रुता मोल लेता रहता है। एक दिन ये उसका अस्तित्व ही समाप्त करा देंगे।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. लाल चीन की स्थापना के विषय पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
   Write a short note on the foundation of Red China
2 लाल चीन की विदेश नीति के आधार भूत तत्व, साधन और लक्ष्य क्या हैं? विवेचना कीजिये।
   What are the fundamental elements, means and objectives of foreign policy of Red China ? Discuss.
3. चीन की विदेश नीति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।
   Critically examine the foreign policy of Red China.
4. चीन का न० 1 का शत्रु संयुक्त राज्य अमेरिका था पर आज वह उसका गहरा मित्र बन चुका है। ऐसा आश्चर्यमय कार्य कैसे और क्यों सम्भव हुआ? संक्षेप में बताइये।
   America was the No. 1 of enemy of Red China, but 'now she is her fast friend.' Why and how this wonderful could be possible ? Explain.
5. लाल चीन और रूस के सम्बन्ध 1962 से क्यों बिगड़ गये? इसमें दोनों देशों की विदेश-नीति के क्या दोष थे? इनका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय जगत की राजनीति पर क्या पड़ा?
   Why China and Russia's Relations came to an end ? What wer the defects of both Countries Foreign Policy ? What was the effect of their anti attitute with each other on international politics.
6. लाल चीन की विदेश नीति भारत एवं पाकिस्तान के साथ क्या रही?
   What was the foreign policy of Red China with India and Pakistan ?

5

मध्य पूर्व (द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद)

[Middle East (Since World War II)]

"समस्त मध्य पूर्व अथवा पश्चिमी एशिया में कोई भी शब्द इतना घृणित नहीं है जितना कि साम्राज्यवाद ? अमीर लड़की की तरह मध्य पूर्व की जनता यह नहीं चाहती कि उनकी तेलों की खानों या सम्पत्ति के कारण उनको प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाय, वरन् वे चाहते हैं कि उनकी संस्कृति और सभ्यता का आदर किया जाय।" —सिडनी एन० फिशर

"The Middle East is an area of tremendous strategic, geographic, economic and religious significance, it is a land bridge between three continents. The Suez Canal is the shortest water-way between Western Europe and Asia; international air lines fly across Arab countries and the stanging stops for the Europe to Asia flights—Cairo, Damascus, Tel Aviv, Bagdad are on the shortest routes between the Mediterranean and India." —S. N. Dhar

इजराइल राज्य की स्थापना
(Establishment of Israel)

मध्य पूर्व का क्षेत्र—मध्य पूर्व ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भौगोलिक दृष्टि से कभी-कभी मध्य पूर्व और निकट पूर्व में अन्तर पर बल दिया जाता था। निकट पूर्व में यूनान, बल्गेरिया, टर्की, लेबनान और मिस्र को सम्मिलित किया जाता था। जबकि मध्य पूर्व में ईराक, ईरान और अफगानिस्तान को सम्मिलित किया जाता था। परन्तु 20वीं शताब्दी में यह अन्तर समाप्त कर दिया गया और अब पश्चिम में मिस्र से लेकर पूर्व में अफगानिस्तान तक का क्षेत्र मध्य पूर्व के अन्तर्गत आता है।

फिलिस्तीन का पूर्व इतिहास—मध्य पूर्व में एक फिलिस्तीन का राज्य था। फिलिस्तीन की समस्या आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रमुख समस्या है। यह राज्य एशिया के सुदूर पश्चिम में भूमध्य सागर के किनारे पर बसा था। इसकी राजधानी जेरुसलम थी। किसी समय यहाँ पर यहूदियों का शासन था। वास्तव में यहूदी फिलिस्तीन के मूल निवासी थे। 65 ई० पू० में फिलिस्तीन पर रोम का अधिकार हो गया और यहूदी यहाँ से निकाल बाहर कर दिये गये। रोमनों ने यहाँ पर 65 ई० पू० से 634 ई० तक शासन किया। चूँकि रोमन सम्राट ने ईसाई धर्म 336 ई० में स्वीकार कर लिया था और ईसाई धर्म रोम का राजधर्म घोषित हो गया जिसे ट्यूटनों ने भी स्वीकार किया जो रोमन साम्राज्य के विध्वंसक माने जाते हैं। रोमन सम्राट भागकर कुस्तुन्तुनिया चला आया था। कुछ समय बाद रोमन साम्राज्य

का अंग बन गया। फिलिस्तीन भी उसके अधीन 1098 से 1187 ई० तक रहा। इसके बाद फिलिस्तीन के लिए ईसाइयो और मुसलमानो मे घोर संघर्ष हुआ अन्त में टर्की के सुल्तान के साम्राज्य के अन्तर्गत फिलिस्तीन 1187 ई० के बाद आ गया।

प्रथम विश्व युद्ध मे टर्की जर्मनी के साथ था अतः हारने पर मित्र राष्ट्रों ने फिलिस्तीन को कुछ अन्य प्रदेशो के साथ टर्की साम्राज्य से पृथक कर दिया फिलिस्तीन का संरक्षण ब्रिटेन को सौंपा गया। वर्तमान फिलिस्तीन समस्या का उत्पन्न करने वाला ब्रिटेन है।

फिलिस्तीन को विभाजन योजना—फिलिस्तीन मे 90% जनसख्या अरबों की थी और प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व ब्रिटन ने अरब के अमीर से वचन दिया था कि वह युद्ध के बाद फिलिस्तीन तुर्की से छीनकर उसे दे देगा। यहूदियों को भी ब्रिटेन ने बचन दिया था कि वह प्रथम विश्व युद्ध के बाद फिलिस्तीन मे उन्हें बसाने की व्यवस्था करेगा।

अरबों को फिलिस्तीन न मिल सका। उसकी व्यवस्था ब्रिटेन ने अपने ही शासन के अन्तर्गत की। यहूदी एक धनी एवं व्यापारी जाति है जो यूरोप के विभिन्न देशों में बिखरी हुई है। एक स्वतन्त्र यहूदी राज्य की कल्पना 19वीं शताब्दी मे लियो पायेन्सकर (Leon Piansker) के दिमाग मे आयी। वह बाईबिल का अध्ययन कर रहा था उसमे उल्लेख था कि "दाऊद नामक यहूदी राजा जेरुसलम की किसी पहाड़ी पर अपने प्रासाद में रहता था" इस विचार पर ही उसने नये यहूदी राज्य की कल्पना फिलिस्तीन मे की। 1886 में एक यहूदी पत्रकार डा० थियोडोर हर्ज्ले (Theoder Herzl) ने "फिलिस्तीन वापस चलो" नामक आन्दोलन चलाया। उसने एक पुस्तक भी लिखी जिसमे यहूदियों की राष्ट्रीय भावनाओं को भड़काया। इस आन्दोलन से सभी यहूदी प्रभावित हुए और उसमे सम्मिलित होने लगे। इस आन्दोलन से प्रभावित होकर 1814 से 1914 तक के 100 वर्ष मे एक लाख यहूदी फिलिस्तीन पहुँच पाये थे।

जब फिलिस्तीन मे ब्रिटेन के अन्तर्गत सरक्षण प्रणाली चली तो यहूदी आ-आकर उसमें बसने लगे। 1934 तक यहूदियो की सख्या 37 लाख हो गयी। इस बढ़ती हुई आबादी से अरब लोग परेशान होने लगे और वहाँ दगो की शुरूआत हो गयी। 1936 मे अरब-यहूदी समस्या को समाधान करने के लिए एक 'शाही आयोग' की स्थापना हुई। इस आयोग के अध्यक्ष लार्ड पील थे। आयोग ने 1937 मे अपनी रिपोर्ट दे दी। रिपोर्ट मे सुझाव दिया गया कि इस समस्या के समाधान के लिए फिलिस्तीन का विभाजन करना आवश्यक है। इस विभाजन की योजना मे लिखा था कि जेरुसलम एक धार्मिक स्थान है जहाँ अरब और इजराइल दोनो लोग रहते हैं, ब्रिटेन के अधिकार में रहेगा। समुद्र से इसका सम्बन्ध रखने के लिए एक गलियारे की व्यवस्था की जायगी। गेलिली तथा समुद्रतटीय मैदानो को मिलाकर एक यहूदी सार्वभौमिक राज्य का निर्माण करने तथा शेष भाग को ट्रान्स जोर्डन से मिलाकर एक अरब राज्य बना देने की व्यवस्था की थी। इस प्रकार फिलिस्तीन के आयोग ने तीन खण्ड करने की योजना रखी थी। आयोग ने यह भी सुझाव दिया था कि सारी योजना को सरक्षक राज्य, ट्रान्स जोर्डन को फिलिस्तीन के अरब और यहूदियों के बीच मैत्री सन्धियों द्वारा पक्का कर दिया जाय, फिलिस्तीन के अरब तथा यहूदी राज्य पूर्ण स्वतन्त्र माने जायें और इन दोनो राज्यो को राष्ट्रसघ का सदस्य बना दिया जाय।

इस योजना का यहूदी तो मानने को तैयार थे पर अरबों ने इसे अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने अपने दंगे पुनः प्रारम्भ कर दिये। 1939 मे द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया था और ब्रिटिश के आ जाने से यह दगे बन्द हो गये। पर दोनो जातियो में कटुता बनी रही।

यहूदियो के राज्य की स्थापना—द्वितीय विश्व युद्ध 1945 में समाप्त हो गया। युद्ध काल मे जर्मनी के अत्याचारो से तंग आकर लाखो यहूदी जर्मनी से भाग आये थे और फिलिस्तीन में बस गये थे। ब्रिटेन को यहूदियो से विशेष लगाव था। इन्होंने प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्धों

में न केवल ब्रिटेन की बल्कि अमेरिका की भी बड़ी सहायता की थी। अतः अमेरिका भी यहूदी राज्य के पक्ष में था।

1945 में युद्ध समाप्त होते ही अरबों ने यहूदियों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। 1945 में ब्रिटेन में नये चुनाव हुए जिसमें मजदूर दल विजयी हुआ और उनकी सरकार बनी। यहूदियों को मजदूर दलीय सरकार से बड़ी-बड़ी आशायें थी। पर मजदूर दलीय सरकार ने यहूदियों की समस्या पर कोई विचार न किया तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। अब उन्होने अपने बाहुबल से काम लेना चाहा। उन्होने सैनिक संगठन बनाया। अरब भी सैनिक संगठन बना चुके थे। अरबों के प्रति सहानुभूति पड़ोसी अरब राज्यों की थी। अतः शीघ्र ही फिलिस्तीन मे गृह-युद्ध चल पड़ा। यहूदी यह भी चाहते थे कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जायें कि ब्रिटेन फिलस्तीन को छोड़ दे और फिर वे शक्ति के बल पर अपना राज्य स्थापित कर लें।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन एक दुर्बल राज्य बन गया। वह फिलिस्तीन को जल्द से जल्द त्यागने को तैयार था। उसने सारा मामला संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंपने का निश्चय किया। 1947 मे यह प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंप दिया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक जाँच आयोग नियुक्त किया। 30 अगस्त 1947 को आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। आयोग ने फिलस्तीन के दो भाग कर देने की योजना प्रस्तुत की। एक भाग में यहूदी राज्य तथा दूसरे भाग मे अरब राज्य। इसके बाद जेरुसलम के विशेष क्षेत्र की रचना की जाय और उसमे अन्तर्राष्ट्रीय शासन की व्यवस्था की जाय। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा मे आयोग की सिफारिश को स्वीकार कर इन सिफारिशों को लागू करने के लिए फिलिस्तीन आयोग की स्थापना की गयी। ब्रिटेन ने घोषणा कर दी कि वह 15 मई 1948 को संरक्षण की अवधि पूरी होने पर अपनी सेनायें एवं प्रभुत्व हटा लेगा।

फिलिस्तीन आयोग ने बड़ी कठिन परिस्थितियो में अपना कार्य आरम्भ कर दिया। फिलिस्तीन विभाजन से अरब और यहूदी दोनो ही असन्तुष्ट थे। अरबो का यह कहना था कि उनकी भूमि पर कोई विदेशी राज्य नहीं स्थापित हो सकता है और यहूदी कहते थे कि व यहूदी राज्य स्थापित करके रहेंगे। परिणामस्वरूप दोनो जातियो ने हिंसापूर्ण उपायो का सहारा लिया।

14-15 मई 1948 की मध्य रात्रि में फिलिस्तीन पर से ब्रिटेन ने अपना प्रभुत्व हटा लिया। यहूदियो ने उसी समय संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णय की चिन्ता न करते हुए तल अबीब मे अपने 'इजराइल राज्य' की स्थापना की घोषणा कर दी। इस नवीन राज्य को ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं रूस ने तुरन्त मान्यता प्रदान कर दी।

इजराइल-अरब प्रथम युद्ध—एक ओर ब्रिटिश सरकार ने फिलिस्तीन से अपने प्रभुत्व के अन्त करने की घोषणा की और दूसरी ओर उसी दिन मिस्र, जोर्डन, ईराक एवं सीरिया की सेनायें फिलिस्तीन मे घुस गयी और इजराइल राज्य पर धावा बोल दिया। अरब-इजराइल युद्ध चल पड़ा। उपर्युक्त चारों अरब राज्यो का यह विचार था कि इजराइल को पैदा होते ही गला घोटकर मार डाला जाये। पर इजराइल ने वह रणकौशल एवं वीरता का परिचय दिया कि अरब ही नहीं, वरन् विश्व मे आश्चर्य व्याप्त हो गया। इजराइल को भारी मात्रा मे विदेशी सहायता मिल रही थी। अन्त में संयुक्त राष्ट्र संघ के मध्यस्थ राल्फ बुन्च के प्रयासों से 1949 मे दोनों पक्षों ने युद्ध बन्द कर दिया।

इस युद्ध से इजराइल की स्थिति बड़ी मजबूत हो गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ के आयोग ने इजराइल का क्षेत्रफल केवल 5600 वर्ग मील तय किया था पर युद्ध के पश्चात् वह बढ़कर 7600 वर्ग मील हो गया। इस क्षेत्र में बसने वाले अरबों को निकाल बाहर कर दिया गया। इस युद्ध में मिस्र ने गाजा पट्टी तथा बीरशेबा पर अधिकार कर लिया था तथा जेरुसलम के उत्तरी

भाग से यहूदियों को भगा दिया था। संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से जो समझौता हुआ उसमें मिस्र का अधिकार गाजा पट्टी पर मान लिया गया जहाँ निर्वासित अरबों को बसाने की व्यवस्था की गयी। जेरुसलम के दो भाग किये गये। लगभग एक लाख आबादी वाला भाग यहूदियों को दे दिया गया शेष भाग जोर्डन को दे दिया गया। जिसकी आबादी लगभग 50 हजार थी। दोनों राज्यों की सीमा इस नगर से होती हुई जाती थी। इजराइल ने भागे हुए अरबों को लौटने की अनुमति नहीं दी वरन् जो लोग जेरुसलम में बसते थे वे भी भाग गये या भगा दिये गये। 1953 तक 10 लाख अरबो को अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ी।

अरब-इजराइल में बढ़ता हुआ विरोध
(Increasing Opposition in Arab Israel)

इजराइल की स्थापना का सभी अरब जगत ने विरोध किया। इसके बाद अरब-इजराइल संघर्ष मे अरबों का पराभव भी अरब जगत मे अपमान और लज्जा की बात माना गया। मिस्र, सीरिया, जोर्डन को इस बात का बड़ा अफसोस था कि वे फिलिस्तीन के विभाजन को न रोक सके, दूसरे उनके सीने पर सदा के लिए एक दुश्मन बिठा दिया गया, तीसरे उनका संयुक्त प्रयास इजराइल को नष्ट करने मे पूर्ण असफल रहा। कुछ सुस्ताने के बाद अरबों ने अपनी धूल झाड़ी और समस्त अरबो को इजराइल के विरुद्ध एक करने का प्रयास जारी किया। दूसरी ओर उन्होने इजराइल का आर्थिक बहिष्कार करके उसका गला घोंटना चाहा। मिस्र ने स्वेज नहर को इजराइल के प्रयोग के लिए बन्द कर दिया। इजराइल के बन्दरगाह को जाने-आने वाले जहाजों के लिए स्वेज नहर का प्रयोग वर्जित था। ईराक ने इजराइल को पेट्रोल देना बन्द कर दिया अन्य अरब राज्यों ने अपने व्यापारिक सम्बन्ध उससे तोड़ दिये।

अब इजराइल के मुक्त रूप से कार्य करने पर विश्व के सभी क्षेत्रों के यहूदियों ने उसकी सहायता करनी प्रारम्भ की। अनेक यहूदी आ-आकर इजराइल में बसने लगे। इजराइल को इन लोगो को बसाने तथा काम से लगाने की व्यवस्था करनी पड़ी। भूमि रेतीली थी तथा पानी का अभाव था, इस पर उसे सदैव अरब आक्रमण का खतरा लगा रहता था। यूरोप एवं अमेरिका से उसने अपने सम्बन्ध कायम किये तथा व्यापारिक समझौते किये। अमेरिका ने विपुल धनराशि इजराइल को सहायता मे दी। घोर परिश्रम, अतुल्य उत्साह, एवं महान साहस से यहूदियो ने थोड़े ही काल मे रेगिस्तान को हरा भरा कर दिया। आधुनिक उद्योग-धन्धे पनपने लगे, कल-कारखाने खड़े होने लगे। अल्पकाल मे इजराइल एशिया का एक समृद्धशाली, सम्पन्न एव विकसित देश बन गया।

द्वितीय अरब इजराइल युद्ध—इजराइल की उन्नति देख अरब और भी जल उठे। उन्होने इजराइल का नामोनिशान मिटाने का सकल्प किया। उसकी सीमा पर झड़पें प्रारम्भ कर दी। 1954 मे इजराइली-मिस्री सीमा पर स्थिति गम्भीर हो गयी, 28 फरवरी 1955 को दोनों देशों की सीमा सेना मे जो झड़पें हुईं उसमे दोनों पक्षों के काफी सैनिक मारे गये। 2 नवम्बर-1955 को इजराइल के प्रधानमन्त्री ने अरब राज्यो से आपसी मतभेद दूर करने के लिए एक गोल मेज सम्मेलन का प्रस्ताव रखा। पर अरब इजराइल से वार्ता करने को तैयार न हुए। इसके बाद झड़पें बराबर बढ़ने लगी। मामला सयुक्त राष्ट्र सघ में ले जाया गया। 1956 के मई महीने मे सयुक्त राष्ट्र सघ के महासचिव ने इस क्षेत्र का दौरा किया और कुछ तनाव मे कमी आयी।

जुलाई 1956 मे मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर लिया। मिस्र पर फ्रांस और ब्रिटेन ने आक्रमण करने को इजराइल को भड़काया। तीनो शक्तियो ने मिलकर मिस्र पर आक्रमण कर दिया। 5 दिन तक लड़ाई चली और इजराइल ने सिनाई प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया। सयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 7 नवम्बर 1956 को युद्ध-बन्दी का प्रस्ताव पास कर दिया। इस प्रस्ताव मे तीनों देशों को अपनी सेनायें हटाने का आदेश दिया गया। इसी प्रस्ताव के अनुसार

10 देशों की सैनिक टुकड़ियों से बनी अन्तर्राष्ट्रीय सेना के 6 हजार सैनिकों को संघ की मध्यस्थता में शान्ति स्थापित करने के लिए मिस्र भेजा गया।

ब्रिटेन एवं फ्रांस ने संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेशानुसार 2 दिसम्बर 1956 को मिस्र से अपनी सेनायें हटा लीं किन्तु इजराइल ने गाजापट्टी एवं शर्मल-शेख क्षेत्र से अपनी सेनायें हटाने से इन्कार कर दिया। 9 जनवरी तथा 2 फरवरी 1957 को महासभा द्वारा दो प्रस्ताव पास कर इजराइल से अपनी सेनायें हटाने का आदेश दिया परन्तु इजराइल ने इन प्रस्तावों की भी अवहेलना की। इस पर महासभा ने एक अन्य प्रस्ताव पास कर संघ की अवहेलना के कारण सभी देशों से कहा कि इजराइल को वे आर्थिक एवं सैनिक सहायता देना बन्द कर दें। अन्त में कुछ शर्तों के साथ इजराइल ने 1 मार्च 1957 को वचन दिया कि वह 7 मार्च 19ʼ7 तक अपनी सेनायें हटा लेगा। ये शर्तें थीं—अकाबा की खाड़ी तथा तेहरान डमरूमध्य में इजराइल सहित सभी देशों को नौचालन की पूरी स्वतन्त्रता हो तथा संयुक्त राष्ट्र संघ गाजापट्टी पर अपना शासन तब तक रखे जब तक कि इसके भविष्य के सम्बन्ध में कोई समझौता न हो जाये।

अरब-इजराइल संघर्ष के कारण—यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से अरब और इजराइल के मध्य संघर्ष की तत्काल समाप्ति हो गई पर दोनों पक्षों में मतभेदों का अन्त न हुआ। अरब इजराइल के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। इजराइल के अस्तित्व को मिटाने के अपने इरादे को उन्होंने कभी छिपाया नहीं। जिस घृणा का बीज अंग्रेजों ने बोया, वह पौधा बन चुका था। उसे मिटाना आसान न था। फरवरी-मार्च 1959 में अरबों ने उन सभी जहाजों को रोक लिया जो इजराइल से माल लेकर सुदूर पूर्व को जाने के लिए स्वेज नहर से गुजरना चाहते थे। अरब गणराज्य के इस कार्य से पुन संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस प्रकार दोनों पक्षों में तनातनी चलती रही। संक्षेप में अरब-इजराइल संघर्ष के निम्न-लिखित कारण थे :

(1) **मान्यता का प्रश्न**—अरब-इजराइल के संघर्ष का मुख्य कारण यह था कि अरब अपनी मातृ-भूमि में विदेशी राज्य के अस्तित्व को सहन करने के लिए तैयार न थे। अनेक देशों ने 1948 में ही इजराइल को मान्यता दे दी थी पर कोई अरब राज्य उसे मान्यता देने को तैयार न था।

(2) **अधिकृत भूमि की वापसी**—1918 में संयुक्त राष्ट्र के द्वारा जो सीमायें इजराइल की तय की गई थी, इजराइल ने दोनों युद्धों में उन सीमाओं को काफी विस्तृत कर लिया था। अरबों की शर्त थी कि इजराइल से वार्ता करने से पूर्व, इजराइल अनाधिकृत भूमि को खाली कर '। इजराइल का कहना था कि अरब देश यदि उसे मान्यता दे दें तो वह अतिरिक्त भूमि को जो सने जीती है छोड़ देगा। इसके लिए अरब तैयार न थे।

(3) **धार्मिक प्रश्न**—इस्लाम धर्म और यहूदी धर्म एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे। विद्वेष भी अरब-इजराइल संघर्ष का एक प्रमुख कारण था यह धार्मिक विद्वेष सदियों पुराना था अतः इसे मिटाना आसान कार्य न था।

(4) **इजराइल राज्य की स्थापना**—इजराइल राज्य की स्थापना जबरन की गई थी। अंग्रेजो की कूट नीति दोहरी। अपने संरक्षण काल में अंग्रेजों ने जो पक्षपात पूर्ण रवैया यहूदियों प्रति अपनाया था उससे अरब चिढ़े हुए थे। अंग्रेजों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान और बाद में को स्वतन्त्र करने तथा अरबों को फिलिस्तीन लौटा देने का वचन दिया था दूसरी ओर एक डा० वाइजमान द्वारा अंग्रेजो को युद्ध में पर्याप्त सहायता दी गई थी, अंग्रेजों ने उससे किया था कि फिलिस्तीन यहूदियों को युद्ध के बाद दे दिया जायगा। युद्ध के बाद अंग्रेजों ने का पक्ष लिया था। उन्हें अपना राज्य स्थापित करने को प्रोत्साहित किया था। अंग्रेजों की स

पाकर इजराइल राज्य की स्थापना यहूदियों ने की और अमेरिका ने कुछ मिनट बाद ही इजराइल राज्य को मान्यता दे दी थी। यह कार्य इतनी जल्दी हुआ कि अमेरिकन प्रतिनिधि को भी पता न चला और समाचार पत्र देखकर ही उसे विश्वास हुआ। इजराइल के क्षेत्र पर अरब और यहूदी दोनों का समान दावा था, अतः संघर्ष होना अनिवार्य था।

(5) अरब राष्ट्रीयता—19वीं शताब्दी

अतः उनमें राष्ट्रीयता की भावना भर चुकी थी।

इस साम्राज्यवाद के विरुद्ध घृणा हो चुकी और वे उसे मिटाने के लिए दृढ़ संकल्प ले चुके थे। पश्चिमी राष्ट्र यह नहीं चाहते कि अरबों में राष्ट्रीय एकता उत्पन्न हो क्योंकि इस एकता से उन्हें आर्थिक हानि होनी थी। इस एकता को नष्ट करने के उद्देश्य से तथा अपना अड्डा मध्य पूर्व में बनाये रखने के उद्देश्य से इजराइल राज्य की स्थापना की गई थी। इजराइल इस क्षेत्र में यूरोपियनों के हितों का संरक्षक बन गया। साम्राज्यवाद का इस क्षेत्र में अन्त तभी हो सकता जब इजराइल का अस्तित्व मिटा दिया जाय।

यद्यपि इजराइल को मान्यता देने में अमेरिका के समान रूस ने भी जल्दी की थी पर वह अमेरिकन प्रभाव को पनपने देना पसन्द नहीं करता था। उसने अरबों को भड़काना प्रारम्भ कर दिया। इतना ही नहीं उसने इजराइल से युद्ध करने के लिए अरबों को अस्त्र-शस्त्र बेचने प्रारम्भ कर दिये। यदि यह संघर्ष समाप्त हो जाता तो रूस की भी काफी आर्थिक क्षति हो जाती। अमेरिका और रूस की प्रतिद्वन्द्विता ने इस संघर्ष को स्थायी बनाने में सहायता दी।

(6) भौगोलिक एवं सामरिक महत्व—मध्यपूर्व भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान था। यह तीन महाद्वीपों को जोड़ता था। यह पूर्व पश्चिम का संगम स्थल था। जलमार्ग (स्वेज नहर) तथा वायुमार्ग का भी यह संगम स्थल था सामरिक दृष्टि से भी यह अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था स्वेज नहर द्वारा ही यूरोप का सम्पर्क पूर्वी राज्यों—आस्ट्रेलिया, भारत, अफ्रीका तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया से होता था। यदि स्वेज नहर पर अन्य कोई शक्ति कब्जा कर उसे बन्द कर दे तो यूरोप की आर्थिक व्यवस्था ठप्प हो सकती थी। पश्चिमी शक्तियां यह नहीं चाहती कि इस क्षेत्र पर अरबों का स्वामित्व हो जो रूस द्वारा शीघ्र बहकाये जा सकते हैं।

(7) तेल का महत्वपूर्ण क्षेत्र—मध्यपूर्व तेल का भण्डार रखता है। विश्व का 2/3 अथवा 3/4 तेल यहीं उत्पादित होता। अरब देशों की मुख्य आय यह तेल ही है। पश्चिमी जगत की समृद्धि इस तेल द्वारा ही टिकी है, उनके कल-कारखाने इसी तेल द्वारा चलते हैं। पश्चिमी देश जानते थे कि रूस की दिलचस्पी इस क्षेत्र विशेष से तेल के कारण है, यदि उसके बहकाने से अरब लोग तेल का निर्यात पश्चिमी देशों को बन्द कर दें तो यूरोप का आर्थिक ढाँचा लड़खड़ा उठेगा। उसके उद्योग-धन्धे ठप्प हो जायेंगे। वायुसेना, जलसेना एवं मशीनें बिना पेट्रोल के चलना बन्द हो जायेंगी। यद्यपि अमेरिका को यहाँ के तेल से बहुत कम लाभ था पर यूरोप एवं जापान आदि देशों के उद्योग इस तेल पर निर्भर थे। पश्चिमी देशों का शत्रु रूस इजराइल के विरुद्ध अरबों को भड़का रहा था अतः वह अरब-इजराइल में शान्ति सन्धि नहीं होने देना चाहता था।

(8) स्वेज नहर विवाद—1956 में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया था। ब्रिटेन और फ्रांस स० रा० संघ के हस्तक्षेप से मिस्र का कुछ बिगाड़ न सके और उन्हें अपनी सेनायें स्वेज नहर क्षेत्र से हटानी पड़ी। ये दोनों देश मिस्र से चिढ़ गये थे और वे इजराइल के माध्यम से मिस्र को पाठ पढ़ाना चाहते थे अतः वह इस क्षेत्र में शान्ति-सन्धि के विरुद्ध थे। इजराइल के लिए मिस्र ने स्वेज नहर को बन्द कर दिया था अतः वह मिस्र तथा उसके साथियों का कट्टर शत्रु हो गया था यहाँ तक वह संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेशों की भी अवहेलना करने को तैयार था।
के लिए मिस्र ने स्वेज नहर को बन्द कर दिया था अतः वह मिस्र तथा उसके साथियों का कट्टर शत्रु हो गया था यहाँ तक वह संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेशों की भी अवहेलना करने को तैयार था।

(9) अरब-शरणार्थियों की समस्या—अरबों एवं यहूदियों में शत्रुता का एक कारण शरणार्थी समस्या भी थी। जब से फिलिस्तीन में यहूदी बसने लगे थे तब से अरबों की भूमि पर यहूदियों का कब्जा होना प्रारम्भ हो गया था। ब्रिटिश शासन ने अरबों और यहूदियों के दंगों के समय यहूदियों का साथ दिया था। इससे अनेक अरब फिलिस्तान से भागने लगे थे। यहूदियों ने भूमि एवं मकानों की दुगनी तिगनी कीमतें बढ़ा दी थीं। अतः बहुत से अरबों ने अपनी जायदादें बेच डाली थीं। जब इजराइल राज्य बना तो एक-एक अरब इजराइल राज्य से निकाल दिया गया। प्रथम और द्वितीय इजराइल-अरब युद्धों में इजराइल ने अरबों का काफी क्षेत्र छीन कर वहाँ से अरबों को निकाल दिया था। इस कारण 10 लाख अरब बेघरबार होकर शरणार्थी बन गये। अरबों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी अतः कोई भी अरब देश इन शरणार्थियों को अपने देश में बसाना नहीं चाहता था। उनके बस जाने पर भी कोई अरब राज्य उन्हें नागरिक अधिकार नहीं देना चाहता था। इजराइल इन शरणार्थियों को वापस लेना नहीं चाहता था। अरब शरणार्थी भी यह नहीं चाहते थे कि इजराइल का अस्तित्व बना रहे और वे सदैव शरणार्थी बने रहें।

(10) जोर्डन नदी के जल की समस्या—अरब-इजराइल संघर्ष का एक कारण जोर्डन नदी के जल के प्रयोग की समस्या थी। जोर्डन नदी लगभग 150 मील लम्बी नदी थी और वह सीरिया, लिबनान, जोर्डन तथा इजराइल राज्यों के मध्य बहती थी। यह नदी लिबनान तथा सीरिया की दो जलधारायें मिल जाने पर जोर्डन नदी कहलाती है। जोर्डन एवं इजराइल की प्राकृतिक सीमा बनाती है। इस नदी के जल के प्रयोग पर इजराइल और अरब देशों में गहरा मत भेद उत्पन्न हो गया था। इस विवाद को मध्यस्थ एरिक जान्सटन ने सुलझाना चाहा। उसका सुझाव था कि इस नदी के जल के पानी का 2/3 भाग अरब देश प्रयुक्त करें एवं $\frac{1}{3}$ भाग इजराइल को प्रयोग करने दिया जाय। यद्यपि इजराइल इस सुझाव से सहमत हो गया था पर अरब राज्य इजराइल को इतना पानी भी नहीं देना चाहते थे। यह विवाद भी दोनों पक्षों में युद्ध का कारण बना था।

तीसरा अरब-इजराइल युद्ध—यद्यपि 1956 में संयुक्त राष्ट्र संघ के बीच में पड़ जाने से अरबों और इजराइल में युद्ध बन्द हो गया था। इजराइल की कुछ शर्तें मानकर अरबों ने वह भूमि प्राप्त कर ली थी जो 1956 के युद्ध में इजराइल ने छीन ली थी। पर युद्ध-विराम के बाद दोनों पक्षों में स्थायी सन्धि न हो पाई थी अतः दोनों में कटुता बढ़ती रही। सीमा पर छुटपुट झड़पें होती रहीं। 1959 में इजराइल के समस्त जहाज जो सुदूर पूर्व में जा रहे थे, अरबों ने रोक लिये। इजराइल ने इसकी शिकायत संयुक्त राष्ट्र संघ से की। सुरक्षा परिषद में इस शिकायत पर अभी विचार भी न हुआ था कि अरबों ने मई 1909 को एक और जहाज "डेनिश" जो हैफा से इजराइल जा रहा था रोक लिया। 1960 में सीरिया तथा इजराइल के प्रधानमन्त्री डेविड बेनगुरियन को अमेरिका ने अरबों के विरुद्ध युद्ध में सहायता करने का वचन दिया। 1962 में इजराइल एवं सीरिया में पुनः झड़प हो गई और युद्ध की नौबत आई। सुरक्षा परिषद ने युद्ध-विराम समझौते के पालन करने को कहा। अगस्त 1962 में दोनों देशों की सेनाओं में फिर मुठभेड़ होने से स्थिति गम्भीर हो गई। 1964 में काहिरा में शिखर सम्मेलन हुआ पर इस सम्मेलन में इजराइल के विरुद्ध गर्म वातावरण से इजराइल और चिढ़ गया। इसके पश्चात अरब छापामारों ने इजराइल को हानियाँ पहुँचानी प्रारम्भ कीं। 4 नवम्बर 1966 को इजराइल ने जोर्डन एवं सीरिया के छापामारों की शिकायत की 9 दिन बाद अर्थात् 13 नवम्बर 1966 को जोर्डन के छापामारों के अड्डों पर इजराइल के वायुयानों ने भयानक आक्रमण किया। 7 अप्रैल 1967 को इजराइल ने सीरिया के विरुद्ध कार्यवाही की। सीरिया के 6 विमान मार गिरा दिये गये। इजराइल की सीमा पर जोर्डन एवं सीरिया की सेनाओं का जमाव प्रारम्भ हो गया। गाजा पट्टी के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र सेनायें 1956 से नियुक्त थीं जो मिस्र के राष्ट्रपति नासिर के अनुरोध पर हटा ली गई।

23 मई 1967 को संयुक्त अरब गणराज्य की सरकार द्वारा इजराइली जहाजों को अकाबा खाड़ी मे प्रवेश से रोक दिया गया। इस खाड़ी से होकर ही लाल सागर में जाने का रास्ता था। राष्ट्रपति नासिर ने घोषणा की कि अकाबा की खाड़ी कोई अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग नहीं यह तो मिस्र और सऊदी अरब की क्षेत्रीय सम्पत्ति है। स्वेज नहर पहले से ही इजराइल के लिए बन्द थी अब अकाबा की खाड़ी के बन्द हो जाने से वहां सकट उत्पन्न हो गया। युद्ध को टालने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ऊथाण्ट काहिरा पहुँचे पर उनके प्रयास असफल हुए। सुरक्षा परिषद में इस सकट का दायित्व इजराइल पर डाला तथा युद्ध भड़काने मे अमेरिका एवं ब्रिटेन को जिम्मेदार ठहराया। अमेरिका ने इस संकट के कारण रूस पर आरोप लगाया। सुरक्षा परिषद इस स्थिति मे कुछ न कर सकी। अमेरिका तथा ब्रिटेन ने अकाबा खाड़ी को अन्तर्राष्ट्रीय घोषित किया और इजराइल के प्रधानमन्त्री को इसका विरोध करने को प्रोत्साहित किया। फ्रांस आदि चुप रहे। अपने पक्ष में ब्रिटेन एवं अमेरिका को पाकर इजराइल के प्रधानमन्त्री ने घोषणा की कि अकाबा खाड़ी पर प्रतिबन्ध को शक्ति के बल पर तोड़ेगा। इस धमकी पर रूस ने अपने जहाज दर्रे-दानियाल पार कर भूमध्य सागर मे उतार दिये। ब्रिटेन एव अमेरिका के जंगी जहाज भी भूमध्य सागर मे प्रवेश कर गये। जोर्डन को विश्वास था कि कर्नल नासिर उसकी सहायता करेगा। जनरल दयान इजराइल के युद्ध मन्त्री बनाये गये। युद्ध प्रारम्भ होना अनिवार्य हो गया। 5 जून 1967 को इजराइली वायुयानों ने मिस्र के काहिरा तथा अन्य हवाई अड्डों पर बमबारी कर दी। यह युद्ध आरम्भ का सकेत था कि इजराइली सेना वायुवेग से आगे बढ़ी और 2-3 दिन मे सिनाई-प्रदेश पर अधिकार कर लिया गया। जोर्डन की सेनायें इजराइल के सामने न ठहर सकीं और उसने युद्ध बन्द कर दिया।

सुरक्षा परिषद की पुनः बैठक हुई। भारत ने प्रस्ताव रखा कि दोनों ओर की सेनायें 5 जून की स्थिति मे आ जाये। 5 जून को ही युद्ध बन्द कर देने का सुरक्षा परिषद ने आदेश दिया। 7 जून को सुरक्षा परिषद ने एक अन्य प्रस्ताव पास किया जिसमें आदर्श था कि दोनों पक्ष 8 बजे (ग्रीनविच टाइम) रात्रि तक युद्ध बन्द कर दिया। यद्यपि युद्ध बन्द कर देने की घोषणा इजराइल ने कर दी थी पर सीरिया और इधर स्वेज के कुछ भागों में 9 जून को भी युद्ध होता रहा। सुरक्षा परिषद की बैठक मे रूस और भारत के प्रतिनिधियों ने इजराइल को आक्रमण घोषित किया, पर ब्रिटेन एवं अमेरिका ने इसका घोर विरोध किया। फिर भी सुरक्षा परिषद ने इजराइल और सीरिया को 2 घण्टे के अन्दर युद्ध बन्द कर देने का आदेश दिया। 10 जून 1967 को दोनों पक्षों ने युद्ध बन्द कर दिया।

1968 से 1973 तक अरब और इजराइल सम्बन्ध—युद्ध तो बन्द हो गया पर दोनों पक्षों में स्थायी सन्धि के आसार न दिखाई दिये दोनों ओर से छेड़-छाड़ जारी थी। इजराइल के पास इस युद्ध मे बहुत बड़ा क्षेत्र आ गया था। वह इन क्षेत्रों को खाली नही करना चाहता। इसी दबाव में रखकर वह अरबों से समझौता करना चाहता था। 28 अक्टूबर को इजराइल द्वारा लिबनान ने हवाई अड्डे पर (बेरूत) पर आक्रमण हुआ। इस हमले से 13 व्यापारी जहाज नष्ट हो गये। इस हमले की आलोचना अधिकांश देशों ने की। 8 मार्च 1969 को इजराइल ने फिर स्वेज के समीप तेल के कारखाने पर आक्रमण किया। विरोध की परवाह न करते हुए जून 1969 में जेरुसलम को पूर्ण रूप से इजराइल में मिला लिया गया। 21 अगस्त, 1969 मे जेरुसलम की मस्जिद अली-अक्सी में आग लग गई, इससे अरबों में पुनः उत्तेजना भर गई और युद्ध की स्थिति पैदा हो गई।

इजराइल की कमर थप-थपाने मे अमेरिका और ब्रिटेन लगे थे, अतः इजराइल मनमानी कर रहा था। वह सन्धि के लिए मिस्र पर तरह-तरह के दबाव डाल रहा था। 1971 मे मिस्र ने स्वेज नहर खोलने के लिए कुछ शर्त प्रस्तुत की। शर्तें थीं—इजराइल द्वारा सिनाई क्षेत्र खाली कर

दिया जावे । परन्तु इजराइल ने ब्रिटेन और अमेरिका के बहकाने पर इस शर्त को मानने से इन्कार कर दिया । स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जाती थी । 1972 मे एक और घटना घट गई जिससे दोनों पक्षों मे युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना उत्पन्न हो गई । यह घटना थी—इजराइल के 13 खिलाड़ी जो म्यूनिख मे 20वी अन्तर्राष्ट्रीय क्रीड़ा प्रतियोगिता में भाग लेने गये थे, अरब छापामारो द्वारा पकड़ लिये गये । छापामारों ने मांग की कि 5 घन्टे के अन्दर यदि इजराइल 200 अरब बन्दियों को नहीं मुक्त करता है तो इन खिलाडियों को मार दिया जायगा । 5 सितम्बर 1972 को 4-30 बजे (भारतीय समय) ये सब खिलाड़ी मार डाले गये क्योंकि जर्मनी ने उन्हें छुड़ाने के लिए अरब छापामारो से संघर्ष किया । इजराइल ने इनके बदले सीरिया तथा लिबनान के शरणार्थी शिविरों पर आक्रमण किया जिसने अनेक अरब हताहत हुए । सीरिया ने 13 सितम्बर, 1972 को इजराइल के एक विमान को मार गिराया ।

16 सितम्बर, 1972 को इजराइली सेना लेबनान मे घुस गई और 35 घन्टे तक मार-काट करती रही अनेक फिलिस्तीनी छापामार मार डाले गये, वह छापामारों के ठिकानों को समाप्त करने गई थी, लिबनान की भूमि पर उसको कब्जा करने का आदेश न था । भारत ने इजराइल की इन कार्यवाहियो की बड़ी निन्दा की । इसी प्रकार इजराइल अरबों को कुचलता रहा और छापामारो को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा तोड़कर भी नष्ट करता रहा । अरबो मे इतनी शक्ति न थी कि वे इजराइल का युद्ध मे मुकाबला करते ।

अरब-इजराइल युद्ध 1973—मध्य पूर्व की स्थिति लगातार बिगड़ती रही । अरब इजराइल को मान्यता नही देना चाहते थे । अरबो को बहकाने वाला सोवियत रूस था । उसने अरबो को पुनः शस्त्रास्त्र देकर इजराइल के विरुद्ध भड़काया । मिस्र ने काफी सैनिक तैयारी की । 6 अक्टूबर में 973 को पता चला कि मिस्र ने अचानक इजराइल पर आक्रमण कर दिया । इजराइल समझता था कि मिस्र गत युद्धों में इतनी हानि उठा चुका है कि वह भावी युद्ध में न फँसेगा अतः वह आराम करता रहा । अचानक आक्रमक होने पर वह हड़बड़ा कर उठा । जितनी देर मे उसने आक्रमण की तैयारी की उसके अधिकृत क्षेत्र का बहुत बड़ा भाग मिस्र की सेना जीत चुकी थी । मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सयादत ने 19 सदस्यीय "अरब लीग के सचिवालय मे अपील भेजकर सभी अरब राज्यों से आग्रह किया कि वे शत्रु से मुकाबला करने के लिए एक जुट हो जाये । इस अपील पर कुवैत, मोरक्को, अल्जीरिया तथा ईराक आदि देशों ने अपने सैनिक युद्ध मे झोंक दिये । परन्तु लिबनान एवं जोर्डन शान्त रहे ।

यह युद्ध 6 अक्टूबर से 22 अक्टूबर ,973 तक चला । सुरक्षा परिषद के आदेश पर युद्ध-विराम हुआ । युद्ध विराम होने तक इजराइल ने स्वेज नहर के पश्चिमी तट एव सीरिया के सासा के निकट तक का क्षेत्र छीन लिया था । दूसरी ओर मिस्र ने स्वेज पार कर 305 मील की लम्बी पट्टी पर तथा सीरिया ने गोलन पहाड़ी क्षेत्र के कुछ भाग पर कब्जा कर लिया था । इस युद्ध मे अमेरिका और रूस ने जबरदस्त सरगर्मी दिखाई । कहा जाता है कि रूसी ब्रेजनेव ने एक पत्र अमेरिका के राष्ट्रपति को लिखकर चेतावनी दी थी कि "यदि युद्ध-विराम न हुआ तो इजराइल को नेस्तनाबूद" कर दिया जायगा । इससे अमेरिका ने अपनी विश्व भर मे तैनात सेनाओं को सतर्क कर दिया था ।

युद्ध विराम के बाद दोनों महाशक्तियों ने दोनों पक्षों मे समझौता कराने का प्रयत्न किया । अमेरिका के विदेशमन्त्री डॉ० किसिजर द्वारा आयोजित एक 6 सूत्री समझौते पर [illegible] ने 11 नवम्बर 1973 को हस्ताक्षर कर दिये । ये छः सूत्र निम्नलिखित थे :

(1) मिस्र और इजराइल संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के गत महीने आदेश का पालन करेंगे ।

(2) दोनों पक्ष 28 अक्टूबर की स्थिति में लौटने के बारे में बातचीत करेंगे और संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान में सेनाओं की वापसी का अंग मानेंगे ।

(3) स्वेज कस्बे को प्रतिदिन रसद मिलेगी और घायल नागरिकों को वहाँ से हटाया जायगा ।

(4) स्वेज नहर के पूर्वी तट पर मिस्री सैनिको को गैर सैनिक संभरण की निर्बाध अनुमति दी जायगी ।

(5) काहिरा-स्वेज मार्ग पर स्थित चौकियों का नियन्त्रण संयुक्त राष्ट्र संघ के कर्मचारियों को सौंपा जायगा । मार्ग के अन्तिम छोर पर इजराइली अधिकारी भी गैर-सैनिक सामान का निरीक्षण कर सकेंगे ।

(6) मार्ग पर संयुक्त राष्ट्र की चौकियाँ स्थापित होते ही युद्धबन्दियों की अदला-बदली प्रारम्भ हो जायेगी ।

इन छः सूत्रों ने वार्ता का दरवाजा खोल दिया । जून 1974 मे इजराइल और सीरिया का समझौता हो गया । इसके बाद मिस्र और इजराइल में भी समझौता हो गया । मिस्र ने रूस का पक्ष छोड़कर अमेरिका का पक्ष लेना प्रारम्भ किया । इजराइल ने भी अरबों की भूमि को छोड़ने का वायदा किया । शीघ्र मिस्र और इजराइल में ऐसा समझौता हो जायेगा जिससे वे एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर लें तथा सह अस्तित्व के सिद्धान्त का पालन करें ।

स्वेज नहर संकट और महान शक्तियाँ
(Suej Crisis and Big Powers)

स्वेज नहर का इतिहास—मध्यपूर्व में स्वेज नहर का विश्व में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है । इसका निर्माण 1869 मे हुआ था इसका संचालन एक स्वेज नहर कम्पनी द्वारा होता था । इस कम्पनी के अधिकांश हिस्से ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा खरीदे हुए थे । स्वेज नहर की रक्षा हेतु ब्रिटिश सेना इस क्षेत्र में रहती थी । वास्तव में ब्रिटेन ने मिस्र के खरीद से 1880 में ये हिस्से खरीद लिए थे । भूतपूर्व प्रधानमन्त्री डिजराइली द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ । मिस्री जनता ने विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध 1889 मे विद्रोह कर दिया था । ब्रिटिश सेना ने विद्रोह को कुचल दिया था और मिस्र पर पूरा प्रभुत्व जमा लिया ।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात मिस्र मे राष्ट्रीयता का आन्दोलन तेज हुआ । मिस्री जनता ने अपने देश से विदेशी सेनाओं (ब्रिटिश) को हटाने का आन्दोलन प्रारम्भ किया । मिस्री नेताओं ने 1936 के समझौते को रद्द करने तथा ब्रिटिश सेना को स्वेज नहर क्षेत्र से हटाने तथा स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण करने की माँग की । 1947 तक काहिरा और सिकन्दरिया से हट जायगी तथा सितम्बर 1949 तक शेष मिस्र से हट जायगी । परन्तु यह समझौता लागू न हो सका । मिस्र ने 8 जुलाई 1947 को संयुक्त राष्ट्र संघ मे शिकायत की कि ब्रिटेन ने अभी तक मिस्री क्षेत्र को खाली नहीं किया है । ब्रिटिश सेना की उपस्थिति से देश में महान असन्तोष फैला हुआ है । ब्रिटेन ने 1936 के समझौते का हवाला देते हुए 20 वर्ष तक ब्रिटिश सेना का मिस्र में रहना वैध बताया । सुरक्षा परिषद जब इस विषय में कोई निर्णय न दे सकी तो मिस्र में आन्दोलन और तेज हो गया । 1951 मे प्रधानमन्त्री नहस पाशा ने 1936 की संधि को रद्द करते हुए ब्रिटिश फौजों को स्वेज क्षेत्र छोड़ने तथा मिस्र खाली करने को कहा ।

ब्रिटेन ने इस माँग की उपेक्षा की । इसी बीच मिस्र में क्रान्ति हो गई । 26 जुलाई 1952 को नजीब एवं नासिर ने सत्ता को अपने हाथ में ले लिया । नहस पाशा को हटाकर महर पाशा को मिस्र का प्रधानमन्त्री बनाया गया । 1954 में मिस्र और ब्रिटेन में एक समझौता हुआ

और ब्रिटेन ने वादा किया कि उसकी 80 हजार सेना 20 माह के अन्दर-अन्दर मिस्र से हट जायगी। अक्टूबर 1954 को नासिर मिस्र का तानाशाह बन गया।

स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण—कर्नल नासिर एक उग्रराष्ट्रवादी नेता तथा साम्राज्यवाद विरोधी अधिनायक था। वह नील नदी पर औद्योगिक प्रगति हेतु एक बाँध बनाना चाहता था। उसके लिए उसने ब्रिटेन एवं अमेरिका से आर्थिक सहायता माँगी। अमेरिका ने नासिर के सामने पश्चिमी गुट में हो जाने का प्रस्ताव रखा पर नासिर ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। फिर भी अमेरिका ने अस्वान बाँध के लिए आर्थिक सहायता देना स्वीकार कर लिया।

इसी बीच नासिर को फिलिस्तीनी युद्ध के लिए सैनिक सामग्री की आवश्यकता हुई। नासिर ने अमेरिका से सैनिक सहायता माँगी पर अमेरिका इजराइल के विरुद्ध मिस्र को सैनिक सहायता कैसे दे सकता था। इसके बाद नासिर ने रूस से वार्ता चलाई, रूस राजी हो गया। रूस से नासिर ने शस्त्रास्त्र खरीदने प्रारम्भ किये। इस बात से अमेरिका और ब्रिटेन मिस्र से नाराज हो गये। उन्होंने मिस्र को आर्थिक सहायता देना भी बन्द कर दिया।

स्वेज नहर के संकट के कारण—1956 में जो स्वेज नहर संकट प्रारम्भ हुआ उसके निम्नलिखित कारण थे—

(1) **स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण**—नासिर को धन की आवश्यकता थी अन्यथा उसका अस्वान बाँध पूरा न होता। जब अमेरिका एवं ब्रिटेन ने मिस्र की आर्थिक सहायता बन्द कर दी तो उसने "स्वेज नहर कम्पनी" का राष्ट्रीयकरण कर दिया। "राष्ट्रपति नासिर ने 26 जुलाई 1956 को घोषित किया कि उसकी सरकार स्वेज नहर कम्पनी का राष्ट्रीयकरण करती है।" जनता के सामने बोलते हुए नासिर ने कहा कि "यह धन हम रा है और यह नहर मिस्र की सम्पत्ति है"........ आज हम उच्च बाँध बना रहे हैं। हम अपनी स्वतन्त्रता, सम्मान एव स्वाभिमान का निर्माण कर रहे हैं।" इस भाषण से फ्रांस एवं ब्रिटेन में खलबली मच गई क्योंकि इन देशों को स्वेज नहर कम्पनी से करोड़ों रुपये की आय होती थी। मिस्र और पश्चिमी देशों में तनातनी चल पड़ी।

(2) **साम्यवाद का प्रसार**—पश्चिमी शक्तियाँ यह जानती थीं कि रूस अरबों को सहायता दे रहा है। वह भड़का कर अंग्रेजी सेनाओं को पश्चिमी एशिया से निकाल देना चाहता है। यदि ब्रिटिश सेनायें मिस्र से चली आयीं तो रूस का इस क्षेत्र पर अधिकार हो जावेगा। पश्चिमी शक्तियाँ यह कैसे सहन कर सकती थीं कि उनका प्रभाव हटकर रूस का प्रभाव बढ़े अतः वे क्रोधित हो उठीं।

(3) **यूरोप के व्यापार को खतरा**—स्वेज नहर पूर्व और पश्चिम को जोड़ने के लिए एक पुल का कार्य करती थी। पूर्व से यूरोप का अधिकांश व्यापार स्वेज नहर के माध्यम से होता था। व्यापारिक दृष्टि से स्वेज नहर का बहुत महत्व था। यूरोप से भारत या सुदूर पूर्व जाने के लिए स्वेज नहर से पूर्व यूरोपीय जहाजों को केप आफ गुड होप का चक्कर काटना पड़ता था। इससे समय और किराये में वृद्धि होती थी। चीजें महँगी पड़ती थी। स्वेज नहर ने इस समस्या को दूर कर दिया था। उसके हाथ से निकल जाने पर यूरोप में महान आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता जिसे सहना कोई आसान कार्य न था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन को पूर्वी साम्राज्य की रक्षा में यह नहर बड़ा महत्वपूर्ण योगदान देती थी अतः वे स्वेज नहर को नहीं छोड़ सकता था।

स्वेज नहर का जब संकट प्रारम्भ हुआ तो एस० एन० धर ने कहा था कि "यह विश्वास करने के कई कारण हैं कि स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण उचित ही है। मेरे विचार में भी किसी देश को किसी देश के उन कार्यों में अड़गे लगाने का कोई अधिकार नहीं, जो वह अपनी प्रगति हेतु करता है।"

स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण पर ब्रिटेन एवं फ्रांस का कहना था कि "राष्ट्रीय

1888 के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की अवहेलना है।" इस समस्या को सुलझाने के लिए 22 राष्ट्रों का सम्मेलन लन्दन मे बुलाया गया। इस सम्मेलन मे अमेरिका के विदेश मन्त्री ने एक योजना रखी कि "एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वेज बोर्ड की स्थापना हो जो समय-समय पर अपनी रिपोर्ट संघ को देता रहे। नहर को सभी देशों के लिए शान्ति एवं युद्ध काल दोनों में खुला रखा जाया करे। मिस्र की प्रभुसत्ता नहर पर मान ली जाय।" भारत के प्रतिनिधि कृष्णा मेनन ने भी उक्त योजना के अनुसार ही अपनी योजना रखी "नहर शान्ति एवं युद्ध काल मे बराबर खुली रहे। नहर के नियन्त्रण के लिए भौगोलिक प्रतिनिधित्व को आधार मानते हुए एक परामर्शदात्री संस्था की स्थापना होनी चाहिए।" उन्होंने यह भी कहा कि स्वेज नहर मिस्र की है। इस पर अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना का अर्थ नये ढाइन बोर्ड के साथ स्वेज नहर कम्पनी की फिर से स्थापना है।"

अमेरिका के विदेश मन्त्री डलेस की योजना के पक्ष में सम्मेलन मे 17 मत पड़े। अतः भारत की योजना नहीं मानी गयी। सम्मेलन ने यह योजना कर्नल नासिर के पास भिजवादी। कर्नल नासिर ने इसे पूर्णतया अस्वीकृत कर दिया।

सुरक्षा परिषद का निर्णय—ब्रिटेन एवं फ्रांस इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद मे ले गये। 26 सितम्बर को सुरक्षा परिषद मे इस सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव रखा गया। 5 अक्टूबर को वाद-विवाद हुआ। 13 अक्टूबर को सुरक्षा परिषद ने दो हिस्से वाले प्रस्ताव का एक भाग सर्व सम्मति से मान लिया। इसके अनुसार—(1) मिस्र की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार किया गया। (2) नहर संचालन सभी देशो की राजनीति से दूर रहा। (3) नहर सबके लिए खुली रहे। (4) नहर की आमदनी का बड़ा भाग नहर के विकास मे लगाया जाय। (5) स्वेज कम्पनी तथा मिस्र के मध्य विवाद मध्यस्थता द्वारा निबटाया जाये। दूसरे भाग के विषय में रूस ने वीटो (Veto) प्रयोग किया अतः वह रद्द हो गया।

इस प्रस्ताव से ब्रिटेन और फ्रांस खुश न हुए। वे तो मिस्र को पाठ पढ़ाना चाहते थे। दोनों ने मिलकर इजराइल को भड़काया। उनके दबाव से इजराइल ने 26 अक्टूबर 1956 को मिस्र पर आक्रमण कर दिया। 30 अक्टूबर 1956 को फ्रांस एवं ब्रिटेन ने कहा कि मिस्र अपनी सेनायें स्वेज से 10 मील पश्चिम की ओर हटा ले। जब मिस्र ने ऐसा नहीं किया तो ब्रिटेन एवं फ्रांस की संयुक्त सेना ने पोर्ट सईद पर आक्रमण कर दिया। सुरक्षा परिषद में इस आक्रमण के विरुद्ध प्रस्ताव रखा पर ब्रिटेन एवं फ्रांस ने उसे वीटो द्वारा रद्द कर दिया।

महासभा का निर्णय—ऐसी दशा मे महासभा का संकटकालीन अधिवेशन बुलाया गया। नवम्बर 1956 में महासभा में इस विषय पर गहरा वाद विवाद हुआ। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने बताया कि उन्होंने यह कार्य उसी प्रकार का किया है कि जिस प्रकार का कार्य अमेरिका ने कोरिया युद्ध में किया। 2 नवम्बर 1956 को अमेरिका का रखा एक प्रस्ताव महासभा में बहुमत से पास हो गया। उसमें अविलम्ब युद्ध बन्द कर देने की बात थी कनाडा के प्रस्ताव के अनुसार जो 4 नवम्बर को रखा गया था, संयुक्त राष्ट्र संघ के 6 हजार सैनिक मिस्र में युद्ध बन्द कराने के लिए रवाना हुए।

5 नवम्बर को रूस ने फ्रांस और ब्रिटेन को चेतावनी दी कि वह "मध्य पूर्व में शान्ति हेतु पूरा प्रयत्न करेगा।" रूस के हस्तक्षेप के भय से ब्रिटेन और फ्रांस अपनी सेनायें हटाने को राजी हो गये क्योंकि रूस और अमेरिका दोनो का वे विरोध नहीं कर सकते थे। 7 नवम्बर को अफ्रीकी-एशियायी प्रस्ताव पास हुआ उसमें भी आक्रमण करने वाले तीनों देशों को अपनी सेनायें हटाने के लिए कहा गया था। 14 नवम्बर का महासभा ने अपने प्रस्ताव को दोहराया अन्त में 22 नवम्बर 1956 को दोनों देशों की सेनायें मिस्र से हटीं। पर इजराइल की सेनायें गाजा पट्टी

से नहीं हटी। 19 जनवरी तथा 2 फरवरी 1957 को महासभा ने प्रस्ताव पास कर इजराइल से अपनी सेनायें हटाने का अनुरोध किया पर इन दोनों प्रस्तावों की इजराइल ने उपेक्षा कर दी। सभी राज्यों ने इजराइल का बहिष्कार कर दिया। अन्त में 7 मार्च 1957 को इजराइल ने भी अपनी सेनायें हटा लीं।

इस प्रकार पश्चिमी एशिया का यह अन्तर्राष्ट्रीय संकट रूस और अमेरिका के प्रयासों से टला। वास्तव में जोश में आकर मिस्र को एकदम राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहिए। यह कार्य वार्ता और समझौते द्वारा हो सकता था। फ्रांस और ब्रिटेन को भी सब्र से काम लेना चाहिए था। समय और परिस्थिति का यदि वे ध्यान रखते तो यह अपमान उन्हें न सहना पड़ता।

तेल राजनय
(Oil Diplomacy)

मध्य पूर्व तेल का विश्व में सबसे बड़ा भण्डार है। रूस और पश्चिमी देश इस पर अपनी निगाह रखते थे। चूँकि 1939 तक इन क्षेत्रों पर ब्रिटेन का पूरा प्रभाव था अतः इस क्षेत्र में कोई विशेष विवाद न उठा पर द्वितीय विश्व युद्ध में इंगलैण्ड लड़ते-लड़ते बूढ़े शेर के सामने जिस प्रकार हिरन किलोले भरते रहते हैं। लोमड़ी और स्यार स्वच्छन्दता से विहार करते हैं उसी प्रकार ब्रिटेन के कमजोर होते ही मध्य पूर्व की समस्या गम्भीर होती चली गयी। यहाँ पर हम तेल समस्या का ही वर्णन करेंगे तेल समस्या के कारण निम्नलिखित हैं :

(1) तेल का विशाल भण्डार—मध्यपूर्व एशिया के रहने वालों की मुख्य आय भूगर्भ का तेल भण्डार है। विश्व का 66% तेल ईरान की खाड़ी के आसपास, कुवैत, ईरान, ईराक इत्यादि स्थानों में पाया जाता है। कर्नल नासिर ने एक बार कहा था कि पैट्रोल का दैनिक उत्पादन अमेरिका में 11 ढोल (Barrels), वेनेजुला में 20 ढोल, जबकि अरब देशों मे 400 ढोल होता है। यद्यपि रूस और अमेरिका तेल के मामले में आत्मनिर्भर है पर यूरोप अपनी आवश्यकता की 80% पूर्ति मध्य पूर्व के तेल से करता है। इतना ही नहीं पूर्व में भारत एवं जापान भी इस तेल से अपना काम चलाते हैं।

(2) तेल का महत्व—आधुनिक युग में तेल का महत्व अत्यधिक हो गया है। बिना तेल के प्रमुख कार्य समाप्त हो जायेंगे, उद्योग-धन्धे ठप हो जायेंगे, कल-कारखाने, वायुयान, जहाज आदि चलने बन्द हो जायेंगे यूरोप का जनजीवन ही ठप्प हो जायगा यदि उसे तेल प्राप्त न हो। यूरोप पूरी तरह मध्यपूर्व के तेल पर आश्रित है। यूरोप की नब्ज मध्यपूर्व के तेल के कुएँ हैं।

(3) तेल कूटनीति—पश्चिमी एशिया में जब से जागृति उत्पन्न हुई तब से यहाँ के लोगों में तेल की राजनीति के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ। आमतौर से मध्यपूर्व के तेल का उत्पादन यूरोप की कम्पनियाँ करती हैं और वहाँ के शासकों को रायल्टी का कुछ अंश दे देती हैं और शेष सब हड़प जाती है। इस प्रकार मध्यपूर्व के विशाल तेल भण्डारों का लाभ अरबों को न होकर यूरोप वालों को होता है। यद्यपि रूस और अमेरिका में पर्याप्त तेल उत्पन्न होता है वे यहाँ के तेल पर निर्भर नहीं पर यूरोप तो यहीं पर आश्रित है। यहाँ की जनता भूखों मरती है। रूस चूँकि विश्व के सभी दलितों, शोषितों, निर्धनों तथा भूखे नंगे लोगों का संरक्षक है अतः उसकी सहानुभूति अरबों से होना आवश्यक है। इस हमदर्दी के कारण इस क्षेत्र में उसका प्रभाव भी है। पश्चिमी राष्ट्रों को सदैव यह भय बना रहता था कि कहीं रूस अरबों को बहकाकर तेल का निर्यात बन्द न करा दे। अधिक तेल प्राप्त करना तथा रूस के प्रभाव को कम करना, अमेरिका एवं यूरोप कुचक्र चलाते रहते हैं। इस तेल कूटनीति के कारण मध्यपूर्व भयानक रन-स्थल बना हुआ।

(4) नये तेल की प्राप्ति की आशा—मध्यपूर्व तेल के लिए अपार अनिश्चित क्षेत्र आशा की जाती है कि यहाँ और भी तेल के कुएँ या भण्डार होंगे। यद्यपि यूरोप के दे

तेल की खोज में लगे हैं पर अभी उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली है। एस० एन० पर ने लिखा है कि "अनेक क्षेत्रों मे खोज के पश्चात् भी पश्चिम को अपनी मशीनों तथा उद्योग-धन्धों हेतु मध्य-पूर्व के तेल पर निर्भर रहना होगा।"

ईरान का तेल विवाद
(Iranian Oil Dispule)

एंग्लो-इरानियन तेल विवाद—प्रो० मूमेन के मतानुसार "मध्यपूर्व में तेल का पाया जाना ही 20वीं शताब्दी का उत्थान है।" तेल का महत्व ही ईरान और ब्रिटेन की कटुता का कारण बना। तेल ने प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटेन की बहुत सहायता की अतः उसके बाद ब्रिटेन तेल उद्योग की स्थापना की। अन्य यूरोपीय देशों ने मध्यपूर्व मे दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ की। 1920 मे, पूर्वी तेल के साधनों के शोषण हेतु लन्दन और पेरिस में एक समझौता हुआ। अमेरिका भी तेल के मामले मे रुचि रखता था। रूस मे बोलशेविक क्रान्ति के बाद ईरान में कम रुचि लेनी प्रारम्भ कर दी थी। 1921 मे एक सन्धि द्वारा रूसी अधिकारों को भी रूस ने ईरान मे कम कर दिया था। परन्तु रूस उस समय अवश्य सेना भेजता जबकि सोवियत विरोधी कोई अड्डा ईरान मे स्थापित होगा।

1932 में पोण्ड की कीमत गिर गई, इससे तेल की कीमत भी गिर गई। इस कारण ब्रिटेन ने ईरान को तेल की रायल्टी भी कम कर दी। इससे रुष्ट होकर ईरान के शाह ने ब्रिटेन को दी जाने वाली सुविधा बन्द कर दी। यहीं से ही एंग्लो-इरानियन तेल विवाद प्रारम्भ हो गया। मामला राष्ट्र संघ मे पहुँचा परन्तु 1933 में दोनों देशों मे एक समझौता हो गया। यह समझौता 1988 तक के लिए था।

तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण—1949 मे ईरान की सरकार ने तेल सम्बन्धी 1933 का समझौता रद्द कर दिया। इसी समय डॉ० मुसद्दिक ने तेल के राष्ट्रीयकरण की माँग उठाई। 1951 मे ईरान का प्रधानमन्त्री जनरल रजमारा मारा गया। वह एङ्ग्लो-ईरानियन कम्पनी का समर्थक था। 9 जनवरी को तेल आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे तेल के उद्योग के राष्ट्रीयकरण की सिफारिश की। पर कम्पनी राष्ट्रीयकरण की योजना को स्वीकार करना नहीं चाहती थी। इस समय तक डॉ० मुसद्दिक ईरान के प्रधानमन्त्री बन चुके थे। अतः राष्ट्रीयकरण की माँग जोर पकड़ गयी।

ब्रिटेन की सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ईरान की सरकार की शिकायत की। 1933 के समझौते का हवाला देते हुए राष्ट्रीयकरण को दोषपूर्ण बताया। न्यायालय ने 5 मई 1951 को ईरान को यह आदेश दिया कि अन्तिम निर्णय से पूर्व तक कम्पनी को कार्य करने दिया जावे। परन्तु ईरान ने एतराज किया कि न्यायालय के क्षेत्राधिकार मे यह विषय नहीं आता है। अतः ईरान ने न्यायालय के आदेश को अवहेलना करते हुए 350 ब्रिटिश टेकनीशियनों को देश छोड़ने का आदेश दिया।

ब्रिटेन अपनी शिकायत, सुरक्षा परिषद में ले गया। 29 सितम्बर 1951 को सुरक्षा परिषद मे यह विवाद रखा गया पर सुरक्षा परिषद ने इस विषय पर विचार करना उस समय तक स्थगित कर दिया जिस समय तक उसे यह स्पष्ट न हो जाय कि यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में आता है या नहीं। 22 जुलाई 1952 को न्यायालय ने विषय को अपने क्षेत्राधिकार से बाहर बताया।

संयुक्त राष्ट्र संघ मे यह मामला चल रहा था, उधर दोनों देश वार्ता कर इस मामले को सुलझाने के लिए प्रयत्नशील थे। अन्त 8 अप्रैल 1954 को ईरान सरकार और 8 अन्तर्राष्ट्रीय तेल कम्पनी की एक संयुक्त संस्था के मध्य एक समझौता द्वारा तेल का क्षेत्र इन कम्पनियों के

पास आया पर स्वामित्व का कानूनी अधिकार ईरान की सरकार के पास ही रहा। अमेरिका इस विवाद में ब्रिटेन के साथ था। उसने जून 1953 से ही ईरान सरकार को लिख दिया था कि "अमेरिका ईरान को तब तक कोई सहायता न देगा जब तक ब्रिटेन के साथ चल रहे तेल विवाद का कोई हल नहीं निकल जाता है अथवा ईरान इस मामले को किसी तटस्थ अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को नहीं सौंप देता है।"[1]

इस धमकी का प्रभाव पड़ा और डा० मुसद्दिक को अपना पद त्यागना पड़ा। तब 5 मई 1954 के समझौते को ईरान संसद ने पास किया। इसके पश्चात् शाह ईरान पश्चिमी गुट में सम्मिलित हो गया। एस० एन० धर ने भी लिखा है कि "1954 में अमेरिका की सहायता से ईरान और ब्रिटेन में एक समझौते द्वारा विवाद का अन्त हो गया।

अमेरिका की तेल कूटनीति—मध्य पूर्व मे अमेरिका ने भी रुचि लेनी प्रारम्भ की। यद्यपि उसकी रुचि इस ओर अन्य कई कारणों से भी उत्पन्न हो गई थी, फिर भी तेल की कूटनीति ने भी उसे इस ओर आकर्षित किया था। युद्ध-काल मे एशिया के तेल के व्यापार में अमेरिका ने काफी भाग लिया था। 1936 में 33% तथा 1944 मे 42% हिस्सेदारी अमेरिका की हो गई थी। 1950 में अरब देशों में अमेरिका की कुल लागत 68 करोड़ डालर थी। इस प्रकार अमेरिका का तेल पर काफी प्रभुत्व था अतः उसे मध्यपूर्व से दिलचस्पी होना आवश्यक था। इन्ही कारणों से वह यहाँ के देशों के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करने लगा। उसने यहाँ के देशो को सैनिक संगठनों में बांधना प्रारम्भ किया तथा यहाँ की सामन्तशाही को अपने स्वार्थ के लिए उत्साहित किया।

अमेरिका ने इजराइल के मामले मे विशेष रुचि इसीलिए ली कि वह उसके माध्यम से अपना प्रभुत्व इस क्षेत्र में बनाये रखे। सऊदी अरब मे तेल का उत्पादन बहुत होता है अतः अमेरिका उसकी ओर विशेष ध्यान देता है। पश्चिमी एशिया मे होने वाली सभी सैनिक क्रान्तियाँ अमेरिका के कारण हुई हैं। ईरान को अनेक सन्धियो से अमेरिका ने बांध रखा है। 1950 मे प्रतिक्रियात्मक मन्त्री मण्डल का गठन अमेरिका के इशारे पर ही हुआ था। बगदाद पैक्ट में ईरान भी अमेरिका के कारण ही सम्मिलित हुआ था आइजन हावर की योजना भी तेल की रक्षा साम्यवादी देशों से करने के लिए बनी थी।

रूस की नीति—रूस को तेल से कोई रुचि नही पर वह पश्चिमी जगत के प्रभाव को सहन नहीं कर सकता है तथा साम्यवाद के प्रभाव को बढ़ाकर वह अपने प्रभाव को बढ़ाना चाहता है। अमेरिका की इजराइल पर विशेष कृपा होने के कारण रूस अरबों का साथ देता है। जब इजराइल किसी प्रकार झुकने को तैयार न हुआ तो तेल की राजनीति से पश्चिमी जगत घबड़ा गया। अरबों ने तेल के दाम खूब बढ़ाये और शत्रु पक्ष को तेल देना बन्द कर दिया। इससे घबड़ा कर इजराइल तथा अमेरिका 1973 के बाद संधि करने को तैयार हुये।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. यहूदी वाद क्या है ? मध्यपूर्व मे यहूदीवाद का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव का परीक्षण कीजिये।
   What is the Zionism ? Examine its influence on the international po
   in Middle East.

[1] "No furthes U S aid would be forthcoming unless the old dispa Briain were settled or submitted to a neutral International body."

2. इजराइल राज्य की स्थापना किन परिस्थितियों में हुई ? इजराइल राज्य की स्थापना अरबों के विरुद्ध पश्चिमी शक्तियों का एक षड्यन्त्र है । विवेचना कीजिये ।
In what circumstances Israel state was born.' Is the establishment of Israel a plot of Western States against Arabs ?
3. इजराइल और अरब राज्यों के मध्य संघर्ष के क्या कारण थे ? इस संघर्ष को बढ़ाने में महाशक्तियों की क्या भूमिका रही ? स्पष्ट कीजिए ।
What were the causes of conflict between Arab-states and Israel ? What was the role of Big Powers in expanding the conflict ? Explain.
4. अरब और इजराइल के मध्य 4 युद्ध हो चुके हैं पर समस्या का अभी कोई हल होता दिखाई नहीं देता ? इसके कारणों की विवेचना कीजिये ।
There have been four wars between Arabs and Israel but no conclusion is arrived at, as yet. Discuss its reasons.
5. स्वेज संकट क्या था ? इस संकट में महाशक्तियों की भूमिका बताइये ।
What was Suez crisis ? Discuss the role of big powers in this crisis.
6. स्वेज नहर का विश्व राजनीति में क्या महत्त्व है । समझाइये ।
What is the importance of Suez Canal in the World politics ? Explain.
7. अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति में मध्यपूर्व के तेल ने जो भूमिका अदा की है उसकी विवेचना कीजिए ।
Discuss the part played by the Middle East oil in International Diplomacy.
8. क्यों और किस सीमा तक तेल मध्यपूर्व की राजनीति का प्रमुख तत्त्व बन गया है ?
Why and how far has oil been a central factor in the Middle East politics ?

परिशिष्ट

भारत की वर्तमान सरकार की विदेश नीति
(Foreign Policy of Present Govt. of India)

(1) 30 वर्षीय कांग्रेस सरकार का पतन—भारत 15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्र हुआ। चूँकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारत का सबसे बड़ा और शक्तिशाली राजनीतिक दल था अतः स्वतन्त्र भारत में कांग्रेस सरकार की स्थापना होना स्वाभाविक था। 1946 में ही भारत में चुनाव हुआ था और अन्तरिम सरकार कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग की मिली-जुली सरकार बनी थी। पं० जवाहरलाल नेहरू इस अन्तरिम सरकार के प्रधान मन्त्री बने थे। चूँकि मुस्लिम लीग पाकिस्तान की अपनी मांग पर बजिद थी अतः उसने अन्तरिम सरकार का असहयोग किया। उसके विरोधी रुख तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही से भारत में साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हुये अतः गृह युद्ध को टालने के लिये कांग्रेस ने भारत विभाजन पर अपनी स्वीकृति दे दी। ब्रिटिश सरकार तथा मुस्लिम लीग को बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई और 14-15 अगस्त 1947 को पाकिस्तान तथा भारत के दो राज्य स्थापित हुये।

(2) कांग्रेस की विदेश नीति—कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही असंलग्नता की नीति अपनाई। प्रारम्भ में तो विश्व के दो महान गुटों अमेरिकन तथा रूसी ने असलग्नता की नीति की बड़ी मजाक बनाई और दोनों गुटों ने भारत को शका की दृष्टि से देखा पर कुछ वर्षों बाद भारत सरकार की गुट निरपेक्ष नीति की प्रशंसा करनी प्रारम्भ की और भारत की विदेश नीति अन्य नवीन स्वतन्त्र देशों के लिये अनुकरणीय बन गई। एक तीसरी दुनिया का जन्म हुआ और इस दुनिया का नेतृत्व भारत ने किया। यद्यपि पं० जवाहर लाल नेहरू प्रारम्भ से ही सोवियत रूस से सहानुभूति रखते थे और प्रगतिशील विचारों के थे पर देश की परिस्थिति एवं विश्व की गुटबन्दी से होने वाले झगड़ों से अपने देश को दूर रखने के विचार से पं० नेहरू अपनी असलग्नता की नीति पर दृढ़ रहे। दोनों गुटों से उनका सम्बन्ध मैत्री पूर्ण रहा। घरेलू नीति मे भी उन्होंने साम्यवादी पार्टी को मुँह न लगाया।

27 मई 1964 को पं० नेहरू का निधन हुआ और श्री लाल बहादुर शास्त्री नवीन प्रधान मन्त्री बने। उन्होंने भी अपने अल्पकालीन शासन मे पं० नेहरू की ही नीति अपनाई। जनवरी 1966 में श्री लालबहादुर शास्त्री का ताशकन्द मे ही निधन हो गया। उनके निधन से देश के कुछ राजनीतिक नेताओं ने यह धारणा बनाली कि ताशकन्द समझौते मे रूस ने पाकिस्तान का पक्ष लेकर श्री शास्त्री जी से दबाव डालकर हस्ताक्षर करा लिये। अगले तीन वर्षों तक रूस का रुख पाकिस्तान की ओर झुकने से यह धारणा बलवती हो गई।

जनवरी 1966 में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने प्रधानमन्त्री बनने की जिद्द की। अधिकांश कांग्रेस जन श्री मुरारजी देसाई को प्रधानमन्त्री बनाना चाहते थे पर श्रीमती गांधी की जिद से कांग्रेस में फूट पैदा होने का खतरा था, अतः श्री मोरारजी देसाई ने अपनी जिद्द छो श्रीमती इन्दिरा गान्धी जनवरी 1966 मे भारत की प्रधान मन्त्री बनी। वह एक म प्रधानमन्त्री थी। वह कांग्रेस मे अपना पृथक गुट बनाना चाहती थीं। 1969 के राष्ट्र मे वर्तमान राष्ट्रपति श्री सजीवन रेड्डी का नाम स्वयं श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति

प्रस्तावित किया पर अपनी "आत्मा की आवाज" पर उन्होंने श्री वी० पी० गिरी का समर्थन किया। श्री रेड्डी चुनाव में हार गये और कांग्रेस में फूट पड़ गई। 1969 में नई कांग्रेस बनाकर और साम्यवादी पार्टी से सहयोग लेकर श्रीमती गांधी ने शासन चलाना चाहा पर अल्पमत में होने के कारण तो सफल न हुई। 1970 में पूर्ण अवधि से पूर्व ही भारतीय संसद भंग करादी गई। नये चुनावों की घोषणा हुई। "गरीबी हटाओ" आन्दोलन छेड़ श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की और 1971 के चुनाव में पुरानी कांग्रेस को ही नहीं अन्य राजनीतिक दलों को भी करारी हार देकर श्रीमती इन्दिरा की नई कांग्रेस संसद मे पूर्ण बहुमत में पहुंच गई।

श्रीमती इन्दिरा गांधी को रूस की सहायता से 1971 में पाक-भारत युद्ध में अपूर्व सफलता मिली। चूंकि अमेरिका ने पाकिस्तान का इस युद्ध में पूर्ण समर्थन किया था और अपना दहरी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में भेज दिया था। अत श्रीमती इन्दिरा गांधी अमेरिका से चिढ़ गई थीं। भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में बिगाड़ उत्पन्न हो गया था। कुछ देशों एवं भारतीय राजनीतिज्ञों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया था कि भारत की विदेश नीति अब गुट निरपेक्ष न होकर गुट सापेक्ष बन गई है। पश्चिमी देशों ने अमेरिका की नीति अपना कर श्रीमती इन्दिरा को रूस के साथ मिल जाने का आरोप लगाया था तथा भारत को आर्थिक एवं अन्य प्रकार की सहायता देना बन्द कर दिया था। इस पर रूस ने अन्न, धन एवं अनेक प्रकार की सामग्री भारत को देने का वचन दिया था। इतना ही नहीं वार्सा पैक्ट के देशों से भी भारत को काफी आर्थिक सहायता मिली थी। भारत मे विरोधी दल भी रूस के प्रति झुकी इन्दिरा सरकार की कटु आलोचना करने लगा था।

(2) श्रीमती इन्दिरा का तानाशाह बन जाना—भारत के सभी गैर साम्यवादी दलों ने इन्दिरा सरकार के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। इसी बीच 12 जून 1975 को इलाहाबाद हाई कोर्ट ने श्री राजनारायण सिंह की श्रीमती गान्धी के विरुद्ध 1971 की चुनाव याचिका पर अपना निर्णय दे दिया। इसमे श्रीमती गान्धी पर अवैध साधनों का आरोप लगाकर हाई कोर्ट ने उनका चुनाव रद्द घोषित कर दिया तथा उन्हें अगले 6 वर्ष के लिये किसी सार्वजनिक चुनाव में खड़े होने के लिये अयोग्य घोषित कर दिया। इस निर्णय से भारत में एक तूफान खड़ा हो गया। विरोधी दलों ने सी पी. आई को छोड़कर एक स्वर से श्रीमती गान्धी से प्रधानमन्त्री पद से त्याग पत्र देने की मांग की। यद्यपि हाई कोर्ट के ऐसे निर्णय अनेक हुये थे और अनेक कांग्रेस मन्त्रियों को स्वयं श्रीमती गान्धी ने अपने पद से त्याग पत्र देने के लिये विवश कर दिया था, पर जब स्वयं पर यह आपत्ति आयी तो उन्होंने त्याग पत्र देने से इन्कार कर दिया। इस पर सभी विरोधी दलों ने एक होकर राष्ट्रव्यापी आन्दोलन चलाने के लिये 25 जून को दिल्ली में एक सम्मेलन बुलाया। अपनी गद्दी की रक्षा के लिये 25 जून को श्रीमती गान्धी ने राष्ट्रपति द्वारा आपातकालीन स्थिति घोषित करा दी। 26 जून 1975 को दिल्ली में एकत्र हुये सभी विरोधी दल के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। मीसा और डी० आई० आर० के अन्तर्गत लाखों विरोधी दलों के नेताओं एवं कार्यकर्ताओं को अनिश्चित काल के लिये जेल में नजरबन्द कर दिया गया। सभी नागरिक स्वतन्त्रतायें तथा मौलिक अधिकार हड़प कर लिये गये। समाचार पत्रों पर सैंसर बैठा दिया गया। अनेक विरोधी पत्र बन्द कर दिये गये तथा रेडियो एवं सरकार समर्थक पत्रों द्वारा कांग्रेस और कांग्रेस सरकार के पक्ष से घोर प्रचार किया गया तथा विरोधी दलों के नेताओं को देशद्रोही बताया गया। अनेक स्थानों पर गोलियाँ चली अनेक विरोधी लोग मारे गये पर जनता को उसका ज्ञान न हो सका। जेलों मे भी विरोधी दलों के नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं पर अमानुषिक अत्याचार किये गये। रूसी गुट के देशों ने श्रीमती गांधी के कार्यों का खुलकर समर्थन किया और

श्री जयप्रकाश जैसे नेताओं की कटु आलोचनायें कीं पर पश्चिमी गुट में इन्दिरा के कार्यों की कटु आलोचना की गई। कुछ विरोधी नेता चुपके से विदेश खिसक गये और उनके इन्दिरा विरोधी लेख विदेशी समाचार पत्रों में छपने लगे। बी० बी० सी० रेडियो पर भी विरोधी दल के नेताओं पर अत्याचार के समाचार निकले। भारत सरकार ने विदेशी पत्रकारों को देश से निकल जाने का आदेश दिया।

इन्दिरा सरकार ने आपात कालीन स्थिति में दो कार्य और जनता विरोधी किये। प्रथम संजय गान्धी को भावी प्रधान मन्त्री बनाने के उद्देश्य से उन्हें उभारा गया। उनके पक्ष में जलूस निकले, उनके स्वागत समारोह मे अनेक राज्यो न लाखो रुपया पानी की तरह बहाया। श्रीमती इन्दिरा गांधी के स्थान पर संजय गाधी का राज्य सरकारो पर नियन्त्रण स्थापित हो गया। श्री संजय गांधी मुख्य मन्त्रियो को अपना दास समझने लगे। कांग्रेस अध्यक्ष श्री बरुआ ने तो यहाँ तक चाटुकारिता की कि 'भारत ही इन्दिरा है, इन्दिरा ही भारत है" (India is Indra and Indra is India) समाचार पत्रो में इन्दिरा जी को अवतार कोटि मे दिखाया गया। उन्हें दुर्गा अथवा भवानी का अवतार कहा गया। उनकी प्रशंसा कर उन्हें सीता एवं सावित्री जैसी पूजनीय महिला बताया गया। व्यक्ति पूजा का चारों ओर वातावरण फैलाया गया। दूसरा कार्य नसबन्दी का था। इसमें लोगों पर सरकारी दबाव डाला गया। सरकारी कर्मचारियों एवं अध्यापकों का वेतन कई महीने तक रोके गये और उनसे कम से कम दो केस नसबन्दी के लाने को कहा गया। कुछ लोगों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा। कुछ लोग सरकार की प्रशसा पाने के लिये जबरन लोगों को पकड़-पकड़ कर। (क्वारे एवं वृद्धों को भी) नसबन्दी कराने पर मजबूर किया। जनता इन कार्यों से भड़क उठी। अनेक गांवो पर गोलियां चली। पुलिस के अत्याचार हुये। सेन्सरशिप के कारण इनका पता न चला।

(4) संसद के नवीन चुनावों की घोषणा—यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री राय ने चुनाव याचिका के इलाहाबाद हाई कोर्ट के निर्णय को रद्द कर दिया और श्रीमती इन्दिरा के पक्ष मे अपना निर्णय दे दिया फिर भी श्रीमती इन्दिरा को सन्तोष न हुआ। उन्होने ससद का आपात कालीन अधिवेशन बुलाया जिसमें विरोधी दलो का अभाव था। उसने सविधान में सशोधन कर राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री एव लोक सभा के अध्यक्ष को कानून से ऊपर घोषित किया तथा उन्हें न्यायपालिका की परिधि से ऊपर बताया गया। संसद का कार्य काल एक वर्ष का बढ़ा दिया गया। एक वर्ष समाप्त होने पर पुनः एक वर्ष और उसकी अवधि बढ़ाई गई। परन्तु इतना करने पर भी विदेशी शक्तियो का प्रभाव इन्दिरा सरकार पर पुन. चुनाव करने के लिये डाला गया। अकेला रूस भारत की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता था। उसने वायदे तो बहुत किये पर उन्हे पूरा न कर सकता। पचवर्षीय योजना बिना विदेशी सहायता के पूरा नहीं हो सकती थी। दूसरे श्रीमती गाधी के चापलूसो ने बताया कि विरोधियों का दमन हो चुका है, उनमे चुनाव लड़ने की शक्ति नहीं रही है, उनका बिखराव हो चुका है तथा प्रचार के माध्यम से कांग्रेस के पक्ष मे प्रबल जनमत बन गया है। इस खुशफेमी में श्रीमती इन्दिरा गाधी ने 18 जनवरी 1977 को दो महीने के अन्दर संसद के चुनाव कराने की घोषणा कर दी इस अचानक घोषणा ने देश और विदेशों को आश्चर्य मे डाल दिया।

(4) श्रीमती इन्दिरा गान्धी का पतन—चुनाव की घोषणा करके श्रीमती सिद्ध किया कि वे प्रजातन्त्र मे विश्वास करती हैं। उन पर तानाशाह बनने का है। इसके बाद उन्होने आपात कालीन स्थिति को ढीला कर दिया। अनेक विरोधी को छोड़ दिया। अखबारों पर से भी सेंसर मे ढिलाई बरती गई। विरोधी दलो छूटे। 20 महीने के अन्तराल के बाद उन्हे स्वतन्त्र वायुमण्डल मिला। यद्यपि :

महीने के लिये समय को चुनाव की तैयारी के लिये बहुत ही कम बताया फिर भी वे चुनाव के लिये तैयार हो गये। जेलों में ही विरोधी दल के नेताओं ने जनता पार्टी बनाने की रूपरेखा तैयार करली थी। जेल से आते ही नवीन दल के निर्माण के लिये प्रयास किया गया। जनसंघ, पुरानी कांग्रेस, समाजवादी तथा बी० एल० डी० चारों दलों ने संयुक्त होकर जनता पार्टी का निर्माण कर लिया। चारों दलों द्वारा विलय की घोषणा तो बाद में हुई पर तत्काल परिस्थितियों में उन्होंने जनता पार्टी के निर्माण की घोषणा कर दी तथा चुनाव घोषणा पत्र भी प्रकाशित कर दिया।

यद्यपि इन्दिरा सरकार ने श्री जय प्रकाश नारायण तथा श्री अशोक महता को 1976 में ही जेल से मुक्त कर दिया था पर उनके स्वास्थ्य जेल में ही चौपट हो चुके थे। पर उन्होंने देखा कि रेडियो और समाचार पर माँ बेटे (श्रीमती गांधी एवं श्री संजय गांधी) के 20 सूत्री तथा 5 सूत्री कार्यक्रमों का धुंआधार प्रचार हो रहा था। जनता के आतंक फ..ा हुआ था। तानाशाही के प्रकोप से लोग तंग थे फिर भी उन्हें शका थी कि "क्या तानाशाही कभी समाप्त होगी ?" नागरिकों के मौलिक अधिकार तो समाप्त थे। हाँ उन पर 10 कर्त्तव्य अवश्य थोप दिये गये थे। हजारों नेता एवं कार्यकर्त्ता अभी जेल में बन्द थे। उच्च न्यायालय एवं सर्वोच्च न्यायालय शक्ति-हीन हो चुके थे इतना होने पर भी लोकनायक जय प्रकाश ने बड़े साहस से कार्य किया और जनता को भयमुक्त होने और चुनाव में कांग्रेस को हराने का आह्वान किया। उनके प्रयास से ही 23 जनवरी 1977 को जनता पार्टी का जन्म हुआ। विरोधियों की हिम्मत तब बढ़ी जब 2 फरवरी 1977 को श्री जगजीवन राम ने कांग्रेस से त्याग पत्र देकर देश को आश्चर्य में डाल दिया। वे जनता पार्टी में तो नहीं मिले पर उन्होंने अपनी पृथक पार्टी 'लोकतन्त्रीय कांग्रेस" बनाली और इन्दिरा जी के अनेक भेदों को खोल दिया। उन्होंने चुनाव में जनता पार्टी को पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया उसके चुनाव चिन्ह पर ही चुनाव लड़ने की घोषणा की। 16 मार्च से 20 मार्च 1977 तक समस्त देश में संसदीय चुनाव की तारीखें घोषित हो गईं। इस बीच में अनेक विरोधी दल के नेता छोड़े गये। समाचार पत्रों को कुछ स्वतन्त्रता दी गयी। भावाभिव्यक्ति पर से भी प्रतिबन्ध हटा यद्यपि समाचार पत्रों को चेतावनी दी गयी कि वे सरकार द्वारा दी गयी सुविधाओं का दुरुपयोग कर रहे हैं। फिर भी आपातकालीन अत्याचारों की कहानी प्रेस और प्लेटफार्म से जनता के सामने आने लगा।

16 मार्च से 20 मार्च तक चुनाव हुए। चुनाव के जब परिणाम निकलने प्रारम्भ हुए तो जनता एवं सरकार दोनों को आश्चर्य हुआ। श्रीमती इन्दिरा गांधी तथा उनके पुत्र संजय गांधी बुरी तरह चुनाव में हारे। कांग्रेस को 542 सीटों में से केवल 153 सीटें मिलीं। अधिकांश कांग्रेस के नेता एवं केन्द्रीय मन्त्री चुनाव में हार गये। जनता पार्टी एवं उसके सहायक दलों को 299 सीटें प्राप्त हुईं। 30 वर्षों से लगातार विजयी होती आयी कांग्रेस छठे आम चुनाव में चारों खाने चित्त पड़ गयी। 22 मार्च 1977 को प्रधानमन्त्री पद से श्रीमती गांधी ने त्यागपत्र दे दिया। तानाशाही का अन्त हुआ। त्यागपत्र देने से पूर्व ही कांग्रेस ने आपातकालीन स्थिति उठा ली तथा समस्त मीसा एवं डी० आर० आर० के अन्तर्गत बन्दियों को छोड़ देने की आज्ञायें निकाल दीं।

(2) जनता पार्टी की सरकार की स्थापना—यद्यपि कुछ प्रगतिशील तत्त्वों ने श्री जगजीवन राम को नई सरकार के प्रधानमन्त्री बनाने का सुझाव दिया पर अधिकांश जनता पार्टी के संसद सदस्यों एवं श्री जयप्रकाश नारायण का पक्ष श्री मोरार जी देसाई की ओर था अतः वह जनता पार्टी के संसद में नेता चुने गये। 24 मार्च 1977 को उन्होंने प्रधानमन्त्री पद ग्रहण कर लिया। लोकतान्त्रिक कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल से दूर रहने का निश्चय किया यद्यपि उन्होंने जनता पार्टी की सरकार का पूर्ण समर्थन करने का वायदा किया। नेताओं की भाग दौड़ प्रारम्भ हुई। कुछ प्रदर्शन भी हुए अन्त में श्री जगजीवन राम ने जनता पार्टी के मन्त्रिमण्डल में

सम्मिलित होने की घोषणा की । श्री अटल बिहारी बाजपेई, विदेशमन्त्री बने, श्री जगजीवन राम को रक्षामन्त्री का पद मिला और श्री चरण सिंह को गृह मन्त्रालय सौंपा गया । देश का वातावरण भयमुक्त हुआ । तानाशाही से मुक्ति पाकर जनता को अपार खुशी हुई । जो प्रसन्नता जनता मे देखी गयी वह 947 की प्रसन्नता के समान ही थी ।

(3) **जनता पार्टी की सरकार की विदेश नीति**—श्री मोरार जी देसाई ने घोषणा की थी कि 'उनकी विदेश नीति यद्यपि शुद्ध असंलग्नता की नीति होगी पर वह किसी पक्ष की ओर झुकी हुई न होगी ।" इस वाक्य का विभिन्न हलकों में यह अर्थ लगाया गया कि नई सरकार की विदेश नीति में परिवर्तन होगा । नई सरकार रूस से वैसा सम्बन्ध नहीं रखेगी जैसा कि इन्दिरा सरकार का था । यह भी शंका हुई कि शायद 1971 की भारत रूस 20 वर्षीय सन्धि भी खटाई मे पड़ जायगी । नई सरकार अमेरिका से बिगड़े सम्बन्ध पुनः सुधारेगी । इसी परवेश मे हम नई जनता सरकार की विदेश नीति और विभिन्न देशों से उसके सम्बन्धो की आलोचनात्मक व्याख्या करेंगे ।

(1) **सोवियत रूस के प्रति जनता पार्टी की सरकार की नीति** - श्री मोरार जी देसाई के वक्तव्य से स्वयं रूस घबडा गया । उसे खतरा था कि भारत की नई सरकार अब उससे पूर्व जैसा सम्बन्ध न र॰ सकेगी अतः रूस की सरकार की ओर से पोदगोर्नी भारत आये । विदेशमन्त्री तथा प्रधानमन्त्री से वार्ता हुई । उन दोनों ने विश्वास दिलाया कि भारत का रूस द्वारा आड़े वक्त मे सहायक रहना, कोई सरकार भुला न सकेगी । भारत की नई सरकार रूस से पूर्व जैसा ही सम्बन्ध रखेगी और 1971 की 20 वर्षीय सन्धि को बर्करार रखेगी । इतना अवश्य है कि यह मित्रता भारत की अन्य देशों से मित्रता में कोई बाधा उपस्थित न कर सकेगी । रूसी प्रतिनिधि ने विश्वास दिलाया कि भारत-रूसी मित्रता भारत को अन्य देशों से मित्रतापूर्वक सम्बन्ध बनाने में कोई रोढ़ा न अटकायेगी । इसके साथ दोनों देशों मे एक और आर्थिक नीति पर हस्ताक्षर हुए । रूसी प्रतिनिधि खुश होकर स्वदेश लौट गया ।

इतने पर भी कांग्रेसी विरोधी दल ने भारत रूस मैत्री पर शंका व्यक्त की । इस शंका को दूर करते हुए, भारत विदेशमन्त्री श्री अटल बिहारी बाजपेई 9 अगस्त 1977 को राज्य सभा मे बोले कि "हमारी नीति निश्चित न होते हुए प्रगतिशील है । हमारी नीति ऐसी लचीली होगी जो विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल हो ।"

बड़े देशों से भारत के सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए बाजपेई ने कहा कि "रूस से हमारे सम्बन्ध बहुत मजबूत हैं । सन् 1971 मे रूस ने हमारे साथ जो मैत्री दिखायी थी, हम उसे कायम रखना चाहेंगे परन्तु यह मैत्री अन्य देशों की मित्रता के मूल्य पर नहीं होगी ।"

नई दिल्ली मे आयोजित भारत-सोवियत एव सांस्कृतिक सोसायटी द्वारा भारत सोवियत मैत्री सन्धि की छटी वर्षगांठ के आयोजित समारोह में बोलते हुए 10 अगस्त 1977 को, श्री बहुगुणा केन्द्रीय पेट्रोलियम एव रसायन मन्त्री ने कहा था कि "भारत और सोवियत सघ की मैत्री सन्धि आपसी स्वार्थ पर आधारित नही है, यह दोस्ती तो सम्पूर्ण विश्व मे स्वतन्त्र मानव समाज की स्थापना के लिए की गयी है ।" उन्होने आगे कहा कि "भारत-सोवियत मैत्री उन सभी देशो के लिए एक सुन्दर उदाहरण है जो कि विश्व से साम्राज्यवाद को समाप्त कर शोषण मुक्त समाज की स्थापना करना चाहते हैं ।" श्री बहुगुणा ने यह भी बताया कि भारत और सोवियत संघ की मैत्री केवल 6 वर्ष से कायम नही बल्कि यह मैत्री तो तभी से कायम है जब भार स्वतन्त्रता के लिए विदेशियो से सग्राम कर रहा था और रूस हमारे साथ सवेदना प्रक रहा था ।

श्री बहुगुणा ने अन्य देशो को भी आश्वासन देते हुए कहा कि "उन्हें इस घबड़ाने की आवश्यकता नही जो देश शोषित वर्ग के उत्थान में विश्वास रखता है और -

व्यवस्था का विरोध करता है, वह हमारा मित्र है।" इसी अवसर पर लोकसभा के उपाध्यक्ष गौड मुराहरी ने भी कहा था कि "भारत और सोवियत संघ की नीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर काफी हद तक एक है। यही वजह है कि देश में नई सरकार के गठन के बावजूद भारत-सोवियत संघ को पहले की तरह सम्मान दिया जा रहा है।"

भारत और रूस की मैत्री केवल आर्थिक एवं व्यावसायिक सम्बन्धों तक सीमित नहीं है। रूस की क्रान्ति के 60 वर्ष हो चुके हैं और भारत की स्वतन्त्रता को भी तीस वर्ष बीत चुके है दोनों देशों की शासन व्यवस्था मे परिवर्तन आया है। रूस ने अपने संविधान मे संशोधन कर यह घोषणा की है कि रूस की सार्वभौमिक सत्ता जनता मे निहित है और अब रूस मे असली अर्थों मे प्रजातन्त्र की स्थापना होगी।

भारत मे भी 30 वर्ष बाद जन-क्रान्ति हुई है और वह असली अर्थों मे प्रजातन्त्र बनने जा रहा है। रूस और भारत का सम्बन्ध इतना गहरा हो चुका है कि उसे छोड़ा नहीं जा सकता। आज अनेकों योजनायें रूस की सहायता से चल रही है। सोवियत सहयोग ने मशीन निर्माण उद्योग, इस्पात उद्योग, तेल उद्योग, विद्युत सयन्त्र उद्योग, औषध उद्योग जैसे बुनियादी उद्योगों को विकसित कर लिया गया है। अभी हाल मे प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई ने यह आशा व्यक्त की थी कि भारत-सोवियत मैत्री सम्बन्ध दिन प्रतिदिन गाढ़े होगे।

भारत-मैत्री का रूस भी लाभ उठाना चाहता है शायद यह स्वार्थ भविष्य में दोनो देशों के सम्बन्धों मे बिगाड़ उत्पन्न कर दे। यह स्वार्थ है रुपये की कीमत रूबल के अनुपात मे लगातार गिरना। इस विषय में भी आज तक दोनों देशो मे समझौता न हो सका। रूस लगातार भारत पर भारी कर्जा थोपता रहा है और रूबल की दर बढ़ाता रहा है। 1961 मे सर्व प्रथम रूस ने एक तरफा फैसला कर दिया। 1968 में रूबल में स्वर्ण अंश के आधार पर उसने अन्तर्राष्ट्रीय बाजार अन्य मुद्राओं से रूबल की दर घोषित करनी चाही पर विश्व के देशों ने रूबल को कोई महत्व नहीं दिया यहाँ तक साम्यवादी देशो ने भी उसकी उपेक्षा की। 1969 मे रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन मे अचानक परिवर्तन कर दिया। उसने रुपये-रूबल की विनिमय दर को अपनी ओर से घोषित कर दिया जबकि रुपया पौण्ड से बँधा था। 1961 से पूर्व रूबल का भाव 8·33 रु० था। 1971 मे इसे बढ़ाकर 8·86 रु० कर दिया। रूसी बैंकों ने 1974 ई० मे उसका भाव बढ़ाकर 11·8 रु० कर दिया। भारत ने इसका विरोध किया। इतना ही नही रूस ने पिछला कर्जा भी इसी दर से वसूलने की घोषणा कर दी। 1976 मे रूस ने पुनः जोर डाला कि भारत नई दर को स्वीकार कर ले। उससे केवल 1200 करोड़ रुपये का बकाया केवल 500 करोड़ रुपया बढ़ेगा तथा उसे 50 वर्षों मे बराबर किस्तों में अदा कर दिया जायगा। भारत राजी न हुआ। इस पर पुराना प्रस्ताव वापस लेकर जनवरी 1977 मे उसने रूबल का भाव बढ़ाकर 12·165 रुपया कर दिया। रूबल की अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे कोई साख नहीं पर वह भारत को दबाना चाहता है। रूस से जितनी भी आर्थिक सहायता मिली है उससे ज्यादा उसका भुगतान हो चुका है पर अभी उसका बकाया शेष है। कांग्रेस की सरकार न मालूम क्यों इससे दबती आ रही थी।

16 अगस्त 1977 से रूस के मास्को नगर में भारत-रूस वार्ता हुई। यह सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में हुई और दोनों देशों ने भविष्य में और भी सहयोग करने का निश्चय किया।

(2) भारत की नई सरकार की विदेश नीति और अमेरिका—भारत के अमेरिका से सम्बन्ध 1971 से खराब चले आ रहे थे। इन्दिरा सरकार रूस की ओर अधिक झुकी हुई थी।

1977 में भारत और अमेरिका की दोनों सरकारों में परिवर्तन हुआ। 3 नवम्बर 1976 को अमेरिका में जिमी कार्टर राष्ट्रपति चुने गये। उन्होंने सत्तारूढ़ राष्ट्रपति फोर्ड को बुरी तरह हराया। उन्होंने 20 जनवरी 1977 से अपने पद का चार्ज लिया। जिमी कार्टर ने भारत के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की और भारत से पुनः सम्बन्ध बनाने के लिए भारत से तानाशाही का अन्त होने तथा नये चुनाव होने की घोषणा हो गई। 24 मार्च 1977 को जनता पार्टी की सरकार का गठन हुआ और 30 वर्षों से चले आये कांग्रेस के शासन का अन्त हुआ। जिमी कार्टर ने श्री मोरार जी देसाई को प्रधानमन्त्री बनने पर अपनी शुभकामनायें भेजी। मोरार जी देसाई ने घोषणा की कि हमारी विदेश नीति पूर्णतया असलग्नता की नीति रहेगी और वह किसी देश विशेष की ओर झुकी न रहेगी। इस घोषणा से यह आशा की गई कि भारत और अमेरिका मे पुनः सम्बन्ध सुधर जायेंगे। श्री वाजपेई भारत के विदेशमन्त्री पेरिस सम्मेलन में पिछले दिनों भाग लेने गये वहाँ भी अमेरिका के विदेश सचिव से उनकी दो बार बात-चीत हुई और दोनों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध पुनः सुधारने पर जोर दिया गया। भारत को पुनः आर्थिक सहायता देने की अमेरिका ने घोषणा की। अगस्त 1977 के प्रारम्भिक सप्ताह मे अमेरिका के उप-विदेश सचिव श्री वारेन क्रिस्टाफर, भारत के विदेशमन्त्री श्री वाजपेयी, वित्तमन्त्री एच० एम० पटेल तथा प्रधानमन्त्री मोरार जी देसाई से मिले। बाद में उन्होंने समाचार पत्रों को बताया कि "भारत और अमेरिका निकट और मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के नये युग में प्रवेश कर रहे हैं।"

श्री क्रिस्टोफर ने यह भी कहा कि भारत को दक्षिण ऐशिया का नेतृत्व करना चाहिए जिससे उसके आकार और महत्व का प्रतिबिम्ब पड़े। उन्होंने यह भी कहा कि अमेरिका आशा करता है कि भारत सारे उपमहाद्वीप में घटनाओं पर "कृपापूर्ण" प्रभाव डाल सकता है।

प० अटल बिहारी वाजपेई ने भी बड़ी मृदु भाषा में कहा कि "भारत की नई सरकार की यह निश्चित भावना है कि भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में सुधार हो रहा है।" उन्होंने हथियारों की बिक्री मे सयम द्वारा तनाव कम करने, यह सुझाव देकर कि हिन्द महासागर क्षेत्र मे तनाव पर नियन्त्रण होना चाहिए और उन्हें दूर किया जाना चाहिए, और आणविक हथियारों का विरोध करके अपनी योग्यता प्रकट की।

अमेरिका के उप-विदेशमन्त्री के भारत आने से कोई नवीन समस्या न पैदा हुई और भारत-अमेरिकी सम्बन्धों मे सुधार न हुआ पर यह यात्रा इस ओर जाने वाले मार्ग पर पहला पग था। शीघ्र ही अमेरिका के विदेश-विभाग के आणविक मामलो के विशेषज्ञ श्री जोजफ भारत आने वाले हैं। यद्यपि मोरार जी देसाई ने आणविक विस्फोट न करने की घोषणा की है पर अमेरिका अभी आणविक ईंधन भेजने मे आनाकानी कर रहा है। शायद श्री जोजफ इसी बात को और स्पष्ट कराने के लिए भारत आ रहे हैं। अमेरिकन कांग्रेस की एशिया और प्रशान्त महासागर समिति के अध्यक्ष श्री लेस्टर वुल्फ भी भारत आने के इच्छुक हैं। अमेरिका के उप-राष्ट्रपति श्री मोडाल की भारत यात्रा की भी व्यवस्था पर दोनो देशो की बातचीत चल रही है।

अमेरिका के विदेश सचिव श्री सायरस वास अगस्त में चीन की यात्रा पर गये। अगले महीने (सितम्बर 1977) में भारत के विदेश मन्त्री वाजपेई अमेरिका गये जहाँ सयुक्त राष्ट्र सघ की महा सभा में भाग लिया। इससे पूर्व 16 अगस्त को भारत के वाणिज्य मन्त्री श्री मोहन धारिया न्यूयार्क पहुँचे। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की वार्षिक बैठक में भाग लेने के लिए भारत के वित्तमन्त्री श्री एच० एम० पटेल भी अमेरिकी यात्रा पर गये।

इस प्रकार दोनो देशों मे सम्बन्ध सुधारने के प्रयत्न चल रहे हैं। एक ओर है जिससे भारत और अमेरिका मे पिछले दिनों तनाव आया था। वह समस्या है

का सैनिक अड्डा यह समस्या अमेरिका और रूस मिलकर ही सुलझा सकते हैं। क्योंकि अमेरिका इस बात की घोषणा करता है कि हिन्द महासागर में रूस के भी सैनिक अड्डे हैं। इस बात को श्री मोरारजी देसाई ने स्वीकार कर लिया है यद्यपि स्वयं रूस ने इस आरोप का सदैव खण्डन किया है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि जनता पार्टी की सरकार यह चाहती है कि हिन्द महासागर का क्षेत्र शान्तिमय घोषित किया जाये इस विषय में ऐशिया और अफ्रीका के अन्य देश भी चाहते हैं कि यहाँ किसी भी महाशक्ति का सैनिक अड्डा न रहे।

हमारे विदेश मन्त्री श्री वाजपेई के सामने एक और समस्या भी है कि जनता पार्टी में अभी अनेक नेता ऐसे हैं जो अमेरिका के जाल में भारत को फँसने देना पसन्द नहीं करते। यह श्री वाजपेई की बुद्धिमत्ता पर आधारित है कि वह अमेरिका और भारत के सम्बन्धों में सुधार भी करले और अपने दल के नेताओं को भी सन्तुष्ट रखे।

(3) भारत की नई सरकार की चीन के प्रति नीति—भारत और चीन के सम्बन्ध तो 1958 से खराब हो गये थे जब भारत के हिमालय क्षेत्र के बहुत बड़े भूभाग पर चीन ने कब्जा कर लिया था। 1962 में खुला आक्रमण कर चीन ने भारत से पक्की शत्रुता मोल ले ली। पाकिस्तान को बढ़ावा देना, तथा उसे अस्त्र-शस्त्र एवं धन देकर चीन ने दोबारा उसे भारत से लड़ाया। इससे भारत उसके विरुद्ध रहा। 1971 में भारत और रूस सन्धि से भी चीन चिढ़ा बैठा है। चाऊ एवं माओ के काल में भारत और चीन में कोई मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित न हो सके। 1976 में चाऊ एव माओ दोनों ही स्वर्ग सिधार गये। यद्यपि 'हुआकुआ फँग' ने माओ के स्थान पर अपनी सत्ता जमा ली है पर माओ की मृत्यु (9-9-1976) के बाद चीन में गृहयुद्ध छिड़ गया है। अतः श्री फँग ने भारत से अच्छा सम्बन्ध स्थापित करने की बात की थी। इसी बीच भारत में जन क्रान्ति हुई और इन्दिरा जी की पैतृक कुर्सी उनके नीचे से खिसक गई। मार्च 1977 तक भारत की नई सरकार गठित हो गई। भारत के नये प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई बने और विदेश मन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेई बने।

जनता सरकार ने अपनी विदेश नीति असंलग्नता की घोषित की साथ में सभी पड़ौसी देशों से मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए घोषणा की। 5 अगस्त 1977 को राज्य सभा में श्री वाजपेई ने कहा कि भारत चीन के साथ सम्बन्ध और सामान्य बनाने तथा हर क्षेत्र में सुदृढ करने की दिशा में सभी सम्भव प्रयास कर रहा है पर इस दिशा में चीन को भी पहल करनी चाहिए। आगे उन्होने यह भी बताया कि दोनों देशो में स्वास्थ्य और कृषि के क्षेत्रों में परिस्थितियों का अध्ययन के लिए दोनों देशों के विशेषज्ञ एक दूसरे देश की यात्रा पर गये हैं। एक पत्रकार जून-जुलाई में चीन गया था और उसने उच्च अधिकारियों से भेंट की थी। अब भारत मे राजेस्टर जहाज चीनी बन्दरगाहों पर जा सकते हैं। पंचशील के सिद्धान्त पर दोनों देशो के बीच सम्बन्ध सामान्य करने का प्रयत्न जारी रहेगा।

दूसरे ही दिन अर्थात् 6 अगस्त को चीन ने भारत पर गम्भीर आरोप लगाये। आरोप यह था कि भारत की नई सरकार दलाई लामा से मिलकर चीन के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रही है। भारत स्थित चीनी राजदूत ने विदेश मन्त्रालय मे आकर चीनी विरोध पत्र प्रस्तुत किया। चीन ने भी भारतीय राजदूत श्री नारायण से इस प्रकार की चीनी सरकार ने शिकायत की। अधिकाश चीनी समाचार समितियों ने दलाई लामा की प्रधान मन्त्री श्री देसाई एवं रक्षा मन्त्री जगजीवनराम की भेंट का उल्लेख किया तथा इसे चीनी शत्रुओं को भड़काने का षड्यन्त्र बताया तथा भारत चीन से तिब्बत को पृथक करने का प्रयास कर रहा है। यह चीनी घरेलू मामलों में हस्तक्षेप है।

यद्यपि भारत सरकार ने इस षड्यन्त्र रचने के आरोप का खण्डन किया पर इससे दोनों देशों में सम्बन्ध सुधरने के बजाय बिगड़े। वास्तव में चीन यह नहीं चाहता कि भारत अपनी भूमि पुन चीन से खाली करने की मांग करे अतः वह समय-समय पर भारत को धमकाता रहता है और गलत-सलत आरोप लगाता रहता है। इस विषय में जनता पार्टी को कड़ा रुख अपनाना चाहिए।

(4) भारत और पाकिस्तान—भारत में संसद के चुनाव से कुछ दिन पूर्व ही पाकिस्तान में चुनाव हुए और भुट्टो की पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ पर विरोधी दलों ने श्री भुट्टो पर अनुचित साधन अपनाने का आरोप लगाया और पुन. चुनाव की माँग की। इस माँग को लेकर पाकिस्तान से अनाक्रमण सन्धि का प्रस्ताव रखा जिसे श्री भुट्टो ने स्वीकार न किया। पाकिस्तान में हिंसा की वारदातों से पाकिस्तान की सेना ने पाकिस्तानी सत्ता को अपने हाथ में ले लिया है। जनरल जियाउलहक ने 5 जुलाई को समस्त राजनीतिक नेताओं को बन्दी बना लिया श्री भुट्टो भी गिरफ्तार किये गये।

5 अगस्त 1977 को विदेशमन्त्री ने राज्य सभा में यह सूचना दी कि पाकिस्तान के नये सैनिक शासक ने पाकिस्तान में बन्द 200 भारतीय को छोड़ने की पेशकश की है। उन्होंने यह भी सूचना दी कि सैनिक प्रशासक ने 1 फरवरी 1977 को 62 जहाजी नौकर जो बन्दी थे छोड़ दिये हैं। 25 जहाजी कर्मचारी वहाँ बन्दी हैं। अनेक सैनिक एवं गैर-सैनिक लोग भी वहां बन्दी हैं। श्री बाजपेई ने भी बताया कि भारत ने भी 200 पाक बन्दियों को छोड़ने का फैसला किया है। यह सूचना पाकिस्तान भेज दी गई है। इस प्रकार दोनों देशों में सामान्य सम्बन्ध स्थापित है।

पाकिस्तान के सैनिक प्रशासक ने 18 अक्टूबर 1977 को आम-चुनाव कराने की घोषणा कर दी थी। लेकिन स्थिति को देखते हुए स्थगित कर दिये गये फिर भी अनेक दलों एवं नेताओं की नजरबन्दी पर प्रतिबन्ध नहीं हटे हैं। पाकिस्तान में जब तक शान्ति नहीं तब तक उससे नवीन सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकते।

(5) अन्य पड़ोसी देशों से सम्बन्ध—भारत का पड़ोसी बंगला देश है। गंगा के पानी के बँटवारे पर उससे बातचीत बंगला देश बनने से पूर्व से चल रही है पर वह अभी उसका कोई पूर्ण हल नहीं निकाल पायी हैं। भारत की नई सरकार ने इस विषय में बंगला देश से बातचीत चलाई है। 5 अगस्त 1977 को अधिकारी स्तर पर पुनः बातचीत हुई और समझौते का ब्योरा तैयार किया गया। बंगला देश के प्रतिनिधि मण्डल के नेता श्री बी० एम० अब्बास ने बताया कि दोनों पक्षों में फरक्का बांध पर समझौते का प्रयास किया जा रहा है। यह वार्ता 9 दिन से चल रही थी और दोनों पक्षो के मत-भेद बहुत कुछ दूर हो गये। दोनों देशों के अधिकारियों ने अगले महीने दिल्ली में पुनः वार्ता करने का निश्चय किया। वास्तव में मई मास में ही प्रधानमन्त्री मोरार जी देसाई और बंगला देश के राष्ट्रपति मेजर जनरल जियाउर्रहमान राष्ट्र-मण्डल सम्मेलन में ही इस विषय में वार्ता कर चुके थे और दोनों नेताओं में मोटे तौर पर सहमति हो गई थी और अब दोनों देशों में फरक्का बाँध पर समझौता हो गया।

अरब देशों से भी नई सरकार ने वार्ता चलाई थी। 9 अगस्त को राज्य सभा में श्री अटल बिहारी वाजपेई ने कहा था कि "अरब देशों के बारे में हमारी नयी सरकार की नीति के बारे में शकायें केवल इसलिए प्रकट की जारी रही हैं कि भूतपूर्व सरकार ने दुनिया में हमें बदनाम कर रखा था। हम किसी आक्रमण का समर्थन नहीं करेंगे। इजराइल को अरब प्रदेश खाली करना पड़ेगा।

नेपाल में भी श्री अटल बिहारी वाजपेई पिछले महीने गये थे और और वहाँ से बड़े मैत्रीपूर्ण ढग से उनकी वार्ता हुई थी तथा अनेक भ्रान्तियाँ दूर हुई थीं दोनों देशों बड़े मैत्रीपूर्ण ढंग से स्थापित हुए थे।

पिछले सप्ताह ईरान से भी एक प्रतिनिधि मण्डल भारत आया है। श्री जगजीवन राम ने बताया कि भारत सेना किसी भी विदेशी आक्रमण का सामना करने की सामर्थ्य रखती है। ईरान और भारत के सम्बन्धों पर बोलते हुए उन्होंने यह आशा व्यक्त की थी कि दोनों देशों में पहले ही मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध चल रहे हैं, हम उन्हें और भी प्रगाढ़ करने का प्रयास करेंगे। 12 अगस्त 1977 को ईरानियों के दल ने श्री वाजपेई से भी बातचीत की।

निष्कर्ष—श्री अटल बिहारी वाजपेई ने विदेश नीति में आश्वासन प्रकट किया है कि हमारी सरकार पूर्व की असंलग्नता की नीति पर दृढ़ रहेगी। हम सभी देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करेंगे। बिगड़े हुए सम्बन्धों को सुधारेंगे। किसी के बेजा दबाव के सामने नहीं झुकेंगे।

भारत के विदेश मन्त्री श्री वाजपेई की बर्मा यात्रा—भारत ने नई सरकार के अन्तर्गत विदेशी क्षेत्र में कई उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। नई सरकार अपनी भूतपूर्व कांग्रेस सरकार के समान असंलग्नता की नीति रखती है पर अन्तर यह है कि जनता सरकार की नीति स्पष्ट, सन्तुलित एवं दृढ़ है। भारत की विदेश नीति अपने पड़ोसी राज्यों के प्रति भी मैत्रीपूर्ण है। नई सरकार ने स्थापित होते ही पाकिस्तान, नेपाल, लंका एवं चीन से दोस्ती के लिए हाथ बढ़ाया। पाकिस्तान तो आन्तरिक विद्रोह से चिन्तित है, लंका में भी वैसा ही हाल है। नेपाल में नये विदेशमन्त्री यात्रा पर गये थे और वहाँ की सरकार से तथा महाराजा से बड़े मैत्री भाव से मिले और अनेक शंकाओं को दूर कर आये। विदेशमन्त्री श्री अटल जी ने 16 अगस्त 1977 को बर्मा की यात्रा की। 4 दिन तक विभिन्न नेताओं से वार्ता कर वे 20 अगस्त को भारत आ गये।

दिल्ली आकर विदेशमन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेई ने बताया कि उनकी बातचीत बर्मा के नेताओं से हुई थी और उन्होंने वचन दिया है कि बर्मा सरकार विद्रोही नागाओं को अपनी भूमि मे ठहरने न देगी तथा उन्हें भारतीय विरोधी कार्यवाही करने न देगी।

21 अगस्त को पत्रकारों के मध्य बातचीत करते हुए श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने बताया है बर्मा के नेताओ के मन मे भारतीयों क प्रति आत्मीयता तथा सहानुभूति के भाव विद्यमान है। उनके द्वारा जो स्वागत विदेशमन्त्री का हुआ उससे वे बहुत प्रभावित हुए। श्री अटलजी ने पत्रकारो को बताया कि उनकी मुलाकात बर्मा के राष्ट्रपति नेविन से काफी देर तक चली। यह वार्ता बड़ी ही मैत्रीपूर्ण तथा सद्‌भावना से भरी थी। अटलजी ने कहा कि "मैंने बर्मा के राष्ट्रपति नेविन को भारतीय राष्ट्रपति श्री संजीव रेड्डी की ओर से सद्‌भावना व्यक्त की तथा उन्हें भारत आने का निमन्त्रण भी दिया। निमन्त्रण को श्री नेविन ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।"

वाजपेयी ने यह भी बताया कि जब वे बर्मा के राष्ट्रपति नेविन से मिलने गये तो वहीं पर बर्मा सोशलिस्ट प्रोग्राम पार्टी के महासचिव जनरल सान यूभी उपस्थित थे।

श्री वाजपेयी ने यह भी बताया कि उनकी वार्ता बर्मा के प्रधानमन्त्री तथा विदेशमन्त्री से भी बड़ी मैत्रीपूर्ण रही। उन्होंने यह भी बताया कि उनकी वार्ता से यह स्पष्ट मालूम देता था कि अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय समस्याओं पर भारत एवं बर्मा दोनों के विचारो में काफी समानता पायी जाती है।

द्विपक्षीय मसलो पर हुई चर्चा के विषय में वाजपेई जी ने बताया कि भारत और बर्मा आर्थिक, तकनीकी तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में सहयोग के नये रास्ते खोजने के लिए सहमत हुए है। बर्मा से वैज्ञानिक, तकनीकी और आर्थिक प्रतिनिधि मण्डल शीघ्र ही भारत आयगा। यह प्रतिनिधि मण्डल जो कार्य करेगा उसे आगे बढ़ाने के लिए भारत की ओर से भी औद्योगिक और आर्थिक प्रतिनिधि मण्डल बर्मा जायेगा।

श्री वाजपेई ने यह भी बताया कि समुद्री सीमांकन के प्रश्न पर प्रारम्भिक वार्ता एवं सलाह-मशविरा तो हो चुका है और उसकी विस्तृत वार्ता भारत और बर्मा के मध्य अगले कुछ

महीनो में पुनः प्रारम्भ होगी। ज्ञातव्य है कि भारत और वर्मा के मध्य 200 मील समुद्री सीमा की मान्यता दी गयी है परन्तु अंडमान और मर्तबान खाड़ी मे यह सीमा एक दूसरे के क्षेत्र मे आ जाती है। इस समस्या के हल के लिए पिछले वर्ष रंगून में बातचीत हुई थी और इसे दुबारा प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया था।

थल सीमा के विषय मे वाजपेयी जी ने बताया कि कुल 906 मील लम्बी सीमा के 90% क्षेत्र में सीमांकन हो चुका है। आगे यह तय हुआ है कि थल सीमा आयोग की बैठक शीघ्र बुलायी जायगी और सीमा को अन्तिम रूप प्रदान करने वाली सन्धि का प्रारूप तैयार किया जायगा।

वर्मा मे जो भारतीय मूल के भारतीय रह रहे है उन्हें नागरिकता देने के विषय में भी वाजपेयी जी वर्मा के नेताओं से बातचीत हुई। श्री वाजपेई ने बताया कि यह वार्ता बड़ी ही सुखद वातावरण मे हुई और वर्मा के नेताओं का रुख सहानुभूति पूर्ण था। उन्होंने बताया कि वे आवेदन पत्रों पर शीघ्रता से निर्णय करने के लिए प्रयत्नशील है। वर्मा के नेताओं ने यह भी बताया कि कई सौ ऐसे मामले भी सामने आये हैं कि लोगों को उनके प्रार्थना पत्रो पर नागरिकता प्रदान कर दी गयी है पर वे अपने कागजात लेने नही आये। यह भी सूचना मिली कि लगभग 40,000 आवेदन पत्रो पर अभी तक स्वीकृति नही मिली है।

श्री वाजपेई ने यह भी बताया कि जो भारतीय वर्मा मे छोटे उद्योग-धन्धो मे लगे हैं, उन्हे प्रशासकीय स्तर कुछ कठिनाइयाँ अवश्य है, जैसे कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए उन्हें परमिट लेना पड़ता है। कई बार इसमे देरी हो जाती है। यह नियम वर्मा मे रहने वाले सभी विदेशियो पर लागू है। उन्होंने बताया कि उनकी वार्ता इस सम्बन्ध मे भी बर्मा के नेताओं से हुई। बर्मा के नेताओ ने मानवता के आधार पर और कुछ विशेष मामलो पर सहानुभूति पूर्ण विचार करने का आश्वासन दिया।

श्री अटल बिहारी वाजपेई की अफगानिस्तान यात्रा—अफगानिस्तान से भारत के बहुत प्राचीन सम्बन्ध रहे है। वहाँ राजतन्त्र का दौर-दौरा चलता रहा है पर भारत के नवीन गणतन्त्र से उसके अच्छे सम्बन्ध रहे हैं। 1973 मे वहाँ गणतन्त्र समाप्त हो गया। राष्ट्रपति श्री मोहम्मद दाऊद के नेतृत्व मे जुलाई 1973 को वहाँ गणतन्त्र की स्थापना हुई। पं० अटलबिहारी वाजपेई सितम्बर 1977 के प्रथम सप्ताह मे अफगानिस्तान की यात्रा पर गये। वहाँ उनका भव्य स्वागत हुआ। भारत के विदेश मन्त्री की यह यात्रा न केवल जनता सरकार की विदेश नीति को स्पष्ट करने मे सफल हुई, साथ मे दोनो देशों के मध्य मैत्री सम्बन्धो को और भी मधुर बनाने मे सहायक हुई। इस यात्रा की एक भारी उपलब्धी यह हुई कि दोनों ने दक्षिणी एशिया के देशो के बीच अधिक विश्वास और समझदारी की भावना को सुदृढ़ करने के लिए मिल-जुलकर कार्य करने का फैसला।

6 सितम्बर 1977 को वाजपेई अफगानिस्तान से लौटकर वापस आये तो सम्वाद-दाताओं के सम्मेलन में इस यात्रा के विषय मे बताने लगे। एक सम्वाददाता के प्रश्न के उत्तर मे श्री वाजपेई ने कहा भारत अफगानिस्तान से व्यापार बढ़ाने का इच्छुक है पर यह तभी सम्भव हो सकता है जब दोनों देशों के मध्य पड़ने वाला देश पाकिस्तान अपने क्षेत्र से पारगमन सुविधा प्रदान करे।

अफगानिस्तान में जब से गणतन्त्रीय व्यवस्था चालू हुई तब से उसके और भारत के सम्बन्धों मे बहुत प्रगति हुई है। 1974 मे दोनों देशों में एक समझौता हुआ था ... दोनों देश आपस मे आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लिए वचनबद्ध हुए थे। भारत ... को औद्योगिक प्रगति और माइक्रो जल विद्युत परियोजनाओं मे सहायता ... वचन दिया था।

भारत और अफगानिस्तान में परस्पर व्यापार होना बड़ा कठिन है। वह चारों ओर थल से घिरा है, समुद्र तक पहुँचने का उसे कोई मार्ग नहीं मिलता इधर पाकिस्तान से उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं। गत वर्ष पाकिस्तान इस बात पर राजी हो गया था कि भारत-अफगानिस्तान का व्यापार पाकिस्तान मे से होकर हो सकता है पर बाद में वह वायदे से मुकर गया। फिर भी दोनों देशों मे व्यापार चलता रहा। 1975 में अफगानिस्तान के प्रथम राष्ट्रपति (दाऊद) भारत आये। उन्होने द्विपक्षीय सहयोग पर बहुत जोर दिया।

समझौते के अनुसार भारत अफगानिस्तान को चाय, मसाले, दवायें, रसायन, टायर, रबड़ का सामान, कपड़ा, जूट का सामान, जूते तथा धातु की सामग्री निर्यात करता है। इनके बदले मे अफगानिस्तान से भारत आयात है—ताजे फल, सूखे मेवे, हींग, जड़ी बूटियाँ तथा जीरा आदि।

1976 मे भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी अफगानिस्तान की यात्रा पर गयी थी। दोनों देशों ने सार्वदेशिक निःशस्त्रीकरण पर जोर दिया तथा परमाणु शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने की मांग की। दोनों देशों ने असलग्नता की नीति पर चलने का निर्णय किया।

भारत मे मार्च 1977 मे जन क्रान्ति हो गई और 30 वर्ष से चला आया कांग्रेस शासन उलट गया। भारत की जनता ने श्रीमती इन्दिरा गांधी के तानाशाही रवैये से तग आकर केन्द्र तथा 10 राज्यो को जनता पार्टी के हाथो मे सौंप दिया। यह शान्तिपूर्ण परिवर्तन विश्व के लिए आश्चर्यजनक था।

नयी सरकार श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में बनी। पुराने सम्बन्धों को सुधारने के लिए नये विदेशमन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेई विभिन्न देशों का भ्रमण कर रहे हैं। अफगानिस्तान की यात्रा भी इसी सिलसिले मे थी। यात्रा की समाप्ति पर दोनों देशों की जो संयुक्त विज्ञप्ति जारी हुई उससे साफ प्रकट होता है कि दोनो देश यह महसूस करते हैं कि दक्षिणी एशियायी देशों को उन्नत एवं समृद्ध बनाने के लिए तथा इस क्षेत्र मे स्थायी शान्ति के लिए दोनो देशो को प्रयत्नशील होना है अतः दोनो देशों ने प्रत्येक क्षेत्र मे सहयोग को जारी रखने का निश्चय किया। "यह आश्चर्य की बात नही समझी जानी चाहिए कि गुटनिरपेक्षता निःशस्त्रीकरण, हिन्दमहासागर, दक्षिणी अफ्रीकी देशो का मुक्ति आन्दोलन, अरब-इजराइल विवाद तथा अन्तराष्ट्रीय आर्थिक स्थिति पर दोनों देशो के दृष्टिकोणो मे पूर्ण समानता एवं एकरूपता है।" इसमे कोई सन्देह वाली बात नही कि भारत को सौभाग्य से 30 वर्षों के स्वतन्त्रता के काल में श्री अटलबिहारी वाजपेयी के रूप एक रत्न मिला है जिनके पीछे-पीछे सफलता चल रही है।

भारत और अफगानिस्तान में गत 30 वर्षों से कोई मतभेद पैदा ही नही हुआ है। दोनों देशों मे स्थायी मित्रता है। वाजपेयी ने विदा होते हुए श्री मोहम्मद दाऊद, राष्ट्रपति अफगानिस्तान को भारत आने का निमन्त्रण दिया। श्री वाजपेयी के व्यक्तित्व एवं व्यवहार से अफगानिस्तान के प्रधानमन्त्री, विदेशमन्त्री, वाणिज्य मन्त्री, खान एवं उद्योग मन्त्री, योजना मन्त्री, जन स्वास्थ्य मन्त्री, विद्युत और जल मन्त्री आदि सभी प्रभावित हुए।

दोनों देशो के विदेश मन्त्रियो की वार्ता के बारे में कहा गया है कि गुटनिरपेक्षता की नीति के औचित्य में दोनों देशो का समान रूप से विश्वास है। आशा की जाती है कि काबुल में होने वाले गुटनिरपेक्ष देशो के समन्वय ब्यूरो की बैठक मे गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को प्रगति के सम्बन्ध में बहुत कुछ किया जा सकेगा।

दोनों देशों के नेताओं ने मध्यपूर्व की स्थिति का भी जायजा लिया और दृढ विश्वास व्यक्त किया कि इस समस्या का हल सभी अधिकृत भूमि से इजराइल का कब्जा समाप्त करने और फिलिस्तीनी लोगों को अपना राज्य स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है। दोनों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्तावों की अवहेलना करने पर इजराइल की निन्दा की। अक्टूबर के प्रारम्भ में भी

वाजपेयी ने संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा को सम्बोधित किया। उन्होंने अपना भाषण हिन्दी में दिया। श्री वाजपेयी ने कहा कि भारत विश्व की समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल चाहता है। वह अपने पड़ोसियो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखेगा। अनेक वर्षों मे पहली बार चीन के प्रतिनिधि ने अपने भाषण की सबसे बड़ी सफलता तो बगला देश के साथ फरक्का बाँध से सम्बन्धित विवाद का सुलझाना है। दोनों देशों के बीच पानी के बँटवारे को लेकर समझोते के प्रारूप पर सहमति हो गयी है।

अटल बिहारी वाजपेई संयुक्त राष्ट्र संघ में
Atal Bihari Vajpai in U. N. O.)

सितम्बर 1977 में न्यूयार्क अमेरिका में संयुक्त राष्ट्र संघ की 30वीं वर्ष गांठ बनायी गयी। इस अवसर पर संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का अधिवेशन भी हुआ भारत की ओर से श्री अटल बिहारी वाजपेई भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप मे महासभा में भाग लेने गये। पं० वाजपेई हिन्दी भाषा के जाने-माने विद्वान हैं और एक कवि भी रह चुके है। भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी है और उन्हें अपनी मातृ भाषा से बडा प्रेम है। उन्होने 4 अक्टूबर 1977 को संयुक्त राष्ट्र संघ की मच पर अपना हिन्दी मे भाषण कर हिन्दी भाषा की प्रतिष्ठा को बढा दिया है। उनके भाषण के महत्त्वपूर्ण अंश यहाँ दिये जाते है, जो भारतीय विदेश नीति (जनता सरकार) को पूर्णतया स्पष्ट करते हैं।[1]

अध्यक्ष महोदय, प्रतिनिधि गण, भारतवर्ष में हाल ही मे एक ऐतिहासिक और अहिंसात्मक क्रान्ति हुई। गत मार्च मे हुए चुनावों में भारतीय जनता ने मानव की दुर्दम्य आत्म शक्ति का परिचय दिया और एक स्वतन्त्र और उन्मुक्त समाज मे अपनी आस्था की पुष्टि की।

उन्होंने लोकतन्त्र को नष्ट करने के तामसी निरकुश प्रयत्नो को निर्णायक रूप से पराजित कर दिया। सारे देश की 60 करोड जनता के लिए मार्च की यह क्रान्ति स्पष्टतया दूरगामी महत्त्व रखती है तथा समस्त संसार के स्वतन्त्रता प्रेमियो के लिए भी यह उतनी ही महत्वपूर्ण है।

हमारी जनता ने निर्भीक होकर उन मूलभूत सिद्धान्तों, जीवन मूल्यों तथा आकाक्षाओं को परिपुष्ट किया जिन पर लगभग 30 वर्ष पहले संयुक्त राष्ट्र संघ की आधारशिला रखी गयी थी। भारत के लोगों ने अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता और मूलभूत मानव अधिकार पुनः प्राप्त कर लिये। मैं भारतीय जनता की ओर से संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए शुभकामनाओं का संदेश लाया हूं। महासभा के इस 32वें अधिवेशन के अवसर पर मैं सयुक्त राष्ट्र सघ में भारत की दृढ़ आस्था पुनः व्यक्त करना चाहता हूं। हमारा विश्वास है कि सयुक्त राष्ट्र सघ विश्व मे शान्ति और राष्ट्रों के बीच सहयोग के माध्यम से समानता, न्याय और समता पर आधारित शान्तिपूर्ण प्रगति को प्रोत्साहित करने का उपकरण बनेगा।

जनता सरकार को शासन की बागडोर सभाले छः माह भर हुए हैं। फिर भी इतने अल्प समय में हमारी उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं। भारत में मूलभूत मानव अधिकार पुनः प्रतिष्ठित हो गये हैं। जिस भय और आतंक के वातावरण ने हमारे लोगो को घेर लिया था, वह अब दूर हो गया है। ऐसे सवैधानिक कदम उठाये जा रहे हैं जिससे यह सुनिश्चित हो जाये कि लोकतन्त्र और बुनियादी आजादी का फिर कभी हनन नही होगा। लेकिन हम केवल इन ० सन्तुष्ट नहीं हैं। हमारी संसद ने 22 जुलाई 1977 को विधिवत इस बात की पुष्टि भारत के लोग शान्तिमय और वैध तरीकों से देश में एक ऐसी आर्थिक और सामा

[1] "स्वतन्त्र भारत" दिनांक 12, 13 अक्टूबर 1977 से साभार उद्धृत।

लाने के लिए कृत संकल्प है जो लोकतान्त्रिक भावनाओं से प्रदीप्त हो, समाजवादी आदर्शों से अनुप्राणित हों और नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की आधारशिला पर सुदृढ़ रूप से स्थित हों।"

अध्यक्ष महोदय, आपको अध्यक्ष पद पर आसीन देखकर मुझे और भी अधिक प्रसन्नता हो रही है, क्योंकि आप एक ऐसे देश के प्रतिनिधि हैं जो भारत के साथ गुट निरपेक्ष आन्दोलन का संस्थापक रहा है और जिसके साथ हमारे सुदृढ़ मैत्री सम्बन्ध हैं। भारत सरकार की ओर से और अपनी ओर से भी मैं संयुक्त राष्ट्र महासभा के 32वें अधिवेशन के सर्वानुमति से अध्यक्ष चुने जाने पर आपका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। आपका चुनाव न केवल आपके विस्तृत राजनयिक अनुभवों और निजी विशिष्टिताओं के प्रति आदर का द्योतक है, बल्कि आपके देश यूगोस्लाविया तथा उसके द्वारा शान्ति और स्थायित्व की शक्तियों को जो उसके प्रति सम्मान का सूचक है, मैं आश्वासन देना चाहता हूँ कि आपको अपने पद का दायित्व निभाने में हमारा सहयोग मिलेगा।

पदमुक्त अध्यक्ष महामान्य शर्ली अमर सिंघे का भी हार्दिक अभिनन्दन करते हुए मुझे विशेष प्रसन्नता हो रही है। वे हमारे निकट पड़ोसी देश श्रीलंका के विशिष्ट प्रतिनिधि हैं और उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के 31वें अधिवेशन का बड़ी कुशलता और योग्यता के साथ संचालन किया है।

जनता सरकार शान्ति, गुट निरपेक्षता तथा सब देशों के साथ मित्रता की नीति का दृढ़ता से अनुसरण कर रही है। ये नीतियाँ सदा से भारत के राष्ट्रीय मतैक्य और परम्परा पर आधारित रही है। गुट निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे राष्ट्रीय सार्वभौमता का विस्तार है। इसका मूल तत्व तटस्थता न होकर स्वाधीनता है—जो उपनिवेशवाद के विरुद्ध हमारे राष्ट्रीय संघर्ष और दासता तथा दमन से मानव चेतना की मुक्ति का सहज परिणाम है। हम राष्ट्रों की सच्ची स्वतन्त्रता मे विश्वास रखते है। हमारी मान्यता है कि हर देश को अपने सर्वोत्तम राष्ट्रीय हितो के अनुकूल नीति अनुसरण करने की तथा प्रत्येक समस्या पर गुणों के आधार पर विचार करने और निर्णय लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

नई सरकार ने शासन संभालते ही न केवल गुटनिरपेक्षता के मार्ग पर चलते रहने की अपितु उसके मौलिक तथा अकारात्मक रूप को पुनः प्रतिष्ठित करने की घोषणा की। यह सन्तोष का विषय है कि वास्तविक गुटनिरपेक्षता पर हमारे द्वारा दिये गये जोर और इस नीति को उत्साह और गतिशीलता से आगे बढ़ाने के हमारे निर्णय को सही मानों मे देखा और समझा गया है।

श्री अटल बिहारी बाजपेई ने आगे कहा कि अध्यक्ष महोदय, 'वसुधैव कुटुम्बकम' की परिकल्पना पुरानी है। भारतवर्ष में सदा से हमारा इस धारणा मे विश्वास रहा है कि संसार एक परिवार है। अनेकानेक प्रयत्नों और प्रयोगो के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप मे इस स्वप्न के अब साकार होने की सम्भावना है, क्योंकि संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता लगभग विश्वव्यापी हो गयी है और 400 करोड़ लोगो का जो विभिन्न जातियों, रंगों और समुदायों के हैं, प्रतिनिधित्व करता है। फिर भी यह आवश्यक है कि संयुक्त राष्ट्र संघ केवल सरकारी प्रतिनिधि मण्डलों का मिलन मंच मात्र न रहे। हमें इस लक्ष्य को ध्यान में रखना चाहिए कि किस प्रकार राष्ट्रों की यह महासभा मानवता के सामूहिक विवेक और इच्छा शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली मानव की संसद का रूप ले सके।

संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा पत्र केवल राष्ट्रों के लिए किया गया आह्वान मात्र नही है। यह तो संसार के समस्त लोगों द्वारा किया गया उद्घोष है कि अपनी भावी पीढ़ियों को युद्ध की विभीषिका से बचाया जाये और सच्ची स्वतन्त्रता के वातावरण में एक नई विश्व व्यवस्था की पना की जाये।

इस घटना से हमारे कई विदेशी मित्र-बन्धुओ को आश्चर्य हुआ परन्तु मुझे तो स्पष्ट है कि हमारे लोगों द्वारा प्रदर्शित महान राजनैतिक साहस की प्रेरणा हमारी प्रकृति और परम्परा से मिली है। सदा से ही हमारी धार्मिक और दार्शनिक विचारधारा का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति रहा है। हमारे धर्म ग्रन्थों और महाकाव्यो मे सदैव यह सन्देश निहित रहा है कि समस्त ब्राह्मण और सृष्टि का मूल व्यक्ति और उसका सम्पूर्ण विकास है।

हमारी सदा मान्यता रही है कि ईश्वर के अनेक रूप हो सकते है, हर भारतवासी को, भले ही वह कही जन्मा हो या कोई भी आस्था रखता हो, अपने उद्धार और मुक्ति का मार्ग ढूंढने की स्वतन्त्रता रही है। साथ ही मनीषियो ने वैदिक युग से लेकर अब तक सदा ही हमें अपने साथी मानवों के प्रति करुणा और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया है। गांधीजी ने इस तत्व का सार उनके प्रिय शब्द 'अन्त्योदय' मे व्यक्त किया है। अन्त्योदय का अभिप्राय है—निम्नतम और निबलतम वर्गों के हितों की रक्षा और कल्याण जिसके लिए प्रत्येक समाज को सलग्न रहना चाहिए।

मेरा विश्वास है कि हमारी राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे निरन्तर सर्वोच्च स्थान मनुष्य, उसके सुख और कल्याण तथा मानव की आधारभूत एकता को मिलना चाहिए। मेरा अभिप्राय: किसी आकृतिहीन मानव से नही है जो अतीत काल से निरकुशता को थोपने का बहाना रहा है, मेरा मतलब जीते-जागते मानव से है। उसकी सम्वेदनाये और उपेक्षायें, उसका सुख और दुख हमारे प्रयत्नों का केन्द्र बिन्दु होना चाहिये।

अध्यक्ष महोदय हम विश्वशान्ति के, ऐसी शान्ति के जो जीवित है, प्रबल समर्थक है। विश्व शान्ति का ताना बाना किसी समय भी छिन्न-भिन्न हो सकता है। उसका सरक्षण तो केवल उन सामूहिक प्रयत्नों से हो सकता है जो राष्ट्रों के बीच विद्यमान असमानता और असन्तुलन को दूर कर सके, एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के प्रभुत्व व शोषण का अन्त कर सके और ससार के समस्त लोगो की बराबरी के आधार पर अवसर और अधिकार प्रदान कर सके।

जब भारत ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य सग्राम छेड़ा था, तब से विश्व एक लम्बा रास्ता तय कर चुका है। एक एशियाई देश के नाते हमने वियतनाम के बहादुर लोगों द्वारा स्वतन्त्रता सग्राम के दौर न झेल गये अपार कष्टो और अनगिनत बलिदानों को बड़ी सम्वेदना के साथ देखा। उनकी अन्ततः सफलता मानव की आत्मशक्ति की ज्वलन्त परिचायक तथा दासता के विरुद्ध उसके अ म्य प्रतिरोध के प्रति श्रद्धाजलि है।

हमें प्रसन्नता है कि संयुक्त राष्ट्र सघ ने वियतनाम के पुनर्निर्माण व वहाँ के लोगो के पुनर्वासन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर सहायता देने की योजना बनायी है। भारत वियतनाम को अपनी ओर से यथासम्भव और भरसक सहायता देने के लिए तत्पर है।

भारत वियतनाम समाजवादी गणराज्य के संयुक्त राष्ट्र संघ मे प्रवेश का सहर्ष स्वागत करता है। नये अफ्रीकी राज्य जिबूटो का भी हम हार्दिक अभिनन्दन करते है। इन दोनों देशों की सदस्यता से सयुक्त राष्ट्र सघ और भी विश्व व्यापी हो गया है। इन दोनों देशों से भारत के मधुर मैत्री सम्बन्ध है और हम आशा करते है कि भविष्य मे हमारे पारस्परिक सहयोग में वृद्धि होगी।

इस अवसर पर साइप्रस के दिवंगत राष्ट्रपति आर्चबिशप मकारिओस के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना चाहता हूं। स्वर्गीय आर्चबिशप एक विश्व नेता थे और वे गुटनिरपेक्ष [illegible] संस्थापकों मे से एक थे। उन्होंने साइप्रस की आजादी का सृजन तो किया ही, [illegible] अस्तित्व के संरक्षण करने का मार्ग प्रशस्त किया।

हमारी सबसे बडी समस्या दक्षिणी अफ्रीका में मानव अधिकारो और र[illegible] हो रहे महान् सघर्ष की है। भारत सदैव ही राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय भाग[illegible]

रक्तपात और हिंसा का विरोधी रहा है। हम अहिंसा में आस्था रखते हैं और चाहते हैं कि विश्व के संघर्षों का समाधान शान्ति और समझौते के मार्ग से हो। पराधीनता के अन्धकार पूर्ण काल में भी भारत कतिपय आधारभूत सिद्धान्तों पर दृढ था। ये सिद्धान्त थे औपनिवेशिक दमन का तीव्र विरोध और रंगभेद से प्रत्येक रूप तथा मानव अधिकारों के प्रत्येक हनन की पूर्ण अस्वीकृति। इन सिद्धान्तों के प्रति स्वतन्त्र भारत की श्रद्धा आज भी अधिक गहरी हो गयी है।

भारत चाहता है कि जिम्बाबवे की समस्या का शान्तिपूर्ण ढंग से अतिशीघ्र समाधान हो। भारत ने इसी सन्दर्भ में आँग्ल-अमेरिकी प्रस्तावों के उन विधायक अंशों का स्वागत किया है जो एक विशिष्ट समयावधि में वास्तविक बहुमत शासन की स्थापना की ओर इंगित करते हैं। आशा है कि इस विषय पर हाल ही सुरक्षा परिषद में स्वीकृत प्रस्ताव से युद्ध विराम हो जायगा और अन्ततोगत्वा समस्या का समाधान निकल आयगा। यह अधिकांश इस बात पर निर्भर है कि 'इयान स्मिथ' का अवैधानिक शासन अपना दुराग्रह और अकड़ त्यागने और विवेकशील दृष्टिकोण अपनाने को तैयार है या नहीं।

जब तक स्मिथ सरकार हटा दी नहीं जाती और जब तक लम्बे समय से त्रस्त जनता को स्वाधीनना की पुनः प्राप्ति नहीं होती। हम यह कैसे आशा कर सकते हैं कि स्वतन्त्रता के सेनानी अपने हथियार रख देंगे। भारत जिम्बाबवे में अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत देशभक्त शक्तियों के प्रति अपने ठोस समर्थन की पुनः पुष्टि करता है। जो भारी कठिनाइयों के बीच अपनी मुक्ति के लिए बहादुरी से संघर्ष कर रहे हैं। अगर सत्तारूढ़ बने रहने के निष्फल प्रयास में स्मिथ विश्व जनमत की जानबूझकर अवहेलना करता रहता है तो सं० रा० संघ को अपने समस्त अधिकारों का प्रयोग कर अवैधानिक और अल्पमतीय सत्ता उसके समर्थक दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध अनिवार्य प्रतिबन्धों को अधिक व्यापक करना पड़ेगा। इस अवैधानिक शासन का अन्त निकट आयेगा और जिम्बाबवे लोगों को अपने भाग्य का स्वयं फैसला करने का अपहरणीय अधिकार प्राप्त होगा।

नामीबिया में भी जिसे अन्तर्राष्ट्रीय राज्य क्षेत्र का दर्जा मिला हुआ है; संयुक्त राष्ट्र संघ की सत्ता विश्वसनीयता और प्रतिष्ठा को समान चुनौती का सामना करना पड़ रहा है।

अभी यह देखना बाकी है कि पाश्चात्य देशों के प्रयत्न दक्षिण अफ्रीका सरकार को कहाँ तक नमीबिया छोड़ने के लिए तैयार करते हैं, जिससे कि संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव क्रियान्वित हो सकें। वालविसबे को, जो नामीबिया का एक भाग है। अपने राज्य क्षेत्र में स्मिथ के प्रान्त में शामिल करने के दक्षिण अफ्रीका के निर्णय की हम निन्दा करते हैं। उसी तरह नामीबिया के एक क्षेत्र का अणु परीक्षण के लिए कथित उपयोग करने की योजना की भी भर्त्सना करते हैं।

हम पूर्ण रूप से स्वापों (दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीकी जनसख्या) के साथ हैं और सभी देशों को उसके प्रातिनिधिक स्वरूप को स्वीकार करने की अपील करते हैं। हम नामीबिया की जनता से यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह अपने शस्त्र संघर्ष छोड़ दे यदि आजादी प्राप्त करने का यही एकमात्र उपाय रह जाता है। किन्तु हम समस्या का समाधान केवल स्वापों के प्रयत्नों और संघर्ष पर ही नहीं छोड़ सकते है। इस कार्य में संयुक्त राष्ट्र संघ का सामूहिक और प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने दक्षिण अफ्रीका प्रशासन को नामीबिया से पूर्ण रूप से हट जाने के लिए अपनी समर्थता का निश्चय का ही अभी तक पूरा उपयोग नहीं किया है।

जबकि हम दक्षिण अफ्रीका में उपनिवेशवाद और रंगभेद के निकृष्टतम रूप का सामना कर रहे हैं। पश्चिम एशिया में विश्व शान्ति को और भी अधिक विस्फोटक खतरा है। यहाँ भी कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का प्रश्न है। सर्वप्रथम किसी को भी आक्रमण के फलों का उपयोग करने की छूट नहीं दी जा सकती है। दूसरे किसी भी जन समूह को अपने ही देश में रहने के अपहरणीय

अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। तीसरे, सीमा सम्बन्धी सभी विवाद शक्ति प्रयोग से नहीं बल्कि बातचीत के जरिये सुलझाये जाने चाहिए।

इस दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट है कि इजराइल ने बल प्रयोग द्वारा जिन क्षेत्रों पर अवैध रूप से कब्जा किया है उसे मान्यता नही दी जा सकती: आक्रमण समाप्त होना ही चाहिये। यह भी आवश्यक है कि फिलिस्तीन के अरब लोगों को जिन्हें बलपूर्वक अपने घरों से उजाड़ दिया गया है, पुनः अपने देश में लौटने के अपहरणीय अधिकार का उपयोग करने दिया जाय।

साइप्रस की स्थिति का भी समाधान बाकी है कि द्विपक्षीय सामुदायिक वार्ताएँ पुनः आरम्भ होंगी और समस्या का ऐसा हल निकलेगा जो साइप्रस गणराज्य की क्षेत्रीय अखण्डता, सार्वभौमिकता और गुटनिरपेक्षता के अनुरूप होगा।

दो दशकों से भी अधिक समय से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों पर विचार विनिमय हो रहा है। परन्तु विकास दशक के लिए जो स्वल्प लक्ष्य निश्चित किये गये थे उनकी या तो अवहेलना कर दी गयी है या उन्हें पीछे धकेल दिया गया है। बढ़ी हुई विषमताओं को कम करने के लिए विकसित देशो से संसाधनो और तकनीकी ज्ञान का पर्याप्त स्थानान्तरण नही हुआ।

इस वर्ष पैरिस मे हुए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग सम्मेलन मे इन सभी समस्याओं पर विस्तृत रूप से विचार-विमर्श हुआ था। यद्यपि इन 18 महीनो के प्रदीर्घ विचार-विनिमय के फलस्वरूप कुछ प्रगति हुई, किन्तु पेरिस सम्मेलन का परिणाम कुल मिलाकर अत्यन्त निराशाजनक रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि विकसित देशों की अपनी आन्तरिक सामाजिक और आर्थिक समस्यायें हैं। लेकिन उन्हें अपने दृष्टिकोण और नीतियो को तत्कालिक तथा संकीर्ण राष्ट्रीय-हितों के ऊपर उठाना आवश्यक है। यह पूछा जा सकता है कि क्या विकसित देशो की आर्थिक ढांचे की समस्याओं के समाधान का युक्ति संगत और प्रबुद्ध रास्ता यह नही है कि इन देशो से विकासशील देशों में विशिष्ट मात्रा मे वित्तीय और प्रौद्योगिक क्षमता का स्थान्तरण किया जाय। समृद्ध देशों की आर्थिक उथल-पुथल का समुचित समाधान संसार के तीन अरब लोगो की दुर्दशा मे वृद्धि होने पर ही हो सकता है।

श्री अटल जी का यह भी कहना कि संसार की आर्थिक समस्याओं का निदान संघर्ष को बढ़ावा देने से नहीं हो सकता है बल्कि आपसी सहयोग, पारस्परिक निर्भरता तथा एक दूसरे के प्रति सहानुभूति से हो सकता है। इस सम्बन्ध मे अटल जी ने महात्मा गांधी के दृष्टिकोण को प्रकट किया। उनके दृष्टिकोण को संक्षिप्त रूप से इस प्रकार रखा—

"सब लोगों को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार है। भले ही उनकी अर्थव्यवस्था का रूप, उत्पादकता का स्तर तथा भौगोलिक स्थिति कुछ भी हो। राष्ट्रों के बीच पारस्परिक निर्भरता-शोषण रहित होनी चाहिए। असमान लोगों के बीच वास्तविक पारस्परिक निर्भरता नहीं हो सकती अत: असमानता को दूर करने की कार्यवाही होनी चाहिए। विकासशील देशों की स्वावलम्बन और सामूहिक निर्भरता की नीति का पालन करना चाहिए। वह एक ऐसी व्यापक रणनीति का अंग होना चाहिए जिसका उद्देश्य विकसित देशों से संसाधनों और तकनीक का स्थानान्तरण करना होगा। संसार के लोग भले ही वे विभिन्न राष्ट्रों मे बंटे हों, वास्तव में एक ही परिवार के हैं। एक सुसम्बद्ध विश्व अर्थव्यवस्था की मांग है कि सीमाओं से परे न केवल वस्तुओं, पूंजी के साधनों और तकनीक का आदान-प्रदान हो बल्कि आदमियों का भी आवागमन होता रहे। आर्थिक व्यूह-रचना का लक्ष्य मात्र जी० ए० पी० बढ़ाना न होकर रोजगार में वृद्धि करना है।"

विदेश नीति

श्री अटल जी ने जनसंख्या वृद्धि की समस्या पर बोलते हुए कहा कि "अध्यक्ष महोदय, संसार में जनसंख्या की दृष्टि से दूसरे नम्बर का देश होने के नाते भारत की समस्यायें भी बहुत जटिल हैं। हमारी प्रगति उल्लेखनीय है लेकिन हमारे सम्मुख कई चुनौतियां विद्यमान हैं। एक ऐसे देश के नाते जिसने लोकतन्त्र में अपनी आस्था पुनः व्यक्त की है और जो सहमति के आधार पर शासन चलाना चाहता है हमारा काम और भी क्लिष्ट हो गया है।"

अटल जी ने नई जनता सरकार की अपने पड़ोसी देशों के प्रति मैत्री भाव की नीति का उल्लेख करते हुए बताया कि 'अध्यक्ष महोदय! भारत सब देशों से मैत्री चाहता है और किसी पर प्रभुत्व नहीं चाहता है। जनता सरकार सभी देशों के साथ स्नेह, सहयोग और समझदारी के हेतु निर्माण करने के लिए सक्रिय है। सर्वप्रथम हमारा ध्यान नजदीक पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध सुदृढ़ करने की ओर गया है। मैं यह मैत्री सन्देश लेकर हाल ही में नेपाल, वर्मा, और अफगानिस्तान गया था। पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने की प्रक्रिया को हम सुदृढ़ करना चाहते हैं जिससे न केवल स्थायी शान्ति कायम हो बल्कि लाभदायक सहयोग में भी वृद्धि हो।" वे आगे बोले कि "4 दिन पूर्व, 30 सितम्बर को भारत बंगला देश के प्रतिनिधियों ने गंगा जल की समस्या पर हुए एक समझौते पर प्रथम हस्ताक्षर किये। यह एक व्यापक समझौता है जिसमें अल्पकालीन समस्या को हल किया गया है और दीर्घकालीन समस्या की नींव डाली है। इससे दोनों देशों की सम्मिलित आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी। इस समस्या ने हमारे पड़ोसी देश के साथ हमारे सम्बन्धों में पिछले 25 वर्षों से बिगाड़ पैदा कर रखा था। यह समझौता हमारे इस विश्वास की पुष्टि करता है कि ऐसी जटिल समस्या को जो दो पड़ोसी देशों की अर्थव्यवस्था तथा करोड़ों लोगों के जीवन को प्रभावित करती है। ईमानदारी से प्रेरित द्विपक्षीय चर्चा के द्वारा ही हल किया जा सकता है। ऐसे हल के लिए दोनों पक्षों को कुछ त्याग करना पड़ता है और आदान-प्रदान के आधार पर आगे बढ़ना होता है।"

अटल बिहारी वाजपेई ने दक्षिणी एशिया के विषय में, भारत की नई सरकार की नीति को स्पष्ट करते हुए बताया कि "पिछले एक वर्ष में दक्षिण एशिया के देशों में अनेक राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं। फिर भी इन देशों के लोगों को इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि दक्षिण एशिया पिछले कई दशकों की अपेक्षा आज तनाव से अधिक मुक्त है। यदि सचमुच दक्षिण एशिया में शान्ति और सहयोग का मार्ग प्रशस्त हो जाय, तो हम सब, जिन पर विकास का समान बोझ है, अपने विकास की ओर अधिक ध्यान दे सकेंगे और अपने संसाधनों को विनाश से हटाकर विकास में लगा सकेंगे।

अटल जी ने हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र बनाने की अपील करते हुए महासभा में कहा कि "वस्तुतः इसी सन्दर्भ में हम यह विशेष अपील करते हैं कि हमारे चारों ओर के हिन्द महासागर के विशाल क्षेत्र को बड़ी शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता और सैनिक अड्डों से मुक्त रखा जाये जिनका उपयोग आक्रमण के लिए हो सकता है। विस्तृत परिप्रेक्ष्य में भारत तनाव शैथिल्य के प्रयत्नों का स्वागत करता है। भारत चाहता है कि तनाव शैथिल्य केवल यूरोप तक न सीमित रहे बल्कि विश्वव्यापी हो और उसके लाभ विश्व के सब देशों एवं लोगों को मिलें।"

अन्त में श्री वाजपेई ने अपने भाषण में अणुशक्ति के शान्तिमय प्रयोग पर जोर देते हुए कहा कि "हमारी धारणा है कि आणविक शस्त्र खतरनाक है, भले ही वे एक देश के पास हों या कई देशों के पास हों। हम केवल आणविक शस्त्रों के फैलाव के विरुद्ध नहीं हैं वस्तुतः हम तो आणविक शस्त्रों के ही खिलाफ हैं। भारत सदा से ही आणविक शस्त्रों को प्राप्त करने और उन्हें विकसित करने का विरोधी रहा है।

तथ्य तो यह है कि भारत पहला देश था जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ में 20 वर्ष पूर्व समस्त आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाने का मामला उठाया था। उस समय बड़ी शक्तियाँ हमारी बात को सुनने के लिए बिल्कुल तैयार न थीं। जब वे तैयार हुईं तो इन्होंने केवल आंशिक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (Partial Test Ban Treaty) पर हस्ताक्षर किये। यह 15 वर्ष पूर्व की बात है, उस समय विश्व में हर्ष की लहर दौड़ गई और यह आशा बँधी कि पूर्णरूपेण परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (Comprehensive Test Ban Treaty) पर भी जल्दी ही समझौता हो जायगा। लेकिन हम अभी भी उसकी राह देख रहे है। आंशिक प्रतिबन्ध लागू करने के बाद पहले की बजाय अधिक अणुशस्त्र परीक्षण हुए है। भूमिगत शस्त्र परीक्षण तो अभी भी जारी है। आणविक निःशस्त्रीकरण की दिशा मे कोई प्रगति नही हुई हैं। भारत न तो आणविक शस्त्र शक्ति है और न बनना चाहता है।

अध्यक्ष महोदय, भारत मे लगभग 25 वर्ष पूर्व आणविक शक्ति के शान्तिमय उपयोग के कार्यक्रम को प्रारम्भ किया था अणुशक्ति के शान्तिमय उपयोग मे हमारा विश्वास दृढ़ है। हम इस दृष्टिकोण से पूर्णतया सहमत है कि आणविक शस्त्रों का फैलाव और आणविक प्रौद्योगिकी का विस्तार दो पृथक चीजें है और इनके स्पष्ट अन्तर को समझा जाना चाहिए।"

प्रधानमन्त्री मोरारजी की सोवियत रूस की यात्रा 1977
(Prime Minister Morarji Desai's Tour of Soviet Russia 1977)

24 मार्च 1977 को 30 वर्षीय परम्परा को तोडकर गैर कांग्रेसी व्यक्ति ने भारत का प्रधानमन्त्री पद स्वीकार किया। कुछ लोगों को यह आशा थी कि नई जनता सरकार रूस से वैसा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नही रखेगी जैसा कि इन्दिरा सरकार के समय मे था। उसका कारण भी था, श्री मोरारजी देसाई ने प्रधानमन्त्री पद को सम्भालते हुए यह कहा था कि भारत को नई सरकार यद्यपि परम्परागत असंलग्नता की नीति को कायम रखेगी पर किसी भी देश के प्रति 'विशेष झुकाव की नीति" नहीं रखेगी। इन वाक्यों से कुछ भ्रम उत्पन्न हो गया और रूस के विदेशमन्त्री ने शीघ्र भारत यात्रा करने का निश्चय किया। भारत में रूसी विदेशमन्त्री श्री ग्रोमिको का भव्य स्वागत हुआ। भारत के नये प्रधानमन्त्री श्री मोराजी देसाई तथा नये विदेशमन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी से रूसी विदेशमन्त्री की वार्ता हुई। दोनों ही भारतीय नेताओं ने रूसी सरकार को आश्वासन दिया कि भारत सरकार रूस से पूर्ववत मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखेगी और 1971 मे की गयी दोनों देशों के मध्य शान्ति, मैत्री और सहयोग की सन्धि बरकरार रखेगी। इस बात को रूस के विदेशमन्त्री ने स्वीकार किया कि भारत और रूस के मध्य की गयी 20 वर्षीय सन्धि भारत को किसी तीसरे देश के साथ सन्धि करने में बाधा उत्पन्न नही करेगी। इसका साफ अर्थ यही था कि भारत को नई सरकार श्री देसाई की प्रथम घोषणा पर अडिग रहेगी कि यह किसी भी देश के प्रति "विशेष झुकाव की नीति" नही रखेगी।

भारत सरकार ने मार्च 1977 से अब तक इस बात को बार-बार दोहराया है [illegible] सोवियत सहयोग ने भारत अर्थतन्त्र को सुदृढ़ किया है और आत्म-निर्भरता की दिशा [illegible] बढ़े हैं। सोवियत मैत्री को बरकरार रखने के लिए भारतीय स्वतन्त्रता [illegible] (15 अगस्त 1977) पर भी श्री देसाई ने पुनः घोषणा की थी। [illegible] लियोनिद ब्रेजनेव तथा सोवियत प्रधानमन्त्री अलेक्सेई कोसिगिन [illegible] सहयोग को टिकाऊ शान्ति की समस्या के समाधान में सहायक मानते हैं [illegible]

इतना होने पर भी सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के नये राष्ट्र[illegible] भारत और अमेरिका के सम्बन्धों को पुनः मैत्रीपूर्ण बनाने की [illegible] स्वयं भारत के भूतपूर्व राजदूत को यह शंका है कि भारत यदि [illegible]

बढ़ाता है तो रूस के सम्बन्ध में दरार अवश्य उत्पन्न होगी। जब से यह समाचार सुना गया है कि अमेरिका के राष्ट्रपति श्री कार्टर नवम्बर 1977 में भारत की यात्रा पर आ रहे हैं, तब से शंकालु लोग भिन्न मत व्यक्त कर अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसे समय में भारत के प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई की छः दिवसीय रूसी यात्रा को बड़ा महत्व दिया जा रहा है तथा अनेक अटकलबाजियाँ लगायी जा रही हैं। 21 अक्टूबर 1977 को जब भारत विजय दशमी का पर्व मना रहा था, श्री देसाई तथा वाजपेयी अपने साथियों सहित रूस की यात्रा पर रवाना हुए। उनकी यात्रा का कार्यक्रम इस प्रकार बना-मास्को (क्रेमलिन) दिनांक 21,24,25 और 26 अक्टूबर, मिस्क, कवि और रोस्तोव 22 तथा 33 अक्टूबर; भारत वापसी 26 अक्टूबर।

21 अक्टूबर 1977 को श्री मोरारजी देसाई प्रधानमन्त्री, श्री अटलबिहारी वाजपेयी, विदेशमन्त्री, श्री वी० शंकर, प्रधानमन्त्री के मुख्य सचिव; श्री वी० वाई० रोनये और श्री कान्ति भाई देसाई प्रधानमन्त्री के निजी सचिव, प्रातः काल 7 बजकर 20 मिनट पर एयर इण्डिया के विमान पर रूस यात्रा के लिए रवाना हुए। प्रधानमन्त्री देसाई के दल के कुछ लोग जिनमे विदेश विभाग के सचिव श्री जे० एस० मेहता भी सम्मिलित थे पहले ही मास्को जा चुके थे ताकि वे भारत के प्रधानमन्त्री तथा रूस के राष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री के मध्य बातचीत के लिए पृष्ठ भूमि तैयार कर सकें।

मास्को के समाचार पत्रों ने श्री देसाई की रूस की यात्रा को काफी महत्व दिया। मोटी-मोटी सुर्खियों म इस यात्रा के शीर्षक लिखे, प्रोग्राम छापे तथा अनेक विवरण दिये। रूस मे ही नहीं पश्चिमी देशो में भी इस यात्रा के प्रति बड़ी दिलचस्पी देखी गयी। पश्चिमी पर्यवेक्षक का विचार है कि जब से भारत मे नई सरकार बनी है, रूसी नेता उसको बराबर फँसाये रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। उस पर बराबर यह जोर डाल रहे हैं कि वह रूसी मित्रता के घेरे से न निकल जाये। भारत मे सर्वप्रथम नये प्रधानमन्त्री श्री देसाई से मिलने वाला विदेशी नेता रूस का विदेशमन्त्री आन्देई ग्रोमिको था।

जब मोरारजी देसाई तथा अन्य उनके साथियो को लेकर भारतीय विमान मास्को हवाई अड्डे पर पहुँचा तो स्वयं रूस के राष्ट्रपति श्री ब्रेजनेव अपने देश की 60 वर्षीय परम्परा तोड़कर श्री देसाई के स्वागत के लिए हवाई अड्डे पर खड़े मिले यह समाचार विश्व को आश्चर्य मे डालने वाला था। हवाई अड्डे पर श्री देसाई का भव्य स्वागत किया गया। श्री ब्रेजनेव ने हाथ मिलाया और उन्हे अपनी कार मे बैठाया और 45 किलोमीटर लम्बे अलंकृत मार्ग से ले चले, रास्ते में दोनों ओर खड़े रूसी जन समुदाय ने हर्ष ध्वनि की। विदेश मन्त्री श्री अटल जी भी प्रधानमन्त्री श्री देसाई के साथ श्री ब्रेजनेव की कार मे थे।

रात्रि मे देसाई के सम्मान मे दिये गये भोज में जाम सेहत पिया गया। उस समय श्री देसाई ने अपनी यात्रा का प्रमुख उद्देश्य बताते हुए कहा कि "यह यात्रा सोवियत नेताओं के साथ निकटता एवं व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने के लिए की गयी है। उन्होंने आगे कहा कि हम भारतवासी सोवियत संघ के साथ मैत्री को बहुत मूल्यवान समझते हैं तथा इसे और सुदृढ़ बनाने के लिए उत्सुक हैं।" श्री ब्रेजनेव ने अपनी ओर से कहा कि "सोवियत संघ भारत के साथ मैत्री का सभी दिशाओं मे विकास करने के लिए यथा शक्ति प्रयास करेगा। यदि भारतीय नेताओं की भी यही नीति रही, जैसा कि हमें आशा है, तो सोवियत-भारत सम्बन्धों का भविष्य बहुत अच्छा प्रतीत होता है।" इस समय श्री ब्रेजनेव ने भारत की घरेलू घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं किया और न श्री देसाई ने उनका जिक्र किया। परन्तु इतना अवश्य कहा कि भारत मे मार्च 1977 मे जो क्रान्ति हुई है, वह गुप्त मतदान प्रणाली का एक अद्भुत चमत्कार है और उन नेताओं के प्रति चेतावनी है जो जनता का समर्थन पूर्व निश्चित मान बैठ थे। श्री देसाई ने सोवियत सहायता की

चर्चा अवश्य की जो भारत संकट के समय उसे प्राप्त हुई थी। दोनों नेताओं ने शान्ति, मैत्री एवं सहयोग की सन्धि की चर्चा भी की।

श्री ब्रेझनेव ने एशियायी सुरक्षा और तनाव-शैथिल्य की चर्चा विशेष रूप से की। श्री देसाई ने भी तनाव शैथिल्य की भावना का सभी क्षेत्रों में प्रसार करने पर जोर दिया तथा कहा कि इसके बिना यूरोप में भी स्थायी शान्ति नहीं रह सकती है। साथ में श्री देसाई ने परमाणु तकनीक के दुरुपयोग के प्रति अपना तीव्र रोष प्रकट किया जब कि श्री ब्रेजनेव ने यूरोप में तनाव घटाने और सहयोग वृद्धि के लिए नये प्रस्तावों की चर्चा की। हिन्द महासागर के प्रश्न पर भी रूसी नेता ने भारत के साथ सहयोग करने के लिए तत्परता प्रकट की।

श्री देसाई के रूस आगमन के कुछ घण्टों के बाद शिखरवार्ता का पहला दौर प्रारम्भ हुआ। इस वार्ता मे रूस के नेताओं में श्री ब्रेझनेव के अतिरिक्त रूसी प्रधानमन्त्री कोसीगिन, विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको तथा उपप्रधान मन्त्री ज्वान आर्खिपोव सम्मिलित हुये और भारत की ओर से श्री देसाई के अतिरिक्त, भारत के विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी बाजपेई, रूस में भारत के राजदूत श्री इन्द्रकुमार गुजराल, प्रधानमन्त्री के मुख्य सचिव श्री वी० शंकर विदेश सचिव श्री जगत मेहता तथा इस्पात सचिव सन्तोष सेठी थे।

प्रथमवार्ता के बाद दूसरी वार्ता का दौर 26 अक्टूबर 1977 को चला। यह वार्ता का अन्तिम दौर था क्योंकि उसी दिन श्री देसाई की यात्रा के छः दिन पूरे हो रहे थे और उन्हें अपने देश लौटना था। यह बात भी बड़े मैत्री पूर्ण ढग से हुई और दोनों देशों के नेताओं ने एक दूसरे को बड़े ध्यान से सुना।

इसके बाद क्रेमलिन के व्लादीमीर हाल मे प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई और सोवियत संघ की साम्यवादी पार्टी के प्रधान तथा सोवियत संघ के राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने सयुक्त विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर किये, हस्ताक्षर के समय सोवियत सघ की साम्यवादी पार्टी की पोलिट ब्यूरो के सभी सदस्य उपस्थित थे। भारत के विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी बाजपेई और राजदूत इन्द्रकुमार गुजराल भी वहाँ उपस्थित थे।

27 अक्टूबर, 1977 को प्रधान मन्त्री श्री देसाई अपने दल बल सहित रूस से भारत आ गये। यहाँ पर हवाई अड्डे पर उनका स्वागत रक्षामन्त्री श्री जगजीवनराम, शिक्षा मन्त्री तथा उनके अन्य सहयोगी मन्त्री, उपराष्ट्रपति श्री जत्ती तथा जनता पार्टी अध्यक्ष श्री चन्द्रशेखर आदि अन्य नेताओं ने किया।

भारत-रूस सम्बन्धों पर श्री देसाई की यात्रा का प्रभाव
(The Influence of Sri Desai Tour on the Indo-Russian Relations)

श्री देसाई ने 26 अक्टूबर 1977 को रूस में सम्वाददाताओं के बीच में बात-चीत करते हुये कहा कि "उनकी रूसी नेताओं से बात-चीत के फलस्वरूप जनता सरकार की नीतियों के बारे में जो गलत फहमियाँ थीं, वे दूर हो गई हैं। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि गत मार्च में भारत में जनता सरकार के बन जाने पर 25 अप्रैल 1977 को रूसी विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको दिल्ली आये और उन्होने आश्वासन दिया था कि सरकार के बदलने पर भारत के [illegible] की मैत्री नीति में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। उन्होंने राष्ट्रपति ब्रेझनेव की ओर से श्री यात्रा का निमन्त्रण दिया था। उस निमन्त्रण को श्री देसाई ने सहर्ष स्वीकार समय श्री देसाई तथा श्री वाजपेई ने श्री ग्रोमिकों को भारत की ओर से यह कि 1971 का भारत-रूस मैत्री सन्धि को भंग करने का नई सरकार का कोई बात की पुष्टि इस यात्रा के दौरान भारतीय एवं रूसी नेताओं के मध्य बातची

श्री देसाई ने अपनी छः दिवसीय रूसी यात्रा के बाद दिल्ली लौटने पर भारतीय संवाददाताओं के बीच में कहा कि इस यात्रा का उद्देश्य कोई विशेष समझौता करना नहीं था बल्कि रूस के साथ अब तक चले आये राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक और अन्य क्षेत्रों में सम्बन्धों को और प्रगाढ़ बनाना था। संयुक्त घोषणा में यह कहा गया है कि दोनों देशों में व्यापार और आर्थिक सहयोग बढ़ाने का दीर्घकालीन कार्यक्रम अगले वर्ष तक बनाया जायगा। इसके लिए भारत और रूस के विशेषज्ञों की एक टीम बनाई जायगी, जो धातु, पेट्रोल, कोयला, खेती, सिंचाई आदि के क्षेत्रों में सहयोग बढ़ाने पर विचार करेगी। वे दोनों देशों की साझेदारी से अलूमिना कारखाना बनाने पर भी विचार करेंगे जिसमें रूस मशीनें तथा तकनीकी सलाह देगा और बदले में कारखाने का माल लेगा। इसके साथ अन्य देशों में दोनों देशों के संयुक्त उद्योग लगाने की योजनायें भी बनाई जायेंगी। यह बात उल्लेखनीय है कि दोनों देशों में प्रथम बार दोनों देशों की संयुक्त घोषणा में अलूमिना जैसी विशेष योजना का उल्लेख हुआ। भारतीय सम्वाददाताओं को श्री देसाई ने यह विशेष बात और बताई कि सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका में यह सहमति हो गई है कि हिन्द महासागर में वर्तमान फौजी अड्डों में वृद्धि न की जाय, प्रत्युत धीमे-धीमे उनकी संख्या घटाई जावे। यदि ऐसा हुआ तो वास्तव में यह भारत के लिए ही उपयोगी न होगा बल्कि विश्व तनाव घटाने में और शान्ति स्थापित करने में बहुत सहायक होगा।

रूबल के प्रश्न पर श्री देसाई ने कहा कि इस यात्रा के बीच रूबल की दर क्या हो, इस प्रश्न पर बात नहीं हुई। इस समस्या को दोनो देशों के प्रतिनिधि पृथक हल करेंगे। इस विषय में हमें यह ज्ञात है ही कि रूस ने रूबल की दर 8·3 रु० प्रति रूबल से बढ़ाकर 12·5 कर दी है और वह इसे 13 रु० से भी ऊपर ले जाना चाहता है, इतना ही नहीं वह इस दर से ही पिछली लेनदारी भी वसूल करना चाहता है यदि भारत रूस की बात को मान लेता है, तो भारत की देनदारी बहुत बढ़ जायगी।

श्री देसाई ने अणु-शक्ति के विषय में बताया कि रूस और अमेरिका परमाणु अस्त्रों के विस्तार को रोकने में एक मत हैं किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत इस सन्धि पर तभी हस्ताक्षर करेगा। जब यह उन देशों पर भी लागू हो जिनके पास परमाणु अस्त्र हैं। अर्थात नये राष्ट्र परमाणु अस्त्र न बनाये और पुराने राष्ट्र उन्हें त्याग दें। श्री देसाई ने यह भी बताया कि भारत-रूस सन्धि के विषय में उनके मन में कोई गलतफहमी नहीं रही। वस्तुतः बात यह है कि जब भारत ने रूस से सैनिक सहायता ली थी और रूस की सहायता से हथियार और विमान बनाने के कारखाने खड़े करने का समझौता किया था उस समय श्री देसाई और जगजीवन राम दोनों ही केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल में वरिष्ठ सदस्य थे। जब 1971 में भारत-रूस सन्धि हुई थी उस समय वर्तमान विदेशमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेई ने भी सन्धि का स्वागत किया था। अतः यह संदेह निराधार था कि वर्तमान सरकार उक्त सन्धि को भंग कर देगी। वास्तव में राष्ट्रों के सम्बन्ध व्यक्तियों के हितों या मनोवृत्ति पर नहीं आधारित होते हैं बल्कि राष्ट्रीय हितों पर आधारित होते हैं। अतः यह कहना उचित नहीं कि श्रीमती गांधी वामपन्थी हैं और श्री देसाई दक्षिण पन्थी अतः वे रूस की मित्रता सहन नहीं करेंगे। अमेरिका से यद्यपि इन्दिरा जी के काल में सम्बन्ध बिगड़ गये थे पर बाद में श्रीमती गांधी ने भी उनमें सुधार लाने का प्रयत्न किया था। पर आपात कालीन स्थिति ने श्रीमती इन्दिरा गांधी को रूस की ओर झुका दिया था, तानाशाही का समर्थन तानाशाह ही कर सकते हैं।

श्री देसाई ने यह भी बताया कि कुछ ऐसे संकेत मिले हैं कि चीन भारत से सम्बन्ध चाहता है यद्यपि अभी तक चीन की सरकार से कोई ऐसा प्रस्ताव या संकेत नहीं मिला है, यदि ऐसा संकेत मिलता है तो भारत अपने सम्बन्ध चीन से सुधारने का इच्छुक होगा। चीन या अमेरिका से

भारत के सम्बन्ध सुधारने का कदापि यह अर्थ नहीं कि हम रूस से सम्बन्ध बिगाड़ लेंगे। श्री देसाई ने यह बात रूस में संवाददाताओं तथा अपनी घोषणा में पहले ही स्पष्ट कर दी थी। यह बात श्री देसाई ने 25 अप्रैल 1977 को भी रूसी विदेशमन्त्री श्री ग्रोमिको के सामने भी स्पष्ट कर दी थी। इसका अर्थ यही है कि भारत के प्रधानमन्त्री की विदेश नीति पर इस यात्रा द्वारा कोई प्रभाव नहीं पड़ा। किसी भी देश से विशिष्ट सम्बन्ध रखने को जनता सरकार किसी दशा में तैयार नहीं। यह बात रूस के नेताओं को भी साफ समझ लेनी चाहिए।

श्री देसाई ने यह भी बताया कि सयुक्त विज्ञप्ति मे कहीं भी 1971 की सन्धि को मजबूत करने की बात नही कही गई है केवल द्विपक्षीय सम्बन्धों को सुदृढ़ करने की बात कही गई है। एक प्रश्न सवाददाता सम्मेलन में यह पूछा गया कि रूस यात्रा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि क्या है।" इस पर श्री देसाई ने कहा कि "दोनों पक्षो के बीच समुचित समझदारी व सम्बन्ध अब पहले से अधिक गहरे हुए हैं।"

श्री देसाई की रूस यात्रा भारत और रूस के लिए बड़ी महत्वपूर्ण रही। रूस के प्रेस ने इसका खुलकर प्रचार किया। प्रावदा तथा मास्को से प्रकाशित होने वाले पत्रों ने सम्पूर्ण सयुक्त विज्ञप्ति का पूरा विवरण छापा। इन पत्रों ने श्री देसाई द्वारा श्री ब्रेझनेव तथा श्री कोसीगिन के भारत में आने के निमन्त्रण का भी उल्लेख किया। मास्को विश्वविद्यालय ने जो डा० आफ फिलास्फी की उपाधि श्री देसाई को दी समाचार-पत्रो में यह भी छपी। विदाई के समय जो सम्मानपूर्ण भाव व्यक्त किये गये उन्हें भी समाचार-पत्रो मे प्रकाशित किया गया। सोवियत दूरदर्शन ने हवाई अड्डे पर दी गई भाव-भीनी विदाई की सम्पूर्ण कार्यवाही का प्रसारण किया।

राष्ट्रपति जिमी कार्टर की भारत यात्रा

संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति श्री जिमी कार्टर 30 दिसम्बर' 77 को छः राष्ट्रों की यात्रा पर रवाना हुए। अपनी यात्रा का प्रारम्भ करते हुए श्री कार्टर ने जो उद्गार प्रकट किए वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने कहा कि—"पुरानी वैचारिक चिप्पियों का अब कोई अर्थ नहीं रह गया है।" उन्होने आगे कहा कि—"दोस्ती, विश्व शांति, न्याय, मानव-अधिकार व व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के मौलिक लक्ष्य आज से पहले कभी भी इतना अधिक महत्व नहीं रखते थे।" वास्तव में आज अर्थपूर्ण बात यह नहीं है कि एक देश पूँजीवादी व्यवस्था मे विश्वास करता है या साम्यवादी व्यवस्था मे, महत्व तो इस बात का है कि एक देश विश्व शांति तथा न्याय का कितना पक्षधर है। नौ दिवसीय अपनी यात्रा मे राष्ट्रपति जिमी कार्टर सबसे पहले पोलैंड गए यद्यपि कि पोलैंड एक साम्यवादी देश है। अमेरिका के अधिकारी यह सोचते थे कि पूर्व व पश्चिम के सम्बन्धों में निकटता लाने के लिए पोलैंड व पोलैंड के नेता बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते थे। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की स्थापना के लिए पूर्व व पश्चिम मे व्याप्त पारस्परिक गलतफहमियों के दूर होने की बड़ी आवश्यकता है।

1978 के वर्ष का प्रारम्भ राष्ट्रपति कार्टर की भारत यात्रा से हुआ। वर्ष के प्रथम दिन जब कार्टर भारत आए तो उनका भव्य स्वागत किया गया। आने पर रामलीला मैदान में दिल्ली के नागरिकों की ओर से उनका अभिनन्दन किया गया। उसी दिन से भारत के प्रधान-मन्त्री श्री मोरार जी देसाई और अमेरिका के राष्ट्रपति श्री जिमी कार्टर के मध्य चर्चाओं का दौर प्रारम्भ हो गया। भारत आने वाले यह तीसरे अमेरिकी राष्ट्रपति थे। दिसम्बर 1959 में रिपब्लिकन पार्टी के राष्ट्रपति आइजन हावर भारत की यात्रा पर आये थे और उसके दस वर्ष पश्चात् सन् 1969 में रिपब्लिकन पार्टी के ही राष्ट्रपति निक्सन भारत आए थे।

यों तो पहले भी भारत-अमेरिका के शासनाध्यक्षों की चर्चायें बहुत सद्भावना के वातावरण में हुई हैं; परन्तु इस बार के वातावरण में और भी अधिक अपनापन था। कार्टर का अमेरिका में तथा जनता पार्टी का भारत मे सत्ता सम्भालना एक ही समय हुआ था। जनता-पार्टी के बहुमत में आने से अमेरिका अच्छी तरह समझ चुका था कि भारत की जनता व्यक्ति स्वातन्त्र्य की ओर बहुत सचेत है। इस बिन्दु पर दोनों देशों के विचार बहुत समान थे। दोनो शासनाध्यक्षों की व्यक्तिगत भेंट इससे पूर्व भले ही न हो पाई हो परन्तु पत्रों के माध्यम से उनमें पहले से ही बहुत समीपता आ चुकी थी और वे एक दूसरे को भली-भाँति समझ चुके थे। राष्ट्रपति कार्टर भारत के प्रधान मंत्री श्री मोरारजी देसाई के विचारों से भलीभाँति परिचित थे।

अपनी यात्रा के दौरान प्रगट किए गए विचारों मे राष्ट्रपति कार्टर ने मानव-अधिकारों पर बहुत जोर दिया। संसद के केन्द्रीय भवन में 2 जनवरी 1978 को उन्होने श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि प्रजातन्त्र के पथ पर अग्रसर होते हुए व व्यक्ति की प्रगति की ओर ध्यान रखते हुए दोनों देशों की दोस्ती और भी गहरी हो सकती है। उन्होने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा कि दोनों देशों के बीच मे आर्थिक व राजनैतिक सहयोग के अनेक क्षेत्र हो सकते हैं।

कार्टर की भारत यात्रा की समाप्ति पर जारी संयुक्त बयान—कार्टर की भारत-यात्रा की समाप्ति 3 जनवरी 1978 को हुई और उसी दिन भारत के प्रधानमंत्री तथा अमेरिकी राष्ट्रपति

ने एक संयुक्त-घोषणा की। यह बयान दोनों देशों के सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है और भविष्य मे कैसे सम्बन्ध होगे इस ओर इशारा करता है। संयुक्त बयान में निम्नलिखित बिन्दुओं को स्पर्श किया गया था—

(1) यद्यपि कि दो देशो में ऐतिहासिक व सांस्कृतिक भिन्नतायें हैं, परन्तु दोनों देश लोकतन्त्र मे विश्वास रखते हैं। दोनों की आस्था लोकतन्त्र शासन में है। यह शासन सब नागरिकों को मौलिक स्वाधीनता की गारंटी देता है। सभी देशो के लोगों को अपने देश की नीतियों को तय करने का अधिकार है। उनको यह अधिकार है कि वे यह तय कर सकें कि वे अपने देश के लिए कैसी शासन प्रणाली चाहते हैं। दोनों शासनाध्यक्षो ने विश्वास व्यक्त किया कि एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए यह बहुत आवश्यक है कि प्रत्येक देश के लोग अपने देश के लिए राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक नीति स्वयं निर्धारित करें। विभिन्न क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग अवश्य प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि आज का युग वैज्ञानिकता तथा प्राविधिकता का युग है और कोई देश ऐसा नही है जो दूसरे के सहयोग की आवश्यकता महसूस न करता हो।

(2) संयुक्त घोषणा मे स्पष्ट रूप से इस ओर इशारा किया गया था कि दोनों ही देश युद्ध से घृणा करते हैं। उनकी आशा थी कि यदि दो देशों मे किसी प्रकार का विवाद पैदा होता है तो उसके निपटारे के लिए युद्ध ही एकमात्र साधन नही है। युद्ध का दैत्य पहले से ही अपने जबड़े खोले बैठा है। विवादों को संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य पत्र मे निहित धाराओ के अनुसार सुलझाना चाहिए।

(3) संयुक्त बयान मे निशस्त्रीकरण पर काफी बल दिया गया। उसमे कहा गया कि परमाणु अस्त्रो के भण्डार में धीरे-धीरे कमी की जानी चाहिए और अन्त मे इस भण्डार को पूरी तरह से समाप्त कर देना चाहिए। परमाणु अस्त्रों की ही नही परम्परागत अस्त्रो के निर्माण की भी कमी की जानी चाहिए। जो धनत्व मानवश्रम अस्त्रो के निर्माण मे काम में लाया जाता है ऐसे कामों में लगाया जाना चाहिए जिनसे मानव जाति का कल्याण हो। अस्त्रों के उत्पादन में लगाया गया धन व श्रम तो स्वयं मानव जाति के विनाश के संदेह व भय को बढ़ाने मे ही काम मे आता है।

यहां यह बात ध्यान रखने की है कि यह सबसे पहला अवसर था जब इस प्रकार का उल्लेख भारत-अमेरिका की संयुक्त विज्ञप्ति में किया गया था।

(4) विभिन्न देशो मे व्याप्त अर्थ शक्ति के अन्तर को कम किए जाने की आवश्यकता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय शांति स्थापित करनी है तो समानता पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की स्थापना की आवश्यकता है। दोनों नेताओ ने यह स्वीकार किया कि आधुनिक राज्य के लिए विस्तृत आर्थिक विकास अनिवार्य है, परन्तु आर्थिक प्रगति उस सीमा तक थोथी कही जाएगी जिस सीमा तक वह कुछ ही लोगों को लाभ पहुंचा पाती है। आर्थिक प्रगति का लाभ देश के सभी लोगो तक पहुंचाया जाना आवश्यक है।

(5) आज के संसार के पास वैज्ञानिक व तकनीकी कुशलता है। इस कुशलता से जीवन का गुणात्मक विकास किया जा सकता है तथा सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकती है। सब देशों को मिलकर अपने संसाधनो का प्रयोग करना चाहिए।

(6) राजनीति तथा अर्थनीति के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जिनमे स्वतन्त्रता-पूर्वक बौद्धिक व वैज्ञानिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया अपनाई जा सकती है। विचारों की स्वतन्त्रता तथा सांस्कृतिक और कला की प्रगति एक ऐसे वातावरण का निर्माण कर सकती है जिसमे पारस्परिक सद्भाव पनप सकेगा।

(7) दोनों देशों ने इस बात को स्वीकार किया कि उद्देश्य भले ही बहुत अच्छा हो तो भी वह उद्देश्य खराब साधनों के प्रयोग को उचित नही सिद्ध कर सकता। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है उसी प्रकार से एक देश का भी अपने क्रिया-कलापो के लिए नैतिक दायित्व होता है।

संयुक्त विज्ञप्ति में 'गुटवाद' को दुर्भाग्यपूर्ण बताया गया और कहा गया कि इसको समाप्त किया जाना चाहिए।

बदमजा टिप्पणी—राष्ट्रपति कार्टर की भारत-यात्रा बहुत सफल रही। दोनों पक्षों को इससे बहुत लाभ मिला। दोनो पहले से अधिक समीप आ गए। परन्तु कार्टर की एक अनौपचारिक टिप्पणी ने थोड़ा बदमजा पैदा कर दिया। हुआ यह कि कार्टर-देसाई वार्तालाप के पश्चात् कार्टर जब अनौपचारिक तरीके से अपने विदेश सचिव श्री सायरस वास से अपनी प्रतिक्रिया जाहिर करते हुए बात-चीत कर रहे थे तो उन्होंने अपनी टिप्पणी मे कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग कर दिया कि भारत के नेताओं का मन बड़ा खराब-सा हो गया।

यूरेनियम के सम्बन्ध में अपनी टिप्पणी सायरस वास के सम्मुख रखते हुए कार्टर ने वास से कहा कि अमेरिका लौट कर हम भारत के नेताओ को 'खरा एवं दो टूक' पत्र लिख देंगे। (We ought to write him another letter, just cold and very blunt".) जब कार्टर अपने विदेश मन्त्री से बात-चीत कर रहे थे तब उनको यह नही मालूम था कि उनकी बातें टेप tape) पर रिकार्ड हो रही हैं और उनको यह मालूम नहीं था कि उनकी बात-चीत सबके सामने उजागर हो जाएगी। जब कार्टर को यह मालूम हुआ कि उनके शब्द सबके सामने उजागर हो गए हैं तो उनको बहुत खराब लगा। विदेश-यात्रा की समाप्ति पर अपने देश मे लौट-कर जनवरी 8, 1978 को उन्होंने वाशिंगटन मे अपना खेद प्रगट किया। उन्होंने कहा कि जो शब्द मैंने प्रयोग मे लिए वह वास्तव मे नितान्त गलत थे। मैं वास्तव मे वह नहीं कहना चाहता था जो कह गया। मेरा मतलब यह था कि अपने देश में पहुँचकर हम इनको एक दम स्पष्ट व वास्तविक-पत्र लिख देंगे। ("I should have said a very frank and factual letter and not a blunt and cold letter)".

भारत के प्रधान मन्त्री श्री देसाई ने इस संदर्भ में अपनी टिप्पणी करते हुए कहा कि उनको कार्टर की टिप्पणी सुनकर कोई खराब नहीं लगा।